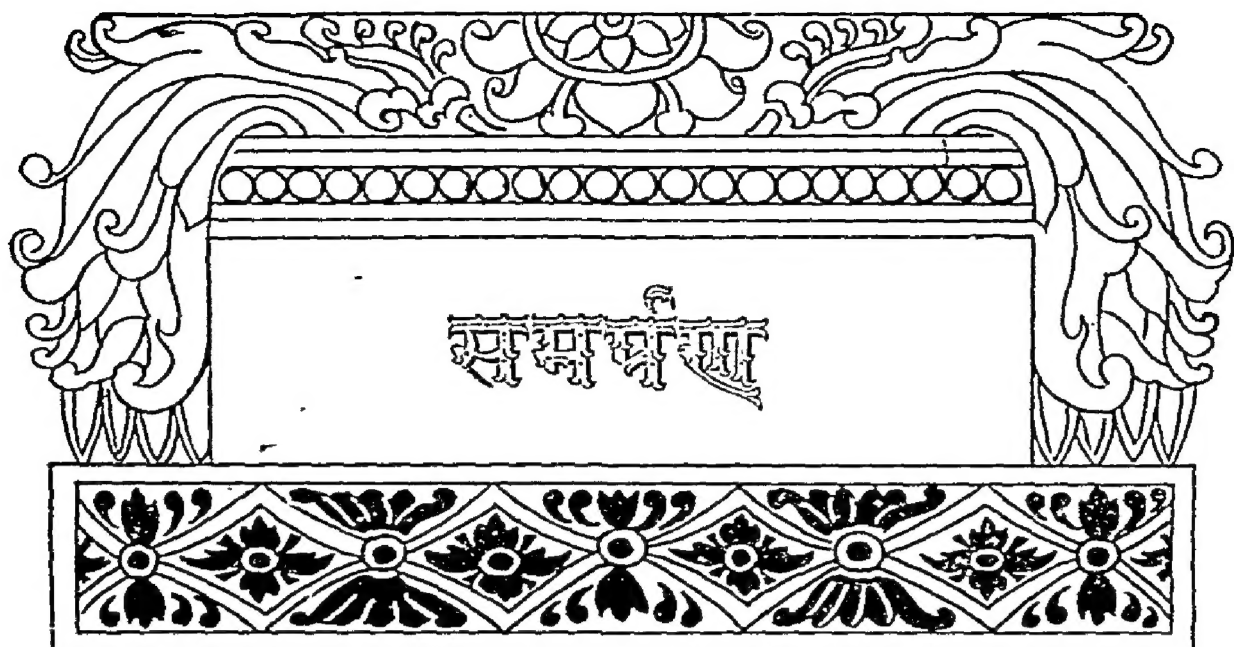

રાજર્ષિ
શ્રી પુરુષોત્તમદાસ ટંડન
અભિનન્દન ગ્રન્થ

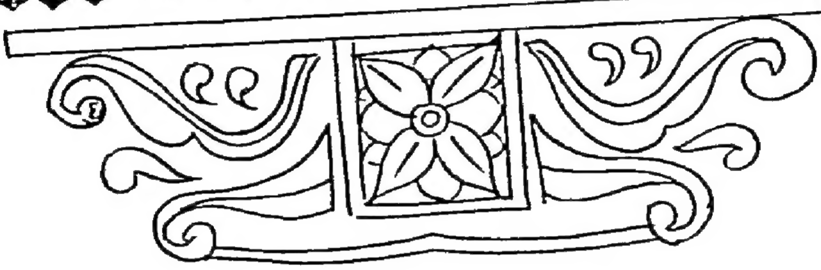

पुरुषोत्तमदास टंडन
१६.५.१९५०



भारत के राष्ट्रपति महामहिम डा० राजेन्द्रप्रसाद के
कर-कमलों द्वारा कार्तिक-शुक्ला तृतीया,
रविवार, संवत २०१७ वि०—
ता० २३ अक्तूबर, १९६० ई०
के दिन प्रयाग में
राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन
को
सादर समर्पित



राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ



सम्पादक

जीवनी खण्ड
लालबहादुर शास्त्री
गोपालप्रसाद व्यास

संस्कृति खण्ड
रामधारीसिंह 'दिनकर'
जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

प्रादेशिक भाषा खण्ड
मो० सत्यनारायण
यशपाल जैन

साहित्य खण्ड
नगेन्द्र
विजयेन्द्र स्नातक

भाषा-विज्ञान खण्ड
बाबूराम सक्सेना
भोलानाथ तिवारी

हिन्दी-प्रसार खण्ड
मोहनलाल भट्ट
माधव

संयोजक सम्पादक
विजयेन्द्र स्नातक : गोपालप्रसाद व्यास

प्रकाशक
दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

प्रकाशक :
दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन,
[illegible]
नई दिल्ली।



मूल्य : पच्चीस रुपए
[इस ग्रन्थ की समस्त आय पुरुषोत्तम
हिन्दी भवन को समर्पित की जायगी]



मुद्रक :
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली-६

भूमिका

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अब से लगभग २॥ वर्ष पूर्व यह निश्चय किया था कि श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टण्डन को उनकी बहुक्षेत्रीय तथा बहुमूल्य सेवाओं के लिए एक बृहद् अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जाए। लेकिन इस निश्चय पर कार्य पिछले ६ महीनों से ही लगकर प्रारम्भ हुआ। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सम्मेलन ने अभिनन्दन-समिति और सम्पादक-मण्डल का गठन किया। सम्पादक-मण्डल और लेखक-समुदाय की यह स्वाभाविक इच्छा रही है कि इस ग्रन्थ को अधिक-से-अधिक सुन्दर और श्रेष्ठतम कृतियों से अलंकृत किया जाए। थोड़े-से समय में यह प्रयत्न कहां तक सफल हो सका है इसे विज्ञ पाठक अब स्वयं देख सकते हैं।

अभिनन्दन-ग्रन्थ ६ खंडों में विभाजित है और प्रत्येक खंड के दो सम्पादक हैं। स्वभावतः जो सम्पादक दिल्ली में थे उन पर ही उसका मुख्य उत्तरदायित्व भी आया। इसके दो संयोजक सम्पादक हैं। श्री गोपालप्रसाद व्यास तथा डा० विजयेन्द्र स्नातक। वास्तव में सबसे अधिक भार इन्हीं पर पड़ा। इन्होंने सभी खण्डों के तैयार कराने तथा ग्रन्थ का सम्पूर्ण कार्य समुचित रूप से करने का भरसक प्रयास किया।

इस ग्रन्थ का मुख्य लक्ष्य हिन्दी भाषा, साहित्य, संस्कृति और प्रादेशिक भाषाओं की पिछली ५० वर्षों की प्रगति का परिचय और इन क्षेत्रों में हुए अनुसंधान का दिग्दर्शन कराना है जिनका टंडनजी के जीवन से अटूट सम्बन्ध रहा है।

हमने प्रयास तो पूरा किया, परन्तु मालूम नहीं यह ग्रन्थ टंडनजी के अनुरूप बन पाया है अथवा नहीं। टंडनजी भाषा के पारंगत हैं चाहे वह हिन्दी हो अथवा अंग्रेजी। वह प्रत्येक शब्द और वाक्य को तौल-तौल कर सावधानीपूर्वक व्यवहार करने के अभ्यासी हैं। भाषा का अशुद्ध या ढीला प्रयोग उन्हें नहीं सुहाता। अतएव हम नहीं जानते कि यह ग्रन्थ उनकी कसौटी पर ठीक उतरेगा या नहीं। जो भी हो, हमारी ओर से यह ग्रन्थ टंडनजी को आदर और श्रद्धांजलि के रूप में सादर प्रस्तुत है। उनका जीवन भारत और भारतीयता के लिए समर्पित रहा है। त्याग और तप उनकी पूंजी है और उसने उनको अथाह बल प्रदान किया है। भारतीय इतिहास में उनका अमिट स्थान है तथा रहेगा।

टंडनजी को इस प्रकार की योजनाओं के लिए सदा संकोच रहा है। इस बार भी उनकी वही प्रतिक्रिया रही और उन्होंने श्री गोपालप्रसादजी व्यास को एक पत्र लिखा, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

> **"मैं आपके और आपके सहयोगियों के स्नेहभाव के लिए कृतज्ञ और ऋणी हूं। परन्तु इस प्रकार की योजनाएं मुझे पहले भी बराबर खटकीं और मैंने उन्हें रोका। मेरा आपसे भी निवेदन है कि आप अपनी समिति में इस पत्र को रखकर अभी इस योजना को रुकवा दें। मुझे इससे मानसिक कष्ट होता है। इस समय मैं रोगग्रस्त हूं और कुछ भी काम करना मेरे लिए बहुत कठिन हो गया है।"**

समिति ने सर्वसम्मति से उनसे आग्रह किया कि वह हमें निराश न करें। टंडनजी ने अपनी स्वीकृति देकर जो प्रेम अपने मित्रों के प्रति प्रदर्शित किया उसके लिए हम उनके परम आभारी हैं।

हमें अत्यन्त प्रसन्नता है कि आदरणीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजी ने २३ अक्तूबर १९६० को प्रयाग पधारकर यह ग्रन्थ टंडनजी को देना स्वीकार किया है। यह उचित ही है क्योंकि टंडनजी और राजेन्द्रबाबू पुराने सहयोगी और मित्र हैं। उनका परस्पर स्नेह तथा एक-दूसरे के प्रति सदा आदर रहा है। हिन्दी-क्षेत्र में भी राजेन्द्रबाबू और

टंडनजी का साथ रहा है तथा राजेन्द्रबाबू हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं।

हमें हर्ष है कि अभिनन्दन-ग्रन्थ का कार्य सम्पन्न हुआ, परन्तु अभी दूसरा बड़ा काम इस योजना का शेष है। वह है दिल्ली में 'पुरुषोत्तम हिन्दी-भवन' का निर्माण। 'पुरुषोत्तम हिन्दी-भवन' की संक्षेप में योजना यह है कि राजधानी में टंडनजी के महत्त्व और राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुकूल एक भव्य भवन निर्मित किया जाय। इसमें एक विशाल पुस्तकालय, वाचनालय, गोष्ठी-कक्ष, रंगमंच, सभा-भवन और अतिथि-निवास के अतिरिक्त देश की १४ प्रादेशिक भाषाओं के लिए अलग-अलग कक्ष हों। यह भवन राजधानी की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र तो बने ही, साथ ही यह राष्ट्रभाषा के निर्माण और प्रकाशन आदि रचनात्मक कार्यों में भी अपना योगदान करे।

भवन और उसकी प्रवृत्तियों का संचालन अखिल भारतीय स्तर पर बने हुए ट्रस्ट द्वारा होगा। इस कार्य की पूर्ति के निमित्त पांच लाख रुपए एकत्र करने का निश्चय किया गया है और इस ग्रन्थ से भी जो आय होगी, वह भी इसी कार्य में लगेगी। धन एकत्र करने का कार्य प्रारम्भ हो गया है और यह सन्तोष की बात है कि इसका प्रारम्भ राष्ट्रपतिजी तथा प्रधानमन्त्रीजी ने किया है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश के मुख्य मन्त्रियों के भी हम अनुगृहीत हैं जिन्होंने इसमें हाथ बटाया है।

इस ग्रन्थ की तैयारी में मेरा नाम आ जाना तो मेरी अनधिकार चेष्टा ही रही है, परन्तु मैंने केवल स्वीकार किया इसी भावना से कि इस हार्दिक श्रद्धांजलि में मैं भी किसी-न-किसी रूप में सम्मिलित हो सकूं। मैं सभी लेखकों तथा सम्पादकों के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जो इस ग्रन्थ के रचयिता हैं। श्री गोपालप्रसाद जी व्यास का मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूं जिनका सहयोग मुझे सम्पादन के अतिरिक्त समिति के और कार्यों में भी निरन्तर मिलता रहा है। समिति के सदस्यों और सम्मेलन के कार्यकर्ताओं का मैं बड़ा आभारी हूँ जिनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्पूर्ण होना सम्भव नहीं था।

नई दिल्ली,
१५ अक्तूबर, १९६०।

—लालबहादुर

अनुक्रमणिका

जीवनी-खण्ड

भारतीय संस्कृति :

भाषा-विज्ञान :

सम्पादकीय

इस खंड की रचनाओं से इसका आभास मिलेगा कि टंडनजी की कितनी महान सेवाएं विभिन्न क्षेत्रों में हैं तथा वह किन खूबियों से भरे हुए हैं। टंडनजी अपने विचारों के पक्के और अपने मत को प्रकट करने में सदा निडर रहे हैं। उनमें किसी विषय पर गहराई से सोचने और अपने निश्चय किए हुए पक्ष पर अड़ने की अपूर्व क्षमता है। यदि उसके लिए उनको कष्ट भी उठाना पड़े और संकटों का सामना भी करना पड़े, तब भी वह पीछे हटने वाले नहीं। उनके जीवन में कई ऐसे अवसर आये जब उन्होंने अपने निर्णयों के लिए अनुपम त्याग किये।

उन्होंने नाभा राज्य का मंत्रित्व छोड़ा, वकालत छोड़ी, बैंक की मैनेजरी छोड़ी और फिर विधान-सभा के अध्यक्ष का पद छोड़ा। यह सभी उन्होंने अपने कुछ विचारों तथा निश्चयों के सम्मानार्थ ही किया। कम ही लोग ऐसे मिलेंगे जिनको इस प्रकार के एक नहीं अनेक झकोरों का सामना करना पड़े और फिर भी वे अपने पथ से विचलित न हुए हों। ऐसा लगता है जैसे त्याग और तप ही उनके जीवन का लक्ष्य रहा है। यही कारण है कि भारतीय जनता उन्हें इतने आदर की दृष्टि से देखती है।

सामाजिक कार्य करने वाले से सब सहमत हों; यह प्राय: नहीं देखा जाता। उनको कभी स्वस्थ और कभी अस्वस्थ मतभेदों का सामना करना ही पड़ता है। टंडनजी भी उसके अपवाद नहीं। विचारों का अन्तर न हो तो विचारों की प्रगति ही रुकेगी और फिर समाज का ह्रास होगा। जहां तक इन्हें बलपूर्वक रोका गया है उसका परिणाम अहित-कर हुआ है। वास्तव में सोचने और विचारों को प्रकट करने की स्वतंत्रता में विकास और उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है। प्रस्तुत खण्ड में पाठक देखेंगे कि अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने वाले अनेक महानुभाव ऐसे हैं जिनका समय-समय पर टंडनजी से मतैक्य नहीं रहा; लेकिन इन सबने अपनी निश्छल श्रद्धांजलि अर्पित की है क्योंकि टंडनजी के विचारों की भिन्नता व्यक्तिगत कारणों से नहीं, अपितु सिद्धान्तों पर आधारित थी। जहां व्यक्तिगत बातों का समावेश नहीं होता वहां विचारों की ईमानदारी स्वत: स्वीकृत होती है और उससे कटुता नहीं बढ़ती। जैसा ऊपर भी कहा गया है, टंडनजी सिद्धान्त के लिए किसी से भी जूझ सकते हैं और उन्हें अपने जीवन से भी अधिक सिद्धान्त प्यारे हैं।

सचाई, पवित्रता, संयम, सदाचार इनकी कड़ी साधना टंडनजी ने हर क्षेत्र में की, पदों पर रहकर अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में। जीवन-पर्यन्त उन्होंने इस बाने को

पहना और उसे संवारकर पहना।

प्रस्तुत खण्ड में हमने टंडनजी के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले अनेक सहयोगियों के श्रद्धा-संस्मरण संकलित किये हैं। राज-समाज-कर्मी, साहित्यकार और हिन्दी-प्रेमी कुछ ऐसे भी रह गए होंगे जिनके पास टंडनजी की अमूल्य स्मरण-निधियां संचित हों। टंडनजी का कार्यक्षेत्र भी बहुत व्यापक रहा है। उस पर भी जितना प्रकाश पड़ना चाहिए था इस ग्रन्थ में शायद उतना नहीं पड़ सका। इतने थोड़े समय में यह सम्भव भी नहीं था। फिर भी जैसा बन पाया है वह पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

टंडनजी को कबीर की बानी बहुत ही पसन्द है। उनके अनेक पदों को वह गुनगुनाते रहते हैं और बहुतों को उन्होंने हृदयंगम भी कर रखा है। अच्छा होगा कि कबीर के एक पद से ही यह टिप्पणी समाप्त की जाय :

"यह चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी
ओढ़ि के मैली कीन्हि चदरिया।
दास कबीर जतन तें ओढ़ी
ज्यों की त्यों धरि दीन्हि चदरिया।"

यह पद टंडनजी के जीवन पर कितना फबता है ! उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन से समाज और देश दोनों को ही अलंकृत किया है।

"पुरुषोत्तमदास टंडन मेरे पुराने साथी हैं। हम वर्षों तक साथ-साथ काम करते रहे हैं। मेरे-जैसे ही वह ईश्वर के भक्त हैं।"

—महात्मा गांधी



राष्ट्रपति का सन्देश

राष्ट्रपति-भवन,
नई दिल्ली।
७ अगस्त, १६५६

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन के सम्मानार्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन स्तुत्य है, और मैं इसका स्वागत करता हूं। राष्ट्रीय क्षेत्र में, विशेषकर हिन्दी-प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में, टंडनजी की सेवाएं बहुमूल्य हैं। लगभग गत ५० वर्षों से उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों में जिस निःस्वार्थ भाव से सार्वजनिक कार्य किया है, उससे सभी कार्यकर्त्ता प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं।

टंडनजी का व्यक्तित्व इतना बड़ा है कि वह राजनीति और साहित्य की परिधि में ही नहीं समा सकता, सामाजिक जीवन के जिस पहलू से भी उनका सम्बन्ध रहा है उसी को उन्होंने समृद्ध किया है। सार्वजनिक जीवन में पदार्पण करने के बाद टंडनजी जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करते रहे हैं, उनमें से अधिकांश आज भी आदर्श-रूप में सर्वमान्य हैं। उनके नेतृत्व से सदा सत्य, सदाचरण और नैतिकता के पक्ष को समर्थन मिला है।

इस अवसर पर मैं श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

राजेन्द्र प्रसाद

राष्ट्रकवि के प्रणाम !

श्रीराम

टंडनजी के प्रति

पूज्य तुम राजर्षि क्या, ब्रह्मर्षि बहु गुण-धाम,
व्यर्थ आज वसिष्ठ-विश्वामित्र के संग्राम।
बहुत मेरे अर्थ पुरुषोत्तम तुम्हारा नाम,
सतत श्रद्धायुक्त तुमको शत-सहस्र प्रणाम।

मैथिलीशरण

विनोबाजी की शुभकामना

लोकनागरिलिपी

अज्ञातयात्रा
२-३-६०

श्री गोपालपरसाद जी,

पत्र मीला। राजरषी टंडनजी की वीवीध सेवाओं को कौन नहीं जानता। पर अुनहोंने जीतनी सेवाओं की अुनसबमे मेरी नीगाह मे, बडी सेवा यह है की जो नैतीक मूल्य अुनहोंने माने अुन पर वे हर हालत में डटे रहे। यह गुण अीनदीनों कुछ दुरलभ होगया है। भगवान से मेरी यही परारथना है की अीस बुनीयादी महतव के गुण के दान मे वह कंजूसी न करे और हम सब सेवकों को वह गुण बख्शे।

विनोबा का
जय जगत

स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भय सेनानी

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन को एक अभिनंदन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। वह स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भय सेनानी और हमारी संस्कृति के मूलभूत मूल्यों में अदम्य विश्वास रखने वाले रहे हैं।

मैं आशा करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि वह दीर्घजीवी हों और अपने उदाहरण से हम सब को अनुप्रेरित करते रहें।

हमारे नेता

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त

टंडनजी की ख्याति देश भर में व्याप्त है। उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मेरा उनकी अनेक सेवाओं और गुणों की व्याख्या करना कठिन है। उनका जीवन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रतीक है। वह अनेक प्रकार से राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक कामों में हमारा नेतृत्व करते आए हैं। स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने हमारा नेतृत्व किया। तत्पश्चात उत्तरप्रदेश में लम्बे अर्से तक विधान-सभा के अध्यक्ष रहे। अखिल भारतीय नेशनल कांग्रेस के सभापति रहे, संविधान परिषद और लोक-सभा के गण्यमान्य सदस्य रहे। राज्य सभा के भी वह सम्मानित सदस्य रह चुके हैं। मैं टंडनजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं, और भगवान से आराधना करता हूं कि उन्हें शीघ्र ही रोग-मुक्त कर पुनः हमारा दिग्दर्शन कराने की शक्ति प्रदान करें।

बड़े भाई

श्री जवाहरलाल नेहरू

जो भी व्यक्ति टंडनजी के सम्पर्क में आए, सबने उनसे कुछ न कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। जो उनसे मिले, लेकर गए। हमने भी उनसे लिया, जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी।

वह ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने सिद्धांतों पर अटल स्तम्भ की तरह डटे रहते हैं।

टंडनजी शायद सोचते होंगे कि ५० वर्ष की तपस्या का क्या नतीजा निकला। कुछ लोग अपनी निगाह दूर तक रखते हैं, भले ही अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच पाते। शायद टंडनजी के मन में भी यह विचार आ रहा हो कि वह अपनी मंजिल पर नहीं पहुंचे। लेकिन इसकी दूसरी तस्वीर भी है कि जितनी बातें वह सोचते थे, उनमें से कितनी बातें पूरी हुईं। उम्मीद पूरी होना या न होना एक बात है, लेकिन उम्मीद पूरी होने की ताकत रखना एक बड़ी बात है।

मैं सोचता हूं कि टंडनजी से मैं पहले कब मिला! यह तो याद नहीं है लेकिन बचपन की दो बातें मुझे याद हैं। मैं विदेश गया था, समझा जाता है पढ़ने-लिखने। तभी टंडनजी की शौहरत मुझ तक पहुंची थी। एक तो वह क्रिकेट के खिलाड़ी थे। शायद बहुतों को न मालूम हो, टंडनजी के भी कई रंग हैं। दो वर्ष पहले वह इलाहाबाद से दिल्ली आए क्रिकेट का टैस्ट मैच देखने। इलाहाबाद में म्योर सेण्ट्रल कालेज में टंडन जी हड़ताल के नेता थे। उस जमाने में हड़ताल करना आसान नहीं था, जैसा अब हो गया है।

फिर कुछ वर्ष बाद में जब भारत लौटा, आज से ४५ वर्ष पहले, तब से टंडनजी से ज्यादा मिलना-जुलना हुआ। हमारे उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की बहसों में वह बहुत भाग लेते थे। हमारे जिले (इलाहाबाद) व प्रांत में वह अगुआ थे। वह हम सबके बड़े भाई थे। हम सब उनसे बड़ी मुहब्बत करते थे। डर भी था, मालूम नहीं कब डाट दें। जब वह कोई बात नापसंद करते थे, दिल खोलकर कह देते थे। हमारे जमाने के ज्यादा लोग तो अब रहे नहीं। टंडनजी से हमारा जो रिश्ता बना, वह साथियों का सा था; मिलकर काम करते थे, जेल में और बाहर भी। किसी बात में हम दोनों की राय में फर्क भी होता था। टंडनजी और हम में जवानी थी, गरूर था; हम में गर्व था कि हम बड़ी फौज के सिपाही हैं, किसी से डरते व घबराते नहीं थे। किसानों का जो काम उठाया गया उसमें टंडनजी सबसे आगे थे। किसान-सभाएं उन्होंने शुरु कीं। आज खुशी होती है कि हम लोगों का जीवन बेकार नहीं गुजरा। टंडनजी हम सबसे बड़े बुजुर्ग हैं। उस जमाने की तस्वीर देखना है तो टंडनजी को देखिए जो अटल खम्भे की तरह आज भी अपने सिद्धांत के पक्के हैं। हममें से कुछ लोग बह गए, लेकिन वह डटे रहे। उनके रहने के ढंग और आदत में कोई फर्क नहीं है, भले ही उम्र का फर्क हो गया हो। एक आदमी का खास बातों में जमे रहना इस बात की याद दिलाता है कि उसके पीछे सिद्धांत है।

बड़े भाई को और क्या कहूं, मैं अपना प्रेम और आदर पेश करता हूं। उन्होंने ५० वर्ष में मुझे जो प्रेम दिया है उसके लिए मैं आभारी हूं।

नई दिल्ली,
२१ अगस्त १९५७

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

श्री अनन्तशयनम अय्यंगार

गांधी-युग में भारतीय क्षितिज पर जो अनेक नेता प्रकट हुए, उनमें श्री पुरुषोत्तमदास टंडन अपनी निराली कांति से दीप्तिमान हैं। वह सदा अपने विचार स्वयं स्थिर करते हैं और जब उनके विचार नवीनतम फैशन से मेल नहीं खाते तो वह शाब्दिक हेर-फेर नहीं करते, स्पष्टवादिता से काम लेते हैं। इस कारण उन पर बहुधा अनुदारपंथी होने का आक्षेप लगा है; किन्तु जिन लोगों को उनके निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, और मैं उनमें से एक हूं, वे जानते हैं कि टंडनजी की उदार, मानवता-प्रेमी आत्मा किन्हीं असामाजिक अन्धविश्वासों को प्रश्रय या प्रोत्साहन देने के सर्वथा प्रतिकूल है। उनका व्यक्तित्व प्राचीन भारतीय संस्कृति की उस ओजस्विता का प्रतीक है जिसने हर नए ज्ञान को अपनी अजस्र ज्ञान-धारा में समो लेने और उनके परस्पर समन्वय का प्रयास किया है। मैं भारतीय संस्कृति के इस जीवित प्रतीक को अपनी आदरपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि वर्षो तक भारतीय युवाजनों के विचारों और कर्मों को वह शुभ प्रेरणा प्रदान करते रहें।



भारतीय संसद में ७५वीं वर्षगांठ के अवसर पर

श्री टंडनजी की ७५ वीं वर्षगांठ पर, संसद भवन नई दिल्ली में, संसदीय हिन्दी परिषद् द्वारा आयोजित समारोह में उपराष्ट्रपति श्री टंडनजी को क्रिकेट का बल्ला भेंट कर रहे हैं। (टंडनजी अपने समय में क्रिकेट के अच्छे खिलाडी रहे हैं)





टंडनजी की वर्तमान रुग्णावस्था
का एक चित्र

भारतीय संसद मे श्री टंडनजी ने महामना मालवीयजी का एक पूर्णाकार चित्र भेंट किया था। यह चित्र संसद मे समारोहपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया। प्रस्तुत चित्र उसी समारोह के अवसर का है।



जय कामनाजयी !

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

जन-हित निज सर्वस्व दान कर तुम तो हुए अशेष;
क्या देकर प्रतिदान चुकाए ऋषे ! तुम्हारा देश ?
राजदंड, केयूर, छत्र, चामर, किरीट, सम्मान,
तोड़ न पाये यती ! ध्येय से वंधा तुम्हारा ध्यान।
ऐश्वर्यों के मोह-कुंज में भी न धीरता डोली;
तुमने तो की ग्रहण देवता ! केवल अक्षत-रोली।
जय कामनाजयी, व्रतचारी, मधुकर चंपक-वन के;
जय-जय अभिनव भरत भव्य भारत के राजभवन के !
गत की तिमिराच्छन्न गुफा में शिखा सजाने वाले;
जय, जीवित, उज्ज्वल अतीत की ध्वजा उठाने वाले !
ऋषे ! मरेगा कभी न भारतवर्ष तुम्हारे मन का;
अब तो वह वन रहा ध्येय जग भर के अन्वेषण का।
टूट रहीं परतें, स्वरूप अपना धुलता जाता है;
मंद-मंद मुद्रित सरोज का मुख खुलता जाता है।
मंद-मंद उठ रही हमारी ध्वजा धर्म की, वल की;
विभा नर्मदा-कावेरी की, शोभा गंगा-जल की।
क्षमा, शान्ति, करुणा, ममता ये सब आकार धरेंगे;
शमन किसी दिन हालाहल का जग में हमीं करेंगे।
संस्कृति से सम्पृक्त यहां विज्ञान मुक्त-दव होगा;
हुआ नहीं जो कहीं और, भारत में संभव होगा।
　　एक हाथ में कमल, एक में धर्म-दीप्त विज्ञान;
　　लेकर उठने वाला है, धरती पर हिन्दुस्तान।

हिन्दी के लिए सतत संघर्ष

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल

श्रद्धेय टंडनजी का और मेरा परिचय वैसे तो पाव शताब्दी से ज्यादा का है। १९२५ में कानपुर में राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन था। उस अवसर पर विषय-निर्वाचिनी समिति के सामने हिंदी भाषा के बारे में एक प्रस्ताव रखा गया था। उस समय टंडनजी के भाषण की शैली और उसका मर्म, दोनों का प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा।

उस समय तो 'हिन्दी यानी हिन्दुस्तानी' यह नारा बहुत प्रभावी था। कुछ समय के बाद यह अभिन्नता समाप्त होगई। बाद में 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' ऐसा विकल्प जनता के सामने आया, उस समय टंडनजी का दृष्टिकोण हिन्दी के लिए था। १९५० में जब संविधान सभा में भाषा का प्रश्न उठाया गया तब तो ऐसा मालूम हुआ कि संविधान सभा ने कुरुक्षेत्र का रूप धारण किया है और कौरव-पांडवों की स्मृति अनेक-अनेक लोगों को होगई। पंडित नेहरू बिल्कुल हिन्दुस्तानी के लिए कटिबद्ध थे। टंडनजी के कहने पर मैं उनसे मिला और कुछ बातों के बाद हमने उनको इस बात पर राजी किया कि संज्ञा हिंदी रहे किन्तु उसका स्वरूप संविधान में दर्शित किया जाए। इसी दृष्टि से वह धारा बनाई गई है जिसमें हिन्दी का स्वरूप कैसा रहेगा, उसकी उन्नति किस दृष्टि से होगी, ये बातें स्पष्ट कर दी गई हैं। महत्त्व नाम-रूप का है और किसी भाषा को समृद्ध करना है तो अन्य भाषाओं को द्वेष का पात्र नहीं बनाना चाहिए; बल्कि अन्य भाषाओं के शब्द और वाक्-प्रचार को, जहां ठीक लगता है वहां, स्वीकार करना चाहिए। यही दृष्टि आज हम रखें तो हिन्दी राष्ट्रभाषा तो होगी ही, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भाषा की पदवी और महत्त्व भी उसे प्राप्त होगा। तीन तपों तक टंडनजी हिन्दी की समृद्धि के लिए संघर्ष करते रहे हैं लेकिन उन्हें हिन्दी को राष्ट्र-भाषा की पदवी का प्राप्त होना अब जाकर नजर आया है। हिन्दी की श्रीवृद्धि अपनी पदवी और प्रतिष्ठा के अनुसार होती रहे, और पूज्य टंडनजी शतायु होकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का पद प्राप्त होते देख सकें, यही मेरी कामना है।

अद्वितीय महापुरुष

श्री सदाशिव कान्होजी पाटिल

राजर्षि टंडनजी की राष्ट्र, समाज, संस्कृति एवं भाषा-विषयक सेवाएं निश्चय ही राष्ट्रीय सम्मान के योग्य हैं।

दुनिया में अनेक महापुरुष हुए हैं। किन्हीने बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ीं, किन्हींने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किए; परन्तु ऐसे महान व्यक्ति विरले ही हुए है जिन्होंने समाज, साहित्य, संस्कृति और किसानों की सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया हो। राजर्षि उन सत्पुरुषों में गिने जाते हैं, जिन्होंने लोक-सेवा-कार्य में अपनी सुख-सुविधा और धनसंचय की तरफ ध्यान नहीं दिया। लम्बी-लम्बी बातें नहीं बनाईं, आत्मसिद्धि के लिए यत्न नहीं किए।

उम्र के साथ उनका उत्साह बढ़ता ही गया है। वह निःसंशय अभिनंदन के पात्र है। मैं उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

प्रेरणा के स्रोत

श्री जगजीवनराम

हृदय के भाव उद्‌गार बनकर बाहर आया करते हैं। श्रद्धा, स्नेह, सम्मान आदि भाव व्यक्त करना ही अभिनन्दन करना है। अभिनन्दन के लिए सुसंस्कृत भाषा एवं विशाल शब्दाडम्बर अपेक्षित नहीं। किन्तु ग्रन्थ-रूप में अभिनन्दन करने का विशेष लाभ यह भी होता है कि इसके द्वारा व्यक्ति की बहुमुखी सेवाओं, मन्तव्यों एवं सिद्धान्तों को स्थायी रूप मिल जाता है। श्रद्धेय टंडनजी जैसे महान व्यक्ति के सिद्धान्त, मन्तव्य एवं जीवन-वृत्त का अभिलेख भावी सन्तति के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर मार्ग-दर्शन करेगा, इसमें दो मत नहीं।

श्रद्धेय टंडनजी से मेरा निकट का सम्बन्ध रहा है। आपका आत्म-निरपेक्ष व राष्ट्र-समर्पित जीवन, सात्त्विक विचार एवं लोकसेवी प्रवृत्ति निस्संदेह अनुकरणीय हैं। साहित्य, संस्कृति, समाज, देश-सेवा आदि कोई भी क्षेत्र आपसे अछूता नहीं रहा। हिन्दी एवं भारतीय संस्कृति के आप महान पोषक हैं। आपके सान्निध्य में आने वालों पर आपकी छाप पड़े बिना नहीं रही। स्पष्टवादिता आपका विशेष गुण रहा है। आत्मविरक्त, किन्तु राष्ट्र-अनुरक्त रहकर आपने ऋषि-परम्परा का पालन किया है। इसी कारण आपको 'राजर्षि' का सम्बोधन प्राप्त है।

मैं उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

राष्ट्रभाषा के महान नेता

श्री घनश्यामसिंह गुप्त

राजर्षि टंडनजी का त्यागमय जीवन किसी विज्ञ व्यक्ति से छिपा नहीं है।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उन्होंने जो तप व त्याग किया वह अनुकरणीय है।

हिन्दी के लिए तो इनका जीवन प्रायः वक्फ ही रहा। जिस समय संविधान सभा में केन्द्र की राज्य भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ और वह जटिल रूप धारण करने लगा तब हम हिन्दीवालों का नेतृत्व उनके हाथ में था। जिस लगन और दृढ़ता से उन्होंने कार्य किया वह इतिहास के पृष्ठों में अंकित रहेगा। संविधान में हिन्दी को जो स्थान प्राप्त हुआ है उसका बहुत बड़ा श्रेय श्रद्धेय टंडन जी को है। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के यत्न में उन्होंने भारत की दूसरी समृद्ध भाषाओं की निन्दा या अवहेलना कभी नहीं की। दूसरी भाषावालों के साथ सदा प्रेम और सत्कार से काम लेते रहे। जिसका यह परिणाम हुआ कि संविधान में हिन्दी को प्रमुख स्थान देने के पक्ष में सभी होगए और अंग्रेजी के स्थान में हिन्दी केन्द्र की राज्य-भाषा स्वीकृत की गई।

संविधान का हिन्दी-संस्करण बनाने के कठिन कार्य में भी मुझे और मेरी समिति को उनसे समय-समय पर पथ-प्रदर्शन मिलता रहा।

अधिक लम्बा न लिखकर श्रद्धेय राजर्षि टंडनजी की सेवाओं के लिए श्रद्धापूर्वक नमस्कार करता हूं।

कर्मयोगी टंडनजी

श्री सम्पूर्णानन्द

टंडनजी के सम्बन्ध में कुछ लिखना सरल भी है और कठिन भी है। लगभग ४५ वर्ष हुए, जब मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई थी। वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के लिए इन्दौर गए थे। मैं वहां राजकुमार कालिज में अध्यापक था और स्वागत समिति के उपाध्यक्षों में से एक था। वहीं परिचय हुआ। उसके बाद राजनीति के क्षेत्र में तो आज लगभग ४० वर्ष से साथ है। इस बीच में हम लोग जेल में और अधिक सम्पर्क में आए और फिर वह हमारी विधान सभा के अध्यक्ष थे। मैं मंत्री के रूप में काम करता था। जहां मिलने-जुलने का इतने दिनों तक अवसर मिला हो वहां सहस्रों ऐसी बातें हैं जो लिखी जा सकती हैं। शिक्षाप्रद और रोचक, सभी तरह की ऐसी कथाएं हैं जिनसे टंडनजी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु किसी जीवित व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखने में कठिनाई होती है। विशेषतः जबकि वह राजनीतिक रंगमंच का अभिनेता रहा हो और उसके साथ के दूसरे पात्र भी देवानुकम्पा से अभी जीवित हों, कलम रोककर लिखना पड़ता है और कई बातें छोड़ देनी होती हैं।

हमारे राजनीतिक नेताओं में जो लोग त्यागमूर्ति कहे जाने के अधिकारी हैं उनमें टंडनजी का नाम निश्चय ही प्रथम श्रेणी में लिखा जायगा। उनका त्याग जिस उत्कृष्ट कोटि का था और अपनी त्यागवृत्ति से उन्होंने जिस प्रकार अपने कुटुम्बियों को संयम की दृढ़ शृंखला से बांधा, वह चिरस्मरणीय कथा है। उसको सोचकर द्रोणाचार्य की याद आती है जिन्होंने राजगुरु होते हुए भी अपने एकमात्र पुत्र को दूध पीने तक का अवसर नहीं दिया; क्योंकि इससे त्याग में बट्टा लगता और राजा के सामने हाथ फैलाना पड़ता। यों अजातशत्रु तो स्यात् कोई नहीं होता; फिर भी मैं समझता हूं कि टंडन जी का स्यात् ही कोई शत्रु होगा; परन्तु यदि कोई हो तो उसको भी टंडनजी के त्यागमय जीवन के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा।

उनके सम्बन्ध की दूसरी चीज जो सर्वमान्य है वह है हिन्दी के प्रति उनकी अनन्य और अटूट निष्ठा। किसी एक व्यक्ति ने हिन्दी के लिए इतना काम नहीं किया जितना कि टंडनजी ने किया। उनकी कार्यशैली किसी-किसी को रुष्ट कर देती है। ऐसे लोग भी, जिनको उन्होंने स्वयं हिन्दी के कार्यक्षेत्र में प्रवेश कराया, कभी-कभी उनके विरोधी बन जाते हैं। वह अपने मत को ऐसे स्पष्ट और निर्भीक रूप से रखते हैं कि हिन्दी के विरोधियों को आन्दोलन करने का अवकाश मिल जाता है; परन्तु जिस प्रकार टंडनजी ने हिन्दी के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग किया वह तो हर दशा में अनुपम और अद्वितीय है।

यह तो बहुत से लोग जानते हैं कि वह उदार धार्मिक विचारों के व्यक्ति हैं। राधास्वामी संप्रदाय में उनका बहुत ऊंचा स्थान रहा है; परन्तु इस बात को सम्भवतः कम लोग जानते होंगे कि वह अपने समय में म्योर सैन्ट्रल कालिज के, जो अब प्रयाग विश्वविद्यालय बन गया है, क्रिकेट टीम के कप्तान थे और आज भी उनकी क्रिकेट में वैसी ही अभिरुचि है। मैंने जेल में देखा है कि वह चाहे और किसी समाचार को पढ़ें या न पढ़ें, परन्तु देश-विदेश कहीं के भी क्रिकेट-मैच का समाचार जब तक आदि से अन्त तक न पढ़ लें तब तक उन्हें चैन नहीं आता था।

उनको एक और शौक है जिसका और भी कम लोगों को परिचय होगा। उनकी शतरंज में रुचि है। मैं

तो मौहरों की गतिमात्र जानता हूं और इस खेल की बारीकियों को समझ नहीं पाता, परन्तु यह देखता था कि जेल में टंडनजी और स्वर्गीय रफी अहमद किदवई की शतरंज की बाजी घंटों चला करती थी। दोनों में कौन अच्छा खिलाड़ी था, यह मैं आज तक नहीं जान पाया।

उनकी एक कमजोरी है जिस पर उनके मित्र कभी-कभी कुढ़ते भी हैं और हँसते भी हैं। सिद्धान्तरूप से तो यह सभी मानते हैं कि काल अनन्त है; परन्तु टंडनजी उन लोगों में हैं जो व्यवहार में भी इस सिद्धान्त को अवतरित किया करते हैं। ऐसेम्बली की अध्यक्षता के समय में तो उनको किसी ने भी देर से पहुंचते देखा नहीं, परन्तु इसके सिवाय और किसी काम को वह स्यात् ही ठीक समय पर कर पाते होंगे। जेल में हम लोग देखते थे कि वह ठीक समय से न जलपान करते थे, न स्नान करते थे और न भोजन। मेरा ऐसा खयाल है कि इससे उनके स्वास्थ्य पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पड़ा है।

उनके जैसे संयमी और तपस्वी जीवन बिताने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य साधारणतः बहुत अच्छा रहना चाहिए। मेरा ऐसा खयाल है कि भोजन के सम्बन्ध में उन्होंने अपने ऊपर जो प्रयोग किए हैं उन्होंने भी उनके स्वास्थ्य को बिगाड़ा है। शक्कर छोड़ देना अच्छी चीज हो सकती है, किन्हीं विशेष अवस्थाओं में नमक छोड़ देना भी अच्छा हो सकता है; परन्तु जिस व्यक्ति को घंटों दिमागी काम करना पड़ता हो, उसको इस बात का ध्यान रखना ही चाहिए कि शरीर को पुष्टिकर भोजन मिले। टंडनजी वर्षों से जैसा भोजन करते रहे हैं उसमें मेरी समझ में इस चीज का बहुत बड़ा अभाव रहा है। भोजन के प्रयोग को वह कभी-कभी इतनी दूर तक ले जाते हैं कि उससे हानि भी हो सकती है। मुझे फतेहगढ़ जेल की एक बात स्मरण आती है। वह उनकी इस प्रकार की प्रयोगशीलता का उदाहरण है और कुछ हद तक हास्यास्पद भी है। चैत्र के महीने में नीम में जो फूल आते हैं उनको लोग सुखा लेते हैं और घी में तलकर खाते हैं। यह अपने ढंग का एक अच्छा स्वाद भी रखता है और कहते हैं कि उस ऋतु में लाभदायक भी है। मुझे भी इसका शौक है। जेल में भी मैंने थोड़े से फूल जमा कर रखे थे और कभी-कभी भोजनालय में इसे बनवाया करता था। टंडनजी को यह खयाल हुआ कि यदि नीम का फूल खाया जा सकता है तो नीम की निमौरी क्यों नहीं खाई जा सकती। उन्होंने निमौरी को घी में तलवाना आरंभ किया। मैंने तो उसे खाने से इन्कार कर दिया। हमारे भोजनालय में काम करने के लिए जो कैदी दिए गए थे वे भी उसे नहीं खाते थे। टंडनजी रोज खाते थे। हम लोग 'ए' क्लास में थे। प्रायः नित्य ही हमारे 'बी' क्लास के कुछ साथी हमारे यहां आ जाते। टंडनजी उन्हें भी यह व्यंजन दिया करते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनमें से किसी ने भी सामने नहीं खाया। सभी यह कहकर ले जाते थे कि हम बैरक में जाकर स्नान करने के बाद भोजन के साथ खाएंगे और कभी-कभी टंडनजी से इसकी तारीफ भी कर दिया करते थे। मैंने उनसे हँसी में दो-चार बार कहा कि आप नाहक इन लोगों का परलोक बिगाड़ रहे हैं। ये लोग आपसे झूठ-मूठ कह जाते हैं क्योंकि सामने 'नहीं' करने का साहस नहीं होता और अपनी बैरक में जाकर फेंक देते हैं; परन्तु उनको मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। एक बार उनको ज्वर आया। कानपुर के पं० रघुबरदयाल भट्ट वैद्य भी जेल में थे। उन्होंने टंडनजी से कहा कि महाराज, चरक ने यह लिखा है कि यदि निमौरी खाई जाय तो उसके साथ बहुत सा घी खाना चाहिए, नहीं तो ज्वर हो आता है। आपके ज्वर का यही कारण है। मैं नहीं जानता कि चरक ने ऐसा लिखा है या नहीं, परन्तु भट्ट जी की उक्ति काम कर गई। चूंकि टंडनजी घी खाने के विरोधी हैं, इसलिए उन्होंने निमौरी खाना भी छोड़ दिया। ज्वर तो दो-चार दिन में अच्छा हो ही गया, परन्तु हमारे भोजनालय में इस पकवान का बनना बन्द हो गया।

इस कहानी से टंडनजी के जीवन के एक अन्य पहलू पर प्रकाश पड़ता है। वह कुशल राजनीतिज्ञ हैं, विद्वान् हैं, यावज्जीवन कर्मयोगी रहे हैं; पर इसके साथ कुछ बातों में बहुत भोले स्वभाव के हैं। और जब तक कोई बहुत ही पुष्ट कारण न हो तब तक किसी पर अविश्वास नहीं करते। हां, यदि उनको ऐसा प्रतीत हो कि किसी मनुष्य का चरित्र ऊंचा नहीं है और नैतिक दृष्टि से वह गिरा हुआ है तो फिर उसकी ओर से वह अपना चित्त बिल्कुल खींच लेते हैं।

भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है और सामाजिक तथा धार्मिक बातों में पूर्णतया निष्पक्ष और उदार होते हुए भी उनको विश्वासों, विचारों और कर्मसरणियों के उस समुच्चय पर, जिसको एक शब्द में हिन्दुत्व कह सकते हैं, बहुत बड़ी आस्था है।

मैं उन लोगों में से हूं जिनके ऊपर टंडनजी की सदा से बहुत बड़ी कृपा रही है। मेरे चित्त में उनके लिए बहुत बड़ा आदर है और यदि सार्वजनिक जीवन में स्नेह के लिए कोई स्थान है तो स्नेह भी है। बराबर वर्षों तक साथ काम करने का अवसर रहा है और कांग्रेस की सेवा में हम एक-दूसरे के साथी, अंग्रेजी भाषा में कामरेड, रहे है; परन्तु मै उनको सदा बुजुर्ग मानता रहा हूं। जहां उनमें और गुण हैं वहां वह बड़े हँसमुख व्यक्ति हैं, इसलिए उनके साथ रहने वाले को कभी भी उस प्रकार का असमंजस नहीं होता जो कि बड़ों के साथ रहने में हो जाया करता है।

उनके स्वास्थ्य की इस समय जो अवस्था है उससे उनके सभी मित्रों को, और ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी है, बहुत चिन्ता है। भगवान उनको स्वस्थ रखे और बहुत दिनों तक लोगों को उनकी छाया में काम करने का अवसर दे।

गांधीजी के समान रचनात्मक

श्री विचित्रनारायण शर्मा

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उन थोड़े से व्यक्तियों में से है जिन्होंने राष्ट्रीय जागृति के श्रीगणेश का कार्य आरम्भ किया तथा उसके लिए प्रायः सर्वस्व अर्पण किया। यह उनके तथा हमारे सबके लिए सौभाग्य का विषय है कि इन महान नेताओं के जीवन-काल में ही उनकी तपस्या का फल हमें मिला और राष्ट्र आज आजाद है।

हमारे विधान के बनाने में उनका यथेष्ट भाग रहा। हिन्दी को जो स्थान मिला है उसका बहुत कुछ श्रेय उन्हें है। राजर्षि केवल एक आन्दोलनकारी नेता ही नही रहे, गांधीजी की तरह उन्होंने रचनात्मक प्रवृत्तियों में भी सदा सुरुचिपूर्ण भाग लिया है।

ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे ताकि चिरकाल तक उनका नेतृत्व कार्यकर्त्ताओं को सुलभ हो सके।



राजर्षि नहीं, महर्षि

श्री श्रीप्रकाश

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से मुझे प्रथम बार मिलने का सौभाग्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जबलपुर-अधिवेशन में सन् १९१६ में प्राप्त हुआ था। उस समय वह नाभा राज्य के उच्च अधिकारी थे और सम्मेलन के कार्यों में उनका बहुत बड़ा हाथ था। नाभा से वह थोड़े ही दिन बाद वापस आगए और प्रयाग में ही अपना व्यक्तिगत और सार्वजनिक काम करते रहे। १९१७-१८ में प्रयाग में 'लीडर' समाचार-पत्र के कार्यालय में मैं पत्रकारिता का काम सीखता था। उस समय टंडनजी संपादक श्री सी० वाई० चिंतामणि से मिलने प्रायः आया करते थे और तत्कालीन राजनीतिक विषयों पर उनसे विचार-विनियम करते थे। उस समय टंडनजी को देखने और उनके भावों और विचारों को समझने का मुझे अच्छा अवसर मिला।

इसको आज ४३ वर्ष हो गये, पर उसके बाद से ही कांग्रेस के कार्य में उनका मेरा संबंध आरंभ हुआ और कांग्रेस की प्रांतीय कमेटी और उसकी कार्यकारिणी समिति में मेरा उनका बहुत निकट सम्पर्क रहा। हम सभी उनकी धर्मपरायणता, स्वच्छ और सरल जीवन, भ्रातृ-प्रेम, स्पष्टवादिता, उच्च सिद्धांतों पर अटल निष्ठा, देशभक्ति और लोक-सेवा से मुग्ध रहते थे। जब वह किसी बात का निश्चय कर लेते थे तो उनको कोई हिला नहीं सकता था। बहुत बार उनके मित्र और सहयोगी इससे घबराते भी थे क्योंकि संसार में तो समझौता करते ही रहना पड़ता है, व्यावहारिकता की दृष्टि से हम सबको ही अपने सिद्धान्तों की न्यूनाधिक अवहेलना करनी ही होती है। पर टंडनजी ऐसा करने को कभी भी तैयार नहीं हुए।

अपने देश में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब कोई किसी मत या मार्ग को निश्चित कर लेता है और अपने स्थान से डिगने को नहीं ही तैयार होता, तो उसका अपने साथियों से सम्बन्ध टूट जाता है। वह अलग हो जाता है। परस्पर कुछ कटुता और मनोमालिन्य भी आ जाता है। टंडनजी के 'हठ' की यह विशेषता रही है कि इसके कारण किन्हीं साथियों से उनके स्नेह-संबंधों में कोई अंतर नहीं पड़ता था। उनसे सहमत न होते और दूसरे मार्ग से चलते हुए भी लोग उनका सम्मान ही करते थे और उनसे प्रेम बनाए रहते थे। यह उनकी एक ऐसी विशेषता है जिसने मुझे बहुत मुग्ध और आकृष्ट किया। इस संबंध में टंडनजी की जो भावनाएं रही हैं उनके अनुसार यदि हम सब चल सकें तो अपने सार्वजनिक क्षेत्र का दृश्य ही बदल जाय। सार्वजनिक प्रश्नों में परस्पर मतभेद होने के कारण किसी भी प्रकार से व्यक्तिगत मलिनता न आने पावे। यदि सुंदर और सर्वथा अभीष्ट प्रकार को हम अपनावें तो आज हमारे सार्वजनिक जीवन में जो कटुता और कर्कशता है, वह तत्काल दूर हो जाय।

जहां तक मैं देख सका, टंडनजी के व्यक्तिगत जीवन का यह आदर्श रहा है कि जैसा मनुष्य भीतर हो वैसा ही उसे बाहर भी होना चाहिए। जो उसका वास्तव में विचार हो उसी को प्रकट करना चाहिए। जैसी उसकी आंतरिक भावना हो वैसा ही उसका बाह्य आचरण भी होना चाहिए। गार्हस्थ्य जीवन में उनका यह आदर्श रहा है कि उसमें नैतिक पवित्रता और सदाचार सदा बना रहे, चाहे भौतिक दृष्टि से कितना ही कष्ट कुटुम्बी जनों को क्यों न हो। उनके विचार में किसी भी स्थिति में कदापि किसी प्रकार का अनाचार या दुराचार नहीं ही होना चाहिए। इस संबंध में वह

अपने देश की पुरानी आर्य-संस्कृति के उपासक ही नहीं, स्वयं उसके सच्चे प्रतीक रहे हैं, और उन्होंने अपने जीवन में स्वच्छता और सरलता को सदा प्रधान स्थान दिया है। वस्त्र, भोजन, मकान, गृहस्थी के प्रबंध के संबंध में उन्होंने अपने विचारों को सुंदर और समुचित रूप से कार्यान्वित किया है। सार्वजनिक क्षेत्र में उनका आदर्श रहा है कि हिन्दी भाषा का देश में प्रचार होना चाहिए और इसके द्वारा देश की एकता को सुदृढ़ करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने कितने ही दिनों से सतत परिश्रम किया। जहां तक मैं जानता हूं, महात्मा गांधी के इस कार्य को उठाने के पहले से ही टंडनजी ने प्रयाग के अपने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्त्वावधान में दक्षिणी प्रदेश में हिन्दी का प्रचार आरंभ किया था, और दक्षिण के विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ने के लिए प्रयाग आने को भी वह सदा उत्साहित करते रहे। साथ ही उनका आदर्श यह रहा कि विदेशियों के शासन से देश को मुक्त करना ही चाहिए, और हमें भी स्वतंत्र रहकर संसार की कार्यप्रणालियों और विचार-शैलियों में समुचित योग देना चाहिए।

जहां तक मैं जानता हूं, आरंभ के दिनों में टंडनजी अहिंसावादी नहीं रहे, और उनका विचार यही था कि आवश्यकता हो तो देश के हित के लिए यदि कोई दूसरा मार्ग न रह जाय तो हिंसा के मार्ग का भी अवलंबन किया जा सकता है। सन् १६१६ के दुःखद और लज्जाजनक जलियांवाला बाग-कांड के बाद मुझे स्मरण है कि टंडनजी से बातें करते हुए मैंने इन विचारों का समावेश उनके चित्त में पाया; पर महात्मा गांधी के हाथों में जब कांग्रेस का संचालन आया तो उन्होंने भी अहिंसा-व्रत को धारण किया और उसका पूर्ण रूप से पालन किया। यदि वह देखते थे कि उनके किसी स्थान पर रहने से कार्य में बाधा पड़ रही है, या किन्हीं लोगों को उनकी विचारधारा या कार्यप्रणाली पसंद नहीं है, तो वह स्वयं उस स्थान को छोड़ देते थे; पर इसके कारण उनके मन में कोई विकार नहीं आता था। मित्रों से वह सदा पहले की ही तरह प्रेम बनाए रहते थे। प्रशंसा की बात है कि वह उस संस्था को भी नहीं छोड़ते थे जिसके कार्य के संबंध में ऐसी स्थिति पैदा हुई हो। वह उसमें स्वयं बने ही रहते थे। इस पर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना इस कारण आवश्यक है कि हमारा साधारण अभ्यास यही है कि जब हमारा अपने साथियों से मतभेद होता है और बहुमत हमारे विरुद्ध रहता है तो रुष्ट होकर अपनी संस्था से ही हम अलग हो जाते हैं। टंडनजी का कार्य करने का यह प्रकार नहीं रहा। इससे हम सबको ही शिक्षा लेनी चाहिए।

मातृभाषा के प्रचार में और मातृभूमि की सेवा में टंडनजी ने अपने तन, मन, धन सबको पूर्ण रूप से अर्पण कर दिया। उन्होंने अपनी गृहस्थी के हितों की इसके कारण अवहेलना की। गृहस्थावस्था में ऐसा करने के औचित्य में लोगों को शंका हो सकती है, पर इस बात में शंका किसी को भी नहीं ही हो सकती कि जो कुछ टंडनजी ने किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। वह अपने सिद्धांतों के लिए सदा अपना सब कुछ त्याग करने को तैयार रहे। टंडनजी बड़े गंभीर प्रकृति के सत्पुरुष हैं। वह सभी विषयों पर गंभीरता से मनन कर अपना विचार प्रकट करते हैं। अवश्य ही मेरे ऐसे लोगों के लिए, जिनकी प्रकृति भिन्न है और जो संसार में कुछ हँसना-खेलना भी पसंद करते हैं, कभी-कभी टंडनजी को समझना कठिन होता रहा। इस कारण उनसे झुंझलाते भी रहे। हमारी ऐसी अभिलाषा रहती थी कि टंडनजी भी कभी-कभी तो कुछ अपनी गंभीरता को त्याग कर साधारण जन की तरह हँसते-खेलते। ऐसी बात नहीं है कि उन्होंने कभी हँसा-खेला न हो। क्रिकेट के तो वे किसी समय प्रसिद्ध खिलाड़ी रहे हैं। मित्र-मंडली में वे हँसते भी हैं, पर उनकी हँसी में भी गंभीरता रहती है। वह बीभत्सता और अश्लीलता को अपने से बहुत दूर रखते हैं। साधारण जनों के हास्य में ये दुर्भाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में आ ही जाते हैं। यदि टंडनजी साधारण हास्य से ही इस कारण परहेज करते रहे तो कोई आश्चर्य नहीं।

यह सर्वथा उचित ही है कि समाज ने अपने हार्दिक सम्मान के सूचनार्थ उन्हें समुचित अलंकार से विभूषित करना चाहा और इस अभिलाषा की पूर्ति में उन्हें राजर्षि की उपाधि दी। ऐसे मामलों में कोई तर्क काम का नहीं होता; सर्वसाधारण के हृदय में कोई वाक्य स्वतः आ जाता है और उसे वह प्रचलित कर देता है। महात्मा, देशबंधु, त्यागमूर्ति महामना, पंजाब-केसरी आदि सम्मानसूचक शब्द इसी प्रकार से विविध विभूतियों के साथ संलग्न हो गए। कुछ तो यथार्थता इनमें होती ही है। तथापि मन में प्रश्न अवश्य उठता है कि क्यों कोई व्यक्ति नामविशेष से अलंकृत हुआ।

मुझे भी आश्चर्य हुआ कि टंडनजी को 'राजर्षि' नाम से पुकारा गया, क्योंकि वे सदा से ही साधु प्रकृति के रहे हैं। सांसारिक वैभव और शासन-शक्ति, जो 'राजा' के नाम में निहित है, उससे टंडनजी का तो जहां तक मालूम है, लेशमात्र भी कभी संबंध नहीं रहा। मैं तो चाहता कि 'महर्षि' इन्हें कहा जाता तो अधिक उपयुक्त होता; क्योंकि सब ही जाति, श्रेणी, समुदाय, सम्प्रदाय के ऋषियों और मनीषियों के लिए यह शब्द प्रयोग किया जा सकता है। तथापि, जब जनता ने और सहयोगियों ने इन्हें 'राजर्षि' कहा तो इसे उचित ही मानना होगा, और उसी रूप में मैं इनका अभिवादन करता हूं और उनके प्रति पुराना साथी और छोटा भाई होने के नाते श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

आजादी के सच्चे उपासक

श्रीमती उमा नेहरू

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन हमारे देश के सच्चे आजादी के भक्त हैं। जिनमें राग-द्वेष का नाम नहीं है और सदा कर्त्तव्य-कर्म करते रहते हैं। कर्म के फलस्वरूप जो नफा-नुकसान या दुःख-सुख मिलता है उसे देश की गोद में ही अर्पण कर देते हैं।

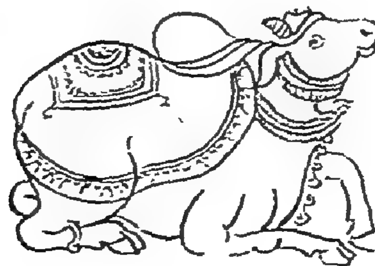
टंडनजी केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों के एक चमकते हुए रत्न हैं।

देश के लोगों के कष्टों का रात-दिन हृदय में अनुभव करते हैं, और अपने देशवासी भाई-बहनों के उपकार के लिए उपाय ढूंढ़ते रहते हैं। दुनिया के लाख विरोध करने पर भी सत्य और प्रेम के सिद्धान्त से नहीं डिगते हैं। कठिनाइयां, दमन-नीतियां या गिरफ्तारियां देश की आजादी के कारण उन्होंने हँस-हँस कर सही हैं, इन विपत्तियों से वह डरे नहीं।

टंडनजी के हृदय में सदा देश की आजादी की कामना रही। वह कभी अपने निश्चित पथ से विचलित नहीं हुए। निर्भीक वीर की तरह हर तरह की मुसीबत उठाई और अपने कार्य पर अटल रहे।

टंडनजी को मैं एक अरसे से जानती हूं। उनको सदा यही कहते सुना कि हमारे सामने एक ही धर्म है और वह है आजादी का। यही राष्ट्र का प्राण है। टंडनजी जैसे लोग संसार में सदा जीवित रहते हैं। टंडनजी ने अपना कर्त्तव्य सम्पूर्ण रीति से पालन किया है।

टंडनजी सदा के लिए हमारे राष्ट्रीय जीवन के प्रतीक के रूप में अपनी मातृभूमि में निवास करेंगे।



एक समर्पित जीवन

आचार्य कृपलानी

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से मेरा परिचय और साथ १९२० में हुआ, जब सत्याग्रह-संग्राम के सिलसिले में अपनी सम्पन्न और चमकती हुई वकालत को छोड़कर वह राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल होगए। बाद में वह पंजाब नेशनल बैंक के जनरल मैनेजर होगए और पंजाब-केसरी-लाला लाजपतरात के निकट सम्पर्क में आए। लालाजी ने लोक-सेवक मण्डल (पीपुल्स सर्वेट्स सोसाइटी) की स्थापना की थी जिसके सदस्यों ने त्यागमय जीवन और राष्ट्रीय सेवा का व्रत लिया हुआ था। यह सोसाइटी श्री गोखले द्वारा स्थापित सर्वेट्स आफ इंडिया सोसाइटी के नमूने पर बनाई गई थी, जिसका प्रधान कार्यालय पूना में था। नई सोसाइटी के सदस्यों का काम राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करना और देश के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण में सहायता करना था। लाला लाजपतराय भारतीय देश-भक्तों में पहले थे जिन्होंने राष्ट्रीय राजनीतिक स्वाधीनता की समस्या को अन्य बातों से अलग करके नहीं देखा। वह सर्वतोमुखी और सुसंयोजित सुधार के हामी थे और अपने देश की नैतिक, भौतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति व प्रगति चाहते थे। उनके निधन के बाद टंडनजी ने पंजाब नेशनल बैंक का अपना ऊंचे वेतन वाला पद छोड़ दिया और सोसाइटी के अध्यक्ष बन गए।

कुछ समय पश्चात् टंडनजी अपने गृह-प्रान्त संयुक्तप्रान्त (अब उत्तरप्रदेश) लौट आए और अपने नगर इलाहाबाद में स्थायी निवास की व्यवस्था की। वह शायद हमारे आज के जीवित राष्ट्रीय नेताओं में सबसे बुजुर्ग हैं। होश संभालने के बाद से उनका लगभग सारा जीवन देश और उसकी प्रगति के लिए अर्पित रहा है। वह मजबूत और दृढ़ विचारों के व्यक्ति हैं। वह उन्हें आस्था एवं विश्वास के साथ व्यक्त करते हैं और उन पर डटे रहते हैं, व्यक्तिगत रूप से उन्हें चाहे कुछ भी नतीजा क्यों न भुगतना पड़े। वह अपने विचारों को इस कारण दबाने को कभी तैयार नहीं हुए कि कांग्रेस में सर्वोच्च सत्ता पर स्थित लोगों से उनका मेल नहीं बैठता। उनमें अपने विचारों और विश्वासों पर जमे रहने का साहस है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से, आराम और ताकत की तलाश के कारण कांग्रेस में इस गुण का अभाव और विलोप होता जा रहा है। जिन लोगों ने बेझिझक और निडर होकर ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत का मुकाबला किया था, आज इस डर से अपने दलीय नेताओं को नाखुश करने का साहस नहीं कर पाते कि कहीं उनकी कृपा-दृष्टि और सरपरस्ती से वंचित न होजायं। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन स्वाधीनता-पश्चात के देशभक्तों के इस वर्ग के नहीं हैं। एक बार अहिंसा और दूसरी बार हिन्दुस्तानी के राष्ट्रभाषा होने के मामले पर गांधीजी से उनका मतभेद हुआ। उन्होंने अपने विचार साफ-साफ व्यक्त कर दिए। वह उन लोगों में थे जो सत्ता-हस्तांतरण के दिनों में देश-विभाजन के सर्वथा विरुद्ध थे।

उन पर अक्सर सम्प्रदायवादी होने का आरोप लगाया गया है। किन्तु सारी साम्प्रदायिकता जो मैंने उनमें पाई, वह यह कि वह राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की हिमायत करते हैं और हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के बुनियादी मूल्यों में उनकी आस्था है। बाद वाले कारण से वह समझते है कि विश्व के सभी महान धर्म अलग-अलग राहों से एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख हैं। अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए, उनका किसी भी धर्म के प्रति विरोध का विद्वेप नहीं है। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की उनकी वकालत को भी अक्सर गलत समझा जाता है। मैंने जब कभी उनसे पूछा है कि हिन्दुस्तानी

के उस रूप को वह क्या कहेंगे जो मैं बोलता हूं, तो उन्होंने यही कहा है कि 'यह हिन्दी है।' इसलिए यह केवल नामकरण का ही सवाल है। उनका कहना है कि 'हिन्दुस्तानी' गलत अभिव्यक्ति है। इस भाषा को सही तौर पर 'हिन्दी' कहना चाहिए, 'हिन्दुस्तानी' नहीं।

उन पर यह भी आक्षेप किया जाता है कि वह प्रतिक्रियावादी नहीं, तो अनुदारपंथी तो हैं ही। यह भी इस कारण से है कि वह भारतीय संस्कृति के प्रबल हामी हैं और चाहते हैं कि वह अपनी ही स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार और अनुरूप विकास और प्रगति करे, पश्चिम की बेजान नकल न बन जाए। वह यूरोपीय संस्कृति के उन सतही और चमक-दमक भरे गुणों से जरा भी प्रभावित नहीं कि जिनसे उनके कुछ उच्चतम समकालीनों के पांव अपनी भूमि से उखड़ गए। इस बात को छोड़ उनके विचार प्रगतिशील हैं। किन्तु उनका विचार है कि भारतीय प्रतिभा अपने शानदार वैभवशाली अतीत के अनुकूल ही विकास कर सकती है और श्रेष्ठतम कृतियों का सृजन कर सकती है। आधुनिक यूरोप ने भी इसी प्रकार, अपनी परम्पराओं और अपनी स्वाभाविक प्रतिभा पर दृढ़ रहकर ही प्रगति और विकास किया है।

प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना के बाद वह बरसों तक अपने सूबे संयुक्तप्रान्त की विधान सभा में अध्यक्ष-पद पर रहे। वहां यद्यपि उन्होंने अध्यक्ष बन जाने के कारण कांग्रेस दल को छोड़ा तो नहीं, किन्तु उन्होंने इस उच्च पद की श्रेष्ठतम परम्पराओं और स्तर को अक्षुण्ण बनाए रखा। अध्यक्ष के रूप में उनकी निष्पक्षता के बारे में उंगली वे लोग भी नहीं उठा सकते थे जो उनके विचारों से सहमत नहीं होते थे। कहा जाता है कि एक बार जब उनके आदेश पर किसी ने कुछ आपत्ति की थी तो उन्होंने कहा था कि यदि विधान-सभा का एक भी सदस्य उनकी निष्पक्षता पर सन्देह करता है तो वह अध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे देंगे। उनके अध्यक्ष रहते सरकार को सदा आसानी नहीं होती थी, किन्तु सरकार यह शिकायत नहीं कर सकती थी; क्योंकि वह पूर्णतया निष्पक्ष थे। उनके कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण आदेश स्वीकृत परम्पराओं में स्थान पा चुके हैं। वह इस कार्य के लिए सर्वथा सुयोग्य थे। बाद में उन्होंने उत्तरप्रदेश की विधान-सभा की अध्यक्षता से इस्तीफा दे दिया और लोक-सभा के सदस्य बन गए।

वह जो भी काम करते हैं उसमें पूर्णता लाने का प्रयत्न करते हैं। वह अपने कथन और लेखन में अत्यधिक सावधानी बरतते हैं। इसलिए वह अपनी वार्ता में या लेखन में या मंतव्य में जल्दबाजी नहीं करते। शीघ्र निश्चय का गुण एक कार्य-निर्देशक में होना आवश्यक है। फिर भी अपने परिश्रम और अध्यवसाय के कारण वह बहुत काम करा लेते हैं और एक सफल कार्य-निर्देशक साबित हुए हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब नेशनल बैंक के जनरल मैनेजर की हैसियत से और इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष के रूप में उनकी निष्पक्षता और ईमानदारी के विरुद्ध कभी जरा सी खुसफुसाहट तक नहीं सुनी गई। संभवतः यही कारण हैं कि वह समस्याओं के प्रति अपने धीमे और झिझकपूर्ण रुख के बावजूद सफल हुए हैं।

वह अमीरों और गरीबों, छोटों और बड़ों में कोई विभेद नहीं करते। वह अत्यन्त सुसंस्कृत आचारों और सबके साथ सद्व्यवहार वाले व्यक्ति हैं। वह अत्यन्त आतिथ्यपूर्ण आतिथेय हैं और महती उदारता से सम्पन्न हैं। वह भरसक गरीबों और अभावग्रस्तों की सहायता करते हैं।

यद्यपि पिछले कुछ वर्षों मे वह अस्वस्थ हैं फिर भी अपने देश के मामलों में उनकी दिलचस्पी सदा की तरह ही पैनी है। जब भी उनके पुराने साथी उनसे मिल जाते हैं, तो वह चिकित्सकों के मना करने पर भी घंटों उनसे सार्वजनिक समस्याओं पर वार्ता करते ही रहते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में लेखक का उनसे अक्सर मतभेद रहा है, जैसा कि अपने अन्य जीवन-पर्यन्त के मित्रों और साथियों से भी रहा है; किन्तु उनके लिए भी और टंडनजी के लिए भी उसके मन में अतीव आदर और स्नेह है।

अतः अपने एक पुराने मित्र और सहयोगी के प्रति, जिसने इस दुखी देश की नैतिक, भौतिक और सांस्कृतिक प्रगति के लिए सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अथक श्रम किया है, मुझे अपनी अनुशंसा की आदरपूर्ण स्नेहांजलि प्रस्तुत करते हुए अत्यधिक हर्ष हो रहा है।

देश और हिन्दी के लिए वरदान

श्री राहुल सांकृत्यायन

टंडनजी का नाम मैंने पहले भी सुना था, पर उनके साक्षात्कार करने का अवसर मेरे स्वर्गीय मित्र स्वामी सत्यानन्द (पहले श्री बलदेव चौबे) के साथ १६३० के बाद किसी समय हुआ। वस्तुतः स्वामी सत्यानन्द इस नाम के धारण से पहले भी सन्त थे। टंडनजी और उनके स्वभाव में बड़ी समानता थी। मैं तार्किक, बुद्धिवादी नास्तिक आदमी हूं, पर दोनों का स्नेह प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य मिला। इसमें कारण यही हो सकता है कि मैं अपनी संस्कृति और हिन्दी का भक्त हूं। पहिली बार टंडनजी के पुराने मकान में उनके दर्शन हुए। वह शायद तब तक पंजाब नेशनल बैंक के संचालक-पद से मुक्त हो चुके थे। उनका त्याग प्रसिद्ध था। उन्होंने कभी प्रेय का रास्ता नहीं अपनाया, यह तो उनके विरोधी भी मानेंगे। यह आश्चर्य की बात है कि टंडनजी जैसे अजातशत्रु के भी कुछ विरोधी हो सकते हैं। स्वार्थ, तेरा बुरा हो। विरोधियों का भी पक्ष करने का फल उनके आदर्श के लिए बुरा हुआ। पर, हर आदर्शवादी से यह गलती हो सकती है।

टंडनजी बहुत समय से स्वास्थ्य में संदिग्ध रहते आए हैं। डाक्टर तो ५० तक पहुंचते-पहुंचते ही फतवा दे चुके थे, कि साठ पूरे नहीं कर सकेंगे। पर, टंडनजी भोजन आदि में बहुत संयम से काम लेते हैं; बल्कि कह सकते हैं कभी अति भी कर देते हैं। उनका शरीर कृश ऐसा ही तब से रहा, जब से मैंने देखा है। आयु ने उनके मन को निर्बल करने में सफलता नहीं पाई, पर शरीर को धीरे-धीरे अशक्त करने में सफलता अवश्य पाई। यह देश और हिन्दी के लिए वरदान था।

टंडनजी प्रायः आधी शताब्दी से हिन्दी के व्रती और सेवक हैं। हिन्दी के लिए इतना करनेवाले विरले ही लोग होंगे। उनको नजदीक से न जाननेवाले उन्हें इस क्षेत्र में कट्टर कहना चाहेंगे। उन लोगों के लिए वह अवश्य कट्टर हैं, जो 'मुख में राम बगल में छुरी' रखते हुए हिन्दी की हिमायत करते हैं या जो हिन्दी के विरोध के लिए अंग्रेजी का गुप्त या प्रकट समर्थन करते हैं। कितने ही समझते हैं, टंडनजी उर्दू के विरोधी हैं। वह उर्दू के बड़े जानकार हैं, उर्दू की कविताएं उन्हें उसी तरह पसन्द आती हैं, जैसे हिन्दी की। वह स्वप्न में भी नहीं पसन्द करेंगे कि उर्दू नामशेष हो जाय। टंडनजी उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानते हैं, भाषा-शैली। जिस साल मैं साहित्य सम्मेलन का सभापति था, उस साल उनके समर्थन से हमने निश्चय किया था कि उर्दू के महान कवियों में से एक दर्जन की कृतियों को नागरी-अक्षरों में छापा जाय। यह १६४८ का समय था। अभी सभी बातें साफ नहीं हुई थीं कि इस ओर कदम रखने में सफलता होती। अब तो दर्जनों उर्दू-कवियों की कृतियां नागरी-अक्षरों में आचुकी हैं। वे बहुत सुन्दर रूप में प्रकाशित हुई हैं और हिन्दी के पाठकों ने उनका बहुत आदर और उपयोग किया है। इस विषय में श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय का प्रयत्न अत्यन्त श्लाध्य है। वह समय दूर नहीं, जबकि उर्दू की सारी मूल्यवान कृतियां नागरी में आकर हिन्दी की श्रीवृद्धि करेंगी। उर्दूवालों का लिपि का दुराग्रह इस कार्य में भारी बाधक है। लिपि-परिवर्तन से भाषा का विनाश नहीं होता। यदि ऐसा होता तो तुर्की और मध्य एशिया की अरबी में लिखी जाने वाली भाषाएं लिप्यन्तर के कारण समाप्त होगई होतीं। हिन्दी-प्रान्तों में पहले दर्जे से दसवें दर्जे तक की रीडरों में उर्दू गद्य-पद्य के कुछ पाठ रखवाने का प्रयत्न करना, वस्तुतः उर्दू के

हिमायतियों के करने का काम था, इससे मैट्रिक तक पढ़े सारे तरुण उर्दू से अभिन्न हो जाते। अन्त में भारत में उर्दू का सुन्दर भविष्य उसके नागरी लिपि में होने पर ही है।

टंडनजी हिन्दी के बारे में यह अंधी धारणा नहीं रखते कि हिन्दी में आए विदेशी शब्दों का बहिष्कार करके उसकी जगह क्लिष्ट अप्रयुक्त संस्कृत-शब्दों को भरा जाय। भारत सरकार ने एक समिति द्वारा संविधान का एक अनुवाद कराया था, जिसमें यह प्रयास किया गया था कि संस्कृत के धातुओं, उपसर्गों और प्रत्ययों का उपयोग करके सारे शब्द बना लिए जायं। यह खयाल नहीं रखा गया कि संस्कृत की दो हजार के करीब धातुओं में पांच सौ से अधिक का न हिन्दी में, न सामान्य संस्कृत में प्रयोग होता है। जब यह अनुवाद प्रकाशित हुआ, तो हिन्दी के पक्षपातियों को भी डर लगा, कि यह हिन्दी-विरोधियों के हाथ में खेलना है। भाषा-वाला प्रश्न जल्दी संसद के सामने आने वाला था। उससे पहिले संविधान का सुगम अनुवाद कर डालना ही नहीं, उसका मुद्रित हो जाना भी आवश्यक है, यह टंडनजी का निश्चय था। मैं कुछ तरुण साथियों के साथ इस काम में लगा था। हम तो दौड़ कर ही रहे थे, टंडनजी बराबर प्रगति को देखते और हमें उत्साहित करते थे। और ठीक समय पर वह इस अनुवाद को लेकर दिल्ली गए।

इसी वक्त टंडनजी की एक और प्रकृति का पता लगा। सम्मेलन के सभापति होकर बम्बई जाते ही (१९४७) मुझे मधुमेह (डायबीटीज) होगया। नया तजुरबा था, चिन्ता होती ही है। टंडनजी भी इसके लिए चिन्तित हुए। उन्होंने किसी परिचित का हवाला देते हुए कहा कि मांस के सेवन से उनके मधुमेह में शकर जाना कम होगया। मुझे उन्होंने मांस खाने की प्रेरणा नहीं दी। उसकी जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि मैं पहले से मांसाहारी था। अपने परिचितों में से छोटे-से-छोटे के प्रति आत्मीयता दिखलाना उनके स्वभाव में है। मैंने स्वास्थ्य की अनुकूलता के खयाल से मसूरी में रहना पसंद किया; पर जब भी प्रयाग में उनसे मिलने जाता, वह कहते, यहां बैठ कर काम करिए।

टंडनजी ने यह सोच लिया था कि हिन्दी को भारत की दूसरी भाषाओं को क्षति नहीं पहुंचानी है; बल्कि अपने साथ उनको भी आगे बढ़ाना है। सम्मेलन ने, अपने प्रस्ताव द्वारा इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया। उनके ऊपर यह आक्षेप हो ही नहीं सकता, कि वह भारत की दूसरी भाषाओं को क्षति पहुंचाकर हिन्दी को वहां लादना चाहते हैं। हां, वह जनहित तथा राष्ट्र के सम्मान की दृष्टि से अंग्रेजी को उस स्थान पर रखना नहीं पसंद करते, जहां वह हमारी परतंत्रता के समय थी। और अब भी उसे हटाने की बात करने पर, देवों-महादेवों का इन्द्रासन गरम होने लगता है।

टंडनजी आज हिन्दी के प्रतीक हैं। उनकी सेवाओं को हिन्दी-भाषी, तथा भविष्य के सारे भारतीय, जो अवश्य हिन्दी के ज्ञाता होंगे, कभी भूल नहीं सकते। एक जीवन में जितना आदमी कर सकता है, उससे कहीं अधिक टंडनजी ने हिन्दी के लिए काम किया। उनको कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

चिरस्मरणीय सेवाएं

श्रीमती सुचेता कृपलानी

राजर्षि टंडनजी ने राष्ट्र की एकता तथा राष्ट्रभाषा की समृद्धि के लिए चिरस्मरणीय सेवाएं की हैं। देश के लिए किए गए उनके महान् त्याग और सेवाओं से हम सबको सबक सीखना है और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण करते हुए हमें देश की प्रगति के लिए निष्ठापूर्वक कार्य करना है। मुझे आशा है इस अभिनंदन-ग्रंथ से देश के लोगों को उनके जीवन की समस्त गतिविधियों की जानकारी मिल सकेगी और देश के समक्ष उपस्थित महान लक्ष्यों की पूर्ति के लिए उनके द्वारा किए गए कार्यों से एक प्रेरणा प्राप्त हो सकेगी।

सद्गुणों के समुद्र

श्री रामनरेश त्रिपाठी

इसमें संदेह नहीं कि अतुलनीय त्यागमूर्ति टंडनजी का अब तक जितना और जैसा सम्मान किया जाना चाहिए था, वह नहीं हुआ। आज की पीढ़ी पर लगा हुआ यह लांछन इतिहास में अमिट ही बना रहेगा। आजकल टंडनजी रुग्ण हैं जो व्यक्ति राष्ट्र-सेवा के मार्ग पर, भारत को अंग्रेजी सरकार के पंजे से मुक्त कराने के आन्दोलनों में, कांटों से भरी हुई सड़कों और पगदंडियों पर निर्भर होकर सबसे आगे चलता था, जो हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जीवनाधार और हिन्दी को अपने शरीर से भी अधिक प्यार करता रहा है, वह देश का रत्न और इलाहाबाद का गौरव आज शय्या पर है। यह हमारे दुर्भाग्य की बात है कि हमने उनको सम्मानित होने का बड़ा लंबा अवकाश दिया है। देश उनको कितना चाहता है, उन पर कितनी श्रद्धा रखता है, इसकी छटा उनको उनके जीवन-काल ही में दिखा देनी चाहिए थी। उनको भी तो संतोष होता कि देश उनकी सेवाओं का कितना आदर करता है।

टंडनजी से मेरा पहला परिचय १९१५ में इलाहाबाद के चौक के घंटाघर के सामने हुआ। उस समय वे नाभा राज्य के दीवान थे और किसी छुट्टी में घर आए थे। मेरा जन्म तो शहरों से बहुत दूर के गांव में हुआ था, जहां शहरों में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों की धमक भी नहीं पहुंची थी। टंडनजी ही मुझे उस ओर लेगये। उनके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि आज मुझे दिखाई पड़ रहा है कि मानो उन्होंने अपनी ओर मुझे खींच लिया था। वह मुझे बुलाते हुए आगे-आगे चलते दिखाई पड़ रहे हैं। मेरे जीवन में वह समाए हुए-से हैं। मेरा जीवन उनके उपकारों से भरा हुआ है। उनका जीवन तो सद्गुणों का एक समुद्र जैसा है। उसका मै किधर से वर्गीकरण करूं और क्या लिखूं? यह मुझे सहज में सुलझता नहीं दिखाई पड़ता।

पिछले पैतालिस वर्षों में व्याप्त सारे संस्मरण तो क्रमबद्ध याद भी नहीं आ रहे है; अतएव जिनकी छाप मन पर स्थायी पड़ी है, उनका कुछ उल्लेख यहां कर रहा हूं।

टंडनजी जिसे मित्र समझते है या कहते है, उसके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करने में वे कितना त्याग करते हैं, इसका एक उदाहरण, जो मेरे साथ अंतिम ही कहा जाएगा, यह है—

१९५९ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कोई उत्सव था। मै उसमें गया था। यह जानकर कि टंडनजी बीमार है, मै उन्हें देखने गया था। उस समय वह कुछ स्वस्थ हो रहे थे। उन्होंने कहा, कल मेरे यहां मेरे साथ भोजन करो। साथ भोजन करने के प्रलोभन को मै इन्कार नही कर सका। दूसरे दिन सुप्रीम कोर्ट के बड़े जज दिल्ली से इलाहाबाद आए थे। उनको सम्मेलन के रिसीवर बाबू जगदीशस्वरूप ने अपने यहां दोपहर को पार्टी दी थी, जिसमें इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज, सरकार के उच्च पदाधिकारी और नगर के प्रायः सभी प्रतिष्ठित नागरिक निमंत्रित थे। बाबू जगदीशस्वरूप टंडनजी को निमंत्रित करने उनके निवास-स्थान पर स्वयं गए। टंडनजी ने कहा, आज मैने अपने एक मित्र को भोजन पर बुलाया है, इससे मै नहीं आ सकूंगा। रिसीवर महोदय ने बहुत आग्रह किया और मेरा नाम मालूम होने पर वे मुझे भी निमंत्रित करने को तैयार हुए। टंडनजी मुझे दूसरे वक्त के लिए टाल सकते थे, और इलाहाबाद के सम्मान्य व्यक्तियों की वह पार्टी ही क्या जिसमें टंडन जी न हों, पर उन्होंने मेरे लिए उन सबका त्याग किया।

में ठीक समय पर भोजन करने गया। बहुत दिनों बाद हम दोनों साथ-साथ भोजन करने बैठे। उस दिन उन्होंने पूरा भोजन दाल, भात, रोटी, तरकारी, दही, गुड़ आदि लिया। इनमें से कई चीजों को उन्होंने वर्षों से छोड़ रक्खा था। अपने ऊपर उनका इतना अकृत्रिम प्रेम देखकर मैं मुग्ध होगया। इससे अधिक और यथार्थ किसी मित्र का सम्मान और क्या होता! प्रेम का प्रमाण तो उसके लिए त्याग में है।

टंडनजी मुझे खींचकर आगे लिए चल रहे थे। उन्हीं के साथ १९१७ में मैं होमरूल लीग का मेम्बर हुआ। उन्होंने गांधीजी की अनुमति से, सम्मेलन के बम्बई वाले अधिवेशन में १९१८ में मुझे सम्मेलन का प्रचारमंत्री बनवाया और दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम मुझे सौंपा। १९२१ में हम दोनों असहयोग-आन्दोलन में साथ-ही-साथ जेल गए और आगरा और लखनऊ की जेलों में साथ-साथ एक वर्ष से अधिक रहे।

१९१७ में मैंने इलाहाबाद के जानसनगंज में पुस्तकों की एक दूकान 'साहित्य-भवन' नाम से खोली। उसमें मेरी लिखी पुस्तकों के सिवा हिन्दी के प्रायः सब प्रकाशकों की पुस्तकें मिलती थीं। हिन्दी में इस सुविधा की दूकान वही पहली थी, इससे वह शीघ्र ही चल निकली और अच्छी आय होने लगी। उसी से 'पथिक' और 'कविता-कौमुदी' के पहले भाग का प्रकाशन हुआ था।

जानसनगंज में टंडनजी सपरिवार एक बड़े मकान की ऊपरी मंजिल में रहते थे। नीचे एक बड़ा हाल था, उसमें टंडनजी के चाचा डाक्टर मूलचंद की दवाओं की दूकान थी। उसकी बगल वाली एक कोठरी में साहित्य-भवन था, जिसका किराया आठ रुपये महीना था।

उन दिनों नाभा के महाराज से किसी विषय में मतभेद होने के कारण टंडनजी उनकी दीवानी छोड़कर चले आए थे और इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करने लगे थे। सुना था कि महाराज अपनी भूल स्वीकार करके उन्हें मनाने आए थे, पर वह नहीं गए।

हाईकोर्ट में टंडनजी की वकालत अच्छी चल निकली थी। वह झूठे मुकदमे न लेते थे, न झूठी पैरवी करते थे। जज भी उनका सम्मान करते थे। वकालत से अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आमदनी के दिनों में जब गांधीजी का असहयोग-आन्दोलन चला, टंडनजी ने अंग्रेजी सरकार से असहयोग करने की आंतरिक प्रेरणा से वकालत छोड़ दी। आमदनी का कोई दूसरा जरिया नहीं था। इससे घर में कुछ संचित धन रहा होगा, जिससे वे अपने कई बच्चों वाले परिवार का भरण-पोषण स्वयं कष्ट सह कर करते रहे।

डा० मूलचन्द के दवाखाने की देखभाल उनके एक सम्बन्धी करते थे, जिनको लोग मामा कहते थे, मैं भी कहता था। एक दिन मामा ने कहा, आज तो पुरुषोत्तम ने नमक खाकर पानी पी लिया है। सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ था। तब मैंने जानबूझकर अपने लिए बाजार से कुछ फल मंगाए। टंडनजी भी ऊपर से नीचे आगए थे। हम लोगों ने साथ बैठकर फल खाए। टंडनजी के लिए कहकर फल मंगाता तो वे कभी न मंगाने देते, यह मैं जानता था। यह तो एक दिन की बात खुल गई थी, नहीं तो वह प्रायः प्रतिदिन के कष्ट सहकर ही दिन बिता देते थे।

कभी-कभी प्रायः रविवार को, हम लोग—टंडनजी, मामा और मैं—घोड़ागाड़ी या तांगे में बैठकर झूसी पहुंचकर कुकर का चूल्हा जलाकर उसे किसी मंदिर में रख देते और घूमने निकल जाते। अच्छा चक्कर लगा कर लौटते और साथ बैठकर भोजन करते। शाम तक शहर वापस आजाते थे। यह वन-भोजन बड़ा ही रोचक होता।

१९२१ या २२ में जब हम लोग लखनऊ जेल में थे, सेठ जमनालाल बजाज जेल में हम लोगों से मिलने गए थे। सेठजी ने कोई धन-राशि अलग कर दी थी, जिसमें से वे उन कांग्रेसी कैदियों को, जिनका परिवार कष्ट में हो, दो सौ रुपये मासिक सहायता दिया करते थे। कांग्रेस के कई प्रसिद्ध नेता यह सहायता ले रहे थे। सेठ जी ने मुझसे कहा कि मैं टंडनजी को पूछ लूं, क्या उनके घरवालों को दो सौ रुपये मासिक भेज दिए जाया करें? मैंने पूछा तो टंडनजी ने कहा, नहीं, घर के लोग अपना दुःख स्वयं भोग लेंगे।

इन बातों को याद करता हूं तो देश के लिए टंडनजी के समान त्याग और किसी नेता का दिखाई नहीं पड़ता।

कानपुर के कांग्रेस-अधिवेशन की बात है। टंडनजी गए थे, मैं भी गया था। वह नेता थे, उनको एक कोठी में ठहराया गया था। मैं प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के एक सदस्य की हैसियत से एक झोंपड़ी में ठहरा था। सामान झोंपड़ी में रखकर मैं पंडाल देखने और झोंपड़ियों में ठहरे हुए अन्य मित्रों से मिलने चला गया था। लौटा तो झोंपड़ी में सामान न पाकर मैं चकित और चिंतित हो गया। एक स्वयंसेवक ने बताया कि मेरा सामान टंडनजी उठवा ले गए हैं। उसने मुझे पता भी बता दिया और एक दूसरा स्वयंसेवक मुझे टंडनजी की कोठी तक पहुंचा भी आया।

एक बड़े कमरे में एक तरफ नेवार का एक पलंग पड़ा हुआ था, दूसरी तरफ एक खाट। शाम को घूम-घामकर मैं लौटा तो देखा कि पलंग पर मेरा बिछौना बिछा हुआ है, और खाट पर टंडनजी का। मैंने कहा, "किसी ने भूल से बिछौना बदल दिया है।" टंडन जी ने कहा, "किसी ने नहीं, मैंने बिछवा दिया है। तुम लंबे हो, पलंग पर लेटो, मैं खाट पर रहूंगा।"

घटना छोटी है, पर इसके अन्दर उनका कितना विशाल और प्रेमप्लुत हृदय झलक रहा है।

१६१५ से मैं देख रहा हूं, टंडनजी की रहन-सहन हमेशा सादी रही है। रोज मैं सवेरे नौ-दस के बीच में, वकील की पोशाक में काला कोट और काला पतलून पहने हुए टमटम हांकते हुए टंडनजी को हाईकोर्ट की ओर जाते देखता था। पंजाबी ढंग की पगड़ी हमेशा सफेद रंग की वह बांधते रहे। काले रंग के सिवा और किसी रंग का कपड़ा पहने हुए मैंने उनको वकालत के दिनों में नहीं देखा। सम्मेलन की बैठकों में वह कुरता और धोती पहनकर आते थे। चमड़े से उनको घृणा थी, इससे बूट भी कपड़े का पहनते थे। उनका शरीर इकहरा, दुबला-पतला, सुंदर और तगड़ा था। मोटा तो मैंने उनको कभी देखा नहीं। गांधीजी के आन्दोलन के दिनों में वे खद्दर की धोती और कुरता पहनने लगे थे। विदेशी कपड़े का तो शायद उन्होंने यूनीवर्सिटी में पढ़ते समय से ही बहिष्कार कर रक्खा था।

उनकी दाढ़ी का भी एक इतिहास है। पहले वह दाढ़ी मुड़ाते थे और संवार कर रौबदार मूंछें रखते थे। एक बार उनके गले में ठुड्डी के नीचे कुछ मस्से निकल आए। उन्होंने उनका कोई उपचार किया होगा, मालूम नहीं; पर यह याद है कि दाढ़ी रखने का कारण वही मस्से थे। दाढ़ी से उनका चेहरा और भी भव्य लगने लगा।

टंडनजी का जीवन उनकी सत्यनिष्ठा से चमक रहा है। दिखावे से उनको सदा से घृणा थी। एक बार वह उत्तरप्रदेश की विधान-सभा के स्पीकर थे, मैं उनके पास ठहरा हुआ था। खाना तो मैं उनके साथ ही खाता था। उन दिनों १५-१५ दिनों का गल्ला एक साथ मिलता था। उनके यहां कोई-न-कोई मेहमान टिका ही रहता था, इससे गेहूं जल्द चुक जाता था। मैं उनके आफिस में एक कोने में बैठकर अखबार पढ़ रहा था। टंडनजी ऊपर से नीचे आए, तब रसोइए ने आकर कहा, "गेहूं का आटा तो नहीं है।" टंडनजी तुरंत मेरी ओर मुड़कर बोले, "तुम तो जौ की आटे की रोटी पसंद करोगे?" मैंने कहा, "जौ की रोटी मुझे मिलती ही कहां है! मैं तो तरस ही रहा हूं।" उन्होंने रसोइए से कहा, "तुम हम दोनों के लिए जौ की रोटियां बनालो।"

दूसरे दिन विधान-सभा के पहले घंटे की आवाज सुनकर टंडनजी बिना भोजन किए ही चले गए। मैं अकेला भोजन करने बैठा, तब रसोइए ने पिछले किसी दिन की एक रोचक बात सुनाई। उसने कहा, 'पटना से तार आया कि बिहार के चार नेता हवाई जहाज से लखनऊ आ रहे हैं, वे टंडनजी से मिलकर दिल्ली जाएंगे। उस दिन न गेहूं का ही आटा ही था, न दाल ही थी। टंडनजी का हुक्म था कि सरकारी गल्ले की दूकान से १५ दिन के लिए जो गल्ला मिले, उसे ही खर्च करो; ब्लैक से कुछ मत खरीदो। टंडनजी को आटा-दाल के अभाव की बात मालूम हुई, तो उन्होंने कहा, जाओ, बाग के कोने में जो आलू बोया है, उसे खोद लाओ और उबालकर और छीलकर एक थाल में सजा दो; चार खाली प्लेटें, चार चम्मच और चाकू मेज पर रख दो और एक प्लेट में पिसा हुआ नमक और पिसी हुई काली मिर्च रख दो। मेज की दूसरी ओर मेरे लिए भी दो खाली प्लेट, चम्मच और चाकू रख दो।'

रसोइए ने ऐसा ही किया। एक थाल में उबला हुआ आलू छीलकर पिरामिड की तरह सजाकर रख दिया। चार कुर्सियों के सामने चार खाली प्लेटें और एक प्लेट में काली मिर्च और पिसा नमक रख दिया। चाकू और चम्मच भी रख दिए। मेज की दूसरी ओर भी एक प्लेट, चाकू और चम्मच रख दिया।

मेहमान आए। हाथ-मुंह धो लेने के बाद उनको टंडनजी खाने के कमरे में ले गए। उनको एक-एक प्लेट के पासवाली कुर्सी पर बैठाकर और अपने प्लेट के पास खड़े होकर उन्होंने कहा, आज मेरे घर में यही खाना है। चारों मेहमान आलू खाकर और जरूरी बातें करके चले गए।

सुनकर मैं अवाक रह गया! सचाई की हद हो गई! और इस जमाने में, जब कि दूसरों को अपनी तड़क-भड़क दिखा कर लोग दोस्तों से कर्ज लेकर अपने बड़प्पन की दीवार में सफेदी कराते हैं; और वह भी कोई मामूली व्यक्ति नहीं, बल्कि उत्तर प्रदेश सरकार का स्पीकर, जिसे कई हजार रुपये मासिक वेतन मिलते थे। कोई विशुद्ध चरित्र-वाला ही ऐसी हिम्मत कर सकता है। बिहार से आए हुए मेहमान टंडनजी की इस सचाई को अपने प्रान्त में ले गए ही होंगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन टंडनजी का प्राण है, वह उनका सबसे बड़ा स्थूल स्मारक है। उसे उन्होंने खपरैल से निकालकर एक लाख रुपये मूल्य के महल में बैठा दिया है।

सम्मेलन की बैठकों में विचारों की उलझनों में टंडनजी का सदस्यों से प्रेम-पूर्ण व्यवहार सदा सफल होता रहा। मैंने १९१८ से १९२१ तक प्रचार-मंत्री का काम किया। मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के काम में मैं सदा टंडनजी से परामर्श पाता रहा। १९२१ में मैं जेल चला गया, तब यह पद किसी अन्य सज्जन ने संभाला। मेरे काम से महात्मा गांधी संतुष्ट थे। अतएव दिल्ली-सम्मेलन में, जो १९२६ में हुआ था, मद्रास के श्री हरिहरशर्मा गांधीजी का यह संदेश लेकर आए कि मैं फिर प्रचार-मंत्री का पद स्वीकार कर लूं। मैंने स्वीकार कर लिया। पर उन दिनों सम्मेलन में कायस्थ-ब्राह्मण का संघर्ष जोरों से चल रहा था। दोनों दलों के दो नेता मान लिए गए थे। यद्यपि वे दोनों सड़क पर चलते थे तब हाथ में हाथ डाले, घुटे हुए मित्रों की तरह हँसते-बोलते चलते थे, पर बैठक में बैठते ही दोनों अपनी-अपनी डफली उठा लेते थे। टंडनजी निरपेक्ष रहते थे। दोनों नेताओं की नोकझोंक चलने लगती थी तो टंडनजी और मैं उनके तर्कों का रस लेने लगते थे। मैं उनका मजाक उड़ाया करता था कि यदि कोई कायस्थ अपने सत्कर्मों से वैकुण्ठ चला जाए तो मेरे ये मित्र कहेंगे कि ब्राह्मण को ढकेलने गया है। बहरहाल विचारों में विभिन्नता होने पर भी हम सभी सदस्य आपस में बड़ा प्रेम-भाव रखते थे। केवल हिन्दी का हित सामने रहता था, व्यक्तिगत मानापमान की बात तो मन में उठती ही न थी। निश्चय ही यह टंडनजी के प्रेम का प्रभाव था, जिसके वश में हम सभी थे। टंडनजी हमारे बीच में सीमेंट थे।

मैं प्रचार-मंत्री बनकर दिल्ली से इलाहाबाद आया, अब हम पांच या छः मंत्री ब्राह्मण थे। ब्राह्मण-कायस्थ के संघर्ष में मैं पड़ना नहीं चाहता था, इससे सम्मेलन की दो-तीन बैठकों में आकर ही मेरा जी ऊबने लगा और मैंने इस्तीफा दे दिया। मेरा इस्तीफा कुछ दिनों तक टाला जाता रहा, पर मेरा आग्रह देखकर वह स्वीकार कर लिया गया। टंडनजी को इसमें दुःख पहुंचा; उन्होंने सड़क पर आकर कहा भी कि मुझे विश्वास नहीं था कि तुम इस्तीफे के लिए इतनी जिद करोगे।

टंडनजी का जीवन तो एक तपस्वी का जीवन रहा है। राजर्षि की अपेक्षा सन्त की उपाधि उनको ज्यादा फबती है। टंडनजी में इतने सद्गुण हैं कि वे राजर्षि शब्द में समा नहीं सकते। विचारों में वह बिल्कुल स्वतंत्र और निर्भीक रहे हैं। महामना मालवीय जी का सम्मान वह गुरुतुल्य करते थे, पर राष्ट्रीय आन्दोलनों में वह तिलक और गांधी जी के साथ रहे हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी को लेकर गांधीजी से भी उनका मतभेद होगया था। वे जब उत्तर प्रदेश के स्पीकर थे, हिन्दू और मुसलमान दोनों उन पर पूरा विश्वास रखते थे। उनकी निष्पक्ष नीति का सम्मान सभी पार्टी-वाले करते थे।

शरीर दुर्बल होने पर भी साहस तो उनमें नौजवानों से भी अधिक दिखाई पड़ता था। मुझे याद आता है, इलाहाबाद में एक दिन कांग्रेस का जुलूस निकल रहा था। टंडनजी जुलूस में आगे-आगे थे। एक सड़क के नुक्कड़ पर, जो पुलिस-चौकी के पास ही था, पुलिस घेरा डाले खड़ी थी। उस सड़क से वह जुलूस को जाने देना नहीं चाहती थी। टंडनजी ने सामने के कांस्टेबल को धक्का देकर हटा दिया और जुलूस के लिए रास्ता खोल दिया था। सरकार को उन

पर मुकदमा चलाने का साहस नहीं हुआ।

जब पंडित जवाहरलाल ने किसान-आन्दोलन चलाया, तब गांवों में जगह-जगह सभाएं होने लगी थीं। टंडनजी उन सभाओं में बराबर जाते रहे और आन्दोलन का संचालन करते रहे।

उनके आहार की विचित्र कहानी है। बहुत दिनों तक उन्होंने घी और चीनी छोड़ रखे थे। आग से पकाई हुई चीजें भी छोड़ रखी थीं। बहुत वर्षों तक वह गेहूं, चना, मूंग आदि अन्न भिगोकर, उन्हें अंकुरित करके चबाया करते थे। लखनऊ जेल में भी उनका यह क्रम चलता था। किशमिश भी उनका एक आहार है।

टंडनजी संगीत और साहित्य दोनों के अच्छे रसिक और जानकार भी हैं। प्रभावशाली वक्ता और लेखक भी हैं।

अपने मित्रों के नैतिक चरित्र की देखरेख वे सजगता से करते रहे हैं। इसके दो उदाहरण, जो मुझसे संबंध रखते हैं, यहां देता हूं :

पहले-पहल साहित्य-भवन जिस कोठरी में था, उसकी बगल में एक चौड़ी गली थी, जो अभ्युदय प्रेस को गई थी। उस गली में एक अहीरनी रहती थी, वह रोज शाम के वक्त बहुत बन-ठनकर गली के नुक्कड़ पर आ खड़ी होती थी। कुछ पढ़ी-लिखी भी थी। बाद को मुझे मालूम हुआ कि उसका चरित्र अच्छा नहीं था। एक दिन वह साहित्य-भवन के चबूतरे के पास खड़ी होकर कोई पुस्तक लेकर पढ़ रही थी। मैं चबूतरे के दूसरे कोने पर बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। टंडनजी ऊपर से नीचे आए थे। उसे देखकर मुझे कहने लगे, 'क्यों, आज कविता मूर्तिमान हो रही है क्या!'

सुनकर मैंने अहीरनी को देखा और सचमुच बहुत लज्जित हुआ। उससे भागने के लिए मैंने कोठरी ही बदल ली और उस बड़े मकान के दूसरे छोर की कोठरी में साहित्य-भवन को ले गया।

इलाहाबाद के एक रईस के लड़के, जो कविता भी करते थे, प्रायः मेरे पास आया करते थे। आते वक्त चौक से शरीफे भी लाया करते थे। ज़्यादा नहीं पर दो जरूर ही होते थे। एक वह अपने लिए रख लेते थे, और दूसरा मुझे दे देते थे। मैं शरीफे को तोड़कर खाने लगता था। तब तक वह साहित्य-भवन की कोठरी में जाकर अलमारियों में रक्खी किताबें उलट-पुलट कर देखा करते थे। वह लम्बा ओवरकोट पहनकर आते थे, जिसमें बड़ी-बड़ी जेबें थीं।

शरीफा खाना और प्रूफ देखना मैं बराबर समझता हूं। एक-एक बीज निकालकर मैं देर तक खाता रहता। एक दिन मिंटो पार्क देखने के लिए मैं उसी रईस के लड़के के साथ इक्के पर चौक से होकर जा रहा था। टंडनजी चौक में देशी कारबार कंपनी के बाहर खड़े हुए किसी से बातें कर रहे थे। उन्होंने हमें देख लिया। शाम को जब मैं साहित्य-भवन में लौटा तो उन्होंने कहा, 'देखो, उस लड़के का साथ मत करो।' कारण न मैंने पूछा, न उन्होंने बताया। अगले दिन वह लड़का आया, तब मैंने उसको कह दिया कि मेरे पास मत आया करो। उसने आना बंद कर दिया। इसके तीन-चार दिन बाद ही मैंने सुना कि वह लड़का कोई जाली चैक काटने के अपराध में पकड़ा गया और जेल में है। मेरी कुछ प्राचीन और अप्राप्य पुस्तकें भी, जो आलमारियों में थीं, गायब थीं।

इस तरह के छोटे-मोटे उपकार तो टंडनजी के मेरे जीवन पर बहुत-से हैं।

हिन्दी के लिए टंडनजी का प्रेम तो चरम सीमा का है। मैं इलाहाबाद आता तो उनको देखने भी जाता। एक बार मैं गया, उस समय डाक्टरों ने उनको बोलने से मना कर रखा था। वह लिखकर बातों का संक्षिप्त उत्तर दिया करते थे। संसद में हिन्दी के संबंध का कोई प्रस्ताव आनेवाला था। उस पर बोलने के लिए टंडनजी दिल्ली जाने का आग्रह कर रहे थे। मित्र भी उनको रोकते थे, घर के लोग भी रोकते थे; पर उनको हिन्दी के कल्याण के लिए अपनी बातें रखने की जिद-सी होगई थी। मैंने भी कहा कि स्वस्थ होने पर फिर भी मौका आएगा, बीमारी की हालत में दिल्ली तक यात्रा करना और फिर प्रस्ताव की बहस में पड़ना आपके स्वास्थ्य को और भी खराब कर देगा। इस पर टंडनजी ने एक लिफाफे का एक टुकड़ा फाड़कर उस पर यह लिख कर मुझे दिया—

"मैं तो वहां इसी दिन के लिए बैठा हूं।"

हिन्दी के लिए अपने जीवन की परवाह न करने से बढ़कर हिन्दी-प्रेम का अन्य प्रमाण और क्या होगा?

जिन्हें प्रायः गलत समझा गया

श्री वियोगी हरि

सुना और देखा गया है, कि दुनिया के बहुत-से बड़ों को अक्सर किसी-न-किसी रूप में गलत समझा जाता है, और ऐसा समझनेवाले भी अपनी भूल को बाद में स्वीकार करते हैं। मगर सदा चेतानेवाला काल ऐसों का साथ नहीं देता, जो कि उनको जान या अनजान में गलत समझ बैठते हैं। टंडनजी को भी कई बार गलत समझा गया। पर समय आगे-आगे सरककर उनके बड़प्पन को बढ़ाता ही गया। राष्ट्रभाषा हिन्दी के क्षेत्र में, और इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी, उनको समझने में कई बार भूल से काम लिया गया। यह बात नहीं कि टंडनजी के साथ विरोधी मत रखनेवालों ने ही उनको गलत समझा हो, बल्कि उनके कई मित्रों ने और उन पर श्रद्धा रखनेवालों ने भी उनके आशय को यथार्थ रूप में नहीं समझा, और कभी-कभी तो उनके आशय का बिल्कुल उलटा अर्थ लगाया। किन्तु काल ने गलत-फहमियों का कुहरा हटाकर उनको और भी बड़ा बना दिया।

हिन्दी के प्रति टंडनजी की अनन्य निष्ठा का प्रायः यह अर्थ लगाया गया कि वह संप्रदायवादी हैं और उर्दू के विरोधी हैं। उनकी इस ज्वलंत घोषणा पर विश्वास नहीं किया गया, या उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया कि, "यदि मैं यह देखूं कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन राष्ट्र के ऐक्य-साधन में बाधक बन रहा है, तो मैं उसमें अपने हाथों से आग लगा दूंगा।" उलटे, उनको हिन्दी का 'फैनेटिक' तक कहा गया, जबकि उर्दू और फारसी के साहित्य के प्रति द्वेष की गंध तक उनके हृदय के किसी कोने में नहीं पाई गई। फारसी-साहित्य के वह एक ऊंचे प्रेमी हैं। इस सचाई को हसन निजामी साहब ने भी माना है। बहुत वर्षों पहले गोरखपुर में आयोजित राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिया गया टंडनजी का भाषण हिंदी-उर्दू की एक मिली-जुली जबान का एक बड़ा सुन्दर और सजीव उदाहरण माना गया है। देखकर हैरत तब होती है, जबकि कुछ ऐसे भी लोगों ने उर्दू के विरोध का आरोप उन पर किया, जिनका उर्दू-फारसी के साहित्य से नजदीक का तो क्या, दूर का भी कोई परिचय नहीं था।

अंग्रेजी के कतिपय अंधभक्तों ने भी इसी प्रकार टंडनजी को गलत समझा है। टंडनजी ने सदा से यह माना है कि जनता को अंग्रेजी के प्रभुत्व ने दो टुकड़ों में बुरी तरह बांट दिया है, और एक प्रतिशत वाला कटा हुआ टुकड़ा शेष जनता पर निर्लज्जतापूर्वक हावी हो रहा है। यह देखकर उनको वेदना हुई, और वह तिलमिला उठे। अंग्रेजी राज्य की गुलामी से भी बढ़कर अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत की गुलामी उनको कांटे की तरह चुभी। उसे हटा देने के लिए आज रोगशय्या पर पड़े-पड़े भी वेदना और तीव्रता का प्रतिक्षण अनुभव वह कर रहे हैं। संविधान-परिषद में जब नागरी-अंकों के स्थान पर रोमन अंक रखने का प्रस्ताव आया, तब उनको गहरी चोट लगी थी। उनके कई हिन्दी-प्रेमी साथियों ने जब इस प्रश्न पर साथ नहीं दिया और असत्य के साथ समझौता करने के लिए वे तैयार होगए, धमकियों से डरकर; तब टंडनजी की गहरी वेदना देखते ही बनती थी। राजनीतिक छिछले और खोखले लाभ को वह सत्य की कीमत पर खरीदना नहीं चाहते थे। इस सत्य का उनके जीवन में हमेशा ही निरावरण दर्शन हुआ है।

जिस किसी भी बात को टंडनजी ने देश के हित में उचित और नैतिक समझा और माना, उसके साथ कभी उन्होंने बड़े-से-बड़े आदमी के साथ किसी भी कीमत पर समझौता नहीं किया। उनको, इसीलिए, सनकी और दुराग्रही

समझा गया। पर वह ऐसी-ऐसी आलोचनाओं से डरकर एक कदम भी पीछे नहीं हटे, चट्टान की तरह सत्य पर सदा अडिग खड़े रहे।

देश के विभाजन को उन्होंने एक बहुत बड़ी राजनीतिक गलती और बुराई माना। देश की अखंडता को कायम रखने में जो भी परिणाम आएं उनका सामना करने के पक्ष में टंडनजी ने अपना स्पष्ट मत दिया था। कांग्रेस द्वारा भारत-विभाजन का प्रस्ताव पारित होने से चार-पांच दिन पहले, दिल्ली की भंगी बस्ती में जब गांधीजी से वह मिलने गए तब उस दिन गांधीजी का मौन-दिवस था। विभाजन के विरुद्ध टंडनजी की दृढ़ता को देखकर गांधीजी ने अपनी दो उंगलियों के मूक संकेत से अपने अंतर का उल्लास प्रकट किया, कि अब तो विभाजन के विरुद्ध मत रखनेवाले हम दो है, मैं अकेला ही नहीं हूं! पर जो होनहार थी वह होकर रही। भारत के अंग-विच्छेद का प्रस्ताव पास होने पर टंडनजी के रोम-रोम में आग लग गई। इसमें उन्होंने कांग्रेस की उच्च सत्ता का दब्बूपन देखा। तुष्टीकरण की पुरुषार्थ-हीन नीति का उन्होंने प्रबल विरोध किया, और माना कि साम्प्रदायिकता का विषवृक्ष तुष्टीकरण की नीति से ही पनपा और बढ़ा है।

यहा पर भी टंडनजी को गलत समझा गया, ऐसे शख्स को गलत समझा गया, जो सारे जीवन मुसलमानों का हृदय से हितैषी और मित्र रहा हो, और अपने रक्त की अन्तिम बूंद देकर भी साम्प्रदायिकता की आग से उनको बचाने के लिए जो सदा उद्यत रहा हो। हां, ऐसे व्यक्ति को गलत समझा गया, जिसको उत्तरप्रदेश की असेंबली की अध्यक्षता छोड़ने पर विदाई देते समय विरोधी पक्ष के नेताओं ने कहा था कि, "हम लोग, आज एक ऐसे शख्स को बिदा दे रहे है, जिसके हाथ में हमारे सारे ही हक महफूज थे और हमें इस बात का डर नहीं था कि उस हाथ से कभी गलत-इन्साफी होगी।"

टंडनजी की अध्यक्षता अपवादस्वरूप थी। स्पीकर किसी भी राजनीतिक पक्ष के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखता है, क्योंकि अपनी निष्पक्षता का प्रमाण वह तभी दे सकता है। किन्तु टंडनजी ने इसके विपरीत किया। कांग्रेस-पक्ष से उन्होंने संबंध-विच्छेद नहीं किया, अतः यह विवाद का विषय बन गया। पर टंडनजी अपने मत से पीछे नहीं हटे। स्वभावतः असेंबली के विरोधी पक्षों को यह शक था और अंदेशा भी कि टंडनजी की रूलिंग कांग्रेस पार्टी की तरफ झुक सकती है, और उन पर खास मौकों पर दबाव भी डाला जा सकता है। १९३७ और १९३८ में यू० पी० की विधान-सभा में स्थगन-प्रस्ताव के द्वारा ऐसी आशंका और अविश्वास खुल्लमखुल्ला विरोधी पक्ष की ओर से प्रकट किया गया। टंडनजी ने अपने मत पर दृढ़ रहकर बहुत ही स्पष्ट किन्तु विनयपूर्ण जो उदात्त विचार इन दोनों प्रसंगों पर उत्तर प्रदेश की विधान-सभा में व्यक्त किए थे, वे आज भी सभा-भवन में गूंजते होंगे। उन्होंने कहा था :

"मै यह सोच भी नहीं सकता कि कांग्रेस-दल एक क्षण के लिए भी यह सपना देखेगा कि मेरे अध्यक्षीय कर्तव्यों से संबंध रखनेवाले विषयों में वह मेरे ऊपर प्रभाव डाले, और यह कार्यसमिति कभी चाहे कि वह मेरे अध्यक्षीय कार्य में आदेश दे, तो उस दिन मेरी अध्यक्षता समाप्त हो जाएगी। मेरा अनुभव है कि अपने जीवन में अबतक अपने और अपने अन्तःकरण के बीच कभी तीसरे पक्ष को मैंने दखल नही देने दिया, और भविष्य में भी ऐसी संभावना न होगी कि मैं ऐसा करने दूं। जो भी मेरे कार्यो पर प्रभाव डालना चाहता है, उसे पहले मेरी सम्मति को प्रभावित और मेरे मत को परिवर्तित करना पड़ेगा। मेरे लिए मेरा अन्तःकरण ही ईश्वर का शब्द है और वही मुख्य अधिकारी है, जिसके सामने मैं नमता हूं। दूसरा अधिकारी, जिसके सामने मैं झुकता हूं, स्वयं यह सारा भवन है; उन दलों में से कोई दल-विशेष नहीं, जिनसे कि यह बना है।"

टंडनजी ने जिस चीज को सही और उचित समझा, उसको न तो विरोधी पक्ष के डर से और न कांग्रेस-दल के प्रभाव से कभी बन्द किया। वह अपनी सच्ची और सही राय पर हमेशा कायम रहे। कभी किसी पद पर सिर्फ बहु-मत की ताकत पर रहना नहीं चाहा, विरोधी पक्षवालों की आंखें खुल गई। टंडनजी को गलत समझने की अपनी गलती उन्होंने भीगी आंखों और रुंधे हुए गले से उसी दिन शाम को स्पीकर हाउस में जाकर कबूल की। टंडनजी की दिल की सचाई ने और सभी के तई निःस्वार्थ प्रेम ने उनके दिलों को हिला दिया, और पलट दिया।

श्री जवाहरलाल नेहरू ने टंडनजी को उड़ीसा का गवर्नर बनाना चाहा था। उन्होंने उस पर सोचा, पर हृदय तैयार नहीं हुआ, वह बलवा कर बैठा। विनय के साथ जवाहरलालजी को उन्होंने लिखा, कि उनके मन में यह संघर्ष रहा है कि उन कामों से कुछ हटकर, जिनमें वह लगे हैं, क्या राज्यपाल के पद पर उनकी उपयोगिता होगी ! और उन्होंने उस पद को स्वीकार नहीं किया। एक प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में, भले ही उसे गलत समझा जाए, अपने जीवन की चट्टान पर खड़ा रहना उन्होंने ज्यादा पसंद किया। अपने प्रश्नों के उत्तर पाने की आशा उन्होंने कभी नहीं छोड़ी। सही प्रश्न के सही उत्तर हमेशा मिलते ही हैं, आज नहीं तो कल तो मिलेंगे ही।

शुद्ध अन्तःकरण को साक्षी मानने और शुद्ध बुद्धि के नेतृत्व में कदम-कदम आगे बढ़ने की विरासत टंडनजी ने संतों की निर्मल वाणी मे पाई, और उसे ही अनमोल संपदा समझा। इस निर्भय मार्ग पर उन्होंने कभी डगमगाते पैर नहीं रखे। त्याग को गले लगाया, सचाई और नेकी को प्यार किया। घर फूंककर मौज का तमाशा देखा। हद में रहकर बेहद की ओर बढ़े। तेजस्विता की पूजा शील की सामग्री से की। चरित्र के द्वार पर राजनीति से झाड़ू दिलवाई।

कभी-कभी टंडनजी के बारे में कहा गया कि खराब को अच्छा समझने की गलती उन्होंने भी तो की है, पर दूसरों को धोखा देने के बजाए खुद ही धोखा खाना उन्होंने मुबारक समझा। अंदर-अंदर विरोध करनेवालों को भी उन्होंने सदा विश्वास की दृष्टि से देखा, और उनको अपने परिवार का प्रिय सदस्य माना। तब आश्चर्य नहीं, और दुःख तो बिल्कुल नहीं, जो टंडनजी अपना कोई राजनीतिक गुट नहीं बना सके। स्वभाव से और संत-परंपरा से वह अपना परिवार बना सकते थे, और वही बनाया। ऐसे सदस्यों का बनाया, जिन्होंने उनके प्रति निर्व्याज श्रद्धा प्रकट की; और ऐसे सदस्यों का भी, जिन्होंने उनको गलत समझा; और बाद को गलत समझने की भूल स्वीकार की, या आगे करेंगे।

राधास्वामी सम्प्रदाय के बुजुर्ग

श्री गुरुचरनदास मेहता

पूज्य पुरुषोत्तमदासजी टंडन से मेरा सम्पर्क करीब दस-बारह वर्ष से रहा है। राधास्वामी मत से टंडनजी का व मेरा दोनों का ही सम्बन्ध होने के कारण मैं अरसे से उनके नाम से परिचित था, परन्तु व्यक्तिगत परिचय करीब दस-बारह वर्ष से ही हुआ है। इस समय में मुझे कई बार टंडनजी से मिलने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ तो मैं उनकी स्वाभाविक सरलता, सहिष्णुता व सामान्य संवेदनशीलता से विशेष प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त धार्मिक निष्ठा, कर्तव्यपरायणता, सत्यप्रियता इत्यादि उनके अनेकानेक गुणों का उल्लेख करना प्रायः असम्भव ही है।

टंडनजी राधास्वामी-सम्प्रदाय के उन बुजुर्गों में से हैं जिनके लिए स्त्री-पुरुष, पढ़े-अनपढ़े, छोटे-बड़े सभी के हृदय में विशेष आदर व सम्मान है और सभी को उनसे और सभी से उनको प्रेम है।

·पारखी, निस्पृही और सेवाव्रती

श्री गोविन्ददास

सन् १९१६ में जबलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, उसमें टंडनजी पधारे। इसी समय मैंने सर्वप्रथम उनके दर्शन किए। वर्ण सांवला, शरीर न ठिंगना न ही ऊंचा, मध्यम श्रेणी का, एक साधारण स्वस्थ शरीर। मुख पर दाढ़ी थी, सिर के बाल कितने लम्बे थे यह इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस समय वह साफा बांधे थे। इस सीधे-सादे अचंचल व्यक्तित्व पर एक चंचल कांति अवश्य थी जो दर्शक को उसके अवलोकन में एकबारगी ही अपनी ओर आकृष्ट कर ले। देश-काल के अनुरूप मानव-समाज में सदा ही कुछ ऐसे विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति होते आए हैं, जो अपने दैवी गुणों के कारण जनप्रिय, समाज-सुधारक और जन-नेता बने हैं। इनकी संख्या कुछ अधिक नहीं होती। फिर राष्ट्रीय नेतृत्व की क्षमता वाले व्यक्ति तो इने-गिने ही होते हैं। इन समाज-सुधारकों और जन-नेताओं की दो श्रेणियां होती हैं। एक तो वे, जो अपने कृतित्व के आधार पर लोकप्रियता अर्जित करते हैं और दूसरे वे, जो किसी अव्यक्त व्यक्तित्व की आभा में ही अपनी धाक जन-साधारण पर जमा बैठते हैं। भारत की परम्परा में इन व्यक्तित्व-प्रधान व्यक्तियों का ही प्राधान्य रहा है। इस व्यक्तित्व की व्याख्या में रूप, रंग और हृष्ट-पुष्ट सुगठित शरीर की विशेषता न होकर उस चारित्रिक आलोक की प्रधानता रहती है, जिसकी आभा से हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि, महात्मा और सन्त ज्ञानी आलोकित रहे हैं। ये भारतीय मुनि-ज्ञानी, संत और सुधारक मनसा और वाचा सर्वप्रथम अपना चारित्रिक शृंगार कर फिर कार्यक्षेत्र में उतरते थे। ऐसे लोग जब मन और वाणी से संयत हो सरल हृदय और निस्पृह भाव से सेवारत होते हैं तो जनसाधारण सहज भाव से उनका अनुयायी हो जाता है। उपदेशक के विषय में एक मत है—जब कोई केवल जिह्वा के आमोद के लिए बात करता है तो दूसरा भी उसे उसी रूप में ग्रहण करता है, तथा जब कोई केवल कंठ से ही कोई बात कहता है तो सुनने वाले के कंठ तक ही वह बात जा पाती है, उसमें जोर नहीं होता। किन्तु, जब वक्ता पूरी सचाई से हृदय से कोई बात कहता है, वह चाहे व्यक्तिगत बातचीत में, चाहे उपदेश में हो, श्रोता के भी सीधी हृदय में जाकर पैठ जाती है। उसमें सचाई का जोर होता है और हृदय का संबंध। इसलिए उसकी पैठ भी गहरी होती है। कहने का मतलब यह कि हृदय के सम्बन्ध के लिए हृदय से ही बात होनी चाहिए। और इस हृदय की बात के लिए आदमी को अपने आपको एक कठिन कसौटी पर कसकर त्याग, आत्म-संयम और निस्पृहता के कठिन पथ पर चलकर एक सरल और सर्वथा निश्छल मानस वाला बनना पड़ता है, तभी वह इस हृदय की सत्ता का अधिकारी होता है। आधुनिक काल में महात्मा गांधी हृदय-सत्ता के प्रवर्तन के प्रथम अधिकारी माने जाएंगे। जिनके कृतित्व की अपेक्षा व्यक्तित्व ने सर्वप्रथम जनसाधारण को सर्वाधिक प्रभावित किया।

ऐसा ही हृदय की सत्ता से परिपूर्ण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन का व्यक्तित्व था जिसने प्रथम अवलोकन में ही मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया।

सन् १९२० में जब गांधीजी ने देश के नेतृत्व की बागडोर हाथ में ली और असहयोग-आन्दोलन का आरंभ किया, उस समय मैं कांग्रेस में आया। तब से तो मेरा और टंडनजी का घनिष्ठ सम्बन्ध होगया। इस संबंध की नींव देश को आजाद कर देश में देश की भाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा थी।

देश की आजादी के बाद जब स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने के लिए संविधान-सभा का संगठन हुआ, तब से लेकर अब तक मेरा उनका नित्य का ही संबंध इसलिए होगया, कि वह भी संविधान सभा के सदस्य चुने गए और तब से लेकर कुछ महीने पहले जब स्वास्थ्य के कारण उन्होंने राज्य-सभा से त्यागपत्र दिया, तब तक उनका और मेरा संविधान सभा और संसद में साथ रहा। संविधान सभा तथा संसद दोनों में ही उनके सामने केवल जो एक विषय रहा, वह हिन्दी का। और इस उक्ति को उन्होंने चरितार्थ किया कि—**'एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय।'**

संविधान सभा में जब हिन्दी राजभाषा स्वीकृत हुई तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष की हैसियत से मैंने उनकी छत्रछाया में संविधान सभा में जो कार्य किया और हिन्दी के राजभाषा स्वीकृत होने के बाद हिन्दी को चलाने में, वह मैं जीवन भर विस्मृत न कर पाऊंगा। कैसी तड़प और निष्ठा है उनके मन में हिन्दी-प्रेम की। संविधान सभा में अन्तर्राष्ट्रीय कहे जाने वाले रोमन लिपि के अंकों को जब स्वीकार किया गया, उस समय टंडनजी की एकान्त निष्ठा और अपने मत की एकाग्रता का जोपरिचय मिला, वह इतिहास में बेजोड़ है। उस समय बिना इस बात की परवा किए कि कौन उनका साथ देगा कौन नहीं, उन्होंने इन अंकों के विरोध में अपना मत दिया। परिमाणतः संविधान सभा के सारे सदस्यों में इन अंकों के विरोध में दो ही मत रहे, उनका और मेरा। सागर के सदृश गंभीर भाव से विचारकर निर्णय करने और उस पर शैल के सदृश अडिग रहने वाला ऐसा व्यक्ति आधुनिक काल में तो देखने को नहीं मिलता।

टंडनजी कांग्रेस-अध्यक्ष हुए तब मैं उनकी वर्किंग कमेटी का सदस्य था। किसी जिम्मेदारी को लेने के बाद उसे किस तरह निभाया जाय, यह मैंने उनमें उस समय निकट से देखा। फिर अपने विचारों के अनुरूप अपनी जिम्मेदारी निभाने में अपने मत की स्थिरता और त्याग की तत्परता का जैसा अपूर्व सम्मिश्रण मैंने उनमें पाया, वैसा कभी किसी में देखा-सुना नहीं गया। जवाहरलालजी का यह प्रस्ताव, कि वह अपनी वर्किंग कमेटी का पुनर्गठन करें, उन्हें अंत तक स्वीकृत नहीं हुआ और उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। राजनीतिक व्यक्तियों से वह घिरे थे, राजनीतिक अधिकार भी थे, चाहते तो इन व्यक्तियों और अधिकारों का उपयोग कर सकते थे, किन्तु वह तो कृष्ण की राजनीति के कायल नहीं थे। स्वभाव से सदा ही जीवन में उन्होंने राम के सत्य का अनुसरण किया था और उस अनुसरण को संवारा था राम के ही शील से। यही वजह हुई कि कांग्रेस-अध्यक्षता से तो उन्होंने त्यागपत्र दे दिया, किन्तु कांग्रेस से नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी की यह उक्ति उस समय मुझे उनमें चरितार्थ होती जान पड़ी—

नव गयन्द रघुवंश मणि, राज अलान समान। छूटि जान वनगवन सुन, उर अनंद अधिकान॥

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पद-प्राप्ति की जो दौड़ लगी, इस दौड़ में किसने भाग नहीं लिया! सामर्थ्यहीन होते हुए भी कितने नहीं झटपटाए दौड़कर कुर्सी पर बैठने के लिए, तथा कितने बैठे, लुढ़के और गिरे इन पद-प्रतियोगिताओं में, बताना आवश्यक नहीं। किन्तु, अपवाद रूप में टंडनजी ने निस्पृह भाव से न केवल इस दौड़ में भाग नहीं लिया, वरन् जब उन्हें उड़ीसा का राज्यपाल बनने के लिए कहा गया तो उन्होंने एक नया आदर्श उपस्थित किया, उक्त पद को अस्वीकृत कर। हाल ही में अस्वस्थतावश सक्रिय भाग न ले सकने के कारण राज्य सभा से भी उन्होंने त्यागपत्र दिया है। यह निर्णय भी इसी त्यागवृत्ति का परिणाम है। इस तरह टंडनजी के त्याग की कहानी बड़ी लम्बी है, बेजोड़ है। न जाने उसमें कितनी ज्ञात-अज्ञात बातें भरी पड़ी हैं।

कर्मठता का एक प्रसंग

टंडनजी की कर्मठता का एक प्रसंग मुझे इस समय याद आ रहा है। संविधान की भाषा-विषयक धाराओं में ही पांच वर्ष में हिन्दी की प्रगति देखने तथा उसे और आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्रपति को एक आयोग नियुक्त करने के लिए कहा गया है। इस आयोग के प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए एक संसदीय भाषा-समिति के निर्माण का विधान है। इस समिति में टंडनजी के साथ में भी एक सदस्य था। उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। परन्तु अस्वास्थ्य के बावजूद हिन्दी के प्रति अनन्य निष्ठा उन्हें उस समय की बैठकों में खींच लाती थी। अस्वस्थता में भी वह उसकी हर बैठक में उपस्थित रहे और अंत में उस कमेटी की रिपोर्ट में उन्होंने एक नोट लिखा जिस पर उनके और मेरे हस्ता-

क्षर हैं। वह नोट हिन्दी के इतिहास में एक ऐतिहासिक महत्त्व की चीज है।

टंडनजी की बाह्य आकृति, वेशभूषा और व्यक्तित्व की जो छाप मेरे ऊपर सन् १९१६ के उनके प्रथम दर्शन में पड़ी, वह दिनों-दिन एक निष्ठा और श्रद्धा के रूप में स्पष्ट होती गई। इसका कारण भी था। उनका जीवन प्रारंभ से ही आडम्बर-शून्य रहा है। बड़ी सादी वेशभूषा, किसी भी छोटे से छोटे गांव का रहने वाला अथवा शहर के फुटपाथ पर बैठने वाला मामूली कोटि का दर्जी जैसा कुरता सीं सकता है वैसा अत्यन्त साधारण कोटि का खादी का कुरता और वैसी ही खादी की जो धोती वह पहनते थे, आज भी पहनते हैं। जाड़े में इस कुरते पर साधारण से साधारण ऊनी कपड़े की कुरते के सदृश ही सिली हुई अचकन और पैरों में कैनवास या अहिंसक अर्थात् मरे हुए अवध्य पशु-चर्म के जूते। जब इस प्रकार के कैनवास या पशुचर्म के जूते नहीं मिलते थे, उस समय वर्षों तक टंडनजी लकड़ी के चप्पल पहना करते थे और हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करते समय भी इन्हीं चप्पलों को पहनकर जाया करते थे। यह राजर्षि टंडनजी की बाह्य आकृति है, जो अत्यन्त सीधी-सादी और दिनों-दिन तेजी से अधिकाधिक सरलता की ओर बढ़ती गई। इसी प्रकार उनका अन्तरंग हिमालय के सदृश अचंचल, अडिग और गंगा के सदृश निर्मल है। भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात राष्ट्र की सांस्कृतिक सुरक्षा और उसकी सामर्थ्यवृद्धि के लिए जिस मूल तत्त्व की आवश्यकता थी उसी को उन्होंने पकड़ा। वह था भारतीय भाषा को राज-भाषा का पद प्राप्त कराना। किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिए न केवल उसकी सांस्कृतिक सामर्थ्य बढ़ाने, वरन उसकी सीमागत एवं सार्वभौम प्रभुसत्ता की सुरक्षा के लिए उस देश के निवासियों की जनवाणी को उचित स्थान दिलाना अनिवार्य हो जाता है और निर्विवाद रूप से यह उचित स्थान उस देश के जनसाधारण की भाषा को राजभाषा का पद दिलाना ही हो सकता है। टंडनजी का स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद का यह सर्वोपरि प्रयत्न था जिस पर उन्होंने सगौरव सफलता पाई।

राजर्षि टंडनजी के साथ इतने वर्षों इतने निकट रहने पर भी मेरा उनका व्यक्तिगत संबंध नहीं रहा और इसलिए अपने दीर्घ अवलोकन के बाद जब टंडनजी पर अपनी टीका करने बैठता हूं तो अनेक बातें, अनेक दृश्य बरबस याद आ-आ जाते हैं। इन सभी बातों और कथाओं में कोई व्यक्तिगत बात न दिखकर उनमें मुझे एक महान् राष्ट्रीयता, सदाशयता, सर्वहित-चिन्तना और असीम त्याग की ही भरमार दिखती है। जैसा मैंने उन्हें आरम्भ में देखा था, इतने दीर्घकाल-पर्यन्त नजदीक रहने और साथ काम करने पर भी आज भी वह मुझे अपने उसी आदि रूप में दिखाई देते हैं। संक्षेप में, सागर-मन्थन से प्राप्त रत्नों और हलाहल के बीच चुनाव की जिस स्थिति में शिवजी ने जगत-कल्याण के निमित्त हलाहल-पान किया था, वैसा एक बार नहीं, देशहित की खातिर न जाने कितनी बार टंडनजी ने कण्ठ के नीचे उतारा है। और, अपने इसी स्वभाव के कारण न उन्हें कभी कोई क्षोभ हुआ न कभी क्रोध; न उन्हें दैत्यों से द्रोह हुआ न देवों से प्रेम। रत्नों की तौल और मोहिनी के मोल से वह सदा विरक्त रहे। उन्होंने अमृत की उपेक्षा कर विष को गले लगाया। आज कौन है ऐसा पारखी, कौन है ऐसा निस्पृह और कौन है ऐसा सेवाव्रती? अपने इसी समभाव से आज भी वह सर्वहितकारी हैं, सर्व-शुभचिन्तक हैं, सर्वप्रिय हैं। देश के स्वातंत्र्य-आन्दोलन के समय कितने जननेता बने, उसकी प्राप्ति के बाद कितने अपने यथास्थान कायम रहे, आज बड़े-बड़े पदों पर रहते हुए भी जन-मन की दृष्टि में कौन कहां है, इसका निर्णय आसानी से हो जाता है। किन्तु टंडनजी! टंडनजी का व्यक्तित्व एक उज्ज्वल कान्तिवाला ऐसा रत्न है, जिसकी आभा और चमक दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। उनके व्यक्तित्व की रेखा समय के साथ धूमिल नहीं हुई, वरन अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। टंडनजी के जन्मदिन पर दिल्ली के एक आयोजन में पं० जवाहरलालजी ने उनके व्यक्तित्व के विषय में बोलते हुए जो शब्द कहे थे, वे टंडनजी के व्यक्तित्व का एक संक्षिप्त और सारगर्भित परिचय बन गए हैं। पंडितजी ने कहा था—"उनका व्यक्तित्व ऐसा है कि हमें भय लगता है उनसे बात करने में, जाने कब बिगड़ पड़ें, जाने किस बात पर डाट दें।"

इस तरह टंडनजी का समूचा व्यक्तित्व देश के चरित्र-निर्माण का व्यक्तित्व है, जो आज के नवयुवकों और भावी पीढ़ी का आदर्श हो गया है। दूसरों के लिए वह आदर और श्रद्धा की वस्तु हो सकता है, मेरे लिए तो टंडनजी का व्यक्तित्व पूजा की वस्तु है।

राजर्षि का जीवन-दर्शन

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

राष्ट्रभाषा हिन्दी का कोई भावी इतिहास-लेखक जब इस शताब्दी के पचहत्तर वर्षों पर विहंगम दृष्टि डालेगा तो उसे तीन व्यक्तियों का उल्लेख खास तौर पर करना पड़ेगा : महर्षि दयानन्द, महात्मा गांधी और राजर्षि टंडन। जिस लगन के साथ टंडनजी अपनी मातृभाषा तथा देश की राष्ट्रभाषा के लिए पिछले ५३-५४ वर्ष से निरन्तर उद्योग करते रहे हैं, वह भारत के इतिहास में एक अद्वितीय घटना है। पूज्य बाबूजी को समझने में बहुत से लोगों ने भूल की है। उनके बारे में अनेक गलतफहमियां भी हुई हैं, पर इसमें उनका कोई अपराध नहीं। बकौल एमर्सन "टू बी ग्रेट इज़ टू बी मिसअंडरस्टुड" यानी महान् होने के मायने ही हैं गलत समझा जाना।

श्रद्धेय टंडन जी के समस्त जीवन को विधिवत समझने के लिए कई बातें ध्यान में रख लेना जरूरी है—

वह मूलतः धार्मिक पुरुष हैं और राजनीतिज्ञों के बजाय सन्तों की परम्परा में उन्हें रखना चाहिए।

नैतिकता ही उनके जीवन-सम्बन्धी विविध कार्यों का आधार है।

उनकी राष्ट्रीयता और भारतीयता के मूल में एक ही भावना काम कर रही है; वह यह कि भारत किस प्रकार विश्व की संस्कृति में अपना योगदान दे सकता है, यानी अपनी आत्मा की रक्षा करते करते हुए लोक-कल्याण कर सकता है।

हिन्दी-सेवा उनके लिए कोरमकोर भाषा-सम्बन्धी प्रश्न नहीं है; वह मूलतः राष्ट्रीय प्रश्न है।

वह ग्रामीण संस्कृति के पक्षपाती हैं और शहरी सभ्यता के प्रति अत्यन्त सशंक।

उनके 'शासनपथ-निदर्शन' को पढ़ते हुए हमें बारबार यह खयाल आया कि क्या हमारे यहां आधे दर्जन भी राजनीतिज्ञ उस उच्च नैतिक धरातल से बोल सकते हैं, जिस धरातल से बोलना श्रद्धेय टंडनजी के लिए सर्वथा स्वाभाविक होगया है, या यों कहिए कि उनकी प्रकृति का एक अंग ही बन गया है।

'जनता को आत्म-दर्शन'

उनके २१ अप्रैल, १९५४ के भाषण का प्रारम्भिक अंश पढ़िए :

"हमारी गवर्नमेंट जनता को सुख पहुंचाने के लिए बहुत-सी दिशाओं में यत्न करती है, परन्तु फिर भी यह सच है कि चारों ओर एक प्रकार का असन्तोष है, हृदयों में पीड़ा है। जो आशाएं हमारी स्वतंत्र गवर्नमेंट से की जाती थीं, वे पूरी नहीं हो रही हैं। मुझको इस असन्तोष में मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि जनता तो बहुत वर्षों से दबी हुई थी, उसने अपने स्वरूप का दर्शन नहीं किया था। बहुत वर्षों तक दबाव से अपनी आत्मा को झांसा दिया था। उसको आशा थी कि स्वतंत्रता के आते ही हमें उस आत्मा का दर्शन होगा। हमारे देश की आत्मा पर जो खोल चढ़े हुए थे, वे हटेंगे और हमें अपना स्वरूप दिखाई पड़ेगा। आज हम जो भी यत्न कर रहे हैं, उसमें इसका हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम जनता को उसकी आत्मा का स्वरूप दिखा सकें।"

निस्सन्देह यह स्वर शुद्ध राजनीतिक जन्तुओं के स्वर से सर्वथा भिन्न है।

इस पुस्तक को अभी हमने एक बार ही उलट-पलट कर देखा है, इसलिए उसकी विधिवत आलोचना करने का दम्भ हम नहीं करेंगे। पर इतने अल्प समय में ही हमें एक बात देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ग्रामों के पुनर्निर्माण की उन्हें कितनी अधिक चिन्ता है।

"ग्राम-निर्माण और वाटिकागृह" के विषय में उन्होंने बार-बार संसद में कहा था और इस विषय को वह अपने आमुख में भी नहीं भूले। उनके शब्द पढ़िए—

"देश में उत्थान के निमित्त प्रथम पंचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है, दूसरी चल रही है और तीसरी तैयार हो रही है। ग्रामों की स्थिति में विशेष उन्नति हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता। मेरा सुझाव यह है कि ग्रामों के रहन-सहन में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। मैंने यह विचार रखा है कि गांव के प्रत्येक घर के लिए लगभग आध एकड़ भूमि में निवास-घर के चारों ओर वाटिका लगाई जाय। इस प्रकार स्वस्थ ग्राम बनेगा और छूत के रोगों से तथा आग लगने के भय से उसकी रक्षा होगी। मैंने यह भी सुझाव दिया है कि इस भूमि के भीतर ही कुटुम्ब का मूत्र-मल दाबा जाय। एक या डेढ़ फुट भूमि के नीचे रहकर वह भूमि को उर्वर करेगा। ग्राम में यदि प्रत्येक घर के साथ इस प्रकार की वाटिका रहे तो स्वास्थ्य और सौन्दर्य तो होगा ही, काम करने की सुविधाओं में भी वृद्धि होगी। आध एकड़ भूमि छोटे-बड़े सबके पास साधारणतः चाहिए। खेती की भूमि इससे अलग रहेगी। यह भी सम्भव है कि किसान अपनी खेती की भूमि के भीतर ही अपना निवास बनाए। यह अच्छी योजना होगी, परन्तु देश केरल को छोड़कर प्रायः चलन यही है कि खेती अलग रहती है और निवास-गृह अलग रहता है। इस स्थिति में निवास-गृह के लिए, चाहे वह खेतिहर का हो चाहे मजदूर का, चाहे व्यापारी का, उससे लगी हुई लगभग आध एकड़ भूमि मुझे ग्राम-व्यवस्था की दृष्टि से समाज के लिए अत्यन्त लाभकारी जान पड़ती है। समाजवादी संगठन में इस प्रकार की ग्राम-योजना मुझे नितान्त आवश्यक लगती है। यह प्रशासकों के काम करने का विषय है। मुझे दुःख इस बात का है कि प्रशासन में मौलिक आधारों की नींव पर समाज-रचना का कार्य नहीं हो रहा है। उस ओर प्रशासकगण ध्यान दें, यह मेरी कामना है।"

एक बार फिर उन्होंने इस विषय की ओर संसद का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा था—

"मेरा खुद यह ध्यान रहा है कि हमारी योजना के मुख्य कामों में हमें गांवों की तरफ ज्यादा ध्यान देना चाहिए। *ये जो बड़ी-बड़ी योजनाएं है, वे अन्त में जाकर शायद कुछ लाभ करेंगी, परन्तु चाहिए यह था कि हम आरम्भ* में ही जनता के उत्साह को बढ़ाते, गांवों के अन्दर जाकर उनके लिए रास्ता निकालते, उनके लिए उद्योग सोचते। कितनी बेकारी चारों तरफ फैली है। लोगों की यह बेकारी बढ़ती जाती है। लोग गांवों को छोड़-छोड़ कर शहरों में आ रहे हैं। इसको रोकने की आवश्यकता है। पहली योजना यह होनी चाहिए थी। गांवों को ऐसा बनाकर आप बड़ी-बड़ी करोड़ों रुपयों की स्कीमें बाद में सोचते। पहले देश के भीतर कुछ आदर्श गांव बसा देते। हर राज्य के अन्दर, और हो सके तो हर जिले के अन्दर दो-दो चार-चार ऐसे गांव बसा दें, सुन्दर गांव। आज के गांव गन्दे हैं। घर ऐसे हों कि उनके साथ बगीचा हो। मैंने एक विचार पहले दिया था, फिर इसको रखता हूं। हर घर वाटिका-गृह हो, देखिए तो कि इससे कितनी सुन्दरता फैल सकती है। ऐसे घर न बनने दें, जिनमें आधा एकड़ भूमि न हो। आधे एकड़ भूमि के साथ हर घर बनाइए, देखिए कितना सौन्दर्य फैलता है और देखिए कि किस तरह से लोग इसकी तरफ खिंचते हैं। हमारे घर गन्दे हैं। गांवों में जाकर ठहरिए तो थोड़ी देर में भागने की आवश्यकता मालूम होती है। गांवों को सुन्दर बनाइए। स्वास्थ्य की समस्या को हल कीजिए। आज दवा लिए हुए लोग पुकारते फिरते है कि टीका लगवा लो। व्यर्थ की बात है। उससे कोई स्वास्थ्य सुधरने वाला है! यह तो चौपट करने वाला है। यह रास्ता नहीं है। गांवों को स्वच्छ बनवाइए, यही स्वास्थ्य-रक्षा का मार्ग है।"

श्रद्धेय टंडनजी का यह मत है कि हम लोग शहरी संस्कृति का निर्माण कर रहे हैं। उन्होंने एक बार फिर कहा था:

"मुख्य बात तो मेरे मन में आपके शासन के सम्बन्ध में है। वह यह है कि अब भी आपका ध्यान सर्वोदय, *अर्थात् सबका लाभ, हो, सब समुदाय उन्नति करे, इस पर बहुत कम गया है और सरकार का ध्यान अंग्रेजी शासन-काल*

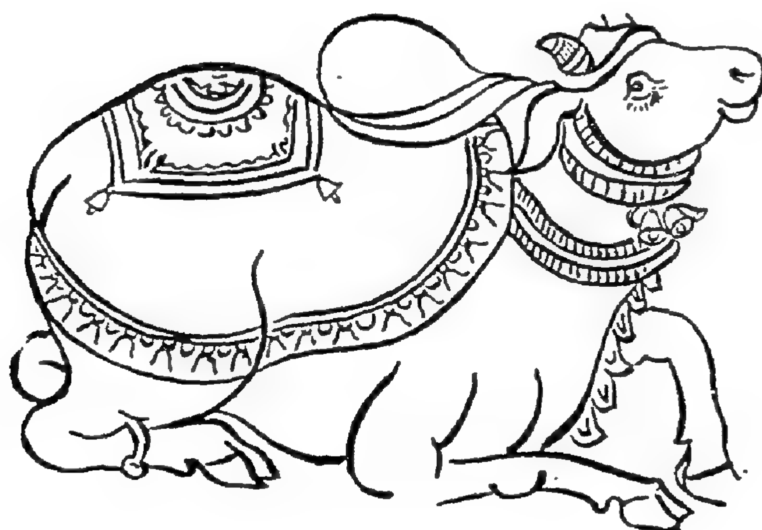
की तरह अब भी शहरों की तरफ है और गांवों की तरफ बहुत कम है। आपकी सिंचाई-योजनाएं हैं, उनमें शहरी उन्नति का क्रम अधिक है। देहातों का लाभ अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़ा है। मैंने पिछले वर्ष ध्यान दिलाया था इस बात पर, कि आवश्यकता यह है कि देहातों में नए सिरे से ग्राम-निर्माण किया जाय।"

यद्यपि भ्रष्टाचार, खाद्य पदार्थों में मिलावट, हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देना, हिन्दी-ग्रन्थ-निर्माण, वास्तविक अर्थ में चिकित्सा-समस्या, विस्थापितों का प्रश्न इत्यादि बीसियों विषयों पर श्रद्धेय टंडनजी ने अपने विचार प्रकट किए हैं, तथापि कहीं भी उनका स्वर नैतिकता के उच्च धरातल से नीचे नहीं उतरा। उनके भाषणों का 'नैतिक स्वर' ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

इस पुस्तक को मामूली तौर पर शिष्टाचार की दो-चार बातें कहकर नहीं टरकाया जा सकता। इस पर तो एक लेखमाला ही लिखी जानी चाहिए।

वस्तुतः यह ग्रन्थ आज से दो वर्ष पहले ही निकल जाना चाहिए था, फिर भी इसमें वर्णित विषय ऐसे हैं कि वे तब तक बासी नहीं हो सकते, जब तक वे प्रश्न विधिवत हल न हो जाएं, जिनका उनमें जिक्र किया गया है।

मुख्य प्रश्न यह है कि हम राजनीति को अवसरवादिता के पंजे से छुड़ाकर उच्च-अत्युच्च नैतिक धरातल पर ले जा सकेंगे या नहीं? श्रद्धेय बाबूजी का समस्त जीवन इसी प्रश्न के हल करने में लगा रहा है। वह दृष्टिकोण संत का है, मामूली पोलिटिशियन का नहीं।



तप्त कांचन के समान

काका कालेलकर

दुबले-पतले, छोटे-से शरीरवाले लोग भी कभी-कभी केवल अपनी आंख के तेज से और मजबूत आवाज से जन-समाज पर अद्‌भुत प्रभाव डालते हैं। अगर इन दो गुणों के साथ हृदय की आर्यता और जीवन की तपस्या मिल जाय तो फिर पूछना ही क्या, सोना और सुगन्ध ! श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टंडन में ये सब बातें है। जब वह जोश में भरकर बोलते हैं तब उनके छोटे-से शरीर में विचारों का वेग समाता नहीं है। उनके गले की नसें फूल जाती हैं, और ऐसा मालूम होता है कि उनका दुबला-पतला शरीर जो नहीं कर सकता, उसे उनकी अदम्य संकल्प-शक्ति अवश्य कर लेगी। यों तो वह बिल्कुल सरल हैं, स्वभाव के बड़े मुलायम। बालक की तरह आशुतोष, और सेवा-परायण के जैसे निरभिमानी। किन्तु अपने विचार में और कार्य-पद्धति में उनका-सा जिद्दी शायद ही कोई दूसरा हो। बहुत-से लोग अपनी महत्त्वाकांक्षा के सामने अपने सिद्धान्तों को ढीला कर देते है। टंडनजी अपने जीवन-सिद्धान्तों में 'शाक्त' भी हैं और 'भक्त' भी हैं। उनके स्वभाव का रहस्य और उनकी तपस्या का मर्म किसी एक बात में है।

नौजवान टंडनजी ने मालवीयजी के सामने संकल्प किया था कि देश में हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ाने की वह दिलोजान से कोशिश करेंगे। उन दोनों ने मिलकर राजेन्द्रबाबू जैसे देश के अनेक हिन्दी-भक्तों को इकट्ठा कर लिया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की। शुरू से ही सम्मेलन का उद्देश्य हिन्दी को देश के व्यवहार में प्रधानता देना था। देश के बड़े-बड़े राष्ट्र-सेवक और साहित्य-सेवक इस संस्था के सभापति रह चुके हैं। लेकिन सम्मेलन के कर्णधार तो उसके जन्म-दिन से लेकर आज तक टंडनजी ही रहे हैं।

प्रायः साहित्यकार और पंडित स्वभावतः इकल्ले होते है। ईर्ष्या और तुनकमिजाजी को तो मानो उन्होंने 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' बना लिया है। ऐसे लोगों को साथ लेकर एक बहुत बड़ी संस्था चलाना, और साहित्य-सेवियों और स्वराज्य-सेवियों को एक सूत्र में बांध देना, यह कोई मामूली करामात नहीं है। रेलगाड़ी के डिब्बे जब एक-दूसरे से टकराते है तब उस आघात को सहन करने के लिए बीच में एक बहुत मजबूत और असाधारण सहनशील कमानी रक्खी जाती है जिसे अंग्रेजी में 'बफर' कहते है। डिब्बों की हिफाजत के लिए सारा आघात इस बफर को ही सहन करना पड़ता है। सम्मेलन को संभालते-संभालते न जाने कितनी बार टंडनजी को बफर की भूमिका धारण करनी पड़ी होगी। उनके जैसे स्वाभिमानी और निस्पृह खरे सेवक के लिए यह कुछ कम तपस्या नहीं है।

अगर टंडनजी कभी हिन्दी-उर्दू के झगड़ों में फंस जाते तो सम्मेलन का जहाज बे-पतवार का होकर तूफान में उलट जाता और कभी का छिन्न-भिन्न हो जाता। किन्तु उनकी हिन्दी-भक्ति उनको मुसलिमों का द्वेष या उर्दू का भय नहीं सिखाती। वह खूब तपे-तपाए शुद्ध सोने की तरह कांग्रेसनिष्ठ हैं, सच्चे राष्ट्रीय हैं और पूर्ण स्वराज्य-भक्त है। उनकी सम्मेलन-सेवा स्वराज्य-सेवा का ही एक महत्त्व का अंग है। उनकी साहित्यिक अभिरुचि उनकी उक्त संस्कारिता और जीवन-समृद्धि से ही फलित हुई है। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जैसा सेवक जिस भाषा को मिला है, उस भाषा का भाग्योदय निश्चित ही है।

आदर्श-चरित्र और उदारमना

श्री सुन्दरलाल

श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को मैं ठीक ५६ वर्ष से अच्छी तरह जानता हूं। उस समय हम दोनों एल० एल० बी० में पढ़ते थे। वह एम० ए० करके आए थे और मैं बी० ए० करके। वह द्वितीय वर्ष में थे, मैं प्रथम वर्ष में, लेकिन पढ़ाई साथ-साथ होती थी। वह मुझसे शायद चार वर्ष बड़े भी हैं। इस बीच उनका मेरा सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ रहा है। मैंने उन्हें सदा अपना बड़ा भाई माना है और आज भी मानता हूं। मेरे हृदय में उनके लिए अगाध प्रेम है, आदर है।

किसी खास विषय पर विचारों का मिलना या न मिलना बिल्कुल अलग बात है। विचारों का मतभेद तो किसी-किसी बात में मेरा पूज्य महात्मा गांधी से भी रहा है। पर टंडनजी से हृदय की शुद्धता, उनकी सचाई, उनकी सच्चरित्रता, उनकी सरलता, उनका त्याग और उनका अपने जीवन-सिद्धान्तों पर पहाड़ की तरह अटल रहकर जमे रहना, ऐसे गुण हैं जो आज, बड़ी लज्जा के साथ कहना पड़ता है, देश के बड़े-से-बड़े कर्णधारों में मुश्किल से ही दिखाई देते हैं। टंडनजी के इन गुणों के लिए मेरा मस्तक सदा झुकता रहा है और आज भी झुकता है। कांग्रेस के अन्दर और स्वराज्य सरकार के अन्दर टंडनजी की स्थिति को मैं पास से देखता रहा हूं, और मुझे इस बात के कहने में जरा भी संकोच नहीं कि टंडनजी जितना ऊँचे गए उतना केवल अपने चरित्र के बल पर, और जहां रुक गए वहां या तो अपनी इच्छा से रुके और या इसलिए, क्योंकि आगे बढ़ने के लिए योग्यता के अतिरिक्त उन गुणों की भी आवश्यकता थी जो नैतिक दृष्टि से ऊंचे नहीं समझे जा सकते। मुझे एक उर्दू-कवि का यह शेर इस समय याद आ रहा है—

हम सौदे को आए थे, लीए दिरम पुराने।
यां (यहां) शहर में मुद्दत से नया सिक्का रवां है॥

सार्वजनिक जीवन में टंडनजी को प्रोत्साहन अधिकतर दो महान व्यक्तियों से मिला है: प्रथम स्वर्गीय पंडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे स्व० लाला लाजपतराय। मेरा भी इन दोनों महापुरुषों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए हमें टंडनजी के विचारों और आदर्शों की स्वतन्त्रता, उदारता और उन्नतिशीलता को मानना ही पड़ता है।

मुझे मालूम है कि टंडनजी के अनेक मुस्लिम मित्र हैं जो टंडनजी के सच्चे भक्त हैं और जिन पर टंडनजी के बड़े-बड़े अहसान हैं। टंडनजी उर्दू और फारसी के खासे अच्छे ज्ञाता हैं। मुझे मालूम है कि लड़कपन में पढ़ी हुई शेख-सादी की "मा मुकीमा" टंडनजी को बहुत पसन्द है और उसके कुछ शेर उन्हें अबतक याद हैं। उर्दू-शायरी की वह कदर करते हैं उनका हिन्दी-प्रेम इसमें बाधा नहीं डालता। अपनी संसद की वक्तृताओं में उन्होंने एक जगह साफ कहा है कि अहिन्दी प्रान्तों के लोगों की इच्छा के विरुद्ध उन पर हिन्दी हरगिज नहीं लादी जानी चाहिए।

संसद के अन्दर जिस तरह टंडनजी ने अनेक बार और बार-बार सचाई, सादगी और ईमानदारी पर जोर दिया और वजीरों और सरकारी अफसरों के दोषों को इस बारे में खुलकर प्रकट किया, वह उन्हीं का हिस्सा था। मेरी राय है कि उनकी छपी हुई वक्तृताएं संसद के हर मेम्बर को और हर सरकारी आदमी को ध्यान से पढ़नी चाहिए।

मेरी भगवान से प्रार्थना है कि टंडनजी को फिर से स्वास्थ्य प्रदान करे और उन्हें चिरायु और प्रसन्न रक्खे।

भीष्म पितामह के प्रतिरूप

श्री श्रीमन्नारायण

राष्ट्रभाषा .प्रचार समिति के कार्य के सिलसिले में सन् १९३६ से राजर्षि टंडनजी से मेरा काफी सम्पर्क रहा। वर्धा-समिति का मैं पांच वर्ष तक प्रधान मन्त्री था और इस कार्य में आदरणीय टंडनजी की बहुत गहरी दिलचस्पी थी। वह अक्सर हमारी बैठकों के लिए वर्धा भी पधारते थे और विभिन्न समस्याओं को हल करने में बहुत सहयोग देते थे। यद्यपि हिन्दी भाषा से उनका बहुत प्रेम रहा है, फिर भी देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास के लिए वह पूरा उत्साह रखते थे। जब राष्ट्रपिता गांधीजी ने १९४२ में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अपना सम्बन्ध खत्म किया तो राजर्षि टंडनजी को बहुत धक्का लगा। गांधीजी चाहते थे कि मैं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का प्रधान मन्त्री बनूं। किन्तु टंडनजी की बहुत इच्छा थी कि मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का प्रधान मन्त्री बना रहूं। गांधीजी से उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत आग्रह भी किया। लेकिन आखिर मैं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का प्रधान मन्त्री ही बना। पूज्य टंडनजी को यह अच्छा तो न लगा, किन्तु वह गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाना चाहते थे। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कार्य में भी उन्होंने दिलचस्पी ली और उनका सदा यही प्रयत्न रहा कि दोनों संस्थाओं में किसी प्रकार का संघर्ष न हो।

राष्ट्रभाषा आन्दोलन के अलावा मेरा सम्बन्ध राजर्षि टंडनजी से कांग्रेस-प्रवृत्तियों के सिलसिले में भी रहा। उनकी त्याग-भावना, सादगी और लगन अद्वितीय हैं। उनको देखकर भीष्म पितामह का स्मरण हो जाता है। उनके व्यवहार में लेशमात्र भी असत्य की छाया नहीं पड़ती। इसका वह हमेशा बारीकी से चिंतन करते रहते हैं। उनका जीवन इतना सादा है कि वह अपने ऊपर कम-से-कम खर्च करते हैं और सार्वजनिक संस्थाओं के व्यय में एक-एक पैसे की बचत का ध्यान रखते हैं। अपने पत्र-व्यवहार में वह बहुत ही सजग रहते हैं और एक-एक शब्द को तोलकर लिखते हैं।

कई वर्षों से उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा है और उनका शरीर अब बहुत कमजोर होगया है। फिर भी वह लगभग चौबीस घंटे यही विचार करते रहते हैं कि देश का ठीक दिशा में किस तरह तेजी से उत्थान हो। राष्ट्रभाषा हिन्दी, गोसेवा, मद्य-निषेध, ग्रामोद्धार व कृषि-उन्नति में उनकी विशेष रुचि रही है। यद्यपि इन विषयों के सम्बन्ध में कांग्रेस व भारत सरकार से उनका कई पहलुओं पर गहरा मतभेद रहा है, फिर भी उन्होंने कभी कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिससे देश की एकता को खतरा पैदा हो और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को बढ़ावा मिले।

हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि वह राजर्षि टंडनजी को दीर्घायु करे और वह बहुत वर्षों तक हमें अपने जीवन के तेज से प्रोत्साहित करते रहें।

अनूठे सिद्धान्तवादी

श्रीमती रामेश्वरी नेहरू

मैं श्रद्धेय टंडनजी को बहुत अरसे से जानती हूं। उन्हें जितना ही निकट से देखा है उतना ही मेरे मन में उनके प्रति आदर उमड़ा है। वह सिद्धान्तवादी हैं तथा सिद्धान्तों पर चलने की पूरी शक्ति रखते हैं।

उनका जीवन निःस्वार्थ सेवा की सच्ची कहानी है। मैं शुरू में सुना करती थी कि टंडनजी का बड़ा परिवार, धनाभाव के कारण बहुत बार केवल चने का आहार करके ही सन्तोष मानता है, और टंडनजी उनकी अवहेलना करके निरन्तर अपने भिन्न-भिन्न सेवाओं के कामों में संलग्न रहते हैं। सच तो यह है कि टंडनजी की ऐसी स्थिति देखकर, मेरे मन में ये भाव उठते थे कि जो पिता अपनी सन्तान को जन्म देकर, उसके पालन-पोषण की उचित सामग्री नहीं जुटा सकता, वह अपने एक भारी उत्तरदायित्व को पूरा नहीं करता। परन्तु टंडनजी के दृष्टिकोण और विचार-धारा को अब मैं समझने लगी हूं। उन्होंने अपने कुटुम्ब की अवहेलना की हो, परन्तु इस त्याग को करके उन्होंने देश को जो बहुमूल्य निधि प्रदान की, उससे देशवासी ऊंचे उठे और उनका चरित्र स्वच्छ बना। गुरुदेव अपनी तेजस्वी वाणी में कह भी गए हैं कि "व्यक्ति का त्याग कुटुम्ब के लिए, कुटुम्ब का त्याग नगर के लिए, नगर का देश और देश का विश्व के लिए त्याग यथोचित है।" टंडनजी कष्टों का सामना करते हुए अपनी राह से कभी नहीं डिगे।

टंडनजी ने अपने मन को बहुत-कुछ वश में कर लिया है। यह एक आम विश्वास है कि सब रस छूटने पर भी मानव के लिए जिह्वा के स्वाद को छोड़ना कठिन होता है। परन्तु टंडनजी ने जिह्वा-स्वाद को भी नियन्त्रण में रक्खा और भोजन-रस-शिरोमणि नमक तथा अन्न दोनों का बीस वर्षों तक त्याग किया और केवल कन्द-मूल व शाक-पात के आहार पर रहे।

स्वतन्त्रता के संग्राम में उन्होंने जो वीरतापूर्ण आहुति दी, वह सर्वविदित है। उसकी गाथा इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखी जाएगी, जिससे आनेवाली सन्तानों को प्रेरणा मिलेगी। परन्तु टंडनजी ने केवल राजनीतिक कार्य ही नहीं किया, साहित्य व राष्ट्र-भाषा को उन्नत बनाने में भी अपनी सेवाएं देकर अमूल्य योगदान दिया। साहित्य, संस्कृति, भाषा-विज्ञान, राष्ट्रभाषा आदि में हमारे देश में गत पचास वर्षों में जो काम हुआ है, वह मानो टंडनजी की जीवन-गाथा हो। टंडनजी का जीवन इन क्षेत्रों से इतना मिला-जुला रहा है कि उनका इतिहास और उनके जीवन का इतिहास अलग नहीं किया जा सकता।

अन्त में मैं एक कवि के निम्नलिखित शब्दों में उनका स्मरण करके उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि भेंट करती हूं—

जुल्म जो अपनों के सह कर भी हैं कुरबाने-वतन,
मोहकम इस ईसार ही से जिन के है शाने-वतन,
होते हैं बरबाद कायम रखने को शाने-वतन,
खाक में मिल कर भी हैं जो मेहरताबाने-वतन,
हैं अभी तक ऐसे भी कुछ खाकसाराने-वतन।

राजर्षि टंडन की जय हो !

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

त्याग और मनस्विता, आदर्श चिन्तन और कर्ममय जीवन, औदार्य और सत्य पर दृढ़ रहने का आग्रह, प्रेम-पेशल हृदय और निर्भय कर्तव्य-निष्ठा, सबके प्रति आदर-भाव और यथा-प्रयोजन कसकर विरोध करने की क्षमता, अपरिग्रही स्वभाव और निरन्तर दाननिष्ठा, विनम्रता और सैद्धान्तिक अकड़, एक साथ नहीं रह पाते। जहां रहते हैं वहां पूर्ण मनुष्यत्व विराजता है। टंडनजी के व्यक्तित्व में इनका अद्भुत मिलन हुआ है। इन दुर्लभ गुणों ने उन्हें एक ओर जहां असामान्य व्यक्तित्व-सम्पन्न मनुष्य बनाया है वहीं गलतफहमी के लिए द्वार भी खोल दिया है।

टंडनजी का जीवन सन्त का जीवन है। वह सन्त-साहित्य के बड़े प्रेमी भी हैं। जिस किसी ने उन्हें निकट से देखा है वही चकित हुआ है। प्रलोभनों ने उन्हें विचलित नहीं किया, प्रभुता दासी होकर आई। समृद्धि के भीतर वह उसी प्रकार रहे हैं जैसे जल में पद्म-पत्र। वह अपने विश्वास में सदा अडिग रहे। प्रलोभन, मित्रता, लिहाज, कुछ भी उन्हें नहीं डिगा सके। सेवा और त्याग उनका मार्ग नहीं है, सहज जीवन है।

हिन्दी-आन्दोलन के वे प्राण रहे हैं। इसके लिए उन्होंने सब-कुछ सहा है, सब-कुछ झेला है। इधर एक विचित्र शब्द का आविष्कार किया गया है—हिन्दी-साम्राज्यवाद ! शब्दों की महिमा बड़ी विचित्र है। जो लोग इस भारी-भरकम शब्द का प्रयोग करते हैं वे क्या कहना चाहते हैं, यह बात कदाचित उन्हें भी मालूम नहीं। टंडनजी को कभी इस वाद का प्रवर्तक भी कहा गया है !

परन्तु क्या लोग नहीं जानते हैं कि टंडनजी जैसा सन्त साम्राज्यवाद के हर रूप का स्वभावतः विरोधी होता है ? दूसरे के अधिकार का अपहरण करना साम्राज्यवाद का मूल मंत्र है। टंडनजी इस प्रकार के अपहरणवाद के घोर विरोधी हैं। उनके हिन्दी-प्रेम का अर्थ है भारतीयकरण। भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं के स्वाधिकार का अपहरण भी अपहरण ही है। टंडनजी सभी भारतीय भाषाओं को अपने-अपने स्थान पर फलती-फूलती देखना चाहते हैं। ऐतिहासिक कारणों से इस देश में विदेशी भाषा ने यहां की वास्तविक भाषा का अधिकार छीना है। टंडनजी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकते। नाना नाम-रूप लेकर यह अपहरण-कार्य सामने आता है। टंडनजी ने उसके कुत्सित रूप को देखा है। वह इस बात को स्वीकार नहीं कर सकते। मानसिक दासता के शिकार नव-शिक्षित लोग जब अपनी दुर्बलताओं को तर्क-सम्मत भाषा में सजाकर रखते हैं तो टंडनजी इस असत्याचरण से खिन्न होते है। इसका विरोध करते हैं। उनके तर्क अनुत्तरणीय होते हैं। लोग खीझ जाते हैं।

कभी-कभी मनुष्य अपनी कमजोरियों को तर्कसम्मत तत्त्वज्ञान का रूप दे देता है। भारतवर्ष की जनता का काम विदेशी भाषा से नहीं चल सकता, यह सीधी-सी बात है। इस देश में यहां की भाषा को ही पूरा अधिकार मिलना चाहिए, यह कोई ऐसी बात नहीं है जो समझ में न आए। परन्तु इस बात को अस्वीकार करने के लिए न जाने कितना-कुछ लिखा जाता है और कहा जाता है। कारण क्या है ? एक प्रमुख कारण तो यह है कि आज का शिक्षित भारतीय अपनी भाषा जानता ही नहीं है। सबको मालूम है कि विदेशी शासकों ने इस देश में अपने मतलब से विदेशी भाषा की शिक्षा की व्यवस्था की थी। देशी भाषाओं की बराबर उपेक्षा की गई। नवशिक्षित भारतीय अपनी परम्परा से विच्छिन्न

होगए। नए वैज्ञानिक ज्ञान और प्राविधिक अग्रगति से हमारी भाषाएं बराबर वंचित होती रहीं। स्वतंत्र और शक्तिशाली देशों की भाषाएं आगे बढ़ गई। अब तर्क यह दिया जाता है कि देशी भाषाओं में तो अमुक-अमुक विचारों को प्रकट करने योग्य शब्द ही नहीं है, इसलिए विज्ञान और प्राविधिक ज्ञान की शिक्षा का वाहन देशी भाषाएं हो ही नहीं सकतीं ! अपनी कमजोरी तर्क का रूप धारण करती है। उसका विरोध करे तो संकीर्ण हो, जाहिल हो, अज्ञ हो। किसी प्रकार यह सिद्ध हो जाय कि यह बात ठीक नहीं है तो फिर साम्राज्यवादी हो, अनुदार हो। हर दुर्बलता की रक्षा के लिए तर्क और युक्तियां हैं, हिसाब और आंकड़े हैं, देश और विदेश हैं ! इस विचित्र मानसिक दासता और औदार्यगंधी साहसहीनता का यदि विरोध किया जाय तो बड़े से बड़े आदमी को दकियानूस कह दिया जाता है। टंडनजी जैसा स्पष्ट विचारक, आजन्म देशसेवक, त्याग और सौहार्द का अप्रतिम उन्नायक भी दकियानूस है, संकीर्ण है, समय की गति को न पहचाननेवाला पुरातनवादी है ! इस प्रकार की बातों को क्या कहा जाय !

अंग्रेजी समृद्ध भाषा है, ठीक है। उसके विशाल साहित्य से परिचय बना रहना चाहिए, कौन अस्वीकार करता है ? उसके भीतर जो नवीन प्राणों का स्पन्दन है वह हमारे साहित्य को नवीन चेतना देगा, बिल्कुल सही है; उसके भण्डार में ज्ञान और विज्ञान की विपुल सम्पत्ति है वह काम्य है, अवश्य काम्य है; पर इससे यह कहां निकलता है कि देशी भाषाओं को छोड़ दिया जाय ? अंग्रेजी हमने सीखी है, और भी अच्छी तरह सीखनी चाहिए, पर देश की कोटि-कोटि जनता का काम तो उससे नहीं चल सकता ! कदाचित थोड़े-से लोग अंग्रेजी के बने रहने से लाभ में रहेंगे, पर उनके लिए सारे देश को अशिक्षित तो नहीं छोड़ दिया जा सकता। ठीक है कि हमारी भाषाएं पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों से उपेक्षित रहने के कारण पिछड़ गई हैं। जितना उन्हें कमजोर समझा जाता है उतनी कमजोर भी वे नहीं हैं। पर जिन लोगों ने कभी उनकी शक्ति को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया, वे लोग ही उनके बारे में फैसले देते रहते हैं। हमारी भाषाओं में अपार शक्ति है। वे अवसर मिलने पर हर प्रकार के विचारों को सहज भाव से प्रकाश कर सकती हैं। हमारे पास संस्कृत के धातु-प्रत्ययों का अपार भण्डार है। हमारी बोलियों में अत्यन्त सुकुमार भावों को प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है। जो लोग यह जानते ही नहीं, या जानकर भी अनजान बनते हैं, उन्हें कैसे समझाया जाय ? एक ही रास्ता है। तर्क छोड़कर काम किया जाय। रचनात्मक कार्य ही सही और सच्चा रास्ता है। टंडनजी इस रचनात्मक कार्य का महत्त्व समझते हैं। उन्होंने एक ओर तर्काभासों का जमकर विरोध किया है, दूसरी ओर रचनात्मक कार्य पर भरपूर जोर दिया है।

टंडनजी कभी-कभी व्याकुल हो जाते हैं। हिन्दी के हिमायतियों से वह बहुत आशा रखते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश, ये लोग आपस में ही लड़कर एक-दूसरे की शक्ति क्षीण करते रहते हैं। जो शक्ति निर्माण-कार्य में लगनी चाहिए, वह आपसी कलह और उखाड़-पछाड़ में बरबाद हो रही है। हमारी बड़ी-बड़ी शक्तिशाली संस्थाएं आज इस आपसी कलह से निष्प्राण होगई हैं। जिस समय शक्ति केन्द्रित करने की सबसे बड़ी आवश्यकता थी, उसी समय हमने शक्ति बिखरा दी। टंडनजी इस प्रवृत्ति से बहुत कठिनाई में पड़ गए हैं। हिन्दी-आन्दोलन को जो लोग ठीक-ठीक नहीं समझते, वे नए-नए अपशब्द तैयार करके हिन्दी-सेवकों को और भी क्षीण कर रहे हैं। न जाने इतिहास-विधाता का इंगित क्या है ! पर भारतवर्ष को अगर सचमुच सम्मान के साथ जीना है तो अपनी भाषाओं की वह उपेक्षा नहीं कर सकता, अपनी संस्कृति के उदात्त और मानवीय तत्त्वों को भुलाकर वह कभी सच्चे अर्थों में जीवित नहीं रह सकता। यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि हिन्दी-आन्दोलन का अर्थ है भारतीयकरण का प्रयत्न, 'स्व-राज्य' !

अंग्रेजी में जिसे 'इन्डिपिन्डेंस' कहा जाता है उसे सभी भारतीय भाषाएं 'स्वाधीनता' या 'स्वतन्त्रता' कहती हैं, 'अनधीनता' या 'अतंत्रता' नहीं। भारतवर्ष 'स्व' की अधीनता चाहता है। वह 'अनधीनता' में विश्वास नहीं करता। अपने ऊपर अपना अधिकार ! हमारी संस्कृति 'वशी', 'आत्मसंयमी' और 'स्वाधीन' होने की बात कहती है। हमारे देश के मनीषियों ने अपने ऊपर अपने ही अंकुश को महत्त्व दिया है। अपनी भाषा और अपने पूर्वजों के अनुभव से विच्छिन्न होकर वह 'स्व' का 'स्व' के ऊपर नियंत्रण नहीं प्राप्त किया जा सकता। गांधीजी ने इसलिए 'स्व-भाषा' का आन्दोलन चलाया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसीलिए कहा था—'निज-भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।' टंडनजी

भी इसी कारण स्वभाषा और स्वसंस्कृति के पक्षपाती हैं। यह देश का दुर्भाग्य है कि इस बात को गलत समझा जाता है, गलत समझाया जाता है, गलत समझा जाता रहे, इस बात का प्रयत्न किया जाता है। टंडनजी ने पूरी ताकत लगाकर इस सत्य को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इस समय चाहे जो भी हो, अन्त में चलकर उन्हीं की विजय होगी। अधिक दिनों तक इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। टंडनजी के सारे जीवन के प्रयत्नों का अर्थ है—स्वाधीन भारत की जय!



हिन्दी के प्राण पुरुषोत्तमदासजी टंडन

डा० उदयनारायण तिवारी

आदरणीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडनजी का नाम मैंने सन् १९३१ के असहयोग-आन्दोलन के दिनों में सुना था। किन्तु उनका प्रत्यक्ष दर्शन करने का अवसर तो मुझे सन् १९३३ की जुलाई में, प्रयाग में मिला। मैं उसी वर्ष स्कूल लीविंग परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कायस्थ पाठशाला कालेज में, इन्टर में अपना नाम लिखाने आया था। बाबूजी उस समय 'साहित्य भवन' में बैठते थे। आजकल जहां किंग्स कम्पनी की दवा की दुकान है सम्भवतः उसी में अथवा उसके आसपास साहित्य भवन लिमिटेड की दुकान भी थी। उस समय हिन्दी में आज की भांति न तो साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन ही होता था और न ऐसी पुस्तकों के बिक्री का ही कोई प्रबन्ध था। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि बाबूजी ने इस उद्देश्य से साहित्य भवन लिमिटेड की स्थापना की थी ताकि हिन्दी-साहित्य की पुस्तकें एक स्थान पर लोगों को आसानी से मिल जायं। जो हो, सन् १९२३ में इस दुकान पर कुछ पुरानी पुस्तकें भी बिक रही थीं। मैंने इसी दुकान से 'ट्रायल एण्ड डेथ आफ सोक्रेटीज' की एक प्रति खरीदी। उस समय यह पुस्तक इन्टर कक्षा के पाठ्य-क्रम में थी। घर ले जाकर मैंने देखा कि पुस्तक में एक पृष्ठ गायब है, उस पर साहित्य भवन लिमिटेड की मुहर थी। मैं उसे लौटाने के लिए दूसरे दिन दूकान पर पहुंचा। मैंने देखा कि एक शुभ्र ललाट और दाढ़ीवाले व्यक्ति दूकान के भीतर कुर्सी पर बैठे हुए अपनी डाक खोल रहे हैं। अनेक व्यक्तिगत पत्र, हिन्दी के कतिपय मासिक, साप्ताहिक तथा दैनिक समाचार-पत्र आदि उनके सामने रक्खे हुए थे। शरीर में एक खद्दर की बनियान और घुटनों तक एक खद्दर का जांघिया पहने हुए उस व्यक्ति के रोम-रोम से तेजस्विता प्रगट हो रही थी। मैंने पुस्तकों की अथवा अन्य दूकान के किसी मालिक का ऐसा रूप नहीं देखा था। जिस व्यक्ति से मैं पहले दिन पुस्तक ले गया था, उसे लौटाते हुए मैंने कहा, देखिए, इस पुस्तक से एक पृष्ठ गायब है। आप मुझे दूसरी पुस्तक दीजिए अथवा पैसे लौटाइए। वह व्यक्ति पुस्तक को उलट-पलट कर मुझसे कुछ बातें ही कर रहा था कि मैंने कुर्सी पर बैठे व्यक्ति को सम्बोधित करके कहा, "बाबूजी देखिए यह मुझे न तो दूसरी पुस्तक दे रहे हैं और न पैसे लौटा रहे हैं। कदाचित पुरानी पुस्तक की कोई दूसरी प्रति नहीं थी। कुर्सी पर बैठे हुए दिव्य व्यक्ति ने अपनी डाक देखना बन्द कर पुस्तक बेचने वाले को बड़े जोर से डाटा और उन्होंने तुरन्त मुझे पैसे दे दिए। दूकान के मालिक और पुस्तक-विक्रेता दोनों के व्यवहार मेरे लिए असाधारण थे। मैं चकित था कि आखिर वयोवृद्ध पुरुष कौन है। बाहर निकलकर मैंने अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए जो दूकान के मालिक का नाम पूछा तो ज्ञात हुआ कि वह आदरणीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन हैं और पुस्तक-विक्रेता उनके सबसे बड़े पुत्र श्री स्वामीप्रसादजी टंडन हैं। टंडनजी प्रयाग नगर महापालिका के चेयरमैन रह चुके हैं, कांग्रेस के वे चोटी के चुने हुए नेताओं में से एक हैं। अपने वकालत के दिनों में अनेक क्रांतिकारियों के मुकदमों की उन्होंने बिना फीस लिए पैरवी की है। वह प्रयाग के निर्भीक पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट एवं अग्रगण्य हैं। इन सब कथाओं को मैं पहले ही सुन चुका था। ऐसे महापुरुष तथा उसके ज्येष्ठ पुत्र को दूकान पर पुस्तकें और खद्दर बेचते हुए देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

असहयोग-आन्दोलन की पहली बाढ़ समाप्त हो चुकी थी और देश का राजनीतिक वातावरण भीतर से क्षुब्ध होते हुए भी ऊपर से शान्त था। गांधीजी जेल में थे। उनके सहयोगी, जिनमें कई चोटी के वकील भी थे, जेल से

छूटने के बाद चैम्बर प्रैक्टिस करने लगे थे। आखिर जीवन-निर्वाह के लिए पैसों की जरूरत तो सभी को होती है। बाबूजी भी हाईकोर्ट के वकील थे और उनकी प्रैक्टिस भी अच्छी थी, किन्तु एक बार वकालत छोड़ देने के बाद पुनः उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध रखना कदाचित उन्होंने उचित नहीं समझा। रचनात्मक कार्य में उस समय खद्दर का उत्पादन एवं उसका वितरण एक मुख्य कार्य था। हिन्दी के प्राण आदरणीय टंडनजी ने हिन्दी-पुस्तकों के वितरण का भी सम्बन्ध कदाचित रचनात्मक कार्य से ही जोड़ लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार जेल से छूटने के बाद बाबूजी अपना कुछ समय इस दूकान पर व्यतीत करने लगे। मैं जब कभी जानस्टनगंज जाता तो दूर से ही उनका दर्शन करके मन ही मन प्रणाम कर लेता था। आखिर इस व्यापार से बाबूजी को प्रतिदिन कितनी आय होती होगी, वह अपने परिवार का उन दिनों भरण-पोषण कैसे करते होंगे, यह बात तो तब ज्ञात हो जब बाबूजी अपना आत्मचरित लिखें। मुझे तो उनके तत्कालीन व्यापार में कबीर, दादू, रैदास आदि की भांति गार्हस्थ के लिए किंचित उपार्जन करते हुए साधना-रत जीवन की झांकी ही मिलती थी।

सन् १९३४ में प्रयाग में अर्द्धकुम्भ मेला का समारोह हुआ। मेले में सेवा समिति का कैम्प भी पड़ा था। उस समय मैंने आदरणीय टंडनजी की दूसरी दिव्य झांकी देखी। आप सिर पर खद्दर का साफा, खद्दर का कुर्ता और खादी की धोती पहने हुए इस कैम्प में विराजमान थे और उनके बगल में बैठे थे उस युग के तारुण्य के प्रतिनिधि, आज के भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू। उस वर्ष गंगा-यमुना की धारा कुछ ऐसी विचित्र थी कि त्रिवेणी पर स्नान करने में लोगों को कठिनाई थी। उस समय प्रयाग के कलक्टर श्री नाप्स महोदय थे। महामना पं० मदन-मोहन मालवीय कलक्टर महोदय से बातें करके ऐसा प्रबन्ध करना चाहते थे ताकि सुदूर प्रदेशों से आए हुए अनेक श्रद्धालु यात्री त्रिवेणी पर स्नान कर लें। कलक्टर इसके लिए तैयार न थे और त्रिवेणी के तट पर उन्होंने यात्रियों को रोकने के लिए सशस्त्र घुड़सवारों को खड़ा कर दिया। बड़ी विकट परिस्थिति थी। एक ओर मालवीयजी तथा उनके अनुगामी श्रीटंडनजी तथा जवाहरलाल जी सत्याग्रह के लिए तैयार थे तो दूसरी ओर सरकार भी अपने आत्म-सम्मान पर उतर आई थी। मालवीयजी पुलिस के अधिकारियों को विनयपूर्वक समझा रहे थे। इसी बीच टंडनजी एवं जवाहरलालजी के तारुण्य ने जोर मारा। ये दोनों व्यक्ति घुड़सवारों को ढकेलते हुए त्रिवेणी में जा कूदे और स्नान करने लगे। उनके पीछे और भी अनेक नौजवान दौड़ पड़े और इस प्रकार सूर्यास्त के समय सरकार को वहां से घुड़सवारों को हटा कर त्रिवेणी पर जनता को स्नान करने का अवसर देना पड़ा। सरकार की प्रतिष्ठा पर इस घटना से असाधारण आंच आई।

सन् १९२३ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। उसी वर्ष आज के प्रयाग नगरपालिका के डिप्टी मेयर श्री बैजनाथजी कपूर इस परीक्षा में सम्मिलित हुए थे। उन दिनों सम्मेलन की परीक्षाओं में बहुत कम लोग सम्मिलित होते थे और विशारद के उपाधि-पत्र का वितरण सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर सभापति के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न होता था। उस वर्ष का अधिवेशन सन् १९२४ मार्च में (सम्भवतः अन्तिम सप्ताह) दिल्ली में हुआ था इसके सभापति थे पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध'। वह आजमगढ़ से प्रयाग आगए थे और यहां से टंडनजी के साथ ही दिल्ली जा रहे थे। मैंने भी इस सम्मेलन में सम्मिलित होने का निश्चय किया। सम्मेलन के सभी यात्री तृतीय श्रेणी के दिल्ली जाने वाली गाड़ी के एक डिब्बे में बैठे थे। उनमें थे हरिऔधजी, टंडनजी, पं० राम-नरेश त्रिपाठी, अध्यापक रामरत्नजी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल तथा पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'। इनमें से मैं किसी से भी परिचित न था, किन्तु मैं भी इसी डिब्बे के एक कोने में जा बैठा। मैंने देखा कि गाड़ी के छूटते ही बाबूजी (टंडनजी) ने एक नक्शा निकाला और अन्य साहित्यिक बन्धुओं को दिखलाना प्रारम्भ किया। यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वर्तमान संग्राहालय का नक्शा था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तब बहुत साधारण स्थिति में था और आज जहां उसका कार्यालय है वहीं पर खपरैल के दो साधारण मकान थे जो सम्मेलन के प्रबन्ध, परीक्षा तथा साहित्य-विभाग के भवन थे।

सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने का यह मेरा पहला अवसर था। इसके प्रतिनिधि दिल्ली स्टेशन से थोड़ी दूर पर स्थित क्लाथ मार्केट में ठहराए गए थे और अधिवेशन का पंडाल चांदनी चौक से आगे ऐसे स्थान में था जहां से लाल किला दिखलाई पड़ता था। इसी अधिवेशन में सर्वप्रथम मुझे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों एवं

उन्नायकों, जिनमें पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि-आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, दर्शन करने का सुअवसर मिला। इन साहित्यिकों एवं पंडितों में कितना स्नेह और सौहार्द था इसे देखकर मैं चकित था। बाबूजी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन से उसके जन्म से ही सम्बन्ध था। सम्मेलन की प्रथम नियमावली आपने ही बनाई थी। सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों में जो भी प्रस्ताव आदि होते थे उन्हें भी ठीक रूप देने का भार बाबूजी के ऊपर ही था। इसी प्रकार सम्मेलन की उन्नति के लिए धनसंग्रह का सम्पूर्ण दायित्व भी बाबूजी के ऊपर ही था। सम्मेलन की आन्तरिक व्यवस्था का सम्पूर्ण रूप से संचालन करते हुए भी बाबूजी की अपने साहित्यिक बन्धुओं से इतनी घनिष्ठता और आत्मीयता थी कि सम्मेलन के संचालन में सबका मतैक्य था। सम्मेलन के सम्वर्द्धन में एक ओर बाबूजी ने इन साहित्यिकों से सहायता ली तो दूसरी ओर हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करने के लिए आपने राष्ट्रपिता गांधीजी एवं परमादरणीय राजेन्द्रबाबू जैसे राष्ट्रकर्मियों से भी सहयोग लिया। राष्ट्र-कर्मियों, हिन्दी-सेवियों तथा हिन्दी-प्रेमियों के बीच सामंजस्य एवं समन्वय स्थापित करने का जो अभूतपूर्व कार्य बाबूजी ने किया है उसका मूल्यांकन हिन्दी के किसी भी इतिहास-लेखक एवं आलोचक ने नहीं किया। यहां एक बात और उल्लेखनीय है। गांधीजी के आगमन से भारत की राजनीति में जो उथल-पुथल हुई उसके परिणामस्वरूप देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने वालों का एक बहुत बड़ा समुदाय उत्पन्न होगया। हिन्दी के अनेक लेखक एवं विद्वान—पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० कृष्णकान्त मालवीय, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० राहुल सांकृत्यायन, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी, जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' आदि गांधीजी के आह्वान पर जेल गए, किन्तु हिन्दी के अनेक विद्वान और लेखक राज-नीति के तूफानी दिनों में भी साहित्यिक साधना में रत रहे। वास्तव में १९२१ से १९४२ तक के दिन इन साहित्यिकों विद्वानों के लिए कम दुःखदायी न थे। एक ओर जनता को दुखी और संतप्त देखकर ये विद्वान राजनीतिक अखाड़े में उतरना चाहते थे तो दूसरी ओर अपनी साधना को खण्डित करके वे हिन्दी की उन्नति में अवरोध उत्पन्न करना नहीं चाहते थे। ऐसी विकट परिस्थिति में भी राजनीति से दूर रहकर राष्ट्रभाषा की उन्नति में इन साहित्यिकों ने जो अभूतपूर्व कार्य किया उसका मूल्यांकन आज सरल नहीं है। यदि वे भी साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर राजनीति के अखाड़े में उतर पड़ते तो काव्य, उपन्यास, आलोचना, तथा अन्य क्षेत्रों में हिन्दी को जो स्थान मिला है वह कदाचित न मिला होता, और विचारों को प्रकट करने की जो शक्ति हिन्दी में आई वह न आई होती। इस दृष्टि से राजनीति से पृथक रहकर भी तथा अपने मन को संतुलित रखकर साहित्य-सेवियों ने हिन्दी को सशक्त बनाया। यदि हिन्दी क्षेत्र में अथवा सम्पूर्ण भारत में इस तथ्य को पूर्ण रूप से अनुभव करने वाला कोई व्यक्ति हुआ तो वह एकमात्र श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन ही हुए। उन्होंने सदैव साहित्यिकों का राजनीतिज्ञों से बढ़कर सम्मान किया। राजनीति तथा देशसेवा में अपने एक-एक क्षण को व्यतीत करते हुए तथा अपने जीवन को तिल-तिल गलाते हुए उन्होंने बहुत पहले ही इस बात को पूर्ण रूप से समझ लिया था कि राष्ट्र को वाणी देनेवाले साहित्यिकों का राजनीतिज्ञों से कम महत्त्व नहीं। इसके लिए बाबूजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन में 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' की स्थापना की, जो प्रत्येक वर्ष किसी न किसी उत्कृष्ट हिन्दी साहित्य-सेवी को उसकी उत्कृष्ट कृति पर दिया जाता रहा। सच तो यह है कि साहित्यिकों और राजनीतिज्ञों के बीच में जो गहरी खाई थी उसके लिए बाबूजी ने सदैव सेतु की तरह कार्य किया और इस प्रकार राजनीति में अग्रगण्य होते हुए भी उन्होंने साहित्यसेवियों की राष्ट्र-सेवा को सर्वोच्च स्थान दिया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन में बड़ौदा के महाराज भी आए थे। देशी राज्यों के अधि-पतियों में बड़ौदा के महाराज एक प्रकार से अग्रगामी थे। उन्होंने अपने राज्य में प्रजा को ऐसे अधिकार दिए थे जो अन्य राज्यों की प्रजा को प्राप्त न थे। इसके अतिरिक्त अपने राज्य के कर्मचारियों के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य कर दिया था। सम्मेलन के अधिवेशन में बाबूजी तथा अन्य साहित्यिकों ने महाराज का स्वागत-सत्कार किया। इसी अधिवेशन में महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा को उनकी कृति 'प्राचीन लिपिमाला' पर मंगला-

प्रसाद पारितोषिक दिया गया। सम्मेलन के सभापति पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का भाषण भी बहुत सुन्दर था और कवि-सम्मेलन भी अत्यधिक सफलता से सम्पन्न हुआ था। इसमें पं० नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद सनेही, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तथा पं० पद्मसिंह शर्मा एवं पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि उपस्थित थे।

सम्मेलन का अधिवेशन नियमानुकूल तीसरे दिन समाप्त होगया। बाबूजी कतिपय साहित्यिकों के साथ धन-संग्रह के लिए दिल्ली में रुक गए और मैं प्रयाग लौट आया।

सन् १९२४ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली-अधिवेशन के पश्चात मैं टंडनजी का प्रयाग में दर्शन न कर सका। कदाचित लाला लाजपतरायजी के आमन्त्रण पर वह लाहौर चले गए थे। उस समय मेरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अत्यल्प ही सम्बन्ध था। तब सम्मेलन इतना आकर्षक भी न बन पाया था। उसका न तो कोई वाचनालय था और न पुस्तकालय। श्रद्धेय टंडनजी को हिन्दी के लेखक तथा प्रकाशक जो पुस्तकें भेजते थे उन्हें वह कदाचित सम्मेलन में भेज देते थे। इसी प्रकार की कुछ पुस्तकें सम्मेलन के खपरैलवाले भवन में एक आलमारी में बन्द थीं। आपके अर्थ-विभाग के अध्यक्ष पं० जयनारायण पाण्डेय उस समय भी सम्मेलन में काम करते थे। उन्हीं के पास इस आलमारी की कुंजी थी। मैं उन दिनों बहादुरगंज में रहता और कभी-कभी सम्मेलन-भवन में जाकर पं० जयनारायण पाण्डेय से पुस्तकें लेकर पढ़ता था। बाबूजी उस समय सम्मेलन में आते थे अथवा नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं। यदि वह मुझसे वहां मिलते भी तो उनसे बातचीत करने का मुझे साहस न होता। वे उस समय ही प्रयाग के सर्वश्रेष्ठ जन-नायक, हिन्दी भाषा और साहित्य के अद्वितीय प्रेरणादायक व्यक्तित्व के रूप में प्रख्यात हो चुके थे और कहां मैं इन्टरका एक अकिंचन विद्यार्थी था।

सन् १९२५ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में मैं सम्मिलित न हो सका। सन् १९२६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वृन्दावन-अधिवेशन में सम्मिलित हुआ, किन्तु इस वर्ष इस सम्मेलन में बाबूजी भाग न ले सके थे। इस समय मैं बहादुरगंज छोड़कर दारागंज में रहने लगा था। दारागंज में इस समय अनेक साहित्यिक आवर्स थे जिनमें पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, पं०गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', पं० दयाशंकर दुबे, पं० सिद्धनाथ दीक्षित, पं० विद्याभास्कर शुक्ल, ठाकुर श्रीनाथसिंह, पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री शम्भुदयाल सक्सेना, पं० गणेश पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उसी समय इन साहित्यिकों के सहयोग से हिन्दी-अधिवेशन में साहित्य-गोष्ठी की स्थापना हुई थी जिसके वार्षिक समय-समय पर पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा, श्री प्रेमचन्द तथा पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के सभापतित्व में होते रहते थे। गोष्ठी के कतिपय सदस्य उस समय सम्मेलन के मन्त्रि-मण्डल से नाराज थे। उसमें सुधार करने के लिए उन्होंने सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के लिए पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी के नाम का प्रस्ताव किया। सम्मेलन का अधिवेशन मुजफ्फरपुर में होने वाला था। सम्मेलन के विधान के अनुसार उस समय सभापति के चुनाव का अधिकार स्वागत समिति के सदस्यों के हाथ में था। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी सभापति तो न हो सके, किन्तु उस समय सम्मेलन के अधिकारियों के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न होगया। बाबूजी कदाचित उस समय लाहौर में थे। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से उस समय उनका सम्मेलन से सम्बन्ध न था, किन्तु वह इस बात को जानते थे कि उनके विरुद्ध प्रचार करने में अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से कार्य किया गया है, जिससे हिन्दी की सर्वोच्च संस्था सम्मेलन की प्रतिष्ठा को भी क्षति पहुंची है। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के सभापति पं० पद्मसिंह शर्मा थे। सम्मेलन का यह अधिवेशन सन् १९२१ में बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ था। जब स्थायी समिति के लिए सदस्यों तथा मन्त्रिमण्डल के चुनाव का प्रश्न आया तो सम्मेलन का वातावरण बड़ा विक्षुब्ध हो उठा। सम्मेलन में इसके पूर्व ऐसा रगड़ा-झगड़ा कदाचित कभी नहीं हुआ था। उस समय मैं किसी दल-विशेष से सम्बन्धित न होते हुए भी पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी के साथ था।

मैंने उस समय भी वाजपेयी से प्रार्थना की थी कि किसी भी संस्था के सदस्यों की आपसी लड़ाई से व्यक्तियों की उतनी हानि नहीं होती जितनी संस्था की होती है, किन्तु वाजपेयीजी उस समय युद्ध-पथ पर बहुत आगे बढ़ चुके थे और मेरे जैसे विश्वविद्यालय के छात्र का उन्हें समझाना कठिन काम था। मैंने उस समय बाबूजी

की ओर देखा तो उन्हें चिन्तित और गम्भीर मुद्रा में पाया। बात यह थी कि हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन चलाने के लिए बाबूजी को प्रयाग के सभी साहित्यिकों का सहयोग आवश्यक था। दोनों दलों के लोग बाबूजी के सहयोगी तथा निःस्वार्थ भाव से हिन्दी के कार्यकर्ता थे। अतएव बाबूजी किसी दल-विशेष का पक्षपात कर ही कैसे सकते थे? एक बात और थी, तत्कालीन मंत्रिमंडल के विरोधी दल के लोग तो वहां बहुसंख्या में मौजूद थे, किन्तु मंत्रि-मण्डल के लोगों में से कोई भी वहां नहीं गया था। उनकी अनुपस्थिति में उन्हें भला-बुरा कहा जाय, यह बाबूजी को पसन्द न था। उनका यह कहना था कि उस मंत्रि-मण्डल के लोग सम्मेलन की उन्नति के लिए रुपए न ला सके, किन्तु इससे उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जिस ईमानदारी एवं निष्ठा के साथ कार्य किया था, उसकी हमें सराहना करनी चाहिए। हमें ठीक स्मरण नहीं कि बाबूजी ने स्वयं अथवा किन्हीं अन्य सज्जन ने उस मंत्रिमंडल के कार्य की सराहना में प्रस्ताव रक्खा था। उस समय के वातावरण को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता था कि वह प्रस्ताव स्वीकृत न होगा, किन्तु जहां तक मुझे स्मरण है बाबूजी के भाषण के बाद उस प्रस्ताव को सम्मेलन ने स्वीकार कर लिया। सम्मेलन का पूरा मंत्रि-मण्डल बदल गया। यद्यपि बाबूजी को यह अच्छा न लगा, किन्तु लोकतन्त्र की रक्षा के लिए उन्हें सम्मेलन में उपस्थित प्रतिनिधियों के मत का सम्मान करना ही पड़ा। मैं इसी अधिवेशन में सर्वप्रथम स्थायी समिति का सदस्य चुना गया।

जब स्थायी समिति की प्रथम बैठक प्रयाग में हुई तो जहां तक मुझे स्मरण है, बाबूजी उसमें मौजूद थे। स्थायी समिति के प्रथम अधिवेशन में ही एक वर्ष के लिए विविध समितियों का संगठन होता था। वास्तव में इन समितियों को ही वर्ष भर सम्मेलन का कार्य चलाना होता था। इसलिए इसमें सावधानी से लोगों को चुनना पड़ता था। तब सम्मेलन के पास न इतनी सम्पत्ति थी और न यह भवन था। जो कार्यकर्ता ठहरते थे या दारागंज से सम्मेलन में जाते थे उन्हें अपने पास से ही इक्के के लिए पैसा खर्च करना पड़ता था, अतएव सभी व्यक्ति अधिकार लेने के लिए तैयार भी नहीं होते थे। चुनाव के पहले बाबूजी ने एक-एक व्यक्ति को प्रेम से उसके कार्य को समझाया। कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो समितियों में चुन तो लिए गए, किन्तु वे उस समय न तो मौजूद थे और न उनकी स्वीकृति ही उस पद के लिए प्राप्त थी। बाबूजी का यह नियम था कि वे ऐसे व्यक्तियों के घर जाकर उन्हें उत्साहित करके उनसे स्वीकृति प्राप्त करते थे। इस प्रकार मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के अवसर पर प्रयाग के साहित्यिकों में जो पारस्परिक तनाव हो गया था वह धीमे-धीमे शान्त होने लगा। मुजफ्फरपुर-अधिवेशन के पूर्व जब टंडनजी लाहौर में थे, उस समय एक दुःखद घटना होगई थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा राष्ट्रपिता गांधीजी के सहयोग से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना हुई थी। टंडनजी का उसकी स्थापना में विशेष हाथ था। कई वर्षों तक दक्षिण के अनेक कार्यकर्ताओं ने प्रयाग आकर हिन्दी सीखी और यहां से जाकर उन्होंने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी का प्रचार किया। कई वर्षों तक, किन्तु धीरे-धीरे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के ये कार्यकर्ता सम्मेलन से पृथक होने का प्रयत्न करने लगे। सम्मेलन के तत्कालीन अधिकारियों को यह बात उचित नहीं जंची। उन्होंने वहां के कार्यकर्ताओं को कड़े पत्र लिखे, जिसका परिणाम यह हुआ कि मामला और भी बिगड़ गया। वे लोग गांधीजी के यहां पहुंचे और उनके द्वारा दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा को सम्मेलन से पृथक करने की उन्होंने मांग की। बड़ी विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होगई। अन्त में महामना पं० मदनमोहन मालवीय इस मामले में पड़े और टंडनजी भी लाहौर से आए। जहां तक मैं समझ पाया हूं, टंडनजी दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा को पृथक करने के पक्ष में न थे। वह सहयोग और प्रेम से ही हिन्दी के काम को आगे बढ़ाना चाहते थे; किन्तु मामला इतना बिगड़ चुका था कि टंडनजी के न चाहते हुए भी दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा को सम्मेलन के अधीन रखना कठिन था। जो हो, मालवीयजी के बीच-बिचाव से दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा सम्मेलन से स्वतन्त्र हो गई।

दूसरी घटना हिन्दी विद्यापीठ की थी। जमुना के उस पार महेवा गांव में लगभग ७० एकड़ भूमि श्रद्धेय बाबूजी ने हिन्दी विद्यापीठ के लिए ली थी। उसकी रजिस्ट्री उन्होंने सम्मेलन के नाम से ही कराई थी और विद्यापीठ सम्मेलन का ही एक अंग था। बाबूजी की योजना थी कि इसमें स्वावलम्बी ढंग से अध्ययन का केन्द्र स्थापित किया जाय।

किन्तु उनके लाहौर चले जाने से विद्यापीठ सम्मेलन के लिए भार-स्वरूप हो गया । उसके संचालन में व्यय अधिक था और लाभ कम, किन्तु सम्मेलन उसे छोड़ भी कैसे सकता था। परिणाम यह हुआ कि विद्यापीठ के कारण सम्मेलन आर्थिक झमेले में फंसता गया और वह कर्जदार हो गया। बाबूजी मुजफ्फरपुर-सम्मेलन के अधिवेशन के बाद जब प्रयाग आए तो उन्हें स्थिति को समझने में देर न लगी। सम्मेलन की सभी बातों को वह जानते थे और विद्यापीठ के लिए उन्होंने ही भूमि प्राप्त की थी। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि विद्यापीठ को सम्मेलन से पृथक कर उसके लिए एक 'न्यास समिति' (ट्रस्ट) का संगठन किया जाय। यह कार्य उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९२९-३० के गोरखपुर के अधिवेशन में सम्पन्न किया। इस अधिवेशन के सभापति श्री गणेशशंकर विद्यार्थी थे। साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी तथा अन्य मित्रों के साथ मुझे भी गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने का अवसर मिला था। जैसे सम्मेलन के मुजफ्फरपुर-अधिवेशन पर मैंने बाबूजी को निरन्तर कार्य करते हुए देखा था, उसी प्रकार से मैंने उन्हें गोरखपुर-अधिवेशन के समय भी कार्य करते हुए पाया। छोटे से छोटे प्रस्ताव से लेकर सम्मेलन के चुनाव तक के सभी कार्यो को सुचारु रूप से सम्पन्न करने में उन्हें कितनी शक्ति लगानी पड़ती थी, इसका मैंने सर्व-प्रथम गोरखपुर-सम्मेलन में ही अनुभव किया। मुझे स्मरण है कि विद्यापीठ को सम्मेलन से पृथक करने के लिए जब बाबूजी प्रस्ताव लाए तो कुछ लोगों को यह अच्छा न लगा। गोरखपुर के पं० गौरीशंकर मिश्र ने उनके प्रस्ताव का तीव्र विरोध किया। बाबूजी पहले बोल चुके थे, जब श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने बाबूजी से पुनः बोलने के लिए कहा तो उन्होंने इन्कार कर दिया। बाबूजी ने कहा, "मुझे जो कुछ कहना था प्रस्ताव में कह चुका हूं। अब विरोध में हुए भाषण के प्रत्युत्तर में दूसरा भाषण देना पसन्द न करूंगा। यदि अधिकांश लोग विद्यापीठ को सम्मेलन के साथ ही रखना चाहते है तो मुझे उनका निर्णय शिरोधार्य है। मैंने तो सम्मेलन के नाम ही विद्यापीठ की रजिस्ट्री कराई थी और उस समय इस 'न्यास समिति' की बात मेरे मन मे न थी। बाबूजी के इस व्यवहार का प्रतिनिधियों पर मंत्रवत प्रभाव पड़ा। मैं भी प्रतिनिधि था और पं० गौरीशंकर मिश्र की भाषण-शैली तथा तर्कों का मेरे ऊपर भी ऐसा प्रभाव पड़ा था कि मैं भी उनकी बातों को ही उचित समझ रहा था। तब तक मै टंडनजी के निकट-सम्पर्क में भी नही आया था, किन्तु मुझे स्मरण है कि टंडनजी के सीधे-सादे शब्दों का मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मैं तुरन्त पं० गौरीशंकर मिश्र के तर्कों को भूल गया। मेरे ही जैसे अन्य लोगों पर भी निश्चित रूप से ऐसा ही प्रभाव पड़ा होगा। जो हो, जब प्रस्ताव पर मत लिया गया तो बहुत थोड़े आदमियों के अतिरिक्त अधिकांश लोगों ने उसके समर्थन में ही हाथ उठाया और इस प्रकार विद्यापीठ सम्मेलन से पृथक हो गया। मुझे यह ज्ञात नहीं है कि बाबूजी सन् १९३० तक लाहौर से प्रयाग आगए थे अथवा नही, किन्तु इतना स्मरण अवश्य है कि वे सम्मेलन की स्थायी समिति की प्रायः प्रत्येक बैठक में सम्मिलित होने लगे थे। मैं उस समय सम्मेलन की स्थायी समिति का सदस्य था और उसके कार्यो में दिलचस्पी लेने लगा था। मैंने इस बात का अनुभव किया कि स्थायी समिति की बैठक में बाबूजी की उपस्थिति से बहुत गम्भीरता आ जाती है। मैंने एक और बात का अनुभव किया, वह यह थी कि बाबूजी किसी बात अथवा प्रस्ताव का निर्णय बहुमत से न चाहकर सर्व-सम्मति से चाहते थे। वे किसी समय कुछ दिनों के लिए आदरणीय लाला लाजपतराय के अनुरोध से पंजाब नेशनल बैंक के सर्वोच्च अधिकारी बन गए थे। वे प्रायः उसका उदाहरण देते हुए कहा करते थे "कि किसी को बैंक से रुपये उधार देते समय यदि समिति के एक सदस्य ने भी विरोध कर दिया तो उसे प्रायः बैंक से रुपया नही दिया जाता था। उसके लिए सब की सहमति आवश्यक थी। इसी प्रकार मैं सम्मेलन के प्रत्येक प्रस्ताव पर सबकी सहमति चाहता हूं।" बाबूजी के इस आग्रह का परिणाम यह होता था कि कभी-कभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन की समितियों की बैठकें बहुत देर तक चलती थीं और लोग उनसे ऊब जाते थे, किन्तु बाबूजी आदि से अन्त तक बिना ऊबे हुए एक रुचि से काम करते जाते थे।

श्रद्धा-स्तव

श्री उदयशंकर भट्ट

राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के कई रूप हैं। एक राजनीतिज्ञ का, दूसरा हिन्दी के प्रबल समर्थक एवं नेता का और तीसरा रूप उनके प्रखर व्यक्तित्व का। राजनीतिज्ञ के रूप में वह देश की स्वतंत्रता के प्रमुख सेनानी, अग्रगंता रहे हैं। वह उन लोगों में हैं जिन्होंने रोम-रोम से तपःपूत मंत्रों से स्वतंत्रता का जप किया है, उसके देश में आवाहन का मार्ग प्रशस्त किया है, अपने सर्वांग जीवन की साधना से उसका शृंगार किया है। आबाल-वृद्ध-वनिता-समूह को संजीवनी बूटी पिलाकर उसे कंटक-संवलित मार्ग में चलने के लिए वज्रात्मा बनाया है। इस रूप में टंडनजी किसी भी राजनीतिक नेता से पीछे नहीं रहे हैं। महामना मालवीयजी से जिन्होंने बलिदान का पाठ पढ़ा और लोकमान्य तिलक एवं गांधी के निर्देश को एकमात्र लक्ष्य मानकर अपने को विसृष्ट कर दिया। इस रूप में वे अपने कर्म-पराक्रम में अद्वितीय अविजित रहे। कष्ट जिनके लिए सुख, और बलिदान जिनके लिए आत्मशान्ति रहे हैं।

दूसरा रूप टंडनजी का है हिन्दी के प्रबल समर्थक का, संचालक का, और एकमात्र साधना-सिद्धि का। टंडनजी और हिन्दी दो शब्द नहीं हैं। हिन्दी का अर्थ है टंडनजी और टंडनजी का अर्थ है हिन्दी। हिन्दी के लिए टंडनजी ने जो कुछ किया है वह किसी से छिपा नहीं है। वह सूर्यप्रकाश की तरह सर्वविदित है। उनके पास बैठने, बातचीत करने से ज्ञात होता है जैसे टंडनजी हिन्दी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वैसे ऐसे काफी नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने हिन्दी के हित के लिए बहुत-कुछ किया है। उनका ही प्रसाद है कि आज हिन्दी अपने स्थान पर विराजमान हो सकी है, साहित्य बन सकी है और अपने को भाषा के रूप में श्रेष्ठतम प्रमाणित कर सकी है; किन्तु इस तपस्वी ने हिन्दी के वट-वृक्ष को कन्याकुमारी से काश्मीर तक, अटक से कटक तक रोपकर जिस लगन, तत्परता, योग्यता और सेवा से उसे पल्लवित किया है वह राम-रावण-युद्ध के समान आज भी अनुपम है, अद्वितीय है, अनुपमेय है। जिन्होंने टंडनजी की व्यग्रता को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बैठकों-अधिवेशनों में देखा है वे जान सकते हैं कि वह कृश बालक को पालने में तत्पर मा की तरह किस तरह अन्तर्लीन रहे हैं। समाधि की दशा उनकी मैंने देखी है। मार्ग के कष्ट, यात्रा की दूरी, अन्य कार्यों की व्यग्रता, व्यस्तता, शारीरिक श्रम कोई भी उन्हें अपने गन्तव्य पथ, लक्ष्य-चिह्न से पीछे नहीं हटा सका है। अधिवेशन हो रहा है तो वह पहले आकर सब देखभाल करेंगे। सब कार्यकर्त्ताओं की कुशल-क्षेम पूछेंगे। कार्यकारिणी की बैठक में आप उन्हें सबसे पहले बैठा पाएंगे। नियम-विधान बनाने में रात-रात भर सोचकर सब सामग्री तैयार करेंगे। वर्तमान में कहां क्या हो रहा है इसका लेखा-जोखा जानने में वह सबसे आगे होंगे। भविष्य में कहां क्या करना है, यह भी उन्हें मालूम है, उनके कार्यक्रम में है। भरी सभाओं में, राजनीति के क्षेत्रों में, धार्मिक संस्थाओं में, सामाजिक सम्मेलनों में हिन्दी के पक्ष में प्रखर भाषण देते हुए उन्हें लोगों ने देखा है। अंग्रेजी-फारसी के विद्वान होते हुए भी व्याख्यानों में, बोलचाल में शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करने के लिए उन्होंने हजारों-लाखों लोगों को प्रेरित किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं, आवश्यक और नवीन ग्रन्थों का प्रणयन, पुरस्कार, सम्मान सब उनकी दूरदर्शिता के मानस पुत्र हैं। हिन्दी का प्रचार और प्रसार उनके एक तरह से श्वासोच्छ्वास हैं। उन्होंने अपने रक्त से हिन्दी के बिरवे को सींचा है, चिन्तन से पल्लवित किया है और कार्य से पुष्पित। ऐसे हैं टंडनजी !

मुझे लोक सेवक मंडल, लाहौर में शायद उनके दर्शनों का प्रथम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मैं नेशनल कालेज, लाहौर में हिन्दी पढ़ाता था। टंडनजी परिस्थितिवश, जैसा कि उस समय स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने एक समय बताया था, पंजाब नेशनल बैंक के सेक्रेटरी होकर गए थे। खद्दर की अचकन, टोपी, चुस्त पजामा और औ र अचर्म जूता यही उनका उस समय परिधान था। किन्तु शरीर के नाते पतली-दुबली देह, पारदर्शी आंखें, सिर के विरल बाल, चौड़ा ललाट, मौलिक चिन्तन की रेखाओं से युक्त। तीक्ष्ण मर्मस्पर्शी आवाज! यही रूप उस समय में देख पाया था बाहरी तौर पर। इसके बाद जो प्रकाश मैंने पाया वह आज तक नहीं भूल सका हूं। वह था उनका सत्य के प्रति आग्रह, सादा जीवन, चरित्र की दृढ़ता, निर्भीकता, असत्य पाने पर बड़े से बड़े को भी फटकार देने की अद्भुत शक्ति। जैसे एक ज्योति के सामने पतंगे आकर इकट्ठे हो गए हों, ऐसे लगते थे और सब उस समय। प्रखर वक्ता लाला लाजपतराय को भी एक बार उनके तर्क के सामने सोचते पाया।

बहुत दिनों बाद

शायद उन दिनों वह लालाजी की मृत्यु के बाद लोक सेवक मंडल के प्रधान थे। एक दिन सवेरे किसी काम से मंडल में गया तो किसी ने बताया टंडनजी सवेरे की गाड़ी से आए हैं। सोचा, दर्शन कर लूं। खड़ा होगया कमरे के आगे। इसी समय कंधे पर धुले कपड़ों की पोटली रखे वह आए। मैंने प्रणाम किया। पूछा, यह क्या? बोले, "कपड़े मैले होगए थे, धोकर लाया हूं। सुखाने लगे तो मैंने सब कपड़े लेकर अरगनी पर सुखा दिए, किन्तु मैं स्तब्ध था। इतना बड़ा व्यक्ति अपने हाथ से कपड़े धो रहा है! मस्तिष्क में चौंधियाहट हुई जैसे कपार फोड़ कर एक ज्ञानांश का उदय हुआ। तब से नियम बनाया कि अपने कपड़े अपने-आप धोऊंगा। आज तक वही क्रम बना है। किन्तु टंडनजी क्या इतने ही हैं? उनकी अपनों के प्रति स्नेह की झांकी भी मुझे मिली है। मैं टंडनजी के साथ पूना से वर्धा आ रहा था। वे दूसरे दरजे में और मैं एक साथी के साथ तीसरे दरजे में। बम्बई से खा-पीकर चले थे, अचानक शाम के झुटपुटे में खिड़की से झांककर देखा तो टंडनजी हमें पुकारते दौड़ लगा रहे हैं। घबराकर उतरा, पूछा, क्या बात है? तो कंधे पर हाथ रख कर बोले, "तुम दोनों को ढूंढ़ रहा था, चलो थोड़ा खा लो। भूख लगी होगी।" उनका प्रबल आग्रह देखकर स्नेह की भूख जागृत होगई। ले जाकर कुछ फल अपने हाथ से साफ करके दिए। हम दोनों ने खाए। फिर तीन दिन तक साथ रहा। गांधीजी के दर्शन उनके साथ ही किए। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रस्ताव पर उन्हें गांधीजी से बातचीत करनी थी। काका कालेलकर हिन्दुस्तानी का प्रस्ताव सम्मेलन में रखना चाहते थे। पूना में उन्हें बहुमत के सामने हिन्दी के पक्ष में झुकना पड़ा था। वह एक दिन पहले आकर गांधीजी को समझा गए थे। टंडनजी मिले तो गांधीजी ने टंडनजी का अभिमत जानना चाहा। साथ ही वह हिन्दुस्तानी को भी सम्मेलन में स्वीकार कराना चाहते थे। उस समय की टंडनजी की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, तर्क एवं सत्य के प्रति आग्रहपूर्ण वास्तविकता ने गांधीजी को भी कुछ समय के लिए सोचने को बाध्य कर दिया। गांधीजी ने टंडनजी को दूसरे दिन बुलाया। काफी बातचीत हुई। किन्तु टंडनजी हिमालय की तरह अडिग थे। टंडनजी का वह रूप मैं भुला नहीं हूं। शायद भूल भी नहीं सकूंगा। लगता था जैसे उन्होंने गांधीजी के सामने अकाट्य तर्कों का पहाड़ खड़ा कर दिया है। महात्माजी ने मुसकराते हुए टंडनजी को विदा दी। टंडनजी ने पैर छूकर उन्हें प्रणाम किया और विजयी की भांति बाहर चले आए। आज तक हिन्दी के मामले में वह उसी पक्ष पर हैं। जबकि सारा देश, कुछ को छोड़कर, आज उनके साथ है। यही सत्य है जिसने टंडनजी को राजर्षि बनाया है। ऋषि द्रष्टा होता है न!

गहराई से उनके व्यक्तित्व की खोज करने पर लगता है वह सही मानों में राजनीतिज्ञ नहीं हैं; क्योंकि उनका पाया हुआ सत्य परिवर्तनशील नहीं है। राजनीति में ऐसे सत्य का कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता जो समय के अनुसार बदलता न रहे। यही कारण है कांग्रेस का इन्द्रासन उन्हें सन्तोष न दे सका। और वह तामसी प्रजा को अपनी ओर न मोड़ सके। स्वार्थ के जीवन्त पुरजों में वह सत्य का, सांस्कृतिक विश्वासों का तेल डालकर उसी तरह न चला सके जैसा कि उनके साथी चाह रहे थे। किन्तु यह इस युग के भीष्म का दोष नहीं है कि वह द्रौपदी का चीर-हरण

न रोक सका। आघात-प्रतिघातों से समन्वित वातावरण में वास्तविक स्वतंत्रता की मूर्ति की स्थापना न कर सका। गांधीजी का राम-राज्य कहां है, किधर मिलेगा, यह जानना कठिन है; किन्तु इतना निश्चित है कि वह अभी काफी दूर है। कभी आएगा भी इस देश में, यह कह सकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

टंडनजी ने राजनीतिक, सामाजिक, भाषा-सम्बन्धी सभी दिशाओं में जो प्रकाशस्तम्भ गाढ़े हैं, वे निश्चय ही चिरकाल तक युग के पोतों का मार्ग-प्रदर्शन करते रहेंगे, ऐसा मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं यदि काफी लम्बी बीमारी की तरह इस देश को मानव-दासता से कुछ भी मुक्ति मिली तो!

उनका सींचा हुआ पौधा आज वृक्ष बनकर लहलहा रहा है और मानस स्वप्न साकार होकर देश-देशान्तरों में जागृत हो गया है। यह कितनी बड़ी सफलता है जीवन की। निश्चय ही बाबूजी को इससे सन्तोष होगा। शरीर-शैथिल्य के कारण शायद वह और आगे काम न कर सकें किन्तु उनका आशीर्वाद युग-युगान्तर तक हमें प्रेरणा देता रहेगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूं। प्रणम्य हैं, अभिनन्दनीय हैं बाबूजी!

जयन्ति ते सुकृतिनः सिद्धोद्देश्या मनीषिणः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥



बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन : एक संस्मरण

डा० हरिवंशराय बच्चन

भारत के पुनर्जागरण की वेला में अनेकानेक आन्दोलन उठे, परन्तु उनमें दो प्रमुख थे—एक राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का आन्दोलन, और दूसरा राष्ट्र को एक भाषा से सुसंगठित करने का आन्दोलन। वस्तुतः कालक्रम में यह दूसरा आन्दोलन पहले उठा, जैसा कि स्वाभाविक भी था, और मैं कहना चाहूंगा कि यह पहले से अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण भी था। स्वतन्त्रता का आन्दोलन समाप्त हो गया, पर राष्ट्रभाषा का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि यह समस्त देश एक भाषा के सुवर्ण-सूत्र में आबद्ध नहीं हो जाता। इस देश की विविधता सदियों से इतिहास के घटनाचक्रों में पड़ी हुई एकसूत्रता और अखंडता के लिए चीत्कार कर रही है। बाहरी रज्जुपाशों और शृंखलाओं से जकड़ कर यह एकता नहीं लाई जा सकती, उसे तो किसी आंतरिक सूत्र से ही लाना होगा—और वह सूत्र एक भाषा का है—हिन्द के लिए हिन्दी का है। जब तक यह देश अपनी सांगिक और स्वाभाविक एकता नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इसकी स्वतन्त्रता अधूरी है, इसकी स्वतन्त्र सत्ता अस्पष्ट। इसलिए आज वर्षों से श्रद्धेय टंडनजी परम आस्था और दृढ़ता के स्वरों में यह उद्घोषणा करते आ रहे हैं कि "राष्ट्रीयता ही हिन्दी और हिन्दी ही राष्ट्रीयता है।" इस ऋचा के उदार और उदात्त अर्थ को न समझना अपनी बुद्धि की परिक्षीणता, हृदय की संकीर्णता और दृष्टि की संकुचितता का ही सबूत देना है। आज जब उनके इस सब दिशाओं में प्रतिध्वनित स्वर के विरुद्ध कुछ लोगों ने कानों में उंगली दे ली है और कुछ ने प्रतिगामी स्वरों में बोलना आरम्भ कर दिया है तब हमारा उन्हें स्मरण करना, उनका सम्मान करना, उनका अभिनन्दन करना, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना, हमारा एक बार फिर उनके संदेश की महत्ता को स्वीकार करना और उसके अनुरूप कुछ प्रभावकारी करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ और कटिबद्ध होना है। केवल इसी रूप में यह अभिनन्दन-ग्रंथ किसी अंश में उनके संतोष का विषय बन सकता है; अन्यथा वह निन्दा-स्तुति, मान-अपमान के बहुत ऊपर उठ चुके हैं।

मेरे विद्यार्थी-जीवन में ही वह नगर के एक प्रतिष्ठित वकील के रूप में विख्यात हो चुके थे और हमारे सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी को पुनःस्थापित करने का कार्य उन्होंने आरम्भ कर दिया था। हिन्दी-प्रेमियों को हिन्दी-पुस्तकें सहज-सुलभ हों, इसके लिए अपने एक धनी मित्र को प्रेरित कर उन्होंने 'साहित्य-भवन' की स्थापना कराई थी जो शाहगंज में चौक में, उनकी बैठक के सामने, वर्षों तक हिन्दी-पुस्तकों की एकमात्र दुकान थी। आक्सफर्ड की सर्व-प्रसिद्ध पुस्तकों की दूकान पर यह लिख कर टंगा है कि आप कोई भी पुस्तक कितनी भी देर तक दूकान में बैठकर पढ़ सकते हैं। साहित्य-भवन में यह लिखकर टंगा तो नहीं था, पर परम्परा यही थी। पुस्तक खरीदने के लिए पैसों के अभाव में मैंने न जाने कितनी किताबें वहां बैठ कर पढ़ी थीं और मेरी तरह के बहुत लोग वहां आया करते थे। टंडनजी को शायद पहली बार वहीं देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लोगों को किताबें देखते-पढ़ते देख उनकी आंखों में जो प्रसन्नता झलक उठती थी उसकी आभा से आज तक मेरी स्मृति का कोई कोना कभी-कभी जगमगा उठता है।

टंडनजी को पहली बार सुनने की स्मृति भी विद्यार्थी-जीवन की है। स्कूल के किसी जलसे में उन्हें बुलाया गया था। उन्हें और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को एक ही मंच से सुनने की कुछ धुंधली-सी याद मुझे अब भी बनी हुई

हैं। दोनों ही हिन्दी की महत्ता पर बोले थ। एक गृहस्थ, दूसरा संन्यासी, पर हिन्दी के विषय पर दोनों एकमत। तब से कई बार उन्हें सुनने का अवसर मिला, पर प्रसंग कोई हो—हिन्दी के प्रचार, हिन्दी की महत्ता की चर्चा उनके व्याख्यान में कहीं-न-कहीं से घूम-फिरकर आ ही जाती थी।

हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य का पठन-पाठन विधिवत हो सके, उसके लिए उन्होंने प्रयाग में 'हिन्दी-विद्यापीठ' की स्थापना की थी। हमें यह न भूलना चाहिए कि यह वह समय था जब हिन्दी को विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने की बात तो दूर, उसे झरोखों से झांकने की भी आज्ञा न थी। वह इंटरमीडिएट में भी नहीं पढ़ाई जाती थी; उसका साहित्य केवल हाईस्कूल तक पढ़ाने योग्य समझा जाता था।

ठीक सन तो मुझे याद नहीं, पर विद्यापीठ का उद्घाटनोत्सव मीरगंज के विद्यामंदिर हाई स्कूल के अहाते में सम्पन्न हुआ था। अब यह स्कूल सड़क में आ चुका है। उद्घाटन करने के लिए काशी से बाबू भगवानदास को बुलाया गया था। आज यह सोचकर मैं बड़े गौरव का अनुभव करता हूं कि मैं उस उत्सव में मौजूद था। हम अपनी संस्कृति से कितने अपरिचित होगए थे कि 'पीठ' जैसे ऐतिहासिक शब्द का अर्थ केवल वह 'पीठ' समझते थे जिसके बीच में रीढ़ होती है। उस दिन टंडनजी ने और भगवानदासजी ने क्या-क्या कहा, इसकी तो मुझे याद नहीं, पर उस 'पीठ' शब्द की उनको विशद व्याख्या करनी पड़ी थी और इस प्रसंग में कभी समुपस्थित जनता हँसी भी थी। टंडनजी ने हिन्दी पर जैसे भाव-विभोर होकर व्याख्यान दिया था, वैसे भाव-विभोर मैंने केवल कुछ सन्तों को भगवान का गुणगान करते समय देखा है। जहां तक मुझे मालूम है, टंडनजी ने कभी कविता तो नहीं की, परन्तु उस दिन उनका भाषण काव्य-चित्र ही था। कभी-कभी मैं सोचता हूं कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए टंडनजी ने सक्रिय रूप से जितना किया उतना शायद ही किसी दूसरे ने किया हो, पर उनमें प्रतिभा थी कि हमें कुछ सृजनात्मक और स्थायी सम्पत्ति भी दे जाते। पर टंडनजी के संघर्षमय जीवन ने शायद वह शांति और सुविधा कभी नहीं दी जो सृजन के लिए आवश्यक होती है। ऐसी प्रतिभाओं को देखकर इस कथन की सत्यता का बोध होता है कि 'जीवन साहित्य से बड़ा है।' टंडनजी ने कविता न लिखी हो, पर उनका जीवन स्वयं एक काव्य रहा है; टंडनजी ने निबन्ध न लिखा हो, पर उनका जीवन स्वयं निबन्ध-संग्रह रहा है।

उनके हिन्दी-प्रेम का उत्कट उदाहरण मुझे उनकी कन्या दुलारी के विवाह के समय देखने को मिला। हमारे संस्कारों में संस्कृत अब भी प्रतिष्ठित है। हमारे समाज में फारसी आई, उर्दू आई, अंग्रेजी आई; पर जीवन के एक क्षेत्र में हमारे पुरोहितगण संस्कृत की सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रहे। टंडनजी के मन में हिन्दी का जो स्वप्न है वह सर्वव्यापक है, वह भारतीय जीवन के किसी भी क्षेत्र को हिन्दी की परिधि मे बाहर नहीं समझ सकते—चाहे वह शिक्षा का हो, चाहे न्याय का, चाहे राजनीति का, चाहे धर्म का और चाहे कर्मकाण्ड का। उन्होंने यह निर्णय दिया कि विवाह में जो भी मंत्रादि पढ़े जाते हैं उनका हिन्दी में अनुवाद कर दिया जाए और संस्कार के समय वे हिन्दी में ही पढ़े जाएं। हफ्तों पंडितों को अपने घर पर बिठाकर उन्होंने सब संस्कृत-मन्त्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया, स्वयं भी सहायता देते रहे और विवाह-मंडप में केवल हिन्दी ही सुनी गई। उनका विश्वास है कि जीवन के छोटे-से-छोटे क्षेत्र से लेकर बड़े-से-बड़े क्षेत्र में, जहां वाणी की आवश्यकता पड़ती है, हिन्दी अपना दायित्व निभाने में समर्थ है, या समर्थ बनाई जा सकती है। टंडनजी अमूर्त सिद्धान्त बनाने और उसकी घोषणा करने में विश्वास नहीं रखते। जो कुछ करने योग्य है, जिसे किया जाना चाहिए, वे उसे करके दिखलाते हैं। वह सम्यक् रूप में न हो सके, उसका उपहास किया जाए, उसका विरोध किया जाए, इसकी उनको परवाह नहीं है। पृथ्वी पर चलना है, दौड़ना है तो बच्चा इसकी प्रतीक्षा नहीं करेगा कि जब तक उसके पांव मजबूत न हो जाएं तब तक वह कदम नहीं उठाएगा। वह अपने अस्थिर, निर्बल, डगमगाते चरणों से भी चलेगा, गिरेगा, फिर उठेगा, आगे बढ़ेगा। जो लोग इस प्रतीक्षा में हैं कि जब हिन्दी समर्थ हो जाएगी तब उसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में चलाएंगे वे हिन्दी को पंगु बनाए रखने का षड्यन्त्र रच रहे हैं।

महात्मा गांधी के १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन में जब वे अपनी जमी-जमाई वकालत छोड़कर कूद पड़े तो किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य उनके ऐसा न करने पर होता। उनका परिवार बड़ा और गृहस्थी कच्ची थी और बाबूजी के त्याग के कारण घर के छोटे-बड़े सबको जो कष्ट उठाना पड़ा उसने न जाने कितने परिवारों को सहन-

शीलता का पाठ पढ़ाया, सहारा दिया, ऊपर उठाया। मेरा ऐसा ध्यान है कि बहुत बड़े लोगों द्वारा किए गए त्याग-बलिदान लोगों को सहज अनुकरणीय नहीं होते। नेहरू-परिवार का त्याग बहुत बड़ा था, उसमें प्रेरणा थी, परन्तु उसकी सम्पन्नता उसके उदाहरण को अनुकरणीय बनाने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित करती थी। टंडनजी का त्याग एक मध्य वर्ग के व्यक्ति का त्याग था; उसने, प्रयाग के मध्यवर्गीय परिवारों के लिए त्याग और बलिदान को सहजसाध्य किया। स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय में देश के लिए खतरा उठानेवाले, त्याग करनेवाले, काम करनेवाले नागरिकों के लिए टंडनजी सबसे निकट और परिचित प्रतीक थे, सब उन्हें पास से देखते थे, पास से जानते थे। उनके घर फाटक नहीं था, उनके दफ्तर में द्वारपाल नहीं था।

१९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में एम० ए० प्रीवियस करने के बाद मैंने भी यूनिवर्सिटी छोड़ दी थी। डेढ़-दो वर्ष बाद जब आन्दोलन की गर्मी शान्ति हुई तो जीवन की कठोर वास्तविकता ने घूरना आरम्भ किया। 'पायनियर' अंग्रेजों के अधिकार से देशी साहबों के हाथ में आया तो उन्होंने मेरे पिता की पेंशन बन्द कर दी। सौभाग्य से मेरे छोटे भाई को बी० ए० करने के बाद ही बैंक की नौकरी मिल गई। मैंने नारे, जुलूस, सभा, पिकेटिंग, झंडे, बिगुल, चर्खे, वालंटियरों, क्रान्तिकारियों की दुनिया से पलटकर अपने घर को देखा तो कांप उठा। दस आदमियों का परिवार, दो उनमें से बीमारियों के शिकार, छोटी बहन ब्याहने को, एक भारी कर्ज चुकाने को, और एक आदमी के कन्धे पर सारा भार! ट्यूशनें एक-दो मैं करता था, पर मैंने निश्चय किया कि कोई नियमित नौकरी करके मैं छोटे भाई का हाथ बटाऊंगा। काम मैं ऐसा चाहता था जिसमें देश के लिए कुछ करने का अवसर भी रहे और इतना वेतन भी मिले कि घर का काम-काज चलता रहे। उन दिनों बाबूजी ला० लाजपराय द्वारा स्थापित 'सर्वेंट्स आफ पीपुल सोसाइटी' (लोक सेवक मण्डल) के चेयरमैन थे। उसमें कुछ ऐसी व्यवस्था थी कि योग्य लोगों को पचास रुपया मासिक आदर-धन (आनरेरियम) दिया जाता था और उनसे आजीवन देश-सेवा का व्रत लिया जाता था। टंडनजी के सुपुत्र श्री गुरुप्रसाद टंडन (इस समय विक्टोरिया कालेज, ग्वालियर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष) बी० ए० में मेरे सहपाठी थे। उनसे परामर्श करके मैंने सोसाइटी की सदस्यता के लिए एक प्रार्थना-पत्र दे दिया। बाबूजी ने मुझे बुलाया, उन्होंने मेरी आंखों में आंखें डालीं, और न जाने क्या उन्होंने उनमें देखा कि मुझे सोसाइटी में लेने से इन्कार कर दिया। मुझे बी० ए० में प्रथम श्रेणी मिली थी, मैंने अपनी पढ़ाई छोड़ी थी, सरकारी छात्रवृत्ति छोड़ी थी, और उन दिनों के मानों में देश के लिए कुछ काम भी किया था, अपने पुत्र के द्वारा उन्हें मेरी पारिवारिक स्थिति का पता था, पर उन्होंने निर्ममतापूर्वक मुझसे कहा, "मुझे लगता है तुम्हारा क्षेत्र यह नहीं, तुम्हें अपनी पढ़ाई पूरी करके शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अपना विकास करना चाहिए।" मुझे बड़ी निराशा हुई, टंडनजी के लिए स्वार्थवश मेरे मन में कुछ कुभावनाएं भी उठीं, पर आज मैं जानता हूं उस समय मुझसे अधिक उन्होंने मुझे पहचाना था, और यह मानता हूं कि उन्होंने सोसाइटी में न लेकर मेरे साथ उपकार ही किया था।

इसके थोड़े ही समय बाद मैं 'मधुशाला' की रुबाइयों में फूट पड़ा। ऐसे कई अवसर मुझे मिले जब उनके सम्मुख या उनके सभापतित्व में मुझे कविता सुनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने हर बार मेरी आंखों में अपनी आंखें डालीं, और जैसे मुझे उस पहली भेंट की याद दिलाई—मैंने तुममें जो देखा था वह गलत नहीं था, तुम राजनीति के जंगल के लिए नहीं थे, काव्य के उपवन के लिए थे।

मेरी तरह टंडनजी ने न जाने कितने नवयुवकों को जीवन की ठीक दिशा दी होगी, जो यदि आज मेरे समान लेखनी-मुखर हो सकते तो अपनी-अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते। महान आत्माओं का दान दोनों दिशाओं में होता है, वे देश-समाज को एक व्यापक दान तो दे ही जाते हैं, व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को भी कुछ अमूल्य, अलभ्य, अविस्मरणीय दे जाते हैं। सूर्य समुद्र को जाज्वल्यमान करता है, ओस बिन्दु को भी चमका देता है। इन सीमित वरदानों की चर्चा इतिहास के पृष्ठों में नहीं होती; पर समष्टि के जीवन में इनकी महत्ता कम नहीं होती। टंडनजी हमारे देश की महान आत्माओं में हैं। उन्होंने अपने जीवन, कर्म, विचार से व्यापक रूप से देश को, और सीमित रूप से अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित किया है। उनकी साधना उनके जीवन-काल में ही पल्लवित-पुष्पित हुई है।

महान आदर्शवादी और आदर्श व्यवहारवादी

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तदासजी टंडन के यशस्वी नाम और चहुंमुखी सार्वजनिक प्रवृत्तियों से कौन भारत-वासी परिचित न होगा ! राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा के लिए आपका यश राष्ट्र के कोने-कोने में व्याप गया है। मैंने सबसे पहले राजर्षि जी के दर्शन कांग्रेस महासमिति की बैठकों में किए। बाद में अनेक बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों में भी आपको कुछ समीप से देखा। अनेक बार आपके व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का भी लाभ मिला। मैं जितना आपके समीप सम्पर्क में आया, उतनी ही आपके प्रति श्रद्धा व निष्ठा बढ़ती चली गई।

ऐसा नहीं है कि राजर्षि जी से मेरा कभी मतभेद न हुआ हो। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में जब महात्मा गांधीजी के साथ आपका मतभेद हुआ था, तब आपकी स्थिति से मेरे लिए सहमत होना कठिन होगया था। परन्तु कुछ ही समय बाद मैंने अनुभव किया कि हिन्दी की हित-रक्षा के लिए आपकी स्थिति बिल्कुल ठीक थी। फिर मैं यह भी नहीं समझ सका था कि हिन्दी के प्रति कांग्रेस और राजर्षिजी के दृष्टिकोण में किसका ठीक था। इस सम्बन्ध में एक समारोह में मैंने कुछ प्रश्न भी पूछे थे और आपके दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न किया था। जब आप स्व० डाक्टर पट्टाभि के विरोध में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए खड़े हुए थे, तब मैंने दैनिक 'विश्वमित्र' में आपके विरुद्ध डा० पट्टाभि का जोरदार समर्थन किया था। परन्तु मैंने देखा कि मेरे प्रति आपकी कृपा में कभी कोई अन्तर नहीं आया। आपका पितृतुल्य वात्सल्य व आत्मीयता सदा वैसे ही बने रहे। यही मुझे आपका सबसे बड़ा बड़प्पन प्रतीत हुआ। मतभेद व विरोध को भुला देना सामान्य बात नहीं है। मुझे आपके तेजस्वी रूप के दो बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। एक बार कांग्रेस महासमिति की बैठक में आपका स्व० मोतीलाल जी नेहरू के साथ कुछ मतभेद हो गया। अल्प मत में रहते हुए भी आपने पराजय स्वीकार नहीं की और आप अपनी स्थिति से विचलित नहीं हुए। दुबारा आपके तेजस्वी रूप के दर्शन तब हुए, जब आपने संविधान परिषद में हिन्दी के लिए संघर्ष मोल लिया था। जैसे कभी श्रीकृष्ण ने द्रौपदी का चीर बढ़ाकर उसकी लाज बचाई थी, वैसे ही इस संघर्ष में हिन्दी की लाज बचाने वाले आप ही थे। साथियों ने आपका साथ छोड़ दिया था और आपका समर्थन करने वालों की संख्या सम्भवतः एक दर्जन से अधिक नहीं रही थी, फिर भी आपने अकेले वीर अभिमन्यु की तरह उस संघर्ष को जारी रखा। संविधान में हिन्दी को जो गौरव मिल सका, वह एकाकी आपके सुदृढ़ व सफल नेतृत्व का परिणाम है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में आप ऐसे आदर्शवादी हैं कि कठोर तपस्या का साधनामय जीवन बिताते हैं। आपको गांधीजी के समान तपस्वी साधक और आदर्शवादी कहा जा सकता है। सार्वजनिक जीवन में आपको आदर्श व्यवहारवादी कहना चाहिए। हिन्दी में अंग्रेजी की संख्याओं के लिखे जाने और अंग्रेजी का स्थान राजभाषा के रूप में हिन्दी को देने के लिए पन्द्रह वर्ष की अवधि के लिए सहमत हो जाना आपके आदर्श व्यवहारवाद के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन दिनों में भी संसद में आपकी आदर्शवादी वाणी का तेजस्वी स्वर सुनने में आता रहा है, जिसमें गांधीजी की आत्मा बोलती प्रतीत होती थी।

अपनी आंखों की दृष्टि खोने के बाद अपने जिन महान नेताओं की ममता, सहृदयता और सहानुभूति मुझे

प्राप्त हुई, उनमें श्रद्धेय राजर्षिजी का उल्लेख मैं बड़े गर्व से कर सकता हूं। क्योंकि आपकी अपने प्रति ममता, सहृदयता और सहानुभूति को मैं अपने लिए अत्यन्त सन्तोषप्रद वरदान मानता हूं।

आप दीर्घायु हों, पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करें और आपका वरद हस्त हमारे सिर पर सदा बना रहे। हिन्दी को आप राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा के उच्च आसन पर सर्वांश में प्रतिष्ठित होने के अपने महान चिर स्वप्न को पूरी तरह साकार होता देख सकें। आपके चरणों में मेरे श्रद्धा-सम्पन्न अनेक अभिनन्दन स्वीकार हों।



पूज्य बाबूजी

श्री कालिदास कपूर

संवत् १९३९ के पुरुषोत्तम मास में जन्म होने पर राजर्षि टंडनजी का 'पुरुषोत्तमदास' नामकरण हुआ, तो देश के सौभाग्य से वह अपने पिताजी के दिए हुए नाम को सार्थक करने में भी सफल हुए हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। ईसवी सन के हिसाब से उनकी जन्मतिथि ११ अगस्त, १८८२ है। यों मुझ से ठीक १० वर्ष बड़े हैं। मैं टंडनजी को बाल्यकाल से जानता हूं। तब से वह अपने सहयोगियों और भक्तों के 'बाबूजी' उसी प्रकार हैं जिस प्रकार गांधीजी उनके 'बापू' रहे।

भारतीय संस्कृति से पाश्चात्य संस्कृति की टक्कर लगने पर भारतीय राष्ट्रीयता दो रूपों में जाग्रत हुई। एक में भारतीय संस्कृति का प्राधान्य है, दूसरे में पाश्चात्य संस्कृति का। बाबूजी उस रूप के प्रतीक हैं जिसके अन्तर्गत लोकमान्य तिलक, पंजाबकेसरी लाजपतराय, महात्मा गांधी, देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद और सन्त विनोबा जैसे सर्वमान्य भारतीय नेता आते हैं। जवाहरलालजी दूसरे रूप के प्रतीक हैं जिसके अन्तर्गत गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, चित्तरंजनदास और सुभाषचन्द्र वसु जैसे उतने ही मान्य नेताओं की गणना है। स्वातन्त्र्य-संघर्ष के इतिहास में इन दोनों के मध्य मतभेद अथवा विरोध की झलक हमें मिलती है। परन्तु गंभीर और निष्पक्ष विचार के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता के ये दोनों रूप एक-दूसरे के पूरक हैं। भारतीय राष्ट्रीयता का विकास प्रगति के इन दोनों पहियों पर हो रहा है।

बाबूजी को जब मैंने पहली बार देखा, कदाचित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के किसी अधिवेशन में, तब वह दाढ़ी नहीं रखाए हुए थे। परन्तु पतलून पहने, कर्जन फैशन, मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। बाबूजी कई पुत्र-पुत्रियों के पिता हैं। मैं सभी पुत्रों से परिचित हूं। 'बाढ़ें पुत्र पिता के कर्मा'। मेरी कुछ ऐसी धारणा है कि जिन भारतीय नेताओं ने स्वातन्त्र्य-संघर्ष में गांधीजी का साथ दिया, उनमें अधिकांश अपनी सन्ततियों की देखभाल नहीं कर सके, जिस कारण जनता का मान प्राप्त करके भी वे गृह-सुख से वंचित रहे। टंडनजी का गार्हस्थ जीवन इस धारणा का अपवाद है। वह भी अपने पुत्र-पुत्रियों की यथेष्ट देखभाल नहीं कर सके। एम०ए०, एल०एल० बी० होकर उन्होंने वकालत का पेशा अपनाया। इतने मेधावी थे कि उनकी गणना बहुत शीघ्र इलाहाबाद के बड़े वकीलों में होने लगी। परन्तु सार्वजनिक सेवा के आकर्षण ने लक्ष्मी-लालसा पर बाजी मार ली। गोखलेजी ने सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी के लिए शिक्षित युवकों की भरती प्रारम्भ की, तो लाजपतरायजी ने सर्वेंट्स आफ दी पीपुल सोसाइटी के लिए भरती की और बाबूजी उनके प्रथम अनुगामी हुए। यों यौवनकाल में ही उन्होंने त्याग का मार्ग पकड़ा। गृहस्थ थे ही। बच्चों के पालन-पोषण का भार उठाते हुए भी वह अपने व्रत से विचलित नहीं हुए। पुत्रियों के विवाह का सफल निर्वाह उन्हें करना ही था, जिस कारण लाजपतरायजी उन्हें कुछ समय तक नाभा-नरेश और पंजाब नेशनल बैंक की वैतनिक सेवा के लिए विवश कर सके। दायित्व-भार से मुक्त होते ही बाबूजी ने फिर जन-जनार्दन की अवैतनिक सेवा का मार्ग अपनाया। इस मार्ग में उन्हें अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु वह तो स्थितप्रज्ञ रहे ही, उनके पुण्य सन्तति में भी फलीभूत हुए हैं, यह मेरे जैसे साधारण गृही के लिए बड़े गौरव की बात है। बाबूजी के छः पुत्र हैं। सब अपने-अपने क्षेत्र के सफल नाग-

रिक, सब पिता जैसे सच्चरित्र, सब सुखी गृहस्थ।

इस समय बाबूजी रोगग्रस्त हैं। कांग्रेस के अध्यक्ष होने पर जवाहरलालजी नेहरू से उनका मतभेद हुआ, तो कांग्रेस की एकता की रक्षा के लिए उन्होंने जवाहरलालजी को अपने आसन पर आसीन किया। तब से बाबूजी राजनीति की ओर से विरक्त हैं। लोक-सभा के लिए उनका निर्विरोध चुनाव हुआ तो लोक-सभा की सदस्यता के लिए राजी हुए। इधर स्वास्थ्य के विगड़ने पर बाबूजी ने लोक-सभा की सदस्यता से इन्कार किया, तो राज्य-सभा की सदस्यता के लिए राजी कर लिए गए। कुछ समय तक राज्य-सभा के सदस्य रहने पर जब बाबूजी को शैया की शरण लेनी पड़ी तो हाल ही में राज्य-सभा की सदस्यता भी आपने छोड़ दी है।

बाबूजी कुनबापरस्त कभी नहीं रहे। सिफारिश करना तो इन्होंने जाना ही नहीं। इनके पुत्रों तथा निकटस्थ सम्बन्धियों को इनसे इस बात की शिकायत है कि उन्हें बाबूजी से सिफारिश का सहारा कभी नहीं मिला। परिवार के सीमित सदस्यों की जो शिकायत है, वही उनके सार्वजनिक जीवन का दुर्लभ गुण है।

इधर कुछ समय से उत्तरप्रदेश की कांग्रेस में फूट है। एक बार इस फूट का प्रदर्शन प्रादेशिक विधान सभा में भी हुआ। तब मुझे बाबूजी के सार्वजनिक जीवन में सम्बन्ध में एक घटना याद आई।

हमारा संविधान ब्रिटिश पार्लियामेंट की परम्परा पर आधारित है। भारतीय नेताओं के स्वातन्त्र्य-संघर्ष से समझौता करने के लिए अंग्रेजों ने अपनी पार्लियामेंटरी परम्परा का अभिनय भारत में किया। राष्ट्रपिता गांधी कभी इस अभिनय के भक्त नहीं हो सके, कभी इसमें सम्मिलित भी नहीं हुए। परन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों को इस अभिनय में सम्मिलित होने की छूट अवश्य दे दी।

ब्रिटिश पार्लियामेंट ब्रिटिश जनता के प्रतिनिधियों की सभा है। इस सभा के सभापति को स्पीकर कहते हैं। सभा में बहुमत-प्राप्त दल का नेता ही शक्ति का प्रतीक होता है, परन्तु सर्वोच्च मान स्पीकर को ही प्राप्त है। वह जनतंत्र तथा विचार-स्वातन्त्र्य का रक्षक और नियंत्रक माना जाता है। सभा में उसे वही पद प्राप्त है जो न्यायालय में न्यायाधीश को। गर्म विवाद के मध्य ठंडी और सर्वमान्य व्यवस्था देना उसका प्रधान गुण माना जाता है। इस कसौटी पर भारतीय स्पीकरों में सर्वसम्मति से प्रमुख पद स्वर्गीय विट्ठलभाई पटेल (स्वर्गीय सरदार पटेल के बड़े भाई) और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को प्राप्त है। विट्ठलभाईजी ने केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा का सर्वोच्च आसन सुशोभित किया और टंडनजी ने उसी शान से भारत के केन्द्रीय प्रान्त की सभा का संचालन किया। समय-समय पर दी गई दोनों की व्यवस्थाएं भारतीय जनतन्त्रात्मक शासन के इतिहास में मान्य स्थान प्राप्त करेंगी, इसमें सन्देह नहीं।

बाबूजी ने अपने दृढ़ निश्चय से ब्रिटिश स्पीकरी की एक परम्परा सफलतापूर्वक भंग की। ब्रिटेन में किसी व्यक्ति के स्पीकर चुने जाने पर वह किसी दल का सक्रिय सदस्य नहीं रहता, वह दलगत राजनीति में भाग लेना बन्द कर देता है। बाबूजी ने यह निश्चय किया कि वह इस विदेशी परम्परा का अनुकरण नहीं करेंगे। वह कांग्रेस के सक्रिय सदस्य रहे। परन्तु क्या मजाल, अध्यक्ष के आसन पर बैठकर कभी भी किसी दल का पक्ष लिया हो। एक बार इन्होंने सुना कि उनके इस ढंग से विरोधी दल में कुछ असंतोष है। यह बात उस समय की है जब संयुक्त प्रान्त को पहली बार प्रांतीय स्वराज्य मिला हुआ था और कांग्रेस का बहुमत बहुत प्रबल था। बाबूजी ने असन्तोष की गंध पाते ही यह सूचना दी कि विरोधी दलों के तीन नेता ही, सभा के मध्य नहीं, दफ्तर में पहुंचकर ही उनके प्रति अपना अविश्वास प्रकट करें, तो वह इस्तीफा दे देंगे। उनकी इस सूचना से खलबली मच गई। विरोधियों में प्रमुख पद छतारी के नवाब साहब को मुस्लिम लीग के नेता के हैसियत से प्राप्त था। उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा कि बाबूजी गनीमत हैं। उनके इस्तीफा देने पर कांग्रेस दल का ही कोई सदस्य अध्यक्ष-पद पर आसीन होगा और कोई इतना निष्पक्ष, इतना सहृदय न होगा, जितने बाबूजी हैं। यों बाबूजी का इस्तीफा उनकी जेब ही में पड़ा रहा।

काल-चक्र की प्रगति में एक शुभ घड़ी आई जब अंग्रेज गांधीजी का 'भारत छोड़ो' आह्वान स्वीकार करने के लिए राजी ही नहीं, उतावले भी हो गए। परन्तु हिन्दू-मुस्लिम फूट का विषवृक्ष यथेष्ट पुष्पित-पल्लवित हो चुका था। भारत को दो भागों में बांटकर ही स्वतन्त्र करने का मार्ग अंग्रेज राजनीतिज्ञों को दिखा। गांधीजी देश के विभाजन

के पक्ष में न थे। बाबूजी का मौलाना आजाद साहब से मतभेद रहा करता था; परन्तु, जैसा कि अब उनकी आत्मकथा से प्रत्यक्ष होता है, देश की एकता के पक्ष में दोनों एक-दिल थे। तत्कालीन वातावरण में देश की एकता की रक्षा करना कठिन अवश्य था, इस उद्योग में गृह-युद्ध का भी भय था; परन्तु ये तीनों नेता इसके लिए भी तैयार थे। मौलाना साहब सच्चे मुस्लिम थे, उसी प्रकार जैसे गांधीजी सच्चे हिन्दू थे। परन्तु दूषित वातावरण में मुस्लिम और हिन्दू जनता को दोनों ही अपने-अपने वैरी दिखे। मौलाना साहब का यह कथन है कि देश के बंटने पर उसकी मुस्लिम जनता तीन भागों में बंट गई—पश्चिमी पाकिस्तान, भारत और पूर्वी पाकिस्तान—जिस कारण विभाजन से प्रमुख हानि भारतीय मुस्लिमों की ही हुई है। उनके इस कटु सत्य का ज्ञान भारतीय और बंगाली मुस्लिमों को तो थोड़ा-बहुत हो गया है, भारत का स्वर्णिम भविष्य उस घड़ी की प्रतीक्षा में है जब पश्चिमी पाकिस्तान के मुस्लिम भी तीनों भागों के सप्रेम एकीकरण के पक्ष में होंगे।

पता नहीं कि देश के स्वतन्त्र होने पर १५ अगस्त १९४७ के उत्सव में मौलाना साहब सम्मिलित हुए कि नहीं, परन्तु गांधीजी और बाबूजी उत्सव में सम्मिलित नहीं हुए। बाबूजी की आत्मा तो उस दिन पंजाब के उन निरीह नर-नारियों के आर्तनाद में तड़प रही थी जो लाखों की संख्या में मारे जा रहे थे या जान लेकर भारतीय भाग की ओर भागे आ रहे थे।

बाबूजी हिन्दी के पुराने भक्त हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक बाबू श्यामसुन्दरदास और पं० रामनारायणजी मिश्र जैसे हिन्दी के बनारसी भक्त थे। सन १९१० में देश के हिन्दी-भक्तों का प्रथम सम्मेलन प्रयाग में बाबूजी के उद्योग से हुआ। यों बाबूजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापक हैं। बाबूजी सार्वजनिक सेवा से लगे और गांधीजी के नेतृत्व में स्वातन्त्र्य-संघर्ष के उग्र होने पर उनकी गणना कांग्रेस के नेताओं में होने लगी। संघर्ष के प्रारम्भिक काल में गांधीजी हिन्दी के भक्त रहे। सन् १९१६ के फरवरी मास में काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास के अवसर पर मुझे काशी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में गांधीजी के प्रथम दर्शन हुए, जब उन्होंने हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के योग्य माना। कई वर्ष पश्चात गांधीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सर्वोच्च आसन ग्रहण करने के लिए निमन्त्रित हुए और उनके उद्योग से सुदूर दक्षिण में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा स्थापित हुई जो तब से द्रविड़ भारत में हिन्दी-प्रचार की बहुमूल्य सेवा कर रही है। कुछ समय पश्चात राजनीतिक प्रगति के अनुकूल गांधीजी ने हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी का पक्ष लेना प्रारम्भ किया। परन्तु बाबूजी हिन्दी के पक्ष में अटल रहे।

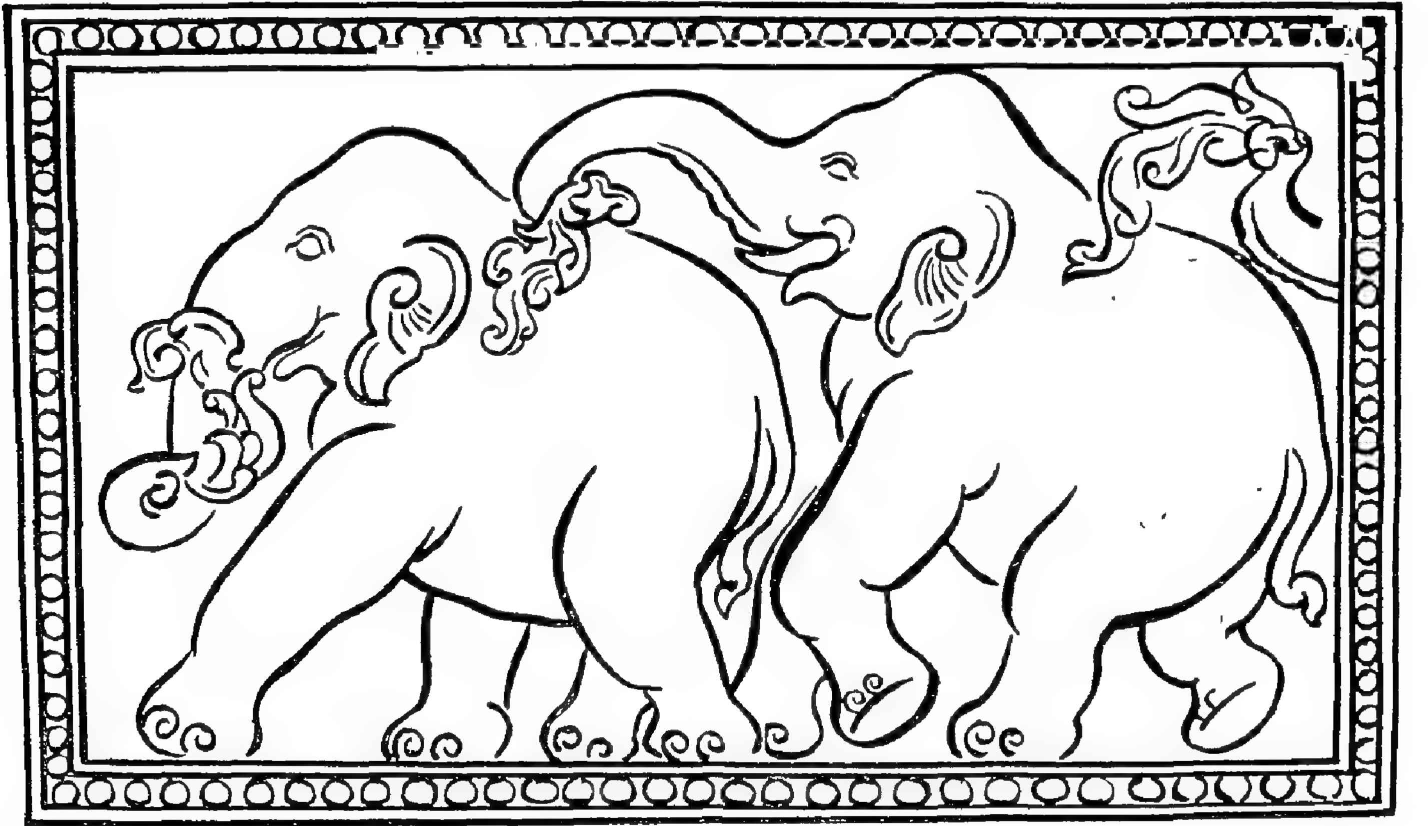
वह समय भी आया जब हमें अपने स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने का मौका मिला। ऐसे समय बाबूजी के नेतृत्व में सर्वसम्मति से हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त हुआ।

यह बात सन १९४९-५० की है। हिन्दी के देश की राष्ट्रभाषा घोषित होने पर मैं बहुत आनन्दित हुआ और हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण निर्माण तथा हिन्दी भाषा के व्यापक प्रचार को मैंने अपना बचा हुआ जीवन देना कर्तव्य समझा। उन्हीं दिनों बाबूजी कांग्रेस के प्रधान निर्वाचित हुए, तो मैंने अपने मन की बात उनसे कहकर उनका आशीर्वाद लिया और प्रार्थनापत्र देकर अक्तूबर १९५१ में कालीचरण कालेज की वैतनिक सेवा से मुक्त हुआ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ही मेरे निश्चय की पूर्ति का साधन हो सकता था। सो इधर मैं उसकी सेवा के लिए स्वतन्त्र हुआ, तो उधर वह न्यायालय का बन्दी हुआ। यह हिन्दी और मेरे जैसे अकिंचन के लिए दुर्भाग्य की बात है तो बाबूजी के लिए मर्मस्पर्शी वेदना का प्रसंग है, क्योंकि सम्मेलन उन्हीं की तपस्या का प्रतीक है। जब सम्मेलन से सक्रिय राष्ट्रीय सेवा लेने का समय आया तभी वह मुकदमेबाजी का शिकार हुआ। बाबूजी स्थितप्रज्ञ हैं। पारिवारिक मोह से मुक्त हैं। परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन की इस प्रिय संतति के मोह से मुक्त नहीं हो सके हैं। रोग-ग्रस्त होने पर भी सम्मेलन के उद्धार की चिन्ता में मग्न रहते हैं। चंगे होकर सम्मेलन को सक्रिय राष्ट्रीय सेवा में संलग्न वह देख लें, यही हम सब हिन्दी-सेवियों और बाबूजी के भक्तों की हार्दिक प्रार्थना है।

बाबूजी ने लिखा कम है, परन्तु उनका वचनामृत हमें प्रचुर मात्रा में प्राप्त है। भारतीय स्वतन्त्रता के उषाकाल से संविधान परिषद और लोकसभा में उनके भाषणों का संकलन "शासनपथ-निदर्शन" (आत्माराम एण्ड संस,

दिल्ली) के शीर्षक से मेरे सामने है। आजकल चीनी-अतिक्रमण देश की विकटतम समस्या है। बाबूजी ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति के पंडित होने का दावा कभी नहीं किया है, परन्तु तिब्बत तक नवीन चीन को अधिकार बढ़ाने की स्वीकृति भारतीय शासन ने दे दी, तो जो चेतावनी बाबूजी ने लोकसभा में दी, उसका मूल्य अब हमें दिखने लगा है। बाबूजी देश के प्रमुख सेवक ही नहीं हैं, भावी द्रष्टा भी हैं—यह रहस्य तो धीरे-धीरे भारतीय जनता और उसके शासनासीन नेताओं के सामने आना है। उनके 'शासनपथ-निदर्शन' को दीप-शिखा होकर शासनासीनों का पथ-दर्शन करना चाहिए।



संत-शिरोमणि टंडनजी

डा० दीनदयाल गुप्त

मानव-समाज के परोपकारी सन्तजनों के आदर्श गुणों का जो व्याख्यान अपने अमर प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित मानस' में महात्मा तुलसीदास ने किया है उनमें से अनेक गुणों का समावेश, हम टंडनजी के चरित्र में पाते हैं। संतों के विषय में महात्मा तुलसीदास ने कहा है—

षट विकार जित अनघ अकामा, अचल अकिंचन शुचि सुखधामा।
अमित बोध, अनीह, मितभोगी, सत्यसन्ध कवि कोविद योगी।
सावधान मानद मदहीना, धीर भक्ति पथ परम प्रवीना।
गुणागार संसार दुख, रहित विगत संदेह।
तजि मम चरण सरोज प्रिय, जिनके देह न गेह॥
निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं, पर गुण सुनत अधिक हर्षाहीं।
सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती, सरल स्वभाव सबहिं सन प्रीती।
जप तप व्रत दम संयम नेमा, गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा क्षमा मइत्री दाया, मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
विरति विवेक विनय विज्ञाना, बोध यथारथ वेद पुराना।
दम्भ मान मद करहिं न काऊ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।
गावहिं सुनहिं सदा मन लीला, हेतु रहित पर हित रत शीला।

अरण्यकाण्ड

तथा

विषय अलम्पट शील गुणाकर, पर दुख-दुख सुख-सुख देखे पर।
सम अभूत रिपु विमद विरागी, लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया, मन वच क्रम मम भक्ति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी, भरत प्रान सम मम ते प्रानी।
विगत काम मम नाम परायन, शांति विरति विनती मुदितायन।
शीतलता सरलता मइत्री, द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री।
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं, परुष वचन कबहूं नहिं बोलहिं।

उत्तरकाण्ड

श्रद्धेय टंडनजी के पुनीत जीवन की झांकी में सन्तों के उक्त गुण हमें चरितार्थ मिलते हैं। उनकी जीवन-घटनाओं में एक-एक गुण के उदाहरण मिल सकते हैं। उन्होंने देश और समाज के कल्याण के लिए स्वार्थ-बुद्धि को त्याग कर तथा कर्तव्यनिष्ठ होकर कार्य किए हैं। उनकी दिनचर्या सदैव से संयम-नियम के पालन, मिताहार और मितभोग

के सद्‌गुणों से युक्त रही है। सत्य का पूरा आग्रह धारण कर वह सत्यसन्ध महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे और जीवन भर वह सत्य और अहिंसा के अनुगामी रहे हैं और आज भी हैं। वह दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट और दूसरे के सुख को अपना सुख समझते हैं। अपनी निर्धारित दृढ़-प्रतिज्ञ नीति से वे कभी विचलित नहीं होते, चाहे उन्हें कितने ही कष्ट झेलने पड़ें और कितने ही उनके विरोधी हों।

जब ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध महात्मा गांधी ने सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन छेड़ा, तभी टंडनजी अपने और अपने परिवार के सुखों को त्यागकर तथा देश-प्रेम और भारतीय जनता की सुख-भावना से प्रेरित होकर उस आन्दोलन में कूद पड़े। उस समय भारत के अनेक विद्वान, धर्मशास्त्र के उद्‌भट पंडित, और धनी-मानी व्यक्ति अपनी सुख-समृद्धि की आहुति देकर उस पुनीत यज्ञ में सम्मिलित होगए थे। उन्हें साम्राज्यशाही की ओर से अनेक यातनाएं दी गई, कारावास के कठिन दण्ड दिए गए, उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई, परन्तु उन्होंने भारत की आजादी पाने के आग्रह को नहीं छोड़ा। टंडनजी ने भी ये सभी यातनाएं भुगतीं और बड़ी प्रसन्नता से उनका सामना किया। ज्यों-ज्यों साम्राज्यशाही की शोषण और दमननीति उग्र होती गई, त्यों-हीं-त्यों स्वतन्त्रता-प्राप्ति का आन्दोलन भी भीषण होता गया। अनेक लाल इसमें न्यौछावर होगए। महात्मा गांधी के साथ में टंडनजी जैसे वीर पुरुष निर्भीकता से डटे रहे और उन्होंने देश को आजाद करके छोड़ा। टंडनजी का समस्त जीवन कर्मवीरता और निर्भीकता का उदाहरण है।

टंडनजी का स्वभाव बहुत शीतल, सरल, दम्भ-रहित और विनयी है। 'सादा जीवन और उच्च विचार' उनके जीवन का प्रेरक सिद्धान्त है। साथ में झूठ, मक्कारी और बेईमानी के सामने वह उग्र भी हैं। वैसे सत्य और सन्मार्ग के सन्मुख वह सदैव विनयशील हैं। टंडनजी उच्चत्तम शिक्षा-प्राप्त विद्वान हैं और देश के चरित्रवान नेताओं में हैं। वह उन 'गालबजावा' पंडितों में नहीं हैं, और न वह उन दम्भी वेशधारी तथाकथित नेताओं में हैं जो अपने स्वार्थ और शक्ति-लाभ के लिए देश की एकता और सुख-समृद्धि को खतरे में डालकर किसी भी असद कूटनीति का अवलम्बन ले सकते हैं, और जो समय-समय पर अपनी कथनी और करनी की नीति को बदलते रहते हैं। सत्य नीति को छोड़कर अपने घर में ही राजनीतिक चालबाजी बरतने की स्वार्थपूर्ण नीति आज अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेताओं के कृत्यों में देखने को मिल सकती है। टंडनजी की नीति कभी नहीं रही।

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय कौ सूल॥
निज भाषा उन्नति बिना, कबहुं न उन्नति होय।
लाख अनेक उपाय यों, भलें करो किन कोय॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उक्त स्वर में स्वर मिलाकर टंडनजी ने भी इस सिद्धान्त को देशोन्नति का मूलमंत्र घोषित किया और राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा को उन्हीं ने देशहित के सब कार्यों में प्राथमिकता दी। उन्होंने इस सेवा-भावना से प्रेरित होकर हिन्दी के प्रसार और समृद्धि के लिए प्रयाग में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन को जन्म दिया। और वह ही हिन्दी को राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन कराने के आन्दोलन के सूत्रधार बने और आज भी वह हिन्दी के हितों की रक्षा में प्राणप्रण से लगे हुए हैं। भारतीय जनता और भारतीय संघ-शासन ने एक राष्ट्रभाषा की जिस नीति और सिद्धान्त की घोषणा की है उसको वह पूर्ण रूप में शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित देखना चाहते हैं। अपनी वाणी से, लेखनी से तथा अपने कृत्यों से उनका यही संकल्प है कि जिस प्रकार किसी समय संस्कृत-भाषा ने समस्त भारत को, भारत को ही नहीं, समस्त दक्षिणी पूर्वी एशियाई देशों को एक सूत्र में बांधा था और सब को पारस्परिक सुख-दुःख के प्रकट करने की एक सांस्कृतिक वाणी दी थी, उसी प्रकार हिन्दी-भाषा भी समस्त भारत को भेदभाव की भावना से मुक्त कर एकता के एक दृढ़ सूत्र में बांध दे।

मेरा सम्पर्क टंडनजी से सन् १९२६ में हुआ था, जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए० का विद्यार्थी था और वहां की हिन्दी-परिषद का मंत्री था। हिन्दी के सम्बन्ध से ही मेरा परिचय टंडनजी को मिला। प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के छात्रों में उनके सुपुत्र और मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद टंडन भी थे जो आजकल ग्वालि-

यर में हिन्दी के मुख्य प्रोफेसर हैं। सन् १९२८ ई० में जब टंडनजी लाहौर में पंजाब नेशनल बैंक के मंत्री थे, मैं लाहौर गया और लगभग १५ दिन अपने मित्र श्री गुरुप्रसाद टंडन के साथ रहा। उस समय मैं पूज्य टंडनजी के और भी निकट आगया। मेरी पत्नी पर भी टंडनजी का वात्सल्य स्नेह है। मेरे श्वसुर और वह बहुत पुराने मित्र हैं। प्रयाग में उन्हीं के घर से मेरी पत्नी असहयोग-आन्दोलन में गिरफ्तार हुई थीं और फिर दो वर्ष वह जेल में रहीं।

लखनऊ विश्वविद्यालय में अहिन्दी-भाषियों द्वारा हिन्दी का इतना विरोध नहीं हुआ है जितना हमारे उत्तरप्रदेश-वासी हिन्दी बोलने वाले महानुभावों द्वारा हुआ है और अब भी है। लखनऊ विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति सन् १९३० में हुई थी और सन् १९३४ में मैं स्थायी रूप से वहां नियुक्त होगया। उसके बाद से मैं बराबर यह प्रयत्न करता रहा कि वहां हिन्दी विषय में एम० ए० की कक्षाएं खुल जायं और हिन्दी का विभाग संस्कृत से अलग होकर एक स्वतन्त्र विभाग बन जाय। सन् १९३७ में टंडनजी तथा आचार्य नरेन्द्रदेवजी का सम्बन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय से होगया और टंडनजी के प्रभाव से एम० ए० कक्षाएं खुल गईं।

विश्वविद्यालय में हिन्दी पढ़ाने वाला मैं केवल एक ही अध्यापक था। बड़ी कठिनाई से एक हिन्दी अध्यापक और मिला। उसकी नियुक्ति होने वाली थी। कई प्रार्थना-पत्र आए थे। प्रो० अय्यर (इस समय लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर) उस समय संस्कृत-हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे परन्तु हिन्दी का कार्यभार उन्होंने मेरे ऊपर ही छोड़ रखा था, यह उनकी उदारता थी। इस नियुक्ति के लिए मेरे मित्र श्री गुरुप्रसाद टंडन ने भी प्रार्थना-पत्र भेजा था। श्री गुरुप्रसाद टंडन सदैव प्रथम कोटि के एक सुयोग्य और बुद्धिशाली विद्यार्थी रहे थे, मैं चाहता था कि उनकी नियुक्ति मेरे साथ हो जाय। प्रो० अय्यर तक तो मेरी पहुंच थी परन्तु इस मामले में टंडनजी तथा आचार्य नरेन्द्रदेव तक पहुंच नहीं थी। यद्यपि दोनों विभूतियां मुझे भली प्रकार जानती थीं। उस समय तक मुझे ज्ञात नहीं था कि किस-किस सज्जन के प्रार्थना-पत्र आए थे। प्रोफेसर अय्यर से कहने के पहले मैं टंडनजी के पास गया। वह उस समय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष थे। टंडनजी से मैंने कहा कि यदि वह दो शब्द गुरुप्रसादजी के पक्ष में आचार्य नरेन्द्रदेव और श्री चन्द्रभानु गुप्त से कह दें तो निश्चय ही कार्य-सिद्धि हो जाय। जस्टिस श्रीवास्तव का, जो विश्वविद्यालय की प्रबन्ध-समिति के एक प्रभावशाली व्यक्ति थे, मैं कृपापात्र था। श्री गुरुप्रसाद टंडन की नियुक्ति को उनकी योग्यता और व्यक्तित्व के कारण वह अवश्य स्वीकार कर लेते। उस समय टंडनजी ने मुझसे झिड़ककर कहा कि तुम मुझसे ऐसा कार्य करने को कहते हो जिसे मैं कभी नहीं कर सकता और उन्होंने विश्वविद्यालय में श्री गुरुप्रसाद टंडन की नियुक्ति के विषय में कहीं चर्चा तक नहीं की। आचार्य नरेन्द्रदेव विशेषज्ञ बनाए गए थे। उन्होंने टंडनजी के पुत्र को नहीं लिया। डा० बड़थ्वाल को नियुक्त किया। टंडनजी चाहते तो उस समय दोनों की नियुक्ति हो सकती थी। गुरुप्रसादजी का कुछ रिचर्स-कार्य भी था। उनकी वक्तृत्व-कला, प्रभावशाली व्यक्तित्व और विद्यार्थी-जीवन की योग्य श्रेणियां ये गुण डा० बड़थ्वाल में किसी अंश में बड़े ही थे। रिचर्स-डिग्री केवल डा० बड़थ्वाल के पास ही थी। इस प्रकार श्री गुरुप्रसाद टंडन की नियुक्ति भी उपयुक्त ही होती। इधर आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा डा० बड़थ्वाल की नियुक्ति भी न्यायोचित ही की गई थी। उस समय टंडनजी ने स्वार्थ-हित को ठुकरा दिया। बाद में भी नियुक्तियां हुई, परन्तु टंडनजी ने आचार्यजी से जिक्र तक नहीं किया। उनके जीवन के अनेक ऐसे दृष्टान्त हैं, जहां उन्होंने अपने स्वार्थ-सुखों की अवहेलना कर उन्हें पर-हित के लिए उत्सर्ग किया है और सत्य और न्याय की ओर झुके हैं।

ज्योति-स्तम्भ टंडनजी

डा० युद्धवीरसिंह

परम पूज्य टंडनजी उन नेताओं में से हैं जिनके जितना निकट जाइये उतना ही उनके प्रति आदर, श्रद्धा व प्रेम बढ़ेगा। अधिकतर नेता बाहर से कुछ और होते हैं और भीतर से कुछ और; मगर पूज्य टंडनजी का बाहर और भीतर सब एक है। जितने वह सख्त हैं उतने ही नरम भी हैं। वे असत्य, पाखंड और दम्भ से जितनी घृणा करते हैं उतना ही इन व्यसनों में पड़े व्यक्ति से प्रेम भी करते हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि राजनीतिक क्षेत्र में हमने उनको न तो उनके योग्य स्थान दिया और न हम उनका पूरा लाभ उठा सके। यदि वह पूरे दो वर्ष भी कांग्रेस के प्रधान रह जाते तो निश्चय ही कांग्रेस-संगठन को बहुत सी अपवित्रताओं से पाक कर जाते।

यों तो उनको मैं वर्षों से जानता था और एक जिद्दी और सख्त नेता समझकर उनसे डरता भी था; मगर मेरा अधिक सम्पर्क पड़ा उन दिनों जब वे कांग्रेस के प्रधान थे और मैं दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी का प्रधान। मेरे कार्य से असंतुष्ट बहुत से लोग मेरी अनेक शिकायतें कांग्रेस-प्रधान से किया करते थे। टंडनजी के पहले स्व० श्री पट्टाभि सीतारामैय्या कांग्रेस-अध्यक्ष थे। मेरी प्रायः उनके सामने पेशी होती और वह कुछ मुझे कह देते और कुछ शिकायत करने वालों को, और बात खतम हो जाती। कोई निर्णय न होता। जब टंडनजी कांग्रेस-अध्यक्ष की गद्दी पर आये तो ज्यों ही मेरी पहली शिकायत उनके पास पहुंची तो मेरी तलबी हुई। मगर मैं देखकर हैरान रह गया कि उन्होंने सारे मामले की छानबीन की। मेरी बात सुनी। दूसरे पक्ष की भी सुनी और मुझे व दूसरे पक्ष दोनों को निर्णयात्मक आदेश दिया। मुझे जो कुछ करना था बता दिया और दूसरे पक्ष को भी कह दिया कि बस इतना ही होगा, इससे अधिक नहीं हो सकता। प्रशासन में स्थिरता आ गई और मैं बहुत प्रसन्न हुआ। किसी मामले को आप टालते नहीं थे, उसकी छानबीन कर ठीक-ठीक निर्णय कर देते थे। प्रशासन की कुशलता इस में ही है कि निर्णय शीघ्र और स्पष्ट हो। मेरा काम प्रायः पड़ता ही गया और हर बार मैं यही धारणा लेकर आता कि पूज्य टंडनजी एक सुयोग्य प्रशासक हैं। एक दिन किसी विषय में मैं अपनी कठिनाइयां वर्णन करने लगा तो जो कुछ मैं कहना चाहता था वह तुरन्त समझ गए और बोले, "तुम यही कठिनाइयां वर्णन करना चाहते हो न?" मैंने साश्चर्य कहा—"जी हां!" और मैं प्रश्नसूचक भाव से उनकी तरफ देखने लगा। मेरा मतलब था कि मेरी कठिनाइयां वह कैसे समझ गए? मेरा भाव वह ताड़ गए और बोले, "मैं स्वयं इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन रहा हूं। मैं जानता हूं, एक चेयरमैन को किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।" इस दुबले-पतले राजर्षि के चरणों में मेरा मस्तक झुक गया। थोड़े से दिनों में ही स्वार्थी, दम्भी व अवसरवादी लोग टंडनजी से भयभीत हो गए थे और निःस्वार्थी, देशप्रेमी सच्चे कांग्रेसी उभरने लगे थे; मगर शायद भगवान को यह मंजूर न था और यह सारा कार्य टंडनजी के अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र देने के साथ ही समाप्त हो गया और अवसरवादियों के घर घी के चिराग जल गए।

इस तरह सम्पर्क में आने के बाद टंडनजी का स्नेह मुझ पर बढ़ गया। मैं यदा-कदा दर्शन करता रहा और प्रेरणा प्राप्त करता रहा। एक दिन अपने वार्ड में झंडे की सलामी के लिए टंडनजी को मैंने आमंत्रित किया। पधारे और दस मिनट में जो भाषण दिया वह चाबुक-सा लगा। देश में दरिद्रता दूर करने के लिए बोलते हुए उनके हृदय से

खादी और चर्ख के लिए उद्गार निकले। कहने लगे कि देश के लिए यदि तुम खादी भी नहीं पहन सकते तो और क्या करोगे ? विना आवेश के दृढ़तापूर्वक बोले—"लीडर वन गए हैं, दो-दो फाउन्टेन जेव में लगा रखे हैं। अपने परिग्रह का प्रदर्शन कर रहे हैं पर देश के दरिद्रों का खयाल ही नहीं है।" परिग्रह के सम्बन्ध में यह फटकार मुझे वहुत चुभी। मेरी जेव में भी उस समय दो फाउन्टेनपैन थे। एक दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी के प्रधान का और एक अपना निजी। ये वाक्य पूज्य टंडनजी ने कोई मुझे लक्ष्य करके नहीं कहे थे, पर थे ठीक। दो फाउन्टेनपैनों का प्रदर्शन, कम-से-कम, मुझे तो नहीं करना चाहिए था। और उस दिन मुझे अपरिग्रह का अच्छा सवक मिला।

कुछ दिनों वाद मैं वीमार हो गया। वीमारी लम्वी चली। क्या देखता हूं कि राजर्षि अचानक मेरी रोग-शय्या के पास वैठे हैं और एक पिता की तरह मुझसे रोग की पूछताछ कर रहे हैं। मुझे कुछ चिकित्सा-संवंधी आदेश दिए। हिम्मत वढ़ाई और आशीर्वाद दिया, और उसी दिन उन्होंने मेरे ऊपर दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन का भार सौंपा। रोगी होते हुए भी मुझे इन्कार करने की हिम्मत ही कैसे हो सकती थी। मैंने देखा कि पहाड़ की तरह महान इस कठोर महापुरुष का हृदय कितना कोमल है। मुझ जैसे तुच्छ दासानुदास की खवर लेने भी मेरे घर आ पहुंचे यह राजर्षि ! मैं कृत-कृत्य हो गया। मेरा घर पवित्र हो गया।

टंडनजी सचमुच ऋषि हैं। वह एक ज्योति-स्तम्भ हैं, जो सदा-सर्वदा उनका मार्गदर्शन करेंगे जो मार्ग-दर्शन चाहते हैं। मगर जो लोग देखना ही नहीं चाहते, चारों ओर प्रसारित होने वाले इस प्रकाश-पुंज से लाभ उठाना ही नहीं चाहते वे उस चट्टान से टकराकर नष्ट हो जाएंगे जिस पर यह 'ज्योतिषां ज्योतिः' प्रकाश-स्तम्भ खड़ा है।



निष्ठा और तितिक्षा के कुछ संस्मरण

श्री मौलिचन्द्र शर्मा

हिन्दी-सेवियों में राजर्षि टंडन 'बाबूजी' कहलाते हैं। इस नाम में कितना स्नेह, कितनी ममता, कितनी आत्मीयता और आदर भरा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भरतपुर-अधिवेशन में मैंने बाबू जी को पहले-पहल देखा था। तब मैं नवयुवक था। बाबूजी भी युवा थे। मैं अपने पूज्य पिताजी के साथ गया था। हिन्दी-जगत के अनेक पुराने धुरन्धर मञ्च पर विराज रहे थे। तब भी बाबूजी ही सम्मेलन के समस्त कार्यों के संचालक और नीति-निर्णायक थे। मुझे उस सम्मेलन की बातें स्मरण नहीं, परन्तु मन पर प्रभाव यही पड़ा था कि उन्हें उसी प्रकार हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास था जिस प्रकार मेरे पिता को हिन्दू धर्म की अनन्त सत्ता और सनातनत्व में। उस पीढ़ी के उन सदृश निष्ठावान् नेताओं ने ही देश को उठा लिया। तब उनके विचार स्वप्न से दीखते थे—सुन्दर, मोहक, हवाई और अनिश्चित। अब देख रहे हैं कि वे स्वप्न ही थे। परन्तु अब भी उन्हें नवजीवन में मूर्तिमान होते और बहुत दशक लगेंगे।

फिर बाबूजी के दर्शन जयपुर-सम्मेलन में १९४४ में हुए। स्वर्गीय गोस्वामी गणेशदत्तजी सभापति थे। मैं टेहरी-गढ़वाल राज्य के मंत्रित्व से त्यागपत्र देकर सुस्ता रहा था। सम्मेलन का निमंत्रण पाकर जयपुर पहुंचा। तब भी सदा की भांति हिन्दी के लिए सरकार से संघर्ष करना होता था। मुझसे बाबूजी ने पूछा कि भविष्य में क्या करना है, तो मैंने अपना विचार यही बतलाया कि अब वापस नौकरी पर नहीं जाना, बन पड़ेगा तो सार्वजनिक सेवा ही करूंगा। उन्होंने हिन्दी की सेवा का राष्ट्रीय महत्त्व बतलाते हुए मुझे प्रेरणा की। मैंने नतमस्तक होकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। मैं सम्मेलन का प्रधान मंत्री चुन लिया गया।

कई वर्ष प्रधान मंत्री और फिर उपसभापति रहा। इस लम्बे काल में मुझे बाबूजी के अत्यन्त निकट रहकर उन्हें देखने का अवसर मिला। मैं रहता दिल्ली था और सम्मेलन के कार्य के लिए बराबर प्रयाग जाना होता था। वहां सम्मेलन में 'सत्यनारायण-कुटीर' में बैठता। बाबूजी को मेरे भोजन, स्वास्थ्य और आराम की इतनी चिन्ता रहती कि प्रायः मुझे लज्जित होना पड़ता था। एक दिन जब मैं कुटीर में पहुंचा तो बाबूजी को चपरासी के साथ कमरे में दरी बिछाते पाया। बोले, मेरी पहुंच की सूचना देर से मिली, अतः तैयारी के लिए समय नहीं बच रहा था। वह मानों किसी कमी के लिए स्पष्टीकरण कर रहे थे। मैं सोचता रहा कि सभापति, मंत्री आदि कोई भी हों, पर सम्मेलन तो स्वयं बाबूजी हैं। वह मूर्तिमान संस्था है, व्यक्तिमात्र नहीं।

मेरे भोजन की व्यवस्था वह स्वयं करते थे, किसी पर छोड़ते न थे। कभी अपने घर बुलाकर साथ खिलाते। माताजी स्वयं खाना परोसतीं। स्नेह-भरा वह भोजन कितना रसभीना होता। टंडनजी आग्रह कर-करके खिलाते। मैं यह एकबारगी भूल जाता था कि उस भोजन में नमक, मिर्च, मसाला, चीनी, तेल, दूध दही, घी आदि सब वर्जित था। ऐसी तितिक्षा मैंने और कहीं नहीं देखी।

बाबूजी सोचते स्पष्ट हैं और बोलते भी स्पष्ट और निश्चयात्मक ढंग से हैं, परन्तु लिखते उन्हें देर लगती है। लिखकर कई बार उसका शोधन करते उन्हें देखा है। कहीं किसी शब्द का भाव कठोर न हो, उसमें सत्य से हटी

हुई कोई बात न हो, भाषा में मिठास की कमी न रह जाय और व्याकरण तथा मुहावरे में भी चुस्त हो—यही सब सोच वह लेखों को बार-बार बदलते रहते हैं।

उनकी बैठक का दृश्य भी रोचक होता है। नये और पुराने कागज-पत्र फर्श पर चारों ओर बिखरे रहते हैं, बीच में बाबूजी बैठे होते हैं। आप जाइए तो कागज समेट कर स्थान बनाते हुए वह आपको पास बिठाने का शिष्ट आग्रह करेंगे। जैसे उनके केश कभी तेल-कंघी कर संवारे नहीं गए, वैसे ही वे सब कागज-पत्र सदा बिखरे रहना पसन्द करते हैं। अब भी, जब वह शैयाशायी हैं, यह दृश्य बना ही रहता है। इसके बिना उसका मन शायद डूब जाय।

हिन्दी के लिए उनकी दृढ़ निष्ठा दो बड़े बार उग्र और तेजस्वी रूप में मैंने देखी। एक तो जब गांधीजी दो लिपियों वाली मिली-जुली हिन्दुस्तानी चलाने का आग्रह ले बैठे थे। तब स्वराज्य के बड़े लाभ को सामने रखकर अल्प-संख्यकों की तुष्टि के लिए जो अनेक समझौते किये गए, उनमें यह भी एक था, जिसे अधिकतर कांग्रेसजन मान गए थे। मन से नहीं भी मानते थे तो अनुशासन में चलने को तैयार थे। केवल एक टंडनजी का तेजस्वी व्यक्तित्व था जिसने राष्ट्रीयता की प्रतीक हिन्दी के विरूप किए जाने के इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार नहीं किया। इस विषय को लेकर गांधीजी ने सम्मेलन छोड़ने की बात बाबूजी को लिखी तो वह बहुत दुखी हुए। फिर भी सिद्धान्त-रक्षा के लिए मन कड़ा करके उन्होंने सम्मेलन को दृढ़तापूर्वक उनका त्यागपत्र स्वीकार करने को कहा और सर्वसम्मति से वह सखेद स्वीकार कर लिया गया। टंडनजी की इसी दृढ़ता ने हिन्दी के उस शुद्ध रूप की रक्षा की, जिस रूप में आज वह भारत की राज्य भाषा होने जा रही है। उन के तपःपूत व्यक्तित्व के ही कारण गांधीजी के अलग हो जाने पर भी सम्मेलन के सामर्थ्य में कोई कमी नहीं आई। वह सदा की भांति हिन्दी जनता की प्रतिनिधि संस्था बना रहा।

राजनीतिक क्षेत्र में बाबूजी का स्थान बहुत ऊंचा है। वह उन थोड़े से लोगों में हैं जो सिद्धान्त के विषयों पर किसी से दबकर अपना मत स्पष्ट प्रकट कहने में नहीं चूकते। महात्मा गांधी की दुःखद हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। दसों सहस्र स्वयं-सेवक उसका विरोध करते जेल गए। मेरा अनुभव था कि संघ उन दिनों पाकिस्तान से विस्थापित होकर आए भाई-बहनों की सेवा के राष्ट्रीय कार्य में तत्पर था और उसका बड़ा उपयोग था। जिसने हत्या की थी, उसका अभियोग चालू था और उसके साथ संघ के सम्बन्ध का कोई प्रमाण नहीं था। इस कारण प्रतिबन्ध और धर-पकड़ को मैं अनुचित मानता था। इस विषय में आवाज उठाने के लिए कुछ मित्रों की सहायता ने 'जन-अधिकार समिति' नाम से एक संस्था स्थापित की और उत्तर भारत के अनेक नगरों में उसके तत्त्वावधान में इस विषय में लोगों ने जोरदार आवाज उठाई। बाबूजी कांग्रेस के धुरन्धर और भावी प्रधान थे। मैंने उनसे इसी विषय पर बोलने को कहा। वे बोले और डटकर बोले। दिल्ली के प्रसिद्ध गांधी मैदान में २०-२५ हजार जनता ने मंत्र-मुग्ध की भांति उन्हें प्रायः दो घण्टे तक सुना। उस सभा के सभापति थे केन्द्रीय शासन के मंत्री श्री न० वि० गाडगिल। वह भी वैसे ही सिद्धान्ती पुरुष हैं।

ईमानदारी किसे कहते हैं यह कोई बाबूजी से सीखे। 'निष्ठा' शब्द का अर्थ उनके पास रहकर, उनके जीवन के अध्ययन से ही समझ में आता है। धर्म उनके लिए पुस्तकों में पढ़ने और दुनिया को उपदेश देने मात्र की वस्तु नहीं—पर-उपदेश-कुशल और होते हैं—बाबूजी का जीवन धर्म का प्रत्यक्ष नमूना है। वह उन विरले लोगों में हैं जिनका प्रत्येक कर्म धर्म-प्रेरित ही होता है, अन्यथा होना सम्भव ही नहीं। वह गृहस्थ हैं, संसार का त्याग उन्होंने नहीं किया, राजनीति का भी त्याग नहीं किया, सार्वजनिक कार्यों के निर्वाह में नीति भी बरतते हैं, परन्तु इस सब क्रिया-कलाप में वह निष्काम और धर्म-प्रेरित रहते हैं। वह कर्मयोगी हैं और 'योगः कर्मसु कौशलम्' के उदाहरण हैं। उन्होंने जीने की कला सीखी है, इसीलिए जीवन की इस सन्ध्या में वह प्रसन्न, आप्त-काम और सुस्थचित्त हैं।

जितना सोचता हूं, यही लगता है कि जो क्षण उनके सान्निध्य में बीते, वे धन्य हो गए।

पुण्यतीर्थ टंडनजी

श्री वसन्तराव ओक

युग-पुरुष राजर्षि टण्डनजी के सार्थक नाम पुरुषोत्तमदास तथा उनकी महानताओं से आज कौन नहीं परिचित है ? भारत में वह इस देश के लिए वरदान-स्वरूप पैदा हुए। इसलिए भारत को उन्हें अपना कहने में गर्व होता है। उनका व्यक्तित्व एक पुण्य-तीर्थ के समान है, जिसका दर्शन-लाभ कर कोई भी कृतार्थ हो जाता है। धन्य हैं वे लोग, जो उनके सम्पर्क में थोड़ी-सी देर के लिए भी आए हैं। ऐसे महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करना वास्तव में एक बड़े सौभाग्य की बात होती है।

भाग्यवश यह सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। सन् १६४७ ई० की बात है। बाबूजी उस समय दिल्ली आये हुए थे। तब देश-विभाजन का प्रश्न चल रहा था। वह लोक सेवक संघ के कार्यालय में ठहरे हुए थे। मैं उनके दर्शन करने गया। प्रथम दर्शन में ही उनके व्यक्तित्व की जो छाप मेरे ऊपर पड़ी, वह अवर्णनीय है। मैं उनसे कई विषयों पर चर्चा करना चाहता था, किन्तु उस समय अन्य प्रकार की बातें करना समय के अनुकूल न होता। इसलिए मैंने देश-विभाजन का ही प्रसंग लेकर उनसे उनकी असली राय जानने के लिए प्रश्न किया। बाबूजी अत्यन्त क्षुब्ध होकर कहने लगे कि विभाजन का प्रश्न कभी उठता ही नहीं, यदि देश में पृथक निर्वाचन-प्रणाली (एलेक्टोरेट) की प्रथा न चलाई जाती। यह सबसे बड़ी गलती हुई है। इस निर्वाचन-प्रणाली की मान्यता में ही विभाजन के बीज बो दिये गए। जब बाबूजी ये बातें कह रहे थे, उस समय उनके शब्दों में उनके हृदय की पीड़ा स्पष्ट निकलती हुई प्रतीत हो रही थी। वह तो हिन्दू-मुसलमान को भारतीयता की दृष्टि से एक मानते हैं। उनका कहना था कि भारत हम सबका एक देश है। हम सबकी संस्कृति एवं सामाजिक परम्पराएं समान हैं। उन पर हमारा समान रूप से अधिकार है। हम किसी भी धर्म के हों, हमारी संस्कृति एक है—भारतीय संस्कृति। मुसलमानों के लिए उन्होंने कहा कि वे यदि रोजा पढ़ते हैं तो बेशक पढ़ें, लेकिन पश्चिम में, यानी मक्का की ओर, मुंह न करके पूर्व को अयोध्या की ओर मुंह करके पढ़ना चाहिए। इसी प्रकार रोजा तोड़ते समय वे लोग मक्का से आई हुई खजूर न खाकर भारतीय गाय का दूध पिएं। किन्तु देश का विभाजन हो ही गया और देश के इस महान प्रेमी का हृदय भी विदीर्ण हो गया।

विभाजन के बाद एक समय उन्होंने कहा था, "देश का विभाजन होगया है। यह हमारे माथे पर कलंक का टीका लगा है। अतः अब मेरे सिर पर कोई दो हथौड़े भी मारे तो भी मुझे कुछ महसूस न होगा।" उनका मत है कि नेताओं ने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मान लिया। इन्हें अपनी कमजोरी का ज्ञान नहीं है। ये राजनीति को राष्ट्रीयता का आधार मानते हैं। राष्ट्रीयता का आधार तो संस्कृति होती है। एक देश में एक संस्कृति होनी चाहिए, जिसके सूत्र में वहां के प्रत्येक देशवासी को बंधा रहना चाहिए।

उनकी धारणा है, भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति हिन्दी के माध्यम से हो सकती है। हिन्दी को इसीलिए इन्होंने इतना मान दिया और इसके लिए अपना सम्पूर्ण जीवन होम दिया। मैं कोई साहित्यिक व्यक्ति नहीं हूं। मेरे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने का कोई विशेष कारण नहीं था। इसका एकमात्र कारण बाबूजी से इसके महत्त्व और रहस्य को जानना था। हिन्दी भाषा के लिए मुझे उन्होंने ही अनुप्राणित किया था। उनका आदेश पाकर मैं हिन्दी का काम करने

के लिए इस क्षेत्र में आया। सन् १९४९ में राष्ट्र-गीत तथा राष्ट्रभाषा-आन्दोलन के समय वह विधान-निर्मात्री सभा की बैठक में दिल्ली आए थे। उस समय मैंने अपने साथियों के सहयोग से उक्त विषयों पर जनमत-संग्रह करवाया था। और देश भर से करोड़ों आदमियों के हस्ताक्षर राष्ट्र-गीत 'वन्दे मातरम्' और राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्ष में कराकर संसद में प्रस्तुत किए थे।

एक बार की बात है, मैं उनसे लोक सेवक संघ के कार्यालय में मिलने गया था। वहां कुछ और लोग बैठे थे। उन्होंने सेवक को बुलाकर बाजार से गुड़ लाने को कहा। राशन का समय था। कंट्रौल-भाव से गुड़ पांच आना सेर था, किन्तु इस भाव पर मिलना मुश्किल था। इसलिए सेवक ब्लैक से सात आना सेर के हिसाब से ले आया। खाते समय बाबूजी ने सेवक से गुड़ का भाव पूछा। उसने सात आने सेर बताया। बाबूजी तुरन्त ही खाते-खाते रुक गए और मुंह-लगाया गुड़ का टुकड़ा किनारे रख दिया। कहने लगे, "ब्लैक से लाया माल खाना पाप है।" उन्होंने नौकर को डांटा। उस समय उनकी मुद्रा देखने लायक थी। हम सब लोग यह देखकर बहुत विस्मित हुए। उनकी उस दृढ़ता के लिए हम लोगों के मन में उनके प्रति अपार मान उमड़ आया।

मुझे बाबूजी का पितृतुल्य वात्सल्य पाने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। सन् १९५५ की बात है, १५ अगस्त से पहले गोआ जाने के लिए सत्याग्रही मेरे साथ जा रहे थे। मैं बाबूजी से आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास गया। मेरे गोआ जाने के समाचार से वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। कहने लगे, "जाओ और जरूर जाओ। इन कांग्रेसियों की जब यह मान्यता है कि जो जेल गया हो, जिसने लाठियां खाई हों, वह ही देश-भक्त है तो तुम्हें भी जाना चाहिए। और तुम्हें भी यह सिद्ध करना चाहिए कि तुम लोग भी यह सब कर सकते हो।" इसके बाद उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया, परन्तु देखते-ही-देखते उनका गला भर आया। उस समय उनसे कुछ बोला नहीं गया; किन्तु पिता का स्नेह, जो उनकी आंखों में भरा था, और जिसके कारण कंठ अवरुद्ध हो गया था, वह किसी से छिपा नहीं रहा था। थोड़ी देर के बाद आश्वस्त होकर मुझे समझाया, "मुझे हिन्दी के लिए तुम से बहुत काम लेना है। किन्तु कोई बात नहीं, तुम जाओ! मेरा हृदय तुम्हें आशीर्वाद देता है और मेरी अन्तरात्मा मुझसे कहती है कि तुम सकुशल लौटोगे और हिन्दी के लिए काफी काम करोगे।" हुआ भी वैसा ही, मैंने लाठियां-गोलियां खाईं, अन्य दुःसह यातनाएं भी झेलीं, किन्तु बाबूजी के आशीर्वाद से मैं सकुशल वापस लौटा और उसके बाद से हिन्दी-प्रसार के क्षेत्र में ही काम कर रहा हूं।

गोआ जाने वालों की विदाई में टाउन-हाल में एक सार्वजनिक सभा हुई थी। उसमें भाषण देते हुए बाबूजी ने कहा था, "वसंतराव जी अपने साथियों को लेकर गोआ जा रहे हैं। मुझे विश्वास है कि वहां ये लोग सत्याग्रह करेंगे। लाठियों और गोलियों की मार सहेंगे, कष्ट पाएंगे, किन्तु वहां भारतीय झंडा लहराकर भारत कुशल-पूर्वक लौटेंगे, क्योंकि भारत को इनके जैसे उत्साही युवकों की आवश्यकता है। मेरा आशीर्वाद इनके साथ है।"

बाबूजी को एक बार परिहास-वृत्ति में आनन्द-मग्न होते भी मैंने देखा है। सरदार पटेल की मृत्यु के समय बाबूजी बम्बई में ही थे। नागपुर से गुरु गोलवलकर, श्री रविशंकर शुक्ल और मैं उनके साथ एक ही वायुयान में दाह-संस्कार आदि में सम्मिलित होने गए। दाह-संस्कार के दूसरे दिन मुंशीजी के यहां हम तीनों आदमी भोजन के लिए आमन्त्रित थे। बाबूजी वहां पहले से पहुंचे हुए थे। बड़े तपाक से शुक्लजी ने बाबूजी से कहा कि "बाबूजी देखिए, गोलवलकर जी को भी साथ लाया हूं।" इस पर बाबूजी शुक्लजी से कुछ न कहकर मुंशीजी से कहने लगे, "शुक्लजी भी कभी-कभी बुद्धिमानी कर जाते हैं; लेकिन हां, कभी-कभी ही।" इस पर सभी लोग हंस पड़े।

स्व० मौलाना आजाद जीवन के अन्तिम दिनों में जब मरण-शैय्या पर थे, तब मैं अपने एक मित्र के साथ बाबूजी के पास गया था। मेरे मित्र महोदय ने बाबूजी से कहा, "बाबूजी, सुना है, मौलाना आजाद शराब बहुत पीते हैं। चार बजे शराब पीने के बाद वह किसी से मिलते नहीं थे। और मुझे लगता है, उनकी इस असाध्य बीमारी का कारण शराब ही है।" मैंने बाबूजी की ओर देखा, उनकी मुद्रा से लगा कि उनको मौलाना आजाद के विरुद्ध यह बातचीत कुल अच्छी नहीं लगी। वह बोले, "मेरे साथ के कमरे में ही एक बार आजाद साहब चार-पांच दिन तक रह चुके हैं। मुझे तो कभी उनमें कुछ ऐसी बात नहीं मिली, जिससे मैं कहूं कि वह पीते हैं।" उनका उत्तर निश्चय ही उनके असाधारण

सौजन्य का परिचायक है। मौलाना आजाद यदा-कदा बाबूजी की कड़ी आलोचना करते रहते थे। परन्तु इसके बावजूद बाबूजी का शील कभी विचलित नहीं हुआ।

स्व० मौलाना आजाद ने एक बार यह प्रस्ताव रखा कि अंग्रेजी को हिन्दी के साथ मान्यता दी जाय। उस समय इसके विरोध में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई थी। उसमें जब प्रसंगवश यह जिक्र आया कि ऐसे प्रचार के सक्रिय विरोध के लिए अभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पास धन का अभाव है, अतः सूक्ष्म विरोध के लिए धन-संग्रह किया जाय। तो बाबूजी ने उसी समय कहा, "हिन्दी-यज्ञ के लिए सबसे पहले मुझसे चन्दा लिया जाय।" यह कहकर उन्होंने फौरन एक चैक दिया। किन्तु मजे की बात यह कि जितने रुपये उन्होंने देने को कहे थे, उससे एक रुपया कुछ आने और बढ़ाकर चैक में राशि लिखी। बढ़ा हुआ धन उन्होंने चैक भुनाने के लिए हिसाब करके दिया था। ऐसे बीसियों उदाहरण उनकी सिद्धान्त-निष्ठा को सहज ही व्यक्त करते हैं।

हिन्दी और हिन्दुस्तान के लिए बाबूजी का जीवन सचमुच एक पुण्य तीर्थ के समान है। मैं उनके पावन चरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हूं।



शील और संकोच के साक्षात विकल्प

श्री महावीरप्रसाद शुक्ल

परम श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हमारे देश के वर्तमान युग की उन इनी-गिनी विभूतियों में हैं जिन पर इस देश के निवासियों को सदैव गर्व रहेगा। इन पंक्तियों का लेखक अपना परम सौभाग्य मानता है कि अपने जीवन के लगभग चौदह-पंद्रह वर्षों की आयु से ही उसे उनके चरणों की छाया बैठने का पुनीत अवसर प्राप्त हुआ है और अपने देश और समाज की सेवा में कुछ भी करने की जो शक्ति और अवसर उसे मिला है वह उनकी प्रेरणा, आशीर्वाद और उत्साह-दान का ही फल रहा है। श्रद्धेय टंडनजी का जीवन एक आदर्श तपस्वी का जीवन रहा है। त्याग, सत्यनिष्ठा और सर्वभूत-दया उनके जीवन के विशेष गुण रहे हैं। राष्ट्रपिता पूज्य बापू के आदर्शों पर पग-पग चलनेवाला ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति मुझे अपनी दृष्टि में नहीं दीख पड़ा। वकालत छोड़ने के पश्चात असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने में जो आर्थिक कठिनाइयां उनके सामने आईं, और उनका जिस अदम्य उत्साह और संकल्प के साथ उन्होंने मुकाबला किया, उसको देखकर मुझे सदैव भर्तृहरि का यह वाक्य **'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'** स्मरण आता रहा है।

देश की स्वाधीनता के संग्राम में उनकी वाणी, उनका त्याग और उनका आदर्श हमारे इस देश के लाखों-लाखों नर-नारियों को सदैव उत्साह और प्रेरणा देता रहा है। हिन्दी भाषा को, आज राष्ट्रभाषा होने का जो महान गौरव प्राप्त हुआ और हिन्दी-साहित्य की जो अभिवृद्धि इस नवीन युग में हुई है उसका महान् श्रेय राजर्षि टंडन को ही है। राजर्षि का अपने सहयोगियों और अनुयायियों के प्रति जो सौहार्द और स्नेह रहता है वह अपना सानी नहीं रखता। शील और संकोच के वह साक्षात विकल्प ही से हैं। अन्धविश्वास और अन्धनिष्ठा के टंडनजी सदैव विरोधी रहे हैं और वह प्रायः यह कहा करते हैं, "लीक लीक गाड़ी चलै, लीकै चलै कपूत। बिना लीक तीनों चलें, सायर सिंह सपूत।"

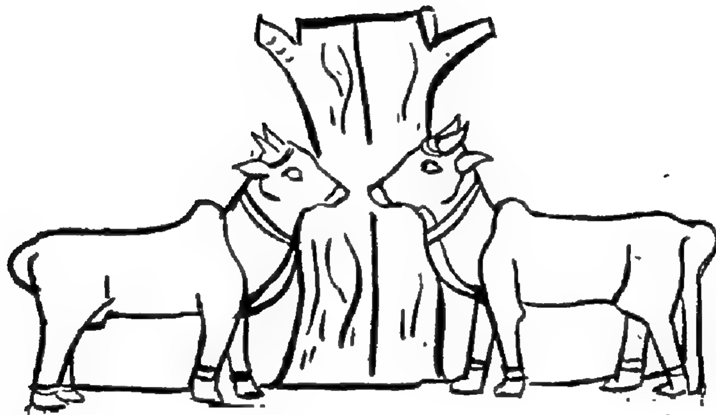
वह इस बात पर सदैव जोर देते हैं कि मनुष्य को कभी अपने अन्तःकरण और विवेक की प्रेरणा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिए, चाहे ऐसे कार्य धर्मशास्त्रों में भी सुसम्मत हों और किसी महान व्यक्ति द्वारा ही प्रतिपादित क्यों न हों। मतभेदों के होने पर अपने इसी गुण के कारण श्रद्धेय टंडनजी कभी-कभी सार्वजनिक क्षेत्र में अकेले हो गए हैं परन्तु कभी उन्होंने अपने अन्तःकरण और विवेक द्वारा प्रेरित मार्ग का परित्याग नहीं किया। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि हिन्दी भाषा का क्या स्वरूप हो, इस सम्बन्ध में राष्ट्रपिता गांधीजी से भी उनका मतभेद हो गया था, परन्तु वह अपने मत से नहीं डिगे। देश के विभाजन के समय वह विभाजन के विरुद्ध थे और यद्यपि राष्ट्रपिता पूज्य बापू भी विभाजन के पक्ष में नहीं थे, किन्तु उन्होंने अपने प्रमुख अनुयायियों की बात को मानकर उसके लिए अपनी अनुमति दे दी, तथापि श्रद्धेय टंडनजी अपने मत से नहीं डिगे।

यह सर्वविदित है कि श्रद्धेय टंडनजी आजीवन फलाहारी रहे हैं। वह अन्न का उपयोग कभी-कभी ही करते रहे हैं। गाय, भैंस एवं बकरी किसी भी पशु का दूध नहीं लेते हैं। उनका मत है कि प्रत्येक प्राणी को केवल अपनी मा का दूध ही पीने का अधिकार है। प्रकृति मा के स्तन में जो दूध का परिस्राव करती है वह केवल उसकी सन्तान के लिए ही करती है। अतएव मनुष्य को किसी अन्य पशु-प्राणी के दूध-पान का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो वह दूसरे के आहार का अपहरण करता है, विशेषकर मूक पशु के नवजात शिशु का, जो न केवल अन्याय है, अपितु

अधर्म है एवं क्रूरता की पराकाष्ठा है।

एक बार टंडनजी बीमार थे। डाक्टरों ने दूध लेने के लिए आग्रह किया और कहा कि कुछ थोड़े अंश में वसा मनुष्य के आहार में आवश्यक है। टंडनजी ने उत्तर दिया, "हाथी तो दूध नहीं पीता, केवल वृक्ष-वनस्पति से इतनी अधिक वसा ग्रहण करता है तो मनुष्य के लिए भी फल आदि से पर्याप्त वसा क्यों नहीं मिल सकती ?" और यह कहकर उन्होंने चिकित्सकों के आग्रह को स्वीकार नहीं किया।

अखिल भारतीय कांग्रेस की अध्यक्षता का त्याग भी उनके जीवन के संचित आदर्शों का ही परिणाम रहा है। आज श्रद्धेय टंडनजी रुग्ण-शय्या पर हैं। हम सभी देशवासी इस बात की कामना और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ करें और शतजीवी होकर हमारे इस देश और समाज का अपने आदर्श और अलौकिक उदाहरण से उन्नयन करें।



बाबूजी जब 'राजर्षि' बने

श्री बदरीनारायण मिश्र

सन् १९४६ ई० में कारागार से मुक्त होने पर भी देश को स्वतन्त्र बनाने की इच्छा पूर्ववत बलवती रही। उस दिन दैनिक 'आज' में पढ़ा कि तत्कालीन वायसराय ने अनेक भारतीयों को रायसाहब, खानसाहब एवं रायबहादुर आदि अनेक उपाधियों से विभूपित किया है। जिन सज्जनों को ये उपाधियां प्राप्त हुई थीं वे खुशी के मारे फूले नहीं समा रहे थे। इसके उपलक्ष में अनेक प्रकार के उत्सवों एवं समारोहों के आयोजन भी उन्होंने किए। उपाधि प्राप्त करने वाले लोग अंग्रेज शासकों को अनेक प्रकार की डालियां भेंटकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर रहे थे। यह सब देख और सुनकर मन को बड़ा क्लेश हुआ। भारतीयों की मानसिक दासता के प्रति मन में बड़ा ही रोप उत्पन्न हुआ और साथ ही उनको इससे मुक्त करने की उत्कट अभिलापा भी जाग्रत हुई। मैंने इस समस्या का समाधान, स्वदेश के लोगों का ध्यान प्राचीन उपाधियों की ओर आकृष्ट करने में देखा। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने श्री सरवार संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापकों एवं आचार्य महोदय से प्राचीन उपाधियों के शास्त्रीय विधान के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। किन्तु संतोपजनक उत्तर के अभाव में मानसिक अशान्ति बनी रही। परिणामस्वरूप इस समस्या के समुचित समाधान के हेतु पूज्यपाद योगिराज श्री देवरहवा बाबा के चरणों में उपस्थित हुआ। उन्होंने अपनी सहज उदारता एवं कृपालुता से इस समस्या का समाधान तत्त्वसहित किया। उन्होंने शास्त्रों के अनेक उद्धरण सुनाकर यह प्रमाणित किया कि 'राजर्पि' 'ब्रह्मर्पि' आदि की उपाधियां कभी भी, किसी युग में, दी जा सकती हैं, किन्तु पात्र की योग्यता निर्विवाद रूप से प्रमाणित होनी चाहिए। इसके बाद उन्होंने इस कार्य में आने वाली अनावश्यक परेशानियों एवं उलझनों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करते हुए इससे बचने के लिए भी कहा।

वैयक्तिक सम्पर्क तथा समाचार-पत्रों में प्रकाशित टंडनजी के लेखों एवं वक्तव्यों को पढ़कर मेरे मन में यह धारणा बन चुकी थी कि बाबू पुरुपोत्तमदास टंडन इस उपाधि के लिए सर्वथा उपयुक्त व्यक्ति हैं। श्रद्धेय टंडनजी के 'जन्मना एवं कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' के सिद्धान्त से मैं पहले से ही परिचित था। यद्यपि वर्तमान युग में ऐसे बहुत से विद्वान, लेखक, विचारक एवं राजनीतिज्ञ हुए हैं जो वर्ण-व्यवस्था का आधार केवल कर्मणा ही मानते हैं। इनमें डा० भगवानदास, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री शिवपूजन सहाय, श्री क्षितीशमोहन सेन आदि विद्वानों के नाम विशेप उल्लेखनीय हैं। डा० भगवानदास ने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक इस सिद्धान्त की पुप्टि की। परन्तु राजर्पि टंडन उपर्युक्त विचारकों की अपेक्षा अधिक उदारवादी हैं। उनका कथन है कि जन्मना और कर्मणा दोनों प्रकार के ब्राह्मणों की व्यवस्था होनी चाहिए। उनकी दृप्टि में ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने वाला व्यक्ति तो ब्राह्मण है ही, ब्राह्मणोचित कर्म करने वालों को भी ब्राह्मण-समाज में समाविप्ट कर लेना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुप्टि में राजर्पि का यह कथन युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समाज उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहता है। अतः यदि निम्न वर्ण के कर्मशील एवं उत्तम चरित्र वाले व्यक्तियों को उच्च वर्ण में प्रविप्ट होने का प्रलोभन न मिल सका तो निश्चित रूप से उन लोगों को अपने कर्मों के प्रति कोई अनुराग नहीं रह जाएगा। परिणामस्वरूप ब्राह्मण एवं ब्राह्मणेतर व्यक्तियों का चारित्रिक विकास ही अवरुद्ध हो जाएगा। अतः 'जन्मना' के साथ ही साथ 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था' का सिद्धान्त भी व्यवहार-रूप

में मान्य होना चाहिए।

राजर्षि टंडनजी स्वभाव से ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के उपासक एवं पोषक रहे हैं। संस्कृति की रक्षा में ही वह राष्ट्र की रक्षा समझते रहे हैं। वस्तुतः वह हिन्दी और हिन्द के प्राण हैं। उनके उपर्युक्त गुणों के कारण ही मैंने बाबूजी को 'राजर्षि' की उपाधि धारण करने के लिए सर्वथा उपयुक्त समझा। किन्तु प्रश्न था उन्हें राजी करने का। उनके समक्ष इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित करने में मुझे स्वयं डर और संकोच का अनुभव हो रहा था। क्योंकि प्रथम परिचय में ही मैंने यह जान लिया कि श्रद्धेय टंडनजी "तर्को वै ऋषिः उक्तः" के सिद्धान्त के पोषक हैं, और मैं इस विषय पर तार्किक दृष्टि से उनसे समुचित विवाद करने में असमर्थ था। इस प्रकार एक ओर तो प्राचीन उपाधियों को समाज में प्रतिष्ठित कराने की उत्कट अभिलाषा हृदय में बलवती थी, दूसरी ओर इस प्रकार के प्रस्ताव को श्रद्धेय बाबूजी के समक्ष उपस्थित करने में डर और संकोच का अनुभव हो रहा था। अन्ततोगत्वा उत्कट अभिलाषा ने डर एवं संकोच पर विजय प्राप्त की, और मैंने राजर्षि की उपाधि स्वीकार करने के लिए श्रद्धेय टंडनजी के समक्ष प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। प्रस्ताव-मात्र से ही वह चौंक उठे। उन्हें देख ऐसा लगा कि यह स्वप्न संभवतः अधूरा ही रह जायगा, किन्तु स्वभाव से सैनिक होने के नाते सहज ही पराजय स्वीकार करना मेरी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। अतः विषय के अनुकूल समय के आने की प्रतीक्षा में इस समय इसे स्थगित करना ही उचित समझा। १५ अप्रैल १९४८ ई० को वह अवसर प्राप्त हो सका।

१५ अप्रैल, १९४८ की पुण्य तिथि को सायंकाल चार बजे सरयू-तट पर यह मांगलिक कार्य सकुशल सम्पन्न हुआ। वैदिक मंत्रों के उच्चारण से समस्त वायुमंडल मुखरित हो उठा। परम पावनी सरयू के तट पर एकत्र सहस्रों नर-नारियों ने इस मांगलिक कार्य-क्रम में भाग लेकर अपने को कृत-कृत्य समझा। माता सरयू ने भी मंत्रोच्चारण के स्वर में अपना कल-कल निनाद मिलाकर वातावरण को और गम्भीर बनाया। इसके अनन्तर योगिराज देवरहवा बाबा ने अनेक साधुओं, संतों, ब्राह्मणों, पंडितों एवं विद्वानों के समक्ष बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को 'राजर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। दूसरे ही दिन उत्तर भारत के समस्त समाचार-पत्रों ने विशेष उत्साह के साथ इस संवाद को प्रसारित किया।। यह एक विस्मयकारी घटना थी। कुछ लोगों ने इस कार्य की प्रशंसा की तो कतिपय ने अपनी व्यक्तिगत स्पर्धा एवं ईर्ष्या के कारण इसकी निन्दा भी की। किसी ने राजर्षि की उपाधि देने वाले की योग्यता पर संदेह प्रकट किया, तो किसी ने पात्र की अयोग्यता प्रमाणित करने में ही अपने पांडित्य की सार्थकता निहित देखी। उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्दजी ने तो यहां तक लिख दिया कि उपाधि देने वाले संत और उपाधि प्राप्त करने वाले बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन दोनों ही शास्त्रों के अनुशासनों से अपरिचित हैं। किन्तु ज्योतिर्मठ के श्री शंकराचार्यजी महाराज ने शास्त्रों के अनेक उद्धरण देते हुए इस कार्य को सर्वथा उचित बतलाया। अक्तूबर सन् १९४८ में काशी में सम्पन्न होने वाले अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन के अवसर पर काशी की पंडित-सभा ने उपाधि-वितरण समारोह और राजर्षि की उपाधि को शास्त्र-सम्मत बतलाकर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। तब से 'राजर्षि' शब्द श्रद्धेय टंडनजी के नाम का अविच्छिन्न अंग बन गया।

मेरा अपना विश्वास है कि यदि बाबूजी जैसे आचरणवान सुयोग्य व्यक्तियों को इस प्रकार की उपाधि समय-समय पर प्रदान की जाय तो निश्चय ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होगा और इससे शास्त्रों की विलुप्त महिमा समाज के समक्ष आएगी। इसके अतिरिक्त अन्य लोग भी अपना चारित्रिक विकास कर सकेंगे। आज के विकट अर्थ-प्रधान समय में समाज और देश के गण्य-मान्य नेताओं और विद्वानों को राजर्षि टंडनजी के व्यक्तिगत जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए। अतीत में बाबूजी ने जिस प्रकार उत्तर प्रदेशीय विधान सभा का अध्यक्ष-पद, उत्तर प्रदेश के लिए प्रस्तावित मुख्यमंत्री-पद, कांग्रेस का अध्यक्ष-पद, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी समिति की सदस्यता एवं उड़ीसा के राज्यपाल-पद को तथा वर्तमान काल में राज्य-सभा की सदस्यता को स्वतः छोड़कर त्याग तथा उच्च चरित्र का जो आदर्श उपस्थित किया है, उसे समाज में बहु-प्रचारित करना चाहिए, और समाज को उसका अनुकरण करना चाहिए।

टंडनजी के भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी विचार

श्री लीलाधर शर्मा पांडेय

भारतीय संस्कृति और उसके उद्धार के लिए ही मानो जन्म लेने वाले, ऊंचे-ऊंचे पदों और आय के बड़े-बड़े साधनों को ठोकर मारकर, अथ च राष्ट्रीय संग्राम में सदा अग्रणी रहकर स्वतन्त्र और आदर्श भारत में सांस्कृतिक साम्राज्य का स्वप्न देखने वाले, अपने सिद्धान्त के धनी, त्याग और तपस्या के आदर्श एवं भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रतीक राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का जीवन 'यदा यदा हि धर्मस्य' गीता के इस आदर्श वाक्य के अनुसार समय की मांग के अनुरूप भारतीय संस्कृति को ही समर्पित है, यह कहा जाय तो तनिक भी अत्युक्ति नहीं होगी। इसीलिए भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के भिवानी-अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए पंजाब के राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने कहा था, 'आज भारतीय संस्कृति और हिन्दी ये दो शब्द टंडनजी के नाम के पर्यायवाची शब्द बन गए हैं।'

संस्कृति-सम्बन्धी अटल सिद्धान्त

जो व्यक्ति टंडनजी के निकट सम्पर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं, वे भली भांति जानते हैं कि टंडनजी ने जीवन में जिस किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ में लिया, उसके प्रारम्भ या मूल में उनकी संस्कृति-उद्धारक भावना या प्रेरणा ही काम करती रही। भले ही, परिस्थितिवश वह अथक प्रयत्न करने पर भी स्वतन्त्र भारत में भारतीय संस्कृति की विजय-वैजयन्ती फहराने में पूर्ण सफल या कृतकार्य न हो सके। इसका कारण यही है कि वह अपने सिद्धान्तों में सदा ही हिमालय के समान दृढ़ और सागर के समान गम्भीर बने रहे। यद्यपि इसके लिए उन्हें बहुत कीमतें चुकानी पड़ीं, महान् त्याग करना पड़ा। पर देश का कोई भी आकर्षण या पद उन्हें अपने सिद्धान्त से तिल भर भी विचलित न कर सका।

महापुरुषों के उद्‌गार

मुझे स्मरण है कि जब २१ अगस्त, ५७ को नई दिल्ली के संसद-भवन में राजर्षि की ७५वीं वर्षगांठ का आयोजन किया गया था तो प्रधान मन्त्री श्री नेहरु ने टंडनजी के साथ अपने ४५ वर्षों के निरन्तर सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए कहा था—"जब वे सारी तस्वीरें मेरे सामने आती हैं तो उनमें टंडनजी की तस्वीर बहुत बड़ी होकर आती है। आप इत्तिफाक करें या न करें, वह एक अटल खम्भे की तरह हैं।" नेहरूजी ने टंडनजी की सांस्कृतिक विचारधारा की ओर लक्ष्य करते हुए आगे कहा था, "वह जमे रहे उन खयालों में, उन आदतों में, जो उन्होंने शुरु की थीं। मैं उनसे शिकायत करता हूं कि बदलती हुई दुनिया में आप क्यों नहीं बदले? दुनिया बदलती रहती है, यह भी सिद्धान्त की बात है। लेकिन इस बात में कितनी अहमियत है—एक व्यक्ति का पक्के तौर पर खास बातों पर जमे रहना। दुनिया कितनी लड़खड़ाई, पर उनकी ओर निगाह दौड़ाई तो देखा उनके पैर मजबूती से जमे ही रहे।"

इसी अवसर पर तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्ष श्री ढेबरभाई ने कहा—"देश को आदर्श की जहां तक जरूरत रहेगी, वहां तक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उसके सामने हैं।"

लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार ने कहा, "टंडन जी भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं और

हमारे प्राचीन महर्षियों की परम्परा के हैं।"

इसी प्रसंग में उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने कहा, "टंडनजी भारतीय संस्कृति की विशाल-हृदयता की उस परम्परा के प्रति निष्ठावान हैं, जिसने उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक देश को एकता के सूत्र में बांधा है।"

यहां यद्यपि प्रसंगवश टंडनजी के संस्कृति-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर उक्त महापुरुषों द्वारा व्यक्त किये गए विचार सूक्ष्म रूप में लिखे गए हैं, पर इनकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि टंडनजी के सिद्धान्त और आदर्श इस सम्बन्ध में अद्वितीय एवं विख्यात होकर स्वयं प्रकाशमान हैं, जो किसी भी प्रमाणपत्र या सम्मति की अपेक्षा नहीं रखते।

भारतीय शासन का आदर्श

यहां यह लिखना भी अप्रासंगिक न होगा कि टंडनजी के प्रशासनिक मतभेद के कारण भी उनके सांस्कृतिक सिद्धान्त ही थे। शासन के सम्बन्ध में वह प्रायः निम्नलिखित आदर्श वाक्यों का उल्लेख किया करते हैं, जिसमें एक प्रसिद्ध वाक्य, चाणक्य या कौटिल्य का, इस प्रकार है—

'राज्यस्य मूलमिन्द्रियनिग्रहः'

टंडनजी इसे भारतीय प्रशासन का 'मोटो' मानकर अपने भारत को इस रूप में देखना चाहते हैं, जिस रूप में दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र ने अपने राज्य को देखते हुए कहा था——

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात, मेरे राज्य में न कोई चोर है, न सूम या कृपण है, न मद्यप है, न कोई अनाहिताग्नि है, न कोई मूर्ख है और न कोई व्यभिचारी ही है। जब मेरे राज्य में कोई व्यभिचारी ही नहीं है तो व्यभिचारणी ही कहां से होगी?

यह है टंडनजी के भारतीय संस्कृति-साम्राज्य का आदर्श, और यही है स्वतन्त्र भारत के वर्तमान प्रशासन से उसके मतभेद का मूल कारण। जिसके कारण प्रशासन में सांस्कृतिक जागरण-सम्बन्धी उनकी आवाज 'नक्कारखाने की तूती' बनकर रह गई। इसी भावना को व्यक्त करते हुए टंडनजी ने भारतीय संस्कृति-सम्मेलन के पंचम अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए ऋषीकेश में इस सम्मेलन की आवश्यकता और उसके संगठन पर प्रकाश डालते हुए कहा था :

"विदेशियों के शासनकाल से व्याप्त देश की सांस्कृतिक विवशता को दूर करने के लिए हमने देश की स्वतंत्रता का भारी संघर्ष छेड़ा, जिसमें हम सफल हुए। किन्तु सफलता के बाद मुझे अपने सहयोगियों के मन का अजीब रूप दिखाई पड़ा। वे भारतीय संस्कृति और उसके आदर्शों के प्रतिकूल चल रहे है। मुझे लगा कि उनके ऊपर अंग्रेज और पाश्चात्य संस्कृति का जादू अभी बाकी है। यह देखकर ही सांस्कृतिक कार्यों को हाथ में लेने वाली भारतीय संस्कृति सम्मेलन जैसी संस्था की अतीव आवश्यकता मैंने अनुभव की। तब से यह सम्मेलन कार्य कर रहा है। इसके द्वारा हमने जनता तथा कार्यक्षम जनों का ध्यान इस प्रश्न की ओर खींचा है और उनमें संस्कृति के लिए काम करने की एक हलचल पैदा की है।"

स्वातन्त्र्य-संग्राम का लक्ष्य

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में प्रविष्ट होने के साथ ही टंडनजी ने इस धारणा को दृढ़ कर लिया था कि अन्तःकालीन मुगल और फिरंगी-शासन के कारण भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप तिरोहित या लुप्त हो चुका है। अतः उनकी दृष्टि से भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम का लक्ष्य केवल आर्थिक या प्रशासनिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना मात्र नहीं था। प्रत्युत मुख्य रूप से उनका लक्ष्य सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था, जिससे देश में पुनः सांस्कृतिक जागरण उत्पन्न कर, स्वतन्त्र भारत के प्रशासन का लक्ष्य एवं संविधान, देश की आत्मा तथा उसकी संस्कृति के अनुरूप बनाना था। टंडनजी के राजनीतिक गुरु महामना पंडित मदनमोहन मालवीय का भी यही लक्ष्य था।

कांग्रेस के बाद की संस्था

देश की स्वतन्त्रता के बाद, टंडनजी तथा गांधीजी दोनों की यह मान्यता थी कि देश को अब कांग्रेस की

आवश्यकता नहीं रही। क्योंकि उसका काम देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद समाप्त हो चुका था। वह चाहते थे कि अब कांग्रेस के स्थान पर देश का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई अन्य ही संगठन हो, जो देश के शासन का सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करे।

नई वेदना

इसी बीच देश में एक नई क्रान्ति उठ खड़ी हुई। उनके बराबर विरोध करने पर भी देश का विभाजन हो गया। फलस्वरूप देश की पूर्वी और पश्चिमी दिग्बालाओं के आंचल भीषण रक्तपात से रंजित हो चुके थे। भीषण नर-संहार, गोद के सहस्रों शिशुओं और निरीह बच्चों का नृशंस वध, दुर्दान्त काल के समान आततायियों द्वारा सहस्रों अबलाओं का सामूहिक अपहरण, अपहृत महिलाओं का सामूहिक नग्न प्रदर्शन एवं खुलेआम लोमहर्षक बलात्कार की करुण चीत्कारें यह सब भला किस चिर-प्रसुप्त की निद्रा भंग न करता? फिर टंडनजी के लिए तो यह कांड असह्य वेदना और शोक का कारण बन गया था। इस परिस्थिति से कट्टर रूढ़िवादी और धार्मिक व्यवस्था देने वाले चिर-प्रसुप्त काशी के विद्वान भी सहसा विचलित होकर जाग उठे।

काशी का विद्वन्मंडल और श्री टंडनजी

इस हृदय-विदारक परिस्थिति को देखते हुए काशी-विद्वन्मंडल के प्रधान मन्त्री एवं काशी के सुधारवादी पंडितों के प्रमुख श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने काशी के समस्त विद्वानों के पास जा-जाकर शुद्धि-व्यवस्था पर उनके हस्ताक्षर लिये और 'काशी विद्वन्मंडल की नौ घोषणाएं' नाम की शुद्धि-व्यवस्था पुस्तिका प्रकाशित की। वह काशी के पंडित-समाज में एक बहुत बड़ी ऐतिहासिक क्रान्ति थी जिसमें विधर्मियों द्वारा अपहृत एवं अपमानित की गई हिन्दू जाति की शुद्धि की सरल व्यवस्था दी गई थी। देश के समस्त प्रमुख पत्रों और विचारकों ने बड़ी-बड़ी टिप्पणियों के साथ इन घोषणाओं का स्वागत किया था। लाखों की संख्या में ये घोषणाएं प्रकाशित की गई थीं। यह घोषणा टंडनजी को नैनीताल में उनकी उक्त वेदना की अवस्था में महौषधि के रूप में प्राप्त हुई और वह तुरन्त ही काशी जाकर विद्वन्-मंडल के प्रधान मन्त्री श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत से मिले। सारस्वतजी से विचार-विमर्श के बाद आपने तुरन्त ही यह निर्णय लिया कि शीघ्र ही एक सांस्कृतिक संस्था का संगठन किया जाय, जो देश की केवल सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए ठोस कार्य करे तथा जो भारतीय संस्कृति के आधार पर शासन और समाज का निर्माण करे। जिस से कुछ वर्षों बाद इस अवशिष्ट देश के विभाजन की समस्या उसके सम्मुख पुनः खड़ी न हो सके। क्योंकि देश का विभाजन श्री मुहम्मद अली जिन्ना के प्रस्तावानुसार सांस्कृतिक आधार को, अर्थात दो संस्कृतियों के सिद्धान्त को, मानकर किया गया था। जो देश के लिए उसकी अपार धन-जन की हानि एवं शिर-पाद-विच्छेद का कारण सिद्ध हो चुका था।

इसी अवसर पर आपको काशी-विद्वन्मंडल की ओर से 'भारतरत्न' की उपाधि से सम्मानित किया गया था।

संस्कृति सम्मेलन का संगठन

टंडनजी ने एवंविध प्रस्तावित संस्था के लिए श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत, श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री गोपाल-शास्त्री दर्शनकेसरी एवं डा० मंगलदेव शास्त्री को साथ लेकर एक समिति का गठन किया। आपको इस सांस्कृतिक संस्था का नाम चुनने में तनिक भी विलम्ब न हुआ, क्योंकि देश में संस्कृत के लिए काम करने वाले संगठन का नाम संस्कृत साहित्य सम्मेलन और हिन्दी के लिए काम करने वाले संगठन का नाम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का रूप सामने था। इसी प्रकार देश में संस्कृति के काम करने वाले इस संगठन का नाम आपने 'भारतीय संस्कृति सम्मेलन' रख दिया। इस प्रकार टंडनजी भारतीय संस्कृति सम्मेलन का संगठन और उसका नामकरण करके प्रयाग में अर्द्धकुम्भी के अवसर पर फरवरी ४८ को इस संस्था का प्रथम अधिवेशन किया। कुछ समय तक उसका प्रधान कार्यालय काशी में रखने के पश्चात सारस्वतजी के परामर्श एवं श्री युगलकिशोर बिरला के सहयोग से देहली में रख दिया गया। तब से उसके नौ अधि-वेशन हो चुके हैं। डा० भगवानदास, जगद्गुरु शंकराचार्य, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, श्री सी० डी० देश-मुख, श्री नरहरि विष्णु गाडगिल एवं श्री राधाकुमुद मुखर्जी आदि महापुरुष इसकी अध्यक्षता कर चुके हैं। सम्मेलन

के मुखपत्र के रूप में प्रधान कार्यालय से 'भारतीय संस्कृति' नामक त्रैमासिक पत्रिका निरन्तर छः वर्षों तक इन पंक्तियों के लेखक के सम्पादन में प्रकाशित होती रही है। इसके कार्यालय का संचालन सम्मेलन के प्रधान मन्त्री एवं 'भारतीय संस्कृति' के प्रधान सम्पादक श्री केदारनाथ शर्मा सारस्वत अब तक करते रहे हैं। गत नवम्बर में उनके निधन के पश्चात टंडनजी के आदेशानुसार सम्मेलन का कार्यालय प्रयाग भेज दिया गया है। अब तक के इस सम्मेलन और 'भारतीय संस्कृति' पत्रिका द्वारा देश के पठित समाज में भारतीय संस्कृति का स्वरूप स्थिर करने के सम्बन्ध में गम्भीर विचार-विमर्श किया गया और सामान्य जनता में 'भारतीय संस्कृति' शब्द का जो व्यापक प्रयोग और प्रचलन हो रहा है, उसका श्रेय टंडनजी तथा उनके सम्मेलन को ही है।

भारतीय संस्कृति की परिभाषा

टंडनजी द्वारा समय-समय पर की गई भारतीय संस्कृति की परिभाषा के अनुसार उसका रूप ऋग्वेदकालीन भारत की बहती हुई गंगा की पवित्र एवं वेगवती धारा के समान है। जिसमें समय-समय पर और स्थान-स्थान से समागत आंग्ल-मुगल आदि कल्चर या तमद्दुनों का संमिश्रण हुआ है। आपके मत से भारत के बौद्ध-जैन आदि सभी मत-मतान्तर उसी भारतीय संस्कृति की शाखा-प्रशाखाएं हैं। इनसे हमारी संस्कृति पल्लवित एवं विकसित हुई है।

टंडनजी के संस्कृति-सम्बन्धी विचारों के अनुसार भारत का निवासी कोई भी व्यक्ति भारत और उसकी संस्कृति के प्रति वफादार होकर ही भारत में रह सकता है। आपकी यह दृढ़ मान्यता है कि अन्य संस्कृतियों के आधार पर पुनः देश को खंडित करने की मांग करने वाले देशद्रोही हैं। उन्हें सीधे उसी देश में भेज देना चाहिए, जहां की संस्कृति की मांग के आधार पर वे भारत में ही रहकर उसके टुकड़े करना चाहते हैं। मुस्लिम संस्कृति को आधार मानकर एक बार देश के टुकड़े करके भारत ने भयानक भूल की है अब वह उसे पुनः दुहराने की भीषण भूल कभी नहीं करेगा।

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इस कालिदासीय सूक्ति का उल्लेख टंडनजी प्रायः करते रहते हैं। जो हर किसी प्राचीन परम्परा के गतानुगतिक ग्राहक या समर्थक नहीं हैं, वे हर वस्तु या विचार को अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसते हैं और उस पर खरा उतरने पर ही वे उसे महत्त्व देते हैं। अन्यथा दुर्गा-सप्तशती के केवल 'पाठमात्र' से या कुम्भ-स्नान के केवल 'भेड़िया धसान' मात्र से उनकी दृष्टि में कोई लाभ तो होता। इसी प्रकार गौवध का विरोध वह उसमें तैंतीस करोड़ देवताओं का निवास मानकर नहीं करते हैं, प्रत्युत अपनी बुद्धिवाद की कसौटी पर उसकी राष्ट्रीय उपयोगिता का मूल्यांकन करके ही करते हैं।

अन्त में राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में श्रद्धेय बाबूजी के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि निम्नलिखित पंक्तियों में समर्पित करता हूं—

पूज्य तुम राजर्षि वथा ब्रह्मर्षि बहुगुण धाम,
व्यर्थ आज वशिष्ठ-विश्वामित्र के संग्राम।
बहुत मेरे अर्थ 'पुरुषोत्तम' तुम्हारा नाम,
सतत श्रद्धायुक्त तुमको शत-सहस्र प्रणाम।

कुछ संस्मरण

श्री इन्द्रनारायण द्विवेदी बुद्धिपुरी

महामना मालवीय द्वारा संचालित 'साप्ताहिक अभ्युदय' के जन्मकाल सन् १९०७ से ही राजर्षि टंडनजी उसमें योगदान देने लगे थे। मेरे लेख भी उस पत्र में निकलते थे। इस प्रकार अभ्युदय द्वारा मैंने टंडनजी को तथा टंडनजी ने मुझे जाना।

सन् १९१० ई० में वाराणसी में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में, जिसमें राजर्षि टंडन प्रधानमन्त्री चुने गए थे, मैं भी प्रयाग से टंडनजी एवं कुछ और विशिष्ट लोगों के साथ प्रतिनिधि बनकर गया था। इस प्रकार परिचय ने संनिकटता तथा सम्पर्क का रूप धारण किया।

सन् १९११ ई० में होने वाले सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन (प्रयाग) में जब मैं स्थायी समिति का सदस्य चुना गया तब मेरा और राजर्षि टंडनजी का सम्पर्क घनिष्ठता में परिणत हुआ। फलस्वरूप तत्कालीन 'हिन्दी पत्र सम्पादक समिति' के मन्त्री राजर्षि टंडन ने सम्पादक-समिति की धन-राशि, जो इलाहाबाद बैंक में जमा थी, तथा समस्त कागज-पत्र मुझे सौंपकर सम्पादक-समिति का मन्त्री नियुक्त करा दिया।

सन् १९१२ ई० में सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, उसमें राजर्षि टंडन, जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल एवं चार-पांच और मित्रों के साथ मैं प्रयाग से कलकत्ता गया और वहां पर सभी लोग एक स्थान पर रहे। राजर्षि टंडन की प्रेरणा से सन बारह के बारहवें मास दिसम्बर की बारहवीं तारीख को शुक्लजी-प्रभृति हम बारह आदमियों ने अपने-अपने विषय के हिन्दी में ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की। मैंने भी 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की थी।

उस समय पुरानी रूढ़ियों के कारण मैं किसी भोजनालय तथा बाजार की दूकानों पर भोजनादि नहीं करता था। अस्तु, लगातार चार दिनों तक मैंने फलों के अतिरिक्त कुछ भोजन नहीं किया और सम्मेलन के कार्य में व्यस्त रहा। चौथे दिन जब टंडनजी को मेरी भोजन-समस्या का ज्ञान हुआ, तब तुरन्त ही उन्होंने डा० आर० एल० बर्मन से कहकर उनके निवास-स्थान पर मेरे भोजन बनाने की व्यवस्था करा दी। मैंने भोजन बनाया और टंडनजी भी अपनी मित्रमंडली के साथ सविनोद भोजन में सम्मिलित हुए।

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मैंने 'भारतीय ज्योतिष' नाम की पुस्तक, जिसमें डेढ़ सौ आचार्यो और प्रमुख विद्वानों के परिचय, 'चरित्र, नई खोजों के विवरण तथा पन्द्रह सौ ज्योतिष-ग्रंथों की सूची, जिसमें अनेक ग्रंथों के विवरण भी थे, तैयार की। पुस्तक को देखकर टंडनजी बड़े प्रसन्न हुए तथा सम्मेलन की स्थायी समिति से उसके छपाने के लिए अनुरोध किया। अभ्युदय प्रेस में कम्पोज करने के लिए कुछ अंश दिये गए। तीन फार्म कम्पोज हुए, किन्तु प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के कारण कागज बहुत मंहगा हो गया। पुस्तक का आकार कुछ बड़ा था; अर्थात्, पुस्तक छपने पर डबल क्राउन सोलह पेजी आकार के लगभग आठ सौ पृष्ठों में पूर्ण होती तथा अधिक संख्या में पुस्तक की बिक्री भी न हो सकती। अस्तु, सम्मेलन के पास पर्याप्त धन न होने के कारण तत्कालीन परीक्षा-मन्त्री प्रो० ब्रजराज ने पुस्तक छपाने का कार्य रोक देने का आग्रह किया। फलस्वरूप पुस्तक नहीं छापी गई और कम्पोज किया हुआ मैटर डिस्ट्रीब्यूट करा दिया गया।

हस्तलिखित पुस्तक सम्मेलन-कार्यालय में रक्खी गई और 'ज्योतिष-रत्न' की परीक्षा में वह पाठ्य पुस्तक के रूप में भी रक्खी गई, जो न जाने कब और कैसे सम्मेलन-कार्यालय से गायब हो गई। बहुत खोज करने पर भी उसका कोई पता नहीं चला।

पंडित टीकाराम त्रिपाठी सन् १९१२ में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के अध्यापक थे। लोकमान्य तिलक का चित्र रखने के अपराध में जब वह अध्यापक-पद से हटा दिए गए तब वह मेरे पास आए। मैं उनको लेकर राजर्षि टंडनजी के पास गया। उनका वृत्तान्त सुनकर राजर्षि टंडनजी ने उनको 'भारती भवन' पुस्तकालय के लाइब्रेरियन के पद पर नियुक्त करा दिया और उसके पश्चात भी उन पर टंडनजी की कृपा-दृष्टि सदा बनी रही।

सन १९१६ में जब अंग्रेजी शासन के पुलिस अधिकारी बनारस के राजद्रोह-केस में मुझे गिरफ्तार करके ले गए और कई दिनों के बाद महामना मालवीयजी की कृपा से केस के अध्यक्ष मि० मेरिस ने मुझको मुक्त किया। तब से प्रयाग की पुलिस मुझ पर बड़ी कड़ी दृष्टि रखने लगी। प्रयाग में मैं मुट्ठीगंज के एक रायसाहब के मकान में रहता था और उनको प्रयाग की पुलिस ने मुझे स्थान खाली कर देने के लिए कहने के लिए बाध्य-किया। यह खबर टंडनजी को मिली। टंडनजी ने मुझे सम्मेलन के तिमंजिले भवन के सबसे ऊपरी भाग में रहने की सुविधा प्रदान की। उस समय सम्मेलन-कार्यालय भारतीय भवन के पास एक किराए के मकान में था। ऐसी परिस्थिति में टंडनजी का और मेरा सम्पर्क प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

इसी बीच सम्मेलन की परीक्षाओं का कार्य बढ़ा और उसकी मध्यमा की पाठ्य पुस्तकों में सूर्य-सिद्धान्त भी रक्खा गया। टंडनजी की प्रेरणा से मैंने सूर्य-सिद्धान्त का सरल हिन्दी-अनुवाद, बृहद भूमिका और दो परिशिष्टों के साथ तैयार किया। टंडनजी ने श्री सुदर्शनाचार्य के प्रेस में उसके छपाने का प्रबन्ध किया और उसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन आदि का भार भी मुझे सौंपा। श्री नरेन्द्रनारायणसिंह के अलग होने पर सम्मेलन-पत्रिका के सम्पादन का सौभाग्य भी टंडनजी ने मुझे दिया। सम्मेलन की प्रायः सभी उपसमितियों का सदस्य और ज्योतिष की 'मध्यमा' तथा 'उत्तमा' परीक्षा का परीक्षक होने के नाते सम्मेलन के प्रधान मन्त्री टंडनजी से मेरा सम्पर्क, सम्मिलन और घनिष्ठता बहुत बढ़ गई थी।

जबलपुर के छठे अधिवेशन के समय प्रोफेसर ब्रजराज ने उस सम्पादकीय टिप्पणी के सम्बन्ध में मेरे विरुद्ध एक आपत्ति का प्रस्ताव विषय-निर्वाचिनी समिति के समक्ष रक्खा, तो टंडनजी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से बाबू श्यामसुन्दर दास (सम्मेलन के सभापति) के प्रभाव द्वारा उस प्रस्ताव को वापस कराया और स्थायी समिति के सदस्यों के बीच अंकुरित विरोधाभास को मैत्रीपूर्ण ढंग से शान्त किया।

सन् १९१९ ई० में प्रयाग जिला कांग्रेस का अधिवेशन बहादुरगंज के मैदान में हुआ। टंडनजी उसके सभापति थे तथा मंत्रियों में मैं भी एक मन्त्री था। खिलाफत के सम्बन्ध में असहयोग करने के कलकत्ता-कांग्रेस के प्रस्ताव को जब श्री बसन्तलाल शर्मा ने उपस्थित किया और मैंने इस सम्बन्ध में उनसे कुछ प्रश्न किए तो शर्माजी बड़े उत्तेजित हुए। उस समय टंडनजी ने मुझे अपनी बातों को लौटा लेने की सम्मति देकर विरोध को शान्त किया।

स्वराज सम्बन्धी विषय में जनमत जानने की इच्छा से जब भारतमंत्री भारत आए तो देश के सभी वर्गों के लोगों ने अपनी-अपनी मांगें उनके सम्मुख प्रस्तुत कीं। किन्तु देश के प्राण किसानों के सम्बन्ध में किसी संस्था अथवा नेता ने कुछ भी चर्चा नहीं की। इससे मुझे बहुत क्षोभ हुआ। उस समय मैं ज्वर से पीड़ित अपने निवास-स्थान बुद्धिपुरी (ग्रामीण क्षेत्र) में था। वहीं से मैंने महामना मालवीयजी को पत्र लिखा कि 'समाचारपत्रों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि देश की किसी भी संस्था अथवा नेता को भारत-मन्त्री के समक्ष किसानों के अधिकारों एवं मांगों को रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मैं ज्वर से पीड़ित हूं, नहीं तो आपकी सेवा में उपस्थित होकर इस सम्बन्ध में बहुत सी बातें करता।' पत्र पाकर महामना ने लिखा, "यहां समय अस्वस्थ बनकर बैठने का नहीं, काम करने का है। स्वस्थ होकर शीघ्र चले आओ।" पत्रोत्तर पढ़कर हृदय कुछ ऐसा उत्साहित हुआ कि यद्यपि मैं अभी पूर्ण स्वस्थ न हुआ था, तथापि महामना मालवीयजी की सेवा में उपस्थित होकर किसानों के दावे के रूप में २६ बातें लिखित रूप से उनके

सम्मुख प्रस्तुत कीं। देखकर मालवीयजी बड़े प्रसन्न हुए और इसका अंग्रेजी अनुवाद कराने को कहा। तथा आदेश दिया कि हिन्दी और अंग्रेजी दोनों तरह की प्रतियां छपाकर, उन पर किसानों के अधिक-से-अधिक हस्ताक्षर कराके भारत-मन्त्री की सेवा में भेजो। मैंने टंडनजी को भी किसानों का वह मांग-पत्र दिखलाया और महामना की सम्मति बतलाई। बड़ी प्रसन्नता के साथ टंडनजी ने उसका अंग्रेजी अनुवाद कर दिया।

उस दावे को मैंने अंग्रेजी और हिन्दी में छपाकर ग्यारह हजार से अधिक किसानों के हस्ताक्षर करा लिए।

माघ की अमावस्या को प्रयाग के त्रिवेणी-तट पर सनातन धर्म महासभा के पण्डाल में महामना मालवीय जी की कृपा और टंडनजी की सम्मति से संयुक्तप्रान्तीय किसान सभा का अधिवेशन किया गया, जिसमें मालवीयजी के पंचामृत-उपदेश तथा टंडनजी का भाषण हुआ और किसानों का दावा प्रस्ताव के रूप में पास करके भारत-मन्त्री की सेवा में भेजा गया। जब मालवीयजी की आज्ञा से संयुक्त प्रान्तीय किसान सभा को स्थायी रूप दिया गया और उसके सभापति-पद के लिए कोई महापुरुष तैयार नहीं हुआ, तब तीसरे दिन के अधिवेशन में मैंने अपने विश्वास के अनुसार टंडनजी को सभापति बनाने का प्रस्ताव किया। वह सर्व-सम्मति से पास हो गया। यह समाचार जब मैंने टंडनजी को सुनाया तब उन्होंने यह नहीं कहा कि हम से बिना पूछे हमारा नाम आपने क्यों रक्खा, बल्कि सदा की भांति मेरी बातों को सुन, हँसकर रह गए।

सन् १९१९ में नए शासन-सुधार पर मैंने किसान पुस्तक-माला की प्रथम पुस्तक 'कौंसिल और किसान' लिखी, जिसके लिखने में टंडनजी ने मुझे विशेष सहायता दी। सन् १९२० के निर्वाचन में उस पुस्तक का अच्छा प्रभाव पड़ा।

किसान सभा के उपसभापति पण्डित गौरीशंकर मिश्र के प्रस्ताव पर जब किसान सभा की स्थायी समिति की बैठक २४ अक्तूबर, १९१९ को बुलाई गई, तब उस बैठक में टंडनजी, सभापति बाबू संगमलाल अग्रवाल और पं० गौरीशंकर मिश्र आदि १८ पदाधिकारी और सदस्य उपस्थित थे। पं० गौरीशंकर मिश्र के असहयोगी प्रस्ताव उपस्थित करने पर दोनों पक्षों के लोगों के भाषण हुए। सभा में फूट पैदा हो जाने का भय उपस्थित हुआ, तब टंडनजी ने अपने प्रभाव से दोनों पक्षों को इस बात पर राजी किया कि किसान सभा इस विषय में तटस्थ रहेगी। उसके सदस्य, सहयोगी और असहयोगी, दोनों मतों के मानने वाले होंगे।

सन् १९-२० की बात है। हमारे मित्र स्व० बाबू श्री पं० गौरीशंकर मिश्र (दैनिक 'भविष्य' के सम्पादक) किसी कारणवश हमसे नाराज थे। उन्होंने महात्मा गांधी के सम्बन्ध में मेरे विरुद्ध एक आपत्तिजनक टिप्पणी 'भविष्य' में प्रकाशित की, जिससे जनता में मेरे प्रति क्रोध और क्षोभ उत्पन्न हुआ। बातें बिल्कुल असत्य थीं। मैंने उस टिप्पणी को लेकर मिश्रजी के विरुद्ध केस चलाने के लिए तत्कालीन एडवोकेट बाबू रामनामाप्रसाद के द्वारा नालिश तैयार कराई और दूसरे दिन उसके दायर करने का विचार था, किन्तु उसी दिन मेरे पास तत्कालीन जिलाधीश के० एन० नाक्स ने अपना अर्दली भेजा। अर्दली ने कहा कि साहब साथ ही बुला रहे हैं। मैं गया। जिलाधीश ने मुझसे 'भविष्य' में प्रकाशित टिप्पणी के विषय में प्रश्न किया कि क्या यह सत्य है? मैंने उत्तर दिया कि बिल्कुल गलत है। तब जिलाधीश ने कहा कि आप सम्पादक पर मुकदमा चलाइए, उसको सजा मिलेगी। मेरे हृदय में धक्का लगा। मैंने अपने पूर्व विचार को त्यागकर उत्तर दिया कि इस विषय में मैं अपने वकीलों से परामर्श करूंगा। जैसा कहेंगे, वैसा करूंगा। जिलाधीश ने कहा कि आप कप्तान साहब से भी मिलिए। वह भी आपसे मिलना चाहते हैं। मैं वहां से कप्तान साहब के पास गया। वह भी अंग्रेज थे। उन्होंने भी वही बात कही कि आप मुकदमा चलाइए। सम्पादक को सजा हो जाएगी, क्योंकि इस टिप्पणी से जनता आपके विरुद्ध उत्तेजित हो रही है। आपके लिए खतरे की बात है। कप्तान साहब की बातें सुनकर मैंने मिश्रजी के विरुद्ध मुकदमा चलाने का इरादा बिल्कुल त्याग दिया। मेरे हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि ये अंग्रेज-अधिकारी हमको आपस में लड़ाकर लाभ उठाना चाहते हैं। मैं वहां से लौटकर राजर्षि टंडनजी के निवास-स्थान जानसेनगंज वाले मकान पर पहुंचा और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। और यह भी कहा कि मैंने मुकदमा चलाने की जो तैयारी की थी, वह मेरी भूल थी। मैं अंग्रेजी सरकार की अदालत में नहीं, आपके समक्ष मिश्रजी पर मुकदमा पेश करता

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

श्री देवराज मिश्र

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के जीवन-परिचय का क्रम-बद्ध विवरण सही-सही प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन है। श्रद्धेय टंडनजी स्वयं कभी अपने सम्बन्ध में लिख सके तो राष्ट्रीय साहित्य की एक अमूल्य निधि हमें प्राप्त हो सकती है, किन्तु ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। एक तो उनका स्वास्थ्य इस समय ऐसा नहीं है दूसरे इस कार्य के लिए अवकाश निकाल सकना उनके लिए कठिन है। इसलिए यत्र-तत्र बिखरे संस्मरणों से ही हमें संतोष करना पड़ता है। पांच वर्षों तक उनके निकट रहकर उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जो कुछ मैं समझ सका हूं वह थोड़े से शब्दों के सहारे प्रतिबिम्बित नहीं किया जा सकता। यह तो एक लघु प्रयास मात्र ही है।

टंडनजी का कार्य-क्षेत्र चतुर्मुखी और व्यापक रहा है। वे सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी क्षेत्रों में समान रूप से दिलचस्पी लेते हैं। उनका जीवन एक ऐसे ऋषि का जीवन है जिसकी उपलब्धियां सभी क्षेत्रों में समान रूप से हैं और जिसकी सेवाओं का मूल्यांकन प्रत्येक क्षेत्र में अपना अलग महत्त्व रखता है। राजनीति में कांग्रेस के अध्यक्ष-पद पर आसीन होकर उन्होंने संस्था का मान बढ़ाया है। कांग्रेस के इतिहास में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और श्रद्धेय टंडनजी दो ही ऐसे अध्यक्ष हुए हैं जिन्हें प्रारम्भ से ही मूर्धन्य नेताओं का कोप-भाजन बनना पड़ा। किन्तु दोनों में अन्तर भी है। टंडनजी ने अध्यक्ष-पद का परित्याग देश-हित में उसी प्रकार किया जिस प्रकार मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र ने अयोध्या का युवराज-पद ठुकराया था और विशेषता यह है कि इस त्याग से इन्हें कोई ग्लानि नहीं हुई। वह उसी प्रकार प्रसन्न रहे जिस प्रकार अध्यक्ष रहते हुए थे। भगवान रामचन्द्रजी के लिए कहे गए ये शब्द टंडनजी के ऊपर अक्षरशः लागू होते हैं:

प्रसन्नतां या न गताभिषेकस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुल-मंगल-प्रदा॥

श्रद्धेय टंडनजी जब कांग्रेस-अध्यक्ष निर्वाचित हुए तब नासिक-अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से दिये गए भाषण में उन्होंने एक कथानक का उल्लेख किया। उन्होंने कहा—

"एक गड़रिया था। वह भेड़ें चराया करता था। उसके पास एक बांसुरी और एक कम्बल था। एक दिन एक राजा उस जंगल से निकला जहां वह भेड़ें चरा रहा था और मस्ती में बांसुरी बजा रहा था। गड़रिए ने राजा की ओर कोई ध्यान न दिया। उस गड़रिए की एकनिष्ठा से राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे लेकर वह अपनी राजधानी वापस आ गया। राजा ने उसे मंत्री बना दिया। राज-कर्मचारियों में इस नये मंत्री के विरुद्ध षड्यन्त्र होने लगा। राजा के पास भी शिकायत पहुंची कि नये मंत्री ने एक कमरे में ताला लगा रखा है जिसकी चाभी उन्हीं के पास है और वह प्रत्येक रात को उस कमरे को खोलकर उसमें संचित धन को संतोष के लिए देख लेते हैं। राजा ने नये मंत्री से कहा कि तुम्हारे प्रति लोगों को शिकायत है। जिस कमरे में तुम्हारा ताला पड़ा है उसे मैं देखना चाहता हूं कि उसमें क्या है? उसने जवाब दिया कि मैं आपको वह कमरा दिखला दूंगा, किन्तु उसकी एक शर्त है, वह यह कि फिर मैं इस पद पर और इस राज्य में नहीं रहूंगा। उसने सबके सामने उस कमरे का ताला खोलकर राजा को दिखाया। उसमें वही उसका

पुराना निजी कम्बल और बांसुरी सुरक्षित रखी थी। उसने दोनों वस्तुओं को उठाया और मस्ती में बांसुरी बजाता हुआ मंत्रि-पद छोड़कर चला गया। राजा ने बहुत अनुनय-विनय और क्षमा-याचना की किन्तु उसके ऊपर इन सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी पूर्व स्थिति में ही मस्त और प्रसन्न था।" कांग्रेस अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र देने के बाद कई लोगों ने जब टंडनजी से कहा कि आपने तो अपने भाषण में इस कथानक का उल्लेख अपने लिए ही किया था, तब वह केवल मुस्करा दिए। मुझे मालूम है कि उस समय टंडनजी पर उनके मित्रों का कितना दबाव पड़ा कि आप कांग्रेस छोड़ दें, किन्तु उन्होंने यही कहा कि मैं समझता हूं कि कांग्रेस छोड़कर देश का भला नहीं किया जा सकता और हम जानते हैं कि टंडनजी अपने इस उद्‌गार को व्यावहारिक रूप में अभी भी चरितार्थ कर रहे हैं।

पर-दुःख-कातरता

टंडनजी स्वभाव से बड़े कोमल, दयालु और मृदु-भाषी हैं। वह किसी भी दुखी को देखकर द्रवीभूत हुए बिना नहीं रह सकते। सन् १९४७ की बात है, देश का विभाजन हो चुका था। लाखों शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गए थे। उनके निवास और भोजन की भयंकर समस्या थी। टंडनजी कहीं जा रहे थे। सड़क पर दो-तीन पंजाबी बच्चे लोगों से भीख मांग रहे थे। झट मोटर रोककर टंडनजी ने बच्चों से बातचीत की और उन्हें घर पर ले गये। वहां से चलते समय उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे। उन्होंने कहा, 'पंजाबी कभी भीख नहीं मांगता, किन्तु इस मुसीबत में बेचारों को पेट भरने के लिए यह भी करना पड़ रहा है।' विभाजन से उत्पन्न कठिनाइयों और आपत्तियों का प्रभाव टंडनजी पर बहुत पड़ा और वह इससे बहुत दुखी हुए। हम जानते हैं कि दूरदर्शी टंडनजी ने इन्हीं कठिनाइयों का हवाला देकर विभाजन का कितना कड़ा विरोध किया था।

रामलीला के लिए बच्चों का दान

एक बार इलाहाबाद में रामलीला के सम्बन्ध में हिन्दू-मुस्लिम तनाव हुआ। मुसलमानों की इस धमकी से कि रामलीला का जुलूस नहीं निकलने पाएगा और यदि निकलेगा तो खून की नदियां बह जाएंगी, हिन्दुओं के मन में डर पैदा हुआ और राम-लक्ष्मण बनने के लिए लोग अपने बच्चे देने में डरने लगे। कोई तैयार नहीं हो रहा था। रामलीला कमेटी के मैनेजर ने इस कठिनाई की चर्चा जब टंडनजी से की तो वह उबल पड़े। उन्होंने कहा, "इस प्रकार की गुंडागर्दी की धमकी से रामलीला नहीं रोकी जा सकती। आप जाइए और जुलूस का प्रबन्ध कीजिए, अपने सातों बच्चे मैं आपके हवाले करता हूं। इस कार्य के लिए यदि उनका खून हो जाता है तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं; लेकिन जुलूस निकलेगा, उसे कोई रोक नहीं सकेगा।" टंडनजी की इस घोषणा का ऐसा प्रभाव हुआ कि जुलूस शान्तिपूर्वक पूरे शहर का भ्रमण कर निर्विघ्न वापस लौट आया। ऐसे दृढ़-प्रतिज्ञ हैं टंडनजी!

दूध का परित्याग

सन् १९३७ की बात है। टंडनजी अस्वस्थ थे। डाक्टरों के मतानुसार उन्हें गाय का ताजा दूध पीना चाहिए था। उस समय वह उत्तर प्रदेश व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष थे। ग्वाला सवेरे गाय लेकर स्पीकर-भवन आता था और दूध दुहता था। संयोग से एक दिन जब ग्वाला दूध दुहने के लिए आया ही था कि टंडनजी बाहर आगए। बछड़ा गाय के स्तन से लगा दिया गया और जब थन में दूध आगया तो बछड़े को गाय के आगे खड़ा करके पकड़ लिया गया और ग्वाला दूध दुहने लगा। इस बीच बछड़ा दूध पीने के प्रयास में गाय के अगले पैरों के बीच मुंह मारने लगा। टंडनजी यह दृश्य एकटक देख रहे थे। उनकी आंखों से अश्रुधारा बह रही थी। उन्होंने तत्काल ग्वाले को दूध दुहने से मना कर दिया, और कहा, "आज से मैं दूध नहीं लूंगा। जब हम अपनी मा का दूध दूसरे को नहीं देते तब दूसरे की मा का दूध अपने लिए लेना शुद्ध अनाचार और इस मूक एवं निरीह पशु के साथ घोर अत्याचार है। हमें क्या अधिकार है कि हम इन मूक पशुओं पर अत्याचार करें? इसलिए कि ये बोल नहीं सकते? मुझे दूध नहीं चाहिए।"

पशु-वध से प्राप्त चर्म का परित्याग

इसी संदर्भ में एक बात और स्मरण हो आई है। टंडनजी मृत जानवर के चमड़े का अथवा कपड़े का जूता

पहनते हैं। इसके पीछे भी उनके संत-हृदय की पर-पीड़ा ही कारण है। सन् १९०७ में कर्वी (जिला बांदा) के कुछ लोग महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के पास इस आशय का मसौदा बनवाने के लिए आए कि कर्वी में खुलने वाला कसाईघर रोक दिया जाय। मालवीयजी ने मसौदा बनाने का कार्य टंडनजी को दिया और उन लोगों से कहा कि इस संबंध में टंडनजी से बात करें। जब वे लोग टंडनजी के पास मसौदा बनवाने के लिए आए तो टंडनजी ने पूछा, "क्या कर्वी में मांसाहारियों की इतनी संख्या है कि यह कसाईघर वहां चल सके ?" इस पर उन लोगों ने उत्तर दिया, "कसाई-घर वहां मांस के लिए नहीं खोला जा रहा है मांस जो बिकेगा वह बिकेगा, अन्यथा फेंक दिया जायेगा; यह कसाईघर तो गाय के चमड़े के लिए खोला जा रहा है। आजकल बुन्देलखण्ड में सूखा पड़ा हुआ है। लोगों के पास जानवरों को खिलाने के लिए चारा नहीं है अतः एक गाय की कीमत एक-दो रुपया मात्र है। इसी गाय का चमड़ा आठ-नौ रुपये में बिक जाता है अतः यह कसाईघर खोला जा रहा है।" कसाईघर का खुलना तो रुक गया, किन्तु उसी दिन से टंडनजी ने निश्चय किया कि चमड़े का जूता नहीं पहनेंगे और वह निश्चय आज तक अटल है।

टंडनजी का व्यक्तित्व संयम, सादगी और तपस्या का मूर्तिमान प्रतीक है। एक मध्यम श्रेणी के परिवार में जन्म लेकर अपनी तपस्या, साधना और संयम से इतने ऊंचे स्तर तक पहुंच जाना, विरले व्यक्तियों का ही काम है। टंडनजी हमारे देश के ऐसे संत हैं जो शताब्दियों में आते हैं और निर्लिप्त भाव से जनता की सेवा करते रहते हैं। उन्हें किसी फल की आकांक्षा नहीं रहती, अपितु वे समाज की प्रतारणा सहकर भी उसे कुछ न कुछ देते ही रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में टंडनजी का व्यक्तित्व एक मूक संत का व्यक्तित्व है।

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पर कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥
तुलसी संत सुअम्ब तरु, फूलि फलहिं पर हेत।
इतते वे पाहन हनें, उतते वे फल देत॥

टंडनजी अपने सिद्धान्तों की बलि चढ़ाकर किसी के सामने झुकने को तैयार नहीं हो सकते। जिस बात को वह सही समझते हैं उस पर वह किसी भी मूल्य पर समझौता नहीं कर सकते, चाहे उससे उनकी कितनी ही बड़ी हानि क्यों न हो। अपने प्रतिकूल सिद्धान्तों से समझौता उनका निष्कपट हृदय स्वीकार नहीं कर सकता। इस कार्य पर उनका हृदय विद्रोह करने लगता है और वह ऐसा अनुभव करते हैं कि अपनी अंतरात्मा के प्रति विश्वासघात का गुरुतर अपराध करने जा रहे है। यही कारण है कि ऐसे संकटकाल में अपने को एकान्तसेवी बना लेते हैं और अपने सिद्धान्त पर नगराज हिमालय की तरह अटल रहते हैं। उनके निश्चय से उन्हें कोई डिगा नहीं सकता। इस प्रसंग में दो-एक उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

राष्ट्रपिता बापूजी और श्रद्धेय टंडनजी में राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर जो मतभेद रहा वह तो बहुश्रुत है। सभी जानते हैं कि टंडनजी, 'हिन्दी राष्ट्रभाषा हो और नागरी राष्ट्रलिपि हो', इसके समर्थक है। अपने इस निश्चय से वह कभी विचलित नहीं हुए, यद्यपि इस प्रश्न को लेकर उन पर मिथ्या आरोप भी लगाये गए। इसी प्रकार बापूजी की अहिंसा और टंडनजी की अहिंसा में भी अन्तर था। बापूजी अपनी अहिंसा की व्याख्या यों करते थे कि किसी भी दशा में हिंसा उपादेय या ग्राह्य नहीं होनी चाहिए; जबकि टंडनजी की व्याख्या यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में मनुष्य बाध्यतः यदि हिंसा कर भी दे तो वह ग्राह्य व समीचीन है।

सामयिक चेतावनी

सबको विदित है कि सन् १९४६ में जब अन्तरिम सरकार ने केन्द्र में कार्यभार ग्रहण किया तब बंगाल में लीगी गुण्डाशाही अपने नग्न रूप में तांडव नृत्य कर रही थी। सन् १९४७ के मई मास में टंडनजी ने इस गुण्डाशाही के विरुद्ध जनता को सतर्क किया और उन्होंने यह रहस्योद्घाटन किया कि देश में बाहर से गुप्त रूप में मुसलमानों के पास हथियार आ रहे है और उनके यहां अस्त्र-शस्त्र-संग्रह हो रहा है। बाद में चलकर यह सत्य साकार हुआ जबकि सरकार

के सशस्त्र सिपाहियों के सामने दिल्ली आदि स्थानों पर डटकर मोर्चा लिया गया। किन्तु उस समय एक तहलका मच गया जब टंडनजी ने यह सत्य बात जनता के सामने रखी। टंडनजी ने यह भी कहा कि यदि इस प्रकार की गुण्डागर्दी हो तो जनता स्वतः उसका प्रतीकार करने के लिए तैयार रहे और सरकार को सुझाव दिया कि वह गुंडों से परित्राण पाने के लिए लोगों को हथियार दे।

किसी सज्जन ने टंडनजी के इस भाषण की कतरन पूज्य बापूजी को भेजी। बापूजी ने इस कतरन के साथ एक पत्र टंडनजी को भेजा और उसमें लिखा कि, "यदि इसमें कही गई बात सही है तो हम आपस में कहां मिलते हैं? हमारी अहिंसा की मान्यताएं भिन्न हैं अतः हम एक ही साथ एक संगठन में कैसे काम कर सकते हैं?" आगे उन्होंने लिखा कि किसी दिन आप मिल लें तो इस विषय में बात हो। टंडनजी ने इस पत्र का उत्तर देते हुए बापूजी को लिखा कि, "यह सही है कि मैंने इस कतरन में लिखी गई बात कही है। मैं अहिंसा में विश्वास करता हूं; किन्तु मैं यह जानना चाहूंगा कि यदि एक आततायी किसी बालक का वध कर रहा हो और मैं वहां उपस्थित हूं तो एक अहिंसक के नाते उस समय मेरा क्या कर्तव्य होगा? उस बालक का वध होने दूं अथवा उसे रोकूं? रोकने में यदि कोई उपाय कारगर न साबित हो तो फिर उस स्थिति में मेरा क्या कर्तव्य हो जाता है? मेरी अल्प बुद्धि में तो यही आता है कि मैं उस आततायी का हनन करूं और उसे उस निरीह बालक की हत्या करने से रोकूं। इसलिए मैंने अपने भाषण में 'शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत्' की बात कही है। ऐसे आततायियों को रोकने में यदि मेरी अहिंसा असफल होती है तो मुझे हिंसा का भी सहारा लेकर उसका प्रतीकार करना चाहिए। इस कार्य में कहीं अहिंसा की अवमानना नहीं है।"

स्वाधीन भारत की पुनर्रचना के संबंध में टंडनजी की अपनी एक कल्पना है। वह देश को उस स्थिति में देखना चाहते हैं जो सही माने में 'रामराज्य' हो। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने 'रामराज्य' का जो चित्र अपनी कल्पना द्वारा खींचा है आज टंडनजी उसी चित्र को साकार देखना चाहते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने 'रामराज्य' का वर्णन करते हुए कहा है:

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

"रामराज्य में न कोई चोर है न कायर है और न शराब पीनेवाला है। ऐसा कोई घर नहीं जहां अग्नि न जलती हो अर्थात् भोजन न बनता हो, कोई पर-स्त्री-गामी भी नहीं है अतः व्यभिचारिणियों के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

टंडनजी की कल्पना के अनुसार भावी भारत का यही चित्र है। वह समझते हैं कि पूज्य गांधीजी के स्वप्नों का यही भारत है।

आइए, टंडनजी की इस कल्पना को साकार करने का हम संकल्प लेकर हम उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलियां अर्पित करें।



टंडनजी और गांधीजी

(संकलन)

टंडनजी गांधीजी के अनन्य सहयोगी रहे। सेवा, श्रम, त्याग और रचनात्मक कार्यक्रमों में उन्हें गांधी जी की प्रतिमूर्ति ही कहा जा सकता है। जैसे श्री अब्दुल गफ्फार खां को 'सीमांत गांधी', खां अब्दुस्समद खां को 'बलोच गांधी' कहा जाता था, उसी प्रकार, एक समय था, जब जनता टंडनजी को 'उत्तरप्रदेश का गांधी' कहा करती थी। सन् १६३० में जब टंडनजी ने पंजाब नेशनल बैंक के सैक्रेटरी का भारी वेतन वाला पद छोड़कर गांधीजी के कहने से 'लोक-सेवक मण्डल' का कार्य संभाला, तो अपने 'यंग इंडिया' में गांधीजी ने एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी। जिसमें टंडनजी के त्याग और स्वदेश-प्रेम की भूरि-भूरि सराहना की थी।

टंडनजी ही गांधीजी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन में लाए। टंडनजी ने गांधीजी के अहिंसा के सिद्धान्तों को अपने दैनिक जीवन और लोक-व्यवहार में जितना उतारा, उतना, उस रूप में, शायद और किसी से कम ही संभव हुआ होगा। लेकिन टंडनजी कभी अन्धविश्वासी या विवेकहीन श्रद्धा के समर्थक नहीं रहे। उन्होंने हर बात को अपने विवेक के कांटे पर तोला है। और यदि उसमें कहीं भी पासंग नजर आया है, तो कितना ही बड़ा लाभ क्यों न मिले, उसे तृणवत् समझकर त्याग दिया है। यहां हम अहिंसा-हिंसा और हिन्दी-हिन्दुस्तानी पर गांधीजी तथा टंडनजी के ऐतिहासिक विचारों को उद्धृत कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि न दोनों नेताओं में मतभेद है, लेकिन न टंडनजी में अविनय है, और न गांधीजी में स्नेह की कमी। इन प्रसंगों से, गांधीजी और टंडनजी दोनों की विचार-दृढ़ता और विवेकनिष्ठा का पता चलता है।

—सम्पादक

अहिंसा और हिंसा

एक भाई ने मेरे पास इस आशय का एक बहुत सख्त पत्र भेजा है कि "क्या तुम अब भी पागल ही रहोगे? अब तो थोड़े दिनों में इस दुनिया से चले जाओगे, तब भी कुछ सीखोगे नहीं? यदि पुरुषोत्तमदास टंडन ने यह कहा कि 'सबको तलवार लेनी चाहिए, सिपाही बनना चाहिए और अपना बचाव करना चाहिए' तो तुमको इस बात से चोट क्यों लगती है? तुम तो गीता के पढ़ने वाले हो? तुम्हें तो इन द्वन्द्वों से परे हो जाना चाहिए और बात-बात में चोट लगा लेने या खुश होने की झंझट छोड़ देनी चाहिए। तुम उस कहानी वाले भोले साधुबाबा-जैसी बात करते हो जो पानी में बहते हुए बिच्छू के डंक लगाने पर भी उसे हाथ से पकड़कर बचाने की कोशिश करता था। अगर तुम से अहिंसा का गीत गाये बिना रहा नहीं जाता तो कम से कम जो दूसरे रास्ते से जाते हैं उन्हें तो जाने दो। उनके बीच में रोड़ा क्यों बनते हो?"

अगर मैं स्थितप्रज्ञ रह सका तो अपनी एक सौ पच्चीस वर्ष की उम्र में से एक भी वर्ष कम जिन्दा नहीं रहूंगा। अगर हम सब स्थितप्रज्ञ बनें तो हममें से एक भी आदमी को १२५ वर्ष से जरा भी कम जीने का कोई कारण नहीं है। वैसे भगवान चाहे तो भले ही मुझे आज ही उठा ले, पर अभी तुरन्त में चलने वाला नहीं हूं। मुझे अभी रहना

है और काम करना है। पुरुषोत्तमदास टंडन मेरे पुराने साथी हैं। हम वर्षो तक साथ-साथ काम करते आए हैं। मेरे जैसे ही ईश्वर के वह भक्त हैं। जब मैंने यह सुना कि वह ऐसी बात कर रहे हैं तब मुझे दुःख हुआ। मैंने कहा कि आज तीस बरस से भी अधिक समय से जो हमने सीखा है और जिसकी हमने लगन से साधना की है, वह क्या इस तरह गँवा दिया जाएगा ? बचाव के लिए तलवार पकड़ने की बात की जाती है, पर आजतक मुझे दुनिया में एक आदमी ऐसा नहीं मिला है, जिसने बचाव से आगे बढ़कर प्रहार न किया हो। बचाव के पेट में ही वह पड़ा है। अब रही मेरे दिल पर चोट लगने की बात; अगर मैं पूरा स्थितप्रज्ञ बन गया होता तो मुझे चोट न लगती। अब भी चोट न लगे, ऐसी कोशिश मैं कर रहा हूं। कल जहां था, वहां से आज कुछ-न-कुछ आगे ही बढ़ता हूं। अगर ऐसा नहीं तो रोज-रोज गीता में से स्थितप्रज्ञ के ये श्लोक बोलने में मैं दंभी ठहरता हूं; पर ऐसा नहीं हो सकता कि इन श्लोकों के बोलने भर से ही कोई एक ही दिन में स्थितप्रज्ञ बन जाय।

आज सवेरे जब मेरा मौन था तो श्री पुरुषोत्तमदास टंडन आए। मैंने आपको बताया था कि टंडनजी ने कहा था कि हरेक स्त्री-पुरुष को शस्त्रधारी बनना चाहिए और स्वरक्षा करनी चाहिए, तो यह सुनकर मुझे कैसा बुरा लगा था। एक पत्र-लेखक ने मुझसे पूछा था कि गीता पढ़ते रहने पर भी इस तरह आपको बुरा कैसे लग सकता है ? उप पत्र से यह भी पता चलता था कि टंडनजी 'शठं प्रति शाठ्यं' का सिद्धान्त मानते हैं। तब टंडनजी से मैंने पूछा कि आप क्या मानते हैं ? इसका खुलासा देते हुए टंडनजी ने बताया कि मैं 'शठं प्रति शाठ्यं' के सिद्धान्त को नहीं मानता हूं, लेकिन स्वरक्षा के लिए शस्त्रधारी बनना जरूरी है, ऐसा मैं मानता हूं। गीता ने भी यही सिखाया है।

तब मैंने टंडनजी से कहा कि इतना तो आप उस भाई को लिख दीजिए कि आप 'शठं प्रति शाठ्यं' के मानने वाले नहीं हैं ताकि वह भ्रम में न रहे। और स्वरक्षा के लिए हिंसा करने की बात गीता में कही है, यह मैं नहीं मानता। मैंने तो गीता का अलग ही अर्थ निकाला है। मेरी समझ में गीता ऐसा नहीं सिखाती है। गीता में या दूसरे किसी संस्कृत-ग्रंथ में अगर ऐसी बात लिखी है तो मैं उसे धर्मशास्त्र मानने को तैयार नहीं हूं। महज संस्कृत में कुछ लिख देने से कोई वाक्य शास्त्र-वाक्य नहीं बन जाता।

टंडनजी ने मुझसे कहा, "तुमने तो उन बंदरों को मारने के लिए भी लिखा था, जो बेहद पीड़ा पहुंचाते हैं और खेती उजाड़ देते हैं।" लेकिन मैं तो किसी भी प्राणी का और यहां तक कि चींटी तक को भी मारना पसन्द नहीं करता। फिर भी खेती-बाड़ी का सवाल अलग है और मनुष्य का अलग है।

तब टंडनजी ने कहा कि 'शठं प्रति शाठ्यं' यानी एक दांत के बदले में दो दांत निकालने की बात हम न करें और एक दांत के बदले में एक दांत तथा एक थप्पड़ के बदले में एक थप्पड़ की बात भी न करेंगे; परन्तु हाथ में शस्त्र नहीं लेंगे, अपनी शक्ति नहीं दिखाएंगे तो स्वरक्षा किस तरह होगी ?

इस बारे में मेरा यह जवाब है कि स्वरक्षा जरूर की जाय, पर मेरी स्वरक्षा कैसे होगी ? कोई मेरे पास आता है और कहता है कि बोल, राम-नाम लेता है या नहीं ? नहीं लेगा तो यह तलवार देख ! तब मैं कहूंगा, यद्यपि मैं हरदम राम-नाम लेता हूं, लेकिन तलवार के बल पर हरगिज न लूंगा। चाहे मारा ही क्यों न जाऊं ! और इस तरह स्वरक्षा के लिए मरूंगा। वैसे कलमा पढ़ने से मेरा कोई धर्म जाने वाला नहीं है। क्या हो गया, अगर मैं ठेठ अरबी में बोलूं कि अल्लाह एक है और उसका रसूल एक ही मुहम्मद पैगम्बर है। ऐसा बोलने में कोई पाप नहीं और इतने भर से वे मुझे मुसलमान मानने को तैयार हैं तो मैं अपने लिए फख्र की बात समझूंगा। लेकिन, जब तलवार के जोर से कोई कलमा पढ़वाने आवेगा तब कभी भी कलमा नहीं पढ़ूंगा। अपनी जान देकर मैं स्वरक्षा करूंगा। इस बहादुरी को सिद्ध करने के लिए मैं जिन्दा रहना चाहता हूं। इसके अलावा और तरीके से मैं जीना नहीं चाहता।

('प्रार्थना प्रवचन' से)

हिन्दी और हिन्दुस्तानी

महावलेश्वर,
२८-५-४५

भाई टंडनजी,

मेरे पास उर्दू खत आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूं और हिन्दुस्तानी सभा में भी ? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है जिसमें नागरी लिपि को ही राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है; जब मेरी दृष्टि में नागरी और उर्दू लिपि को स्थान दिया जाता है, जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतमयी है। जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए। ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है ? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहां हूं।

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही लिखा है, लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सबको मुसीबत होती है इसलिए इसे लिखवाकर भेजता हूं।

आप अच्छे होंगे।

आपका
मो० क० गांधी

१० क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद,
८-६-४५

पूज्य बापूजी, प्रणाम।

आपका २५ मई का पत्र मुझे मिला। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गये। इसी बीच आपने हिन्दी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम गलत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी-प्रचार वांछनीय है यह तो आपका सिद्धान्त है ही। आपके नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है।

सम्मेलन हिन्दी को राष्ट्र-भाषा मानता है। उर्दू को वह हिन्दी की एक शैली मानता है जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।

स्वयं वह हिन्दी की साधारण शैली का काम करता है, उर्दू-शैली का नहीं। आप हिन्दी के साथ उर्दू को भी चलाते हैं। सम्मेलन उसका तनिक भी विरोध नहीं करता। किन्तु राष्ट्रीय कामों में अंग्रेजी को हटाने में वह उसकी सहायता का स्वागत करता है। भेद केवल इतना है कि आप दोनों चलाना चाहते हैं। सम्मेलन आरम्भ से केवल हिन्दी चलाता आया है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सदस्यों को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्य होने में रोक नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से निर्वाचित हिन्दुस्तानी एकेडमी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियां और लिपियां चलाती है। इस दृष्टि से मेरा निवेदन है कि मुझे इस बात का कोई अवसर नहीं लगता कि आप सम्मेलन छोड़ें।

एक बात इस सम्बन्ध में और भी है। यदि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अब तक सदस्य न होते तो सम्भवत: आपके लिए यह ठीक होता कि आप हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आने की आवश्यकता न देखते। परन्तु जब आप इतने समय से सम्मेलन में हैं तब उसका छोड़ना उसी दशा में उचित हो सकता है जब निश्चित रीति से उसका काम आपके नए काम के प्रतिकूल हो। यदि आपने अपने पहले काम को रखते हुए उसमें एक शाखा बढ़ाई है तो विरोध की कोई बात नहीं है।

मुझे जो बात उचित लगी, ऊपर निवेदन किया। किन्तु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपकी आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊं तो आपके अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूंगा।

हाल में हिन्दी और उर्दू के विषय में एक वक्तव्य मैंने दिया था, उसकी एक प्रतिलिपि सेवा में भेजता हूं। निवेदन है कि इसे पढ़ लीजिएगा।

विनीत,

पुरुषोत्तमदास टंडन

पुनः—इस समय न केवल आप किन्तु हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मंत्री श्री श्रीमन्नारायणजी तथा कई अन्य सदस्य सम्मेलन की राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के सदस्य हैं। एक स्पष्ट लाभ इससे यह है कि राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के कामों में विरोध न हो सकेगा। कुछ मतभेद होते हुए भी साथ काम करना हमारे नियंत्रण का अंश होना उचित है।

पु० दा० टंडन

पंचगनी,

१३-६-४५

भाई पुरुषोत्तमदास टंडनजी,

आपका पत्र कल मिला। आप जो लिखते हैं उसे मैं बराबर समझता हूं तो नतीजा यह होना चाहिए कि आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नये दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें। ऐसा होता नहीं है। और गुजरात में लोगों के मन में दुविधा पैदा हो गई है। और मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या करना है? मेरे ही भतीजे का लड़का और ऐसे दूसरे, हिन्दी का काम कर रहे हैं और हिन्दुस्तानी का भी। इससे मुसीबत पैदा होती है। पेरीन बहन को आप जानते हैं। वह दोनों काम करना चाहती हैं। लेकिन अब मौका आ गया है कि एक या दूसरे को छोड़ें। आप कहते हैं वह सही है तो ऐसा मौका आना ही नहीं चाहिए। मेरी दृष्टि से एक ही आदमी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मन्त्री या प्रमुख बन सकता है। बहुत काम होने के कारण न हो सके तो वह दूसरी बात है। और यह मैं कहता हूं वही अर्थ आपके पत्र का है, और होना चाहिए। तब तो कोई मतभेद का कारण नहीं रहता और मुझको बड़ा आनन्द होगा। आपका जो वक्तव्य आपने भेजा है मैं पढ़ गया हूं। मेरी दृष्टि से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बिल्कुल आप ही का काम कर रही है, इसलिए यह आपके धन्यवाद की पात्र है, और कम-से-कम उसमें आपको सदस्य होना चाहिए। मैंने तो आपसे विनय भी किया कि आप उसके सदस्य बनें, लेकिन आपने इनकार किया है, ऐसा कह कर कि जब तक डाक्टर अब्दुलहक न बनें, तब तक आप भी बाहर रहेंगे। अब मेरी दरख्वास्त यह है कि अगर मैं ठीक लिखता हूं और दोनों एक ही विचार के हैं तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। अगर इसकी आवश्यकता नहीं है तो मेरा कुछ आग्रह नहीं है। कम-से-कम हम दोनों में तो इस बारे में मतभेद नहीं है इतना स्पष्ट होना चाहिए। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है। लेकिन जैसे मैं कांग्रेस में से निकला तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए, उसी तरह अगर मैं सम्मेलन में से निकला तो भी सम्मेलन की अर्थात् हिन्दी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूंगा।

जिसको आप मेरे नए विचार कहते हैं वे सचमुच तो नए नहीं हैं, लेकिन जब मैं सम्मेलन का प्रथम सभापति हुआ तब जो कहा था और दोबारा सभापति हुआ तब अधिक स्पष्ट किया, उसी विचार-प्रवाह का मैं अभी स्पष्ट रूप से अमल कर रहा हूं ऐसा कहा जाय। आपका उत्तर आने पर मैं आखिर का निर्णय कर लूंगा।

आपका

मो० क० गांधी

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
११–७–४५

पूज्य बापूजी, प्रणाम।

आपका पंचगनी से लिखा हुआ १३ जून का पत्र मिला था। उसके तुरन्त बाद ही राजनीतिक परिवर्तनों और आपके पंचगनी से हटने की बात सामने आई। मेरे मन में यह आया था कि राजनीतिक कामों की भीड़ से थोड़ी सुविधा जब आपके पास देखूं तब मैं लिखूं। आज ही सवेरे मेरे मन में आया कि इस समय आपको कुछ सुविधा होगी। उसके बाद श्री प्यारेलालजी का ६ तारीख का पत्र आज ही मिला जिसमें उन्होंने सूचना दी है कि आप मेरे उत्तर की राह देख रहे हैं।

आपने अपने २८ मई के पत्र में मुझसे पूछा था कि—मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूं और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में भी। इस प्रश्न का उत्तर मैंने अपने ८ जून के पत्र में आपको दिया। मेरी बुद्धि में जो काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन कर रहा है उससे आपके अगले काम का कोई विरोध नहीं होता। इस १३ जून के पत्र में आपने एक दूसरे विषय की चर्चा की है। आपने लिखा है कि "आप और सब हिन्दी-प्रेमी मेरे नए दृष्टिकोण का स्वागत करें और मुझे मदद दें।" मैंने मौखिक रीति से आपको स्पष्ट करने का यत्न किया था, और जिस वक्तव्य की नकल मैंने आपको भेजी थी, उसमें भी मैंने स्पष्ट किया है कि मैं आपके इस विचार से कि प्रत्येक देशवासी हिन्दी और उर्दू दोनों सीखें, सहमत नहीं हो पाता। मेरी बुद्धि स्वीकार नहीं करती कि आपका यह नया कार्यक्रम व्यावहारिक है। मुझे तो दिखाई देता है कि बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया आदि बोलने वाले इस कार्यक्रम को स्वीकार नहीं करेंगे।

हिन्दी और उर्दू का समन्वय हो, इस सिद्धान्त में पूरी तरह से मैं आपके साथ हूं। किन्तु यह समन्वय, जैसा मैंने आपसे बम्बई में निवेदन किया था और जैसा मैंने वक्तव्य में भी लिखा है, तब ही संभव है जब हिन्दी और उर्दू के लेखक और उनकी संस्थाएं इस प्रश्न में श्रद्धा दिखाएं। मैंने इस प्रश्न को, प्रयाग में प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सामने थोड़े दिन हुए, रखा था। मेरे अनुरोध से वहां यह निश्चय हुआ है कि इस प्रकार के समन्वय का हिन्दी वाले स्वागत करेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उर्दू की संस्थाएं भी इस समन्वय के सिद्धान्त को स्वीकार करें। उर्दू-लेखक न चाहें तथा आप और हम समन्वय कर लें, यह असम्भव है। इस काम के करने का क्रम यही हो सकता है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी विद्यापीठ, अंजुमने तरक्कीए उर्दू, जामिया मिलिया तथा इस प्रकार की दो-एक अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों से निजी बातचीत की जाय, और यदि उनके संचालकों का रुझान समन्वय की ओर हो तो उनके प्रतिनिधियों की एक बैठक की जाय और इस प्रश्न के पहलुओं पर विचार हो। भाषा और लिपि दोनों ही के समन्वय का प्रश्न है; क्योंकि अनुभव से दिखाई पड़ रहा है कि साधारण कामों में तो हम एक भाषा चलाकर दो लिपि में उसे लिख लें, किन्तु गहरे और साहित्यिक कामों में एक भाषा और दो लिपि का सिद्धान्त चलेगा नहीं। भाषा का स्थायी समन्वय तभी होगा जब हम देश के लिए एक साधारण लिपि का विकास कर सकें। काम बहुत बड़ा अवश्य है, किन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से स्पष्ट ही बहुत महत्त्व का है।

मेरे सामने यह प्रश्न १६२० से रहा है, किन्तु यह देखकर कि उसके उठाने के लिए जो राजनीतिक वायुमंडल होना चाहिए वह नहीं है, मैं उसमें नहीं पड़ा और केवल राष्ट्रभाषा के हिन्दी-रूप की ओर मैंने ध्यान दिया, यह समझकर कि इसके द्वारा प्रान्तीय भाषाओं को हम एक राष्ट्रभाषा की ओर लगा सकेंगे। मैं स्वीकार करता हूं कि पूर्ण काम तभी कहा जा सकता है कि जब हम उर्दूवालों को भी अपने साथ ले सकें। किन्तु उस काम को व्यावहारिक न देखकर देश की अन्य भाषा-भाषी जनता को हिन्दी के पक्ष में करना एक बहुत बड़ा काम राष्ट्रीयता के उत्थान में कर लेना है। अस्तु, इसी दृष्टि से मैंने काम किया है। उर्दू के विरोध का तो मेरे सामने प्रश्न हो ही नहीं सकता। मैं तो उर्दूवालों को भी उसी भाषा की ओर खींचना चाहूंगा जिसे मैं राष्ट्रभाषा कहूं। और उस खींचने की प्रतिक्रिया में स्वभावतः उर्दू वालों का मत लेकर भाषा के स्वरूप-परिवर्तन में भी बहुत दूर तक कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर जाने को तैयार हूं। किन्तु जब तक वह काम नहीं होता, तब तक इसी से सन्तोष करता हूं कि हिन्दी द्वारा राष्ट्र के बहुत बड़े

अंशों में एकता स्थापित हो।

आपने जिस प्रकार से काम उठाया है वह ऊपर मेरे निवेदन किये हुए क्रम से विलकुल अलग है। मैं उसका विरोध नहीं करता, किन्तु उसे अपना काम नहीं बना सकता।

आपने गुजरात के लोगों के मन में दुविधा पैदा होने की वात लिखी है। यदि ऐसा है तो आप कृपया विचार करें कि इसका कारण क्या है। मुझे तो यह दिखाई देता है कि गुजरात के लोगों (तथा अन्य प्रान्तों के लोगों) के हृदयों में दोनों लिपियों के सीखने का सिद्धान्त घुस नहीं रहा है किन्तु आपका व्यक्तित्व इस प्रकार का है कि जब आप कोई वात कहते हैं तो स्वभावतः इच्छा होती है कि उसकी पूर्ति की जाय। मेरी भी तो ऐसी ही इच्छा होती है, किन्तु बुद्धि आपके बताए मार्ग का निरीक्षण करती है और उसे स्वीकार नहीं करती।

आपने पेरीन बहन के बारे में लिखा है। यह सच है कि वह दोनों काम करना चाहती हैं। उसमें तो कोई बाधा नहीं है। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति और हिन्दुतस्तानी प्रचार सभा के कार्यकर्त्ताओं में विरोध न हो और वे एक-दूसरे के कामों को उदारता से देखें, इसमें यह बात सहायक होगी कि हिंदुस्तानी प्रचार सभा और राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति का काम अलग-अलग संस्थाओं द्वारा हो, एक ही संस्था द्वारा न चले। एक के सदस्य दूसरे के सदस्य हों, किन्तु एक ही पदाधिकारी दोनों संस्थाओं के होने से व्यावहारिक कठिनाइयां और बुद्धि-भेद होगा। इसलिए पदाधिकारी अलग-अलग हों। आपको याद दिलाता हूं कि इस सिद्धांत पर आपसे सन ४२ में बातें हुई थीं। जब हिन्दुस्तानी प्रचार सभा बनने लगी, उसी समय मैंने निवेदन किया था कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का मन्त्री और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मन्त्री एक होना उचित नहीं। आपने इसे स्वीकार भी किया था और जब आपने श्रीमन्नारायण जी के लिए हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मन्त्री बनना आवश्यक बताया तब ही आपकी अनुमति से यह निश्चय हुआ था कि कोई दूसरा व्यक्ति राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के मन्त्री पद के लिए भेजा जाय और उसके कुछ दिन बाद आनन्द कौसल्यायनजी भेजे गए थे। यही सिद्धान्त पेरीन बहन के सम्बन्ध में लागू है जिस प्रकार श्रीमन्नारायणजी हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मन्त्री हुए और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्तम्भ रहे हैं, उसी प्रकार पेरीन बहन दोनों संस्थाओं में से एक की मंत्रिणी हों और दूसरे में भी खुलकर काम करें। इसमें तो कोई कठिनता की बात नहीं है। यही सिद्धान्त सब प्रान्तों के सम्बन्ध में लगेगा। संभवतः श्रीमन्नारायणजी उन सब स्थानों में, जहां राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति का काम हो रहा है, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की शाखाएं खोलने का प्रयत्न करेंगे। उन्होंने राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के कुछ पदाधिकारियों से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का काम करने के लिए पत्र-व्यवहार भी किया है। आपस में विरोध न हो इसके लिए यह मार्ग उचित है कि दोनों संस्थाओं की शाखाएं अलग-अलग हों। और उनके मुख्य पदाधिकारी अलग हों। साथ ही मेल और समझौता रखने के लिए दोनों की सदस्यता सबके लिए खुली है। यह तो मेरी बुद्धि-ऐसा क्रम है जिसका स्वागत होना चाहिए।

आपने मेरे वक्तव्य को पढ़ने की कृपा की और उससे आपने यह परिणाम निकाला कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा विलकुल मेरा ही काम करेगी और मुझे उसका सदस्य होना चाहिए। आपने यह भी लिखा कि आपने मुझसे सदस्य होने के लिए कहा था किन्तु मैंने यह कहकर इन्कार किया जब तक अब्दुलहक साहब उसके सदस्य न बनेंगे मैं भी बाहर रहूंगा। यह सच है कि मैं हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का सदस्य नहीं बना हूं। इस सम्बन्ध में सन ४२ में काका कालेलकर जी ने मुझसे कहा था और हाल में डा० ताराचन्द ने। आपने बम्बई में पंचगनी जाने से पहले एक लिफाफे में दो पत्र मुझे भेजे थे। उनमें से एक में आपने इस विषय में लिखा था। किन्तु मुझे बिलकुल स्मरण नहीं है कि कभी आपने मौखिक रीति से मुझसे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का सदस्य बनने के लिए कहा हो और मैंने अब्दुलहक साहब का हवाला देकर इन्कार किया हो। मुझे लगता है कि आपने एक सुनी हुई बात को अपने सामने हुई बात में स्मृति-भ्रम से परिणत कर दिया है। सन ४२ में काकाजी ने जब चर्चा की उस समय मैंने उनसे मौलवी अब्दुलहक तथा उर्दूवालों को लाने की बात अवश्य कही थी। तात्पर्य वही था जो आज भी है; अर्थात यह कि, जब तक हिन्दी और उर्दू-लेखक हिन्दी-उर्दू के समन्वय में शरीक नहीं होते तब तक यह यत्न सफल नहीं हो सकता। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा यदि इस काम में कुछ

भी सफलता प्राप्त करेगी तो वह अवश्य मेरे धन्यवाद की पात्र होगी। आज तो हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में शामिल होने में मेरी कठिनता इसलिए बढ़ गई है कि वह हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाने के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों और लिपियों को अलग-अलग प्रत्येक देशवासी को सिखाने की बात करती है।

यह तो मैंने आपके पत्र की बातों का उत्तर दिया। मेरा निवेदन है कि इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हों। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है। किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हैं उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं।

विनीत
पुरुषोत्तमदास टंडन

सेवाग्राम,
२५-७-४५

भाई टंडनजी,

आपका ता० ११-७-४५ का पत्र मिला। मैंने दो बार पढ़ा। बाद में भाई किशोरलाल को दिया। वह स्वतन्त्र विचारक हैं आप जानते होंगे। उन्होंने लिखा है सो भी भेजता हूं। मैं तो इतना ही कहूंगा। जहां तक हो सका मैं आपके प्रेम के आधीन रहा हूं। अब समय आया है कि वही प्रेम मुझे आपसे वियोग करायेगा। मैं अपनी बात नहीं समझा सका हूं। यही पत्र आप सम्मेलन की स्थायी समिति के पास रखें। मेरा खयाल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनाई नहीं है। अब तो मेरे विचार इसी दशा में आगे बढ़ रहे हैं। राष्ट्र-भाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू लिपि और दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिए मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय। हिन्दुस्तानी-प्रचार का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूंगा और उर्दू की भी।

आपका
मो० क० गांधी

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
२-८-४५

पूज्य बापूजी,

आपका २५ जुलाई का पत्र मिला। मैं आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूंगा। मुझे तो जो निवेदन करना था अपने पिछले दो पत्रों में कर चुका।

आपके पत्र के साथ भाई किशोरलालजी मशरूवाला का पत्र मिला है। उनको मैं अलग उत्तर लिख रहा हूं। वह इसके साथ है। कृपया उन्हें दे दीजिएगा।

विनीत
पुरुषोत्तमदास टंडन

श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला ने २५ जुलाई, सन १९४५ ई० को 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' के प्रश्न पर एक पत्र श्रद्धेय टंडनजी को लिखा था। वह पत्र इस प्रकार था—

सेवाग्राम, वर्धा
२५-७-४५

श्रद्धेय श्री टंडनजी, प्रणाम।

पूज्य बापूजी की आज्ञा से मैंने आपका ता० ११ का पत्र बहुत ध्यान से पढ़ा और सोचा और मेरे दिल में जो विचार उठे, उन्हें लिख दिए। उन्होंने फरमाया कि मैं उन विचारों को आपके नाम पत्र के रूप में लिख दूं। इसलिए इसे भेज रहा हूं। आप जानते ही होंगे कि मैं तो दोनों संस्थाओं में से एक में भी नहीं हूं, सिर्फ स्वतन्त्र रूप से इस विषय में दिलचस्पी रखता हूं। आपके पत्र से मेरे दिल में यह शंका उठती है कि हिन्दुस्तानी के प्रचार में आप सहयोग दे नहीं सकते। इसका कारण सिर्फ आपको गांधीजी का कार्यक्रम व्यवहार्य मालूम नहीं होता, इतना ही है, या आप उसमें कुछ दोष भी देखते हैं? और दोष देखते हैं तो वह कौन-सा?

'अव्यवहार्यता' से अगर यह मतलब हो कि लोगों को दोनों शैलियां या लिपियां सीखने के लिए राजी करना मुश्किल चीज है, तो मैं उसे मान लूंगा। पर आप जानते ही हैं कि मुश्किलों से डरना तो गांधीजी का स्वभाव कभी नहीं रहा। भरसक कोशिश करते रहना, समझाना, प्रेरणा देना और आखिर में जनता के दिल में अपनी बात स्थिर करके ही रहना यह उनकी रीति है।

सवाल यह है कि यदि आप हिन्दी-उर्दू दोनों का समन्वय करना चाहते हैं, तो क्या आप यह नहीं मानते कि जो दोनों शैलियां और लिपियां जानते होंगे वैसे ही लेखक और दोनों का प्रचार करने वाली संस्थाएं ही समन्वय का काम कर सकेंगी?

आपने उर्दू-संस्थाओं के सहयोग का जिक्र किया है। मैं आशा करता हूं कि आप इसमें मुस्लिम लेखक और मुस्लिमों से बनाई हुई संस्थाओं का ही समावेश नहीं करेंगे, क्योंकि उर्दू-शैली और लिपि यह कुछ मुस्लिमों का ही इलाका तो कभी नहीं रहा। यह हुआ है सही कि इन चालीस-पचास साल में उर्दू का फैलाव पहले की अपेक्षा संकुचित हुआ है और क्योंकि उर्दू-शैली और लिपि के कम होने से मुस्लिमों को ज्यादा नुकसान प्रतीत होता है उन्हें यह परिस्थिति चुभी है। और उनमें इस विषय में एक तरह की आत्म-रक्षा की भावना काम कर रही है। इसलिए यदि मान भी लिया जाय कि मुस्लिम लेखक या उनकी संस्थाएं समन्वय के काम में मदद न देंगी, तो भी उर्दू जाननेवाले हिन्दू-लेखक और समन्वय चाहने वाली राष्ट्रीय वृत्ति के सब जातियों के लोगों की संस्थाएं इसे शुरू कर सकती हैं। वैसा समन्वित शैली में लिखा हुआ साहित्य दोनों लिपियों में लोगों के आगे रख दिया जाय तो धीरे-धीरे लोगों की जबान में समन्वित भाषा घर कर लेगी।

मैं स्वीकार करता हूं कि एक ही लिपि रहती तो यह काम बहुत सरल हो जा सकता, पर यह काल अभी कुछ दूर मालूम होता है। यहां पर भी यह याद रखा जाय कि इसमें वास्तव में स्पर्धा नागरी-उर्दू की नहीं, नागरी-रोमन की है। परन्तु साम्प्रदायिक भावों के कारण तथा उर्दू लिपि का इन चालीस-पचास सालों में धीरे-धीरे पैर पीछे हट जाने के कारण नागरी के प्रति विरोध पैदा हुआ है। इसमें आखिर में नागरी को यश मिलेगा, या नागरी को भी हटकर रोमन या किसी और अन्तर्राष्ट्रीय लिपि को अपनाना होगा, यह तो भविष्य ही कह सकता है। मेरी अपनी राय तो रोमन के प्रतिकूल नहीं है, पर यह दूसरी बात है। वर्तमान में तो मेरी राय समन्वय चाहने वालों के लिए नीचे लिखा कार्यक्रम ही हो सकता है—

१—हिन्दी-शैली के उत्तम साहित्य का उर्दू-लिपि में और उर्दू का नागरी में प्रचार करना, (हमारे लिए उर्दू-लिपि का सुधार भी जरूरी हो सकता है। जरूरत के अनुसार टिप्पणियों के साथ)।

२—दोनों लिपियों में समन्वित शैली में लिखे हुए साहित्य का प्रचार करना।

दोनों शैलियां और लिपियां सीखने के लिए जनता को सलाह देना और समझाना। किसी एक ज्ञान से संतोष रखना ठीक नहीं, इसीलिए दोनों का प्रचार करना।

हमारे इस प्रयत्न के करते हुए भी मुमकिन है कि कई लोग सिर्फ एक ही शैली और लिपि से सन्तोष मानेंगे।

इसे तो हम सहन कर लें। लेकिन यदि आप लोग स्वय जो इस काम के नेता हैं, और समन्वय में मानते हैं, एक ही शैली या लिपि का प्रचार करने से सन्तोष पकड़ें तब तो आप अपने ही हाथ से अपने ध्येय पर प्रहार करने वाले हो जाते हैं।

इस पर से मैं तो आप से उलटे ही निर्णय पर पहुंचता हूं। वह यह कि न सिर्फ गांधीजी को, वरन आपको भी एक ही शैली और लिपि का प्रचार करने वाली संस्था में रहना उचित नहीं। न यह कि गांधीजी तो दोनों संस्थाओं में रह सकते है, परन्तु आप दोनों का प्रचार करने वाली संस्था में नहीं रह सकते।

पूज्य बापूजी की इच्छा से यह अनधिकार मानी जाय, ऐसी चेष्टा की है। उसे आपको उदार दृष्टि से देखने की विनती करता हूं।

आपका विनीत
किशोरलाल घ० मशरूवाला

१०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
२–८–४५

प्रिय भाई किशोरलालजी, नमस्कार

आपका २५ जुलाई का पत्र पूज्य बापूजी के पत्र के साथ मिला। आपने मेरे ११ जुलाई के पत्र को पढ़कर जो शंका उठाई है उसके समाधान करने का यत्न करता हूं।

अव्यवहार्यता से मेरा साधारण मतलब वही है जो आपने लिखा है, अर्थात् लोग राजी न होंगे। साथ ही उनके राजी न होने में मुझे उचित कारण भी दिखाई पड़ता है। पूज्य बापूजी ने यह प्रश्न राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति के काम के कारण उठाया है और उसके काम का सम्बन्ध उन लोगों से है जिनकी मातृभाषा हिन्दी (या उर्दू) नहीं है। वे लोग साधारणतः अपनी भाषा और लिपि सीखते हैं। राष्ट्रीयता के नाते हम उनसे नागरी लिपि द्वारा हिन्दी भाषा सीखने को कहते रहे हैं। नागरी उनकी लिपि के समीप है और संस्कृत सीखने के लिए उनमें से बहुत से नागरी जानते हैं। इस कारण नागरी द्वारा हिन्दी तक पहुंचना उनके लिए सरल है। उर्दू फारसी लिपि में लिखी जाती है। एक ध्वनि के कई अक्षर होने के कारण उस लिपि को सीखने में विशेष कठिनाई होती है। इसका ठीक अनुभव आप तब कर सकते हैं जब शुद्ध उर्दू सीखने का अभ्यास करें। अहिन्दी भाषा-भाषी उस लिपि को सही-सही सीख पावें। यह अपवाद होगा, साधारण नियम नहीं। राष्ट्रीयता के नाम पर भी यह संभावना मुझे नहीं लगती कि यह सिद्धान्त हिन्दी-प्रान्तों में चल सके। इसके चलाने में मुझे हानि यह दिखाई पड़ती है कि जो शक्ति इस काम में लगेगी उसका फल आपेक्षिक दृष्टि से बहुत थोड़ा होगा और यह भी संभव है कि कुछ लोगों को इन दो लिपियों के प्रश्न से एक प्रकार की उदासीनता पैदा हो जाय।

जहां हिन्दी या उर्दू बोली जाती है वहां का प्रश्न अलग है। वहां के लिए मैंने स्वयं सन १९३१ में हिन्दी-उर्दू दोनों सिखलाने की बात उस रिपोर्ट में कही थी जो कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगे पर लिखी गई थी। उस रिपोर्ट के कुछ अंश उद्धृत करता हूं:

(क) हिन्दुस्तानी बोलने वाले क्षेत्रों में समस्त छात्रों के नागरी और पारसीक (परशियन) लिपि में लिखी हुई हिन्दी और उर्दू दोनों ही अनिवार्य रूप से सिखाई जानी चाहिए।

(ख) हिन्दुस्तानी बोले जाने वाले प्रान्तों के समस्त कांग्रेस-जनों को हिन्दी तथा उर्दू दोनों जान्ने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्य प्रान्तों के समस्त कांग्रेसजनों को, जिनकी मातृभाषा हिन्दुस्तानी नहीं है, हिन्दुस्तानी या तो नागरी के माध्यम से या पारसीक (परशियन) लिपि के माध्यम द्वारा सीखना चाहिए।

(ग) ....

....

(घ) हिन्दी तथा उर्दू के लेखकों, वक्ताओं तथा समाचार-पत्रों के सम्पादकों को चाहिए कि साधारण

वाक्यों के अधिकतर प्रयोग द्वारा और यथासम्भव कठिन अरवी, पारसीक तथा संस्कृत-शब्दों का वहिष्कार करके सामान्य हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में सहायता करें।

(ङ) हमारी सम्मति में पारसीक लिपि किंचित सरल और अपेक्षाकृत अधिक उच्चारण-सुलभ कर दी जानी चाहिए। हमें हर्ष है कि उर्दू के विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर पहले ही आकर्षित किया जा चुका है।

आप इसमें देखेंगे कि जहां हिन्दुस्तानी अर्थात हिन्दी अथवा उर्दू नहीं बोली जाती वहां के लिए हम लोगों ने सन ३१ में यह सुझाव किया था कि नागरी अथवा फारसी लिपि द्वारा उनको हिन्दुस्तानी सिखलाई जावे। इस रिपोर्ट पर मेरे अतिरिक्त डाक्टर भगवानदास, श्री सुन्दरलाल, श्री मंजरअली सोख्ता, श्री अब्दुल लतीफ विजनौरी और श्री जफरुल मुल्क के हस्ताक्षर हैं।

हिन्दी-उर्दू का समन्वय मैं चाहता हूं यह वार-वार लिख चुका हूँ। आप जान पड़ता है उससे यह नतीजा निकालते हैं कि समन्वय वही लोग करेंगे जो दोनों लिपियां और दोनों शैलियां जानते हैं फिर भी मैं उनका विरोध क्यों करूं? इस दलील की विचारशैली में तनिक सा सोचिएगा तो भ्रम दिखाई पड़ेगा। मैं पूछ सकता हूं कि यदि दोनों शैलियां और लिपियां सीखना है तो फिर समन्वय की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? जो दोनों जानता है वह दोनों का ही आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग कर सकता है। समन्वय का तव प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु वास्तव में समन्वय की आवश्यकता उनके लिए है जो दोनों नहीं जानते हैं और जिनको इतना समय या वुद्धि नहीं है कि आसानी से दोनों सीख लें। भाषा और लिपि के समन्वय की वात इसीलिए है कि हमारी एक राष्ट्रीय कठिनता दूर हो और आपसी व्यवहार में सरलता अवे।

यह सच है कि जो लोग समन्वय करेंगे, उनको एक शैली का जानना तो आवश्यक होगा और दूसरी शैली के जानने से सहायता मिलेगी। यदि दोनों अच्छी तरह से जानें तो वहुत अच्छा। किन्तु जो समन्वय का रास्ता चलाने वाले हैं वे तो थोड़े से लोग हैं। जनता अपनी वुद्धि से समन्वय नहीं करेगी। वह तो समन्वय की हुई शैली को ग्रहण करेगी।

मैंने जो अपने पत्र में कुछ उर्दू और हिन्दी-संस्थाओं के सहयोग की चर्चा की थी, उस पर आपने यह लिखा कि यदि मान भी लिया जाय कि मुस्लिम लेखक या उनकी संस्थाएं समन्वय के काम में मदद न देंगी तो भी उर्दू जानने वाले हिन्दू लेखक और समन्वय चाहने वाली राष्ट्रीय वृत्ति के सव जातियों के लोगों की संस्थाओं का नाम लिया था। जान पड़ता है कि आपने इन संस्थाओं को मुसलमानी संस्थाएं समझा है; किन्तु ऐसी उर्दू-संस्थाएं कहां हैं जिनके निर्णयों को उर्दू वाले स्वीकार कर लेंगे। मैंने तो उन संस्थाओं का नाम इस भावना से लिया था कि उनके निर्णयों को उर्दूवाले स्वीकार कर सकते हैं।

एक मौलिक वात को न भूलिए। आखिर समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता है और मैंने इस प्रश्न को हिन्दी वालों के सामने सन २० और २३ में क्यों रखा? सुस्पष्ट ही इसमें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की धारणा है। मुसलमान समन्वय को स्वीकार नहीं करता तो समन्वय करने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि मुसलमानों को छोड़कर दूसरों के लिए जो हिन्दी शैली चल रही है उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं, और यदि उस शैली में वह परिवर्तन करना चाहेंगे तो कर लेंगे। इसलिए मुसलिम लेखकों को छोड़कर समन्वय की वात अनावश्यक हो जाती है जैसे हिन्दुस्तानी बोलने वाले भागों में हर एक शिक्षार्थी को हिन्दी-उर्दू दोनों जानने की सलाह, जो हमने ऊपर उद्धृत अंश में दी है वह हम, वैज्ञानिक दृष्टि से कभी न देते यदि हिन्दू-मुसलमान ऐक्य का प्रश्न हमारे सामने न होता। यदि अपनी ओर से हम अपने किसी क्रम में इस दृष्टि से परिवर्तन करने को तैयार हैं कि वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जड़ वनावे तो हमारी यह तत्परता व्यर्थ हो जाती है यदि वास्तव में उसे हिन्दू या मुस्लिम स्वीकार नहीं करता।

आपने समन्वय चाहनेवालों के लिए जो निश्चित काम रखा है वह आंशिक रूप में अच्छा है। मुझे उसका कुछ विरोध तो हो ही नहीं सकता, आज भी वह काम कुछ अंशों में हो रहा है। परन्तु उतने काम से वह समन्वय जिस से हिन्दू-मस्लिम ऐक्य स्थापित हो, वहुत दूर है। जिसमें मैं समय देता हूं और जिसमें स्वयं वापूजी अव तक समय देते

आए हैं उसे छोड़कर मैं इस प्रयोग में लगूं, जिसकी सफलता मुझे दिखाई नहीं पड़ती, वह मुझे उचित नहीं लगता।

आपने यह लिखा कि एक ही शैली या लिपि का प्रचार करने से सन्तोष पकड़ें तब तो आप अपने ही हाथ से अपने ध्येय पर प्रहार करने वाले हो जाते हैं। इस अपनी दलील को कुछ सूक्ष्म दृष्टि से देखिए। ध्येय या सत्य आपेक्षिक होता है, अवस्था के अनुकूल। समन्वय मेरा ध्येय इसलिए है कि वह हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य में सहायक हो। अपने में वह समन्वय कोई ध्येय नहीं है। यदि वह समन्वय हिन्दू-मुसलिम ऐक्य में सहायक नहीं होता अथवा यदि आज की दशा में वह समन्वय हो ही नहीं सकता तो जो काम उर्दू वालों को छोड़कर दूसरों में हिन्दी द्वारा हो सकता है उसकी अवहेलना करना ठीक नहीं। हमारा इस समय का वह काम हिन्दी-उर्दू के समन्वय के ध्येय में आगे सहायक हो सकता है। हम सब आपेक्षिक अवस्थाओं में ही काम करते हैं। यह कहना उचित न होगा कि जो एक अवस्था में हमारा ध्येय है वही हर अवस्था में ध्येय रहता है। हिन्दी-उर्दू के समन्वय का ध्येय हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के ध्येय का अंश है। इसी प्रकार स्वयं हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य हमारी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा अन्य सामाजिक ध्येयों के अन्तर्गत और राष्ट्रीयता और सामाजिक स्वतन्त्रता भी हमारे नैतिक ध्येयों से सीमित है। बड़े ध्येयों की अवहेलना कर छोटे ध्येयों की पूर्ति नहीं हो सकती।

वास्तव में समन्वय के सिद्धान्त के भीतर यह निहित है कि दो पक्षों का समन्वय होने वाला है और दोनों में उसकी आवश्यकता की भावना है। सम्भव है ऐसा समय आ जाय जब इस प्रश्न की ओर दोनों झुकें। जब तक यह नहीं होता तब तक मित्र-भाव से अपने दूसरे कर्तव्य निभाते हुए हमें उसका आसरा देखना होगा और उन लोगों की सेवा करनी होगी जो प्रकृति से हमारे अधिक निकट रख दिए गए हैं। इसके आगे के ध्येय का विरोध नहीं।

सप्रेम

पुरुषोत्तमदास टंडन

सेवाग्राम,

६—८—१९४५

श्रद्धेय श्री टंडनजी, सादर वन्दे।

आपका ता० २ का पत्र मुझे परसों मिला। आपने बहुत मेहनत उठाकर मुझे अपनी दृष्टि समझा दी। इसलिए मैं आपका एहसानमन्द हूं।

उत्तर-प्रत्युत्तर करके आपके समय पर, बोझ डालना मेरा अविनय होगा। इसलिए बिना बहस किए आपके पत्र के जिस अंश पर जो मालूम होता है, उतना ही लिखकर रुक जाऊं।

१——गैर हिन्दुस्तानी बोलने वाले प्रान्तों में फारसी लिपि सीखने की मुश्किल के बारे में आपकी जो धारणा है, वह मुझे कुछ गलत मालूम होती है। मेरे अनुभव और विचार में फारसी लिपि नागरी के मुकाबले में, अपूर्ण होते हुए भी——और फारसी ही क्या ? एक या दूसरी लिपि की पसन्दगी——सिर्फ आदत का सवाल हो जाता है——फारसी लिपि में गुजराती लिखने वाले लोग भी पिछली सदी में थे और कुछ ऐसे आज भी हैं जो गुजराती लिपि में लिख नहीं सकते, पढ़ सकते हैं, परन्तु नागरी ही लिख सकते हैं। और बहुत से ऐसे जो नागरी नहीं लिख सकते, पढ़ सकते हैं, परन्तु गुजराती ही लिख सकते हैं।

कानपुर-रिपोर्ट में आपके दिए हुए सुझाव मुझे अच्छे मालूम होते हैं। उनसे आपकी कम-से-कम यह अपेक्षा मालूम होती है कि राष्ट्र-भाषा के प्रचारकों को दोनों लिपि सिखाने का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। सीखने वाला चाहे जो सीखे, लेकिन प्रचारक का दोनों की तरफ समान भाव होना चाहिए और जिस किसी लिपि द्वारा सीखने वाला सीखे, उसे एक रूप (common) हिन्दुस्तानी ही सिखाई जाय।

(कुछ ही दिन हुए आसाम की जेल से हाल ही में छूटे हुए एक मित्र की चिट्ठी आई थी। वहां के मुसलमानी मदरसों में फारसी लिपि द्वारा हिन्दुस्तानी सिखाने के लिए पुस्तकें चाहिए थीं। उन्होंने स्थानिक राष्ट्र-भाषा प्रचारक से

मांगी। उन्हें उत्तर मिला कि राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति सिर्फ नागरी लिपि का ही प्रचार करती है। उक्त मित्र राष्ट्र-भाषा-प्रचार और हिन्दुस्तानी भाषा-प्रचार की अलग संस्थाओं के अस्तित्व से अपरिचित थे। वह सिर्फ गांधीजी के मत को जानते थे। और राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति गांधी-मान्य संस्था होने की वजह से उन्हें उक्त प्रचारक के जवाब से ताज्जुब हुआ और यहां से मामला समझना चाहा। अगर राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति की नीति आपकी रिपोर्ट के अनुरूप होती तो यह गैरसमझ पैदा न होती।)

३—अभी तक तो समन्वित भाषा बनी नहीं है, और एक लिपि के साथ एक शैली और दूसरी के साथ दूसरी चलती है, तथा दिन-दिन दोनों धाराएं एक-दूसरे से दूर बहती चली जा रही हैं। कुछ समय के बाद दो शैलियां नहीं, दो पूरी-पूरी भाषाएं बन जावेंगी। इसलिए जब तक दोनों को अच्छी तरह जानने वाले लेखक अच्छी तादाद में नहीं होते, समन्वय बन न सकेगा। इसलिए दोनों के सीखने के ऊपर जोर देना जरूरी मालूम होता है।

'उर्दूवाले' मान्य करें वैसी समन्वय में मानने वाली कोई उर्दू-संस्था आज न हो तो वह काम राष्ट्रभाषा (हिन्दुस्तानी) के उद्देश्य के मानने वालों को करना होगा और उन्हें अपने काम से और योग्यता से 'उर्दूवालों' में भी प्रतिष्ठा पाना होगा।

'मुसलमान समन्वय को स्वीकार नहीं करता तो समन्वय करने का प्रश्न ही नहीं उठता'—यह विचार मुझे 'पटा' नहीं। मेरे विचार से पेशावर, पंजाब, सिंध आदि के हिन्दू और सिक्ख भी हिन्दी-शैली समझ नहीं सकते। यह दूसरी बात है कि आइन्दा धर्माभिमान से या मुस्लिम-विरोधी वृत्ति से वे प्रयत्नपूर्वक हिन्दी को अपनाने की कोशिश करें।

मेरी नम्र निगाह में यह मालूम हो रहा है कि हम अपने ही कामों से प्रान्तीय व्यवहारों के लिए तीन भाषा और तीन लिपियों हिन्दी (नागरी), उर्दू (फारसी), अंग्रेजी (रोमन) को अनिवार्य बनाने की परिस्थिति में घसीटे जा रहे हैं। लाचार होकर यह करें, इससे तो बेहतर यह होगा कि विचारपूर्वक हम इस सचाई का स्वागत करें।

राष्ट्रभाषा के काम में मुझे तो लिपि की अड़चन ही अधिक महत्त्व की मालूम होती है। अगर हम एक लिपि पर नहीं आ सकते तो हर एक सुशिक्षित के लिए कम-से-कम चार लिपियां और भाषाएं सीखना लाजमी हो जायगा। समन्वय असिद्ध ही रहेगा। अंग्रेजी का स्थान भी स्थिर रह जावेगा। इसे टालने के लिए मैं स्वयं रोमन के प्रति झुका हूं। लेकिन मैं जानता हूं कि आज तो यह मत बिलकुल अस्वीकार्य माना जायगा।

दूसरा प्रगतिशील और ऐक्यवर्धक मार्ग तो वही दीखता है जिस पर गांधीजी जोर दे रहे हैं। अपना वक्त लेने के लिए क्षमा करेंगे।

आपका विनीत,
किशोरलाल घ० मशरूवाला

टंडनजी और कांग्रेस

श्री लालबहादुर शास्त्री

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उन थोड़े से गिने हुए उच्च कोटि के नेताओं में हैं जिन्होंने गांधीजी की कांग्रेस के पूर्व ही राजनीतिक कार्यों में अपनी अभिरुचि प्रकट की थी। सन १८९९ में ही वह उस समय की कांग्रेस के सदस्य बने और सन १९०६ में वह कांग्रेस के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे। राष्ट्रीयता की भक्ति ने उन्हें हिन्दी की ओर आकर्षित किया। सन १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम अधिवेशन में टंडनजी को सम्मेलन के प्रधान मंत्रित्व का भार सौंपा गया और सन् १९२३ में वह अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए। सन १९१४ से १९१८ तक महाराज नाभा के यहां वह कानूनमन्त्री और बाद में विदेशमंत्री के पद पर काम कर रहे थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की किसी बैठक में भाग लेने के लिए वह प्रयाग आना चाहते थे। उसमें महाराजा साहब की तरफ से कुछ बाधा पड़ी और टंडनजी ने हिन्दी के काम को प्रश्रय देते हुए अपने उस ऊंचे पद को छोड़ देना ही उचित समझा। उसमें न केवल उन्होंने साहस से काम लिया, एक महान त्याग का परिचय भी दिया। महाराजा साहब ने उन्हें पत्र भी भेजे कि वह पुनः आकर अपने पद का कार्य सम्हालें, परन्तु आपने जाना स्वीकार नहीं किया। सन १९२५ में कांग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति में टंडनजी ने यह प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का काम हिन्दुस्तानी भाषा में हो। इस प्रस्ताव का विरोध कुछ बड़े-बड़े नेताओं ने भी किया। किन्तु प्रस्ताव स्वीकृत हो गया।

सन १९१९ में टंडनजी म्यूनिसिपल बोर्ड, इलाहाबाद के प्रमुख चुने गए। यह उनकी लोकप्रियता का प्रमाण था। टंडनजी अपनी प्रतिष्ठा और आदर के कारण सबको मान्य हुए। म्यूनिसिपल बोर्ड के काम में उन्होंने लोगों की जो सेवा की, उसका नगरवासियों पर असीम प्रभाव पड़ा। प्रायः वह पैदल घूमते दिखाई पड़ते। अपने व्यक्तित्व का बोर्ड के प्रबन्ध पर उन्होंने एक स्थायी प्रभाव डाला।

सन १९२० के पूर्व ही टंडनजी इस प्रकार राष्ट्रीयता में ओत-प्रोत रहते हुए राष्ट्रीय कार्यों की ओर दत्त-चित्त थे। जब गांधीजी ने १९२० में असहयोग-आन्दोलन का आह्वान किया तब टंडनजी फिर कैसे पीछे रहते? नाभा से लौटने पर वह इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत कर रहे थे। उनकी वकालत का क्रम अच्छा चल रहा था और उन पर एक बड़े कुटुम्ब का बड़ा बोझा भी था। फिर भी वह तनिक भी नहीं हिचके और अपनी वकालत को छोड़कर असहयोग-आन्दोलन में कूद पड़े। वैसे तो बहुत से वकीलों ने सारे देश में गांधीजी की पुकार पर वकालत छोड़ी, लेकिन उनमें थोड़े ही ऐसे रहे जिन्होंने उसको सर्वथा तिलांजलि दे दी। टंडनजी ने जो संकल्प किया उसे उन्होंने पूर्णतया निभाया।

टंडनजी दिसम्बर १९२१ में पहली बार बन्दी बनाये गए और उन्हें डेढ़ साल कारावास का दंड मिला। असहयोग-आन्दोलन गांधीजी ने चौरीचौरा-कांड के कारण रोका था। बहुत से नेतागण उनसे सहमत अथवा संतुष्ट नहीं थे। परन्तु टंडनजी ने कोई विरोध नहीं किया। जब वह जेल से बाहर निकले, उनको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उनकी आर्थिक कठिनाइयां अपनी सीमा पर पहुंच रही थीं। परन्तु वह वकालत प्रारम्भ करने के लिए उद्यत नहीं थे। अन्त में लाला लाजपतराय ने उनको विवश किया कि वह पंजाब नेशनल बैंक लाहौर के संयुक्त मंत्री हो जायं। टंडनजी ने स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों के बाद वह बैंक के मंत्री नियुक्त हुए। मई सन १९२५ से लेकर

अगस्त सन १९२९ तक वह पंजाब नेशनल बैंक में काम करते रहे। बैंक में रहते हुए वह साहित्य सम्मेलन के काम में निरन्तर भाग लेते रहे। परन्तु राजनीतिक कार्यों में सक्रिय भाग उन्होंने नहीं लिया।

उत्तरप्रदेश के गांधी

सन १९२१-२२ में ही राजनीतिक क्षेत्र में टंडनजी का नाम चमक उठा। उनकी सचाई, स्पष्टवादिता, त्याग और लगन ने लोगों को उनकी तरफ आकर्षित किया। उत्तरप्रदेश में उनका एक विशिष्ट स्थान बन गया और लोग उनको 'उत्तरप्रदेश का गांधी' कहने लगे थे। सन १९२३ में गोरखपुर में प्रान्तीय कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के टंडनजी अध्यक्ष चुने गये।

सन १९१३ में अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति का अधिवेशन बम्बई में हुआ। उस समय कांग्रेस में 'कौंसिल-प्रवेश' के प्रश्न पर दो दल थे। दोनों दलों को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न पर काम करने का अवसर मिले, इस विषय का टंडनजी ने एक प्रस्ताव पेश किया और वह स्वीकृत हुआ। टंडनजी उस समय भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य भी चुने गये।

नवम्बर १९२८ में लाला लाजपतराय का देहान्त हुआ और यह प्रश्न उठा कि लालाजी के बाद लोक-सेवक मंडल (सर्वेन्ट्स आफ दी पीपुल सोसायटी) का सभापति कौन बने? लोक सेवक मंडल ने गांधीजी के हाथ में यह बात छोड़ी कि वही इसका निश्चय करें। गांधीजी की सहानुभूति मंडल की ओर पूरी थी और लालाजी के बाद उन्होंने मंडल के लिए पर्याप्त धन भी एकत्र किया। परन्तु गांधीजी धन से कहीं अधिक महत्त्व व्यक्ति को देते थे। यदि व्यक्ति उपयुक्त मिल जाय तो धन की कमी नहीं रहती। गांधीजी का ध्यान टंडनजी की ओर गया। टंडनजी बैंक से लगभग तेरह सौ रुपये पुरस्कार पा रहे थे और उनके ऊपर एक बड़े कुटुम्ब का भार था। परन्तु गांधीजी त्याग करने में न स्वयं घबराते और न दूसरे से त्याग कराने में डरते। उन्होंने टंडनजी से कहा कि आपको मंडल का सभापति होना चाहिए। टंडनजी ने भी उसे फौरन ही स्वीकार किया। उन्हें अपनी नौकरी छोड़ने में तनिक भी हिचक नहीं हुई। उनके बड़प्पन में इससे दो चांद और लग गए।

गांधीजी जब १९२९ में प्रयाग आए तो उन्होंने अपने सार्वजनिक भाषण में कहा कि प्रयाग को इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसने कांग्रेस के लिए पंडित जवाहरलालजी और लोक सेवक मंडल के लिए श्री पुरुषोत्तमदास टंडन को प्रमुख दिया। उसी समय गांधीजी ने टंडनजी की प्रशंसा करते हुए 'यंग इंडिया' में लिखा था कि "ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।"

जनवरी सन १९२९ में टंडनजी लोक सेवक मंडल के अध्यक्ष बने। जिस त्याग और गरीबी के बाने को उन्होंने उस समय पहना, उसे आज भी कायम रखा है और इस समय भी वह लोक सेवक मंडल के अध्यक्ष हैं।

सन १९३० में टंडनजी प्रयाग वापस आए और कांग्रेस के कार्य में पूरी तरह लग गए। यह वह समय था जब फिर एक बार देश सरकार से मोर्चा लेने की तैयारी कर रहा था। गांधीजी को ही उसकी बागडोर अपने हाथ में लेनी थी। स्वभावतः अहिंसा के उपयुक्त वायुमंडल के बिना वह किसी प्रकार का आन्दोलन चलाना पसन्द नहीं कर सकते थे। लाहौर की कांग्रेस के कुछ ही दिन पूर्व वायसराय की स्पेशल ट्रेन के नीचे बम का गोला फटा। वाइसराय को तो किसी तरह की क्षति नहीं पहुंची, परन्तु इस दुर्घटना पर गांधीजी ने कड़ा रुख लिया। लाहौर की कांग्रेस में उन्होंने पहला प्रस्ताव यह रखा कि रेल-दुर्घटना से वाइसराय के बच जाने पर कांग्रेस को उन्हें बधाई देनी चाहिए। इस प्रस्ताव का विषय-निर्धारिणी समिति तथा अधिवेशन में भी तीव्र विरोध हुआ। कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उस प्रस्ताव का समर्थन टंडनजी ने किया। टंडनजी ने अपने भाषण में कहा कि यद्यपि मैं अहिंसा को सिद्धान्त रूप से नहीं मानता, फिर भी मैं इस प्रस्ताव से पूर्णतः सहमत हूं। मुझे आश्चर्य है कि जो लोग यह कह रहे हैं कि वे अहिंसा को पूरी तरह मानते हैं, कैसे इस प्रस्ताव का विरोध करते हैं! जहां तक मुझे स्मरण है टंडनजी के इस वाक्य पर कि 'वह आवश्यकतानुसार युद्ध के पक्षपाती हैं' तथा गीता के उद्धरण 'तस्माद्युध्यस्व भारत' पर गांधीजी ने उनकी तरफ उस समय कुछ आश्चर्य-

चकित होकर देखा।

कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ और दो ही महीने वाद नमक-सत्याग्रह की तैयारी प्रारम्भ हो गई। गांधीजी जब नमक-सत्याग्रह की यात्रा पर चलने वाले थे, उसके कुछ दिन पूर्व टंडनजी सावरमती पहुंच गए और आश्रम में ही ठहरे। जिस दिन यात्रा प्रारम्भ हुई वह वहुत दूर तक गांधीजी के साथ पैदल गए और सावरमती से लौटने के पहले 'आनन्द' जाकर, जहां गांधीजी पैदल यात्रा करते हुए कई दिनों के वाद पहुंचे थे, मिले। अपने प्रदेश में लौटने पर टंडनजी ने सत्याग्रह-कार्य में पूरी तरह भाग लेना प्रारम्भ किया। इलाहावाद शहर तथा जिले में जिस तरह उन्होंने विदेशी कपड़े तथा शराब की दुकानों की पिकेटिंग का संगठन किया, वह सराहनीय था। उनका क्रम इस प्रकार था कि वह एक साथ ही सभी दुकानों को नहीं लेते थे, बल्कि क्रमशः थोड़ी दुकानों पर कांग्रेस स्वयंसेवकों का एक मजवूत मोर्चा लगाने का प्रवन्ध करते थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि वहुत-सी दुकानों ने इसके पूर्व ही कि उनके यहां पिकेटिंग प्रारम्भ हो, विदेशी कपड़ा बेचना वन्द कर दिया।

थोड़े ही समय बाद उन्हें पूरे प्रदेश के सत्याग्रह-आन्दोलन का संचालन अपने हाथ में लेना पड़ा और उनके नेतृत्व में प्रदेश का काम सफलतापूर्वक आगे बढ़ता ही गया। इसी काल में प्रदेश के अनेक जिलों में लगानवन्दी का भी आन्दोलन चलाया गया। यह कार्यक्रम विल्कुल नया था। बहुत से कांग्रेस नेता इससे सहमत भी न थे, क्योंकि वे उस परिस्थिति में जमींदारों से संघर्ष के पक्षपाती नहीं थे। आन्दोलन वहुत ही सफल रहा। परन्तु इस आन्दोलन के चलने के कुछ ही समय बाद गांधी-इरविन समझौता हुआ और यह आन्दोलन भी बन्द हो गया।

सन १९३०-३१ का समय किसानों की दृष्टि से वहुत कठिन रहा। अनाज का भाव गिरता जाता था और किसानों पर एक बड़ा संकट आया। कांग्रेस की ओर से सतत प्रयास किया गया कि गवर्नमेण्ट पर्याप्त छूट दे अथवा कमी करे। उत्तर प्रदेश सरकार की तरफ से उसका कोई सन्तोषप्रद उपाय नहीं निकाला गया। किसानों का असन्तोष क्रमशः आन्दोलन का स्वरूप लेने लगा। उत्तरप्रदेश की सरकार ने अपने उच्च अधिकारियों की एक समिति कांग्रेस के नेताओं से वातचीत करने के लिए बनाई। इस वातचीत में पंडित जवाहरलाल, श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्री तसद्दुक अहमद खां शेरवानी, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी आदि सम्मिलित हुए। इस विचार-विनिमय का भी कोई परिणाम नहीं निकला। फिर गांधीजी स्वयं आए और नैनीताल में उन्होंने उस समय के गवर्नर से बातचीत की। स्थिति में कुछ सुधार हुआ, परन्तु वात पूरी तरह नहीं वनी। टंडनजी क्रमशः इस निश्चय पर आने लगे कि किसानों की सहायता के लिए कांग्रेस को लड़ने के लिए तैयार होना पड़ेगा। इलाहावाद जिला कांग्रेस कमेटी को उन्होंने विशेष रूप से ऐसी लड़ाई के लिए तैयार किया।

उस समय भारतीय कांग्रेस तथा उत्तर प्रदेश कांग्रेस में भी इस वात पर कुछ सन्देह था कि यदि किसानों की मदद के लिए कोई लड़ाई प्रदेश में छेड़ी गई तो वह वहीं तक सीमित नहीं रहेगी, सारे देश में फैल जाएगी। परन्तु टंडनजी इस सम्बन्ध में बहुत दृढ़ रहे। दूसरी ओर सरकार स्वभावतः सशंक थी कि किसी ऐसे आन्दोलन का, जिसमें लगानवन्दी आदि की सम्भावना हो, वह कितना व्यापक हो जाएगा और उससे सरकार को कितना बड़ा आघात पहुं-चेगा। अतएव ऐसे आन्दोलन को बिल्कुल ही दवा देने का प्रवन्ध गवर्नमेण्ट की ओर से तेजी से शुरू हो गया। किसानों की इन कठिन परिस्थिति में, कांग्रेस का क्या कर्तव्य है, यह वतलाने के लिए इलाहावाद में एक सार्वजनिक सभा आयो-जित की गई जिसमें टंडनजी वोलने वाले थे। उस सभा पर जिला-अधिकारियों ने १४४ धारा के अनुसार रोक लगाई। टंडनजी ने निश्चय किया कि वह सभा में अवश्य ही जाएंगे। वह वहां गए और गिरफ्तार कर लिये गए। उसी समय उन्हें नैनी जेल पहुंचा दिया गया। इसके कुछ ही दिन वाद पंडित जवाहरलाल तथा शेरवानी साहव वर्किंग कमेटी की बैठक के लिए इलाहावाद से वर्धा के लिए रवाना हुए। गांधीजी उसी समय गोलमेज कान्फ्रेंस से स्वदेश लौटे थे। परन्तु पंडित जवाहरलाल और शेरवानी साहव कुछ ही मील आगे गए होंगे कि वम्बई मेल को रोककर, और एक छोटे स्टेशन पर उतारकर उन्हें नैनी जेल पहुंचा दिया गया। वास्तव में १९३२ के आन्दोलन का गवर्नमेण्ट ने यहीं से सूत्रपात कर दिया।

एक लम्बी जेल-यात्रा के बाद टंडनजी बाहर आए। जब वह लौटे, तब आन्दोलन काफी शिथिल हो चुका था। गांधीजी ने मैकडानल्ड-अवार्ड के सम्बन्ध में कारावास में जो उपवास किया और उसके फलस्वरूप उन्हें जो आजादी हरिजन-कार्य करने की मिली, वह एक तरह से उस समय का कांग्रेस का कार्यक्रम बन गया। टंडनजी को हरिजन-कार्य में पहिले से ही प्रेम था और उस समय भी उन्होंने उसमें भाग लिया।

टंडनजी किसानों के प्रति जबरदस्त प्रेम रखते हैं। सन् १९३० और १९३२ दोनों ही आन्दोलनों में उन्होंने लगानबन्दी का नेतृत्व किया। सन १९३० और १९३१ में मंदी के कारण किसानों के सामने जो समस्या आ गई थी उसके निराकरण में टंडनजी ने प्रमुख भाग लिया तथा प्रदेश कांग्रेस कमेटी द्वारा तत्सम्बन्धी कार्यों का संचालन किया। सन १९३० में उन्होंने 'केन्द्रीय किसान संघ' की स्थापना की और उसके द्वारा जमींदारी-प्रथा के मिटाने के आन्दोलन को आगे बढ़ाया। टंडनजी उसके सभापति रहे।

जमींदारी-प्रथा का अन्त किस प्रकार हो, उस सम्बन्ध में टंडनजी ने एक नया सुझाव दिया। उन्होंने ही पहले-पहल कांग्रेस के सामने यह बात रखी कि जमींदारी का अन्त मुआवजा देकर ही किया जाय। उन्हें न तो यह न्यायोचित प्रतीत होता था और न नैतिकता के अनुकूल कि जमींदारों की सम्पत्ति बिना उसका कुछ मूल्य दिए, चाहे वह कम ही क्यों न हो, ले ली जाय। उस समय कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नेताओं ने इसका बहुत विरोध किया। आचार्य नरेन्द्रदेवजी, श्री जयप्रकाशनारायणजी तथा पार्टी के दूसरे प्रमुख नेताओं ने (यह पार्टी उस समय कांग्रेस के अन्दर थी) इसके विरुद्ध अपना कड़ा मत प्रगट किया। इस विषय पर काफी विचार-मन्थन देश में हुआ। अन्त में कांग्रेस ने इस सिद्धान्त को केवल भूमि-व्यवस्था में ही नहीं, दूसरे आर्थिक क्षेत्रों के लिए भी स्वीकार किया जिसका समावेश आज हमारे गणतंत्र के संविधान में भी है। किसी भी सम्पत्ति को शक्ति के बल पर नहीं लेना है। जितना मुआवजा देना संभव हो वह देकर ही लेना चाहिए। कुछ ही वर्ष पहले लोक-सभा ने यह निश्चय किया है कि मुआवजा कितना होगा, इस पर यदि कोई मतभेद हो तो उसका अन्तिम निर्णय संसद द्वारा होगा और ऐसे मामले अदालत में नहीं जाएंगे। टंडनजी की इस सूझ की कौन सराहना नहीं करेगा।

सन १९३६-३७ में नयी प्रान्तीय धारा सभाओं के चुनाव हुए जिसमें कांग्रेस ने पूरी शक्ति के साथ भाग लिया। उत्तर प्रदेश में इन चुनावों में अभूतपूर्व सफलता मिली। इन चुनावों की सफलता में टंडनजी का प्रमुख हाथ था। उन्होंने सारे प्रदेश का दौरा किया। वह स्वयं प्रयाग नगर से विधान सभा के लिए खड़े हुए और निर्विरोध विजयी हुए। यह उनके अनुरूप ही था। कुछ समय बाद जब मन्त्रि-मंडल बना, वह धारासभा के सर्वसम्मति से अध्यक्ष (स्पीकर) चुने गए।

धारा-सभा के अध्यक्ष

अध्यक्ष के रूप में टंडनजी का कार्य अपनी एक बड़ी विशेषता रखता था। उनका असेम्बली के विरोधी दल पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। उनके निश्चय सारे सदन को पूरी तरह मान्य होते, यद्यपि वह अध्यक्ष रहते हुए कांग्रेस के सदस्य बने रहे। जहां तक मुझे स्मरण है दूसरी धारा-सभा के अध्यक्ष ने कांग्रेस की साधारण सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया था। टंडनजी को यह स्वीकार नहीं हुआ। परन्तु उन्होंने अपना कार्य इस सुन्दरता से निवाहा कि उनकी निष्पक्षता पर, कांग्रेस-सदस्य रहते हुए भी, विरोधी दल को कभी कोई सन्देह प्रकट करने का अवसर नहीं हुआ। उन्होंने उस समय की धारा-सभा में असेम्बली की कार्रवाई हिन्दी में करने का जो निर्णय अध्यक्ष के रूप में दिया, उसका महत्व सारे देश ने अनुभव किया। वह एक बहुत बड़ा निर्णय था। अध्यक्ष की हैसियत से सारे देश में टंडनजी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी और उन्होंने उस पद की शोभा बहुत बढ़ाई।

सन १९३९ के मध्य में दूसरा महासमर प्रारम्भ हुआ और कांग्रेस ने निश्चय किया कि सभी जगह मंत्रि-मंडल त्यागपत्र देकर गवर्नमेण्ट से बाहर निकल आएं। ऐसा ही हुआ। जब तक असेम्बली भंग नहीं हुई टंडनजी अध्यक्ष-पद पर काम करते रहे। उसके पश्चात अपने पद से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया।

सन १९४० से १९४२ तक का समय कांग्रेस के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। महासमर जारी था और कांग्रेस के सामने यह जटिल प्रश्न था कि वह उस समय की कठिन और नाजुक स्थिति का किस रूप में सामना करे। उस समय १९४०—४१ में गांधीजी ने अपना प्रथम आन्दोलन व्यक्तिग्रह सत्याग्रह के रूप में चलाया। यह लड़ाई एक प्रकार से नागरिक स्वत्वों की रक्षा की लड़ाई थी। टंडनजी सन १९४० में नजरबन्द कर लिये गए और लगभग एक वर्ष जेल में रहे। व्यक्तिगत सत्याग्रह ने देश को आगे के लिए सचेत और सावधान कर दिया और बाद का 'भारत छोड़ो' विशाल आन्दोलन उसी की एक कड़ी थी। ९ अगस्त को १९४२ का दावानल प्रारम्भ हुआ। उस दिन जैसे ही गांधीजी आदि बम्बई में पकड़े गए, देश के और प्रमुख नेता भी गिरफ्तार हुए। टंडनजी इलाहाबाद में ८ अगस्त को बंदी बनाकर नैनी जेल पहुंचा दिये गए और फिर वह १९४४ में जेल से मुक्त हुए। यह उनकी आखिरी जेल-यात्रा थी। वह कुल सात बार जेल गए।

सन १९४६ में आम चुनाव हुए जिसमें टंडनजी प्रयाग नगर से उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए सदस्य चुने गए। वह विधान सभा के सर्वसम्मति से पुनः अध्यक्ष भी चुने गए। पहले और इस बार भी उनका अध्यक्ष-पद के लिए चुनाव सर्वसम्मति से ही हुआ। विधान सभा के अध्यक्ष के रूप में उनका स्थान सदा ही विशिष्ट रहा। उनकी व्यवस्थाओं को सदा ही बहुत महत्त्व दिया जाता था और उनकी देश में बहुत चर्चा रहती। सारी सभा पर उनका अभूतपूर्व प्रभाव था। और विरोधी दल भी उनसे पूर्णतः संतुष्ट रहता। सरकारी पक्ष को उनसे शिकायत हो जाय, परन्तु विरोधी दल को इसका अवसर शायद ही कभी मिला हो।

विभाजन के प्रबल विरोधी

सन १९४७ का वर्ष ऐसा आया जिसमें देश के विभाजन की बात चली। टंडनजी विभाजन के जबरदस्त विरोधी रहे और अध्यक्ष होते हुए भी उन्होंने कई स्पष्ट वक्तव्य साम्प्रदायिकता और मुस्लिम लीग के विरुद्ध दिए। उस पर मुस्लिम लीग दल ने, जो असेम्बली में था, बड़ा रोष प्रकट किया कि वह अध्यक्ष रहते हुए संघर्षात्मक बातों में पड़ते हैं विशेषकर राजनीतिक, यह उचित नहीं। लीग के इस वक्तव्य से टंडनजी को चिन्ता हुई। उन्होंने एक बार विधान सभा में कहा था कि बहुमत की कौन कहे, यदि विरोधी दल भी नहीं, बल्कि विरोधी दल का एक छोटा हिस्सा मुझ में अविश्वास करेगा तो मैं अपनी जगह से हट जाऊंगा। उनके मन में यह बात आने लगी कि वह अध्यक्ष के पद से त्याग-पत्र दे दें और उन्होंने उसका निर्णय भी कर लिया। जब वह अध्यक्ष के पद से हटे उनको स्वभावतः बड़ी बधाइयां मिलीं। शायद यह पहला ही अवसर था जब किसी अध्यक्ष ने अपने कार्य-काल में बिना किसी अविश्वास-प्रस्ताव के इस प्रकार अपना पद छोड़ दिया हो। अविश्वास का प्रस्ताव किसी तरह स्वीकार नहीं हो सकता था, क्योंकि असेम्बली का बहुत बड़ा बहुमत उनके पक्ष में था। फिर भी जो शब्द उन्होंने कुछ वर्ष पहले कहे थे उनसे हटना उन्हें पसन्द नहीं था।

टंडनजी ने अध्यक्ष-पद छोड़ने के बाद विभाजन का पूरा विरोध किया। वह गांधीजी से जाकर मिले, क्योंकि वह जानते थे कि गांधीजी भी बंटवारे के जबरदस्त विरोधी थे। यह विषय अन्त में जब भारतीय कांग्रेस कमेटी में पेश हुआ तब स्थिति बहुत बदल चुकी थी। देश के सभी नेताओं ने विभाजन को स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने इस पर विशेष जोर दिया कि कांग्रेस के सभी नेताओं ने इस पक्ष को मान लिया है और यदि वह इसका विरोध करते हैं तो देश में एक बड़ा संघर्ष मच जायगा। उन्होंने यह भी कहा कि मुझमें तो अब वह शारीरिक शक्ति नहीं रही कि मैं इस बोझ को उठा सकूं। ऐसी स्थिति में उन्हें कोई दूसरा उपाय नहीं दीख पड़ता था। यद्यपि इस बंटवारे के औचित्य को वह किसी तरह स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे। टंडनजी को इससे बड़ी निराशा हुई। फिर भी उन्होंने अपने भाषण में उसका तीव्र विरोध किया और उनका ही शायद एक हाथ था जो विभाजन के प्रस्ताव के विरुद्ध उठा। इसी के परिणामस्वरूप टंडनजी १५ अगस्त, १९४७ के उत्सव में, जो सारे देश में मनाया गया, बिल्कुल ही सम्मिलित नहीं हुए।

जब देश में संविधान परिषद बनी तो टंडनजी उसके सदस्य चुने गए। हिन्दी राष्ट्रभाषा बने, इस प्रश्न को उन्होंने परिषद में बड़ी दृढ़ता से उठाया। इस विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ और परस्पर मित्रों और सहयोगियों में बड़ा मतभेद भी उत्पन्न हुआ। फिर भी टंडनजी अपने विचारों पर अड़े रहे। हिन्दी देश की राष्ट्रभाषा मानी जाय, यह सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ। परन्तु इस विषय पर कि आंकड़े देवनागरी अंकों में हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, काफी संघर्ष हो गया। टंडनजी देवनागरी के पक्षपाती थे। परन्तु उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुआ। टंडनजी ने, अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों के प्रयोग के पक्ष में जो प्रस्ताव था, उसके विरुद्ध अपना मत दिया। उन्होंने यह अनुभव किया कि एक प्रकार से उनसे अनुशासन टूटा। इस पर उन्होंने अपना त्यागपत्र प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल के पास भेज दिया। जवाहरलाल जी ने उनके इस निश्चय की सराहना करते हुए उनका त्यागपत्र उन्हें लौटा दिया।

कांग्रेस के अध्यक्ष

टंडनजी उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के दो बार अध्यक्ष रहे: सन १९२३ में और फिर १९४८ में। सन १९५० में वह भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। इस चुनाव में कांग्रेस में परस्पर कटुतापूर्ण संघर्ष रहा। इसकी प्रतिक्रिया उनके सभापतित्व-काल में अच्छी नहीं रही। लगभग एक वर्ष तक आपस में मतभेद बढ़ता रहा। अन्त में उसने एक कठिन रूप ले लिया। पंडित जवाहरलालजी की कुछ बातों से विशेष असहमति थी। एक तरह से वैसी ही घटना घटी जैसी कि श्री सुभाषचन्द्र बोस के साथ। उन्हें भी अपना समय पूरा करने के पहले ही हटना पड़ा था। इसी प्रकार टंडनजी को भी अपना पद छोड़ना पड़ा। पंडित जवाहरलाल उनके स्थान पर अध्यक्ष चुने गए। भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में किसी प्रकार का विवाद होने का अवसर ही टंडनजी ने नहीं दिया। उनके भाषण में बड़ी गम्भीरता और महानता थी। किसी तरह के कटु शब्दों का प्रयोग किए बिना उन्होंने कहा कि जवाहरलाल जी इस समय देश की 'आवाज' हैं और जब उनको सन्तोष नहीं है तब मैं यहां एक क्षण भी रहना नहीं चाहता। टंडनजी ने यह सुन्दर मर्यादा रखी कि वह जवाहरलालजी की कार्यसमिति के सदस्य बने रहे।

संसद में

सन १९५२ में टंडनजी लोक-सभा के सदस्य बने। इलाहाबाद के नगर-क्षेत्र से वह चुने गए। उनके अनेक महत्त्वपूर्ण भाषण लोक-सभा में हुए और उन्हें सदन ने सदा बड़े ध्यान से सुना। हिन्दी को उनके आने से विशेष प्रेरणा मिली। लोकसभा-सचिवालय में हिन्दी के क्रमशः अधिक प्रयोग के लिए अध्यक्ष ने एक कमेटी बनाई जिसका अध्यक्ष उन्होंने टंडनजी को बनाया। इसके अतिरिक्त सरकार ने संविधान की धाराओं के अनुसार जो समिति हिन्दी की प्रगति पर विचार करने के लिए बनाई उसके भी टंडनजी सदस्य रहे। इस समिति में टंडनजी ने हिन्दी-माध्यम के पक्ष में, जहां तक दूसरे प्रदेशों के सदस्यों के साथ जा सकते थे, जाने का पूरा प्रयास किया। परन्तु कुछ मौलिक बातों में उनका मतभेद था और उन्हें अपना विमति-टिप्पण (नोट आफ डिसेन्ट) देना पड़ा। दूसरे प्रदेशों के कुछ सदस्यों ने भी इस नोट पर अपने हस्ताक्षर किए।

१९५६ में टंडनजी उत्तर प्रदेश से 'राज्य सभा' के लिए चुनकर आए। थोड़े समय बाद ही उनका स्वास्थ्य एक लम्बी बीमारी के कारण काफी खराब हुआ। फिर स्वास्थ्य कुछ सुधरा, परन्तु उनको अपनी पुरानी शक्ति प्राप्त नहीं हुई। वह धीरे-धीरे निर्बल होने लगे और उनका श्वास का रोग उन्हें अधिक कष्ट देने लगा। उनका दिल्ली में रहना कठिन हो गया। वह प्रयाग चले गए और कुछ समय पश्चात उन्होंने उचित समझा कि वह राज्य सभा से भी त्याग पत्र दे दें, और वह राज्य-सभा से पृथक हो गए। राज्य-सभा की सदस्यता एक प्रकार से उनके राजनैतिक जीवन की अन्तिम कड़ी थी। वह टूटी और एक समर्पित जीवन ने, जिसका अपना कुछ न था, थककर जैसे सांस ली।

टंडनजी देश के उन थोड़े लोगों में हैं जिनका जीवन एक नहीं, अनेक रूपों में असाधारण रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने लगभग पचास वर्ष लगाए, परन्तु कभी उन्होंने अपना कदम पीछे नहीं हटाया। कहा जाता है कि

आयु बढ़ने पर राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वालों की उग्रता कुछ कम हो जाती है परन्तु टंडनजी के विचार सदा ही प्रगतिशील बने रहे। राजनीतिक आंधियों में भी टंडनजी कभी डगमगाए नहीं। अपने विचारों को वह निडर होकर प्रगट करते। उनमें बड़ा साहस है और अटूट दृढ़ता। राष्ट्र के महान प्रश्नों पर वह स्वतन्त्र रूप से सोचते। और जब कभी ऐसी परिस्थिति आई, उन्होंने अपनी आवाज उठाई, चाहे वह अकेली ही आवाज क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति कम ही होते हैं परन्तु ऐसे महानुभावों की देश को सदा आवश्यकता होती है। सभी में कुछ-न-कुछ कमियां तो होती ही हैं। जहां टंडनजी के सम्बन्ध में मैंने ऊपर की बात कही, वहां यह भी कह सकते हैं कि वह दूसरों के साथ मिलकर काम करने में बहुत सफल नहीं थे। वैसे तो सभी क्षेत्रों में, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में विशेषकर, कुछ-न-कुछ सामंजस्य आवश्यक होता है। क्योंकि सब के विचार एक-से नहीं होते और काम का ढंग भी प्रायः भिन्न होता है। हो सकता है कि इसके कारण टंडनजी के मार्ग में कठिनाइयां और बाधाएं पड़ीं।

सन १९३१-३२ तक टंडनजी को गांधीजी के कामों में असीम आस्था थी और यदि वह उनसे किसी बात में सहमत नहीं होते तब भी उसे सुन्दरता से निभाते। सन १९३४-३५ से इस ओर कुछ परिवर्तन हुआ और उनके मन में विरोध बढ़ता ही गया। टंडनजी गांधीजी के कड़े समालोचक बन गए थे। विचारों का मतभेद एक बात है और वह हो भी सकता है, होना भी चाहिए। परन्तु कटुता न आए, इसे तो बचाना ही चाहिए। पंडित जवाहरलालजी से उनका सम्बन्ध निरन्तर ही अच्छा रहा। सन १९४७ के पश्चात उनसे भी मतभिन्नता हुई और सन १९५१ में उसने असाधारण रूप ले लिया। मुझे याद है कि सन १९४५ से पहले कुछ लोगों ने जवाहरलालजी और उनके बीच परस्पर विरोध उत्पन्न करने का प्रयास किया। परन्तु टंडनजी तनिक भी नहीं हिले। गांधीजी के सम्बन्ध में भी मुझे मालूम है कि कुछ लोगों ने उन्हे भ्रम में डाला और मैं यह नहीं कह सकता कि वह उसमें सफल नहीं हुए। गांधीजी से हिन्दी पर भी अनैक्य इसका अवश्य ही एक कारण बना।

टंडनजी ने देश को बहुत-कुछ दिया। परन्तु उनकी विशेष देन किसानों को है और हिन्दी को। राजनीतिक क्षेत्र में विचारों तथा कार्य में कभी कोई नरमी उनमें दिखाई पड़ी नहीं। भूमि-व्यवस्था और समाज-निर्माण पर उनके विचार क्रान्तिकारी रहे और उनका समर्थन सदा निर्बलों को प्राप्त हुआ। वह लकीर के फकीर बनना कभी पसन्द नहीं करते। निर्णय करने में देर भी लगे, परन्तु उनके प्रस्तावों में उनका कुछ अपनापन-सा रहता ही है। यद्यपि उन्होंने लिखा कम, फिर भी जो वह लिखते, भाषा और भाव दोनों ही से परिमार्जित होता। साधारण पत्र हो अथवा किसी गहन विषय पर लेख, उसमें सुन्दर संयम और संतुलन रहता। उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सभी प्रस्तावों के मसविदों पर उनकी सहमति आवश्यक थी, चाहे वे अंग्रेजी में हों अथवा हिन्दी में। भाषा को सुधार देना और उसमें शब्दों को ठीक बैठा देना इसमें उनकी योग्यता सर्वमान्य थी।

टंडनजी आदर्शवादी है और उन्होंने अपना एक-एक क्षण देश की सेवा में लगाया है। आज वह क्रियाशील नहीं हैं इससे देश को क्षति पहुंची है। देश और हिन्दी के प्रति उनका अटूट प्रेम बना हुआ है। उनकी उपस्थिति ही बलदायी और प्रेरक है।

लोक सेवक मंडल और टंडनजी

श्री अलगूराय शास्त्री

सन १९२८ का १७ नवम्बर सम्पूर्ण भारत के लिए अनर्थकारी होकर आया। उस दिन प्रभात उद्गीथ-साम की वेला में पंजाबकेसरी सदा के लिए मौन होगया। जब सूर्योदय के साथ उसका स्वागत करते पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी मुखर हो उच्च स्वर से स्तवन कर रहे थे, सिंह की-सी दहाड़ करने वाली लाजपतराय की गिरा ने सहसा ऐसा मौन ग्रहण कर लिया जो अब इस पृथ्वी पर कभी खुलने वाला न था।

उस मौन ने समस्त भूतल पर एक करुण क्रन्दन फैला दिया था। मानव-टोलियां, नर-नारियों के दल के दल आर्तनाद करते, सर पीटते, चिल्लाते-चिंघारते घर-घर से निकल सड़कों और गलियों में विलपते फिरने लगे थे। लालाजी के वियोग की सबको गहरी चोट थी। लेकिन लाहौर के कोर्ट स्ट्रीट में संस्थित लोक सेवक मंडल के परिवार की दशा और भी दयनीय थी।

१९२१ में तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स को लालाजी ने जन्म दिया था। अमरीका में अपने निष्कासन-काल में रहते समय लालाजी ने लोक-सेवा एवं समाज-सेवा के लिए शिक्षा देने वाली जिन संस्थाओं को निकट से देखा था, जिनमें वह स्वयं शिक्षण का कार्य भी कर चुके थे, उसी प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक शिक्षा देने वाली कोई शिक्षा-संस्था अपने देश में लालाजी स्थापित करना चाहते थे।

यहां भारत में रहते, विश्व-युद्ध छिड़ने से पूर्व १९१४ की लड़ाई से पहले लालाजी के सामने गोखले की भारत सेवक समिति राजनीति एवं समाज की सेवा का एक बहुत उपयोगी यंत्र था। महाराष्ट्र में शिक्षा का कार्य करने-वाली दक्षिण भारत शिक्षा समिति भी आजीवन सदस्यों की एक संस्था नवयुवकों में देश-भक्ति की भावना भरते हुए उन्हें शिक्षा, समाज-सेवा और राजनीति के क्षेत्र में सम्पूर्ण जीवन लगाकर सेवा करने की प्रेरणा दे रही थी। यह भी लालाजी ने देख रखा था।

अमरीका से भारत आने पर १९२० में कलकत्ता-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता कर लेने के पश्चात जहां जलियांवाला बाग की हत्या के लिए उन्होंने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध एक भावपूर्ण, रोषपूर्ण आरोप-पत्र अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रस्तुत किया था, लालाजी ने तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स की स्थापना की। इसमें सर्वप्रथम तीन सदस्य सम्मिलित हुए—सर्वश्री अचिन्त्यराम, पुरुषोत्तमलाल सोंधी तथा फिरोजचन्दजी। ये लोग लाहौर के कौमी कालेज के छात्र थे। यह कालेज १९२० में अंग्रेजी शिक्षा-संस्थानों के बहिष्कार पर पंजाब में स्थापित हुआ था, जैसे अन्य स्थानों में काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ आदि।

कौमी कालेज (विद्यालय) को रूपान्तरित करके लालाजी ने लोक सेवक मंडल को एक सोसाइटी का रूप दे दिया और उसे अपनी निजी सम्पत्ति का बड़ा भाग दान दिया, जिसमें उनका अपना स्वकीय आवास-स्थान 'पुरानी कोठी' सम्मिलित थी, जो आज भी कोर्ट स्ट्रीट में संस्थित है, जहां से १९०८ में लालाजी मांडले के लिए निष्कासित हुए थे।

१९२८ में लोक सेवक मंडल एक सप्तवर्षीय शिशु-मात्र था। लालाजी साइमन कमीशन के बहिष्कार के

अवसर पर पुलिस की लाठियों से आहत हो गए थ। ग्लानि और अपमानजनक खेद की गहरी चोट उनके मन पर शारीरिक एवं छाती की चोट से भी अधिक गहरी पड़ी थी। उसी के फलस्वरूप लालाजी १७ नवम्बर के प्रात: १९२८ में स्वर्ग गए। उसी रात उन्होंने 'पीपुल' समाचार-पत्र में 'डोमिनियन स्टेट्स वर्सेस कम्प्लीट इंडिपेंडेंस' शीर्षक अधूरा लेख लिखा था। अत: उसी को पूरा करने उठे थे, जबकि अनेक डाक्टर मित्रों के देखते-देखते वह हमारे बीच से उठ गए। समस्त देश और विशेष रूप से हमारा मंडल अनाथ हो गया।

मंडल को कौन संभालेगा ? यही प्रश्न सबके सामने था। मंडल के पुराने तथा नए सदस्य घंटों और सप्ताहों तक इसकी चिन्ता में डूबे रहते; विचार-विमर्श होता रहता। कोई कहता, हममें से जो सबसे बड़ा है, उसी को अध्यक्ष बनाया जाय। लालाजी की आत्मा हमें प्रेरणा देगी। जिन पर बड़े होने से यह भार आता, वह इसे अपने लिए बहुत भारी बोझा समझते थे। फलत: हम सब कभी गांधीजी की ओर देखते और कभी बाबू राजेन्द्रप्रसाद की ओर।

इधर लालाजी अपने जीवन-काल में ही मंडल के लिए एक उपयुक्त उत्तराधिकारी की खोज में व्यस्त थे। इटावा की हिन्दू महासभा के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करके लालाजी लौट रहे थे। मैं उनके साथ था। लालाजी ने चिन्तायुक्त स्वर में कहा : "तुम सब बड़े अच्छे हो, पर हो तो बच्चे ही। तुम में अभी कोई ऐसा नहीं दीखता जो मंडल का कार्य-भार सम्हाल ले। मेरी दृष्टि टंडनजी पर जाती है, परन्तु उन्हें पंजाब नेशनल बैंक से बारह सौ रुपये मिलते हैं। यह त्याग कर उन्हें आना पड़ेगा। कोई बात नहीं, मैं विशेष पुरस्कार का भी प्रबन्ध कर सकता हूं, परन्तु अभी उनसे कहते कुछ संकोच होता है। टंडनजी बड़े योग्य और साधु प्रकृति के पुरुष हैं, बड़े भी हैं, वह आ जाते तो मैं निश्चिन्त हो जाता।" इत्यादि। कौन जानता था कि विधि बोल रही है।

लालाजी के निधन पर अन्त में हम सब तथा स्वयं गांधीजी एवं घनश्यामदासजी बिड़ला आदि का ध्यान टंडनजी की ओर गया। उनसे ही त्याग की आशा की गई। उन्होंने आने और सेवा-भावना का परिचय देने में क्षण भर का विलम्ब न किया। वह मंडल के सहयोगी सदस्य (असोशियेट) लालाजी के जीवन-काल में ही हो गए थे। आजीवन सदस्यता का प्रश्न था। वह कहीं अन्यत्र धनोपार्जन करते आजीवन सदस्य नहीं हो सकते थे। परन्तु जिस टंडन ने बात की बात में इलाहाबाद हाईकोर्ट की वकालत छोड़ी थी, जिस टंडन ने नाभा राज्य की सर्वोच्च सेवा को तृणवत् त्याग दिया था, वह टंडन अब कर्तव्यपालन की मांग पर लालाजी की इच्छापूर्ति के लिए उनके जीवन के सबसे बड़े यज्ञ का ब्रह्मा बनना कब ठुकराते अथवा उसे स्वीकार करने में कब विलम्ब करते ? वह आ गए। मंडल के आजीवन सदस्य बन गए। सन १९२९ से आज १९६० के समय तक पूरे ३१ वर्ष से वह मंडल के सम्मानित अध्यक्ष हैं। इस दीर्घ अवधि में इस महापुरुष ने मंडल की जो सेवा की है, वह एक चिरस्थायी निधि है। इससे दिवंगत महान लोक-सेवी लालाजी की आत्मा को शान्ति मिली है।

१९२९ के आरम्भ में ही टंडनजी ने अध्यक्षता सम्हाली। पहला ही कार्य हुआ 'लाला लाजपतराय स्मारक निधि' के लिए पांच लाख रुपयों का संग्रह करना। महात्मा गांधी ने खादी के लिए उत्तर प्रदेश का दौरा किया। धन-संग्रह के लिए वह जिला-जिला घूमे। उनकी सम्मति से यह निश्चय हुआ, कि यदि कोई दानदाता चाहे तो नामांकित करके लालाजी स्मारक निधि के लिए महात्माजी को उत्तरप्रदेशीय यात्रा में दान दे सकता है। टंडनजी के प्रभाव का यह पहला लाभ मंडल को प्राप्त हुआ। खेद है, वह निधि तो अब तक पूरी नहीं हुई, किन्तु उसका श्रीगणेश उसी समय मंडल में आते ही टंडनजी ने कर दिया था।

मंडल कांग्रेस का अविच्छिन्न अंग

१९३० में नमक सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। कांग्रेस ने गांधीजी के नेतृत्व में जो यह आन्दोलन चलाया, उसमें टंडनजी का प्रमुख नेतृत्व था। उनकी प्रेरणा से पूरा मंडल ही इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने केन्द्रों से उक्त सत्याग्रह में सम्मिलित होकर जेल चले गए। सर्वश्री हरिहरनाथ शास्त्री, लालबहादुर शास्त्री, पंजाब के सदस्यों में अचिन्त्यरामजी, मेरठ से मैं भी, उड़ीसा से राधानाथ रथ, लिंगराज आदि। सर्व-

श्री राजाराम शास्त्री कानपुर, मोहनलाल गौतम, अमरनाथ, विद्याशंकर प्रभृति सभी आजीवन सदस्य कृष्ण-मन्दिर पहुंच गये। श्री टंडन की देनस्वरूप मंडल कांग्रेस का अविच्छिन्न अंग बन गया। जो कांग्रेस की कार्य-नीति या कार्यक्रम से बाहर गया, वह मंडल से ही बाहर गया। जब जेल-युग समाप्त होकर १९३७ में कांग्रेस ने विधान सभाओं के निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया तब टंडनजी की उसी प्रेरणा और प्रभाव के फलस्वरूप प्रायः सभी प्रमुख सदस्य विधान सभाओं में आए। मंत्रिमंडल में आज भी उड़ीसा में राधानाथजी और केन्द्र में लालबहादुरजी वर्तमान हैं। लोक-सभा, राज्य-सभा, संविधान परिषद् एवं विधान-मंडलों में मंडल के सदस्य अब तक सम्मिलित किए जाते रहे हैं। कांग्रेस-दल ने टंडनजी की कांग्रेस-निष्ठा से प्रभावित होकर ही सदस्यों में से कुछ प्रमुखों को इसके लिए वरा है। आज लोकसभा में सर्वश्री लालबहादुर शास्त्री, बलवन्तराय मेहता, अचिन्त्यराम तथा काशीनाथ पांडेय मंडल के सदस्य हैं। राज्य-सभा में श्री विश्वनाथदास उड़ीसा से हैं।

उत्तर प्रदेश विधान परिषद् में मैं हूं, उड़ीसा विधान-सभा में श्री राधानाथ रथ हैं, जो मंत्री भी हैं।

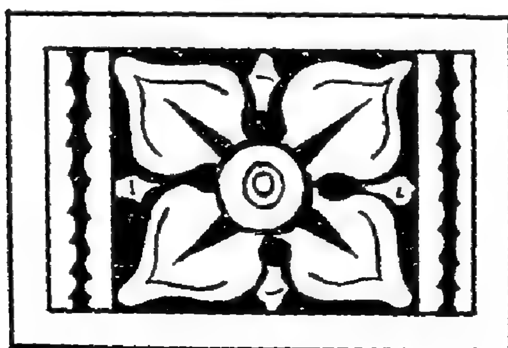
न टंडनजी ने मंडल को कांग्रेस के साथ इस प्रकार एकात्मता दी होती, न हम सब जेल जाते, न इस प्रकार विधान-मंडलीय कार्यों के लिए कांग्रेस की ओर से अपने लिए खुला द्वार पाते।

कैसी विचित्रता है! जिन टंडनजी ने कांग्रेस के साथ मंडल को इस प्रकार बांधा, उन्हीं को स्वयं जवाहरलाल के सक्रिय पग उठाने पर कांग्रेस-अध्यक्षता से पृथक होना पड़ा। अघटन घटना-परीक्षण, विधि-विडम्बना ऐसी ही होती है।

टंडनजी ने १९३० का राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने से लाजपत-निधि एकत्रित करने में असमर्थता पाई। १९३४ में ही एक प्रकार क्षण भर के लिए आन्दोलन शिथिल हुआ तब सदस्यों के पुरस्कार आदि के लिए धन के पर्याप्त कमी थी। स्वेच्छा से, टंडनजी की त्याग-भावना को देखते हुए सदस्यों ने अपने सीमित पुरस्कार को ३३ प्रतिशत कम कर दिया। वह कमी फिर कभी आज तक पूरी नहीं हो सकी।

सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई। कुछ पुराने गए, परन्तु बहुत से नए आए। अब टंडनजी का यह परिवार आजीवन सदस्यों, सहकारी सदस्यों, सहयोगियों, सहायकों सहित पचास का हो गया है। आज हमारी मंडलीय शाखाएं अपने भवनों सहित पंजाब में अबोहर में हैं। (१) शिमले में (२) उत्तर प्रदेश में मेरठ, इलाहाबाद और कानपुर में हैं। (३) उड़ीसा में हमारी बृहत शाखा सत्यवादी प्रेस, समाज-समाचार पत्र, टाइप फाउन्ड्री सहित एक लहराती संस्था है। (४) देहली में हमारा केन्द्रीय कार्यालय लाजपत-भवन के नाम से एक उज्ज्वल संस्था के रूप में खड़ा हो गया है।

यह समस्त विस्तार टंडनजी की छत्रछाया में हुआ है।



हिन्दी साहित्य सम्मेलन और टंडनजी

श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

"हिन्दी साहित्य सम्मेलन से मेरा सम्बन्ध उसके प्रारम्भ काल से है। उसके द्वारा हिन्दी के काम में मेरे जीवन की वहुत मुख्य घड़ियां वीती हैं। सम्मेलन मेरे प्राण में समा-सा गया है।"

—राजर्षि टंडन, २१-६-१९५१

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का कैसा पुराना और अभेद्य सम्वन्ध रहा है—इस तथ्य को प्रकट करने के लिए ही ऊपर ये पंक्तियां उद्धृत की गई हैं। वस्तुत: यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि अव तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो कुछ भी स्वरूप और आकार-प्रकार वन सका है, उन सवके निर्माण में टंडनजी का ही सर्वोपरि हाथ रहा है। उसके काशी में सम्पन्न होने वाले सर्वप्रथम अधिवेशन से लेकर अन्तिम कोटा-अधिवेशन (सन् १९५१) तक सब में वह न केवल आदि से अन्त तक उपस्थित ही रहे, वरन उसके सर्वतोमुखी विकास और प्रसार में भी उन्हीं की कल्पनाओं का साकार रूप है। टंडनजी के विना हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे कांग्रेस के साथ महात्मा गांधी का, हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ महामना मालवीय का, शान्ति-निकेतन के साथ महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम शव्दार्थ की भांति अविच्छिन्न है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ टंडनजी का नाम भी अभेद्य, अछेद्य और अविभाज्य है। प्रयाग में वने हुए उसके विशाल भव्य भवनों की एक-एक ईंट से लेकर उसकी वहुमुखी प्रवृत्तियों और प्रगतियों की मंजिल के एक-एक पग में उनकी क्रियात्मक प्रेरणा और सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रसाद विखरा हुआ है। भगवान विश्वनाथ की नगरी में, जान या अनजान में, हिन्दी के कुछ हितैपियों एवं प्रेमियों ने एक सम्मेलन वुलाया था, ऐसे सम्मेलन आज भी आए दिन वुलाए जाते हैं; किन्तु किसी विरले सम्मेलन को ही ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है जो आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन का है। एक वट-वीज ने अक्षयवट की पुण्य-भूमि प्रयाग में आकर किस प्रकार इतना विशाल वृक्षत्व प्राप्त किया, इसकी कहानी किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं है। इसके तपस्वी नायक ने अपनी तपोमयी साधना एवं सतत निष्ठा के द्वारा किस प्रकार उसका पालन, पोपण, संवर्धन और अलंकरण किया, इसे वही लोग भली भांति समझ सकते हैं, जो कभी टंडनजी के सम्पर्क में एक-दो घड़ी के लिए भी आए हैं।

टंडनजी का सम्वन्ध सम्मेलन के साथ, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, उसके जन्म के समय से ही रहा है। यह तो प्राय: अधिकांश पाठक जानते होंगे कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जन्म मुक्ति की खानि और अघहानि की नगरी काशी में विक्रमी संवत १९६७ तथा ईस्वी सन १९१० को हुआ था। उसका प्रथम अधिवेशन १० अक्तूवर, १९१० को महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में वड़े समारोह के साथ आरम्भ होकर तीन दिनों तक होता रहा। वह एक सामयिक भूख थी। हमारे देश में ब्रिटिश शासन-काल का वह स्वर्णिम युग था। समूचे देश में जागृति के पूर्व की सुषुप्ति विद्यमान थी। कहीं-कहीं स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता की लोरियां अवश्य सुनाई पड़ती थीं, किन्तु जन-भावनाओं को कोई उचित दिशा-निर्देश नहीं मिल रहा था। राजनीतिक चेतना भी दिङ्मूढ़-प्राय थी, और साहित्य-प्रेम अथवा भापा-प्रेम के प्रतीक के रूप में कहीं-कहीं छोटी-मोटी संस्थाएं भी यद्यपि वन गई थीं, तथापि

उनके द्वारा कोई ठोस कार्य नहीं हो रहे थे, जिनसे इस विशाल देश की चेतना को प्रेरित किया जा सके। उत्साह और लगन की कोई कमी नहीं थी, कमी थी इन भावनाओं को मूर्त रूप देकर अग्रसर होने वालों की। बंगला, गुजराती, मराठी तथा उर्दू के साहित्य-सेवियों के सम्मेलन होने लगे थे और वे बहुत अंशों में अपनी-अपनी भाषा के साहित्यकारों और प्रेमियों की महत्त्वाकांक्षाओं और समस्याओं का समाधान करने में सफलता भी प्राप्त करने लगे थे; किन्तु हिन्दी के साहित्यकारों का ऐसा अपना कोई संगठन नहीं बना था, जिसमें देश भर के हिन्दी के साहित्यकार, लेखक और प्रेमी जन एकत्र होकर सामूहिक रूप से कुछ विचार-विमर्श अथवा निश्चय कर सकते।

काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी और वह अपने सीमित साधनों द्वारा बहुत-कुछ कार्य भी कर रही थी; किन्तु अभी तक उसके कार्यों की मर्यादा इतनी विस्तृत नहीं थी कि उसमें समूचे देश की हिन्दी-सम्बन्धी आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों के विकास की रूपरेखा निश्चित की जा सके। निदान, अन्य भाषा-भाषियों के साहित्य-सम्मेलनों की देखा-देखी हिन्दी के साहित्यकारों का भी एक विशाल सम्मेलन बुलाने की मांग हिन्दी-जगत में की जाने लगी। उस समय हिन्दी के समाचार-पत्र बहुत कम निकल रहे थे; किन्तु जो दो-एक थे उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि यदि कहीं एक पुरानी प्रति भी उपलब्ध होती थीं, तो उसकी एक-एक पंक्ति का ध्यानपूर्वक पारायण किया जाता था। उनमें जो बातें लिखी जाती थीं या जो मांगें प्रस्तुत की जाती थीं, वे बहुत शीघ्र ही देश भर में व्यापकता प्राप्त कर लेती थीं। हिन्दी के साहित्यकारों का सम्मेलन बुलाने के सम्बन्ध में भी हिन्दी समाचार-पत्रों के द्वारा ही मांग पेश की गई और बहुत शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि उस मांग की उपेक्षा करना कठिन हो गया। यद्यपि यह सत्य है कि आरम्भ के कई वर्षों तक यह कामना कोई स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी, क्योंकि हिन्दी-भाषियों के बीच ऐसा कोई संगठन नहीं था, जो इस बड़े काम को सम्पन्न करने का दायित्व अपने ऊपर ले सकता; तथापि धीरे-धीरे मांग के साथ-साथ जब सुझाव और निर्देश भी आने लगे तब इस विशाल सम्मेलन के बुलाने का साहस अपने आप जाग्रत हो उठा। जैसे सेनापति के बिना विशाल वाहिनी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ रहती है वैसे ही किसी अग्रणी संस्था या व्यक्ति के बिना हिन्दी के साहित्यकारों का सम्मेलन करने की कामना भी कुछ समय तक हिन्दी-जगत के हृदयों में जल की छोटी-छोटी लहरों के समान उठती और समाप्त होती रहती थी। धीरे-धीरे उन लहरों ने अपना बल-वेग संभाला और अन्त में वे इतनी सुदूर-व्यापिनी और प्रभावोत्पादिनी तरंगमाला बन गई कि उनका वेग रोकना नितान्त कठिन हो गया और काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को एक ऐसा बृहत सम्मेलन बुलाने का निश्चय करना पड़ा।

सभा के १ मई, १९१० के अधिवेशन में सर्वसम्मिति से यह निश्चय किया गया कि शीघ्र ही हिन्दी के साहित्यकारों और प्रेमियों का एक महान सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। इस सुसंवाद के प्रकाशित होते ही हिन्दी-जगत में प्रसन्नता की लहर व्याप्त होगई और सहानुभूति तथा सहयोगदान की वर्षा-सी होने लगी। शीघ्र ही काशी के गण्य-मान्य नागरिकों की एक स्वागतकारिणी समिति बनी और समिति ने यह शुभ समाचार प्रकाशित करते हुए एक विज्ञप्ति द्वारा हिन्दी-प्रेमियों की सम्मतियां आमंत्रित कीं कि सम्मेलन कब किया जाय, सभापति किसे बनाया जाय और कौन-कौन विषय विचारार्थ रखे जायं। सूचना प्रकाशित होने भर की देर थी, चारों ओर से सुझावों और सम्मतियों की बाढ़-सी आगई। निदान अधिकांश सम्मतियों में से यह निश्चय हुआ कि भारत की सांस्कृतिक चेतना के एकमात्र आराध्य माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय इस सम्मेलन के सभापति बनाए जायं। विचारार्थ प्रस्तुत किए जाने वाले विषयों की तो भरमार होगई। अन्ततः वह महान अधिवेशन बड़े ही उत्साह, उल्लास और समारोह के साथ आश्विन के नवरात्र की सप्तमी, सोमवार, १० अक्तूबर, १९१० से काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के पश्चिम वाले मैदान में विशाल शामियाने के नीचे सम्पन्न हुआ और तीन दिनों बाद उसी जोश-खरोश, भीड़-भाड़ और उमंग के वातावरण में विसर्जित हुआ।

हिन्दी के साहित्यकारों और प्रेमियों का यह पहला ही अधिवेशन था, किन्तु उसमें देश के विभिन्न अंचलों में रहने वाले पांच सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और प्रतिदिन की उपस्थिति भी सहस्रों में हुई थी। इसमें

कुल पन्द्रह प्रस्ताव पारित हुए थे, जिनमें से तीन औपचारिक तथा बारह सोद्देश्य थे। पहले प्रस्ताव द्वारा सम्राट सप्तम एडवर्ड की मृत्यु पर शोक, द्वितीय प्रस्ताव द्वारा सम्राट जार्ज पंचम के राज्याभिषेक पर हर्ष-प्रकाश तथा तृतीय प्रस्ताव द्वारा हिन्दी के चार भक्तों के निधन पर शोक प्रकट किया गया था। बाद के आठ प्रस्तावों में हिन्दी एवं नागरी के बहुमुखी प्रचार-प्रसार और उन्नति के प्रयत्नों की प्रेरणा तथा समीक्षा थी। शेष अन्य चार प्रस्तावों का सम्बन्ध इस सम्मेलन के भविष्य से सम्बन्धित था।

सम्मेलन के सभापति महामना मालवीयजी की जन्मभूमि एवं आरम्भिक कर्मभूमि प्रयाग ही थी। वहां के सार्वजनिक कार्यो द्वारा ही उनके मनमोहक व्यक्तित्व एवं उनकी अम्लान रचनात्मक प्रतिभा का उदय हुआ था। उनकी प्रसिद्धि का परिवेश यद्यपि अब सर्वव्यापी बन रहा था, तथापि अब भी वह प्रयाग में ही रहते थे और टंडनजी उनके अनन्य अनुगामी और अविचल श्रद्धावान भक्त थे। काशी में आयोजित इस प्रकार के हिन्दी के साहित्यकारों के प्रथम सम्मेलन में वह वैसे भी भाग लेते, किन्तु जब स्वयं उनके राजनीतिक गुरु तथा पथ-प्रदर्शक मालवीयजी ही उसके सभापति बनाए गए थे तो प्रयाग से अपने दल-बल के साथ इस अधिवेशन में भाग लेना उनका पुनीत कर्तव्य होगया। टंडनजी उन दिनों प्रयाग हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध एडवोकेट थे तथा 'अभ्युदय' के सम्पादक थे। वह मालवीयजी के साथ प्रयाग के राजनीतिक जीवन में अपनी निश्छल और तेजस्विनी प्रतिभा का प्रसार कर चुके थे। उस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। नीरोग और स्फूर्ति से भरे उनकी सुन्दर शरीर और दृढ़तापूर्ण निश्चयों में अदम्य शक्ति भरी थी। निदान, काशी के इस साहित्य सम्मेलन में तीनों औपचारिक प्रस्तावों के प्रस्तुत हो जाने के अनन्तर जो चौथा रचनात्मक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, उसे स्वयं टंडनजी ने ही प्रस्तुत किया। उक्त प्रस्ताव इस प्रकार था––

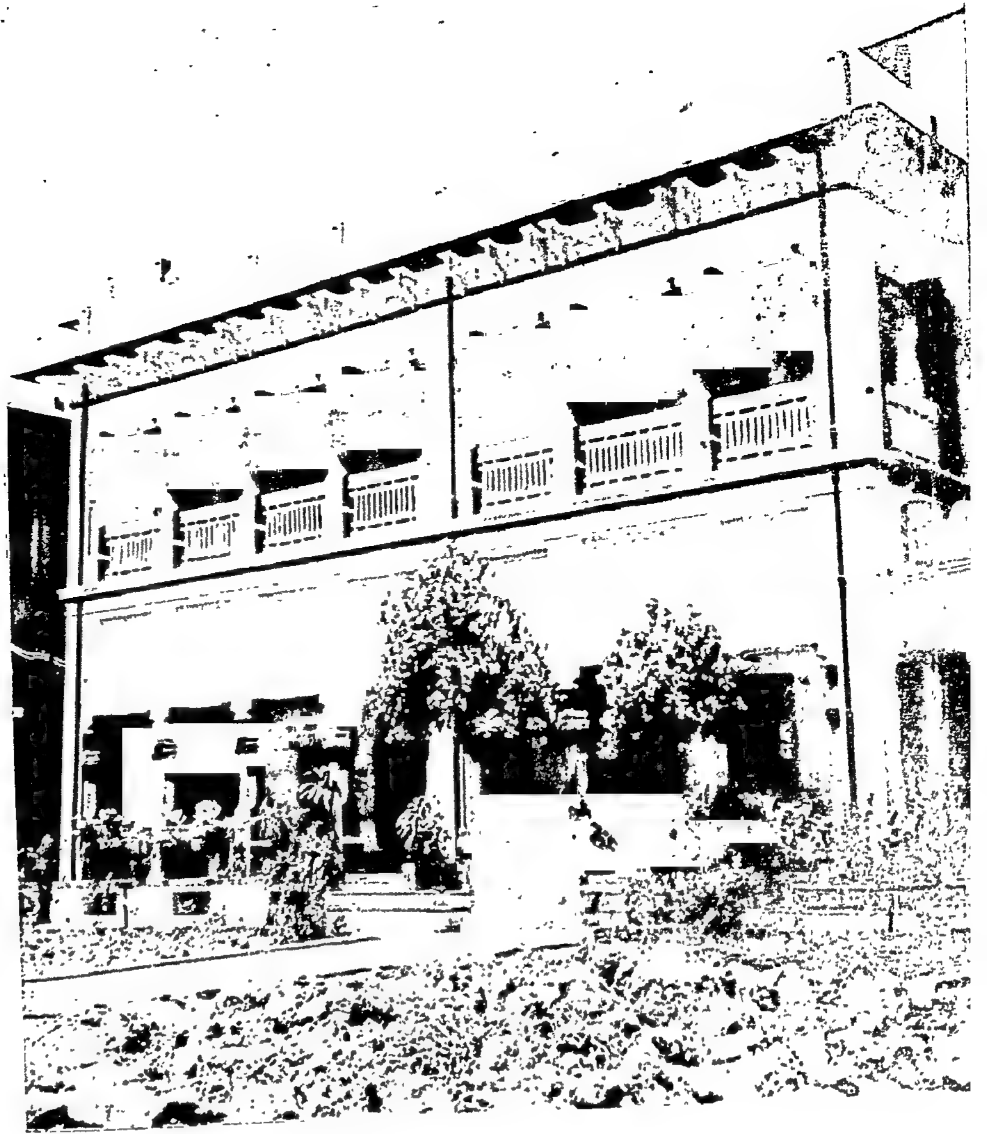
"यह सम्मेलन इस बात पर शोक प्रकट करता है कि जिस आज्ञा को इन प्रान्तों की गवर्नमेंट ने हिन्दी जानने वाली प्रजा के हित के लिए, अदालतों में नागरी अक्षरों के व्यवहार के विषय में १८ अप्रैल, १६०० की आज्ञानुसार जारी किया था, उससे हिन्दी जानने वाली प्रजा को कहीं-कहीं अमलों और हाकिमों के नागरी से पूरा परिचय न होने के कारण और कहीं वकीलों और मुख्तारों के स्वार्थ अथवा उदासीनता के कारण उचित लाभ नहीं पहुंच रहा है। यह सम्मेलन इन प्रान्तों की गवर्नमेंटों से प्रार्थना करता है कि वे समय-समय पर इस बात की जांच करा लिया करें कि गवर्नमेंट की ऊपर कही हुई आज्ञा का पालन ठीक-ठीक होता है या नहीं। जो अमले अदालतों में नियत किए जाते हैं, उनको काम करने योग्य दोनों लिपियों का परिचय है या नहीं। यह सम्मेलन गवर्नमेंट से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है कि वह यह आज्ञा कर दे कि जो लोग तजवीज और इजहार आदि की नकलें नागरी में लेने की प्रार्थना करें उनको वे सब नागरी में मिल जाया करें।

"यह सम्मेलन गवर्नमेंट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि जिस प्रकार युक्तप्रान्त का गवर्नमेंट गजट अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू में भी प्रकाशित होता है, उसी प्रकार उसके नागरी अक्षरों में भी प्रकाशित होने की वह आज्ञा कर दे।

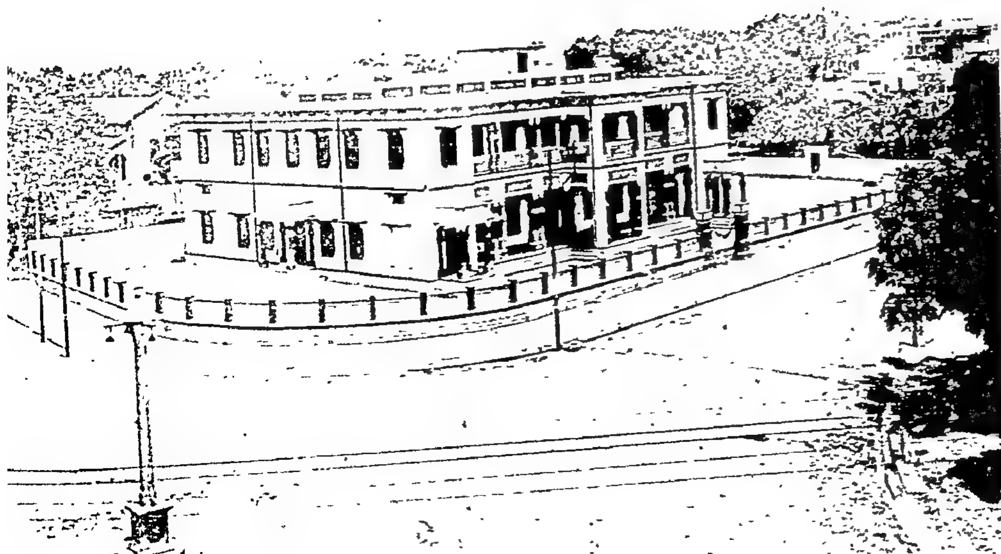
"यह सम्मेलन गवर्नमेंट का ध्यान इस ओर भी दिलाता है कि चुंगी तथा दूसरे टैक्सों की रसीदें तथा अन्य कागजात जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटियों से जारी होते हैं वे सब अधिकांश प्रजा के सुभीते के लिए नागरी अक्षरों में लिखे जाने चाहिए और आशा करता है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपैलिटियां इस बात पर शीघ्र ध्यान देंगी।

"नागरी-प्रचार के लिए सम्मेलन उचित समझता है कि युक्तप्रान्त के प्रत्येक जिले में इस कार्य के सम्पादन के लिए हिन्दी-प्रेमियों की एक-एक सभा स्थापित हो और सम्मेलन की कमेटी उनके स्थापित होने में सहायता करे और उनके कार्य की जांच के लिए तथा उनके सम्बन्ध में अन्य कार्य करने के लिए एक इन्सपेक्टर नियुक्त करे।

"यह सम्मेलन उन देशी राज्यों से, जिनके दफ्तरों में अब तक हिन्दी का प्रचार नहीं हुआ, अत्यन्त विनीत भाव से प्रार्थना करता है कि वे अपनी प्रजा के सुभीते तथा उन्नति के लिए राज्य के दफ्तरों में हिन्दी का व्यवहार करने की आज्ञा जारी कर दें।



श्री सत्यनारायण कुटीर
सम्मेलन का अतिथि भवन



हिन्दी संग्रहालय
इसका उद्‌घाटन विश्व-वन्द्य महात्मा गांधीजी ने
५ अप्रैल १९३६ को किया था।



सकेतलिपि एवं टंकण विद्यालय



सम्मेलन कार्यालय

"इस सम्मेलन की सम्मति है कि अदालतों में नागरी-प्रचार के कार्य तथा हिन्दी-साहित्य की उन्नति के लिए एक कोश इकट्ठा किया जाय जो केवल उसी कार्य में लगाया जाय।"

सम्मेलन के उस सर्वप्रथम अधिवेशन में यह सर्वप्रथम प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुए टंडनजी ने जो वक्तृता दी वह यदि विस्तार के साथ यहां उद्धृत कर दी जाय तो पाठकों को यह अनुमान सहज ही हो सकता है कि हिन्दी के महान भविष्य और संभावनाओं के सम्बन्ध में टंडनजी के मस्तिष्क में उस समय भी कितनी ऊंची कल्पनाएं थीं और उसकी वर्तमान दुरवस्था से वह कितने दुःखी थे। उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार था—

"ऐसी भाषा हिन्दी ही है, जो समूचे देश में सहज ही फैलाई जा सकती है। हिन्दी भाषा के जानने वालों की संख्या अन्य भारतीय भाषाओं के जानने वालों से कहीं अधिक है। हिन्दी-भाषा अन्य गुणों से भी सर्वांगपूर्ण है, उसका साहित्य भी अच्छा है और उसके साहित्य की दिन-दिन उन्नति होने की सम्भावना भी है। जिस भाषा में ऐसे लेख नहीं लिखे जा सकते हैं, जो कि पढ़ने वालों के भावों पर अपना प्रभाव डाल सकें, जो उनके भावों को बदल सकें या जो उनके भावों की धारा को दूसरी ओर बहा सकें, उस भाषा के साहित्य की उन्नति होने की सम्भावना नहीं होती। हिन्दी भाषा में वे सभी गुण विद्यमान हैं, जिससे कि हिन्दी में उक्त प्रकार के लेख लिखे जा सकते हैं। हिन्दी भाषा को भारत-वर्ष के हर प्रान्त के लोग समझते हैं। अब वे उपाय करने चाहिए जिनसे कि हिन्दी भाषा की सब प्रकार उन्नति हो। **जिस भाषा को राजा का सहारा नहीं है, वह शीघ्र उन्नति नहीं कर सकती है। लोग उसका उतना आदर नहीं करते जितना कि राजभाषा का। उर्दू भाषा की उन्नति इसका प्रमाण है। हम सबको उद्योग करना चाहिए कि जिसमें हमारी हिन्दी को भी 'राजद्वार' में स्थान मिले। ऐसा उपाय कीजिए जिसमें कि हिन्दी भाषा का प्रचार हर एक प्रांत के गांव-गांव में हो।**

टंडन जी के उपर्युक्त भाषण के इस अंश में ही भविष्णु हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्य बीज रूप में छिपे हुए थे। आगे चलकर सम्मेलन को गतिमान और विशाल बनाने की उन्होंने जो योजनाएं रचीं, जो उपाय किए, उन सब में उनके इस भाषण के शब्दों की चरितार्थता पदे-पदे मिलती है। इसी प्रथम प्रस्ताव के अन्तिम अंश के रूप में, अर्थात हिन्दी की उन्नति एवं प्रचार के लिए एक कोश की स्थापना के लिए 'हिन्दी पैसा फण्ड' की स्थापना हुई, जिससे आगे चलकर हिन्दी की उन्नति के प्रयत्नों को विशेष बल मिला। यहां यह स्मरणीय है कि टंडनजी ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया था, उसमें केवल एक कोश की स्थापना का विचार रखा गया था, किन्तु प्रस्ताव के इस अंश का समर्थन सिंहभूमि जिले के पोड़ाहाट स्टेट की राजधानी चक्रधरपुर के प्रतिनिधि बाबू रामचीजसिंह ने किया था। वह चक्रधरपुर में २१ नवम्बर, १९०६ में स्थापित हिन्दी पैसा फण्ड समिति की ओर से इस अधिवेशन के प्रतिनिधि बनकर आए थे। उन्होंने बड़े मर्मस्पर्शी और तर्कपूर्ण ढंग से हिन्दी की इस महती आवश्यकता की ओर उपस्थित प्रतिनिधियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए जो भाषण दिया, उसका भी उपस्थित प्रतिनिधियों और जनता पर सुन्दर प्रभाव पड़ा। हिन्दी के परम उन्नायक मिश्र-बन्धुओं में से एक रावराजा पंडित श्यामबिहारी मिश्र ने भी टंडनजी के इस प्रस्ताव का तथा हिन्दी पैसा फण्ड की स्थापना का जोरदार समर्थन किया और सबके अन्त में, अपनी ललित प्रांजल भाषा और तर्कशैली से सम्मेलन के सभापति महामना मालवीय जी ने जो अपील की, उसका तो उपस्थित जनता एवं प्रतिनिधियों पर अमोघ प्रभाव पड़ा और तत्काल ही भरी सभा में चारों ओर से पैसों की वर्षा होने लगी। देखते-ही-देखते, पैसा-फण्ड में १३,१२८ पैसे नकद तथा २,११,४१८ पैसों के वचन प्राप्त हुए, जिनका योग २,२५,५४६ पैसे (अर्थात ३,५२४ रु० ८ आ०) चन्दा हुआ। यही नहीं, इस सम्मेलन की प्रसविनी काशी नागरी प्रचारिणी सभा पर उस समय तक छः हजार रुपयों का ऋण था। उस समय ऋण की यह धनराशि किसी नवजात संस्था के भविष्य को बिगाड़ने के लिए पर्याप्त थी, सभा के संचालकों के लिए यह भारी ऋण दिन-रात की चिन्ता का विषय बना हुआ था। संयोगवश सभा में जब कि चारों ओर से पैसों की वर्षा हो रही थी, पंडित श्यामबिहारी मिश्र ने उपस्थित प्रतिनिधियों तथा दर्शकों को यह सुखद संवाद सुनाया कि एक उदार महानुभाव ने, जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते, यह प्रतिज्ञा की है कि वह शीघ्र ही काशी नागरी प्रचारिणी सभा का छः हजार रुपये का ऋण चुकता कर देंगे।

इस प्रकार काशी का यह प्रथम अधिवेशन न केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महान भविष्य के लिए ही प्रेरणाप्रद और सहायक रहा, वरन नागरी प्रचारिणी सभा के वर्तमान के लिए भी वह वरदायक सिद्ध हुआ। इस प्रथम प्रस्ताव की सर्व-सम्मति से स्वीकृति एवं इसके परिणामस्वरूप लगभग दस हजार रुपयों की सक्रिय आर्थिक निधि के संचयन से उपस्थित प्रतिनिधियों एवं दर्शकों का उत्साह कई गुना बढ़ गया। सर्वत्र उत्साह की लहर सी दौड़ने लगी। सब को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि हिन्दी के साहित्कारों एवं हितैषियों का यह प्रथम सम्मेलन अब भविष्य में निर्बाध रूप से चलता रहेगा और इसके द्वारा हिन्दी की सभी प्रकार की कठिनाइयों एवं समस्याओं का ही अवसान न होगा, वरन हिन्दी के सर्वतोमुखी विस्तार एवं प्रचार-प्रसार में भी यह अपूर्व योगदान करेगा।

जैसा कि कहा जा चुका है, काशी के प्रथम सम्मेलन में स्वीकृत चार प्रस्तावों द्वारा सम्मेलन के भविष्य की रूपरेखा भी निर्धारित की गई थी। एक प्रस्ताव द्वारा देशभर के गण्य-मान्य ४१ व्यक्तियों की एक समिति बनाई गई जो सम्मेलन की नियमावली एवं भविष्य की गतिविधि का निर्धारण कर वर्ष भर तक सम्मेलन के स्वीकृत मन्तव्यों आदि पर कार्य करे। यह भी निश्चय हुआ कि जब तक कोई नियमावली बनकर अधिवेशन में स्वीकृत न हो जाय तब तक इसी प्रकार की समिति प्रति वर्ष बनती रहे। सम्मेलन की उस सर्वप्रथम समिति में मालवीयजी के अतिरिक्त जो अन्य चालीस महानुभाव थे, उनमें से कुछ के नाम यों हैं। सर्व श्री लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), साहित्याचार्य पण्डित रामावतार शर्मा, बाबू शारदाचरण मिश्र, सर गुरुदास बनर्जी, बाबू हरिकृष्ण जौहर, पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्यामविहारी मिश्र, राजा नरपतिसिंह चक्रधरपुर, महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य, डाक्टर गंगानाथ झा, पं० बालकृष्ण भट्ट, महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामनारायण मिश्र आदि। टंडनजी आगामी वर्ष के लिए सम्मेलन के मन्त्री चुने गए और एक प्रस्ताव द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष इस प्रकार का दूसरा सम्मेलन करने के लिए प्रयाग की नागरी प्रवर्धिनी सभा का निमंत्रण स्वीकार किया जाय। यही नहीं, जिस समय काशी में प्रथम सम्मेलन समाप्त हो रहा था उसी समय इस प्रथम सम्मेलन के सभापति महामना मालवीयजी ने प्रयाग से अपने साथ आए हुए प्रतिनिधियों से यह अनुरोध किया कि यदि सम्मेलन को दृढ़ करना है और स्थायी रूप देना है तो दूसरा अधिवेशन प्रयाग में हो। प्रयाग के प्रतिनिधियों ने भी सम्मेलन की नींव दृढ़ करने के अभिप्राय से ही उसे प्रयाग में निमंत्रित किया था और यह कहा जा सकता है कि सम्मेलन के इसी द्वितीय अधिवेशन ने ही सम्मेलन को स्थायी रूप दे दिया। प्रथम सम्मेलन के सम्बन्ध में उत्साह का होना तो उसकी नवीनता के कारण स्वाभाविक ही था, परन्तु द्वितीय सम्मेलन में पहले से भी अधिक लोग एकत्र हुए और काशी से भी बढ़कर प्रयागवासियों में सम्मेलन के प्रति उत्साह और आकर्षण देखा गया। प्रथम सम्मेलन को प्रायः सभी लोग काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ही एक बृहद अधिवेशन समझते थे और सभा से अलग उसकी कोई स्थिति भी नहीं थी; किन्तु सम्मेलन के मंत्री टंडनजी ने प्रयाग में आते ही अपने अनन्य सहयोगियों के साथ उसकी गतिविधि को जिस प्रकार से अग्रसर किया, उससे कुछ ही महीनों के भीतर सभा से अलग सम्मेलन की एक स्थिति बन गई। उन्होंने उसका स्थायी कार्यालय ही नहीं स्थापित किया, वरन उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियों और सम्भावनाओं को भी मूर्त रूप दिया। इस प्रकार भगवान विश्वनाथ की पवित्र पुरी में जन्म लेकर और महामना मालवीयजी के वरद हाथों से अमृतरसमय घूंटी का पान कर और मनस्वी टंडनजी की तपस्या और लगन से एक वर्ष के भीतर ही अक्षयवट की पुण्यभूमि प्रयाग में सम्मेलन को स्थायी रूप प्राप्त हो गया। द्वितीय वर्ष में सम्मेलन का सभापतित्व पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने किया। टंडनजी के साहित्यिक गुरु स्वर्गीय बालकृष्णजी भट्ट स्वागताध्यक्ष थे। प्रयाग के इस अधिवेशन से सम्मेलन को बड़ी शक्ति मिली और लोगों में यह धारणा बद्धमूल होगई कि सम्मेलन का भविष्य महान है और एक-न-एक दिन वह इस विशाल देश की महती संस्था बनेगा।

सम्मेलन के इस द्वितीय अधिवेशन में सम्मेलन की एक स्वतन्त्र नियमावली बनी जो केवल एक वर्ष के लिए स्वीकृत हुई और साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि सम्मेलन का मुख्य स्थान एक वर्ष के लिए पुनः प्रयाग ही में रहे। इस वर्ष भी सम्मेलन के मन्त्री-पद पर टंडनजी को ही सर्वसम्मति से चुना गया। क्योंकि उनकी जैसी हिन्दी-निष्ठा और

तपस्या तथा सम्मेलन को सब प्रकार से अनन्त और गतिशील बनाने की लगन किसी अन्य व्यक्ति में नहीं थी। अपने एक वर्ष के सीमित कार्यकाल में ही टंडनजी ने यह सिद्ध कर दिया था कि सम्मेलन को कितना आगे बढ़ाया जा सकता है। सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन हमारे देश के वाणिज्य-व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र कलकत्ता में बड़े समारोह के साथ हुआ और इसके सभापति हुए, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और साहित्यकार उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'। इस अधिवेशन से सम्मेलन को अपूर्व शक्ति मिली और अनेक हिन्दीतर भाषा-भाषी महानुभावों का भी सम्मेलन के प्रति ध्यान आकृष्ट हुआ। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे पंडित छोटेलालजी मिश्र और स्वागत-मंत्री थे हमारे आज के राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, जो उन दिनों कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रैक्टिस कर रहे थे। इस तृतीय अधिवेशन में बंगाल के चोटी के साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, वकीलों और पत्रकारों के अतिरिक्त वहां के प्रमुख नागरिकों का भी सहयोग प्राप्त हुआ और उपस्थित प्रतिनिधियों में मद्रास, उड़ीसा, बम्बई, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध आदि प्रदेशों के सैकड़ों व्यक्ति थे। इस वर्ष के अधिवेशन में स्वीकृत एक विशेष प्रस्ताव में सम्मेलन के मन्त्री टंडनजी को उनकी अनवरत सेवा और परिश्रम के लिए धन्यवाद का ज्ञापन किया गया और उन्हें अधिकार दिया गया कि वह सम्मेलन कीस्थायी समिति की रजिस्ट्री करा लें।

सम्मेलन का चौथा अधिवेशन बिहार के भागलपुर नगर में हुआ और इसके सभापति हुए आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)। इसी अधिवेशन में सम्मेलन की परीक्षा-सम्बन्धी नियमावली स्वीकार की गई और नागरी-वर्णमाला पर विचार करने के लिए एक उपसमिति का संगठन किया गया। इस अधिवेशन के साथ यह भी निश्चय होगया कि सम्मेलन का मुख्य कार्यालय स्थायी रूप से अब प्रयाग में ही रहेगा। पांचवां अधिवेशन हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पंडित श्रीधर पाठक की अध्यक्षता में लखनऊ में बड़ी धूम-धाम के साथ हुआ। इस अधिवेशन में इतने अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया जितने अब तक कभी नहीं आए थे। इस अधिवेशन में सम्मेलन की परीक्षाओं में उत्तीर्ण स्नातकों को उपाधि-पत्र प्रदान किये गए। लखनऊ-अधिवेशन तक सम्मेलन के कार्यालय की अपनी स्थिति सुदृढ़ हो चुकी थी, किन्तु अब भी वह टंडनजी के निजी मकान का ही एक अंग बना हुआ था, उनके वकालतखाने के कमरे में ही एक ओर सम्मेलन का भी आफिस रहता था। सम्मेलन का छठा अधिवेशन लाहौर में होने वाला था, किन्तु किसी कारणवश नहीं हो सका, इसलिए टंडनजी ने उसे प्रयाग में ही सोत्साह सम्पन्न किया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० श्यामसुन्दरदास जी इस अधिवेशन के सभापति थे। सातवां सम्मेलन जबलपुर में महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन का आठवां अधिवेशन इन्दौर में बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। उसके सभापति कर्मवीर महात्मा गांधी हुए, जो उन दिनों निराश भारत की कोटि-कोटि जनता के एकमात्र आशास्तम्भ थे। गांधीजी के महान व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संस्पर्श से सम्मेलन को नवजीवन प्राप्त हुआ। उसे अच्छी आर्थिक सहायता तो मिली ही, अहिन्दी-भाषियों के हृदय में भी सम्मेलन और हिन्दी को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। महात्माजी की प्रेरणा से मद्रास में हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ करने के लिए एक मन्तव्य स्वीकृत हुआ, जिसके परिणामस्वरूप समूचे दक्षिण भारत में हिन्दी का व्यापक प्रचार एवं प्रसार करने वाली संस्था 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' का जन्म हुआ। आरम्भ के कई वर्षों तक यह संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अविभाज्य अंग रही और इसकी सभी प्रवृत्तियों एवं कार्रवाइयों का नियमन तथा संचालन उसके मुख्य केन्द्र प्रयाग से ही होता रहा, किन्तु आगे चलकर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण तथा महात्मा गांधी की इच्छा के अनुसार इसे एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में कार्य करने के लिए सम्मेलन से पृथक कर दिया गया।

सम्मेलन का नवां अधिवेशन बम्बई में पुनः महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में बड़ौदा के महाराजा द्वारा प्रदत्त ५०००) रु० की आर्थिक सहायता से सम्मेलन के साहित्यिक प्रकाशनों का श्रीगणेश हुआ। महात्मा गांधी तथा महामना मालवीय जैसे पुण्यश्लोक महानुभावों के सभापतित्व तथा टंडनजी जैसे साधक तपस्वी तथा अनवरत हितचिन्तन-रत मन्त्री के सतत सान्निध्य से इन थोड़े ही वर्षों में सम्मेलन को जो अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हुआ, वह अन्य भाषाओं के साहित्यिक संगठनों के लिए केवल स्पर्धा का विषय बन गया। अपितु इससे यह

भी सिद्ध होने लगा कि हिन्दी की शक्ति अजेय है और वह एक-न-एक दिन इस विशाल देश की राष्ट्रभाषा होने की पूर्ण क्षमता रखती है।

सम्मेलन का दसवां अधिवेशन स्वर्गीय पंडित विष्णुदत्त शुक्ल के सभापतित्व में पटना में हुआ और फिर कलकत्ते में ग्यारहवां अधिवेशन हुआ; जिसके सभापति डाक्टर भगवानदास हुए। कलकत्ते के इस अधिवेशन में हिन्दी के सर्वप्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' की स्थापना हुई। टंडनजी की प्रेरणा से कलकत्ता के सुप्रसिद्ध धनी और हिन्दी-हितैषी बाबू गोकुलचन्द्रजी ने अपने स्वर्गीय भाई श्री मंगलाप्रसादजी की स्मृति में ४० हजार रुपये सम्मेलन को इस लिए प्रदान किए कि इस धनराशि के व्याज से प्रतिवर्ष १२००) रु० का एक पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक के नाम से किसी मौलिक हिन्दी-ग्रंथ के रचयिता को प्रदान किया जाय। बारहवां अधिवेशन सर्वप्रथम पंजाब की राजधानी लाहौर में हुआ, जिसके सभापति पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी थे। इस अधिवेशन के पूर्व तक टंडनजी सम्मेलन के मंत्री-पद पर इसलिए बरावर बने रहे कि उनके सशक्त एवं कर्मठ व्यक्तित्व के सिवा सम्मेलन को संभालने की शक्ति किसी अन्य में नहीं थी। प्रत्येक अधिवेशन के अवसर पर उपस्थित प्रतिनिधियों और सभापति आदि पदाधिकारियों के अनुरोध से वह विवश हो जाते थे। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि सम्मेलन की एक अपनी सुदृढ़ स्थिति बन गई। उसकी परीक्षाओं का देश भर में प्रचलन होगया, इसके प्रकाशनों से भी अच्छी आय होने लगी और सुदूर दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सम्मेलन से सम्बद्ध हिन्दी-संस्थाओं द्वारा उसकी व्यापकता और संघटन-शक्ति से हिन्दी की लोकप्रियता, प्रचार और प्रसार में अपूर्व वृद्धि हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी-जगत की एक सुदृढ़ संस्था के रूप में विख्यात हो गया। और उसके वार्षिक अधिवेशनों द्वारा हिन्दी की समस्याओं और कठिनाइयों पर विचार करने के लिए एक देशव्यापी मंच मिल गया।

अपने प्रधानमंत्रित्व के इन दस वर्षों में सम्मेलन को आगे बढ़ाने में टंडनजी ने वही काम किया, जो एक स्नेहमयी माता अपने इकलौते पुत्र के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए अपना निजी सुख-दुःख भूलकर किया करती है। उस समय सम्मेलन के पास धन-सम्पत्ति तो दूर, कार्यालय के लिए एक छोटी-सी कोठरी भी नहीं थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आरम्भ के कई वर्षों तक टंडनजी का निजी कमरा ही सम्मेलन का कार्यालय था और उनके निजी मुंशी ही उसका थोड़ा-बहुत काम कर देते थे, शेष काम या तो टंडनजी स्वयं करते थे अथवा अपने पास से वेतनादि देकर रखे गए कार्यकर्ताओं द्वारा कराते थे। परीक्षाओं के शुल्क और पुस्तकों के प्रकाशनों द्वारा जब सम्मेलन को थोड़ी बहुत आय होने लगी तब भी सम्मेलन के एक-एक पैसे का व्यय टंडनजी एक कृपण व्यवसायी की भांति करते थे। वह युग ही ऐसा था। बहुत थोड़े वेतन में तन-मन लगाकर काम करने वाले अनेक योग्य व्यक्ति टंडनजी को मिले, जिन्होंने आरम्भ के दिनों में सम्मेलन के कार्य को आगे बढ़ाया। उस समय सम्मेलन के कार्यकर्ताओं का न तो काम का कोई घंटा नियत था और न वेतन का कोई निश्चित क्रम था। आज तो सम्मेलन के कार्यकर्ताओं का मासिक वेतन लगभग बीस हजार रुपए से अधिक है, किन्तु उन दिनों तो इतने रुपयों में सम्मेलन का सभी कार्य वर्षों तक चलाया जाता था। उसके एक-एक पैसे का व्यय किस प्रकार सुविचारित ढंग से किया जाता था, इसका परिचय उन दिनों टंडनजी के साथ सम्मेलन का कार्य करने वाले पुराने कार्यकर्ताओं द्वारा ज्ञात होता है। किसी कर्मचारी की आठ आना वार्षिक वेतन-वृद्धि करते समय भी कार्यसमिति में टंडनजी की उपस्थिति आवश्यक होती थी। जिन बैठकों में वह कार्यवश अनुपस्थित रहते थे, उनमें कोई भी ऐसा विचारणीय विषय नहीं रखा जाता था, जिसमें अर्थ-सम्बन्धी कोई समस्या हो। तात्पर्य यह है कि अपने प्रधानमंत्रित्व के कार्यकाल में टंडनजी ने सम्मेलन के सभी कार्यों को इस सुव्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ाया कि उनके बाद कार्य करनेवालों की कठिनाइयां बहुत सुगम हो गई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जिन दस अधिवेशनों की संक्षेप में ऊपर चर्चा की गई है, वे ऐसे थे, जिनसे आरम्भ में सम्मेलन को सब प्रकार की शक्ति मिली, उसकी कार्य-दिशाओं का मार्ग प्रशस्त हुआ, उसके स्वरूप का निखार हुआ और यह विश्वास होने लगा कि अब इस संस्था का कार्य कभी रुकने वाला नहीं है। प्रयाग में उसका निजी भवन बनगया, उसकी परीक्षाओं में सहस्त्रों परीक्षार्थी प्रविष्ट होने लगे, उसके प्रकाशन का कार्य आरम्भ हो गया, उसकी परीक्षाओं के पाठ्यक्रमो के अध्यापन के लिए 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना हो गई।

उसके पास अपनी कुछ पूंजी हो गई, उसकी नियमावली बन गई और उस नियमावली के अनुसार इस विशाल देश के प्रत्येक अंचल के हिन्दी-प्रेमियों का उसके वार्षिक अधिवेशनों में जमाव होने लगा। अब वह काशी में सम्पन्न होने वाले हिन्दी के साहित्यकारों का एक आकस्मिक अधिवेशन मात्र नहीं रह गया, उसकी प्रतिष्ठा और कार्यक्षमता पर हिन्दी-जगत की आस्था हो चुकी थी। निर्माण के इन महत्त्वपूर्ण दस वर्षों में टंडनजी ने जिस अदम्य मनोयोग, निष्ठा और पवित्रता से सम्मेलन के कार्यों का संचालन किया, उससे उसके आगे के कार्यों में सुकरता आ गई। सभी कार्यों की पद्धतियां निर्दिष्ट हो चुकी थीं। प्रधानमंत्री के रूप में टंडनजी ने सम्मेलन को अब इस योग्य बना दिया था कि आगे के पदाधिकारियों का कार्य सुगम हो चला था। फलतः इन दस वर्षों के बाद उन्होंने सम्मेलन का प्रधान मंत्री पद छोड़कर यह देखना चाहा कि दूसरे लोगों द्वारा सम्मेलन का कार्य किस प्रकार चलता है। यद्यपि इस प्रयोग में भी उन्हें सदैव सतर्क रहना पड़ता था और प्रायः सब कार्य वह देखते-सुनते चलते थे; तथापि वह ऐसे सहयोगियों और कार्यकर्ताओं की अच्छी संख्या तैयार करना चाहते थे, जो उनके आदर्शों और कल्पनाओं के अनुसार सम्मेलन की प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाएं। सौभाग्यवश उस समय उन्हें अच्छे सहयोगी भी मिले, जिन्होंने उनकी निर्दिष्ट पद्धतियों पर सम्मेलन के कार्यों को अग्रसर किया और उसे वर्तमान स्थिति तक पहुंचाया।

अब तक सम्मेलन के कुल अड़तीस अधिवेशन हो चुके हैं। हिन्दी-जगत के दुर्भाग्य से गत दस वर्षों से सम्मेलन की वैधानिक स्थिति पर गतिरोध हो गया है और उसके अधिवेशनों की परम्परा बन्द हो गई है; किन्तु जब तक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन होते थे तो उनके कारण टंडनजी पर कार्यों का इतना बोझ आ जाता था कि देखने वाले भी दंग रहते थे। सम्मेलन के अधिवेशन में कौन-कौन से व्यक्ति भाग लें, इसकी सूची से लेकर उसमें प्रस्तुत होने वाले प्रस्तावों को लिखने का कार्य भी वह स्वयं करते थे। क्या मजाल है कि किसी भी प्रस्ताव की भाषा कहीं से शिथिल, अनर्गल अथवा अत्युक्तिपूर्ण हो। बहुत कम लोगों को यह ज्ञात होगा कि सम्मेलन के इसी एक अधिवेशन के सिलसिले में टंडनजी ने नाभा स्टेट का मंत्री-पद त्याग दिया था, जो उन दिनों बड़े महत्त्व का था। बात यों थी कि सम्मेलन के अधिवेशन में टंडनजी भाग लेना चाहते थे और इसके लिए उन्होंने राजा साहब को यथासमय सूचना भी भेज दी थी, किन्तु निर्दिष्ट समय तक जब उन्हें अवकाश पर जाने की स्वीकृति या सूचना नहीं प्राप्त हुई तो उन्होंने अपने त्यागपत्र के साथ नाभा छोड़कर अधिवेशन में भाग लिया। बाद में जब नाभा के राजा साहब को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने टंडनजी से अपना त्यागपत्र वापस लेने का बहुतेरा अनुरोध किया, किन्तु 'रामो द्विर्नैव भाषते' के अनुयायी को अपने निश्चय से डिगाने की शक्ति किसी पद, प्रलोभन या व्यक्ति में नहीं थी।

इसी प्रकार सम्मेलन के भागलपुर-अधिवेशन के अवसर पर टंडनजी ने सम्मेलन के कार्यों के कारण अपने एल० एल० एम० की परीक्षा में न बैठने का जो निश्चय किया वह भी उल्लेखनीय है। टंडनजी उन दिनों हाईकोर्ट में प्रैक्टिस कर रहे थे और साथ ही एल० एल० एम० की परीक्षा देने का भी उन्होंने पूरा निश्चय कर लिया था, किन्तु भागलपुर के वार्षिक अधिवेशन पर जब उन्हें पुनः प्रधानमन्त्री बनाने के लिए चारों ओर से दबाव पड़ा तो उन्होंने अपनी इस परीक्षा की चर्चा करते हुए अपनी ओर से विवशता प्रकट की। चारों ओर टंडनजी जैसे सुयोग्य प्रधानमंत्री की तलाश होने लगी, किन्तु जब किसी को एक भी नाम न सुझाई पड़ा तो स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास ने बड़े मार्मिक शब्दों में टंडनजी से उक्त पद स्वीकार करने का पुनः आग्रह किया। टंडनजी बाबू श्यामसुन्दरदास का बड़ा आदर करते थे, और उनकी हिन्दी-सेवाओं का उनके हृदय पर बड़ा प्रभाव था। वह उनका आग्रह टाल नहीं सके और अपनी सारी तैयारियों के बाद भी एल० एल० एम० की परीक्षा उन्होंने दी। वह चाहते तो सम्मेलन का कार्य करते हुए भी उक्त परीक्षा दे सकते थे किन्तु टंडनजी ने कभी किसी काम को ऊपरी मन से या दिखावे के लिए करना नहीं सीखा। या तो किसी काम को वह करेंगे ही नहीं, और यदि करेंगे तो सम्पूर्ण शक्ति के साथ करेंगे।

टंडनजी के प्रधानमंत्री पद से पृथक हो जाने के अनन्तर सम्मेलन के प्रधानमंत्रियों की परम्परा में अनेक सुयोग्य व्यक्तियों के नाम आते हैं, जिनमें से अनेक ने कई वर्षों तक सम्मेलन के कार्यों को प्रगति देने और सम्मेलन की प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाने वाले कार्य भी किए हैं। किन्तु यह कहना उचित जान पड़ता है कि अभी कुछ ही वर्षों पूर्व तक

सम्मेलन का सम्पूर्ण मंत्रिमंडल टंडनजी के संकेतों पर ही चलता रहा है। सम्मेलन का छोटे से छोटा कार्य भी उनके परामर्श के बिना नहीं किया जाता था। और प्रधानमन्त्री तो जैसे सम्मेलन के प्रतिदिन के कार्यों में उनके पथ-प्रदर्शन और परामर्श के बिना कुछ कर ही नहीं सकता था। यद्यपि बीच में कुछ ऐसे भी प्रसंग आए हैं जब टंडनजी ने एक-दो प्रधानमंत्रियों के कार्यालय में अपना नियन्त्रण ढीला करके उन्हें पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की सुविधा दे दी थी, किन्तु यह अनुभव अच्छा नहीं रहा; सम्मेलन की स्थिति को इससे जबर्दस्त धक्के लगे और उन्हीं लोगों ने, जिन्होंने टंडनजी के नियंत्रण को अपनी और सम्मेलन की स्वतन्त्रता में बाधक समझा था, पुनः टंडनजी से अपना नियन्त्रण पूर्ववत बनाए रखने की प्रार्थना की।

सम्मेलन के बहुमुखी विकास की कल्पना टंडनजी के अपने मस्तिष्क की उपज थी। यह सत्य है कि उन्होंने सम्मेलन के कार्यों को आगे बढ़ाने में अपने अनेक सुयोग्य सहयोगियों और मित्रों से सहयोग भी लिया; किन्तु यह भी सत्य है कि अपनी उन कल्पनाओं को मूर्त रूप देने की क्षमता अकेले टंडनजी में ही थी। हिन्दी उन दिनों कितनी उपेक्षित थी, इसका पता इसी बात से लग सकता है कि स्वयं हिन्दी की जन्मभूमि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि में ही उसका कोई स्थान नहीं था। यहां भी अस्सी प्रतिशत जनता उर्दू पढ़ती थी। डाकखानों, पुलिस स्टेशनों, रेलवे, सरकारी कार्यालयों आदि में सर्वत्र अंग्रेजी के साथ उर्दू विराजमान थी। स्कूलों-कालेजों में भी हिन्दी का कोई स्थान नहीं था। न तो उसमें उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें थीं और न हिन्दी का कोई पाठ्य विषय ही कहीं रखा गया था। उस युग में सम्मेलन की विविध परीक्षाओं का संचालन एवं उनकी पाठ्य विधि को प्रयोगात्मक रूप से आगे बढ़ाने के लिए हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना कर टंडनजी ने एक नई दिशा का उद्घाटन किया। बताते हैं, प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ का जब उन्होंने आरम्भ किया तो सर्वप्रथम अपने पुत्रों को ही उसका नियमित विद्यार्थी बनाया। धीरे-धीरे उनकी इन दोनों कल्पनाओं से हिन्दी का कितना कल्याण हुआ, इसे आज बताने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के अनुकरण पर बाद में अनेक सरकारी तथा गैरसरकारी हिन्दी-परीक्षाओं की पद्धति आगे बढ़ी। स्कूलों, कालेजों अथवा विश्वविद्यालयों में हिन्दी को पाठ्य विषय बनाने में भी सम्मेलन की परीक्षाओं का ही मुख्य हाथ रहा। और उनके द्वारा स्थापित विद्यापीठ के अनुकरण पर तो न केवल हिन्दीभाषी राज्यों में ही, वरन अहिन्दी-भाषी राज्यों में भी ऐसी संस्थाओं की बहुलता हो गई। परतन्त्रता के दिनों में जनता के मनोबल को उठाने और राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में इन संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

सम्मेलन की स्थापना के आज ५० वर्ष पूरे हो रहे हैं। इन ५० वर्षों में टंडनजी ने अपने जीवन का कितना समय सम्मेलन के कार्यों के लिए लगाया—इसका अनुमान वही लोग कर सकते हैं जो उनकी दिनचर्या के साथ एक-दो दिन का भी सम्पर्क रखते हैं। आज अत्यन्त रुग्णावस्था में भी वह सम्मेलन की प्रत्येक गतिविधि का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना नहीं रहते। किन्तु जब वह पूर्णतः स्वस्थ थे, कार्यरत थे, तो सम्मेलन के कार्यों के लिए उनके दिन और रात बराबर थे। इन पंक्तियों के लेखक का अनुभव है कि कभी-कभी ऐसे भी अवसर आए हैं जब दिन-रात के चौबीस घण्टों में पन्द्रह-सोलह घंटों तक बैठकर टंडनजी ने सम्मेलन का कार्य किया है। बीच में कुछ दिनों के लिए, जब वह नाभा और पंजाब नेशनल बैंक के कार्य से लाहौर चले गए थे, शेष वर्षों में सम्मेलन के कार्यों में ही उनके जीवन का अधिकांश बीता है। कोई भी सभापति या प्रधानमंत्री रहा, सम्मेलन की प्रमुख चिन्ताएं उन्हीं के कन्धों पर रहीं। सम्मेलन की कठिनाइयां उन्होंने हल कीं और उसे ऊंचा उठाने का उद्योग उन्होंने ही आरम्भ किया

सम्मेलन के १३वें अधिवेशन में, अपने मित्रों तथा हिन्दी-जगत के दुराग्रह से पराजित टंडनजी को सम्मेलन का सभापति-पद ग्रहण करना पड़ा था। यह अधिवेशन कानपुर में हुआ था और इसके स्वागताध्यक्ष थे आचार्य श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी। अपने सभापतित्व में सम्पन्न होनेवाले सम्मेलन के इस अधिवेशन में टंडनजी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, वह कई दृष्टियों से अब तक के सभापतियों के अभिभाषणों से भिन्न था। इसी अधिवेशन में सम्मेलन के अन्तर्गत उस हिन्दी-संग्रहालय की स्थापना का निश्चय किया गया, जो आज हिन्दी-जगत में अपने ढंग की अनुपम वस्तु है। संग्रहालय की स्थापना विश्ववन्द्य महात्मा गांधी जी के कर-कमलों द्वारा सन १९३६ ई० में हुई। हिन्दी-

संग्रहालय का निजी भवन प्रयाग में प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय वास्तुकला का एक सुन्दर नमूना है। उसके विशाल कक्ष में प्रवेशद्वार के सम्मुख हंसवाहिनी सस्मितवदना सरस्वती की तेजस्विनी स्फटिक-प्रतिमा है और चतुर्दिक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों का विशाल भण्डार है। हिन्दी-संग्रहालय में अनेक कक्ष हैं। 'वसुकक्ष' में प्रयाग के सुप्रसिद्ध चिकित्सक एवं इतिहासवेत्ता स्व० मेजर वामनदास वसु के मूल्यवान पुस्तकालय से प्रदत्त लगभग ५००० दुर्लभ पुस्तकों का ऐसा संग्रह है, जो टंडनजी की प्रेरणा एवं सत्प्रयत्न से सम्मेलन को प्राप्त हुआ है। एक दूसरे कक्ष में, हिन्दी एवं संस्कृत की हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों का विशाल संग्रह है। इस कक्ष में उत्तर प्रदेश के सुलतानपुर जिले के अमेठी राज्य के वर्तमान कुंवर रणंजयसिंह द्वारा अपने अग्रज स्व० रणवीरसिंह की स्मृति में दी गई पाण्डुलिपियों के साथ देश के भिन्न-भिन्न अंचलों से सम्मेलन द्वारा संगृहीत पाण्डुलिपियां भी सुरक्षित हैं, जिनकी संख्या ५००० से अधिक है।

हिन्दी-संग्रहालय का 'राजर्षिकक्ष' स्वयं टंडनजी को देश के कोने-कोने से प्राप्त मूल्यवान सामग्रियों से भरा है। एक प्रकार से इसे उनके अतीत जीवन के सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों का जीवित स्मारक भी कह सकते हैं। इसमें उनके वाल्यकाल से लेकर अब तक के दुर्लभ चित्रों का सुन्दर संग्रह है। उन्हें प्रदत्त सैकड़ों अभिनन्दन-पत्रों में से कुछ को छांटकर सजाया भी गया है। साथ ही चन्दन, हाथीदांत, सुवर्ण, रजत, लौह एवं विभिन्न धातुओं से वनी भेंट-सामग्रियां भी यहां सुरक्षित हैं। उनको 'राजर्षि' उपाधि दिए जाने के अवसर के पुण्य वस्त्र भी यहीं रखे गए हैं। और कुछ अति-अद्भुत एवं विचित्र वस्तुएं भी इस कक्ष में रखी गई हैं। जैसे किसी आयुर्वेदिक सम्मेलन में भारत में उत्पन्न एवं निर्मित होनेवाले सहस्रों रस-रसायनों एवं जड़ी-बूटियों की छोटी-छोटी पुटिकाओं द्वारा सुसज्जित विशाल माला, चमर एवं कवच हैं, तथा हैदरावाद सम्मेलन के अवसर पर प्रदत्त सिंह-स्तम्भ हैं। इसी कक्ष में हिन्दी के अनेक दिवंगत साहित्यकारों एवं महान नेताओं की प्रिय वस्तुओं को भी संगृहीत किया गया है। हिन्दी-संग्रहालय में, उसकी स्थापना के वाद से प्रकाशित होने वाली प्रत्येक स्तर की हिन्दी-पुस्तक को रखने का दावा किया जाता है, यद्यपि उसके पूर्व प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें भी वहां हैं। साथ ही हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओं का भी यहां सुन्दर संग्रह है। टंडनजी की इच्छा है कि हिन्दी के सम्बन्ध में अपने ढंग का यह अपूर्व संग्रहालय हो। आज इस अवस्था में भी उसकी वृद्धि एवं उन्नति की चिन्ता उन्हें रहती है। वताते हैं, जव संग्रहालय के भवन का निर्माण हो रहा था तो अपने व्यस्त दैनिक कार्यों के अतिरिक्त प्रतिदिन के उसके निर्माण-कार्य का निरीक्षण भी उनका कर्तव्य था। उसके निर्माण के एक-एक पैसे का हिसाव वह स्वयं देखते थे और यह मजाल नहीं था कि किसी भी कार्य में एक पैसा भी अधिक व्यय किया जाय।

संग्रहालय-भवन के अतिरिक्त सम्मेलन-कार्यालय के वर्तमान विशाल भवन, मुद्रणालय, अतिथि-भवन, डाक-घर, शीघ्रलिपि एवं टंकण विद्यालय-भवन तथा कर्मचारियों के आवास-स्थान इन सवका निर्माण भी टंडनजी के निर्देशन में ही हुआ है। और ये सभी भवन आधुनिक प्रयाग के दर्शनीय स्थलों में हैं। टंडनजी के अनन्य विश्वासपात्र एवं सन्मित्र तथा प्रयाग के सुप्रसिद्ध इंजीनियर श्री नन्दकिशोरजी अग्रवाल ने इन सवका निर्माण, विना किसी पारिश्रमिक एवं पुरस्कार के, अनेक कठिनाइयां उठाकर कराया है। टंडनजी के साथ जिन लोगों का सम्पर्क है, वे भली भांति जानते हैं कि उनके साथ प्रतिक्षण प्रतिकार्य में जितनी सावधानी, सतर्कता, पवित्रता, ईमानदारी एवं परिश्रमशीलता की जरूरत है, उसमें सर्वसाधारण का निभना कठिन हो जाता है। अर्थशुचिता के सम्वन्ध में उनकी तुला इतनी सूक्ष्म एवं उनका स्तर इतना महान है कि आज के युग में उनके स्थापित आदर्शों पर चलना असिधारा-व्रत के पालन से कम कठिन नहीं है। फलतः सम्मेलन के इन सभी भवनों के निर्माण में इंजीनियर साहव को जिन कठिनाइयों के साथ टंडनजी के अर्थ-सम्वन्धी आदर्शों की रक्षा करनी पड़ी है, उसे वहुत कम लोग जानते हैं।

सम्मेलन के आरम्भिक अतिथि-भवन के निर्माण में पण्डित वनारसीदासजी चतुर्वेदी का भी हाथ था। व्रजकोकिल स्व० सत्यनारायण जी कविरत्न की स्मृति में निर्मित इस अतिथि-भवन का यद्यपि आज वहुत विस्तार हो चुका है, तथापि आरम्भ में इसके लिए चतुर्वेदीजी ही प्रेरक थे। इस अतिथि-भवन में हमारे राष्ट्रपति राजेन्द्रवावू से लेकर हिन्दी का ऐसा कोई भी साहित्यकार या लेखक न होगा, जो प्रयाग-यात्रा में यहां न टिका हो। प्रयाग आनेवाले साहित्यिकों एवं लेखकों का यह प्रिय आवास-स्थल है। यहां पर अतिथियों के निवास, भोजन आदि की सुन्दर व्यवस्था

है। अपनी स्वस्थावस्था में टंडनजी इस अतिथि-भवन की भी बराबर देखरेख रखते थे, और कुछ वर्षो पूर्व तक, जब वह सम्मेलन-भवन के सामने वाले किराए के मकान में रहते थे तो प्रतिदिन थोड़ा-सा समय निकालकर सम्मेलन-कार्यालय, संग्रहालय और अतिथि-भवन का एक चक्कर लगाए बिना नहीं रह सकते थे। वहां पर टिके हुए अतिथियों एवं उनकी सुख-सुविधाओं की चर्चा वह आज भी कभी-कभी पूछ लेते हैं।

इस प्रकार सम्मेलन के चतुर्मुखी विकास एवं प्रसार में उसके जन्म से लेकर आज तक टंडनजी का कितना बड़ा हाथ है, इसे अब अधिक प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उसकी समस्त छोटी-बड़ी समस्याओं एवं वस्तुओं की सम्पूर्ण जानकारी जितनी उन्हें है, उतनी किसी भी व्यक्ति को नहीं है। कोई व्यक्ति भले ही अनेक वर्षो तक सम्मेलन का प्रधान मंत्री रहा हो, किन्तु उसके पास भी सम्मेलन के लिए न उतनी सहानुभूति थी और न उतना समय। ऐसे भी सन्दर्भ स्मरण हैं, जब सम्मेलन के कर्मचारियों और अधिकारियों को अर्धरात्रि में उनके घर से बुला-बुलाकर टंडनजी ने आवश्यक कार्यो के निर्देश दिए हैं, और कभी कोई त्रुटि या च्युति होने पर फटकारें भी सुनाई हैं। सम्मेलन जैसे उनके हृदय की धड़कन में बस गया हो। वह चाहे प्रयाग में रहते रहे हों या बाहर प्रवास में, प्रतिदिन सम्मेलन के लिए कुछ-न-कुछ करते रहने का उनका अखण्ड व्रत कभी भंग नहीं हुआ। आज अत्यन्त रुग्णावस्था में भी वह प्रतिदिन उसकी गतिविधि की जिज्ञासा एवं उसकी समस्याओं के समाधान में अपने सत्परामर्श देने में आलस्य का अनुभव नहीं करते। हिन्दी और सम्मेलन का कल्याण ही उनके जीवन का मधुर कार्य रहा है। अन्त में हम एक-दो मार्मिक संस्मरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं।

गतवर्ष राज्य सभा में जब संसदीय हिन्दी समिति का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाने वाला था तो राजर्षि टंडनजी का स्वास्थ्य अत्यन्त चिन्ताजनक अवस्था में था। प्रयाग के कुशल चिकित्सकों ने उनसे लोगों का मिलना-जुलना बन्द करा दिया था, क्योंकि प्रतिदिन नियमित रूप से होनेवाले ज्वर के साथ-साथ उन्हें श्वास और हृदय का भी कष्ट था। समूचा परिवार और मित्रवर्ग उनके दिन-प्रतिदिन के स्वास्थ्य की चिन्ता में निमग्न था, किन्तु स्वयं टंडनजी को अकेली हिन्दी की चिन्ता परेशान किए हुए थी। उन्होंने माननीय पण्डित गोविन्दवल्लभजी पन्त को तार दिलवाकर पूछा कि उक्त विषय पर किस तिथि को विचार होने की सम्भावना है। पन्तजी की ओर से उत्तर आ गया और ज्ञात हुआ कि अगले महीने की किसी समीपवर्ती तिथि को ही उक्त विषय पर विचार होगा। टंडनजी में उस समय चारपाई पर से स्वयं उठकर चलने-फिरने की शक्ति नहीं थी। डाक्टरों ने उन्हें बोलने-चालने से भी मना कर रखा था कि अकस्मात उन्होंने अपने परिवार तथा डाक्टरों को यह सूचित करके चिन्ता में डाल दिया कि राज्य सभा में उक्त विषय प्रस्तुत होने के समय वह दिल्ली में उपस्थित रहकर अपना वक्तव्य अवश्य देना चाहते हैं। शरीर की दशा ऐसी कदापि नहीं थी। एक-एक दिन बड़ी कठिनाई से बीत रहा था कि एक दिन सन्ध्या के समय पण्डित रामनरेशजी त्रिपाठी के साथ मैं भी उनके दर्शनार्थ उनके कक्ष में पहुंच गया। टंडनजी के सुपुत्र डा० आनन्दकुमार तथा एक अन्य डाक्टर, जिनकी चिकित्सा उन दिनों चल रही थी, वहां बड़ी गम्भीर मुद्रा में उपस्थित थे। थोड़ी ही देर में यह गम्भीर विषय हम लोगों के समक्ष भी उपस्थित हुआ। श्री त्रिपाठीजी टंडनजी के पुराने मित्र हैं, अतः उनके साथ बातचीत के प्रसंग में वातावरण जब कुछ हल्का हुआ तो त्रिपाठीजी ने बड़ी सुन्दरता के साथ टंडनजी से इस शोचनीय अवस्था में दिल्ली न जाने का प्रेमपूर्ण आग्रह किया। बड़ी देर तक वह चुपचाप मुस्कराते हुए हम सबकी बातें सुनते रहे और फिर सहसा उनका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा और आंखें साश्रु हो गई, जब एक पैंसिल उठाकर उन्होंने एक कागज के टुकड़े पर कांपते हुए हाथों से यह लिखकर त्रिपाठीजी को पढ़ने के लिए दिया कि—

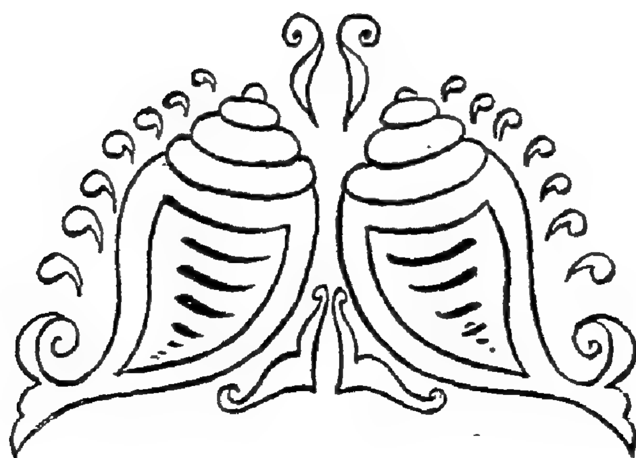
"मैं तो इसी दिन के लिए वहां बैठा रहा हूं तब फिर कैसे रुक सकता हूं, आप ऐसा न कहें।"

फिर तो सभी लोग गम्भीर हो गए और थोड़ी देर तक चुप बने रहे। किन्तु वह संयोग नहीं बना। उनका शरीर धीरे-धीरे ऐसा नहीं रह गया कि वह चारपाई छोड़कर कहीं जा सकें, यद्यपि उनके चित्त पर दिल्ली की राज्य सभा ही चढ़ी रही। उन दिनों समाचारपत्रों में निकलने वाले हिन्दी-सम्बन्धी प्रश्न पर राज्य-सभा एवं लोक-सभा की पूरी कार्यवाही वह पढ़ते रहते थे और अपनी शारीरिक विवशता पर दुःखी हुआ करते थे।

आज की हिन्दी एवं सम्मेलन की समस्याएं भी टंडनजी के गिरते हुए स्वास्थ्य का कारण बनी हुई हैं। क्योंकि इन दोनों विषयों की चर्चा से ही उनकी दैनिक चर्या आरम्भ होती है और दिन भर में अनेक बार उसकी पुनरावृत्ति हुआ करती है, अतः यह कहना उचित होगा कि सम्मेलन के साथ टंडनजी का अभिन्न सम्बन्ध है। अपने शरीर से बढ़कर उन्हें उसका मोह है, क्योंकि अभी इसी मई मास के अन्तिम सप्ताह में उन्होंने जो कुछ किया है, उससे इसी बात का प्रमाण पुष्ट होता है।

प्रयाग की गरमी-सरदी कुख्यात है। गरमियों में वहां ११८ अंश फारेनहाइट तक यदि तापमान बढ़ जाता है तो सरदियों में ३९ और ३७ अंश तक आ जाता है। इस वर्ष के मई मास में प्रयाग का तापमान बढ़ जाने के कारण टंडनजी का स्वास्थ्य इतना अधिक गिर गया था कि डाक्टरों ने उन्हें दोनों वक्त आक्सीजन देने का सुझाव दिया। समाचारपत्रों द्वारा इस संवाद के प्रकाशित होने से हिन्दी-जगत की चिन्ता बढ़ गई और स्वयं टंडनजी में भी निराशा का थोड़ा उदय हुआ। फलतः ता० २४ मई को जब मैं उनके समीप दर्शनार्थ गया तो उन्होंने सम्मेलन ट्रस्ट निधि की चर्चा करते हुए तुरन्त उसकी बैठक बुलाने के लिए और उसके प्रारूप के निर्माण के लिए गहरी चिन्ता प्रकट की। मैंने देखा, उनकी तेजस्विनी आंखों में इस ट्रस्ट के निर्माण की चिन्ता घनीभूत है; क्योंकि उन्होंने संकेत किया कि इसके उपसंयोजक श्री वियोगी हरि को तुरन्त दिल्ली से आने का तार दिया जाय और इस कार्य में अधिक विलम्ब न किया जाय। उनका संकेत अपने स्वास्थ्य की क्षीणता की ओर था। मैं बड़ी देर तक उनके समीप बना रहा। श्वास की कठिनता से उनका एक-एक वाक्य बड़े कष्ट से निकल रहा था, और फिर भी उसका सुनना-समझना सरल नहीं था। मैंने पाया कि उनकी प्रत्येक श्वास में सम्मेलन और हिन्दी के भविष्य की चिन्ता आरूढ़ है। वहां से लौटकर मैंने हरिजी को तार दिया। वह दूसरे ही दिन सवेरे प्रयाग आ गए और हम लोगों ने उसी दिन ट्रस्ट निर्माण समिति की बैठक बुलाने की पूरी योजना तैयार कर उन्हें कुछ आश्वस्त किया। और अन्त में जब ४ जून को कलकत्ता में उक्त बैठक सफलतापूर्वक सम्पन्न हो गई, ट्रस्ट का पूर्ण स्वरूप निर्मित हो गया और मैंने कलकत्ता से वापस आकर समिति की सम्पूर्ण कार्रवाई का उन्हें संक्षेप बतलाया तो निश्चिन्तता की श्वास लेते हुए उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की। परमात्मा की कृपा से उनका स्वास्थ्य अब उस स्थिति में नहीं है। वह धीरे-धीरे श्वास-कष्ट से छुटकारा पा चुके हैं, यद्यपि दुर्बलता अब भी है।

पाठक इन्हीं दो साम्प्रतिक सन्दर्भों से हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी के साथ टंडनजी के सम्बन्धों का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।



हिन्दी विधिक शब्दावली और टंडनजी

श्री राजेन्द्र द्विवेदी

दुनिया के संसदीय इतिहास में शायद यह पहला ही संयोग था जब विधायकों से कानून का विधान करने के स्थान पर पर्यायों का विधान करने के लिए कहा गया था। लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम अय्यंगार ने राज्यसभा के सभापति डा० राधाकृष्णन की सहमति से संसदीय विधिक और प्रशासकीय शब्दों के लिए हिन्दी-पर्याय निश्चित करने के उद्देश्य से संसद-सदस्यों की एक संयुक्त समिति ५ मई, १९५६ को नियुक्त की। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को इस तदर्थ समिति का सभापति बनाया गया। इस समिति में शुरू में ३३ सदस्य थे, २२ लोकसभा के और ११ राज्यसभा के। आगे चलकर पांच नए सदस्य और बढ़ाए गए और दो सदस्यों ने अपने कारणों से त्यागपत्र दे दिया। समिति में प्रायः सभी भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य थे और उसने देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के जानने वाले सदस्यों के ज्ञान का भी लाभ उठाया। समिति के सदस्य प्रायः सभी बौद्धिक क्षेत्रों का भी प्रतिनिधित्व करते थे। वकील, प्रोफेसर और साहित्यकार सभी प्रकार के सदस्य इस समिति में थे।

समिति के सदस्य थे : श्री पुरुषोत्तमदास टंडन (सभापति), श्री अ० भ० थामस, श्री नेतूर प० दामोदरन्, श्री सें० वें० रामस्वामी, श्री राघवाचारी, श्री म० शी० गुरुपादस्वामी, श्री केशव अय्यंगार, श्री शंकर शान्ताराम मोरे, श्री कमलकुमार वसु, श्री ना० प्र० सिन्हा, श्री चि० चां० शाह, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी, श्री मन्नूलाल द्विवेदी, श्री नन्दलाल जोशी, श्री नेसवी, श्री भक्तदर्शन, श्री अमरनाथ विद्यालंकार, श्री वेंकटरामन, श्री नवल प्रभाकर, पंडित अलगूराय शास्त्री, पंडित नन्दलाल शर्मा, पंडित बालकृष्ण शर्मा (नवीन), डा० पांडुरंग वामन काणे, श्री मो० सत्यनारायण, डा० राधाकुमुद मुकर्जी, श्री हि० चं० दासप्पा, श्रीमती वायलेट आल्वा, श्री पुं० शं० राजगोपाल नायडू, श्री अकबरअली खां, श्री य० र० देवगिरकर, श्री रामधारीसिंह दिनकर, डा० श्रीमती सीता परमानन्द, काकासाहेब कालेलकर, श्री हीरेन्द्रनाथ मुकर्जी, डा० रघुवीर, पंडित कृष्णचन्द्र शर्मा, श्री कृष्णाचार्य जोशी और श्री सूरजप्रसाद मिश्र।

समिति का दुष्कर कार्य

लोकसभा के स्वर्गीय अध्यक्ष श्री गणेश वासुदेव मावलंकर के निर्देश से प्रायः पच्चीस हजार अंग्रेजी विधिक शब्द हिन्दी-पर्याय निश्चित करने के लिए इकट्ठे किये गए थे। इनमें से अक्षर 'ए' से 'सी' तक की शब्दावली (लगभग पांच हजार शब्दों) को पहले ही एक विशेषज्ञ समिति द्वारा अंतिम रूप दिया जा चुका था। इस विशेषज्ञ समिति के सदस्य थे : श्री घनश्यामसिंह गुप्त (सभापति), काकासाहेब कालेलकर और डा० बाबूराम सक्सेना। डा० रघुवीर ने इस काम में सहायता की थी।

परन्तु अभी अक्षर 'डी' से 'जैड' तक की शब्दावली संकलित होकर वैसी ही पड़ी थी। इस शब्दावली में बीस-इक्कीस हजार शब्द थे। अभी तक किसी भी समिति द्वारा इस शब्दावली के हिन्दी-पर्याय निश्चित नहीं किये गए थे। इसी शब्दावली के हिन्दी-पर्यायों को अंतिम रूप देने का काम श्री पुरुषोत्तमदास टंडन समिति को सौंपा गया।

यह संसदीय समिति

दुनिया की किसी भी तदर्थ संसदीय समिति ने शायद ही इतने अध्यवसाय और लगन से अपने काम को निभाया हो। मेरे कहने का तात्पर्य यह कभी नहीं है कि दूसरी संसदीय समितियों के काम में इतनी तत्परता नहीं दिखाई जाती। परन्तु यह काम ही बिलकुल दूसरे ढंग का था। जिन्हें संसदीय समितियों के कार्यकलाप को निकट से देखने का अनुभव है, वे जानते हैं कि संसदीय समितियां भी संसद का ही एक लघु रूप होती हैं। वहां पर भी सदस्यों के अपने राजनीतिक पूर्वाग्रह और बन्धन होते हैं। वहां समर्थन किया जाता है तो वह सत्तारूढ़ दल के सदस्यों द्वारा सरकारी नीतियों का दल के अनुशासन के अन्तर्गत किया गया समर्थन होता है; और यदि विरोध किया जाता है, तो वह विपक्षी दल के सदस्यों द्वारा या तो केवल विरोध के लिए किया गया विरोध होता है या अपनी नीति-विशेष के समर्थन में किया गया विरोध। इस दृष्टि से इस संसदीय समिति का कार्यकलाप बिलकुल अलग ढंग का था। इस समिति में राजनीतिक भेदभाव बिलकुल नहीं थे। प्रो० हीरेन्द्रनाथ मुकर्जी जैसे धुरन्धर साम्यवादी सदस्य या पंडित नन्दलाल शर्मा जैसे उग्र दक्षिणपंथी सदस्य या कांग्रेसी सदस्य सभी शब्दों के यथोचित पर्याय-निर्धारण में कन्धे से कन्धा भिड़ाकर सहयोग देते थे। समिति के सदस्यों के बीच यदि कुछ मतभेद होते भी थे, तो वे राजनीतिक नहीं बल्कि विशुद्ध रूप में अध्ययन पर आधारित होते थे।

संसदीय समितियों की भीतरी कार्यवाही का ब्यौरा देना कभी-कभी संसदीय विशेषाधिकार का भंग तक माना जा सकता है। इसलिए इस लेख में समिति की कार्यप्रणाली की विस्तृत चर्चा संभव नहीं है और वैसी आशा रखने-वाले पाठकों को निराशा ही होगी। स्वभावतः मैंने अपनी चर्चा को प्रायः सामान्य या निजी चर्चा तक ही सीमित रखा है। फिर भी श्रद्धेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के अभिनन्दन के प्रयोजन से प्रस्तुत किए जाने वाले ग्रंथ में यदि बाबूजी के पिछले जीवन के इस महान कार्य पर प्रकाश न डाला गया, तो यह अभिनन्दन-ग्रंथ एक अधूरा ही ग्रंथ रह जाएगा। इस लेख का एकमात्र उद्देश्य यही है और जाने-अनजाने विहित विशेषाधिकार-भंग की संभाव्य त्रुटियों के लिए, यदि कुछ हों तो, मैं शुरू में ही संसद—लोकसभा के अध्यक्ष और राज्यसभा के सभापति—से स्पष्ट क्षमा चाहता हूं।

समिति की अन्य विशेषताएं

इस समिति के काम के बारे में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संसदीय समितियों के इतिहास में किसी भी तदर्थ समिति ने अपने को दिये गए काम को पूरा करने में कहीं भी इतना समय नहीं लगाया। यह अतिशयोक्ति लगती है, परन्तु वस्तुतः यह एक बिलकुल सच बात है। इस समिति के काम की इस महान विशेषता को देखते हुए ही हम लोगों ने समिति की नित्य की बैठकों के काम के घंटों का पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखा था और श्रद्धेय बाबूजी और समिति की अनुमति से यह हिसाब समिति के प्रतिवेदन के एक परिशिष्ट के रूप में दिया गया है। समिति की पहली बैठक १० मई, १९५६ को हुई थी और उसका कार्यकाल (दो बार बढ़ाये जाने के बाद) ३१ मार्च, १९५७ तक का था। इस बीच समिति की एकसौ तेरह बैठकें बुलाई गई और इन बैठकों में समिति ने ३६४३ घंटे काम किया। विश्व भर की संसदीय समितियों के इतिहास में यह एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है और संसदीय समितियों के इतिहास में इसका उल्लेख स्वर्णाक्षरों में किया जाएगा। इस सबका श्रेय एकमात्र बाबूजी को ही दिया जाएगा।

यद्यपि समिति को अपने काम को बांट देने के लिए उपसमितियां नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था, तथापि काम के स्वरूप को देखते हुए उपसमितियां नियुक्त करना वांछनीय न था। अन्यथा विभिन्न उपसमितियों द्वारा निश्चित किये गए पर्यायों में परस्पर समन्वय और एकरूपता लाने के लिए नई-नई समस्याएं खड़ी हो जातीं। फलतः पूरी समिति ने इकट्ठे बैठकर ही सारे काम को निपटाया। यह अलग बात है कि बाद में गणपूर्ति एक-तिहाई के स्थान पर केवल पांच सदस्य ही निश्चित करानी पड़ी।

टंडनजी की प्रेरणा

समिति ने इतनी निष्ठा और अध्यवसाय से यह काम किया, इस सब के पीछे टंडनजी की वैयक्तिक प्रेरणा

ही थी। सभी जानते हैं कि अब तक वह संसद (लोक-सभा या राज्य-सभा) के सदस्य रहे, वह संसद-सदस्यों के बीच किस समादर के पात्र रहे। उनकी व्यक्तिगत लगन ही पूरी समिति के काम का प्रेरक तत्त्व थी। समिति की बैठकें शुरू में तो सामान्य संसदीय नियमों और परम्पराओं के अधीन केवल सन्ध्याकाल में ही होती थीं, पर कुछ ही दिनों में यह स्पष्ट हो गया कि यदि समिति निश्चित समय में अपना काम पूरा करना चाहती है, तो उसे ज्यादा समय तक बैठना पड़ेगा। अध्यक्ष महोदय से विशेष अनुरोध किया गया कि समिति की बैठकें सवेरे भी होने दी जाएं। वह तुरन्त सहमत हो गए। तदनुसार समिति की बैठकें प्रायः सवेरे ग्यारह बजे से शाम के पांच बजे या उससे भी बाद तक चलती रहीं।

इस बीच बाबूजी लगातार छः घंटे तक एक ही आसन पर बैठे रहते थे। लघुशंका जैसी सामान्य दैनिक जरूरतें भी उन्हें विचलित या तंग न करती थीं। एक भी दिन वह एक भी मिनट के लिए बीच में उठकर समिति-कक्ष के बाहर नहीं गये। एक विस्मयपूर्ण, आश्चर्यजनक, उदात्त और आदर्श दृश्य था। जैसे वैदिक युग का एक ऋषि वेद की ऋचाओं की रचना में तल्लीन हो, पूरे संयम और मनोयोग के साथ। एक वयोवृद्धि व्यक्ति को लगातार छः-छः घंटे तक एक ही आसन पर बैठा देख समिति के सदस्य और समिति से सम्बद्ध हम शासकीय कर्मचारी सभी स्तब्ध रह जाते थे। परन्तु वह अपने आप में एक प्रेरणा थी। उनका वह आदर्श——एक सजीव दृष्टान्त——हम युवकों के लिए अपना सर्वस्व होम देने का एक आह्वान था। इसमें आश्चर्य नहीं कि हम लोगों ने भी इस काम को सामान्य और नियत सरकारी काम न समझ इसे राष्ट्रभाषा के और अपने लघुजीवन के इतिहास का एक अध्याय समझा और यथाशक्य निष्ठा और लगन से उस काम को निभाया। आगे चलकर मेरा नैत्यिक कार्यकाल—संसद भवन और २, टेलीग्राफ लैन (टंडनजी का निवास-स्थान) में——सवेरे आठ बजे से सायं साढ़े आठ तक एक निश्चित कार्यकाल बन गया। इसके अलावा भी रोज ही मुझे काम की तैयारी के लिए दो-तीन घंटे घर पर अध्ययन के लिए निकालने पड़ते थे। यह सब लिखने का अभिप्राय अपने आपको अनुचित और अनर्जित श्रेय देना नहीं, बल्कि यह दिखाना है कि बाबूजी की प्रेरणा युवकों में कितनी कार्य-शक्ति फूंक सकती है।

बाबूजी से सम्पर्क

समिति में बाबूजी के साथ काम करने से पहले मैं कभी उनके सम्पर्क में न आया था। उनसे संबंधित दो-तीन झांकियां ही मेरे मानस-पटल पर अंकित थीं : (१) गांधी ग्राउंड, दिल्ली की चौदह-पन्द्रह वर्ष पहले की एक सन्ध्या, एक सार्वजनिक साहित्य सभा, बाबूजी का अनवरत भाषण चल रहा है——"सिहों के लेंहड़े नहीं——" अचानक वाग्धारा रुकी, बोले——"एक सज्जन ने इधर कुछ दूरी पर सिगरेट सुलगा ली है, यह सभा का शिष्टाचार नहीं है। वह इसे बन्द कर दें, या सभा के बाहर चले जाएं। (फिर कुछ तेज स्वर में) मैं तो यह लखनऊ की विधान-सभा के कक्ष में भी बर-दाश्त नहीं करता जहां मैं अध्यक्ष हूं।" और फिर वाग्धारा का सूत्र वहीं से पकड़ लिया, जहां से टूटा था, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। (२) इम्पीरियल होटल, नई दिल्ली का भव्य लाउंज, अ० भा० राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद की विषय-समिति की बैठक, हिन्दी-भाषियों के लिए भी एक अन्य भाषा अनिवार्य हो, इस विषय पर भाषण करते हुए बाबूजी की सामंजस्यपूर्ण वक्तृता। (३) अ० भा० राष्ट्रभाषा व्यवस्था परिषद का अंतिम दिन, चायपान का आयोजन, भोज-मंडप में दिल्ली के साहित्यकार मिठाइयों की ओर झपट रहे है, बाबूजी ने एक स्थानीय सज्जन को झिड़क दिया कि अतिथियों को तो आ जाने दो। फिर चाय (निर्दुग्ध) पीने से पहले उनके हाथ धोने की समस्या, जिसका समाधान मेरे सुझाव पर चाय के ही गर्म जल से किया गया।

समिति के काम में बाबूजी के साथ

जब समिति का काम शुरू हुआ तो मैं लोकसभा-सचिवालय के एक दूसरे उपभाग में कुछ महत्त्वपूर्ण हिन्दी-पत्रों——कार्यसूची, प्रश्नसूची, बुलेटिन और संसदीय पत्रिका (छमाही)——के संपादन के काम में लगा हुआ था। समिति की कुछ बैठकों के बाद ही यह स्पष्ट हो गया कि समिति के साथ संबद्ध कर्मचारियों में कम-से-कम एक व्यक्ति ऐसा होना चाहिए, जिसे संस्कृत की जानकारी हो। टंडनजी ने जब बार-बार आग्रह किया, तो मुझे समिति के साथ सम्बद्ध

किया गया। मेरे वहां पहुंचने पर बाबूजी ने मुझे अपने बिलकुल पास दाईं ओर बिठाया। बाद में समिति की मेज पर यही मेरा निश्चित स्थान हो गया। मेरा काम शुरू में शब्द-निर्माण के व्याकरण-सम्मत पहलू पर बाबूजी को परामर्श देना था। बाद में जब काम में तेजी आई, तो उनके आदेशानुसार मैं अगले पृष्ठों पर कुछ शब्दों को चिह्नित कर देता था, जिनके पर्याय के बारे में मेरे विचार से समिति को विशेष चर्चा करनी चाहिए। परन्तु इसके लिए मुझे पहले से संदर्भ-ग्रन्थों को पलटना पड़ता था और अपनी पूरी तैयारी करनी पड़ती थी।

बाबूजी के साथ मेरी नित्यचर्या कुछ इस प्रकार की हो गई: सवेरे आठ बजे, २, टेलीग्राफ लैन (बाबूजी का निवास) पहुंचकर पिछले दिन के कार्यवाही के सारांश पर उनका अनुमोदन लेना, फिर प्रायः उनके साथ ही संसद-भवन पहुंचना और ग्यारह से पांच साढ़े पांच तक समिति में बाबूजी के साथ बैठना, साढ़े पांच से सात तक दिन भर की कार्यवाही का सारांश और निश्चित शब्दों की सूची तैयार करना तथा सन्ध्या को फिर अपेक्षित हुआ तो आठ-साढ़े आठ तक बाबूजी के निवास पर कार्यवाही-सारांशों का अनुमोदन कराना या अगली बैठक में विचारार्थ शब्दावली की उनसे अग्रिम चर्चा करना। इसके अलावा अन्य अनेक नैत्यिक कार्य भी थे।

बाबूजी का विश्वास

बाबूजी का पूरा विश्वास प्राप्त करने में स्वभावतः मुझे कुछ समय लगा। जो लोग बाबूजी के स्वभाव से परिचित हैं, वे जानते हैं कि उनका पूरा विश्वास प्राप्त कर लेना आसान काम नहीं है। समिति में जो पर्याय निर्णीत होते थे, बाबूजी उन सभी को अपनी पुस्तक में स्वयं लिखते थे। जो बात उनकी अपनी पुस्तक में न लिखी हो, वह समिति का निश्चय नहीं माना जा सकता। इसलिए वह कार्यवाही—सारांश के साथ संलग्न एक-एक शब्द और एक-एक पर्याय अपनी पुस्तक से मिलाते थे और तभी कार्यवाही-सारांश पर अपना अनुमोदन देते थे। शुरू में कई बार मुझे यह प्रक्रिया काफी विलम्बकारी लगी, पर बाद में शायद बाबूजी द्वारा की गई अपनी योग्यता या निष्ठा की किसी परीक्षा में मैं उत्तीर्ण हो गया और मुझे उनका विश्वास प्राप्त हो गया। हिन्दी की शब्दावली या खास तौर पर नए हिन्दी-शब्दकोशों से जो लोग परिचित हैं वे जानते हैं कि यदि एक गलती एक कोश में आ गई, तो वह परवर्ती सभी कोश-ग्रन्थों में स्थान पा जाती है। मुझे ठीक याद नहीं, शायद ऐसी ही कोई बात थी। किसी शब्द के विशुद्ध अक्षर-विन्यास का प्रश्न था। बाबूजी ने जब कोश-ग्रंथ देखा और मेरी बात को ठीक पाया, तो उन्हें मुझ पर भरोसा हो गया और फिर मुझे विशेष कठिनाई नहीं हुई।

सदस्यों की विद्वत्ता

सौभाग्य से समिति के प्रायः सभी सदस्य बड़े विद्वान थे। पांच-छः तो पी-एच० डी० थे, कई बैरिस्टर, अनुभवी प्रोफेसर या वकील थे। समिति के प्रतिवेदन के एक परिशिष्ट में इन सदस्यों की शैक्षिक योग्यताएं भी दे दी गई हैं। उनके विविध भारतीय भाषाओं के ज्ञान ने भी समिति का काम काफी आसान कर दिया था।

शब्दों का विशुद्ध रूप

मैं बाबूजी को शब्दों के जगत में विशुद्धतावादी घोषित नहीं कर सकता। 'कट-मोशन' के लिए प्रचलित 'कटौती-प्रस्ताव' के अनुरूप 'रिबेट' के लिए उन्होंने 'घटौती' जैसा शब्द गढ़ा, जो हिन्दी की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। इसी प्रकार अन्य प्रचलित शब्दों को स्थान दिया गया या वैसे शब्द गढ़े गए। परन्तु संस्कृत-शब्दों के विशुद्ध और व्याकरण-सम्मत रूप को ही स्वीकार करना वह उचित समझते थे, भले ही उसका अक्षर-विन्यास दूसरे रूप में प्रचलित हो। नए शब्दों के बनाने में भी उनका आग्रह व्याकरण के नियमों की अवहेलना करने के विरुद्ध रहता था। 'नोमीनेटेड' के लिए 'नामित' को स्वीकार करने में वह इसी कारण सहमत नहीं हुए और 'नामनिर्देशित' जैसा लम्बा पर्याय रखा गया। एक बार 'गृहीत' के सही अक्षर-विन्यास का प्रश्न उठा। एक सदस्य ने जो संस्कृत के अगाध विद्वान भी थे, शायद कुछ भूल से 'र' वाले 'ग्रहीत' को शुद्ध बताया। मेरा मतभेद था, पर उस समय मैं चुप ही रहा। कुछ देर बाद मैंने संबंधित

पाणिनीय सूत्र 'ग्रहिज्या' चुपचाप जाकर उनको दिखाया। उन्होंने साभार अपनी गलती मान ली और परिहास में बाबूजी से बोले, इस गलती के लिए मैं अपने 'कर्णौ गृहीत' करता हूं।

कानूनी विशुद्धता

इसी प्रकार कानूनी निर्वचन की विशुद्धता का भी बाबूजी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। समिति में बहुत सी बहसें शब्दों के कानूनी पक्ष को और उनके मान्य निर्वचनों को हिन्दी-पर्याय में उतारने के लिए ही हुईं। बाबूजी का अपना कानूनी ज्ञान अगाध था। फिर समिति में अनेक बैरिस्टर और वकील थे। न्यायिक शब्दावली पर परामर्श देने के लिए विधि-मंत्रालय के हिन्दी-विशेषाधिकारी प्रो० बालकृष्ण भी विशेष आमन्त्रण पर बड़े चाव से बैठकों में भाग लेने आते थे। स्वभावतः शब्दों की कानूनी दांव-पेंच सम्बन्धी बहसों में उनका एक विशेष हाथ रहा। बाबूजी का उन पर भी अगाध विश्वास था। अय्यर, ह्वार्टन और वैब्सटर के संदर्भ-ग्रन्थों से प्रत्येक विधिक शब्द की व्याख्या देखना और तदनुसार उपयुक्त हिन्दी-पर्याय का निर्धारण करना कोई खेल नहीं था। इस लेख के कलेवर में इन सभी बहसों की झांकी प्रस्तुत कर सकना संभव नहीं है। बाबूजी बड़े मनोयोग से सभी तर्कों को सुनते थे। अत्यन्त निकट बैठने के कारण कभी-कभी मैं देखता कि उनके धैर्य की दारुण परीक्षा हो रही है, परन्तु वह प्रत्येक सदस्य की पूरी बात सुनते थे। यह अलग बात है कि जिस बात पर उनका अपना विचार पूरी तरह दृढ़ हो, उस बारे में उनके दो ही वाक्य सभी सदस्यों को तुरंत अपनी ओर कर लेते थे। या दूसरे शब्दों में ऐसे मामलों में जहां वह अपनी एक युक्ति से विपक्षी का पूरा किला धराशायी कर देते थे, वहां विपक्षी के तर्कों की शृंखला भी उन्हें अपना निश्चित विचार बदलने में समर्थ न हो पाती थी। परन्तु सब मिलाकर समिति में उनका दृष्टिकोण बड़ा ही आनम्य और लचकीला रहा।

बहसों का स्वरूप

सामान्यतः बाबूजी किसी दूसरे वैकल्पिक हिन्दी-पर्याय को स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न करते थे। उनकी ओर से समिति को यह निश्चित आदेश था कि एक विशेष शब्द के जो पर्याय निश्चित किये गए हैं, वे सभी उस शब्द के साथ बने सभी शब्दों में आगे भी यथावत कोष्ठकों में उद्धृत कर दिए जाने चाहिए। इसी कारण समिति की शब्दावली में काफी लचक है और एक शब्द के कई-कई पर्याय कोष्ठकों में बार-बार दिये गए हैं। इसी प्रकार किसी दूसरी भाषा का प्रचलित पर्याय बड़ी सरलता से एक वैकल्पित पर्याय के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। 'रजिस्टर' के लिए 'पंजी' के साथ-साथ मराठी 'नोंदपुस्तक' का स्वीकार कर लिया जाना एक सामान्य उदाहरण है। इसी प्रकार बंगला, गुजराती, पंजाबी, असमिया आदि अन्य भारतीय भाषाओं से भी अनेक शब्दों को ग्रहण किया गया था।

फिर भी कुछ शब्दों को लेकर वास्तव में बड़ी लम्बी, विचारोत्तेजक और मनोरंजक बहसें हुईं। पाठकों को यह पढ़कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि 'वैक्सीन' का पर्याय 'रक्षालस' निश्चित करने में समिति में लगभग एक घंटे की बहस हुई। 'नुइसेंस' के पर्याय 'घिनौनी वस्तु, अवखेदक और व्याधा' निर्धारित करने में तो एक घंटे से भी ऊपर समय लगा। 'डिफेंस' का पर्याय 'रक्षा' या 'प्रतिरक्षा' निश्चित करने में तो दो-तीन बैठकों में लम्बी चर्चा हुई।

किन्तु सबसे मनोरंजक और उत्कट बहस 'इंडिया' का पर्याय 'भारत' निश्चित करने में हुई। यह याद रखने की बात है कि समिति के किसी भी निश्चय के लिए नियमित मतदान नहीं लिया गया और निर्णय समझा-बुझाकर और चर्चा करके एक सर्वसम्मत समझौते के रूप में ही किये गए। केवल उक्त पर्याय के लिए नियमित मतदान भी लेना पड़ा। समिति में मतदान लेने का यह एकमात्र अवसर था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह बहस राजनीतिक थी, किन्तु दोनों पक्षों के अपने-अपने तर्क थे, जिन्होंने बहस को बड़ा ही जानदार बना दिया।

समिति का प्रतिवेदन

समिति का तीन पृष्ठों का प्रतिवेदन भी कुछ रोचक और आकर्षक बहसों के साथ पूरा किया गया। बाबूजी की प्रारूप रचना-सम्बन्धी कुशलता का यह एक स्पष्ट परिचायक है। प्रारूपरचना और भाषा की बात चलने पर बाबूजी ने परिहास की मुद्रा में कहा कि एक बार कांग्रेस के किसी प्रस्ताव के सिलसिले में प्रधान मंत्री श्री जवाहर-

लाल नेहरू के प्रारूप को उन्होंने सुधारा था और प्रधानमंत्री ने इसका आभार माना था।

एक सदस्य की यह राय थी कि प्रतिवेदन में यह उल्लेख नहीं होना चाहिए कि शब्दावली के चुनाव में संस्कृत की सहायता ली गई है। वावूजी और कई अन्य सदस्य इससे कैसे सहमत हो सकते थे ? फलतः प्रतिवेदन में एक अलग पैराग्राफ में कहा गया है, "संस्कृत के वहुत से शब्द देश की अधिकांश भाषाओं में एक समान प्रचलित हैं, अतः समिति ने नए शब्द वनाने में मुख्यतः संस्कृत से सहायता ली है, जो संविधान के अनुच्छेद ३५१ के निर्देश के अनुसार ही है।"

शब्दावली का स्वरूप

इस शब्दावली के स्वरूप के वारे में प्रायः यह कहा गया है कि यह डा० रघुवीर की शब्दावली से ज्यादा प्रभावित है। यह ठीक है कि डा० रघुवीर समिति के एक प्रभावशाली और कर्मठ सदस्य थे; परन्तु एक तो स्वयं डा० रघुवीर ने अपरिवर्त्य दृष्टिकोण नहीं अपनाया और दूसरे वावूजी और दूसरे सदस्य भी इस वारे में काफी जागरूक थे। उदाहरण के लिए 'क्वार्टर मास्टर जनरल' शब्द का पर्याय डा० रघुरीर ने 'महा-भक्त-यात्रिक' दिया है। यह शब्द मेरे द्वारा वहस के लिए चिह्नित शब्दों में से था। जव इसका क्रम आया तो वावूजी ने डा० रघुवीर से पूछा कि आपने यह क्या पर्याय रखा है ? डा० रघुवीर स्वभावतः कुछ सोच में पड़ गए। तव उनके पर्याय की पृष्ठभूमि वावूजी के निकट स्पष्ट की गई कि डाक्टर साहव ने 'राशनिंग' के लिए 'भक्त' रखा है और यह सैन्य पदाधिकारी सैनिकों के राशन, शिविर और यात्रा के नियंत्रण के लिए जिम्मेवार होता है। किन्तु सभी सदस्यों ने माना कि 'भक्त' शब्द हिन्दी में भगवान के भक्त के लिए वहुत रूढ़ है और यात्रिक भी वंगला में तीर्थयात्रियों के लिए चलता है, जिस नाम की एक फिल्म भी वन चुकी है। अन्त में समिति ने 'महा-शिविर-संनायक' निश्चित किया। डा० रघुवीर ने इसका कोई प्रतिरोध नहीं किया। अन्य अवसरों पर भी डा० रघुवीर ने समिति के निर्णय को प्रायः शिरोधार्य किया।

बाबूजी के दृढ़ विचार

इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं कि वावूजी ने समिति की रिपोर्ट पर हिन्दी में हस्ताक्षर किए और शक-संवत में दिनांक अंकित किया। उनके आग्रह से समिति के प्रतिवेदन का, जो शब्दावली की भूमिका के रूप में था, हिन्दी-अनुवाद भी साथ-साथ ही प्रकाशित किया गया। समिति के सामान्य कार्यकलाप में भी उनके दृढ़ विचारों की छाप देखने को मिलती थी।

कर्मचारियों पर अनुग्रह

समिति के साथ संवद्ध कर्मचारियों के प्रति वावूजी का व्यवहार वड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण और उदार रहा। वह चाहते थे कि समिति की रिपोर्ट में ही यह उल्लेख किया जाए कि लोकसभा-सचिवालय के कर्मचारियों ने समिति के काम को पूरी तत्परता से निभाया है। समिति के अन्य सदस्यों की भी यही राय थी। लेकिन संसदीय परम्परा और नियमों के अधीन कर्मचारियों के काम का उल्लेख रिपोर्ट में नहीं किया जाता। इस पर वावूजी ने समिति का वर्ग-फोटोग्राफ खींचते समय अध्यक्ष से हम लोगों के सामने ही हमारे काम की प्रशंसा की। जव मुझे संघीय लोक सेवा आयोग ने 'संस्कृति' के संपादक के रूप में चुना और मैं वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय में आया, तो मेरी इस तरक्की पर वावूजी ने कहा, "यह सुनकर मुझे वड़ा सुख मिला।"

बाबूजी का स्वास्थ्य

इस समिति के भारी काम और वावूजी के घोर परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य पर भी उग्र प्रभाव डाला। समिति का काम अभी मंझधार में ही था कि वह भीषण रूप से वीमार पड़ गए और उन्हें विलिंग्डन अस्पताल में भरती होना पड़ा। अस्पताल में वह शायद दो-तीन महीने रहे। उन्हें लगा कि समिति के काम के सिलसिले में उनका इस प्रकार रुग्ण हो जाना समिति के काम को पीछे न डाल दे। वाद में उन्हें समझाया गया कि स्वास्थ्य सर्वोपरि है और उनकी अनुपस्थिति में भी डा० राधाकुमुद मुकर्जी के सभापतित्व में समिति का काम चालू रखा गया। वाद में

समिति के प्रतिवेदन को अंतिम रूप देते समय (मार्च, ५७ के अंत में) वह स्वस्थ होकर वापस आ गए और इस यज्ञ की पूर्णाहुति का कार्य स्वयं उन्होंने ही संपन्न किया।

परन्तु मेरा विचार है कि इस काम में किये गए उग्र और अथक परिश्रम ने ही बाबूजी के शरीर की रही-सही क्षमता को भी क्षीण कर दिया। शायद बहुत कम लोग जानते हैं कि यह उनके कर्मठ जीवन का कितना महान और जीवट का काम था। हम नहीं चाहते, कोई नहीं चाहता, कि यह काम उनके जीवन का अंतिम महान काम माना जाए। यद्यपि अब वह वस्तुतः संन्यास ले चुके हैं, तथापि हम चाहते हैं कि वह शतायु हों और उनके दिशा-निर्देश में इससे भी ज्यादा महत्त्व के काम निष्पादित किए जाएं।



कांग्रेस-अध्यक्ष टंडनजी

श्री हर्षदेव मालवीय

राजर्षि टंडनजी सन १९५० में आचार्य-कृपलानी के मुकाबले में नासिक-कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत हुए। उसके पूर्व सन १९४८ की जयपुर-कांग्रेस के अध्यक्ष-चुनाव में स्व० डा० पट्टाभि सीतारामैया के मुकाबले वह सफल नहीं हुए थे। इन दोनों अवसरों पर जो लोग टंडनजी के निकट थे उनसे पता लगा कि वह बिलकुल स्थितप्रज्ञ रहे। असफलता पर न उनको विषाद था, और सफलता पर न कोई उल्लास रहा। नासिक-कांग्रेस के अध्यक्ष-चुनाव के मुकाबले का अध्यक्षीय चुनाव केवल सन १९३८ में, त्रिपुरी-कांग्रेस के पूर्व नेताजी सुभाषचन्द्र बोस और स्व० डा० पट्टाभि के बीच ही देखा गया था। स्वभावतः इस अवसर पर भी लोगों में बड़ी अटकलबाजियां, बड़ी उत्कंठा, काफी गरमाहट थी। पर राजर्षि इस पूरे समय में शांतमूर्ति ही देखे गए।

राजर्षि टंडनजी के कांग्रेस-अध्यक्ष निर्वाचित होने पर भारत के राजनीतिक गगन पर, और कांग्रेस-संगठन के अन्दर भी जो उतार-चढ़ाव आए, उनमें हम यहां नहीं जाते। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैसा जो कुछ उस समय उच्च क्षेत्रों से कहा गया वह मनोनीत अध्यक्ष के मार्ग को असुगम बनाने वाला ही था। पर बिना लेशमात्र विचलित हुए टंडनजी अपने नए दायित्व को ओढ़ने के लिए चल पड़े। लखनऊ से कुछ मील दूर एक ग्राम में वह अपना अध्यक्षीय भाषण लिखने चले गए। यह एक प्रकार से अज्ञातवास ही था; कारण, वैसे राजर्षि से मिलने आने वालों का इतना तांता लगा रहता था कि और किसी कार्य के लिए समय निकालना असम्भव ही था।

टंडनजी ने अपना भाषण हिन्दी में ही लिखा। मूल रूप से एक भारतीय भाषा में लिखा जाने वाला सम्भवतः यह प्रथम ही कांग्रेस-अध्यक्षीय भाषण था। वह लगभग डेढ़ सप्ताह या इससे कुछ अधिक इस अज्ञातवास में रहे। पर इसी बीच उस ग्राम के निवास-स्थान पर एक अच्छा-खासा पुस्तकालय जम गया। जो कुछ कहना वह खरा, नपा-तुला, सुसमीक्षित कहना। अपनी इसी परम्परा के अनुसार राजर्षि ने अपने भाषण में आने वाले सब संदर्भों को खरी कसौटी पर परख लिया।

हिन्दी में भाषण अंकित करते हुए पूज्य टंडनजी को सदैव इसका ध्यान रहा कि उनके संगठन के अनेकानेक महानुभाव हिन्दी न समझेंगे और अध्यक्षीय भाषण का उनके लिए भी उपलब्ध रहना नितान्त आवश्यक है। कुछ लोगों को हिन्दी-भाषण का अंग्रेजी-रूपान्तर करने का कार्य सौंपा गया। काम में कुछ देर-सवेर हो गई, और जिस दिन राजर्षि नासिक जाने के लिए गाड़ी पर बैठे, उसी दिन भाषण का अंग्रेजी-रूपान्तर उनके हाथ में आया।

प्रस्ताव था कि कांग्रेस-अध्यक्ष की स्पेशल ट्रेन लखनऊ से नासिक जाए, पर टंडनजी ने इसके लिए मना कर दिया। तीसरे दर्जे की एक बोगी उनके लिए लगाई गई। दो रातें ट्रेन में गुजरीं और तीसरे दिन सुबह टंडनजी की बोगी नासिक पहुंची। रास्ते भर स्टेशनों पर उनका गहरा स्वागत हुआ। रात को ट्रेन पर सोना कठिन था। दूसरी रात, लगभग एक बजे रात के बाद, लोगों ने राजर्षि को सोने पर मजबूर किया; वरना वह यही कहते थे कि इतनी रात यदि लोग आते हैं तो क्या मैं जाग भी नहीं सकता। और इसी यात्रा के बीच, वह समय निकालकर भाषण का अंग्रेजी-रूपान्तर भी शुद्ध करते जाते थे। अनुवादक महोदय उनके साथ थे और अंग्रेजी के वह अच्छे ज्ञाता हैं। पर अंग्रेजी भाषा पर राजर्षि

टंडनजी की पकड़ और प्रौढ़ता देख वह आश्चर्यचकित थ।

नासिक की जनता ने राजर्षि टंडन का बड़ा दिव्य स्वागत किया। राजर्षि के नेत्र छलछला आए। वास्तव में कांग्रेस-अध्यक्ष मनोनीत होने के बाद कई बार राजर्षि के नेत्र छलछलाए। सम्भवतः स्नेहमूर्ति बाबूजी ने इस समय देखा कि जिस भारतभूमि की सेवा में उन्होंने अपना जीवन होम दिया, और जिस पुण्यभूमि की सर्वोच्च मानवीय परम्पराओं का उन्हें उत्कृष्ट उपासक माना जाता है, उसी भूमि के लोगों ने उनसे कितना स्नेह किया, उनको कितना आदर प्रदान किया। हमें स्मरण है, लखनऊ के निकट उस अज्ञातवास के काल में, मध्यप्रदेश अथवा महाराष्ट्र की किसी बहन ने बाबूजी को रोली, अक्षत और माला भेजी थी, साथ में पत्र भी था। पत्र रात को लगभग ग्यारह बजे ही खोलने का मौका मिला। कमरे में मिट्टी के तेल का लैम्प जल रहा था। राजर्षि उस समय बड़े द्रवित हुए। नेत्रों में बरबस छलकते आंसुओं को उन्होंने रोकने का कठिन प्रयास किया, पर असफल रहे। स्नेहशील बाबूजी का स्नेह से इस प्रकार द्रवित रूप मैं कभी नहीं भूल सकता।

जब बाबूजी कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, तब वह दिल्ली में श्री वियोगी हरि के साथ 'हरिजन आश्रम' में रहते थे। वहां से वह प्रतिदिन कांग्रेस-कार्यालय, ७ जंतर-मंतर रोड, नई दिल्ली आते थे। वस्तुतः इस समय तक, कम से कम दिल्ली के अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यालय में कांग्रेस-अध्यक्षों के बैठने की परम्परा न थी। पर टंडनजी सुबह से शाम, और बहुधा काफी रात तक, कार्यालय में बैठने लगे। कांग्रेस-अध्यक्ष के कार्यालय में बैठने से कांग्रेस-कार्यालय की चहल-पहल में और काम-काज में स्वभावतः परिवर्तन हुआ।

कार्याधिक्य के कारण अक्सर बाबूजी को दोपहर का भोजन करने के लिए जाने का अवसर ही न मिलता। ऐसे मौकों पर वह स्वयं खाने की कोई परवाह न करते, मानो उनको भोजन का स्मरण ही न हो। तब साथ में काम करने वाले लोग उनको कुछ न कुछ ग्रहण करने को कहते। यदि कुछ फल या गन्ने का रस या ऐसी ही कोई चीज भोजन में लेना निश्चित होता तो बाबूजी स्वयं उसका पैसा देते। अपनी किसी भी व्यक्तिगत आवश्यकता पर कार्यालय का पैसा व्यय न होने देने के लिए उनकी सख्त हिदायत थी। और ऐसे मौकों पर कार्यालय की मोटर पर जाकर पेट्रोल व्यय करने की इजाजत भी न थी।

इस समय अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यालय से 'ए० आई० सी० सी० इकानामिक रिव्यू' नामक एक पाक्षिक पत्र को प्रकाशित होते लगभग दो वर्ष हो चुके थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का यह चौथा वर्ष था, और इस समय तक हिन्दी में आर्थिक पत्रकारिता लगभग शून्य थी। पूज्य टंडनजी का ध्यान इस ओर गया और उनकी प्रेरणा व आज्ञा से अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यालय की तरफ से हिन्दी में पाक्षिक 'आर्थिक समीक्षा' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'आर्थिक समीक्षा' पर अंकित 'कर्त्तव्यम् सुसमीक्षितम्' टंडनजी के निर्देश पर दिया गया। इस पत्रिका द्वारा हिन्दी में आर्थिक पत्रिकारिता का श्रीगणेश हुआ और व्यापक रूप से इसका स्वागत किया गया। इस प्रकार हिन्दी भाषा को आर्थिक पत्रिकारिता की देन भी राजर्षि टंडनजी से मिली है।

राजर्षि टंडनजी के कांग्रेस-अध्यक्षीय काल की राजनीतिक बातों में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है। उनके अध्यक्ष-पद संभालने के कुछ ही दिनों बाद, जब टंडनजी कोटा में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में उपस्थित थे, सरदार वल्लभभाई पटेल का स्वर्गवास हो गया। राजर्षि यह समाचार सुन बहुत दुखी हुए। वह तुरन्त सरदार पटेल के अन्त्येष्टि-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए चले आए। चलने के पहले उन्होंने कहा, "हमारे आगे की कठिनाइयां बढ़ गई।"

हुआ भी ऐसा ही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद संगठन और शासन के बीच जो समस्याएं खड़ी होकर आज इतनी बड़ी हो गई, वे दिन इसके प्रथम चरण के थे। उत्तरोत्तर प्रश्न खड़े हो रहे थे कि शासकीय एवं दलीय नेताओं में किसका पद ऊंचा हो, अथवा यों कहिए कि किसकी बात ऊपर रहे। एक बार इस समस्या के अस्तित्व में आने के पश्चात यह उत्तरोत्तर पेचीदा होती गई। यह स्वाभाविक भी था। एक उदाहरण लीजिए। राजर्षि टंडनजी के अध्यक्ष-काल में कांग्रेस महासमिति की एक बैठक ने बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत किया कि देश के स्वास्थ्य के लिए घोर अहितकर 'वन-

स्पति घी' पर रोक लगा दी जाए। सामान्य रूप से कांग्रेस-दल का यह निर्णय शासकीय नेताओं को पहुंचाया गया पर शासकीय नेताओं ने इसके उत्तर में कहा कि यदि वनस्पति को रुकना है तो शासकीय नेतृत्व का भार किसी और को उठाना होगा; कारण, वे ऐसा कदापि नहीं कर सकते।

अध्यक्ष-काल में राजर्षि के सम्मुख नित्य ही विषम सांगठनिक समस्याएं उपस्थित होती ही रहीं। पर उनका संतुलन और धैर्य कभी न टूटा। उनके सम्पर्क में आने वाले सभी ने, क्या प्रादेशिक नेता, क्या कार्यालय के कर्मचारी; बाबूजी को सदा दया और स्नेह की मूर्ति ही पाया। हरएक के दुःख-सुख में दिलचस्पी रखनेवाले बाबूजी सदैव अपना स्नेह सब पर बिखेरते रहे।

सन १९५१-५२ का स्वतन्त्र भारत का प्रथम आम चुनाव आ रहा था। राजनीतिक स्थिति निरन्तर कठिन होती जा रही थी। लगा कि अब शासन व संगठन में होकर ही रहेगी। सब चिन्तित थे कि यदि ऐसी मुठभेड़ हुई तो क्या होगा! ऐसे अवसर पर नई दिल्ली के कान्स्टीटयूशन क्लब में कांग्रेस महासमिति की ऐतिहासिक बैठक हुई। क्या होगा, किसी को पता न था। कांग्रेस-अध्यक्ष राजर्षि टंडनजी क्या रुख लेंगे, यह कोई न जानता था। टंडनजी सर्वथा शान्त मुद्रा में अध्यक्ष-पद पर आ बैठे। प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद उन्होंने अपना वह वक्तव्य दिया जो उनकी महानता का स्थिर प्रतीक है। उन्होंने कहा कि देश को जवाहरलाल की जरूरत है। और राजर्षि ने उनके लिए रास्ता साफ कर दिया।



बाबूजी की जीवन-चर्या : एक पारिवारिक संस्मरण

श्रीमती रानी टंडन, एम० ए०

समाज में समय-समय पर ऐसे व्यक्ति होते रहते हैं जो अपने गुणों तथा अपनी प्रतिभा के कारण लोगों के लिए पूज्य बन जाते हैं। हमारी संस्कृति में त्याग, उच्च चरित्र और निस्वार्थ समाज-सेवा को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम देखने में आते हैं जो अपने स्वार्थ को बिलकुल छोड़कर दूसरों का उपकार करने में ही लगे रहें। इस गुण के साथ-साथ किसी मनुष्य में नैतिकता की ऊंची भावना हो और व्यक्तिगत चरित्र बहुत ऊंचा हो, यह भी बहुत कम देखने में आता है। इसी कारण किसी भी समाज में जब भी कोई ऐसा व्यक्ति होता है तो वह समाज के लिए एक आदर्श हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों के रहन-सहन तथा जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक बात से हमें कुछ-न-कुछ शिक्षा मिलती है।

राजर्षि टंडनजी का सारा जीवन समाज और देश की सेवा में ही बीता। अपने तथा अपने कुटुम्ब के हित और सुख की कभी चिन्ता नहीं की। यदि यह कहा जाय कि वे सब सांसारिक सुख, जिनकी ओर संसार का प्रत्येक प्राणी दौड़ता है, बाबूजी को कभी-भी अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। इन सुखों की ओर से निर्लिप्त रहना साधारण मनुष्य के लिए संभव नहीं है। बाबूजी का समाज में ऊंचा स्थान अपने इन्हीं महान गुणों और उच्च चरित्र के कारण है। जो लोग राजनीतिक अथवा अन्य क्षेत्रों में उनके मत से सहमत नहीं हैं वे भी उनके व्यक्तित्व के कारण सदा उनको पूज्य मानते रहे हैं।

पूज्य बाबूजी का जीवन जनता-जनार्दन के लिए जितना परिचित है उसे देखते हुए उनके सम्बन्ध में कुछ लिखना जानी-बूझी बातों को दोहराना-सा लगता है। फिर भी उनकी दिनचर्या और स्वभाव की कुछ बातें, जो मैंने देखी हैं या अनुभव की हैं, बहुतों को रुचिकर लगेंगी।

बाबूजी का जीवन सादगी, सरलता और त्याग का एक सजीव उदाहरण है। रहन-सहन, खान-पान, व्यवहार, सभी में वही सरलता। इस सरलता के साथ-साथ अपनी आस्थाओं और मान्यताओं के प्रति कट्टरता (हठधर्मी), इच्छा-शक्ति की दृढ़ता और आत्म-बल, उनमें बड़ी मात्रा में है। सत्य और अहिंसा के वह अनन्य भक्त हैं।

बाबूजी की दिनचर्या की चर्चा एक कठिन समस्या है। जिस व्यक्ति की कोई नियमित दिनचर्या हो, घड़ी की सुई के साथ जिसके जीवन का क्रम बंधा हो, उसकी दिनचर्या की चर्चा करना कितना सुगम है, यह आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं। किन्तु जिसका कोई निश्चित कार्यक्रम न हो, अपना कोई समय न हो, जिसे अपनी सुविधा का कोई ध्यान हो, उसकी दिनचर्या कैसी ? जब अवकाश मिला, अपना कोई काम कर लिया। बाबूजी ऐसे ही लोगों में हैं और ऐसी ही उनकी दिनचर्या है। उनका अपने किसी काम का कोई समय नियत नहीं। यदि लोग बैठे रहें और नहाने-खाने के लिए दिन के २-३ बज जाएं तो उन्हें चिन्ता नहीं और यदि प्रातः १०-११ बजे ही कहीं जाना पड़े तो १० बजे ही खाना खाने को तैयार। आदत की दासता जैसे उन्होंने सीखी ही नहीं।

बाबूजी प्रातःकाल जल्दी उठने वालों में से हैं। प्रातःकाल उठने पर वह चर्खा कातेंगे, कुछ पत्रादि लिखेंगे अथवा कुछ अध्ययन करेंगे, यह कुछ निश्चित नहीं रहता। मैंने उन्हें भिन्न समय में भिन्न कार्यक्रम अपनाते देखा है।

कुछ देर के बाद शौच आदि से निवृत्त होकर वह अपने वस्त्र आदि अवश्य बदलते हैं और इस पुरानी परिपाटी में उन्होंने अभी तक थोड़ा भी अन्तर नहीं किया है। जिस समय भी वह शौच जाते हैं अपने वस्त्र अवश्य बदलते हैं। उनकी यह विचारधारा पुरानी परिपाटी का पालन या छूतछात में विश्वास-मात्र नहीं है, वरन वह इसे स्वच्छता का एक आवश्यक अंग समझते हैं। उनके विचार में शौच के बाद मिट्टी से हाथ मांजना आवश्यक है, यात्रा में भी उनकी मिट्टी की पुड़िया उनके सामान का एक आवश्यक अंग होती है। शरीर पर साबुन का प्रयोग वह कभी करते ही नहीं। कभी-कभी मुलतानी मिट्टी का प्रयोग कर लेते हैं। इधर कुछ वर्षों से जब से उनका स्वास्थ्य कुछ खराब हुआ, वह स्नान के पहले प्रायः मालिश कराते थे, किन्तु नियमपूर्वक नहीं। स्नान के बाद अपनी संध्या (या ध्यान, उनकी इस पूजा का जो भी रूप हो) करने के उपरान्त ही वह कोई चीज खाते-पीते हैं। यदि नहाने में उन्हें दोपहर हो जाय तो भी उन्हें इसकी चिन्ता नहीं होती, किन्तु बिना नहाए खाते-पीते नहीं हैं। बाबूजी भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त और पुजारी हैं। भारतीय रहन-सहन के उक्त ढंग, जो भारतीय संस्कृति के आवश्यक अंग हैं, बाबूजी के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

दिन में विश्राम करना या लेटना उनकी आदत में नहीं है, भोजन किया और काम में लग गए। संध्या को जलपान भी नियमपूर्वक नहीं करते। रात में भी भोजन का कोई निश्चित समय नहीं रहता, किन्तु साधारणतः अधिक विलम्ब से भोजन करना उन्हें पसन्द नहीं। रात में साधारणतः ११ बजे तक सो जाते हैं। इस सम्बन्ध में मैंने एक बात बाबूजी में विशेष देखी। वह यह कि बिस्तर पर लेटने के दो-चार मिनट में ही वह गहरी नींद में सो जाते हैं। इतनी जल्दी लोगों को नींद आते मैंने बहुत कम देखा है। नींद न आने का कष्ट उन्हें कभी नहीं रहा। सम्भवतः इसका सम्बन्ध उनके सात्त्विक जीवन से है।

बाबूजी के भोजन के सम्बन्ध में इतना तो सभी जानते हैं कि वह दूध नहीं पीते तथा चीनी और नमक नहीं खाते। चीनी को तो वह 'सफेद जहर' कहते हैं, तथा नमक को मनुष्य के शरीर के लिए अनावश्यक और हानिकर बतलाते हैं। दूध के सम्बन्ध में उनका विचार है कि वह गाय-भैंस के बच्चे का स्वाभाविक भोजन है और हम उसे लेकर उन बच्चों का अधिकार उनसे छीनते हैं। भोजन के सम्बन्ध में उनके अपने कुछ निश्चित मत हैं और उसके सम्बन्ध में वह किसी दूसरे के विचारों को सुनने अथवा मानने के लिए तैयार नहीं होते।

बाबूजी के माता-पिता राधास्वामी मत के अनुयायी थे। अतः यह परिवार निरामिषभोजी तो था ही, साथ ही बिना मसाले का सादा भोजन करने का अभ्यस्त था। इस प्रकार बाबूजी सादे भोजन के तो आरम्भ से ही आदी थे, किन्तु बाद में जैसे-जैसे इनके विचार भोजन के सम्बन्ध में बदलते गये, उनका भोजन भी बदलता गया। दूध से उन्हें कभी विशेष रुचि नहीं रही। बाद में उन्होंने दूध पीना बिलकुल बन्द कर दिया और बीमारी की अवस्था में भी दूध बड़ी कठिनाई से कभी-कभी ही पीते हैं।

सत्याग्रह-आन्दोलन में जब प्रथम बार बाबूजी सन १६२३ में जेल गये तब वहां उन्होंने भोजन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रयोग किये। मनुष्य का भोजन अधिक प्राकृतिक रूप में होना स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा है, ऐसा उनका विश्वास हो गया और तभी से कच्चा अनाज, फल और तरकारियां खाने का उन्होंने प्रयोग आरम्भ किया। उस समय मे उन्होंने गेहूं, चना, चावल, मूंगफली आदि पानी में भिगोकर कच्ची खाना आरम्भ किया। आग पर भोजन पकाना अस्वाभाविक है और इससे भोजन के बहुत से पौष्टिक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, ऐसी उनकी धारणा होगई थी। अतः कुछ दिन उन्होंने एक अनोखा ही प्रयोग किया। रोटी बेल कर कच्ची ही धूप में रख दी जाती थी, धूप से पकने के लिए, और बाबूजी इन रोटियों को खाते थे।

कुछ तो दांत न रहने के और कुछ अवस्था के कारण उन्होंने साधारण रोटी-दाल का खाना बाद में फिर आरम्भ किया। बिना नमक की दाल, बिना नमक की सब्जी और रोटी तथा चावल, यह उनका साधारण भोजन रहता है। चावल उन्हें अधिक पसन्द है। घी बाबूजी साधारणतया बिलकुल नहीं खाते। यों त्यौहार-उत्सव आदि पर पूरी-कचौड़ी भी खा लेते हैं। उस समय पूरी की अपेक्षा कचौड़ी अधिक पसन्द करते हैं। उर्दू की पीठी या साग भरकर बनाई

गई रोटी भी उन्हें बहुत पसन्द है। दही भी वह साधारणतः नहीं खाते किन्तु 'दहीबड़ा' बड़ी रुचि से खाते है।

गेहूं की अपेक्षा जौ, चने, ज्वार, मक्का, बाजरा आदि मोटे अनाज उन्हें विशेष प्रिय हैं। संभवतः इसके मूल में देश की गरीबी की भावना है। उन्हें प्रायः कहते सुना है कि देश की जनता की एक बड़ी संख्या इन्हीं अनाजों के सहारे जीवन-यापन करती है तो हम लोग इन्हें क्यों नहीं खा सकते। चावल भी वह हाथ का कुटा ही पसन्द करते हैं। यह भी कुटीर-उद्योगों को प्रोत्साहन देने के कारण है। हाथ का कुटा चावल न मिलने पर वह मोटा चावल, बासमती आदि की अपेक्षा, अधिक पसन्द करते हैं। फल भी वह मौसमी और सस्ते पसन्द करते हैं, सेव-अनार आदि मंहगे फलों का उन्हें शौक नहीं। पका हुआ भोजन वह अब खाने लगे हैं किन्तु फलों का उनके भोजन में एक बड़ा भाग अब भी रहता है। और बीच-बीच में वह केवल फलों का ही भोजन प्रायः करते है।

'एक समय में एक ही चीज या कम-से-कम भिन्न चीजें खाना स्वास्थ्य के लिए अच्छा है', ऐसा भी उनका विश्वास है। इसी कारण वह प्रायः एक बार में एक ही चीज खाते रहे हैं, जैसे गर्मी के दिनों में एक समय वह खरबूजे से ही पेट भरते थे। इसी प्रकार जिस दिन बाजरा खाते थे तो दोनों समय बाजरा ही। कभी बाजरे की रोटी तो कभी बाजरे का दलिया या भात।

जब किसी दूसरे को भोजन कराना हो तो उस समय बाबूजी भोजन के मीनू में विशेष रुचि लेते हैं। दही-बड़ा, पापड़, चटनी, आचार आदि कई प्रकार की चीजें वह उस समय बनवाना पसन्द करते हैं। मिठाई और नमकीन का प्रबन्ध करना भी नहीं भूलते। यदि भोजन के समय कोई आ जाय तो बिना किसी बात का ध्यान किये वह उन्हें भोजन कराने को तैयार हो जाते हैं। चौके में क्या बना है और कितना है, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं होती। जो चौके में हो उसे किसी प्रकार युक्ति लगाकर बाबूजी के अतिथियों को भोजन कराना ही होता है। कोई ऐसी परिस्थिति में भी अपनी कुछ कठिनाई कह सके, इतना साहस किस में है? वह दूसरों की, विशेषकर घरवालों की, कठिनाइयां सुनने या समझने के आदी नहीं हैं। बाबूजी के साथ भोजन करने वालों को प्रायः बिना नमक की चीजें खाने का भी अवसर आ जाता है और मैंने देखा है कि उनके संकोच में लोग चुपचाप खा भी लेते हैं।

देश की गरीबी से प्रभावित और जनता की कठिनाइयों की अनुभूति से द्रवित होने के कारण बाबूजी ने अपनी निजी आवश्यकताओं में जितनी कमी कर रखी है, उतना करना किसी व्यक्ति के लिए आज के युग में बड़ा कठिन है। तीन जोड़ी से अधिक वस्त्र उनके पास नहीं रहते। घर में, जाड़े के मौसम को छोड़कर, उन्हें घुटनों तक के जांघिये और बनियान में ही आप पायेंगे। जाड़े या गर्मी के उनके किसी वस्त्र में दो-एक पैबन्द न लगे हों तो समझ लें कि अभी नया ही बना है। अन्यथा एक-एक वस्त्र में कई-कई बार जोड़ और पैबन्द लगाकर वह उसे तब तक पहनते है जब तक उसमें नया जोड़ और पैबन्द लगाने की थोड़ी भी गुंजाइश रहती है। इसमें कंजूसी की भावना बिलकुल नहीं। गरीब देश में प्रत्येक वस्तु का पूर्णतः उपयोग हो, यही उनकी भावना रहती है। पहनने के ही नहीं, ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र भी इसी प्रकार जोड़ और पैबन्द लगाकर बहुत दिनों तक चलाये जाते हैं।

आज के उन अर्थशास्त्रियों से भी बाबूजी सहमत नहीं है जो यह कहते हैं कि जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना चाहिए। बाबूजी तो अपनी आवश्यकताओं को कम-से-कम रखने के पक्षपाती हैं। उनका विश्वास है कि यही दृष्टिकोण व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए भी लाभप्रद है। अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने इसका पूर्णरूप से पालन किया है।

समय का बन्धन बाबूजी ने कभी नहीं माना। वह प्रत्येक काम अपनी सुविधा और अपनी गति से करना पसन्द करते हैं। छोटे-से-छोटे काम में वह काफी समय लगाते हैं और अपना निर्णय शीघ्र नहीं करते। संभवतः छोटी-से-छोटी बात की भी गहराई की सीमा तक पहुंचने का प्रयत्न इसका कारण है। दूसरा व्यक्ति यदि जल्दी में भी हो तो भी बाबूजी को इसका कोई ध्यान नहीं रहता। संभवतः वह जल्दी करना पसन्द नहीं करते। और कोई उनसे 'जल्दी है' कह दे तो रुष्ट भी हो जाते हैं। बाहरी लोग भी जब छोटी-सी बात में भी अधिक विलम्ब देखते हैं तो ऊबते हैं और यदि उन्हें किसी अन्य काम की शीघ्रता हो तो घबराते भी हैं; किन्तु बाबूजी के डर और संकोच से कुछ बोलते नहीं। घर पर

काम करने की कौन कहे, बाबूजी ट्रेन पर जाते समय भी समय का बन्धन कितना मानते हैं इसका भी बहुतों को अनुभव है। ट्रेन उन्हें मिल ही जाती है बस इतना ही काफी है।

बाबूजी लिखने-पढ़ने का अपना काम तथा अन्य प्रकार के काम भी दूसरों को सुपुर्द करके निश्चिन्त नहीं रहते। कोई अतिथि ठहरा हो तो उसके खान-पान, स्नान आदि से छोटे-से-छोटे प्रबन्ध को वह स्वयं देखेंगे। इसी प्रकार साधारण-से-साधारण कुशल-समाचार का पत्र भी यदि उन्हें किसी को भेजना हो तो भी उसे बिना स्वयं देखे उन्हें शान्ति नहीं मिलती। प्रत्येक शब्द और विराम को इतने ध्यानपूर्वक देखते हैं जैसे उसमें ही साहित्य की पूर्णता भरना आवश्यक है। कितना ही शुद्ध और ठीक से कोई लिखे, बाबूजी को कभी पसन्द ही नहीं आता। एक विराम की गलती पर या एक ऐसा शब्द प्रयोग होने पर जो उन्हें पसन्द नहीं, उन्हें स्वयं चाकू या ब्लेड से उसे मिटाकर पुनः ठीक करते हुए जिसने देखा है, वही इस बात को समझ सकता है।

सरल स्वभाव होते हुए भी उनमें क्रोध काफी है। कभी-कभी तो बहुत छोटी-छोटी बातों पर ही वह नाराज हो जाते हैं, विशेषकर घरवालों पर। यों बाहर वालों पर भी अपना क्रोध प्रदर्शित करने में वह कोई संकोच नहीं करते। इतना क्रोध होते हुए भी उनका हृदय बहुत कोमल है। किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट हो, बाबूजी उसकी सहायता की तुरन्त चिन्ता करते हैं। इसीलिए लोग उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, पर उनसे डरते हैं। बाबूजी से डरते हुए भी लोग उन्हें अपना हित चाहने वाला समझते हैं और इसी कारण उनके पास आते हैं।

बाबूजी के इस स्वभाव के कारण ही उनके घर के लोग, उनकी पत्नी, उनके पुत्र आदि भी उनसे अधिक बातें करने का साहस नहीं कर पाते। बाबूजी की किसी बात से सहमत न होने पर भी घर के लोगों का साहस उनसे उस सम्बन्ध में बातें करने का नहीं होता और उनकी इच्छा का ध्यान रखकर ही घर के लोगों को सब काम करना पड़ता है। किसी बात से बाबूजी कब रुष्ट हो जाएं, इस भय से घर के लोग भी उनसे बेधड़क होकर तथा दिल खोलकर कभी बातें नहीं कर पाते।

बाबूजी में अहिंसा की भावना भी बहुत ऊंची है। इतना ही नहीं कि वह निरामिषभोजी हैं अथवा किसीको कष्ट देना या किसी का जीवन लेना नहीं चाहते। किन्तु जूते बनाने के लिए चमड़ा प्राप्त करने के हेतु पशुओं को मारा जाता है इस कारण उन्होंने काफी छोटी अवस्था से ही चमड़े के जूतों का बहिष्कार कर दिया और बराबर कपड़े का जूता पहना करते थे। बाद में जब गांधी आश्रम के तत्त्वावधान में स्वतः मरे हुए पशुओं के चमड़े से जूते-चप्पल बनाने का कार्य आरम्भ हुआ, तब उन्होंने वहां के बने चमड़े के जूते पहने।

इसी प्रकार उत्तम रेशम के लिए रेशम के कीड़े जीवित ही उबाल कर मारे जाते हैं, यह जानने के बाद से उन्होंने रेशमी कपड़ा कभी खरीदा ही नहीं, विवाह आदि के अवसरों के लिए भी नहीं। जिन कोयों को काटकर रेशम का कीड़ा बाहर निकल जाता है, उनके तार से जो रेशम (मटका) बनता है, वह कभी-कभी खरीद लेते हैं।

इस प्रकार बाबूजी के, प्रत्येक बात के सम्बन्ध में अपने निजी विचार और सिद्धान्त हैं और वह अपने व्यक्तिगत जीवन में उनका अक्षरशः पालन करते हैं। बाबूजी के विचारों का लोगों पर प्रभाव विशेष रूप से इसीलिए अधिक पड़ता है कि बाबूजी जिन बातों को कहते हैं उनका स्वयं भी पालन करते हैं।

राजर्षि टंडनजी के जीवन की एक झांकी

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

राजर्षि टंडनजी का जन्म तीर्थराज प्रयाग के उसी प्रख्यात मुहल्ले अहियापुर में हुआ है, जहां उनके राजनीतिक गुरु महामना मदनमोहन मालवीय का हुआ था और जिसके पड़ोस में ही हमारे राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू पैदा हुए थे। प्रयाग शताब्दियों से हमारे इस विशाल देश की धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का प्रेरक केन्द्र रहा है और आधुनिक युग में राजनीतिक चेतना का भी वह मुख्य स्थल रहा है। प्रयाग नगर में इस मुहल्ले की अपनी स्थिति है। समूचे प्रयाग नगर में वह न केवल सबसे ऊंचाई पर अवस्थित है प्रत्युत अपनी परम प्राचीनता, समृद्धि, आभिजात्य, प्रतिष्ठा एवं शिक्षा, संस्कृति तथा सामाजिक चेतना में भी इसकी अद्वितीयता अन्य मुहल्लों की अपेक्षा आज तक अक्षुण्ण है। प्रयाग के नगरसेठ, नगरपिता, निर्माता एवं अपनी प्रतिभा से प्रयाग के मुख को उज्ज्वल करनेवाले अनेक सपूतों को जन्म देकर इस मुहल्ले ने अपनी विशेषता की रक्षा सदैव की है। इस मुहल्ले के निवासियों में अधिकांश खत्रियों की आबादी है, जो संभवतः मुसलमानों के आक्रमण-काल में किसी समय पंजाब से आकर यहां बस गए थे। कई अर्थों में इस मुहल्ले की स्थिति काशी से अभिन्न है। यहां की अनेक असूर्यम्पश्या संकरी गलियों में भी सांडों और सीढ़ियों का बाहुल्य है और समीप में ही अगाध जलवाहिनी यमुना की धारा के कारण यहां के निवासियों में भी अन्य मुहल्ले के निवासियों की अपेक्षा काशीनिवासियों जैसी मस्ती, धार्मिकता और संस्कारों का गहरा प्रभाव है।

अहियापुर के एक खत्री-परिवार में टंडनजी के पिता बाबू सालिगराम टंडन का भी अपना निवास-स्थान था। यह प्रयाग के एकाउण्टेण्ट जनरल आफिस में कार्य करते थे और एक साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। आप धार्मिक भावना के व्यक्ति थे और सुप्रसिद्ध स्वामीबाग आगरा के राधास्वामी सम्प्रदाय के निष्ठावान सत्संगी थे। सत्संग की परम्परा मे आप श्री प्रेमसरनजी के नाम से विख्यात थे। टंडनजी के पितृव्य बाबू मूलचन्द एलोपैथ डाक्टर थे और उनकी अच्छी प्रैक्टिस थी। टंडनजी के जन्म से पूर्व बाबू सालिगरामजी के दो पुत्र-पुत्रियो का असामयिक निधन हो चुका था, और घर मे वर्षो से उदासी छाई हुई थी। इसी समय संवत १९३९ विक्रमी के श्रावण मास की शुक्ल द्वितीया तिथि मंगलवार को इनके घर में एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। उस दिन की अंग्रेजी तिथि १ अगस्त, सन १८८२ ई० थी। श्रावण का यह महीना उस वर्ष पुरुषोत्तम मास या मल-मास का था, फलतः बालक का नाम भी पुरुषोत्तमदास रखा गया। बड़े लाड़-प्यार और उल्लास के वातावरण में बालक का बचपन बीता। इनके एक छोटे भाई श्री राधेनाथ टंडन और एक छोटी बहिन भी पैदा हुई, किन्तु बहिन का विवाहोपरान्त शरीरान्त हो गया और छोटे भाई श्री राधेलाल टंडन अब भी जीवित है।

शैशवकाल से ही पुरुषोत्तमदास टंडन के साहस, मेधाशक्ति तथा दृढ़ता का परिचय देनेवाली अनेक घटनाएं बताई जाती है। इनके आज के जीवन में जो निर्भीकता, सत्यपरायणता, सुजनता, त्याग और तप की भावना तथा मौलिक चिन्तन की विशेषता दिखाई पड़ती है, उसका पूर्वाभास इनके बाल-जीवन की अनेक घटनाओं में ही पाया जाता था। बताते है, जब यह तीन वर्ष के थे और अपने समवयस्क बालकों के साथ मुहल्ले में खेल रहे थे तो इनके साथी किसी बालक ने इन्हें बताया कि आज उसके चाचा चित्रकूट गए है। फिर क्या था, इन दोनों अबोध

आठ वर्ष की आयु में

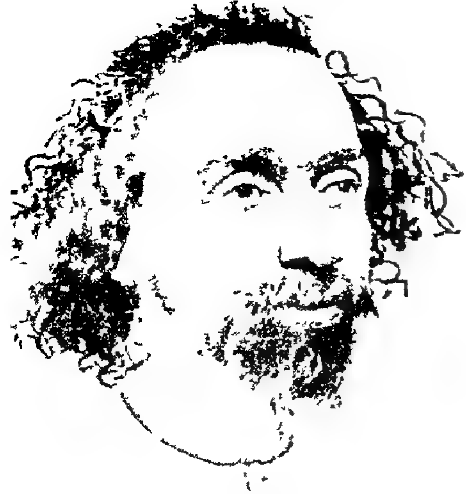






इलाहाबाद हाईकोर्ट के एडवोकेट
सन १४-१५

राजर्षि के पिता श्री सालिगराम टंडन



१. प्रथमवार जेल से आने के वाद

२. इलाहावाद म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन

३. असहयोग आदोलन मे







सन् '३६



उत्तरप्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष



कांग्रेस अध्यक्ष



राजर्षिजी की धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखीदेवी टंडन

बालकों ने भी चित्रकूट-भ्रमण का निश्चय कर लिया। तत्काल अपने अभिभावकों को सूचित किए बिना ही ये लोग मुहल्ले की तंग गलियों से बाहर निकलकर राजमार्ग पर आगए और त्रिवेणी जानेवाला मार्ग पकड़कर अपने मुहल्ले से दो-ढाई मील दूर प्रयाग के किले के मैदान में पहुंच गए। सायंकाल का समय समीप था, किन्तु ये अबोध बालक अविचल भाव से बराबर आगे ही बढ़ते जा रहे थे, उन्हें घर वापस लौटने की या अंधेरी रात की चिन्ता नहीं थी और न यही ज्ञात था कि चित्रकूट अभी कितनी दूर है। जब ये दोनों बालक किले के अत्यन्त समीप पहुंच गए, जहां उन दिनों फौज की छावनी के कारण अंग्रेजों का आधिपत्य था, तब एक सिपाही ने इन्हें आगे बढ़ने से रोककर खड़े होने का आदेश दिया और पूछा कि वे इधर कहां जा रहे हैं? नेता टंडनजी थे। इन्होंने बिना किसी भय और संकोच के बताया कि यात्रा चित्रकूट तक की है। सिपाही स्तम्भित रह गया और उसने आगे बढ़कर कुछ स्त्रियों और पुरुषों को रोका, जो त्रिवेणी की तरफ से प्रयाग नगर की ओर वापस जा रहे थे। उसका अनुमान था कि ये बच्चे उन्हीं लोगों के साथ हैं। अतः कुछ डांटते हुए स्वर में उसने कहा—"इतने छोटे-छोटे बच्चों को इस तरह पीछे नहीं छोड़ दिया जाता। भीड़-भाड़ में कहीं बहक जायं तो रात के वक्त मिलना कठिन होगा।" किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उन स्त्री-पुरुषों ने इन दोनों बच्चों को अपने से नितान्त अपरिचित बताया।

इधर दोनों बालकों के अभिभावक बेहद परेशान। बहुत खोजा-ढूंढ़ा गया, कहीं कोई पता नहीं। थानों और कोतवाली में सूचना दे दी गई। और उधर किला का वह सिपाही भी इनका घर ढूंढने में बेहद परेशान। पड़ोस के मुहल्ले में टंडनजी द्वारा बताए हुए मछलीवाले निशान से युक्त कोई मकान मिलता ही नहीं था। बात यह थी कि टंडन जी का मकान उन दिनों नया-नया बना था और उसके प्रवेश-द्वार पर शुभ शकुनसूचक मछली की आकृति बना दी गई थी। इस मछली वाले मकान के सिवा अपने पिता-माता या मुहल्ले टोले का कोई पता इन दोनों तीन वर्ष के बच्चों को ज्ञात नहीं था। फिर तो ११ बजे रात को कोतवाली की सूचना के अनुसार थानेवालों को जब इन दोनों बच्चों का निश्चित पता लगा तो ये लोग अपने शोकाकुल परिवार में वापस लाये गए और घर आकर इन्होंने अपनी चित्रकूट-यात्रा का सविधि वर्णन सुनाया।

बाल्यकाल में टंडनजी का विद्यारम्भ उनके घर पर ही एक मौलवी साहब ने कराया, जिन्हें कोई सन्तान नहीं थी और जो मुहल्लेवालों के लड़कों-बच्चों को पढ़ाकर अपनी जीविका अर्जित करते थे। मौलवी साहब साधु स्वभाव के पुरुष थे और उनके प्रति टंडनजी की अटूट निष्ठा थी। प्राचीन काल के आश्रमों में अपने गुरुजनों के प्रति आश्रमवासी छात्रों के आचरण की जो चर्चा टंडनजी ने अपने गुरुजनों से सुनी थी, उसकी चरितार्थता वह अपने आदिम गुरु इन्हीं मौलवी साहब के साथ करते थे। आज इस परिणत वय में भी वह इन मौलवी साहब का प्रसंग बड़े गद्गद कण्ठ से करते हैं और उनके प्रति आदर और श्रद्धा प्रकट करते हैं। घर पर आरम्भिक शिक्षा की समाप्ति कर लेने के अनन्तर टंडनजी को प्रयाग नगर में बालकों की शिक्षा के लिए सुख्यात पं० शिवराखन की पाठशाला अथवा सी० ए० वी० मिडिल स्कूल में भेजा गया। यहीं से आपने सन १८९४ ईस्वी में मिडिल की परीक्षा उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

टंडनजी का विद्यार्थी जीवन उज्ज्वल था। वह न केवल अपनी कक्षा के सर्वश्रेष्ठ छात्रों में ही थे वरन स्कूल के प्रतिभाशाली, वाग्मी और खेलकूद में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले छात्रों में भी थे। स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रमों एवं व्यायाम-प्रदर्शनों में भी आपका प्रमुख भाग होता था और कक्षा के भीतर भी अध्यापकों की सहज कृपादृष्टि इन्हें प्राप्त थी। साहित्य आपका प्रिय विषय था, वह चाहे अंग्रेजी का हो, चाहे अरबी, फारसी, हिन्दी अथवा संस्कृत का। गुरुजनों द्वारा अधीत साहित्यिक सन्दर्भों को आप अपनी प्रतिभा से और भी परिष्कृत कर देते थे।

मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर आपका नाम प्रयाग के गवर्नमेंट हाई स्कूल में लिखाया गया, जहां से सन १८९७ ईस्वी में आपने प्रथम श्रेणी में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस स्कूल में उन दिनों अंग्रेज हैडमास्टर होते थे, जो पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ अपने स्कूल के बच्चों में पाश्चात्य ढंग की वेशभूषा, रहन-सहन और संस्कृति का प्रभाव भी देखना पसन्द करते थे। टंडनजी की पश्चिमी वेषभूषा और रहन-सहन में बाल्यकाल से ही कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह यद्यपि स्कूल के होनहार विद्यार्थियों में से थे और इनके हैडमास्टर मिस्टर हाउज्डेन इनकी प्रतिभा से पूर्ण

परिचित भी थे, किन्तु इनकी ढीली-ढाली वेशभूषा और भारतीय संस्कारों के प्रति अटूट निष्ठा के कारण इनके प्रति उनकी अच्छी भावना नहीं थी।

जब कभी इनकी कक्षा का निरीक्षण होता तो सर्वप्रथम उनका ध्यान इनकी ओर आकृष्ट होता और अधिकारियों के सामने इनकी पढ़ाई-लिखाई का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जाता। यही नहीं, एक बार टंडनजी द्वारा बताए गए किसी अंग्रेजी-कविता के सुन्दर अर्थ को सुनकर हैडमास्टर इतना प्रभावित हुआ कि भरी कक्षा में उसी कविता पर किसी की (नोटबुक) में दिए गये अर्थ का उसने मजाक उड़ाया और टंडनजी की प्रशंसा की। किन्तु एकाध बार इनके ऊपर उसने इसलिए भी अर्थदण्ड लगाया कि इनके कपड़े चुस्त नहीं थे और यह किसी गलत रास्ते से स्कूल में जाते हुए पकड़े गए थे। किन्तु टंडनजी के हृदय में इन घटनाओं की कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई। अपनी वेशभूषा और बाहरी साज-सज्जा की अपेक्षा इन्होंने अपने चरित्र और विद्या की उपासना को आरम्भ से ही अधिक महत्त्व दिया और इन्हीं दिनों अपनी पढ़ाई-लिखाई के साथ मिथ्याभाषण, परनिन्दा, परद्रोह अथवा अन्य नवयुवक-सुलभ बुराइयों से बचकर अच्छे लोगों और अच्छी पुस्तकों की संगति करते रहे। अपने मित्रों और सहपाठियों के बीच उसी समय इनके आदर्श चरित्र की चर्चा होने लगी थी और इनके अध्यापक भी इनके प्रति सहज आदर और कृपाभाव रखते थे।

हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने के अनन्तर टंडनजी का नाम प्रयाग की सुप्रसिद्ध शिक्षण-संस्था कायस्थ पाठशाला इंटर कालेज में लिखाया गया। उन दिनों उसके प्रिंसिपल थे श्री रामानन्द चटर्जी। रामानन्द बाबू का नाम उनके द्वारा संस्थापित 'प्रवासी' और 'विशाल भारत' के द्वारा हमारे देश में सुप्रसिद्ध रहा है। किन्तु इंटर कालेज में नाम लिखाने के लिए जब गवर्नमेण्ट हाई स्कूल से इनका ट्रांसफर सर्टीफिकेट लिया गया तो उसके चरित्रवाले खाने में अंग्रेज प्रिंसिपल ने 'इनडिफरैण्ट' शब्द लिखकर भारतीय प्रतिभा के प्रति अपने जन्मजात विद्वेष का परिचय दिया था। उन दिनों स्कूल-कालेजों में आज की तरह भेड़ियाधसान नहीं थी। बहुत थोड़े छात्र होते थे। अतः प्रत्येक छात्र के सम्बन्ध में प्रिंसिपल को पूरी जानकारी होती थी। फलतः रामानन्द बाबू के सामने जब इनका ट्रांसफर सर्टीफिकेट रखा गया तो अंग्रेज हैडमास्टर द्वारा लिखे गए 'इनडिफरैण्ट' शब्द पर उन्होंने इन्हें अपने पास बुलाया और पूछा कि—"प्रिंसिपल ने ऐसा क्यों लिख दिया है? टंडनजी ने संक्षेप में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि इसका विवरण तो आप हैडमास्टर से ही पूछ सकते हैं। रामानन्द बाबू इनकी स्पष्टवादिता से प्रसन्न हुए और परिश्रम के साथ आगे पढ़ने और बढ़ने की शिक्षा देकर विदा कर दिया। सन १८९९ ई० में टंडनजी ने इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की और आगे की पढ़ाई के लिए उत्तर भारत की सुख्यात शिक्षण-संस्था म्योर सेण्ट्रल कालेज में नाम लिखाया। हमारे देश में उस समय इस कालेज के प्राध्यापकों का अपने-अपने विषय के विशेषज्ञों के रूप में बड़ा यश था, और यहां पढ़ने वाले विद्यार्थियों से हमारे देश और समाज को बड़ी-बड़ी आशाएं थीं। आज हमारे देश में चोटी के नेताओं, प्रशासकों, वैज्ञानिकों, कलाविदों और दार्शनिकों में इसी कालेज के अधिकांश छात्र मिलेंगे। उन दिनों कालेज के प्राध्यापक बहुधा अंग्रेज हुआ करते थे, तब प्रिंसिपल के बारे में किसी भारतीय की कल्पना ही कैसे की जा सकती थी।

कालेज की पढ़ाई में भी टंडनजी का अच्छा नाम रहा। यह कक्षा के सुयोग्य छात्रों में से थे। छात्रों की सभी प्रवृत्तियों में खूब खुलकर भाग लेते थे। अपने समय में कालेज की क्रिकेट टीम के यही कप्तान थे और क्रीड़ा कमेटी के मंत्री भी। संयोगवश इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हुई, जिसने इनके भावी जीवन पर अमिट छाप छोड़ी और जिससे इनकी चारित्रिक विशेषता पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह घटना है सन १९०१ ईस्वी की। इस वर्ष प्रयाग के म्योरसेण्ट्रल कालेज के प्रांगण में प्रान्तीय व्यायाम प्रतियोगिता (टूर्नामेण्ट) होने वाली थी और इसी कालेज के एक अंग्रेज प्रोफेसर मिस्टर हिल इसके मुख्य प्रबन्धक नियुक्त किये गए थे। मैच जब आरम्भ हुआ तो मि० हिल ने प्रबन्ध-चारुता की दृष्टि से कालेज की क्रीड़ा-समिति से परामर्श लिए बिना ही अपनी सहायता के लिए एक पुलिस दल भी बुला लिया था। संयोग से मैच के अवसर पर एक पुलिस के सिपाही ने एक भारतीय छात्र का घोर अपमान कर दिया। टंडनजी से यह दृश्य देखा नहीं गया और उन्होंने सबके सामने पुलिस के सिपाही की अच्छी खबर ली और पुलिस दल की नियुक्ति कराकर छात्रों का अपमान कराने वाले अपने प्रिय अध्यापक मि० हिल के भी छक्के छुड़ा दिए। रात्रिभर

में ऐसा संगठन किया गया कि दूसरे दिन सवेरा होते ही कालेज के तीन सौ छात्रों ने पूर्णतया हड़ताल कर दी और उन्होंने टंडनजी के नेतृत्व में अपनी यह मांग रखी कि जब तक मि० हिल को कालेज से निकाल नहीं दिया जाता तब तक हम लोग इस खेलकूद में कदापि भाग नहीं लेंगे।

एक अंग्रेज प्रोफेसर के विरुद्ध भारतीय छात्रों द्वारा प्रस्तुत यह मांग सुनकर् शासकों के हौसले पस्त हो गए। उन्हें कदाचित पहली बार यह बोध हुआ कि भारतीय नवयुवकों में भी कितनी मनस्विता होती है। कालेज के अंग्रेज प्रिंसिपल ने छात्रों और उनके नेता को मौखिक आश्वासन दिया कि क्रीड़ा के मैदान में मैं स्वयं उपस्थित होऊंगा और अब से मि० हिल खेल में नहीं भाग लेंगे, हड़ताल बंद हो जानी चाहिए। किन्तु हड़तालियों का नेता सामान्य पुरुष नहीं था, पुरुषोत्तम था; उसके मुंह से निकली हुई मांग की पूर्ति हुए बिना हड़ताल समाप्त नहीं हो सकती थी। प्रिंसिपल के सारे प्रयत्न निष्फल हुए, कूटनीति विफल हुई। हड़ताली छात्र अपने निश्चय पर और प्रिंसिपल तथा अंग्रेज शासक अपने निश्चयों पर अडिग रहे। परिणाम उन दिनों जो स्वाभाविक था, वही हुआ; हड़तालियों के नेता टंडनजी को एक वर्ष के लिए अनुशासनहीनता के आरोप में रिस्टीकेट कर दिया गया। बहुत संभव था कि यदि टंडनजी मि० हिल या प्रिंसिपल से क्षमा मांग लेते या खेद-प्रकाश कर देते तो इनके जीवन का वह एक वर्ष व्यर्थ न होता, किन्तु यह कोरी व्यावहारिकता टंडनजी के जीवन में कभी नहीं रही। उनका अदम्य तेज कभी प्रधर्षित नहीं किया जा सकता और अपने अंगीकृत निश्चयों पर अडिग रहने की उनकी प्रवृत्ति सदैव से रही है।

छात्र-जीवन के ऐसे ही व्याघातों के कारण टंडनजी ने १९०४ ई० में बी० ए० की तथा १९०६ ई० में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। और इसी वर्ष के जुलाई मास से प्रयाग की छोटी अदालत में वकालत की प्रैक्टिस भी आरम्भ कर दी। सन १९०७ में ही आपने एम० ए० की परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली, और दो-तीन वर्ष के भीतर ही अपने साधु स्वभाव, सजग प्रतिभा, परिश्रमशीलता, स्वाध्यायप्रियता तथा सच्चरित्रता से अपने पेशे में आशानुकूल सफलता भी प्राप्त की। इन्हीं दिनों इनकी संगति अपने पड़ोसी महामना मालवीयजी तथा हिन्दी के सुविख्यात साहित्यकार पंडित बालकृष्ण जी भट्ट के साथ हुई। इन दिनों महान पुरुषों के उच्च चरित्र एवं संस्कारों का टंडनजी के नवयुवक हृदय पर गंभीर प्रभाव पड़ा। मालवीयजी का तो इन पर आजीवन अपार स्नेह रहा। १९०७ में मालवीयजी द्वारा संस्थापित सुप्रसिद्ध हिन्दी-साप्ताहिक 'अभ्युदय' का सम्पादन भी आपने आरम्भ किया। अभ्युदय के द्वारा इनकी वाणी और विचारों में परिष्कार हुआ, और थोड़े ही दिनों में यह प्रयाग नगर में ही नहीं, प्रदेश भर में सुप्रसिद्ध हो गए।

प्रयाग की छोटी अदालतों में दो वर्ष की प्रैक्टिस के बाद टंडनजी ने प्रयाग के हाईकोर्ट में वकालत करना शुरू किया। उन दिनों महामना मालवीयजी तथा सर तेजबहादुर सप्रू आपके सीनियर थे। मालवीयजी महाराज के मस्तिष्क में उन दिनों 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना का विचार प्रमुख था, वकालत की ओर वह कम ध्यान दे पा रहे थे। अतः आपके कई मुकदमों को टंडनजी को ही देखना पड़ता था। किन्तु टंडनजी की सत्यपरायणता और सच्चरित्रता इस वकालत के पेशे में भी अक्षुण्ण रही। कभी जानबूझकर कोई झूठा मुकदमा आपने नहीं लिया, और न तो किसी झूठी बात का समर्थन ही किया। जो मुकदमे आपके यहां आते थे, उसकी छोटी से छोटी बातों की जानकारी जब तक प्राप्त नहीं कर लेते थे, तब तक विश्राम नहीं लेते थे। और इसी प्रकार प्रस्तुत विषय पर कानून की जितनी भी धाराएं, उपधाराएं या नजीरें होती थीं, उन सबका विधिवत अध्ययन करते थे। इसका परिणाम प्रायः सदैव अनुकूल होता था। ऐसे बहुत कम अवसर आते थे, जिसमें आपके मुवक्किलों को पराजय मिलती थी। कभी-कभी ऐसे भी सन्दर्भ आते थे, जब गरीब मुवक्किलों से बिना फीस लिये ही आप उनकी पैरवी किया करते थे। हाईकोर्ट में तीन-चार वर्ष की प्रैक्टिस के बाद ही आपकी प्रयाग के प्रमुख वकीलों में गणना होने लगी। प्रैक्टिस के साथ ही साथ आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन और 'अभ्युदय' का सम्पादन-कार्य भी करते थे और प्रयाग नगर की सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में भी मुख्य रूप से भाग लेते थे।

सन १९१४ ई० में महामना मालवीयजी के कहने पर आपने नाभा राज्य में कानून-मंत्री पद पर कार्य करने के लिए हाईकोर्ट की वकालत छोड़ दी। और इस पद पर आपने कड़ी योग्यता और दक्षता से कार्य सम्पादन कर

थोड़े ही दिनों में राजा और प्रजा-वर्ग दोनों में अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। बाद में आप वहीं पर विदेश-मन्त्री पद का कार्य देखते रहे, किन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन के एक अधिवेशन में भाग लेने के लिए जब वहां के राजा ने आपको अवकाश देने में आनाकानी की तो आपने चुपचाप अपने पद से त्यागपत्र भेजकर नाभा को छोड़ दिया। बाद में राजा ने आपको वापस बुलाने का बहुतेरा प्रयत्न किया किन्तु आप वापस नहीं गए। यह घटना सन १९३६ की है। नाभा से वापस लौटकर आपने हाईकोर्ट में पुनः प्रैक्टिस आरम्भ की और साथ ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा प्रयाग नगर-पालिका के कार्यों में अधिक समय लगाने लगे।

उन दिनों प्रयाग नगरपालिका में हिन्दुओं की अस्सी प्रतिशत आबादी होने पर भी सदस्यों में मुसलमानों की बहुलता थी। क्योंकि युक्तप्रान्त की असेम्बली ने नवाब महमूदाबाद द्वारा प्रस्तुत किसी बिल के आधार पर मुसलमानों को अधिक सुविधा प्रदान करने का ऐक्ट स्वीकार किया था। प्रयाग हमारे देश के करोड़ों हिन्दुओं के तीर्थो का राजा माना जाता है और इसके संगम पर स्नानार्थ प्रतिवर्ष लाखों की भीड़ होती है। हिन्दुओं के धर्म-ग्रंथों में इसकी बड़ी महिमा है और गंगा तथा यमुना जैसी पुराण-प्रसिद्ध नदियों की उपस्थिति के कारण उसके प्रति हिन्दुओं के हृदय में पूज्य भावना है। किन्तु यहां की नगरपालिका की दशा कुछ विचित्र थी। नगर में हिन्दुओं की पूर्ण उपेक्षा थी और उनके अधिकारों का उपभोग विदेशी अंग्रेज तथा अल्पसंख्यक मुसलमान कर रहे थे।

उन दिनों प्रयाग नगर में अंग्रेजों का बोलबाला था। अल्फ्रेड पार्क में अंग्रेजों के बच्चों के मनोरंजनार्थ एक बैंड क्लब स्थापित किया गया था, जिसके लिए प्रतिवर्ष सहस्रों रुपये व्यय होते थे। इसी प्रकार प्रयाग के फौजी क्षेत्र में नगर पालिका के सहस्रों रुपये जल-कर के रूप में बकाया था, किन्तु किसी भी चेयरमैन में यह साहस नहीं था कि उसकी मांग करें। सन १९१९ ई० में जब टंडनजी प्रयाग नगरपालिका के चेयरमैन चुने गए तो उसकी आंतरिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। आपने बड़ी तत्परता और लगन से उसका कार्य-संचालन किया और कई ऐसे प्रसंग भी उपस्थित हुए जब आपने अंग्रेज शासकों से जमकर मोर्चा लिया और अपने कार्यो द्वारा उनको यह बता दिया कि भारतवर्ष में बहुत अधिक दिनों तक उनकी सत्ता और महत्ता नहीं बनी रह सकती। आपका अधिकांश समय उन दिनों नगरपालिका और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों में ही बीत जाता था और अपनी प्रैक्टिस के लिए बहुत कम समय दे पाते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि परिवार पर उचित व्यय के लिए भी कभी-कभी कठिनाइयां उपस्थित हो जाती थीं।

प्रयाग नगरपालिका में टंडनजी की चेयरमैनी के समय के कई किस्से बड़े रोचक हैं, जिनकी अब तक बड़ी शान से चर्चा की जाती है। पहले प्रयाग के फौजी क्षेत्र में कई वर्षो के बकाया जल-कर की चर्चा की जा चुकी है। टंडनजी जब चेयरमैन हुए और उक्त फाइल आपके सामने रखी गई तो आपको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि अब तक इस बकाया रकम की वसूली के लिए सख्ती क्यों नहीं की गई। आपने पहली बार फौजी प्रशासक को लिखित सूचना भिजवाई कि नगरपालिका का जो रुपया इतने वर्षो से आपके विभाग पर बकाया चला आ रहा है, उसे अमुक तिथि तक अवश्य भिजवा दें। किन्तु उन दिनों फौज, और वह भी अंग्रेजी फौज के प्रशासक को एक भारतीय नागरिक के पत्र का उत्तर देने की क्यों चिन्ता होती। जब कई दिनों तक पत्र का उत्तर नहीं मिला तो आपने एक नोटिस भेजकर उन्हें सतर्क किया कि यदि सात दिनों के भीतर सब रुपया नहीं जमा कर दिया जाता तो जल-कल का सम्बन्ध काट दिया जायगा। किन्तु इस चेतावनी पर भी किसी फौजी अधिकारी ने कोई ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि निर्दिष्ट दिन को उस क्षेत्र में जाने वाले जलकलों का सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया गया और पानी के बिना अंग्रेजी फौज की छावनी में हाहाकार मच गया। फौजी अधिकारी दौड़े-दौड़े आपके पास पहुंचे और आरम्भ में उन्होंने इस असुविधा को पैदा करने के लिए कुछ रौब के साथ बात करने का उपक्रम भी किया, किन्तु टंडनजी ने उन्हें उसी स्वर में उत्तर दिया कि जब तक अधिकांश बकाया रुपया तत्काल और शेष बकाया रुपया सात दिनों के भीतर जमा नहीं कर दिया जाता तब तक जलकल का कनैक्शन ठीक नहीं किया जायगा। अंग्रेजों को झुकना पड़ा और उन्होंने चुपचाप बकाया रुपया निर्दिष्ट अवधि के भीतर ही जमा कर दिया।

इसी प्रकार का एक अन्य सन्दर्भ भी है। प्रयाग में उन दिनों युक्तप्रान्त के गवर्नर का निवास-स्थान था। यद्यपि कुछ दिनों पूर्व से लखनऊ राजधानी बन गई थी; तथापि सामान्यतः यह प्रथा चली आ रही थी कि जब कभी गवर्नर महोदय लखनऊ से प्रयाग के लिए आते थे तो उनके स्नान के लिए गवर्नमेण्ट हाउस प्रयाग का स्नान-सरोवर पीने वाले जल से भरा जाता था। आपकी चेयरमैनी के समय जब ऐसा अवसर उपस्थित हुआ तो संयोगतः उन दिनों प्रयाग की जलवितरण-व्यवस्था के सक्षम न होने के कारण नगर में पानी की कमी का अनुभव किया जा रहा था। सरोवर कोई छोटा-मोटा नहीं था, उसमें हजारों व्यक्तियों के पीने भर के पानी का अपव्यय होता था। फलतः आपने उक्त सरोवर के भरने की मनाही कर दी। प्रयाग आने पर जब यह संवाद गवर्नर के सेक्रेटरी को बताया गया तो वह क्रोध से जल उठा। उसने तुरन्त चेयरमैन के नाम उक्त सरोवर को जल से लबालब भर देने का तीव्र आदेश दिया। जब उक्त आदेश आपके सामने रखा गया तो आपने बड़ी विनम्रता के साथ गवर्नर के सेक्रेटरी को प्रयाग में जल की कमी बताते हुए सरोवर को भरने में असमर्थता प्रकट की। जब आपका यह पत्र सेक्रेटरी के पास पहुंचा तो वह और भी उत्तेजित हो उठा और उसी स्थिति में तत्काल आपके पास पहुंचा। फिर तो जो होना था, वही हुआ। आरम्भ में टंडनजी ने बड़ी विनम्रता से उसे समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया, किन्तु उन दिनों का अंग्रेज और वह भी प्रदेश के के गवर्नर का सेक्रेटरी, एक भारतीय नागरिक की विनम्रता और सौजन्यपूर्ण वार्ता से कैसे सन्तुष्ट हो सकता था। अंत में टंडनजी को भी उसके सामने दृढ़तापूर्ण वाक्य क्रोध की मुद्रा में दुहराना पड़ा कि हम आपके तालाब में एक बूंद जल भी नहीं देंगे, आपको जो कुछ करना हो, जाकर कीजिए। गवर्नर का सेक्रेटरी खिसियाकर वापस लौट आया, और कुछ भी नहीं कर सका।

टंडनजी की चेयरमैनी के समय प्रयाग नगर में अनेक सुधार के कार्य हुए। अनेक चौड़ी-सीधी सड़कें बनी, पार्क बने, विद्यालयों और चिकित्सालयों की दशा में सुधार किया गया तथा स्वच्छता और नगरपालिका की आर्थिक स्थिति में भी सुधार हुआ।

सन १९२५ में पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय के अनुरोध पर आपने उनके द्वारा संस्थापित पंजाब नेशनल बैंक में सर्वोच्च पद स्वीकार किया और लालाजी की मृत्यु तक उस पद पर बने रहकर इस बैंक की स्थिति को इतनी सुदृढ़ और सुनिश्चित बनाया कि वह देश के गिने-चुने बैंकों में हो गया। संभवतः हमारे देश का यह पहला बैंक था, जिसकी व्यवस्था में सारी सत्ता हमारे देशवासियों के हाथों में थी। सन १९२८ ई० के अन्त में जब लालाजी का देहान्त हो गया, तो उनकी अन्तिम इच्छा और विश्ववन्द्य महात्मा गांधी के अनुरोध पर आपने लालाजी द्वारा संस्थापित लोक सेवक मण्डल का अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। पंजाब नेशनल बैंक में सर्वोच्च पद पर होने के कारण उस समय आपको आर्थिक चिन्ता नहीं रह गई थी और समूचा परिवार बड़े सुख और शान्ति के साथ आपके साथ लाहौर में था, किन्तु लोक सेवक मंडल के अध्यक्ष बन जाने पर उसके नियमों के अनुसार शीघ्र ही ऐसी स्थिति आगई कि बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और सुन्दर ढंग से रहन-सहन के लिए कपड़े-लत्ते की व्यवस्था भी उतने पैसों से संभव नहीं थी। स्वयं लालाजी की इच्छा थी, कि लोक सेवक मण्डल के अध्यक्ष बन जाने पर आपको कुछ अधिक धन दिए जाने की व्यवस्था की जाय, किन्तु आपने इसका तीव्र विरोध कर मण्डल के नियमों के अनुसार उतना ही धन लेना स्वीकार किया, जितना उसके अन्य सदस्यों को मिलता था। टंडनजी के इस निश्चय का परिणाम यह हुआ कि आपके समूचे परिवार के सामने भयंकर आर्थिक संकट आकर उपस्थित हो गया। पढ़ाई-लिखाई छूट-सी गई, खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने के कपड़ों के लिए भी कठिनाई उपस्थित हो गई, किन्तु अपने अनेक मित्रों के आग्रहों को ठुकराकर टंडनजी ने किसी से कुछ भी सहायता नहीं ली। उनके बच्चों को खद्दर और पुस्तकों की दूकान पर काम करना पड़ा, कालेजों की पढ़ाई छोड़कर स्वाध्याय करना पड़ा, और धोती-कुर्त्तो की जगह जांघियों और बनियानों पर रहना पड़ा। उनके इस आदर्श त्याग पर महात्मा गांधी ने अपने 'हरिजन' में अगस्त या सितम्बर के १९२९ के किसी अंक में जब एक अग्रलेख लिखा, तो उसे पढ़कर टंडनजी के कायस्थ पाठशाला इण्टर कालेज की पढ़ाई के समय के प्रिंसिपल श्री रामानन्द चटर्जी महोदय ने उन्हें एक लम्बा पत्र लिखते हुए अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की। उनके पत्र की एक पंक्ति का आशय इस प्रकार का था : "मुझे आज

हार्दिक प्रसन्नता है कि जो काम अपने जीवन में मैं नहीं कर सका, उसे मेरे एक शिष्य ने पूरा करके दिखाया।" महात्मा गांधी ने टंडनजी की प्रशंसा में जो लेख लिखा था, उसकी एक पंक्ति का आशय इस प्रकार का था : "टंडनजी ने जो महान त्याग किया है, आशा है, हमारा देश उसकी पात्रता रखेगा।"

कहा जा सकता है कि टंडनजी का गृहस्थ जीवन ऐसा है, जो लाखों करोड़ों व्यक्तियों में से किसी-किसी भाग्यशाली को प्राप्त होता है। आपका विवाह उस समय की परम्परा के अनुसार बाल्यकाल में ही, अर्थात जिस समय आपकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्ष की थी, हो गया था। उस समय आप हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण हुए थे। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखी देवी के पिता श्री नरोत्तमदास खन्ना मुरादाबाद नगर के निवासी थे। उन दिनों कन्याओं की उच्च शिक्षा की प्रथा नहीं थी, आपकी पत्नी सामान्य लिखी-पढ़ी किन्तु एक आदर्श महिला-रत्न हैं। टंडनजी जैसे अलौकिक त्यागी एवं अपने शरीर तथा परिवार की ओर से पूर्णतः निरपेक्ष रहने वाले पति के साथ आपने जो-जो कठिनाइयां उठाई हैं, उनकी जानकारी ऐसे बहुतेरे लोगों को हैं, जो टंडनजी के जीवन-क्रम से थोड़े भी परिचित हैं। बताते हैं, असहयोग-आन्दोलन के दिनों में महीनों नहीं वर्षों तक ऐसी भी स्थिति रही है जब टंडनजी के बच्चों के खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की सुव्यवस्था नहीं रही है। कभी कुछ खाने को मिलता था और कभी कुछ, किन्तु आपने कभी साहस नहीं छोड़ा और न पति या उनके मित्रों को ही कोई उपालम्भ दिया। जब जैसा आ पड़ा वैसा करती रहीं। जब टंडनजी जेल से बाहर होते थे तब तो कोई-न-कोई प्रबन्ध कहीं से होता ही था, किन्तु उनके जेल में रहने पर जब कठिनाइयां बहुत बढ़ जाती थीं, तब भी आपने उफ नहीं किया और गृहस्थी के बोझिल संकट को अकेले ही खींच कर पार किया।

टंडनजी को सात सुपुत्र तथा दो कन्याएं हुई थीं, और ईश्वर की इच्छा है कि उनकी ये नौ सन्तानें पूर्णतः स्वस्थ और सुयोग्य ही नहीं हैं, वरन कई दर्जन पौत्र-पौत्रियां और दौहित्र-दौहित्रियां भी आज तक पूर्णतः स्वस्थ, नीरोग, सुदर्शन और जीवन के विविध क्षेत्रों में अग्रणी पदों पर हैं। सातों पुत्रों में से दो विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर हैं, दो एम० बी० बी० एस० डाक्टर हैं, और अपने व्यवसाय में सुप्रतिष्ठित हैं, एक टाटा में रिसर्च असिस्टेण्ट हैं, एक सयाजी-राव मिल, ग्वालियर में अच्छे पद पर हैं और एक किसी बैंक में अच्छे पद पर थे और अब पद-निवृत्त होकर स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करते हैं। आपकी सभी पुत्रवधुएं खत्री-समाज के सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों की कन्याएं हैं और उच्च शिक्षा-प्राप्त हैं। आपके कई पौत्रों ने विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किए हैं। जब कभी शादी-व्याह के प्रसंगों पर आपका पूरा परिवार एकत्र हो जाता है, तो उस समय की छटा और सुख अवर्णनीय रहता है। सभी पुत्र अपने-अपने स्थानों और समाज में न केवल यशस्वी और सुप्रतिष्ठित पदों पर हैं, वरन नौकरी-चाकरी में टंडनजी की किसी सहायता, सहयोग और सिफारिश के बिना ही अपनी योग्यता, प्रतिभा और अध्यवसाय के कारण वर्तमान स्थिति में पहुंचे हैं।

टंडनजी के स्वभाव की कुछ विशेषताएं ऐसी है, जिनके कारण उनके साथी-संगियों, मित्रों और आश्रितों तथा विशेषकर परिवार के लोगों को सदैव हानि ही उठानी पड़ी है। यह बहुविदित बात है कि आप न तो कभी किसी की सिफारिश करते हैं और न कभी किसी आर्थिक प्रश्न पर तनिक-सा प्रमाद सहन करते हैं। चरित्र की पवित्रता में अर्थ-शुचि को आप विशेष महत्त्व देते हैं। आपके ऐसे अनेक संस्मरण हैं, जिनमें सामान्य दृष्टि से अत्यन्त तुच्छ और उपेक्षा-योग्य आर्थिक प्रश्नों पर आप उलझ गए हैं, और परिवार के लोगों तथा मित्रों और संगी-साथियों को परेशानी में डाल दिया है। आपके परिवार के लोग आपकी इन विशेषताओं से सदैव सतर्क और आतंकित रहते हैं। जिसका परिणाम यह हुआ है कि सभी सन्तानों पर आपके चरित्र की गहरी छाप है। यही कारण है कि परिवार के लोग भी आपसे सदैव उसी तरह डरते रहते हैं, जैसे उनके संगी-साथी और मित्रवर्ग। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि परिवार वालों पर आपका इतना अधिक आतंक रहता है कि कभी किसी आर्थिक प्रश्न पर कोई चर्चा उठाई ही नहीं जाती। टंडनजी को यह क़दापि सह्य नहीं है कि उनके नाम या समाज और राष्ट्र में उनकी उच्च स्थिति की सुविधा उठाकर कभी कोई उनका प्रियजन आर्थिक लाभ का सौदा करे या प्रकारान्तर से भी कोई चर्चा करके स्वयं लाभ उठा सके। अपनी ही

तरह उन्होंने निर्ममता के साथ अपने आश्रितों और प्रियजनों को भी दबाया है। हमारे देश के नेतृवर्ग में ऐसे बहुत कम महानुभाव हैं, जिन्होंने गांधीजी या टंडनजी के समान इस 'असिधाराव्रत' का पालन कर अपने को सुवर्ण के समान खरा सिद्ध किया हो। उनके इस खरेपन का ही यह परिणाम है कि किसी केन्द्रीय मंत्रीपद, राज्य के मुख्यमंत्री-पद अथवा राज्यपाल-पद पर न होते हुए भी, हमारे राष्ट्र में टंडनजी की प्रतिष्ठा आज भी अद्वितीय है। और बड़े-बड़े सिंहासनों पर विराजमान महानुभाव भी उनके समीप आकर या उनका प्रसंग आने पर नतमस्तक हो जाते हैं। अग्नि के समान उनके चरित्र की यह विशुद्धता हमारे राष्ट्र की एक अक्षय निधि है और टंडनजी ने अपने जीवन भर की कठिन तपस्या और प्रेरक साधना से उसकी सदैव रक्षा की है।

टंडनजी का सार्वजनिक जीवन उनके विद्यार्थी-काल से ही आरम्भ हो गया था। जब आप बी० ए० के छात्र थे तभी सन १८९९ की कांग्रेस के अधिवेशन में एक स्वयंसेवक के रूप में भाग लिया था। सन १९०६ में आप डेलीगेट नियुक्त हुए थे और वकालत के दिनों में मुख्यतः कांग्रेस अथवा सार्वजनिक सेवा का कार्य ही आपका मुख्य कार्य था। वकालत तो परिवार के लोगों के किसी तरह भरण-पोषण मात्र की सहायक थी। सन १९२१ ई० में गांधीजी द्वारा संचालित असहयोग-आन्दोलन में भाग लेकर आपने उस वकालत को भी सदैव के लिए त्याग दिया था। यद्यपि उक्त आन्दोलन की समाप्ति के बाद आप भी अपने अन्य सहयोगियों की तरह फिर से वकालत कर सकते थे, किन्तु किसी त्यागी हुई वस्तु को फिर से अपनाने का प्रश्न टंडनजी के जीवन में कभी नहीं आया।

सन १९२३ ई० में गोरखपुर के प्रान्तीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में टंडनजी अध्यक्ष चुने गए थे और उसी समय अखिल भारतीय कांग्रेस की कार्य समिति के भी आप सदस्य थे। सन १९३० ई० में आपने केन्द्रीय किसान संघ की स्थापना की। उस समय हमारे देश में कृषकों अथवा काश्तकारों पर जमींदारों की ओर से बड़ी ज्यादतियां होती थीं। अंग्रेजी शासन के सुदृढ़ स्तम्भ के रूप में जमींदारों का सर्वत्र आतंक रहता था। आपने उसी समय जमींदारी-उन्मूलन का नारा लगाया और किसानों के उत्थान तथा विकास के लिए उसे सबसे आवश्यक चीज बतलाया। उस समय कांग्रेस में समाजवादी पार्टी का भी जन्म नहीं हुआ था। सन १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में आपने खुलकर भाग लिया। सन १९३२ ई० में सत्याग्रह-आन्दोलन बन्द कर दिया गया। सन १९३४ ई० में पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस की बैठक में आपने महात्मा गांधी के केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में भाग लेने वाले प्रस्ताव का विरोध किया। आपके साथ आचार्य कृपलानी भी उक्त प्रस्ताव के विरोधी थे, किन्तु प्रस्ताव पास हुआ और केन्द्रीय पार्लमेण्टरी बोर्ड के संगठन का कार्य आरम्भ हुआ। आपके राजनीतिक गुरु महामना मालवीयजी इस बोर्ड में थे और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि आप भी बोर्ड में रहें, किन्तु आपने अपने स्थान पर पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त का नाम प्रस्तुत किया। इसी बीच डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद कांग्रेस के राष्ट्रपति चुने गए और उन्होंने आपको कांग्रेस कार्यसमिति का सदस्य चुना। सन १९३७ ई० में कांग्रेस ने जब प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया तो पण्डित जवाहरलाल नेहरू के विशेष आग्रह पर आपने इलाहाबाद नगर से उक्त चुनाव लड़ने का निश्चय किया। आपकी अद्वितीय लोकप्रियता का प्रमाण यह मिला कि प्रयाग नगर से आप निर्विरोध प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। उक्त चुनाव के बाद अपने मित्रों के आग्रह से विवश होकर प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा का अध्यक्ष-पद (स्पीकर पद) आपने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि राजनीति में यथापूर्व भाग लेते रहेंगे। संभवतः यह ऐसी शर्त थी, जिसे किसी अन्य व्यक्ति के लिए न हीं स्वीकार किया जा सकता था; क्योंकि स्पीकर के लिए किसी पार्टी-विशेष की राजनीति में भाग लेना वर्जित था। किन्तु टंडनजी ने अपनी पद-मर्यादा अद्भुत ढंग से निभाई। उस समय प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में कांग्रेस पार्टी की प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी पार्टी मुस्लिम लीग के भी सदस्य होते थे, किन्तु टंडनजी के कार्य-काल में कभी ऐसा अवसर उपस्थित नहीं हुआ जब उक्त पार्टी के लोगों को भी इनके विरुद्ध कुछ कहने का संयोग मिला हो। आपने अपने स्वभाव के अनुकूल बड़े ऊंचे आदर्शों पर अपने पद की मर्यादा-रक्षा की।

द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को बलात सम्मिलित किए जाने के विरोध में सन १९३९ में जब उक्त प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएं, अपने-अपने मंत्रिमण्डलों के साथ भंग होगई, तो आपने भी अपने पद से त्याग-

पत्र दे दिया। सन १९४० में आपको पुनः जेलयात्रा करनी पड़ी और लगभग एक वर्ष तक नजरबंद रहने के बाद आपको छोड़ा गया। इसके एक वर्ष बाद अगस्त सन १९४१ का तूफान मचा, जिसमें आप पुनः गिरफ्तार किये गए। जेल में जब आपका स्वास्थ्य बहुत गिरने लगा तो डाक्टरों की सलाह पर शासन ने आपको छोड़ने का निश्चय किया। सरकार के इस निश्चय का पता जब आपको बताया गया तो आपने इसका तीव्र विरोध किया। किन्तु सरकार को विवश होकर १९४४ ई० में अन्य नेताओं के कुछ पूर्व ही आपको कारामुक्त करना पड़ा। किन्तु बाहर आकर अपने गिरते स्वास्थ्य की चिन्ता छोड़कर आपने देशभर में कांग्रेस की बिखरी और छिन्न-भिन्न शक्ति के पुनर्गठन का कार्य आरम्भ किया। कांग्रेस तो बन नहीं सकती थी, अतः कांग्रेस प्रतिनिधि असेम्बली के नाम से एक नई संस्था की स्थापना कर आपने उसके द्वारा कांग्रेस के कार्यों को बहुत आगे बढ़ाया। आपके कार्यों से, सन ४२ के दमन से आतंकित और निराश जनता में आशा की लहर दौड़ गई और लोगों में खुलकर पुनः कांग्रेस का काम करने का साहस आया। सन १९४५ ई० में जब कांग्रेस पर से नियंत्रण हटा लिया गया तो आपकी इस संस्था का भी कांग्रेस में विलय हो गया।

सन १९४२ के आन्दोलन में अनेक नवयुवकों को रेल की पटरी उखाड़ने, स्टेशन जलाने या अन्य सरकारी इमारतों की तोड़फोड़ में फांसी और आजीवन कारावास की सजाएं हुई थीं। बाहर आकर टंडनजी ने उनके मुकदमों के लिए सब प्रकार की सहायता की और अनेक को फांसी के तख्तों से नीचे उतार लिया। उन राजनीतिक पीड़ितों के परिवारों के पुनर्वास में भी आपने अपने पास से बड़ी सहायता की। सन १९४६ में आप पुनः प्रयाग नगर से व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने गए और मित्रों के आग्रहवश स्पीकर का पद पुनः ग्रहण किया। इसी समय ब्रिटिश घोषणा के अनुसार भारतीय संविधान परिषद का भी चुनाव हुआ और उसके भी आप सदस्य चुने गए।

सन १९४७ ई० में मुसलिम लीग के दुराग्रह तथा ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों के कारण हमारे नेताओं और विश्ववन्द्य महात्मा गांधीजी को भी जब देश के विभाजन का दुःखद प्रस्ताव स्वीकार करने को विवश होना पड़ा तो आपने उसका खुले शब्दों में तीव्र विरोध किया, किन्तु विधि की विडम्बना को कौन रोक सकता है। देश का विभाजन होकर ही रहा और उसके परिणामस्वरूप जो भीषण रक्तपात और दुष्काण्ड हुए, उनका आपके हृदय और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा। कांग्रेस कमेटी की बैठक में देश-विभाजन के उक्त प्रस्ताव के ऊपर आपने जो वक्तृता दी थी उसके कुछ अंशों का उद्धरण यहां असमीचीन न होगा :

"इस बैठक की कार्यवाही वन्देमातरम् के गायन से आरम्भ हुई है। वन्देमातरम् का गाना सुनकर मेरे हृदय में पीड़ा की एक लकीर खिच गई। सोचने लगा कि 'सुजलाम्, सुफलाम्, वरदाम्' आदि विशेषणों से जिस माता की वन्दना हम यहां कर रहे है, क्या इस प्रस्ताव को पास करने के बाद भी हम सचमुच फिर से उस माता से वर मांगने के अधिकारी होंगे ?

"आज हम अपनी उसी माता को काटने और उसकी अर्थी को उठाने के लिए जैसे यहां बैठे हैं। क्या ऐसी आवश्यकता आ पड़ी है कि जिससे हम स्वयं अपने देश के टुकड़े करने जा रहे है ?" आदि-आदि।

आज भी टंडनजी देश के विभाजन-सम्बन्धी उक्त प्रस्ताव को इस देश के इतिहास में सबसे बड़ी और दुःखदायी भूल मानते है।

सन १९५० में आप अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए और इस चुनाव में आपको जिन अजेय शक्तियों के विरुद्ध विजय मिली, उनकी चर्चा करना अप्रिय और अनावश्यक है। कांग्रेस-अध्यक्ष होने के पूर्व ही आपने स्पीकर-पद त्याग दिया था। कांग्रेस-अध्यक्ष होने के बाद आपने देशव्यापी दौरा किया और कांग्रेस की शक्ति को संगठित करने का बड़ा प्रयास किया। प्रयाग नगर के निवासी अपने जीवनभर उस दृश्य को नहीं भूल सकते, जिसे उन्होंने टंडनजी के कांग्रेस-अध्यक्ष होने के बाद प्रयाग नगर में उनके प्रथम आगमन पर आयोजित उल्लासमय प्रदर्शनों में देखा था। प्रयाग के वृद्ध नागरिकों का कथन है कि वैसा दृश्य, वैसी भीड़-भाड़, उतने तोरणों और मांगलिक द्वारों की रचना और वैसी प्रसन्नता का वातावरण प्रयाग नगर के बीच कभी नहीं देखा गया। सारा नगर कुम्भ के महान मेले

की तरह झूम उठा था।

किन्तु थोड़े ही दिनों बाद जिन कारणों से टंडनजी को उक्त पद त्याग कर अलग हो जाना पड़ा, वह प्रसंग कम खेदजनक नहीं है। कुछ कारणों से उसकी चर्चा करना यहां अनावश्यक है। टंडनजी के जीवनक्रम में उस घटना का सर्वाधिक महत्त्व है। यह कहा जा सकता है कि उसके बाद से ही उन्होंने राजनीतिक महत्त्व के पदों पर लात मार दी। उनके पास राज्यपाल बनने के प्रस्ताव आए, उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री पद पर चुनाव लड़ने के लिए मित्रों ने आग्रह किया, किन्तु उन्होंने सक्रिय राजनीति से जैसे अपना हाथ ही खींच लिया हो। यद्यपि आज भी वह कांग्रेस में हैं, और कांग्रेस दल की ओर से ही अभी कुछ दिनों पूर्व तक वह राज्यसभा के और उसके पूर्व लोकसभा के सदस्य भी रहे हैं, तथापि कांग्रेस के किन्हीं अन्य कार्यों में उन्होंने सक्रिय भाग लेना छोड़ दिया है।

इधर दुर्भाग्यवश कुछ वर्षों से उनके स्वास्थ्य की दशा गिर गई है। इधर कई महीनों से वह शय्यारूढ़ हो गए हैं, किन्तु उनका मस्तिष्क अब भी पूर्ववत चैतन्य और प्रबुद्ध है। उनके हृदय में राष्ट्र और समाज के हितों की अब भी चिन्ता है। जब वह लोकसभा में थे तो हिन्दू उत्तराधिकार बिल, खाद्य समस्या, भाषावार राज्यों की रचना, तिब्बत पर चीन का अधिकार, ग्रामों का पुनर्गठन, हिन्दी आयोग आदि विषयों पर बड़े जोरदार भाषण दिए थे, जिनकी सारे देश में चर्चा होती थी। आज भी जब कभी वह किसी विषय पर सोचते हैं या कुछ कहते हैं तो यह मानना पड़ता है कि उनके चिन्तन में देश के बहुसंख्यक वर्ग का हित निहित है।

टंडनजी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। उनकी वेशभूषा, सादगी और तेजस्विता का प्रभाव दर्शकों पर सद्यः पड़े बिना नहीं रहता। उनके दुबले-पतले, किन्तु ओज और तप से भरे फुर्तीले शरीर में प्राचीन ऋषियों की वाणी और अमन्द तेजस्विता का विचित्र संयोग है। उनका सरल, सौम्य, ओजस्वी मुखमण्डल, उनकी सत्यनिष्ठा, तपस्या और साधना से सदैव सुप्रसन्न रहता है। उनकी आंखों में दार्शनिकों-जैसी गहराई और सच्चे वैष्णवों-जैसी करुणा उमड़ती है। उनकी ऋषियों-सी ऋजुता, मुनियों-सी साधना और तपस्या, सम्राटों-सी मनस्विता, महान वीरों-सी दृढ़ता और निर्भीकता तथा प्रत्येक विषय पर अपने मौलिक ढंग से सोचने की विशेषता की सब पर छाप पड़ती है। वह मार्मिक प्रसंगों पर सहज ही अश्रुविगलित हो उठते हैं। भावपूर्ण कविता की कोई पंक्ति हो, त्याग और बलिदान का कोई संदर्भ हो, राष्ट्र की संभावित क्षति की कोई चर्चा हो, वह नवनीत के समान द्रवित हो उठते हैं। किन्तु दूसरी ओर प्रत्येक प्रसंग को बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कसते हुए आगे का मार्ग-निर्धारण करना उनका स्वभाव है। वह शास्त्रों अथवा शास्त्रीय वचनों में आस्था तो रखते ही हैं किन्तु 'समयभेदेन धर्मभेदः' उनका सिद्धान्त है। वह अतीत की पवित्र और प्रेरक वस्तुओं के पुजारी हैं, किन्तु वर्तमान और विज्ञान की यथार्थताओं और भविष्य की कल्पनाओं के साथ उसके समन्वय के पक्षपाती हैं। उनकी राजनीतिक विचारधारा धार्मिक अथवा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को छोड़कर अलग नहीं जा सकती। फलतः कांग्रेस में रहते हुए भी वह गोवध-निषेध के कट्टर पक्षपाती रहे हैं और राजनीतिक जीवन में भी व्यक्तिगत आचरणों में पवित्रता और ऊंचे आदर्शों को त्याग कर चलना राष्ट्र के लिए घातक समझते हैं। अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं के पालन में उन्होंने कभी भी किसी स्वार्थ या प्रलोभन के वश कोई शिथिलता नहीं बरती। यह सत्य है कि अपने स्वभाव की इन विशेषताओं के कारण उन्होंने कठिनाइयां भी उठाई हैं, लौकिक दृष्टि से हानि भी उठाई है, किन्तु भारतीय जीवन में तपस्या और साधना के पथिकों के लिए यही मार्ग निर्दिष्ट किया गया है और टंडनजी ने इसी मार्ग को अपनाया है।

टंडनजी का शरीर उनकी साधना और प्रयोगों का परीक्षण-स्थल रहा है। अपने विचारों और मान्यताओं के लिए कभी-कभी उन्होंने गम्भीर शारीरिक संकट भी उठाए हैं। वह प्रकृत्या प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति पर आस्था रखते हैं और उनके गत जीवन का अधिकांश समय इसी पद्धति के अनुसार बीता भी है। जब कभी वह अस्वस्थ हुए हैं, अपना वश चलते हुए उन्होंने कोई औषधि नहीं ली है। एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति में इंजेक्शनों के वह जिस तरह विरोधी हैं, उसी प्रकार आयुर्वेद के रसों और भस्मों के भी विरोधी हैं। यह सुप्रसिद्ध है कि कई बार इंजेक्शनों के प्रतिबन्ध के कारण उन्होंने कई सुप्रसिद्ध मेलों की यात्रा स्थगित कर दी है और कई बार प्राण-संकट उपस्थित होने पर भी कोई

औषधि नहीं ली है। महीनों यदि फलों और तरकारियों पर रहकर बिताए हैं तो महीनों धूप में सिकी हुई रोटी और शाक-सब्जियों पर। फल भी वह वही लेते हैं, जो सर्वसामान्य को सुलभ हों। दूध-दही और मक्खन का प्रयोग उन्हें सदा वर्जित रहा है और चमड़े का जूता छोड़े हुए तो युग बीत गए। यह प्रसिद्ध है कि प्रयाग नगरपालिका की चेयरमैनी अथवा हाईकोर्ट की वकालत की प्रैक्टिस के समय उन्होंने सूत अथवा केतली की पट्टी के बने हुए जूतों से अपना काम चलाया है। उस समय मुर्दा जानवरों के चमड़े अथवा रबर के जूतों का प्रचलन नहीं हुआ था। अपने कपड़े-लत्तों के बारे में भी उनका रवैया सदा ऐसा ही रहा है। विशुद्ध खादी की धोतियां, कुरते, अचकनें, बनियानें, जांघिया और तौलिया वह प्रयोग में लाते हैं। शरीर के परम असमर्थ होने, अर्थात अभी कुछ महीनों पूर्व, तक अपने सारे कपड़े वह अपने हाथों साफ करते रहे हैं। उनके कपड़ों का इतिहास भी कम रोचक नहीं है। उनकी ऊनी अचकनों में से एक-आध उस समय की भी हैं, जब वह हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करते थे। साधारण धोतियां भी वह प्राय: दस वर्ष चलाते हैं। घर में वह जांघियों का इस्तेमाल करते हैं और ये जांघिये, उनकी पुरानी धोतियों से बनाए जाते हैं।

किन्तु अपने ऊपर अपव्यय न होने देने का यह सिद्धान्त अपने मित्रों अथवा अतिथियों के लिए नहीं है। उस समय उनके खिलाने-पिलाने का शौक देखते ही बनता है। जब उनके घर कोई अतिथि आ जाता है तो ऐसा लगता है मानो वह प्रत्येक सुस्वादु भोजन के पारंगत हैं। मित्रों अथवा जरूरतमंद लोगों की आर्थिक सहायता वह सदैव आवश्यकता अथवा याचना से अधिक मात्रा में करते हैं। अपने लिए एक-एक धेले का हिसाब रखने वाली उनकी कृपणता उस समय न जाने कहां छिप जाती है। सार्वजनिक जीवन में टंडनजी ने जितने अधिक निर्धन छात्रों, निराश्रित विधवाओं, अल्पवित्त कन्याओं के पिता तथा दैवी विपत्ति में ग्रस्त मित्रों की आर्थिक सहायता की है, उतनी कोई दानवीर सेठ-साहूकार ही कर सकता था। अपने कितने मित्रों को वह आज भी चुपचाप सहायता भेजते रहते हैं। और उस समय उनकी नाराजगी का पता लगता है जब कभी उनकी ऐसी सहायताओं की चर्चा होती है। ऐसी सहायता वह गुप्त भाव से करते रहते हैं और उसे सदैव गुप्त ही रखना चाहते हैं।

टंडनजी की यदि कोई जीवन-साधना है तो वह राष्ट्र और हिन्दी की सेवा है। राष्ट्र और हिन्दी के लिए ही उनके जीवन का अधिकांश समय बीता है। अपने शरीर और परिवार की चिन्ता छोड़कर उन्होंने इन दोनों की सेवा की है और इन्हीं दोनों के लिए आज भी चिन्तित रहते हैं। राष्ट्र की सेवा के लिए अपने अनेक सक्षम साथियों पर उनका विश्वास है; किन्तु जिस ढंग से वह राष्ट्र का निर्माण देखना चाहते हैं, वैसा बहुत कम हो रहा है, जिसकी उन्हें चिन्ता रहती है। और हिन्दी की चिन्ता तो उनके शरीर के साथ ही जायेगी। दुर्भाग्यवश उनकी प्राणप्रिय संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन पर आज वैधानिक विपत्ति के बादल छाये हुए हैं। उनका स्वप्न था कि आज स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष में सम्मेलन द्वारा हिन्दी-उत्थान के बड़े-बड़े कार्य होते, किन्तु यह स्वप्न पूरा नहीं हो पा रहा है। इसी प्रकार हिन्दी के मार्ग में अनुदिन आने वाली बाधाएं भी उनके लिए कम चिन्ताकारक नहीं हैं। किन्तु फिर भी वह महान आशावादी हैं। आज भी अपनी शक्ति और साधनों का उपयोग वह इन्हीं कामों में करते रहते हैं। अपनी औषधि या उपचार की अपेक्षा अधिक ध्यान वह इन्हीं बातों पर देते हैं।

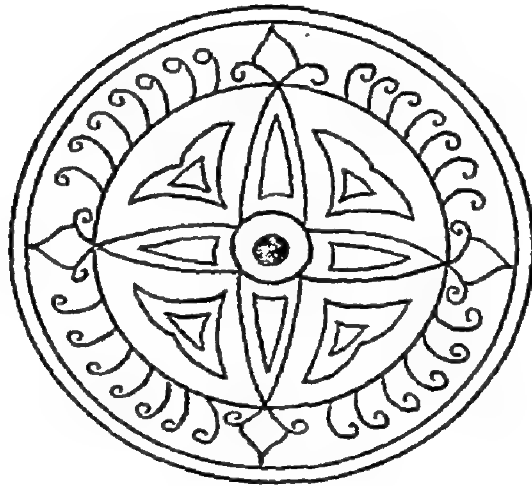
अब उनके स्वभाव की एक विशेषता की ओर चर्चा करके मैं अपना लेख समाप्त करता हूं। टंडनजी को अपने जीवन-क्रम में जिस एक बात से चिढ़ है, वह है आत्मप्रशंसा या आत्मोपाख्यान। अपने सम्बन्ध में प्रशंसा की बातें न वह सुनना चाहते हैं और न प्रसंग आने पर सुनाना ही चाहते हैं। अभिनन्दनादि से भी वह बराबर कतराते रहे हैं। कुछ ही वर्ष बीते, अभी एक बार प्रयाग के एवं देश के प्रमुख साहित्यकारों ने उनके अभिनन्दन का एक विशाल आयोजन रचा था। काम कुछ आगे भी बढ़ गया था किन्तु उन्होंने न केवल उसमें भाग न लेने का ही निश्चय किया, वरन उन मित्रों तथा शुभैषियों को बलात रोका भी। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित इस समारोह की सूचना सर्वप्रथम मुझे जब मिली और मैंने कुछ आवश्यक सूचनाओं और सामग्रियों के लिए उन से याचना की तो इन्होंने मुझे यह कहकर अनुत्साहित किया कि "उन्हें (आयोजकों) लिख दो कि ऐसे किसी भी समारोह में मैं भाग नहीं लूंगा। उन्हें अपनी कार्यशक्ति किसी रचनात्मक कार्य में लगानी चाहिए। मैं अपना अभिनन्दन नहीं कराना चाहता और न

मुझे इन अभिनन्दन-ग्रंथादि के प्रति कोई आसक्ति ही है। ये सब व्यर्थ के काम हैं", आदि-आदि। मैं एक-आध बार तो निराश होकर वापस चला आया, किन्तु जब कभी मैंने उनसे इसकी चर्चा की तब बराबर मुझे वही वाक्य सुनने को मिले। आज के इस प्रचारात्मक युग में टंडनजी के-समान आत्मनिरपेक्ष किन्तु आत्मबलिदानी कितने सुपुत्रों को हमारी राष्ट्रभूमि ने जन्म दिया है, जो

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा गौरवं घोररौरवम्।
मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव॥

को अपने व्यक्तिगत जीवन में चरितार्थ करते दिखाई पड़ते हैं।

परमात्मा से प्रार्थना है कि राष्ट्र और राष्ट्रभारती के अभ्युत्थान और कल्याण के लिए उनके इस यशस्वी पुत्र को चिरारोग्य प्राप्त हो।



यशस्वी जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियां

(संकलन)

जन्म—अधिक श्रावण मास, कृष्ण पक्ष, द्वितीया, मंगलवार, सौर १८ कर्क, सम्वत १९३९ विक्रमी, तदनु-१ अगस्त, सन १८८२ ई०।

विवाह—आयु के १५वें वर्ष में, हाई स्कूल परीक्षा के उपरान्त ज्येष्ठ मास में।

१८९९ के कांग्रेस लखनऊ-अधिवेशन में स्वयंसेवक।

प्रथम सन्तान : सन १९०० में।

सन १९०५ में काशी-कांग्रेस के अध्यक्ष श्री गोखलेजी के अंगरक्षक।

सन १९०६ में कलकत्ता की कांग्रेस में प्रतिनिधि।

वकालत : १९०६ से छोटी अदालत में, १९०८ से इलाहाबाद हाईकोर्ट में।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री : १० अक्तूबर १९१० को सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन काशी में हुआ। उसी में आप सम्मेलन के प्रधान मंत्री चुने गए।

सन १९१४ में नाभा रियासत के कानूनी सचिव तथा विदेशमन्त्री हुए। वहां १९१६ तक रहे।

सन १९१८ में इलाहाबाद में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की।

इलाहाबाद म्यूनिसपल बोर्ड के चेयरमैन : १९१९ में।

७ दिसम्बर, १९२१ में कांग्रेस स्वयंसेवकों के प्रवन्धक होने के अपराध में गिरफ्तार हुए और डेढ़ वर्ष की सजा हुई।

सन १९२३ में प्रान्तीय कांग्रेस के गोरखपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष।

१९२३ में कानपुर में हुए सम्मेलन के १३वें अधिवेशन के सभापति।

पंजाब नेशनल बैंक से सम्वन्ध : पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय के कहने पर मई, १९२५ में लाहौर-स्थित प्रधान कार्यालय में संयुक्त सेक्रेटरी। कुछ समय बाद सेक्रेटरी तथा जनरल मैनेजर, अगस्त १९२९ तक।

लोक सेवक मंडल के अध्यक्ष : जनवरी १९२९ में।

१९३० में केन्द्रीय 'किसान संघ' की स्थापना की।

१९३० में बस्ती जेल में, ३ मास की सजा तथा जुर्माना।

१९३१ में गोंडा जेल में रहे।

१९३२ में गोरखपुर जेल में रहे।

१९३७ में युक्तप्रान्तीय विधान सभा के अध्यक्ष।

अप्रैल, १९४० में गिरफ्तार व नजरबन्द, नैनी व फतहगढ़ जेल में।

साल भर बाद रिहाई और ९ अगस्त, १९४२ को पुनः गिरफ्तार।

लगभग २६ महीने बाद सन १९४४ में अस्वस्थता के कारण रिहा।

१९४६ में प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य चुने गए और बाद में अध्यक्ष।

१९४७ में हिन्द रक्षक दल की स्थापना की।

जुलाई, १९४८ में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष।

१९५० में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष।

१९५१ में उसी कांग्रेस-अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दिया।

१९४६ में प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य चुने गए और बाद में अध्यक्ष।

जुलाई, १९४८ में प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष।

१९५० में अ० भा० कांग्रेस के अध्यक्ष।

कुछ विशेष घटनाएं

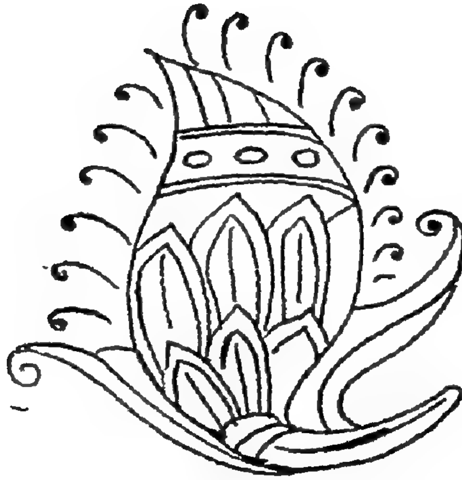
१९०५ में बंगभंग-आन्दोलन के समय विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के सिलसिले में चीनी खाना छोड़ दिया और खंडसारी का प्रयोग करने लगे। कुछ वर्ष बाद खंडसारी का उपयोग भी छोड़ दिया और केवल गुड़ तथा लाल शकर का उपयोग करने लगे।

१९०७ में चमड़े का जूता पहनना छोड़ दिया।

सन १९२१-२२ में लखनऊ जेल में नमक खाने का परित्याग।

१९०७-८ में इलाहाबाद के 'अभ्युदय' का अवैतनिक सम्पादन।

१९१८ में इलाहाबाद में हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना और उसके प्रथम आचार्य।



अभिनन्दन !

श्री सोहनलाल द्विवेदी

आज युगों के बाद, राष्ट्र में जनता की हुंकार उठी,
जय भारत की, जय गांधी की अंबर तक झंकार उठी।
मेरा कौन, कौन तेरा है, चोटी पर ललकार उठी,
कोटि करों ने तुझे वर लिया, हर्ष-ध्वनि की ज्वार उठी।
जय यह तेरी नहीं, विजय है यह जनमत की, बहुमत की,
जय यह तेरी नहीं, विजय है यह स्वतंत्र नव भारत की।
बन उत्तर प्रदेश का गर्जन तू जग को ललकार चुका,
बन भाषा का भाग्य-विधाता कर मां का शृंगार चुका।
गंगा यमुना अमृत दुग्ध दे तुझको बहुत दुलार चुकीं,
गोदावरी गोद लेने को तुझको आज गुहार उठी।
आगे बढ़, सबसे आगे, प्रत्यंचा में टंकार हुई,
जननी की प्रतिमा सँवारने तेरी दूर पुकार हुई।
ऐ मेरे राजर्षि ! अधिक इससे क्या होगा अभिनंदन !
नहीं भक्त ही, पर विभक्त भी करते हैं तेरा वंदन !
तू सुमेरु-सा रहा अचल ही वही पवन झंझा आंधी,
तेरा मस्तक नहीं झुका तेरे प्रण पर, मेरा गांधी !!
पा तेरा अनुराग त्याग शाश्वत हिलोर ले तरुणाई !
भर उमंग, फहरा तिरंग-ध्वज बढ़े राष्ट्र ले अंगणाई !



सम्पादक—
नगेन्द्र
विजयेन्द्र स्नातक

सम्पादकीय

राजर्षि अभिनन्दन ग्रंथ के साहित्य खंड में हिन्दी भाषा और साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखकों के लेख संकलित हैं। इन लेखों के चयन में हमने विद्वान् लेखकों की अभिरुचि को ही प्रमाण माना है। हिन्दी साहित्य के एक सहस्र वर्ष के दीर्घकालीन इतिहास में साहित्यिक प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, काव्यरूपों और अभिव्यंजना-शैलियों का इतना वैविध्य है कि उन सबका, परिमित पृष्ठों में एकत्र समाहार करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारा उद्देश्य भी अभिनन्दन-ग्रंथ में हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक लेखा-जोखा प्रस्तुत करना नहीं रहा है, अतः लेख संग्रह करने में ऐसी किसी योजना को सामने नहीं रखा है। फिर भी इस खंड के निबन्धों की विषय-सूची इतनी व्यापक और विशद है कि उसकी परिधि में आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की विविध प्रवृत्तियों का पर्यालोचन सहज रूप में आ गया है।

हमारे अनुरोध पर जिन विद्वान् लेखकों ने अपने लेख भेजकर इस पवित्र अनुष्ठान में सहयोग दिया है, हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता और आभार प्रकट करते हैं।

हिन्दी के आदिकाल का शैव साहित्य

डा० माताप्रसाद गुप्त

'प्राकृत पैंगल' पुरानी हिन्दी के उन आकर ग्रंथों में से है जिन पर हमारा ध्यान अभी तक यथेष्ट रूप में नहीं गया है। कुछ पूर्व तक इसके दो संस्करण प्रकाशित थे : एक १८९५ ई० में छपा निर्णयसागर प्रेस बम्बई का था, और दूसरा १९०२ ई० में छपा श्री चन्द्रमोहन घोष द्वारा सम्पादित बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी का था। दोनों संस्करण इस समय अप्राप्य हो गए थे और यह प्रसन्नता की बात है कि इसका एक संस्करण, कुछ ही मास हुए, डा०भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित होकर वाराणसी की प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी (प्राकृत ग्रन्थ-परिषद) द्वारा प्रकाशित हुआ है।

'प्राकृत पैंगल' में प्राकृत में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण देते हुए १६० के लगभग उदाहरण दिये गए हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर इस प्राकृत का रूप पुरानी हिन्दी से बहुत मिलता-जुलता है, जैसा बाद में उद्धृत छन्दों से स्वतः ज्ञात होगा। इन छन्दों में से जिनका रचना-काल प्रायः निश्चित माना जा सकता है, सबसे प्राचीन कदाचित वे हैं जो राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' से लिये गए हैं,[1] जिसका रचना-काल १००० ई० के लगभग होना चाहिए।[2] इसी प्रकार सबसे बाद के छन्दों में वे आते हैं जो हम्मीर के सम्बन्ध के हैं, जिनका प्राणान्त अलाउद्दीन के साथ हुए युद्ध में १३०१ ई० में हुआ था।। इस प्रकार 'प्राकृत पैंगल' में उदाहरणों के रूप में दिये गए छन्द प्रायः १००० से १३०० ई० के बीच रचे गए प्रतीत होते हैं।

हिन्दी साहित्य के इन तीन-सौ वर्षों का इतिहास अब भी अंधकार में है। इसलिए 'प्राकृत पैंगल' हिन्दी साहित्य के इस आदिकाल को जानने-समझने के लिए एक अत्यंत मूल्यवान साधन है। इसी दृष्टि से यहां 'प्राकृत पैंगल' के उन छंदों पर विचार किया जा रहा है जिनमें शिव अथवा पार्वती से सम्बन्धित के कथन आते हैं। ऐसे शब्द बत्तीस हैं और उदाहरण के लिए दिये हुए समस्त छन्दों के २० प्रतिशत हैं। फलतः शिव-पार्वती-विषयक इन शब्दों पर विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता है। इन छन्दों को देखने पर लगता है कि हिन्दी के आदिकाल में जिस प्रकार जैन काव्य लिखे गए, बौद्ध काव्य-रचना हुई, नाथ-पंथ का साहित्य लिखा गया, उसी प्रकार कुछ-न-कुछ शैव साहित्य भी रचा गया। अंतर यह पड़ा कि जैन, बौद्ध और नाथ-साहित्य भांडारों, विहारों और सम्प्रदायों में सुरक्षित रह सके, पर यह शैव साहित्य धीरे-धीरे लुप्त हो गया।

ये छन्द कई प्रकार के हैं : कुछ छन्द तो शिव-पार्वतीचरित से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ शिव-पार्वती-वन्दना के हैं, कुछ उनसे की गई विनय या याचना के हैं और कुछ इस प्रकार के हैं जिनमें यह कहा गया है कि शिव-पार्वती

---

१. प्राकृत पैंगल २. १०७, २. १५१, २. १८७, २. १८६, २. २०१।

२. कलचुरि-नरेश युवराजदेव (द्वितीय) के समय का बिल्हारी (जिला जबलपुर) का एक शिलालेख नागपुर-संग्रहालय में है जिसका एक अंश किसी सिरक की रचना है। इस अंश में उसने राजशेखर का उल्लेख किया है। इस लेख में तिथि नहीं दी हुई है, न युवराजदेव की निश्चित तिथियां ज्ञात हैं। किन्तु कीलहार्न का, जिन्होंने उक्त शिलालेख का सम्पादन किया है, मत है कि यह लेख १० वीं शताब्दी ई० के अन्त अथवा ११वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ का होना चाहिए। (इपिग्राफिया इंडिका, भाग १, पृष्ठ २५१-२७०)

पाठक-श्रोता का कल्याण करें। नीचे इन चारों प्रकार के छन्दों को 'प्राकृत पैंगल' के श्री घोष द्वारा सम्पादित उपर्युक्त संस्करण से उद्धृत किया जा रहा है और सुविधा के लिए उनका हिन्दी में आशय भी साथ-साथ दिया जा रहा है।

चरितात्मक छन्द

(१) १.३: भाई रूए हेश्रो हिण्णो जिण्णो श्र वुड्ढश्रो देश्रो।
संभुं कामंती गोरी सा गहिलत्तणं कुणइ ॥

"गौरी का वरण करने के लिए बारात को लेकर आये हुए वर महादेव को देखकर गौरी की सखियां कहती है, हे सखी, देव (महादेव) रूप में हेय, हीन, जीर्ण तथा वृद्ध हैं; ऐसें शंभु (के वरण) की कामना करती हुई वह गौरी पागलपन कर रही है।"

(२) २.१२०: बालो कुमारो स छ मुंडधारी।
उप्पाउ हीणा हउ एक्क णारी।
अहंनिसं (अहण्णिसं) खाहि विसं भिखारी।
गई भविस्ती किल का हमारी।

पार्वती अपने पारिवारिक जीवन पर दृष्टिपात करते हुए चिन्ता कर रही हैं "कुमार (कार्तिकेय) बालक है, और वह भी छः सिरों का है, मै उपायहीना अकेली नारी हूं, (मेरा भर्त्ता) दिन-रात विष खाता है और भिक्षुक है, अतः मेरी क्या गति होने वाली है?"

(३) २.२०९: पहु दिज्जिअ वज्जअ सिज्जिअ टोप्पर
कंकण वाहु किरीट सिरे।
पइ कण्णहि कुंडल णं रइ मंडल
ठाविअ हार फुरंत उरे।
पइ अंगुलि मुद्दरि हीरहि सुंदरि
कंचण रज्जु सुमज्झ तणू।
तसु तूणउ सुंदर किज्जिअ मंदर
ठावह बाणह सेस धणू।

त्रिपुर-दाहोद्यत शिव का वर्णन किया जा रहा है: प्रभु (महादेव) ने वज्र से निर्मित टोप (शिरस्त्राण) धारण किया, वाहुओं में कंकण तथा सिर पर किरीट पहना। प्रत्येक कान में उन्होंने (ऐसा) कुण्डल (पहिना) जो मानो रविमण्डल हो और उस पर स्फुरित होता हुआ हार स्थापित किया। प्रत्येक उंगली में उन्होंने हीरे की सुन्दर मुद्रिका (पहिनी) और शरीर के मध्य में (कटि में) उन्होंने कांचन की रस्सी (वांधी), उन्होंने मन्दर को सुन्दर तूण (तरकस) वनाया और शेष के धनुष पर (शेष को धनुष वनाकर) (उस पर) वाण स्थापित किया।

डा० भोलाशंकर व्यास ने लिखा है कि यह किसी युद्धोद्यत राजा की सज्जा का वर्णन है।[1] अर्थ देते हुए उन्होंने छन्द के चतुर्थ चरण का अर्थ कदाचित भूल से नहीं दिया है, किन्तु चतुर्थ चरण की संगति किसी युद्धोद्यत राजा के सम्बन्ध में किसी प्रकार बैठती नहीं दिखाई पड़ती है।

(४) १.२०९: जइ मित्त धणेस। ससुर गिरीस।
तहबिहु पिंधण दीस।
गइ अमिअह कंदा णिअलहि चंदा
तहबिहु भोअण वीस।

---

१ प्राकृत पैंगलम् (डा० भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित), पृ० ३०३।

जइ कणअ सुरंगा गोरी अवंगा
तहविहु डाकिणि संग।
जो जसुहि दिआवा देव सहावा
कबहु ण हो तसु भंग॥

शिव के मौजी स्वभाव की आलोचना करते हुए कोई कह रहा है, "यद्यपि उनके मित्र धनेश (कुबेर) हैं, श्वसुर गिरीश (हिमालय) हैं, तथापि उनका परिवान दिशाएं हैं (वे नग्न ही रहते हैं); यद्यपि अमृत-कन्द चन्द्र उनके निकट (रहता) है, तथापि उनका भोजन विष है; यद्यपि कनक के सुन्दर वर्ण वाली गौरी उनकी अर्धांगिनी हैं, तथापि डाकिनियां उनके संग रहती हैं। बात यह है कि दैव ने जिसको जो स्वभाव दे दिया, वह कभी भंग नहीं होता है (जाता नहीं है)।

ये चारों छन्द शिव-चरित-सम्बन्धी किसी प्रबन्ध-काव्य में ही हो सकते हैं, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। ये चारों चार प्रसंगों के हैं, इसलिए यह असम्भव नहीं है कि किसी एक ही प्रबन्ध-काव्य से ये चारों लिये गए हों, किन्तु यह भी सम्भव है कि ये छन्द एक से अधिक प्रबन्ध-काव्यों से लिये गए हों।

वंदनात्मक छन्द

(५) १.८२ : जा अद्धंगे पव्वई सीसे गंगा जासु।
जो लोआणं बल्लहो वंदे पाअं तासु॥

जिसके अर्धांग में पार्वती हैं, जिसके सिर पर गंगा हैं, जो लोकों के वल्लभ (प्रिय) हैं, उन (शिव) के पैरों की मैं वन्दना करता हूं।

(६) १-१६५ : सिर किज्जिअ गंगं गोरि अवंगं
हणिअ अणंगं पुरदहणं।
किअ फणिवइ हारं तिहुअण सारं
वंदिअ छारं रिउ महणं।
सुरसेविअ चरणं मुणिगण सरणं
भवभअ हरणं सूलधरं।
साणंदिअ वअणं सुन्दर णअणं
गिरिवर सअणं णमह हरं॥

जिन्होंने सिर पर गंगा को और अर्धांग में गौरी को (धारण) किया है, जिन्होंने अनंग (काम) का हनन और त्रिपुर का दहन किया है, जिन्होंने फणपति को हार बनाया है, जो त्रिभुवन के सार हैं, जिन्होंने राख की वन्दना की है (उसे मस्तक पर धारण किया है) और जो रिपु-मथन हैं, जो सुरों द्वारा सेवित चरणों वाले हैं, और मुनिगण के शरण-स्थान, भव-भय का हरण करनेवाले तथा शूलधर हैं, जो आनन्दयुक्त वदन वाले, सुन्दर नयन वाले तथा गिरिवर (कैलाश) पर शयन करने वाले हैं, उन हर को नमस्कार करता हूं।

(७) २.२०१ : यह छन्द राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' से है, और प्राकृत के ऐसे रूप में है जो पुरानी हिन्दी से काफी भिन्न है, इसलिए इसे यहां नहीं दिया जा रहा है।

इनमें से अधिकतर छन्द, हो सकता है, किन्हीं रचनाओं के प्रारम्भ में दी गई शिव-वन्दना से लिये गए हों।

विनयात्मक छन्द

(८) २.६ : हर हर। मम मल॥

हे हर, मेरे मल (पापों) का अपहरण करो!

(९) २.१४ : संकरो। संकरो पाउणो। पाउणो ॥

कल्याण करने वाले, शंकर हमारी रक्षा करें, हमारी रक्षा करें।

(१०) २.१६ : भवाणी हसंती। दुरित्तं हरंती॥

हंसती हुई भवानी मेरे दुरित का अपहरण करे (?)!

(११) २.४२ : जुभंती उद्दामे। कालिका संगामे।
णच्चंती हम्मारो। दूरित्ता संहारो॥

संग्राम में उद्दाम युद्ध करती हुई कालिका, नृत्य करती हुई हमारे दुरित का संहार करो।

(१२) २.३४ : उद्दंडा चंडी दूरित्ता खंडी।
तेलोक्का सोक्खं। देऊ मे मोक्खं॥

ऐ उद्दंडा चंडिके, मेरे दुरितों का खंडन कर मुझे त्रैलोक्य-सौख्य और मोक्ष दो।

(१३) २.४८ : गवरिअ कंता। अभिणउ संता।
जइ परसण्णा। दिअ महि धण्णा॥

हे अभिनय (ताण्डव) से श्रांत गौरी-कान्त, यदि तुम प्रसन्न हो तो मुझे धन दो।

(१४) २.६९ : णिसुंभ सुंभ खंडिणी। गिरीस गेह मंडिणी।
पअंड मुंड खंडिआ। पसण्ण होउ चंडिआ॥

निशुंभ और शुंभ का खंडन करने वाली, गिरीश (कैलाशपति) के गृह का मंडन करने वाली, प्रचंड मुंड (नामक दैत्य ?) का खंडन करने वाली हे चंडिके, प्रसन्न हो!

(१५) २.७७ : मुंड माला गला कंठिआ, णाअराआ भुआ संठिआ।
बग्घ छाला किआ वासणा, चंडिआ पाउ सिंहासणा॥

मुंडमाला जिसके गले की कंठी है, नागराज जिसकी भुजा में संस्थित हैं, जिसने व्याघ्र-चर्म को वसन बनाया है, वे सिंहासना (सिंह-वाहिनी) चंडिका मेरी रक्षा करें।

(१६) २.१३८ : कमल वअण तिणअण हर, गिरिवर सअण तिसुलधर।
ससहर तिलअ पलअकर, वितरउ मह अभिमत वर॥

हे कमल-वदन त्रिनयन हर, गिरिवर-शयन और त्रिशूल-धर, शशधर (शशांक) को तिलक के रूप में धारण करने वाले प्रलयंकर, मुझे अभिमत वर वितरित करो!

(१७) २.१५५ : तुअ देव दुरित्त गणा हरणा चरणा।
जइ पावउ चंदकलाभरणा सरणा।
परिपूजउ तेज्जिअ लोभ मणा भवणा।
सुख दे मह सोक विणास मणा समणा॥

हे चन्द्रकला के आभरण वाले देव, यदि मैं दुरित-गण का हरण करने वाले तुम्हारे चरणों की शरण पाऊं तो मन से भव के लोभ को त्यागकर मैं तुम्हारा परिपूजन करूं; हे लोगों के शोक-विनाश में दत्तचित्त, शान्ति देने वाले, मुझे सुख दो।

इन विनयात्मक या याचनात्मक छंदों की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है; हो सकता है कि ये किसी विनयात्मक मुक्तक-संग्रह से लिये गए हों, और यह भी हो सकता है कि इनकी रचना 'प्राकृत पैंगल' के रचयिता ने स्वयं उदाहरण-पूर्ति के लिए की हो, अथवा अंशतः एक बात हो और अंशतः दूसरी।

आशीर्वादात्मक छंद

(१८) १.९८ : जसु सीसइ गंगा गोरी अधंगा
गिव पहिरिअ फणिहारा।

कंठट्ठिय वीसा पिंधण दीसा
संतारिअ संसारा।
किरणावलि कंदा वंदिअ चंदा
णअणहि अणल फुरंता।
सो संपअ दिज्जउ वहु सुह किज्जउ
तुम्ह भवाणी कंता।।

जिसके सिर पर गंगा है, अर्धांग में गौरी है, और जिसने गले में सर्पों का हार पहन रक्खा है, जिसके कंठ में विष स्थित है, जिसका परिधान दिशाएं हैं, और जिसने संसार को तारा है, जिसने किरणावलि के कंद (समूह) चन्द्र को (मस्तक पर रखकर) वंदन किया है, जिसके नेत्रों में अनल स्फुरित होता है, वह भवानीपति (शिव) तुम्हें संपत्ति दें और बहुत सुख (प्रदान) करें।

(१९) १.१०१ : रणदक्ख दक्ख हणु जिण्णु कुसुमधणु
अंधअ गंध विणासकरु।
सो रक्खउ संकर असुर भअंकरु
गिरिणाअरि अद्धंग धरु।।

जिन्होंने रणदक्ष दक्ष का हनन किया, कुसुम-धनु (काम) को जीता, जो अंधक और गंध (नाम के राक्षसों) का विनाश करने वाले हैं, जो असुरों के लिए भयंकर, गिरि-नागरी (पार्वती) को अर्धांग में धारण करने वाले हैं, वे शंकर तुम्हारी रक्षा करें।

(२०) १.१११ जसु कर फणिवइ वलअ तरुणिवर तणुमह विलसइ।
णअण अणल गल गरल विमल ससहर सिर णिवसइ।
सुरसरि सिरमह रहइ सअल जण दुरित दमणकर।
हसि ससिहर हरउ दुरित वितरह अतुल अभअ वर।।

जिसके कर में फणपति वलय (सदृश) है, जिसके शरीर में श्रेष्ठ तरुणी (पार्वती) सुशोभित हैं, जिसके नेत्रों में अनल, गले में गरल और सिर में विमल शशधर (शशांक) निवास करते हैं, जिसके सिर में सुरसरिता रहती है, और जो समस्त जनों के दुरित का दमन करने वाले हैं, वे शशिधर (शिव) हँसकर दुरित का अपहरण करें और अतुलित अभय वर का वितरण करें।

(२१) १.११९ : जाआ जा अद्धंग सीस गंगा लोलंती।
सव्वासा पूरंति सव्व दुक्खा तोलंती।
णाआ राआ हार दीस वासा भासंता।
वेआला जा संग णट्ठ दुट्ठा णासंता।।
णाचंता कंता उच्छ्वे ताले भूमी कंपले।
जा दिट्ठे मोक्खा पाविज्ज सो तुम्हाणं सुक्ख दे।।

जिनके अर्धांग में जाया (स्त्री) है, और जिनके सिर पर गंगा चपल हो रही है, जो समस्त आशाओं को पूरा करते और समस्त दुःखों को तोड़ते हैं, जिनका हार नागराज हैं, दिशाएं जिनके वस्त्रों में सुशोभित हैं, वेताल जिनके साथ में रहते हैं और जो दुष्टों को नष्ट करते हैं, जो उत्सव में सुन्दर ढंग से नाचते हैं, जिनके ताल पर भूमि कांप उठती है, जिनको देखने से मोक्ष प्राप्त होता है, वे (शिव) तुम्हें सुख दें।

(२२) १.१७६ : जसु चंद सीस, पिंधणह दीस।
सो संभु एउ, तुह सुम्भ देउ।।

जिसके सिर पर चन्द्रमा है, जिसका परिधान दिशाएं हैं, वे शंभु तुम्हें शुभ (कल्याण) दें।

(२३) २.२ : **गोरी। रक्खो॥**

गौरी तुम्हारी रक्षा करें !

(२४) २.८ : **सई उमा। रखो तुमा॥**

सती उमा तुम्हारी रक्षा करें !

(२५) २.१० : **संभु देउ। सुब्भ देउ॥**

शंभुदेव तुम्हें शुभ (कल्याण) प्रदान करें !

(२६) २.१२ : **तुम्हाणं, अम्हाणं, चंडेसो, रक्खे सो॥**

वह चंडेश (शिव) तुम्हारी और हमारी रक्षा करें !

(२७) २.२० : **सो देउ सुक्खाइ। संघारि दुक्खाइ॥**

वे (शिव ?) दुःखों का संहार कर (तुम्हें) सुख दें !

(२८) २.२४ : **सो हर तोहर। संकट संहर॥**

वे हर तुम्हारे संकट का संहार करें !

(२९) २.२० : **देउ देउ, सुभम देउ।**
जासु सीस। चंद दीस॥

देव-देव (महादेव), जिनके सिर पर चन्द्रमा दीखता है, (तुम्हें) शुभ प्रदान करें !

(३०) २.१०५ : **पिंग जटावलि ठाविअ गंगा।**
धारिअ णाअरि जेण अधंगा।
चंदकला जसु सीसहि णोक्खा।
सो तुह संकर दिज्जउ मोक्खा॥

जिनकी पीली जटावली में गंगा स्थापित है, जिन्होंने अर्धांग में नागरी (पार्वती) को धारण कर रक्खा है, जिसके सिर पर अनोखी चन्द्रकला है, वह शंकर तुम्हें मोक्ष दें !

(३१) २.१२३ : **जासू कंठा बीसा दीसा सीसा गंगा।**
णाआराआ किज्जे हारा गोरी अंगा।
गंते (गत्ते) चम्मा मारू कामा लिज्जे कित्ती।
सोई देऊ (देओ) सुक्खं देओ तुम्हा भत्ती॥

जिनके कंठ में विष है, और सिर पर गंगा दीखती है, जिन्होंने नागराज को हार बनाया और गौरी को अंग में कर लिया है, जिनके गात्र पर चर्म है, और जिन्होंने काम को मार कर कीर्ति प्राप्त की है, वे ही देव (शिव) तुम्हें सुख दें और भक्ति दें !

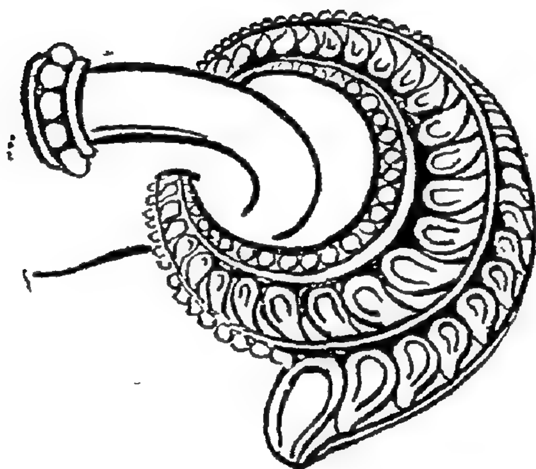
(३२) १.१०४ : **जो वंदिअ सिर गंग हणिअ अणंग**
अद्धंगहि परिकर धरणु।
सो जोई जण मित्त हरउ दुरित्त
संका हर संकर चरणु॥

जिन्होंने सिर में गंगा (को धारण कर उन) की वंदना की है और अनंग का हनन किया है, जो अर्धांग में कलत्र को धारण करते हैं, वह जो (अपने) जनों के मित्र हैं, वे शंका हरण करने वाले शंकर के चरण (तुम्हारे) दुरितों का हरण करें !

इन आशीर्वादात्मक छन्दों की भी स्थिति बहुत स्पष्ट नहीं है। दो बातें संभव हैं: इस प्रकार के आशीर्वादात्मक छन्द प्रायः काव्यों के अन्त में आते हैं, और हो सकता है ये छन्द उसी प्रकार के हों; अथवा यह भी सम्भव है कि इन छन्दों की रचना 'प्राकृत पैंगल' के रचयिता ने उदाहरण-पूर्ति के लिए स्वयं करली हो; और यह भी सम्भव है कि

कुछ छन्द एक प्रकार से आए हों और शेष छन्द दूसरे प्रकार से आए हों। पहली स्थिति में तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार के छन्द अनेक रचनाओं में आए होंगे, क्योंकि इस प्रकार के आशीर्वादात्मक छंद, जो कि बहुत-कुछ एक ही आशय के हैं, एक ही एक ऐसी प्रत्येक रचना के अन्त में रहे होंगे।

उपर्युक्त चारों प्रकार के छन्दों में जो बात सामान्य रूप से परिलक्षित होती है वह यह है कि शिव-पार्वती के सम्बन्ध में इनके रचयिताओं के मन में भक्ति है, और प्रायः ये सभी छन्द उसी भक्ति से प्रेरित होकर रचे गए हैं। इसलिए यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत में हिन्दी के आदिकाल में शिवभक्ति का प्रचार अवश्य था और उस भक्ति से प्रेरित होकर काव्य-रचना भी होती थी।



ध्यान-सम्प्रदाय

डा० भरतसिंह उपाध्याय

छठी शताब्दी ईसवी में एक आदमी हिन्दुस्तान चीन में गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही किया। पहले लोगों ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा में बातें नहीं की। नौ वर्ष तक वह एक मठ में ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगों ने देखा कि साधु पर्वतों के मार्ग में नंगे पैर चला जा रहा है और एक जूता हाथ में लिये है। पता नहीं वह भारत लौटकर आया या चीन में ही मर गया, परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है और उसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वेशिया की संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन-विधि पर व्यापक रूप से अंकित है, बल्कि जो विचारशील साधनों के जगत में आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आचार्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने सन ५२० या ५२६ ई० में चीन में प्रवेश किया। दक्षिण-भारत के कांचीपुरम के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातर था जिनके आदेश पर वे चीन गए। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमें कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर केण्टन बन्दरगाह में उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति में सौम्यता न थी और न व्यवहार में शिष्टता। सभ्य-जगत के मानदण्डों से वे ऊपर थे और उन्हें किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप में कुछ विकरालता थी। बढ़ी हुई काली दाढ़ी, तनी हुई भृकुटियां और अन्तर्वेधिनी बड़ी-बड़ी आंखें! देखने में बड़े कठोर आदमी मालूम पड़ते थे। लोगों के पूछने पर उन्होंने अपनी आयु १५० वर्ष बताई। भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है, यह सुनकर उत्तरी चीन के तात्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म चीन में द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में ही व्यवस्थित रूप से प्रवेश पा चुका था और वू-ति एक श्रद्धावान बौद्ध उपासक था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किये थे। अनेक विहार बनवाये थे और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के चीनी अनुवाद कराए थे। वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था। नानकिंग में बोधिधर्म की सम्राट वू-ति से भेंट हुई और दोनों में इस प्रकार संलाप चला :

वू-ति—भन्ते! मैंने अनेक विहार बनवाए हैं, संस्कृत धर्म-ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाई हैं और अनेक लोगों को भिक्षु बनने की अनुमति दी है। क्या मेरे इन कामों में कोई पुण्य है?

बोधिधर्म—बिलकुल कोई नहीं।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा, जो सूक्ष्म, पूर्ण, शून्य और शान्त है। परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस संसार में सम्भव नहीं है।

वू-ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा है?

बोधिधर्म—जहां सब शून्यता है, वहां पवित्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

वू-ति—तब फिर मेरे सामने बात कौन कर रहा है ?

बोधिधर्म—मैं नहीं जानता।

उपर्युक्त संवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रूक्ष स्वभाव का मनुष्य मान सकते हैं। कुछ-कुछ अशिष्ट भी। सम्राट के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर, उन्होंने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नहीं किया। जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रों में पुण्यकारी कृत्य बताया गया है उनको वैसा न बताकर उन्होंने सम्राट के मन में बुद्धि-भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया। धार्मिक राजा की भावनाओं का उन्होंने कुछ भी आदर नहीं किया। बौद्ध धर्म के प्रचार में भी कुछ दिलचस्पी नहीं ली। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। बोधिधर्म के उत्तर ऊपर से रूक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट के प्रति करुणा से ओत-प्रोत हैं और बौद्धधर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाने वाले हैं। उन्होंने अपने विलक्षण कठोर ढंग में उसे यही बताया कि विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि वे अनित्य हैं, छाया के समान असत्य हैं। इस प्रकार अहंभाव से सम्राट को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होंने उसे उपदेश दिया। उन्होंने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारों से अतीत है। बोधिधर्म के व्यवहार में एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओं वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य-प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो, सम्राट के सामने प्रकट नहीं कर सकता था।

चीनी सम्राट के साथ उपर्युक्त संवाद के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उसे उनसे अधिक लाभ होनेवाला नहीं है और न वह उन्हें समझ ही सकेगा। इसलिए उसके दरबार को छोड़कर वे चीन के वेई नामक राज्य में चले गए, जहां उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याङ् के 'शाश्वत शान्ति' (श्वा-लिन्) नामक बौद्ध विहार में बीता। इस विहार का निर्माण पांचवीं शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग में किया गया था। बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गए थे। 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोड़े चार दिन तक इस विहार के सामने खड़े रहे। उनका कहना था कि उन्होंने कई देशों में भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य और प्रभावपूर्ण विहार उन्होंने कहीं नहीं देखा, बुद्ध के देश (भारत) में भी नहीं। यहीं नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान किया। उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुंह करके ध्यान करते थे। इसीलिए चीन में वे 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गए। लो-याङ् के जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया वह आज भी कुछ भग्न अवस्था में विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं का एक छोटा-सा संघ वहां आज भी निवास करता है।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बौद्धधर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की। यह काम उन्होंने स्थूल व्यवस्था-बद्ध संघ के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया। उन्होंने लम्बे काल तक मौन रहकर चीनी मत का अध्ययन किया, बड़ी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना, अपने मन से उनके मनों को, बिना कुछ बोले हुए, शिक्षित किया, सत्य का सन्देश उनकी चेतना में प्रेषित किया और जब यह काम हो गया तो स्वयं अन्तर्हित हो गए। भारतीय ज्ञान अपने देशकालज व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस में समा गया। वह चीनी शरीर की धमनियों का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा, उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अंग बन गया। यही काम बाद में जापान में हुआ। आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

बौद्ध साधना-पद्धति में ध्यान का केन्द्रीय स्थान है। शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति। इतना ही बौद्ध-धर्म है। इस प्रकार शील और प्रज्ञा के बीच में ध्यान की स्थिति है। जिसने जीवन में सदाचार का विकास नहीं किया है उसका चित्त कभी समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नहीं है वह प्रज्ञा की अधिगति से भी दूर है। बिना ध्यान के प्रज्ञा नहीं है और बिना प्रज्ञा के ध्यान नहीं है। साधना की यह भूमिका बौद्धधर्म के सभी रूपों को मान्य है। अतः सभी ने शास्ता के द्वारा सिखाई हुई ध्यान-पद्धति का अभ्यास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है। 'भिक्षुओ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो।' भगवान की इस उद्बोधन-वाणी को सब युगों के बौद्ध साधकों ने सुना है। शमथ और विदर्शना की

साधना सब बुद्ध-पुत्रों की सामान्य विचरण-भूमि है।

जबकि ध्यान की महिमा बौद्ध धर्म के सभी रूपों में सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहां बीजारोपण करने वाले, जैसा हम अभी कह चुके हैं, आचार्य बोधिधर्म थे। भारतीय बौद्ध धर्म के लिखित इतिहास में हमें उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायों में उसका कहीं उल्लेख है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में उसके अस्तित्व के कहीं चिह्न हैं; यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। यद्यपि पृथक ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमें नहीं मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के काल से ही भारत में अवश्य चली आ रही थी, ऐसा हम चीनी परम्परा के आधार पर कह सकते हैं। आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बताया कि ध्यान के गूढ़ रहस्यों का उपदेश भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य महाकश्यप को दिया था जिन्होंने उसे आनन्द को बताया। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के आदि आचार्य महाकाश्यप थे और दूसरे आचार्य आनन्द। उसके बाद इस परम्परा में २६ आचार्य और हुए जिनमें अन्तिम बोधिधर्म थे। इस प्रकार बोधिधर्म भारतीय ध्यान-सम्प्रदाय केअ ट्ठाईसवें और अन्तिम आचार्य थे। चीनी (और जापानी) ध्यान-सम्प्रदाय के वे प्रथम धर्म-नायक हुए। उनके बाद चीन में पांच और धर्म-नायक उनके शिष्यानुक्रम में हुए। उसके बाद ध्यान-सम्प्रदाय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ और स्वयं बोधिधर्म द्वारा दिये गए आदेश के अनुसार धर्म-नायकों की प्रथा समाप्त कर दी गई।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शैन्-क्वांग् था, जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने हुइ-के नाम दिया। शैन्-क्वांग् कनफूसी धर्म को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप में बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार में गया जहां बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन तक वह दरवाजे पर खड़ा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नहीं दी। जाड़े का मौसम था और बरफ पड़ रही थी। परन्तु शैन्-क्वांग् भी संकल्पवान पुरुष था। कहा जाता है कि उसने अपनी बाईं बांह काटकर बोधिधर्म के पास यह दिखाने के लिए भिजवा दी कि वह उनका शिष्यत्व पाने के लिए अपने शरीर का भी बलिदान कर सकता है। शैन्-क्वांग् को भीतर जाने की अनुमति मिली। गुरु ने उसका समाधान किया, शब्दों से नहीं, मन के द्वारा मन से। शैन्-क्वांग् ने बिलखते हुए पूछा—"भन्ते ! मुझे मन की शान्ति नहीं है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करें।" बोधिधर्म ने कठोरतापूर्वक उत्तर दिया, "अपने मन को निकाल कर यहां मुझे दे। मैं उसे शान्त करूंगा।" शैन्-क्वांग् ने और भी रोते हुए कहा, "मैं अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हूं ?" इस पर कुछ नरम स्वर में और उस पर अनुकम्पा दिखाते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा, "तो मैं तेरे मन को शान्त कर चुका हूं।" तत्काल शैन्-क्वांग् को शान्ति अनुभव हुई। उसके सारे सन्देह दूर हो गये। बौद्धिक संघर्ष सदा के लिए मिट गये। बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और जैसा पहले कहा जा चुका है, उसे 'हुइ-के' नाम दिया। हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन में द्वितीय धर्म-नायक हुए। बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होंने हुइ-के को दे दिया। अब सब काम चीनियों को चीनियों के लिए करना था। चीनी परम्परा में सुरक्षित लेखों के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मैं भारत से इस पूर्वी देश में आया हूं और मैंने देखा है कि इस चीन देश में मनुष्य महायान बौद्धधर्म की ओर अधिक प्रवण हैं। मैंने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मैं रेगिस्तानों में भटका हूं, केवल इस उद्देश्य के लिए, कि मुझे कहीं अधिकारी व्यक्ति मिलें, जिन्हें मैं अपना अनुभव प्रेषित कर सकूं। जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिले, मैं मौन रहा; जैसे कि मैं बोलने में असमर्थ गूंगा होऊं। अब मुझे तुम मिल गये हो। मैं तुम्हें यह दे रहा हूं और मेरी इच्छा अन्ततः पूरी हो चुकी है।"

चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्म-नायक हुइ-नेंग् (६३८-७१३ ई०) नामक अनुभवी महात्मा थे। उन्होंने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोड़ा है जो उनके प्रवचनों का संग्रह है जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है "छठे धर्म-नायक द्वारा भाषित धर्म-रत्न-सूत्र। संक्षेप में इसे "छठे धर्मनायक का सूत्र" भी कहते हैं। चूंकि इस ग्रन्थ

में निहित उपदेश भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार के लिए निर्मित एक मंच पर बैठकर दिए गये थे, इसलिए इसका एक नाम 'धर्मनिधि-मंचसूत्र' या संक्षेप में 'मंच-सूत्र' भी है। 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणतः बुद्ध या बोधिसत्त्वों के द्वारा दिए गये उपदेश के लिए होता है। अतः हुइ-नैंग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी परम्परा में उसको असाधारण सम्मान दिया गया है। चीनी बौद्ध महात्माओं में यह सम्मान केवल हुइ-नैंग् को ही मिल सका है। 'मंच-सूत्र' या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' विश्व के साधनात्मक साहित्य की एक अमर रचना है। इस 'सूत्र' के प्रथम भाग में हुइ-नैंग् ने यह बताया है कि ध्यान-बौद्धधर्म में उन्हें श्रद्धा किस प्रकार उत्पन्न हुई। उन्होंने हमें बताया है कि वे एक अपढ़ लकड़हारे थे। बाल्यावस्था में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वे लकड़ी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते थे। एक दिन जब वे किसी घर में लकड़ी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सड़क पर उन्होंने किसी को वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता सूत्र से कुछ अंश पढ़ते सुना। अचानक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पड़ी। उन्होंने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ अंश पढ़ रहा था वह किसी संघाराम से आया था जहां 'ध्यान' बौद्ध धर्म के पांचवें धर्म-नायक हुंग्-जेन् पांच सौ भिक्षुओं के साथ रहते थे। हुइ-नैंग् वहां गया और हुंग्-जेन् का शिष्य हो गया। नवागत शिष्य को चावल कूटने का काम दिया गया। आठ महीने तक उसने यह काम किया। हुंग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यों को सूचित किया कि वे अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते हैं और जो भिक्षु ध्यान-बौद्धधर्म के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा उसे वे अपना उत्तराधिकारी चुन लेंगे। हुंग्-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-सियु नामक भिक्षु था। उसने एक गाथा लिखी—

"शरीर बोधिवृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते हैं,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया, परन्तु सर्वोत्तम गाथा उन्होंने हुइ-नैंग् द्वारा रचित मानी, जो इस प्रकार थी—

"नहीं है बोधि-वृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,
तत्त्वतः सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहां ?"

हुंग्-जेन् ने हुइ-नैंग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, हुइ-नैंग् चीन में ध्यान-बौद्धधर्म के छठे और अंतिम धर्म-नायक थे। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्म-नायक नहीं बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्म-नायक न बनाया जाय। अपने शिष्यों से उन्होंने कहा, "तुम सब संशयों से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यों को कार्यान्वित करने में समर्थ हो।" बोधिधर्म के शब्दों को हुइ-नैंग् ने अपने शिष्यों को सुनाते हुए कहा, "चीन में मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगों को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था, जो मोह में पड़े हुए थे। पांच पंखुड़ियों में यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप से फल परिपक्व होगा।" बोधिधर्म की भविष्यवाणी सर्वांश में ठीक निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तों के ज्ञान का चरम विकास जिन शताब्दियों—(सातवीं से लेकर चौदहवीं) के बीच हुआ, वही चीनी संस्कृति का स्वर्ण-युग भी मानी जाती हैं।

ध्यान के जिस सन्देश को बोधिधर्म ने शैन्-क्वांग् को दिया और जो तब से अब तक बराबर चीन, जापान और कोरिया में विकसित होता आ रहा है, क्या है? यह सन्देश है स्वानुभव से बोधि को अपने जीवन के अन्दर उतारने का योग। लगभग सातवीं शताब्दी ईसवी के एक अज्ञात ध्यानी सन्त ने उसे इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण,
शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं;
मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत,
अपने ही स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना।"

परन्तु बोधिधर्म ने इसकी ओर केवल इंगित किया, उंगली से उसकी ओर इशारा भर किया, उसके मार्ग का विकास चीन और जापान के साधकों ने स्वयं अपने लिए किया है। 'ध्यान' शब्द का चीनी रूपान्तर 'छान्' है और जापानी 'ज़ेन्'। अतः क्रमशः 'छान्-सुंग' और 'ज़ेन्-शु' के नाम से बौद्ध धर्म का यह समुदाय चीन और जापान में प्रसिद्ध है। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश वैसे छठी शताब्दी में ही हो गया था, परन्तु ध्यान-निकाय की विधिवत स्थापना वहां बारहवीं शताब्दी में हुई, जब से वह वहां के निवासियों की नस-नस में समा चुका है। चीनी मस्तिष्क भारतीय मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है, अतः वहां दैनिक जीवन की क्रियाओं को करते हुए अन्तर्दृष्टि के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। परम्परागत मान्यताओं के बन्धन से मानव-मन को मुक्त करने का ध्यानवादी आचार्य भरसक प्रयत्न करते हैं। धार्मिक ग्रंथों में उनकी अधिक आस्था नहीं है, क्योंकि वे स्वानुभव चाहते हैं, जो शास्त्र और सूत्र नहीं दे सकते। फिर भी ध्यान बौद्धधर्म के अनुयायी लङ्कावतार-सूत्र को अपना आधारभूत धार्मिक ग्रंथ मानते हैं, वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता सूत्र का भी पारायण करते हैं और प्रज्ञापारमिताहृदय-सूत्र का पाठ तो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रत्येक मठ में प्रतिदिन प्रातः किया जाता है। चीनी मन की स्वाभाविक हास्य-भावना की अभिव्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक बातों में हुई है और इस सम्प्रदाय के आचार्यों और साधकों के जो चित्र खींचे गए हैं वे प्रायः व्यंग्य-चित्र जैसे हैं। हास्य की भावना को जितना अधिक महत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय की साधना में मिला है उतना शायद ही अन्य किसी धर्म-साधना में मिला हो। ध्यानी सन्त बड़े मौजी स्वभाव के होते हैं। वस्तुगत जगत की वे अधिक परवाह नहीं करते। जीवन की हर वस्तु उनके लिए गम्भीर है और साथ ही एक बड़ा मजाक भी। वे गरीबी में आनन्द लेते हैं और अपने प्रति पूज्य बुद्धि न आने देने के लिए वे अपने को व्यंग्य और हास्य के पात्र के रूप में चित्रित करते हैं। ध्यानी गुरुओं की शिक्षा-पद्धति में शिष्यों को चांटे लगाने की एक प्रथा-सी है। इसमें वे अंतर्दृष्टि को जगाने का प्रयत्न करते हैं। इसी उद्देश्य के लिए वे दण्ड से भी प्रहार करते हैं, शिष्यों को धक्का भी देते हैं और गालियां भी देते हैं। सहज अनुभूति पर ध्यान-सम्प्रदाय में जोर है, अतः उसके साधक सिद्धान्तवाद में अधिक विश्वास नहीं करते। सत्य को वे विचार के द्वारा गम्य नहीं मानते हैं। अतः शब्दों को वे सत्य की अभिव्यक्ति का अत्यन्त निर्बल साधन मानते हैं। भाषा की इसी कठिनाई के कारण वे परम सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः उलटबांसियों या उल्टी भाषा का प्रयोग करते हैं। पांचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के सन्त फुदायशी की एक प्रसिद्ध गाथा है:

मैं खाली हाथ चला जा रहा हूं, देखो
मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मैं पैदल चला जा रहा हूं, फिर भी
एक बैल की पीठ पर मैं सवार हूं।
जब मैं पुल से पार हो रहा हूं,
तो देखो, पानी बहता नहीं,
पर पुल बहा जा रहा है।

इस प्रकार की उलटबांसियां चीन और जापान के ध्यान-बौद्धधर्म के साहित्य में भरी पड़ी हैं। "धूल का बादल समुद्र से उठ रहा है", "जब दोनों हाथों से ताली बजाते हैं तो शब्द होता है, एक हाथ की ताली का शब्द सुनो", "यदि तुमने एक हाथ का शब्द सुना है तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो?" लगता है कि 'एक हाथ का शब्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है, अद्वैत के अनुभव का आनन्द ही है, जिसके बारे में ध्यान-योगी अधिकतर कहते सुने जाते हैं। हममें से बहुतों को यह भी लोभ हो सकता है कि एक हाथ की ताली के शब्द को हम अनहद नाद समझें, परन्तु

इससे हमें बचना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में उद्घाटित हठ-योग की, छह चक्रों और कुण्डलिनी-योग वाली, साधना से ध्यान-बौद्ध धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए हमें बौद्ध धर्म के एक अन्य रहस्यवादी समुदाय मन्त्र-यान की ओर जाना पड़ेगा, जिसका भी चीन और जापान में प्रचार है। जहां तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, उलटी भाषा का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पालित मिथ्या विश्वासों से चौंकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनों का प्रयोग ध्यानी सन्तों ने किया है। परम सत्य को तो वे अनिवर्चनीय मानते हैं। 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियों में उसे नहीं बांधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी सन्त का कहना है, "जब मैं कहता हूं 'यह नहीं है' तो हमारा अर्थ निषेध नहीं है। इसी प्रकार जब मैं कहता हूं कि 'यह है' तो इसका अर्थ 'हां' कहना नहीं है। पूर्व की ओर मुड़ो और वहीं पश्चिमी देश को देखो! दक्षिण की ओर मुंह करो और वहीं तुम्हें उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-बौद्ध धर्म के एक गुरु ने अपने शिष्यों को एक घड़ा दिखाकर कहा कि 'इसे घड़ा कह कर मत पुकारो, परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है?" एक शिष्य ने कहा, "यह लकड़ी का टुकड़ा नहीं कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नहीं जंचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घड़े को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चलता बना। यही उत्तर ध्यान-बौद्ध धर्म की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बड़ी वस्तु है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यों को एक लकड़ी दिखाई और कहा, "यदि तुम इसे लकड़ी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो, यदि तुम इसे लकड़ी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत 'अस्ति' कहो, मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है? बोलो, बोलो!" शिष्यों में निस्तब्धता थी। वस्तुएं निःस्वभाव और अव्यपदेश्य हैं। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमें अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिए। नवीं शताब्दी के सिंग्-पिंग् नामक एक विद्यार्थी ने अपने गुरु सुङ्-वी से पूछा, "बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है?" गुरु ने कहा, "ठहर! जब आसपास कोई नहीं होगा तब मैं तुझे अकेले में बताऊंगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई, "भन्ते! अब यहां कोई नहीं है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बांसों के वन में ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया तो गुरु ने उसके कान में कहा, "देख, ये बांस कितने लम्बे हैं। और देख, वहां वे कितने छोटे हैं!" इस प्रकार पहेलियों में उपदेश देने की, ध्यान-बौद्ध धर्म के गुरुओं की, एक प्रथा-सी रही है। इसी संकेतात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिए। एक शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा, "कहां जाना चाहते हो?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हूं, परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नहीं किया। अब मैं आपको छोड़कर किसी और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हूं।" गुरु ने उत्तर दिया, "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है तो मैं कुछ अल्प तुम्हें सिखा सकता हूं।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा तो गुरु ने अपने चोगे में से एक बाल निकाला और उसे फूंक मार कर उड़ा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी ध्यान-योगी से जब उसके शिष्य ने पूछा कि "बुद्ध क्या है?" तो इसका पहेली में उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकड़े है।" छठी शताब्दी ईसवी की बात है कि चीनी सम्राट वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फ-ति शिह् से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गए, परन्तु एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया। सम्राट् ने कहा, "भन्ते! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी, आप बोलना आरम्भ क्यों नहीं करते?" इसपर पास ही खड़े एक ध्यानी शिष्य ने सम्राट् से कहा, "गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके हैं।" इसके सम्बन्ध में एक ध्यानी आचार्य ने टिप्पणी करते हुए कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था वह प्रवचन!"

ध्यान-सम्प्रदाय में शरीर और मन की एक लम्बी साधना का विधान है, जिसे उपयुक्त गुरु के पास सीखना होता है। शरीर और मन का समाधान प्राप्त करने के लिए वर्षों लग सकते हैं और फिर भी वह दृष्टि प्राप्त न हो जिसे ध्यान-सम्प्रदाय देना चाहता है। फिर भी ध्यान-बौद्ध धर्म की मान्यता है कि ज्ञान जब होता है तो एक पल भर में हो

सकता है। कबीर साहब ने कहा था, "ढूंढ़ा होइ तो मिलिहै बन्दे पल भर की तलास में।" ध्यान-योगियों का अनुभव है कि ढूंढ़ता-ढूंढ़ता थका हुआ मन कभी-कभी उसे 'पल भर की तलास में' पा जाता है। आत्मानुभूति द्वारा सत्य में इस आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने को जापानी भाषा में 'सटोरी' कह कर पुकारा जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय यद्यपि महायान के तथता या शून्यता के तत्त्वज्ञान पर आधारित है, परन्तु वह निश्चयतः अद्वैत की ओर भी प्रगमन करता है, जो प्रज्ञापारमिताओं के दर्शन में आरम्भ से ही अन्तर्हित था। जब एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "बुद्ध क्या है ?" तो गुरु ने कहा, "यदि मैं तुम्हें बताऊं तो क्या तुम विश्वास करोगे ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "यदि आप मुझे सत्य बताएंगे तो मैं कैसे नहीं विश्वास करूंगा !" गुरु ने उसे अलग ले जाकर कहा, **"तुम वह हो।"** "तत्त्वमसि" का पूर्ण शाब्दिक अनुवाद, जो अनुभूति की समानता से औपनिषदिक ऋषि के समान चीनी साधक को स्वतः प्राप्त हो गया है। केवल शब्दों के द्वारा सत्य के समझने के प्रयत्न का ध्यान-सम्प्रदाय के साधक विरोध करते हैं। वे मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर देते हैं और उसीसे सत्य का दर्शन सम्भव मानते हैं। सत्य-प्राप्ति के बाद उसकी मौखिक घोषणा वे आवश्यक नहीं मानते। फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्म-काय की व्याख्या कर रहा था। उसका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण और निर्दोष था, परन्तु उसे स्वयं अनुभव नहीं था। उसके प्रवचन को सुनकर यंग्-चाऊ नामक एक ध्यानी सन्त को हँसी आ गई। विद्वान भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है, इसलिए उसे समझने के लिए वह हँसने वाले ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने कहा, "तुम्हारी व्याख्या में कोई दोष नहीं था। मैं यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका अपरोक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हें नहीं है।" "तो क्या तुम मुझे बता सकते हो कि वह वस्तु क्या है ?" "क्या तुम मुझ पर विश्वास करोगे ?" "क्यों नहीं ?" "अच्छा तुम शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोड़ो। दस दिन के लिए अपने कमरे में बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर शान्त होकर बैठो और अपने विचारों को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोड़कर अपने आन्तरिक संसार को देखो।" भिक्षु इस आदेश के अनुसार रात-भर ध्यान में बैठा रहा। प्रातः चार बजे के करीब उसे बांसुरी का सा शब्द सुनाई दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रातःकाल उठकर उसने गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मैं तो चाहता था कि तू सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सड़क पर क्यों खर्राटे ले रहा है ?" अनुभव ही ध्यान-बौद्ध का आदि है और वही उसका अवसान। और उसे जीवन में ही खोजना है, जीवन से भागकर नहीं। चुंग्-सिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बड़ी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, **"जिस दिन से मैं यहां आया हूं आपने मुझे कर्म के सार के बारे में कभी नहीं बताया।"** गुरु ने उत्तर दिया, **"जब से तुम यहां आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नहीं रहा हूं।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है ?"** शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, **"जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किए नहीं रहा हूँ। जब तुमने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाए बिना नहीं रहा हूं। बताओ, मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया है ?"** शिष्य काफी देर तक चुपचाप खड़ा रहा। फिर गुरु ने कहा, **"यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण में ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे जो तुम लक्ष्य से दूर जा पड़ोगे।"** चुंग्-सिन् ने प्रकाश की एक झलक में अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

ध्यान-सम्प्रदाय चीन और जापान में आज भी एक जीवित साधना-पद्धति है। उसके मठ और संघाराम हैं, जहां भव्य और कलापूर्ण ध्यान-मन्दिर बने हुए हैं। प्रत्येक ध्यान-मन्दिर के बीच में शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति होती है जिसके चारों ओर बैठकर श्रद्धालु नर-नारी, भिक्षु और गृहस्थ, ध्यान (जापानी ज़ेन और चीनी चनन) करते हैं। चीन और जापान की संस्कृतियों पर ध्यान-बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव है। भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति-आन्दोलन, विशेषतः रहस्यवादी सन्त-मत से, ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक समानताएं है। द्वैतभाव का निरसन करते-करते ध्यानी सन्त थकते नहीं। नाथपन्थ और निर्गुणपन्थ की वाणियों के, विशेषतः मन के साधना-सम्बन्धी, कई ऐसे प्रसंग हैं जिनकी व्याख्या हम ध्यानी सन्तों की वाणियों से अच्छी प्रकार कर सकते हैं और कई महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और सात्त्विक निष्कर्ष

निकाल सकते हैं। ध्यानवादी गुरु-शिष्यों के प्रश्नोत्तरमय संवाद (मोण्डो) सन्त-वाणी के समान हृदय को सीधे स्पर्श करने वाले हैं। वस्तुतः ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना का पूर्वेशिया के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिणाम ही है। उसके अध्ययन से हम यह भली प्रकार समझ सकते हैं कि मूलतः हमारे देश में उत्पन्न साधना किस प्रकार चीनी और जापान मत के द्वारा ग्रहण की गई और अपनी सुविधानुसार उसमें क्या-क्या परिवर्तन कर उसने उसे आत्मसात कर लिया। चीन और जापान के पास जो सर्वोत्तम है, उसके निर्माण में ध्यान-सम्प्रदाय ने योग दिया है। अनेक विचार और कल्पनाएं उसने वहां के साहित्यकारों, विचारकों और कलाकारों को दी हैं। वह वहां के पण्डितों और भिक्षुओं का ही धर्म नहीं है, किसानों, मजदूरों और सिपाहियों का भी धर्म है। अनेक संस्कार, जैसे चाय-संस्कार आदि, उसके प्रभाव के कारण चीनी और जापानी जीवन के अंग बन गए हैं। आधुनिक जीवन के भारों से व्यस्त, आर्थिक संघर्षों और राजनीतिक क्षुद्रताओं से त्रस्त मनुष्य ध्यान-सम्प्रदाय के प्राणवान साहित्य से नई शक्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकता है। विशेषतः हमारे देश में, एशिया की सांस्कृतिक एकता के साथ-साथ, सन्त-मत जैसे सरल, विलक्षण और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का अध्ययन और मनन हमारी आध्यात्मिक अनुभव-समृद्धि और गवाही के लिए अत्यन्त आवश्यक है।



शांकर वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव

डा० शान्तिस्वरूप त्रिपाठी

वेदान्त शब्द से वैदिक साधना व दर्शन का अन्तिम चरण विवक्षित है। मुख्यतः औपनिषद् दर्शन ही वेदान्त दर्शन है। उक्त दर्शन वैराग्यपरक है, एवं ज्ञान-साधना इसका लक्ष्य है। आचार्य शंकर उक्त दर्शन के प्रतिष्ठापकों में प्रधान हैं। अस्तु, हम यहां निर्गुण काव्य के प्रसंगों का उल्लेख करते हुए आचार्य शंकर के अभिमत-सिद्धान्त का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करेंगे। वैदिक दर्शन के आश्रय मुख्यतः तीन तत्त्व हैं—ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति। यह त्रैत पदार्थ ही विभिन्न आचार्यों द्वारा अनेक प्रकार से गृहीत व प्रकट किया गया है। आचार्य शंकर उक्त पदार्थत्रय में केवल ब्रह्म-सत्ता ही प्रधान मानते हैं, अतः यह सिद्धान्त ब्रह्मवाद व अद्वैतवाद नाम से अभिहित किया जाता है।

आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से व्युत्पन्न है। उक्त धातु के अनुसार ब्रह्म शब्द से व्यापकत्व, देशकालादि-अवधि-रहित चेतन, नित्य, शुद्ध सत्ता आदि अर्थों की उपलब्धि होती है।[1] ब्रह्म-सत्ता स्वयं-सिद्ध है। जिस प्रकार स्थाणु में स्थाणुत्व का ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है एवं उसमें मनुष्यत्वादि का ज्ञान भ्रान्त एवं कल्पित है, उसी प्रकार त्रैत पदार्थ-सत्ता में ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण तत्त्वज्ञान है, अन्य नहीं।[2] ब्रह्म अतीन्द्रिय मनोवचसातीत विशुद्ध सत्य है, एवं नित्यप्राप्त है, क्योंकि अप्राप्य की प्राप्ति असम्भव है।[3] 'किन्तु सामान्य भौतिक विषयों के समान ब्रह्म की उपलब्धि इसलिए नहीं होती कि इन्द्रियां बहिर्मुखी हैं तथा विषयाधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म अथवा आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं करतीं।'[4] ब्रह्म-सत्ता अनादि है एवं वह समस्त निष्पत्तियों का कारण व आधार है।[5] ब्रह्म कारण स्वरूप के दो पक्ष—निमित्त एवं उपादान कारण हैं। कुम्भकार के समान ब्रह्म सृष्टि का निमित्त एवं मिट्टी-सुवर्णादि के समान पदार्थ के साधनभूत तत्त्वों के समान द्विधारहित ब्रह्म उपादान कारण है।[6] एक ही ब्रह्म दो कारण-रूपों में व्यक्त है तथा अनेक विषम सत्ताओं में विभक्त होकर भी उनमें वैषम्य का अभाव है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है किन्तु जिस प्रकार मृत्तिका-कारण उसका कार्य घट भिन्न एवं विषम नहीं है, अथवा सुवर्ण से कुण्डलादि आभूषण भिन्न नहीं होते, वैसे ही ब्रह्म कारण एवं विविध नाम-रूपों को धारण करके भी उनके गुणदोषों से स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार सृजन-सम्बन्धी अनेक वैषम्यों को धारण करके भी उनके गुणदोषों से स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार सृजन-सम्बन्धी अनेक वैषम्यों को धारण करके भी उसमें प्रपंचजन्य विषयों का संस्कार नहीं पड़ता।[7] नित्य सत्ता होने के कारण ब्रह्म 'सत्', सर्वदा गतिशील होने से 'चेतन'

---

१. ब्रह्मशब्दस्यहि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेधातोरर्थानुगमात्। ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।१

२. नहि स्थाण्वेकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषोऽन्यो वेति तत्त्वज्ञानं भवति। ब्र० सू० भा० १।१।२

३. अप्रसिद्धं नैवशक्यं जिज्ञासुतुमिति। ब्र० सू० भा० १।१।१

४. स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। ब्र० सू० भा० १।१।२

५. असम्भवस्तु अनुपपत्तेः। ब्र० सू० २।३।६

६. घटरुचकादीनां मृत्सुवर्णादिवत् प्रकृतित्वे कुलालसुवर्णकारादिव निमित्तत्वे। ब्र० सू० भा० १।४।२३

७. मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽसि सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषा कल्पित नामरूप॥
—विवेकचूड़ामणि २३०।

एवं सुख-रूप होने से आनन्द-स्वरूप है। ब्रह्म निर्गुण-निराकार एवं सगुण-साकार दोनों प्रकार से गृहीत होता है। किन्तु ये भेद व्यावहारिक हैं। ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण एवं निराकार ही है परन्तु बुद्धिजन्य उपाधिभेद से वह सगुण एवं साकार प्रतीत होता है।[1] इसी प्रकार उपाधिजन्य भेदों से युक्त होकर ब्रह्म सविशेष प्रतीत होता है, यद्यपि ब्रह्म निर्विशेष एवं निर्गुण है।[2] ब्रह्म अपनी वैष्णवी माया को वश में करके अवतार लेता हुआ-सा प्रतीत होता है।[3] यह सगुण ब्रह्म ही उपासना एवं कर्मादि का लक्ष्य है।

निर्गुण ब्रह्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित है। मायावी के समान ब्रह्म मायारूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व का कारण होकर भी माया से भिन्न है।[4] ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता मन और वाणी द्वारा ग्रहण व व्यक्त नहीं की जा सकती। श्रुतियों में 'नेति-नेति' पद द्वारा उसमें नामरूपों का प्रतिषेध प्रस्तुत किया गया है।[5] आचार्य शंकर के अनुसार उक्त प्रतिषेध का पर्यवसान ब्रह्म में है—अभाव में नहीं। अस्तु, ब्रह्म अभावरूप नहीं है।[6]

उपर्युक्त प्रसंग में ब्रह्म को समस्त नामरूपों का कारण व अधिष्ठान कहा गया है। उपनिषदों में 'एक', 'सद्' या 'आत्मा' से सृष्टि की रचना कथित है।[7] इन श्रुतियों का लक्ष्य अनेकरूप सृष्ट पदार्थों का मूल में एकत्व प्रतिपादित करना है। उक्त एकरूप ब्रह्मसत्ता में अनेकरूपता का आभास और व्यवहार की उपलब्धि होना ही माया अथवा अविद्या है। कारण में कार्य की सत्ता है। कार्य कारण से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार माया, प्रकृति अथवा अविद्या भी उपलब्ध ब्रह्म की सत्ता में ही निरूपित है, उससे स्वतन्त्र नहीं।[8] अतः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन पंचभूतों की सत्ता ब्रह्म-सत्ता में प्रतिष्ठित है, उससे भिन्न नहीं। ईश्वर मायिक है एवं प्रकृति ईश्वर-कार्य है।[9]

वृहदारण्यक श्रुति के अनुसार इन्द्र माया द्वारा अनेकरूप होता है।[10] इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता द्वारा ही अनेकरूप स्रष्ट पदार्थ अनुप्राणित हैं। माया से ही सत्त्व, रज और तम इन गुणों की स्थिति है। इन गुणों के सम-विषम व्यवहारों के द्वारा संसार-व्यवहार का प्रत्यावर्तन होता रहता है एवं जीव के बंध-मोक्ष का क्रम चलता है। अविद्या-कार्य समस्त व्यवहारों के कारण आत्मस्वरूप का परिज्ञान नहीं होता। अखण्ड सत्य विविध अल्प सत्यों में विकीर्ण हो जाता है। ये अल्प सत्य, बुद्धि, मन, अहंकार आदि के माध्यम से वस्तु की वास्तविकता के परिच्छिन्नक हैं। शंकर ने इस परिच्छिन्न सत्य को ही उपाधि अथवा अविद्या कहा है। ब्रह्म की सत्ता में अन्य पदार्थों की प्रतीति या उपलब्धि मायाजन्य भ्रम के कारण है। यह भ्रम जीव के हेतु स्वाभाविक है। आकाश में नीलिमा की प्रतीति भ्रान्ति ही तो है। इसी प्रकार असद्रूपों की सद्रूप में उपलब्धि ही माया का स्वरूप है। शंकर ने इस स्थिति को ही 'अध्यास' नाम से अभिहित किया है।[11]

सृष्टि में शंकर ने सत्य और अनृत का मिथुनीकरण होना कहा है। अस्तु, अविद्या की स्थिति में पदार्थ की जिस स्वरूप सत्ता की उपलब्धि व्यवहारी जीव को होती है वह सत्यासत्य का मिथुनीकृत रूप ही है, ब्रह्म का विशुद्ध रूप नहीं; क्योंकि ब्रह्म स्वतः तो त्रिगुणात्मक प्रकृति का कारण व अधिष्ठान है, एवं वह कभी प्रकृतिजन्य विकारों से

---

१. प्रकाशवच्चा वैय्यर्थ्यम्। ब्र० सू० २।२।१५
२. अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात्। ब्रह्मसूत्र ३।२।१४
३. वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य······देहवान इव···जात इव लक्ष्यते। गीताभाष्य, उपोद्घात।
४. देखिए गीता-भाष्य—१३-१२ और ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।२८; १।२।६
५. यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरीय उपनिषद् ३।२।६
आदेशो नेति नेति—वृहदारण्यक उपनिषद् २।३।६
६. ब्रह्मसूत्र-भाष्य—३।२।२२
७. सदेव सोम्येमग्र आसीत्। छान्दोग्य उपनिषद् ६-२-१। ऐतरेय उपनिषद् १।१।१
८. कारणात्मनैव कारणे सत्वमवरकालीनस्य कार्यस्य। ब्र० सू० भा० २।१।१६
९. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेताश्वतर उपनिषद्
१०. वृहदारण्यक उपनिषद् २।५।१९
११. ब्रह्मसूत्र-भाष्य, चतुस्सूत्री भूमिका।

स्पृष्ट नहीं होता। अविद्या सदसद्रूपों एवं उभयात्मक रूपों से रहित है, अतः अविद्या अनिवर्चनीय कही गई है।

ब्रह्म समस्त माया-कार्यो का अद्वितीय कारण है। प्रकृति की शक्ति ब्रह्म के ही आश्रित है। इसी प्रकार अनेक जीवरूप इकाइयों में एक अद्वितीय ब्रह्म व्याप्त है। जीव का शरीर पंचभूतात्मक अभिव्यक्ति है तथा शरीर अद्वितीय चेतन-स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप है। आचार्य शंकर के अनुसार जीव 'अहं' प्रत्यय का विषय और स्वयं प्रकाश है।[1] जीव के समस्त व्यापार 'अहं' पद में आश्रित होकर लोक-व्यवहार के स्वरूप का निर्माण करते हैं। जीव वस्तुतः ब्रह्म का ही स्वरूप है। परमार्थतः आत्मा अथवा जीव जन्म नहीं लेता, एवं प्रकृतिजन्य विकारों द्वारा दूषित व स्पृष्ट नहीं होता। जीव भी नित्य, मुक्त, शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त-स्वभाव ही है।[2] अविद्यात्मक प्रपंच में जीव की बुद्धि अध्यस्त होकर ही निर्दोष ब्रह्मस्वरूप जीव व्यापार करता है, एवं मायाजन्य सुख-दुःखों को भोगता है। जीव वस्तुतः अकर्ता ही है। यदि जीव में कर्तृत्व स्वाभाविक होता तो वह भी कर्म से मुक्त न हो पाता। अस्तु, जीव नित्य-मुक्त एवं अकर्त्ता है। किन्तु इन्द्रियादि एवं शरीर-सम्बन्ध से आत्मा में कर्तृत्व का आरोप होता है।[3] जिस प्रकार शिल्पी हाथ में उपकरण लेकर एवं श्रम करके दुःखी होता है, परन्तु उपकरणों को त्यागकर शान्त और सुखी होता है, उसी प्रकार चेतनस्वरूप जीव कर्मादि विषयों को भोगकर दुखी या सुखी होता है। किन्तु व्यावहारिक द्वन्द्वों से पृथक रहकर वह अपने नित्यमुक्त शान्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।[4] तो भी जीव में और ब्रह्म में लौकिक भेद है।[5] ब्रह्म की अपेक्षा जीव की महिमा अल्प है।[6] जीव भोग के अधिष्ठान शरीर को त्यागकर अन्यत्र नहीं जाता।[7] जीव का ईश्वर के ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से वन्धन होता है।[8] जीव ईश्वर का अंश है किन्तु यह विभागभेद भी व्यावहारिक है।[9] जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व उपाधिजन्य है। जिस प्रकार सर्प चाहे कुण्डलाकार हो या दण्डाकार, किन्तु उसके सर्पत्व में कोई अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार जीव व्यवहार-दशा में भी अलौकिक सत्य की सत्ता से भिन्न नहीं होता।[10] व्यावहारिक उपाधि-भेदों से मुक्त होकर जीव नित्य-मुक्त है। 'तत्त्वमसि' एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि के ज्ञान द्वारा जीव ब्रह्म के साथ अभेद-लाभ करके ब्रह्म ही हो जाता है।

ब्रह्म के अभेदानुभूति के कई प्रकार के साधन हैं, जिनमें कर्म, उपासना और ज्ञान प्रमुख हैं। आचार्य शंकर के अनुसार समस्त क्रियमाण व्यापार कर्म है, कर्म में देहादि चेष्टाओं की अपेक्षा है।[11] कर्म-साधना में यज्ञादि साधनों की गणना है। इसके हेतु वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था है। आचार्य शंकर कर्मसाधन की उपयोगिता दो प्रकार से स्वीकार करते हैं—(१) लोक-संग्रह के लिए, (२) चित्तशुद्धि के लिए। उक्त उपयोगिता के अतिरिक्त कर्म अल्पव्यापी है। कर्म का फल अनित्य है।[12] कर्म का फल स्वर्ग है। स्वर्ग के भोगों को प्राप्त करके प्राणी पुनः मृत्युलोक में गिर जाता है—

क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति। गीता ९।२१

इस हेतु कर्म की साधना मोक्ष-प्राप्ति में असमर्थ है। उपासना भी वैदिक साधना का अंग है एवं इसमें

---

१. अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्। ब्र० सू० भा०, चतुस्सूत्री भूमिका।
२. न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विकरोति नित्यः।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्न लीयते कुम्भ इवाम्बर स्वयं॥—विवेकचूडामणि, १३६
३. कर्तृत्वमप्यात्मन उपाधिनिमित्तमेवेति—ब्र० सू० भा० २।३।४०
४. यथा च तक्षोभयथा। ब्र० सू० २।३।४०
५. परमेश्वरस्यैवोधितम् सर्वविकारकारणत्वात्। ब्र० सू० भा० १।२।२३
६. ब्र० सू० भा० १।२।२३
७. ब्र० सू० भा० १।२।३
८. ब्र० सू० भा० ३।२।५
९. ब्र० सू० भा० २।३।४३
१०. ब्र० सू० भा० ३।२।२६
११. कर्म क्रियते इति व्यापारमात्रम्। गीता-भाष्य ४।१८
कर्म नाम देहादिचेष्टा। गीता-भाष्य ४।१६
१२. नहि नित्यं किंचिदारभ्यते। तैत्तिरीय उपनिषद्, सम्बन्ध-भाष्य

शरीरादि चेष्टाओं की अपेक्षा है। इसमें उपास्य और उपासक-भेद वर्तमान है। अतः उपासना-साधन भी ब्रह्म-प्राप्ति में अपर्याप्त है।[1] इन दोषों के कारण आचार्य शंकर ज्ञान-साधन को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

शंकर के अनुसार आचार्य एवं शास्त्र द्वारा आत्मा-अनात्मा एवं विद्या-अविद्या का बोध ज्ञान कहलाता है।

ज्ञानं शास्त्रतः आचार्यतः च आत्मादीनाम् अवबोधः। गी० भा० ३।४१

इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर अन्य पुरुषार्थ-साधन अवशिष्ट नहीं रहता।

यद् ज्ञानं ज्ञात्वा न इह भूयः पुनः पुनः पुरुषार्थसाधनम् अवशिष्यते। गी० भा० ७।२

ज्ञान ही मोक्ष-स्वरूप एवं नित्य है। उक्त ज्ञान के द्वारा जड़-चेतन, जीव-ब्रह्म का अभेद एवं सम्पूर्ण ब्रह्मात्म-भाव प्रकाशित होता है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुति-वाक्य अद्वैत ज्ञान में प्रमाण हैं।[2] पारमार्थिक ज्ञान मन-वाणी-इन्द्रियादि का विषय नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार में रस्सी में सर्प का भ्रम होने पर मनुष्य भयभीत हो जाता है, किन्तु रज्जु-ज्ञान होने पर स्वस्थ होता है, उसी प्रकार मनुष्य जगत एवं जीव में ब्रह्म-स्वरूप की अनुभूति करके कृत-कृत्य हो जाता है।[3]

ज्ञान-प्राप्ति के हेतु साधक में ब्रह्म-जिज्ञासा होना अनिवार्य है।[4] जिज्ञासा के पूर्व शंकर ने साधन-चतुष्टय (१) नित्यानित्य-विवेक, (२) वैराग्य, (३) षट्साधन-सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुत्व का महत्त्व स्वीकार किया है।[5] इन साधनों का विवेचन हम सन्तकाव्य का अध्ययन करते समय करेंगे।

ज्ञान की इस साधना में आचार्य[6], श्रुति[7], युक्ति[8] और अनुभव[9] का महत्त्व है। इस प्रकार अद्वैतदर्शन की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

अब हम पिछले पृष्ठों पर दिये दर्शन की रूपरेखाओं को सन्त-काव्य में घटित करने का प्रयत्न करेंगे। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शांकर सिद्धान्त विशुद्ध दार्शनिक तत्त्व है और विचार में युक्ति और पांडित्य का उसमें अद्भुत समन्वय है। वैदिक परम्पराओं से शंकर की अद्वैत साधना भिन्न नहीं है। परन्तु सन्तों के काव्य में साधनात्मक पद्धति व्यवहृत हुई है। यद्यपि मूल सिद्धान्त अद्वैत-साधना के अनुकूल ही है, किन्तु विचार-साधना का रूप ग्रहण करके सन्त कवि के व्यक्तित्व को भी स्पष्टरूपेण लक्षित कराता है। सन्तों की युक्ति और पांडित्य सन्तों के ही ढंग के हैं। अन्यत्र इस प्रकार का विचार, सिद्धान्त-साधना और अनुभूति का समन्वय काव्य-जगत में संभवतः कुछ ही कवियों में मिलेगा।

जिस प्रकार शंकर ने ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना है, उसी प्रकार सन्त कवियों ने भी परमात्मा को जगत का कारण मानते हुए ब्रह्म और जगत में एकरूपता प्रतिष्ठित की है। कुंभकार या स्वर्णकार, मिट्टी अथवा स्वर्ण से पात्र तथा कुण्डलादि का निर्माण करता है, किन्तु पात्र-कुण्डलादि की अभिव्यक्ति तत्सम्बन्धी पदार्थों के कर्त्ताओं एवं उपादानों से भिन्न नहीं होती। ऐसे ही परमेश्वर भी जगद्रूप में व्यक्त हो गया है। इस सम्बन्ध

---

१. ब्र० सू० भा० १।१—१२

२. ब्र० सू० भा० ४।१—२

३. विचारचन्द्रोदय कला १४

४. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१

५. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२३; ब्रह्मसूत्र ३।४।२७

६. छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, ८।७।२

७. ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३; कठोपनिषद्-भाष्य १।३।१४

८. माण्डूक्यकारिका-भाष्य, अद्वैत, प्रकरण-सम्बन्ध-भाष्य।

९. ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।४; ३।३।३२

में सन्त कवि कबीरदास[1], सन्त दादूदयाल[2] और सन्त जगजीवन[3] उल्लेखनीय हैं।

जगत्कारण ब्रह्म का दूसरा स्वरूप उसकी माया अथवा प्रकृति के माध्यम से उपलब्ध होता है। परमेश्वर अपनी माया के द्वारा सृष्टि की रचना करता है। त्रिगुणात्मक माया के द्वारा संसार का प्रसार हुआ है। ब्रह्म यद्यपि निर्गुण एवं मायादि दोषों से रहित है, तो भी एक मायावी के समान परमात्मा जगत-सृष्टि का कारण है। उक्त सिद्धान्त को अपने विचारों में आत्मसात करने वाले सन्तों में सन्त कबीर[4], सन्त रैदास[5], सन्त दादूदयाल[6], सन्त सुन्दरदास[7], सन्त चरनदास[8], और सन्त पलटूसाहब[9] प्रमुख हैं।

शंकर के अनुरूप सन्तों ने भी निर्गुण ब्रह्म को ही साधना का लक्ष्य माना है। इसी प्रकार दोनों ने ही सगुण ब्रह्म एवं अवतार-सम्बन्धी भावना का उच्छेदन नहीं किया। शंकर ने ब्रह्म को अपनी वैष्णवी माया को वश में करके लोक-कल्याण के लिए अवतार लेना कहा है। उसी प्रकार सन्तों ने भी ईश्वर को लोकरंजक और लोकरक्षक दोनों स्वरूपों में भगवान का देह-धारण करना स्वीकार किया है। यद्यपि दोनों ने ही प्रधानता निर्गुण-निराकार ब्रह्म को ही है। सन्तों ने यदा-कदा अवतारवाद की निन्दा भी की है किन्तु इसके प्रतिकूल उन्होंने भक्त होने के सम्बन्ध से ईश्वर का प्रेममय या लोककल्याणमय विग्रह माना है।

---

१. आपन करता भये कुलाला। बहुविधि सृष्टि रची दरहाला।
—कबीर-ग्रन्थावली, रमैनी, पृ० २४०

२. सिरजनहार थैं सब होइ।
आप है कुलाल करता बूंद थैं सब लोइ।
—दादूदयाल की बानी चंद्रिकाप्रसाद सम्पादित—पृष्ठ १४१

३. साधौ एक बासन गढ़ै कुम्हार।
तेहि कुम्हार का अन्त न पावौ कैसे सिरजनहार।
—जगजीवनसाहब की बानी, (वेलवेडियर प्रेस) भाग २, श० ८, पृ० ४२

४. सत रज तम थैं कीन्ही माया। आपण मंझे आप छिपाया।
निज नटवै नटसारी साजो। सो खेलै सो दीसै बाजो।
—सप्तपदी रमैनी—कबीर-ग्रन्थावली।

५. अहे एक पै भ्रम से दूजो कनक अलंकृत जैसे। —रैदास की बानी, पृष्ठ ४२
बाजीगर सो राचि रहा बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ सांच झूठ बाजीगर जाना मन पतियाना। —रैदास की बानी, पृ० २५

६. बाजी चिहर रचाइ करि रहा अपर वन होइ। —माया का अंग, पृ० ८२, दादूदयाल की बानी
राजस करि उतपति करै, सातक करि प्रतिपाल।
तामस करि परलै करै, निर्गुण कौतिकहार॥ —दादूदयाल की बानी ८, सापीभूत को अंग।

७. बाजी कौन रची मेरे प्यारे!
आप गोपि है रहे गोसाईं जग सबही तें न्यारे। —सुन्दर-ग्रन्थावली भाग २, पृ० ६०६
पंच तत्त्व तीन गुन कौ कहत हैं संसार। तऊ दूजो नाहिं एकै बीज को विस्तार॥ —वही, पृ० ४१

८. तेरे बहुत रूप बानो, तीनो गुन तोही ते निकसे तोही मांहि समानी। —भक्तिसागर, पृ० ४२५
ब्रह्म अरूप धरे बहुरूप कहौ कोउ कैसे स्वरूप कहै। —भक्तिसागर, पृ० ४३३

९. नटवा होइकै बाजी लाया आपुहि देखनहारा है। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

उक्त विचारों की अभिव्यक्ति में सन्त कबीर[1], दादू[2], गरीबदास[3], चरनदास[4], जगजीवन[5] आदि भक्त संत विशिष्ट हैं। ज्ञान-साधन के क्षेत्र में संतों ने निर्गुण, निराकार, अनिवर्चनीय एवं अनन्त-अलक्ष्य ब्रह्म को ही लक्ष्य किया है। ब्रह्म वस्तुतः सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में वर्तमान है, किन्तु सगुण ब्रह्म की उपयोगिता, भक्ति आदि साधनात्मक क्षेत्र में अधिक है। चिन्तन एवं अनुभूति की पराकाष्ठा में तो निर्गुण ब्रह्म ही प्रधान है। निर्गुण ब्रह्म अवतार एवं प्रकृति के विकारों से अछूता रहता है। उसका स्वरूप इतना विराट है कि मनुष्य की वाणी, मन एवं बुद्धि की तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा योगी साधकगण भी उसको नहीं जान सकते। निर्गुण ब्रह्म-साधना की उत्कृष्टता सभी निर्गुण सन्त कवियों ने स्वीकार की है। यहां सन्त कबीर[6], रैदास[7], दादू[8], सुन्दरदास[9], मलूकदास[10], बुल्ला साहब[11], चरनदास[12], सहजोबाई[13], दयाबाई[14], भीखा साहब[15], जग-जीवन[16] व पलटूसाहब[17] की कृतियों से उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

---

१. खंभा में प्रगट्यौ गिलारि। हरनाकुस मार्यौ नख बिदारि। —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २१४

२. धेन चरावन बेन बजावन दरस दिखावन कांमिनी।
विरह उपावन तपति बुझावन अंगि लगावन भांमिनी॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० ५३५

३. सेत छत्र सिर मुकुट विराजै बना मुकैसी चीरा।
संख चक्र गदा पद्म विराजै दामन दमकै हीरा। —गरीबदास की बानी, पृ० १७७

४. नंद घर कौतुक करत नवं.ने।
भक्तवछल करतार गोसाईं धरि आये औतारा। —भक्तिसागर, पृ० ३४५

५. गर्व गुमान कियौ जब रावन मारि कियौ घमसान।
जगजीवनदास नाम भजु अंतर चरन कमल धरि ध्यान। —जगजीवनसाहब की शब्दावली, भाग २

६. सो कछु विचारो पंडित सोई।
जाके रूप न रेख वरन नहिं कोई॥ —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १००
ना दसरथ घरि औतरि आवा। ना लंका का राव सतावा। —वहीं, रमैनी, पृ० २४३
अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई। —वही, रमैनी, पृ० २३०

७. निरंजन निराकार निरलेपी निर्बीकार निसासी। —रैदास-बानी, पद ११

८. निरमल तत निरमल तत निरमल ऐसा।
निर्गुन निज विधि जैसा है तैसा। —दादूदयाल की बानी, पद ६५

९. निराकार है नित्यस्वरूप। —सुन्दर-ग्रन्थावली, भाग १

१०. कहत मलूका निर्गुन के गुन कोई बड़भागी गावै। —मलूकदास की बानी, उपदेश शब्द ४

११. निर्गुन नाम निरंतर पेखो, जहां गुरू नहिं चेला।
विद्या भेद बेद नहिं जाना, जाना एक अकेला॥ —बुल्लासाहब का शब्दसागर, शब्द ५

१२. साधो अचरज निर्गुन राम का।
मात पिता कुल गोत न वाके भेष न दुखिया वाम का। —भक्तिसागर, शब्दवर्णन, पृ० ४२१

१३. रूप नाम गुन सूं रहित पंच तत्त सूं दूर। —दयाबाई की बानी

१४. निराकार निर्गुन निरवासी।
आदि निरंजन अज अविनासी। —सहजोबाई की बानी, पृ० १४

१५. निरंकार निरुपाधि निरामय भीखा रंग न रूप निसानी। —भीखासाहब की बानी, शब्द ३

१६. चमक झलमल रूप निरमल निर्गुन निर्वान।
सुद्ध बुद्धि नाहिं आवै भापै को ज्ञान। —जगजीवनसाहब की बानी, भाग २, श० ६

१७. निराकार न उहां अकारा।
सत्य शब्द नाहीं विस्तारा। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३, शब्द ७६

अब हम शंकर-दर्शन के समानान्तर सन्त-काव्य में जीव के स्वरूप का विचार करेंगे। जीव के सम्बन्ध में सन्तों का मत है कि ब्रह्म-स्वरूप जीवात्मा शरीर के वृद्धि-क्षय आदि धर्मों से रहित है। आत्मा एवं ब्रह्म में पूर्णतः अभेद है। निर्गुण ब्रह्म के समान ही आत्मा परमार्थ में क्रियारहित है और प्रकृति के सत्त्वादि गुणों से शून्य है। आत्मा ही समस्त पदार्थों का अधिष्ठान है। परमार्थ में आत्मा नित्य-मुक्त है एवं उसके बंधन और मोक्ष नहीं होते। कर्मजन्य संस्कारों के कारण जीव जन्मता और मरता है। व्यावहारिक उपाधियों में खंडित होकर जीव अपने स्वरूप की विराटरूपता को भूल गया है। अविद्या-जन्य उपाधि से मुक्त होकर जीव ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संत शंकर के समान ही जीव में पारमार्थिक अभेद एवं ब्रह्म-सत्य का साक्षात्कार करते हैं। दोनों ने ही जीव की व्यावहारिकता के क्षेत्र में अविद्या को आरोपित किया है। दोनों ही जीव के बंधन को पारमार्थिक न मानकर अविद्या अथवा आत्मकृत मानते हैं। दोनों ही ज्ञान द्वारा जीव के मायारूप का बोध होना मानते हैं। दोनों ही विषयों, जागतिक व्यवहारों, एवं कर्म को जीव के बंधन का कारण मानते हैं। दोनों ही आत्मा को नित्य एवं मुक्त मानते हैं। दोनों ही आत्मा को निर्विकार किन्तु विकारों का अधिष्ठान मानते हैं। निर्विकार आत्मा में अविद्यात्मक विकारों की स्थिति के सम्बन्ध में दोनों ने ही विवर्त-भावना का आश्रय लिया है। दोनों ने ही स्वीकार किया है कि जीव को कर्म-भोग के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। दोनों ने ही अविद्याजनित भ्रम को रस्सी में सर्पवत मान कर ज्ञान द्वारा भ्रम-नाश होना स्वीकार किया है। उक्त प्रसंगों को प्रमाणित करने के लिए संत कबीर[१], सन्त रैदास[२] उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय में सन्त दादू[३], सुन्दरदास[४], गरीवदास[५], बुल्लासाहव[६], चरनदास[७], भीखासाहव[८], पलटूसाहव[९], सहजोबाई[१०] और

---

१. त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल तब हमारो नाम रामराई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहिं इहि कबीर कुछ पाई हो। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४
कहै कबीर मोहिं सकल हम मांही, हमथैं और दूसरा नाहीं। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४
तीनि लोक में हमारा पसारा आवागमन सब खेल हमारा। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २००

२. जब लग नदी समुद्र न समावै तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यौ रामसागर में तब यह मिटी पुकारा। —रैदास-बानी, शब्द ३
रजु भुजंग रजनी परगासा अस कछु भरम जनावा। —रैदास-बानी, शब्द ३

३. दादू बंध्या जीव है, छूटा ब्रह्म समान।
दादू दोनों देखिये, दूजा नाही आन॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० २१६
निसि अंधियारी कछू न सूझै, संसै सरप दिखावा।
ऐसो अंध जगत नहि जानै, जीव जेवड़ी खावा॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० ४८८

४. व्यापक अखंड एक रस परिपूरन है, सुन्दर सकल ब्रह्म रचि रह्यो ताहे तैं।
सदोष है देह को संजोग पाइ इन्द्रिन के वास पर्‌यौ आपु ही कौ भूलि गयौ सुख चाहे तैं॥ —सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ५८०, भाग २

५. कहै दास गरीब उपाध लागी सब भूत भये जग नासा है।
दुख दुंद उपाध में जीव बंधे समरथ को नहीं उपासा है। —गरीबदास की बानी, पृ० १०८

६. एकै ब्रह्म सकल महं अहई, काम क्रोध से भरमत रहई। —बुल्ला, शब्द-सागर, पृ० १३

७. देह नहीं तू ब्रह्म है, अविनासी निर्वान।
इच्छा दुइ कर दूरि आप तू ब्रह्म है जावै। —भक्तिसागर, पृ० २९८

८. मन भयौ ब्रह्म जीव नहिं दोसर, अविगत अकथ कहनियां। —भीखासाहब की बानी, पृ० १२
भीखा एक दुइत का भयऊ, सर्प समाय रज्जु महं गयऊ। —भीखासाहब की बानी, पृ० ३६

९. जोई जीव सोई ब्रह्म एक है……
जीव से जाय ब्रह्म तब होता जिव बिनु ब्रह्म न होई।
जिव में ब्रह्म ब्रह्म में जिव है, ज्ञान समाधि में सूझै। —पलटूसाहब की बानी, भाग, ३ पृष्ठ ५३,

१०. जीवरूप के रोग भगे यों ब्रह्म रूप है जावै। —सहजोबाई की बानी

दयाबाई[1] की बानियों से उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

सन्तों और शंकर के अनुसार जीव को ब्रह्मत्व से पृथक करने वाला तत्त्व माया, अविद्या अथवा अज्ञान है। माया-अविद्या के सम्बन्ध में शंकर और सन्त कई प्रकार से सहमत हैं। दोनों ही मानते हैं कि माया से उत्पन्न पदार्थ अनित्य हैं। माया जीव के आत्मबोध के मार्ग में दूषण है। अहंकार, अभिमान, कामना, भोग-लिप्सा आदि मायाजनित विकार हैं। माया भ्रामक और मिथ्या है। जीव का लक्ष्य माया का भोग नहीं है किन्तु माया जीव को अपने विवश रखती है। माया का नाश आत्म-स्वरूप के ज्ञान के अनन्तर होता है। माया त्रैगुण्य की जननी एवं जीव की बंधस्वरूपा है। परमेश्वर ही मायापति है। उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त सन्तों द्वारा गृहीत माया-सिद्धान्त में कुछ विशिष्टता है। सन्तों ने माया का त्याग और ज्ञान-वृत्ति को ब्रह्मोन्मुख करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में सन्तों ने नित्यानित्य-विवेक एवं वैराग्य-साधन को प्रधानता दी है। सन्तों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि माया प्रकृतिजन्य विकार है एवं मन, बुद्धि आदि की वृत्तियां तथा इन्द्रियां सभी माया के रूप हैं। जीव के भौतिक मनोरथ स्त्री, द्रव्य, शरीरासक्ति, ऊंचे-ऊंचे महल, सामाजिक सम्पन्नता आदि सभी मायाजनित अनित्य पदार्थ हैं। यह माया अनिवर्चनीया है। इस सत्य को शंकर और सन्तों दोनों ने स्वीकार किया है। दोनों ने ही माया को ब्रह्म का विवर्त्त रूप माना है। दोनों ने कर्म को शरीर एवं अविद्या से उत्पन्न माना है। इस प्रकार माया के सम्बन्ध में भी शंकर और सन्त एकमत हैं। सन्त-बानियों से प्रकट है कि माया, अविद्या, अज्ञान आदि शब्दों को इन सन्तों ने पर्यायरूप में अंकित किया है। उक्त प्रसंग में सन्त कबीर[2] सन्त रैदास[3], दादू[4], सन्त मलूकदास[5], चरनदास[6], सुन्दरदास[7], सन्त पलटू[8] के दार्शनिक विचार उद्धृत किए जाते हैं।

अब हम सन्त-काव्य के साधनात्मक तत्त्वों पर विचार करेंगे। कर्म की साधना को सन्त श्रेष्ठ साधन नहीं मानते। शंकर और सन्त दोनों ही ज्ञान-साधन को ही चरम साधन स्वीकार करते हैं। कर्म-साधन जीव को चिरस्थायी मुक्ति पद देने में असमर्थ है। पुण्य कर्मों का फल स्वर्ग कहा गया है किन्तु पुण्य के क्षीण होने पर जीव पुनः संसार में जन्म लेता और मरता है। वैदिक दर्शन का लक्ष्य है जीव को चिरन्तन शान्ति प्रदान करना। अतः शंकर और सन्त दोनों ही कर्म-साधन को पूर्ण कल्याणकारी नहीं मानते। कर्मसाधन की निकृष्टता का उल्लेख प्रायः सभी निर्गुण कवियों के काव्य

---

१. जीव ब्रह्म अन्तर नहिं कोय।
एकै रूप सर्व घट-घट होय॥
जग विवर्त सूं न्यारा जान।
परम अद्वैत रूप निर्वान॥ —दयाबाई की बानी, पृ० १४

२. धन धंधा व्यवहार सब, माया मिथ्यावाद। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २१०
माया मोहि मोहि हित कीन्हा, तार्थें ग्यान ध्यान हरिलीन्हा। —वही, पृ० १७१
पांच तत्त तीन गुण जुगति करि सानियां उपजि विनसै जेती सर्वमाया। —कबीर-ग्रन्थावली, पृ० १५६

३. झूठी माया जग डहकाया तौ तिन ताप दहै रे। —रैदास-बानी, पृ० २२

४. माया बैठी राम ह्वै कहै मैं ही मोहनराइ।
ब्रह्मा बिस्न महेस लौं, जोनी आवै जाइ। —दादूदयाल की बानी, माया का अंग
माया काली नागिनी, जिन डसिया सब संसार हो। —दादूदयाल की बानी, शब्द

५. हमसे जनि लागै तू माया।
थोरे रे फिरि बहुत होयगी सुनि पैहैं रघुराया। —मलूकदास की बानी, पृ० १०

६. उपजै सो माया सभी बिनसि नेक में जाय।
छल माया सो कहत हैं सपनो सकल बिहाय॥ —भक्तिसागर, पृ० २९९

७. उपजै बिनसै सो सब बाजी वेद पुराननि में कह्यो।
नाना विधि के खेल दिखावै बाजीगर सांची तुही॥
रज भुजंग मृगतृष्णा जैसी यह माया विस्तरि रही॥ —सुन्दर-ग्रन्थावली, पृ० ८३४

८. माया ठगिनी जग बौराई।
देवतन के घर भई अप्सरा जोगी के घर चेली। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

में उपलब्ध है। मुख्यतः सन्त कबीर[1], रैदास[2], दादूदयाल[3], सुन्दरदास[4], मलूकदास[5], गरीबदास[6], भीखा[7], चरनदास[8] और पलटूसाहब[9] यहां उल्लेखनीय हैं। कर्म अविद्याजनित है एवं प्रकृति के गुणों से इसकी उत्पत्ति होती है। अस्तु, शंकर और सन्त दोनों ही ज्ञान-साधन को श्रेष्ठ मानते हैं।

ज्ञान के द्वारा जीव एवं ब्रह्म की एकता तथा अभेद का अनुभव होता है। जगत और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन ज्ञान द्वारा संभव है। यह ज्ञान प्रपंचभूत मायिक तत्त्वों से भिन्न ब्रह्मस्वरूप और नित्य सत्य है। ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु जीव का कल्याण करने में पूर्ण समर्थ साधन है। इस ज्ञान से ही जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। सन्त कबीर[10], रैदास[11], दादूदयाल[12], सुन्दरदास[13], मलूकदास[14], गरीबदास[15], बुल्लासाहब[16], चरनदास[17], दयाबाई[18], भीखासाहब[19], जगजीवन साहब[20] एवं पलटूसाहब[21] ज्ञान-धारा के मुख्य कवि हैं।

अब हम सन्त-काव्य में शंकर-सम्मत साधन-चतुष्टय पर विचार करेंगे। सन्त-काव्य में नित्यानित्य-विवेक का विचार करते हुए हम देखते हैं कि सन्तों के विचार इस सम्बन्ध में पूर्णतः स्पष्ट हैं। विवेकचूड़ामणि के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। इस विषय का निश्चय ही नित्यानित्य-विवेक है।[22] इस सम्बन्ध में सन्तों की पदा-

---

१. यहु तन तौ सब वन भया, करम भये कुहाड़ि।
आप आप को काटिहैं, कहै कबीर बिचारि ॥ —कबीर-ग्रंथावली, पृ० २५

२. भरम करि करि करम कीये, भरम की यह बानि ॥ —रैदास-बानी, पृ० ५

३. जप तप करनी करि गये सर्ग पहूंचे जाइ।
दादू मन की वासना, नरकि परे फिरि आइ ॥ —दादूदयाल की बानी, पृ० १५५

४. तीनों गुन के कर्मनि करिके नाना योनि भुलायौ। —सुन्दर-ग्रंथावली

५. जे करनी का करैं भरोसा ते जम के घर जाहीं। —मलूकदास की बानी, पृ० १६

६. इसमें दूसर कर्म है, बंधी अबिद्या गांठ।
पांच पचीसों ले गई, अपनी अपनो बाट। —गरीबदास की बानी, पृ० १२६

७. जग परिपंच करम अरुझै नर, सबै कहत मोरी मोरी। —भीखासाहब की बानी, पृ० ४४

८. पूंजी कर्म जु माया पासा फिरि उतपति की वाको आसा। —भक्तिसागर, पृ० ३०, धर्मजहाज-वर्णन।

९. कर्म बंध हरि दूरिहैं बूड़ी मझधारा। —पलटूसाहब की बानी, भाग ३

१०. अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान। —कबीर-ग्रंथावली, पृ० ८६

११. ग्यान बिचारि चरन चित लावै हरि की सरनि रहै रे। —रैदास-बानी, पृ० २२

१२. राम कहै जिस ज्ञान सौं अमृत रस पीवै। —दादूदयाल की बानी, पृ० १२३

१३. ब्रह्म ज्ञान बिचारि करि होई ब्रह्म सरूप रे। —सुन्दर-ग्रंथावली, पृ० ८३६

१४. हांक ले आया ज्ञान तब बांधा तांत लगाय। —मलूकदास की बानी, पृ० ३५

१५. अजब मरहम मिला ज्ञान अगहे खुला परख परतीत सूं दुन्द भागा। —गरीबदास की बानी, पृ० ११०

१६. जन बुल्ला ब्रह्मज्ञान बोलतु है सकल वेद कौ मूल। —बुल्लासाहब, शब्दसागर, पृ० १२

१७. अब हम ज्ञान गुरू से पाया।
दुविधा खोय एकता दरसी निश्चल है घर आया। —भक्तिसागर

१८. महामोह की नींद में सोवत सब संसार।
दया जगत गुरू दया सूं ज्ञान मान उजियार। —दयाबाई की बानी, पृ० १३

१९. कली बैठि गुरु ज्ञान मूल। —भीखासाहब की बानी, पृ० ४१

२०. साधौ, अब मैं ज्ञान विचारा।
निर्गुन निराकार निरबानी तिनका सकल पसारा। —जगजीवनसाहब की बानी

२१. जागे से परलोक बनतु है सोये बड़ो दुख होय।
ज्ञान खरग लिये पलटू जागै होनी होय सो होय ॥ —पलटूसाहब की बानी, भाग ३, पृ० ३८

२२. ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः। —विवेकचूड़ामणि

वली में रहता-वहता, निहचल-चंचल, खरा-खोटा, वेहद-हद, पूरा-अधूरा, निरंजन-अंजन, सांच-झूठ आदि शब्दों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। सभी सन्तों ने नित्यानित्य-विवेक को अपने ज्ञान-साधन का आधार वनाया है।

वैराग्यसाधन संतकाव्य का प्राण कहा जा सकता है। विवेकचूड़ामणि के अनुसार 'दर्शन और श्रवण के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक तक सम्पूर्ण अनित्य पदार्थों में घृणा हो जाना वैराग्य है।'[1] इस सम्वन्ध में सन्तकाव्य में माया-सम्वन्धी विचारों का अध्ययन अधिक उपयोगी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान का तृतीय साधन है, षट्साधन-सम्पत्ति। इसमें शम—मानसिक व अन्तःकरण की शान्ति; दम—इन्द्रिय-निग्रह, उपरति, विषयोपभोग की इच्छा से रहित होना; तितिक्षा—साधनमार्ग की कठिनाइयों को धैर्यपूर्वक सहन करना; श्रद्धा—गुरु और शास्त्र-वाक्यों में पूर्ण विश्वास रखना; समाधान—सम्पूर्ण वृत्तियों को शान्त करके परमात्मा में स्थित होना आदि साधनात्मक व्यवहारों की प्रधानता है। चतुर्थ साधन मुमुक्षुत्व अथवा साधक में मोक्षेच्छा होना है। इस विषय में यह स्मरणीय है कि सन्तों ने इन साधनों का उल्लेख अथवा इन्हें परिभाषावद्ध रूप में कहीं नहीं प्रकाशित किया, तो भी इसका पालन करना उनकी साधना का मुख्य अंग रहा है। इस विषय में सन्त-काव्य इन तत्त्वों से आप्लावित है। सन्त-साहित्य के अध्येता के लिए इन तत्त्वों को खोजने में परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा। अतः इस विषय को इस संक्षिप्त व्याख्या के साथ ही समाप्त करना उचित है।

उपर्युक्त साधनक्रम शांकर वेदान्त के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त ज्ञान के अन्य साधन सद्गुरु या आचार्य, युक्ति व तर्क-प्रतिष्ठा, अनुभव-श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों का भी सन्त-काव्य में अभाव नहीं है। इनमें सद्गुरु और अनुभव की विस्तृत मान्यताएं तो सन्त-काव्य में उसी प्रकार से अनन्त रूप से व्यापक हैं जिस प्रकार हरि-कथा।

---

१. तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादि ब्रह्म पर्यन्तं ह्यनित्ये भोगवस्तुभिः ॥ —विवेकचूड़ामणि

निर्गुण-भक्ति के प्रचारक : संत नामदेव

डा० विनयमोहन शर्मा

नामदेव महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत हो गए हैं। इनके समय में नाथ और महानुभाव-पंथों का महाराष्ट्र में प्रचार था। नाथ-पंथ 'अलख-निरंजन' की योग-परक साधना का समर्थक तथा बाह्याडम्बरों का विरोधी था और महानुभाव-पंथ वैदिक कर्मकांड तथा बहुदेवोपासना का विरोधी होते हुए भी मूर्ति-पूजा को सर्वथा निषिद्ध नहीं मानता था। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में पंढरपुर के बिठोबा की उपासना भी प्रचलित थी। सामान्य जनता प्रतिवर्ष आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशी को उनके दर्शनों के लिए पंढरपुर की वारी (यात्रा) किया करती थी और यह प्रथा आज भी प्रचलित है। इस प्रकार की वारी (यात्रा) करने वाले 'वारकरी' कहलाते हैं। विट्ठलोपासना का यह पंथ 'वारकरी सम्प्रदाय' कहलाता है। नामदेव इसी सम्प्रदाय के प्रमुख संत माने जाते हैं।

नामदेव का काल-निर्णय : वारकरी संत नामदेव के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। मतभेद का कारण यह है कि महाराष्ट्र में नामदेव नामक पांच संत हो गए हैं और उन सबने थोड़ी-बहुत अभंग और पद-रचना की है। आवटे की 'सकलन संतगाथा' में नामदेव के नाम पर २५०० अभंग मिलते हैं। लगभग ६०० अभंगों में केवल नामदेव या 'नामा' की छाप है और शेष में विष्णुदास नामा की।

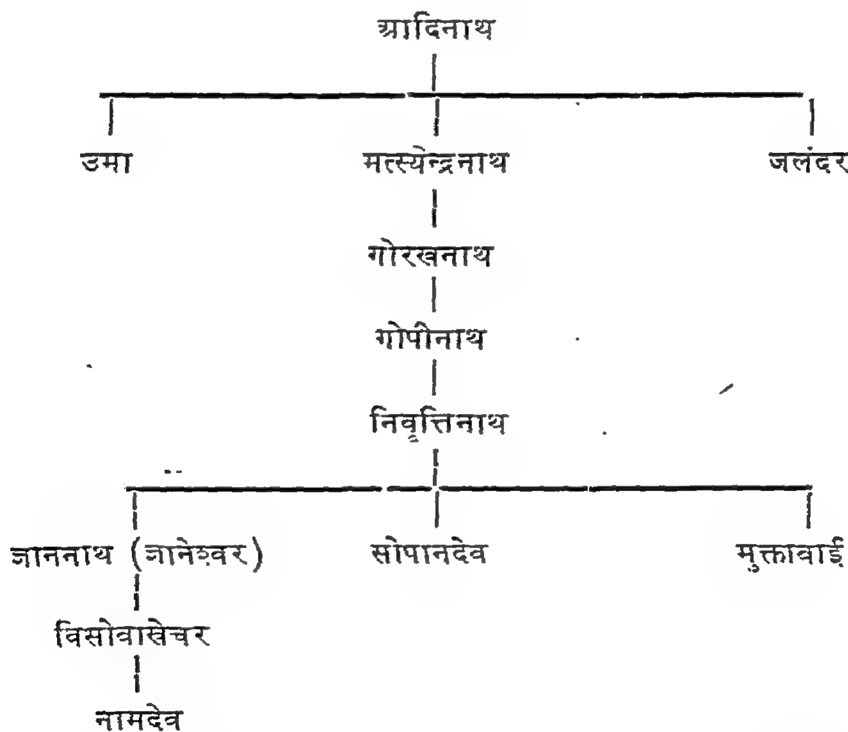
कुछ विद्वानों के मत से दोनों 'नामा' एक ही हैं। विष्णु (विठोबा) के दास होने से नामदेव ने ही सम्भवत: अपने को विष्णुदास 'नामा' कहना प्रारम्भ कर दिया हो। इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहासकार वि० का० राजवाड़े का कथन है कि 'नामा' शिंपी (दर्जी) का काल शके ११९२ से १२७२ तक है। विष्णुदास नामा का समय शके १५१७ है। यह एकनाथ का समकालीन था। प्रोफेसर रानडे ने भी राजवाड़े के मत का समर्थन किया है। श्री राजवाड़े ने विष्णुदास नामा की 'बावन-अक्षरी' प्रकाशित की है जिसमें 'नामदेवराय' की वन्दना की गई है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दोनों व्यक्ति भिन्न हैं और भिन्न-भिन्न समय में हुए हैं। चांदोरकर ने महानुभावी 'नेमदेव' को भी वारकरी नामदेव के साथ जोड़ दिया है। परन्तु डा० तुलपुले का कथन है कि यह भिन्न व्यक्ति है और कोली जाति का है। इसका वारकरी नामदेव से कोई सम्बन्ध नहीं है। नामदेव के समसामयिक एक विष्णुदास नामा कवि का और पता चला है पर यह महानुभाव सम्प्रदाय का है। इसने महाभारत पर ओवीबद्ध ग्रन्थ लिखा है इसका वारकरी नामदेव से कोई सम्बन्ध नहीं है।

नामदेव-विषयक एक और विवाद है। 'गुरुग्रन्थसाहब' में नामदेव के ६१ पद संगृहीत हैं। महाराष्ट्र के कुछ विवेचकों की धारणा है कि गुरुग्रन्थसाहब का नामदेव पंजाबी है, महाराष्ट्रीय नहीं। हो सकता है, वह महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव का कोई शिष्य रहा हो और उसने अपने गुरु के नाम पर हिन्दी में पद-रचना की हो। परन्तु मेरे मत से महाराष्ट्रीय वारकरी नामदेव ही के हिन्दी-पद गुरुग्रन्थसाहब में संकलित हैं। क्योंकि मैंने नामदेव के मराठी अभंगों और गुरुग्रन्थसाहब के पदों में जीवन-घटनाओं तथा भावों, यहां तक कि रूपकों और उपमाओं तक की समानता पाई है। अत: मराठी अभंगकार नामदेव और हिन्दी-पदकार नामदेव एक ही सिद्ध होते हैं।

महाराष्ट्रीय विद्वान वारकरी नामदेव को ज्ञानेश्वर का समसामयिक मानते हैं और ज्ञानेश्वर का समय

उनके ग्रन्थ 'ज्ञानेश्वरी' से प्रमाणित हो जाता है। ज्ञानेश्वरी में उसका रचना-काल १२१२ शके दिया हुआ है। डा० मोहनसिंह दीवाना नामदेव के काल को खींचकर चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। परन्तु उन्होंने अपने मत-समर्थन का कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। नामदेव की एक प्रसिद्ध रचना 'तीर्थावली' है जिसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। उसमें ज्ञानदेव और नामदेव की सह-यात्राओं का वर्णन है। अत: ज्ञानदेव और नामदेव का समकालीन होना भीतरी साक्ष्य से भी सिद्ध है। नामदेव ज्ञानेश्वर की समाधि के लगभग ५५ वर्ष बाद तक और जीवित रहे। इस प्रकार नामदेव का काल शके ११९२ से शके १२७२ तक माना जाता है।

जीवन-चरित्र : नामदेव का जन्म शके ११९२ में प्रथम सम्वत्सर कार्तिक शुक्ला एकादशी को नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राम में दामा शेट शिंपी (दर्जी) के यहां हुआ था। इनका मन पैतृक व्यवसाय में कभी नहीं लगा। ये प्रारम्भ में लूटमार-हत्या आदि समाज-विरोधी कार्य किया करते थे। एक दिन जब यह अपने उपास्य आवढ्या के नागनाथ के दर्शन के लिए गए तब इन्होंने मन्दिर के पास एक स्त्री को अपने रोते हुए बच्चे को बहुत बुरी तरह से मारते हुए देखा। इन्होंने जब उससे इसका कारण पूछा तब उसने बड़ी वेदना के साथ कहा, 'इसके बाप को तो नामदेव डाकू ने मार डाला, अब मैं कहां से इसके पेट में अन्न डालूं ?" नामदेव के मन पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। यह तभी से विरक्त हो पंढरपुर में जाकर 'विठोवा' के भक्त हो गए। वहीं इनकी ज्ञानेश्वर-परिवार से भेंट हुई और उसी की प्रेरणा से इन्होंने नाथपंथी विसोबा खेचर से दीक्षा ली। जो नामदेव पंढरपुर के विट्ठल की प्रतिमा में ही भगवान को देखते थे, वे खेचर के सम्पर्क में आने के बाद उसे सर्वत्र अनुभव करने लगे। उनकी प्रेमासक्ति में ज्ञान का समावेश हो गया। डा० मोहनसिंह दीवाना नामदेव को रामानन्द का शिष्य बतलाते हैं। परन्तु महाराष्ट्र में इनकी बहुमान्य गुरु-परम्परा इस प्रकार है:—



ज्ञानेश्वर और नामदेव ने उत्तर भारत की साथ-साथ यात्रा की थी। ज्ञानेश्वर मारवा में कोलादजी नामक स्थान तक ही नामदेव के साथ गए। वहां से लौटकर उन्होंने आलंदी में शके १२१८ में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वर के वियोग से नामदेव का मन महाराष्ट्र से उचट गया और वह पंजाब की ओर चले गए। गुरुदासपुर जिले के घोमान नामक स्थान पर आज भी 'नामदेवजी का मन्दिर' विद्यमान है। वहां सीमित क्षेत्र में इनका पंथ भी चल रहा है। संतों के जीवन के साथ कतिपय चमत्कारी घटनाएं जुड़ी रहती हैं। नामदेव के चरित्र में भी सुल्तान की आज्ञा से इनका मृत

गाय को जिलाना, पूर्वाभिमुख आवढ्या नागनाथ मन्दिर के सामने कीर्तन[1] करने पर पुजारी के आपत्ति उठाने के उपरांत इनके पश्चिम की ओर जाते ही उसके द्वार का पश्चिमाभिमुख हो जाना, विट्ठल की मूर्ति का इनके हाथ से दुग्धपान करना आदि घटनाएं समाविष्ट हैं। महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक विट्ठल की व्यापकता का कीर्तन करने वाले नामदेव ने ८० वर्ष की आयु में पंढरपुर के विट्ठल मन्दिर के महाद्वार पर शके १२७२ में समाधि ले ली। कुछ विद्वान उनका समाधि-स्थान घोमान मानते हैं परन्तु बहुमत पंढरपुर के ही पक्ष में है।

नामदेव का मत : बिसोवाखेचर से दीक्षा लेने के पूर्व तक यह सगुणोपासक थे। पंढरपुर के विट्ठल (विठोवा) की उपासना किया करते थे। दीक्षा के उपरांत इनकी विट्ठलभक्ति सर्वव्यापक हो गई। महाराष्ट्रीय संत-परम्परा के अनुसार इनकी निर्गुण-भक्ति थी, जिसमें सगुण-निर्गुण का कोई भेदभाव नहीं था। इन्होंने मराठी में कई सौ अभंग और हिन्दी में सौ के लगभग पद रचे हैं। इनके पदों में हठयोग की कुंडलिनी-योगसाधना और प्रेमासक्ति की (अपने राम से मिलने की) 'तालावेली' (विह्वलभावना) दोनों है। निर्गुणी कबीर के समान नामदेव में भी व्रत, तीर्थ आदि बाह्याडम्बर के प्रति उपेक्षा, तथा भगवन्नाम एवं 'सतगुरु' के प्रति आदरभाव विद्यमान है। कबीर के पदों में यत्र-तत्र नामदेव की भावछाया दृष्टिगोचर होती है। कबीर के पूर्व नामदेव ने उत्तर भारत में निर्गुण-भक्ति का प्रचार किया, जो निर्विवाद है।

नामदेव के पदों में भक्त की भगवान के प्रति मिलन-उत्कंठा की मधुर अभिव्यक्ति है। इसे वह 'तालावेली' शब्द से परिचित कराते हैं; जिसका अर्थ व्याकुलता तो है, पर ऐसी व्याकुलता है जिसमें तीव्रता है, आतुरता है। वह कहते हैं––

"मोहि लागति तालावेली।
बछरे बिनु गाइ अकेली॥
पानीआ बिनु मीनु तलफै।
ऐसे रामनामा बिनु बापुरो नामा॥"

यह तालावेली उस प्रकार की है, जिस प्रकार की गाय को बछड़े के बिना होती है, मछली को पानी के बिना होती है।

नामदेव प्रेम की तीव्रता का भान लोकानुभूत उदाहरण देकर कराते हैं––

"जैसे बिखैहेत पर नारी,
ऐसे नामे प्रीति मुरारी।"

जिस प्रकार विषयी पर-नारी से प्रेम कर तड़पता है उसी प्रकार की तालावेली मेरी तुम्हारे प्रति है। 'परकीया' में प्रीति की विह्वलता अधिक मुखरित होती है। तभी वल्लभ-सम्प्रदायियों ने 'राधा' और 'गोपियों' की सृष्टि कर परकीया प्रेमासक्ति की छटपटाहट व्यक्त की है। एक पद में 'राम' के प्रति प्रीति की सघनता का इसी प्रकार का उदाहरण दिया है––

"कामी पुरख कामनी पिआरी। ऐसी नामे प्रीति मुरारी।"

पृष्ठ १३०

'नामा' अपने राम की बावली वधू बनकर उसे रिझाने के लिए सिंगार करते हैं––

"मैं बउरी मेरा राम भरतार,
रचि-रचि ताकउ करऊं सिंगार।"

कबीर ने भी कई पदों में नामदेव की भांति कान्ताभाव से अपने 'राम' की कामना की है और विरह में बिना जल की मछली के समान तड़पने की व्यथा व्यक्त की है। उनकी एक पंक्ति तो बिलकुल नामदेव की ही जान पड़ती है––

---

१. महाराष्ट्र में कीर्तन-प्रथा के प्रवर्तक नामदेव माने जाते हैं।

"मैं बउरी मेरे राम भरतार,
तां कारण रचि करौं स्यंगार।"
"हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।"
ज्यूँ कामी को कांम पियारा,
ज्यूँ प्यासे को नीर रे।
है कोई ऐसा पर उपकारी
हरि सूँ कहै सुनाय रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं,
बिन देखे जीव जाइ रे॥[1]

राम' से मिलने की जो तालावेली नामदेव में है, वही कबीर में है, और वही दादू में भी—

राम बिछोही बिरहनी, फिरि मिलन न पावै।
दादू तलफै मीन ज्यूँ तुझ दया न आवै॥

दादू तो तालावेली की कामना भी करते हैं क्योंकि उसी से दरसन के रस में मिठास आती है।

तालाबेली प्यास बिन क्यों रस पीया जाय।
विरहा दरसन दरद सों हमकों देहु खुदाइ॥
कहा करौं कैसे मिलैं रे तलपै मेरा जीव।
दादू आतुर विरहिनी कारण अपने पीव॥

संत रज्जब की कसक भी उसी कोटि की है—

विरहिण व्याकुल केसवा, निसिदिन दुखी विहाय।
जैसे चंद कुमोदिनी बिन देखे कुम्हलाइ॥
खिन खिन दुखिया दगधिये विरह विथा वन पीर।
घरी पलक में विनसिये ज्यूँ मछरी बिन नीर॥"[2]

नामदेव को अपने प्रिय से मिलते समय लोकनिंदा का भय नहीं है। वह तो 'निसानुबजाई: (डंके कीचोट पर) मिलना चाहते हैं। यह भाव मध्यकालीन वृन्दावन की गोपियों के समान जान पड़ता है जिसमें "कोउ कहा कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहो" की गूंज है।

"भले निंदऊ भले निंदऊ भले निंदऊ लोगू,
तनु मनु राम मिआरे जोसू।
बादु बिवादु काहू सिउ न कीजै,
रसना रामु रसाइनु पीजै।
अब जिउ जानि ऐसी बनि आई,
मिलउ गुपाल नीसानु बजाई।
असतुति निंदा करै नरु कोई
नामें श्रीरंगु भेतल सोई।"

कबीर में भी इसी भाव की प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

१. सन्त-सुधासार, पृ० ४५८
२. सन्त-सुधासार, पृ० ५१६

"भलै नींदौ भलै नींदौ नींदौ लोग,
तन मन राम पिश्रारे जोग।

नामदेव के पूर्व नाथ-सम्प्रदाय के प्रेरक सिद्धों ने बहुदेवोपासना, व्रत, तीर्थ आदि वाह्याडम्बरों की व्यर्थता प्रचारित की है।[1] महाराष्ट्रीय सन्तों का सम्पर्क नाथों से रहने के कारण उन्होंने भी वाह्याडम्बरों के प्रति उदासीनता व्यक्त की है।

नामदेव के पदों में सिद्धों और नाथों का स्वर सुन पड़ता है—

राम संगि नामदेव जनकऊ प्रति सिया श्राई।
एकादसी वृतु रहै काहे कऊ तीरथ जाई।
भनति नामदेव सुकिल सुमित भए।

उत्तर भारत में जब नामदेव ने भ्रमण किया तो उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही जातियों में, धार्मिक और सामाजिक कट्टरता दिखाई दी। अतएव उन्होंने उन दोनों को बोध-वाणों से छेदने की चेष्टा की—

"पांडे तुमरी गाइनी लोधेका खेत खाती थी।
लैकरि ठेका टगरी तोरी लांगत लांगत जाती थी।।
पांडे तुमरा महादेऊ घऊले वलद चढ़िश्रा भावत देखिश्रा था।
मोदी के घर खाणा पाका वाका लड़का मारिश्रा था।।
पांडे तुमरा रामचंदु सो भी श्रावतु देखिश्रा था।
रावन सेती सरबर होइ घर की जोइ गवाई थी।।
हिंदू पूजै देहुरा मुसलमाणु मसीत।
नामें सोई सेविश्रा जह देहुरा न मसीत।।"

पोथी-पढ़न्ते पांडे के प्रति जिस प्रकार नामदेव की खीझ है उसी प्रकार कबीर की भी है:

तू राम न जपहि अभागी!
वेद पुरान पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अन्त पड़ै मुख छारा।।

नामदेव की साहित्यिक और सांस्कृतिक सेवा

नामदेव का व्यक्तित्व सचमुच महान था, उन्होंने उत्तर भारत में प्रवेश कर जनता को बहुदेवोपासना, कृत्रिम आचार-विचार, जातिभेद आदि के प्रति सजग किया। क्योंकि भारत में जो विदेशी संस्कृति का प्रवेश हो गया था, वह उसके इन्हीं 'दोषों' से लाभान्वित हो अपना विस्तार कर सकती थी। अतः उन्होंने अपने उपदेशों से कबीर और अन्य परवर्ती सन्तों का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नामदेव ने जहां उत्तर भारत में युगानुरूप विचारों से क्रान्ति की चिनगारी प्रज्वलित की, वहां हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से खड़ीबोली के पद्य को विभिन्न राग-रागिनियों की पद-शैली भी प्रदान की। संक्षेप में नामदेव हिन्दी के अपने समय के (१) निर्गुण-भक्ति के प्रथम प्रचारक, और (२) हिन्दी गीत-शैली के प्रथम उन्नायक कहे जा सकते हैं। नामदेव की लोकप्रियता का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि परवर्ती सन्त कवियों ने श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण किया है।

---

१. किन्तः तित्थ तपोवण जाइ, मोक्ख कि लफभइ पाणी न्हाइ।
—संत-सुधासार, पृ० ६

सिद्ध तिल्लोपाद कहते हैं—
(तीर्थ-सेवन और तपोवनवास तथा जलस्नान से कहीं मोक्ष-लाभ होता है?)
देव म पूजहु तित्थ ण जावा, देव पूजाहि ण मोक्ख पावा। सं० सु० पृ० १०
(न देव-पूजा करो न तीर्थ जाओ, देवपूजा से मोक्ष प्राप्त नहीं करोगे।)

मध्ययुगीन मानस

डा० रामरतन भटनागर

मध्य युग में भारतीय मन परिवार, समाज, नीति, परम्परा और प्रथित धर्म के सारे बन्धनों को तोड़कर उनका अतिक्रमण करने तथा अकेला खड़े रहने की चेष्टा करता है। भारतीय समाज के तीन प्रमुख बन्धन रहे हैं : वर्ण (जाति), परिवार और ग्राम-पंचायत। नवागन्तुकों को इन बंधनों को स्वीकार करना पड़ता था और तभी वह भारतीय लोक में दीक्षित हो सकते थे। इन तीनों में अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य की भावना का प्राधान्य था। इन्हीं के द्वारा नैतिक और सामाजिक जीवन की तुष्टि सम्भव थी। वस्तुतः भारतीय एकता का मूलाधार ही यह कर्त्तव्य की धारणा है जो कर्मवाद, और फलतः नियतिवाद, से जुड़ी हुई है। धर्म और दर्शन के प्रति भारतीय भावना उदार, सहिष्णु और सारसंग्रही रही है। भारतीय समाज व्यवस्थित समाज था और एक बार सामाजिक व्यवस्था में अपना स्थान निश्चित कर लेने पर धर्म और चिन्ता के क्षेत्र में व्यक्ति को खुला छोड़ा जा सकता था। हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और जैन एक ही सूत्र से बंधे हुए थे। एक प्रकार से भारतीय-मेधा व्यवस्थावादी, स्थिरतावादी तथा कर्त्तव्यवादी थी। इसका सबसे प्रौढ़ स्वरूप ब्राह्मण-धर्म में देखा जा सकता है जिसमें वेद, शास्त्र, ब्राह्मण, पौरोहित्य तथा वर्ण-व्यवस्था (स्मृति) का कड़ा अनुशासन था।

परन्तु आरम्भ से ही इस ब्राह्मणधर्मी व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी चल रहे थे जो बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायों के रूप में पल्लवित हुए। स्वयं ब्राह्मणधर्म के भीतर 'पाञ्चरात्र' जैसे विरोधी सम्प्रदाय थे। उपनिषदों का आत्मवाद (ब्रह्मवाद) भी यज्ञवाद का विरोधी बनकर सामने आता है और समस्त भूतों में व्याप्त एक ही चिन्मय शक्ति के आधार पर मानवैक्य की नई कल्पना जाग्रत करता है। विचार की भूमि पर वह चाहे क्रांतिकारी नहीं हो, परन्तु साधना तथा व्यवहार की भूमि पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह वर्ण-व्यवस्था, पुरोहित तथा प्रथित धर्म का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार व्यवस्थित भारतीय समाज के भीतर से उसके बंधनों को शिथिल करने का प्रयत्न हुआ और मध्ययुग में इस चेष्टा ने बड़ा व्यापक रूप धारण कर लिया।

मध्य युग की यह क्रांति तंत्र, योग तथा भक्ति की भूमि पर पल्लवित हुई और इसने सम्पूर्ण व्यवस्था के अस्वीकार को ही अपना धर्म मान लिया। वैष्णव, शैव, बौद्ध तथा जैन सभी सम्प्रदायों ने इस क्रांति को अंशतः या सम्पूर्णतः स्वीकार किया। सभी ब्राह्मणों के याज्ञिक धर्म (स्मार्त्त धर्म) के विरोधी थे और पुरोहित, धर्म-व्यवस्था तथा शास्त्र से मुख मोड़कर चरम सत्ता से अपना निजी, स्वतन्त्र तथा भावनात्मक सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे। उन्होंने सभी प्रकार के संकीर्ण विभेदों का विरोध किया और मनुष्य-मात्र को देवोपम मानकर आभ्यंतर जीवन की नये सिरे से प्रतिष्ठा की।

स्त्रियों और शूद्रों को भी धर्म-साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्रांति पिछली किसी भी धार्मिक क्रांति से कम नहीं थी और इसने युग का ध्यान देवता से हटाकर मनुष्य पर केन्द्रित कर दिया। वह भी खण्डित मनुष्य नहीं, अखण्डित, समग्र मानव। फलतः प्रवृत्ति में ही निवृत्ति की खोज हुई और मुक्ति तथा भुक्ति का अंतर नष्ट हुआ। यह विद्रोह सार्वभौम था और उसने देशकालिक व्यवधान को नष्ट कर एकमात्र 'चित्त' की उन्मुक्ति

को महत्त्व दिया था।

प्राचीन भारत में ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्ग ही शिष्ट (एलीट) रहे हैं। उनमें स्पष्ट रूप से द्वन्द्व दिखलाई पड़ता है जो ब्रह्म-क्षत्र-संघर्ष के रूप में प्रसिद्ध है। ब्राह्मणों के याग-धर्म (क्रियाकाण्ड) के विरुद्ध क्षत्रिय-वर्ग ने 'ब्रह्म-वाद' (आत्मवाद) को जन्म दिया, जैसे अश्वपति कैकेय, पांचालराज, प्रवाहण जैवलि, तथा जनकविदेह से सम्बन्धित उपनिषदों के वृत्तांतों से जान पड़ता है। जैन तथा बौद्ध धर्मान्दोलन भी इसी संघर्ष की सूचना देते हैं, क्योंकि इन आंदोलनों के प्रवर्त्तक राजन्यवर्ग के महापुरुष महावीर और बुद्ध थे। भागवतधर्म के पूर्व-पुरुष कृष्ण के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस प्रकार मध्य युग से बहुत पहले वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण, पुरोहित, क्रियाकाण्ड और शास्त्र के प्रति विरोध विकसित हो चुका था और वेदांत (ब्रह्मवाद), महायान-भक्ति तथा अद्वैत के रूप में उसका दार्शनिक स्वरूप भी स्पष्ट हो गया था। मध्ययुग में इन्हीं विरोधों के भीतर से अद्वैतवाद (शंकर), भक्ति (रामानुज-रामानन्द), तन्त्र (वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान तथा वैष्णव-शैव तांत्रिक सम्प्रदाय), योग (हठयोग, कुण्डलिनी-योग आदि) और सूफ़ी-साधनाएं पल्लवित हुई। कालांतर में इन स्वतन्त्र साधनाओं ने ब्राह्मणधर्म और उसके संगठन के बाहर अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया। इन सम्प्रदायों के कारण विदेशी जातियों को, जो वर्ण-व्यवस्था और पुरोहितवाद की कायल नहीं थीं, भारतीय लोक-व्यवस्था में सम्मिलित होना सम्भव हो गया। फलस्वरूप, सैकड़ों की संख्या में सम्प्रदायों का जन्म हुआ। यह कहा जा सकता है कि इस्लाम-पूर्व का भारतवर्ष सम्प्रदायों में ही संगठित था। उस समय समाज की कल्पना हिन्दू-अहिन्दू-समाज के रूप में नहीं थी। इस्लाम के प्रवेश के साथ यह समाज हिन्दू नाम से एक विशाल समाज के रूप में संगठित हो गया और 'भक्ति' के चोले में अनेक वेद-ब्राह्मण-शास्त्र-विरोधी सम्प्रदाय भी उसमें प्रवेश पा गए। कुछ सम्प्रदाय 'न हिन्दू, न मुसलमान' बनकर दोनों धर्मों की सीमा-रेखाओं में ही आबद्ध रहे, जैसे गोरखनाथ का नाथ-पंथ, जिसमें पूर्ववर्त्ती १२ शैवयोगी सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त थे। परन्तु कालान्तर में इन्हें भी हिन्दुओं अथवा मुसलमानों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि ऊपर से स्थिर हिन्दू-समाज के भीतर ही उसका विरोध भी आत्मसात हुआ। इस विरोध ने उसे उदार, सहिष्णु तथा क्रांतदर्शी बनाया। फलस्वरूप, १२वीं शताब्दी के बाद का हिन्दू-समाज उसके पहले के वर्ण-व्यवस्था-प्रधान 'आर्य'-समाज से भिन्न है। ये विरोधी समाज मुख्यतः ब्राह्मणेतर वर्गों में दीक्षित होते हैं। इस व्यवस्था के फलस्वरूप इस युग का हिन्दू-समाज दो समानान्तर स्तरों में बंट जाता है: (१) पहला स्तर उच्चवर्णीय हिन्दुओं (प्रमुखतः ब्राह्मणवर्ग) का है जिनमें स्मार्त्तधर्मावलम्बी, सनातनी, वेद-ब्राह्मण-शास्त्रप्रिय दृष्टिकोण की प्रधानता थी। इस वर्ग ने इस्लाम के प्रतिरोध में संकोची बहिष्कार-भावना को जन्म दिया और नवीन स्मृतियों द्वारा हिन्दू वर्ण-व्यवस्था तथा कर्मकाण्ड को नई दीप्ति दी। (२) दूसरा स्तर वैश्यों तथा शूद्रों का है। इसी स्तर में वैष्णव, शैव, जैन आदि धर्म प्रिय हुए। युग का विद्रोह इसी श्रेणी के साहित्य में मिलता है। इन दोनों वर्गों की क्रिया-प्रतिक्रिया से पहले वर्ग में उदार ब्राह्मणवर्ग का विकास हुआ जो 'भक्ति' को मान्य मानकर चला। रामानंद से तुलसीदास तक इसी उदाराश्रयी, वैष्णवधर्मी ब्राह्मणवर्ग की मान्यता पल्लवित होती है। आरम्भ में इस भक्त-समुदाय को अपने वर्ग के भीतर ही विरोध का सामना करना पड़ा। परन्तु धीरे-धीरे याज्ञिक और स्मृतिधर्माश्रयी ब्राह्मणों ने इनसे समझौता कर लिया। यह पण्डितवर्ग ज्ञान को प्रधान मानता था, भक्ति को गौण। उसने कर्मकाण्ड को भी अपनी विचारधारा से एकदम बहिष्कृत नहीं किया था। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण और शास्त्र (स्मृतिग्रंथ) इस शिष्ट-वर्ग (एलीट) के उपजीव्य थे। ज्योतिष-शास्त्र, आयुर्वेद और दर्शनशास्त्र में भी इसकी अबाध गति थी। फलतः इस्लामपूर्व-युग में यही राजशक्ति का केन्द्र था। इस्लाम के प्रवेश के बाद स्थिति बदली और यह वर्ग राजाश्रय से च्युत होकर तीर्थों, सांस्कृतिक केन्द्रों तथा ग्रामों में केन्द्रित हो गया। तीर्थों और सांस्कृतिक केन्द्रों में उसने अपनी पाण्डित्य-परम्परा जीवित रखी। इस्लामी अत्याचार से त्रस्त होकर ग्रामों में शरण प्राप्त करने वाला यह ब्राह्मणवर्ग पुराणपाठी बन गया। फल यह हुआ कि स्वयं ब्राह्मणवर्ग के भीतर उदार और अनुदार दो वर्ग हो गए, परन्तु अंततोगत्वा इससे समाज में उदारता एवं सहिष्णुता की ही सृष्टि हुई। हिन्दू-समाज से बाहर मुसलमान-समाज में भी सूफ़ी संतों के कारण दो वर्ग दिखलाई पड़े, जिनमें एक उदार था और दूसरा कट्टरपंथी। हिन्दुओं और मुसलमानों के ये उदार तथा सहिष्णु वर्ग

कई भूमियों पर मिलते थे और इन्हीं के द्वारा असहिष्णुता और कट्टरता के उस युग में सौहार्द तथा सामंजस्य की स्थापना हुई। इन सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य में मिलता है। हिन्दुओं का वह साहित्य, जो उच्चवर्गीय पाण्डित्य-चेतना का प्रतीक था, स्मृति-ग्रंथों, दर्शन-ग्रंथों तथा भाष्यों-टीकाओं के रूप में संस्कृत में रचा गया। १५वीं शताब्दी में काशी और मिथिला संस्कृत-पाण्डित्य के दो बड़े केन्द्र थे और १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक दोनों महत्त्वपूर्ण बने रहे। १६वीं–१७वीं शताब्दियों में वेदान्त, न्याय, सांख्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक मतों के सम्बन्ध में अनेकानेक ग्रंथों का निर्माण इन केन्द्रों में हुआ। हिन्दू-धर्म-दर्शन और आचार-विचार को इन्हीं केन्द्रों से व्यवस्था प्राप्त हुई। इस वर्ग के साहित्य ने हिन्दी के भक्ति और शृंगार-साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। हिन्दी का रीति-साहित्य इन्हीं शास्त्रवर्गी पण्डितों-आचार्यों का साहित्य है, परन्तु भक्ति-साहित्य के क्षेत्र में इस वर्ग का सक्रिय योग है। सम्भवतः आरम्भ में ग्रामों में शरण प्राप्त करने वाले पुराणवादी ब्राह्मणों ने पुराणों की लोकप्रियता देखकर ब्रजभाषा तथा अवधी में पौराणिक साहित्य का अनुवाद आरम्भ किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में विष्णुदास और मेघनाथ-प्रभृति 'ग्वालियरी' कवियों में यह परम्परा मिलती है। सच तो यह है कि भक्तियुग के भीतर पौराणिक धारा भी चलती रही है जिसे पुराणवाचकों, पण्डितों तथा राजकवियों का सहयोग प्राप्त है। बाद में यह धारा भक्तिधारा के साथ समन्वय प्राप्त कर लोकप्रियता पाने में समर्थ होती है। तुलसी में हिन्दी पुराण-परम्परा के साथ भक्तिधारा का ऐसा सामंजस्य बैठा है कि उनकी रचना 'रामचरितमानस' विशिष्ट कोटि की रचना बन गई है। वास्तव में प्राचीन हिन्दी-साहित्य की यह पौराणिक काव्यधारा जैन अपभ्रंश-काव्य की पौराणिक धारा (१०००–१५०० ई०) की उत्तराधिकारिणी है और इसने अपने काव्यरूप, छन्द, प्रतिमान तथा नैतिक दृष्टिकोण वहीं से प्राप्त किए हैं। यह अवश्य है कि इस धारा में जैन-पौराणिक (अपभ्रंश) काव्य जैसा उत्कर्ष नहीं है। इसका कारण यह है कि जैन-काव्य के प्रणेता जैन मुनि थे जिनके पास शास्त्र-चिन्ता की स्वतन्त्र परम्परा थी और उन्होंने संस्कृत-प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में संस्कृत पुराण और काव्य की उद्धरिणी करनी चाही थी। हिन्दी पौराणिकों के पास ऐसा कोई लक्ष्य नहीं था। मध्यदेश के संस्कृत और हिन्दी पुराणों (या अनुवादों) के बीच में कई शताब्दियों का कालांतर है। जैन, संस्कृत और अपभ्रंश पुराण-काव्य एक ही परम्परा की लगभग समकालीन कृतियां हैं। यह अवश्य है कि दोनों का सम्बन्ध विशिष्ट पुनरुत्थानों से है, परन्तु विशेष कारणों से हिन्दी-प्रदेश में पौराणिक काव्य कन्नड़, तेलगु और तामिल पौराणिक साहित्य की भांति महाकाव्यात्मक उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हो सका। पौराणिक भाषा-साहित्य का सबसे सुन्दर स्वरूप तेलगु-साहित्य में मिलता है और वहां पुराणों पर आधृत कथाओं को विषय बनाकर अनेक श्रेष्ठ महाकाव्यों की रचना इस युग में हुई है। हिन्दी-प्रदेश में १२०० ई० के लगभग पाण्डित्य-परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई। राजाश्रय एवं अभिजात कुलों के नाश तथा स्थानांतरण से साहित्य के क्षेत्र में अव्यवस्था फैल गई। फल यह हुआ कि हिन्दी के पौराणिकों को नये सिरे से शुरू करना पड़ा और विशाल ग्रंथ-भांडारों के अभाव में, जो इस्लामी ध्वंस के शिकार हो चुके थे, साहित्यिक मेधा उत्कर्षमयी नहीं बन सकी। वह अनुवाद-मात्र पर सीमित रह गई।

इस पण्डितवर्गी पुराण-साहित्य के नीचे उतर कर उच्चवर्णी भक्तों का साहित्य है जो पाण्डित्यधर्मी न होकर भावधर्मी है। यह साहित्य भक्ति को ज्ञान पर प्रधानता देता है। इसकी उदार भावना राधा-कृष्ण के नये प्रतीकों का सहारा लेकर सच्चे अर्थों में लोक-साहित्य का निर्माण करती है। पुराण-परम्परा और भावप्रवण प्रतीकात्मक भक्ति-साहित्य का सुन्दर समन्वय सूरदास के 'सूरसागर' में देखा जा सकता है। अन्य अनेक कृष्णभक्त कवियों में भक्ति की रहस्यात्मक भावभूमि ही प्रमुख है जो कर्म-फल, जन्मान्तरवाद, वेद-शास्त्र, वर्ण-व्यवस्था, पौरोहित्य तथा ब्राह्मणवाद के विरुद्ध सशक्त मोर्चा है। इन सगुण भक्तों ने अपने भाव-क्षेत्र को सब प्रकार के मानसिक और सामाजिक बन्धनों से मुक्त कर लिया है, परन्तु व्यवहार की लौकिक भूमि पर वे वर्णाश्रम-व्यवस्था और शास्त्र को मानते रहे हैं। इसीलिए सूरदास और तुलसीदास वेद-पुराण की दुहाई देते हुए नहीं थकते। इस मानसिक संकोच के कारण ही उनकी रचना उच्च वर्णों की मान्यता प्राप्त कर सकी।

परन्तु भक्ति का आन्दोलन जिस समाज पर आधारित है, वह उच्चवर्णी समाज नहीं है। नवदीक्षित

विदेशी जातियों, बौद्ध सम्प्रदायों तथा हीन वर्णों ने हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था के विरोध में ही भक्ति-धर्म को स्वीकार किया था। तंत्रवाद, योग और भक्ति में कर्मवाद और जन्मान्तरवाद का बाध था। 'जीवन्मृतक' की धारणा साधक को इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष की उपलब्धि का आश्वासन देती थी। तीनों में चित्त-भूमि ही प्रधान है, अतः समस्त साधनाएं चित्त के बंध-मोचन के लिए हैं। तंत्रवाद ने अपने उत्तर विकास में सहजयान (सहजयोग) का रूप धारण कर लिया था। निर्गुण भक्तों ने इसी सहजयोग को भक्ति का पर्यायवाची बना दिया है। भक्ति के इस विशाल आन्दोलन को हम निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति के द्वैध रूप में (सम्भवतः विरोधी रूप में) देखने के आदी हो गए हैं, परन्तु तत्त्वतः ये दोनों आन्दोलन विरोधी न होकर पूरक हैं। दोनों में भक्ति को ही प्राथमिकता मिली है। हमने भ्रमवश निर्गुण भक्तों को 'ज्ञानाश्रयी' कहा और उन्हें प्रेममार्गी सूफियों के प्रतिपक्ष में रखा। वास्तव में निर्गुण और सगुण दोनों कोटियों के भक्त ज्ञान (शास्त्रज्ञान) के विरोधी हैं। कबीर ने जहां ज्ञान की आंधी के बाद प्रेम-जल बरसने की बात कही है, वहां ज्ञान से अद्वैत ज्ञान का तात्पर्य है, शास्त्र-ज्ञान का नहीं; क्योंकि 'शास्त्रज्ञान' को तो कबीर 'कागदलेखी' कहकर उपेक्षणीय मानते हैं। निर्गुण भक्तों ने नाम को प्रधानता दी और सभी प्रचलित नामों को निर्गुण अर्थ में प्रयुक्त किया; परन्तु उनका निर्गुण तत्त्व ब्रह्म, 'सहज' या राम ही है जो एक ही साथ अन्तर्यामिन और सर्वव्यापी है। भेद यह है कि वह अद्वैतज्ञान या साक्षात्कार का विषय है, यह प्रतीति या भावबोध का विषय है। परिपूर्ण आत्मसमर्पण, अपरिसीम प्रेम और निस्सीम आत्मशुद्धि के द्वारा ही यह प्रतीति सम्भव है। यह प्रतीति जाति-वर्ण-शास्त्र-निरपेक्ष है। यह किसी भी प्रकार का माध्यम नहीं चाहती, अतः इसमें न प्रतीक (मूर्त्ति) की आवश्यकता है, न ब्राह्मण-पुरोहित ही चाहिए। इस प्रकार ये साधनाएं आत्मस्थ देवता से सीधा सम्बन्ध जोड़ती हैं। तन्त्र में गुरु का बड़ा महत्त्व है और उसीने आचार्य तथा पुरोहित का स्थान ले लिया है। गुरु की यह मान्यता योग को भी प्राप्त हुई जिसमें गुह्य साधना को महत्त्व प्राप्त है। भक्ति-साधना में भी गुरु को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है परन्तु गुरु निर्देशक-मात्र है। भक्त की साधना वैयक्तिक, अन्तरंगी तथा अनुभूतिमूलक है। इस प्रकार निर्गुण भक्ति में हमें उस युग का केन्द्रीय विश्वास मिलता है जो मन की सर्वोन्मुक्ति को महत्ता देता है और उसे सर्वोपरि, चिन्मय तथा चिदानन्दी मानकर मनुष्य के ऐहिक जीवन और उसकी साधना को अन्तिम सत्य बना देता है। निर्गुण मतवाद में इष्टदेव के निर्गुणत्व पर जितना बल है, उससे कम उसके माधुर्य पर नहीं। भगवान की अनुकम्पा ही भक्त का सबसे बड़ा आश्रय है। अतः निर्गुण भक्ति की साधना मूल में अबाध प्रेम-साधना ही है। 'नाम-साधना' इसका बाह्य रूप है। निर्गुणियों ने 'अनहद नाद' अथवा 'अजपा' का भी उल्लेख किया है परन्तु इससे उस नाम-साधना के सूक्ष्म, अन्तरंगी, ओतप्रोती तथा अनन्य रूप पर ही प्रकाश पड़ता है।

सगुण भक्तों को निर्गुण भक्तों की ऐतिहासिक भूमिका प्राप्त थी। वास्तव में महाराष्ट्र में सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की प्रारम्भिक भूमिका है और नामदेव ने उत्तर भारत की ध्वंसमयी पृष्ठभूमि पर ही सगुण कृष्णभक्ति को छोड़कर निर्गुण भक्ति अपनाई थी, जैसा उनके मराठी अभंगों तथा हिन्दी-पदों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है। दोनों भक्ति-प्रकारों में अधिकारी-भेद भी माना जा सकता है। सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की 'नाम' की भूमिका को तो न छोड़ सकी और तुलसी ने तो 'नाम' को सगुण राम से भी बड़ा मानकर भक्ति के रहस्यात्मक तत्त्व को विशेष महत्त्वपूर्ण बना दिया, परन्तु इष्टदेव की 'रूप-लीला' को उसमें विशेष महत्ता मिली है। पौराणिक भक्ति इष्टदेव के लीलागान और उसके विग्रह की 'सेवा' (उपासना) तक ही सीमिति थी, यद्यपि पुराणों में 'नवधा' और 'दशधा' भक्ति का विवरण भी था तथा नारद-शांडिल्य भक्ति-सूत्रों में इस भक्ति-भाव को रहस्यात्मक दीप्ति मिल गई थी। परन्तु मध्ययुगीन भक्ति का तन्मयासक्तिप्रधान, विह्वलतामय तरल भाव एकदम नई चीज था। इसीलिए मध्ययुगीन सगुण भक्ति-साहित्य इष्टदेव की रूप-चर्चा तथा लीला-गान पर समाप्त नहीं हो जाता, वह इस रूप और लीला को आत्मसाधना का विषय बनाता है। भक्त के लिए इष्टदेव का पौराणिक तथा कथात्मक रूप महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है इष्टदेव के प्रति उसका व्यक्तिगत निवेदन, अतः निजी प्राण-सम्बन्ध। पौराणिक प्रसंग भक्ति-भाव को दृढ़ करने के कारण ही सार्थक हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम सगुण भक्तों के इस सूक्ष्म, तरल और अंतरंगी भाव को देखें, उनके स्थूल विवरणों तथा 'लीला'-विस्तार पर न जाएं। कृष्णकाव्य की प्रतीकात्मकता तो स्पष्ट ही है और सूरदास ने नन्द-यशोदा,

गोपियों तथा सखाओं के माध्यम से अपने हृदय की मिलन-वियोग की बात कही है। वल्लभाचार्य ने 'अणुभाष्य' में कृष्ण-कथा की यह प्रतीकबद्धता विस्तारपूर्वक चर्चित की है। परन्तु राम-कथा को उस रूप में प्रतीकात्मक न मानकर भी शाश्वत, सूक्ष्म तथा लोकोत्तर माना गया है, जैसा कागभुशुण्डि-गरुड़-संवाद तथा 'हरि अनंत हरि-कथा अनंता' कथन से स्पष्ट है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण भक्त की भावभूमि निर्गुण भक्त से कम सूक्ष्म, तरल तथा उत्कर्षमयी नहीं है। इष्टदेव के रूप में और उसकी लीला के सहारे मध्ययुग का पूजा-भाव जड़ोन्मुख इन्द्रियों को चिन्मयोन्मुख करने में सफल हुआ है और उसने लोक के बीच से ही लोकोत्तर को पकड़ने का उपक्रम किया है। निर्गुण संतों की साधना विराग की भूमि पर पल्लवित हुई है, सगुण भक्तों ने राग के परिष्कार को ध्येय बनाया है जो अधिक सूक्ष्म और कठिन भाव-साधना है। इस सत्य को मान लें तो हम सगुण भक्तों को छोटा नहीं करें। निर्गुणियों का संसार के प्रति विराग निर्गुण सत्ता के प्रति तीव्र राग की भूमिका मात्र है, उसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने भक्तियोग को 'सहजयोग' कहा है और हठयोग को लांछित ठहराया है। निर्गुणी संत मन की वैराग्य-वृत्ति को ही प्रमुख मानते हैं—इसीलिए कबीर जैसे साधक गृहस्थ-जीवन बिताते हैं। उन्होंने मानवीय सम्बन्धों के भीतर ईश्वरीय प्रकाश देखना चाहा है, इसीलिए उन्होंने सामाजिक विषमता और धार्मिक विद्वेष के विरुद्ध आवाज उठाई है। यह स्पष्ट है कि निर्गुण संतों की विराग-साधना उनकी अध्यात्म-साधना का ही अंग है। वह अद्वैत साधना बनकर ही मानवीय और नैतिक बन सकी है। उसमें लोक-मंगल की साधना भी कम बलवती नहीं है। सगुण भक्तों की रूपलीला-साधना रागात्मक है। वह समस्त प्रपंच को इष्टदेव की लीला का प्रसार मानती है और नाम-रूपात्मक जगत को उसी का स्वरूप मानकर चमत्कृत होती है। विश्व को चिद्रूप और समस्त कार्य-व्यापार को लीला-मात्र मानने का फल यह होता है कि भोक्ता भक्त का चित्त नाम-रूप के बंधनों को तोड़ कर अनाम-अरूप (सर्वनाम-सर्वरूप) विराट् चैतन्य में तल्लीन हो जाता है जो सृष्टि की सारी शोभा, माधुरी तथा समस्त रसों का भाण्डार है। इन अनाम-अरूप को ही सगुण-भक्त राम-कृष्ण के रूप में प्रतीक-बद्ध करता है। उच्चतम भावभूमि पर पहुंच कर राम-कृष्ण के पौराणिक उपसर्ग पीछे छूट जाते हैं और अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य एवं अनन्त आनन्द से साक्षात्कार होता है। इस भूमिका से नीचे उतर कर भक्त कवि समस्त जगत में सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्द का प्रसार देखता है। इस प्रकार उसका राग चिन्मय और ब्रह्ममय हो जाता है, जैसा ईशावास्योपनिषद् में कहा है : ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किंच जगत्यां जगत्। निश्चय ही यह भावभूमि निर्गुण सन्तों की भावभूमि से भिन्न है, परन्तु वह कठिन होने पर भी अधिक उत्कृष्ट है; क्योंकि उसमें जड़ से पलायन नहीं है, जड़ को चिन्मय कर लिया गया है। तन्त्र-साधना में जड़-चेतन को युगनद्ध कर भुक्ति-मुक्ति की समाहित साधना की योजना थी। सूफी साधना जड़ को चेतन का इंगित मान कर लौकिक में अलौकिक को भासमान करने का उपक्रम करती थी। निर्गुण साधना ने जड़ को चैतन्य की विवृति मानकर उसकी ओर से आंख हटा ली। परन्तु सगुण भक्ति-साधना जड़ में ही चेतन की लीला देखकर द्रवित होती थी। इस प्रकार सगुण भक्ति-साधना प्रवृत्ति में ही निवृत्ति मानकर चलती है और उसमें जड़ोन्मुख लोक-जीवन में चैतन्यीकरण की प्रबल भावना सन्निहित है। उसका दृष्टिकोण सूफी दृष्टिकोण से इस अर्थ में भिन्न है कि जहां सूफी जड़ को चेतन का प्रतीक मानते हैं, वहां सगुण भक्त जड़ को चेतन का प्रतिरूप अर्थात् चेतन ही मानता है। निर्गुण काव्य में जड़ की अस्वीकृति है जो सगुण काव्य को मान्य नहीं है। एक प्रकार से भक्तों का दृष्टिकोण तांत्रिकों (सिद्धों) के दृष्टिकोण से भी अधिक उत्कृष्ट एवं परिष्कृत है; क्योंकि जहां तन्त्र, जड़ और चेतन को विरोधी परन्तु सन्तुलित शक्तियां (युगनद्ध) मानते हैं, वहां सगुण भक्त जड़ को चेतन ही मान कर जड़त्व का नाश कर देता है।

मध्ययुग का भक्ति-भाव जीव तथा ब्रह्म के विभिन्न सम्बन्धों पर आधृत है। आद्य शंकराचार्य ने जीव को ब्रह्म की विवृत्ति मानकर जीव की स्वतंत्र सत्ता को अमान्य ठहरा दिया। अर्थात् जीव चैतन्य है, जड़ मानना भ्रम है; क्योंकि जड़ता-मात्र ही भ्रम है। भ्रम का निवारण ज्ञान से हो सकता है, परन्तु यह ज्ञान शास्त्रज्ञान न होकर अद्वैतज्ञान, है, अर्थात् अद्वैतात्मक अन्तर्दृष्टि, जो योग तथा ज्ञान-साधना का विषय है। इस भूमिका पर भक्त भगवान से भिन्न नहीं रह जाता। फलतः भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि भक्ति तो भक्त और भगवान के बीच का सम्बन्ध मात्र

है। भक्ति हृदय की पिपासा है। इसलिए भक्त-हृदय के समाधान के लिए जीव तथा ब्रह्म को दो स्वतन्त्र इकाइयां मान कर उसके परिमाण-भेद (विशिष्टाद्वैत) प्रकार-भेद, (द्वैत) तथा अनिवर्चनीयता-भेद (द्वैताद्वैत) के आधार पर क्रमश: रामानुज, मध्व और निंबार्क ने तीन विशिष्ट भक्ति-दर्शनों को जन्म दिया। अन्त में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद में जीव को ब्रह्म मानकर शांकराद्वैत की प्रपत्ति को सत्, चित्, आनन्द गुणों के तिरोभाव-आविर्भाव के द्वारा व्याख्यापित किया। इस प्रकार अद्वैतवाद के भीतर ही भक्ति की जगह निकल आई। चेतन जीव इष्टदेव की रूप-लीला में डूब कर आनन्द की उपलब्धि करने पर परिपूर्ण ब्रह्म बन जाता है। इस प्रकार आनन्दोपलब्धि ही भक्ति-धर्म बन गई। वज्र-यानियों ने शक्ति-शक्तिमान की युगनद्धता (कमल-कुलिश-साधना) के द्वारा और सहजयानियों ने सहज साधना के द्वारा जिस सहजानन्द का लाभ किया था, उसे सगुण भक्त राधा-कृष्ण की निकुंजलीला या रास में भावित करने लगे। फल-स्वरूप माधुर्य भक्ति को तांत्रिक सहज साधना (महासुहवाद) का उत्तराधिकार प्राप्त हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मध्ययुग में मध्यदेशीय मन जड़ का अतिक्रमण करने की भीषण प्रतिज्ञा लेकर ऊपर उठता है और समस्त भौतिक-अभौतिक बन्धनों को तोड़ कर अपने भीतर ही अक्षय आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होता है। इस अक्षय आनन्द को ही उसने श्री-विष्णु, सीता-राम और राधा-कृष्ण के लोकोत्तर प्रतीकों में मूर्तिमान किया है। उसने अपने बाहर जड़-जगत में भी इसी आनन्द का प्रसार देखा है और जड़ के भीतर भी चैतन्य का अनुभव किया है। चैतन्य ही नहीं, उसने वहां आनन्द भी पाया है। जड़ में ही नहीं, सब कहीं चैतन्य और आनन्द ही की व्याप्ति है। इसी चैतन्य और आनन्द को मध्ययुग के भावक भक्त ने राधा-कृष्ण के महारास (माधुर्य) और भगवान राम के सौंदर्य, शील तथा शौर्य में परिकल्पित किया है। सौंदर्य, शील, शौर्य और माधुर्य की साधना ही मध्ययुगीन भारतीय मन की महान साधना है। इस साधना की कथा प्रचलित इतिहास के पृष्ठों में नहीं मिलती, परन्तु साहित्य, कला, संगीत और शिष्ट जीवन-व्यवहार में उसका रूप खूब निखरा है। सोहलवीं शताब्दी के अन्त तक मध्ययुगीन मनुष्य के इस एकान्वित मन का निर्माण हो चुका था और बाद की दो शताब्दियों में यही महार्घ मन विभिन्न भूमियों पर अपनी अप्रतिम छाप छोड़ने में समर्थ हुआ। रीतिकाल का भावक जड़ को चेतन का वरदान मानकर अकुंठित भाव से उसे स्वीकार करता है और उसे अपनी रस-साधना का केन्द्र बनाता है। यह रस-साधना उसके चित्त को निर्मल करती है और उसके सौंदर्य-बोध को परिष्कृत कर उसमें शील और सौन्दर्य के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त करती है। रीतिकाल के कवि की सौन्दर्य-साधना उसके हृदय की इसी माधुर्यवृत्ति से प्रकाशवान है। इससे उसकी सौन्दर्य-चेतना का संस्कार हुआ है और उसके आनन्द से प्रकृति का प्रत्येक कण राग-रंजित बन गया है। इष्टदेव के रूपलीला-माधुर्य में डूब कर उस युग का विलासी सहज भाव से सांसारिक सुखों का उपभोग करता है परन्तु उसके उपभोग में तृष्णा की लालसा नहीं है, तृप्ति का सन्तोष है। यही तृप्ति उसे जीवन-व्यापार में शील तथा सौन्दर्य के सम्पादन के लिए अपूर्व क्षमता प्रदान करती है। उसके देवार्पण में कुछ भी कमी नहीं है, अतः उसके लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं है। भीतर के सौन्दर्य और माधुर्य से छक कर वह विराट् विश्व में शील और शौर्य के संग्रह के लिए निकल पड़ता है। इस प्रकार जड़ को चिन्मय बनाकर और जग को 'सियाराम-मय' जान कर मध्ययुग का मानस अपने ही अखण्ड विश्वास और अप्रतिम माधुर्य का आस्वादन करता है। यही उत्कृष्ट वैष्णव दर्शन है। यही परिपूर्ण और अखण्डित जीवनदृष्टि मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ काव्य 'रामचरितमानस' की देन है, परन्तु इस 'मानस' को देखने के लिए 'मानस-चख' (चिन्मय दृष्टि) चाहिए। जड़ आंखों से हम उसे नहीं देख सकेंगे। इसी चिन्मय दृष्टि को ग्रहण कर रीति-कवि अकुंठित भाव से जड़ देह का सौन्दर्य वर्णित कर जाता है और आह्निक विलास-चर्या भाव-लोक की माधुर्य-सृष्टि बन जाती है। यह दृष्टि वहां से आरम्भ होती है जहां नीति की लक्ष्मण-रेखा समाप्त होती है। अतः मध्ययुग के काव्य को नीति-अनीति के छिछले मापदण्ड पर न मापकर हम यह देखें कि उसमें आनन्द के कौन-से आयाम किन स्तरों पर आलोक बिखेर रहे हैं। इस मनःभूमिका पर हम भक्ति-युग तथा रीति-युग के काव्यों को परस्पर विरोधी न मानकर उनके ऐतिहासिक विकास-क्रम को सार्थकता देंगे; क्योंकि दोनों में ही मध्ययुग के अखण्डित मन का अक्षुण्ण तथा निर्बाध प्रवाह है और दोनों को उसने अपनी मुद्रा से मुद्रित किया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूर्वतन युगों पर अपने भौतिकवादी-विज्ञानवादी-नैतिकतावादी युग की प्रपत्तियों का आरोप नहीं करें और बीते

हुए जीवन को खुल कर बोलने की स्वतन्त्रता दें।

देखना यह है कि मध्ययुगीन साहित्य में इस मध्यदेशीय मन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है और उसकी वास्तविक स्थिति क्या है। साहित्य का इतिहास और साहित्यिक परम्परा सांस्कृतिक परम्पराओं और प्रयोगों के प्रसारण का माध्यम हैं और बाद में स्वयं सांस्कृतिक परम्परा उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। वास्तव में साहित्य और संस्कृति पारस्परिक प्रभाव से ही विकसित होते हैं। मध्ययुग में इस दो-तरफा आदान-प्रदान का क्या स्वरूप था, यह विचारणीय विषय है।

विद्वानों का विचार है कि आरम्भ से ही भारतीय साहित्य में दो परम्पराएं चल रही हैं। पहली परम्परा संस्कृत साहित्य की है जिसके निर्माण में एक विशिष्ट वर्ग (एलीट) ने भाग लिया है और जिसने विभिन्न साहित्य-रूपों तथा शैलियों में एकता स्थापित की है। यह साहित्य अखिल भारतीय साहित्य है और जनपदीय सूत्रों से ऊपर उठकर समस्त राष्ट्र को एक ही स्पन्दन के सूत्र में जोड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस साहित्य के निर्माण में प्रादेशिक अथवा जनपदीय उपकरणों (लोकवार्त्ता, लोकगीत तथा लोक-छन्द) का क्या हाथ था, परन्तु पहली शताब्दी के बाद जब संस्कृत का साहित्य रचा जाने लगा तो उसने अपने विशिष्ट संदर्भों, प्रतीकों, देवकथाओं (मिथ), आदर्शों, काव्यरूपों तथा छन्दों का निर्माण कर लिया था। संस्कृत देववाणी बन गई और उसका साहित्य सुसंस्कृत भारतीय मन का प्रतिनिधित्व करने लगा। इस राष्ट्रीय साहित्य की मुद्रा अंग्रेजी साहित्य के प्रवेश तक अर्थात् अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक बराबर मान्य रही है। लगभग दो सहस्र वर्षों के इस लम्बे काल में संस्कृत साहित्य ने भारतीय जीवन-चिंतन तथा संस्कृति को स्थैर्य दिया है और उन्हें बदलते जीवन-मूल्यों में निरंतर निश्चित मान (नार्म) की ओर लौटाया है। यह कम महत्त्व का कार्य नहीं है क्योंकि यह साहित्य की भारतीय परम्परा का बल है। भारतीय शिष्ट समाज ने सब कहीं समान सामाजिक परम्पराओं की स्थापना की थी जो अराजकता के युगों में भी नष्ट नहीं हो सकीं। उथल-पुथल के केन्द्रों से अलग इन दूरवर्ती समाजों ने साहित्यिक प्रयोगों को जांचा-परखा और उन्हें परम्परा से जोड़ा। वास्तव में न तो ये प्रयोग एकदम क्रांतिकारी थे, न इतने अधिक थे कि परम्परा को कोई बड़ी चुनौती देते। दूसरी साहित्य-परम्परा का सम्बन्ध शिष्ट-वर्ग से न होकर जनपदीय समाज से था जो गीतों, वार्ताओं, कथाओं और लोक-छन्दों आदि के रूप में लोकमानस की अभिव्यक्ति करता था। यह प्रथित मान के प्रति विद्रोह था और इसका अपना प्रादेशिक और विभाषीय रंग था। यह दूसरी परम्परा कभी-कभी पहली परम्परा में अन्तर्भुक्त हो गई है और फलस्वरूप शिष्ट-साहित्य जन-साहित्य भी बन गया है और शताब्दियों तक यह योगायोग अखण्ड बना रहा है। मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में इस उभय-पक्षीय आदान-प्रदान और योगायोग की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

क्यों ऐसा हुआ, इसका कारण जानने के लिए हमें भारतीय राज-व्यवस्था का अध्ययन करना होगा जो विकेन्द्रीकरण पर आधारित थी और जिसने जनपद-शासन को स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी। प्रत्येक जनपद अपनी भाषा लोकवार्त्ता, संगीत-परम्परा तथा आचार-विचार को लेकर चलने में स्वतन्त्र था; क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वह परिपूर्ण इकाई था और उस पर नागरिक शिष्ट जीवन का प्रभाव कम पड़ता था। फलतः विद्रोह के बदले स्वीकार तथा समन्वय की भावना प्रबल हुई। वर्ण-व्यवस्था, सम्मिलित कुटुम्ब, श्रेणी-योजना समाज के सुसंगठित और व्यवस्थित रखने के साधन थे और कर्मवाद ने सहिष्णुता तथा उदारता के लिए पर्याप्त अवकाश निकाल लिया था। अतः धर्ममतों, सम्प्रदायों तथा साधना-मार्गों में सहनशीलता का प्रसार हुआ था। सारा समाज एक संतुलित, मर्यादित इकाई के रूप में गतिमान था और वर्ण-व्यवस्था के भीतर से किसी प्रकार के विरोध के फूटने की आशंका भी नहीं थी। इस प्रकार जनपदीय संस्कृति अपने सीमित क्षेत्र में परिपूर्ण संस्कृति थी और वह अखिल भारतीय संस्कृति के भीतर, परन्तु उससे स्वतन्त्र रहकर, निरन्तर विकासमान थी।

यह नहीं कि इस जनपदीय संस्कृति में (जो प्राकृतिक साहित्य के माध्यम से प्रकाशवान थी) और राष्ट्रीय संस्कृति में (जो संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित थी) किसी प्रकार का आदान-प्रदान ही नहीं हुआ हो। वास्तव में संस्कृत और प्राकृतों (जनपदीय भाषाओं) में आदान-प्रदान निरंतर चलता रहा है। महाकाव्य-युग के संस्कृत-साहित्य में

प्राकृत के विषय तथा काव्य-रूप बराबर समाहित होते रहे हैं। संस्कृत नाटकों के अधम पात्र और नारी-पात्र प्राकृत में में वार्त्तालाप करते थे और भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रीति' के माध्यम से प्रादेशिक काव्य-शैलियों (वैदर्भी, गौड़ी, लाटी, नागरी आदि) को प्रधानता मिली है। प्राकृत-साहित्य भी संस्कृत-साहित्य को आदर्श मानता रहा है और उसने स्वयं को उसी के ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि संस्कृत-परम्परा का आधिपत्य रहा है और यह बात केवल साहित्य के क्षेत्र में ही लागू नहीं होती, दर्शनशास्त्र (चिन्तन) और संगीत के क्षेत्र में भी उसी प्रकार सत्य है। ब्राह्मण-धर्म संस्कृत-साहित्य के माध्यम से ही शिष्ट संस्कृति, (जिसे योरोपीय विद्वानों ने 'सांस्कृतिक संस्कृति' कहा है) का समग्रगत प्रभाव बढ़ा और समस्त जनपदों पर छा गया। सोलहवीं शती में तुलसी और केशव जैसे पण्डित कवि भाषा-काव्य को लांछित मानते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि शिष्ट भाषा (संस्कृत) और संस्कृति (ब्राह्मण संस्कृति) की कितनी बड़ी धाक थी।

मध्ययुग के आरम्भ में विशेष कारणों से केन्द्रीय शिष्ट संस्कृति का प्रभाव दुर्बल पड़ गया और अनेक जनपदीय संस्कृतियां स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में विकसित होने लगीं। पुष्पदंत और राजशेखर ने अपने ग्रंथों में अनेक जनपदों का उल्लेख किया है जो वास्तव में स्वतन्त्र भाषा-क्षेत्र थे। इन जनपदों में नई विदेशी जातियां-प्रजातियां आकर बस गई थीं और उन्होंने अपने संगीत, लोकवार्त्ता, नृत्य तथा छन्द का आविष्कार किया था। ७५० ई० के बाद ही हमें सिद्ध-काव्य में स्थानीय राग-रागिनियों का निर्देश मिलता है और जैन कवियों की रचना में रास, चांचर, फागु, वेलि आदि ऐसे छंदों एवं काव्यरूपों की प्रधानता है जो मूल रूप से विभिन्न प्रजातियों के नृत्य-छन्द थे। १०वीं शताब्दी में क्षेमेन्द्र और १२वीं शताब्दी में जयदेव को अपने संस्कृत काव्य में इस नई संगीत-परम्परा का उपयोग करना पड़ा। गीतिकाव्य (पद-साहित्य) की नई परम्परा स्पष्टतः नये समाज-तत्त्व की ओर इंगित करती है जो संस्कृत-साहित्य की बंधी हुई छन्द-परम्परा के स्थान पर तरल, मुक्त तथा अनुभूतिप्रवण नये छन्दों को प्रश्रय देता है। सम्पूर्ण मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में जन-कंठ का योग मिलता है और दूहा (दोहा) चौपाई, पद, घनाक्षरी (कवित्त), सवैया आदि छन्दों के रूप में प्राकृत जीवन का उन्मेष ही उद्घोषित होता है। ये नये छन्द भावक चित्त के नये मोड़ की सूचना देते हैं। धीरे-धीरे संस्कृतज्ञ ब्राह्मण वर्ग इन छन्दों को अपना बना लेता है और संस्कृत के महाकाव्यों के अनुरूप नई रचनाएं प्रस्तुत करता है जो प्रौढ़ता, मर्यादा और संतुलन में पूर्वतन संस्कृत साहित्य का अनुसरण करती हैं। तुलसी के साहित्य में संस्कृत-साहित्य और ब्राह्मण-संस्कृति की विजय ही प्रतिध्वनित है। सच तो यह है कि पूर्व मध्ययुग में भारतीय मन प्रादेशिक परम्पराओं में खण्ड-खण्ड हो गया था और उसकी अभिव्यक्ति अनेक जनपदीय भाषाओं में अनेक स्थानीय संस्कारों के भीतर से हुई। धीरे-धीरे भक्ति के व्यापक आन्दोलन ने इन खण्ड इकाइयों को एक सूत्र में गूंथकर सार्वभौमिक चेतना का रूप धारण किया। मध्ययुग के आरम्भ में हिन्दी-क्षेत्र के आन्दोलन वर्गीय आन्दोलन थे। बौद्ध (सिद्ध), नाथ (योगी), जैन, चारण, सूफी आदि अपने-अपने क्षेत्रों के लिए काव्य-रचना कर रहे थे। यह वर्गीय चेतना प्रादेशिक संस्कृतियों के उत्कर्ष की सूचना थी, परन्तु इसमें राष्ट्र के लिए कोई योजना नहीं थी। वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने प्रादेशिकता को जीवित रखा, परन्तु उसके द्वारा राम-कृष्ण के व्यापक प्रतीकों का उपयोग होने के कारण भक्ति-चेतना को राष्ट्रीय चेतना बनने का अवकाश मिला। मध्ययुगीन भारतीय मन की अखण्ड तथा समग्र चेतना वैष्णव साहित्य में ही अभिव्यक्ति पा सकी है। राम-भक्ति अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र को लेकर चली। अवध ही उसका केन्द्र रहा, या अधिक-से-अधिक अवध से जनकपुर तक उसकी व्याप्ति थी। इस क्षेत्र से बाहर राम-भक्ति को लोकप्रियता नहीं मिल सकी। अतः वह अपने वर्गीय रूप का अतिक्रमण नहीं कर सकी। यह अवश्य है कि तुलसीदास जैसे समर्थ कवि की रचनाओं में उसने राष्ट्रीय उत्कर्ष प्राप्त कर लिया। परन्तु कृष्ण-काव्य प्रादेशिक भाषाओं को अधिक रससिक्त कर सका और उसी के द्वारा ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य की प्रतीक भाषा बन गई। हिन्दी-क्षेत्र के बाहर 'ब्रजबुलि' आदि नामों से उसका उपयोग इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

वैष्णव भक्ति के आन्दोलन ने स्थानीय चेतनाओं तथा वर्ग-संस्कारों को ही समन्वित नहीं किया, उसने इस्लाम के संघात को भी आत्मसात किया और उसी के द्वारा धर्म के क्षेत्र में एक नये समन्वय की सिद्धि हुई। भक्ति

और रहस्यवादी साधनाओं का आविर्भाव मध्ययुग की एक बड़ी भावक्षेत्रीय आवश्यकता की पूर्ति है; क्योंकि यही साधनाएं दोनों विरोधी धर्मों और सम्प्रदायों के बीच में सेतुबंध का कार्य कर सकती थीं। दोनों धर्म पुरोहितवाद से त्रस्त थे, अतः इस नये अध्यात्म ने इसके विरोध में व्यक्तिगत साधना को प्रमुख माना। इसके अतिरिक्त कर्मवाद, ज्ञानमार्ग तथा ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्ड के विरोध में इसने प्रेम (भक्ति) को प्रधानता दी। बन्द समाज में रहस्य-धर्म ही जड़ बंधनों का विद्रोही स्वर बन जाता है और उसी के द्वारा अतिसंवेदित प्राणी समाज के चिरप्रथित ढांचे का अतिक्रमण करते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों के मर्मियों (संतों, भक्तों और सूफियों) ने इसी हृदय-धर्म को जाग्रत किया और इसी को नये प्रतिमानों, प्रतीकों तथा रूपकों में अपने हृदय की सारी मधुरिमा के साथ प्रस्तुत किया। उन्होंने यौन-प्रतीकों और मादन-भाव के भीतर से आत्मा के निःसंकोची परिणय की बात कही। ये यौन प्रतीक ही मध्य युग के आत्मसमर्पी मन की वाणी हैं। इन्हें मादन रस से सिक्त करना और इनमें मन को मधुमती भूमिका पर उठाने की शक्ति भरना कम श्रम-साध्य नहीं था। इसके लिए भाषा, छंद और संगीत की अप्रतिम योग्यता अनिवार्य थी। मध्ययुग के साहित्य में इस साधना की कहानी अन्तर्हित है। भाषा की माधुर्य-शक्ति तथा सांकेतिक अभिव्यंजना को भीतर की ओर मोड़ना कम साहस का काम नहीं था। सैकड़ों पदों में अबाध और उच्छ्वसित गति से सूरदास राधा-कृष्ण के हास-विलास, परिणय, निकुंज-विहार, रास और विपरीत रति को जिस अकुंठित और खुले कण्ठ से कह गये हैं, वह भाव और वैसा साहस विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में दुर्लभ है। इस साहस ने ही उनके काव्य को साक्षात्कार का काव्य बना दिया है। इस साक्षात्कार की चरम अभिव्यक्ति कूट पदों में मिलती है जहां युगल दम्पती की केलि को आत्मोपलब्धि की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

साहित्य-क्षेत्र में भक्तिवाद का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि उसने जनपदीय भाषाओं और जनपदीय संस्कारों में नवजागरण का बोध भर दिया। इस युग के विभाषीय साहित्य में स्थानिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अनिवार्य रूप से प्रकाशन हुआ है। एक ही राम-कथा विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। यद्यपि संस्कृत की स्तोत-शैली की परम्परा से भी हिन्दी का विनय-काव्य प्रभावित है, परन्तु उसकी कोटि पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य से नितान्त भिन्न है। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्ययुग का मानस अपने अनुरूप नये छंदों, प्रतीकों, भाव-भूमियों तथा अभिव्यंजना-शैलियों का आविष्कार करने में समर्थ हुआ है और साहित्यिक रूपों की विभिन्नताओं के भीतर भी अर्थ, बोध और लक्ष्य की एकता बराबर बनी रही है। संस्कृत का साहित्य छोटे-से शिष्ट वर्ग में सिमटकर रह गया परन्तु भाषा-कवियों का साहित्य प्रादेशिक लोक-मानस को रसविभोर करता रहा। इसीलिए कबीर ने ठीक ही संस्कृत को कूप-जल और भाषा को 'बहता नीर' कहा है।

परन्तु यह स्थिति अन्त तक नहीं बनी रह सकी। जिस प्रकार परम्परित धर्मों ने रहस्यवादी साधनाओं और सम्प्रदायों को अपने भीतर समेटकर उन्हें पंगु बना दिया, उसी प्रकार नये काव्य रूप प्राचीन काव्य-रूपों का अनुसरण करने के कारण निःशक्त हो गए। नवे आन्दोलनों ने वर्ण-व्यवस्था की कठोरता दूर कर उसे उदार बनाया था, परन्तु यह उदारता ही इन आन्दोलनों के लिए घातक सिद्ध हुई; क्योंकि वे स्वयं परम्परा और व्यवस्था के अंग बन गए। इसी प्रकार भक्ति-साहित्य संस्कृतनिष्ठ होकर शिष्ट-साहित्य का प्रतिरूप बनने लगा। धीरे-धीरे उसकी प्रगतिशीलता और लोकपरता नष्ट हो गई। धर्म के क्षेत्र में स्मृतियों पर आधृत नये आन्दोलनों का जन्म हुआ जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था को और भी कठोर बनाने का उपक्रम किया। वास्तव में ये आन्दोलन आरम्भ से ही चल रहे थे परन्तु भक्तिवाद के तेज ने उन्हें कुंठित कर दिया था। भक्ति-भावना के दुर्बल हो जाने पर वे सतह पर आ गए। टीकाओं-भाष्यों-उपभाष्यों का युग आरम्भ हुआ और साहित्य लक्षण-ग्रन्थों के भार से बोझिल हो उठा। सर्जना का स्थान आत्मप्रवंचना ने लिया जो निरुद्देशीय कल्पना, अमर्यादित भावना तथा आयाससिद्ध कलाकारिता को ही काव्य समझने लगी। एक प्रकार की जड़ता और स्तब्धता का समावेश हुआ; यद्यपि अब भी कोई-कोई कवि पिछले कवियों की उदात्त भावभूमि स्पर्श कर जाता था। रीति-काव्य के अनेक कवियों ने भक्ति-युग के समीकरण को राधा-कृष्ण के शृंगारिक प्रतीकों के सहारे आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु वे 'कविताई के दावेदार' होकर रह गये और लीला-गान उनके लिए परम्परा-पालन मात्र

रह गया। यह अवश्य है कि अनेक रीति-कवियों में युग-धर्म के रूप में यह समीकरण अनायास ही मुखरित हो उठा है और पूर्वतन युग के अध्यात्म ने रीति-युग की शृंगारी कविता को भी अतीन्द्रिय, लोकोत्तर तथा आध्यात्मिक भावभूमि दे दी है; परन्तु यह प्रगट है कि समाधि खण्डित हो चुकी है और समग्रता का आकांक्षी भारतीय मन अरूप के हिम-शिखर से नीचे उतरकर रूप के शीशमहल में खो गया है। रीतिकाव्य में उसका यही विभ्रम प्रतिविम्वित है। उसमें रूप में अरूप को देखने की आकांक्षा वलवती है और भक्ति-युग के प्रतीक इस दिशा में उसके सहायक हैं, परन्तु सव कहीं वह अपनी इस आकांक्षा को मूर्तिमान नहीं कर सका है। रीति-युग का काव्य दरवारी अभिरुचि से पीड़ित है और उसे लोक-रुचि का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। यह स्पष्ट है कि उसमें शिष्ट वर्गो का पाण्डित्य और उसकी कलाधर्मी चेतना ही अधिक रूपायित है, क्रांतदर्शी मर्मियों तथा अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न भावकों को तोष देने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। परन्तु इसी रीति-काव्य में घनानंद, मतिराम, पद्माकर और ठाकुर जैसे कवि भी हैं जो रूप के भीतर अरूप की खिड़कियां खोल देते हैं और जिनमें मध्ययुग का सौन्दर्यान्वेषी मन माधुर्य के नये-नये रस-स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। उसने और आगे वढ़कर शील और शौर्य के वर्जित प्रदेशों को भी छूना चाहा है। छत्रसाल के काव्य में यह ध्वनित है कि कहीं-कहीं उसका प्रयत्न सफल भी हुआ है। इस सफलता के प्रमाण इतिहास के पृष्ठों पर खोजे जा सकते हैं अथवा वे उस युग की वास्तुकला, संगीत-कला तथा चित्र-कला में आभासित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महार्घ मूल्यों से मंडित मध्ययुग का मानस साहित्य में अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का प्रकाशन नहीं कर सका है, परन्तु उसका अखण्ड भाववोध, उल्लास, चैतन्य तथा आनन्द उसमें सहस्र-धारा वनकर वहा है।

मध्ययुग के वैचारिक एवं साधनात्मक व्यक्तित्व को समझने के लिए हमें शंकराचार्य (७८८-८२० ई०) और वल्लभाचार्य (१४७८-१५३०) के दो छोरों को पकड़ना होगा; क्योंकि इन शताब्दियों का तत्त्व-ज्ञान इन्हीं दो व्यक्तित्वों को केन्द्र वनाकर घूमा है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के द्वारा सूक्ष्म जगत की एकता की कल्पना की और स्थूल जगत को भी सूक्ष्म जगत की विवृत्ति मानकर चलने का आग्रह किया। इसीलिए उन्हें 'विवर्त्त' (माया) का सिद्धान्त गढ़ना पड़ा। द्विधात्मकता आभास-मात्र है, एकता ही चरम सत्य है। परन्तु इससे व्यवहार की भूमि पर कठिनाई पड़ती है। अतः उन्होंने पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य के रूप में सत्य के दो पहलुओं की कल्पना की। इससे उन्हें अधिकार-भेद तथा भक्तिवाद को अपने अद्वैतवादी तन्त्र में स्थान देने की छूट मिल गई। परन्तु प्रश्न यह है कि इस द्विधा से कर्म कुंठित हो जाता है और भावना की सारी भूमि व्यावहारिक, अतः यांत्रिक, वन जाती है। शंकर जैसे महान व्यक्तित्व को इन दो विरोधी भूमियों पर चलना सरल रहा होगा, क्योंकि मन भी ब्रह्म की भांति विरोधी-धर्माश्रयी है; परन्तु सवके लिए यह उतना सरल नहीं था। फल यह हुआ कि संन्यासियों के अखाड़े वन गए और व्यवहार ही प्रधान हो गया। परमार्थ पीछे पड़ गया। माध्यमिक आचार्यो ने वुद्ध की ऐतिहासिकता-अनैतिहासिकता तथा उसके स्वरूप के विषय में त्रिकाय-कल्पना द्वारा समाधान प्रस्तुत करना चाहा था और वाद में विशुद्ध भावात्मक वुद्ध को भावाभाव से परे निर्वाण में स्थापित कर 'शून्यवाद' की कल्पना हुई। निर्वाण के 'वोधिचित्त' की व्याख्या के लिए 'महासुह' का रूपक ग्रहण हुआ। फलतः वुद्ध (शून्य निरंजन) ब्रह्म के निकट आ गये और शून्यवाद ब्रह्मवाद वन गया।

शंकराचार्य के इस समीकरण ने धार्मिक क्षेत्र की उस प्रक्रिया को वल दिया जो वौद्ध धर्म के ब्राह्मण धर्म में लयमान होने से उत्पन्न हो रही थी। यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य का यह समाधान वौद्ध धर्म तथा उसके परिवर्त्ती विकास से उत्पन्न समस्याओं का निरूपण है और उसमें व्यावहारिक सत्य के रूप में अनेक सम्प्रदायों, विचारधाराओं, साधनाओं तथा प्रतीकों के ग्रहण की क्षमता है। परन्तु एक वार क्रान्तिकारी सिद्ध होने पर भी कोई सिद्धान्त सदा के लिए क्रान्तिकारी नहीं हो जाता। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी नई आवश्यकताओं के अनुरूप नई व्याख्या हो।

रामानुज, मध्व और निम्वार्क ने 'भक्ति' को स्थान देने के लिए अद्वैतवाद की नई और स्वतन्त्र व्याख्याएं प्रस्तुत कीं और अद्वैतवादी दर्शन के ब्रह्म-जीव समीकरण को विशिष्टाद्वैतवाद (रामानुज), द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैता-द्वैत (निम्वार्क) के रूप में तीन नई भूमियां दीं। तीनों में माया की अवस्थिति अस्वीकार्य है। अध्यास के रूप में उसे अमान्य समझा गया है यद्यपि ब्रह्म की प्रवृति या शक्ति के रूप में वह मान्य रही है। इस योजना में वह कल्याणकारी

बन गई है। उसके माध्यम से ही ब्रह्म तक पहुंचा जा सकता है। परिणाम-भेद, प्रकार-भेद तथा अनिवर्चनीयतावाद के रूप में ये तीन वैष्णव दर्शन उत्तरोत्तर भक्ति को अधिकाधिक बहुमान देते हैं, परन्तु प्रकृति (जड़) के सम्बन्ध में उनके समाधान ऐसे नहीं हैं कि पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणों में एकरूपता स्थापित हो। रामानुज प्रकृति को अन्तर्यामिन की देह मानते हैं और इस प्रकार जड़ को चैतन्य से ओतप्रोत करना चाहते हैं, परन्तु इस दर्शन में जड़ की चैतन्य से अलग स्वतन्त्र स्थिति है। फलस्वरूप, रामानुजी भक्त 'सियाराम मय सब जग जानी' कहकर जड़ पर चिन्मयता का आरोप कर सकता है, परन्तु उसे एकदम तिरोभूत नहीं कर सकता। अद्वैतवाद का 'अध्यास' बना ही रहता है।

इस तात्त्विक विभ्रम का निराकरण वल्लभाचार्य के द्वारा हुआ। उन्होंने 'अद्वैतवाद' को शुद्ध किया और फलतः उनका दर्शन 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाया। उन्होंने सत् (स्थिति), चित् (चैतन्य) और आनन्द के रूप में तीन मूल गुणों की कल्पना की जो सृष्टि में ओतप्रोत हैं। ये तत्त्व सामासिक हैं, ब्रह्म-रूप हैं। ब्रह्म, जीव और प्रकृति (जड़) तीनों में समान रूप से इनकी अवस्थिति है; अन्तर केवल यह है कि इनका तिरोभाव-आविर्भाव हो सकता है। ब्रह्म में तीनों हैं, जीव में स्थिति और चैतन्य हैं। इस प्रकार जीव के लिए 'आनन्द' तत्त्व का उपार्जन परमावश्यक हो जाता है। वह ब्रह्मरूपा है, आनन्द का आविर्भाव उसकी साधना है। कृष्ण इसी आनन्द के प्रतीक हैं। यह वैष्णव आनन्दवाद है। भक्त की साधना आनन्द की साधना है। परन्तु आनन्द बाहर नहीं है, भीतर है। भीतर आनन्द के स्रोत उन्मुख होने पर चैतन्य जड़ के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस भीतर के आनन्द को मुक्त करने के लिए ही आचार्य ने 'लीलावाद' की प्रतिष्ठा की है और 'लीलावत्तु कैवल्यम्' (लीला ही कैवल्य है) कहकर इस प्रपंच को चिन्मय की लीला बतलाया है।

व्यवहार-भूमि पर इस नये तत्त्वदर्शन का फल यह हुआ कि सारा परिवेश आनन्दमय हो गया और युग की सीमाओं से ऊपर उठ कर मध्ययुगीन मानस चिदानन्द-सन्दोह भगवान कृष्ण के रूप-लीला-रस में विभोर हो उठा। प्रकृति ही नहीं, मानवीय सम्बन्ध भी चिन्मय बन गए। जहां सूफियों ने प्रकृति और मानवीय सम्बन्धों को लोकोत्तर की ओर इंगित माना था, वहां शुद्धाद्वैती और भी आगे बढ़ कर जड़ में चैतन्य ही देखने लगे, क्योंकि जड़ तो है ही नहीं। उन्होंने जड़ में चैतन्य ही नहीं, आनन्द की भी परिकल्पना की। इस प्रकार समस्त मानवीय सम्बन्ध आनन्दमय बन गए। कृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीला में वात्सल्य, सख्य तथा श्रृंगार के तत्त्व थे। अतः आचार्य ने 'षोडश ग्रंथ' में भक्त की भाव-साधना में इन तीनों की व्यवस्था की। श्रृंगार-साधना के लिए उन्होंने मिलन तथा वियोग दोनों को उपादेय माना। परन्तु विरह भी भक्त के लिए 'आनन्दमय' है, दुःखमय नहीं, ऐसी उनकी मान्यता है। निश्चय ही यह दृष्टिकोण सूफियों तथा सन्तों के दृष्टिकोण से भिन्न है। सूफी और सन्त 'प्रेम की पीर' को 'पीर' (पीड़ा) मानते हैं और उसे अपने साधक व्यक्तित्व के परिमार्जन का साधन समझते हैं, परन्तु शुद्धाद्वैती के लिए तो आनन्द ही उपजीव्य है। उद्धव के ब्रज पहुंचने पर गोपियों में जो विरह-भाव उमड़ा था, उसे आचार्य ने 'महोत्सव' कहा है और वैसा महोत्सव उनके मन में कब घटित होगा, ऐसी प्रार्थना की है। अतः उनके मत में आनन्द ही स्पृहणीय है, विरह नहीं। इसीलिए सूरदास की साधना विरह की साधना न होकर आनन्द की साधना है। इसी भूमिका पर जायसी से उनका अन्तर स्पष्ट हो सकेगा।

जीवन की परिपूर्ण उपलब्धि ही शुद्धाद्वैत दर्शन है क्योंकि जीवन 'सच्चिदानन्द' है। उसमें अस्वीकार्य कुछ भी नहीं है। अतः विराग के स्थान पर राग का उपयोग आवश्यक माना गया है और राग को जड़ोन्मुखता से हटा कर उसे चिन्मयोन्मुख बनाने की आनन्दमयी चेतना को ही साधना माना गया है। 'वार्त्ता' के नन्ददास के वृत्तान्त से इस धारणा की पुष्टि होती है और वल्लभकुल के आचार्य की परिवारनिष्ठा इसका उदाहरण है। भक्त आत्मसमर्पित (निवेदित) है, अतः 'निवेदन' के बाद उसके लिए कुछ भी वर्जनीय नहीं रह जाता। आवश्यकता यह है कि यह निवेदन आंतरिक, द्विधाहीन तथा सम्पूर्ण हो, जैसा भागवत के चीरहरण-प्रसंग में उदाहार्य है। आचार्य की भांति सूर ने भी इस आत्म-निवेदन की परिपूर्णता रास-प्रसंग में देखी है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट था कि शंकराचार्य का समाधान मूलतः दार्शनिक था और उसमें बौद्ध चिन्ताधाराओं तथा सम्प्रदायों को ब्राह्मणधर्म में आत्मसात होने की सुविधा प्राप्त हुई। शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर तथा वैष्णव साधनाओं को वैष्णव धर्म में अन्तर्भुक्त करके आद्य शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा खड़ा

किया और आर्ष-चेतना को एकदम बन्धन-मुक्त कर दिया। माध्यमिक तथा योगाचार बौद्ध मतवादों का श्रेष्ठतम उनके बुद्धिवाद (ब्रह्मवाद) में गृहीत हुआ और मध्ययुग के अनेक धर्म-सम्प्रदाय अद्वैतवाद की समानधर्मी भूमि पर एक सूत्र में गुंफित हुए। १०वीं शताब्दी के अन्त तक यह प्रक्रिया बहुत दूर तक आगे बढ़ चुकी थी और ११वीं-१२वीं शताब्दियों में स्मार्त धर्म मध्य देश का सार्वभौम धर्म बन गया। परन्तु १२वीं शताब्दी के अन्त में इस्लामी आक्रमण तथा आधिपत्य ने एकबार फिर विघटन की चुनौती उपस्थित की और भारतीय मनीषा को उसका उत्तर देना पड़ा। ११वीं शताब्दी में रामानुज (१०१७–११३७ ई०) दक्षिण भारत की आलवार भक्ति का सम्बन्ध अद्वैतवाद से जोड़ कर भारतीय धर्म-चिन्ता को भावप्रधान बना चुके थे और पांचरात्र जैसे महत्त्वपूर्ण भारतीय प्राचीन भक्ति-सम्प्रदाय वैष्णवधर्म में अन्तर्भुक्त हो गए थे। यह भी कहा जा सकता है कि इन सम्प्रदायों की प्रबलता ने ही अद्वैतवादी चिन्तन को नया भक्तिपरक मोड़ दिया जो विशिष्टाद्वैत के रूप में सामने आया। इसके बाद उत्तरोत्तर व्यापक और सूक्ष्म भूमियों पर भक्ति का प्रवेश चिन्तन और साधना के क्षेत्र में होता गया और दक्षिण से हमें दो नये समीकरण द्वैतवाद (मध्व) तथा द्वैताद्वैत (निम्बार्क) के रूप में प्राप्त हुए। १४वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी ने भी इसी प्रकार का दार्शनिक समीकरण उपस्थित किया और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-दर्शन से उनका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है; परन्तु अनुश्रुति से अधिक पुष्ट प्रमाण इस सम्बन्ध में हमें उपलब्ध रहीं हैं।

उत्तर भारत की हिन्दू-मुसलमान-समस्या का समाधान इन दार्शनिक समाधानों से सम्भव नहीं था। इस्लामी दर्शन आत्मसमर्पी है। उसमें जीवन-चिन्ता की अपेक्षा जीवनचर्या का अधिक महत्त्व है। विशुद्ध इस्लामी दर्शन की भूमि पर इस समस्या का निराकरण असम्भव था। परन्तु स्वयं इस्लामी दर्शन के भीतर सूफी दर्शन के रूप में एक विरोध पल्लवित हो रहा था। इस विरोध ने ही कालान्तर में इस्लाम को उदाराशयी, भावुक तथा लोकधर्मी बनाया। सूफी विचारणा में बौद्ध योग तथा वेदान्त का समीकरण बहुत पहले ही हो चुका था और इसीलिए यह विचारधारा मध्ययुगीन भारत की भूमिका ग्रहण कर सकी। दक्षिण के भक्तिवाद के रूप में एक नई साधना-धारा और विचारणा उत्तर भारत में प्रविष्ट हुई थी। इस भक्तिवाद से सूफीवाद में अधिक भेद नहीं था। अन्तर केवल इतना था कि वैष्णव भक्ति उतनी दूर तक भावना के सूत्रों को खोल नहीं सकी थी। वह अब भी वैधी भक्ति से बंधी थी। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नवधा और दशधा भक्ति की चर्चा परम्परा की ओर इंगित करती है। अतः आवश्यकता थी कि शास्त्रोन्मोदन के इस बन्धन को खोला जाय और भक्ति को एकान्तिक, सर्वभुक् और तरल बनाया जाय। निम्बार्क के द्वैताद्वैत-भाव और राधा-कृष्ण की प्रतीकात्मकता में ऐसे संस्कार थे जिनको आधार बनाकर यह परिवर्तन किया जा सकता था। आरम्भ में नामदेव (१२७०–१३५०) और रामानन्द (१२९९–१४१८) ने इस्लामी सूफी भावना और वैष्णव भक्तिवाद के बीच में सेतुबन्धन का कार्य किया और भक्ति को व्यक्तिगत, सूक्ष्म तथा अन्तरंगी बनाया। रामानन्द में सामाजिक चेतना भी पर्याप्त थी और उन्होंने मध्मयुग के उपचेतन का ही प्रतिकारात्मक संगठन नहीं किया, चेतन मन के उपयोग से भी भक्तिवाद को पुष्ट किया। हनुमद्भक्ति और रामोपासना के द्वारा उन्होंने हिन्दू-मात्र में पौरुष जाग्रत किया और पराभूत हिन्दू-मन को जीवन्त आस्था दी। युग-पुरुष के रूप में उन्होंने राम के प्रतीक को स्वीकार किया और उसकी निर्गुण-सगुण व्याख्याओं द्वारा चेतन-अवचेतन दोनों स्तरों का स्पर्श किया। फलतः राम (नाम) के माध्यम से मध्ययुग की विभक्त चेतना एक सूत्र में गुंफित हुई और अद्वैतवाद भक्तिपरक बना। रामानन्दी सम्प्रदाय के प्रथित ग्रंथ अद्वैतवादी हैं, परन्तु रामानन्द के शिष्यों में विशिष्टाद्वैत की झलक भी स्पष्ट है और तुलसीदास (१५३२–१६२३) में तो दोनों मतवाद इतने संग्रथित हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव बात है।

यह स्मरण रखना होगा कि मध्ययुग का आर्ष मन नये परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। पुराणों के कलियुग-वर्णन में भी यह प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वायुपुराण (२री शती पूर्व) से ही यह प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है क्योंकि इसी समय के लगभग पश्चिमी आक्रमणों से वर्णव्यवस्था और कर्मकाण्डी चर्या संकट में पड़ने लगी थी। कालान्तर में 'आपद्धर्म' तथा 'कलियुग' एवं 'वर्णसंकर' की कल्पना से आर्ष मन ने सान्त्वना प्राप्त की। १५वीं शताब्दी तक पुराणों-उपपुराणों की रचना हुई है और सभी पुराणों में कलियुग-वर्णन का समावेश

हुआ। साथ ही उस आत्मप्रवंचना का दूसरा रूप 'रामराज्य' के रूप में कल्पित हुआ। १६वीं शताब्दी में रामचरितमानस, मनुचरित्र तथा सत्रहवीं शताब्दी में समर्थ रामदास की रचनाएं इस आदर्श को अनेक रूपों में पल्लवित करती हैं। इसी आर्ष मन ने नवीन स्मृतियों तथा निवन्ध ग्रंथों का निर्माण किया और हेमाद्रि जैसे महापण्डित को जन्म दिया जिसने लगभग दो सहस्र व्रतों-आचारों को स्मृति-चर्या में गूंथने का उपक्रम किया। यह उच्च वर्ग (ब्राह्मण) की आत्मरक्षा का प्रयत्न था जो मध्ययुग में बराबर चलता रहा। व्रतों-आचारों, व्यक्तिगत शुद्धता के आदर्शों तथा वर्ण-व्यवस्था एवं अस्पृश्यता के कूर्म-कवच के द्वारा इस प्रयत्न को लौह-दुर्ग का रूप देने की चेष्टा हुई, परन्तु समय-समय पर इस रक्षा-पंक्ति में दरारें पड़ती रहीं और सामाजिक लोकप्रियता के आग्रह से आचार्यों और पंडितों ने भक्तिवाद को ब्राह्मण-धर्म में स्थान देना पड़ा। परन्तु भक्तिवाद अकेला ही नहीं आया, उसके साथ अनेक द्वन्द्वों का प्रवेश हुआ। १६वीं शताब्दी के अन्त तक ब्राह्मणवाद और भक्तिवाद का विरोध बहुत-कुछ समाप्त हो चुका था, क्योंकि भक्तिवाद ने ब्राह्मण-धर्म के भीतर प्रवेश पा लिया था। यह भक्तिवाद पौराणिक भक्ति के रूप में संगठित हुआ और इसने मर्यादा के नाम पर वर्णव्यवस्था और पौरोहित्य से समझौता कर लिया था। तुलसी का 'मानस' (१५७५) इसी समझौते का प्रतीक है।

परन्तु उच्च वर्गों में भी ऐसे द्रष्टा थे जिनके लिए यह समझौता अंतिम समझौता नहीं हो सकता था। वे जाति के नवीन स्पन्दन से परिचित थे और भक्तिवाद को उच्चतम सांस्कृतिक अभिव्यक्त का माध्यम बनाना चाहते थे। वल्लभाचार्य ऐसे ही द्रष्टा थे। उन्होंने अपने ग्रंथ 'कृष्णास्तुति' में इस्लामी आतंक द्वारा उत्पन्न अराजकता का मार्मिक चित्रण किया है और इसके लिए कृष्णार्पण का मोर्चा बांधा है। परन्तु यह कृष्णार्पण क्या है? इस कृष्णार्पण का दार्शनिक पहलू शुद्धाद्वैत है और धार्मिक एवं साधनात्मक पहलू पुष्टि-मार्ग और सेवा-मार्ग। शुद्धाद्वैत दर्शन ने जड़-चेतन अथवा जीव-ब्रह्म के समस्त विरोधों का परिहार किया और आनन्द की भूमिका देकर युग की संस्कारी भावना को सौंदर्य, माधुर्य तथा शक्ति की ओर प्रेरित किया। चैतन्य को जाग्रत करने के लिए आनन्द ही सबसे बड़ा साधन हो सकता है। अतः विरोधी धर्माश्रयी ब्रह्म (आनन्द) के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भक्तिवाद की शर्त बन गया। उन्होंने मन में किसी प्रकार का निरोध स्वीकार नहीं किया। फल यह हुआ कि वैष्णव भक्ति के लिए ऐहिक जीवन, भौतिक परिवेश तथा मानवीय सम्बन्ध माधुर्य और आनन्द से ओतप्रोत हो गए। इस आनन्दवाद के प्रतीक के रूप में कृष्ण-लीला की प्रतिष्ठा हुई और वात्सल्य, सख्य तथा शृंगार की अनेकानेक भूमियां युग के काव्य में उद्घटित हुईं। पिछले युगों के तन्त्रवाद को भी राधा-कृष्ण की नई भूमिका मिली और इस प्रकार अनेक तांत्रिक परम्पराएं और युगनद्धी मान्यताएं कृष्ण-भक्ति में समाहित हुईं। इस प्रकार वैष्णव भक्तिवाद पूर्वतन युग के तंत्रवाद का सच्चा उत्तराधिकारी बना। सिद्ध तथा सूफी साधनाओं के मौन प्रतीक कूट काव्य के रूप में कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी आ गए, परन्तु अधिकांश कृष्ण-काव्य अंकुठित, नैसर्गिक तथा सर्वमुखी जीवन-स्वीकृति बन गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रामानन्द का मध्ययुग के मन को खोलने का प्रयत्न वल्लभाचार्य की नई अद्वैतवादी व्याख्या में ही सम्पूर्णतः सफल हो सका। बीच के सोपान महत्त्व-पूर्ण हैं, परन्तु उनकी परिणति शुद्धाद्वैत में ही हुई है। हिन्दी साहित्य को यह श्रेय प्राप्त है कि इस दार्शनिक मान्यता की अभिव्यक्ति सूरदास जैसे सशक्त, भावुक तथा साक्षात्कारी कवि के द्वारा हुई। उनका 'सागर' निश्चय ही मध्ययुग की आत्मनिष्ठा, सौंदर्याकांक्षा, माधुर्य-साधना तथा भावमुक्ति का सागर है। उसमें युग का समस्त अवचेतन हिल्लेलित है। उसमें मध्ययुगीन मन अपने भीतर के सभी बन्धनों को तोड़कर अपने ही सौंदर्य, माधुर्य तथा तारल्य का आस्वादन करता है। वह 'मानस' (तुलसी) से भिन्न है जो युग के चेतन मन की सक्रिय, जागरूक और प्रतिबद्ध (संकल्पी) चेतना का प्रकाशन है। दोनों युग-मन के दो स्तरों की अभिव्यक्तियां हैं। फलतः उनकी अभिव्यक्ति के स्वरूप तथा प्रकाशन में अन्तर है। मध्ययुग की सौंदर्य-साधना वास्तुकला, चित्रकला, संगीत तथा काव्य के माध्यम से मूर्तिमान हुई है और इन सभी को कृष्ण-रंग से रँग दिया गया है। १६वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के मध्य तक हम नागरी राधा और नटनागर श्याम के सौन्दर्य तथा माधुर्य के प्रतीकों में मध्यदेशीय कला-साधना की अभिव्यक्ति पाते हैं। ऐसा बहुमुखी, बहुमानी तथा व्यापक आन्दोलन कदाचित किसी भी देश में नहीं मिलेगा। राजपूत चित्रकला, ध्रुपद-धम्मार-खयाल की गायकी और पदों तथा कवित्त-सवैयों में जिस अपार रूप-माधुरी के दर्शन हमें होते हैं, वह अन्यत्र अलभ्य है। यह बहुमुखी साधना

वर्जनीय को संग्रहणीय बना देती है और इसमें कहीं भी संकोच, कुंठा तथा पराजय के दर्शन नहीं होते। मध्ययुग के मन ने भाव-जगत को अपनाया था और उसके लिए भाव-सत्य ही एकमात्र सत्य था। इसे वस्तु-सत्य से पलायन कहा गया है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस भाव-सत्य ने कालान्तर में हमें वस्तु-सत्य के प्रति भी अधिक जागरूक एवं खड्ग-हस्त नहीं बनाया।

साहित्य और कल्पना के क्षेत्रों में सब-कुछ स्थूल अर्थों में प्रयोजनीय नहीं होता। अतः मध्ययुगीन साहित्य से हम सामान्य ढंग की वस्तुमुखी रचनाओं की आशा नहीं कर सकते। यह नहीं कि ऐसी कृतियों का नितान्त अभाव है और चारण-काव्य तथा रीति-काव्य में प्रशस्तियों की मात्रा भी कम नहीं है। दोनों का दृष्टिकोण इहलौकिक ही है। सिद्ध-काव्य तथा नाथ-काव्य के सम्बन्ध में प्रचारात्मकता की आवाज उठाई गई है और वैष्णव काव्य में भी बहुत-कुछ ऐसा है जो मात्र पौराणिक या साम्प्रदायिक है। यह स्पष्ट है कि सम्प्रदाय-बद्ध रचनाओं में कवि व्याख्याता अधिक होता है या वह गतानुगत का वाहक बन जाता है। मध्ययुग के अनेक प्रचण्ड साधक बाद में सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक माने जाने लगे (यद्यपि इसमें सन्देह है कि उन्होंने स्वयं इन सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया होगा) और उनकी तेजस्वी ज्वलन्त वाणी अपनी मौलिकता खोकर परम्परा बन बैठी। इस प्रकार के साहित्य को हम प्रयोजनीय ही मान सकते हैं। परन्तु मध्ययुग के सर्वश्रेष्ठ को पाने के लिए हमें सर्वश्रेष्ठ कृतियों को (और सम्भवतः उन कृतियों के भी सर्वश्रेष्ठ को) चुनना होगा। इस सर्वश्रेष्ठ ने ही युग-मन का प्रतिनिधित्व किया है, क्योंकि शेष समस्त सामान्यता के धरातल पर जीवित रहकर एक दिन काल का ग्रास बन गया। मध्ययुग के एक छोर पर सरहपा, गोरखनाथ, रामानन्द और कबीर हैं और दूसरे छोर पर सूर, तुलसी, मीरा और हितहरिवंश हैं। इन दोनों छोरों के बीच में साधना और उपलब्धि के अनेक स्तर हैं। यह स्पष्ट है कि मध्ययुग का मन किसी बंधी हुई लीक पर नहीं चला है। उसने नये-नये समाधानों को प्रस्तुत किया है और सौन्दर्य तथा माधुर्य के नये-नये स्रोत उन्मुक्त किए हैं। उसमें जहां निम्न वर्गो का विद्रोह पल्लवित है वहां उच्च वर्गो का औदात्य और आत्मदान भी मुखरित है। वैष्णव भक्ति के धरातल पर वर्गीय भेद-भाव समाप्त हो जाता है और 'हरि को भजै सो हरि कौ होई' रामानन्दी मन्त्र के अनुसार केवल मानवता शेष रह जाती है। इस साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अद्वैत की ऊंचाई तक उठ कर और फिर नीचे उतर कर समाज को छूता है और उसे भी उसी ऊंचाई पर ले जाने का उपक्रम करता है। समस्या चाहे सामाजिक हो, परन्तु समाधान आध्यात्मिक है; क्योंकि अध्यात्म ही मनुष्य के भीतर के चैतन्य का स्पर्श कर सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुगीन साहित्य ने उस युग के मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान कर दिया था; परन्तु यह निश्चय है कि वह मूलभूत और अन्तरंगी समाधानों का कायल था और इस दिशा में उसकी सफलता अप्रत्याशित ही कही जा सकती है; क्योंकि उसकी कलाकृतियों, जीवन-व्यवहार तथा साहित्यिक चेतना में अपूर्व सन्तुलन है। मध्ययुगीन साहित्य को युग-मानस की अन्य अभिव्यक्तियों के समक्ष रख कर ही हम उसके प्रति न्याय कर सकेंगे और शब्द तथा अर्थ के बीच के महान रिक्त को भरने में सफल होंगे।

संत-काव्य में प्रतिविम्बवाद

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

ईश्वर एवं जीव के स्वरूप की कल्पना, चिन्तन एवं मनन अद्वैत वेदांत के मर्मज्ञों का प्रमुख विषय रहा है। इस विषय (ईश्वर एवं जीव के स्वरूप की कल्पना) को लेकर अनेक वादों का जन्म एवं प्रचलन हुआ, जिनमें आभास-वाद, प्रतिविम्ववाद, अवच्छेदवाद तथा जीवैक्यवाद का विशेष उल्लेख है। इसमें से प्रतिविम्ववाद का विशेष महत्त्व है। भारतीय (आस्तिक) दर्शन में प्रतिविम्ववाद की विशेष चर्चा है। अद्वैत दर्शन के अन्तर्गत तो यह चिरकाल तक वैमत्य या मतभेद का विषय रहा है। इस दार्शनिक विचारधारा पर, शायद ही कोई ऐसा अद्वैत वेदांती हो जिसने अपने विचारों को पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रवल तर्कों के आधार पर चिन्तन का प्रमुख विषय न वनाया हो। प्रतिविम्व का कोष की दृष्टि से अर्थ होता है छाया अथवा विम्व की प्रतिछाया। विद्वानों का अभिमत है कि विम्व और प्रतिविम्व अन्यो-न्याश्रित हैं अतः उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। विम्व के अभाव में प्रतिविम्व की और प्रतिविम्व के अभाव में विम्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। प्रतिविम्व उसी प्रकार निःसार और क्षणिक है यथा मानव का व्यक्तित्व अथवा जीवन स्वतः क्षणभंगुर है। प्रतिविम्व ही विम्व का द्योतक और स्पष्ट करने का एक साधन है। सामान्यतया अज्ञान में प्रति-विम्वित चैतन्य को ईश्वर कहा जाता है और इसी प्रकार बुद्धि-प्रतिविम्वित चैतन्य को जीव कहा गया है। वस्तुतः अज्ञान की उपाधि से परे या विहीन विम्व चैतन्य शुद्ध है। स्वतन्त्रता तथा व्यापकतादि गुणों से संयुक्त एवं विशिष्ट होने के कारण ईश्वर विम्व-स्थानापन्न है। परतन्त्रता के ही कारण अविद्या में चिदाभास जीव है। ईश्वर विम्वरूप है और जीव प्रतिविम्व-रूप है। संक्षेप में यही प्रतिविम्ववाद है। इस दार्शनिक सिद्धांत के प्रति अनेक अद्वैत वेदांतियों को आस्था है और अनेकानेक अनास्था की भावना से ग्रस्त हैं। द्वितीय कोटि के विद्वानों का कथन है कि स्वरूपवान पदार्थ स्वरूप से युक्त आधार में ही प्रतिविम्व दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, राकेश का प्रतिविम्व जल में ही दृष्टि-गोचर होता है। यदि वही राकेश स्वरूपविहीन होता तो स्वरूप से युक्त आधार में उसका प्रतिविम्व कभी न दृष्टिगत होता। वास्तव में ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार और अनादि-अनन्त है। अतः उसका प्रतिविम्व सम्भव नहीं है। इसीलिए रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिविम्व-उत्पादन की शक्ति ही विद्यमान है।

'पदार्थसंग्रह' का मत है कि विम्व से पृथक न रहने वाला और उसके सदृश ही तत्त्व प्रतिविम्व है[1]। इसकी सत्ता विम्व के ही आधीन होने से यह क्रियावान प्रसिद्ध है।[2] वास्तव में स्वयं प्रतिविम्व में क्रिया नहीं है।[3] विम्व तथा प्रतिविम्व में कहीं ज्ञान, आनन्द आदि गुणों के कारण तथा कहीं चैतन्य, हाथ, पैर, नासिका आदि होने से सादृश्य भी है। इसीलिए ब्रह्म का प्रतिविम्व दैत्यों में भी है।[4] प्रतिविम्व के भेद भी हैं, यह नित्य भी है और अनित्य भी।[5] ब्रह्म

१. पदार्थसंग्रह, पृ० ६५ (ख)
२. मध्वसिद्धांतसार, पृ० ६५ (ख)
३. गीताभाष्य
४. मध्वसिद्धांतसार, पृ० ६५ (ख)
५. वही, पृ० ६६ (क)

के अतिरिक्त सभी चेतन ब्रह्म के प्रतिविम्व है और ये प्रतिविम्ब नित्य है। ब्रह्मरूप विम्व तथा चेतन समूह का अथवा उनकी सन्निधि का क्षय नहीं होता है। दर्पण में प्रतिभासित मुख का प्रतिविम्व, विम्बस्वरूप मुख के नाश से अथवा दर्पण-रूप उपाधि के नाश से अथवा उनकी सन्निधि के नाश से, क्षय हो जाता है। अतः इनकी परिगणना अनित्य प्रतिविम्व के अन्तर्गत है। छाया, इन्द्रधन्वा, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिक का लौहित्य भी प्रतिविम्व ही है।[६]

प्रतिविम्ववाद का परीक्षण एवं विवेचन करते हुए 'सिद्धान्त-विन्दु' में आचार्य मधुसदन सरस्वती ने लिखा है कि–"**अज्ञानोपहितं विम्बचैतन्यमीश्वरः। अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीव इति विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यमीश्वरः। बुद्धिप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीवः। अज्ञानानुपहितं त विम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपशारीरकाराः। अन्ययोश्च पक्षयोर्बुद्धिभेदाज्जीवनानात्वम् प्रतिविम्बस्य च पारिमार्थिकत्वाज्जहदजहल्लक्षणैव तत्त्वमादिपदेषु। इवमेव च प्रतिविम्बवादमाचक्षते।**"

अर्थात्, अज्ञान से उपहित विम्वचैतन्य ईश्वर है। अंतःकरण और अंतःकरण के संस्कार अवच्छिन्न अज्ञान में प्रतिविम्वित चैतन्य जीव है। अज्ञान में प्रतिविम्वित चैतन्य ईश्वर है और बुद्धि में प्रतिविम्वित चैतन्य जीव है। अज्ञानोपाधि-रहित विम्व चैतन्य शुद्ध है। यह संक्षेपशारीरकारों का मत है। इन दोनों पक्षों में बुद्धि (अंतःकरण) के भेद से जीव नाना है। प्रतिविम्व के पारमार्थिक होने से 'तत–त्वम्' आदि पदों में जहदजहती लक्षणा ही है। इसी को प्रतिविम्ववाद कहते है

परिव्राजकाचार्य सदाशिवेन्द्र सरस्वती-लिखित 'सिद्धांतकल्पवल्ली' में प्रतिविम्ववाद की विवेचना निम्नलिखित शब्दों में करते हुए 'सत्यत्वमिथ्या' का उल्लेख हुआ हो—

नन्वित्थं प्रतिविम्बभ्रमस्थले सन्निकर्षवैकल्यात्।
मुकुरे मुखान्तरम् स्याद् ग्रीवास्थितनिजमुखातिरेकेण॥
इह न मुखस्याऽध्यासो मुकुराहतदृष्टिसन्निकृष्टत्वात्।
किन्त्वस्य मुकुरगत्वं भ्रम इति निगदन्ति विवरणानुगतः॥
विम्बमुखात् पार्श्वस्थैर्भेदेन निरीक्ष्यमाणमादर्शे।
प्रतिविम्बितं मुखं तन्मिथ्येत्यद्वैतविधाकृतम्॥
ननु कथमयमध्यासस्तद्धेत्वज्ञानसंक्षयादिति चेत्।
विक्षेपशक्तिमात्रवदज्ञानं तत्र हेतुरित्याहुः॥

अर्थात्, प्रतिविम्वभ्रमस्थल में सन्निकर्ष का वैकल्य होने से अर्थात् ललाटादिप्रदेशावच्छेद से मुख का सन्निकर्ष न होने से आदर्श में विम्व से अतिरिक्त प्रतिविम्व, अर्थात् ग्रीवास्थित निजमुख से अतिरिक्त मुख मानना होगा; इस नियम को मानने से ब्रह्म प्रतिविम्व जीव के भी ब्रह्म से भिन्न होने पर जीव में मिथ्यात्व की आपत्ति आ जायगी। इससे जीव को मुक्ति-प्राप्ति की उपत्ति न होगी। उक्त आपत्ति तभी आ सकती है, जब दर्पण में मुख का अध्यास होता, पर ऐसा तो नहीं, अर्थात् यहां दर्पण में मुख का अध्यास नहीं है, किन्तु दर्पण से प्रतिहत होकर परावृत हुई दृष्टि से सन्निकृष्ट होने के कारण मुख का भान होता है। केवल इस मुख का मुकुरत्व–दर्पणस्थत्व–भासना भ्रम है, क्योंकि 'यह मेरा मुख दर्पण में भासित है, यहां मुख नही है ऐसा दर्पणस्थत्व और बाध– इन दोनों के अनुभूत होने से केवल दर्पणस्थत्व ही अध्यस्त है', ऐसा विवरणानुयायी का कथन है। पार्श्वस्थ पुरुषों द्वारा विम्वभूत ग्रीवास्थ मुख से भिन्न रूप से तथा उसके सदृश रूप से परीक्ष्यमाण दर्पण में प्रतिविम्वित मुख, स्वहस्तगत रजत से भिन्न शुक्तिरजत के समान, उससे भिन्न एवं स्वरूप से मिथ्या ही है; दर्पण में मेरा मुख है, ऐसा कथन तो अपने छाया मुख में स्वमुख के कथन के समान गौण है, यह जीव की विविधता मानने वालों का मत है। इस मत में प्रतिविम्ब जीव का तो मिथ्यात्व है, किन्तु अवच्छिन्न जीव सत्य है अतः मुक्ति की अनुपपत्ति नहीं होती है। दर्पण का प्रत्यक्ष होने से उपादानभूत अज्ञान का नाश हो जाने पर यह प्रतिविम्वाध्यास कैसे होगा? यद्यपि दर्पण के प्रत्यक्ष से अधिष्ठान के अज्ञान के आवरणांश का नाश होने

६—पदार्थसंग्रह, पृ० ६८ (क)

पर भी विम्ब-सन्निधान आदि प्रतिवन्धकों के कारण उसके विक्षेपांश का नाश नहीं होता, अतः विक्षेप-शक्ति से युक्त अज्ञान के प्रति विम्बोपादन होने से ही। अध्यास उपपन्न है। विक्षेपशक्ति से सम्बन्धित अवस्थाज्ञान प्रतिविम्ब का उपादान सम्भावित नहीं है। कारण कि जहां पूर्व दर्पण का प्रत्यक्ष सम्पन्न हुआ और तदनन्तर विम्ब की सन्निधि वहां प्रतिवंधक के न होने से विक्षेपांश का नाश हो जाने पर प्रतिविम्ब का विकास नहीं होगा; किन्तु विक्षेप-शक्ति वाला मूलाज्ञान ही प्रतिविम्ब का उपादान होता है। विम्ब के असंनिधान से सहकृत मुकुर का प्रत्यक्ष मूलाज्ञान का निवर्तक नहीं होगा, परन्तु स्वविरुद्ध मूलाज्ञान का विक्षेपरूप कार्य उसका निवर्त्तक होगा, इसीलिए ब्रह्मज्ञान मूलाज्ञान-निवर्त्तक है। प्रतिविम्ब में विम्बसंनिधान और स्वच्छत्वादि दोषजन्यत्व होने से प्रातिभासिकता ही है; अर्थात्, अविधातिरिक्त दोष से अजन्यत्व ही व्यावहारिकता का प्रयोजक है।

अप्पयदीक्षित के 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में प्रतिविम्बवाद की सत्यता का निराकरण निम्नलिखित शब्दों में उल्लिखित हुआ है :

नन्वेवं स्वमुखं स्वस्यासन्निकृष्टमितीतरत्।
दर्पणेऽध्यस्तताऽऽपन्नं प्रतिविम्बं मृषेति चेत्॥
दर्पणादिपरावृत्तैर्निजैर्नयनरश्मिभिः।
सन्निकृष्टं मुखं तत्रोपाध्यन्तः स्थितिविभ्रमः॥
न दर्पणे मुखाध्यासः संस्कारादेरसंभवात्।
ममेदमिति मानाच्चेत्याहुर्विवरणानुगाः॥
अद्वैतविद्याचार्यास्तु पार्श्वस्थैर्भेददर्शनात्।
ग्रीवास्थादन्यदध्यस्तं प्रतिविम्बमुखं विदुः॥
सामान्यतोऽपि संस्कारो विशेषारोपकारणम्।
स्वप्ने तथैव वाच्यत्वादिह विम्बानुसारिता॥
नच्छाया नापि वस्त्वन्यत्प्रतिविम्बसंभवात्।
नन्वध्यासोऽप्ययुक्तोस्योपादानज्ञानसंक्षयाद्॥
अत्र केचिद्विधाऽत्राऽऽवरणांशे विनश्यति।
विक्षेपांशे तु विम्बादिप्रतिवद्धास्य कारणम्॥
मूलाविधाऽथवाहेतुर्विक्षेपांशेन संस्थिता।
विम्बादिदोषजन्यं त्वान्मिथ्येत्यन्ये प्रचक्षते।
विम्बापसरणाध्यक्षद्विक्षेपांशस्य वाधनम्।
विरोधादथवा ब्रह्मज्ञानेनैवास्य वाधनम्॥

तात्पर्य यह है कि रजताभास की उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर दर्पण में अध्यस्त अपना मुख भी असन्निकृष्ट होने से अन्य अनिवर्चनीय उत्पन्न होगा, अतः वह मिथ्या होगा; यदि इस प्रकार शंका से युक्त नहीं है, कारण कि दर्पण आदि से परावृत्त अपनी नयन-रश्मियां ही सन्निकृष्ट मुख का ग्रहण करती हैं तथा उसके केवल उपाध्यन्तःस्थत्व आदि का अध्यास होता है। दर्पण में मुख का अध्यास उत्पन्न नहीं होता है; कारण कि संस्कार नहीं है और मेरा यह मुख है इस प्रकार अभेदानुभव भी होता है, ऐसी विवरणानुसारी विद्वानों की सम्मति है। अद्वैत विद्या के विद्वानों का अभिमत है कि समीपस्थ मानव मुख्य मुख से प्रतिविम्बभूत मुख का भेद देखते हैं अतः ग्रीवास्थ मुख से अध्यस्थ प्रतिविम्बभूत मुख भिन्न है। सामान्यतया संस्कार विशेषारोपण के कारण विद्यमान होते हैं; क्योंकि स्वप्न में अदृष्टानुरोध से पुरुषाकृति-विशेष का अध्यास माना गया है। अतः यह निश्चित है कि प्रकृत में प्रतिविम्बानुसारिता से मुखाकृति का अध्यास होगा। संक्षेप में प्रतिविम्ब विम्ब की न छाया है और न अन्य वस्तु है, निश्चय ही प्रतिविम्ब मिथ्या है; यह कथन भी अनुपयुक्त है। शुक्ति-रजत के समान उसके उपादान-कारण अज्ञान का नाश हो जाता है। अन्य कतिपय

विद्वानों का अभिमत है कि यहां पर अज्ञान का आवरण अंश से विनष्ट हो जाता है और विक्षेप-अंश से अज्ञान रहता है। वही बिम्बसम्बद्ध प्रतिबिम्ब मुख का कारण होता है। अथवा मूल विक्षेप-अंश से स्थित मूला विधा प्रतिबिम्बाध्यास की हेतु है। बिम्ब आदि के दोष से जन्य होने के कारण प्रतिबिम्ब मिथ्या है, यह कतिपय विद्वानों का मत है। बिम्ब की सन्निधि की निवृत्ति से युक्त अधिष्ठान-साक्षात्कार से विक्षेप-अंश का बोध प्राप्त होता है इसलिए कि दोनों का परस्पर विरोध है अथवा केवल ब्रह्मज्ञान से ही विक्षेप-अंश का नाश होता है।

'वाचस्पत्यम्' में प्रतिबिम्बवाद का विवेचन करते हुए उलेल्ख किया गया है कि **"जीवस्य ईश्वरप्रतिबिम्बता-स्थापनार्थे वादे। द्विधा हि वेदान्तिमते जीवेश्वरयोर्विभागकल्पना प्रतिबिम्बभावेन च। तत्राद्यः पक्षः विवरणानुसारिभिर्मन्यवे द्वितीयः पक्षोऽन्यैर्मन्यते तदेतत् सिद्धान्तलेशे प्रदर्शितं यथा"**।[1]

'ब्रह्म-सूत्रों' में उल्लेख हुआ है कि जीव ब्रह्म है। उपाधि के कारण यथा एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में विभिन्न रूपों में प्रतिबिम्बित और प्रतिभासित होता है, तथैव 'एक ब्रह्म' अनेकानेक उपाधियों में भासित होता है।[2] ब्रह्मबिंदु उपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि भूतात्मा प्रत्येक प्राणी में उसी प्रकार विद्यमान है यथा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा बहुरूपों में दृष्टिगत होता है।[3] यह सर्वमान्य तथ्य है कि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा नहीं है। ऐसी कल्पना कर लेना मिथ्यात्व का आश्रय लेना होगा। उपाधि माया का पर्याय है। माया की स्थिति पारमार्थिक दृष्टि से शून्य वा निःसार है। माया की मिथ्यारूपता का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शंकर ने उद्धरण दिया है कि "हे नारद, मैंने यह माया रची है। तुम मुझे सर्वभूत गुणों से युक्त रखते हो, परन्तु मेरा रूप समझना औचित्य नहीं है।"[4] वस्तुतः मायिक उपाधि ब्रह्म का आभास-मात्र है।[5] आचार्य शंकर ने आभास को अविद्याजनित माना है अतः आभास पर निर्भर संसार भी अविद्याजनित है।[6] जल के आन्दोलित होने से चन्द्रमा भी आन्दोलित होता है पर वास्तविक चन्द्र तो नहीं आन्दोलित होता है।[7]

'विवेकचूड़ामणि' में उल्लेख हुआ है कि यथा जल के हिलने से सूर्य नहीं हिलता है उसी प्रकार उपाधि के विकृत होने के प्रभाव से आत्मा नहीं विकृत होती है। जलरूप उपाधि के चंचल होने पर मूढ़-बुद्धि मानव औपाधिक प्रतिबिम्ब चंचलता का आरोप ब्रह्म में करते है। आत्मा निष्क्रिय है पर चित्त की चंचलता का आरोप 'मैं करता हूं, भोक्ता हूं', इस भांति व्यवहृत होता है। घट के धर्मो से आकाश का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार शरीर चाहे जल में, लोटे में या स्थल में, आत्मा में मलीनता नहीं आती है।[8] दार्शनिक की इसी परम्परा में वर्तमान दार्शनिक भी प्रतिबिम्ब सत्यता

---

१. वाचस्पत्यम्, भाग षष्ठ, पृ० ४४५२

२. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्। ब्रह्मसूत्र।३।२।१८

३. एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थिता।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ब्र० बि० उ० १२

४. माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यति नारद।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥ ब्र० सू० ३।२।१७

५. आभासस्य चाविधाकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति। ब्र० सू० भा० २।३।५०।

६. वृद्धि ह्रासभाक्तमन्तर्भावादुभयसामंजस्यादेवम्। ब्र० सू० ३।२।२०

७. जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते, इत्येव जलधर्मानुयायि भवति न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति एवं परमार्थतो विकृतमेकरूपमपि सद्ब्रह्म देहायुपाध्यन्तमार्वाद भजति इवोपाधि धर्माने वृद्धिह्रासादीन्।
ब्रह्म-सूत्र-भाष्य ५।२।२

८. चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमोपाधिकं मूढधियो नयन्ति।
स्वबिम्बभूतं रविवद्वि निष्क्रियं कर्तास्मि भोक्तास्मि हतो स्मि हेति॥ विवेकचूडामणि ५०६
तथा :— जले वापि स्थले वापि लुठत्वेप जडात्मक।
नाहं विलिप्य तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा॥ विवेकचूडामणि ५१०

या स्थिति पर सन्देह प्रकट करते हुए उसे हीन और असत्य मानते हैं।[१]

प्रतिबिम्बवाद के पीछे सन्निहित व्यापक दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम संतों की प्रतिबिम्बवाद-विषयक विचारधारा का अध्ययन करेंगे। संतों की अनेक स्फुट रचनाओं में प्रतिबिम्ब-भावना का स्वरूप उपलब्ध होता है। इस विचारधारा के प्रतिपादन के लिए संतों ने जल और प्रतिबिम्ब का ही दृष्टान्त ग्रहण किया है।

नाथ-पंथ के प्रसिद्ध कवि गोरखनाथ के मत से, यथा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की स्थिति वस्तुतः वास्तविक नहीं होती है, उसी प्रकार आत्मा निर्गुण एवं निर्विकार है। जगत-सृष्टि या व्यावहारिक जीव की सृष्टि का आरोप उसमें सम्भव नहीं है। सृष्टि आत्मा में अध्यस्त नहीं है, किन्तु उपाधि के कारण व्यवहार में आत्मा में जगत को आत्मा के प्रतिबिम्ब रूप में देखा जाता है।[२]

कबीर के अनुसार यथा दर्पण देखने से मुख का प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है और दर्पण का प्रतिबिम्ब आकृति के आश्रित है। दर्पण के नष्ट हो जाने पर बिम्ब-मात्र रह जाता है और प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है। तथैव माया में प्रतिबिम्बित होकर आत्मा दो रूपों में दृष्टिगत होती है और ज्ञान-प्रकाश के प्रभाव से द्वैत-रूप विनष्ट होकर अद्वैत में प्रतिभासित होती है।...आत्म-ज्ञान के द्वारा ही माया से प्रसूत द्वैत की भावना मिट जाती है। कबीर के ही शब्दों में—

कासूं कहूं कहन कौ नाहीं दूसर और जनां।
ज्यूं दरपन प्रतिबिम्ब देखिये आप दवा सूं सोई।
संसौ मिथ्यौ एक को एकै महाप्रलय जब होई।।[३]

कबीर के मत से प्रतिबिम्ब की सत्ता अविश्वसनीय है। यथा बीज के अन्तराल में वृक्ष और वृक्ष में छाया दृष्टिगत होती है, उसी प्रकार परमात्मा में जीव और जीव में माया का प्रत्यक्ष होता है। सत्य यह है कि जीव में ब्रह्म प्रतिष्ठित है और ब्रह्म में माया की स्थिति है। माया मिथ्या सृष्टि की रचना करती है। औपाधिक विकारों से संश्लिष्ट होकर जगत एवं जीव के भेद रूपों में दिखाई देती है :—

१. To secure the identity of the enjoying soul, the latter is looked upon not as the limited intellegence, but as the reflected intellegence which is inseperably connected with the reflector i.e. mind......As the appearence of sun and moon in water is a mere reflection and nothing real, or as the appearence of red colour in a white crystal is a mere reflection of the red flower and nothing real, since on removing the water, sun and moon only remains, and on removing the red flower the whiteness of the crystal remains unchanged even so the elements and the individual souls are reflection of the one reality in avidya and nothing real, on the abolition of avidya, the reflection cease to exist and only the real reamins. The Absolute is original (Bimba) and the world is the reflection (Pratibimba). Again, the universe in vareity ways, and Shanker supports this view on account of its suggestive value, seeing that it brings out that the original really remains untarnished by the imperities of the reflection. As the differences of the reflections are traced to the mirror, the Absolute, which is without a second, appears as different individuals through its reflections different inner organs. When the water in which the reflection is cast is disturbed, the reflection itself appears as disturbad.

Indian Philosphy—Dr. Radhakrishnan, Vol. II, P. 607.

२. वदन्त गोरखनाथ आतमां विचारंत ज्यूं जलदी से चन्दा। गोरखबानी, पृ० २६

३. कबीर-ग्रन्थावली

साधो सतगुरु अलख लखाया, आप आप दर्शाया।
बीज मध्ये ज्यों बृच्छा दरसे, बृक्षा मध्ये छाया।
परमातम में आतम दरसे आतम मध्ये काया।
आतम में परमातम दरसे परमातम में झांई।
झांई में परछाई दरसे लखे कबीरा सांई॥[1]

संत कवि रैदास के मतानुसार ब्रह्म जगत-कारण है। यहां पर यह बात उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि दर्पण, गंध, आकाश और वायु के समान दर्पण माया के विकारों से संलिप्त नहीं है। जलाशय में प्रतिभासित प्रतिविम्ब के सदृश जगत के अनेक रूप हैं। संत रैदास के ही शब्दों में :

सब कछु करत न कहो कछु कैसे।
गुन विधि रहत बहुत ससि जैसे॥
दरपन गगन अनिल अलेप अस।
गंध जलधि प्रतिबिम्ब देखि तस॥[2]

संत दादू के मत से जिस प्रकार जल में आकाश व्याप्त है तथा आकाश में जल व्याप्त है, परन्तु जल की आर्द्रता एवं उष्णता से आकाश प्रभावित नहीं होता। ठीक उसी प्रकार जीव में माया का प्रभाव विद्यमान है। जीव वास्तव में ब्रह्म ही है। अविद्यात्मक विकार ब्रह्म के लक्षण नहीं है। दर्पण में अपना प्रतिविम्ब दृष्टिगत होता है या जल में अपनी छाया भासित होती है, इसी प्रकार आत्मस्वरूप ब्रह्म उपाधि के कारण जीवत्व और संसार रूप में प्रतिबिम्बित होता है :

दादू जल में गगन गगन में जल है।
पुनि वै गगन निराले।
ब्रह्म जीव इहि विधि रहै ऐसा भेद विचारं।
ज्यू दरपन मुष देखिये पानी में प्रतिबिम्ब।
ऐसे आतम राम है दादू सब ही संग॥[3]

संत दादू के शिष्य सुन्दरदास के मतानुसार आत्मा सत्त्व, रज एवं तम गुणों की चंचल प्रवृत्तियों में विद्यमान है। जैसे वायु से आन्दोलित जल की ऊर्मियों में प्रतिविम्ब अस्थिर दृष्टिगत होता है उसी प्रकार स्थिर आत्मा त्रिगुणात्मक उपाधि के कारण गुण-विकारों से प्रभावित प्रतीत होता है। परन्तु तथ्य यह है कि आत्मा असंग और निर्लेप है अतः वह प्रभावित नहीं होती। क्रिया-व्यापार तथा विकारादि से आत्मा कभी प्रभावित नहीं होती है :

तीनि गुननि की वृत्ति माँहि है थिर चंचल अंग।
ज्यों प्रतिबिम्बहि देखिये हालत जल के संग॥

तथा

करै करावै रामजी सुन्दर सब घट माँहि।
ज्यों दरपन प्रतिबिम्ब है लिये दिये कछु नाँहि॥[4]

संत धरनीदास की दृष्टि में यह माया-रूपी वृक्ष अनादि है। माया के अनेक प्रकार के फलों में एक ब्रह्म बीज रूप में विद्यमान है। कमल जल में रहता हुआ भी उससे ऊपर रहता है। इसी तरह निर्विकारी ब्रह्म शरीरो-

---

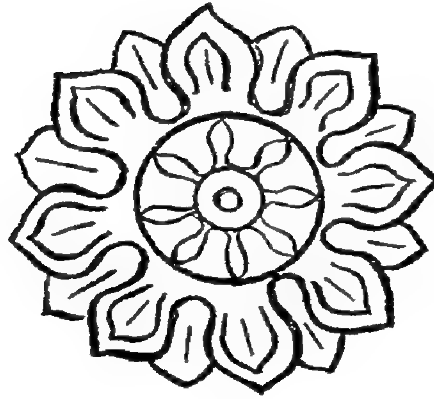
१. कबीर-शब्दावली
२. रैदास की बानी, पृ० ३६, शब्द ७४
३. दादूदयाल की बानी, पृ० २४८
४. सुन्दर-ग्रन्थावली भाग १, पृ० १७३

पाधियों में निवास करते हुए भी उपाधियों के प्रभाव से परे है। यथा, एक सागर में अनेक तरंगें हैं उसी प्रकार ब्रह्म मायोपाधि से ही अनेक-रूप प्रतीत होता है :

एकै बीज वृक्ष होय आया। खोजत काहु अन्त नाँहि पाया ॥
देखौ निरखि परखि सब कोई। सब फल माँहि बीज एक होई ॥
पुरइन ज्यों जल मध्य सकाशा। एकै ब्रह्म सकल घट वासा ॥
मनिगन माँहि मध्य ज्यों डोरा। सागर एक अनेक हिलोरा ॥[1]

संतों की इसी दार्शनिक परम्परा में आविर्भूत संत बुल्लासाहब का मत है कि निर्गुण अद्वैत ब्रह्म अविद्यात्मक प्रपंच से परे है। वह निराकार एवं निर्विकार है। ब्रह्म में जीवत्व उसी प्रकार औपाधिक है यथा जल की लहरों में आन्दोलित नक्षत्र। आन्दोलित लहरों में एकमात्र नक्षत्र अनेक-रूप में दृष्टिगत होता है। ब्रह्म अद्वैत है। उपाधि-भेद से अनेक जीव-रूपों में अथवा सृष्टि-रूपों में भासित होता है :

माई इक सांई जग न्यारा है।
सो मुझमें नाही माही ज्यों जल मध्ये तारा है।
वाके रूप रेख काया नाँहि बिना सीस विस्तारा है ॥[2]



१. धरनीदास की बानी, पृ० ५२
२. बुल्लासाहब का 'शब्दसागर', पृ० ३२

भागवत धर्म और भक्ति-आन्दोलन

डा० हरवंशलाल शर्मा

विक्रम की १६वीं शताब्दी विश्व के इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व रखती है। प्रायः सम्पूर्ण संसार की भाषाओं के साहित्य में इस शताब्दी में एक विशेष क्रांति हुई। धार्मिक भावना को लेकर वह साहित्य-सर्जना उस समन्वयात्मक रूप को प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगोचर होती है जिसके पीछे शताब्दियों और सहस्राब्दियों तक की परम्पराएं निहित हैं। मानवता के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का यह अद्भुत उपाय था। अन्तः और बाह्य साधनाओं का जैसा सुन्दर सामंजस्य इस शताब्दी के साहित्य में दीख पड़ा, वैसा पहले कभी प्रस्तुत नहीं हो सका और न ही आज तक सम्भव हो सका है। भारतीय साहित्य का यह अद्भुत युग था। साहित्य, धर्म और नीति की त्रिवेणी का पावन तीर्थराज इसी शताब्दी में सम्भव हो सका। विभिन्न युगों के अभेद स्तरों के बीच से मन्द-मन्द किन्तु अव्याहत गति से बहती हुई, अनेक दिशाओं से उल्टी-सीधी बह कर आनेवाली विविध विचारधाराओं को आत्मसात करती हुई, भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्त-सार-सुधा से प्राणियों के अंतःकरण को तृप्त करती हुई भारतीय साधना की इस त्रिवेणी ने साहित्य-सागर को इतना लबालब भर दिया कि आज भी उसकी जल-तरंगों में मज्जन और अवगाहन करने से चिरशान्ति प्राप्त होती है।

भारतीय साहित्य में इतनी उदारता, इतनी मानवता, इतना स्थायित्व और इतनी सर्वांगीणता का एकमात्र कारण केवल वैष्णवता है। भारतवर्ष को धर्मप्राण देश कहा गया है। यहां धर्म के नाम पर अनेक पाखण्डों का प्रचार भी हुआ। वास्तव में धर्म का एकमात्र प्रतिमान मानवीय वृत्तियों का परिष्कार और समाज का उन्नयन है।

वैष्णव धर्म को अनेक नामों से अभिहित किया गया है। उनमें भागवत नाम परम प्रसिद्ध और आख्येय है। वैदिक काल से लेकर आज तक का धर्म का इतिहास एक प्रकार से भागवत धर्म का इतिहास है। यह नामकरण कब हुआ यह विचारणीय विषय नहीं है, पर इस भागवत धर्म के तत्त्व वेदों में भी मिलते हैं, इसमें सन्देह का स्थान नहीं। महाभारत धार्मिक क्रान्ति की आधारशिला है जिस पर समाधिस्थ होकर मनुष्य भागवतधर्म की विभिन्न परम्पराओं का साक्षात्कार कर सकता है। वैष्णव धर्म और भारतीय संस्कृति का यह पहला विश्व-कोष है। शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में इस भागवत धर्म का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। वैदिक काल से लेकर महाभारत-काल तक की धार्मिक क्रान्तियों का सुन्दर समन्वित रूप नारायणीयोपाख्यान में प्रस्तुत किया गया है। भागवतधर्म वैदिक तत्त्वज्ञान को सर्व-जन-सुलभ करने का सुन्दर उपाय प्रस्तुत करता है। वैदिक और अवैदिक, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर, आर्य और निषाद-संस्कृतियों का सुन्दर सुखद संगम भागवत धर्म है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस धर्म का सार संगृहीत है। भागवत धर्म की विजय-वैजयन्ती शताब्दियों तक भारत-भू पर फहराती रही। बौद्ध धर्म के आगमन से फिर विषमताएं उत्पन्न हुई, जो शताब्दियों तक समानान्तर चलती रहीं। धर्म में फिर एक बड़ी क्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव हुआ। बौद्ध धर्म निवृत्तिपरक था और भागवत धर्म प्रवृत्तिपरक। इस निवृत्ति और प्रवृत्ति के अन्तर को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास हुए। बौद्ध धर्म की महायान शाखा उन्हीं प्रयत्नों में एक भागीरथ प्रयत्न कहा जा सकता है। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय में जनसाधारण के कल्याण के कुछ समान मार्ग निकाले गये जो केवल नामभेद से शताब्दियों तक चलते रहे। वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन और बौद्ध सभी सम्प्रदायों ने इन प्रयत्नों में योगदान दिया। हमारा पुराण-

साहित्य इसी युग की कृति है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि वैष्णव, शैव, ब्राह्म, सौर आदि सब पुराणों में एक ही भावना मिलती है, केवल नाम का भेद है। इतना ही नहीं, जैन और बौद्ध पुराण भी उसी भावना से अनुप्राणित हैं। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने रघुवंश में लिखा है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतंत्योघाः जाह्नवीया इवार्णवे॥

ईसा के आविर्भाव के लगभग धर्म-क्षेत्र में एक और बड़ी क्रान्ति हुई। यह क्रान्ति सम्भवतः उस समय हुई जब शकों और हूणों के आक्रमण उत्तरी भारत पर होने लगे थे। इस क्रान्ति का इतिहास अभी तक अन्धकार में है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भागवत के मूल स्तम्भ यादव या सात्वत लोग शूरसेन प्रदेश छोड़कर भारत के दक्षिण और पश्चिम में चले गए थे। उनके साथ-साथ बहुत से जैन और बौद्ध धर्मानुयायी भी दक्षिण में पहुंचे और दक्षिण देश को उन्होंने अपने धर्म-प्रचार का क्षेत्र बताया। इतिहासकारों में इस विषय पर बड़ा विवाद है कि सात्वत लोग उत्तरी भारत को छोड़कर दक्षिण में कब आये। ऐतरेय ब्राह्मण में 'ऐन्द्र महाभिषेक' के प्रसंग में सात्वतों का निवास दक्षिण भारत बतलाया गया है।[1]

श्री के० एस० आयंगर ने 'परम संहिता' की भूमिका में और 'सात्वत' नामक लेख में इस तथ्य पर प्रकाश डाला है और बताया है कि जब मागध जरासंध ने सात्वतों पर आक्रमण किया तो वे शूरसेन प्रदेश छोड़कर भारत के पश्चिमी समुद्र-तट और दक्षिण में जाकर बस गए। डा० कृष्णस्वामी आयंगर ने यही निर्देश किया है कि द्रविण देश के अनेक राजाओं ने जो अपनी वंश-परम्परा सात्वतवंशीय कृष्णचन्द्र से बताई है उसका मूल कारण यही है। यदि ऐतरेय ब्राह्मण का रचना-काल हम दशम शताब्दी ईसा-पूर्व मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि दशम शताब्दी ईसा-पूर्व से भी बहुत पहले सात्वत लोग दक्षिण में जा चुके थे। सात्वतों के सम्पर्क से सम्भवतः भागवत धर्म 'पांचरात्र' मत भी कहलाया। हमारा अभिप्राय यहां भागवत धर्म का इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है, हम केवल यह बतलाना चाहते हैं कि यह भागवत धर्म सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गया था और कई शाखाओं में विभक्त हो गया था। शकों और हूणों ने भी इस धर्म को स्वीकार किया जिसके प्रमाण आज भी उपलब्ध होते हैं। बेसनगर का शिलालेख और घोसुन्दी का शिलालेख इस तथ्य के प्रमाण हैं। भागवत धर्म के उपास्य महाभारत-काल से ही वासुदेव रहे हैं जो स्वयं विष्णु और नारायण-रूप हैं। विष्णु के वासुदेव रूप में भी भागवत के विग्रह की कल्पना पूर्ण हुई जान पड़ती है। षाड्गुण्यविशिष्ट विग्रह को ही भगवद्विग्रह वासुदेव कहा गया है :

ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य वीर्य तेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैः गुणादिभिः॥

पांचरात्र का सबसे पहले प्रतिपादन महाभारत के शान्तिपर्व में हुआ। फिर इसकी व्याख्या अनेक पंचरात्र-ग्रंथों में अनेक प्रकार से की गई है। ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने भी पांचरात्र मत का उल्लेख किया है।[2] उन्होंने इस मत का कुछ अंश त्याज्य और कुछ उपादेय माना है। परन्तु आगे के वैष्णवाचार्यों ने पांचरात्र मत की एक परम्परा सिद्ध की है और उसका सम्बन्ध वेद से जोड़ा है। कुछ भी हो, वैष्णव भक्ति के सम्बन्ध में पांचरात्र-साहित्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस मत की अनेक संहिताएं आदि उपलब्ध होती हैं। कपिंजल-साहित्य में २१५ संहिताओं का उल्लेख है। बहुत-सी संहिताओं की रचना उत्तर में हुई और बहुत-सी की दक्षिण में। इन संहिताओं का तिथि-निर्णय बड़ा दुस्तर कार्य है। मुख्य रूप से इन संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्यादि विषयों का विवेचन हुआ है। ब्रह्म, माया और जीव का बड़े विस्तार मे विवेचन हुआ है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही भाव स्वीकार किये गए हैं। सगुण रूप में भगवान षाड्गुण्य विग्रह वाले हैं। इन षड्गुणों में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है और शेष शक्ति आदि ५ गुण ज्ञान से सम्बद्ध हैं।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८।३।१४
२. शारीरिक भाष्य २।२।४२, ४५ सूत्र

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है जो दो रूप धारण करती है—– क्रिया-शक्ति और भूति-शक्ति। इन ६ गुणों में से दो-दो गुणों की प्रधानता होने पर ३ व्यूहों की सृष्टि होती है। अर्थात, ज्ञान और बल की प्रधानता से संकर्षण, ऐश्वर्य और वीर्य की प्रधानता से प्रद्युम्न तथा शक्ति और तेज की प्रधानता से अनिरुद्ध। वासुदेव को मिलाकर इन्हें चतुर्व्यूह कहा जाता है। पांचरात्र मत में अवतार-भावना का वैशिष्ट्य है। विभव को अवतार कहा गया है जो संख्या में ३९ माने गये है। जीव भी भगवन्मय ही है। जिसके माध्यम से भगवान इस विश्व में लीला करते हैं। सृष्टि, स्थिति, विनाश, निग्रह तथा अनुग्रह भगवान का सुदर्शनचक्र है। निग्रहशक्ति के कारण जीव के वास्तविक आधार ऐश्वर्य तथा ज्ञान का तिरोभाव हो जाता है। यह निग्रहशक्ति की अविद्या, महामोह, महातमिस्र, हृदय-ग्रंथि आदि कहे जाते है। इन्ही से बंधकर जीव मलयुक्त और सबन्ध हो जाता है। जीव के कष्टों से आर्द्र होकर भगवान की कृपा का आविर्भाव होता है जो अनुग्रह शक्ति कहलाती है, जिससे जीव का कल्याण होता है और जिसके अवलम्बन से उसे परमधाम की प्राप्ति होती है। इस अनुग्रह की प्राप्ति को ही पांचरात्र मत में साधना-मार्ग कहा है। उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय शरणागति और प्रपत्ति है, जिसका पारिभाषिक नाम 'न्यास' है और यह एक मानसिक भावना है। साधना की पूर्ति पर जीव को ब्रह्मभावापत्ति होती है, जिसको प्राप्त कर वह परमधाम में भगवान के साथ विचरण करता है। पांचरात्र मत में साधना-पद्धति के भेद से अनेक आगमों और संहिताओं का निर्माण हुआ, परन्तु मूल भावना एक ही रही। पांचरात्र मत में वैखानस आगमों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पांचरात्र मत वैष्णव सम्प्रदाय का ही एक रूप है। दक्षिण में इस सम्प्रदाय का जब इतना शास्त्रीय विवेचन हो रहा था और इतनी संहिताओं का निर्माण हो रहा था, तब बौद्ध, जैन, शैव और शक्ति सम्प्रदाय भी अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार और निर्माण में संलग्न थे। शैवों की आचार्य-परम्परा वैष्णवों की आचार्य-परम्परा के समान पुष्ट नहीं थी, इसलिए उसका प्रचार जन-आन्दोलन के रूप में था। वास्तव में शैव सन्तों से ही भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप मिला। इन शैव सन्तों की संख्या ६४ मानी गई है। जिनमें माणिकवाचक, सम्बन्धवागीश और सुन्दर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन सन्तों के गीत आज भी सुरक्षित है। इन संग्रह-ग्रंथों में देवरम् और तिलकवाचकम् नामक संग्रह महत्त्वपूर्ण है। इन शैव सन्तों के समकक्ष वैष्णव सन्त भी अपने हृदय की पुकार लेकर जनता-जनार्दन के सम्मुख उपस्थित हुए। भक्ति का शास्त्रीय विवेचन इनका उद्देश्य नहीं था, इनकी दृष्टि में भगवान के दरबार में जाति-पांति का कोई भेद-भाव नही था। सम्भवत: शास्त्रीय भक्ति-निरूपण की प्रतिक्रिया में इन अलवार भक्तों ने अपनी आवाज जनता में उठाई और अपने हृदय के सच्चे उद्गारों से मानव-मात्र को प्रभावित किया। इनके उद्गार आज भी 'नालायिरप्रबंधम्' में सुरक्षित है। इनके गीत वेद-ग्रंथों के समकक्ष माने जाते है।

'प्रबन्धम्' को तामिलवेद कहा जाता है। इन सन्त भक्तों की भक्ति के अजस्र प्रवाह में सारा दक्षिण प्रान्त सराबोर हो गया और परम्परागत संस्कृत आचार्यों को यह फिक्र पड़ी कि कहीं इनके सम्प्रदाय इस प्रवाह के शिकार न बन जाएं। इसलिए इन्होंने 'तामिलवेद' का भली-भांति अध्ययन कर अपने शास्त्रों से संगति बैठाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि ये आचार्य 'उभय-वेदान्ती' कहलाते हैं। यहीं से भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात समझना चाहिए। इससे पूर्व भक्ति का प्रचार आन्दोलन के रूप में नही था। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में एक और भी महत्त्वपूर्ण घटना थी। ९वीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य ने जाति-पांति की संकीर्ण परिधि को हटाने और सामाजिक विषमता दूर करने और बौद्धमत के विकृत रूप के निष्कासन का भागीरथ प्रयत्न किया था। बौद्ध और जैन मत के मूल सिद्धान्तों की संगति अद्भुत तर्क-शैली के द्वारा उन्होंने वैदिक धर्म में सिद्ध की और अपनी दिव्य प्रतिभा के प्रभाव से चतुर्दिक प्रचलित बौद्ध एवं जैन मत का खण्डन कर अपने मत की स्थापना की। यह परम्परागत दोषों को दूर कर समाज को एक नवीन आलोक दिखाने का सराहनीय कार्य था। दूसरी क्रान्ति के कारण जो प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का एकीकरण हुआ था, वह कालान्तर में समाज के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। इसलिए उन्होंने श्रुति, स्मृति, वेद-विहित वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करके निवृत्ति मार्ग के वैदिक संन्यास धर्म को कलिकाल में पुनर्जन्म दिया। अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उन्होंने परमार्थ दृष्टि से ब्रह्म को सगुण स्वीकार नहीं किया था। माया-मिथ्यात्व के कारण उपासना गौण हो गई। शंकर के

विचारों का प्रवाह देश के सभी प्रान्तों और भाषाओं में बड़े वेग से प्रवाहित हुआ। समस्त वैष्णव सम्प्रदाय पर शंकर का आतंक जम गया। इसलिए परवर्ती वैष्णवाचार्यों के लिए एक समस्या बन गई कि समाज-धर्म की पुनः स्थापना किस प्रकार की जाय, परन्तु मानव की स्वाभाविक रागात्मिका भक्ति-भावना के ऊपर धर्म का वह बौद्धिक विश्लेषण विजय प्राप्त न कर सका और समय पाकर उस भावना का स्रोत तर्क के प्रस्तरों को फोड़कर निर्झरिणी के रूप में फूट निकला।

शंकर के मायावाद का प्रचार सम्पूर्ण भारत में हो चुका था, पर साथ-ही-साथ भक्ति के बीज के लिए भी उपयुक्त भूमि प्रस्तुत हो चुकी थी। नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास भक्ति-आन्दोलन का इतिहास है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे आचार्य-युग कह सकते हैं। इस युग के आचार्य वैष्णव कहलाये। समस्त वैष्णव सम्प्रदायों में परम आचार्य श्रीकृष्ण माने गए हैं। श्रीकृष्ण भगवान ने अपने चार शिष्यों को वैष्णव तत्त्व का उपदेश दिया था जिसका उल्लेख पद्मपुराण में इस प्रकार है—

श्री ब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्।

'प्रमेय-रत्नावली' में इन चारों सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यंचतुर्मुखः।
श्री विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥

इस प्रकार रामानुजाचार्य श्री-सम्प्रदाय के, मध्वाचार्य ब्रह्म-सम्प्रदाय के, विष्णुस्वामी रुद्र-सम्प्रदाय के और श्री निम्बार्काचार्य सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्री रामानुजाचार्य पहले वैष्णव आचार्य हैं जिन्होंने मायावाद के विरोध में भक्ति के सिद्धान्त की शास्त्रीय प्रतिष्ठा की। इनके प्रयत्नों से वैष्णव धर्म का सम्पूर्ण भारतवर्ष में—विशेषतया दक्षिण प्रदेश में—खूब प्रसार हुआ। इनके सम्प्रदाय का नाम विशिष्टाद्वैत हुआ।

दक्षिण भारत का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय 'मध्व' सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक मध्वाचार्य थे। इस सम्प्रदाय के द्वारा भक्ति-भावना को विशेष बल मिला। वस्तुतः व्यवहार-पक्ष में यह भक्तिवादी सम्प्रदाय है और अध्यात्म-पक्ष में भेदवादी या द्वैतवादी। रामानुजाचार्य ने मायावाद का खंडन करते हुए भी अपना सम्बन्ध अद्वैतवाद से नहीं तोड़ा था। अद्वैत वेदान्त का खण्डन माध्वमत के आचार्यों ने भी खुले रूप से किया।

सनक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क (११६२ ई०) माने जाते हैं। निम्बार्क वैष्णवों का प्रचार-स्थल वृन्दावन रहा। गोवर्द्धन के पास निम्बग्राम आज भी उनका तीर्थ-स्थान है। इस सम्प्रदाय को कुछ विद्वान सभी वैष्णव सम्प्रदायों में प्राचीनतम मानते हैं। वास्तव में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में तो शंकर के मायावाद का खण्डन किया गया है किन्तु इस सम्प्रदाय में मायावाद का खण्डन नहीं हुआ। इसका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' कहलाता है। निम्बार्काचार्य के सिद्धान्त बड़े सूक्ष्म और सरल हैं। केवल दस श्लोकों में उनके सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। इन्होंने भी प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। ये सबसे पहले आचार्य थे जिन्होंने उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया।

रुद्र-सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का इतिहास अभी तक अन्धकार में है। कहा जाता है कि भगवान के साक्षात दर्शन करने की उत्कट इच्छा से स्वामीजी ने घोर तपस्या की और उसके सफल न होने तक अन्न-जल छोड़ दिया। सातवें दिन भगवान श्यामसुन्दर ने वेणु-वादन करते हुए शृंगारयुत किशोर-मूर्ति में आपको दर्शन दिए और बालकृष्ण रूप में उन्हें उपदेश दिया। तभी से यह बालकृष्ण की उपासना करने लगे। विष्णुस्वामी का समय कोई-कोई विद्वान तो ईसा से छठी शताब्दी-पूर्व मानते हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्य बिल्वमंगल ने महाप्रभु वल्लभाचार्य को स्वप्न में विष्णुस्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया था। विष्णुस्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं और वे अपनी आह्लादिनी संवित के द्वारा आश्लिष्ट हैं। माया उनके अधीन रहती है।

आचार्य वल्लभ का दार्शनिक सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता के बिलकुल अनुकूल है। जिस प्रकार भगवद्गीता में ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं : आदिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक; उसी प्रकार इनके मत में भी जगत, क्षर ब्रह्म

पुरुषोत्तम ब्रह्म के तीन परिणाम हैं। अक्षर ब्रह्म में आनन्दांश का कुछ तिरोधान रहता है। और परब्रह्म में आनन्द-पूर्ण रहता है। अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति विशुद्ध ज्ञान के द्वारा होती है जब कि परब्रह्म की प्राप्ति का साधन एकमात्र भक्ति है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। गीता ८।२१

पुष्टि-मार्ग, प्रवाह-मार्ग और मर्यादा-मार्ग तीनों मार्गों की सुन्दर विवेचना करते हुए आचार्यजी ने सभी भक्ति-पद्धतियों का सुन्दर विवेचन किया। मर्यादा मार्ग को वह वैदिक-मार्ग बताते है जो अक्षर ब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है। परन्तु पुष्टि-मार्ग साक्षात पुरुषोत्तम के शरीर से ही निःसृत हुआ है। इसलिए मर्यादा-भक्ति में फल की इच्छा रहती है। इस मार्ग का भक्त सायुज्य भक्ति को अपना ध्येय मानता है, परन्तु पुष्टिमार्गी केवल भक्ति चाहता है। वास्तव में पुष्टि-मार्ग जैसा सुलभ और सरल मार्ग अभी तक दूसरा नहीं था। वर्ण, जाति, देश, सम्प्रदाय आदि भेदों से परे जीव-मात्र के लिए कलिकाल में आनन्द-प्राप्ति का यही एकमात्र साधन है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति का आचार्यजी ने बड़े विस्तार से शास्त्रीय विवेचन किया है। इस मार्ग में भक्त को किसी साधन की अपेक्षा नहीं रहती।

'निस्साधनभजनीये, भावतनौ मे मतिर्भूयात्।'

—नवनीताष्टक

भक्तों पर कृपा करने के लिए ही भगवान अपनी लीला करते हैं। लीला उनकी विलास की इच्छा-मात्र है।

'लीला नाम विलासेच्छा............' —सुबोधिनी भाग ३ स्कन्ध।

श्री, ब्रह्म, रुद्र एवं सनक इन चार सम्प्रदायों का पुनरुत्थान दक्षिण में हुआ। श्री-सम्प्रदाय की प्रचार-भूमि विशेष रूप से दक्षिण रही, पर उत्तर में भी रूपान्तर से इसका प्रचार हुआ। और भक्ति के प्रचार में इस सम्प्रदाय ने अपना विशिष्ट योगदान दिया।

ब्रह्म तथा सनक-सम्प्रदायों का भी उत्तर भारत में अपना विशिष्ट स्थान है। परन्तु रुद्र-सम्प्रदाय का पुष्टि-सम्प्रदाय नाम से प्रचार और प्रसार उत्तरी भारत में बहुत अधिक हुआ। इन सभी सम्प्रदायों ने भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने का महत्त्वपूर्णकार्य किया है। इस आन्दोलन की व्यापकता और त्वरित गति से प्रभावित होकर ही सम्भवतः पाश्चात्य विद्वानों ने इसे बिजली की चमक बताया है। सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को समृद्ध और प्राण-वान बनाने का श्रेय इस आन्दोलन को है। दसवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य की मूल प्रेरणा इन्हीं सम्प्रदायों से अनुप्राणित होती रही है। भक्ति-आन्दोलन के जन-आन्दोलन के स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व हम यह बतलाना आवश्यक समझते है कि दक्षिण की भाषाओं के साहित्य को किस प्रकार इस वैष्णव धर्म ने समृद्ध किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैष्णव धर्म के प्रभाव से सभी भाषाओं का साहित्य सौन्दर्य और माधुर्य से ओतप्रोत हो गया। जीवन की दिशाएं बदल गई और साहित्य में वह सरसता, मधुरता, लालित्य, शिवत्व और सौन्दर्य आ गया जिनके कारण वैष्णव साहित्य सदा के लिए अमर हो गया। आश्चर्य है कि आज भी वही साहित्य सुन्दरतम है। सूर और तुलसी की तुलना का कोई दूसरा कवि अभी तक हिन्दी में नहीं हो सका है। तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम, बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि का वैष्णव साहित्य आज भी इन भाषाओं के साहित्य का हृदय-स्थानीय है।

तमिल-साहित्य में यद्यपि शैव साहित्य की प्रधानता है परन्तु भावना वही वैष्णव धर्म की है। वैष्णव भक्त आलवारों की रचनाएं कम महत्त्वपूर्ण नहीं। ये रचनाएं आज भी तमिलवेद के नाम से पुकारी जाती हैं। सुप्र-सिद्ध आलवार भक्त विष्णुस्वामी का 'दिव्यप्रबन्धम्' आज भी तमिल-साहित्य की विशिष्ट निधि है। कहना न होगा कि तेलगु-साहित्य का भी वैष्णव भक्ति-साहित्य आज अनुपमेय है। महाकवि पोताना का भागवत पुराण तेलगु का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी प्रकार और कितने ही ग्रन्थ तेलगु-साहित्य में रत्नरूप से विराजमान हैं। कृष्णदेव राय का 'विष्णुचिन्तीय' काव्य और महाकवि वेदना और तिमन्ना के काव्य तेलगु-साहित्य के अलंकार हैं। कन्नड़ भाषा में भी

वैष्णव साहित्य की कमी नहीं है। रामानुजाचार्य के प्रभाव से कन्नड़ भाषा में ऐसे साहित्य का निर्माण हुआ जिसके कारण वह युग कन्नड़ भाषा का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। कुमार व्यास, कुमार वाल्मीकि तथा चाटु विट्ठलनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त उन वैष्णव सन्तों का, जो 'दास' नाम से साहित्य में विख्यात हैं, साहित्य भी बहुत ही उच्च-कोटि का है। पुरन्दरदास, कनकदास, विट्ठलदास, वेंकटदास, विजयदास तथा कृष्णदास के पद आज भी चिर नवीन हैं। लक्ष्मीश का 'जैमिनी भारत' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मलयालम भाषा में भी वैष्णव काव्यों का प्राचुर्य है। इस दृष्टि से सम्भवतः मलयाली-साहित्य सबसे अधिक सम्पन्न है। त्रावणकोर के महाराजा का रामचरित एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसी प्रकार चेरुस्सेरी नम्बद्री का कृष्णगाथा काव्य और तुंजन कवि का भागवत बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। पोन्तान कवि अपने समय के गोस्वामी तुलसीदास कहे जा सकते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भक्ति-आन्दोलन बिजली की चमक की भांति सारे भारतवर्ष में फैल गया। दक्षिण के वैष्णव आचार्यों का प्रभाव उत्तर में भी बहुत व्यापक रहा, पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उत्तर भारत, मध्य भारत अथवा पूर्वी भारत में भक्ति-आन्दोलन का श्रीगणेश दक्षिण के वैष्णव आचार्यों के द्वारा ही हुआ हो। उत्तर भारत में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले ही से था। शैव भक्ति का प्राधान्य था। कृष्णावतार तथा रामावतार की भी व्यापकता थी। दशावतार-चरित-सम्बन्धी तो कई ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' का दसम वास्तव में दशावतार-चरित ही है। राम और कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य प्रायः लोकपरक था। दक्षिण के आचार्यों के सम्पर्क से उसमें नई शक्ति आ गई और वह ईश्वरोन्मुख हो गया। लीला-गान की परम्परा के उदाहरण उत्तर भारत के साहित्य में मिलते हैं। यह लीला-गान की परम्परा भागवत-परम्परा से निश्चित रूप से भिन्न थी। अपभ्रंश-साहित्य में हमें कृष्ण-लीला-सम्बन्धी अनेक गेय पद प्राप्त होते हैं। सिद्धों और नाथों ने जिस गेय परम्परा को अपनाया वह अवश्य वैष्णव धर्म में रही होगी और यह परम्परा सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित थी। जयदेव का गीत-गोविन्द भागवत वाली परम्परा से निश्चित रूप से भिन्न परम्परा का है। विद्यापति और चण्डीदास के पद जयदेव की परम्परा के हैं। नाथ-सिद्ध पश्चिमी भारत में अड्डा जमाए थे तो बौद्ध सिद्धों की प्रचार-भूमि पूर्वी भारत था। काश्मीर में शैव मत का बोल-बाला था। सम्भवतः बौद्ध सिद्धों के प्रभाव से बंगाल में सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित हुआ। बौद्धों का सहज भाव सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय से बहुत बातों में मिलता-जुलता है। वज्रयानी सिद्धों ने महासुख की उपलब्धि के लिए अनेक उपायों का वर्णन किया है। नाथ सिद्धों और बौद्ध सिद्धों की शब्दावली भी बहुत कुछ मिलती-जुलती है। सहजयान वज्रयान का ही दूसरा नाम है। सहजावस्था की प्राप्ति में ही ये सिद्धि की पूर्णता मानते हैं। सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय ने सहज शब्द की व्याख्या को बिलकुल बदल दिया था। ये रागानुगा प्रेमाभक्ति के अनुयायी बने और प्रेम को परमात्मा का सहज गुण या सहज रूप बतलाया। इसी प्रेम के द्वारा मनुष्य सहज भाव प्राप्त कर सकता है। रूप जब स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तभी मनुष्य सहज भाव को प्राप्त होता है। मनुष्य के अन्तर्गत भागवत का आध्यात्मिक तत्त्व ही स्वरूप है और जो निम्नतर भौतिक तत्त्व है वह रूप है। रूप पर स्वरूप के आरोप से पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप में परिणत करना होता है, किन्तु बिना रूप की सहायता के स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसीलिए अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए ये परकीया-प्रेम को महत्त्व देते हैं। सहज रूप मनुष्य को प्रेमा-भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है। तभी उसमें शुद्ध सत्त्व की प्रतिष्ठा होती है और वह सम-भाव को प्राप्त होता है। सहजिया सम्प्रदाय की साधना का गूढ़ तत्त्व यह है कि पुरुष स्वयं को स्त्री समझकर भगवान की उपासना करे। ऐसा करने से वह यौन सम्बन्ध का परित्याग कर सकता है। इस सम्प्रदाय में भगवान आनन्द, माधुर्य और सौन्दर्य के उत्स हैं। राधा-कृष्ण प्रकृति और पुरुष हैं। इनमें आश्रयाश्रयी भाव है। सहजिया सम्प्रदाय एक तान्त्रिक मार्ग कहा जा सकता है परन्तु शुद्ध तान्त्रिक मत से साधना-पक्ष में इसकी पर्याप्त भिन्नता है।

मध्वाचार्य के सम्प्रदाय का बंगाल पर बड़ा प्रभाव पड़ा था जिसके फलस्वरूप बंगाल में गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा चली। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भावों को भी उपासना में उपादेय माना है। किन्तु सहजिया वैष्णव केवल माधुर्य भाव की उपासना को ही श्रेष्ठ समझते हैं। गौडीय वैष्णवों ने तो पर-

कीया-तत्त्व को सिद्धान्त रूप से ही स्वीकार किया था, पर सहजिया वैष्णवों ने इस तत्त्व को व्यावहारिक रूप भी दिया। वास्तव में सहजिया वैष्णवों के सिद्धान्त बौद्ध सहजयान के सिद्धान्तों से बहुत मिलते-जुलते हैं। चण्डीदास की उपास्य वाशुलीदेवी वज्रयानियों की वज्रधात्वीश्वरी का ही दूसरा रूप है। सहजिया सम्प्रदाय के अतिरिक्त बंगाल में आउल, वाउल, सांई, दरवेश आदि कई सम्प्रदायों का भी प्रचार था। बाउल तो सहजिया वैष्णवों से भी एक कदम और आगे थे। सहजिया लोगों का प्रेम राधा और कृष्ण दो व्यक्तियों की अपेक्षा रखता है जबकि बाउलों का प्रेम 'मनेर्मानुस' के प्रति होता है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक अलौकिक प्रेम-पात्र है। उसे उसी के प्रति प्रेम करना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है बंगाल की गौड़ीय शाखा माध्व सम्प्रदाय की ही एक शाखा कही जा सकती है। पर इसका व्यावहारिक पक्ष माध्व सम्प्रदाय से भिन्न है। चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव को भक्ति क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। इस भक्ति-आन्दोलन के युग में उत्तर भारत के वैष्णवाचार्यों में चैतन्य महाप्रभु का नाम अग्रगण्य है। यह एक विचित्र घटना है कि चैतन्य महाप्रभु की कर्म-भूमि बंगाल ही रही, पर उनके सम्प्रदाय का ब्रज भूमि से विशेष सम्बन्ध रहा। वास्तव में चैतन्य मत का शास्त्रीय विवेचन ब्रज भूमि में ही हुआ। माध्वमत के अनुयायियों में माधवेन्द्र पुरी, गौड़ीय सम्प्रदाय और माध्व सम्प्रदाय के बीच सेतु का कार्य करनेवाले हैं। चैतन्य महाप्रभु इन्हीं के पट्ट शिष्य ईश्वरपुरी के शिष्य थे, यद्यपि दीक्षा उन्होंने केशव भारती से ली थी। भक्ति के प्रचार और प्रसार में चैतन्य महाप्रभु ने बड़ा योगदान दिया। उन्होंने भारतवर्ष के सभी विख्यात तीर्थस्थानों की यात्रा की। दक्षिण के तीर्थों के दर्शन से इनकी प्रवृत्ति वृन्दावन के उद्धार की ओर झुकी। वैष्णव धर्म के प्रचार में इन्हें नित्यानन्द जैसे सहयोगी मिले और दोनों ने मिलकर समस्त उत्तरी भारत को, विशेषकर बंगाल को, भक्त-स्रोत से आप्लावित कर दिया। ब्रज, विशेषकर वृन्दावन, के उद्धार का श्रेय बहुत कुछ चैतन्य महाप्रभु को है। यह विषय यद्यपि अभी तक विवादास्पद बना हुआ है फिर भी वृन्दावन के उद्धार में चैतन्य महाप्रभु का जो योगदान है वह कम महत्त्व का नहीं है। माधवेन्द्र पुरी उनसे पहले वृन्दावन में गोपाल की मूर्ति स्थापित कर चुके थे, चैतन्य महाप्रभु ने वृन्दावन के उद्धार के लिए अपने दो प्रधान शिष्यों को भेजा। ये दो भक्त थे लोकनाथ स्वामी और भूगर्भाचार्य। चैतन्य के सहयोगियों में अद्वैताचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। चैतन्य मत को शास्त्रीय रूप देने का श्रेय चैतन्य के शिष्य षट्-गोस्वामियों को है जिनके नाम रूप, सनातन, रघुनाथदास, रघुनाथभट्ट, गोपालभट्ट और जीवगोस्वामी हैं।

चैतन्य महाप्रभु का प्रभाव बंगाल के अतिरिक्त उत्कल में भी पड़ा। यों तो उत्कल भक्ति-भावना का पहले से ही केन्द्र रहा है। पर जगन्नाथजी के मन्दिर के निर्माण के पश्चात् तो यह प्रदेश वैष्णव भक्ति का महत्त्वपूर्ण पुण्य-स्थल बन गया। भगवान जगन्नाथ के आविर्भाव की कथा नारदपुराण, ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण तथा कपिलसंहिता आदि ग्रंथों में मिलती है। दास ब्रह्म का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में भी मिलता है। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि इस प्रदेश में शबरों का राज्य था। इसलिए यहां लकड़ी की मूर्ति बनाई गई। कुछ भी हो, जगन्नाथजी की पूजा इस प्रदेश में प्राचीन काल से होती आई है। अनेक बार उत्कल के मन्दिरों पर विदेशियों के आक्रमण हुए हैं और उनके ध्वंस चिह्न मात्र अवशिष्ट रह गए हैं। ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। इस प्रदेश के मन्दिरों और मूर्ति-कला के सम्बन्ध में यह बात लक्ष्य करने की है कि यहां वैष्णव धर्म के माध्यम से कई संस्कृतियों का संगम हुआ है। चैतन्य महाप्रभु ने राजा प्रतापरुद्र (१५०३ ई०) के समय में नीलाचल क्षेत्र को अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया और तभी से इस क्षेत्र का महत्त्व बढ़ गया। पुरी के सम्बन्ध में इतिहासकारों का यह भी मत है कि यहां की जगन्नाथ की मूर्ति पर बौद्ध प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्कल प्रान्त बौद्धों का अड्डा रहा है। कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में आज भी बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष मिलते हैं और स्थान-स्थान पर अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। सांची से प्राप्त धर्म-ग्रंथों से इस मूर्ति की बड़ी समानता है। कुछ लोगों का कहना है कि जगन्नाथजी की रथ-यात्रा भी बौद्ध प्रभाव का फल है। उड़िया की कुछ पुस्तकों में जगन्नाथजी बुद्ध के ही रूप माने गए हैं। जगन्नाथजी को हम पूरा बौद्ध विग्रह तो मानते हैं पर इसमें हमें कोई सन्देह नहीं है कि यहां के विधि-विधान, वास्तुकला, मूर्तिकला आदि इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जगन्नाथ पुरी में शबर, बौद्ध और ब्राह्मण

संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय हुआ है। वैष्णव धर्म उत्कल प्रान्त में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था। इसके प्रमाण कुछ शिलालेखों से मिलते हैं। हाथीगुफा का शिलालेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पांच महान वैष्णव कवि हुए जो पंचसखा कहे जाते हैं--बलरामदास, अनन्तदास, यशवन्तदास, जगन्नाथदास और अच्युतानन्ददास। इन सखाओं ने उड़िया भाषा में अनेक ग्रंथ रचे और ये सखा चैतन्य महाप्रभु के लीला-परिकर माने जाते हैं। इन्होंने प्रेमा-भक्ति का प्रचार इस प्रदेश में किया। इनके उपदेश सन्तों की ही भांति थे और इनका दर्शन कबीर आदि सन्तों के दर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इन्होंने ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का निरूपण किया है किन्तु परम तत्त्व निराकार शून्य को माना है। इनके सिद्धान्तों में वैष्णव, तान्त्रिक और बौद्ध तत्त्वों की त्रिवेणी दर्शनीय है। बंगाल से आगे असम प्रदेश में भी महाप्रभु चैतन्य के वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा। असम प्रदेश प्राचीन काल से ही शाक्तों का गढ़ रहा है। कामाख्या पीठ कामरूप में ही है। वैष्णव धर्म की यह बड़ी भारी विजय थी कि शाक्त प्रभाव वाले देश में आज भी इतनी बड़ी संख्या में वैष्णव पाये जाते हैं। वैष्णव धर्म का प्रचार यहां शंकरदेव और माधवदेव ने किया। शंकरदेव महापुरुष कहलाते थे, इसलिए उनसे प्रचारित धर्म को आज भी महाधर्म या महापुरुष धर्म कहते हैं। सिद्धान्त रूप से तो यह अद्वैतवादी थे और आचरण रूप में पूर्ण भक्त। इनका 'भक्तिरत्नाकर' और 'भक्तिरत्नावली' ग्रंथ बड़े अद्भुत हैं। असमियां भाषा में असंख्य कीर्तन-पदों की रचना शंकरदेव ने की। कुछ ग्रंथ ब्रजबुलि में लिखे गए। हिन्दी के भक्ति-साहित्य का अध्ययन भक्ति-भाव की दृष्टि से ब्रजबुलि-साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा ही है।

वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक विवेचन में महाराष्ट्र के वैष्णव पंथों का उल्लेख भी आवश्यक है। महाराष्ट्र का बड़ा पुराना वैष्णव पंथ महानुभाव या मानभाव या महात्मा पंथ है। गुजरात में इसे अच्युत पंथ कहते हैं और पंजाब में जयकृष्ण पंथ। इस पंथ के अनुयायी अपनी सभी बातों को गोपनीय रखने में विश्वास रखते हैं। लोकमान्य तिलक ने इस पंथ को प्रकाश में लाने का कुछ प्रयत्न किया। प्रसिद्ध इतिहासकार राजवाड़े, प्रसिद्ध लेखक भावे और यशवन्त पांडे ने इस पंथ के विषय में सराहनीय कार्य किए हैं। प्रत्येक भाव को गुप्त रखने की भावना के कारण इस पंथ के अनुयायियों को यहां कुछ अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। एक कहावत भी प्रसिद्ध है 'करणी कसावाची बोलणी मानुभावाची'। इस पंथ के उपास्य देवता श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय हैं। कुछ ऐसे ऐतिहासिक कारण बने जिनसे ये हिन्दूधर्म-विरोधी समझे जाने लगे थे। परन्तु अब परिस्थिति कुछ बदल रही है। इस पंथ का उदय तेहरवीं शताब्दी में हुआ और इसके आद्य आचार्य गोविन्द प्रभु माने जाते हैं, परन्तु पंथ का प्रवर्तन श्री चक्रधर द्वारा हुआ और प्रचार उनके शिष्य श्री नागदेवाचार्य द्वारा। इस पंथ में स्त्री और पुरुष दोनों को ही संन्यास की दीक्षा दी जाती है। इस पंथ के कतिपय लीलापरक ग्रंथ मराठी भाषा में मिलते हैं। कुछ मंगलगीत भी हैं। हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था के विरोध में इस पंथ का उदय हुआ था। इनकी सिद्धान्त-दृष्टि द्वैताद्वैत की ओर है और भक्तिभावना योग से समन्वित। श्रीमद्भगवद्गीता इनका मान्य ग्रंथ है और इस पंथ के आचार्यो ने श्रीमद्भगवद्गीता की कई टीकाएं लिखी हैं। इस पंथ का प्रचार पंजाब और अफगानिस्तान तक हुआ और मराठी भाषा का प्रचार सुदूर प्रदेशों में हुआ।

महाराष्ट्र का वास्तविक वैष्णव सम्प्रदाय 'वारकरी पंथ' कहलाता है। इस पंथ के उपास्य विट्ठलदेव जी हैं जो कृष्णचन्द्र के बाल रूप हैं। पण्ढरपुर इसका तीर्थ स्थान है जहां एक ईंट पर खड़े हुए विट्ठल जी की मूर्ति है और साथ ही रुक्मिणी जी भी विद्यमान हैं। विट्ठल शब्द की व्याख्या विद्वानों ने कई प्रकार से की है। संस्कृत के विद्वान इसका विग्रह इस प्रकार करते हैं---**विदा ज्ञानेन, ठान् शून्यान्, लाति गृह्णाति इति विट्ठलः।** कोई-कोई विट्ठल को विटस्थल का अपभ्रंश मानते हैं अर्थात् ईंट पर खड़ा होने वाला और किसी ने विष्णु का अपभ्रंश विठोबा माना है। सन्त तुकारामजी के अनुसार वि = गरुड़ और ठोबा = वाहन, इस प्रकार विठोबा की व्युत्पत्ति की है। इस पंथ को मालकरी पंथ और भागवत पंथ भी कहते हैं। तुलसी की माला इस पंथ का विशिष्ट चिह्न है। विठोबा का ही दूसरा नाम पाण्डुरंग है। इस पंथ के मान्य ग्रंथ भागवत और भगवद्गीता हैं। महाराष्ट्र प्रान्त की भक्ति-भावना बड़ी पुरानी है पर पण्ढरपुर में विट्ठलजी का आविर्भाव पुण्डरीक के समय में हुआ। सन्त ज्ञानदेव ने इस सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप दिया और उन्होंने गीता की ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। पाण्डुरंग की उपासना तो और भी पुरानी ठहरती है। शंकराचार्य ने अपने पाण्डु-

नाम से एक साखी प्रचलित है :

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द ।
परगट करी कबीर ने सात दीप नौ खण्ड ।।

यह साखी प्रामाणिक हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी रामानन्दजी का वैष्णव भक्ति के प्रचार में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उत्तरी भारत में विष्णु-भक्ति के प्रचार के दो स्थान थे : काशी और मथुरा। काशी रामभक्ति के प्रचार का केन्द्र थी और मथुरा कृष्ण-भक्ति के प्रचार का। स्वामी रामानन्दजी की जन्म-तिथि का प्रश्न अभी तक विवादास्पद है। भण्डारकर और ग्रियर्सन ने उनका जन्म सन् १२९९ में माना है और ये दोनों ही महानुभाव उन्हें रामानुजाचार्य से चतुर्थ आचार्य मानते हैं। डा० ताराचन्द ने रामानन्द को रामानुज की परम्परा में बाईसवां आचार्य मान कर उनका जन्म चौदहवीं शताब्दी के अन्त में माना है। उनकी मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार मतभेद है। भण्डारकर उनका देहावसान सन १४११ मानते हैं। कुछ भी हो, स्वामी रामानन्दजी राम-भक्ति के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं और कहा जाता है कि वह दक्षिण से ही राम-भक्ति को उत्तर में लाए थे। वास्तव में राम-भक्ति के सन्दर्भ में रामानन्द की अपेक्षा उनके गुरु राघवानन्दजी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रचार का कार्य चाहे रामानन्दजी ने किया हो, पर सिद्धान्त-निरूपण की आधारशिला का न्यास स्वामी राघवानन्दजी के करकमलों द्वारा ही हुआ था। वह दक्षिण तथा उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलनों के संयोजक व्यक्ति कहे जा सकते हैं। नाभादासजी ने अपने 'भक्तमाल' में राघवानन्दजी और रामानन्दजी दोनों का ही उल्लेख किया है। अनन्त स्वामी-रचित 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' में राघवानन्दजी का स्मरण इस प्रकार किया गया है :

वन्दे श्री राघवाचार्यं रामानुजकुलोद्भवम् ।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्र प्रचारकम् ।।

राघवानन्दजी की साधना योग और भक्ति के समन्वित रूप में थी। उत्तर भारत में उस समय नाथ-योगियों का जोर था और योग-समन्वित भक्ति ही सफल हो सकती थी। स्वामीजी ने अपनी भक्ति-साधना में हठयोग तथा वैष्णव भक्ति का पूर्ण सामंजस्य प्रस्तुत किया। आगे चलकर उनकी भक्ति-पद्धति को उनके शिष्य रामानन्दजी ने जन-आन्दोलन का रूप दिया। रामानन्दजी के शिष्य दो कोटि के थे— एक तो सुधारवादी और दूसरे प्राचीन भक्ति-परम्परा के भक्त।

स्वामीजी की दृष्टि बड़ी ही उदार और व्यापक थी। वह सबसे पहले आचार्य थे, जिन्होंने भक्ति का द्वार अन्त्यजों तक के लिए समान भाव से मुक्त कर दिया था। इन्होंने लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम को अपना इष्टदेव स्वीकार किया। क्योंकि लक्ष्मीनारायण क्षीर-सागर में शयन करने के कारण साधारण मानव की पहुंच से बहुत दूर पड़ते थे।

इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी तक यह भक्ति-आन्दोलन पूर्ण रूप से जन-आन्दोलन बन गया। इस प्रकार आन्दोलन के नेताओं ने संस्कृत के स्थान पर प्रान्तीय भाषाओं को अपने प्रचार का माध्यम बनाया जिसके फलस्वरूप प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य बड़ा समृद्ध और शक्तिशाली बन गया जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। राम और कृष्ण के पावन चरितों को लेकर अनेक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। रामचरित को लेकर लिखने वाले भक्त कवियों ने अवधी भाषा को ही विशेष रूप से अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जबकि कृष्ण-धारा के कवियों ने ब्रज-भाषा को अपना कर अपने मधुर काव्य की रचना की। ब्रज भाषा ने वैष्णव सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बांधने का महनीय कार्य किया। यह भक्ति-आन्दोलन भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिन्दी, की साहित्य-सर्जना में बड़े महत्त्व का है। हमने यहां राम-भक्ति आन्दोलन की बात केवल प्रसंगवश ही कही है। हमारा अभिप्राय कृष्ण-भक्ति आन्दोलन की ही पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करना है। कृष्ण-भक्ति आन्दोलन का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्रीमद्भागवत का उल्लेख बड़ा आवश्यक है। कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों को श्रीमद्भागवत से प्रेरणा मिली है और सारा कृष्ण-भक्ति साहित्य किसी-न-किसी

रूप में श्रीमद्‌भागवत से प्रभावित है। इसलिए श्रीमद्‌भागवत के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

भागवत पुराण के सम्बन्ध में भागवतकार लिखते हैं :

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।
पिवत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

—भागवत १।१।२

चैतन्य और वल्लभ दोनों सम्प्रदायों में भागवत की विशेष मान्यता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने तो अपने 'तत्त्व दीप निवन्ध' में भागवत को चतुर्थ प्रस्थान माना है :

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥

—त० नि०, श्लोक ७

हमारी दृष्टि में कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को इतना व्यापक वनाने का श्रेय महाप्रभु वल्लभाचार्यजी को है। उन्होंने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की उसका आधार भी भागवत को ही स्वीकार किया है। पुष्टि-भक्ति का नामकरण भी उन्होंने भागवत के ही आधार पर किया। 'सिद्धान्तरहस्य' नामक ग्रंथ की विवृति में हरिरायजी ने लिखा है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह-भेद से भक्ति तीन प्रकार की होती है। प्रवाह भक्ति का प्रतिपादन तो वेद और पुराणों में हुआ है तथा मर्यादा एवं पुष्टि भक्ति के प्रतिपादन के उद्देश्य से श्रीमद्‌भागवत का प्रादुर्भाव हुआ। पुष्टिमार्ग में भक्ति को ही सर्वोपरि माना है। श्री वल्लभाचार्यजी ने 'तत्त्वदीप निवन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण में सव स्कन्धों और अध्यायों को प्रकरणों में विभाजित किया है और उनके भांति-भांति के अर्थ लिये हैं। छठे स्कन्ध को उन्होंने पुष्टि-स्कन्ध वताया है और पुष्टिभक्ति का सूत्र इसी स्कन्ध से ग्रहण किया है। इस स्कन्ध में पुष्टिमार्गीय भक्ति के तत्त्वों का निरूपण करने वाला उपाख्यान इन्द्र और वृत्रासुर का है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पश्चात यह भक्ति-आन्दोलन जन-आन्दोलन के रूप में सारे भारतवर्ष में फैल गया था। भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में साहित्य की अभिवृद्धि इस आन्दोलन के द्वारा हुई, परन्तु व्रजभाषा में तो इस आन्दोलन ने मानो चार चांद ही लगा दिए। कहीं व्रजभाषा के नाम पर, तो कहीं व्रजवुलि के नाम पर विशाल भक्ति-साहित्य की सर्जना हुई। खेद है कि आज हिन्दी के विद्वानों का उस व्रज-भाषा साहित्य की ओर विशेष ध्यान नहीं गया है। वल्लभ-सम्प्रदाय में जहां एक ओर वैष्णव साधना के सभी तत्त्वों का समावेश था वहां दूसरी ओर इसके द्वारा व्रज भाषा-साहित्य की भी विशेष उन्नति हुई। कहा जाता है कि वल्लभाचार्यजी ने स्वयं भी व्रजभाषा में रचनाएं कीं। उनकी 'चौरासी अपराध' नाम की एक व्रज भाषा की रचना प्रकाशित भी हो चुकी है। उन्होंने स्वयं व्रजभाषा में चाहे कुछ न लिखा हो पर उनके शिष्यों ने व्रजभाषा के संवारने और समृद्ध करने में जो योगदान दिया है वह वास्तव में अपूर्व है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि आचार्यचरण अपने सम्प्रदाय का प्रचार व्रजभाषा के माध्यम से किया करते थे और इसे वह 'पुरुषोत्तम भाषा' कहते थे। उनकी शिष्य-परम्परा में ऐसे अनेक अज्ञात कवि हैं जिनकी रचनाएं आज भी अन्धकार के गर्त में छिपी हुई हैं। हरिरायजी की लीला-भावना वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में ऐसे अनेक कवियों का उल्लेख किया गया है। पुष्टि-सम्प्रदाय और उसके माध्यम से व्रजभाषा के साहित्य के प्रचार और प्रसार का श्रेय वल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी को है। उन्होंने इस सम्प्रदाय की ठीक प्रकार से व्यवस्था की और पुष्टिमार्गीय सेवा-भावना को विस्तार से क्रियात्मक रूप दिया है।

वैष्णव सम्प्रदायों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनमें भक्ति की भावना उत्तरोतर वढ़ती गई, भक्ति के रागात्मक पक्ष को विशेष वल मिलता गया और शास्त्रीय पक्ष का ह्रास होता गया। प्रपत्ति अर्थात्

शरणागति और समर्पण की भावना को विशेष बल मिला। भक्ति-आन्दोलन की पृष्ठभूमि में केवल ये वैष्णव सम्प्रदाय ही नहीं थे इनके अतिरिक्त देश का सामान्य वातावरण तथा तज्जन्य अनेक धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियां भी थीं। इन साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों के प्रचारकों के अतिरिक्त देश में एक ऐसा भी वर्ग था जो मनुष्य की सामान्य भाव-भूमि के आधार पर जाति-पांति के भेद-भाव से परे साम्प्रदायिकता के आवरण को दूर फेंक कर एक ईश्वर की निष्ठा का प्रतिपादन कर रहा था। ऐसे सन्त-महात्मा देश के प्रत्येक प्रान्त में वर्तमान थे। हृदय की शुद्धि, आचरण की उच्चता और ईश्वरीय प्रेम की विह्वलता को ही प्रधानता देने वाले ये मस्तमौला सन्त जनता की ही भाषा में ही अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। हेय का त्याग और आदेय का दान इनकी सरल प्रकृति का प्रमाण है। इस सारे भक्ति-आन्दोलन का मूल तत्त्व प्रेम और प्रपत्ति है। इन मूल तत्त्वों के आधार पर ही श्रीमद्भागवतपुराण की रचना हुई, इसलिए हम इस पुनीत ग्रन्थ को भक्ति-शास्त्र का सर्वस्व कह सकते हैं। सब पुराणों में इसका स्थान ऊंचा है। भक्ति की अमृतमय सरिता को सारे देश में प्रवाहित करने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ है। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य और धार्मिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए भागवत का अनुशीलन परम आवश्यक है। इसलिए आगे के अध्यायों में हम इस महापुराण के विभिन्न पक्षों का अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

—भागवत १।१।२



तुलसीदासजी का पंचनामा

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

यह पंचनामा काशी के टोडर नाम के एक वड़े जमींदार के पुत्र-पौत्रों के वीच जायदाद के वंटवारे के लिए संवत १६६६ अर्थात सन १६१२ में लिखा गया था। तुलसीदास जी ने आरम्भ में अपने हाथ से इस पर कुछ पंक्तियां लिख दी थीं। पहिले श्लोक में राम की महिमा है, दूसरे दोहे में सत्य की महिमा है और तीसरे श्लोक में धर्म की महिमा है। तुलसीदासजी का अपना नाम भी दोहे में पड़ा हुआ है। तुलसीदासजी ने अपने हाथ से इतना अंश लिखा था, इसमें परम्परा-प्राप्त अनुश्रुति प्रमाण है। महाकवि ने निजी अक्षर, विशेषकर उनके नामाक्षर, उनके आदर्श राम की महिमा और सत्य एवं धर्म की महिमा में कवि के वचन उन्हीं के हस्ताक्षरों में प्राप्त होने के कारण यह पंचनामा हिन्दी-जगत में अत्यन्त मूल्यवान ऐतिहासिक पत्र है। यह टोडर के वंशजों के पास ग्यारह पीढ़ी तक रहा। ११वीं पीढ़ी में पृथ्वीपालसिंह नाम के सज्जन ने काशीराज महाराज ईश्वरीनारायणसिंहजी को इसे दे दिया था और अव वर्तमान काशीराज श्री विभूतिनारायणसिंहजी के पास सुरक्षित है। टोडर के वंशज, जिनमें श्री लालवहादुरसिंह अव जीवित हैं, अभी तक अस्सी पर रहते हैं और काशीराज के यहां से कुछ मासिक वृत्ति पाते हैं।

पंचनामा देशी कागज पर काली स्याही से लिखा हुआ है। वह कुछ मुड़ गया था, कागज में सलवटें पड़ गई थीं और उसकी मरम्मत की आवश्यकता थी। वर्तमान काशीराज महाराज श्री विभूतिनारायणसिंहजी उसे १९४९ के अगस्त मास में दिल्ली लाये और सेंट्रल एशियन म्यूजियम में मरम्मत के लिए उसे उन्होंने मेरे सुपुर्द किया। पंचनामे को संग्रहालय के रसायन-विभाग के कार्यकर्ता श्री तोतारामजी गरौला ने वहुत यत्नपूर्वक पुराने कागज पर से उठाकर नये हाथ के वने दोहरे जापानी कागज की वसली पर पुनः वैठाया और चिपकाने से पूर्व उसकी सलवटें खोलीं और मैल साफ किया। अव सुरक्षा के साथ मरम्मत हो जाने और वसली लग जाने से उसकी आयु वढ़ गई है। मेरे अनुरोध से महाराज साहव ने उसे नई दिल्ली के सरकारी भवन में विद्यमान राष्ट्रीय संग्रहालय में तीन दिन तक प्रदर्शित करने की अनुमति प्रदान की थी। जनता के लिए प्रदर्शित किये जाने के उपरान्त वह वहुमूल्य ऐतिहासिक पत्र पुनः काशी ले जाया गया।

इसी अवसर पर उसके विधिपूर्वक कई चित्र लिये गए। पहले चित्र में केवल गोस्वामीजी के स्वहस्तलिखित अक्षर दिखाये गए हैं। दूसरे चित्र में सम्पूर्ण पंचनामे की नकल है। पंचनामे के तीन भाग हैं। आरम्भ में गोसाईं तुलसीदासजी के हाथ से लिखा हुआ एक श्लोक, एक दोहा और फिर एक श्लोक है। उसके वाद अल्लाहो अकवर से आरम्भ करके फारसी भाषा और लिपि में सरकारी मुहरों से प्रमाणित पंच-फैसला दर्ज है। तीसरे भाग में वही पंच-फैसला हिन्दी भाषा और देवनागरी अक्षरों में लिखा हुआ है। हिन्दी में इस पंचनामे को 'पत्र' कहा गया है। पत्र प्राचीन पारिभाषिक शब्द था जिसे अंग्रेजी 'डाक्यूमेंट' का पर्याय समझना चाहिए। मध्यकालीन लेख-पद्धतियों, न्याय-निवन्धों एवं शिलालेखों में इसी अर्थ में 'पत्र' शब्द का व्यवहार हुआ है। मूल पंचनामे की नकल इस प्रकार है—

श्री जानकीवल्लभो विजयते

द्विशरन्नाभि संधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।

द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ।। १ ।।
तुलसी जान्यो दशरथहिं धरमु न सत्य समान।
रामु तजे जिहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ।। १ ।।
धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ।। १ ।।

अल्लाहो अकबर

(पं० १) चूं आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन टोडर मज़कूर
(पं० २) दर हुज़ूर आमदः क़रार दादन्द कि दर मवाज़िए मतरूकः कित फसील आदर हिन्दवी मजकूर अस्त
(पं० ३) बिल् मुनासफः बतराज़िए जानि बैन क़रार दादेम व यकसद व पिंजाह बीघा जमीन ज्यादः किस्मत मुनासिफः खुद
(पं० ४) दर मौज़े भदैन आनन्दराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़कूर तजवीज़ नमूदः
(पं० ५) बरीं मानी राज़ी गश्तः अतराफ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आं
(पं० ६) मुहर करदः शुद सादुल्लाह बिन

किस्मत कन्हई

क़रिया भदैनी सेह हिस्सः	क़रिया शिवपुर दरो बिस्त

क़रिया
नदेसर हिस्सः टोडर तमाम

................................(अस्पष्ट)

किस्मत आनन्दराम

क़रिया भदैनी दो हिस्सः	क़रिया लहर तारा दरो बिस्त
क़रिया नैपुरा हिस्सः टोडर तमाम	क़रिया चित्तूपुरा खुर्द हिस्सः टोडर तमाम

श्री परमेश्वर

(पं० १) शंवत १६६६ शमए कुआर शुदि तेरशी बार शुभ दीने लिषितं पत्र अनंद
(पं० २) राम नथा कन्हई के अंश वीभाग पुर्वमु आगें भै आग्य दुनहु जने मागा
(पं० ३) वे आग्य भै शे प्रमाण माना दुनहु जने विदित तफ़शील अंश टोडरमल
(पं० ४) के मह जे श विभाग पद्र होतरा............

अंश आनन्दराम	**अंश कन्हई**
मौजे भदैनी मह अंश पांच ते ही मह अंश दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा शगरेड तथा छीतूपुरा अंश टोडर मलुक तथा नैपुरा अंश टोडरमलक हील हुजती नाश्ती लीखीत अनंदराम जे ऊपर लिखा से सही साछी राघवराम रामदत्त सुत साछी रामसेनी उधव सुत	मौजे भदैनी मह अंश पांच ते ही मह तीनी अंश कन्हई तथा मौजे शिपुरा तथा नदेसेरी अंश टोडर मलक हील हुज्जत नाश्ती लीखीतं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही साछी राम सीघ उधव सुत साछी जादौ राए गहर राए सुत

साछी हैकर्ण जगतराव सुत
साछी जमुनी मान परमानंद सुत
साछी जानकीराम श्रीकांत सुत
साछी कवल राम वासुदेव सुत
साछी चंद्रभान केसौदास सुत
साछी पांडे हरीवलभ पुरुसोतम सुत
साछी भावरए केसौ उधरन सुत
साछी जदुराम नरहरी सुत
साछी आजीव्य लछी सुत
साछी सवल भीषम सुत
साछी रामचंद वासुदीव सुत
साछी पीतम्वरदास वधीपूरन सुत
साछी रामनाह गरीवनाह मधुछिरी
कर्म सुत

साछी जगदीस राऐ महादघी सुत
साछी चक्रपानी सोल्ला सुत
साछी मथुरा पीथा पुत्र
साछी कासीदास वसुदेव सुत दसखत मथुरा
साछी परगभान गोशाई दाश सुत
साछी रामदेव वीसभर सुत
साछी श्रीकांत पांडे राजस्वर सुत
साछी वीठलदास हरीहर सुत
साछी हीरा दसरथ सुत
साछी लोहरा कीस्ना सुत
साछी भजराम सीतल सुत
साछी प्रानादत्त भगवन सुत
साछी पीथा वनजै सुत
साछी धनीराम मधुराए सुत

पंचनामे पर ये हस्ताक्षर स्वयं लोगों ने अपने हाथ से किए हैं। केवल एक व्यक्ति मथुरा ने 'साछी कासीदास वासुदेव सुत' का नाम अपने हाथ से लिखा है और उसके प्रमाणस्वरूप 'दसखत मथुरा' ये शब्द जोड़ दिए हैं। नामों की जो अछरौटी उस समय प्रचलित थी, वह ज्यों-की-त्यों ऊपर उतारी गई थी। भाषा की दृष्टि से यह सामग्री रोचक है। राव को एक जगह राव, पर प्रायः राऐ लिखा गया है। कृष्ण का अपभ्रंशरूप कीस्ना, पृथ्वीराज का पीथा, वृद्धिपर्ण का वधीपूरन, विश्वम्भर का वीसभर ध्यान देने योग्य हैं। व और ब का भेद नहीं था। ख को मूर्धन्य ष लिखा जाता था। ब के नीचे कहीं बिन्दु लगाया है, कहीं नहीं। ह्रस्व और दीर्घ मात्राओं का भी ठीक पालन नहीं हुआ है। प्रायः ये सब विशेषताएं हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं।



मीरा के काव्य में गीति-तत्त्व

श्री० गुरुप्रसाद टंडन

गीतिकाव्य अन्तरतम हृदय का काव्य है। उसका प्रधान गुण आत्माभिव्यंजन है। उसमें भावों का सरल अकृत्रिम उद्वेग रहता है और कवि का व्यक्तित्व उसकी स्वच्छन्द कल्पना के प्रवाह में अंकित हो एक मूर्तिमान चित्र उपस्थित कर देता है। भाषा का मुक्त प्रवाह गीतिकाव्य में संगीत की लय के साथ हर्ष-शोक, आशा-निराशा की रागात्मक अवस्थाओं का मर्मस्पर्शी स्वरूप प्रकट करता है। धुंधले संकेतों में, एवं मनोवेगों की ओर सीधी प्रेरणा में गीत-कवि की कला निहित है। आन्तरिक भावनाओं का चित्रण ही गीतिकाव्य के लिए मुख्य वस्तु नहीं है, प्रत्युत उसके प्रवाह में सौन्दर्य, सुन्दर वर्ण और तीव्र वेग का होना आवश्यक है। हिन्दी-गीतिकाव्य के लहलहाते उद्यान में जीवनधारा की समस्त विभूतियों को तरंगित करती हुई मीरा की विदग्ध वाणी सुनाई पड़ी थी।

निश्चिन्त आत्मा

मीरा की आत्मा निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व थी। एक स्वच्छन्द गगन-विहारी पक्षी की भांति वह गाती है और केवल गाती है। उसका कवि-हृदय नारी-हृदय की कोमल और सुकुमार भावनाओं के उपकरणों से निर्मित है। वह अपने दिल की रानी थी, 'लोक कहै बिगड़ी' की उसे परवाह न थी। न किसी आदर्शवाद की वह पुजारिन थी। राज्य के अनन्त वैभव और प्रलोभनों को ठुकराकर गिरिधरगोपाल की जिस मधुर मूर्ति के पीछे दीवानी हो मेवाड़ की मरुभूमि में वह घूमती-फिरती थी, वह त्याग और अनन्यता हमें किसी अन्य भक्त कवि में नहीं मिलती। कितने उन्मुक्त स्वर में वह कहती है :

नाचन लगी जब घूँघट कैसो !

अनन्यता

मीरा स्वयं इष्टदेव प्रियतम के विरह का अनुभव करती थी। इसीलिए उसे यह आवश्यकता ही न पड़ी कि वह गोपियों की परिस्थिति में रहकर अपना प्रेम प्रकट करती। वह स्त्री थी इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण अपनी प्रीति के आगे गोपी-राधा की कल्पना वह कैसे कर सकती थी ? यहीं पर अन्य भक्त कवियों से मीरा का बड़ा भारी भेद है। वे लोग कृष्ण-राधा, नन्द-यशोदा इत्यादि की सृष्टि कर अपने पात्रों के मुख से बोलते हुए दिखलाई पड़ते हैं; पर मीरा तो एक 'गिरधर' को ही जानती है। उसकी मूक वेदना उसकी अपनी वेदना है। उसे किसी माध्यम की, किसी दूती की, आवश्यकता ही नहीं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मीरा का काव्य ही विशुद्ध गीतिकाव्य है।

प्रायः कृष्ण-भक्त कवि किसी-न-किसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उसके अनुसार उनकी उपासना का भिन्न-भिन्न स्वरूप था। कर्मकाण्ड की मात्रा उनमें अधिक है। मीरा किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित न थी, यद्यपि कई वैष्णव सम्प्रदाय वाले उसे अपने सम्प्रदाय में सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह मान भी लिया जाय कि वह किसी गुरु की चेली थी तो भी उसकी कविता में कोई भी साम्प्रदायिक छाप नहीं मिलती। उसका हृदय भेद-बुद्धि से परे हो प्रेम-पराभक्ति का अनन्य उपासक था। वह स्वयं भक्ति की मूर्ति थी—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शांडिल्य)।

उसके उदार नारी-हृदय को कृष्ण के नित्य किशोर-रूप में ही परम शान्ति मिल सकती थी। वही उसकी साध थी, वही उसका अरमान था।

कृष्ण की शक्ति, कृष्ण का माहात्म्य, कृष्ण का ऐश्वर्य, उनकी जीवनचर्या आदि घटनाओं का कोई विस्तार मीरा ने नहीं किया है। वह चरित्र-चित्रण की ओर कैसे जा सकती थी? कृष्ण के माधुर्य व प्रेम को ही वह हृदय से लगाना चाहती थी, ऐश्वर्य या शक्ति को नहीं। अन्य भक्त कवियों के गीतकाव्यों में जो वर्णनात्मक वातावरण मिलता है, वह मीरा में नाममात्र को ही है।

काव्यशास्त्र से अप्रभावित

मीरा के गीत एक भावुक हृदय के स्वाभाविक स्पन्दन हैं। वासंतिक समीर की लहर में जैसे कोकिला अपना स्वर नहीं छिपा सकती, सावन की झड़ी में जैसे पपीहे का आर्द्र स्वर नहीं छिप सकता—उसी तरह अपनी वेदना की दर्दीली झंकार मीरा कैसे छिपा सकती है? वह गाती है क्योंकि उसे गाना ही चाहिए। उसके गीत की कड़ियां सिनेमा के फिल्म की भांति कंठ से लहराती हुई निकलती हैं: उनमें कला की दृष्टि से सजावट का स्पर्श भी नहीं होता। कविता की दृष्टि से ये गीत नहीं गाये गए; ये तो हृदय के तथा प्राणों के स्वाभाविक स्फुरण हैं। यही कारण है कि मीरा की कविता काव्य-शास्त्र के वातावरण, रस-अलंकार इत्यादि से प्रभावित नहीं हुई। यह कमी हम कई भक्त कवियों में बहुत अंश में पाते हैं। जो स्वाभाविकता और धार्मिक तल्लीनता मीरा में है वह हिन्दी के किसी अन्य गीतकवि में ढूंढे नहीं मिलती।

आत्माभिव्यंजन

मीरा कुछ भी नहीं छिपाती। उसकी सबसे बड़ी विशेषता स्वच्छ आत्माभिव्यंजन है। जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मानवी प्रकृति का अध्ययन माना गया है। मीरा की रचनाओं पर हम इसी व्यक्तित्व की छाप देखते हैं। उसने गीतों में अपने व्यक्त अस्तित्व का लोप कर दिया है। उसकी तन्मयता हमारी वासनाओं को कुचलती हुई चित्त को रसमग्न कर देती है और हम मानसी पूजा में प्रवृत्त हो जाते हैं। गाते समय वह हमारे इतने निकट आ बैठती है कि उसकी प्रेम-मूर्ति भुलाये भी नहीं भूलती। रसोन्मत्त गायिका की इस सामीप्य भावना से थोड़ी देर के लिए हम अपने को गिरिधर के निकट देखने लगते हैं और मीरा के स्वर में गा उठते हैं:

स्याम तोरी आरत लागी हो!

मीरा की निश्छल आत्माभिव्यक्ति इन पंक्तियों में देखिए:

राणा जी मैं गिरधर के घर जाऊं!
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं॥
रैन पड़े तब ही उठ जाऊं भोर भये उठ आऊं।
रैन दिना वाके संग खेलूं ज्यों रीझे त्यों रिझाऊं॥
जोइ पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊं।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊं॥
जहं बैठावै उत ही बैठूं बेचे तो बिक जाऊं।
जन मीरा गिरधर के ऊपर बारबार बलि जाऊं॥

मीरा का आवेग प्रियतम के रंगमहल का भेद भी नहीं छिपाता। सारे बन्धनों को तोड़ वह प्रियतम के प्रेम के साथ घुल-मिलकर खेलती है। पति के प्रेम और सेवा पर तन-मन न्यौछावर करने वाली हिन्दू गृहिणी की उच्च भावना भी इस गीत में प्रकट है। विवशता और प्रेम-व्यापार की तल्लीनता की मार्मिक दशा यहां है।

वेदना

मीरा का प्रिय मनोवेग प्रेमोन्मुख विषाद है। अपने वेदनात्मक रूप में ही वह हमारे सामने प्रकट हुई है।

उसका सौभाग्य-सिन्दूर नष्ट हो चुका था। राणा के अन्याय और आघात से उसकी आत्मा सतत पीड़ित रहती थी। आनन्दमय स्वरूप का वह ध्यान तो करती है :

बरसै वदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यौ मेरौ मनवा भनक सुनी हरि-आवन की॥

पर दाह और अनुताप की छाया उसके गीत में छिप नहीं सकती। 'गिरधर' के पास भी उसे विरह ही मिला। एक ओर गिरधर का विरह था तो दूसरी ओर राणा की अवहेलना। ऐसी अवस्था में एक उपेक्षित और परित्यक्त प्राणी की तरह वह एक कसक लिये फिरती थी। उसके गीतों में स्त्री-हृदय की दयनीय दशा का बड़ा ही कारुणिक चित्र है। आदिकवि ने जिस करुणा का स्रोत बहाया था वही मीरा के गीतों से झर रहा है। उसकी वेदना इतने मर्मस्पर्शी रूप से प्रकट होती है कि हम केवल उस पर विश्वास ही नहीं करते, प्रत्युत शुद्ध सहानुभूति की भावना से प्रेरित हो उसकी पूजा करने लगते हैं। विशेषता यह है कि मीरा इस वेदनात्मक स्वरूप को ही प्यार करती है। उसी अन्तरदाह में उसे आनन्द का अनुभव होता है। आशा-निराशा का संकेत उसने किया है, किन्तु उसकी वेदना में निराशा नहीं है, आनन्दमयी आशा की ही झलक है। वह अपनी करुण गाथा का स्वयं बखान नहीं करती। उसकी वेदना का तीव्र आवेग मूक रुदन में है। प्रियतम से भी वह अपनी वेदना विरहिणी नायिकाओं की भांति खुलकर प्रकट नहीं कर सकती। न व्यंग्य है, न उपालम्भ, केवल इतना संकेत कर देती है :

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मोरा दरद न जाणै कोय।
घाइल की गति घाइल जाणै, की जिण लाई होय॥

उसकी वेदना में हिन्दू सती के उच्च त्याग की भावना है। यह वही उच्च त्याग है जो 'सती-पूजा' के रूप में प्रचलित होगया है। मीरा के विरह में हमारे जीवन के साथ बड़ी समता है। ऐसा स्वाभाविक विरह-वर्णन काव्य-कला-निष्णात कवियों में कहां मिलेगा ? निर्वेद, दैन्य, विषाद, स्मृति, आवेग, उन्माद आदि करुण रस के सहायक संचारी भावों की व्यंजना मीरा ने स्वाभाविक रूप से की है।

मीरा का विरह इतना गम्भीर है कि प्रकृति भी उससे विह्वल होकर कृष्णमय बन गई। विरह-कातर मर्म-वेदना का उज्ज्वल स्वरूप देखिए—

मैं विरहिन बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली !
बिरहिन बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
इक बिरहिन हम ऐसी देखी अँसुअन माल पिरोवै॥
तारा गिण गिण रैण बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलके बिछुड़ न जावै॥

इस गीत में विरह के कई सुन्दर तुलनात्मक चित्र हैं। संसार की आनन्दमयी दशा के साथ व्यथित हृदय का क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। रंगमहल में मोती पिरोती हुई वासकसज्जा के बीच आंसुओं की माला पिरोने वाली विरह-विधुरा मीरा हमारे मनोवेगों को कितना करुणासिक्त कर देती है। जगत से निराश हो प्रकृति के आगे उसने हाथ पसारा। ताराओं के अंतर्पट में परमेश्वर की दिव्य ज्योति का प्रकाश संतप्त हृदय को शान्ति प्रदान करता है और प्रभु की अनन्त शक्ति की व्यापक कल्पना नेत्रों से कृतज्ञता के अश्रु प्रवाहित कर देती है। यही हमारी सान्त्वना का रूप है। इस प्रसंग में अंग्रेजी कवि कीट्स की कितनी मार्मिक उक्ति है—

When I behold upon the nights starred face,
Huge cloudy symbols of a high romance.

अन्त में प्रियतम के साथ सायुज्यता की प्रबल आकांक्षा गीत में अभिव्यक्त हुई है। पदयोजना विरह-प्राबल्य के साथ अत्यन्त सार्थक है।

प्रेम

गीतिकाव्य का बड़ा प्रसिद्ध विषय प्रेम है। मीरा का प्रेम उसके तीव्र विरह से प्रकट होता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है, उन्माद है। कहीं-कहीं मीरा ने अपना प्रेमाच्छादित आनन्दमय स्वरूप भी प्रकट किया है :

मैं अपने सैंया संग नाची।
अब काहे की लाज सजनी प्रगट है साँची ॥

घर और नातेदारों से दूर गायिका प्रेमोन्माद के सुखी दिनों का स्वप्न देखती है। यदि मीरा स्त्री-हृदय के स्वाभाविक आनन्द को प्रकट न करती तो उसका गीतिकाव्य अधूरा ही रह जाता। उसकी वेदना की लहर में जब हम वह जाते हैं तब सहसा घुंघरू की ताल पर नाचती हुई मीरा की आनन्दमयी दशा को देखकर हृदय को बड़ा आश्वासन मिलता है। हमारे मुख पर एक हलकी आनन्दमय मुस्कान दौड़ जाती है। मीरा हमें अपने दुःख में दुखी ही नहीं करती, वल्कि प्रसन्न भी करती है।

मीरा के प्रेम की यह विशेषता है कि वह प्रेम का बार-बार स्मरण दिलाकर उपालम्भ देती हुई प्रार्थना नहीं करती; वह तो अपनी दशा के सच्चे चित्रण से संकेत द्वारा प्रियतम का आह्वान करती है।

यहां पर यह प्रकट करना असंगत न होगा कि मीरा का हृदय सूर की भांति नवनीत-जैसा बालक का हृदय नहीं है जिसमें आनन्द किलकारियां ले रहा हो। ब्रज के उन्मुक्त वायु-मण्डल में यमुना की लहर और गोपियों के दधि-मांखन में क्रीड़ा करने वाला सरल हृदय मीरा को नहीं मिला था। सूर और मीरा के हृदयवाद में अन्तर है। सूर के पदों में जो द्रुति और आनन्द छलकता है वह मीरा में कहां से मिल सकता है ? अनेक दशाओं में मानसिक परिस्थितियों का जो सुन्दर चित्रण सूर ने किया है मीरा को न वैसा अवकाश था, न हृदय। परन्तु प्रेम और विरह में जिन स्वाभाविक दशाओं का चित्रण मीरा ने किया है उसमें सूर की अपेक्षा अधिक सहृदयता है। आत्मविस्मृतिपूर्ण प्रेम की तीव्रता की अभिव्यंजना में जायसी भी उसके निकट नहीं आ सकते। सूफी प्रभाव के कारण जायसी ने विश्व-व्याप्त अखण्ड सत्ता को प्रियतम के रूप में ग्रहण किया, किन्तु मीरा ने साकार प्रियतम के रूप में उसकी उपासना की। स्वभावतः प्रेम-जन्य समवेदना स्त्री-हृदय में अधिक होनी चाहिए। तुलसी की भक्ति-भावना में बुद्धि-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष का समन्वय है। भक्त का आत्म-निवेदन वहां विशेष है, प्रेम की साधना नहीं है। कभी-कभी निराश होकर मीरा कह उठती है :

जो मैं ऐसा जानती रे प्रीति करे दुःख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे प्रीति न करियो कोय ॥

किन्तु यह अवस्था अधिक देर तक नहीं रहती, और आशा का ही छोर वह पकड़ लेती है :

वह बिरियां कब होसी मोकूं हँस के कण्ठ लगावै।

प्रकृति-निरीक्षण

मीरा ने प्रकृति का आनन्दमय स्वरूप नहीं उपस्थित किया। पक्षियों का कलरव, पुष्पों का विकास और वसन्त का मादक चित्र यहां नहीं है। कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन का ही उसे अधिक अवकाश नहीं, फिर भला प्रकृति का विमुग्धकारी रहस्य वह कैसे खोलती ? उसे प्रकृति से प्रसन्नता नहीं मिलती। वसन्त और सावन की आनन्दमयी बहार उसने दिखलाई है, पर उस बहार में विरहिणी के ऊर्ध्व निःश्वासों की लहर है। प्रकृति की सारी लोकरंजिनी सामग्रियां उसके हृदय का भाव-सामंजस्य में एक दूसरे ही रूप में आती हैं। एक ओर वह अपने हृदय का वेदनात्मक स्वरूप देखती हैं, दूसरी ओर वसन्त का उन्मत्त कल्लोल। वह कहती है—

होली पिया बिन लागै खारी सुनोरी सखी मोरी प्यारी !

इस प्रकार मीरा प्रकृति की सृष्टि का उपयोग अपने विचारों के अनुकूल करती है। सावन के आनन्दोत्सव का एक स्वाभाविक चित्र है :

रे सांवलिया म्हांरे आज रंगीली रणगोर छे जी ॥ टेक ॥
काली पीली बदली में बिजुली चमके मेघघटा घनघोर छे जी।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल कर रही सोर छेजी॥
आप रँगीला सेज रँगीली और रँगीलो सारो साथ छे जी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरनां में म्हांरो गोद छे जी॥

परन्तु इसके उपरान्त ही मीरा अपनी वेदनात्मक दशा की ओर संकेत करती है :

बादल देख झरी हो स्याम मैं बादल देख झरी।
काली पीली घटा उमगी बरस्यो एक घरी॥
जित जाऊं तित पानिहि पानी हुई सब भौम हरी।
जाका पिय परदेस बसत है भीजै बार खरी॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर कीज्यो प्रीत खरी॥

सावन की इस करुण रागिनी में दीनता और वेदना का चित्रण है। मानवी प्रकृति बाह्य प्रकृति से तादात्म्य धारण किये हुए है। गीत का प्रत्येक शब्द सार्थकता के साथ करुण रागिनी के स्वरों में मिलकर झूलता है। 'रीऽऽ' की मुग्धकारी लहर वर्षा की झड़ी के साथ कैसी एकरूपता रखती है कि बिना गाये हुए भी हमारे सामने वर्षा का दृश्य उपस्थित हो जाता है। प्रकृति के ऐसे तुलनात्मक चित्रों से हृदय की जो मार्मिक व्यंजना होती है वही गीतकवि की विशेषता है। प्रकृति के ये चित्र जितनी स्वाभाविकता और सत्यता से मीरा ने प्रकट किये हैं, वह कम ही कवियों में देखने को मिलेगा। सात्त्विक भाव की कई दशाओं का बड़ा अच्छा रूप मीरा के प्रकृति-चित्रण में है।

सौन्दर्य

गीतकवि मूर्तिमान सौन्दर्य का उपासक माना जाता है। इस सौन्दर्य का अस्तित्व उसकी काल्पनिक सृष्टि में और प्रकृति के बाह्य दृश्यों में रहता है। मीरा मूर्तिमान सौन्दर्य की उपासिका नहीं है, क्योंकि न तो वह काल्पनिक सृष्टि में विचरण करना चाहती है और न उसे बाह्य सौन्दर्य का आकर्षण ही है। प्रकृति का आनन्द सौन्दर्य की दृष्टि से उसने चित्रित नहीं किया है, अपनी मानसिक दशा का उद्रेक दिखलाने के लिए किया है। कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन वर्णनात्मक है, पर कभी-कभी उसी सौन्दर्य में मूर्तिमान श्रृंगार का दृश्य उपस्थित हो जाता है :

निपट बंकट छवि अटके मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके॥
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूखन मटके।
बारिज भवां अलक टेढ़ी मनो अति सुगंध रस अटके॥
टेढ़ी करि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लट अटके।
मीरा के प्रभु रूप लुभानी गिरधर नागर नटके॥

'टवर्ग' उपनागरिका-वृत्ति में भले ही न हो, किन्तु यहां तो उसकी सरस ध्वनि त्रिभंगी रूप के साथ सामंजस्य प्रकट कर रही है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानो गीत भी त्रिभंगी गति पर नाच रहा है। सीधी-सादी सरल वस्तु नेत्रों को आकर्षित नहीं करती; क्योंकि नेत्रों का गुण वक्रता है, बंकिम टेढ़ी चीज पर ही वे जा अटकते हैं!

संकेत

मीरा की एक बहुत बड़ी विशेषता संकेतमय चित्रण में है। जिस प्रकार एक तार को झनझनाने से कई तारों से मिली हुई झंकार उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रायः मीरा के गीत का आरोह ही उसके हृदय को प्रकट करता हुआ आगे आनेवाली दशा का चित्र खींच देता है। यथा,

रे सांवलिया म्हांरे आज रँगीली गणगौर छे जी।

यह कड़ी वर्षा के साथ मिलकर आनेवाली मीरा की आनन्दमयी दशा की सूचना पहले ही दे देती है।

इसी प्रकार कई स्थलों पर हम देखते हैं कि मीरा के गीत की कड़ियां प्रसन्नता या वेदनात्मक मनोभावों का संकेत करती हुई आगे बढ़ती हैं।

भावावेग

गीतकवि की विशेषता तीव्र भावावेग में भी है। इसके दो स्वरूप हैं: एक तो शैली की ओजस्विता में है और दूसरा हृदय के तीव्र उद्रेक की मात्रा में। मीरा ने कई स्थलों पर तीव्र भावावेग प्रकट किए हैं। उसकी यह तीव्रता वेदनात्मक स्वरूप में ही मिलती है—

मैं बिरहिनि बैठी जागूं जगत सब सोवै री आली !

भावावेग का दूसरा प्रकार भी मीरा में है, पर अधिक मात्रा में नहीं। सरल और शान्तिप्रिय स्त्री-हृदय ने दयनीय दशा से अपनी प्रिय वेदना प्रकट की; उसके मनोवेग सच्चे और सारगर्भित हैं। उनमें उन्माद कम है। भावावेग की तीव्रता का अंश सूरदास में बहुत अधिक है। यथा,

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं।।

—सूर

फिर भी मीरा के आत्माभिमान और भावों की ओजस्विनी व्यंजना का एक अच्छा स्वरूप यह है:

राणाजी मैं न रहूंगी तोरी हटकी।
साध संग मोहिं प्यारा लागे लाज गई घूंघट की।।
पीहर मेडता छोडा अपना सुरत निरत दोउ चटकी।
सतगुर मुकट दिखाया घट का नाचूंगी दे दे चुटकी।।
हार सिंगार सभी ल्यो अपना चूड़ी कर की पटकी।
मेरा सुहाग अब मोकू दरसा और न जानै घट की।।
महल किला राना मोहिं न चहिए सारी रेसम पटकी।
हुई दिवानी मीरा डोलै केस लटा सब छुटकी।।

कल्पना

मीरा की कल्पना अत्यन्त सरल और स्वाभाविक है। उसमें चकित करने का गुण नहीं है। वह अपने प्रियतम को निकट ही देखती थी, इसलिए उसे सूर की भांति ऊंची उड़ान भरने की आवश्यकता ही न पड़ी—

मेरे पिया मो मांहि बसत हैं कहूं न आती जाती।

इसमें सन्देह नहीं, कभी-कभी उसकी कल्पना गूढ़ रहस्य की ओर संकेत करती है, किन्तु बहुत कम। प्रायः गीतकवि भावुकता और तन्मयता में डूबकर बड़ी ऊंची कल्पना करते हुए अपने मनोराज्य में एक आनन्दमयी सृष्टि करते हैं। सूर की अद्भुत और व्यापक कल्पना हिन्दी काव्य-संसार में एक ही चीज है। जो उदात्त और भव्य कल्पना सूर की है वह मीरा में मिल ही नहीं सकती। निश्छल और भोले हृदय में कल्पना की विमोहक सृष्टि नहीं बना करती। कल्पना के प्रवाह में जीव अपना अस्तित्व भूल सत्य से परे हो जाता है। कल्पना कवि की उमंगमयी दशा का प्रतिबिम्ब है, स्वाभाविक रूप का नहीं। उसे विषम सौंदर्य की उपाधि दी जा सकती है। वह आदरणीय है, लय कर लेने योग्य नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि मीरा की कल्पना में सत्य का अंश विशेष है।

संगीत

गीतिकाव्य का अस्तित्व ही संगीत पर है। मीरा के गीतों में यह गुण विशेष रूप से प्रकट हुआ है। उसके हृदय की दशा से मिलकर गीत की स्वरलहरी में किलकारी या कम्पन उत्पन्न होता है। उसके मानसिक आवेगों का चित्रण हम उसी राग या रागिनी में देखते हैं जो उसकी तात्कालिक दशा प्रकट करने में विशेष उपयुक्त है। सूर्य के

उतार के साथ 'केदारा' की करुण रागिनी विखेरता हुआ जोगी का यह स्वर है :

जोगी मत जा मत जा मत जा, पांय परूं में चेरी तेरी हौं।

यह स्वर ही गीत की व्यथा को प्रकट कर देता है।

एक तो नारी का कण्ठ, दूसरे व्रजभाषा का लालित्य। ऐसी दशा में मीरा के गीत स्वतः ही संगीत के स्वर-संधान से फूटते हुए प्रवाहित होते हैं। वास्तव में स्त्री स्वयं एक गीत है। कदाचित ही संसार का कोई ऐसा नारी-हृदय हो जिसके रग-रग में यह गुण व्याप्त न हो। ऋतु, काल, भावना और शब्द-ध्वनि इन चारों का ऐसा सामंजस्य मीरा के गीत में हुआ है कि एक वार उससे जो कम्पन उत्पन्न होता है उसकी धुन हम इच्छानुसार पुनः याद कर मीरा के उद्गारों का प्रकृत चित्र देखने लगते हैं। उसके गीत संगीत के साथ-साथ भावों से ओत-प्रोत हैं और विशद अर्थ के बोधक हैं।

इन गीतों की यह विशेषता है कि शब्दों की गति ताल के अनुसार है, छन्द की मात्रा के अनुसार नहीं। कभी-कभी उसकी लय ऐसी उतरती-चढ़ती है कि मीरा के नृत्य की झलक सामने आ जाती है :

रे साँवलिया म्हारे आज रँगीली गणगौर छे जी।

आज और **रंगीली** पर गिरने वाली ताल घुंघरू की धुन की याद दिला देती है।

झूले के उतार-चढ़ाव का दृश्य सावन की इस रागिनी के शब्दों की गति से स्वयं प्रकट हो रहा है :

बरसै बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।

मीरा के अनेक पद ऐसे हैं जो विना गाये पढ़े ही नहीं जा सकते। उसके संगीत की एक यह भी विशेषता है कि वह हमारे दैनिक जीवन से मिला हुआ है और हमारी सुकोमल मनोवृत्तियों को जगाकर मीरा के साथ सहानुभूति उत्पन्न कर देता है। स्त्रियों की ढोलक का कितना स्वाभाविक स्वर इस कड़ी से निकल रहा है :

भाभी मीरा लाजे लाजे गढ़ चित्तौड़।
राणाजी लाजे गढ़ रा राजवी॥

रहस्यवाद

मीरा के गीतों में कभी-कभी सन्तों के ज्ञानात्मक रूपकों का आभास मिलता है। प्रेम और विरह का स्वाभाविक निवेदन करने के पश्चात वह कुछ चेतावनी देती हुई प्रतीत होती है। दीनता और विवशता से प्रारम्भ होकर गीत जव उपदेश देने लगता है तो उसका प्रभाव कुछ नष्ट हो जाता है। परन्तु वह केवल परिस्थिति का प्रभाव था। इससे मीरा की भक्ति-भावना में ज्ञानियों के सिद्धान्त-निरूपण का प्रयास करना उचित नहीं। इस प्रकार के धार्मिक गीतों में भी मीरा का भावुक हृदय गिरधर का ही प्रेम प्रकट करता है, उसमें ज्ञानियों के शून्य का ध्यान नहीं है।

कुछ थोड़े से गीत शुद्ध योग और ज्ञान-सम्बन्धी भी हैं, पर उनमें ईश्वर या आत्मा के सम्बन्ध में कोई रहस्य नहीं प्रकट किया गया है, केवल सन्तों की शैली का उन्हें अनुकरण-मात्र ही समझना चाहिए। ऐसे पदों में तीर्थ, व्रत, तिलक आदि की निन्दा की गई है और संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में सन्तों की प्रचलित भावना भी उनमें है। मीरा की भक्ति से कुछ थोड़ा-सा विरोध यहां देख पड़ता है, किन्तु इस प्रकार के पदों के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये मीरा के ही रचे हुए हैं। यदि मान भी लें कि उन्हीं के रचे हैं तो यही समाधान हो सकता है कि प्रेम पराभक्ति की ऊंची अवस्था पर पहुंच जाने पर लौकिक धर्माचारों को वह तुच्छ समझती थी। अपनी अनन्यता के वश ही वह कहती है :

नहिं हम पूजा गोरज्याजी नहिं पूजा अनदेव।
परम सनेही गोविंदो छे कांई जानो म्हारो भेद॥

जोगिन भी वह वनना चाहती हैं तो कृष्ण के साथ ही हम उसे देखते हैं :

मुद्रा माला भेष लूंरे खप्पड़ लेऊं हाथ।
जोगिन होय जग ढूंढ सूं रे रावलिया के साथ॥

निस्सन्देह, कई स्थलों पर मीरा जगत के नाना रूपों में एक अव्यक्त सत्ता का आभास पाती है। ज्ञान-पक्ष में वही ब्रह्म हो जाता है और भक्ति-पक्ष में प्रेम का कोई आलंवन—कृष्ण या राधिका इत्यादि। प्रेमिका अपनी तन्मयता के कारण प्रिय की ही मूर्ति सर्वत्र देखती है। इसीलिए मीरा ने व्यंग या उपालम्भ से काम नहीं लिया है और पपीहे को भी 'पपइया प्यारे' कहकर सम्बोधित किया है। वास्तव में मीरा का संकेत-मात्र रहस्यवाद की ओर है और उसमें भी कवीर आदि सन्तों की ही साधनात्मक भावना है। यथा :

नैनन वनज वसाऊंरी जो मैं साहव पाऊं।
इन नैनन मेरा साहव वसता डरती पलक न लाऊं री।
भृकुटि महल में वना है झरोखा तहां से झांकी लगाऊं री ॥

सूफियों की लौकिक से अलौकिक का संकेत करने वाली घाव-खंजर की यह अश्लाघ्य भावना मीरा के मधुर गीतिकाव्य में अवश्य कुछ खटकती है :

सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोणा होय !

भाषा

मीरा की रचनाएं दो रूपों में प्रधानतया मिलती हैं—राजस्थानी और व्रजभापा-मिश्रित एवं गुजराती और व्रजभापा-मिश्रित है। पंजावी, खड़ीवोली 'और पूर्वी का आभास भी उसमें कई स्थलों पर है। सन्त-साहित्य की भापा और शव्दावली का प्रभाव मीरा की रचना में दिखलाई पड़ता है; परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी सम्भव है कि सन्तों में प्रचलित होने के कारण मीरा की रचना में सन्तों ने विशेप परिवर्तन करके सन्तशैली की छाप लगा दी हो ! कारण जो कुछ हो, मीरा की भापा असली रूप में हमारे सामने नहीं है। जो मिलावट उसकी भापा में है, वहुत सम्भव है कि वह कई अंशों में मीरा की न हो। दूसरा कारण यह भी है कि मीरा की रचना में कृत्रिम सौन्दर्य मिल ही नहीं सकता था। कहीं-कहीं प्रवाह और माधुर्य में आघात अवश्य लगता है किन्तु भावना की हृदयग्राहिता में वल नहीं पड़ता। शव्दों में 'ण' का प्रयोग विदग्धतापूर्ण है। शव्दचयन की ओर मीरा की उमंग प्रेरित नहीं हुई थी। फिर भी उसकी भापा सरल और प्रसादगुणयुक्त है। यथा :

कुटिल भृकुटि तिलक भाल. चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना ॥

गीतिकाव्य की दृष्टि से मीरा पर जो कुछ प्रकाश डाला गया है उससे हम इस निष्कर्प पर पहुंचते हैं कि हिन्दी के गीत-कवियों की श्रेणी में मीरा का स्थान वहुत ऊंचा है। हिन्दी के वर्तमान आलोचक प्रायः अपने संस्कारों के अनुसार प्रचलित रूढ़ियों पर मुग्ध हो किसी भी कवि को सर्वश्रेप्ठ कह वैठते हैं। काव्य के विभाग में इस प्रकार की दृढ़ उक्ति प्रायः हानिकारक होती है। आलोचना के लिए कवि का अध्ययन अपने-अपने विभाग में करना चाहिए। मीरा से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह जायसी या तुलसीदास की भांति प्रवन्धकाव्य की रचना करने वैठती; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने क्षेत्र में उक्त कवियों से घटकर है।

गीतिकाव्य के कई अंगों में सूरदास मीरा से वहुत आगे वढ़ गए हैं; परन्तु मर्मस्पर्शी आत्मनिवेदन, हृदय की स्वाभाविक दशाओं की व्यंजना, संकेतमय चित्रण, प्रकृति के सामंजस्य में हृदय का तुलनात्मक स्वरूप, नारी-हृदय का प्राकृतिक चित्र और मधुर संगीत मीरा के हृदय को जितना निकट-सा ला देते हैं, उतना कुछ-कुछ मर्यादित वुद्धि वाले कलाप्रिय सूरदास का हृदय नहीं। कदाचित हिन्दी का कोई भी अन्य कवि मीरा के कोमल और वेदनापूर्ण विदग्ध हृदय तक नहीं पहुंच पाया है। काव्य का वाह्य शृंगार मीरा में नहीं है, पर उसका अमूल्य व्यक्तित्व उसका हृदय है, जिसकी पवित्रता और स्वच्छता से वशीभूत हो उसे अपना समझ हम हठात उसके उपासक वन जाते हैं।

वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधा

डा० विजयेन्द्र स्नातक

माधुर्य भक्ति को स्वीकार करने वाले वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधा का स्थान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं और उनकी पत्नी के रूप में रुक्मिणी का नाम प्रसिद्ध है। रुक्मिणी के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य पत्नियों के नाम भी पुराण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं, फिर राधा का नाम कृष्ण के साथ इतने अधिक सम्मान और पूज्य बुद्धि के साथ क्यों ग्रहण किया जाता है यह विचारणीय है। राधा को कृष्ण की वामांग सम्यता कहा जाता है और साथ ही उनकी 'ह्लादिनी शक्ति' भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओं की संचालिका हैं तो दूसरी ओर कृष्ण-द्वारा आराध्या भी हैं। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकालना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कृष्ण के विष्णु-रूप की माधुर्य भाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वर्यमंडित ही न मानकर माधुर्य-मंडित भी माना गया और इस भाव की परिकल्पना ने राधाभाव को पूर्ण विकास पर पहुंचाया। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव एवं शाक्त मत में शक्ति की कल्पना मिलती है जिसे कुछ विद्वानों ने राधातत्त्व का ही रूपान्तर माना है। किन्तु हम यहां केवल माधुर्य-भक्ति से सम्बद्ध चैतन्य, निम्बार्क और राधावल्लभीय सम्प्रदायों पर ही विचार प्रस्तुत करेंगे। अन्य सम्प्रदायों का विवरण अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। सहजिया सम्प्रदाय भी अपने को वैष्णव ही कहता है किन्तु उसमें माधुर्य का रूप मर्यादा-विहित नहीं है। वामाचार पद्धति के सम्मिश्रण से सहजिया वैष्णवों की भावना शाक्त मत के मेल में अधिक है, वैष्णवों की निष्ठा-साधना तथा भागवत परम्परा का उसमें निर्वाह प्रायः नहीं है।

चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा

चैतन्य महाप्रभु के जीवन की प्रमुख घटनाओं में उनका राधाकृष्ण-प्रेम कदाचित सबसे बड़ी घटना मानी जाएगी; क्योंकि इसी अद्भुत प्रेम ने उन्हें धार्मिक क्षेत्र में समर्थ क्रान्तिदूत के रूप में प्रस्तुत किया है। चैतन्य के उद्भव-काल में बंगाल, आसाम तथा बिहार में शाक्त मत का प्राबल्य था। शक्तिपूजा के नाम पर जो भीषण एवं वीभत्स कृत्य हो रहे थे, जनता को उनसे विमुख करने में राधाकृष्ण-कीर्त्तन, भजन और पद-गायन की परिपाटी ने चमत्कारपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किये। चैतन्य के विषय में प्रसिद्ध है कि वह स्वयं चंडीदास और विद्यापति के पदों का उन्मत्त भाव से गान करते हुए उनमें लीन हो जाते थे। उनकी तल्लीनता का आवेश भक्ति के निर्भर का उत्स बनकर उन्हें ही नहीं, समस्त परिकर और परिवेश को भी उसी भक्तिरस में निमज्जित कर देता था। यह भी प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु को दक्षिण की यात्रा में दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए थे जिनका नाम 'ब्रह्मसंहिता' और 'कृष्णकर्णामृत' है। ये दोनों ग्रन्थ चैतन्य महाप्रभु को परम प्रिय थे और ये उन्हें राधाभक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे। इन दोनों ग्रन्थों में राधा का नाम ही नहीं, वरन राधा का वर्णन भी मिलता है। चैतन्य को राधा-भक्ति की जो परम्परा अपने से पूर्ववर्ती संस्कृत तथा ब्रजबुलि-साहित्य से मिली थी, उसे उन्होंने पूरी तरह स्वीकार किया और अपनी साधना से उसे नवीन रूप देकर व्यापक एवं सर्वजन-सुलभ बनाया।

चैतन्य-सम्प्रदाय के 'प्रेमविलास' तथा 'भक्तिरत्नाकर' ग्रंथ में यह भी लिखा मिलता है कि वृन्दावन में

राधा की कृष्ण के साथ उपासना सोलहवीं शताब्दी से पहले प्रचलित नहीं थी। जब नित्यानन्द प्रभु की द्वितीय पत्नी जाह्नवी वृन्दावन गई और उन्होंने देखा कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ राधा की पूजा नहीं होती, तब उन्होंने नयन-भास्कर नामक व्यक्ति से राधा की मूर्त्ति तैयार कराकर वृन्दावन भेजी और वह मूर्त्ति जीव गोस्वामी के निर्देश पर श्रीकृष्ण के साथ स्थापित की गई। इससे पूर्व विष्णु की या बालकृष्ण की ही पूजा होती थी और उसी की मूर्त्ति रहती थी। इस किम्वदन्ती में कितना सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु राधा की पूजा से पहले बालकृष्ण की पूजा का प्रचार था यह तो सभी स्वीकार करते हैं, और इसमें भी विशेष विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि राधाकृष्ण की युगल उपासना का रूप भक्ति-क्षेत्र में आठवीं शताब्दी में विदित था। अतः 'प्रेमविलास' ग्रंथ की उक्त चर्चा को सर्वथा प्रामाणिक या असंदिग्ध रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

परकीया भाव

चैतन्य सम्प्रदाय में राधा का वर्णन परकीया-कान्ताभाव से किया गया है। राधा का सांगोपांग विवेचन करनेवाले श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थों में जिस रूप में राधा का वर्णन है वह परवर्ती माधुर्य भावपरक भक्ति-सम्प्रदायों में अनेक रूपों में स्वीकृत और समादृत हुआ है। राधा को परकीया रूप में वर्णन करने का मुख्य प्रयोजन प्रेमातिशय विधान कहा जाता है।[1] परकीया भाव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद भक्ति-सम्प्रदायों में पाये जाते हैं। परकीया भाव को प्रेम की चरम उत्कर्ष की स्थिति मानते हुए भी मर्यादावादी समाज में यह पद्धति सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं होती।

परकीया भाव को स्पष्ट करने के लिए हम चैतन्य के पश्चात बंगाल में जो सहजिया सम्प्रदाय विकसित हुआ, उसके परकीया-सम्बन्धी मन्तव्यों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। सहजिया सम्प्रदाय का परकीया भाव चैतन्य के परकीया भाव से सर्वतोभावेन साम्य नहीं रखता। उनकी परकीया की परिकल्पना साधना-परक होने से नवीन दिशा का संकेत देती है किन्तु परकीयात्व का मूल भाव उन्होंने चैतन्य से ही ग्रहण किया प्रतीत होता है। इससे सिद्धान्त-प्रतिपादन में भी उन्होंने 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि ग्रंथों का आश्रय लिया है। श्री मणीन्द्रमोहन वसु ने अपने 'पोस्ट सहजिया कल्ट' नामक ग्रंथ में परकीया भाव का रूप स्थिर करते हुए चैतन्य के शिष्य-वर्ग के ग्रंथों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि परकीया भाव का मूल स्रोत चैतन्य मत के सिद्धान्त-प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों में ही है।

परकीया का शाब्दिक अर्थ है दूसरे की (स्त्री)। काव्यशास्त्र में परकीया का अर्थ है:

रागेनैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्ता परकीया भवन्ति नाः॥

—उज्ज्वलनीलमणि (कृष्णवल्लभा)

वह स्त्री जो इस लोक या परलोक को छोड़कर उस पुरुष के प्रेम में लिप्त है जिसके साथ वह विधिपूर्वक विवाहित नहीं है, उसे परकीया कहते हैं। इसके विपरीत स्वकीया उसे कहते हैं जो विधिपूर्वक एक पुरुष के साथ विवाहित है और जो अपने पति की इच्छाओं को पूर्ण करने में तत्पर रहती है।

करग्रहविधिं प्राप्ता पत्युरादेशतत्पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीया कथिता इह॥

—उज्ज्वलनीलमणि

परकीया भाव को मानने वाले वेद और उपनिषद से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी

---

१. उज्ज्वलनीलमणि—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ७५ से ६६ तक।
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ४२७, लहरी ५।

में बौद्धमत में भी परकीया भाव का अनुसंधान कर लिया गया है। वेद का प्रमाण देते हुए अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है :

या पूर्वपतिं विद्यात्यं विन्दतेह परम्।
पञ्चौदनं च नावजं ददातो न वियोषतः ।।
समानलोको भवति पुन भूयापरः ततिः।
जो हजं पञ्चौदनं दक्षिणायोवित् ददाति ।।

—अथर्ववेद

अर्थात्, परकीया के सम्पर्क से मनुष्य परलोक में भी वैसा ही जीवन व्यतीत करता है। जो स्त्री अपने पूर्व पति के अतिरिक्त यदि दूसरा कोई पति स्वीकार कर लेती है तब इसके वियोग न होने के लिए उसे अनपंचोदन संस्कार करना चाहिए, यदि वह भी ऐसा ही करता है तो मृत्यु के बाद वे दोनों एक ही लोक में जाते हैं। परकीया-सम्बन्ध में स्वर्ग-प्राप्ति तक का विधान इस प्रकार खोज निकाला है।

चैतन्य सम्प्रदाय में प्रतीकात्मक परकीयाभाव की स्वीकृति है। सहजिया सम्प्रदाय में इन्द्रियों के संस्कारार्थ परकीयाभाव माना जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया भाव का ग्रहण काम-सम्बन्धों के आधार पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर किया गया है। राधा ईश्वर-प्रेम का आदर्श है। सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना करके राधा ईश्वर-प्रेम में लीन रहती है यही परकीयात्व का आदर्श है। परकीया प्रेम के प्रसंग में कैशोर का विधान किया गया है। 'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास कविराज लिखते हैं कि गोपियों का सहज प्रेम ऐन्द्रिय सुख-भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। पूर्ण साधर्म्य के लिए परकीया भाव के प्रेम की कल्पना का तात्पर्य कामेन्द्रिय-तृप्ति नहीं है। चैतन्यमत में गृहीत परकीया भाव लौकिक परकीयात्व का भाव न होकर अलौकिक है। राधा के दिव्य परकीयात्व को स्पष्ट करने के लिए 'रागमयकण' तथा 'रससारग्रंथ' में लिखा है—'राधा सच्चिदानन्द के आनन्द की प्रतीक है जो कृष्ण में भी है। यद्यपि वे दोनों (राधाकृष्ण) एक है तथापि उन्होंने भिन्न होकर लीलाएं की हैं। कृष्णदास कविराज तो चैतन्य को कृष्ण का अवतार मानते हैं और उनके अनुसार राधा कृष्ण के अखंड आनन्द का अंश है इसीलिए उसे ईश्वर की ह्लादिनी शक्ति कहा जाता है। इस शक्ति को सांसारिक रूप में हृदयंगम करने के लिए राधा और कृष्ण विवाहित नहीं थे। ऐसी कल्पना कर ली गई है किन्तु यह सब यथार्थ में कुछ नहीं है। 'उज्ज्वलनीलमणि' के अनेक मार्मिक प्रसंगों के अनुशीलन से एक और तथ्य स्पष्ट होता है कि लौकिक रूप में परकीयाभाव का जैसा रूप समाज में गृहीत होता है उसे वैष्णव भाव में स्थान नहीं है। उनकी दृष्टि में यह परकीया भाव तो सर्वथा दूषित ही रहा है और रहेगा। अतः भक्त को इसे तात्त्विक अर्थ में समझना चाहिए। लौकिक काम-प्रेम की सीमा में परकीयात्व का बोध नहीं हो सकता।

श्री सुशीलकुमार दे ने अपने शोध-ग्रंथों में चैतन्य सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए जीव गोस्वामी के 'षट्संदर्भ' ग्रंथ का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। **श्रीकृष्णसन्दर्भ** की विषय-वस्तु को हृदयंगम कर लेने पर यह निर्धारण करना कठिन नहीं रहता कि चैतन्य के मत में राधा की प्रधानता नहीं है। भक्ति का आलम्बन श्रीकृष्ण है। उसी को रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथों में स्वीकार किया है और जीव गोस्वामी ने भी उसी मत का विस्तार किया है। शक्ति और शक्तिमान का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्यशक्ति ही माना है तथा ह्लादिनी शक्ति का वह सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'पूर्णात्मा' भागवत कृष्ण ही है।[1] राधा उनका अंश-मात्र है जो भक्ति द्वारा स्वयं पूर्णात्मा

1. "The Shaktimat in his infinite bliss sports with his own Shaktis; in other words the godhead realises himself in his own bliss. The Shaktis are accordingly represented in terms of human relationship considered in its emotional aspects, as his conserts or wives; and his devout yet sensuous attitude entirely humanises the deity and his conserts and presents them in a loveable human relation to their associates and Devotees Radha, who is his eternal consert and greatest Bhakta, is represented as the highest

में लीन होने की साधना करती है। शक्ति और शक्तिमान को यद्यपि इतना अभिन्न स्वीकार किया गया है कि उनमें तात्त्विक दृष्टि से भेद होने पर भी प्रत्यक्ष में कोई भेद नहीं रहता। श्री राधा का प्रेम **मादनाटक** महाभाव तक उन्मत्त है, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में मादनाटक महाभाव की अभिव्यक्ति नहीं हैं। जैसे श्रीकृष्ण अखण्ड रस-रूप है, श्री राधा भी उसी तरह अखण्ड रसवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण जैसे स्वयं भगवान हैं, वैसे श्री राधा भी स्वयं शक्तिरूपा मूलकान्ताशक्ति हैं। सोहलवीं शताब्दी में गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण से ऊपर स्थान नहीं मिला था। शनैः-शनैः व्रजमंडल की राधा-विषयक भावना का इस सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। माधुर्य भाव का जो रूप शास्त्रीय था, वह कालान्तर में स्थूल रूप में व्यावहारिक होता गया और इस सम्प्रदाय में राधा की प्रधानता भी बढ़ती चली गई। आज स्थिति यह है कि व्रज के अन्य सम्प्रदायों की भांति इस सम्प्रदाय में भी राधा की प्रधानता हो गई है।

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा का वर्णन रासलीला-प्रसंग में गोपियों के अन्तर्गत हुआ है। रासलीला को आध्यात्मिक दृष्टि से अन्योक्तिपरक अर्थ द्वारा समझने के लिए कृष्ण को परमात्मा और गोपी (राधा) को आत्मा कहा जाता है, किन्तु रासलीला में गोपियां रस की सृष्टि या आविर्भाव की स्थिति सम्पन्न कराने वाली शक्ति की प्रतीक भी हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी जाती हैं। डा० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ-सम्प्रदाय में गोपी का स्वरूप स्थिर करते हुए लिखा है—'नित्य गौलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के रास की गोपिकाएं भगवान की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति हैं। राधा भगवान के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति है। एक से अनेक भगवान की इच्छा-शक्ति द्वारा अनेक अक्षर ब्रह्म रूप से सत् रूप जगत् और चिद् रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति हुई और स्वयं आनन्द-स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गोप-गोपी आदि गौलोक की आनन्दरूप शक्तियों की उत्पत्ति हुई। कृष्ण धर्मी हैं और गोपिकाएं उनका धर्म है। दोनों अभिन्न हैं, सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चांदनी का है। भगवान की रस-शक्तियों के बीच की रस की सिद्धशक्ति राधा स्वामिनी रूपा है। भगवान रस-शक्तियों के बीच पूर्ण रसशक्ति स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।'[१] इस वक्तव्य में राधा-कृष्ण की अंश-स्वरूपा शक्ति के रूप में उनका अभिन्न रूप मानी गई हैं। यह स्पष्ट है कि गोपियों में स्वामिनी और प्रमुख होने पर भी राधा कृष्ण का अंश ही है, अंशी तो स्वयं भगवान कृष्ण ही हैं।

अष्टछाप के कवियों ने गोपियों का तथा राधा का वर्णन ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा भागवतपुराण के आधार पर किया है। गोपीभाव को जिन दो रूपों में विभक्त करके वर्णन किया गया है उनमें ईश्वर की आनन्द-विधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति रूपा गोपी प्रथम कोटि में आती है, दूसरी गोपी वह है जो कान्ताभाव से ईश्वर की भक्ति करके अपने को धन्य करती है। इनके रसशक्ति तथा सिद्धभक्ता नाम भी दिये गए हैं।

सूरदास ने राधा का वर्णन आध्यात्मिक रूप में भी किया है। राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मानकर कहीं-कहीं अभेद-रूप से अद्वैत की भी स्थापना की गई है।[२]

एक दूसरे पद में जगत्-उत्पादिका शक्ति के नाम से भी राधा का वर्णन है। अष्टछाप के कवियों ने राधा के वर्णन में वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित शुद्ध दार्शनिक भाव ही तक अपने को सीमित न रखकर माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधा का जो रूप स्थिर हो रहा था, उसे भी समेटा है। स्वकीया-परकीया की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों ने राधा

form of his Hladini Shakti."

\+ \+ \+ \+

The Shaktis are non-different from the Bhagavat, inasmuch as they are parts or Ansha of the divine being; but the very fact that they are parts only makes the Superlativeness of divine attributes in applicable to them, and there is thus an inevitable difference in Bengal.

'Vaishanava Faith & Movement in Bangal, Page 214 —Dr. S. K. Dey.

१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५०५—६।

को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। सूरदास ने स्पष्ट रूप से राधा का कृष्ण के साथ विवाह वर्णन किया है।[2] नन्ददास ने **रासपंचाध्यायी** में गोपियों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें सिद्ध कोटि की पुनीत आत्मा कहा है।[3]

वल्लभाचार्य ने कृष्ण की अंतरंग और वहिरंग दो शक्तियां मानकर वहिरंग में माया को स्थान दिया है और अंतरंग में सन्धिनी, संवित और ह्लादिनी को रखा। ह्लादिनी ही राधा है। गोपियों को राधा के अंग-रूप में स्वीकार किया है। गोपियों के विभिन्न नाम-रूप गिनाने का भी यही कारण है। सूरदास ने गोपियों के नाम भी गिनाये है।

यथा मधुरिमा नीरे स्पर्शनं भासते तथा।
गन्धः पृथिव्यामनधो राधिकेयं तथा हरौ॥

कह कर राधा की व्यापकता और कृष्ण से अभिन्नता की गई है। राधा के वशवर्ती श्रीकृष्ण का भी कहीं-कहीं वर्णन हुआ है।[1]

सूर ने राधा को परकीया नहीं माना है अतः उसको परकीया-रूप में वर्णन भी नहीं किया है। हां, परकीया भाव में जैसी मनःस्थिति होती है उसका वर्णन अवश्य किया है। 'लोक लाज कुल कानि' की मर्यादा के सामने आने से वह असमंजस में पड़ी हुई सोचती है कि अब क्या करूं। इस वर्णन में वह कृष्ण से इसी रूप में मिलती है जैसे परकीया नायिका लुक-छिपकर अपने प्रियतम से भेंटती है। मिलने के लिए नाना प्रकार के बहाने खोज लेना, दोनों ओर से चलता है।

इसके बाद स्वकीया भाव का पूरा वर्णन है। यहां मानवती और गौरवशालिनी चित्रित की गई है। कृष्ण दक्षिण नायक है। राधा फिर भी अनन्य भाव से उन्हीं का ध्यान करती है। इस प्रसंग में सूर ने दम्पती-विहार का वर्णन किया है। मान के साथ खंडिता का भी वर्णन है। मोहन का नाम सुनते ही राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो जाता है। मान के लिए विविध कारण सूरदास ने प्रस्तुत किए हैं। एक कारण यह भी था कि कृष्ण अन्य नायिकाओं के पास रात में मिलने जाते है। एक बार मानवती राधा जब किसी तरह मान-मोचन में समर्थ न हुई तो कृष्ण ने दर्पण में पीछे से खड़े होकर नेत्र से नेत्र मिलाए। बस, राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो गया। वसन्त और झूले के प्रसंग में राधा दम्पती-रूप में वर्णित हुई है।

---

१. सूरसागर – दशम स्कन्ध, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ ३४५।

२. जाको व्यास वर्णित रास।
हे गंधर्व विवाहचित दै सुनो विविधि विलास॥
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्‍यो हृदय निवास।
नन्द सुत पतिदेव, देवी पुजै मन की आस॥

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३४७

३. धन्य कहत भई ताहि नाहिं कछु मन में कोपी।
निरमत सर जे सन्त तिन नि चूरामनि गोपी॥
इक नीके आराधे हरि ईश्वर वर जोई।
ताते अधर सुधारस निधरकपीवत सोई॥

—नन्ददास, रासपंचाध्यायी अ० २, पृष्ठ १०७
रामचन्द्रशुक्ल-सम्पादित

४. पुनि पुनि कहत हैं व्रजनारि।
धन्य बहुभागिन राधा तेरे वश गिरधारि।
धन्य नन्द कुमार धन्य तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोऊ नवल जोरी कोककला निजीत॥
हम विमुख तुम करुण सौतिन प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहिन एक सनेह।
एक छिन बिनु तुमहि देखे स्याम धर तन धीर।
मुरलि ये तुम नाम पुनि पुनि कहत है बलवीर। —सूरसागर ना० प्र० स० २४६०।

राधा का अन्तिम चित्र 'भ्रमरगीत' के पदों में वियोगिनी राधा का है। इस वर्णन में राधा का प्रेम मुखर न होकर अन्तर्मुख, शान्त और गम्भीर है। यशोदा तथा गोपियां तो विलाप करती हैं किन्तु राधा गम्भीर सोच में मग्न, नीचा सिर किये, नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। वह कृष्ण के पास अपना सन्देश न भेजकर ब्रज के गोप-गायों का सन्देश भेजती है। हरि के वापस न आने पर अपने प्रेम में ही त्रुटि देखती है। 'माधव-माधव' रटती हुई तद्रूप हो जाती है। गोपियों ने उद्धव से कहा था कि 'अति मलीन वृषभानुकुमारी'। इस पद में राधा की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का बड़ा ही सटीक वर्णन किया गया है। उद्धव ने मथुरा पहुंच कर कृष्ण से राधा का जैसा रूप देखा था वैसा ही कहा।

राधा माधव मिलन का अन्तिम दृश्य, राधा-माधव में अभेद स्थापित करने वाले गम्भीर अर्थ का द्योतक है। यही दार्शनिक भाव वल्लभाचार्य को अभीष्ट था।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा

निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा को भक्ति की परमाराध्या देवी स्वीकृत किया जाता है। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि राधाकृष्ण भक्ति की युगल उपासना का उदय इसी सम्प्रदाय में सर्वप्रथम हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों में, जो दशश्लोकी तथा अन्य ग्रंथों पर आश्रित हैं, राधा को श्रीकृष्ण के साथ स्थान प्राप्त है। दशश्लोकी के आठवें श्लोक में स्पष्ट ही 'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्' कहकर श्रीकृष्ण के ध्यान करने का आदेश होने पर भी 'अंगे तु वामे वृषभानुजां' कहकर 'स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्' में राधा का स्मरण कहा गया है। इस राधा-भाव को परवर्ती भक्तों ने पूरी तरह ग्रहण किया और इसी को मुख्यता देकर ब्रज भाषा के वाणी-ग्रंथों में विस्तार से उपस्थित किया।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की भावना में राधा स्वकीया है। स्वकीयाभाव को प्रतिपादित करने के लिए पुराणों के विविध प्रसंगों को भी स्वपक्ष में उदाहृत किया जाता है। रायाणपत्नी राधा को यहां कोई स्थान प्राप्त नहीं। रायाण की कथा को यह कहकर असत्य ठहराया जाता है कि जिस छाया राधा का रायाण से परिणय हुआ था, वह केवल मूर्खों के अज्ञान को दूर करने के लिए भगवान की एक लीला थी। वस्तुतः राधा-कृष्ण का नित्य दाम्पत्य सम्बन्ध है। यह दाम्पत्य अलौकिक एवं दिव्य होने से वर्णन का विषय नहीं आता।

नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्रीराधाकृष्णयोर्यतः।
पाणिग्रहणसम्बन्धो वर्ण्यते न च वर्ण्यते ॥
रसत्वं रसिकत्वं च श्रीयुग्मे सुप्रतिष्ठितम्।
दाम्पत्यं च तयोर्नित्यं तथात्वे कारणं यतः ॥[1]

श्रृंगार रस को इस सम्प्रदाय में भी वैष्णव भक्ति के माधुर्य पक्ष को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के समान प्रधान स्थान प्राप्त है। अतः श्रृंगार के संयोग-पक्ष, केलि-क्रीड़ा आदि के सम्पादनार्थ कान्ताभाव में दाम्पत्य भाव से ही राधा-वर्णन हुआ है। श्रृंगार को मूलाधार मानते हुए राधा में ही उसकी निष्पत्ति स्वीकार की जाती है।

द्विदलात्मको हि श्रृंगारालम्बनद्वयभेदतः।
तत्रैकं तु रमारूपं द्वितीयं विष्णुरूपकम् ॥
परमैव रमा राधा परमाह्लादविग्रहा।
विष्णुस्तु परमः कृष्णः परमानन्दविग्रहः ॥
अतो राधा च कृष्णश्च दम्पती वु सनातनौ।
रसस्य परमं रूपं यत्परं मधुरं सुखम् ॥
श्रृंगारस्याधिदेवत्वंमरास्तस्मिन्प्रतिष्ठितम्।

१—श्रीयुग्मतत्त्वसमीक्षा—ले० भगीरथ झा मैथिल, पृष्ठ २५२, दशममयूख, रस-प्रकरण।

यद्वस्तुनः पराकाष्ठा यस्मिन्दवे प्रतिष्ठिता।
तद्वस्तुनोऽधियो देवः स इत्येव व्यवस्थितिः॥

श्रीभट्ट-लिखित 'युगलशतक' और हरिव्यास देवाचार्य-प्रणीत 'महावाणी' में राधा का स्वरूप माधुर्य-भक्ति के सर्वथा अनुकूल और निर्गुण-भावना को लक्ष्य में रखकर वर्णित हुआ है। वर्तमान युग में नित्य विहार की दृष्टि से राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त होना स्वाभाविक है। राधा का दार्शनिक दृष्टि से जहां कहीं वाणी-ग्रंथों में विवेचन प्रारम्भ हुआ है वहां राधा शक्ति के रूप में ही आई है। युगल-शतक और महावाणी-ग्रंथों के राधा-वर्णन को पढ़कर निम्बार्क-सम्प्रदाय की राधा-भावना बहुत ही उज्ज्वल और गरिमामयी प्रतीत होती है।

प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्दस्वरूप।
तनु वृन्दावन जगमगे इच्छासखि अनुरूप॥
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिए इच्छाशक्ति।
प्राणेश हि प्रभुदावही प्रमदावली अनुरक्ति॥

'युगलशतक' के दोहों में राधा-कृष्ण का स्वरूप अधिक सुन्दर रूप में प्रदिपादित हुआ है। वर्त्तमान समय में राधा को ही इस सम्प्रदाय में भी प्रमुख स्थान मिला हुआ है। राधा के बिना कृष्णाराधन का विधान नहीं है। राधा ही परमाराध्या सर्वशक्ति के रूप में स्वीकृत की जाती है।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधा को उस अनादि वस्तु का नित्य रूप स्वीकार किया गया है जो इस अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त होकर अपनी नित्य क्रीड़ा से आनन्द की अभिव्यक्ति करती रहती है। वह अवाङ्-मनोगोचर होने पर भी अनभुवैकगम्य है। निर्गुण, निर्विशेष और निराकार रूप में उसका कहीं वर्णन नहीं किया गया। और न उसे केवल योगियों की निर्विकल्प समाधि का विषय ही माना गया। भक्त रूप जीव जब अपने निज रूप (सहचरी) को प्राप्त करके उससे दर्शन में प्रवृत्त होता है वह तभी माधव के साथ केलिक्रीड़ा-निरत अपनी आनन्ददायिनी दिव्य छटा की आभा बिखेरती हुई निकुंज-रंध्री से देखी जा सकती है। वह दर्शन भौतिक न होने हर भी निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण और भवबन्धनों को उच्छिन्न करने वाला है। आस्तिक दर्शनों में जिस प्रकार भगवान को सच्चिदानन्द-स्वरूप मानकर उसकी शक्ति का वर्णन किया जाता है तथा कतिपय वैष्णव सम्प्रदायों में उसी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म की 'आह्लादिनी शक्ति' का राधा नाम से व्यवहार किया जाता है, वैसा 'शक्ति' और शक्तिमान का भेद इस सम्प्रदाय में नहीं है। यहां तो राधा स्वयं आनन्दस्वरूप है। श्रीकृष्ण-आनन्द का नाम ही राधा है। राधा नित्यभाव है। उनका विहार भी नित्य है, रास भी नित्य है। यह भाव किसी बाह्य लौकिक कर्म, ज्ञानादि से अवगत नहीं होता अतः इसे ज्ञानकर्मादिसंस्पर्शशून्य कहते हैं। केवल प्रेमभाव, हितभाव ही राधा के स्वरूप-ज्ञान का मार्ग है, वह स्वयं राधा-भाव का ही नाम है। वह श्रीकृष्ण की उपासिका, आराधिका नहीं, वरन् श्रीकृष्ण की उपास्या, आराध्या हैं। वैसे दोनों क्रीड़ा के लिए प्रिया-प्रियतम रूप हैं, श्रीकृष्ण के एक राधा है और राधा के एक कृष्ण। यहां न कोई साधक है, न कोई साधना है और न कोई साध्य है। दोनों ही 'श्रीतत्त्व' के रूप हैं। दोनों एक हैं और एक होकर ही दो बने हुए हैं। परस्पर तत्सुखि-भाव से रसास्वादन के लिए नित्य प्रेमलीला करते हैं, विहार करते हैं और उसी में लीन हैं। उनका साम्राज्य ही विचित्र है। कामना-वासना-विहीन नित्य विहार में लीन रहने वाली राधा इस सम्प्रदाय में सर्वोपरि विराजमान है।[1]

१—राधासुधानिधि—
यत्पादाम्बुरुहैकरेणुकणिकां मूर्ध्ना निधातुं नहि,
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृति गोप्येकभावाश्रयाः।
सापि प्रेमसुधारसाम्बुधिनिधि राधापि साधारणी,
भूता कालगतिक्रमेण बलिना हे दैव तुभ्यं नमः॥
श्लोक-संख्या ७२

श्री हित हरिवंशजी ने अपने ग्रंथों में राधा का स्वरूप निर्धारण करते हुए उसे 'रसरूप' कहा है। 'आर्य पदावली' में 'रसो वै सः' द्वारा जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है और 'नेति-नेति' कहकर जिस दिव्य वस्तु का अनिवर्चनीयत्व स्थिर किया जाता है श्री हरिवंशजी के मत में वही तत्त्व 'राधा' है। इसलिए अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों में अवतार रूप में वर्णित स्वकीया-परकीया कान्ताभाव-पूर्ण राधा को यहां स्थान नहीं है।

'हितचौरासी' में श्री हितहरवंशजी ने राधा का वर्णन विभिन्न स्थितियों के आधार पर किया है। ये चौरासी पद तथा स्फुट वाणी के भी अधिकांश पद राधा-वर्णन से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन वर्णनों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में उन पदों को स्थान मिलेगा जो राधा के नेत्र, वदन, उरज, वक्षःस्थल, अधर, नाभि, चरण आदि विभिन्न अंगों की रूप-छवि प्रस्तुत करते हैं। दूसरे भाग में वे पद हैं जिसमें राधा की मनःस्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से वर्णन किया गया है, तीसरे भाग के पद नित्य विहार और रासलीला से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

'हितचौरासी' के जिन पदों में राधा की रूप-छवि का वर्णन है वे भी राधा के स्वरूप को प्रदिपादित करने में सहायक हैं। बाह्य रूप-चित्रण के माध्यम से लेखक ने उस दिव्य रूप का आभास दिया है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होने वाला है। राधा को सौन्दर्य की सीमा बताते हुए कवि ने उसे 'व्रजनवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करति अव ग्रीवां' कहा है। आगे रूप को व्यापक बनाने के लिए देवलोक, भूलोक, रसातल कहीं भी उसके रूप की समता नहीं पाई है। बाह्य प्रसाधनों से युक्त षोडश श्रृंगार से मंडित राधिका का वर्णन श्रृंगारपरक भावना से करते हुए उसे, मदन को जीतने वाले को अपने भृकुटि-विलास से जीतने वाली, कहा गया है। रूपवर्णन में नेत्रों का वर्णन सबसे अधिक पदों में हैं। नेत्रों में जिस ज्योति तथा सौन्दर्य की कल्पना की गई है वह सामान्य न होकर असाधारण तेज-दीप्ति, कान्ति से परिपूर्ण है। रीतिकालीन कवियों ने नेत्रवर्णन को 'नखशिख' का प्रधान विषय बनाया था। हितहरिवंशजी का एक पद नेत्र-वर्णन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसकी छाया बाद के अनेक कवियों में दृष्टिगत होती है। नेत्र-वर्णन के लिए हितचौरासी के पद विशेष रूप से पठनीय हैं।

रसमार्ग में 'रूप' को आकर्षण का केन्द्र स्थिर किया है। रस-रूपी रस्सी के दो छोर हैं। पहला सिरा है राग, जो साधक के मन में उत्पन्न होता है और उसी के पास रहता है। दूसरा छोर जो, उसे आकृष्ट करता रहता है, प्रियाजी का रूप है। इस रूप-छवि-दर्शन के लिए साधक का राग सतत वर्धमान रहता है। रस की रस्सी का यह दूसरा छोर इतना निर्मल और पवित्र होता है कि साधक कभी कालुष्य के पंक में नहीं फंसता और उसे पकड़ पाने के लिए अपनी समस्त रागपूर्ण साधनाओं से अपने को योग्य बनाता है।

राधा की मनःस्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से चित्रण करने वाले पद 'चौरासी' में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। राधा की मनःस्थिति को लौकिक शैली से प्रस्तुत करके राधा की कृपा, प्रियतम के प्रति अमृत-रस की वर्षा करने का भाव, प्रस्फुटित किया गया है। मोहनलाल के रस में मतवाली राधा केलि-क्रीड़ा करने के बाद जिस आनन्द का अनुभव कर रही है वह उस आनन्दानुभूति का प्रतीक है जो श्रुतियों में अनिवर्चनीय मानी जाती है।

राधा को परात्पर तत्त्व मानने और उसके सर्वशक्तिमती होने से उसके शक्ति-रूप में उपास्य होने का सन्देह होना सम्भव है। किन्तु शक्ति की आराधना की परिपाटी और उसके स्वरूप को समझ लेने पर यह सन्देह दूर हो जायगा। शक्ति की आराधना के लिए तांत्रिक कर्मकांड में जिन लौकिक कृत्यों का विधान है वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नहीं है। शक्ति की आराधना करने वाले उसे 'जगज्जननी माता' के रूप में समझते हैं। माता के चरणों में श्रद्धावन्त होकर उसके वात्सल्य की कामना करते हैं। शक्ति अपने पुत्रों को प्रसन्न होकर वरदान देती है। मातेश्वरी शक्ति का ऐश्वर्यजनित रूप भक्तों के आगे आतंकपूर्ण होकर आता है, उसके प्रति भयमिश्रित भावना के साथ भक्त उसकी कृपाकांक्षा से आगे बढ़ता है। किन्तु राधा की कल्पना कहीं भी माता के रूप में नहीं है। रस-सृष्टि के लिए मातृत्व-पूर्ण वात्सल्य की अपेक्षा न होकर प्रिया के कृपा-कटाक्ष की ही कामना की जाती है। राधा के जिस रूप का दर्शन नित्य विहार में सहचरी (जीवात्मा) को काम्य होता है वह भय, उद्वेग, आतंक आदि किसी लोमहर्षक भाव से युक्त न

होकर प्रेम-स्नेह, आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण हर्ष-पुलक से सहचरी को प्रफुल्लित करने वाला है। उसकी आराधना के लिए न तो कोई कृच्छ्र साधना की अपेक्षा है और न किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता। शक्ति को प्राप्त करने के लिए जिन बीभत्स रूपों का तांत्रिक ग्रंथों में प्रतिपादन है उनका लवलेश भी-राधा-भाव के क्षेत्र में गृहीत नहीं होता। फलतः राधा और शक्ति को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य ने इसी कारण शक्ति और शक्तिमान के रूप में राधा और कृष्ण का कहीं वर्णन नहीं किया। चैतन्य और वल्लभ मत में राधा की उपासना ह्लादिनी शक्ति के रूप में हुई है। उनके मत में भी शक्ति का तात्पर्य शाक्त मत वाला भाव नहीं है किन्तु शक्ति और शक्तिमान को पृथक स्वीकार कर लेने से राधा की स्थिति श्रीकृष्ण की तुलना में वैसी ऊंची नहीं ठहरती, जैसी राधावल्लभीय मत में है।

आराध्या राधा

माधुर्यभाव की भक्ति-पद्धति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों में साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में पर्याप्त मत-भेद है। सामान्यतः 'राधाकृष्ण' भक्ति का उल्लेख प्रायः सभी कृष्णभक्तिपरक सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है; किन्तु उसके स्वरूप एवं साध्य-साधन शैली में इतनी व्यापक विभिन्नता है कि 'राधाकृष्ण' शब्द से विभिन्न कोटिक पारमार्थिक आशय का ग्रहण होता है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय में राधाकृष्ण-भक्ति को अन्य सम्प्रदायों की भांति किसी दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि के विवेचन द्वारा स्थापित नहीं किया गया। मस्तिष्क या बुद्धि की सूक्ष्म छानबीन न करके **इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंशजी ने हृदय-संवेद्य रस को अपनी भक्ति-पद्धति का आधार बनाया। इसीलिए इस सम्प्रदाय की पद्धति को रस-पद्धति या रस-दर्शन कहा जाता है। इस रस की चरम परिणति 'नित्यविहार' में ही सम्भव है। 'नित्यविहार' शब्द इस सम्प्रदाय का एक गूढ़ाभिप्राय-व्यंजक शब्द है जो 'रस', 'आनन्द' या 'हित' के चरमोत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह एक विलक्षण कोटि का रस है जो साहित्यशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र में वर्णित विविध रसों से सर्वथा पृथक एवं नूतन है।**

विभिन्न कृष्णभक्तिपरक वैष्णव सम्प्रदायों में श्रुति-प्रतिपादित 'रसो वै सः'—रस रूप परम ब्रह्म—को ही श्रीकृष्ण-तत्त्व स्वीकार किया गया है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, तंत्रादिकों में इस श्रीकृष्ण-तत्त्व का 'परब्रह्म' के रूप में वर्णन करते हुए इसे अलक्षित तत्त्व मानकर अचिन्त्य और अतर्क्य समझते हुए 'नेति-नेति' कहकर निगूढ़ बताया है। यह श्रीकृष्ण-तत्त्व इन सम्प्रदायों में रूप, शृंगार, माधुर्य, अनुराग और रस की परावधि है। इससे परे कुछ और नहीं।

किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में तथा स्वामी हरिदास के मत में 'रसो वै सः' की परावधि श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नहीं की गई। राधा का साम्प्रदायिक स्वरूप प्रतिपादित करते हुए हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीकृष्ण भी यहां दिव्य किशोरी राधा के चरणों में विलुंठित होकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अतः अनिवर्चनीय इष्ट या साध्य तत्त्व की स्थिति श्रीकृष्ण में नहीं, अपितु राधा में होगी। इस भाव की विवृति बड़े स्पष्ट शब्दों में श्री हितहरिवंशजी ने अपने 'राधासुधानिधि' नामक ग्रंथ में की है। वे कहते हैं—'जिनका सुन्दर मोरपंख निर्मित मुकुट श्रीराधा के चरण-कमलों में लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सव से उल्लसित है, उन रस-घन मोहन-मूर्ति श्री हरि की मैं वन्दना करता हूं। वन्दनीय हरि राधा के कृपा-कटाक्ष की कामना करते हैं, राधा के आदेश-निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है।'[1]

हरि-आराधनीया राधा ही हित हरिवंशजी के मत में इष्ट-आराध्या है। उसी के रूप-दर्शन की बलवती स्पृहा सहचरी-रूप जीवात्मा की सबसे प्रबल कामना है। श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा को आराध्या और सेव्या मानकर 'राधासुधानिधि' में वे पुनः कहते हैं कि जो मधुर एवं उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीला-कला की परावधि, श्रीकृष्ण की भी आराधनीया तथा अनिवर्चनीया एवं शासनकर्त्री हैं। जो ईश्वर-रूप श्रीकृष्ण की शची तथा परम सुख-

---

१. रसघन मोहनमूर्त्ति विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित रुचिरशिखण्डं हरिं वन्दे॥

—राधासुधानिधि, श्लोक-संख्या २००

मय तनुधारिणी, परा और स्वतन्त्रा हैं वे वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।

श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिए और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे 'परतत्त्व' न मानकर राधा को 'परतत्त्व' रूप में स्थापित किया गया है तथा श्रीकृष्ण राधा की चाटुकारी और स्तुति करके अपने को कृतार्थ समझते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं जिस राधा का नाम जपते हैं, सखीगण के मध्य में जिसका गुणानुवाद करते हैं, प्रेमाश्रुपूर्ण वदन से जिसका बार-बार उच्चारण करते हैं, वही राधामृत मेरा जीवन है—यह उक्ति श्री हित-हरिवंश जी के आभ्यन्तर उद्गार को ध्वनित करती हुई राधा के जिस दिव्य स्वरूप का बोध कराती है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय में इष्ट या साध्य-कोटि में श्रीकृष्ण परतत्त्व नहीं वरन् 'राधा' ही परात्पर तत्त्व है। 'हितचौरासी' में भी इसी प्रकार के भाव स्थान-स्थान पर श्री हित हरिवंशजी ने व्यक्त किये हैं। राधा के कृपाकटाक्ष की कामना करते हुए वह कहते हैं—'नेकु प्रसन्न दृष्टि पूरन कर नहिं मो तन चितयौ प्रमदा तें।'

राधा के उपर्युक्त वर्णन को पढ़कर यह शंका होना स्वाभाविक है कि अन्य सम्प्रदायों तथा पुराणों में वर्णित राधा का स्वरूप भी तो यही है, फिर राधावल्लभ सम्प्रदाय में नवीनता क्या है? इस शंका के समाधान के लिए पहले तो हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि राधा का जैसा महत्त्व, स्वरूप, स्थान, पद यहां स्थापित किया गया है वैसा अन्यत्र कहीं और नहीं हुआ। पुराणादि ग्रंथों तथा अन्य साम्प्रदायिक वाणियों में राधा को कृष्ण की आराधिका बताया गया है। यहां वह कृष्णाराध्या है। उसका रूप सामान्य मानव के लिए ही अलक्षित नहीं, वरन स्वयं श्रीकृष्ण के लिए भी वह अलक्षित है। यह मन्तव्य किसी अन्य सम्प्रदाय में स्थिर नहीं किया गया। इसीलिए श्री हितहरिवंशजी ने अपनी मान्यता को दूसरों से पृथक रखते हुए तथा अन्य स्वीकृत सिद्धान्तों का खंडन करते हुए अस्वीकार कर दिया है।

संक्षेप में, श्री हितहरिवंशजी तथा स्वामी हरिदासजी की आराध्या इष्टदेवी राधा परात्पर तत्त्व श्रीकृष्ण की भी आराध्या है तथा अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित राधा से भिन्न एवं स्वतंत्र हैं। वह एक साधारण गोपी नहीं, वरन रस की अधिष्ठात्री एवं प्रेममूर्ति हैं। वह वृषभानु के घर में कृपा-परवश प्रकट तो होती हैं किन्तु चरण-रज ब्रह्मे-श्वरादि-दुर्लभ तथा सर्वार्थ-सार सिद्धि-दात्री हैं।[1] इनके अंग-अंग से उज्ज्वल प्रेमरस, लावण्य, महान कृपापूर्ण वात्सल्य सार का अम्बुधि प्रवाहित होता रहता है। यह माधुर्य साम्राज्य की एकमात्र भूमि और रस की एकमात्र सीमा हैं। यह राधा वेदों में भी परम गुप्त परम निधि हैं।[2] इनके पदनख की छटा की एक किरण से घनीभूत प्रेमामृत समुद्र की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है। इनकी चरण-कृपा से मुक्ति तुच्छ हो जाती है और समस्त विभव प्राकृत-से हो जाते हैं। राधा के इस अलौकिक दिव्य स्वरूप का वर्णन श्री हित हरिवंशजी ने हितचौरासी के निम्नलिखित पद में बड़ी सरल शैली से किया है—

सुनि मेरो वचन छबीली राधा,
तैं पायो रस सिन्धु अगाधा।
तू वृषभान गोप की बेटी,
मोहनलाल रसिक हँसि भेंटी।
जाहि विरंचि उमापति नाये,

---

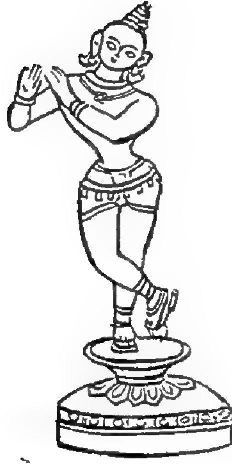
१. यो ब्रह्म रुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।
सद्यो वशीकरण चूर्णमनन्तशक्तिं तं राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि॥
राधासुधानिधि, श्लोक-संख्या ३

२. प्रत्यंगोच्छलदुज्ज्वलामृतरसप्रेमैकपूर्णाम्बुधिः
लावण्यैकसुधानिधिः पुरुकृपा वात्सल्यसाराम्बुधिः।
तारुण्यप्रथमप्रवेशविलसन्माधुर्यसाम्राज्यभूः
गुप्तः कोपि महानिधिर्विजयते राधा रसैकावधिः॥
राधासुधानिधि, श्लोक-संख्या १३५-१३६

तापै तू बनफूल बिनाये।
जो रस नेति-नेति स्रुति गाये,
ताकौं तैं अधर सुधा रस चाख्यौ।
तेरौ रूप कहत नहिं आवै,
(जैश्री) हित हरिवंश कुहुक जस गावै ॥

—हितचौरासी, पद-संख्या १८

श्री हित हरिवंशजी की रचनाओं में इस राधा-रूप आराध्य तत्त्व का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि हमने इस प्रसंग में अन्य महानुभावों की वाणियों को उद्धृत करना अनावश्यक समझा। यथार्थ में 'आराध्य तत्त्व' की स्थापना प्रवर्तक द्वारा ही होती है। स्वामी हरिदासजी ने अपने सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व स्थिर करके ब्रजभूमि को पूर्णत्व तक पहुंचाया है। निम्बार्काचार्य के बाद गो० विट्ठलनाथ, हित हरिवंश और स्वामी हरिदास ही राधा के प्रबल पोषक हुए हैं।



कृष्णोपासकों का सखी-सम्प्रदाय

श्री परशुराम चतुर्वेदी

कृष्ण की उपासना बहुत प्राचीन काल से होती चली आई है और इसे रामोपासना से कहीं अधिक पुरानी बतलाया जाता है। कृष्ण को धर्मोपदेशकों में भी गिना जाता है और यह भी कहा जाता है कि उन्होंने एक विशिष्ट भक्ति-मार्ग का प्रवर्तन किया था। उनके नेतृत्व में किसी सात्वत धर्म का स्थापित किया जाना तथा उनके ही आधार पर 'भागवत सम्प्रदाय' का प्रतिष्ठित होना भी मान्य रहता आया है। कृष्ण के व्यक्तित्व का एक परिचय हमें महाभारत में मिलता है जहां उन्हें एक समाज-नेता एवं राजनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु वहां पर भी और विशेष-कर उनके गीतोक्त धर्म का प्रचारक होने की दृष्टि से उन्हें एक विशिष्ट मत का संस्थापक मानने की प्रवृत्ति होती है। गीतोक्त धर्म की वह न केवल व्याख्या ही करते तथा उसका उपदेश देते हैं प्रत्युत उसके उपास्य भगवान तक स्वयं बन जाते स्पष्ट प्रतीत होते हैं। वहां वह अर्जुन के सारथी बनकर हमारे सामने आते हैं, उसका उत्साह भंग हो जाने पर उसे मित्रवत उपदेश देते हैं तथा ऐसा करते समय प्रसंगवश इन्हें वहां अनेक ऐसी बातें भी कह देनी पड़ती हैं जिनसे वह इन्हें, अन्त में अपना आराध्य-जैसा तक स्वीकार कर लेता है। वह इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा सुझाये गए मार्ग को भली-भांति समझकर तदनुसार आचरण करता है और युद्ध में प्रवृत्त होकर विजय भी प्राप्त कर लेता है। अर्जुन कृष्ण का एक अंतरंग सखा है जो इस प्रकार इनके एक दृढ़ भक्त के रूप में भी परिणत हो जाता है। कृष्ण का एक अन्य सखा उद्धव भी है जिसकी चर्चा महाभारत एवं श्रीमद्भागवत में अनेक बार की गई दीख पड़ती है और जिसके मोह में पड़ जाने पर यह उसे भक्ति का प्रेमात्मक रूप समझाकर सचेत कर देते हैं और वह भी इन्हें भगवान के रूप में देखने लगता है। अर्जुन एवं उद्धव ये दोनों ही कृष्ण के प्रति सखा-भाव रखने वाले उपासक हैं और इन दोनों का आदर्श, भक्ति-मार्ग की दृष्टि से सर्वथा अनुपम कहा जा सकता है। एक भक्त अपने उपास्यदेव को प्रायः अपने से उच्च एवं महान किसी स्वामी के रूप में देखा करता है और वह उसका सेवक बन जाता है। अपने आराध्य को इसी प्रकार अपने पति के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति सतीत्व की भावना प्रतिष्ठित रखने की भी परिपाटी देखी जाती है। इसके सिवाय उसे कभी गुरुवत पूज्य मानकर, श्रद्धा के साथ प्रेमपात्र मानकर, प्रेमभाव से तथा दिव्य शिशु के रूप में देखते हुए वात्सल्य भाव के साथ भक्ति प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी कभी-कभी काम करती पाई जाती है। परन्तु यह कदाचित कृष्णोपासना की ही एक प्रमुख विशेषता है जहां प्रत्यक्षतः एक ही स्तर के जान पड़ने वाले दो सखाओं में से भी एक दूसरे को परम आराध्य मान लिया करता है।

अर्जुन एवं उद्धव कृष्ण के समसामयिक तथा उनके निकटवर्ती सखा कहे गए हैं। ये दोनों इस कोटि के साथी थे जो उनके साथ बराबरी का व्यवहार कर सकते थे तथा प्रायः मनोविनोद में भी भाग ले सकते थे। एक का दूसरे की समय पर सहायता करना, उसके साथ किसी भावी कार्यक्रम पर विचार करना तथा कभी-कभी उसकी हँसी तक उड़ाना उनके लिए सदा सम्भव हो सकता था। कृष्ण ने अर्जुन को अपनी बहिन सुभद्रा का हरण कराने में पूरी सहायता दी जिसके कारण उन्हें बलराम का कोपभाजन तक होना पड़ा। उन्होंने उद्धव को ज्ञान का गर्व हो जाने पर, उसे व्रज की गोपियों के यहां भेजकर उनके द्वारा हास्यास्पद बनवाया। इस प्रकार, ऐसी अनेक बातों के होते हुए भी,

अर्जुन एवं उद्धव ने उन्हें न केवल अपने एक अंतरंग मित्र के रूप में, किन्तु वस्तुतः अपने परमकल्याणकारी तथा उद्धारक भगवान के विचार से भी अपनाया और इनकी गणना उनके प्रसिद्ध भक्तों में की गई। इन्होंने एक ऐसा आदर्श रखा जिसका प्रभाव, कृष्णोपासना के अधिक प्रचलित हो जाने पर पीछे भी बहुत पड़ा और इनका सख्यभाव भक्ति-मार्ग के लिए उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग सिद्ध हुआ तथा इसके अनेक भेद-प्रभेद तक किए जाने लगे। भक्ति के नवधा प्रकार की चर्चा करते समय सख्य को उसमें आठवां स्थान प्रदान किया गया और उसे बहुत से भक्तों ने अपनी वृत्ति के अनुकूल भी पाया। सख्यभाव सखाभाव से कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करता है और इसमें इसी कारण सखीभाव का भी समावेश किया जा सकता है। भक्तिभाव के जागृत होने की सम्भावना केवल किसी इष्टदेव के ही प्रति नहीं हो सकती, वह उसके स्त्रीरूप में देवी होने पर भी, हो सकती है और इसी प्रकार, भक्त होने का श्रेय भी केवल किसी पुरुष को ही नहीं दिया जा सकता, एक स्त्री भी उसके लिए सर्वथा उपयुक्त हो सकती है।

सख्य शब्द की अभिप्रायगत व्यापकता एवं विशेषता पर विचार करते समय हमारा ध्यान स्वभावतः सखा शब्द के पर्याय समझे जाने वाले कतिपय अन्य शब्दों की ओर भी जाता है जो बंधु, सुहृद एवं मित्र-जैसे हो सकते हैं। इन शब्दों के प्रयोग हम कभी-कभी बिना अधिक विचार किए ही कर देते हैं, किन्तु जब इनकी परीक्षा करने लगते है तो इनमें कुछ अंतर भी आ जाते हैं। उदाहरण के लिए, इनमें से 'बंधु' शब्द जहां विशिष्ट बन्धन अथवा लगाव की ओर संकेत करता है वहां 'मित्र' शब्द किसी ऐसे व्यक्ति के स्नेहभरे स्वभाव का भी पता देता है और इसी प्रकार 'सुहृद' शब्द जहां उसकी सहृदयता की सूचना देता है और उसे अभिमत का एकमत ठहराने का कारण उपस्थित करता है, वहां पर 'सखा' शब्द किन्हीं दो व्यक्तियों के पूर्ण भावगत सादृश्य की ओर भी इंगित करने लग जाता है। किसी एक प्राचीन श्लोक द्वारा कहा भी गया है :

अव्यागसहनो बन्धुः सदैवानुगतः सुहृत्।
एकक्रियं भवेन्मित्रं, समप्राणः सखा मतः॥[1]

और इससे भी हमें अपने उक्त मत का ही समर्थन मिलता है। इस श्लोक के अनुसार बन्धु वह है जो वियोग वा पृथक्त्व न सहन कर सकता हो; सुहृद उसको कहते हैं जो सदैव साथ दे; मित्र वह है जिसका कार्य-कलाप भी एक-जैसा हो तथा सखा उसे कहेंगे जो अपने प्राणवत एक समान मानता हुआ व्यवहार करे। अतएव, सखा एवं सखी इन दोनों शब्दों के आशय को पूर्णतः व्यक्त करने वाले 'सख्य' शब्द के अन्तर्गत हमें उक्त सभी शब्दों के भाव किसी रूप में आ गए प्रतीत होते हैं और इस दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। विशुद्ध सख्यभाव के जागृत हो जाने पर न केवल दो सखाओं में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रह जाता, अपितु उनके बीच जिस 'संकोचहीन पारस्परिक विश्वास' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है वह स्वयं भी किसी अनुपम एवं अनिवर्चनीय दशा की ही द्योतक है। उसे हम यदि चाहें तो केवल 'दो शरीर, किन्तु एक प्राण' मात्र कहकर भी पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकते और न उसका कोई यथार्थ मूल्यांकन ही कर सकते है।

सख्यभाव का 'भाव' शब्द भी यहां पर केवल सत्ता-मात्र का ही बोधक न होकर किसी दशा-विशेष को भी सूचित करता है। यह किसी कोरी मानसिक अनुभूति का भी परिचायक नहीं जिसकी चर्चा प्रायः मनोविज्ञान के क्षेत्र में की जाती है। इसका कुछ पता हमें उस कथन द्वारा चलता है जहां इसे 'प्रेम की प्रथमावस्था' बतलाया गया है।[2] यह वस्तुतः उक्त अनुभूति के साथ किसी ऐसी मौन स्वीकृति की ओर भी इंगित करता है जो पूर्वस्थिति में आमूल परिवर्तन ला देती है। भाव की दशा में आए हुए व्यक्ति की वृत्तियां पूर्ववत न रहकर अपनी इष्टवस्तु की ओर उन्मुख हो जाती हैं और पूर्णतया अपनाती हुई उसे और-से-और कर देती है। इस प्रकार सख्यभाव की स्थिति में आने वाले भक्त का पूरा परिचय भी हम केवल उसकी 'भक्ति' मात्र के ही आधार पर नहीं दे सकते। इसके लिए हमें उसकी उन

१. सरल बाङ्ला अभिधान (प्रथम भाग, द्वितीय खंड), पृ० ९८३
२. 'प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।'
—'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' (अच्युत ग्रंथमाला, काशी), पृ० १०२

मनोवृत्तियों का यथावत् स्वरूप भी समझ लेना पड़ता है जो उसके अपने इष्टदेव में रमी रहती है। सख्यभाव की भक्ति में, भक्त एवं भगवान दोनों के एक ही सामान्य स्तर पर आ जाने से, किसी प्रकार के भेद-भाव का कोई प्रश्न ही नहीं उठा करता। दोनों के पारस्परिक प्रणय की स्थिति ऐसी रहा करती है जिसमें एक ओर जहां अपने से बड़े के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त कर लेना असंभव नहीं रहता, वहां अपने से छोटे के प्रति स्नेह-भाव का प्रकट करना भी कभी कठिन नहीं हो पाता। वास्तव में यहां पर जिस प्रकार भक्त भगवान को भजा करता है उसी प्रकार स्वयं भगवान भी भक्त के भजन में लग जाता है। इस भक्त की दशा की समानता यदि कोई अन्य प्रकार की भक्ति कर सकती है तो वह नवीं अर्थात 'आत्म-निवेदन' की ही भक्ति हो सकती है। आत्म-निवेदन की दशा में भक्त अपना सभी कुछ भगवान के प्रति अर्पित करता हुआ दीख पड़ता है। जहां सख्य की स्थिति में उसे ऐसी कोई वस्तु देने को ही नहीं रह जाती जो अपनी कही जा सके। स्वयं दोनों ही एक-दूसरे के अपने बनकर रहा करते हैं। आचार्य रूप गोस्वामी ने इन दोनों को ही एक साथ 'दुष्कर' एवं 'विरल' भी बतलाया है।[1]

कृष्णोपासना वाले भक्त अपने इष्टदेव को स्वयं परमात्मा रूप समझते हैं और उन्हें सखा भी कहते हैं। यह सखा कहने की परिपाटी कुछ नई नहीं है और इसके कुछ उदाहरण हमें प्राचीन वैदिक साहित्य तक में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर परमात्मा को 'जीवात्मा का योग्य सखा' कहा गया है।[2] वहीं अन्यत्र उसे सम्बोधित करते हुए यह भी कहा गया है कि 'हे प्रभो, हे अग्ने, तुम ही हमारे प्रिय हो, मित्र हो और तुम्हीं सुखाओं के लिए स्तुति के योग्य सखा भी हो।[3] उससे वहां पर यह भी प्रार्थना की गई है कि उसकी कृपा द्वारा हम सखाभाव प्राप्त करने में समर्थ हो सकें। कहते हैं – 'हे प्रभो, श्रेष्ठ ऋचाओं द्वारा श्रेष्ठ गान गानेवाले हम भक्त दिव्य शक्ति की रक्षा करते हुए तेरे आनन्द से आनन्दित हों और सखाभाव भी प्राप्त करें।'[4] वैदिक ऋषियों को इस बात में पूर्ण विश्वास है कि जो परमात्मा को सखा-रूप में वरण कर लेता है वह पवित्र बन जाता है। उनका कहना है, 'जीवात्मा जब तुम्हारे सखाभाव को प्राप्त कर लेता है तो पवमान प्रभु उसके अंतःकरण को पवित्र एवं आनन्दित कर देते हैं'।'[5] इतना ही नहीं, उनकी यह भी धारणा है कि 'जो कोई उस शक्तिमान प्रभु को अपने प्रत्येक यज्ञकार्य द्वारा सखा बना लेता है वह फिर कभी कोई पाप नहीं कर सकता, वह पवित्र, त्यागी एवं ज्ञान से प्रदीप्त हो उठता है।'[6] इसी प्रकार 'मुण्डकोपनिषद्' के एक स्थल पर जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों को, पक्षी-रूप में वर्तमान, आपस में सखाभाव रखने वाला भी कहा है। वहां पर कहते हैं 'एक साथ रहने वाले दो पक्षी जो परस्पर एक-दूसरे के प्रति सखाभाव रखते हैं दोनों एक ही वृक्ष का आश्रय लेते हैं, किन्तु उन दोनों में से एक अर्थात जीवात्मा तो उस वृक्ष के कर्म-फलों का स्वाद लिया करता है और दूसरा अर्थात परमात्मा उसे नहीं खाता, प्रत्युत केवल देखता-मात्र रहा करता है।[7] अतएव, भक्त एवं भगवान के बीच स्थापित सख्यभाव का सम्बन्ध, प्राचीन परम्परागत होने के भी कारण, कुछ विशेष महत्त्व रख सकता है।

---

१. 'दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने', हरिभक्तिरसामृतसिंधु ३६,पृ० ६६

२. 'इन्द्रस्य युज्यः सखा', ऋग्वेद १-७-१२

३. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रोऽसि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः॥ ऋग्वेद ९-६१-४

४. पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमा वृणीमहे॥ ऋग्वेद ९-६१-४

५. न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः।
यदिन्न्विन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै। ऋग्वेद ८-६१-११

६. य उदीर्चीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ऋग्वेद, १-५३-११

७. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥१॥

—मुण्डकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक,
प्रथम खण्ड, पृ० १९५

परन्तु भक्तिमार्ग के उदय एवं विकास का इतिहास देखने से पता चलता है कि भगवान का उपास्यदेव का रूप सदा एक-सा ही बना नहीं रहा, प्रत्युत उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण कल्पनाएं भी की जाने लगीं। पहले वह चाहे विष्णु, शिव अथवा अन्य किसी भी प्रकार का रहा हो, वह केवल एक पुरुष-मात्र ही समझा जाता था। उसकी भावना के साथ किसी स्त्री-भाव का भी संयोग आवश्यक नहीं था। परन्तु, कुछ तो परम्परानुसार विकसित होती गई शिवशक्ति-विषयक धारणा के कारण, तथा उसी प्रकार, कतिपय वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में उत्तरोत्तर बदलती गई कल्पनाओं के कारण भी, क्रमशः उसे केवल एक के स्थान पर युगल का रूप देने की भी प्रवृत्ति हो चली। कहते है कि वैदिक युग के इंद्रदेव अपनी प्रार्थना करने वाले को सदा अन्न एवं जल दिया करते थे जिसे 'इरा' वा 'इला' कहा जाता था और इसी कारण, उन्हें इसका स्वामी समझा जाता था तथा इसे; ही पीछे धन माने जाने लगने पर, वह संपत्ति वा श्री के भी स्वामी कहे जाने लगे। 'विष्णुपुराण' के अनुसार इंद्रदेव का अधिकार फिर इस श्री वा लक्ष्मी पर से, दुर्वासा के शाप से, छिन गया और जब समुद्र-मंथन के अनन्तर उसका पुनर्जन्म हुआ, तो उस काल तक सर्वश्रेष्ठ देव बने विष्णु ने उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया।[1] यह विष्णु ही उन दिनों वैष्णव धर्म के सर्वप्रमुख उपास्यदेव हो रहे थे, इस कारण, उनके कृष्णादि अवतारों की पूजा की परम्परा चल निकलने पर, फिर उन्हीं के अनुकरण में इन देवताओं की भी पत्नियों के विषय में कल्पना की जाने लगी और इस धारणा को सांख्य के इस दार्शनिक सिद्धान्त से भी बहुत समर्थन मिला कि सृष्टि के आदि में पुरुष एवं प्रकृति नामक दो तत्त्व विद्यमान थे और इन दोनों की संयुक्त क्रिया द्वारा ही, विश्व का उदय एवं विकास हुआ करता है। वास्तविक कारण जो भी रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि, उपास्यदेव कृष्ण का रूप आगे चलकर राधाकृष्ण में परिणत हो गया, और इसी प्रकार की धारणा न केवल विष्णु के नारायण का लक्ष्मीनारायण होने तथा राम के सीताराम बन जाने में दीख पड़ी, प्रत्युत यह भी समझा जाने लगा कि इनमें से किसी भी पुरुषदेव का पूर्णरूप उसके पत्नीपरक अंश पर ही संभव हो सकता है।

यह कृष्ण के साथ संयुक्त समझी जाने वाली राधा कौन थी, इस विषय में अनेक प्रकार के अनुमान किये गए है। कुछ लोगों ने तो उसे कृष्ण की ही भांति ऐतिहासिक वा कम-से-कम पौराणिक रूप ही देने की चेष्टा की है। किन्तु दूसरों ने उसके विषय में कल्पना की है कि वह कोई लोकपरम्परा-द्वारा स्वीकृत कर ली गई नारी थी जो लोकगाथाओं के माध्यम से, आभीर जाति के साथ कहीं बाहर से आई थी और उसे यहां संयोगवश कृष्ण के साथ बराबरी का स्थान मिल गया। राधा को सभी कृष्ण की स्वकीया पत्नी भी स्वीकार नहीं करते और उसे वे परकीया का ही पद प्रदान करते हैं। परन्तु इतना मान लेने में कभी कोई आपत्ति भी नहीं करता कि वह उनकी सर्वप्रमुख प्रेमपात्री थी। जितना प्रेम उसकी ओर से कृष्ण के प्रति प्रदर्शित कराया जाता है उससे कम कभी इनकी ओर से भी उसके प्रति नहीं दिखलाया जाता और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इस विलक्षण ढंग से चित्रित किया जाता है मानों दोनों का एक-दूसरे से वियुक्त होना कभी सम्भव ही नहीं हो। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध में कभी-कभी यह भी कहा जाने लगा कि राधा वस्तुतः कृष्ण से भी श्रेष्ठ है। यही वह परमशक्ति है जिसके आधार पर कृष्ण सब-कुछ करने में समर्थ हैं और जिसके बिना उनके द्वारा कुछ भी नहीं किया जा सकता। तदनुसार कृष्ण को उपास्यदेव के रूप में स्वीकार करने वाले भक्तों के सामने जब, उनके प्रति अपने किसी-न-किसी उपासक-सम्बन्ध के स्थापित करने की समस्या आई तो वे स्वभावतः उस पर कुछ अधिक विचार भी करने लग गए। कृष्ण को अपना स्वामी मानकर उनकी प्रेयसी व अर्द्धांगिनी को स्वामिनी स्वीकार कर लेना तो कठिन नहीं था; किन्तु जहां उनके साथ किसी भक्त के दाम्पत्य भाव को स्वीकार करने का प्रश्न आता, वहां राधा उसकी सपत्नी कही जा सकती थी। और इसी प्रकार जहां सख्यभाव की स्थिति आ जाती, वहां पर भी कुछ-न-कुछ कठिनाई का ही सामना करना पड़ता था। इस दूसरी दशा में ही सखाभाव से कहीं अधिक उपयुक्त सखीभाव समझा जाने लगा और उसे ही पीछे अनेक भक्तों ने अपनाया।

---

१. बी० के० गोस्वामी, 'दि भक्ति कल्ट इन ऐंक्रूमेंट इण्डिया'
(कलकत्ता, १९२२ ई०), पृ० १०४।

कृष्णावतार को सदा लीलावतार अथवा लीलापुरुषोत्तम भी कहने की परिपाटी है। जहां राम के अवतार को, उसी प्रकार, मर्यादावतार अथवा मर्यादापुरुषोत्तम भी कहा करते हैं और, इसी के अनुसार इन दोनों के चरित्रों का वर्णन भी किया जाता है। कृष्ण के लिए कहा गया है कि उनका जन्म मथुरा में हुआ था। उन्होंने गोकुल में बाल-लीला की तथा वृन्दावन में रासलीला जैसी विनोदपूर्ण लीलाओं को, किशोरावस्था में कर चुकने के अनन्तर उन्होंने अपना शेष जीवन द्वारका में व्यतीत किया। उनके भक्तों के लिए यों तो उनकी सभी लीलाओं का गान अत्यन्त प्रिय है, किन्तु वे विशेषकर उनकी वृन्दावन वाली लीलाओं को ही अधिक महत्त्व देते हैं और उन अवसरों पर किये गए उनके विविध कृत्यों का स्मरण कर उनका गुणानुवाद किया करते हैं। गोकुल, एवं विशेषकर वृन्दावन, की लीलाओं में ही उन्हें राधा के भी प्रसंग मिला करते हैं जिनसे उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। वृन्दावन की विविध लीलाओं में भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रासलीला है जिसमें कृष्ण के साथ अन्य गोपियां भी सम्मिलित होती हैं। कृष्ण वहां पर वंशी-वादन करते हैं जिसका मधुर स्वर श्रवण कर ये गोपियां अपने-अपने घरों से निकल पड़ती हैं। ये उनके निकट पहुंचती हैं और इनके साथ वह रासलीला में प्रवृत्त हो जाते हैं। 'श्रीमद्भागवत' के अनुसार वह ऐसा करते समय ही अचानक अन्तर्धान भी हो जाते हैं जिससे गोपियां विकल होकर उन्हें ढूंढ़ने लग जाती हैं और उन्हें इसी प्रसंग में पता चल जाता है कि हम में से कोई एक विशिष्ट गोपी है-जिसके प्रति उनका प्रेम अधिक है। इस गोपी को ही अन्यत्र राधा का भी नाम दिया गया कहा जाता है और यह उनकी चिरसंगिनी का स्थान भी प्राप्त कर लेती है। द्वारका में रहते समय कृष्ण की अनेक पत्नियों के नाम गिनाये जाते हैं और उनमें से विशेषकर आठ को उनकी पटरानी भी बतलाया जाता है। परन्तु उनमें से किसी को भी कभी राधा-जैसा श्रेय प्रदान नहीं किया जाता और न अर्द्धांगिनी ही स्वीकार किया जाता है।

जिन कृष्णोपासकों का ध्यान उनके अकेले व्यक्तित्व की ही ओर विशेष रूप से रहा करता है उनकी तो बात ही और है, जिन्होंने राधा के स्थान पर उनकी चिरसंगिनी को रुक्मिणी का रूप दिया है उन्हें भी प्रायः राधातत्त्व की विशेषताओं का कभी भान नहीं हो पाता और न वे कभी इसके रहस्य को भली भांति समझने में ही समर्थ हो पाते हैं। रुक्मिणी कृष्ण की परिणीता पत्नी है और यह उनका साथ उस समय देती दिखलाई जाती है जब उनका जीवन किसी गृहस्थ-जैसा रहा करता है। वह द्वारका के निवासी हैं और वहां पर एक विस्तृत परिवार तथा जाति-कुटुम्ब वालों के बीच रहा करते हैं। उनका वहां का प्रत्येक कार्य अधिकतर प्रपंचात्मक जैसा लगता है और इसी दृष्टि से उसे वहां किया गया भी देखा जाता है। उनमें से किसी में भी उस लीलातत्त्व का कहीं समावेश नहीं रहा करता जो गोकुल अथवा वृन्दावन में किये गए कार्यों की विशेषता है। वहां पर हमें कभी इस बात का भी पता नहीं चल पाता कि किन-किन कार्यों में और कहां-कहां तक उनमें रुक्मिणी का भी हाथ हो सकता है। वहां की रुक्मिणी अथवा सत्यभामा आदि को भी हम रानी वा पटरानी तक भी कह सकते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर वे सभी अपने पति राजा कृष्ण से पृथक रहने वाली तथा उनसे भिन्न नारी रूप में ही विद्यमान जान पड़ती हैं। उनमें राधा की सी वह शक्ति नहीं जिसके द्वारा वे उनकी चिरसंगिनी तथा वास्तविक सहधर्मिणी भी सिद्ध की जा सकें। राधा चाहे कृष्ण की विवाहिता पत्नी नहीं, फिर भी उसका उनके साथ जो सम्बन्ध है वह नितान्त विलक्षण है। इसके लिए किसी वैवाहिक विधि द्वारा प्रामाणिकता की मुहर देना अपेक्षित नहीं। वे दोनों स्वभावतः एक और अद्वय हैं और वे उन कृत्यों में भी एक-दूसरे का साथ देते हैं जो सर्वथा निरुद्दिष्ट हैं, जो आनन्द के स्रोत हैं और जिन्हें इसी कारण 'लीला' की संज्ञा दी गई है। द्वारका में रुक्मिणी की कई सपत्नियां हैं और उनका एक-दूसरे के प्रति द्वेषभाव भी हो सकता है। उन्हें इस बात की सदा चिन्ता भी बनी रह सकती है कि किसको कृष्ण कितना कम वा अधिक प्यार करते होंगे। परन्तु राधा यहां पर पूर्ण स्वतन्त्र और निश्चिन्त है, क्योंकि हजारों गोपियों के बीच भी केवल एक ही राधा है जो कृष्ण के लिए उतनी ही प्रिय है जितने कृष्ण उसके लिए हैं।

कृष्ण की रासलीला में जिन गोपियों ने उनका साथ दिया था, उनके दृढ़ अनुराग एवं आत्मत्याग की बहुत अधिक प्रशंसा की जाती है। कहा जाता है कि वंशीवादन की ध्वनि कानों में पड़ते ही उन्होंने अपना सभी कुछ त्याग दिया और कृष्ण के सांनिध्य में आ पहुंचीं। उस समय जो जहां थी वहीं से वह आतुर होकर दौड़ पड़ी और उसने इसका

भी विचार नहीं किया कि मेरे इस प्रकार चले जाने का परिणाम क्या होगा। उनके यहां अपने से बड़े लोग थे जिनसे उन्होंने कोई अनुमति नहीं मांगी, छोटे थे जिनकी असुविधाओं की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और उनके धन-धान्यादि पूर्ण गृहस्थ थे जिनकी सुरक्षा की ओर उनकी दृष्टि न जा सकी। वे पगली-सी बनकर कृष्ण के प्रेम में लीन हो गई और उन्हें उस समय केवल इतना ही सूझ सका कि जिस प्रकार हो उनके निकट चला जाना है। फिर वहां जाकर भी वे, उनसे मिलकर ही, अपने घर न लौट सकीं, प्रत्युत उन्होंने रास-क्रीड़ाओं में उनका साथ दिया तथा उनके अन्तर्हित हो जाने पर उन्हें ढूंढ़ती तक फिरीं और फिर, आगे चलकर, जब-जब इस प्रकार के अवसर उपस्थित हुए तब-तब उन्होंने वैसा ही व्यवहार किया। उन गोपियों में से किसी को भी हम उनकी विवाहिता वा स्वकीया होने का पद नहीं प्रदान कर सकते और न उनमें से किसी पर भी हम कोरी कामुकता का ही आरोपण कर सकते हैं। वे विभिन्न गोपगृहों की स्त्रियां हैं जिनके साथ कृष्ण का कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं और वे उनके लिए परकीया-मात्र ही हो सकती हैं। परन्तु यह उनके प्रति पूर्ण रूप से अनुरक्त हैं और इनका प्रेमभाव उनके प्रति गम्भीर होने के साथ ही सर्वथा निश्चल एवं निर्मल भी कहा जा सकता है। गोपियों के इस अनुपम अनुराग की उत्कृष्टता के ही कारण इसे कभी-कभी 'गोपीभाव' की एक पृथक संज्ञा देने की भी परम्परा चली आती है।

जिन कृष्णोपासकों की भक्ति का रूप कांताभाव अथवा दाम्पत्य भाव का हुआ करता है वे गोपीभाव को विशेष महत्त्व देते हैं। ये गोपियों के साथ कृष्ण द्वारा की गई तथा पुराणादि में वर्णित प्रत्येक लीला का मनोयोगपूर्वक चिन्तन करते हैं, उनकी मन-ही-मन अनेक प्रकार की व्याख्या करते हुए अपूर्व रस का आस्वादन करते हैं तथा, इस प्रकार की भावनाओं में निरत रहना अपना कर्त्तव्य समझा करते हैं। कांताभाव के भक्तों के लिए गोपियां आदर्श रूप हैं, क्योंकि उनमें वे उन सभी गुणों का समावेश पाते हैं जो इसके लिए अनुकरणीय हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा भी मूलतः केवल एक गोपी-मात्र है। यह भी उसी प्रकार व्रज की रहने वाली है जिस प्रकार अन्य गोपियां हैं तथा यह भी कृष्ण के साथ पहले उसी प्रकार लीलाओं में भाग लेती है जिस प्रकार दूसरी किया करती हैं। राधा के अतिरिक्त गोपियों में से, कतिपय अन्य के नाम भी लिये जाते हैं और उन्हें ललिता, चन्द्रावली, विशाखा आदि कहा जाता है। परन्तु ऐसी गोपियों के सम्बन्ध में यह भी बतलाया जाता है कि वे राधा की निकटवर्त्तिनी सखियां थीं और उन्हें इसकी सहचरी का भी पद दिया जाता है। गोपियों का वर्गीकरण, इस प्रकार, तीन दृष्टियों के अनुसार किया गया कहा जा सकता है जिनमें से एक केवल राधा-मात्र को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रदान कर उसे पृथक वर्ग में रखना चाहती है, दूसरी उसकी सहयोगिनी सखियों को औरों से अलग कर लेती हैं, तथा तीसरी के आधार पर अन्य सभी उस कोटि में रख ली जाती हैं जिसे कोई विशेषता न देते हुए हम साधारण मात्र ही कहकर रह जाते हैं। परन्तु, उपर्युक्त गोपीभाव के अनुसार हमें इन सभी के ऊपर, केवल उनके कृष्ण के प्रति प्रदर्शित अनुराग की दृष्टि से ही विचार करना पड़ता है। अतएव, यदि हम राधा की विशिष्ट स्थिति के कारण, उसे दूसरी गोपियों से कहीं विलक्षण वर्ग की मानने लग जायं तो उस दशा में उसके प्रेमभाव को भी केवल किसी सामान्य स्तर का ही समझकर चुप नहीं रह सकते और उसे महाभाव अथवा इस प्रकार की कोई अन्य संज्ञा भी प्रदान कर सकते हैं। कांताभाव के कृष्णोपासकों ने इसी कारण, अपने लिए प्रायः महाभाव का ही उच्चादर्श रखने की अभिलाषा प्रकट की है।

इस महाभाव की व्याख्या करना तथा इसके स्वरूप को यथावत शब्दों में प्रकट करना अत्यन्त कठिन है। इसका वर्णन कदाचित वही कर सकता है जिसे इसकी अनुभूति हो सकती है। और वह भी सम्भवतः इसे पूर्ण रूप में व्यक्त करने का कोई सुलभ साधन नहीं पा सकता। इसकी अनिवर्चनीयता का अनुमान केवल इस विचार से भी किया जा सकता है कि यह उस प्रेमभाव का उत्कृष्टतम रूप है जिसकी हमें कभी ओर-छोर नहीं मिला करती और जिसके साधारण रूप की गहराई तक को ठीक प्रकार से जांच पाने में हम अपने को सदा असमर्थ पा लिया करते है। प्रेम का एक निकृष्टतम रूप हमें काम-भाव की उस मनोवृत्ति में मिला करता है जो साधारण पशुओं तथा लघुजीवों में भी काम करती दीख पड़ती है। उसे हम प्रायः बायोलॉजीकल अथवा प्राणिवर्गीय मूल प्रवृत्तियों में गिना करते हैं और उसे उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तक ठहराते हैं। हम उसीके कारण, तथा उसके आधार पर ही, स्त्री-पुरुषों के बीच यौनपरक पार-

स्परिक आकर्षण का भी अनुमान किया करते हैं और कभी-कभी हम यहां तक भी स्वीकार कर लेने से नहीं हिचकते कि अपने समाज के भीतर हमें जो कुछ भी आत्मीयता का सम्बन्ध दीखता है उसके मूल में केवल वही प्रवृत्ति हो सकती है। उसका मूल बीज शारीरिक है, विकास-पद्धति मानसिक है तथा उसका परिणाम हमें अपने सामाजिक व्यवहारों के बीच तक देखने को मिला करता है। परन्तु इस प्रकार की भावना साधारणतः केवल यहीं तक जाकर काम करना अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेती है और इससे आगे बढ़ना अनावश्यक समझती है। इस दृष्टि से सोचने वाले प्रायः उन बातों की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया करते जिनका सम्बन्ध ईश्वरपरक प्रश्नों के साथ रहता है। वे यदि इस प्रसंग को लेकर चलते भी हैं तो वहां पूरा मनोवैज्ञानिक चिन्तन एवं प्रयोग काम में नहीं लाया जाता, जिसका एक कारण यह भी हो सकता है जो लोग उक्त मत को निर्धारित करने वाले विशेषज्ञ समझे जाते हैं। वे धार्मिक वा आध्यात्मिक जीवन को भी साधारण सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य अंग मानकर कभी आगे नहीं बढ़ते और न यही समझा करते हैं कि इसका सर्वथा त्याग कर देने पर उनका अध्ययन कभी पूर्ण कहलाने योग्य नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक अनुसन्धान का वास्तविक उद्देश्य उन सारे प्रमुख प्रश्नों का उत्तर पाना है जो हमारे साधारण जीवन तक में उठते रहा करते हैं। ये प्रश्न विविध हैं और अनन्त-से भी लगते हैं; जिस कारण, हमें यह कह देने का कदाचित कोई भी अधिकार नहीं कि उनके स्वरूप अमुक प्रकार के ही हो सकते हैं अथवा यही कि यदि अमुक प्रकार के ही नहीं हुए तो उन्हें हम विशुद्ध वैज्ञानिक का नाम नहीं दे सकते। ऐसा करना सम्भवतः विज्ञान की कोई मनमानी सीमा निर्धारित करके उसकी महत्ता को कम कर देने के तुल्य है जो कभी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। विज्ञान का क्षेत्र असीमित है। क्योंकि विश्व की समस्याएं भी अनन्त और असीमित हैं; और यदि यह वस्तुतः विकासशील और प्रगतिमान कहला सकता है तो इसमें भी सन्देह नहीं कि उसके आगे कभी अनेक ऐसी बातें भी आ सकती हैं जो आज के वैज्ञानिकों के लिए कभी स्वप्न में भी सम्भव नहीं हैं। इसके सिवाय मानव-जीवन पर सर्वांग रूप से विचार करते समय हमें यह भी समझते देर नहीं लग सकती कि उस दृष्टि से देखने पर वस्तुतः दर्शन, विज्ञान, धर्म, अथवा किसी भी अन्य इस प्रकार के क्षेत्रों के बीच कोई सीमापरक व्यवधान खड़ा कर देना स्वयं अवैज्ञानिक मार्ग का अपनाना कहला सकता है। सभी ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी विद्याएं एक ही विश्व के रहस्यों के उद्घाटन की ओर यत्नशील हैं। इस कारण, उनमें से कोई भी किसी दूसरे से सर्वथा पृथक रहकर काम नहीं कर सकती और न, इसी प्रकार उनमें से किसी एक को दूसरे के क्षेत्र से अपरिचित बनकर सत्य का पता लगाने में कभी सफलता ही मिल सकती है। देखने में कामशास्त्र एवं अध्यात्म-विद्या के बीच महान अन्तर जान पड़ सकता है; किन्तु यदि उनमें से दोनों को एक ही सर्वांगपूर्ण जीवन के दो आवश्यक अंगों पर अपने-अपने ढंग से विचार करके उसे समझने के साधन मान लिया जाय तो वस्तुतः कोई भी हानि नहीं हो सकती। आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देने वाले बहुत से लोगों ने तो अपनी ईश्वर वा ब्रह्मपरक अनुभूति का परिचय देते समय उसे, संयोगानन्द अथवा कम-से-कम तदनुकूल मनोवृत्ति की चर्चा करते समय, उसे किसी कामुक की कामासक्ति के क्षेत्र में लाकर ही स्पष्ट किया है। उदाहरण के लिए, 'बृहदारण्यकोपनिषद' के ऋषि ने प्राज्ञात्मा वा परमात्मा-विषयक अनुभूति का वर्णन करते समय, उसे प्रियतमा के आलिंगन-जनित आनन्द का दृष्टान्त देकर समझाया है,[1] तथा गोस्वामी तुलसीदास ने भी राम के प्रति अपने प्रेम को किसी कामी के नारी-प्रेम के सदृश होना कहा है।[2]

अतएव यदि विषय-सुलभ कामभाव को हम प्रेमतत्त्व का भौतिक मूलबीज एवं स्थूल रूप मानकर चलें और उसके क्रमिक मानसिक विकास-जनित सूक्ष्मतर रूपों पर दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ सकें, तो इसमें आश्चर्य नहीं कि हमें उसके उस आध्यात्मिक रूप का भी कुछ-न-कुछ परिचय मिल जाय, जिसकी कल्पना 'महाभाव' की संज्ञा देकर की जाती है और जिसे उसकी परिस्थिति की भिन्नता के कारण हम कुछ और समझ लेते हैं। प्राथमिक वा प्रारम्भिक कामभाव तथा उस अन्तिम महाभाव के बीच अनेक स्तर हो सकते हैं और विभिन्न उपादानों तथा अवस्थाओं के अनुसार, वे क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम होते चले जा सकते हैं, किन्तु उनके मूलतः एक होने में किसी प्रकार का सन्देह

१. तद्यथा प्रियया स्त्रिया परिष्वक्तो—अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो इ० । बृहदा० ४-३-२१

२. कामिहिं नारि पियारि जिमि—तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम । —मानस (उ० का०)

करने की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती और न उसके किसी धार्मिक-जैसे क्षेत्र में जा पड़ने से उसकी वैज्ञानिक दृष्टि से उपेक्षा ही की जा सकती है। क्षुद्र प्राणियों तथा पशुओं में पाई जाने वाली कामुकता का भाव निम्नतम श्रेणी का समझा जा सकता है। वहां पर प्रेमतत्त्व के नाम से प्रकट होने वाली मनोवृत्ति का प्रायः सर्वथा अभाव रहा करता है। कम-से-कम यह कभी-कभी तथा स्वल्प मात्रा में ही दीख पड़ता है। परन्तु मानव जाति के पुरुष एवं स्त्री में उपलब्ध होने वाले ऐसे मनोविकार के विषय में भी हम ठीक इसी प्रकार नहीं कह सकते। यहां पर उसमें उतनी सहज वृत्ति का तत्त्व नहीं रह जाता। वह मानव-समाज के अन्तर्गत काम करने वाले लज्जा, संकोच, आभिजात्य जैसे विभिन्न भावों द्वारा मर्यादित और सौन्दर्यबोध, कर्त्तव्यज्ञान तथा अन्य अनेक उच्चतर भावों द्वारा परिष्कृत भी होकर, क्रमशः अपेक्षाकृत अधिक मानसिक रूप ग्रहण किये हुए रहता है, जिस कारण उसका स्तर बहुत-कुछ ऊंचा हो जाता है। एक मनुष्य के लिए उसकी पत्नी केवल भोग्य वस्तु-मात्र नहीं रह जाती, प्रत्युत यह उसकी संगिनी तथा सहधर्मिणी तक बन जाती है और इसी प्रकार वह अपने समाज के भीतर जिस आत्मीयता का अनुभव करता है वह कभी-कभी निःस्वार्थ भाव से भी उत्पन्न होती है। तदनुसार हमें यहां पर यह भी दीख पड़ता है कि जो मनुष्य जितने ही उच्चकोटि के समाज का सदस्य होता है उसकी भावना प्रायः उतने ही उच्च स्तर पर प्रश्रय पाती हुई जान पड़ती है और उसका स्वभाव उत्तरोत्तर उदार से उदारतर बनता चला जाता है। फलतः उसकी आत्मीयता का भाव भी जो प्रत्यक्षतः प्रेमतत्त्व पर ही आश्रित रहता है अपना क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत करता चला जाता है और इस बात की पूरी सम्भावना भी हो जाती है कि वह एक दिन विश्वात्मक तक बन जाय। हम इसी बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मूल रूप में पाये जाने वाले काम-भाव का उत्तरोत्तर उदात्तीकरण होते जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है और इसी कारण उसके जिस अन्तिम रूप की हम कल्पना कर सकते हैं वह उपर्युक्त 'महाभाव' का भी हो सकता है। धार्मिक वा आध्यात्मिक क्षेत्र की बात होने के कारण-मात्र से ही, हमें इसे कोरा कपोल-कल्पित मानकर टाल देना न तो उचित है और न वैज्ञानिक ही होगा।

जिस आध्यात्मिक दशा को 'महाभाव' कहा जाता है उससे मिलती-जुलती मनःस्थिति के ही किसी भाव को सख्यभाव के अनुसार उपासना करने वाले कृष्ण-भक्तों ने 'सखीभाव' की संज्ञा दी है और उसे अपनी दृष्टि से सर्वोपरि स्थान भी प्रदान किया है। यह सखीभाव क्या है? यह साधारणतः समझ लेने की परम्परा दीख पड़ती है कि भक्तों द्वारा अनुभूत कांताभाव वा दाम्पत्यभाव, गोपीभाव, महाभाव तथा सखीभाव सभी मूलतः एक ही हैं और उनमें किसी प्रकार का अन्तर ढूंढने का प्रयास करना आवश्यक नहीं है। इनमें वास्तव में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं हो सकता; किन्तु यदि इनकी तुलना इन्हें पृथक-पृथक स्वीकार करने वाले भक्तों के ही अनुभवानुसार की जा सके तो न केवल उनके स्वरूपों का पता चले, अपितु इनमें अन्तर्हित रहस्य भी खुल सके और हम इनके धार्मिकता द्वारा आच्छादित तत्त्व की एक झांकी भी पा सकें। कांताभाव अथवा दाम्पत्यभाव उस मनोवृत्ति को कह सकते है जिसे अपनाकर कोई भक्त अपने इष्टदेव को पतिवत मानने लग जाता है और तदनुसार अपने को उसकी पत्नी के रूप में समझते हुए उसकी उपासना में प्रवृत्त हुआ करता है। इस प्रकार, परमेश्वर को अपने पति के रूप में स्वीकार कर लेने का यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि वह किसी भक्त के लिए, साधारण सामाजिक दृष्टि के अनुसार, किसी विवाहित पुरुष का रूप धारण कर लेवे तथा यह उसकी भार्या बनकर व्यवहार करने लगे। उसका वास्तविक अभिप्राय केवल इतना ही मात्र है कि यह उसे ऐसे दृढ़ानुराग के साथ अपना मान ले जैसे कोई सती पत्नी अपने पतिदेव को मान लेती है। यहां पर प्रश्न केवल प्रेम-भाव की उस पर्याप्त मात्रा का ही है जो पति-पत्नी-भाव में दीख पड़ती है, दोनों का बाह्य सम्बन्ध केवल गौण है। इसी प्रकार हम गोपीभाव के लिए भी कह सकते हैं कि इस प्रकार की मनोवृत्ति की कल्पना केवल पौराणिक दृष्टान्तों के ही आधार पर की गई है और समझ लिया गया है कि गोपीभाव वाले भक्तों की मनोवृत्ति का रूप उस आदर्श प्रेमभाव का जैसा हो सकता है जिसे 'श्रीमद्भागवत' आदि पुराणों में वर्णित रासलीलादि में भाग लेने वाली व्रजांगनाओं का था; और वह, इसी कारण, अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का होगा। यहां पर भी किसी भक्त के लिए गोपी-रूप में परिणत हो जाना वैसे ही आवश्यक नहीं जैसे कांताभाव के उपासक के लिए कहा जा सकता है। यहां पर भी उक्त गोपीभाव शब्द प्रेम-भाव की अधिक मात्रा को ही स्पष्ट करने मात्र के लिए व्यवहृत किया गया है।

हम इसी के अनुसार महाभाव शब्द की भी व्याख्या कर सकते हैं और कह सकते हैं कि यहां पर भी उक्त वर्णन-शैली ही काम करती है। यहां पर केवल इतनी ही अधिक कठिनाई पड़ सकती है कि इसके आदि में लगा हुआ 'महा' शब्द उपयुक्त कांता अथवा गोपी जैसे शब्दों का-सा किसी स्पष्ट वस्तु की ओर निर्देश नहीं करता, प्रत्युत प्रत्यक्षतः भाव शब्द के अर्थ को केवल अधिक गम्भीर-मात्र बना देता है। परन्तु यदि महाभाव शब्द के प्रयोगों पर उसकी प्रासंगिक दृष्टियों से विचार करें तो पता चलेगा कि यहां पर भी उसका अभिप्राय वैसा अस्पष्ट नहीं जैसा हम प्रायः समझ लिया करते हैं और यहां वह केवल उस मनोवृत्ति का परिचायक है जो राधा की कृष्ण के प्रति अपने प्रेमभाव की अनुभूति करते समय रही होगी तथा जो इसी कारण, सर्वाधिक गूढ़ और महान भी कहला सकती है। राधा कोई साधारण प्रेमिका नहीं है और न उसका सम्बन्ध कृष्ण के साथ केवल उन्हें एक साधारण प्रेमपात्र मानकर ही निर्मित है। यदि कृष्णोपासकों की धारणा के अनुसार विचार किया जाय तो वे दोनों ही तत्त्वतः एक और अभिन्न हैं, जिस कारण दोनों के पारस्परिक प्रेमभाव की कल्पना करते समय हमें उसे उस रूप तक का मान लेना पड़ सकता है जो परमादर्शतः सम्भव हो सकता है। फलतः 'महाभाव' की मनोवृत्ति के साथ उपासना करने वाले कृष्णभक्त को उसके लिए सर्वप्रथम राधाभाव में आ जाना भी आवश्यक हो सकता है जो स्वयं अत्यन्त कठिन और दुरूह कहा जा सकता है और जो, इसी कारण, उक्त मनःस्थिति को और भी ऊंची बना देता है। प्रत्यक्ष है कि यहां पर भी कोई भक्त अपने को राधा की जैसी स्थिति में डालकर ही 'महाभाव' का अनुभव कर सकता है। उसके जीवन में राधा के जैसा व्यवहार करने की मनोवृत्ति आ सकती है; किन्तु यह इसके कारण, स्वयं राधा ही नहीं बन जाया करता।

यह महाभाव भी, राधा के साथ विशेष रूप से सम्बन्धित होने के कारण, कांताभाव अथवा गोपीभाव का ही एक स्तर-विशेष हो सकता है और इसके लिए भी हमें अन्य प्रकार के किसी पुरुष एवं स्त्री के ही पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ सकती है। परन्तु सखीभाव के लिए ऐसी बातों का होना अनिवार्य नहीं और न इसे केवल कांताभाव के ही भीतर सीमित रखा जा सकता है। सखीभाव के उपासक भक्त अपने को कृष्ण की कांता वा प्रिया बनकर ही भक्तिभाव प्रदर्शित करना नहीं चाहते। ये अपने को राधा की उस अंतरंग सहचरी के रूप में मानकर भी चलते हैं जिसके लिए उन दोनों ही प्रेमी-प्रेमिकाओं की कोई भी बात छिपी नहीं है। ये राधा की समप्राण चिरसंगिनी हैं जिसका अभिप्राय सखा वा सखी शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। इनमें एवं राधा में इसी कारण, वस्तुतः कोई भेद भी नहीं दिखलाया जा सकता। केवल राधा एवं सखी शब्दों के पृथक-पृथक व्यवहार के ही आधार पर उन दोनों में किसी अन्तर की कल्पना की जा सकती है जो स्वभावतः अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकता है। कृष्ण एवं राधा में तत्त्वतः कोई भी अन्तर नहीं है, क्योंकि राधा कृष्ण की शक्ति-रूप हैं और वे दोनों एक-दूसरे से कभी पृथक नहीं किए जा सकते, जिस प्रकार चन्द्र से चांदनी नहीं की जा सकती और न जिस प्रकार हम किन्हीं दो अभिन्न पदार्थों के ही विषय में कह सकते हैं। परन्तु किसी भक्त एवं भगवान के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी हम ठीक इसी प्रकार का वर्णन नहीं कर सकते और न राधा की सखी होने मात्र से ही, हम उसे इनसे सर्वथा अभिन्न मानकर कोई कल्पना कर सकते हैं। जिस प्रकार भक्त एवं भगवान को केवल भक्तिभाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ही सही, किसी रूप में पृथक मान लेने की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार हमें राधा एवं उसकी सखी की भी, लगभग उसी प्रकार एक-दूसरे से पृथक कल्पना करना उपयुक्त होगा। अतएव, सखी-भाव का भक्त कृष्ण एवं राधा के उपर्युक्त एक एवं अभिन्न रूप की उपासना, उनके अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय का भाव, ग्रहण करके ही कर सकता है।

यहां पर एक प्रश्न इस रूप में भी उठ सकता है कि यदि कोई भक्त उपर्युक्त कांताभाव, गोपीभाव, महाभाव अथवा सखीभाव की दृष्टियों से अपने भगवान की उपासना करता है तो उसके द्वारा प्राप्त होने वाले उसके आनन्द का स्वरूप क्या हो सकता है? क्या वह इनमें से किसी के भी द्वारा स्वयं आनन्दित हो उठता है और इस प्रकार उसका उद्देश्य मूलतः स्वार्थपरक ही हुआ करता है? कांताभाव, गोपीभाव तथा महाभाव के विषय में तो हम पर प्रायः निर्विवाद रूप से भी कह सकते हैं कि यदि उनकी मूल प्रवृत्ति किसी पति एवं पत्नी-विषयक प्रेम के ही समान हो तो वह न्यूनाधिक स्वसुखपरक ही हो सकती है। यह एक दूसरी बात है कि कोई सती-साध्वी पत्नी अपने पति को सुखी देखकर

ही अपने को सुखी माने और उसको दुखी देखकर स्वयं भी उसी प्रकार के दुःख का अनुभव करने लग जाय जिस प्रकार के दुःख में उसका प्रियतम निमग्न हो। प्रमुखता केवल इसी भावना को दी जा सकती है कि ऐसा करने पर भी, उसे अपने निजी सुख या दुःख का वोध हुआ करता है। परन्तु सखीभाव की उपासना करने वाले भक्तों के विषय में भी हम सहसा ठीक उसी प्रकार का परिणाम नहीं निकाल सकते। सखीभाव के उपासक के लिए सर्वप्रथम विचार उसके राधा के प्रति अपने अंतरंग सम्बन्ध का हो सकता है जिसे वह वस्तुतः अपना माध्यम बनाकर ही चल सकता है तथा जिसके कारण उसकी अनुभूति किंचित भिन्न रूप भी ग्रहण कर सकती है। यहां पर मौलिक प्रेमभाव की स्थिति का होना यथार्थतः कृष्ण एवं राधा के ही बीच अधिक सम्भव है जिस कारण भक्त का भाव भी ठीक वही नहीं हो सकता। वह अधिक-से-अधिक उस भाव पर आश्रित कहा जा सकता है जिस कारण स्वभावतः तत्परक भी बन जाता है। सखीभाव के भक्तों ने इसीलिए, इसका परिचय तत्सुखी अथवा कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक आनन्द पर आधारित सुख के रूप में देना ठीक माना है। इसके विपरीत भाव को वे साधारणतः स्व-सुखी का विशेषण देकर उसे तत्सुखी से किंचित नीचे स्तर का बतलाया करते हैं।

कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक प्रेम-भाव की परिस्थिति वा वातावरण की कल्पना करते समय सखीभाव के उपासकों ने किसी ऐसी स्थिति की ओर निर्देश किया है जो उन दोनों प्रेमियों के 'नित्यविहार' की दशा कही जा सकती है। इसके लिए उन्होंने कृष्ण की उन व्रजलीलाओं के समानांतर में जिनका वर्णन 'श्रीमद्भागवत' जैसे पुराणों में किया गया मिलता है, 'नित्य वृन्दावन' की कल्पना की है जहां उन्होंने दोनों दिव्य प्रेमी-प्रेमियों के शाश्वत रूप में विराजते रहने के साथ-साथ उनकी अंतरंग सखी के रूप में विद्यमान तथा उन्हें यथोचित सुविधाएं प्रदान करने वाली परिचारिका की दशा में स्वयं अपने को भी दिखलाया है। 'नित्यविहार' की अवस्था के लिए उनके अनुसार इन चारों ही का होना अत्यन्त आवश्यक है। कृष्ण के पौराणिक लीला-विहारों में हम केवल वृन्दावन, कृष्ण एवं राधा अथवा गोपीगण की ही कल्पना कर सकते हैं। वहां पर यदि किसी चौथे अंग को स्थान दिया जा सकता है तो वह वहां की गोपियों में से ही कोई एक या उससे अधिक उनकी दूती के रूप में हो सकती है। इसके अतिरिक्त उस प्रकार की कल्पना किसी भौतिक वनस्थली तथा किसी पुरुष-वेशधारी कृष्ण एवं स्त्री-रूपधारिणी राधा, तथा यदि हो सका तो, किसी वैसी ही गोपी सखी के सम्बन्ध में भी अनुमान कर ले सकते हैं। परन्तु 'नित्यविहार' की दशा में हमें ऐसे किसी भौतिक तत्त्व का अध्याहार करने की कोई वैसी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। यहां पर कृष्ण केवल अवतार के रूप वाले वह कृष्ण नहीं, जिनकी चर्चा पुराणों में की गई मिलती है और न राधा एवं वृन्दावन तक भी वे ही हैं। ये सभी यहां पर अभौतिक रूपधारी हैं जिनमें से कृष्ण परमतत्त्व स्वरूप हैं, राधा उनके अभिन्न अंग-स्वरूप हैं, वृन्दावन उस अखिल विश्व-रूप की ओर संकेत करता है जिसके परे अन्य किसी तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती और स्वयं सखी को भी हम इनमें से किसी से भिन्न नहीं ठहरा सकते और न इसके विषय में सिवाय इसके कुछ और ही कह सकते हैं कि केवल सुविधा के लिए इसे 'जीवात्मा' नाम दे रखा है।

सखीभाव के इस रूप को अपनाकर सर्वप्रथम भक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले स्वामी हरिदास कहे जाते हैं। स्वामी हरिदास के जीवन-वृत्त का कोई निश्चित पता नहीं चलता और उनके जन्म-संवत एवं जन्म-स्थान तक के विषय में अभी मतभेद जान पड़ता है। नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में इनकी चर्चा करते हुए लिखा है :

आसुधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की।
युगल नामसों नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहे केलि सखीसुख के अधिकारी॥
गान कला गंधर्व स्याम स्यामा को तोषे।
उत्तम भोग लगाय मोर मर्कट तिमि पोषें॥
नृपति द्वार ठाड़े रहें दरसन आसा जास की।
आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की॥

जिससे पता चलता है कि स्वामी हरिदास किसी आसुधीर नामक व्यक्ति की कीर्ति बढ़ाने वाले थे और उनकी पदवी 'रसिक' की थी। वे कुंजविहारी कृष्ण का नाम युगल-रूप अर्थात राधाकृष्ण के रूप में जपा करते थे और उसकी केलि का ध्यान सदा सखीभाव के साथ किया करते थे। वह संगीत की कला में प्रवीण थे तथा उसके द्वारा राधा एवं कृष्ण को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। वे उन्हें उत्तम भोग लगाकर मोर-बन्दर जैसे प्राणियों का भी पोषण करते थे तथा उनके दर्शनों के लिए राजा तक लालायित रहा करते थे। परन्तु इस छप्पय द्वारा हमें केवल उनका एक साधारण परिचय ही मिल पाता है। इससे किसी ऐतिहासिक तथ्य की भी उपलब्धि नहीं हो पाती। इसके प्रथम शब्द 'आसुधीर' के विषय में कई अन्य भक्तमाल के लेखक बतलाते हैं कि यह उनके पिता का नाम था तथा कुछ के अनुसार यह भी संकेत मिल जाता है कि वे गुर्जर देश के निवासी थे। इसी प्रकार यदि किसी-किसी ने इनकी माता का नाम गंगा दिया है तो किसी ने चित्रा तथा यहां तक संकेत कर दिया है कि उनके दो भाई क्रमशः जगन्नाथ एवं गोविन्द नाम के भी थे।

स्वामी हरिदास की जाति का भी सारस्वत अथवा सनाढ्य ब्राह्मण होना कहा गया है। किन्तु इनमें सारस्वत का पक्ष प्रबल जान पड़ता है। उनका जन्म-स्थान कोई 'कोल' नामक ग्राम बतलाया गया है जो वर्तमान अलीगढ़ नगर से दो मील की दूरी पर है और जो अब हरिदासपुर भी कहलाता है। कुछ लोग इस प्रसंग में राजपुर का भी नाम लेते हैं। उनका कभी कोई विवाह भी हुआ था कि नहीं इसमें बहुत मतभेद है; अधिक सम्भावना यह है कि वह अविवाहित ही रहे होंगे। प्रचलित परम्परानुसार उन्हें सम्प्रदाय की दृष्टि से निम्बार्क मत के साथ जोड़ा जाता है और उनके चित्रों में प्रायः तिलक भी मिलता है। परन्तु स्वामी हरिदासजी के भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त एवं फुटकर बानियों के आधार पर भी इसकी पूरी पुष्टि नहीं हो पाती। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ इनका सम्बन्ध अधिक रहा है और उसके उपलब्ध साहित्य के प्रचुर अंश द्वारा इस बात को स्वीकार भी किया गया है। स्वामी हरिदास के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन को संगीत की उच्च शिक्षा दी थी और उसी नाते सम्राट अकबर भी उनके दर्शनों के लिए वृन्दावन गया था तथा इस विषय को लेकर एकाध चित्रों की रचना भी की जा चुकी है। इन जैसी बातों के आधार पर उनका जीवन-काल संवत १५३७ से लेकर संवत १६३५ तक प्रायः मान लिया जाता है जो कदाचित सत्य से अधिक दूर न कहला सके। स्वामी हरिदास द्वारा रचे गए कुछ हिन्दी-पद मिलते हैं जिनकी संख्या लगभग सवा सौ की है और जिनमें 'केलिमाल' नामक संग्रह के ११० पद भी सम्मिलित किए जाते हैं और शेष को फुटकर पदों के अन्तर्गत गिनने की परम्परा चली आती है। इन पदों की रचना पदरचना-शैली के अनुसार नियमित रूप से की गई नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत ये अधिकतर गेय गीतों के ही जैसे जान पड़ते हैं। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि इनमें आया हुआ कथन कुछ-न-कुछ संवादपरक-सा भी लगता है।

इन उपलब्ध पदों द्वारा यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि स्वामी हरिदास के इष्टदेव स्वामी वह कुंजविहारी कृष्ण हैं जो नित्य अपनी प्रियतमा श्यामा के साथ केलि वा विहार में निरत रहा करते हैं। दोनों एक-दूसरे से कभी पृथक नहीं हो पाते। जिस निकुंज में इन दोनों का नित्यविहार चला करता है वह नित्य-वृन्दावन है, जहां पर उनके विनोद की प्रत्येक सामग्री सदा प्रस्तुत रहा करती है। वहां पर विभिन्न प्रकार के वाद्य यंत्र बजते हैं, मधुर गान होता रहता है तथा नृत्य की भी कमी नहीं रहा करती। दोनों प्रेमियों की नित्य किशोरावस्था है, दोनों परस्पर आमोद-प्रमोद में लीन हैं तथा दोनों के इस रागरंग को ध्यान में लाकर स्वामी हरिदास मगन बने रहते हैं। इनके ध्येय तत्त्व में वस्तुतः कोई भौतिक नृत्य-गीत नहीं और न उसमें कहीं वैसे निकुंजादि का ही समावेश हो सकता है। उसमें नित्यविहार के अनिवार्य अंग समझे जाने वाले उन चार प्रमुख तत्त्वों अर्थात श्यामा, कुंजविहारी, नित्यवृन्दावन एवं सखी के सम्मिलित सहयोग द्वारा स्वभावतः आविर्भूत नित्यलीला का ही अंश है जो मानसिक अनुभूति का विषय है। स्वामी हरिदास की दृष्टि में वे सभी तत्त्व एक साथ उपास्य हैं, क्योंकि इनमें से किसी को भी हम उस नित्य विहार की भावना से पृथक नहीं कर सकते। इन सभी के संयोग से ही उस अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि होती है जो लीलारस का आधार है और इन सभी के सहयोग द्वारा उस भाव की अनुभूति भी हो पाती है जिसे सख्यभाव अथवा सखीभाव के नाम से अभिहित किया जाता है।

उस भाव के अन्तर्गत ऐसे अनुपम प्रेमरस की अनुभूति है जो नित्य एवं एकरस रहा करता है और जिसमें स्थूल विरह की कोई कल्पना भी नहीं है। स्वामी हरिदास के इस भक्ति-सिद्धान्त की कोई दार्शनिक व्याख्या देना आवश्यक नहीं। उन्हें केवल इतना ही चाहिए कि उस नित्यविहार के भागवत सौन्दर्य का निरन्तर अनुभव करते रहें तथा इसे अपने जीवन का प्रमुख आधार तक बना सकें।

वीठलविपुल स्वामी हरिदास के प्रधान शिष्य थे जिन्हें उनका ममेरा भाई होना भी बतलाया जाता है। परन्तु वंश-परम्परा के अनुसार इन्हें उनका भतीजा भी कहा गया मिलता है और प्रसिद्ध है कि यह उनके भाई 'गोविन्द के' पुत्र थे। स्वामी हरिदास के प्रति यह अत्यन्त गम्भीर निष्ठाभाव रखते थे और कहा जाता है कि इन्होंने उनका देहान्त हो जाने पर अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली थी। यह बहुत ही उच्चकोटि के रसिक कवि थे और इन्होंने अपनी पंक्तियों में नित्यवृन्दावन का विशेष वर्णन किया है। इनके केवल चालीस पद ही प्राप्त हैं जिनके आधार पर हम इन्हें अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवियों में भी गिन सकते हैं। वीठलविपुल के शिष्य प्रसिद्ध विहारिनिदास हुए जिन्हें न केवल एक सिद्ध कवि, प्रत्युत सम्प्रदाय के योग्य सिद्धान्त-व्याख्याताओं में भी गिना जाता है। कहते हैं इन्होंने सम्राट अकबर के यहां कुछ दिनों तक नौकरी भी की थी और अब्दुर्रहीम खानखाना के विश्वासपात्रों में भी थे। परन्तु इन बातों की कोई ऐतिहासिक पुष्टि नहीं सुनी जाती। कहा जाता है कि सम्भवतः यह भी स्वामी हरिदास की वंश-परम्परा में ही उत्पन्न हुए थे और एक अलमस्त जीव थे। इनकी प्राप्त रचनाओं से पता चलता है कि यह बड़े निर्भीक थे और कबीर की भांति किसी की कटु आलोचना करने में भी नहीं चूकते थे। इनके वे पद अधिक सरस हो पाए हैं जिन्हें इन्होंने कृष्ण एवं राधा के पारस्परिक आमोद-प्रमोद के सम्बन्ध में लिखा है, किन्तु इनके सिद्धान्त-विषयक पद उतनी उच्चकोटि के नहीं है।

विहारिनिदास के शिष्य सरसदास के प्रसिद्ध प्रशिष्य रसिकदास थे जिनके समय में सम्प्रदाय की शाखाएं फूट निकलीं। इनकी मृत्यु संवत १७५८ के लगभग हुई थी जिसके पहले इन्होंने अपने कदाचित सर्वप्रथम शिष्य ललितकिशोरीदास को अपना उत्तराधिकारी चुना, किन्तु उन्होंने इनकी आज्ञा की अवहेलना कर दी और दूसरे शिष्य गोविन्ददास ने भी यही किया। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि रसिकदास की अधिक प्रवृत्ति अपने सम्प्रदाय में अन्य बातों के समाविष्ट करने की भी दीख पड़ी जिसे उसके अन्य अनेक अनुयायियों ने पसन्द नहीं किया और उक्त दोनों शिष्यों ने दो पृथक-पृथक गद्दियां स्थापित कर दीं। तब से रसिकदास के स्थान पर पीताम्बरदास बैठे जिन्हें भी उन्हीं के चलाए मार्ग में विशेष जी लगा और इन्होंने अपने कार्य-काल में अनेक ऐसे व्यर्थ झगड़ों में भी भाग लिया जिससे उस गद्दी की अप्रतिष्ठा हो चली। पीताम्बरदास के ही शिष्य किशोरदास हुए जिन्होंने अपनी पुस्तक 'निजमत सिद्धान्त' द्वारा निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ घनिष्ठ नाता जोड़ने का बहुत प्रयास किया जिससे स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसे पीछे आने वाले बहुत से लोगों ने निम्बार्क सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार करना आरम्भ किया जो वास्तविकता से दूर जाना था। सम्प्रदाय के वास्तविक इतिहास के जानकारों का कहना है कि इसका सम्बन्ध, यदि किसी अन्य सम्प्रदाय के साथ समझा जा सकता था तो वह विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय से हो सकता था, निम्बार्क-सम्प्रदाय के साथ कभी नहीं हो सकता था।

रसिकदास के शिष्य ललितकिशोरीदास एक बहुत प्रसिद्ध कवि और आचार्य हुए। उन्हें अपने पद की मर्यादा का भी सदा अभिमान रहा और कहते हैं कि इसी कारण उन्होंने बादशाह मुहम्मद शाह से मिलने से भी इन्कार कर दिया। इनके शिष्य ललितमोहिनीदास हुए जिन्होंने भी अपने गुरु की मान्यताओं को भरपूर निभाया। सखी-सम्प्रदाय की यही शाखा पीछे 'टट्टी संस्थान' कहलाकर प्रसिद्ध हुई और इसे इतना महत्त्व मिला कि इसी नाम से लोग उसे भी पुकारने लगे। ललितकिशोरीदास ने विपुल साहित्य की रचना की और उनका संवत १८२३ में देहान्त हुआ। सखी-सम्प्रदाय के इधर वाले आचार्यों में सबसे योग्य भगवतरसिक जी कहे जाते हैं जिनकी रचनाएं साहित्यिक दृष्टि से भी कम अच्छी नहीं हैं। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत उन दिनों इतने प्रपंच बढ़ते जा रहे थे कि भगवतरसिक जी को अन्त में, वृन्दावन छोड़कर प्रयाग जाना पड़ गया। किन्तु इन्होंने सदा अपने को इन बातों से निर्लिप्त रखा और अपने जीवन-काल के अन्त तक अपने मत पर दृढ़ रहे।

इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुछ महिलाएं भी दीक्षित हुई थीं जिनमें से प्रसिद्ध बनी-ठनीजी महाराजा नागरीदास की 'पासवान' या 'रखैल' थीं। स्वयं नागरीदास जी वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु बनीठनीजी ने रसिकदास से दीक्षा ग्रहण कर ली। इनका देहान्त संवत १८२२ में हुआ।

सखी-सम्प्रदाय, जिसके प्रवर्तन का श्रेय स्वामी हरिदासजी को प्रदान किया जाता है, पहले किसी संगठित रूप में नहीं चला था और जैसा कि अभी देख आए हैं इसमें कुछ ही दिनों के अनन्तर तीन-तीन टुकड़े तक हो गए। इसके सिवाय इसके अनुयायी आचार्यों में से भी केवल कुछ ही ऐसे हुए जिन्होंने पर्याप्त साहित्य की रचना की। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि इस सम्प्रदाय में अपनी कुछ विशेषताएं रहीं जिनका दूसरे कई सम्प्रदायों पर भी स्पष्ट प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सका। इस सम्प्रदाय की भक्ति विशुद्ध प्रेम की अनुगामिनी थी जिसे स्वामी हरिदास ने नित्यविहार के अलौकिक क्षेत्र में अनुभव किया तथा जिसकी व्याख्या करते समय उन्होंने कुछ-न-कुछ नवीन सुझाव भी उपस्थित किए। इन सभी का एक सुन्दर निचोड़ भगवतरसिक के 'अनन्यनिश्चयात्म' ग्रन्थ में पाया जाता है जो सर्वथा संग्रहणीय है। अनन्य-भाव का प्रेम इस सम्प्रदाय का सर्वस्व है जिसके सामने इसका सच्चा अनुयायी किसी अन्य बात की परवाह नहीं करता। इस प्रेम की दृष्टि से उसे किसी प्रकार के भी विधिनिषेध की मान्यता नहीं है। फिर भी इस उपेक्षाभाव का यह अर्थ नहीं कि वह अपने समाज के हितों के प्रति कोई विरोध-भाव को प्रश्रय देता है। इसका भाव केवल इतना ही है कि उस अनन्य प्रेम-तत्त्व को यह अपने जीवन में स्थान देकर उसके द्वारा उसमें पूर्ण परिवर्तन ला देना चाहता है जो स्वयं स्तुत्य है। इन लोगों की दृष्टि में सामाजिक वर्ग-भेदों का कोई महत्त्व नहीं है और न वैदिक वा तांत्रिक कर्मकाण्ड का ही कोई मूल्य हो सकता है। इनके लिए पांडित्य-प्रदर्शन अथवा शास्त्रीयता से कुछ भी तात्पर्य नहीं और न तीर्थ-व्रत को ही ये किसी उच्च पद पर बिठाते हैं। इन्हें शालिग्राम की पूजा तक में, अपने इष्टदेव के सौन्दर्य का अनुभव न हो पाने के कारण, वैसा विश्वास नहीं है। इनकी वेशभूषा बहुत साधारण कोटि की हुआ करती है और उसमें किसी दिखावे को स्थान नहीं दिया जाता। इनमें जो साधु रसिक हुआ करते हैं उन्हें केवल दो कौपीन तथा शरीर-रक्षा के लिए कोई गूदड़ी-मात्र चाहिए। इसी प्रकार पात्रों की जगह इन्हें केवल करवा-मात्र चाहिए जिससे जल पीने का काम चल जाता है। विहारिनिदास ने अपनी साखियों में कहा है, 'चौतार फट जाय, किन्तु मेरी गूदड़ी नित्य नई ही बनी रहती है और इसी के आधार पर मुझे परमार्थ भी मिल सकता है। इसी प्रकार 'करवा चाहे दूसरों को कड़वा लगता हो, किन्तु मेरे लिए तो यह मीठा ही मीठा है।' ये लोग वृन्दावन के रज को अपने शरीर पर धारण करते हैं और कभी-कभी किसी टूटी लकड़ी की कूबरी भी लिये दीख पड़ते हैं। आचार्यों के प्रति इन्हें अपार निष्ठा रहा करती है और अपने परमाचार्य अर्थात स्वामी हरिदासजी को ये लोग ललिता का नित्य रूप भी स्वीकार करते हैं। इनकी दैनिक चर्या में वृन्दावन में रहते हुए यमुना-स्नान, नित्य-विहारी का दर्शन, प्रसाद-ग्रहण, बाणी-पाठ, नाम-जप आदि प्रमुख हैं। इन्हें भाव की सेवा ही सर्वाधिक प्रिय है जिसकी मनोवृत्ति का परिचय ललितकिशोरी के इस पद्य द्वारा प्रकट होता है :

हममें कुंज कुंज में हम हैं,
कुंज विहारी सोई मम हैं।
ललित प्रिये के रस में सम है,
अब काहू की रही न गम है॥

सखी-सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए यह एक विधान-जैसा ही है कि वे प्रायः स्वामी हरिदास के वंशजों से ही दीक्षा ग्रहण करते हैं और उसके अनन्तर वे रसिक की छाप लेकर अपनी साधनाओं में लग जाते हैं। ऐसे साधकों के लिए यह अधिक आवश्यक है कि वे अपनी मनोवृत्ति को भरसक अधिक-से-अधिक प्रेममयी बनाने की चेष्टा करें। इस सम्प्रदाय के अनुसार भी गोपियों वा सखियों में दो प्रमुख भेद देखने में आते हैं जिनमें एक 'सखी' और दूसरा 'मंजरी' का है। सखी का परिचय देते समय कहा जाता है कि इस पद के उपयुक्त केवल वही समझी जा सकती है जो राधा की समजातीया सेवा द्वारा कृष्ण को सन्तुष्ट कर सके और इनके लिए ललिता-जैसी गोपियों का उदाहरण दिया जाता है। इसके विपरीत 'मंजरी' उन्हें कहते हैं जिनका कर्तव्य श्यामा एवं कुंजविहारी की समुचित सुविधाओं पर ध्यान देना रहा

करे। ये सखियां वस्तुतः राधा की दासियां मानी जा सकती हैं और ये सखियों की अपेक्षा कम अवस्था की भी हो सकती हैं। किन्तु राधा की अंतरंग होने के कारण इन्हें उन सखियों से भी अधिक अधिकार वाली समझा जाता है। इन सभी प्रकार की सखियों का उद्देश्य कृष्ण एवं राधा के ही सुख के लिए विविध चेष्टाएं करना रहता है। इन्हें स्वसुख की अभिलाषा नहीं रहा करती। इन्हें कृष्ण के साथ स्वयं विहार करने की कोई उत्सुकता नहीं रहती, प्रत्युत ये उन दोनों के नित्यविहार को ध्यान में रखना भर ही चाहती हैं।

वास्तव में, इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत गोपीतत्त्व को उतना महत्त्व ही नहीं दिया गया है जितना अन्य सम्प्रदायों में। उदाहरण के लिए, इस सम्प्रदाय से बहुत कुछ मिलता-जुलता हितहरिवंशजी का राधावल्लभ सम्प्रदाय है जिसमें भी सखीभाव की न्यूनाधिक व्यवस्था दी गई दीख पड़ती है और वहां पर कई बातें ऐसी हैं जिनके कारण ये दोनों प्रायः एक-से जान पड़ते हैं। परन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय की सखी-सम्बन्धी भावना की जो सबसे उल्लेखनीय बात है वह वहां पर गोपीतत्त्व को भी बहुत-कुछ प्रश्रय दे डालता है जो हरिदासी सखी-सम्प्रदाय को कभी स्वीकार नहीं है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत सखी-सम्प्रदाय की भावना का वस्तुतः गोपीतत्त्व की ओर से क्रमिक विकास हुआ है, किन्तु वहां पर फिर भी इसे सर्वथा त्यागा नहीं जा सकता है और इसके पूर्ण विकसित रूप में भी पहली भावना का प्रभाव अक्षुण्ण चला आता है। इसके अतिरिक्त जहां तक नित्यविहार के अन्य अंगों का प्रश्न है राधावल्लभ सम्प्रदाय वृन्दावन को अधिकतर उसके भौतिक रूप में ही देखता है। इसके कृष्ण भी उस रूप में परमतत्त्व बनकर अधिष्ठित नहीं हैं जिस रूप में हरिदासी सखी-सम्प्रदाय में दीख पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, राधावल्लभ सम्प्रदाय की धारणा के अनुसार उनकी लीलाओं में हमें वैविध्य की बानगी भी देखने को मिलती है, जहां हरिदासी सखी-सम्प्रदाय के अन्तर्गत केवल दोनों दिव्य प्रेमियों के नित्य संयोग की ही कल्पना है तथा उसमें कभी किसी प्रकार का विरहभाव नहीं आ सकता।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक हितहरिवंशजी थे जो हरिदासजी के ही समसामयिक थे। उनका जन्म संवत १५५६ में हुआ था तथा संवत १६०६ में उन्होंने निकुंजगमन किया और अपने जीवन भर एक विशुद्ध प्रेमी जीव बने रहे। इनके सम्बन्ध में लिखे गए नाभादास के एक छप्पय से यह पता चलता है कि इन्होंने दिव्य युगल दम्पती कृष्ण एवं राधा की कुंज-केलि के अवसर पर नित्य 'खवासी' की और इस प्रकार पूर्ण आनन्द का अनुभव करते रहे। इन्होंने प्रेमतत्त्व को अपनी भावना के अनुसार हित का नाम दिया है और सम्प्रदाय के अन्तर्गत इन्हें उसकी साकार मूर्ति तक मानने की परम्परा है। इनके कई छोटे-छोटे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें से 'राधासुधानिधि' संस्कृत में लिखा गया है। इस रचना के अन्तर्गत उन्होंने राधा को विशेष महत्त्व प्रदान किया है और उनकी दृष्टि से वे कृष्ण से भी बढ़कर जान पड़ती हैं। इनका 'यमुनाष्टक' ग्रंथ भी संस्कृत में ही है, किन्तु अन्य रचनाएं हिन्दी भाषा में लिखी गई हैं और अधिकतर पद-संग्रहों के रूप में हैं। इन रचनाओं में उनके हितचौरासी पदों को अधिक मूल्यवान समझा जाता है और उन्हीं के अन्तर्गत उनके सखीभाव की भी विशेष प्रतिष्ठा की गई है। इनके इन पदों में भाव-सौन्दर्य, पद-लालित्य एवं गेयत्व का भी अंश प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। इनके पढ़ने पर ऐसा लगता है जैसे सारी वर्णित बातों का रचयिता इनको अपनी आंखों द्वारा स्पष्ट रूप में देख रहा है और वह नितान्त भावविभोर भी है। स्वामी हरिदास के सखीभाव द्वारा हितहरिवंशजी प्रभावित हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उनकी अनेक अपनी विशेषताएं भी हैं।

हितहरिवंशजी के प्रसिद्ध शिष्य हरिराम व्यास थे जिन्हें केवल व्यासजी के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इन्हें कुछ लोगों ने माध्व सम्प्रदाय में भी दीक्षित माना है, किन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। यह वास्तव में, हित हरिवंशजी द्वारा ही दीक्षित रहे और यों इन पर स्वामी हरिदास का भी पूरा प्रभाव पड़ा था। यह मूलतः ओरछा के निवासी थे और हितहरिवंशजी के सम्पर्क में आने पर पीछे वृन्दावन में आकर भी रहने लग गए थे। आयु में हित हरिवंशजी से कुछ ही छोटे थे। स्वामी हरिदास एवं हित हरिवंशजी दोनों के ही प्रति निष्ठा रखने के विषय में उन्होंने स्वयं कहा है :—

हरिवंशी हरिदासी जहां, मोहि कृपा करि राखहु तहां, नित विहार आधार दै।[1]

---

१. भक्तकवि व्यासजी, पृ० ४२७

जिससे यह भी पता चलता है कि नित्यविहार की भावना भी उनमें अत्यन्त दृढ़ रही होगी। उनकी रचनाएं बहुत हैं और उन सभी को हम न केवल भावाभिव्यक्ति, अपितु रचना-कौशल की दृष्टि से भी अच्छी कोटि की ठहरा सकते हैं। इनकी वाणियों में स्वभावतः पदों की ही संख्या अधिक है और उनके अतिरिक्त इनकी बहुत-सी साखियां भी उपलब्ध हैं जिनमें इन्होंने अधिकतर सिद्धान्तपरक बातें कहीं हैं तथा अपनी एक रचना 'रासपंचाध्यायी' के छन्दों द्वारा इन्होंने रासलीला का भी विशद वर्णन किया है। व्यासजी को कृष्ण एवं राधा के अतिरिक्त किसी भी अन्य को इष्टदेव मानना अथवा उसके प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करना पसन्द न था। इन्हें गणेशादि देवताओं के पूजन के प्रति भी उपेक्षा थी और यह ऐसी बातों को स्पष्ट कह देने से भी नहीं चूकते थे। इन्हें दिव्य प्रेमी-प्रेमिका के नित्यविहार का मनोयोगपूर्वक ध्यान करना और उसका यथातथ्य वर्णन करना ही सबसे अधिक प्रिय था।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक अन्य अच्छे कवि सेवकजी भी हैं जिनका पूरा नाम दामोदरदास था। ये जबलपुर (मध्यप्रदेश) के निकटवर्ती गढ़ा गाँव के ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे और पीछे वृन्दावन में आ गए थे। इनकाजीवन-काल सम्भवतः केवल ३३ वर्षो का ही रहा, किन्तु इतने ही समय में इन्होंने अपने सम्प्रदाय के भीतर बहुत बड़ी प्रसिद्धि पाली। इनकी रचनाओं को हितहरिवंशजी के पदों के ही साथ पढ़ा जाता है और इनके प्रति बहुत सम्मान भी प्रदर्शित किया जाता है। यह यद्यपि हितहरिवंशजी से दीक्षित नहीं हो पाए थे, किन्तु उनके प्रति इनकी अपार निष्ठा थी और इस बात का परिचय हमें इनकी रचनाओं द्वारा भी मिल जाता है। श्याम एवं श्यामा के युगल स्वरूप की आराधना वाले पद इनके भी मिलते हैं, किन्तु राधा के लिए इन्हें भी वैसी ही एकान्त निष्ठा है जैसी हितहरिवंश जी की थी और उसी प्रकार यह उनका गुणगान भी करते हैं। इन सेवकजी के ही साथ एक अन्य ऐसे कवि चतुर्भुजदास का भी नाम लिया जाता है जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वह साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का निरूपण भी बड़ी योग्यता के साथ किया करते थे तथा इस प्रसंग में प्रायः प्राचीन प्रमाणों को भी देने में कभी नहीं चूकते थे। इनके प्रभाव से प्रभावित होकर गोंडवाना प्रदेश के नेही नागरीदास भी राधावल्लभी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे और आगे चलकर अत्यन्त भावुक एवं रसिक भक्तों की श्रेणी में गिने गए। नेही नागरीदास की रचनाएं भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं।

परन्तु इन भक्तों से भी अधिक काव्य-रचना करने वाले ध्रुवदास तथा चाचा हितवृन्दावनजी हुए। ध्रुवदास की रचनाओं की एक विशेषता है कि उनमें हरिदासी सखीभाव की निष्ठा कहीं अधिक मात्रा में व्यक्त की गई दीख पड़ती है। वास्तव में, हितहरिवंशजी तथा उनके अनेक अन्य अनुयायी कवि भी ध्रुवदास के समय तक गोपीतत्त्व को विशेष रूप से अपनाते आ रहे थे और उन्होंने उसके प्रति ऐसा भाव कदाचित कभी भी व्यक्त नहीं किया था जिससे सखीभाव का अधिक महत्त्व जान पड़े। ध्रुवदास ने ही अपनी रचनाओं द्वारा उस प्रकार की भावना को विशेष प्रश्रय दिया और उसका स्पष्ट वर्णन भी किया। इनकी यह विचारधारा हरिदासजी और विशेषकर बिहारिनदास द्वारा प्रकट किये गए सिद्धान्तों से बहुत मेल खाती है। ध्रुवदास ने अपने सम्प्रदाय में स्वीकृत बातों का वर्णन भी किया है, किन्तु उन्हें पृथक स्थान दे डाला है। इनके विषय में अधिक विवरण नहीं मिलता, किन्तु जो कुछ सामग्री उपलब्ध है उससे पता चलता है कि इनकी साम्प्रदायिक भावना इनके पूर्वजों की देन थी। इनका देहान्त विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंत में कभी हुआ था और यह किसी कायस्थ परिवार में उत्पन्न हुए थे। ध्रुवदास के बयालीस ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे प्रायः सभी बहुत छोटे-छोटे हैं और उनमें से अधिक में लीलाओं का वर्णन मिलता है।

चाचा हितवृन्दावनजी ध्रुवदासजी के लगभग ५०–६० वर्ष पीछे उत्पन्न हुए और इन्होंने उनसे भी अधिक रचनाएं प्रस्तुत कीं। यह सम्भवतः अपने जन्म से ही ब्रजवासी थे और वहां के गोस्वामी के पिता के गुरुभाई होने के कारण चाचा कहलाकर प्रसिद्ध हो गए थे। इनकी रचनाओं की यह एक विशेषता है कि उन्होंने उनका विषय केवल साम्प्रदायिक तत्त्वों तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत इन्होंने सख्यभाव के अतिरिक्त शान्त, दास्य, वात्सल्य आदि पर भी कुछ-न-कुछ रचनाएं कर डालीं और इधर पता चला है कि इनका एक बड़ा-सा ग्रंथ रामचन्द्र के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाला भी मिला है जो इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय समझा जा सकता है। इनकी रचना प्रसिद्ध 'लाड़सागर' के अन्तर्गत कृष्ण एवं राधा के बाल्यकाल से लेकर क्रमशः आगे तक के जीवन का वर्णन कुछ विस्तार के

साथ किया गया है और इसके साथ ही उसमें पूरे ब्रज-जीवन का भी प्रतिबिंब दीख पड़ता है। लगभग इसी विषय को लेकर इन्होंने एक अन्य बड़े ग्रंथ 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' की भी रचना की है। इनकी रचनाओं में कतिपय ऐसी भी मिलती हैं जिनमें छन्द-लीलाओं का वर्णन किया गया है और उनके द्वारा विनोदप्रियता के विविध प्रसंग छेड़े गए हैं। वास्तव में इनकी रचनाएं हमारे सामने कतिपय सुन्दर प्रबन्ध-काव्यों के भी उदाहरण उपस्थित करती हैं जो वहां प्राय: कम मिला करते हैं।

हितहरिवंशजी के राधावल्लभ सम्प्रदाय की ही भांति सखी-सम्प्रदाय का प्रभाव निम्बार्क-सम्प्रदाय की साधना पर भी पड़ा। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत उपास्य का रूप ब्रह्मवत ही समझा जाता रहा, किन्तु वह पीछे कृष्ण के रूप में भी गृहीत हुआ। इसके सिवाय वहां राधातत्त्व का भी समावेश था, किन्तु फिर भी युगल की उपासना हरिदासी सखी-सम्प्रदाय की भांति नहीं थी। निम्बार्क-सम्प्रदाय के कृष्ण एवं राधा साधारणत: ब्रज में केलि करने वाले ही जैसे लगते हैं और वहां पर गोपियों के यूथ भी विद्यमान हैं। वहां पर प्रसंगत: दास्यभाव भी आ जाता है जिस कारण, सख्यभाव का वह रूप जो हरिदासी सम्प्रदाय में स्वीकृत है, कभी वैसा अमिश्रित नहीं रह पाता। इसके सिवाय निम्बार्कीय उपासना में कर्मकाण्ड का भी महत्त्व कम नहीं, किन्तु हरिदासी सखीभाव में उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की जाती है तथा विधि-निषेधमयी बातों का खंडन तक दीख पड़ता है। निम्बार्क-सम्प्रदाय में सखीभाव का प्रवेश विशेषत: उस समय से ही होने लगा जब से उसमें ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों का आविर्भाव हुआ और जब से इस उपासना-पद्धति का प्रचार भी अधिक बढ़ने लग गया। इसे अपनाने वाले सर्वप्रथम कवि कदाचित श्री भट्ट जी थे जिन्हें नाभादास ने 'मधुर भाव संवलित ललित लीला' की छवि देखकर हर्षित होने वाला तथा रसिकों के लिए 'मोद घन' बनकर भक्ति का प्रचार करने वाला बतलाया है। इनके जीवन-काल के विषय में कुछ मतभेद होने के कारण कभी-कभी इन्हें माधुर्य रस का सर्वप्रथम कवि भी मान लेते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'युगल सत' वा 'युगलशतक' के रचना-काल-सम्बन्धी दोहे में आए हुए 'राग' शब्द के स्थान पर 'राम' पढ़ जाने के कारण भ्रमवश लोगों ने सं० १६५२ को सं० १५५२ समझ लिया, जिससे उसमें १०० वर्षों का अन्तर आ गया। इस भ्रम का निवारण तब हुआ जब श्री भट्ट के गुरु कश्मीरी भट्ट के जीवन-काल तथा स्वयं उनके भी विषय में किये गए हरिराम व्यास एवं ध्रुवदास के उल्लेखों पर पूरा विचार किया गया। श्री भट्टजी के वर्णनों में जिस लीला का परिचय मिलता है वह ब्रज की लीला ही प्रतीत होती है तथा उनके कृष्ण एवं राधा का व्यक्तित्व भी पृथक-पृथक दीखता है। इस प्रकार यद्यपि वहां पर श्री भट्टजी सखी के रूप में उन लीलाओं का अनुभव करते दीख पड़ते हैं, वह गोपीभाव का जैसा ही लगता है तथा उसमें मधुरोपासना का भी यथेष्ट अंश विद्यमान है जिसके कारण, वह सखी-सम्प्रदाय के अनुसार वर्णित उपासना से कुछ-न-कुछ भिन्न रूप धारण कर लेता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के एक अन्य प्रसिद्ध कवि हरिव्यासजी हैं जिनका रचना-काल सं० १६२५ से सं० १६८० तक माना जाता है। यह गौड़ ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए और इनका जन्मस्थान मथुरा नगरी कही जाती है। इनके द्वारा अनेक संस्कृत-ग्रंथ उपलब्ध हैं, किन्तु ब्रजभाषा में लिखी गई केवल 'महावाणी' ही मिलती है जिसके आधार पर इन्हें कुशल कवि समझा जाता है। हरिव्यासजी की 'महावाणी' के विषय में प्राय: सन्देह भी किया जाता है कि यह उनकी रचना है भी या नहीं। परन्तु बहुत से लोगों ने इस प्रकार के सन्देह का कोई पुष्टकारण नहीं पाया है और वे इसे उनकी ही रचनाओं का संग्रह मान लेते हैं। 'महावाणी' ग्रंथ के अन्तर्गत जिन सिद्धान्तों की झलक मिलती है उनके अनुसार उपास्यदेव के युगल रूप में प्रिया एवं प्रियतम के नित्यविहार निरत जोड़ी का समावेश है और उनकी लीला की संयोजिता सखी को नित्यप्रेमरूपा कहा गया है। यहां पर लीला या विहार का रूप अधिकतर वैसा ही मिलता है जैसा सखी-सम्प्रदाय का है, किन्तु उसमें मधुरभाव की प्रचुरता है। हरिव्यासजी के १२ शिष्यों में परशुरामदेव विशेष प्रसिद्ध हैं जिन्हें जयपुर का निवासी होना कहा जाता है। इनके बहुत से ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें से कुछ में निर्गुणभक्ति के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं और कभी-कभी इनके विशुद्ध निम्बार्क सम्प्रदायी होने में सन्देह किया जाता है। परशुरामदेव के ही एक प्रशिष्य वृन्दावनदास थे जिनके शिष्य प्रसिद्ध घनानन्द कवि हुए। घनानन्द का जन्म संवत १७३० माना जाता है और प्रसिद्ध है कि

उन्हें अहमदशाह अब्दाली के साथ आये हुए आक्रामकों ने मार डाला। घनानन्द एक अत्यन्त कुशल कवि थे और उन्होंने बड़ी ही सरस कविता भी की है। किन्तु विवेच्य सखी-सम्प्रदाय की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नहीं है। घनानन्द ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत उन सभी बातों का भी समावेश कर दिया है जो उसके विशुद्ध रूप से भिन्न सिद्ध होती हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्य कवियों में रसिक गोविन्द का भी नाम लिया जा सकता है जिनकी रचना 'युगलरसमाधुरी' इस विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है, किन्तु जिसकी बातों में हमें कोई विशेषता भी नहीं दीख पड़ती।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की ही भांति गौड़ीय सम्प्रदाय के कवियों पर भी सखी-सम्प्रदाय की उपासना का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है और उनमें से कुछ ने उच्चकोटि की रचनाएं भी प्रस्तुत की हैं, परन्तु इनके दृष्टिकोण में कुछ अन्तर भी दीख पड़ता है। गौड़ीय सम्प्रदाय की भक्ति-प्रणाली में कृष्ण एवं राधा की उपासना के प्रचलित होने पर भी वहां राधा का अधिक महत्त्व है। इस कारण गोपीभाव को यहां पर 'महाभाव' के रूप में भी लिया गया है तथा सखीभाव गोपीभाव तक ही सीमित रह जाता है। गोपी कभी-कभी कृष्ण की प्रेमिकाओं का रूप भी ग्रहण कर लेती है जिससे सख्यभाव अमिश्रित नहीं रहने पाता। गौड़ीय सम्प्रदाय के ऐसे कवियों में समय की दृष्टि से सर्वप्रथम नाम गदाधर भट्ट का आता है। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं का ही अनुसरण किया है; किन्तु एक बात में उससे कुछ भिन्न मार्ग भी ग्रहण कर लेते जान पड़ते हैं, जहां पर यह राधा को परकीया न मानकर प्रायः कृष्ण की स्वकीया बना देते हैं। फिर भी इनकी सखीभावपरक रचनाएं भी महत्त्वपूर्ण हैं तथा इनकी रचनाशैली भी सुन्दर कही जा सकती है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के एक अन्य ऐसे कवि सूरदास मदनमोहन को नाभादास ने सखीभाव की उपासना करने वाली सहचरी तक की पदवी प्रदान की है जिससे पता चलता है कि इनकी भक्ति का रूप क्या रहा होगा। सूरदास मदनमोहन की अनेक रचनाओं का प्रसिद्ध वल्लभ-सम्प्रदाय वाले महाकवि सूरदास के पदों में घुल-मिल जाने के कारण उनकी प्रामाणिकता में सन्देह भी किया जाता है। फिर इनके जो पद प्रामाणिक मान लिये गए हैं उनके देखने से इनके सखीभावोपासक होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जिन लोगों ने इनकी रचनाओं का अध्ययन हरिदासजी के पदों के साथ रखकर किया है उनका कथन है कि यह उनके बहुत समान भाव व्यक्त करते हैं तथा कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि एक में दूसरे की व्याख्या तक कर दी गई है। सूरदास मदनमोहन ने स्वभावतः राधा को विशेष महत्त्व दिया है और कृष्ण को उनके पीछे परछांई की भांति अनुसरण करता हुआ भी दिखलाया है। इस सम्प्रदाय के अन्य ऐसे कवियों में वल्लभरसिक एवं भगवतमुदित के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वल्लभरसिकजी की एक यह विशेषता है कि वह संयोग पक्ष के बहुत सफल कवि हैं। उन्हें विरह का उल्लेख तक करना कदाचित पसन्द नहीं है। नाभादास ने भगवतमुदित को भी सखीभाव के ही उपासक के रूप में स्मरण किया है। यह अनन्य भजनानन्दी थे और इनकी मनोवृत्ति का स्तर साधारणतः विधिनिषेधों से कहीं ऊपर का समझा जा सकता था। यह गौड़ीय सम्प्रदाय के महन्त किसी हरिदास के शिष्य थे और उनके प्रति अपना सर्वस्व तक अर्पण करने की इच्छा से एक बार उनसे मिलने को उत्सुक बन गए थे। किन्तु गुरु ने ही इस बात को ठीक न माना। भगवतमुदितजी ने एक 'भक्तमाल' की भी रचना की है जिसका नाम 'रसिक अनन्यमाल' है। इनका सखीभाव-वर्णन सरस और उत्कृष्ट है। इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों में भक्तमाल के टीकाकार प्रसिद्ध प्रियादास की भी चर्चा की जाती है। इन्होंने भी सरस भाव का वर्णन किया है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के कवियों ने जिस प्रकार सखीभाव को अपनाया था, उसी प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय वालों ने भी किया। वास्तव में, इसके कवि काव्य-कौशल की दृष्टि से भी बहुत उच्चकोटि के कलाकार हुए और उन्होंने इस भाव को वैसे स्वतन्त्र रूप में भी प्रश्रय दिया। वल्लभ-सम्प्रदाय का उपासनाभाव अपने वात्सल्य-सम्बन्धी तत्त्व के लिए भी प्रसिद्ध था, किन्तु उसके गोपीभाव में भी कोई कमी नहीं थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' एवं 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के भी देखने से पता चलता है कि ऐसे कवियों में सखीभाव की मात्रा कहां तक थी तथा कहां तक सख्यरस का वर्णन करने में उन्होंने अपनी निपुणता प्रदर्शित की थी। वहां पर हमें यहां तक देखने को मिलता है कि भक्तों के प्रसंग में कभी-कभी उनके पशुओं तक को सखीपरक नाम दे दिया गया है। उदाहरण के लिए, कुंभनदास की वार्ता के

प्रसंग में जहां 'भाव प्रकाश'-कार ने दिवस की लीला में उन्हें ठाकुरजी का अंतरंग सखा 'अर्जुन' का नाम दिया है और रात्रि की लीला के लिए उन्हें 'विसाखा' कहा है, वहां पर वार्ता २ के प्रसंग में यह भी आया है कि म्लेच्छों के आक्रमण होते समय उनसे बचाने के लिए कुंभनदास आदि चार भक्तों ने जिसमें भैंसे द्वारा श्री गोवर्धननाथजी को अपने स्थान से हटाया वह श्री स्वामिनीजी के बाग की मालिन रह चुका था और लीला की चर्चा करते समय उसे 'वृन्दा' सखी का नाम तक दे दिया गया दीख पड़ता है।[1] वल्लभ-सम्प्रदाय की दृष्टि से वस्तुतः गोपी वा सखी में कोई तात्त्विक भेद नहीं जान पड़ता जिस कारण वह प्रायः कान्ताभाव के अनुसार काम करता हुआ भी पाया जाता है। गोपीभाव का रूप वहां पर ब्रज-लीलाओं के माध्यम से दीख पड़ता है जिस कारण, वह युगल के प्रति प्रसंग आने पर ही, सख्यभाव बन पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों ने यह भी अनुमान किया है कि वल्लभ-सम्प्रदाय वाले कवि प्रायः अपनी वृद्धावस्था में आकर सखीभाव की ओर अधिक ध्यान देने लगते थे और उनका आकर्षण राधा के प्रति भी उसी प्रकार बढ़ जाया करता था।

वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों में अष्टछाप के कवियों का विशिष्ट स्थान है जिनमें कुंभनदास अवस्था में सबसे बड़े थे। इनके विषय में कहा जाता है कि स्वामी वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पहले यह मधुरभाव की कविता किया करते थे। उसके अनन्तर ही इन्होंने बाललीला आदि के पदों का गान किया। फिर भी इनका जीवन उतना अन्यत्र नहीं रम सका। इनके जो पद इस समय उपलब्ध हैं और प्रकाशित भी हो चुके हैं उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती जान पड़ती है। कुंभनदास किसी जमुनावती नामक गांव के निवासी थे और एक निर्धन ब्राह्मण गृहस्थ थे। इनका जीवन-काल सं० १५२५ से १६३६ तक माना गया है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि यह अन्त समय तक सखीभाव के ही पद पूरी तल्लीनता के साथ रचते एवं गाते चले गए। सूरदास के लिए कहा जाता है कि वल्लभाचार्य से मिलने के पहले वह स्वामी हरिदास के शिष्य रह चुके थे,[2] किन्तु इसका कोई आधार नहीं जान पड़ता। केवल इतना ही विदित होता है कि इनमें दैन्यभाव की मात्रा अधिक थी जिसका एक रूप उनके विनय वाले पदों में लक्षित हुआ। इनमें आगे चलकर कांतासक्ति की भावना भी जागृत हुई तथा सखी-सम्प्रदाय-सुलभ भावों की भी कदाचित तभी अनुभूति हो सकी।

सूरदास की अनेक रचनाओं में हमें 'सूरसखी' अथवा 'सूर सुजान सखी' तक का नाम रचयिता के रूप में मिलता है जिससे इस अनुमान को समर्थन मिलता है कि उसकी इस ओर विशेष प्रवृत्ति भी रही होगी। ऐसी छाप वाली रचनाओं में अधिकतर युगल-दम्पती की संयोगपरक लीलाओं का ही वर्णन पाया जाता है तथा यहां पर उनकी विशेष तन्मयता भी दीखती है। इनकी सखियां भी दोनों प्रेमी एवं प्रेमिका को केलि की सुविधा दिलाने पर उतनी ही उद्यत जान पड़ती हैं जितनी स्वामी हरिदास के सखी-सम्प्रदाय वाले कवियों द्वारा चित्रित सखियां रहा करती हैं और इन दोनों में प्रायः कम अन्तर दीख दड़ता है। परन्तु मान आदि के प्रसंगों में कार्य करते समय उनका रूप विशेषकर ब्रज की गोपियों-जैसा ही हो जाता है।

अष्टछाप के ही एक अन्य वैसे ही सफल कवि परमानन्ददास भी हैं। यह कन्नौज के निवासी किसी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे और अपने लड़कपन से ही एक निस्पृह जीवन की ओर प्रवृत्ति रखने वाले जीव थे। इन्हें बाललीला के पदों की रचना कदाचित अधिक पसन्द थी। यों तो रासलीलादि-सम्बन्धी पदों की रचना भी यह बड़ी भावुकता के साथ किया करते थे। इनकी सखीभाव-सम्बन्धी रचनाएं अधिक संख्या में नहीं मिलतीं और न जो प्राप्य हैं उनमें कोई विशेषता ही पाई जाती है। कृष्णदास नामक अष्टछाप के कवि तो ललिता सखी के अवतार ही माने जाते हैं। इन्होंने अधिकतर शृंगारिक रचनाएं की हैं। इनकी, गोविन्दस्वामी की, छीतेस्वामी की तथा चतुर्भुज दास की उपलब्ध कविताओं में भी हमें सख्यभावपरक विशेषताएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होतीं और इन सभी की रचनाओं का वर्ण्य विषय प्रायः एक ही प्रकार से साम्प्रदायिक है। परन्तु इसके विपरीत नन्ददास के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि उनकी रचनाएं सख्यभाव से भी भरी हुई पाई जाती हैं। इन्होंने अपने 'रूपमंजरी' नामक प्रेमाख्यान में तो सखीपरक भाव

१. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (अष्टछाप स्मारक समिति, मथुराः द्वितीय संस्करण, सं० २०१०), पृ० ८३७–४६।
२. डा० मुंशीराम शर्मा : 'सूर-सौरभ' (भा० १) पृ० ४४।

के एक पहलू का ही चित्रण किया है। फिर भी नन्ददास अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं के जितने निकट हैं उतने हरिदासी सखी-सम्प्रदाय की ओर झुकते नहीं जान पड़ते। अष्टछाप के इधर वाले कवियों में हरिरायजी तथा नागरीदासजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिरायजी ने फुटकर पदों की रचना करने के अतिरिक्त प्रसिद्ध 'वैष्णवन की वार्ताओं' पर अपनी टिप्पणी लगाई है जो सखीभाव की दृष्टि के अनुसार बहुत महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है तथा जिसकी उपयोगिता साम्प्रदायिक भावनाओं के अनुसार भी कम नहीं है। वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नागरीदास, कृष्णगढ़-नरेश सावन्तसिंह थे, जिन्होंने बहुत कुछ लिखा है। इनका भी झुकाव सखीभाव की ओर था। जिस कारण, इनकी वाणियों में अनेक स्थल ऐसे भी मिल जाते हैं जिनमें हरिदासी सखीभाव की विचारधारा शुद्ध रूप में दीख पड़ती है।

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त ललित-सम्प्रदाय नामक एक अन्य सम्प्रदाय का भी पता चलता है जिस पर सखी-सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है तथा जिसे इस दृष्टि के अनुसार पूरामहत्त्व भी दिया जा सकता है। इसके प्रवर्तक वंशीअलि का सम्बन्ध विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के साथ होना बतलाया जाता है और कहा जाता है कि उसमें इन्होंने सख्यभाव का प्रचार भी किया। वंशीअलि का जन्म वृन्दावन में संवत १७६४ में हुआ था और इनका नाम वंशीधर पड़ा था। अपने अल्पकाल से ही इनमें राधा के प्रति प्रगाढ़ भक्ति जागृत हो गई थी जो इनके विवाहित होकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने पर भी कम नहीं हुई। ये फिर तीस वर्ष की अवस्था से वृन्दावन में विरक्त भाव के साथ रहने लगे और वहीं पर इनका संवत १८८२ में देहान्त भी हो गया। इन्होंने दो-तीन ग्रंथ संस्कृत में रचे हैं और उनके अतिरिक्त अनेक पदों की रचना व्रजभाषा में भी की है। इन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंशजी का भी नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और उनके सख्यभाव का अनुसरण भी किया है। वास्तव में, वंशीअलि के उपास्यदेव कृष्ण न होकर राधा ही हैं जिन्हें उन्होंने सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी भी कहा है। राधा सर्वोपरि हैं, किन्तु वह अपने भक्तों के लिए उनके प्रति आधीन भी कही जा सकती हैं और स्वयं कृष्ण तक उनके अनन्य भक्त हैं। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि राधा की ललितादिक सखियां उन्हें अपने पति के रूप में स्वीकार करती हैं। वंशीअलिजी के अनुसार जब तक हममें ललिता के प्रति भाव अथवा ललिता-रति का आविर्भाव नहीं हो जाता, तब तक राधा की प्राप्ति के हम अधिकारी नहीं हो सकते। वंशीअलि जी किसी एक ऐसे महारास की भी कल्पना करते हैं जहां पर केवल राधिका ही सर्वेसर्वा हैं। उनके अनुसार,

सेव्य सदाश्री राधिका, सेवक नन्दकुमार।
दूजे सेवक सहचरी, सेवा विपुल विहार॥

इस सम्प्रदाय में नित्यविहार का आयोजन, सहचरी की ही इच्छा के अनुसार चलता है और ललिता के ही अंचल में दोनों एक साथ विराजते हैं। एक प्रकार से वे दोनों ही ललिता के सहचर-स्वरूप हैं और वे तीनों एक प्राण हैं। राधा, लाल, ललिता एवं वृन्दावन में कोई भी भेद नहीं है। वंशीअलिजी की सखीभाव की उपासना इसी प्रकार की भावना लेकर अग्रसर होती है और अपनी रचनाओं में उन्होंने इसी का वर्णन भी किया है।

ललित-सम्प्रदाय के एक अन्य भक्तकवि किशोरीअलि थे जो वंशीअलि के शिष्य थे। इनके लिए प्रसिद्ध है कि इनका पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था। इनका जन्म मथुरा में हुआ था तथा इनकी पत्नी का नाम किशोरी था। किशोरी को यह बहुत प्यार करते थे और उसका देहान्त हो जाने पर उसके विरह में 'किशोरी-किशोरी' पुकारते-पुकारते बरसाना तक पहुंच गए, जहां पर वर्तमान वंशीअलि ने इन्हें अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करके इनका नाम किशोरीअलि रख दिया और तब से यह वहीं रहने लग गए। किशोरीअलि की भी बहुत सी रचनाएं कही जाती हैं जिनमें इन्होंने अपने गुरु के सिद्धान्तों का ही पूरा अनुसरण किया है। इन दोनों कवियों के अतिरिक्त ललित सम्प्रदाय के अनुगामियों में अलबेलीअलि, वल्लभअलि आदि अन्य अनेक भक्त कवि भी हुए हैं जिनकी रचनाएं न्यूनाधिक संख्या में उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें कोई वैसी उल्लेखनीय बात नहीं दीख पड़ती। वास्तव में अभी तक इस सम्प्रदाय का पूरा परिचय ही उपलब्ध नहीं है और न इसके साहित्य का कोई समुचित प्रकाशन ही हो पाया है। इसमें राधा की प्रधानता के आ

जाने से उसके कृष्ण के साथ उस सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं रह जाता जो स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित सखी-सम्प्रदाय द्वारा कल्पित किया गया था तथा जिसके अनुसार ही नित्यविहार के एक अनुपम रूप की सृष्टि हो पाई थी।

स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्त्तित सखी-सम्प्रदाय की बातों को उनके विशुद्ध सख्यरस की भावनानुसार कदाचित किसी भी अन्य सम्प्रदाय ने नहीं अपनाया और न स्वयं उनके भी सभी अनुयायियों ने उसके रहस्य को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया। हितहरिवंशजी के राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के साथ उसकी बहुत कुछ समानता जान पड़ी, किन्तु वहां पर भी हम इन दोनों के बीच कम-से-कम नित्य वृन्दावन की भावना तक में महान अन्तर पाते हैं। इसी प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय, निम्बार्क-सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय तथा ललित सम्प्रदाय आदि ने सखीभावना को न्यूनाधिक महत्त्व देते हुए भी उसके साथ कहीं गोपीतत्त्व तो कहीं राधातत्त्व की विलक्षणता के कारण पूरा सामंजस्य स्थापित नहीं किया और फलतः उसका मौलिक रूप अपने ढंग का अकेला ही दीख पड़ा। सखी या सखियों के समूह की भावना का कुछ-न-कुछ परिचय हमें उन कतिपय सम्प्रदायों की साधना में भी मिलता है जो निर्गुणी वर्ग के माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, प्राणनाथ के धामी सम्प्रदाय, चरणदास के चरणदासी सम्प्रदाय तथा शिवनारायण के शिवनारायणी सम्प्रदाय में भी हमें इसके कोई-न-कोई रूप उपलब्ध होते हैं। परन्तु इनके सम्बन्ध में यहां पर विचार करने की कोई आवश्यकता विशेषकर इसलिए प्रतीत नहीं होती कि इनके यहां वैसे नित्यविहार की घटनाओं की व्याख्या प्रायः उन्हें रूपक मानकर करने की परम्परा है जिस कारण, यहां इनका अभिप्राय ही भिन्न हो जा सकता है। इसी प्रकार जहां तक मराठी के महानुभाव पंथ अथवा वारकरी सम्प्रदाय के यहां उपलब्ध कृष्णोपासना का प्रश्न है हम वहां पर भी किसी ऐसी भावना का स्पष्ट उदाहरण नहीं पाते और न वहां पर इसकी कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है। सखी-सम्प्रदाय की विशुद्ध भावना, उस पर से साम्प्रदायिकता का आवरण हटा देने पर भी, स्वयं अपना एक मूल्य रख सकती है।



वल्लभ-सम्प्रदाय के समर्थ साहित्यकार : श्री हरिरायजी

श्री प्रभुदयाल मीतल

भारतवर्ष के जिन धर्माचार्यों ने अपने तप-त्याग, ज्ञान-बोध, भक्ति-भाव और उज्ज्वल चरित्र से यहां के जन-जीवन को प्रभावित करने के अतिरिक्त अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से इस देश के धार्मिक साहित्य को भी समृद्ध किया है, उनमें वल्लभ-सम्प्रदाय के गोस्वामी हरिरायजी का नाम उल्लेखनीय है। वल्लभ-सम्प्रदाय में तो उनका महत्त्व सर्वश्री वल्लभाचार्यजी, विट्ठलनाथजी और गोकुलनाथजी के पश्चात सबसे अधिक माना जाता है। जहां तक केवल साहित्य-सृजन का सम्बन्ध है, हरिरायजी का स्थान वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यों में ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष के समस्त धर्माचार्यों की अग्रिम पंक्ति में रखा जा सकता है। रचना-परिमाण और ग्रंथ-संख्या की दृष्टि से भारत के इने-गिने समर्थ साहित्यकार ही उनकी समता कर सकते हैं।

मध्यकालीन हिन्दी (ब्रजभाषा) साहित्य के दो समर्थ निर्माता महात्मा सूरदास और चाचा वृन्दावनदास भी अपने रचनाबाहुल्य के लिए विख्यात हैं; किन्तु गोस्वामी हरिरायजी से उनकी तुलना करना उचित न होगा। महात्मा सूरदास और चाचा वृन्दावनदास ने केवल ब्रजभाषा के काव्य साहित्य को ही समृद्ध किया है, जबकि श्री हरिरायजी ने ब्रजभाषा के साथ-ही-साथ संस्कृत भाषा को, तथा काव्य-साहित्य के साथ-ही-साथ पद्य-साहित्य को भी अपनी महत्त्वपूर्ण देन दी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में भी अनेक रचनाएं की हैं। इन सब भाषाओं में रचे हुए उनके गद्य-पद्यात्मक छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या २५० के लगभग है। इसीसे उनके अनुपम साहित्य-सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में उल्लेख

आश्चर्य की बात है, हिन्दी के ऐसे महान साहित्यकार का समुचित महत्त्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में वर्णित नहीं है! आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास-कृत हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथों में उनका नामोल्लेख भी नहीं हुआ है। सर्वश्री मिश्रबन्धु, डा० रसाल, डा० रामकुमार वर्मा और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विख्यात रचनाओं में उनका नाम अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण सूचना के साथ लिखा गया है।

सर्वश्री मिश्रबन्धुओं ने गो० हरिरायजी के जीवन-वृत्तान्त के सम्बन्ध में एक शब्द भी न लिखकर उनकी कतिपय वार्ता-पुस्तकों का नामोल्लेख-मात्र किया है, जो अशुद्ध और अपूर्ण है। उन्होंने हरिरायजी का रचना-काल भी गलत लिखा है।[1]

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने इतिहास के 'भक्ति-काल में गद्य-रचना' शीर्षक के अन्तर्गत गो० विट्ठलनाथ, नन्ददास और गोकुलनाथजी के गद्य-ग्रंथों का उल्लेख करते हुए यह 'नोट' लिखा है :

"जान पड़ता है कि वार्ता लिखने की शैली-सी चल पड़ी थी, क्योंकि इसी प्रकार की वार्ताएं श्री हितहरि जी ने भी लिखी हैं। उक्त ग्रंथ व्रजभाषा गद्य में हैं।"[2]

---

१. 'मिश्रबन्धुविनोद' (प्रथम संस्करण), पृ० ३५७

२. डा० रसाल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (प्रथम संस्करण), पृ० ३७४

यहां पर 'हितहरिजी' से डा० रसाल का अभिप्राय कदाचित हरिरायजी से ज्ञात होता है। श्री हरिरायजी ने रसिक, रसिकराय, रसिकप्रीतम, हरिदास, हरिधन आदि कई उपनामों से भी रचनाएं की हैं, किन्तु उनका 'हितहरि' नाम हमारे देखने में नहीं आया है। 'हित' विशेषण विशेषतया राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हरिवंश जी के लिए और साधारणतया सभी राधावल्लभीय आचार्यों के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए रसालजी द्वारा उल्लिखित 'श्री हितहरि जी' से भी किसी राधावल्लभीय आचार्य का भ्रम हो सकता है। गो० विट्ठलनाथ और नंददास को ब्रजभाषा गद्य का लेखक मानना भ्रमात्मक है। इसके साथ ही यदि वार्ता-लेखन को ब्रजभाषा गद्य की कोई विशिष्ट शैली माना जाय, तो गो० हरिरायजी स्वयं उस शैली के निर्माता थे, न कि अनुयायी। अब यह भली भांति सिद्ध हो गया है कि ब्रजभाषा-गद्यलेखक के रूप में जो श्रेय गो० गोकुलनाथ जी को दिया जाता है, उसके वास्तविक अधिकारी श्री हरिराय जी हैं।

डा० रामकुमार वर्मा और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की विख्यात रचनाओं में सूरदास जी की जीवनी के मूलाधार 'भावप्रकाश' के रचयिता रूप में श्री हरिराय जी का नामोल्लेख मात्र हुआ है।[१] इसके अतिरिक्त उन ग्रंथों में न तो हरिराय जी के जीवन-वृत्तान्त तथा उनके प्रचुर साहित्य के सम्बन्ध में कुछ लिखा गया है और न हिन्दी-गद्य के विकास में 'भावप्रकाश' तथा हरिरायजी-कृत बहुसंख्यक वार्ता-ग्रंथों का ही मूल्यांकन किया गया है।

इससे प्रकट होता है कि हिन्दी साहित्य के सर्वमान्य इतिहासकारों को श्री हरिराय जी और उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं से भली भांति परिचय नहीं है। इस कमी की ओर इंगित करते हुए हमने अब से प्रायः १३ वर्ष पूर्व अपने ग्रंथ 'अष्टछापपरिचय' के प्रथम संस्करण में ही श्री हरिरायजी के जीवन-वृत्तान्त और उनके वार्ता-साहित्य पर प्रकाश डाला था। इस अवधि में हिन्दी साहित्य के अनेक छोटे-बड़े इतिहास और आलोचना-विषयक ग्रंथ प्रकाशित हो गए तथा कई शोध-प्रबंध लिखे गए; किन्तु उनमें से किसी में भी श्री हरिरायजी के जीवन-वृत्तांत और उनके साहित्य का समुचित परिचय देने का प्रयास नहीं हुआ है।

अभी कुछ समय पूर्व प्रयाग की 'भारतीय हिन्दी परिषद' ने 'हिन्दी साहित्य' का द्वितीय खंड प्रकाशित किया है। इसकी प्रस्तावना में लिखा गया है:

"कृष्ण-भक्ति साहित्य में कृष्णाख्यान और कृष्ण-काव्य की प्राचीन परम्पराओं का हिन्दी में कदाचित पहली बार उद्घाटन हुआ है। इस अध्याय में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुए हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप में समीक्षा की गई है।"[२]

उक्त ग्रन्थ के 'कृष्ण भक्ति साहित्य' सम्बन्धी अध्याय को डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने लिखा है। डा० वर्मा हिन्दी वैष्णव साहित्य के अध्येता हैं, किन्तु उन्होंने **हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन** दृष्टि से सामूहिक रूप में **समीक्षा** करते हुए भी गो० हरिराय जी की रचनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया है। पता नहीं, वह उनकी दृष्टि में आई भी है या नहीं। उन्होंने सूर-साहित्य के प्रकाश में पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा की झांकी प्राप्त न कर सकने पर लिखा है:

"सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य और पुष्टिमार्ग के 'जहाज' माने जाते हैं, परन्तु उनके 'सूरसागर' के आधार पर शुद्धाद्वैत दर्शन अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। उन्होंने पुष्टिमार्ग के इष्टदेव श्रीनाथजी का भी स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में वर्णन नहीं किया है।"[3]

सूरसागर का निश्चित रूप अभी स्पष्ट नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में कोई अन्तिम बात कहना ठीक न होगा। 'सूर-सारावली' से '**पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त**' किया जा सकता है;

---

१. डा० वर्मा-कृत 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृतीय संस्करण), पृ० ५२१; और डा० द्विवेदी-कृत 'हिन्दी साहित्य' (प्रथम संस्करण), पृ० १७३

२. हिन्दी साहित्य—प्रस्तावना, पृ० ५

३. हिन्दी साहित्य—द्वितीय खंड, पृष्ठ ३५५

किन्तु डा० वर्मा इसे सूरदास की रचना ही नहीं मानते हैं, यह कठिनाई है। चाहे डा० वर्मा के मतानुसार यह अष्टछापी सूरदास की रचना न हो, किन्तु वह पुष्टि-सम्प्रदायी किसी सूरदास की रचना तो है ही; फिर वह उससे ही वल्लभ-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने से क्यों वंचित रहे? सूरदास को पुष्टि-मार्ग का 'जहाज' लिखने-वाले श्री हरिरायजी के वार्ता-साहित्य और कीर्तन के पदों में पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा का विस्तारपूर्वक विवेचन मिलता है। उनकी 'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' में श्रीनाथ जी का भी स्पष्ट वर्णन किया गया है। यदि डा० ब्रजेश्वर इस अध्याय के लिखने से पहिले श्री हरिरायजी के साहित्य से परिचय प्राप्त कर लेते, तो जहां वह पुष्टि-सम्प्रदायी भक्ति और सेवा-पद्धति पर प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाल सकते थे, वहां हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को भी नई सामग्री से परिचित कर सकते थे। इसके अभाव में उन्होंने श्री हरिराय जी के सम्बन्ध में केवल ६३ पंक्तियां लिखकर ही सन्तोष कर लिया और इस अध्याय के 'परिशिष्ट' में जो 'कृष्ण-भक्ति साहित्य की सूची' दी गई है, उसमें श्री हरिरायजी की दर्जनों रचनाओं में से किसी का भी नामोल्लेख नहीं किया।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, वल्लभ-सम्प्रदाय में श्री हरिरायजी का नाम सर्वश्री वल्लभाचार्यजी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी के बाद सबसे अधिक प्रसिद्ध है; किन्तु उनके जीवन-वृत्तान्त से सम्बन्धित कोई प्राचीन ग्रंथ वहां भी उपलब्ध नहीं होता है। हरिरायजी-कृत वार्ताएं, शिक्षा-पत्र और कीर्तन के पदों के अन्तःसाक्ष्य से तथा गोकुलनाथ जी के 'वचनामृत' और विट्ठलनाथ भट्ट-कृत 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' के बहिःसाक्ष्य से उनके जीवन के कुछ सूत्र उपलब्ध होते हैं, जिनका परिचय वल्लभ सम्प्रदायी कतिपय अध्ययनशील व्यक्तियों को ही है। शायद इसी कारण हिन्दी साहित्य के विद्वान लेखकों को हरिराय जी का परिचय नहीं है। वल्लभ-सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान श्री द्वारकादास परीख ने गुजराती भाषा में श्री हरिरायजी की विस्तृत जीवनी लिखी है और हमने हिन्दी भाषा में 'अष्टछाप-परिचय' द्वारा उनकी जीवनी और रचनाओं पर कुछ प्रकाश डाला है। यदि हिन्दी साहित्य के उक्त विद्वान इन रचनाओं को देख लेते, तो वे श्री हरिरायजी के सम्बन्ध में इतने अज्ञान में नहीं रहते। किन्तु वे तो विश्वविद्यालय के बाहर की रचनाओं को मान्यता देना कदाचित अपना अपमान समझते हैं।

संक्षिप्त परिचय

श्री हरिरायजी गोसाईं विट्ठलनाथजी के प्रपौत्र और गो० कल्याणरायजी के पुत्र थे। उनका जन्म सं० १६४७ श्री भाद्रपद कृ० ५ को ब्रज के गोकुल ग्राम में हुआ था। श्री हरिराय जी के समय में गोकुल वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। गोसाईं विट्ठलनाथजी के सातों पुत्रों, उनके वंशजों तथा सेव्य स्वरूपों के कारण वह वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तजनों का प्रमुख तीर्थस्थल बना हुआ था। ऐसे पुण्य-स्थल के धार्मिक वातावरण में श्री हरिरायजी का जन्म और उनकी जीवन-चर्या का आरम्भ हुआ था।

गो० गोकुलनाथ जी सुप्रसिद्ध गोसाईं विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र थे। वे अपनी प्रकांड विद्वत्ता और अनुपम भक्ति-भावना के कारण अपने समय में वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रमुख व्याख्याता के रूप में विख्यात थे। उनके शिक्षण और सत्संग से श्री हरिरायजी भी वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धान्तों और साहित्य के प्रमुख विद्वान हो गए थे। वह आरम्भ से ही गो० गोकुलनाथ जी के सम्पर्क में रहे थे, अतः उनकी जीवनचर्या, भक्ति-भावना और रचनाओं का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। वह गो० गोकुलनाथ जी की रचनाओं के विशेषज्ञ और उनके सम्पादक तथा प्रचारक थे।

श्री हरिरायजी का अधिकांश जीवन यद्यपि गोकुल, गोवर्धन आदि ब्रज के वल्लभ-सम्प्रदायी केन्द्रों में निवास करते हुए बीता था, तथापि वह समयानुसार देशव्यापी यात्राएं भी किया करते थे। उन यात्राओं में उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धान्त, भक्ति, उपासना और सेवा-विधि का व्यापक प्रचार करने के साथ-ही-साथ सर्वश्री वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के शिष्य-सेवकों की जीवन-गाथाओं के अन्वेषण का महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया था। उनके अन्वेषण से उपलब्ध तथ्यों का परिचय उनकी रची हुई वार्ताओं में मिलता है।

अपनी यात्राओं में प्रवचन और प्रचार के निमित्त उन्होंने जिन स्थानों में दीर्घकालीन निवास किया

था, वहां उनकी 'वैठकें' वनी हुई हैं। ये वैठकें अधिकतर व्रज, राजस्थान और गुजरात में हैं। इनसे ज्ञात होता है कि हरिराय जी ने उक्त प्रदेशों की विशेष रूप से यात्राएं की थीं। उन वैठकों में सात मुख्य हैं, जो निम्न स्थानों में वनी हुई हैं :

१—गोकुल, २—सांवली, ३—डाकोर, ४—जंबुसर, ५—जैसलमेर, ६—नाथद्वारा, और ७—खिमनौर।

संवत १७२६ में औरंगजेव ने व्रज के विख्यात देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट करने की आज्ञा दी थी। उसके फल-स्वरूप मथुरा का भारत-प्रसिद्ध श्री केशवदेवजी का विशाल मन्दिर तोड़ा गया और वृन्दावन के कई वड़े मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गए। उस संकट-काल में व्रज के वल्लभवंशीय गोस्वामी-गण गोकुल-गोवर्धन के स्थायी आवास का परित्याग कर अपने सेव्य स्वरूप और धार्मिक ग्रन्थों सहित विभिन्न हिन्दू राज्यों में पलायन करने के लिए वाध्य हुए थे। वल्लभ-सम्प्रदाय का सर्वमान्य श्रीनाथ जी का देव-विग्रह भी गुप्त रीति से उसी काल में गोवर्धन से मेवाड़ ले जाया गया, जो अभी तक वहां के श्रीनाथद्वारा नामक स्थान में विराजमान है। संवत १७२६ की आश्विन शुक्ला १५, शुक्रवार की रात्रि को श्रीनाथजी का रथ गोवर्धन से चला था। उसके साथ कतिपय गोस्वामी-गण अत्यन्त आवश्यक साज-सामान सहित थे। वे लोग गुप्त रूप से विभिन्न हिन्दू राज्यों का चक्कर काटते हुए मेवाड़ के सिंहाड़ नामक स्थान में जा पहुंचे। वहां पर मन्दिर वनवाकर संवत १७२८ की फाल्गुण कृष्णा ७, शनिवार को उसमें श्रीनाथ जी को पधराया गया। इस प्रकार श्रीनाथ जी को गोवर्धन से हटाकर और सिंहाड़ के मंदिर में विराजमान करने तक दो वर्ष चार महीना सात दिन का समय लगा था। उस काल में निष्कासित गोस्वामी-गण को नाना प्रकार के संकट सहन करने पड़े थे, किन्तु वे अपने आराध्यदेव श्रीनाथ जी को सुरक्षित स्थान में ले जाने में सफल हो गए। उस ऐतिहासिक यात्रा में श्रीनाथ जी ने जिन स्थानों में अस्थायी निवास किया था, वहां उनकी 'चरणचौकियां' वनी हुई हैं। उस यात्रा का विस्तारपूर्वक वर्णन हरिरायजी-कृत 'श्री गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्ता' में किया गया है। मेवाड़ का वह अप्रसिद्ध सिंहाड़ ग्राम श्रीनाथजी के मंदिर के कारण 'श्रीनाथद्वारा' नाम से अव समस्त भारत में विख्यात है।

श्री हरिरायजी अपने जन्मकाल से सं० १७२६ तक व्रज में रहे थे। इसके पश्चात वह भी औरंगजेवी अत्याचार के कारण अपनी ८० वर्ष की वृद्धावस्था में व्रज से मेवाड़ आने को विवश हुए थे और फिर वहां स्थायी रूप से अपने देहावसान काल तक रहे थे। उनका देहावसान १२५ वर्ष की पूर्णायु प्राप्त करने के अनन्तर संवत् १७७२ में मेवाड़ के खिमनौर नामक स्थान में हुआ था। वहां पर वावड़ी के उपर उनकी छतरी वनी हुई है।

श्री हरिरायजी के अनेक शिष्य, सेवक और भक्त थे। उनमें विट्ठलनाथ भट्ट, हरजीवनदास, प्रेमजी और शोभा माजी के नाम अधिक प्रसिद्ध है। विट्ठलनाथ भट्ट ने हरिरायजी के मुख से सुनकर वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यो और शिष्य-सेवकों की जीवन-गाथाओं का विशद ज्ञान प्राप्त किया था। इसे उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' नामक ग्रंथ में व्यक्त किया है। इस ग्रंथ की रचना व्रजभाषा पद्य में है और वह किशनगढ़ के राजा मानसिंह के लिए रचा गया था। इसका उल्लेख विट्ठलनाथ भट्ट ने इस प्रकार किया है :

स्रवन सुन्यौ हरिराय मुख, करन लिख्यौ नृप मान।
उदित 'संप्रदाय कल्पद्रुम, मम कृत छन्द सुजान॥

'सम्प्रदायकल्पद्रुम' की रचना से पहले वल्लभ-सम्प्रदायी ग्रंथों में तिथि-संवत-सहित घटनाएं वर्णित नहीं हुई थीं। इस ग्रंथ में सर्वप्रथम वल्लभ-सम्प्रदायी आचार्यो और उनके शिष्य-सेवकों का तिथि-संवत-सहित वृतान्त लिखा गया है, जो वल्लभ-सम्प्रदाय के आरम्भिक इतिहास जानने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसमें उल्लिखित कतिपय तिथि-संवत अशुद्ध हैं, जो इसके रचयिता की असावधानी के द्योतक है। ऐसा जान पड़ता है, ग्रंथकार ने अपने से पूर्व की तिथियां निर्धारित करने में विशेष सावधानी से काम नहीं लिया है, किन्तु उसके समय के तिथि-संवत प्रायः प्रामाणिक हैं।

श्री हरिरायजी के चार पुत्र हुए थे। उनके नाम सर्वश्री गोविन्दजी, विट्ठलरायजी, घोटा जी और गौराजी थे। उन चारों का ही असमय में देहावसान हो गया था। इस प्रकार वल्लभ-सम्प्रदाय के द्वितीय गृह की मूल परम्परा

श्री हरिरायजी के पश्चात समाप्त हो गई थी। श्री हरिरायजी के वंश को चलाने के लिए उनकी वहू जी ने प्रथम गृह के तिलकायत दामोदर जी (वड़े दाऊजी) के द्वितीय पुत्र गिरधारीजी (जन्म-संवत १७४५) को गोद ले लिया था। वही श्री हरिरायजी के पश्चात उनकी गद्दी के अधिकारी और द्वितीय गृह के प्रतिनिधि हुए थे। हरिरायजी के देहावसान के समय गिरिधारीजी की आयु २७ वर्ष के लगभग थी। द्वितीय गृह के प्रतिनिधि-स्वरूप श्री हरिरायजी के वंशजों की गद्दियां नाथद्वारा, इन्दौर, वम्बई (लाल वावा) और नडियाद में हैं।

रचनाएं

श्री हरिरायजी का सर्वाधिक महत्त्व उनके प्रचुर साहित्य और वहुसंख्यक ग्रंथों के कारण है। उनके धर्माचार्य-गण संस्कृत की विशेष योग्यता प्राप्त कर उक्त भाषा में अध्ययन, मनन और ग्रंथ-रचना करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के आचार्य भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और सुप्रसिद्ध ग्रंथकार थे। उनमें सर्वश्री वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के नाम अपनी अपूर्व और महत्वपूर्ण विद्वत्ता के कारण विख्यात हैं। श्री हरिरायजी भी अपने उन गौरवशाली पूर्वजों की परम्परा में संस्कृत के अद्वितीय विद्वान थे। उन्होंने उक्त भाषा में जितने ग्रंथों की रचना की, उतनी वल्लभ-सम्प्रदाय ही नहीं, वरन किसी भी सम्प्रदाय के धर्माचार्य ने शायद ही की हो। श्री द्वारकादास जी परीख ने गुजराती भाषा में लिखे हुए श्री हरिरायजी के जीवन-चरित्र में उनकी १६६ संस्कृत रचनाओं की सूची इस प्रकार दी है—

१—मार्ग स्वरूप निर्णय, २—स्वमार्गीय कर्त्तव्यनिरूपण, ३—स्वमार्गीयसाधन रहस्य, ४—भक्ति मार्ग पुष्टिमार्गत्व निश्चय, ५—भक्ति द्वैविध्य निरूपण, ६—स्वमार्गीय भक्ति द्वैविध्य विवेक, ७—स्वमार्गीय मुक्ति द्वैविध्य निरूपण, ८—स्वमार्गीय सेवाफल रूपनिरूपण, ९—पुष्टिमार्गीय स्वरूप निरूपण, १०—स्वमार्गीय स्वरूप स्थापन प्रकार, ११—श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकार, १२—स्वमार्गीय शरण समर्पण सेवादि निरूपण १३—पुष्टि पथ मर्म निरूपण, १४—पुष्टिमार्गलक्षणानि, १५—ब्रह्म सम्बन्ध वाक्य कठिनांश विवेचनम्, १६—अष्टाक्षर मन्त्र पूर्व पक्ष निर्यास, १७—स्वमार्ग मर्यादा निरूपण, १८—स्वमार्ग रहस्य निरूपण, १९—मधुराष्टक तात्पर्य, २०—सर्वात्मभाव निरूपण, २१—निवेदन तात्पर्यार्थ, २२—स्वमार्ग मूल निरूपण, २३—मूल रूप संशय निराकरण, २४—श्री महाप्रभु प्राकट्य हेतु निर्णय, २५—श्री पुरुषोत्तम स्वरूपाविर्भाव निर्णय, २६—स्वमार्गीय भावना स्वरूप निरूपण, २७—स्वरूप तारतम्य निर्णय, २८—अंतरंग वहिरंग प्रपंच विवेक, २९—भाव साधक बाधक निरूपण, ३०—श्री कृष्ण शब्दार्थ निरूपण, ३१—श्रीमत्प्रभोः सर्वान्तिरत्व निरूपण, ३२—श्रीमत्प्रभोः प्रादुर्भाव प्रकार निरूपण, ३३—भगवत्प्रादुर्भाव सिद्धान्त, ३४—प्रभुप्रादुर्भाव विचार, ३५—प्रभु प्रागट्य विचार, ३६—श्रीमत्प्रभोर्वयो निरूपण, ३७—अष्टाक्षर मन्त्रार्थ, ३८—गद्यार्थ, ३९— पुष्टिमार्गीय ध्यान प्रकार विवेचन, ४०—जप समये स्वरूप ध्यान, ४१—स्वमार्ग शरणद्वय निरूपण, ४२—स्वमार्गीय संन्यास वैलक्षण्य निरूपणम्, ४३—जन्म वैफल्य निरूपणाष्टक, ४४—दुःख-संग-विज्ञान-प्रकार निरूपण, ४५—कामाख्य दोष विवरण, ४६—निष्काम लीला, ४७—वहिर्मुखत्व निरूपण, ४८—वहिर्मुखत्व निवृत्ति, ४९—भगत्प्रकृति वर्णन, ५०—कथा श्रवण बाधक निर्णय, ५१—सत्संग निर्णय, ५२—गवां स्वरूप वर्णनम्, ५३—कार्पण्योक्ति, ५४—मद त्याग हेतु, ५५—मार्ग शिक्षा, ५६—निजाचार्याष्टक, ५७—वल्लभ पंचाक्षर स्तोत्र, ५८—वल्लभ भावाष्टक, ५९—प्रभाताष्टक, ६०—श्री गोकुलेश सेवाह्निक, ६१—गोकुल चन्द्राष्टक, ६२—श्री नवनीत प्रियाष्टक, ६३—भुजंग प्रयाताष्टक, ६४—स्मरणाष्टक, ६५—स्व प्रभु विज्ञप्ति, ६६—द्वितीय स्वप्रभु विज्ञप्ति, ६७—श्री कृष्ण चरण विज्ञप्ति, ६८—विज्ञप्ति, ६९—दैन्याष्टक, ७०—षोडश स्तोत्र, ७१—श्री कृष्ण शरणाष्टक, ७२—द्वितीय श्री कृष्ण शरणाष्टक, ७३—पंचाक्षर मन्त्र गर्भ स्तोत्र, ७४—भगवच्चरण चिह्न वर्णन, ७५—नैवेद्य सम्बन्धि स्तोत्र, ७६—मध्याह्न लीला, ७७—श्री गोकुल

प्रवेश लीला, ७८—प्रमाणिकाष्टकम्, ७९—श्री गिरिधराष्टक, ८०—प्रार्थनाष्टकम्, ८१—श्री गोपीजन वल्लभाष्टक, ८२—प्रातः युगल स्मरण, ८३—श्री नागरी नागर स्तोत्रम्, ८४—विपरीत शृंगार फल कम्, ८५—श्री राधाष्टकम्, ८६—मुख्य शक्ति स्तोत्र, ८७—स्वामिनी प्रार्थनाष्तक, ८८—श्री यमुन विज्ञप्ति, ८९—श्री वल्लभ शरणाष्टक, ९०—श्री वल्लभ चरण विज्ञप्ति, ९१—दैन्याष्टक ९२—हा ह दैन्याष्टक, ९३—श्री वल्लभ भावाष्टक, ९४—श्री वैश्वानराष्टक, ९५—श्रीमदाचार्य सकलावतार साम्य रूप निरूपणम्, ९६—श्री महाप्रभोरष्टोत्तरशतानामानि, ९७—श्रीमदाचार्य चिन्तनम्, ९८—प्रातः स्मरण, ९९—श्री विट्ठलेश अष्टोत्तरशतनामानि, १००—श्री गोकुलेश अष्टोत्तरशतनामानि १०१—श्रीगुरुदेवाष्टक, १०२—प्रभु स्वरूप निरूपणाष्टक, १०३—स्वप्रभु विज्ञप्ति, १०४—रसात्मक भाव स्वरूप निरूपण, १०५—चतुःश्लोकी, १०६—भगवदीय परीक्षणम्, १०७—ग्रन्य, १०८—तदीयाना शिक्षणम्, १०९—सिद्धान्त संक्षेप निरूपण, ११०—ग्रन्य, १११—ग्रन्य, ११२—स्वमार्ग सर्वस्वम् ११३—गर्वापहाराष्टक, ११४—राजभोग भावना, ११५—बीटिका समर्पण भाव निरूपण, ११६—स्वतन्त्र लेख, ११७—फल विवेक, ११८—भगवत्शास्त्र निर्णय, ११९—वाक् चक्षुर्मुख्यत्व निरूपण, १२०—सर्वभोग्य सुधाधिक्य निरूपण, १२१—चतुर्भुज स्वरूप विचार, १२२—भाव पोपकम्, १२३—गोपी वचन दिन-निर्वाहकम्, १२४—दास्याष्टकम्, १२५—श्री नृसिंह वामन जन्मन्तुत्सवव्रत वैशिष्ट्यम्-१२६—श्री भागवत पुस्तक नित्य पूजन विधि, १२७—षट् षष्टि अपराधः फलानि, तत्प्रायश्चित्तानि च, १२८—अष्टपदी, १२९—अन्य, १३०—पदानि, १३१—ग्रन्य, १३२—पद्यम्, १३३—ग्रन्य, १३४—गुणसागर, १३५—शिक्षापत्र, १३६—ब्रह्मवाद, १३७—सहस्रश्लोकी भावना, १३८—अष्ट पदियां, १३९—संस्कृत पद, १४०—सप्तश्लोकी अर्थ, १४१—वैष्णवाह्निक, १४२—सेवा पद्धति, १४३—भक्ति विवेक, १४४—वल्लभप्रादुर्भाव, १४५—दम्पत्योरेक गुरु शिष्यत्वे दोषाभाव विचार, १४६—भक्तिमार्गे पुष्टि मार्गत्व निश्चय, १४७—भक्तिविधिविवृति, १४८—मधुराष्टक तात्पर्य, १४९—विट्ठलनाथाष्टक, १५०—गोविन्दाष्टक, १५१—त्वदीयाष्टक, १५२—निरूपणाष्टक, १५३—शून्यवाद, १५४—हरिशरणाष्टक, १५५—सर्वोत्तम टीका, १५६—षष्टिपूजन, १५७—मार्गानुक्रम ध्यान, १५८—गोकुलेश विज्ञप्ति, १५९—गोकुलेशाष्टक, १६०—सेव्य-ग्रसेव्य स्वरूपभेद निरूपण, १६१—भगवत्स्तुति, १६२—त्वदीयत्व सिद्धि १६३—'ममोत्तम' श्लोक-व्याख्या, १६४—निज सिद्धान्त रहस्य, १६५—छप्पन भोग विधान, १६६—श्री कल्याणराय अष्टोत्तरशतनामानि।

उपर्युक्त ग्रथ-सूची में 'अष्टक' 'स्तोत्र' आदि छोटी रचनाओं की संख्या निश्चय ही बहुत अधिक है; किन्तु उनकी मझोली और बड़ी रचनाएं भी कम नहीं हैं। उनमें 'शिक्षापत्र' नामक रचना का वल्लभ-सम्प्रदाय में अत्यधिक प्रचार है। इस सम्प्रदाय के अनेक श्रद्धालु भक्तजन इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं।

श्री हरिरायजी के समय में संस्कृत के विद्वान 'भाषा' में रचना करना अनावश्यक ही नहीं, बल्कि अपने लिए अपमानजनक भी समझते थे। गो० गोकुलनाथजी ने इसके विरुद्ध वार्ताओं की रचना कर व्रजभाषा गद्य के प्रचार और प्रसार का मार्ग-प्रदर्शन किया था और श्री हरिरायजी ने उनका अनुकरण किया था।

गो० गोकुलनाथ जी वल्लभ-सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान होने के साथ-ही-साथ सुप्रसिद्ध व्याख्याता और प्रभावशाली वक्ता भी थे। वह वल्लभ-सम्प्रदायी सिद्धांतग्रंथों की व्याख्या और सुबोधिनी की कथा के अनंतर सर्वश्री वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी के शिष्य-सेवकों की जीवनियों के मार्मिक प्रसंगों का कथन किया करते थे। वल्लभ-सम्प्रदायी भक्तजनों की पावन जीवनचर्या-विषयक गोकुलनाथ जी के वे प्रवचन इतने रोचक और शिक्षाप्रद होते थे कि श्रोतागण उन्हें बड़ी श्रद्धापूर्वक सुना करते थे। गोकुलनाथ जी के अन्तरंग सेवक और लिपिक, जिनमें कल्याण भट्ट प्रमुख थे, उन मौखिक प्रवचनों को लिख लेते थे। इस प्रकार के लिपिबद्ध विवरण 'वचनामृत' के नाम से विख्यात हैं। गोकुलनाथ जी के वे वचनामृत उनके नाम से प्रसिद्ध वार्ताओं के मूल रूप हैं। इस प्रकार की मौखिक रचनाओं में

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' विशेष प्रसिद्ध हैं। उन वचनामृतों के लिखित रूप में प्रचार होने के बहुत दिनों बाद श्री हरिरायजी ने गोकुलनाथ जी के तत्त्वावधान और निरीक्षण में उनका संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण करते हुए यत्र-तत्र उनके नाम का भी समावेश किया था। इस प्रकार उन वार्ताओं के कर्त्ता रूप में गो० गोकुलनाथ जी का नाम प्रसिद्ध हुआ। गोकुलनाथ जी उन वार्ताओं के कर्त्ता और वक्ता अवश्य थे, किन्तु उनके लेखक श्री हरिरायजी ही थे।

गोकुलनाथजी-कृत वार्ताओं के संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण के अतिरिक्त उनके प्रसंगों की पूर्ति और गूढ़ भावों के स्पष्टीकरण के लिए हरिरायजी ने उनमें अपनी 'भाव' नामक टिप्पणियां भी लगाई थीं। इस प्रकार की सटिप्पण वार्ताएं 'भावप्रकाश' युक्त अथवा 'भावना' वाली वार्ताएं कहलाती हैं, जिनकी रचना हरिरायजी के उत्तर जीवन में हुई थी।

हरिरायजी के शिष्य विट्ठलनाथ भट्ट ने सं० १७२९ में जिस 'सम्प्रदायकल्पद्रुम' ग्रंथ की रचना की थी, उसमें हरिरायजी के संक्षिप्त जीवनवृत्त के साथ उनकी अनेक रचनाओं का भी नामोल्लेख हुआ है; किन्तु उसमें 'भाव प्रकाश' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि उसकी रचना हरिरायजी के उत्तर जीवन में सं० १७२९ के पश्चात हुई थी।

'भावप्रकाश' अथवा 'भावना' वाली वार्ताओं से जहां साम्प्रदायिक भक्ति, उपासना और सेवा-विषयक गूढ़ रहस्यों के स्पष्टीकरण के लिए लोक-भाषा के उपयोग का महत्त्व बढ़ा, वहां भाषा-ग्रंथों पर टीका-टिप्पणी लिखने की पद्धति का भी प्रचार हुआ। सम्भवतः उसी के अनुकरण पर नाभाजी-कृत 'भक्तमाल' पर सं० १७८० में प्रिया-दासजी ने भाषा-टीका लिखी थी। उसके बाद केशव, बिहारी आदि हिन्दी कवियों की रचनाओं पर भी अनेक गद्य-पद्यात्मक टीकाएं लिखी गई थीं।

हरिरायजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विविध वार्ताओं की रचना करना है, जिसने उन्हें वल्लभ-सम्प्रदाय के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य में भी अमर कर दिया है। उनके द्वारा रचित विभिन्न प्रकार के ४२ छोटे-बड़े वार्ता-ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :

१—महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता, २—श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, ३—निजवार्ता, ४—निजवार्ता (दूसरी), ५—महाप्रभु जी और गुसाईं जी के स्वरूपन कौ विचार, ६—श्रीनाथ जी के चरणचिह्न, ७—श्री गोकुलनाथ जी के बैठक चरित्र, ८—शरण मंत्र व्याख्या, ९—तृतीय घर की उत्सव मालिका १०—६४ अप-राध वर्णन ११—रास कौ प्रसंग, १२—समर्पण गद्यार्थ, १३—समर्पण गद्यार्थ (दूसरौ), १४—शिक्षा पत्र भाषा, १५—जप प्रकार, १६—भगवत स्वरूप निरूपण, १७—दस मर्म भाषा, १८—मार्ग स्वरूप सिद्धांत, १९—पुष्टि दृढ़ाव, २०—द्विदलात्मक स्वरूप विचार, २१—स्फुट वचनामृत, २२—चौरासी वैष्णवन की वार्ता (भावनावाली) २३—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (भावनावली), २४—महाप्रभुजी की प्राकट्य वार्ता (भावनावाली), २५—निज वार्ता (भावना वाली), २६—घरू वार्ता (भावना वाली), २७—सात स्वरूपन की भावना, २८—सात स्वरूपन की भावना (दूसरी), २९—चरण चिह्न की भावना, ३०—स्वामिनी चरण चिह्न भावना, ३१—सात बालकन के स्वरू-पन की भावना, ३२—नित्य लीला की भावना, ३३—द्वादश निकुंज की भावना, ३४—वन-यात्रा की भावना, ३५—नवग्रहों की भावना, ३६—श्रीनाथद्वारे की भावना, ३७—सेवा भावना, ३८—उत्सव भावना, ३९—वसंत होरी की भावना, ४०—छप्पन भोग की भावना, ४१—छाक बीड़ी की भावना, ४२—भावना-त्रय।

हरिराय जी ने संस्कृत के गद्य-पद्यात्मक ग्रंथों तथा ब्रजभाषा काव्य की भी रचनाएं की हैं। उनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं :

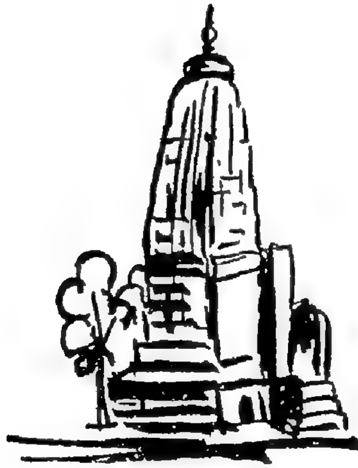
१—सनेहलीला, २—नित्यलीला, ३—गोवर्धनलीला, ४—दामोदरलीला, ५—दानलीला, ६—स्याम-सगाई, और ७—वनयात्रा।

हरिरायजी-कृत 'सनेहलीला' की अनेक हस्तलिखित प्रतियां रसिकराय-कृत 'उद्धव लीला', जनमोहन-कृत

'सनेहलीला', मुकुंददास-कृत 'सनेहलीला' के नाम से मिलती हैं। रसिकराय तो हरिरायजी का उपनाम है, जो उनकी काव्य-रचनाओं में प्राय: मिलता है; किन्तु जनमोहन और मुकुंददास निश्चय ही हरिरायजी से भिन्न व्यक्ति थे। ऐसा ज्ञात होता है, उन लोगों ने हरिरायजी-कृत 'सनेहलीला' की प्रतिलिपियां की थीं, जिनके अंत में उन्होंने अपने नाम भी लिख दिए थे। बाद में भ्रमवश वह 'सनेहलीला' के रचयिता समझ लिये गए और उन्हीं के नाम से उक्त ग्रंथ की अन्य प्रतिलिपियां होने लगी थीं।

श्री हरिरायजी ने ब्रजभाषा के अतिरिक्त गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में भी काव्य-रचनाएं की हैं। उनकी वे रचनाएं कीर्तन, धमार, घोल, ख्याल और रेखता आदि विभिन्न शैलियों में उपलब्ध होती हैं। उनके संस्कृत भाषा में रचे हुए पद और गुजराती भाषा के घोल भी प्रसिद्ध हैं।

हरिरायजी-कृत विविध राग-रागिनियों में रचे हुए कीर्तन के पद वल्लभ-सम्प्रदायी कीर्तनकारों में प्रचलित है। वे कीर्तन की कतिपय पोथियों में भी संकलित मिलते हैं। इन पदों में हरिरायजी रसिक, रसिकराय, रसिकदास, रसिकप्रीतम, हरिदास, और हरिधन छाप मिलती हैं। ये पद वल्लभ-सम्प्रदायी मन्दिरों में विविध उत्सवों के अवसर पर गाये जाते हैं। अभी तक ये पद थोड़ी संख्या में ही उपलब्ध थे, किन्तु हमारे अन्वेषण से अब ये काफी संख्या में संगृहीत हो गए हैं। हमने इनमें से ६०० से भी अधिक पदों का सुसंपादित संकलन प्रस्तुत किया है, जो वल्लभ-सम्प्रदाय और हिन्दी साहित्य में प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। इन कीर्तन के पदों ने हरिराय जी का और भी महत्त्व बढ़ा दिया है। अब उनका स्थान अष्टछाप के विख्यात कीर्तनकारों की पंक्ति में निश्चित करने के लिए साहित्य-समीक्षकों को विचार करना पड़ेगा।



कुलपतिमिश्र-रचित तीन संवाद और उनके वंशज

श्री अगरचन्द नाहटा

छोटे-छोटे व साधारण कवियों की रचनाओं का पता लगाना तो कठिन है ही, पर अभी तक बड़े-बड़े और प्रसिद्ध कवियों की भी समस्त रचनाओं का पता भी ठीक से नहीं लगाया जा सका है। उनकी रचनाओं का पता लगाने के दो प्रधान साधन हैं—प्रथम तो इन कवियों के वंशजों का पता लगाना कि जिनके पास वंश-परम्परा से अपने गौरव की वस्तु समझकर उन रचनाओं की सुरक्षा की जाती रहने से छोटी-बड़ी सभी रचनाएं प्राप्त हो सकती हैं। फुटकर रचनाएं या कवि के अपने हाथ की लिखी हुई प्रतियां तो अधिकतर उनके वंशजों के पास ही मिल सकती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उन कवियों की वंश-परम्परा तो आगे नहीं बढ़ पाती, अतः कोई अन्य निकट-सम्बन्धी या ननिहाल आदि के व्यक्ति उनकी सम्पत्ति का अधिकार पा लेते हैं या उनमें से कोई साहित्य-प्रेमी हुए, तो वह कवि की रचनाओं को अपने यहां ले जाकर सुरक्षित कर देते हैं। अतः वैसे उत्तराधिकारी व्यक्तियों के घरों का भी पता लगाना चाहिए। दूसरा पता लगाने का साधन है कि जिन राजाओं आदि का आश्रित वह कवि रहा हो, उन राजघरानों के संग्रह की खोज की जाय। क्योंकि कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को अपनी रचनाएं भेंट की हैं वे वहां सुरक्षित मिल सकती हैं।

१८वीं शताब्दी के कवि कुलपतिमिश्र की पांच रचनाओं का हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है— १. रसरहस्य, २. द्रोणपर्व, ३. युक्तितरंगिणी, ४. संग्रामसार, ५. नखशिख। इनमें 'रसरहस्य' तो बहुत ही प्रसिद्ध है और 'संग्रामसार' की बहुत अच्छी प्रसिद्धि है। वास्तव में हिन्दी के विद्वानों ने अन्य ग्रन्थों का उल्लेख प्रायः खोज-रिपोर्टों के आधार से ही किया है, इसलिए 'द्रोणपर्व' और 'संग्रामसार' को दो ग्रन्थ मान लिये हैं। वास्तव में महाभारत के 'द्रोणपर्व' के पद्यानुवाद का नाम ही 'संग्रामसार' है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी सभी ने इस भूल को दोहराया है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में 'रस-रहस्य' का रचनाकाल प्रथम पैरे में संवत १७२७ लिखा है, पर दूसरे पैरे में जहां पांचों ग्रन्थों के नाम दिए हैं, वहां संवत १७२४ कोष्ठक में दे दिया है। डा० हजारीप्रसादजी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' नामक ग्रंथ के पृष्ठ ३०४ में इसी का अनुकरण कर १६६७ ई० लिख दिया है, पर वास्तव में इसका रचनाकाल संवत १७२७ ही ठीक है।[1] द्विवेदीजी के ग्रंथ में एक और भी महत्त्वपूर्ण गलती हुई या छपी है कि पृष्ठ ३१५ में कुलपतिमिश्र का कविता-काल १७७०-१७८३ छपा है, जो वास्तव में ई० १६७०-१६८३ होना चाहिए था। आचार्य शुक्ल ने 'द्रोण-पर्व' का रचनाकाल संवत १७३७ बताया है और युक्तितरंगिणी का १७४३। पर 'द्रोणपर्व' जिसका ऊपर नाम 'संग्राम-सार' है, का रचनाकाल संवत १७३३ है।[2] इस ग्रंथ की एक प्रति हमारे संग्रह में भी है। हमारे विद्वानों ने केवल 'रसरहस्य' को ही पढ़ा है। इसलिए 'संग्रामसार' व 'युक्तितरंगिणी' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा।

---

१. संवत सतरासै बरस, बीते सत्ताईस।
कातिक वदि एकादसी बार बरन बानीस॥

२. सत्रहसै तैंतीस सम गुनयुत फागुन मास।
कृष्ण पक्ष तिथि सप्तमी, कियो ग्रन्थ परकास॥

डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपनी थीसिस 'राजस्थान का पिंगल-साहित्य' के पृष्ठ ११३ में कवि का कविता-काल संवत १७२४से १७४६ वतलाया है एवं 'युक्तितरंगिणी' में ७०० दोहे है। यह ग्रन्थ शृंगाररस की युक्तियों से लवालव भरा है, सूचित करते हुए यह भी लिखा है कि कवि के वंशज जयपुर में विद्यमान हैं, कुछ अलवर में भी पाए जाते है। उन वंशवालों का कहना है कि इन्होंने पचास ग्रन्थ वनाए थे, पर इस समय उनके सभी ग्रन्थ नहीं मिलते, केवल दस ग्रन्थों का ही पता चला है, जिनके नाम ये हैं :

१. रस-रहस्य, २. दुर्गा भक्ति चन्द्रिका,[1] ३. संगामसार, ४. युक्तितरंगिणी, ५. नखशिख, ६. दुर्गासप्तशती का अनुवाद, ७. सुरूप-कुरूप संवाद, ८. आसाम की वाढ़, ९. सेवा की वाढ़ और १०. विष-अमृत का झगड़ा। मेनारियाजी ने इन ग्रन्थों के नामादि 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' ग्रन्थ से लिये लगते है।

गत वर्ष जयपुर जाने पर 'राजस्थान पुरातत्त्व-मंदिर' के श्री गोपालनारायण जी वोहरा से विदित हुआ कि उन्हें कुलपतिमिश्र के रचित तीन संवाद प्राप्त हुए हैं, तो मैंने उनकी प्रतिलिपि करवाकर मंगवा ली। इससे 'सुरूप-कुरूप संवाद' और 'विप-अमृत का झगड़ा' या संवाद, जिनका उल्लेख मेनारियाजी ने किया है, उनके अतिरिक्त 'ऋतु सुभाव संवाद' जिसका अपर नाम 'षडऋतुसंवाद' भी है, प्राप्त हुआ। इससे कवि की एक रचना की और नई जानकारी प्राप्त होती है। ये तीनों संवाद कवि-कल्पना से उद्‌भूत और उसकी सूझ-बूझ के परिचायक हैं, अतः उन तीनों का परिचय यहां दिया जा रहा है।

१. 'षडऋतुसंवाद' : इसका नाम कवि ने प्रथम पद्य में 'ऋतुसुभाव-संवाद' दिया है। दूसरे पद्य में षड-ऋतुओं के नाम देकर तीसरे पद्य में छहों ऋतुओं का रामकुमार के पास आकर पारस्परिक वाद-विवाद करने का उल्लेख किया है। सबसे पहले वसंतऋतु ने अपनी विशेषताओं का वखान किया कि शिशिर आदि पांचों मेरी वरावरी नहीं कर सकते, तो शिशर ऋतु ने हँसकर अपना बखान किया। इस तरह पद्यांक आठ से सत्रह तक में उनके संवाद का विवरण देकर, फिर हिम और ग्रीष्म ऋतु का संवाद पद्यांक सत्ताईस तक में कराके वर्षा और शरद ऋतु का संवाद पद्यांक चौंतीस तक में कराया गया है। तत्पश्चात वर्षा ऋतु ने उन पांचों से कहा कि पंच के पास चलकर निर्णय करना चाहिए, तब वे पांचों राजा रामकुंवार (जयपुर के महाराजा रामसिह) के पास आकर विचार करने की विनती करती है और रामसिह मधुर मुस्कान के साथ उनका झगड़ा इस पद्य द्वारा निपटा देते है :

सब सुरूप सब ही सरस, सब प्रवीण सुख भोग।
सब ही सुखद संयोग में, सब ही दुखद वियोग ।। ३९ ।।

अन्त में कवि कुलपति ने अपना नाम-निर्देश करते हुए 'सब ऋतुओं का समान मान रखने वाले रामकुमार जीते रहो', इस आशीर्वाद के साथ रचना को समाप्त किया :

कुलपति सुन हरखी सबै, जिय कौ गयौ गुमान।
जीवहु रामकुमारु जिन, सबकौ राख्यौ मान।।

लेखन-प्रशस्ति में 'इतिश्री मिश्रकुलपति विरचित 'षडऋतु संवाद' समाप्त' लिखा है। आद्य पद, जिसमें इस रचना का नाम 'ऋतु सुभाव-संवाद' नाम है, इस प्रकार है :

सुमिरि सिद्धिदायक महा, गुन नायक को पाइ।
रितु सुभाव संवाद की, बातें कहौ वनाइ।।

इसमें ३९ दोहे और एक कवित्त (पद्यांक २) है।

२. 'सुरूप-कुरूप संवाद' : इसमें दो सवैये और २४ दोहे कुल २६ पद्यों में सुरूप और कुरूप का संवाद उद्‌भासित किया गया है। पारस्परिक संवाद के अनन्तर दोनों अपना फैसला रामसिंह जी से करवाते है और वह निम्नोक्त पद्य द्वारा दोनों को प्रसन्न कर देते हैं :

---

१. इतिहास राजस्थान के पृष्ठ १०९ में इसका नाम 'देवी भक्त चन्द्रिका' व इसकी रचना बिशनसिंह के समय में हुई लिखा है।

वय विहीन चित चाह बिन, रूपै लखी न जाइ।
रूप हीन हूं वय समैं, भली लखैं चित जाइ॥

इसके अन्त में कवि ने अपनी नाम की छाप वाला पद्य नहीं लिखा है, पर लेखन-प्रशस्ति में 'इतिश्री मिश्र कुलपतिविरचितः सुरूप-कुरूपसंवादः समाप्तः' के द्वारा रचनाकार का नाम निश्चित हो जाता है। मंगलाचरण-पद्य में कवि-नाम का निर्देश है ही।

प्रारम्भिक पद्य से कवि की कृष्ण-भक्ति का पता चलता है और उस पद्य में कवि ने अपना नाम भी दे दिया है :

'सीस मुकुट मुरली अधर, धरें गुंज बनमाल।
सदा बसौ कुलपति हियें नटवर मोहनलाल ॥ १ ॥

३. विष-पीयूष-संवाद : इसमें कवि ने विष और अमृत का पारस्परिक विवाद कराया है। दोनों ने अपनी-अपनी विशेषताओं का वर्णन किया है और अन्त में षड ऋतु और सुरूप-कुरूप की भांति वे भी अपना झगड़ा निपटाने के लिए रामकुमार के पास पहुंचते हैं। उन्होंने निम्न पद्यों द्वारा उन दोनों को संतोष दिया :

'सुख में विषु दुख में अमृत, काहू को न सुहाइ।
विष-पियूष दोऊ भले, दुखी सुखी के काइ॥'

अन्त में उन दोनों ने प्रसन्न होकर रामकुमार को आशीर्वाद देते हुए कहा :

रीझि दुहुंन मिलि यों कह्यौ, जीवहु कूरम राम।
अमृत बसै तन में सदा, विषु बैरिन के काम ॥ १३॥

इसमें १० कुंडलिया छन्द और ३ दोहे हैं। प्रारम्भ में कवि ने अपने नाम और रचना के नाम का निर्देश इस प्रकार किया है :

बानी मानी जो कविनु, ताहि सुमिरि सिरु नाइ।
वादु विष अमृत को, कुलपति कहत गुनाइ॥ १ ॥

इन तीनों रचनाओं में रामकुमार का उल्लेख है, अतः यह उस समय की रचना है, जब वह जयपुर राज्य के राजा नहीं बने थे, या राजकुमार का पद सुशोभित कर रहे थे। अतः इनका रचनाकाल संवत १७२४ से पूर्व का निश्चित होता है। कवि का उनसे सम्बन्ध राज्य-प्राप्ति से पूर्व भी अच्छे रूप में था, जो अन्त तक व उनके गद्दीधर बिशन-सिंह से भी बना रहा।

'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' के पृ० १५८ में महाराजाके साथ कवि का दक्षिण-युद्ध में जाना लिखा है। शिवाजी और महाराजा की घटनाओं का उल्लेख उन्होंने 'शिवा की कार' नामक काव्य में किया है और लिखा है कि इससे कवि की १३वीं रचना का भी पता चलता है।

जैसा कि कवि के वंशजों का कहना है कि कवि की छोटी-बड़ी पचास रचनाएं होनी चाहिए, अतः अज्ञात व प्राप्त रचनाओं की खोज शीघ्र ही आवश्यक है। कवि के वंशजों का कर्तव्य तो है ही कि वे कवि की जीवनी व रचनाओं के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डालें। उनके प्राप्त ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाना चाहिए और उनके प्रकाशन का प्रबन्ध भी।

'रसरहस्य' एवं 'संग्रामसार' में कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है :

१. बसत आगरै आगरैं, गुन तपसील बिलास।
विप्र मथुरिया मिश्र है, हरि चरनन कौ दास॥
अभू मिश्र जिन वंश में, परशराम जिमि राम।
जिनके सुत कुलपति कियौ, रसरहस्य सुखधाम॥ १४२॥

जिते साज हैं कवित के, मम्मट कहे बखानि।
ते सब भाषा में कहे, रसरहस्य में आनि ॥ १४३ ॥

२. माथुर वंश प्रसिद्ध, मिश्र कुल अभय राज भय,
सब विद्या परवीन, वेद अध्ययन तपोमय।
तारापति तिह पुत्र, विप्र कुल जिमि तारापति,
तासु तनय मयालाल, ब्रह्म विद्या विचित्र गति ॥
हरि कृष्ण कृष्ण भज कृष्ण मय, तासु तनय भागो तमग।
भय परसुराम ताको तनय, सुर गुरु सम भज राम पग ॥
परसुराम पुत्र प्रगट कवि पंडित कुलपति।
अध्यापक व्याकरण न्याय पथ ब्रह्म कर्म तति ॥
रुचि भारत भगवत करत, आचरन सुव्रत मत।
सुखमय लखि साहित्य मुख्य किन्नउ बहु सम्मत ॥
नर नाग देव बहु देश की भाषा करि कविता कुशल।
संग्रामसार तित ग्रंथ किया, रामसिंह नृप हुकम वल ॥
कवि कुलपति के आगरे[1] गुन आगरे निवास।
जहँ दौलत दिल्लीस की विहरत चित्त हुलास ॥

इन पद्यों के आधार से कवि-वंश का परिचय शुक्लजी और मेनारियाजी आदि ने दिया है। पर संग्रामसार में कवि ने अपने मातामह कवि केसौराय का महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है :

कविवर मातामहि सुमरि, कैसो कैसौराय।
कहौं कथा भारथ्थ कौ, भाषा छन्द बनाय ॥ २७ ॥

इस पद्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया, यद्यपि कुलपति, बिहारी कवि का भानजा था, इसी प्रवाद को दुहराते रहे। इस पद्य की ओर श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का ध्यान आकर्षित हुआ था। इससे कवि बिहारी के पिता का नाम कवि केशवराय होना एवं कुलपतिमिश्र का उनका भानजा होना भली-भांति सिद्ध है। बिहारी ने स्वयं एवं सतसई के टीकाकारों ने उन्हें केशवराय का पुत्र लिखा है :

जन्म लियौ द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसव राय ॥

बिहारी के पुत्र एवं सतसई के सर्वप्रथम टीकाकार कृष्णलाल ने सं० १७१९ में रचित टीका में इस पद की व्याख्या करते हुए लिखा है :

'केसो जो मेरो पिता और केसोराय ज्यों श्री कृष्ण जू।'

अनवर-चन्द्रिका टीका में भी लिखा है :

'केसव केसव राइ बिहारी के बाप कौ नाम है'

रसचन्द्रिका, हरिप्रकाश और लालचन्द्रिका टीकाओं से यही सिद्ध है। पर डा० मोतीलाल मेनारिया ने, कई विद्वानों के मतानुसार केशवराय बिहारी के पिता का नाम नहीं, पर गुरु का नाम है, इसकी पुष्टि की है, जो सर्वथा गलत है। कवि मंडन और कुलपति-विषयक जयपुर में प्रसिद्ध एक दोहा 'रत्नाकर' जी ने लिखा है :

मंडन मंडन के जगत, अब खंडन करि दीन।
कुलपति मिश्र उजियार कहि, भए स्याम रँग लीन ॥

अब कुलपति के वंशजों के सम्बन्ध में यथाज्ञात जानकारी नीचे दी जा रही है।

---

१. महाराजा राजा जयसिंह इन्हें आगरे से जयपुर लाये और इन्हें जागीर व दरबार में कुर्सी प्रदान की जो इनके वंशजों के अधिकार में है।

करीब ५० वर्ष पूर्व श्री देवीप्रसाद जी मुंसिफ ने राजस्थान के कवियों और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में अन्वेषण किया था। उन्होंने अपनी 'कविरत्नमाला' में कुलपतिमिश्र का परिचय देने के वाद उनके वंशजों के सम्बन्ध में भी जानकारी दी है, जो यहां दी जा रही है :

चतुर्भुज कवि

'ये कुलपति-वंशी कवि जयपुर के पिछले महाराजा रामसिंहजी के आश्रित थे। इनका देहान्त सं० १९४६ में हुआ। सन्तान न होने से इनके छोटे भाई रघुनाथ के छोटे वेटे प्यारेलाल इनके गोद आए हैं।' ('राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' नामक ग्रंथ के अनुसार इनका देहान्त वैशाख १९९९ में हुआ।)

मैंने इनके वनाये दो ग्रंथ संवत १९५४ में कवि श्यामलाल के पास देखे थे— एक का नाम 'व्रजपरिक्रमा-सतसई' है और दूसरे का 'वंश-विनोद', जिसमें जयपुर की वंशावली है।

इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है :

'व्रजपरिक्रमासतसई' से—

दोहा—कुलपति कुलपति मिश्र के, चरन कमल उर धार।
रच्यौ ग्रंथ निज वुद्धि वल, छन्दो वन्ध सँभार ॥१॥

'वंशविनोद' से कविवंश—

दोहा—कुलपति कविपति के तनय, गोबिंदराय सुजान।
तिनके सुत अति वुद्धि युत, सदा सुखहि मत मान ॥

छप्पय

रामनाथ तिहि पुत्र प्रगट भये द्वै मत सागर।
सिंभूराम जु एक द्वितिय हीरानँद नागर ॥
कानीराम तिहि तनय विनययुत दीपचंद कहुँ।
गणपति तिनके भावो द्वितिय गणपति समान चहुँ ॥
भए सेढूराम तिनके तनय ता सुत हुए भुज चार धर।
लघु भ्राता नाम रघुनाथ जू हरि चरनन के दास वर ॥ १ ॥

दोहा—विजयसिंह रावल जहां, जयपुर गंगा पौर।
निकट रामजीदास के, कवि चतुरन को ठौर ॥
मेरी मत अनुसार यह, वरन्यौ वंस विनोद।
कवि चतुरन सों वीनती, भूल्यौ लीजौ सोद ॥
संवत १९३५।[1]

दोहा—पावत भूत अरु नेन शिव, नवनिधि रदन गणेश।
फागण सुदि की तीज है, वंस विनोद सुवेश ॥

रघुनाथ कवि

चतुर्भुज जी के छोटे भाई थे। इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं वनाया। फुटकर कविता करते थे। संवत १९५० में इनका देहान्त हो गया। इनके वेटे श्यामलाल हैं, इन्हीं के भाई प्यारेलाल चतुर्भुज जी के गोद गए हैं।

---

१. मेनारियाजी ने 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के पृष्ठ २४४ में चतुर्भुज मिश्र के ग्रन्थों का निर्माण-काल संवत १९२६ लिखा है। पर, वह ग्रंथ किस का है या क्या आधार है, अज्ञात है।

श्याम कवि

इनका नाम श्यामलाल है। माथुर ब्राह्मण कुलपति जी के वंश में हैं। मैंने वन्दी के कवि अमरकृष्णजी से इनके पिता रघुनाथजी और ताऊ चतुर्भुजजी का पता पाकर इनको पत्र भेजा था, जिसका यह उत्तर उन्होंने दोहों में दिया :

दोहा—चतुर वेद माथुर प्रगट, अल्लजु मिश्र कुलीन।
परसराम सुत भयेहु कवि, कुलपति मिश्र प्रबीन ॥ १ ॥
मिरजा जयसिंह आदि अरु, सेवैं भूपति तीन।
दुइ विसत द्वादस अधिक, ग्रंथ नवों रस कीन ॥ २ ॥
कुलपति कविता रचि भये, जनम मरण सौं हीन।
इहितें जन्म रु मरण की, बरस लिखत घन कीन ॥ ३ ॥
कवि पदवी कविवर लही, चलीजु अव लग आत।
अधिक न्यून कछु ना भये, रचे ग्रंथ नृप गात ॥ ४ ॥
कहि कारण कवि वंश की, वंस माल की चाह ।
आपहु अपनो भेद कुल, कहिये कर उत्साह ॥ ५ ॥
प्रश्न एक वाकी रहा, सो उत्तर के वाद।
जयपुर में कवि स्याम भनि, सुनहु देवि परसाद ॥ ६ ॥
सुकवि चतुरभुज नाथ रघु, करत स्वर्ग में वास।
स्याम पियारे लाल हैं, वाल सुकवि के दास ॥ ७ ॥

फिर मैं संवत १९५४ के भादों में इनके मकान पर गया तो बड़ी प्रसन्नता से मिले और साथ चलकर कवि राधावल्लभ जी से मिलाया और कवि चतुर्भुजजी के बनाये हुए ग्रंथ भी वताए और कुछ कविता अपनी भी दिखाई जो यहां लिखता हूं :

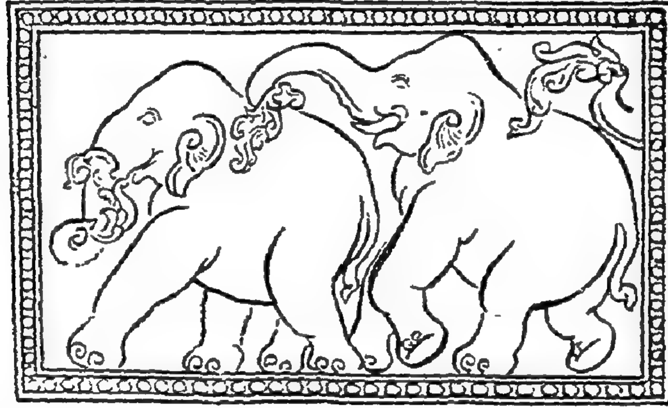
दोहा—अति सुनीत कर राजत्वे, दिये प्रजा सुख हर्ष।
भवनेश्वरि विकटोरिया, चिरजीवो बहुवर्ष ॥

सवैया—अरजी कवि लोग करें, चित दे कर सो सुन लीजिये जी।
पुन छन्द कवित्त कहा करके, कविता को सुधारस पीजिये जी ॥
कवि स्याम विचार कहे इहि में, सरदार सदा चित दीजिये जी।
यश के करता कवि है जग में, तिनतें अभिमान न कीजिये जी ॥

'राजस्थान के हिन्दी-साहित्यकार' में श्याम कवि और प्यारेलालजी की कविता के अन्य नमूने भी प्रकाशित हुए है और 'प्यारेलाल जी के पुत्र भी विद्यमान है' ऐसा लिखा है। संवत १९७६ में स्व० पुरोहित हरिनारायण जी ने श्यामसुन्दरदास जी के दिए पत्र में लिखा था कि कुलपतिमिश्र जगन्नाथ पंडितराज के शिष्य थे और उन्होंने अपने गुरु की भांति ५२ ग्रंथ रचे। वह संस्कृत के बड़े विद्वान थे और उनके वंशज जयपुर में जागीर खाते हैं। संवत १९८२ में विद्याभूषण पं० रामनाथ जी को वांदीकुई से कुलपति के वंशज पं० वद्रीप्रसाद जी चतुर्वेदी ने पत्र लिखा था। कुलपति मिश्र गंगापोल में रहते थे. उनके वंशज प्यारेलाल जी भी तब, संवत १९८२–८३ में, यहीं रहते थे।

कुलपतिमिश्र की 'आसाम की वाढ़', 'सेवा की वाढ़' तथा 'शिवा की बार' और 'दुर्गा भक्त चन्द्रिका' एवं 'दुर्गा सप्तशती' का अनुवाद और 'नखशिख' इन रचनाओं की प्रति कहां है, इसका निर्देश 'राजस्थान के हिन्दी साहित्यकार' और 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' ग्रंथों में नहीं किया गया है। सम्भव है 'दुर्गा भक्त चन्द्रिका' और 'दुर्गासप्तशती' का अनुवाद दोनों ग्रंथ एक ही हों। इसी प्रकार 'सेवा की वाढ़' और 'शिवा की वार' ये दोनों रचनाएं

भी एक ही हों। पर, जब तक उनकी हस्तलिखित प्रतियां देखने में न आयें, तब तक निश्चित नहीं कहा जा सकता। जयपुर राज्य का पोथीखाना, जिसमें वहां के राजवंश के आश्रित कवियों की रचनाएं अधिकाधिक मिल सकती हैं, अभी सील-मोहर ताले में बन्द है। इसी प्रकार कुलपतिमिश्र के वंशज भी अनुदार प्रतीत होते हैं। अतः अब तक जितनी जानकारी मेरे अवलोकन में आई, उसे एकत्र कर हिन्दी के विद्वानों के समक्ष उपस्थित की जा रही है। आशा की जाती है कि अन्य विद्वान भी इसी प्रकार हिन्दी-कवियों और उनके अन्वेषण में प्रयत्नशील होंगे, जिससे हिन्दी-साहित्य का भावी वृहत इतिहास बहुत अच्छे रूप में प्रकाशित हो सके।



लोक-गीत : स्वरूप और आधार

आचार्य नलिनविलोचन शर्मा

लोक-गीत को एक ओर तो आदिम गीतों से और दूसरी ओर लोकप्रिय जन-गीतों से पृथक करके समझ लेने की मूलभूत आवश्यकता है। आदिम गीत और जन-गीत (औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों के लिए बनाये गए) की तरह ही लोक-गीत भी शारीरिक श्रम करने वाले से ही सम्बन्ध रखता है, किन्तु लोक-गीत दोनों से ही तत्त्वतः भिन्न है।

मजदूरों के लिए साम्यवादी जन-लेखकों द्वारा जो गीत बनाया जाता है, वह ऊपर से नीचे की ओर आने वाला (बौद्धिक) प्रयास है, वह कितना भी लोकप्रिय क्यों न साबित हो। लोक-गीत और वह जैसे भी रचित होता हो--हम वस्तुतः इसी पर विचार करने जा रहे है—किन्तु अवश्य ही इस तरह नहीं होता। आदिम गीत से लोक-गीत की स्पष्ट भिन्नता यह है कि पहला ऐसे समाज का द्योतक है, जिसके एकाधिक स्तर नहीं है; जबकि दूसरा ऐसे समाज में सम्भव है, जिसके अनेक स्तर हों; आदिम गीत समूचे समूह का होता है, जिसके समानान्तर एक परिष्कृत समूह भी होता है और उसका अपना कला-गीत होता है। लोक-गीत में आदिम गीत के जादू-टोने, टोटका-टोटरम के तत्त्व अवशिष्ट रहते है, किन्तु उपर्युक्त अन्तर भी रहता है।

जैसा कि लुई हैरप ने कहा है, लोक-गीत का स्वरूप यह है कि वह सामान्य जनता के लिए उसी के द्वारा रचित होता है; जबकि परिष्कृत गीत एक सीमित वर्ग के लिए एक प्रशिक्षित व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। लोक-गीत की यह भी विशेषता है कि उससे व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, जैसे काम के बोझ को हल्का करना, अत्याचार का विरोध, सामान्य जनता का मनोरंजन, इत्यादि।

यूरोप में उन्नीसवी शताब्दी में लोक-गीत का सावधान अध्ययन शुरू हुआ था। इस अध्ययन को रोमांसवादी आंदोलन से प्रेरणा मिली थी, जिसमें ह्रासोन्मुख सामन्तवाद की अत्यधिक रूपवादिता और श्रेण्यता के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी थी और साथ-ही-साथ तीव्र राष्ट्रवादिता भी। रोमांसवादी के लिए लोक-तत्त्व वास्तविकता से अधिक रहस्यपूर्ण और आदर्शीकृत भाव था। यही कारण है कि रोमांसवादी लोक-साहित्य-विशारदों ने लोक-गीत-विषयक सामूहिकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था; अर्थात उनकी धारणा थी कि लोक-गीत एक अव्याख्येय और रहस्यपूर्ण रीति से स्वतः रचित हो जाता है। जर्मन रोमांसवादी हर्डर का कहना था कि 'लोक-काव्य स्वयं ही अपनी रचना कर लेता है', किन्तु हर्डर और उसके अनुयायियों का आशय क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता।

किटरेज ने 'इंगलिश एण्ड स्काटिश पाप्युलर वैलेड्स' नामक पुस्तक की भूमिका में नागरिक सभ्यता से दूर निवास करने वाले एक जन-समुदाय के अध्ययन के आधार पर 'सामुदायिक रचना' की प्रक्रिया का एवंविध वर्णन किया है—'समूह के भिन्न-भिन्न सदस्य, एक दूसरे के बाद, अपनी-अपनी पंक्तियां गाते है, जिन्हें वे तत्क्षण गढ़ लेते है। इन्हीं पंक्तियों के योग से गीत तैयार हो जाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर गीत तो सामुदायिक रचना हुई, यद्यपि उसकी प्रत्येक पंक्ति किसी एक व्यक्ति की रचना हो सकती है। ऐसे गीत पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं हो सकता और इसका रचयिता एक व्यक्ति नहीं होता। लोक ही इसका रचयिता होता है। इसी लेखक ने यह भी बताया है कि नाचता-गाता हुआ यह समुदाय, एक इकाई के रूप में, मानसिक और रागात्मक उत्तेजना का अनुभव करता है,

जो काव्य-सर्जना के लिए सर्वथा अनुकूल ही नहीं है, बल्कि जिससे निश्चयपूर्वक काव्य-सर्जना होती है "किन्तु, जैसा कि हैरप का कहना है, अधिकतर लोक-गीतों के लिए सत्य यह है कि गीत-सर्जना में जनता सक्रिय श्रोता-समूह के रूप में भाग लेती है जिसका प्रतिनिधित्व एक गायक करता है। लोक-गीत के ऐसे गायक का व्यक्तित्व शास्त्रीय संगीत के गायक की तरह पृथक और विशिष्ट नहीं होता, समुदाय का कोई दूसरा सदस्य उसका स्थान ग्रहण कर ले सकता है। परिष्कृत श्रोता-समूह में गायन का महत्त्व होता है, लोक-समूह में गीत ही केन्द्र होता है, गायन जैसा भी हो। लोक-गीत के गायक और उसके श्रोता-समूह का अन्तर स्वर और मस्तिष्क का अन्तर-मात्र है।"

लोक-गीत, लोक-कंठ में निवास करता है। लोक-गीत के लिए, कला-गीत की तरह, गीतकार के द्वारा रचित रूप में बने रहना जरूरी नहीं होता। लोक-गीत लोक-संप्रेषित होता है और संप्रेषण के काल में लोक-रुचि के अनुसार परिवर्तित भी होता है। यही कारण है कि प्रत्येक लोक-गीत के एकाधिक पाठ और धुनें होती हैं। इनमें से कोई एक-दूसरे से अधिक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी की अपनी प्रामाणिकता होती है। 'म्यूजिक इन अमेरिका' नामक पुस्तक में फिलिप्स बैरी ने ठीक ही कहा है कि 'लोक-गीत सजीव गीत होता है और उसमें विकास और परिवर्तन की समस्त स्थितियां और अभिव्यक्तियां पाई जाती हैं।"

सामुदायिक सर्जना के जिस सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन ऊपर की पंक्तियों में किया गया है उसका खंडन भी कुछ विद्वानों के द्वारा हुआ है। उदाहरणार्थ, अमेरिका की लूइजे पाउंड नामक शोध-कर्त्री का कहना है कि अशिक्षित जनता उत्तम लोक-गीत की रचना नहीं कर सकती; उत्तम लोक-गीत परिष्कृत समुदाय में ही आविर्भूत होते हैं। उनके अनुसार यह ठीक है कि अशिक्षित जनता संप्रेषण के समय गीत में परिवर्तन करती है, और यह भी असत्य नहीं कि जनता स्वयं भी लोक-गीत का निर्माण कर लेती है; किन्तु ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि अपरिष्कृत रचना-प्रयास का परिणाम सदैव निकृष्ट होता है। श्रीमती पांउड के अनुसार, "मौखिक संरक्षण और संप्रेषण के फलस्वरूप ह्रास ही होता है, विकास नहीं।"

किन्तु अधिकतर विद्वान इस सिद्धान्त से असहमत हैं। उदाहरण के लिए, फिलिप्स बैरी का कहना है कि "वास्तविक लोक-संगीत उन गायकों की विवेचनात्मक क्षमता और सुरुचि का परिचायक होता है, जो उसका सम्प्रेषण करते हैं।" इसके अतिरिक्त जी० एच० जेरोल्ड ने 'द बैलड आव ट्रैडिशन' नामक पुस्तक में सप्रमाण सिद्ध किया है कि पाउंड का ह्रास-सिद्धांत, अपवादों को छोड़कर निराधार है। जेरोल्ड ने ऐसी अनेक लोक-गाथाओं के विवरण दिये हैं, जिनके परवर्त्ती रूप, पूर्ववर्त्ती की तुलना में निकृष्ट नहीं हैं। 'आर्ट इन नेग्रो फोकसांग' में रसेल एक्स ने भी यह प्रमाणित किया है कि 'अमरीकी हब्शियों के लोक-गीत अंग्रेजी के आधारभूत प्राचीनतर गाथा-रूपों से कम उत्कृष्ट नहीं हैं।' अमरीकी हब्शियों के अनेक लोक-गीतों से यह भी प्रमाणित होता है कि अशिक्षितों की सर्जना सुसंस्कृत कलाकार की कृति के स्तर तक पहुंच सकती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि लोक-गीत का प्रकारतः ह्रास होता है ही नहीं। जब और जहां ह्रास होता है, तो, हैरप के अनुसार, इसका कारण यह नहीं है कि सामान्य जनों में सर्जनात्मक क्षमता का अभाव रहता है; बल्कि ऐसा इसलिए होता है कि देश-विशेष में सामाजिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप जन-संस्कृति विकृत हो जाती है। 'ए रीसेंट थ्यौरी आव बैलड-मेकिंग' में जेरोल्ड गाउल्ड का यह कहना बहुत दूर तक युक्तियुक्त है कि "कुछ गौरवपूर्ण शताब्दियों तक तो ग्रामीण स्त्री-पुरुष, ऐसा प्रतीत होता है, ऐसी परिस्थितियों के बीच रहे कि जिन परम्परागत धुनों में वे गाथाएं गाते थे उन्हें अच्छे रूप में सुरक्षित ही नहीं रखा, बल्कि उन्हें उत्कृष्टतर बनाने में भी सफलता पाई।"

फिर भी यह आवश्यक है कि लोक-गीतों की कलात्मकता में जो परिवर्तन होते हैं, उनके कारणों पर सावधानी से विचार किया जाय। अभी तक बहुत बड़े पैमाने पर संग्रह-कार्य हुआ है और पाठ के स्रोतों के सम्बन्ध में अनुसंधान भी हुए हैं, तथा, विशेषकर भारत में, उथला मूल्यांकन भी हुआ है; किन्तु उत्कर्षापकर्ष के कारणों की ठीक तरह छानबीन नहीं हुई है। उदाहरण के लिए, सेसिल शार्प नामक विद्वान ने वर्षों के अक्लांत परिश्रम से इंगलैंड के लोक-गीतों का वृहत संकलन तो तैयार किया है, किन्तु उनके अध्ययन के आधार पर जब वह कहता है कि इंगलैंड के लोक-

गीतों में 'परिस्थितियों के कारण परिवर्तन नहीं हुए हैं, अपितु मनोवृत्ति में तात्त्विक परिवर्तन के कारण हुए हैं', तो इस निष्कर्ष से सहमत होना कठिन सिद्ध होता है, क्योंकि मनोवृत्ति का परिवर्तन बहुत दूर तक परिस्थितियों के परिवर्तन का ही परिणाम होता है। यह ऐसा तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में एक अन्य अंग्रेज विद्वान ए० एल० ल्वायड ने, 'द सिंगिंग इंग्लिशमैन' में महत्त्वपूर्ण मंतव्य प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि लेखक के साम्यवादी दृष्टिकोण के कारण वे पूर्वाग्रह-रहित नहीं हैं।

लोक-जीवन तथा भौतिक परिस्थितियों के अंतःसम्बन्ध का विश्लेपण करते हुए ल्वायड़ यह प्रदर्शित करता है कि कृषकों के कठिन जीवन की क्षति-पूर्ति १८वीं शताब्दी के इंग्लैंड के लोक-गीत में देखी जा सकती है, जिसका विषय न केवल प्रेम ही है, वल्कि चौदहवीं शताब्दी का कृषक-विद्रोह भी है और जिसमें पादरियों के उच्छृङ्खल यौनाचार का भी मखौल किया गया है। १८वीं शताब्दी में, औद्योगिक क्रांति के पूर्व, इंगलैंड का लोक-जीवन अपेक्षया स्थिर था, अतः उस युग के लोक-गीत में भावुकता का प्रवेश होता है, जिसे कृषक-जीवन-सम्बन्धी कवित्वपूर्ण श्रेण्य धारणा से भी प्रोत्साहन मिलता है। फिर इस युग के लोक-गीत में कृषक-किशोर तथा धनी पिता की लड़की के प्रणय और कृषक-किशोर के निर्वासन आदि की सुपरिचित कथा भी पाई जाती है।

किन्तु इस शताब्दी के मध्य के बाद लोकगीत-धारा में एक ऐसा परिवर्तन परिलक्षित होता है, जो औद्योगिक क्रांति के प्रायः साथ-साथ चलता है। कृषक शहरों की ओर दौड़ते हैं और बड़े पैमाने पर बड़ी पूंजी के साथ कृषि की व्यवस्था शुरू होती है। फलतः ग्राम्य जीवन की अनिश्चयात्मकता और असुरक्षा की अभिव्यक्ति लोक-गीत में होने लगती है, अवैध यौनाचार और संतानोत्पत्ति विषय बनते हैं, भोजनार्थ चोरी से जंगलों में पशुओं का आखेट होता है और ऐसे आखेट-सम्बन्धी गीत बनते हैं, और पहले-पहल निर्घृण अपराधों पर भी लोक-गीत गाये जाने लगते हैं। फिर १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में औद्योगीकरण ने सामान्य जन को उसके धरातल से पूर्णतः उत्पाटित करने में सफलता पाई, और मनोरंजन के नागरिक साधन सुलभ हुए, शिक्षा और समाचारपत्रों का प्रसार-प्रचार हुआ, और ग्रामोफोन, रेडियो और चित्रपट आये। परिणामतः लोक-गीत का तीव्र गति से ह्रास हुआ।

कपड़े की मिल जंतसार को समाप्त कर दें, ट्रैक्टर धान के खेत में गाये जाने वाले गीतों को, ट्रक बैलगाड़ी वालों के गीतों को तथा अग्निबोट और जहाज मछुओं के गीतों को, तो आश्चर्य भी क्या! इस तरह व्यवसायों से सम्बद्ध लोक-गीतों का परिस्थिति-जन्य ह्रास सहज ही देखा जा सकता है इसी प्रकार चित्रपट, ग्रामोफोन, रेडियो आदि के रूप में सुन्दर गांवों में भी, एकरूप व्यावसायिक मनोरंजन-साधन सुलभ होते हैं, तो विशुद्ध रूप से मनोरंजनार्थ गाये जाने वाले लोक गीत के भी बुरे दिन आये ही समझिए। रजिस्ट्रार के कार्यालय और मधु-यात्रा में कोहबर के गीत तथा मैटर्निटी वार्ड और शहर के दो कमरों वाले फ्लैट में सोहर थोड़े ही गाये जा सकते हैं।

लोक-गीत सामान्य जनों के उपयोग का कला-माध्यम है, उन्हीं के जीवन से इसकी विषय-वस्तु प्राप्त होती है, वे इसमें सक्रिय भाग लेते हैं, श्रोता-मात्र नहीं बने रहते, और इसके रचयिता भी उन्हीं में से निकलते हैं। लोक-गीत का शिल्प उसे सहज ग्राह्य और गेय बनाता है। कला-गीत की तुलना में लोक-गीत के वस्तु-तत्त्व और शिल्प स्पष्टतः भिन्न होते हैं। लोक-गीत जिनके लिए और जिनके द्वारा रचित होता है, उन्हें कला-गीत की रचना और ग्राह्यता के लिए आवश्यक प्रशिक्षण की सुविधाएं सुलभ नहीं रही हैं। इसलिए यह तो सत्य है ही कि लोक-गीत समाज के पिछड़े और दमित वर्ग की कला है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि लोक-गीत कला-गीत से निकृष्टतर है। इसी प्रकार कला-गीत की अपेक्षा लोक-गीत कम जटिल तो होता है, पर कम परिष्कृत होता हो, ऐसा नहीं है। कला-गीत की धुनें, ताल और लय, मौखिक संप्रेषण आवश्यकता के कारण और अनुरूप सरल होते हैं। यह ठीक है कि लोक-गीत की सहज मर्म-स्पर्शिता और प्राणवत्ता आज के नागरिक के लिए आकर्षक सिद्ध होती है; किन्तु यह भी सच है कि लोक-गीत का आनन्द वे सामान्य जन ही सहज और आयास-रहित भाव से ले पाते हैं, जिनके जीवन की अभिव्यंजना उसमें रहती है।

यह सब होते हुए भी स्मरण रखना आवश्यक है कि लोक-गीत शुद्ध रूप से केवल सामान्य जन की ही रचना नहीं होती। बहुधा लोक-गीत के छन्द और लय की योजना कला-गीत के तत्त्वों से प्रभावित पाई जाती है। इसी तरह

लोक-गीत में अनेक श्रेण्य और पौराणिक अंतर्कथाएं अनुस्यूत रहती है; यद्यपि नामों और घटनाओं आदि पर स्थानिक रंग भी चढ़ा रहता है। इधर मुद्रण के प्रसार के फलस्वरूप लोक-गीत के मुद्रित संस्करण भी प्राप्त होने लगे हैं जिसके फलस्वरूप उसका प्रकृत रूप बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाता है।

जिस प्रकार लोक-गीत में अभिजात तत्त्व पाये जाते हैं, उसी प्रकार उसके श्रोता केवल सामान्य जन ही नहीं होते, अभिजात वर्ग के सदस्य भी होते हैं, जिनमें हम उन्हें परिगणित करना आवश्यक नहीं समझते, जो संग्रहकर्ता अनुसंधायक हैं। आल्हा-ऊदल कजली, लावनी, होली आदि की लोकप्रियता लोक तक ही सीमित नहीं रही है, यह सुपरिचित तथ्य है। पर्वों-त्यौहारों तथा विभिन्न ऋतुओं में सामाजिक स्तर-भेद लोक-गीत ही मिटाते रहे हैं, यद्यपि औद्योगीकरण और नागरिक जीवन के आधुनिकतम रूप इसे अधिकाधिक असम्भव बनाते जा रहे हैं।

इधर लोक-गीतों के स्रोतों के अनुसंधायकों का ध्यान एक अन्य तथ्य की ओर गया है, और वह यह है कि लोक-गीत औद्योगिक परिस्थितियों में भी बना रह सकता है।

हाल-हाल तक लोक-वार्त्ताविशेषज्ञ की यह धारणा थी कि लोक-गीत केवल ग्रामीण वातावरण में ही आविर्भूत होता है। किन्तु अमरीकी अनुसंधायकों ने इस धारणा को अमान्य सिद्ध कर दिया है। बड़े-बड़े बांधों और सड़कों के निर्माण के तथा जंगल काटने और खानों में मजदूरी आदि कार्यों ने अनेक लोक-गीतों और गाथाओं को जन्म दिया है और इस तरह औद्योगिक लोक-गीत का अस्तित्व भी प्रमाणित होता है। ऐसे औद्योगिक गीत भी लोक-संगीत ही हैं, क्योंकि ये मौखिक रूप में ही बनते और परिवर्तित होते रहते हैं, सामान्य जनों की आवश्यकताओं और रुचि की पूर्ति करते हैं और शैली में ग्रामीण लोक-गीत के ही सदृश होते हैं।

नागरिक लोक-गीत का सबसे महत्त्वपूर्ण और कलात्मक अमरीकी उदाहरण 'हाट-जाज़' (Hot Jazz) हैं, जिसके प्रवर्तन का श्रेय नगर-निवासी हब्शियों को दिया जाता है, हब्शी अमरीकी नगरों में निवास करते हुए भी सांस्कृतिक पार्थक्य की स्थिति में रहने को बाध्य हैं और योरुपीय संस्कृति को पूर्णतः आयत्त नहीं कर पाये हैं। इन्हीं नगर-निवासियों का जीवंत और तीव्र आवेगपूर्ण लोक-संगीत है 'हाट जाज़'।

लोक-गीत, वह ग्रामीण हो या औद्योगिक, के नैरन्तर्य से यह नहीं समझना चाहिए कि औद्योगीकरण परिस्थितियों के कारण लोक-गीत एक सजीव कला-माध्यम के रूप में समाप्त नहीं हो रहा। वैयक्तिक, पेशेवर और व्यावसायिक कलाएं निर्वैयक्तिक और गैर-पेशेवर लोक-गीत आदि लोक-कलाओं को अपदस्थ करती जा रही हैं। यदि लोक-कलाएं औद्योगीकरण के बावजूद अवशिष्ट हैं, तो इसीलिए कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया अधूरी है। औद्योगीकरण का पूर्णतया विकास लोक-कलाओं के सर्जन के लिए अनुकूल परिस्थितियां रहने ही नहीं देगा। औद्योगिक लोक-गीत केवल इसी बात का प्रमाण हैं कि वह प्रागौद्योगिक जीवन-पद्धति का अवशेष है। 'हाट जाज़' यही तो प्रमाणित करता है कि अमरीकी समाज का एक ऐसा दमित वर्ग भी है, जिसे परिष्कृत कला को आयत्त करने की सुविधाएं सुलभ नहीं रही हैं। यह सांस्कृतिक पार्थक्य दूर हुआ तो लोक-कला भी समाप्त हो जायगी।

लोक-गीत में पिछले दो दशकों के अन्दर जो अभिरुचि उत्पन्न हुई है उससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि औद्योगीकरण की परिस्थितियां लोक-गीत के लिए घातक नहीं हैं। लोक-गीतों के संग्रह, विशेषतः विदेशों में लोक-वार्ता-सम्बन्धी शोध, अमरीका की 'लाइब्रेरी आव कांग्रेस' आदि जैसी संस्थाओं द्वारा हजारों लोक-गीतों की 'रेकार्डिंग' लोक-गीतों के गायकों की लोकप्रियता आदि, उपर्युक्त अभिरुचि के असंदिग्ध प्रमाण हैं। अतः इस बात की सम्भावना अवश्य है कि भविष्य में लोक-गीतों तथा अन्य लोक-कलाओं में परिष्कृत कलाओं का समन्वय हो सकेगा और नवीन कला-रूपों का आविर्भाव होगा।



साहित्य और लोक-साहित्य

डा० रघुवंश

कभी अपनी शब्द-दरिद्रता के कारण हम एक शब्द का प्रयोग उसके निश्चित सन्दर्भ से अलग भिन्न संदर्भ में करते हैं, पर ऐसे प्रयोगों में अनेक बार भ्रम की सम्भावना बनी रहती है। लोक के साथ साहित्य का प्रयोग बहुत-कुछ ऐसा ही है। वस्तुतः जिस विशिष्ट अर्थ में हम साहित्य शब्द का प्रयोग करते हैं और जिस सांस्कृतिक भावभूमि के स्तर पर उसकी व्याख्या करते है, उस दृष्टि से लोक से उसकी संगति बैठ नहीं सकती। भारतीय परम्परा में स्वयं लोक शब्द का भी ठीक वही अर्थ स्वीकृत नहीं रहा है, जो यहां अभिप्रेत है अर्थात अंग्रेजी फोक के पर्याय रूप में। यहां प्रायः वेद अथवा शास्त्र के विपरीत लोक को माना गया है जो लौकिक रूप में सेक्यूलर के अधिक निकट है। मध्ययुग में अवश्य समस्त शास्त्रीय और नागरिक शिष्ट परम्पराओं के विरुद्ध जिसे मान्यता मिली है वह लोक ही है। पर इस प्रसंग में भी लोक अधिक व्यवस्थित और नियोजित लोकमानस की चेतना का द्योतक रहा है। फोक के पर्याय रूप में लोक ऐसे समाज को कहा जायगा जो संस्कृति के संचरण के विविध चरणों से एक स्तर पर सम्पर्कित होकर भी उनके समानान्तर आदिम समाज की प्रवहमान धारा के रूप में अवस्थित रहता है।[१] इसी दृष्टि से डा० सत्येन्द्र का कहना है—"लोक समाज आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहंकार से शून्य रहता है और एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।"[२]

साहित्य की प्रारम्भिक से प्रारम्भिक व्याख्या में मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टाओं की अभिव्यक्ति का समावेश हो जाता है और व्यापक रूप में शब्द-अर्थ के सहभाव की स्थिति में मनुष्य की सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति तथा उसका समस्त अर्जित ज्ञान साहित्य के अन्तर्गत आ जाता है। इसी कारण भारतीय परम्परा में साहित्य का प्राचीन प्रयोग शास्त्र के अर्थ में हुआ है और आगे चलकर काव्य के लिए इसका प्रयोग किया जाने लगा है। 'लिट्रेचर' शब्द का प्रयोग साहित्य के समान कभी व्यापक और कभी सीमित अर्थ में किया जाता है, पर इतना स्पष्ट है कि यह मनुष्य की सजग बोधन और भावन की चेष्टाओं से सम्बद्ध है। ऐसी स्थिति में साहित्य सदा संस्कृति का अंग माना जायगा, वह संस्कृति जो नागरिक रही है, जिसका सम्बन्ध शिष्ट तथा आभिजात्य समाज से रहा है। साहित्य अपने व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में शास्त्र, पांडित्य तथा परम्परा के नियमित रूप से सम्बद्ध रहा है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो साहित्य लोक की मौलिक प्रकृति से भिन्न ही नहीं, विपरीत पड़ता है।

जिस प्रकार लोक-साहित्य की व्याख्या की जाती है, उस पर विचार करने से भी यह अन्तर्विरोध की स्थिति प्रकट होती है। लोक-साहित्य की व्याख्या करते समय जिन बातों का विवेचन किया जाता है उनमें मौलिक बात है उसको लोकमानस की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करना। इसी दृष्टि से यह अभिव्यक्ति मौखिक है, देशकाल की सीमाओं से अप्रभावित रहती है और इसमें व्यक्तित्व का अभाव भी रहता है। लोकमानस जिस भाषा में प्रवाहित है वही इसकी माध्यम होगी और उसकी स्वच्छन्दता ही इसकी प्रकृति होगी। परन्तु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि

१. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; फ़ोक
२. हिन्दी साहित्य कोप; लोक

यह अभिव्यक्ति लोक-जीवन की प्रक्रिया का अंग है, फिर चाहे वह बोधन चेष्टाओं के रूप में हो या भावन व्यापारों की हो। साहित्यिक अभिव्यक्ति सर्जनात्मक होती है, वह जीवन से उद्भूत, प्रेरित या सम्बद्ध होकर भी अपनी तटस्थता में उसका अंग नहीं हो सकती है।

आज लोक-साहित्य लिखित रूप में उपलब्ध हो गया है, इस कारण हम उसको साहित्य के समान और उसी के स्तर पर अपने अध्ययन का विषय स्वीकार कर लेते हैं। पर उसकी मौलिक प्रवृत्ति मौखिक मानी गई है, यही नहीं, इस सम्पूर्ण साहित्य की स्थिति लोकसमाज के प्रवहमान जीवन के क्रम के साथ स्वीकृत है। जैसा कहा गया है वह लोक-प्रवाह का स्पंदित अंग है। ऐसी स्थिति में लिखित-संकलित रूप में इस अभिव्यक्ति पर विचार करना सीमित ही माना जायगा। जिस प्रकार किसी नाट्य-कृति की अभिव्यक्ति की पूर्णता को रंगमंच पर उसकी अवतारणा के बिना नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार लोक की इस अभिव्यक्ति को उसके जीवन-क्रम के प्रवाह में ही सम्पूर्णता के साथ ग्रहण किया जा सकता है। उसके संकलित रूप के आधार पर हमारा कोई भी अध्ययन उसकी वास्तविक भावना तक नहीं पहुंच सकता। लोक-अभिव्यक्ति की अधिकांश भावना और प्राणवत्ता उस गतिशील परम्परा पर आधारित है जिसके माध्यम से वह लोकमानस पर सक्रिय होती आई है और उस वातावरण से स्फुरित है जो लोक-जीवन की नानाविध स्थिति-परिस्थितियों से अभिन्न है।

साहित्य जीवन का सर्जन है, कह सकते हैं उसमें जीवन को पुनः जीने की प्रक्रिया होती है। लोक-अभिव्यक्ति के क्षणों में भी समाज के बीच व्यक्ति अपनी सजगता में प्रमुखतः जीवन का अनुभव करता है, जबकि साहित्यकार यथार्थ जीवन के सर्जन में भी सामाजिक जीवन का अनुभव न करके सृष्टि के असम्पृक्त सुख का अनुभव करता है। साहित्य में रचयिता या स्रष्टा की स्थिति निश्चित है और पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर रसबोध ग्रहण करता है अथवा सक्रिय सहभोग की स्थिति में रचयिता की सर्जन-प्रक्रिया का अनुभव प्राप्त करता है। पर दोनों ही स्थितियों में स्रष्टा और पाठक की दो भिन्न कोटियां मानी जाएंगी। लेकिन लोक-अभिव्यक्ति में ये दो कोटियां सम्भव नहीं हैं, यहां स्रष्टा-उपभोक्ता की एक ही स्थिति है, दोनों का समाहार एक ही व्यक्तित्व में हो जाता है। यह उसकी विशिष्ट स्थिति है जो साहित्य से उसे पृथक करती है। इस स्थिति में लोक-अभिव्यक्ति साहित्य की सौन्दर्याभिव्यक्ति नहीं है, वह जीवन की प्रवाहित धारा की उल्लासमयी तरंग है जो जीवन के सहज यथार्थ से उसी समय अविच्छिन्न रूप से बंधी भी है।[1]

साहित्य को सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में समझा गया है। सम्पूर्ण युग अपने सांस्कृतिक संचरण में व्यापक मूल्यों की उपलब्धि के लिए जो संघर्ष झेलता है, प्रयत्न करता है, चिन्तन-मनन करता है अथवा संवेदन प्राप्त करता है, एक ओर साहित्य इन सबका अनुभावन है और दूसरी ओर उन मूल्यों की सर्जनात्मक उपलब्धि भी है। पर सामाजिक और युगीन स्तर पर साहित्य के अनुभावन तथा उपलब्धि का सारा दायित्व व्यक्ति वहन करता है, तत्सम्बन्धी समस्त चेष्टा और प्रयत्न वह अपने व्यक्तित्व के माध्यम से करता है। इसके विपरीत लोक-अभिव्यक्ति (साहित्य) न किसी युग के रूप में सम्बद्ध है और न किसी समाज के प्रयत्नों का परिणाम ही है। सारा लोक-समाज इसके माध्यम से उस लोक-परम्परा के प्रवाह के साथ अनुभव करता है जिसका वह युगीन रूप है, साथ ही अपने युग-समाज की सामूहिक भावना का इसके द्वारा अनुभावन भी करता है। इसमें अभिव्यक्त दुःख-सुख, राग-द्वेष, प्रेम-करुणा तथा उत्साह-निराशा आदि एक ओर अपने आदिम संस्कारों का क्रमिक अनुभव है, दूसरी ओर सामाजिक स्तर पर सहभोग है।

साहित्य और लोक-साहित्य के इस मौलिक अन्तर के कारण दोनों के मूल्यों का स्रोत भिन्न है और दोनों के प्रतिमानों का आधार भी अलग-अलग है। सर्जन होने के कारण साहित्य, काव्य और कला जीवन से सम्बद्ध होकर भी अपने मूल्यों के स्वतन्त्र प्रतिमान अन्वेषित करते हैं। जीवनगत मूल्यों पर आधारित होकर भी सौंदर्य-सृष्टि के रूप में ये प्रतिमान साहित्य के भाव (विषय-वस्तु) और शिल्प (शैली और रूप) दोनों का निर्धारण करते हैं। सौंदर्य स्वयं मानवीय

१. लेखक का—'लोक-अभिव्यक्ति की भावभूमि और सिद्धान्त' नामक लेख; द्रष्टव्य 'धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक' : हिन्दी अनुशीलन

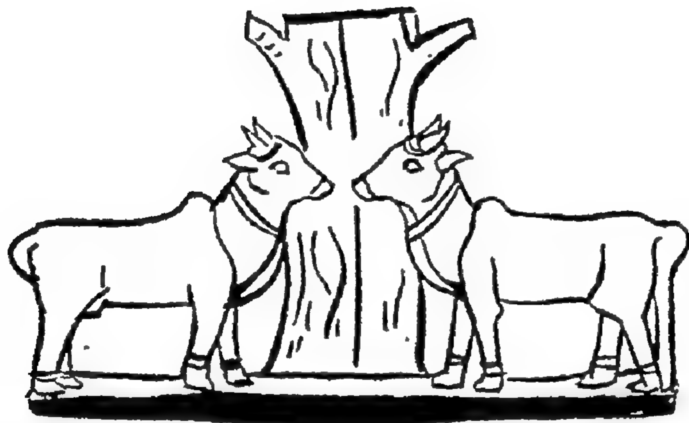
भाव होकर भी संस्कार का विषय है। यूरोप तथा भारत के काव्यशास्त्रियों ने काव्य-सौंदर्य की विवेचना, चाहे भाव-पक्ष पर बल दिया हो या शिल्प-पक्ष पर, संस्कार और शास्त्र की दृष्टि से ही की है। पर लोक-साहित्य की संस्कार और उपलब्धि के रूप में चर्चा करना संगत नहीं है। वह लोक-कल्पना का अंग है, लोक-मनोरंजन का स्वरूप है, लोक-जीवन के आवेगों और संवेगों के साथ अभिव्यक्त होता है। इस कारण उसके सम्बन्ध में लोक-जीवन के अपने सहज और मुक्त मूल्यों के अतिरिक्त किन्हीं मूल्यों का कोई सन्दर्भ नहीं होता है, ये मूल्य भी उसमें अभिव्यक्त भर होते हैं उपलब्ध नहीं। मूल्यों की निश्चित उपलब्धि के अभाव में तत्सम्बन्धी प्रतिमानों का निर्धारण भी नहीं किया जा सकता है।

लोक-साहित्य के जिन मूल्यों और प्रतिमानों की चर्चा की जाती है, वे वास्तव में साहित्य और कला के अर्थ में नहीं स्वीकार किए जा सकते। लोक-साहित्य में जीवन का यथार्थ इस अर्थ में स्वीकृत है कि वह जीवन की यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित है, वह सामाजिक अभिव्यक्ति इस अर्थ में माना जा सकता है कि लोक-समाज के व्यापक जीवन में अन्तर्भुक्त है और उसे हृदय-तत्त्व से युक्त रस-रूप में इस कारण मान लिया जाता है कि लोक इसके माध्यम से अपने दुःख-सुख का सहभोगी होता है। जब कि साहित्य को उपयोगिता की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, वह निर्भर सौंदर्य तथा आनन्द के रूप में स्वीकार किया गया है, लोक-साहित्य लोक-समाज के जीवन की प्रक्रिया में अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है और वह जीवन के सीधे और प्रत्यक्ष अनुभव रूप में सुन्दर और असुन्दर सुख और दुःख दोनों की समान अनुभूति है। अपने प्रतिमानों की इस अनिश्चित स्थिति अथवा अनावश्यक स्थिति के कारण लोक-अभिव्यक्ति अपने शिल्प और शैली के प्रति कभी सजग नहीं होती। उसका सारा शिल्प, शैली, छन्द, लय, ताल, विन्यास, उक्ति, कथन, प्रवाह और विधान जीवन के प्रवाह से निर्धारित होता है, जबकि साहित्य शिल्प और वस्तु के सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन में अपनी अभिव्यक्ति का मार्गान्वेषण करता है। लोक-साहित्य में विषय होता है वस्तु नहीं, पर साहित्य विषय को वस्तु-रूप में ही ग्रहण करने की शर्त मान कर चलता है।

लोक-साहित्य के अन्तर्गत गीतों और गाथाओं को काव्य रूप में माना जा सकता है। परन्तु लोक-गीत लोक-जीवन के किसी संस्कार से, अवसर से, त्यौहार-उत्सव से, क्रिया या व्यापार से सम्बद्ध रहते हैं। बिना इस वातावरण के भावभूमि और परिस्थिति के लोकगीतों के संकेतों, सन्दर्भो, रेखाओं, संवेगों और संवेदनाओं को उसके पूर्ण परिवेश और व्याप्ति में समझा नहीं जा सकता। इसी प्रकार लोकगाथाओं को लोकजीवन के विश्वासों, अंधविश्वासों, आदर्शो, नैतिक आचरण की मर्यादाओं, संस्कारों, प्रचलनों, चरित्रों, कथाओं, जनश्रुतियों, दन्तकथाओं और समग्र वातावरण के बीच रखकर ही उनके भावावेगों के उत्थान-पतन को ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार लोक-कथाओं के कौतूहल, चमत्कार, कल्पना-लोक, शिक्षा, उपदेश, नीति, मनोरंजन और हास्यव्यंग को उसके जीवन के सन्दर्भ में अर्थात अलावों, बैठकों, व्रतों, बूढ़े-बुढ़ियों से घर के बच्चों के सम्बन्धों तथा गांव के कथाकारों की निजी शैली के मुक्त वातावरण में ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है। गीतों में लय की प्रधानता, गाथाओं में गानेवालों का स्वर तथा उसके साथ चलने वाले वाद्यों के सामंजस्य का महत्त्व तथा कथाओं के मन्द और सुस्थिर गति से चलने वाले प्रवाह के साथ कहने वाले की शैली, अनिवार्य रोचकता आदि तत्त्व इस बात के साक्ष्य हैं कि लोक-साहित्य की मौलिक प्रवृत्ति साहित्य के समस्त संस्कारी वातावरण से नितान्त भिन्न है।

अनेक बार कहा जाता है कि काव्य की परम्परा में रोमांटिक आन्दोलन लोक-जीवन और लोक-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। उसकी आत्माभिव्यक्ति, स्वच्छंदता, मुक्ति, विद्रोह, जीवन को सीधे झेलने की वृत्ति, उसके अंतर्गत अभिव्यक्त होने वाला प्रेम, उल्लास, भावावेग, प्रकृति और जीवन से सीधे सम्बन्ध स्थापित करने की अकुलाहट आदि को किसी-न-किसी अर्थ में और स्तर पर लोक-जीवन तथा साहित्य से सम्बद्ध किया जाता है। परन्तु लोक-साहित्य में इन प्रवृत्तियों की स्थिति लोक-मानस के प्रवाह की गति से निर्धारित होती है, और उसकी सारी स्वच्छन्दता, मुक्ति तथा विद्रोह लोक की जीवनसम्बन्धी आकांक्षा का ही प्रतिफलन है। यह आकांक्षा उसके सामाजिक जीवन की परम्परागत रूढ़ियों के गतिरोध के बीच से अपने आदिम प्रवाह की अदम्य जीवनधारा को मुक्त रखने का प्रयत्न है। इसको व्यक्ति के समाज के प्रति किये गए विद्रोह के रूप में नहीं माना जा सकता है; यह जीवन की दो स्थितियों में से एक का दूसरे के प्रति

विद्रोह है। लोक-जीवन का एक पक्ष रूढ़िबद्ध है, परम्परावादी है, गतानुगतिक है और धर्म, समाज तथा आचरण आदि के क्षेत्रों में विजड़ित है। पर उसका ही दूसरा पक्ष जीवन की मुक्ति तथा स्वच्छन्द कामना से इन सबके प्रति विद्रोही जान पड़ता है। पर लोक-साहित्य में यह मुक्ति की कामना विद्रोह की सक्रिय शक्ति नहीं हो पाती और न उसमें साहित्य के समान संघर्ष, विध्वंस और निर्माण की विभिन्न शक्तियां ही सक्रिय हो पाती हैं। यह साहित्य जीवन की स्थिति का प्रतिफलन-मात्र है, इसमें एक साथ जीवन की रूढ़ियां और स्वच्छन्द जीवन की आकांक्षा व्यक्त होती है। विद्रोह, जो किसी युग की सांस्कृतिक चेष्टा और प्रयत्न की दिशा है, इसमें आभासित भर होता है, इसकी शक्ति का साधन साहित्य की सांस्कृतिक उपलब्धि में ही देखा जाता है।



सत्य और सौन्दर्य

डा० मुंशीराम शर्मा

मेरे सामने शहतूत का वृक्ष खड़ा है। थोड़े दिन पहले उसकी पुरानी पत्तियां झड़ने लगी थीं। वे इतनी झड़ीं कि वृक्ष नंगा हो गया। फिर धीरे-धीरे उसमें हरी पत्तियां निकलने लगीं। पत्तियों के साथ फल भी आये। इस समय हरा-हरा वृक्ष कैसा भला लगता है—सुन्दर और आकर्षक। सामने वृक्ष है, इसका बौद्धिक ज्ञान सत्य है। हरी पत्तियों के साथ वह आंखों की ज्योति को आकर्षित करता है और मेरा मन उसमें रम जाता है—हृदय की यह अनुभूति सौन्दर्य है।

सत्य का उद्घाटन करने वाले कई शास्त्र हैं। वनस्पति विज्ञान (Botany), प्राणि-विज्ञान (Biology), रसायन (Chemistry), तथा भौतिकी (Physics), क्रमशः पादप, जन्तु, धातु, तथा इस दृश्यमान ब्रह्माण्ड के सत्य को अभिव्यक्ति देने वाले हैं। दृश्यमान जगत के परे भी कोई सत्ता है जिसका ज्ञान या आभास दर्शनशास्त्र (Metaphysics) देता है। हमारे शरीर में प्राणतत्त्व से भी ऊपर चिन्तन और मनन की एक शक्ति है जिसका उद्घाटन मनोविज्ञान करता है। मनोविज्ञान यदि प्राकृतिक विज्ञान बन रहा है तो भौतिकी दर्शन की ओर जा रही है और अन्तिम सत्य के उद्घाटन की ओर प्रवृत्त है।

सौन्दर्य की व्याख्या तो शास्त्र करता है, पर उसका अनुभव कराने वाली कलाएं हैं। कलाएं कुछ उपयोगी हैं, कुछ ललित। ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ काव्यकला है। काव्य को साहित्य भी कहते हैं। साहित्य सहित का भाव है जिसमें दो का हित-सहित एक होकर रहना वांछनीय है। काव्य में शब्द और अर्थ एक साथ रहते हैं: 'शब्द या शैली-चमत्कार या रचना-सौष्ठव अर्थ का कोट नहीं, खाल हैं।' अर्थ का सौन्दर्य शब्द या उसके अभिव्यक्ति-कौशल के साथ लगा रहता है। जैसे स्वस्थ मस्तिष्क स्वस्थ शरीर में रहता है, वैसे ही सुन्दर भाव या विचार के लिए सुन्दर शब्दों की अपेक्षा है।

साहित्य में सत्य सौन्दर्य के साथ रहता है। दर्शन और विज्ञान में सत्य का नग्न रूप है जिसमें सुन्दरता नहीं होती। पेड़ की पत्तियां जब झड़ गई थीं, तब वह नंगा था और अच्छा नहीं लगता था। बाण के ज्येष्ठ पुत्र के शब्दों में 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' की भांति था। पर जब सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में उसके कनिष्ठ पुत्र ने कहा—"नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' तो उक्ति में सौन्दर्य आ गया और शुष्क सत्य भी सरस-सुन्दर रूप में अभिव्यक्त हो सकता है, इसकी सम्भावना चरितार्थ हो उठी। साहित्य सत्य की ऐसी ही सुन्दर अभिव्यक्ति है।

साहित्यकार कवि के हाथों में पड़कर शुष्कता के अन्दर निहित सरसता फूट पड़ती है। कवि अन्य व्यक्तियों की भांति किसी वस्तु के बाह्य रूप से भी प्रभावित होता है, पर उसकी आंखें वहीं तक सीमित नहीं रहतीं। वे बाह्य-आवरण को भेद कर उसके अन्तस्तल में भी प्रविष्ट होती हैं और वहां के समस्त रहस्यों की झांकी लेती हैं। शास्त्र किसी वस्तु की गौण या मात्रिक (qualitative or quantitative) वास्तविकता तक पहुंचने का प्रयत्न करता है, पर साहित्य वस्तु की आत्मा को देखता और दिखाता है। यह आत्मा कवि के समक्ष सुन्दर सत्य के रूप में ही प्रकट होती है। अतः शुष्क सत्य में भी सौन्दर्य-तत्त्व छिपा पड़ा है—इसकी अनुभूति साहित्यकार को ही होती है। काव्यानन्द इसीलिए ब्रह्मानन्द का सहोदर है।

कोरी पद्य-रचना काव्य नहीं कहलाती। गणित तथा आयुर्वेद के पद्यबद्ध ग्रन्थ काव्य या साहित्य नहीं हैं।

वे शास्त्र हैं। 'इकत्तर, बहत्तर, तिहत्तर, चौहत्तर, पचहत्तर, छियत्तर, सतत्तर, अठत्तर।' पद्य की नपी-तुली मात्राओं पर निबद्ध दो चरण हैं। क्या आप इन्हें काव्य की संज्ञा देंगे? 'अश्लेषा, मघा, ज्येष्ठा, अश्विनी, रेवती उभौ। मूले मूला भवन्त्येते षड्मूलाः प्रकीर्तिताः'—नक्षत्रों के नाम गिनाने वाला यह पद्य काव्य नहीं है। काव्य पद्यमय होता है। पर सभी पद्य काव्य-पद के अधिकारी नहीं हैं। केवल पद्यबद्ध सत्य विज्ञान या दर्शन है। साहित्य इस सत्य का सुन्दर रूप है। सत्य सौन्दर्य में डूबकर ही साहित्य में स्थान पाता है।

इतिहास में सम्भव है, पात्रों के नामों तथा तिथियों की गणना में शुद्धता हो, सत्यता हो, पर उसमें अंकित घटनाओं के रूप प्रायः अशुद्ध अथच असत्य भी होते हैं। किसी स्थान पर घटित घटना को देखने वाले व्यक्ति जितने मुंह उतनी बातें कहेंगे। मुर्गे की बांग में किसी को 'सुबान ! तेरी कुदरत', किसी को 'राम-सीता जसरत' और किसी को 'नोंन-तेल-अदरक' सुनाई पड़ सकता है। ऐतिहासिक घटनाओं का मूल्य भी इससे अधिक नहीं है। पर काव्य में पात्रों के नाम तथा तिथियों की गणना भले ही अशुद्ध हो, उसमें अंकित घटनाएं शाश्वत सत्य होती हैं, क्योंकि वे कवि की अनुभूति पर आश्रित हैं। कवि की अनुभूति उसके सीमित व्यक्तित्व से निकलकर विश्व-मानस की अनुभूति के साथ एक हो जाती है। अनुभूति के इन क्षणों में कवि का मन समस्त वैयक्तिक आसंगों से शून्य, अपने विशुद्ध सत्व में रमण करता है। उसकी अनुभूति इसीलिए व्यापक, सर्वहृदयानुवेद्य, होती है। संवेद्यता की यह समता ही कवि के काव्य को—पुरा-नव—बना देती है। व्यास, कालिदास, तुलसी, होमर, शेक्सपियर सबके काव्य आज भी वैसे ही अभिनव हैं जैसे वे पहले थे। उनमें अंकित पात्र सम्भव है, इतिहास में कहीं भी उल्लिखित न हों, सम्भव है उनका ऐतिहासिक अस्तित्व भी न हो, पर वे चिरकाल तक अमर रहेंगे। ब्रह्मवैवर्त और सूरसागर की राधा का नाम श्रीमद्भागवत तक में नहीं है; पर वह अब एक ऐसा जीवन्त चरित्र बन गया है जो किसी के मिटाये मिट नहीं सकेगा।

विज्ञान जिस वस्तु-स्थिति का प्रकाश करता है, दर्शन जिस अंतिम सत्ता को अनावृत करता है, साहित्य उसकी अवज्ञा नहीं करता। वह अपने समस्त सामर्थ्य के साथ उसे अपनाता है। प्रत्येक सत्य का वह सम्मान करता है। वह सबका साथी है; पर जब सबको अपने अंचल में समेटने लगता है, तब उन्हें उनके प्रारम्भिक, आदिम, नग्न रूप में नहीं रहने देता। वह उन्हें संवारता है, शिष्ट, संस्कृत, परिमार्जित, सुन्दर रूप देता है और अपना लालित्य उन पर चढ़ाकर ऐसा अंजित करता है कि वे व्यंजित हो उठते हैं। जो अपने एकाकी रूप में दूसरों के समक्ष आने में शरमाते थे, वे साहित्य के कन्धे पर बैठकर सबकी नजरों में चढ़ जाते हैं। कवि दुरूह-से-दुरूह विषय को भाव का बाना पहिनाकर सबके लिए सुगम एवं समझने-योग्य बना देता है।

साहित्य में सह का भाव विभिन्न तत्वों में सामंजस्य की स्थापना करता है, तो हित का भाव उसे सबके लिए उपयोगी भी बनाता है। उसमें अकर्मण्य को कर्मण्य बना देने की शक्ति है। कठोर को कोमल, कायर को शूर, कृपण को दानी, संकीर्ण को उदार, स्वार्थी को परोपकारी, विलासी को संयमी, कुरूप को सुन्दर एवं मृत को जीवित बना देना कवि के बाएं हाथ का खेल है।

साहित्य जहां इस धरातल की, द्वन्द्वात्मक जीवन की, राग एवं विराग के संघर्ष की व्याख्या करता है, वहां वह आनन्दवाद की प्रतिष्ठा भी करता है। उसमें यथार्थ का क्रन्दन है तो आदर्श का अभिनन्दन भी; तमसावृत धरित्री की कालिमा है, तो दीप्तिमान द्यौ का प्रकाश भी। वह मानव को दानवता से हटाकर देवत्व की ओर प्रेरित करता है।

कवि की कल्पना-शक्ति दूरस्थ वस्तु का भी समीपता से अनुभव करा देती है, अपरिचित को परिचित, अदृष्ट को दृष्ट, असीम को ससीम, अनन्त को सान्त तथा अनियुक्त एवं अव्याकृत को निरुक्त एवं व्याकृत बनाकर स्वयं दूर हट जाती है और आपको उसके साथ खेलने के लिए छोड़ देती है। सौन्दर्य के उपासक कवि से साहित्य के सौन्दर्यगत सत्य की शिक्षा यदि कुछ उपलब्ध होती है तो यही कि हम अपने आपको बाह्याभ्यन्तर रूप से सत्य के खिलाड़ी तथा सौन्दर्य के उपासक बना लें। साहित्य का शरीर सुन्दर है, परिधान सुन्दर है, उसके विचार-भाव तथा कल्पना सुन्दर हैं। उसमें सत्य समाविष्ट है। इस सत्य और सुन्दर के समीप पहुंचकर उसके साथ तद्रूप हो जाना ही साहित्य के अध्येता का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए।

साहित्य-मूल्यांकन के नये मान

डा० कन्हैयालाल सहल

साहित्य और जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध अक्षुण्ण एवं अविच्छिन्न है। जीवन की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। परिवेश और परिस्थितियों की भिन्नता साहित्य-मूल्यांकन के लिए नये मापदण्ड प्रस्तुत करती है। पल-पल परिवर्तित होता हुआ जीवन साहित्य के नये मानों की अनिवार्य शर्त है, उनकी आधारशिला है। जीवन किसी स्थितिशील निश्चेष्टता का पर्याय नहीं है। जीवन की सार्थकता उसकी गत्यात्मकता और विकसनशीलता में है। तभी तो आज मानव, विकास के असंख्य शिखरों पर आरोहण करता हुआ प्रस्तर-युग से अंतरिक्ष-अभियान की स्थिति तक पहुंच गया है और कोई आश्चर्य नहीं, कभी वह दिन भी आ सकता है जब भूलोक और किसी अंतरिक्ष-लोक में परस्पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान संभव हो जाय। विज्ञान की चतुर्दिक उन्नति के कारण आज देश की सीमा का अतिक्रमण कर विचार इतनी तेजी से यात्रा कर रहे हैं कि उनकी हवा से अपने आपको अछूता रखना शायद सम्भव ही नहीं रह गया है। कम-से-कम साहित्यकार और सहृदय भावुक के लिए तो जिनकी चेतना सामान्य औसत व्यक्ति की अपेक्षा जागरूक और प्रबुद्ध होती है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे समसामयिक तथा अद्यतन विचार-धारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। दूसरी बात यह है कि कोई भी प्रबुद्ध चेतना अपने लिए अभिव्यक्ति के नये-नये मार्गों का सन्धान कर लेती है, ऐसी भूमिकाओं पर विचार करने लगती है जिन पर पहले कभी किसी के चरण-चिह्न नहीं पड़े थे। प्रतिभा के अवरोधक बन्धन जब असह्य हो उठते हैं, तब वह उन्हें तोड़ डालती है और उन्मुक्त पथ पर अग्रसर होकर खुली हवा में सांस लेने लगती है। प्रसाद, पंत, निराला तथा आधुनिक प्रयोगवादी कवि इस तथ्य का साक्ष्य भर रहे हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य का मूल्यांकन केवल परम्परागत शास्त्रीय नियमों के आधार पर नहीं किया जा सकता। साहित्य-सर्जना नियमों का परिणाम नहीं है, वस्तुतः साहित्यकार का कृतित्व ही नियमों को जन्म देता है, उसका समर्थ साहित्यिक व्यक्तित्व ही मूल्यांकन के नए मान भी निर्धारित कर जाता है। यह भी सम्भव है कि साहित्य के जो नये मानदण्ड किसी युग में नये समझे जाते हैं, वे ही परवर्ती युग में पुराने पड़ जाएं; नूतन और नवीन कहकर जिनका कभी अभिनन्दन किया गया था, उन्हें ही भविष्य का समीक्षक प्रतिक्रियावादी ठहरा दे और उनकी भर्त्सना होने लगे। देश-विदेश के सांस्कृतिक स्तर की भिन्नता के कारण यह भी देखा जाता है कि एक देश में जो साहित्यिक मूल्य पुराने पड़ जाते हैं, वे ही दूसरे देश में साहित्य की नई धारा के रूप में अपना लिये जाते हैं।

हमारे देश के पिछले दो दशकों के साहित्य को नया साहित्य की आख्या प्राप्त हुई है और इसी के मूल्यांकन की समस्या आज ज्वलन्त प्रश्न-चिह्न बनकर विवाद का रूप धारण कर रही है। किन्तु जहां तक मैं समझता हूं, कोई भी वाद, चाहे वह कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, साहित्य के मूल्यांकन के लिए मापदंड नहीं बन सकता। जब किसी वाद को आधार मानकर साहित्य-सृष्टि होने लगती है तो साहित्यकार अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। वादमूलक साहित्य प्रायः प्रचार और सैद्धान्तिक निरूपण करने लगता है और साहित्य-सृष्टि के स्थान में साहित्याभास को जन्म देता है। हिन्दी का बहुत-सा प्रगतिवादी साहित्य, जिसमें साहित्यिक मूल्यों की अपेक्षा वाद पर विशेष आग्रह है, इस स्थापना का

पुष्ट प्रमाण है। कोई समर्थ साहित्यकार भी जब साहित्य की अपेक्षा वाद को महत्त्व देने लगता है, तब उसकी सर्जना और उसके द्वारा किया हुआ आलोचन, दोनों ही बुद्धि-भेद और विचार-विभ्रम को जन्म देने लगते हैं। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में पन्त ने काव्य के मूल्यांकन के सम्बन्ध में कुछ मान निर्धारित किए हैं किन्तु वादग्रस्त होने के कारण वे मान साहित्यिक न होकर मार्क्सवादी बन गये हैं। कवि ने स्वयं उन मानों के आधार पर अपने काव्य का मूल्यांकन करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने ही काव्य का सम्यक् मूल्यांकन न कर सका।

नई कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके मूल में कोई वाद अथवा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है। सम्भवतः इसीलिए प्रयोगवाद की अपेक्षा प्रयोगशील काव्य अथवा नई कविता, ये दो नाम अधिक प्रचलित हो रहे हैं। साहित्य में वादबद्धता की अपेक्षा वादमुक्तता को महत्त्व दिया जाना सर्वथा उचित है। इसका यह अर्थ न लगाया जाए कि साहित्यकार किसी वाद अथवा दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित नहीं होता; किन्तु कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि वाद अथवा दार्शनिक विचार साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग होकर ही साहित्य में स्थान पाने योग्य हैं, अन्यथा नहीं।

वाद-मुक्ति का उक्त सिद्धान्त नई कविता की भांति हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं पर घटित नहीं हो रहा है। हिन्दी काव्य की तरह उपन्यास और कहानियों में भी नये-नये प्रयोग आज हो रहे हैं। सबसे पहली बात जो नवीन उपन्यासों को लेकर कही जा सकती है, वह यह है कि उपन्यासों का कथा-कलेवर आज स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनता चला जा रहा है। फ्रायड, एडलर, जुंग और बर्गसां आदि की विचारधारा का प्रभाव आधुनिक उपन्यास के रचना-शिल्प पर आवश्यकता से भी अधिक पड़ा है। जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि ने अपने उपन्यासों में मनुष्य के अंतर-जगत के चित्र खींचे हैं। साहित्य के मानदंड ही नहीं, साहित्य के माध्यम भी युग-धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। नवीन मान व मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है। 'शेखर : एक जीवनी' जैसे आधुनिक उपन्यास में कहीं लघु कथा, कहीं यात्रा-विवरण, कहीं निबन्ध, कहीं गद्य-गीत, कहीं व्याख्यान-पद्धति, कहीं सिद्धान्त-कथन, सभी प्रकार की शैलियों का समावेश हुआ है। इस प्रकार के उपन्यास अपने मूल्यांकन के लिए स्वयं प्रतिमान बन जाते हैं। श्री जोशी के 'संन्यासी' और 'पर्दे की रानी' आदि उपन्यासों में मनोविश्लेषण के स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं। मार्क्सवादी उपन्यासों की भी इन दिनों खूब चर्चा चल रही है।

आज के जीवन में जितने प्रश्न उठ रहे हैं उन सबका समाधान कोई एक उपन्यास नहीं कर सकता, चाहे वह कितना ही वृहदाकार क्यों न हो। इसलिए लघु उपन्यास, जो एक-दो प्रश्नों को लेकर चलते हैं, आधुनिक युग की मांग को पूरा कर रहे हैं। किन्तु हिन्दी के उपन्यास-शिल्पियों को यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि जीवन से सिद्धान्त उद्भूत हों, सिद्धान्तों से जीवन नहीं; चाहे वे सिद्धान्त फ्रायड से लिये गए हों, चाहे मार्क्स से। जीवन-प्रसूत सत्य-दर्शन ही उपन्यासकार का ध्येय होना चाहिए।

यही बात हिन्दी के कहानी-साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। यद्यपि जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, पहाड़ी तथा नरोत्तमदास नागर ने अनेक मनोवैज्ञानिक कहानियां लिखी हैं तथापि स्टीवेन्सन की 'मारखेड़म' जैसी मनोवैज्ञानिक कहानी सम्भवतः हिन्दी में आज तक नहीं लिखी गई। साहित्य के अन्य अंगों की तरह हिन्दी का कहानी-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है; किन्तु यह देखकर आज भी आश्चर्य होता है कि कहानी-कला-सम्बन्धी आधुनिक मापदंडों के प्रामाणिक विवेचन के लिए हमें पाश्चात्य साहित्य का ही मुखापेक्षी बनना पड़ रहा है। हिन्दी-साहित्य में आख्यायिकाओं के अनेक विधि-विधान आज प्रचलित हैं, उन्हीं के आधार पर कहानियों के मापदंड की विवेचना होनी चाहिए। प्रामाणिक और प्रौढ़ लक्षण-ग्रन्थ ही लक्ष्य-ग्रन्थों की समृद्धि और वैभव के परिचायक हुआ करते हैं।

जहां तक नाटकों के मूल्यांकन का प्रश्न है, रसनिष्पत्ति और साधारणीकरण की अपेक्षा आज चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। सामाजिक यथार्थ की भूमि पर जीवन और जगत की समस्याओं के प्रति जागरूकता तथा मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटकीय कला-कौशल की कसौटी समझा जाने लगा है।

आज के बुद्धिवादी युग में निवन्ध-लेखक से भी वहुत-कुछ आशाएं की जाने लगी हैं। मन की शैथिल्यमयी तरंग से अभिभूत होकर किसी प्रकार की अनियमित एवं आकर्षक रचना कर डालना ही निबन्धकार के कर्तव्य की इतिश्री नहीं है, आज का पाठक यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के धरातल पर निवन्धकार से नवीन तथ्य और नूतन दृष्टिकोण की अपेक्षा करने लगा है। किन्तु सखेद कहना पड़ता है कि हिन्दी साहित्य की यह विधा अपेक्षया कम समृद्ध है।

जो भी हो, आधुनिक साहित्य की विविध विधाओं का मूल्यांकन करते समय एक खतरे से सदा सतर्क रहने की आवश्यकता है। विविध वादों और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के इस युग में वहुत से समीक्षक जब किसी कलाकृति की समीक्षा करने लगते हैं तो वे आधुनिक वादों के आलोक में प्रशंस्य अथवा हेय ठहराते हुए देखे जाते हैं। किसी कलाकृति के मूल्यांकन का यह मापदण्ड सही कहा जा सकता है। यद्यपि यह सच है कि विश्व के वड़े-वड़े विचारक कलाकार के व्यक्तित्व पर प्रभाव डालते हैं, वातावरण और देशकाल से भी साहित्यकार के व्यक्तित्व का निर्माण होता है तथापि यह सच है कि साहित्यकार बने-बनाये विचारों और वादों के कठघरे में वन्द होकर साहित्य-सृष्टि नहीं करता। कुछ देशों में साहित्यकार को विवश होकर वाद-साहित्य की सृष्टि करनी पड़ती है किन्तु यह साहित्यकार का दुर्भाग्य है जहां वह अपनी अस्मिता तथा अपने प्रकृत स्वभाव को वाणी नहीं दे पाता। इससे स्पष्ट है कि साहित्य का मानदंड स्वतः साहित्य होना चाहिए, न कि बाहर से आरोपित राजनीतिक, सामाजिक अथवा मनोवैज्ञानिक आदर्श।

साहित्य-मूल्यांकन में परम्परा का क्या स्थान है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। डा० राधाकृष्णन ने एक बार कहा था कि आज यदि हम अपनी प्रत्येक गतिविधि में मनु द्वारा निर्दिष्ट जीवन-पद्धति को अपनावें तब तो यही अच्छा था कि मनु उत्पन्न ही न हुए होते। तात्पर्य यह है कि परम्परा के ग्रहण में भी विवेक का आश्रय अत्यन्त अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परम्परा सर्वथा त्याज्य है। अतीत को अपने से सर्वथा विच्छिन्न करके हम वर्तमान में नहीं जीते। परम्परा का विवेकपूर्ण त्याग और ग्रहण ही हमें वर्तमान से गतिशील बनाता है जिसके परिणामस्वरूप उज्ज्वल भविष्य की सम्भवानाएं प्रकट होने लगती हैं।

नवीन मान व मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-विधान की आवश्यकता होती है। अंग्रेजी साहित्य के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि विक्टोरिया-युग में अभिव्यक्ति के जो प्रचलित उत्पादन थे, जार्जियन कवियों ने उनका सर्वथा परित्याग कर दिया था। हिन्दी साहित्य में भी प्रसाद जी का महाकाव्य 'कामायनी' रचना-तंत्र की दृष्टि से इतनी नवीनता लिये हुए है कि उसके रखने के लिए परम्परागत शास्त्रीय नियम पुराने पड़ रहे हैं। गीत-मुक्तकों के युग में लिखा जाने के कारण वह एक ऐसा लिरिकल महाकाव्य बन गया है जो अपना प्रतिमान स्वयं है। लिरिक और एपिक के पारस्परिक विरोध को भी वह एक चुनौती है, एक ललकार है। उसके क्षीण कथानक में हृदय और मस्तिष्क की विराट गूंज सुनाई पड़ती है। कामायनी का विषय पुराना होते हुए भी उसकी वस्तु नव्यतम है। कवि की समर्थ संवेदना और उसकी कारयित्री प्रतिभा किस प्रकार परम्परा को भी नव्य आलोक में प्रस्तुत कर सकती है, 'कामायनी' इसका सुन्दर निदर्शन है।

हिन्दी काव्य की अभिनव प्रयोगवादी धारा में साहित्य के माध्यम और भी तेजी से बदल रहे हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि काव्य के उपकरण जब घिसने लगते हैं तब समर्थ कलाकार उन पर मुलम्मा चढ़ाकर उनको चमका देते हैं अथवा उनके स्थान में नये माध्यमों को अपना लेते हैं। छन्द-शिल्पी और शब्द-बोधक के रूप में श्री गिरिजाकुमार माथुर को अच्छी सफलता मिली है। कविता की शक्ति बढ़ाने के लिए उन्होंने नई लय-गति का निर्माण किया है। नरेश मेहता, भवानीप्रसाद मिश्र तथा अज्ञेय आदि के नाम भी इस सम्बन्ध में उल्लेख-योग्य हैं। किन्तु अनेक कवि ऐसे भी हैं जो नई कविता के नाम पर इस प्रकार की कविता करने लगे हैं जिसके दोनों ओर के सिरे कटे होते हैं, तीन पंक्तियां इस प्रकार लिख दी जाती हैं मानों वे १३ पंक्तियां हों। मुक्त छन्द तो निराला ने भी लिखे थे, किन्तु वे लय-गति-हीन छन्द नहीं थे। आज का कवि तो लय से भी पिण्ड छुड़ा रहा है। एक उदाहरण लीजिए :

"इस रात सागर के किनारे हम इसी विश्वास से चल रहे हैं कि वहां चांदनी में विहार करती जल-परियों

को देखेंगे, उस भुरभुरी बालू पर जहां लहरों की तरलता नाच चुकी होगी, हम बैठेंगे गुमसुम, चुपचाप, उसी सुकुमार दृश्य से घुले-मिले।"

इसे गद्य कहा जाय या गद्य-काव्य, छन्द-मुक्त कहा जाय या गद्य-छन्द, समीक्षकों द्वारा विचारणीय विषय है। इस प्रकार की स्थिति को अवांछनीय करार देते हुए ईलियट तक ने कहा है, "सर्वाधिक मुक्त छन्द में भी किसी सीधे-सादे छन्द का प्रेत पर्दे के पीछे रहता है।" वस्तुतः काव्य में भी एक वजन, एक संयम अथवा ध्वनि-लहरियों का व्यवस्थित संयोजन होना चाहिए। पर आज के बहुत से प्रयोगवादी कवि अपने लय-मुक्त गीतों से विदा ले रहे हैं, सुनसान बस्तियों में कहीं आवारा स्वर घूम रहे हों तो उन्हें भी पकड़-पकड़कर आज एक तरफ इकट्ठा किया जा रहा है। धूल-भरे छन्दों के जाले बुहार कर आज काव्य-पथ को शीशे जैसा साफ किया जा रहा है।

कवि यद्यपि छन्दों से विदा ले रहा है, तथापि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए आड़ी-तिरछी पंक्तियों, मोटे-पतले टाइपों तथा उल्टे चिह्नों आदि का प्रयोग कर रहा है। नये-नये प्रयोगों का किया जाना तो एक शुभ लक्षण है किन्तु हर नये प्रयोग के मूल में अनुकरण-वृत्ति वांछनीय नहीं, जूठी पत्तल चाट कर कोई कब तक जी सकेगा!

छन्दों के सम्बन्ध में परम्परा-त्याग का यही अर्थ होना चाहिए कि नव्यतम यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए पुराने छन्द पुराने पड़ रहे हैं, इसलिए उनके स्थान में नये-नये छन्दों की उद्भावनाएं सर्वथा उचित कही जा सकती हैं, किन्तु लय तक को भी तिलांजलि देकर छन्दों को बिलकुल स्वच्छन्द नहीं बनाया जा सकता।

आज के इस वैज्ञानिक और बुद्धिवादी युग में रस को नये साहित्य का मापदण्ड मानकर बौद्धिकता को साहित्यिक मान के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ प्रयोगवादी समीक्षक 'बुद्धि-रस' जैसे शब्द का भी प्रयोग करने लगे हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या बौद्धिकता को रागात्मक रूप दे दिया जाता है? बौद्धिकता में रस लेने वालों की संख्या विरल होती है क्योंकि उसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का व्यायाम अपेक्षित होता है और भविष्य में भी तब तक ऐसा ही होता रहेगा जब तक मानव जाति के मूल रूप में ही कोई तात्त्विक परिवर्तन न हो जाय। आधुनिक काव्य में बौद्धिकता को मानदण्ड के रूप में प्रतिष्ठित करने का अर्थ यदि केवल सस्ती भावुकता का विरोध करना मात्र हो तब तो ऐसी बौद्धिकता का समर्थन किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। फिर दूसरी बात यह है कि काव्य में जिस रागात्मक तत्त्व को अनिवार्य ठहराया जाता है, उसका बौद्धिकता से कोई विच्छेद नहीं होता। बौद्धिकता से विच्छेद होने पर तो काव्य की रागात्मकता भी उन्माद अथवा प्रलाप का रूप धारण कर लेगी। साहित्य की सार्थकता राग और बुद्धि के साहित्य में है, राहित्य में नहीं।

श्री मदन वात्स्यायन ने नये शृंगार रस, नई करुणा, नये वीर रस और नये शान्त रस की चर्चा की है तथा स्पष्टीकरण के लिए नये कविता-सम्बन्धी उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। आज के कवि-समीक्षक यदि रस-सिद्धान्त का विस्तार कर उसे अभिनव रूप में उपस्थित करें तो इसमें कहीं अनौचित्य नहीं दिखलाई पड़ता।

एक अन्य कवि-समीक्षक की धारणा है कि नई कविता की परीक्षा न तो चरित्र-चित्रण की पूर्व-प्रचलित पद्धति पर हो सकती है, न प्राचीन रसवाद के नियमों के आधार पर; यद्यपि मैं मानता हूं कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है। रसवादी लक्षणों के अनुसार अधिकांश बौद्धिक कविताएं अवर कोटि में आ जाएंगी। परन्तु फिर भी वे हमें प्रभावित करती हैं और कभी-कभी बहुत प्रभावित करती हैं, यह उनके श्रेष्ठ काव्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। एक आधुनिक कवि की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है। उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों में ही व्यक्त होती है। मैं बिम्ब-निर्माण की प्रक्रिया पर इसलिए जोर दे रहा हूं कि आज काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है।

ऊपर के विवेचन का तात्पर्य यह है कि रससत्ता के अभाव में प्रभावकता साहित्य के लिए नूतन मापदण्ड प्रस्तुत करती है और इस प्रभावकता की मूल भित्ति है बिम्ब-योजना। किन्तु जिसे बिम्ब-योजना कहा जाता है, उसका सम्बन्ध भी तो अलंकारों से जोड़ा जा सकता है अथवा उसे कल्पना से अविभक्त माना जा सकता है।

साहित्यकार के वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों को लक्ष्य में रख कर भी उसकी कृतियों का मूल्यांकन किया जाता है किन्तु जहां तक नये साहित्य के समीक्षकों का प्रश्न है, वे यह मान कर चलते हैं कि जब तक साहित्यकार में स्वधर्म के प्रति निष्ठा अथवा आत्मविश्वास सहीं होगा, तब तक कभी भी उसे आत्मोपलब्धि न हो सकेगी, जो साहित्यकार का वास्तविक ध्येय है। यह आत्मोपलब्धि किसी रोमांटिक जगत अथवा रहस्य लोक की वस्तु नहीं है, इसका सम्बन्ध साहित्यकार के सत्यान्वेषण तथा उसकी प्रबुद्ध चेतना से है जिसका प्रतिफल सर्जना के आत्म-तोष और आत्म-सम्पूर्ति में सन्निहित है। इस प्रसंग में कालिदास पर रचित रविबाबू की कविता का निम्नलिखित काव्यानुवाद उल्लेखनीय है :

"हे अमर कवि कालिदास, क्या तुम्हारे सुख-दुःख और आशा-निराशा हमीं लोगों की तरह नहीं थे ? क्या तुम्हारे समय में राजनीतिक षड्यन्त्रों और गुप्त आघातों-प्रतिघातों का चक्र हर-समय नहीं चलता रहता था ? क्या तुम्हें कभी हम लोगों की तरह अपमान, अनादर, अविश्वास और अन्याय सहन नहीं करना पड़ा ? क्या तुमने यथार्थ जीवन के क्रूर कठोर अभावों से पीड़ित नहीं रहे ? और तुम्हें क्या उस निर्मम पीड़ा के कारण निद्राहीन रातें नहीं बितानी पड़ीं ?

"ऐसा सम्भव नहीं। तुम्हें भी जीवन की कठोर यथार्थता के कटु अनुभव हुए होंगे, पर यह सब होने पर भी उन सबके ऊपर तुम्हारा सौन्दर्य-कमल आनन्द के सूर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त, निर्मल रूप में खिला है। उसमें कहीं दुःख-दैन्य और दुर्दिन के अनुभवों का कोई चिह्न नहीं है। जीवन के मंथन से उत्पन्न विष को तुमने स्वयं पान किया है और उस मंथन में फलस्वरूप जो अमृत उठा, उसे तुम समग्र संसार को दान कर गए हो।"

इस रचना को पढ़कर ऐसा लगता है कि जिस साधारणीकरण सिद्धान्त की उद्भावना भट्टनायक ने चिन्तन के बल पर की थी, उसी सत्य को रविबाबू ने अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा प्राप्त किया है।

जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण का अर्थ अपनी कुंठाओं और विकृतियों को उंडेल देना अथवा उनका वमन कर देना नहीं है। साहित्यकार के वैयक्तिक अस्तित्व की प्रबलता को अस्वीकार कर देना सम्भव नहीं है; किन्तु फिर भी निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त और अनासक्त होकर जिस सत्य की वह प्रतिष्ठा कर जाता है, उसकी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी प्रकार के पूर्वग्रह से रहित होने पर ही साहित्य अपने नाम को सार्थक कर पाता है। यदि राजनीति, धर्मनीति और अर्थशास्त्र के अपने-अपने मापदंड हैं और उन्हीं के द्वारा उनका लेखा-जोखा किया जाता है, तो साहित्य भी अपने ही मापदंडों से क्यों नहीं नापा जाय ? जीवन के सत्य और उसमें निहित सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण ही साहित्यकार का अपना स्वभाव है, उसका स्वास्थ्य है जिसके अभाव में उसका व्यक्तित्व रुग्ण रूप धारण कर लेगा। साहित्यकार के व्यक्तित्व को खंड-खंड करके देखने का परिणाम यह हुआ कि साहित्य-मूल्यांकन के मापदंड, जो हमें मिले हैं, वे भ्रान्तिपूर्ण हो गए हैं। साहित्यकार में व्यक्ति और समाज, अन्दर और बाहर, दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं।

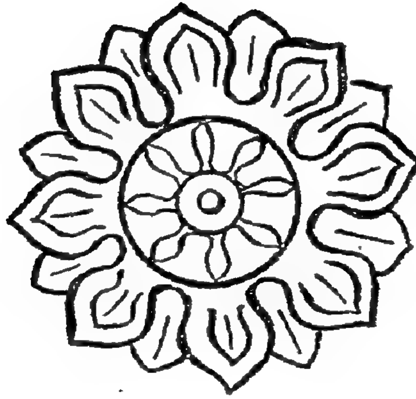
नये साहित्य के मूल्यांकन के लिए आज जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण और मानवतावाद को मापदंड के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। वैज्ञानिक जीवन-दर्शन साहित्य का भी जीवन-दर्शन हो सकता है, शर्त केवल यह है कि साहित्य हमारी संवेदनाओं को जागृत करे, उन्हें प्रभावित करे। जिस नये साहित्य में इस प्रकार की शक्ति है, उसकी शक्तिमत्ता से कौन इन्कार कर सकता है ? और जिसमें केवल सिद्धान्त ही सिद्धान्त हैं, दर्द नहीं है, व्यंग्य नहीं है, चोट नहीं है, वह कराल काल के महान उदर में विलीन हो जाएगा।

यह निश्चित है कि वैज्ञानिक युग का साहित्यकार पुरानी काव्य-रूढ़ियों और कवि-समय से ऊपर उठकर नूतन उपमाओं और नये-नये बिम्बों की सृष्टि करेगा जिनके मूल में केवल कवि प्रौढ़ोक्ति न होगी, यथार्थ जीवन का मर्म भी होगा और यह निश्चय ही स्वागत की वस्तु है।

नये साहित्य पर यह आरोप लगाया गया है कि उसका सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व शिल्प अथवा रूप-विधान है जिसके कारण उसमें वस्तुतत्त्व की उपेक्षा हो गई है। शिल्प-वैचित्र्य द्वारा पाठकों को चौंका देने अथवा आतंकित कर देने की प्रवृत्ति नये साहित्य में है, इसे स्वीकार करना होगा; किन्तु वस्तु-तत्त्व उसमें सर्वथा उपेक्षित रह गया है, यह भी नहीं

माना जा सकता। प्रयोगशील साहित्य जीवन के प्रति नवीन बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर बल देता है। किसी अलौकिकता अथवा रहस्यात्मकता को वह साहित्य का माप-दण्ड स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। 'न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' के सूत्र में उसकी निष्ठा और आस्था है। शिल्प-वैचित्र्य के प्रति चमत्कार और नवीन के प्रति उसका विशेष आकर्षण होने के कारण नया साहित्यकार दुरूह भी होने लगा है। लेकिन दुरूहता और सहजता को वह साहित्य का आन्तरिक मूल्य स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। शिल्प-विधान की नवीनता केवल नई कविताओं में ही नहीं, रेणु के आंचलिक उपन्यासों आदि में भी देखी जा सकती है।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए नूतन शिल्प-विधान अनावश्यक हो जाता है किन्तु वह इस अतिवाद पर नहीं पहुंच जाना चाहिए कि शिल्प-वैचित्र्य की चकाचौंध में वस्तु-तत्त्व का धुंधला रूप भी दिखलाई न पड़ सके। किन्तु नये साहित्य की सीमाओं को स्वीकार करते हुए भी, उसके स्खलनों पर दृष्टि रखते हुए भी, हमें यह मानना होगा कि आज वह अपनी जड़ जमा रहा है। उपन्यास और नई कविता के क्षेत्र में कुछ समर्थ रचनाएं भी हमारे सामने आई हैं। साथ ही यह भी सच है कि बहुत-सा कूड़ा-कर्कट भी साहित्य के प्रांगण में बिखर गया है जिसे काल समय पाते ही बुहार ले जाएगा। साहित्य अपने मूलभूत गुणों से जीवित रहता है, किसी की वकालत-मात्र से नहीं।



आधुनिक काव्य-चिन्तन

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

आधुनिक युग के काव्य-चिंतन की चर्चा आरम्भ करते ही हमारा ध्यान उस चिन्तन से सम्वन्धित कुछ अपर तथ्यों की ओर जाता है। सवसे पहले हम यह देखना चाहते हैं कि आधुनिक युग के काव्य-चिन्तन को विरासत क्या मिली थी, हिन्दी काव्य-चिन्तन की परम्परा क्या रही है? साथ ही हम यह जानना चाहते हैं कि जिन कवियों और लेखकों ने काव्य-सम्बन्धी आधुनिक चिन्तन का आरम्भ किया, उनकी समकालीन पार्श्वभूमि क्या थी? दूसरे क्षेत्रों के विचारक किस प्रकार के विचार प्रचारित कर रहे थे? निश्चय ही इन स्वतन्त्र विचारों का प्रभाव साहित्यिक चिन्तन पर भी पड़ता ही है। फिर हम यह भी देखना चाहते हैं कि समाज की वास्तविक स्थिति क्या रही है, जिसमें यह चिन्तन उपस्थित किया गया। कोई भी चिन्तन सामाजिक वास्तविकता से अछूता नहीं रह सकता, बल्कि वास्तविकता की ही विभिन्न प्रतिक्रियाएं साहित्य और जीवन-सम्बन्धी चिन्तन में व्यक्त होती हैं। फिर हमें उस युग के साहित्य-चिन्तन की विविधता को भी देखना पड़ता है, जो लेखकों और कवियों की अपनी विशेषता के अनुरूप आकार ग्रहण करती है, और अन्त में यह भी देखते है कि उक्त काव्य-चिन्तन के अनुरूप वास्तविक काव्यनिर्माण किस प्रकार हुआ है। युगविशेष के काव्यनिर्माण और काव्य-चिन्तन में गम्भीर सहजात सम्बन्ध होता है। सच तो यह है कि किसी युग के काव्य-चिंतन का सच्चा मर्म हम उन कृतियों में ही देख पाते हैं जो उक्त चिंतन के जल से सिंचित होकर फली-फूली है।

इस प्रकार आधुनिक युग के काव्य-चिंतन से सम्वन्धित विभिन्न जिज्ञासाएं हमारे साथ हैं। परन्तु इस निवन्ध की छोटी सीमा में ये आनुषंगिक जिज्ञासाएं संक्षेप में ही उपस्थित की जा सकेंगी और वह भी जहां उनकी आत्यन्तिक आवश्यकता होगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के समय हिन्दी काव्य-चिन्तन की परम्परा साहित्य-ग्रंथों और पंडितों की चर्चा तक सीमित थी। वह एक ऐसी सम्पत्ति थी, जिसे गृहपति ने जमीन खोदकर उसके तल में डाल रखा था। उसकी चर्चा पंडितमंडली के बीच शेष थी, उसका सम्बन्ध रचनात्मक साहित्य से वहुत कम रह गया था। कदाचित इसी कारण जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये चिन्तन का प्रारम्भ किया तव वे केवल नाटक के शास्त्रीय रूप में थोड़े से परिवर्तन की आवश्यकता वताकर चुप हो रहे। यह परिवर्तन भी केवल नाटक की ऊपरी रूपरेखा में वताया गया। इस स्वल्प संशोधन से कोई वड़ी निष्पत्ति नहीं मिल पाई। यह कहना अधिक संगत होगा कि चिन्तन के क्षेत्र की अपेक्षा वास्तविक निर्माण की दिशा में भारतेन्दु का व्यक्तित्व अधिक क्रियाशील रहा, तभी तो उन्होंने नाटकों में नई सजीव शैलियों का विन्यास किया और काव्य में नाना लोक-छन्दों और लयों की प्रतिष्ठा की। उदाहरण के लिए, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'चन्द्रावली' नाटिका में प्राचीन नाट्य-परम्परा का ऊपरी सांचा तो ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, पर उसकी भीतरी वस्तु, नाटककार की भाव-सत्ता वहुत कुछ वदली हुई है। प्रेम की जो अभिनव प्रतिष्ठा इस नाटिका में की गई है, वह संस्कृत की परम्परागत पद्धति से विल्कुल भिन्न है। उस पिछले खेवे की संस्कृत नाटिका केवल एक राजा की पत्नी और प्रेयसी के वीच वासनात्मक खींचतान से आरम्भ होकर एक विलास-भरी परिणति प्राप्त करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के साहित्य-चिन्तन की अपेक्षा उनकी अपनी निर्मिति अधिक शक्तिशालिनी है। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक सामाजिक और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनेक नये प्रवर्तन हो चुके थे। राममोहन राय

और रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द की नई युगवाणी अभिव्यक्त हो चुकी थी। फिर भा काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्रगति बहुत कुछ मन्द थी।

भारतीय साहित्य-चिन्तन की जो महत्त्वपूर्ण निधि शास्त्रीय ग्रंथों में निहित थी, उसका अधिक उपयोग भारतेन्दु जी के पश्चात आरम्भ हुआ, जिसे हम पुनरुत्थानवादी युग के नाम से पुकारते हैं, और जिसके दो बड़े प्रतिनिधियों के रूप में हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचन्द्र शुक्ल का स्मरण करते हैं। वे वस्तुतः प्राचीन सम्पत्ति के परिदर्शक पंडित थे, जिन्हें पुनरुत्थानवादी कहकर हम उनके महत्त्व को कम करते हैं। परन्तु जो निधियां भूगर्भ में पड़ी थीं, उन्हें सामाजिक भूमिका पर लाकर और नई टकसाल में ढालकर समाज की सम्पत्ति बना देना केवल पुनरुत्थान नहीं कहला सकता। वस्तुतः इस महत्त्व को व्यक्त करने के लिए किसी अधिक अर्थगर्भ शब्द की आवश्यकता है।

इन दोनों विचारकों ने कला और साहित्य के विवेचन को अपने देश की पारिभाषिक शब्दावली में नया आकार दिया। जो साहित्य शास्त्र सामयिक जीवन-चेतना का स्पर्श न पाकर केवल पांडित्य का भारवाही बना हुआ था, उसे नये सामाजिक और साहित्यिक स्पन्दनों से समन्वित कर जनसमाज के सम्मुख रख देना एक अपूर्व उपलब्धि थी। श्री पद्मसिंह शर्मा और मिश्र-बन्धुओं ने भी इस दिशा में कार्य किया था, परन्तु शर्माजी की दृष्टि भारतीय साहित्य-चिन्तन के केवल कला-पक्ष की ओर थी। वे केवल रचना के उक्ति-कौशल और शब्द-चमत्कार से प्रभावित थे। यह भी अपने समय की नवीनता थी, पर उतनी गहरी नहीं। मिश्र-बन्धुओं की साहित्य-विवेचना में भी अलंकार-पक्ष ही मुख्य था, यद्यपि कवियों की जीवनी आदि के अनुसंधान में लगकर उन्होंने एक नई दिशा की शोध भी की। इन दोनों पंडितों की तुलना में जब हम युग-प्रतिनिधि विवेचक द्विवेदीजी और शुक्लजी के साहित्य-चिन्तन को रखकर देखते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों महानुभावों ने, और विशेषतः शुक्लजी ने, जो कार्य किया वह भारतीय साहित्य शास्त्र के सम्पूर्ण नव प्रवर्तन का ही कार्य था।

एक नये बुद्धिवादी और सुधारवादी युग की छाया आचार्य शुक्ल के विचारों में अवश्य व्याप्त है। यदि शुक्लजी ने भारतीय शास्त्र की अस्सी प्रतिशत व्याख्या उसके मूल रूप में की है, तो बीस प्रतिशत ऐसी भी है जिसे हम शुक्लजी का अपना विचार कह सकते हैं। एक विशेष प्रकार के काव्य के अनुरूप भारतीय काव्य-शास्त्र की व्याख्या करना शुक्लजी की विशेपता रही है। यह युगधर्म उनके विचारों में प्रतिफलित हुआ है।

इस युग के काव्य-चिन्तन में बौद्धिक पक्ष अधिक प्रबल हो गया है, और वह निर्माण की स्वतन्त्रता को बाधित भी करने लगा है। यह भी कह सकते हैं कि इस युग में विचारणा और रचना के बीच उचित समन्वय स्थापित नहीं हो पाया। कदाचित यही कारण है कि हिन्दी-काव्य अपनी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से खिंचकर एक प्रकार की उपदेशात्मकता के प्रभाव में जा फंसा। कवियों की जीवन-धारा और उनकी स्वतन्त्र कल्पना किसी ऊपरी नियन्त्रण से नियन्त्रित होने लगी। सम्भव है, एक तर्कप्रधान बौद्धिक युग की छाया कवियों पर स्वतन्त्र रूप से भी पड़ी हो, पर तत्कालीन साहित्य-चिन्तकों के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि आचार्य शुक्ल की सारी व्यवस्थाएं स्वीकार कर ली जाएं, तो मानना पड़ेगा कि साहित्य और कला में रहस्यानुभूति के लिए कोई स्थान नहीं, अथवा अत्यन्त सीमित स्थान है। काव्य कुछ नपे-तुले विचारों की कसौटी पर कसा जा सकता है, इस प्रकार का एक बौद्धिक अतिवाद शुक्लजी के समीक्षण में सर्वत्र पाया जाता है। यह कहना संगत न होगा कि भारतीय साहित्य शास्त्र की सारी रूप-रचना शुक्लजी की व्याख्याओं से अनुसीमित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शुक्लजी के अनेक विचार युगानुरूप होते हुए भी साहित्यशास्त्र की व्यापकता का अवरोध लाते हैं।

शुक्लजी के इन बुद्धिवादी विचारों की प्रतिक्रिया में छायावादी काव्य के स्रष्टा और उसके कतिपय समीक्षक क्षेत्र में आये। छायावाद या स्वच्छन्दतावाद के उद्भावक कवियों ने एक दूसरी ही अतिवादी विचारणा अपनाई। श्री जयशंकर प्रसाद ने यह बताना चाहा कि भारतीय काव्य की मुख्य और प्रगतिशील धारा रहस्योन्मुख ही है। उन्होंने रस की आह्लादक अनुभूति के साथ रहस्यवादी अनुभूति का संयोग कराया, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सका कि जिस काव्य में रहस्यानुभूति नहीं है उसमें रस नहीं है, काव्यानन्द नहीं है। स्पष्ट ही यह एक अतिवादी विचारणा थी। इसी

प्रकार श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'पल्लव' की भूमिका में जिस वायवीय काव्यादर्श का संकेत किया, वह भी शुक्लजी के प्रशस्त दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया ही थी। परन्तु छायावाद के कतिपय अन्य समीक्षकों ने अधिक संतुलित दृष्टि अपनाई। वे एक ओर शुक्लजी के बुद्धिवादी और नैतिक काव्यादर्श से असहमत हुए तो दूसरी ओर छायावादी कवियों की उपरिलिखित अतिवादी व्याख्याएं भी उन्हें स्वीकार नहीं हुई। इन समीक्षकों द्वारा प्रवर्तित नये चिंतन का स्वरूप एक ओर काव्य के विषय-पक्ष को उचित महत्त्व देता है तो दूसरी ओर विषय-पक्ष को—कवि की वैयक्तिक भावचेतना को—भी मूल्य प्रदान करता है। वह यदि रहस्यानुभूति को काव्य का एकमात्र प्रेरक तत्त्व नहीं मानता, तो दूसरी ओर रहस्यानुभूति को काव्य से बहिष्कृत भी नहीं करता। साहित्यिक इतिहास के वस्तुमुखी अध्ययन द्वारा इन समीक्षकों ने एक नये संतुलित काव्यादर्श की भूमिका प्रस्तुत की।

आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में पश्चिम के कतिपय नये पुराने साहित्यशास्त्रियों का उल्लेख भी किया था, परन्तु उनका लक्ष्य भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र को समन्वित भूमि पर रखना नहीं था। वह अपने मत की पुष्टि के लिए——भारतीय काव्य-शास्त्र की अपनी व्याख्याओं के समर्थन के लिए—पश्चिम के उदाहरण दिया करते थे। सर्वप्रथम डा० श्यामसुन्दरदास ने पूर्वी और पश्चिमी काव्य-सिद्धान्तों की समन्वित भूमिका प्रस्तुत की। उनका 'साहित्यालोचन' ग्रंथ इसी समन्वय का प्रतीक है। परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास ने नये कार्य की भूमिका ही बांधी थी। आगे चलकर साहित्य-सम्बन्धी चितन में पूर्वी और पश्चिमी विचारों का अधिक बहुलता से संयोग होने लगा। वह समय भी आया जब विश्वविद्यालयों में पश्चिमी समीक्षा के सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्त के साथ-साथ पढ़ाये जाने लगे। दोनों को नितान्त पृथक पद्धतियां न मानकर दोनों के समान सूत्रों का अध्ययन किया जाने लगा। हम कह सकते है कि छायावादी युग की समीक्षा में उस चिन्तन की झांकियां मिलती है जिसमें साहित्य की प्रकृति मानव-जीवन की प्रकृति के अनुरूप ही विशाल और बहुमुखी है। साहित्य और कलाएं देश और काल की प्रेरणाओं से अनुप्राणित होती हुई भी स्थायी मानव-मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। यदि इस दृष्टि को साहित्य की मानवतावादी दृष्टि कहा जाय, तो छायावादी युग के समीक्षक इसी दृष्टि से पुरस्कर्ता थे।

एक अन्य उपलब्धि जिसका श्रेय छायावादी युग के समीक्षकों को दिया जा सकता है, महान काव्य-सम्बन्धी तत्त्वों और उपकरणों की खोज है। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी काव्य ने जिस प्रकार मानव-चेतना की उच्चतम भूमियों का परिदर्शन कराया था, उसी प्रकार भारतीय और हिन्दी छायावादी काव्य मे भी मानव-अनुभूतियों का सूक्ष्मतम संधान किया गया है। विशेषकर प्रसाद की 'कामायनी' तथा निराला और पंत के गीतों में काव्य के ऐसे उत्कृष्ट उपादान पाये गए है, जिनकी सम्यक व्याख्या युग-चेतना में एक गम्भीर और मूल्यवान अनुभूति बनकर स्थिर हो गई है।

जिस प्रकार काव्य के सभी नये उत्थान अपनी सीमा पर पहुंचकर नई शैलियों के लिए राह खोल देते हैं, उसी प्रकार छायावादी काव्य ने भी नई शैलियों और भावधाराओं के लिए भूमि उर्वर बना दी। एक ओर बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा और अज्ञेय छायावाद की व्यक्ति-प्रमुख भावचेतना के नये प्रतिनिधि हुए; तो दूसरी ओर प्रभात, दिनकर, नागार्जुन, शिवमंगलसिह 'सुमन' आदि उसकी समष्टिगत भावसंवेदना के आगामी परिवाहक बने। एक तीसरी धारा गीतों की थी, जिसके निर्माण में अधिक मूल्यवान कार्य महादेवी वर्मा ने किया। इसी के नये उन्मेष जानकीवल्लभ शास्त्री, शम्भुनाथसिंह तथा अन्य गीतकारों में प्रत्यक्ष हुए जब कि साहित्य-सृष्टि इस नई दिशा में अपनी स्वाभाविक गति से चल रही थी, और अपनी स्वाभाविक परिणति भी प्राप्त करती, तब सहसा नये वादों का नारा लेकर बहुत-से नये चिन्तक क्षेत्र मे आ गए। काव्य-रचना में आदेशों का प्रभाव पड़ने लगा और कविता फिर से एकांगी आग्रह की परिचारिका बन गई।

इस अवसर पर जिन नये वादों का प्रचलन हुआ वे सभी विदेशी वाद हैं, और प्रायः मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों से सम्बद्ध है। पूर्ववर्ती साहित्य में भारतीय भूमिका पर ही काव्य-चिन्तन की परम्परा आगे बढ़ रही थी, पर यहां आकर उसने एकदम विदेशी रंग ग्रहण किया। हिन्दी-समीक्षा में पूर्वी और पश्चिमी विचारों का सम्मेलन हो रहा था, और छायावाद-युग में यह सम्मेलन स्वाभाविक आदान-प्रदान की स्थिति तक पहुंच गया था, पर यहां आकर सारी

टकसाल ही बदल गई। इस बात की चिन्ता नहीं की गई कि अधिकांश हिन्दी पाठक इस नय तत्त्वज्ञान का कहां तक समझेंगे, समझकर कितना स्वीकार करेंगे, और स्वीकार कर किस सीमा तक अपना सकेंगे। यह हमारी राष्ट्रीय भावना के प्रति एक अनाकांक्षित आक्रमण भी था। यह हमारे लिए एक सांस्कृतिक तौहीन ही थी। पर सबसे बड़ी विलक्षणता यह थी कि मार्क्स और फ्रायड के वास्तविक चिन्तन, उनके साहित्यिक आशयों और संदर्भों को, बहुत थोड़े लोगों ने समझदारी के साथ प्रस्तुत किया। स्वयं पश्चिम में मार्क्सवादी सिद्धान्त की समय-समय पर अनेक साहित्यिक व्याख्याएं की गई हैं, जिनमें बहुत कुछ असमानता भी रही है, पर हिन्दी साहित्य में ये नये विचार बहुत-कुछ स्थूल और असाहित्यिक रूप में उपस्थित किये गए। मार्क्सवादियों ने साहित्य को वर्गसंघर्ष की भूमिका पर ग्रहण करने की शिक्षा दी। वहीं दूसरी ओर यह भी कहा कि एक निश्चित क्रम से ही पूंजीवादी युग का काव्य समाजवादी काव्य में परिवर्तित होता है। एक ओर इस सिद्धान्त में नियतिवादिता का अंश है क्योंकि यह मानता है कि एक विशेष आर्थिक संगठन के युग में एक विशेष प्रकार के काव्य की ही निर्मिति होगी; वहां दूसरी ओर यह काव्य को सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का अस्त्र बनाकर उसे एक कट्टर प्रचार के कार्य में भी लगाना चाहता है। इन दोनों अतिवादों में पड़कर यह विवेचना हिन्दी के क्षेत्र में निरन्तर एक असंगति की सृष्टि करती रही है।

काव्य-चिंतन के क्षेत्र में हिन्दी में मार्क्सवादियों ने अधिकतर पश्चिमी विचारों को ही दोहराया है, परन्तु इसके साथ ये समीक्षक धीरे-धीरे भारतीय परिस्थिति, परिवेश और परम्परा के प्रति अपनी स्वीकृति ही प्रगट करते गए हैं। आरम्भ की वादी प्रवृत्तियां बहुत-कुछ संयत होती गई, और पिछले कुछ समय से तो मार्क्सवादी समीक्षकों ने शुक्लजी के लोकादर्शवाद के समर्थन में ही अपने विचारों को केन्द्रित कर दिया है। कभी-कभी सन्देह यह होता है कि ये प्रगतिवादी विचारक शुक्लजी की विचारभूमि के कुछ आगे भी बढ़ सकेंगे या नहीं। एक ओर कठिनाई यह है कि इन समीक्षकों में विचारों का ऐक्य कम हो पाता है। स्थिति यह है कि कुछ प्रगतिवादी समीक्षक महादेवी वर्मा के काव्य में और कुछ अन्य जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रगति के उच्च तत्त्वों का साक्षात्कार करने लगे हैं। स्पष्ट है कि व्यावहारिक समीक्षा के पक्ष में ये प्रगतिशील विचारक छायावादी समीक्षकों की ऐतिहासिक चेतना से भी पिछड़ गए हैं। इधर कुछ दिनों से यह प्रवृत्ति भी दिखाई देती है कि अनेक परस्पर-विरोधी मतों के समीक्षक, जिनमें कहीं भी समानता का सूत्र नहीं है, अपने को आचार्य शुक्ल का उत्तराधिकारी विज्ञापित करने लगे हैं। इस प्रकार के प्रयत्न केवल इन समीक्षकों के विचार-दारिद्र्य का ही प्रमाण देते हैं।

यद्यपि प्रगतिवादी विचारों की यह परिणति अपने-आप में कम चिन्तनीय नहीं है। इनमें गत्यात्मकता का तत्त्व समाप्तप्राय है, पर इसका यह आशय नहीं कि हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रगतिवादियों का प्रदेय कुछ है ही नहीं। इस बीच कुछ साहित्यिक क्षेत्रों में यह आवाज भी उठाई गई है कि प्रगतिवाद समाप्त हो गया, यह प्रयोगवाद का युग है। परन्तु इस आवाज में प्रयोगवादियों के निहित स्वार्थ ही छिपे-छिपे बोल रहे हैं।

ऊपर छायावादी काव्य की व्यक्ति-चेतना के आगामी विकास के रूप में बच्चन, अंचल और अज्ञेय आदि के नाम लिये गए हैं। यह व्यक्ति-चेतना छायावाद की मानवीय आदर्शों से प्रेरित व्यक्ति-चेतना से भिन्न रही है। इसमें ऐकान्तिकता बढ़ती गई है, और अन्ततः यह एक विशुद्ध व्यक्ति-केन्द्रित भावधारा के रूप में परिणत हुई है। आधुनिक मनोविज्ञान और विशेषकर मनोविश्लेपण के सम्पर्क से एक अन्तर्मुखी चिन्ताधारा भी इन व्यक्तिवादियों में विकसित हुई, जो प्रयोगवाद के नाम से हिन्दी में प्रचलित है।

प्रयोगवाद में आया हुआ 'प्रयोग' शब्द काव्य-शिल्प का द्योतक है। पश्चिम में मनोविज्ञान की नई निष्पत्तियों के परिणामस्वरूप काव्य के शिल्प-पक्ष में अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। परन्तु वह प्रयोग नवीन काव्य-वस्तु से भी सम्बन्धित रहे हैं। वस्तु को छोड़कर प्रयोग अपने में सामान्यतः कोई अर्थ नहीं रखता। आरम्भ में प्रयोगवादी शिल्प के पीछे इतने दीवाने रहे हैं कि उन्होंने प्रयोग को साधन और साध्य दोनों मान लिया था। इस सम्बन्ध में 'तारसप्तक' के प्रयोग देखने योग्य हैं। परन्तु अनेक दिशा-निर्देशों के पश्चात अब 'अज्ञेय'-प्रभृति प्रयोगवादी शिल्प को साधन-मात्र मानने लगे हैं। परन्तु साध्य के सम्बन्ध में अब भी वे अनिश्चय में ही हैं। अज्ञेय जी के इस वैचारिक परिवर्तन का लाभ

उठाकर विहार प्रदेश के नकेनवादी धर्मग्रंथ में नकेन-सम्प्रदाय को असली प्रयोगवादी और अन्यों को केवल प्रयोगशील बताया गया है। परन्तु यह प्रयोगवादियों का अपना गृह-कलह है जिससे प्रस्तुत निवन्ध का कोई सम्वन्ध नहीं।

नये काव्य-चिन्तन में काव्य की निर्वैयक्तिकता—व्यक्तित्व के अलगाव—की वात उसी जोश के साथ कही जाती है, जिस जोश के साथ कोई सम्प्रदायवादी ही कह सकता है, व्यक्तित्व का अलगाव या निर्वैयक्तिकता काव्य में एक असम्भव आदर्श है। नये काव्य में कतिपय ऐसे तथ्यों को स्थान देने के उद्देश्य से ही इस सिद्धान्त का सहारा लिया जाता है, जिन्हें अन्यथा रखना कठिन होता। छायावादी काव्य में कवियों के व्यक्तित्व की इतनी गहरी छाप पड़ी है, और उस छाप के कारण इतना मार्मिक भावसंवेदन उसमें सन्निहित है कि यह निर्वैयक्तिकता की पुकार एक अर्थ में असामयिक भी कही जा सकती है। प्रयोगवादियों का यह अस्त्र जीवन को वस्तुमुखी दृष्टि से देखने का उद्देश्य उतना नहीं रखता, जितना अस्वीकृत सामाजिक सम्वन्धों और ऐसी अन्य व्यर्थताओं को खुले-आम चित्रित करने का लक्ष्य करता है। कुरूप को चित्रित करने का यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक प्रयत्न प्रयोगवादियों ने भी अपनाया है। कुरूप को चित्रित करने की प्रवृत्ति ही नहीं, कुरूप को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन वना लेना भी प्रयोगवादियों की एक अन्य उपलब्धि है। इस जीवन-दर्शन के साथ सामाजिकों (काव्य-पाठकों) की स्वाभाविक वितृष्णा और अरुचि देखकर कतिपय प्रयोगवादियों ने रस और साधारणीकरण जैसे सर्वसम्मत साहित्यिक तथ्यों का भी विरोध आरम्भ किया है।

इस नये विरोध के प्रति आश्चर्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रवृत्ति का वहुत ही स्पष्ट विवरण काडवेल और प्रगतिवादी चिंतकों ने पहले से ही दे रखा है। अन्तर है तो यही कि प्रयोगवादी इसे अपने काव्य का नया वैभव या विकास मानते हैं, जवकि प्रगतिवादी काडवेल इसे पूंजीवादी युग के काव्य की नितान्त ह्रासोन्मुख स्थिति का परिणाम वताते हैं। इस मतभेद में तथ्य किस ओर है, इसका निर्णय करना अधिक कठिन नहीं है। फ्रायड और जुंग के अवचेतनवादी सिद्धान्त भी जव काव्य की सार्वजनिक ग्राह्यता या आस्वादन-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, तव हिन्दी के कुछ नये चिन्तक काव्य को निरा वैयक्तिक मान लेने में भी आपत्ति नहीं देखते।

यदि हम पश्चिम के मनोविज्ञान-प्रेरित काव्य से हिन्दी के नये काव्य की तुलना करें, तो विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से तुलना-योग्य बहुत थोड़ी सामग्री मिलती है। नई रचनाओं में यदि कहीं वास्तविक सौंदर्य है, तो वह कवियों की स्वछन्द भावधारा का ही परिणाम है। कुछ नये कवि और समीक्षक हिन्दी की नई कविता को नये स्वच्छन्दतावाद या नये मानववाद का उन्मेष बताने लगे है। यदि उनके वक्तव्यों में कुछ सार होता, तो निश्चय ही वह स्वागत की वस्तु होती। परन्तु जिस विचार-दर्शन में कवि के मानववादी व्यक्तित्व और भावधारा के समर्थन के लिए स्थान ही नहीं है, जो कवि को समाज की सक्रिय भूमिकाओं से अलग रहकर देखने का प्रयासी है, उसमें स्वच्छन्दतावाद या मानववाद के लिए अवकाश ही कहां हो सकता है। यदि नई कविता में इस प्रकार की कुछ प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, तो उसका कारण नया चिन्तन नहीं, नई सामाजिक वास्तविकता है।

नये काव्य-चिन्तन की अन्य उपपत्ति यह है कि हिन्दी-कविता केवल 'राष्ट्रीय' वनकर नहीं रह सकती। उसे अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर ले जाने की आवश्यकता है। यहां 'राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग 'राष्ट्रवादी' अर्थ में नहीं है, वल्कि राष्ट्रीय परिवेश से सम्बन्ध रखने वाली सभी रचनाएं उसकी सीमा में आ जाती हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह भी नये चिन्तकों द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय से आशय केवल फ्रांस, इंगलैंड या पश्चिमी यूरोप की कविता से हो, तव तो यह अन्तर्राष्ट्रीयता की वड़ी सीमित धारणा होगी। आज संसार के इतिहास में जो नई सांस्कृतिक हलचलें उठ रही हैं, वे सव-की-सव यूरोप के इस पश्चिमी क्षेत्र से ही सम्बन्धित नहीं है। आज के जगत में कम-से-कम दो प्रधान सांस्कृतिक धाराएं दिखाई देती हैं, एक पश्चिमी यूरोप और अमेरिका आदि की और दूसरी एशिया, अफ्रीका और अन्य पूर्वी देशों की। जहां तक नये काव्य के शैलीशिल्प का प्रश्न है, नये कौशल की चर्चा है, यूरोप हमें अव भी आकृष्ट करता है फैशन अव भी वहीं से आरम्भ होते हैं, परन्तु जहां तक विश्व-इतिहास को नई सप्राणता देने की वात है, हमें पूर्व की ही ओर दृष्टि डालनी पड़ेगी। आज विश्व-कविता के नाम पर हम पश्चिम का ही आदर्श नहीं अपना सकते। इंगलैंड, अमेरिका आदि जिन देशों का उल्लेख किया गया है, वहां भी क्रमशः वैज्ञानिक

अतिवादों से हटकर काव्य अधिकाधिक मानव-सुलभ होता जा रहा है, और जिन देशों में ऐसे नये परिवर्तन नहीं हुए हैं, वहां कविता लिखी भले ही जाती हो, सम्मान की दृष्टि से देखी नहीं जाती। यूरोप में जिस अवचेतनवादी काव्य-सृष्टि और शिल्प का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, वह अपने अनोखेपन में आकर्षक भले ही हो, परन्तु विश्व-काव्य के विकास-क्रम में उसकी स्थिति अब भी अस्पष्ट है। फ्रायड और एडलर आदि के विश्लेषणात्मक विचार स्वतः एक विशेष सामाजिक परिस्थिति के परिणाम हैं। स्वतन्त्र रूप से उपन्यास, नाटक और काव्य के क्षेत्रों में दास्तोएव्स्की, मार्शल पुस्त अथवा फ्लावेअर जैसे लेखक ऐसी असाधारण स्थितियों और चरित्रों का चित्रण कर चुके थे। एक प्रकार से नये मनोविज्ञान की भूमिका उन्होंने ही बांधी थी। आगे चलकर मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ, और नये साहित्यिक उन्हें लेकर नये प्रयोग करने लगे। हम यह नहीं भूल सकते कि यह पश्चिमी साहित्यिक प्रगति का एक पक्ष-मात्र है। आधुनिक यूरोपीय साहित्य में मनोविश्लेषण से कुछ भी सम्बन्ध न रखने वाले महान लेखक और कवि भी हुए हैं। तालस्ताय, पुश्किन और वाल्ड व्हिटमैन जैसे मानवतावादी लेखक, जिनकी साहित्यिक कृतियों का प्रधान लक्ष्य मानव-समाज को स्वतन्त्र और अनुद्विग्न जीवन का परिचय कराना था, इसी युग के साहित्य-स्रष्टा हैं। विश्व-संस्कृति या अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम से हम इनमें से किस पक्ष और प्रवृत्ति का समर्थन करना चाहते हैं, यह भी हमें समझना होगा।

मार्क्सवादियों के सर्वहारा-सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक कविता का सृजन सर्वहारा वर्ग ही कर सकता है। जो इस सर्वहारावर्ग के बाहर हैं, बुद्धिजीवी हैं और वास्तविकता की अनुभूति रखते हैं, उन्हें भी प्रगतिशील काव्य-रचना का अधिकारी नहीं माना जाता। यह बात केवल आधुनिक परिस्थिति से सम्बन्धित नहीं है, जबकि समाजवाद एक जीवन-व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है; प्राचीन काव्य की भी ऐसी ही व्याख्याएं की गई हैं जिनमें मानवता के आरम्भ से लेकर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के समय तक काव्य और कलाएं परतन्त्र बताई गई हैं। मनुष्य के सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास की यह धारणा विलक्षण रूप से कुंठित, परतन्त्र और एकांगी है। पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ से लेकर आज तक का सम्पूर्ण काव्य मध्यवर्गीय, अवास्तविक और भ्रांतिमूलक रहा है। यह मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन की एक मूलभूत निष्पत्ति है। मानव-संस्कृति का उन्नयन करने वाले काव्य और साहित्य-जैसे भावात्मक उपादानों को ऐसे कट्टर विवेचनों का आधार बनाना कहां तक उचित है, यह समझना कठिन नहीं। प्रगतिशील मध्यवर्गीय चेतना को काव्य के लिए बहिष्कार्य बताना काव्य के मानवतावादी मूल्यों से बहुत दूर जाना और खण्डित मानों का समर्थन करना है। इतिहास की किसी विशेष परिस्थिति में इस प्रकार के सिद्धान्त भले ही कुछ उपयोग रखते हों, पर आज की विश्व-परिस्थिति में ये अत्यन्त असामयिक और अवास्तविक ही कहे जा सकते हैं।

हमारे नये काव्य-चिन्तन की यह एक मोटी रूपरेखा है। इसकी उपलब्धियों और त्रुटियों को हम एक साथ देख सकते हैं। नये चिन्तन की एक मुख्य खामी यह है कि ये नये काव्यवाद भारतीय परम्परा से बाहर के हैं, अतएव इन्हें हमारे नये विचारक पूरी गहराइयों में जाकर नहीं अपना सके हैं। इन वादों का सम्बन्ध मूलतः सामाजिक और वैयक्तिक जीवन से है। ये प्रत्यक्षतः साहित्यिक नहीं हैं, इसलिए इन वादों की साहित्यिक व्याख्या का कार्य आसान नहीं रहा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी वाद बौद्धिक स्तर पर ही समझा और ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु साहित्यिक की भूमि कोरी बौद्धिक भूमि नहीं होती। उसमें मानव-व्यक्तित्व के अनेक अन्य तत्त्व भी सम्मिलित रहते हैं, इसलिए किसी भी वाद या सिद्धान्त का साहित्यिक रूपान्तर प्रायः हो ही नहीं पाता। फिर साहित्य और विशेषकर काव्य, एक समन्वयात्मक वस्तु है। वह जिन जीवन-वस्तुओं को आत्मसात करता है, उन्हें अपने साथ पूर्णतया समन्वित कर लेता है। काव्य की इस प्रकृति के कारण कोरे बौद्धिक और विचारात्मक तथ्यों का काव्य में अन्तर्भाव कठिन हो जाता है। अनेक जटिल मानसिक पद्धतियों के समुच्चय से निर्मित होने वाला काव्य किसी वाद-विशेष का स्थूल प्रतिरूप तो हो ही नहीं सकता। इन्हीं कारणों से हिन्दी-कविता के साथ नये वादों का उचित संग्रथन नहीं हो पाया। इसी कारण मार्क्सवाद के हिन्दी-व्याख्याता काडवेल-जैसी साहित्यिक दृष्टि का भी निर्माण नहीं कर सके हैं। प्रयोगवाद के क्षेत्र में विचारों की और भी अधिक अराजकता बनी हुई है।

ऊपर प्रदर्शित वादों के अतिरिक्त हिन्दी-काव्य में अरविन्द-दर्शन के कतिपय वैचारिक सूत्र भी प्रयोग में लाये जा रहे हैं। अरविन्द-दर्शन भारतवर्ष में चिरकाल से प्रचलित वेदान्त दर्शन का ही एक नया उन्मेष है परन्तु वेदांत की सामान्य भावधारा से अरविन्द-दर्शन की विशिष्ट भावधारा में कई नवीनताएं भी आ गई हैं। हिन्दी के छायावादी काव्य में वेदान्त की प्रेरणा का जितना अंश अपनाया जा सका था, उससे आगे बढ़कर हिन्दी के कतिपय कवि और कवयित्रियां श्री अरविन्द के तत्त्व-चिन्तन को एक नये सम्प्रदाय के रूप में हिन्दी-काव्य का अंग बनाना चाहती हैं। एक नई चीज समझकर उसे हिन्दी के पाठक आकर्षण की वस्तु मानते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या स्वभावतः हिन्दी-काव्य इस नये दर्शन को समग्रता में ग्रहण कर लेगा। हम देखते हैं कि हिन्दी कविता की वर्तमान धारा में यह नया वाद कोई बड़ी गहराई नहीं ग्रहण कर पाया। इसका कारण कदाचित यह है कि अरविन्द-दर्शन को काव्यात्मक रूप देने के लिए जिन वस्तुमुखी सामाजिक स्थितियों की अपेक्षा है, वह भारतीय समाज में उपलब्ध नहीं हैं। किसी दर्शन या तत्त्व-चिन्तन को काव्य में समाहित करने के लिए जिस जीवन-व्यापी साधना की आवश्यकता है, वह भी विरल ही है।

ऊपर के वस्तु-मूलक विवेचन से हम जिस निष्कर्ष की ओर पहुंच रहे हैं, वह यह है कि चिन्तन के क्षेत्र में हमारे नये विचारक अब भी सुस्पष्ट तथ्यों की उद्भावना कम कर पाए हैं। सम्भव है ये नई और विविध चिन्ताएं क्रमशः पुष्ट होकर हिन्दी को एक नवीन उन्मेष दे सकें। यह कार्य समय-सापेक्ष है। हम यह भी कह सकते हैं कि इन परस्पर-विरोधी और असंपृक्त वादों या खण्ड-दर्शनों को उनके वर्तमान रूप में स्थिर रखना सम्भव न होगा। सम्भव है, इनके समन्वय से एक नवीन काव्य-चिन्तन का निर्माण और प्रतिष्ठा हो सके। यह नवीन समन्वय अन्ततः कौन-सा रूप ग्रहण करेगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है; परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि ऊपर वर्णित विभिन्न वादों के स्वस्थ अंश समाहित होकर हिन्दी काव्य-चिन्तन को एक नई दीप्ति दे सकेंगे। छायावादी काव्य में जिस प्रकार अनेक प्रवृत्तियों का एक साथ समन्वय हुआ था, वैसे ही एक नवीन समन्वय की प्रतीक्षा नव्यतर काव्य में भी की जा सकती है।

इस आशावादिता के साथ निबन्ध की समाप्ति करने में हमें प्रसन्नता होती, पर हम उन सन्देहों और संशयों को भी पाठकों के सामने रख देना चाहते हैं, जो नई परिस्थिति को देखकर उठा करते हैं। आज के चिन्तन में एकात्मकता की कमी सबसे अधिक खटकती है। परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का इतना व्यापक प्रसार कदाचित किसी अन्य युग में नहीं था। खंड-दर्शनों की भूमि पर किसी राष्ट्रीय स्तर के काव्य का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि हमारे नये लेखक और विचारक आज की वस्तुमुखी राष्ट्रीय परिस्थिति से सीधी प्रेरणा उस मात्रा में नहीं ले रहे, जितनी आवश्यक है। विचारों के क्षेत्र में अनुत्तरदायित्व की भावना भी कम नहीं है। काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य और लक्षण के सम्बन्ध में अनेक बार बड़ी हलकी बातें कही जाती हैं। उदाहरण के लिए, कुछ समीक्षक आज के काव्य का लक्ष्य यह बताते हैं कि वह अपनी साधारणता में जीवित रहना चाहता है। नई कविता एक नई सामान्यता (mediocraty) को अपना लक्ष्य बनाकर चल रही है, यह कहना नये काव्य के प्रति अनादर और अनास्था व्यक्त करना ही है। जब तक नये चिन्तन से किसी नये रचनात्मक लक्ष्य की प्रेरणा नहीं होती, तब तक नये निर्माण का भविष्य अस्पष्ट ही रहेगा।

यदि हम हिन्दी काव्य-चिन्तन की इस स्थिति से अन्य भारतीय भाषाओं के काव्य-विवेचन की सामान्य तुलना करें, तो देखेंगे कि हिन्दी क्षेत्र में विचारों का जितना वैषम्य और भविष्य के सम्बन्ध में जैसी अनिश्चयात्मकता दिखाई देती है, वैसी दूसरी भाषाओं में नहीं है, कम-से-कम उतनी मात्रा में नहीं। हम अपनी न्यूनताओं और अभावों को युग-धर्म मान लें, यह एक बात है; किन्तु उन न्यूनताओं और अभावों को आदर्श मानकर उनकी पूजा करने लगें, यह बिल्कुल दूसरी बात है। दूसरे साहित्यों में अभाव को अभाव मानने की स्पष्ट दृष्टि पाई जाती है। नये काव्य-निर्माण में अन्य भारतीय भाषाएं भी एक अव्यवस्था की स्थिति का अनुभव करती हैं। परन्तु उस अव्यवस्था को स्थायी बनाने का उपक्रम वहां नहीं है। वे उसका अतिक्रमण करना चाहती हैं। शिल्प-पक्ष में जो नवीनताएं आ रही हैं, उनके साथ ही वस्तु-पक्ष की समृद्धि भी की जा रही है। वहां प्रगतिशील सामाजिक विचारधारा और शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग एक साथ मिलकर काम कर रहे हैं। हिन्दी में भी हम ऐसी ही स्थिति की अपेक्षा रखते हैं।

नये चिन्तन में जिस शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है, वह असंतुलित पश्चिमी प्रभाव की सूचना देता है। अनेक बार ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनके समानार्थक शब्द भारतीय शास्त्र में उपलब्ध हैं। इन नये विवेचनों को देखने पर यही प्रकट होता है कि नये विवेचक अपने देश की साहित्यिक विवेचना की परम्परा से अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार के काव्य-विधानों के लिए पूरा अवकाश रहा है। विशुद्ध भावात्मक काव्य से लेकर आलंकारिक और उक्तिप्रधान रचनाओं तक भारतीय काव्य-शास्त्र अपनी सैद्धान्तिक संस्थापना करता आया है। आज हिन्दी कविता और विशेषकर प्रयोगशील कविता जिस नये मार्ग पर चल रही है, वह भावबोध का मार्ग न होकर अलंकार और उक्ति-वैचित्र्य का मार्ग है। नया विवेचन अपने मत के समर्थन में इस सम्बन्ध के संस्कृत-साहित्य की सामग्री का कोई उपयोग नहीं कर रहा है, बल्कि बहुत से मनगढ़ंत तर्क दिए जा रहे हैं। अच्छा होता यदि यह उथला उपक्रम छोड़कर पुराने काव्य-चिंतन की उपलब्धियों का लाभ उठाया जाता। आज अर्थ की लय-जैसी उद्भावना को पश्चिम से लेकर प्रचारित करने की अपेक्षा संस्कृत की तत्सम्बन्धी उपपत्तियों से लाभ उठाना चाहिए।

आधुनिक साहित्य में बहुत-से कवि स्वयं समीक्षक बन गए हैं, यह स्थिति अधिक उपादेय नहीं है। कवि की दृष्टि से हम एक विशेष प्रकार के विवेचन को अपने अनुकूल पा सकते हैं, पर समीक्षक की दृष्टि से वे विवेचन काव्य के लिए बाधक या अनुपयोगी भी हो सकते हैं। इसे हम एक उदाहरण लेकर देख सकते हैं। आज हिन्दी में कुछ कवि-विवेचकों ने यह आन्दोलन उठाया है कि नई कविता का विवेचन मूल्य की धारणा को लेकर न किया जाय। केवल कविता की वस्तुमुखी (Analytical) व्याख्या कर दी जाय, और उसके रचना-सौन्दर्य को प्रदर्शित कर दिया जाय। हिन्दी-समीक्षा वर्तमान समय में विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक दोनों पद्धतियों को लेकर चल रही है। काव्य की मूल्य-सम्बन्धी धारणा से एकदम निर्लिप्त होकर समीक्षा की ही नहीं जा सकती; और यदि वह की जाय, तो केवल काव्य के कला-पक्ष से उसका सम्बन्ध होगा। आज आई० ए० रिचर्ड्स-जैसे समीक्षक भी व्यावहारिक पक्ष पर जोर देते हुए काव्य-मूल्यों की उपेक्षा नहीं करते। हिन्दी के कवि-समीक्षक इस नई चर्चा को उठाकर हिन्दी-समीक्षा का कोई हित नहीं कर रहे हैं, बल्कि कवियों की सुविधा के लिए एक नया प्रस्ताव-मात्र रख रहे हैं। इस प्रकार कवि और समीक्षक के आदर्श सदैव एक से नहीं होते, अनेक बार भिन्न और विरोधी भी हुआ करते हैं। नये काव्य-विवेचन में इस दृष्टिभेद का पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं है, जिसके कारण कुछ ऐसे उपक्रम किये गए हैं, जिनसे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हो सकती है।

कुल मिलाकर आधुनिक काव्य-चिंतन सजग और विकासमूलक कहा जा सकता है। अनेक असंगतियां भी स्वाभाविक रूप से इसके साथ चल रही हैं। परस्पर-विरोधी विचारों और व्याख्याओं की भी कमी नहीं है परन्तु हिन्दी-जैसे एक विस्तृत साहित्य के लिए विचारों की इतनी अव्यवस्था और व्यतिक्रम आश्चर्यजनक नहीं है। एक अतिशय आशाप्रद बात यह है कि हिन्दी काव्य-चिन्तन अब भी काव्य को सर्वोपरि तत्त्व मानकर चल रहा है, किसी अपर वस्तु या पदार्थ को नहीं। हिन्दी के सजग लेखकों और विचारकों की काव्य-चेतना भी परम्परा से पुष्ट होने के कारण स्खलित होने का भय नहीं रखती। सारी विषमताओं के रहते हुए भी हिन्दी-समीक्षा का जो व्यावहारिक रूप क्रमशः अभिव्यक्त हो रहा है, वह भी कम आशाजनक नहीं है। चिन्तन के क्षेत्र का प्रतिफलन, व्यावहारिक समीक्षा में होता ही है। हम कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक समीक्षा का संतुलित और सुलझा हुआ रूप ही व्यावहारिक आलोचनाओं में दिखाई पड़ता है। यदि काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में कोई समन्वयात्मक आधार न होता, तो आज की व्यावहारिक आलोचनाएं इतनी संतुलित और एकतान न हो पातीं।

आ० रामचन्द्रशुक्ल तथा क्रोचे के काव्यसिद्धान्तों की तुलना

डा० रामलालसिंह सागा

स्वच्छन्दतावादी कवियों तथा समीक्षकों द्वारा साहित्य में अभिव्यंजना-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई, जिसे आगे चलकर दार्शनिक क्षेत्र में कान्ट ने तथा काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में क्रोचे ने शास्त्रीय रूप प्रदान किया। शुक्लजी ने अपने अभिभाषण में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खण्डन किया है। अतः क्रोचे के काव्य-सिद्धान्त से शुक्लजी के काव्य-सिद्धान्तों की तुलना आवश्यक है।

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद पूर्णतः मानस-पीठिका पर प्रतिष्ठित है। इसमें कला को इसके वाह्य आधारों से मुक्ति मिल गई है और कलाकार की अंतरंग भावना ही कला की एक मात्र नियामिका बन गई है।[१]

किन्तु शुक्लजी का रस-सिद्धान्त वस्तुवादी सिद्धान्त है। वह लोक-धर्म से अनुशासित है। क्रोचे की दृष्टि में काव्य न तो अनुभूति है, न मूर्त्त-विधान, और न दोनों का संयोग; वरन वह अनुभूति का चिन्तन या गीतिमय प्रतिमान या विशुद्ध प्रातिभ ज्ञान है। स्वयं-प्रकाश ज्ञान को विशुद्ध कहने का अभिप्राय यह है कि कविता में जिस मूर्त-विधान का उपन्यास किया जाता है, उसकी सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न नहीं रहता, न किसी प्रकार के ऐतिहासिक निर्देश का विचार किया जाता है। कविता यथार्थतः विशुद्ध स्वयं-प्रकाश ज्ञान है, जिसमें जीवन की विशुद्ध गति का आदर्श रूप में विवरण रहता है।[२] किंतु शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था उत्पन्न करने वाली अनुभूति के चित्रण को या विभाव चित्रित करने वाले मूर्त-विधान को काव्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में काव्यगत मूर्त-विधान या अनुभूति जीवन के अनुरूप होती है। क्रोचे जहां कविता को स्वयंप्रकाशज्ञान-स्वरूप मानते हैं,[३] वहां शुक्लजी उसे भावानुभूति-स्वरूप या आस्वाद्य-स्वरूप कहते हैं।

क्रोचे कला-सम्बन्धी अनुभूति को अनुभूत्याभास-मात्र कहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में कलाजन्य तथा वास्तविक अनुभूति दो पृथक क्षेत्र की अनुभूतियां हैं तथा अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना के गुणों में कोई सम्वन्ध नहीं रहता।[४] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि में कला की अनुभूति जीवन के अनुरूप ही होती है[५] तथा अभिव्यंग्य एवं अभिव्यंजना में

---

१. Philosophy of Bendetto Croce, Problem of art and History by H. Wilden Cart, p. 162, 163.

२. Poetry must be called neither feeling or image nor yet the sum of the two, but as contemplation of feeling, or lyrical intuition or pure intuition, pure of all historical and critical reference to the reality or unreality of the images of which it is woven and apprehending the pure throb of life into ideality—Croce.

३. Philosophy of B. Croce. p. 69-70.

४. Aesthetics, by B. Croce, p. 26.

५. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७-८

घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।[1] क्रोचे के मत में वास्तविक जीवन में अनुभूति होने वाली वस्तुओं की प्रतीति के भीतर कभी कला का आभास-भर आ जाया करता है,[2] किन्तु शुक्लजी के मत में जीवनगत वस्तुओं से भी काव्यात्मक आनन्द मिल सकता है, इसीलिए वे प्रत्यक्ष रूप-विधान-जन्य अनुभूति में रसात्मक बोध की शक्ति मानते हैं।[3]

शुक्लजी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों में, जगत और जीवन के पदार्थों में सौंदर्य मानते हैं,[4] इसलिए वह संसार के पदार्थों तथा भावों का वर्णन काव्य का लक्ष्य मानते हुए काव्य-सृष्टि को संसार की सृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र नहीं मानते।[5] किन्तु क्रोचे कल्पना की सहायता के विना प्रकृति में कहीं कोई सौंदर्य नहीं मानता, इसलिए उसकी दृष्टि में वाह्य प्रकृति के पदार्थों का वर्णन या अन्तःप्रकृति के भावों का चित्रण काव्य का लक्ष्य नहीं होता; ये उपादान-मात्र होते हैं,[6] उसकी दृष्टि में काव्य में कवि वाह्य प्रकृति एवं अंतःप्रकृति के पदार्थों को द्रव्य रूप में लेकर उनका मनमाना योग करके प्रकृति से सर्वथा स्वतन्त्र एक नई रचना खड़ी करता है।[7] इन अनेक पदार्थों का वर्णन या इन अनेक भावों की व्यंजना काव्य का लक्ष्य नहीं होता।

क्रोचे स्वयंप्रकाश ज्ञान को कला-निर्मिति का मुख्य कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में स्वयंप्रकाशज्ञान का अभिप्राय सहज प्रज्ञा है, जो आप से आप मूर्त-विधान करती है। यह मूर्त-विधान कवि के अंतस्तल से सम्बंध रखता है, अतः वह अंतरंग कोटि का होता है, वाह्य कोटि का नहीं।[8] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि में कवि की सहजानुभूति वस्तु-सापेक्ष्य कोटि की होती है, वह जीवन और जगत के सम्पर्क में आने पर उद्भूत होती है! उसके द्वारा निर्मित मूर्त-विधान वाह्य जगत के रूपों के आधार पर होता है।[9]

क्रोचे स्वच्छंदतावादियों के समान कवि-मानस की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास करता है,[10] इसलिए उसके अनुसार सभी रूप या सांचे जिन्हें सत्य कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए धारण करता है, मन में ही विद्यमान रहते हैं।[11] इसके विरुद्ध शुक्लजी की दृष्टि में मन, रूप-गति का संघात है। यही बाहर हँसता, खेलता, रोता, गाता, खिलता, मुरझाता जगत भीतर भी है, जिसे मन कहते हैं। अर्थात, उनके मत में मन के भीतर प्रतिष्ठित रूप प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं के ज्यों-के-त्यों प्रतिविम्ब होते हैं, अथवा उनके आधार पर गढ़े जाते हैं।[12]

सहज प्रज्ञा, कल्पना, रूप-अभिव्यंजना और सौंदर्य को क्रोचे परस्पर अभिन्न मानते हैं, और उन्हें एक-दूसरे के समतुल्य निर्धारित करते हैं।[13]

---

१. अभिभाषण, पृ० ३६-३७
२. Philosophy of B. Corce. p. 162, 163, 164.
३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३४२, ३४४
४. वही, पृ० २११
५. अभिभाषण, पृ० ६७
६. Philosophy of B. Croce, p. 163, 164.
७. Aesthetics, by B. Croce, p. 6, 9, 26.
८. Philosophy of Croce. p. 69, 70, 77, 78.
९. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ७-८
१०. Every form which reality assumes or can assume for us has its ground within mind. There is not and there cannot be a reality that is not mind. This mind which is reality or this reality which is mind, is an activity the forms which we may distinguish but we cannot separate them. The Philosophy of B. Croce.
११. Ibid.
१२. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२५, ३३०
१३. Aesthetics, by B. Croce. p. 13, 14, 15, 19, 20, 21.

शुक्लजी की दृष्टि में सहज प्रज्ञा कवि की उद्भाविका शक्ति है।[1] कल्पना, भावना-शक्ति, अभिव्यंजना. उक्ति-स्वरूपा है,[2] रूप, लोक-जगत के अनुरूप होते है,[3] और सौंदर्य, वस्तु-सापेक्ष्य होता है।[4]

क्रोचे कल्पना को आध्यात्मिक क्रिया मानता है,[5] शुक्लजी मानसिक। क्रोचे के अनुसार स्वयंप्रकाश ज्ञान का सांचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना है, जो भीतर होती है।[6] क्रोचे का कथन है कि मन छाप ग्रहण करता है, किन्तु ये छाप मन की क्रिया को केवल आरम्भ-विंदु प्रदान करते हैं। उनसे आरम्भ करके मन क्रम-विकास द्वारा कल्पना की सहायता से उन्हें पूर्ण अभिव्यंजना तक ले जाता है और इस अभिव्यंजना से बने हुए पदार्थ अलौकिक कोटि के होते हैं।[7] क्रोचे के विरुद्ध शुक्लजी कल्पना को भावात्मक या अनुभूत्यात्मक मानते हैं।[8] उनकी दृष्टि में काव्य-विधायिनी कल्पना के भीतर वोध-वृत्ति का समावेश हो जाता है, पर उसकी प्रधानता नहीं होती।[9] उनके मत से कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति-मात्र को ज्ञान कहना उसे ऊंचे दर्जे को पहुंचाना है।[10]

क्रोचे की दृष्टि में अभिव्यंजना भौतिक व्यापार नहीं, मानसिक व्यापार है। अतः वाहरी अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यंजना वाध्यं नहीं है, उसके मत से अभिव्यंजना का वाह्य प्रयोग करते ही हम कला-लोक से हटकर व्यवहार-जगत में आ जाते हैं।[11] वस्तुतः क्रोचे की दृष्टि में काव्यगत अथवा कलागत अभिव्यंजना वहीं पूर्ण हो जाती है, जहां सर्जनात्मक मन उसकी अनुभूति कर लेता है।[12]

इन्ट्यूशन ही एक्सप्रेशन है।[13] अर्थात अनुभूति ही अभिव्यंजना है। शब्द और रेखाएं आदि उसके स्थूल संकेत-मात्र है। अतएव क्रोचे की सम्मति में काव्य का शब्द-वद्ध होना आवश्यक नहीं है। यह वाह्य व्यक्तीकरण का कार्य वास्तविक कवि-कर्म से स्वतंत्र है, इसलिए क्रोचे मनुष्य को जन्मना कवि मानता है। मनुष्य कवि पैदा होता है, कोई बड़ा कवि होता है, कोई छोटा कवि, परन्तु है प्रत्येक मनुष्य कवि।[14] शुक्लजी काव्य की व्याप्ति जीवन तक मानते हुए भी,[15] उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति में काव्यानुभूति की सत्ता स्वीकार करते हुए भी,[16] काव्य के अस्तित्व के लिए उसका शब्द-वद्ध होना आवश्यक समझते है।[17] फिर भी क्रोचे के इस मत को शुक्लजी नहीं मानते कि जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है, उसी रूप में उसकी व्यंजना होती है। वर्ड्सवर्थ के समान उनका मत है कि बहुत-सी कविताएं स्मृति-दशा में भी

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० ३६३
२. अभिभाषण, पृ० १३
३. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २२५
४. वही, पृ० १२४
५. Philosophy of B. Croce, p. 164.
६. It springs forth from within and gives expression to what is internal not external. B. Croce.
७. Philosophy of B. Croce. p. 54-55.
८. अभिभाषण, पृ० ३२
९. अभिभाषण, पृ० ३८
१०. अभिभाषण, पृ० ३३
११. Philosophy of B. Croce. p. 76-78.
१२. Ibid. p. 72-73.
१३. Aesthetic, by Croce, p. 13.
१४. Philosophy of B. Croce. p. 70-71.
१५. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २११
१६. वही, पृ० ३३४
१७. वही, पृ० १६३

होती है,[1] जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था सब हमारी कविता में आ गया है। शुक्लजी के अनुसार उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए। उनके मतानुसार जिस रूप में अनुभूति कवि के हृदय में होती है उसी रूप में व्यंजना कभी नहीं हो सकती; उसे प्रेषणीय बनाने के लिए, दूसरों के हृदय तक पहुंचाने के लिए भाषा का सहारा लेना पड़ता है। शब्दों में ढलते ही अनुभूति बहुत विकृत हो जाती है, और-की-और हो जाती है।[2]

क्रोचे के मत में अभिव्यंजना ही सौंदर्य है। सौंदर्य सफल अभिव्यंजना है, अथवा केवल अभिव्यंजना है, न अधिक और न कुछ कम; क्योंकि यदि अभिव्यंजना सफल नहीं होती तो अभिव्यंजना ही नहीं होती।[3]

सौंदर्य से उसका अभिप्राय केवल उक्ति के सौंदर्य से है, किसी प्रकृत वस्तु के सौंदर्य से नहीं। उसके मत में सौंदर्य कोई भौतिक तथ्य नहीं, वह प्रस्तुत द्रव्यों में नहीं रहता। यह सम्पूर्ण रूप से मनुष्य के मानस-व्यापार से ही संबंध रखता है और यह व्यापार मानसिक या आध्यात्मिक कोटि का होता है।[4] किन्तु शुक्लजी उक्ति को रमणीय मानते हुए भी[5] वर्ण्य के लिए सुन्दर-असुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में सौंदर्य वस्तु-सापेक्ष होता है।[6]

अभिव्यंजनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है उसी में काव्यत्व है।[7] शुक्लजी भी उक्ति में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं,[8] किन्तु अभिव्यंजनावादियों से शुक्लजी का महान अंतर यह है कि जहां वह वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ का विचार, कला में नहीं करते, वहां शुक्लजी वाच्यार्थ के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की काव्य में सत्ता मानते हुए काव्य-विवेचन में उनका भी विचार करते हैं।[9] क्रोचे के मत में काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति की प्रतिनिधि नहीं है, वह वाच्यार्थ का सम्बन्ध किसी दूसरे अर्थ से नहीं मानता,[10] किन्तु शुक्लजी के मत में काव्य को धारण करने वाले सत्य प्रायः लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के भीतर रहते हैं, जिसकी देखरेख में वाच्यार्थ मनमानी क्रीड़ा करता है।[11]

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाओं का व्यापार एक अखण्ड मानसिक व्यापार है। अतः सब प्रकार के काव्य तथा कला-भेदों में एक ही अखण्ड अभिव्यंजना है। मानसिक व्यापार पर बल देने के कारण और सब प्रकार की कलाओं की सृष्टि में एक ही प्रकार की मानसिक प्रक्रिया मानने के कारण वह काव्य अथवा कला के भेदों को बाहरी मानते हैं। उनकी दृष्टि में कला या तो परिपूर्ण होगी या कला की संज्ञा के अयोग्य होगी।[12] किन्तु शुक्लजी अपने विवेचन में काव्य तथा कलाओं का वर्गीकरण करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैज्ञानिक समीक्षा की दृष्टि से शुक्लजी का मत क्रोचे की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है।

नैतिकता के प्रश्न पर क्रोचे का मत है कि काव्य या कला का लोक की रीति, आचार-व्यवहार, औचित्य-अनौचित्य से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका वास्तविक सम्बन्ध नीतिशास्त्र आदि विषयों से है अतः काव्य तथा कला को

---

१. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings, it takes its origin from emotions recollected in tranquillity, Prose writings of Wordsworth, ed. by W. Knight, p.24.

२. काव्य में रहस्यवाद, पृ० ८०

३. Philosophy of B. Croce, 161, 162.

४. Philosophy of B. Croce. p. 164.

५. अभिभाषण, पृ० १३

६. चिन्तामणि, भाग पहला, पृ० २२४

७. Aesthetics, by B. Croce. p. 14.

८. अभिभाषण, पृ० १३

९. वही, पृ० १५

१०. It is nothing else (Nothing more but nothing less) than to express. Aesthetics. p. 19.

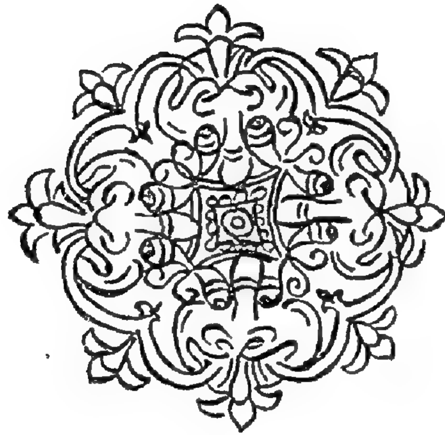
११. अभिभाषण, पृ० १५

१२. Aesthetics, p. 33-34.

नैतिक मापदण्ड से नहीं मापना चाहिए।[1] मर्यादावादी शुक्लजी काव्य का लोक की रीति-नीति, आचार-व्यवहार आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में इनके अभाव से रसाभास, भावाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो काव्य के प्रभाव को हलका कर देती है।[2]

क्रोचे की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन अभिव्यंजना के अतिरिक्त शिक्षण, प्रसादन, कीर्ति, व्यवहार, धन आदि कुछ नहीं, कला अपना उद्देश्य आप ही है। आनन्द उसका सहचारी अवश्य है किन्तु लक्ष्य नहीं।[3] किन्तु शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का प्रयोजन शिक्षण, प्रसादन, व्यवहार, लोकमंगल, सिद्धि आदि है।[4]

क्रोचे काव्य या कला में जीवन के तत्त्वों को अलौकिक रूप में देखने के कारण तथा उक्ति में ही काव्य-सौंदर्य की सारी सत्ता मानने के कारण उसे निरपेक्ष सत्ता प्रदान करता है[5] किन्तु शुक्लजी उसे जीवन-सापेक्ष्य सत्ता प्रदान करते हुए जीवन के एक साधन-रूप में अपनाते हैं।[6] इसलिए शुक्लजी काव्य से जीवन का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-रूप से स्थापित करने में समर्थ होते हैं किन्तु क्रोचे अप्रत्यक्ष-रूप से।



---

१. Art must not be confused with other forms directed to the production of certain effects, whether these consist in pleasure, eujoyment and utility, or in goodness and righteous-ness. —croce.

२. अभिभाषण, पृ० ३६-३७

३. Philosophy of crose, p. 153. 161.

४. रस-मीमांसा, पृ० २०, २२, २३, ५५, १०१, ३६७

५. Philosophy of B. croce. p. 70

६. अभिभाषण, पृ० ८०

उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की प्रवृत्तियां

डा० इन्द्रनाथ मदान

१. उद्देश्य—इस निवन्ध का उद्देश्य उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा उसके वस्तुगत एवं शैलीगत स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसकी उपलब्धियों, सीमाओं तथा सम्भावानाओं का मूल्यांकन करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राय: उन सभी कवियों की रचनाओं को दृष्टि में रखा गया है जिन्होंने इस काव्य को सम्पन्न तथा विपन्न वनाने में योग दिया है और लगभग उन सभी आलोचकों की धारणाओं को उद्धृत किया गया है जिन्होंने इसके स्वरूप को निश्चित करने तथा जटिल वनाने में सहायता की है। उत्तर-छायावादी कविता की प्रवृत्तियों का नामकरण अनेक दृष्टियों से किया गया है। डा० नगेन्द्र ने इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे पांच विभिन्न धाराओं में विभक्त करना उपयुक्त समझा है — राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता, गांधी-दर्शन से प्रभावित कविता, वैयक्तिक कविता, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता। श्री विश्वम्भर मानव इस काव्य को नई कविता की संज्ञा देकर इसे तीन स्वतंत्र धाराओं में विभाजित करना उचित समझते हैं–प्रगतिवादी काव्य, प्रयोगवादी काव्य और गीति-काव्य। इस विभाजन से यह भ्रम भी उत्पन्न करना नहीं चाहते कि इस काल में किसी अन्य काव्य-धारा अथवा काव्य-प्रवृत्ति की रचनाओं का नितांत अभाव है। डा० प्रेमशंकर ने काव्य की नवीन प्रवृत्तियों का विवेचन तथा मूल्यांकन आधुनिक समाजशास्त्र के आधार पर करते हुए इसे दो प्रमुख धाराओं में विभक्त किया है : एक वह जो सामाजिक यथार्थ की भूमिका पर प्रयोग करती है और जिसमें वस्तु-तत्त्व की प्रमुखता रहती है, दूसरी वह जो वैयक्तिक यथार्थ को आत्मसात किये हुए है और जिसकी आस्था शिल्प-तत्त्व के प्रति अधिक है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने नये काव्य का मूल्यांकन मार्क्सवादी आलोचना के सिद्धान्तों के आधार पर करते हुए इसे दो प्रमुख प्रवृत्तियों में विभाजित किया है : प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद। शिवदानसिंह तथा नामवरसिंह आदि आलोचकों का विवेचन मार्क्सवादी समाजशास्त्र की धारणाओं से प्रभावित है। इस प्रकार उत्तर-छायावादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद तथा गीति-काव्य के नाम लिये गए हैं और इनके अतिरिक्त वैयक्तिक कविता, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, गांधीवादी कविता आदि काव्य-धाराओं की ओर भी संकेत किया गया है। उत्तर-छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों का उल्लेख तथा प्रतिपादन इन धाराओं के अतिरिक्त भी हुआ है जिनमें प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, बिम्बवाद, नई कविता आदि के नाम आते हैं और नई कविता को विशेषतया एक स्वतंत्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में भी स्थापित किया जा रहा है। छायावादी काव्य जिस प्रकार एक विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य है, उत्तर-छायावादी काव्य को उसी प्रकार विशिष्ट काव्य-धाराओं में विभक्त करना कठिन है। इसके लिए सबसे बड़ी समस्या एक विशिष्ट आधार अथवा मानदण्ड की है। काव्य-विशेष की प्रवृत्तियों का निर्धारण वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से किया जाए या शिल्प-तत्त्व के आधार पर, प्रगति की दृष्टि मे अपेक्षित है या प्रयोग के आधार पर समीचीन है? इनके अतिरिक्त एक तीसरा मानदण्ड भी है जो काव्य को प्रेरित करने वाली उस चेतना अथवा जीवन-दृष्टि को आधार मानता है जो वस्तु एवं शिल्प, प्रगति एवं प्रयोग, दोनों को रूपायित करने की क्षमता से सम्पन्न है और जिसकी कसौटी पर काव्य के अतिरिक्त साहित्य की अन्य विधाओं की प्रवृत्तियों का विभाजन तथा मूल्यांकन हुआ है। आचार्य शुक्ल की सामाजिक समीक्षा-पद्धति, सौष्ठववादी अथवा स्वच्छन्दतावादी समीक्षा, मनोवैज्ञानिक तथा प्रगतिवादी आलोचना

क्रमशः सामाजिक व्यक्तिवादी, अतिशय व्यक्तिवादी और समाजवादी विचारधाराओं से प्रभावित है। इन चार प्रवृत्तियों का समानान्तर विकास काव्य के क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। काव्य के विकास में द्विवेदी-युगीन रचनाओं में व्यक्त समाज-परक चेतना उपन्यास की सामाजिक प्रवृत्ति तथा शुक्ल की समीक्षा-पद्धति का ही रूप है, छायावादी काव्य मूलतः व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है जो व्यक्तिवादी उपन्यास तथा सौष्ठववादी समीक्षा में लक्षित होता है। प्रयोग-वादी काव्य की मूल प्रेरणा मनोविश्लेषणवादी जीवन-दृष्टि है जो मनोविश्लेषणवादी उपन्यास तथा मनोवैज्ञानिक आलो-चना को भी प्रभावित किये हुए है। प्रगतिवादी काव्य की प्रेरक शक्ति समाजवादी चिन्तन में सन्निहित है और इसका रूपान्तर उपन्यास तथा आलोचना में उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य, उपन्यास तथा समीक्षा की मूल प्रवृत्तियों में यह साम्य संयोगवश नहीं, कारणवश है।

२. काव्य-प्रवृत्तियां—वस्तुतः साहित्य के सर्जन की प्रेरणा आदिकाल से व्यक्त और समाज में सन्तुलन एवं सामंजस्य की समस्या और इनमें परिवर्तनशील सम्बन्धों को व्यक्त करने की आकांक्षा से प्राप्त होती रही है। व्यष्टि-हित तथा समष्टि-मंगल में परस्पर विरोध अभिनव परिस्थितियों, नवीनतम समस्याओं तथा अधुनातन विचार-धाराओं का जनक होता है। इस विरोध के शमन तथा समस्याओं के समाधान के लिए साहित्यकार प्रयत्नशील रहे हैं। इसी कारण युग-विशेष में साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रवृत्तियों का साम्य उपलब्ध होता है। इन प्रवृत्तियों का मूल्यांकन साहित्यकार की मूलभूत चेतना के आधार पर करना अपेक्षित एवं समीचीन है। जिसका परिज्ञान उसके व्यष्टि एवं समष्टि को न्यूनाधिक महत्त्व प्रदान करने से प्राप्त होता है। जीवन को आंकने के लिए मूलतः दो प्रवृत्तियों का आश्रय लिया गया है : एक का सम्बन्ध सामाजिक कल्याण की भावना से रहा है और दूसरी का वैयक्तिक हित तथा व्यक्ति-चिन्तन से रहा है। इन दो मूल प्रवृत्तियों की शाखाएं तथा उपशाखाएं विविध विचारधाराओं के रूप में परि-लक्षित होती रही हैं। अतः इसके आधार पर ही उत्तर-छायावादी काव्य की प्रवृत्तियों का निर्धारण उपयुक्त प्रतीत होता है। इस काव्य का आरम्भ 'तारसप्तक' के प्रकाशन (१९४३) से सुविधाजनक एवं मान्य है। इससे पहले नई काव्य-धारा की रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से आलोक में आने लगी थीं। पिछले दशक में नये काव्य-धारा-सम्बन्धी अनेक संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें दूसरा और तीसरा सप्तक, 'नई कविता' के चार अंक, 'आधार' के अनेक अंक, 'काव्य-धारा' तथा कवियों की निजी रचनाओं के स्वतन्त्र संकलन हैं जिनके आधार पर हिन्दीकाव्य की अधुनातन प्रवृत्तियों का विवेचन सम्भव हो सका है, परन्तु काल की समीपता के कारण इनका मूल्यांकन अधिक जागरूकता तथा तटस्थता की अपेक्षा करता है। नये काव्य का स्वरूप तथा व्यक्तित्व अब निश्चित तथा स्थिर होने लगा है, इसके बीहड़ जंगल में पंथ प्रशस्त होने लगे हैं। समस्त नये काव्य को प्रयोगवाद अथवा नई कविता की संज्ञा देना भी आलोचना-संगत नहीं है। उत्तर-छायावादी काव्य में युग-चेतना के विभिन्न स्तरों की अभिव्यक्ति और जीवन के विविध स्वरों की प्रतिध्वनि है। यदि संगीत को एक रूपक में बांध दिया जाए तो प्रगतिवाद का स्वरूप लोक-संगीत का है, प्रयोगवाद शास्त्र-विरोधी शास्त्रीय संगीत है और गीति-काव्य सुगम संगीत है। उत्तर-छायावादी काव्य की अन्य प्रवृत्तियों को संगीत की इन तीन शैलियों के संमिश्रण एवं समन्वय से जनित उपशैलियों की संज्ञाओं से अभिहित किया जा सकता है। इस काव्य-संगीत के विविध स्वरों तथा उनके मूल में विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव लक्षित होते हैं जिनका विवेचन निबन्ध में यथास्थान किया गया है। उत्तर-छायावादी काल में इस काव्य को जटिल जीवन की नवीन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है जिसके फलस्वरूप इसे भाव-बोध के नये स्तरों, सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों, यथार्थ के नये धरातलों की अभिव्यक्ति देनी पड़ी है। इस नवीन जीवन-दृष्टि ने पुरानी परम्पराओं, मान्यताओं, स्थापनाओं तथा धारणाओं को अस्त-व्यस्त कर दिया है। यह जीवन-दृष्टि बौद्धिकता से प्रभावित और वैज्ञानिकता से अनुप्राणित है। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी यह प्रतिपादित किया है कि नई कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीकों, बिम्बों और साधनों का प्रयोग किया है जो यथार्थ जीवन से उपजे हैं और जिनका सीधा सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो क्षण के अस्तित्व के साथ आन्दोलित करता है।[1]

३. संक्रान्तिकाल—छायावादी काव्य जिस प्रकार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, इतिवृत्तात्मकता के

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३-४

प्रति भावुकता की प्रतिक्रिया, रूढ़ि के प्रति प्रयोग का विरोध, सामन्ती मान्यताओं के प्रति व्यक्तिवाद का विद्रोह शुष्कता के स्थान पर सरसता के प्रति आग्रह, अभिधा के स्थान पर लक्षणा एवं व्यंजना की स्थापना है, उत्तर-छायावाद। काव्य उसी प्रकार आदर्श के प्रति यथार्थ का विद्रोह, भावुकता के प्रति बौद्धिकता की प्रतिक्रिया, सूक्ष्मता के स्थान पर मांसलता की स्थापना, उदात्तता के स्थान पर लघुता के प्रति मोह, शाश्वत के स्थान पर क्षण का महत्त्व, अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता एवं मानवीयता के प्रति आग्रह है। छायावादी मान्यता के प्रति विद्रोह की भावना संक्रान्ति-काल में ही व्यक्त होने लगी थी। इस काल में गांधीवाद, मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद की चिन्तन-धाराओं ने कवि-मानस को प्रभावित किया है। बुद्धिजीवी मध्यवर्गीय समाज की चेतना इन विचारधाराओं के सम्मिश्रण के धरातल पर उभरने लगी थी। हरिवंशराय बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि कवियों ने फलतः नवीन चेतना के विभिन्न आयामों से युक्त होकर भारतीय जीवन की रागिनी को अलापने का प्रयास किया है। अंचल के काव्य पर तीन प्रचारकों की जीवन-दृष्टियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। दिनकर गांधीवाद तथा मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, परन्तु इनके कवि-मानस पर फ्रायडवादी चेतना का भी प्रभाव है जो 'रसवन्ती' की रचनाओं में लक्षित होता है। बच्चन ने अपने वैयक्तिक जीवन की रेखाओं को अपनी प्रतिभा से अनुरंजित किया है। नरेन्द्र शर्मा के गीतिकाव्य में भी गांधीवाद तथा मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। संक्रान्तिकाल के कवियों की रचनाएं गीतिकाव्य की परम्परा में रखी जा सकती हैं जिनके मूल में व्यक्तिवादी विचारधारा अधिक साहस के साथ प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होने लगी है। डा० नगेन्द्र ने संक्रान्तिकालीन गीतिकाव्य को वैयक्तिक कविता की संज्ञा से अभिहित करना उपयुक्त समझा है। उनका मत है कि इस काल में अनेक प्रकार के बौद्धिक तथा भौतिक प्रभावों के कारण व्यक्ति अपने प्रति अधिक जागरूक होने लगा, उसमें आत्मचेतना और आत्मविश्वास की मात्रा बढ़ने लगी और प्राकृतिक तथा दार्शनिक प्रतीकों के आवरण त्यागकर वह साहसपूर्वक अपने हर्ष-विषाद को प्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्त करने लगा। इस तरह एक प्रकार की आत्मपरक कविता का जन्म हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी के नवयुवक कवियों पर संक्रामक होकर पड़ा और आर्थिक तथा शृंगारिक कुंठाओं से पीड़ित तत्कालीन समाज अपने मन के प्रत्यक्ष शब्द-चित्रों की ओर स्वभावतः अत्यन्त वेग से आकृष्ट होने लगा। छायावादी काव्य पर नैतिक आदर्शों का आतंक गहरा था और उसे सीधी अभिव्यक्ति भी ग्राह्य नहीं थी।[1] वास्तव में आत्मपरक कविता का जन्म उत्तर-छायावादी संक्रान्तिकाल में नहीं, छायावादी काल में ही समझना अधिक संगत जान पड़ता है। छायावाद के मूल में जो व्यक्तिवाद था वह अधिक वेग एवं विश्वास के साथ इस काल के गीति-काव्य में व्यक्त होने लगा जिसे प्रगतिवादी आलोचक अस्वस्थ व्यक्तिवाद की संज्ञा देकर ह्रासशील कहना उचित समझते हैं। इन कवियों का अदम्य व्यक्तिवाद एक ओर आर्थिक कुंठाओं से और दूसरी ओर काम-वर्जनाओं से मुक्ति पाने के लिए मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद से प्रेरणा प्राप्त करता है। गांधीवादी दृष्टिकोण की आदर्शवादी चेतना के प्रभाव से भी इन कवियों की रचनाएं पूर्णतया मुक्त नहीं हैं। इनकी रचनाओं में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ का स्वर अधिक प्रबल है। जिसके आधार पर आलोचक इनमें प्रगतिवादी काव्य के बीज खोजते हैं। वस्तुतः बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर के काव्य में समस्याओं के यथार्थ समाधान की अपेक्षा अधिक होने लगी थी। इसी कारण इनकी कविताओं में प्रगतिवाद का अस्पष्ट आभास अवश्य मिलता है, परन्तु उसका प्रकाश आंखों में अभी उतर नहीं पाया था। इन कवियों ने प्रगतिवाद के असन्तोष, विद्रोह, अनास्था आदि को एक सीमा तक तो ग्रहण कर लिया था, परन्तु उसके सामाजिक परिणामों का पूरा ज्ञान इन्हें नहीं हुआ था। इसलिए इनके काव्य में सामाजिक तथा नैतिक रूढ़ियों के प्रति आक्रोश है, रोमानी स्वच्छन्दता के प्रति आग्रह है, प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति है, आध्यात्मिक विश्वासों के प्रति संदेह है। डा० नगेन्द्र ने इनके काव्य को वैयक्तिक कविता की संज्ञा दी है और व्यक्तिवाद को ही इसके मूल दर्शन के रूप में प्रतिपादित किया है। इसका आधार मानव के भौतिक अस्तित्व की स्वीकृति है और इसका माध्यम गीतिकाव्य है जो प्रायः संगीत के स्वरताल में महादेवी तथा निराला के गीतों की भांति बंधा हुआ नहीं है। इनकी रचनाएं छन्दोबद्ध भी हैं और मुक्त छन्द में भी ये उपलब्ध होती हैं। सरल तथा अमिश्र भाव की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम गीत है, मानसिक द्वन्द्व

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० ६३

की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम छन्दोवद्ध रचना है और विचार-प्रधान रचना के लिए मुक्तक छन्द का प्रयोग है। वैय-क्तिक कविता, जिसकी स्थिति संक्रान्तिकालीन है और जिसका महत्त्व छायावाद तथा प्रगतिवाद के बीच की कड़ी के रूप में आंका जाता है, कला-पक्ष की दृष्टि से छायावाद के वैभवसम्पन्न शिल्प की अपेक्षा अधिक सहज, सरल एवं स्पष्ट है।

४. नवीन परिस्थिति—उत्तर-छायावादी काव्य में इस संक्रान्तिकाल के उपरान्त यथार्थ के नवीन धरा-तलों, चेनता के नवीन स्तरों तथा जीवन की नवीन भूमियों की खोज एवं अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ने अधिक वल पकड़ा जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी-काव्य विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा और जिसकी दो प्रमुख धाराएं सामाजिक यथार्थ तथा व्यक्ति-यथार्थ के सत्य को प्रधान रूप में आत्मसात किये हुए हैं। इन दो मूल प्रवृत्तियों का आभास 'तार-सप्तक' की रचनाओं में उपलब्ध हो जाता है। अज्ञेय आदि व्यक्ति-सत्य की भूमिका को अधिक महत्त्व देते हैं और गिरिजा-कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, रामविलास शर्मा आदि कवियों की अधिकांश रचनाओं में सामाजिक यथार्थ को अधिक प्रतिष्ठा मिली है। व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने वाली काव्य-धारा की प्रयोगवाद और सामाजिक चेतना को महत्त्व देने वाली काव्य-प्रवृत्ति को प्रगतिवाद की संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। 'तारसप्तक' के कवियों के वक्तव्यों से उनकी जीवन-दृष्टि तथा उसे प्रभावित करने वाली विचारधाराओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। इन कवियों की समाजपरक चेतना के विपरीत अज्ञेय व्यक्तिपरक चेतना को व्यंजित करने के लिए आकुल रहे हैं। उनके काव्य के मूल में व्यक्तिवादी चिन्तन और शैली में प्रयोगात्मक तत्त्व हैं, समष्टि पर व्यष्टि की हावी होने की तीव्र आकांक्षा है। अपने अहंवाद को 'व्यक्तित्व की स्थापना' के रूप में 'नदी के दीप' के माध्यम से, 'अकेले स्नेहभरे, मदमाते दीप को पंक्ति देने' के द्वारा व्यक्त करने का प्रयास उनके काव्य की मूल प्रेरणा है। उनकी धारणा है कि व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौन्दर्य-वोधों तथा विचार-धरातलों में समानता उपलब्ध नहीं होती जो पुरातन काल में सम्भव थी। इसलिए साधारणीकरण की समस्या कवि को प्रयोग-शीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है। व्यक्ति के अनुभूत को कैसे उसकी सम्पूर्णता अथवा समग्रता में समष्टि तक पहुंचाया जाए, यह समस्या कवि को ललकारती है। अज्ञेय की दृष्टि में अनुभूत के रूप, गुण, सामा-जिक, असामाजिक आदि की इतर समस्याएं गौण हैं। वह आधुनिक युग के व्यक्ति को 'यौन वर्जनाओं का पुंज' मानते हैं। उनकी इस धारणा से उनके काव्य पर पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों के सिद्धान्तों का प्रभाव लक्षित होता है। मानव-मन की यौन कल्पनाओं एवं कुण्ठित वासनाओं से आज के व्यक्ति की सौंदर्य-चेतना भी आक्रान्त है। अज्ञेय इसे वर्गगत वर्जनाओं से भी लदा हुआ मानते हैं। उनका विद्रोहशील व्यक्तित्व एवं क्रान्तिशील मानस उन्हें व्यक्ति-कामी वनने के लिए वाधित करते हैं। अपनी व्यक्तिमूलक जीवन-दृष्टि को पुष्ट करने तथा उसे दार्शनिक रूप देने के लिए उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन-पद्धतियों, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों, काव्य-धाराओं तथा आलोचना-सम्प्रदायों से प्रेरणा प्राप्त की है। इस प्रकार 'तारसप्तक' में संकलित इन कवियों ने युग-जीवन को संचालित करने वाली सामाजिक तथा वैयक्तिक चेतना को अभि-व्यक्ति देने का प्रयास किया है। इन दो विभिन्न विचारधाराओं ने काव्य की प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्तियों को पुष्ट करने तथा सम्पन्न बनाने में सहायता दी है। इन दोनों काव्य-धाराओं में छायावाद के प्रति प्रतिक्रिया एवं विद्रोह की भावनाएं भी लक्षित होती हैं जिनका आभास संक्रान्ति-काल के कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। इस काव्य-संग्रह में रूपगत तथा वस्तुगत नये प्रयोगों को अपनाया गया। सन पैंतालीस के बाद नई सामाजिक चेतना मार्क्सवाद से सम्बद्ध होने लगी। इसे प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया गया। रूप-गत प्रयोगों से सम्बद्ध कविता को प्रयोगवाद का नाम दिया गया जिसका श्रेय प्रगतिवादियों को है। इसी विन्दु से प्रयोगवादी तथा प्रगति-वादी कविता में अन्तर बढ़ता गया। प्रयोगवाद पर व्यक्तिवादी तथा प्रतिक्रियावादी होने के आरोप लगाये गए और प्रगतिवाद पर प्रचारवादी होने का आक्षेप किया गया। एक काव्य-प्रवृत्ति में शिव-तत्त्व पर वल दिया गया और दूसरी में सौन्दर्य-तत्त्व को महत्त्व दिया गया; एक में समष्टि की महान समास्याओं के सम्मुख व्यष्टि की समस्याओं को हेय एवं तुच्छ समझा गया और दूसरी में व्यक्ति की समस्याओं को समष्टि का केन्द्र माना गया। इस प्रकार दो परस्पर-विरोधी

विचार-धाराओं ने दो विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों को विशिष्ट तथा स्वतन्त्र रूप प्रदान किया ।

५. प्रगतिवाद—प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत मार्क्सवादी जीवन-दर्शन है। इसलिए प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण भी माना जाता है। डा० नामवरसिंह प्रगतिवाद तथा प्रगतिशील में भेद करने को कोरा बुद्धि-विलास समझते हैं जो उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। उनका मत है कि छायावाद में गतिरोध आने पर प्रगतिवाद का उदय हुआ है। उनकी दृष्टि में विकास की प्रवृत्ति आदर्शवाद से क्रमशः यथार्थवाद की ओर, और यथार्थवाद से क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख है। साहित्यकार के सामने एक ही मूल समस्या है जिसके समाधान में उसकी प्रगतिशीलता का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'कस्मै हविषा विधेम?' साहित्य किसके लिए? इसका उद्देश्य स्वान्तःसुखाय है या बहुजनहिताय है? बुद्धिजीवियों ने मानवतावादी आवरण में व्यक्ति-हित को छिपाने का प्रयास किया है। इस प्रकार वह मार्क्सवाद की कसौटी पर ही साहित्य की प्रगतिशीलता का मूल्यांकन अपेक्षित मानते हैं। छायावाद, प्रयोगवाद तथा प्रगतिवाद में अन्तर को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि कल्पनाप्रवण अन्तःदृष्टि छायावाद की विशेषता है, अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की, और सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवाद की विशेषता है। उनको प्रगतिवाद में स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण संयम एवं स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक दृष्टिगत होता है, उसकी निराशा में भी आशा की दीप्ति दृष्टिगोचर होती है। शिवदानसिंह चौहान तथा प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी प्रगतिवाद की विशेषताओं का विवेचन किया है, परन्तु नामवरसिंह इन आलोचकों की दृष्टि में व्यक्तिवादी संस्कारों को पाते हैं।[1] डा० नगेन्द्र प्रगतिवादी काव्य तथा मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को एकांगी एवं संकुचित समझते हैं। उनकी धारणा है कि यह जीवन की अनेक सूक्ष्म तथा जटिल प्रवृत्तियों की उपेक्षा करता है। वह साहित्य को अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं मानते, परन्तु उसे वैयक्तिक स्वीकार करते हैं। 'साहित्य वस्तुतः अभिव्यक्ति है। बाहर और भीतर इसके पक्ष हैं। भीतर की प्रकृति बहिरंग को अपने में आत्मसात कर गहरी एवं घनीभूत होती रहती है और बहिरंग की प्रवृत्ति अन्तरंग का प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। काव्य जीवन की भागवत व्याख्या है, वह जीवन की अन्तरंग साधना है। मार्क्सवाद की उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है। उसके द्वारा किया गया मूल्यांकन एकांगी होता है।'[2] डा० नगेन्द्र का निजी दृष्टिकोण रसवादी सिद्धान्त, मनोविश्लेषणवादी जीवन-दृष्टि तथा अभिव्यंजनावादी काव्य-सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण प्रगतिवादी काव्य को अकाव्य के रूप में देखने के लिए बाधित है। वह मार्क्सवाद के बौद्धिक दृष्टिकोण को काव्य के अनुपयुक्त भी समझते हैं। इस प्रकार प्रगतिवादी काव्य, जो सैद्धान्तिक रूप में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित है, मनोविश्लेषणवादी आलोचकों की दृष्टि में काव्य की गरिमा से वंचित हो जाता है। विश्वम्भर मानव भी प्रगतिवादी काव्य को उस प्रकार पल्लवित एवं विकसित नहीं समझते जिस प्रकार अद्वैतवादी एवं विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तों के आधार पर रहस्यवाद तथा कृष्ण-काव्य का सृजन एवं प्रसार हुआ था। इसका कारण यह भी हो सकता है कि प्रगतिवादी कवि अभी उस जीवन से दूर हैं जो प्रगतिवाद का प्रेरणा-स्रोत है। डा० रामविलास शर्मा, डा० नामवरसिंह तथा अन्य प्रगतिवादी आलोचक काव्य का मूल्यांकन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि से करते हैं और उसी कवि को प्रगतिवादी होने की संज्ञा देना उपयुक्त समझते हैं जो जन-जीवन से प्रेरणा ग्रहण करता है, हताश भावना का विरोधी है, धरती की गरिमा को आत्मसात करता है, सामूहिक दुःख का सामना सामूहिक शक्ति से करता है, आंसू के स्थान पर क्रोध से काम लेता है, दीन-भाव के स्थान पर तीक्ष्ण व्यंग-बाण छोड़ता है, व्यष्टि और समष्टि में परस्पर विरोध को अन्ततोगत्वा मौलिक स्वीकार नहीं करता और उस वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए आकांक्षी तथा संघर्षशील है जिसमें व्यक्ति का हित समाज का हित होगा, और समाज का हित व्यक्ति का हित होगा। प्रगतिवादी के मतानुसार प्रयोग के समर्थक अधिकांश व्यष्टिवादी हैं जिन्होंने अचेतन मन की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओं में घुसकर मनुष्य की काम-वासनाओं का साक्षात्कार किया है, जो व्यक्ति-मानस को ही समस्त घटनाओं और सम्बन्धों

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियां, पृ० ६२
२. आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियां,

का केन्द्र और कारण मानते हैं, जो व्यक्ति-सापेक्ष अनुभूतियों को ही निरपेक्ष सत्य समझते हैं, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है ।[1] इस प्रकार प्रयोगवादी काव्य के मूल में व्यक्तिवादी विचार-धारा एवं रूपवादी प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए चौहान प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में सन्तुलन स्थापित करने का विफल प्रयास इन शब्दों द्वारा करते हैं कि प्रयोगवादियों की काव्य-वस्तु के प्रति और प्रगतिवादियों की काव्य-रूप के प्रति उदासीनता कविता के ह्रास का कारण बन रही है। दोनों पक्षों के प्रवक्ता और कवि वस्तु एवं रूप, प्रगति और प्रयोग की समस्या को एकांगी दृष्टि से आंकते है, परन्तु इनकी समस्या का समग्र एवं संश्लिष्ट रूप में समाधान करना काव्य-विकास के लिए अपेक्षित है । इस तरह चौहान ने प्रगतिवादी कवि को व्यापक जीवन-दृष्टि प्रदान करने के लिए मार्क्सवादी दर्शन को विस्तार देने का प्रयास किया है ।

६. मूल्यांकन——प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की उपलब्धियों तथा सीमाओं का मूल्यांकन आलोचकों ने विभिन्न दृष्टियों से किया है । डा० नगेन्द्र इस प्रवृत्ति की अधिकांश रचनाओं को भाव-प्रधान मानते हुए इनमें मानववादी क्रान्तिकारी स्वर को अधिक तीव्र तथा साम्यवाद की मात्रा को कम पाते है । उनकी दृष्टि में कल के छायावादी आज के प्रगतिवादी है। अतएव उनके काव्य में क्षयी रोमांस बार-बार उभरता है । प्रगतिवादी काव्य के इस मूल्यांकन से सम्भवतः उनका संकेत अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि संक्रांतिकालीन कवियों की रचनाओं तक सीमित है । लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के प्रवक्ता के रूप में प्रगतिवादी काव्य का विरोध सैद्धान्तिक आधार पर इसलिए करते हैं कि इसमें मानव-विशिष्ट की अवहेलना होती है और किसी मतवाद की रूढ़ि अथवा पूर्वाग्रह से आक्रान्त होकर वास्तविक काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती । गिरिजाकुमार माथुर व्यष्टि की समस्याओं का समाधान समष्टि की महान समस्याओं से जोड़ते हैं और व्यक्ति-जीवन के प्रश्न को सीमित रूप से लेकर एक व्यापक रूप में घटाने के पक्ष में हैं । इसलिए उनकी दृष्टि में प्रगतिशील काव्य का भविष्य उज्ज्वल है और अनास्था की परिस्थितियां चिरस्थायी नहीं हैं । शिवदानसिंह चौहान की धारणा है कि तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी विकास नहीं कर पाए थे कि उन्होंने मतवाद में पड़कर अपनी काव्य-प्रतिभा को स्वयं ही कुंठित कर डाला । उनकी दृष्टि में युग-सत्य तो नहीं बदला, केवल उसका बोध तत्काल मलिन और खण्डित हो गया ।[2] इन आलोचकों के विवेचन तथा प्रगतिवादी कवियों की मौलिक रचनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-छायावादी काल के हिन्दी के कुछ कवियों ने प्रगतिवादी चेतना को अभिव्यंजना देने का प्रयास अवश्य किया है । इनकी उपलब्धि के सम्बन्ध में मतभेद का होना स्वाभाविक है । प्रगतिवाद एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान्य एवं स्वीकृत है । इसका निजी वस्तुगत स्वरूप है । इसमें रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह की अभिव्यक्ति है; राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण है; लाल सवेरा, लाल किरण, लाल सेना आदि का चित्रण है; पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विरोध है; शोषित के प्रति सहानुभूति तथा शोषक के प्रति आक्रोश की भावना है; सामाजिक विषमता पर तीक्ष्ण व्यंग है; धरती के प्रति ममता है; किसान तथा मजदूर के लिए विशेष मोह है; भावुकता की अपेक्षा बौद्धिकता के प्रति आग्रह है; आदर्श के स्थान पर यथार्थ को आत्मसात करने का प्रयास है । परन्तु इन सभी विशेषताओं से युक्त काव्य को प्रगतिवाद की संज्ञा देना उचित नहीं जान पड़ता । वास्तव में प्रगतिवादी कवि उसे स्वीकार करना होगा जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हो, जो सामाजिक चेतना को समाजवादी चेतना में परिणत करने के लिए प्रयत्नशील हो, जिसमें सामाजिक यथार्थ को समाजवादी धरातल पर ग्रहण करने का आग्रह हो । वह जीवन-विकास के पथ को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रशस्त करने का आग्रही हो। वह जीवन-विकास के पथ को द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर प्रशस्त करने का पक्षपाती हो और काव्य को इस पथ के निर्माण के लिए अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का समर्थक हो । वह इस दृष्टि से काव्य की रचना करता है और इसके धरातल पर ही प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति का मूल्यांकन अपेक्षित है ।

---

१. शिवदानसिंह चौहान : काव्यधारा, पृ० २०३, २०४

२. काव्य-धारा, पृ० ४४

७. प्रयोगवाद—उत्तर-छायावाद युग की दूसरी काव्यधारा वैयक्तिक कविता का चरम विकास है जिसका अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है। इसलिए इसे प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है। शिवदानसिंह चौहान ने नई कविता को भी इस काव्य-प्रवृत्ति के अंतर्गत रखा है। उत्तर-छायावादी काल में हिन्दी-काव्य दो विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा था : एक धारा सामाजिक यथार्थ और दूसरी धारा वैयक्तिक यथार्थ को आत्मसात किये हुए थी। इन दोनों धाराओं में जीवन-यथार्थ का स्वर उभर कर व्यक्त होने लगा था। 'तारसप्तक' के वक्तव्य में अज्ञेय ने साधारणीकरण की समस्या पर विचार करते हुए प्रयोग के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। उनकी धारणा है कि 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकपाओं के बीच उसके अनेक स्तरों की उद्‌भावना कवि आदिकाल से करता आया है। साधारणीकरण की समस्या का रूप पहले इतना जटिल नहीं था जितना वह आज जीवन-परिपाटियों में घोर विषमता तथा विभिन्नता के कारण बन चुका है। व्यक्तिवादी चेतना के परिणामस्वरूप आज एक ही सामाजिक स्तर पर दो व्यक्तियों के सौंदर्य-बोधों तथा विचार-धरातलों में वह समानता उपलब्ध नहीं होती जो पुरातन काल में सम्भव थी। इसलिए साधारणीकरण की समस्या कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति है।[1] काव्य में 'प्रयोग' के महत्त्व को इस रूप में स्वीकार करने के कारण आलोचक ने इस काव्यप्रवृत्ति को प्रयोगवाद की संज्ञा देना उचित समझा। इसमें सन्देह नहीं कि 'अज्ञेय' ने दूसरे सप्तक में प्रयोगवाद नाम का एक मतवाद के रूप में इस शब्दों में विरोध किया है : "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे। न प्रयोग अपने में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है। कविता भी अपने-आप में, इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें, 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।"[2] 'अज्ञेय' प्रयोग को दोहरे साधन के रूप में स्वीकार करते हैं, एक तो वह उस सत्य को पाने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है और दूसरे वह प्रेषण को जानने का भी साधन है। इस प्रकार प्रयोग का महत्त्व वस्तु तथा उसके अनुरूप शिल्प दोनों को उपलब्ध करने में निहित है। इसलिए प्रयोग, वस्तु और शिल्प, दोनों क्षेत्रों में फलप्रद होता है। प्रयोगवाद को वाद-विशेष से मुक्त कराने के लिए नई कविता के नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रयोगवाद उत्तर-छायावादी काल की एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत हो चुका है जिसकी अपनी वस्तुगत एवं शैलीगत विशेषताएं हैं, जिसकी अपनी जीवन-दृष्टि है, जो एक ओर छायावाद तथा वैयक्तिक कविता की व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का विस्तार है और दूसरी ओर छायावादी की कल्पनाशीलता एवं स्वप्नशीलता, आदर्शवादिता एवं भावुकता का विरोधी है।

'अज्ञेय' ने सप्तकों के सम्पादक से रूप में डा० जगदीश गुप्त तथा श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नई कविता' के सम्पादक तथा समर्थक के रूप में और कवियों ने अपने वक्तव्यों के द्वारा प्रयोगवादी तथा नई कविता के स्वरूप को वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से स्पष्ट करने तथा इसके सम्बन्ध में भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। आलोचकों ने भी प्रयोगवादी तथा नई कविता की काव्य-प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र रूप देना स्वीकार किया है और इनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का मूल्यांकन किया है। प्रयोगवादी काव्य का सूत्रपात 'तारसप्तक' के प्रकाशन (१९४३) से प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आलोचकों के विभिन्न मत हैं। डा० प्रेमशंकर ने इसका नवीन यथार्थ की दूसरी धारा के रूप में विवेचन किया है जिसमें सामाजिक चेतना को महत्त्व न देकर वैयक्तिक चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। इस काव्य-प्रवृत्ति के कवियों की दृष्टि व्यक्ति-चिन्तन तथा व्यक्ति-विश्लेषण पर टिकी हुई है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य को उन्होंने एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति पूर्णतया अपने सामाजिक परिवेश से वंचित भी नहीं है, परन्तु उसके लिए वह परिवेश प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है। प्रयोगवादी कवि बौद्धिकता के औचित्य को अपनाता है और कभी-कभी इसमें इसकी निष्पत्ति को खोजने का प्रयत्न करता है। यह काव्य-धारा मनोविश्लेषण की भूमिका पर प्रतिष्ठित है। अवचेतन की स्थिति को व्यक्त करने के लिए बौद्धिक प्रक्रिया से काम लेना काव्य-सृजन का मूल बिन्दु है। वस्तु

१. तारसप्तक, पृ० ७४, ७५
२. दूसरा सप्तक, पृ० ६

तथा शिल्प की दृष्टि से यह काव्य-प्रवृत्ति प्रयोग के महत्त्व को अनिवार्य रूप में ग्रहण करती है जिससे इस काव्य-धारा को प्रयोगवाद की संज्ञा से अभिहित किया है और जिसका विफल निषेध एवं निराकरण 'अज्ञेय' ने किया है। डा० नामवरसिंह प्रयोगवाद का विश्लेषण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते हैं और उनका मत है कि इसका उदय मोह-भंग से हुआ है। इसमें छायावादी कल्पना-शीलता के विपरीत यथार्थ का आग्रह अधिक है जो प्रकृतिवादी काव्य-प्रवृत्ति की भी विशेषता है। इन काव्य-प्रवृत्तियों के यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण में भारी अंतर के कारण इनका परस्पर-विरोधी होना स्वाभाविक है। इस अंतर को पाटने के लिए भी कवियों तथा आलोचकों ने प्रयत्न किए हैं। प्रयोगवादी कवि छायावादी काव्य में उदात्त के स्थान पर वस्तुओं के क्षुद्र रूपों को उद्घाटित करता है। इसके उदाहरण 'चाय की प्याली', 'मकड़ी का जाला', 'बांस की टूटी हुई टट्टी', 'रिरियाता कुत्ता', 'चांदनी में तीन टांगों पर खड़ा गदहा' आदि में उपलब्ध होते हैं। इन कवियों ने छायावादी काव्य की अप्सरामयी, श्रद्धामयी, गरिमामयी, कल्पनामयी नारी को सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है जो उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इस कारण अस्पृश्य प्रेम ने साकार होकर मांसल रूप धारण कर लिया है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता की स्थापना भी इसी दृष्टि का प्रतिफल है। डा० नामवरसिंह की धारणा है कि छायावाद में मानवीय प्रेम की अभिव्यक्ति का स्वरूप रहस्यात्मक है और प्रयोगवाद में इस पर बौद्धिक आवरण डाला गया है। इसमें रूढ़ियों का विरोध है और मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगे हुए हैं। प्रयोगवादी कवि मध्य-वर्ग का सदस्य होने के कारण संकटग्रस्त, चिन्तित एवं विक्षुब्ध है। उसकी वाणी में प्रायः टूटने का स्वर ध्वनित होता है। विश्वम्भर मानव प्रयोगवाद पर प्रतीकवाद से लेकर अतियथार्थवाद तक के प्रभावों को मानते हैं। वह प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादी विचारधारा में संदेहवाद को पनपते और अनास्था को उभरते हुए देखते हैं। यह प्रयोगवाद के वस्तु-पक्ष का स्वरूप है। इसके शिल्प-पक्ष में बौद्धिक प्रतीक-विधान, विशृंखल स्मृति-चित्रण, स्वप्न-चित्रण, सूक्ष्म बिम्ब-विधान, मुक्त छन्द, लयमान गद्य आदि उपलब्ध होते हैं। प्रयोगवादी कविता में जीवन की आस्था-अनास्था, मधुरता-कटुता, असारता-व्यर्थता, घुटन-घुमड़न, दीनता-हीनता आदि का मार्मिक चित्रण है जो इस काव्य-प्रवृत्ति की निजता है। इस प्रकार की जीवन-स्थिति की गहरी संवेदना एवं सूक्ष्म अभिव्यंजना युग-चेतना के एक विशिष्ट स्तर का परिणाम है जिसकी अवहेलना करना वस्तुस्थिति से पलायन ही समझा जा सकता है। प्रयोगवादी कवि साहस के साथ अपने व्यक्ति-मन तथा उसके माध्यम से परोक्ष रूप में सामाजिक स्थिति का उद्घाटन करता है। यह इस काव्य-प्रवृत्ति की ऐतिहासिक देन है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य नगेन्द्र तथा अन्य आचार्यों ने प्रयोगवादी कविता पर काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के आधार पर जो आरोप लगाये हैं उनका निराकरण प्रयोगवादी कवियों को अधिकतर स्वयं करना पड़ा है।

अज्ञेय ने साधारणीकरण के प्रश्न को दूसरे सप्तक की भूमिका में उठाया है और उसके उत्तर में यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि 'प्रयोगवादी' कवि न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त यह सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की अनुभूतियों के क्षेत्र के विकास को भी मानते हैं और अनुभूतियों को व्यक्त करने के उपकरणों के विकास को भी आवश्यक समझते हैं। यह स्वीकार करते हैं कि मानव के मूल राग—प्रेम, घृणा आदि—नहीं बदले; परन्तु राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियां बदल गई हैं।[2] अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए वह 'तथ्य' और 'सत्य' में 'वस्तु-सत्य' और 'व्यक्ति-सत्य' में अन्तर को निरूपित करते हैं। सत्य वह तथ्य है जिससे व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध होता है। तथ्य का काव्य में कोई स्थान नहीं है, इसमें केवल सत्य की अभिव्यक्ति होती है। 'वस्तु-सत्य' अथवा 'तथ्य' बाह्य वास्तविकता है। उसके बदलने से उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियां भी बदलती है। यदि वे नहीं बदलतीं तो बाह्य वास्तविकता से मानव का सम्बन्ध टूट जाता है। आज की वास्तविकता से इन आचार्यों के सम्बन्ध टूटे हुए हैं। आन्तरिक सत्य अथवा व्यक्ति-सत्य की अभिव्यक्ति के लिए साधारणीकरण की समस्याओं का उठना स्वाभाविक है। पुरातन काल में साधारणीकरण की समस्या सरल थी, काव्य के मुहावरे सीमित थे। आज के युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे

१. दूसरा सप्तक, पृ० ६

२. दूसरा सप्तक, पृ० ६

अनेक हैं। कवि के सामने समस्या यह है : क्या वह सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे या वह व्यापक क्षेत्र तक पहुंचने के लिए सीमित मुहावरे में बंधा न रहकर राह खोजने की जोखिम उठाए। पहली अवस्था में कवि साधारणीकरण करता है, परन्तु इसके साथ ही साधारण के क्षेत्र को संकुचित करके वह आन्तरिक विरोध की स्थिति का आश्रय लेता है। दूसरी अवस्था में वह साधारणीकरण के लिए एक संकुचित क्षेत्र के साधारण मुहावरे को छोड़ने के लिए बाधित होता है, परन्तु इससे वह एक दूसरे आन्तरिक विरोध की शरण लेता है। यदि अज्ञेय का यह निरूपण ठीक है तो कवि के सामने प्रश्न यह है कि दोनों आन्तरिक विरोधों की स्थितियों में कौन-सी अधिक ग्राह्य है। अज्ञेय की धारणा है कि दूसरी स्थिति को अपनाने से कवि को उदार एवं व्यापक दृष्टि से देखने का श्रेय मिलेगा। साधारणीकरण की समस्या के साथ भाषा का मूल प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। भाषा के शब्दों का चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। इसलिए कवि को शब्दों का निरन्तर नया संस्कार करना पड़ता है और ये संस्कार क्रमशः जन-मन में पैठकर पुनः अभिधेय हो जाते हैं कि उस रूप में वे कवि के काम के नहीं रहते। अज्ञेय का मत है कि अभिधेय अर्थ में शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण पड़ जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित नहीं होता। कवि नये तथ्यों को उनके साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप देता है।[1] उनकी दृष्टि में आज साधारणीकरण अधिक कठिन है। कवि तथा सहृदय दोनों की संवेदनाओं में उलझाव समान परिस्थितियों का परिणाम है। यह एक विडम्बना होगी यदि कवि आज के सत्य को इस कारण व्यक्त न करे कि उसे सब एक साथ नहीं समझते और उसका परित्याग कर वह कल के ही सत्य को व्यक्त करता रहे। इस प्रकार अज्ञेय साधारणीकरण की समस्या को महत्त्व देकर उसका समाधान आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तुत करते हैं। यह सत्य है कि आज के विशेषीकरण के युग में काव्य का भी विशेषीकरण हो रहा है। अतः रस तथा साधारणीकरण के 'शाश्वत' सिद्धान्तों पर भी प्रश्न-चिह्न लगाए जा रहे हैं और इनका विवेचन नई दृष्टियों से किया जा रहा है। साधारणीकरण को विशिष्ट रूप दिया जा रहा है और नवरसों की संख्या में वृद्धि कर वृद्ध रस को दसवें रस के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है। इसके मूल में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जो सभी परम्पराओं को चुनौती देने और रूढ़ियों का विरोध करने की प्रेरणा देता है। इसके फलस्वरूप अराजकता, अव्यवस्था, अनास्था, नास्तिकता, संदेहात्मकता के वातावरण की सृष्टि स्वाभाविक है। प्रयोगात्मकता की प्रवृत्ति के प्रति कवियों का आग्रह संयोगवश नहीं, कारणवश है। वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से काव्य के मूल प्रश्नों को उठाकर उनके उत्तर नई भाषा में देने का प्रयास किया जा रहा है। और यह भाषा बौद्धिकता एवं वैज्ञानिकता से अनुरंजित है तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों एवं अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित है।

८. नकेनवादी कवि—अज्ञेय तथा गिरिजाकुमार माथुर के अतिरिक्त बिहार के तीन कवियों ने प्रयोग को साध्य के रूप में प्रतिपादित कर प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद के नाम से अपनी काव्यप्रवृत्ति को अभिहित किया है। नलिनविलोचन, केसरीकुमार तथा नरेश मेहता का प्रयोगवाद रूढ़ होकर प्रपद्यवाद अथवा प्रयोगवाद की उपधारा का रूप धारण करता है। केसरीकुमार का मत है कि प्रयोगवाद का आरम्भ नलिनशर्मा की कविताओं से होता है जिनकी रचना 'तारसप्तक' (१९४३) से पहिले १९३६-३८ में हुई थी। 'तारसप्तक' के कवि प्रयोग को काव्य का बाह्य उपकरण मानते थे जिसमें प्रगति तथा प्रयोग दोनों की सुविधा सम्भव थी। इस प्रकार सप्तकों में जिस काव्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ वह प्रयोगशील का था, प्रयोगवादी का नहीं।[2] इस कारण इन तीनों कवियों को 'प्रयोग-दशसूत्री' के प्रकाशन की आवश्यकता पड़ी जिसमें पहली बार प्रयोगवाद को प्रयोगशीलता से भिन्न स्वीकार किया गया। इन कवियों ने अपने वाद के नाम-संकेत के लिए 'नकेन' को अभिधेय मान लिया। नरेश मेहता ने घोषित किया कि प्रयोग काव्य का साध्य है और प्रपद्यवाद प्रयोग का दर्शन है। नरेश प्रयोग की आवश्यकता को चिरंतन मानते हैं। इन कवियों की दृष्टि में उपचेतन की समस्या कविता की सनातन समस्या है। नया कवि मुक्ति आसंग के सहारे उपचेतन की जटिलता को परास्त कर अपना पथ प्रशस्त करना चाहता है। प्रयोगवाद का अभिप्रेत मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य है। इसलिए अज्ञेय ने प्रयोगशील

१. दूसरा सप्तक, पृ० ११, १२
२. नकेन, पृ० ११४

काव्य का शील-निरूपण किया है। नकेनवादियों की दृष्टि में प्रयोगवाद के आलोचक भी काव्य के माध्यम से इतिहास, राजनीति और दर्शन की अपेक्षा रखते हैं जिससे उन्हें प्रयोगवाद में वास्तविक काव्य-सृजन नहीं उपलब्ध होता। आचार्य वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि प्रिया के ध्यान में चांद देखने के अभ्यस्त हैं, वे साधारणीकरण-कृत विचारों और शब्दों के अभ्यासी हैं।[1] प्रयोगवादी अथवा प्रयोगशील काव्य पर जितने भी आरोप लगाये गए हैं, केसरी-कुमार ने उनका निराकरण करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि काव्य का अभिप्रेत वह प्रयोग ही है जिसके स्थापत्य में भाव और व्यंजना एक परिस्थिति-जन्य अनिवार्यता में एकाकार होकर सत्य-रूप ग्रहण कर लेते हैं। प्रयोगवादी कवि की स्थिति विचित्र है। एक ओर उसे मार्क्सवादी बनने का आदेश दिया जाता है और दूसरी ओर उससे चिरन्तन काव्य की मांग की जाती है। कविता न तो मार्क्सवाद, गांधीवाद को अपनाने से हो सकती है और न ही इनसे पलायन करने से। वह स्वयं में स्वतन्त्र है। नकेनवादियों की धारणा है कि प्रेम, शृंगार, भक्ति, वीरता सनातन काव्य-विषय हैं, परन्तु आज इनके अर्थ जटिल बन चुके हैं। आज कवि ऐसे केन्द्र की खोज में है जहां से वह इनकी वैय-क्तिक व्याख्या कर सके। यह वैयक्तिक व्याख्या ही काव्य के लिए ऐसा स्थल है जहां वह काव्य बना रह सकता है। इस प्रकार नकेनवादियों ने काव्य के सिद्धान्तों पर गम्भीर चिन्तन किया है और नवीन दृष्टि से उनका विवेचन किया है, परन्तु उनकी रचनाओं में काव्य की उपलब्धि कहीं-कहीं देखने को मिलती है।

नकेनवादी तथा प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं के स्वरूप में अन्तर का अभाव है, परन्तु इनके काव्य-सिद्धान्तों में मतभेद के कारण नकेनवाद को प्रयोगवाद की उपधारा के रूप में स्वीकार करना उचित जान पड़ता है। प्रपद्यवाद को प्रयोग के दर्शन के रूप में स्थापित किया गया है और इसमें प्रयोग की आवश्यकता को चिरन्तन माना गया है। प्रपद्यवाद अनुभूति को शब्द का अविभाज्य अंग स्वीकार करता है। उसके अनुसार नवीन संगति के लिए नवीन शब्द-संगीत की आवश्यकता होती है। कविता सामान्य अनुभव के क्षेत्र से आगे के अनुभव को व्यक्त करती है। इसलिए इसमें साधारणीकरण को विशिष्टीकरण के रूप में ग्रहण किया गया है। कवि मुक्त आसंगों के माध्यम से मानव-मन की निविड़ता का अवगाहन कर अपने को सुरक्षित रखने के पक्ष में है। भाषा की समस्या पर भी इसी दृष्टि से विचार किया गया है। नकेनवादी की दृष्टि में तुकान्त के आग्रह से आये हुए शब्द 'चांदनी' के साथ भामिनी, कामिनी, यामिनी, रागिनी आदि, घिसी हुई मुद्राओं के समान निर्मूल्य हैं। वह भाषा के वैयक्तिक प्रयोग में विश्वास रखता है। नकेनवाद की यथार्थ-वादी अन्तर्मुखी बौद्धिक प्रवृत्ति ने कविता के शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, छन्द-विधान और प्रतीक-विधान को भी प्रभावित किया है। इसकी रचनाओं में शब्दों का वैयक्तिक प्रयोग, वाक्य-विन्यास में गद्य की लय, छन्द-विधान में मुक्त छन्द और प्रतीक-विधान में बौद्धिक प्रतीकों के प्रति आग्रह शिल्प की दृष्टि से प्रपद्यवाद की विशेषताएं हैं। इस प्रकार नकेनवाद में व्यक्ति-यथार्थ अथवा व्यक्ति-सत्य को अभिव्यक्ति देने का प्रयास लक्षित होता है। इसका सिद्धान्त-पक्ष प्रयोगवाद की अपेक्षा अधिक निश्चित, सीमित तथा संकुचित है। परन्तु इसकी उपलब्धि प्रयोगवाद से नितान्त भिन्न है। इसलिए नकेनवाद अथवा प्रपद्यवाद की प्रवृत्ति को प्रयोगवाद की उपप्रवृत्ति के रूप में ग्रहण करना ही उपयुक्त जान पड़ता है। इन दोनों काव्यप्रवृत्तियों के मूल में व्यक्तिवाद की विचारधारा तथा व्यक्ति-निष्ठ जीवनदृष्टि है जो कवि को उन सभी मूल्यों का विरोध करने के लिए बाधित करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा विकास में बाधा बनकर आते हैं। प्रयोगवाद तथा नकेनवाद में वस्तु तथा शिल्प की दृष्टि से विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता। सैद्धान्तिक दृष्टि से नकेनवादियों ने प्रयोगवाद के प्रयोग को साधन-रूप में स्वीकार न कर काव्य के साध्य-रूप में मान लिया है और व्यावहारिक दृष्टि से नकेनवादियों की रचनाओं पर अपेक्षाकृत फ्रायड के सिद्धान्तों का अधिक गहरा प्रभाव जान पड़ता है जिसके फलस्वरूप 'मुक्त-आसंगत' तथा 'चेतना-प्रभाव' की पद्धति को इन्होंने अधिक अपनाया है। इस प्रकार दोनों के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन करने के उपरान्त इन काव्य-प्रवृत्तियों को स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के रूप में स्वीकार करना अनुचित होगा। उत्तर-छायावादी काल में दोनों काव्यधाराएं वैयक्तिक कविता का ही विकसित रूप हैं जिनमें व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-यथार्थ की सत्ता एवं महत्ता को स्वीकार कर उसे युग-चेतना के अनुरूप अभि-व्यक्ति देने का वैयक्तिक प्रयास है।

९. नई कविता—प्रयोगवादी काव्य 'तारसप्तक' में शिल्पगत था। उसमें वस्तु की दृष्टि से व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ दोनों की अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। मुक्तिवोध, नेमिचन्द्र जैन, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल आदि की रचनाओं में 'प्रगति' अथवा सामाजिक यथार्थ के स्वर मुख्य रूप में ध्वनित होते हैं। अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर आदि की कविताओं में प्रमुखतः व्यक्ति-यथार्थ को अभिव्यंजना मिली है। दूसरे सप्तक में आकर 'व्यक्ति-सत्य' का स्वर अधिक गम्भीर एवं अधिक व्यापक हो जाता है और तीसरे सप्तक में संकलित कवियों की रचनाओं में इसको गहराने की प्रवृत्त ही लक्षित होती है। सामाजिक यथार्थ को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से आंकने तथा व्यक्त करने का प्रयास तीसरे सप्तक के कवियों की विशिष्टता है। व्यक्ति-सत्य को गहराने तथा सामाजिक सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से आत्मसात करने के प्रयास को प्रयोगवाद की अपेक्षा 'नई कविता' के नाम से अभिहित किया जा रहा है। अज्ञेय के अतिरिक्त जगदीश गुप्त तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। इसे प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्ति के विकसित रूप में भी ग्रहण करने की वृत्ति पाई जाती है। अज्ञेय का नई कविता से सम्बद्ध होना उनके प्रयोगशील दृष्टिकोण का परिणाम है। इसी कारण उन्होंने दूसरे सप्तक की भूमिका में प्रयोगवाद का काव्य के वाद के रूप में विरोध किया था और प्रयोग को वाद-विशेष से मुक्त करने का प्रयत्न किया था। प्रयोगवाद रूढ़ होकर प्रपद्यवाद अथवा नकेनवाद का रूप धारण करने लगा और गतिशील होकर नई कविता में विकास पाने लगा है। परन्तु इनके मूल में व्यक्ति-चिन्तन, व्यक्ति-सत्य, व्यक्ति-यथार्थ के विविध स्तर तथा विभिन्न धरातल हैं। इनका वैयक्तिक काव्य की परम्पराओं के रूप में मूल्यांकन करना तथा इनको 'व्यक्ति-सत्य' को व्यंजित करने वाली एक ही व्यापक काव्य-प्रवृत्ति की एकसूत्रता में बांधना उपयुक्त जान पड़ता है। प्रयोगवाद, नकेनवाद तथा नई कविता की रचना करने वाले कवियों की सूची विस्तृत एवं विशाल है। इसमें अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे के नाम 'तारसप्तक' से; शमशेरवहादुरसिंह, नरेशकुमार मेहता, धर्मवीर भारती दूसरे सप्तक से; प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, केदारनाथ सिंह, कुंवरनारायण, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तीसरे सप्तक से और इनके अतिरिक्त जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, वालकृष्ण राव, श्रीकान्त वर्मा आदि के नाम नई कविता के अंकों से लिये जा सकते हैं। 'नई कविता' के अंकों की अनेक रचनाओं में प्रगतिशील स्वर भी ध्वनित हुआ है जिससे व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक यथार्थ को समन्वित करने का प्रयास भी लक्षित होता है। परन्तु जिस प्रकार 'तारसप्तक' में प्रयोग की समानता होते हुए इन दो मूल काव्य-प्रवृत्तियों में अन्तर पाटने का प्रयास विफल सिद्ध हुआ था, उसी प्रकार नई कविता में इनमें विरोध को शान्त करने का प्रयत्न सफल नहीं हो पाया है। यह सत्य है कि आज भारतीय जीवन में राजनीतिक दृष्टि से व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल में समन्वय को स्थापित करने के प्रयास हो रहे हैं, परन्तु इस चेतना को गहराने तथा आत्मसात करने के लिए अभी समय की अपेक्षा है। नई कविता की कतिपय रचनाओं में व्यक्ति-हित तथा समाज-कल्याण में सामंजस्य की स्थिति सहज न होकर कृत्रिम है, आन्तरिक न होकर वाह्य है, गहरी न होकर सतही है। अज्ञेय तथा उनके सहयोगियों ने उत्तर-छायावादी काल में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से प्रयोग की समस्या को उठाया और उसका समाधान व्यक्ति-चिन्तन की दृष्टि से उपस्थित किया, परन्तु प्रयोगवादियों ने प्रयोग के महत्त्व को स्वीकार करते हुए समाज-मंगल की दृष्टि से काव्य-वस्तु का प्रतिपादन किया और काव्य-शिल्प की उपेक्षा की। इस मतभेद के फलस्वरूप उत्तर-छायावादी काव्यधारा विभक्त होकर दो विभिन्न सीमान्तों में प्रवाहित होने लगी। व्यक्ति-चिन्तन से अनुरंजित काव्य-धारा भी उपधाराओं का रूप धारण करने लगी और इनमें प्रयोगवाद तथा नकेनवाद का यथासाध्य स्पष्टीकरण किया जा चुका है। नई कविता भी मूलतः व्यक्ति-चिन्तन से सम्बद्ध है। लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा उनके सहयोगी कवियों ने अपने दृष्टिकोण को तीसरे सप्तक के कवियों द्वारा और नई कविता के आलोचनात्मक निवन्धों के माध्यम से इस काव्य-प्रवृत्ति की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वस्तु एवं शिल्प किस प्रकार एक-दूसरे को प्रभावित एवं रूपायित करते हैं और किस प्रकार युग-चेतना तथा कवि की जीवन-दृष्टि से निर्धारित होते हैं यह आलोचना-शास्त्र के लिए एक स्वतन्त्र विषय है। नई कविता की वस्तुगत तथा शिल्पगत विशेषताओं का मूल्यांकन उसकी मूल विचारधारा के सन्दर्भ में अपेक्षित है।

नई कविता को एक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने के लिए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने नई कविता के प्रतिमान के रूप में उसकी वस्तुगत एवं शिल्पगत विशेषताओं का विवेचन किया है। उसकी मूल विचार-धारा एवं जीवन-दृष्टि का विश्लेषण किया है और उसके सौन्दर्य शास्त्र को स्थापित करने के लिए प्रयत्न भी किया है। डा० जगदीश गुप्त ने नई कविता की रचनाओं को प्रसारित कर नई कविता के सम्पादन-द्वारा इस काव्य-प्रवृत्ति को स्वतन्त्र रूप देने में सहयोग दिया है। इसका प्रसार एवं प्रचार अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी हो रहा है। इसलिए उत्तर-छायावादी काल में नई कविता एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकृत होने लगी है। नई कविता का अधिकांश बहु-मुखी होने के कारण अव्यवस्थित प्रतीत होता है, परन्तु इसकी अव्यवस्था में भी एक नई व्यवस्था को पाने की आकांक्षा है। इसमें अधुनातन परिवेश की अभिव्यक्ति है और इस परिवेश का स्वरूप जटिल एवं बहुमुखी है। इसलिए इसमें अनेक स्वरों की ध्वनि तथा विविध स्तरों का आभास है। नई कविता में बर्गसाँ के चेतनावाद, विलियम जेम्स के चेतना-प्रवाह, आइंस्टाइन के सापेक्षवाद, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि के प्रभावस्वरूप युग की जटिल चेतना तथा व्यक्ति की निविड़ संवेदना को पकड़ने का प्रयास है। इसलिए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस परिवेश को आधुनिकता एवं समसामयिकता की संज्ञाओं से अभिहित किया है। नई कविता में आधुनिकता का भाव-बोध है और इस भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीकों, बिम्बों आदि का प्रयोग है जो यथार्थ जीवन की उपज हैं और जिनका सम्बन्ध उस वैयक्तिक भाव-स्तर से है जो क्षण के साथ आन्दोलित होता है। मानवीय सत्य के महत्त्व को स्थापित करने के लिए नई कविता लघु परिवेश तथा छोटे क्षण के प्रति आस्था रखती है। इसलिए नई कविता का उद्देश्य जीवन की नवीन परिस्थिति, उसके नवीन स्तरों एवं धरातलों को व्यक्ति-सत्य की दृष्टि से अभिव्यक्ति देना है। इस प्रकार से व्यक्ति-सत्य को रेखांकित कर इसकी मूल विचार-धारा का परिज्ञान हो जाता है। परन्तु व्यक्ति-सत्य को अतिव्यक्तिवादी विचारधारा से भिन्न भी माना गया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि एक ओर समष्टिवादी विचारधारा और दूसरी ओर अतिव्यक्तिवादी विचारधाराएं नव-विकास के लिए घातक हैं। नई काव्य-चेतना दोनों की अनावश्यक तथा कृत्रिम आकांक्षा के प्रति विद्रोह करती है।[1] समष्टिवाद से आलोचक का आशय प्रगतिवाद से है और अति-व्यक्तिवाद से उनका अभिप्राय प्रपद्यवाद तथा प्रयोगवाद से है। इस प्रकार नई कविता को एक स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने के प्रयास से उसे मतवाद के आग्रह से मुक्त किया जाता है। नई कविता उनकी दृष्टि में सामाजिक स्तर पर भी मानव की व्यक्तिनिष्ठा को स्वीकार करती है और व्यक्ति की विशिष्टता नये भावस्तरों को निजी स्वर देती है। इसमें मात्र शिल्पगत प्रयोग न होकर विषय-वस्तु की नवीनता है और विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन-सत्य है, और जीवन-सत्य बाह्य-आरोपित न होकर मानवीय स्तर पर अनुभूत सत्य है। जीवन-सत्य स्थिति-विशेष की अभिव्यक्ति है और वह स्थिति स्थिति-शील न होकर गतिशील है।[2] इसलिए एक ओर इसमें छायावाद के उदात्त आदर्शवाद का विरोध है जिसका अमरबेल के समान अपना धरातल नहीं है और दूसरी ओर प्रगतिवाद के प्रति विद्रोह है जिसमें मानव-विशिष्ट की उपेक्षा है। नई कविता नये भाव-बोध को व्यक्त करने के फलस्वरूप सौन्दर्य-बोध के नये तत्त्वों तथा यथार्थ के नये धरातलों की खोज में संलग्न है। वह कमल के साथ कीचड़ को भी स्वीकार करती है। छायावादी के लिए जीवन का विरूप पक्ष त्याज्य है, नकेनवादी इससे रस लेता है, प्रगति-वादी इसके द्वारा करुण की सृष्टि करता है, परन्तु नई कविता इसे औचित्य प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त सौंदर्य का रूप भी गतिशील है, इसकी गतिशीलता प्रत्येक क्षण में अपनी सापेक्षता ग्रहण करती है। सौन्दर्य को यथार्थ से पृथक भी नहीं किया जा सकता। असुन्दर भी सुन्दर की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सकता है। इस प्रकार सुन्दर का यथार्थ अथवा सत्य से गहन सम्बन्ध होता है और सत्य जीवन की विकासशील प्रवृत्ति है। सत्य यह पृथ्वी है, सत्य इस धरती की सीमाएं हैं, सत्य मनुष्य का संघर्ष है। यथार्थ को अस्वीकार करना सौंदर्य को नष्ट करना है। सौंदर्य को यथार्थ से संघर्ष

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३७
२. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ३४

करना पड़ता है, पुराना रूप खण्डित होता है, नया निर्माण पाता है। इस प्रकार कवि नये स्तरों की अनुभूति पाता है।[1] मानवीय स्तर पर नई कविता न तो वस्तुस्थिति से पलायन करती है और न ही उससे मुक्ति चाहती है। वह मानव-विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके लिए नये स्तरों और सम्भावनाओं को विकसित करती है।[2] इनके महत्त्व को नई कविता स्वीकार करती है। इसमें व्यक्ति की सामाजिक जीवन के साथ स्थापना, कलाकार के अहं के प्रति निष्ठा, मानव-विशिष्टता में विश्वास, जागरूकता तथा बौद्धिक तुष्टि के स्वर ध्वनित होते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा 'तार-सप्तक' के अधिकांश कवियों को नई कविता में रखते हैं। नई कविता में चिन्ता और क्षोभ के स्वर संकटग्रस्त मध्यवर्गीय जीवन की स्थिति का उद्घाटन करते हैं। इस काव्य-प्रवृत्ति तथा काव्य-विकास में कोरी भावुकता का ह्रास तथा बौद्धिकता का विकास, अलौकिकता का ह्रास तथा लौकिकता का विकास, व्यष्टि तथा समष्टि के संश्लेषण का प्रयास, नये सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति, जीवन के प्रति आस्था तथा यथार्थ के प्रति आग्रह, रूप एवं विरूप दोनों की अभिव्यक्ति, व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण आदि विशेषताएं उपलब्ध होती हैं जो इसके वस्तुपक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। इसके शिल्प-पक्ष में प्रतीकवाद, बिम्बवाद, रूपवाद, मुक्त छन्द की गरिमा, अर्थ की लय आदि विशेषताएं इसके वस्तु-पक्ष से प्रभावित हैं। नई कविता में अभिव्यक्ति कहीं दुरूह एवं अस्पष्ट है, कहीं बौद्धिक तो कहीं रागात्मक है, कहीं रसात्मक तो कहीं प्रभावात्मक है, कहीं सांकेतिक तो कहीं अभिधात्मक है। इस प्रकार यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से अनेकरूपात्मक तथा विविधात्मक है जो एक ओर इसकी अव्यवस्था एवं अराजकता की परिचायक है और दूसरी ओर इसके विस्तार एवं विकास की द्योतक है।

१०. गीति-काव्य—उत्तर-छायावादी हिन्दी-काव्य की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त, जिनमें संक्रान्तिकाल की वैयक्तिक कविता और उसके बाद के प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद तथा नई कविता का विवेचन किया गया है, एक अन्य काव्य-धारा का नाम भी लिया जाता है जिसे गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इसके नये गीति-काव्यकारों में विद्यावती 'कोकिल', सुमित्राकुमारी सिन्हा, शान्ति मेहरोत्रा, हंसकुमार तिवारी, गिरिधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज आदि के नाम प्रमुख रूप से तथा अन्य कवियों के नाम गौण रूप से लिये जाते हैं। गीतिकाव्य छायावाद की विशिष्ट देन है जिसमें भाव की गम्भीरता, कल्पना की उत्कृष्टता तथा कला की गरिमा अपनी चरम सीमा को स्पर्श करती है, परन्तु उत्तर-छायावादी काल में जिसने नया मोड़ लिया है और संक्रान्तिकाल में जिसे बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा 'अंचल' आदि ने छायावादी रहस्यात्मक गीतिकाव्य को लौकिक रूप दिया है और उत्तर-छायावादी काल में प्रयोगवादियों तथा प्रगतिवादियों की भांति नये गीतकारों ने नई चेतना को अभिव्यक्ति दी है। इस गीति-काव्य को केवल शैली की दृष्टि से एक स्वतन्त्र काव्य-धारा के रूप में स्वीकार करना अनुचित नहीं जान पड़ता, परन्तु इसके मूल में विचारधारा के आधार पर तथा इसमें व्यक्त वस्तु एवं काव्य-चेतना की दृष्टि से इसे स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना मुझे अनुचित जान पड़ता है। साहित्य की प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का मूलाधार उनको प्रभावित करने वाली जीवन-दृष्टि तथा उनमें व्यक्त चेतना आदि ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यह ठीक है कि नये गीति-काव्य का स्वरूप परम्परागत हिन्दी गीति-काव्य से भिन्न है। इसमें प्रेम नित्य जीवन का प्रेम है। वह न तो तलवारों की छाया में पलने वाला वीरता से उद्भूत है, न ही निर्गुण-सगुण के प्रति आत्मनिवेदन है, न ही अभिसारिकाओं की प्रणय-याचना है और न ही रहस्यलोक को आलोकित करने वाला कोमल भाव है। इसका स्वरूप लौकिक, विश्वसनीय तथा मानवीय है। इसकी विफल स्थिति में निराशा का गम्भीर स्वर है और इसकी सफल अवस्था में उल्लास का सहज स्वर है। इसमें व्यथा की अनुभूति पर विजय पाने की उत्कट आकांक्षा है और दुःख के उन्नयन की प्रवृत्ति है। अधिकांश गीतकारों में मानवता की भावना उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम है जिसमें चिन्तन की गहन मात्रा है। इनमें जीवन की व्यापक उलझनों तथा कठोर संघर्ष के ओज की अभिव्यक्ति की क्षमता इतनी उपलब्ध नहीं होती जितनी कोमल भावनाओं एवं सुकुमार कल्पनाओं के वहन करने की शक्ति दृष्टिगत होती है। गीत प्रायः प्रतीक-प्रधान तथा बिम्बप्रधान है जो

१. नई कविता के प्रतिमान, पृ० १०७
२. नई कविता के प्रतिमान, पृ० ११६

नई चेनता को व्यक्त करने के लिए अधिक उपयुक्त है। जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्यों को मुखरित करने के लिए मुक्त-छन्द का प्रयोग अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। मुक्त छन्द अपनी अराजकता की अवस्था को पार कर चुका है और अब वह स्वयं एक संतुलित लय और संगीत-प्रवाह से युक्त होकर विकास पा रहा है। गीतिकाव्य में मुक्तछन्द रचना छन्दहीन नहीं कही जा सकती। इसे सरल समझकर कोरी गद्य-रचना को मुक्तछन्द रचना की संज्ञा देना अनुचित है। गीतिकाव्य में गहरी अनुभूति एवं सजग चेतना जिस भावोद्गार के वेग को बौद्धिक संतुलन के साथ एक लयमय रूप प्रदान करती है वह मुक्तछन्द का सहज रूप है। मुक्त छन्द ने इन कवियों का पथ नये छन्दों की रचना के लिए भी प्रशस्त कर दिया है। इस प्रकार गीतिकाव्य की धारा एक नया मोड़ लेकर अधुनातन युग-चेतना को व्यक्त करने में प्रयासशील है और इस युग-चेतना का स्वरूप व्यक्ति-यथार्थ तथा सामाजिक-यथार्थ दो मूल प्रवृत्तियों अथवा विचार-धाराओं में लक्षित होता है। नये गीतकारों में तारा पांडे की रचनाओं में वेदना की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति है। नारी की विवशता कहीं त्याग, कहीं उदासी, कहीं अनुताप, कहीं आकुलता, कहीं खीझ और कहीं आंसू का रूप धारण करती है। विद्यावती 'कोकिल' ने वासना को भक्ति का अंग मानकर जीवन से भक्ति का सम्बन्ध स्थापित किया है। भक्ति में निराकार-साकार की समस्या का अभाव है। उनके काव्य में समस्त जीवन की पूजा है और लौकिक प्रेम की अनुभूति है। महादेवी लौकिकता से अपना अंचल बचाकर निकल जाने का प्रयास करती हैं, परन्तु 'कोकिल' लौकिक प्रेम को भक्ति का रूप देती हैं। सुमित्राकुमारी सिनहा अभय होकर लौकिक प्रेम को स्वीकार करती हैं और उनकी विफल अनुभूति में निराशा एवं मरण के स्वर भी झंकृत होते हैं। सिनहा व्यक्तिगत प्रेम से व्यापक प्रेम की ओर उन्मुख होकर उसे शक्ति के रूप में उद्घाटित करती हैं। शान्ति महरोत्रा के गीतों का मुख्य विषय भी प्रेम है जिसका स्वरूप अन्य नये गीतकारों की भांति व्यक्तिगत एवं लौकिक है। इन्होंने प्रेमी में सांसारिकता को देखा है और प्रेमिका में साधना की वृत्ति को आंका है। वह नारी में अगाध सहन-शक्ति का आभास पाती हैं। उनकी दृष्टि में एक सफल कवि के लिए असफल प्रेम की अनुभूति पाना आवश्यक है। हंसकुमार तिवारी के गीत-संग्रह 'अनागत' में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से छायावादी काव्य की विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। बालस्वरूप 'राही' के गीतों में जीवन के सुख-दुःख की सहज एवं सरल अभिव्यक्ति है। रामावतार त्यागी गीत को संगीत से पृथक करने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा गीतकार महानतम भावों को सरलतम शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता रखता है। ललित गोस्वामी ने अपने गीतों की रचना गेयता की दृष्टि से की है जिनमें स्वर के आरोह-अवरोह का आधार भारतीय संगीतशास्त्र है। वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में चिन्तन भी उभर कर आया है। शम्भुनार्थासिंह का गीति-काव्य में विशिष्ट स्थान है। उनके गीत-संग्रह 'छाया लोक' में छायावादी काव्य की विशेषताएं उपलब्ध होती हैं। इस काव्य-संग्रह में उनके व्यक्तिगत जीवन के भाव-अभाव, आशा-निराशा, संयोग-वियोग, आनन्द-वेदना के गीत स्वरित हुए हैं और 'उदयाचल' (१९४६) में सामाजिक जीवन के धरातल पर व्यक्तिगत जीवन के विश्वास तथा समष्टिगत जीवन की प्रेरणा तथा प्रगति की भावनाएं स्वरों में लहरा उठी हैं। वह अपनी काव्य-चेतना को किसी वाद-विशेष की सीमा में बांधने के विरोधी हैं। 'दिवालोक' के गीतों में कवि के वैयक्तिक सुख-दुःख, हास-रुदन की अभिव्यक्ति है, परन्तु कवि अपनी वैयक्तिक चेतना की सीमाओं से संघर्ष करता हुआ लोक-चेतना को आत्मसात करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार गीति-काव्य की धारा विविध भाव-भूमियों को पार करती हुई विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित हो रही है। इस नये गीति-काव्य को स्वतन्त्र काव्य-प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार न कर समस्त उत्तरछायांवादी काव्य को मूलतः गीति-काव्य की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। परन्तु यह धारणा गीति-काव्य के स्वरूप तथा उसकी परिभाषा पर ही आश्रित है। यदि गीति-काव्य से आशय उस काव्य से है जो कथात्मक न होकर मुक्तक है तो इस मत को स्वीकार करने में संकोच न होगा। परन्तु गीति-काव्य को एक सीमित परिधि में बांधकर उसे एक उपकाव्य-धारा के रूप में आंकना उपयुक्त जान पड़ता है। उत्तरछायावादी काल में गीति-काव्य में वस्तु-पक्ष प्रायः अलौकिक से लौकिक की ओर, आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख रहा है। इसे अधिकाधिक मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जा रहा है और इसमें बौद्धिकता के अनुपात की भी वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार प्रस्तुत निवन्ध में उत्तरछायावादी काव्य की प्रवृत्तियों को समझने तथा स्पष्ट करने का प्रयास है। इनके पक्ष तथा विपक्ष में आचार्यो, आलोचकों तथा स्वयं कवियों ने अपने-अपने मतों का प्रतिपादन करने के लिए काव्य की मूल समस्याओं को भी उठाया है। भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर इन काव्य-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी किया गया है। इस मूल्यांकन के मूल में दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएं दृष्टिगत होती हैं—एक जीवन-दृष्टि व्यक्ति-हित के चिन्तन से अनुप्राणित है और दूसरी समाज-कल्याण की विचारधारा से प्रभावित है। प्रयोग, प्रगति, परम्परा, रूढ़ि, साधारणीकरण रागात्मकता, अभिव्यक्तिवाद, संगीतात्मकता, लयात्मकता, बौद्धिकता, रसवादिता आदि काव्य-सम्बन्धी तत्त्वों का विश्लेषण, विवेचन तथा मूल्यांकन इन दो मूल दृष्टियों के आधार पर सम्पन्न हुआ है। इनमें मतभेद की स्थिति भी इन दो परस्पर-विरोधी जीवनदृष्टियों का परिणाम है। प्रयोग तथा प्रगति की सत्ता तथा महत्ता को दोनों पक्ष स्वीकार करते हैं, परन्तु परम्परा के सम्बन्ध में इनकी धारणाओं में अन्तर गहराने लगता है। रूढ़ि का भी दोनों विरोध करते हैं। व्यक्ति-हित से सम्बद्ध विचारधारा से प्रभावित होकर साधारणीकरण की समस्या को विशेषीकरण का रूप देकर इसे काव्य में प्रेषणीयता की समस्या के रूप में उद्घाटित करते हैं, रागात्मकता से भाव-प्रवणता का बहिष्कार कर उसे बौद्धिकता से युक्त करते हैं, संगीतात्मकता एवं लयात्मकता को वाह्यारोपित न मानकर उसे आन्तरिक स्वरूप प्रदान करने में विश्वास रखते हैं और परम्परा को प्रायः रूढ़ि के रूप में आंक कर उससे सम्बन्ध तोड़ देने के पक्ष में हैं। समाज-मंगल की भावना से प्रेरित होने वाले आलोचक परम्परा से अटूट सम्बन्ध स्वीकार कर जन-मन से विभिन्न होने के पक्ष में नहीं हैं। इसी कारण आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी नई कविता में वस्तुमुखी या सामाजिक सत्ता का अभाव और युग-जीवन के प्रति विरक्ति पाते हैं। उनका मत है कि साधारणीकरण के मूल में सामाजिक एवं सामूहिक संवेदना ही होती है। नई कविता को वह हिन्दी-काव्य की नई शैली के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी समाज-कल्याण की भावना से प्रभावित होकर व्यक्तिवाद से अनुप्राणित छायावादी काव्य को भी शैलीमात्र की संज्ञा प्रदान की थी। परन्तु धीरे-धीरे आचार्य नन्ददुलारे ने छायावादी काव्य की उपलब्धियों को स्वीकार किया और उनका मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया। इसी प्रकार उत्तरछायावादी काव्य की प्रवृत्तियों की समीपता के कारण उनका मूल्यांकन अधिक सहानुभूति तथा निष्पक्षता की अपेक्षा रखता है। उत्तर-छायावादी युग में संक्रान्तिकाल से लेकर आज तक जिन काव्य-प्रवृत्तियों का प्रतिपादन हुआ है उनके मूल में व्यक्ति-सत्य तथा समाज-सत्य की दो परस्पर-विरोधी धाराएं लक्षित होती हैं और इनके आधार पर ही हिन्दी की काव्य-प्रवृत्तियों का वर्गीकरण समीचीन जान पड़ता है। इन दो मूल जीवनदृष्टियों के अन्तर को पाटने के लिए राजनीति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में अनेक प्रयास हो रहे हैं, परन्तु अभी तक पारस्परिक विरोध की स्थिति समन्वयशील न होकर सह-अस्तित्व की ओर उन्मुख है। भारतीय समाज में व्यक्ति-हित तथा समाज-मंगल को समन्वित करने के लिए विविध प्रयोग हो रहे हैं जिनके भावी विकास पर किसी निश्चित मत को प्रकट करना ज्योतिषी, मनीषी अथवा आचार्य को अधिक शोभा देता है। इसमें सन्देह नहीं है कि अधुनातन काव्य-प्रवृत्तियों में युग-चेतना को अभिव्यक्ति अवश्य मिली है, उसका स्वरूप भले ही विशिष्ट एवं परिमित हो। उत्तरछायावादी काव्य की इन दो मूल प्रवृतियों के संदर्भ में काव्य की अन्य उप-प्रवृत्तियों को आंकने से उनका मूल्यांकन अधिक युक्तिसंगत तथा स्पष्ट हो सकता है।

साहित्य की प्रतिक्रिया

डा० देवराज उपाध्याय

किसी भी रचना के सम्वन्ध में कितने ही तरह के मतभेद हो सकते हैं परन्तु इससे सभी सहमत होंगे कि पाठक पर उसका प्रभाव पड़ता है, उसमें किसी तरह की प्रतिक्रिया जगती है और वह एक विशेष ढंग से प्रतिक्रिया-तत्पर होता है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' ने हृदय में प्रेम और भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित कर दी, सूर के 'भ्रमरगीत' ने पाठक को विरह-रस से आर्द्र कर दिया और विहारी की शृंगारिक फुहारों ने हृदय को मह-मह कर दिया, भूषण के उद्वोधनों ने डूबते प्राणों में भी वीर-रस का संचार किया। तुलसी ने भक्तिपरक कविता की, पाठक ने भक्ति के भाव ग्रहण किए; सूर ने शृंगार (विप्रलम्भ) का रस-राजत्व दिखलाया, पाठक को विरह-रसास्वादन मिला; विहारी ने शृंगार काव्य लिखा, पाठक को शृंगार रस मिला; भूषण ने युद्ध के गीत गाए, पाठक में वीरत्व के भाव जगे।

इन सव उदाहरणों से हम किस परिणाम पर पहुंचते है? यही न, कि जिस तरह का वर्ण्य विषय होगा उसमें अपने अनुरूप प्रतिक्रिया जगाने की शक्ति होगी। अमुक भांति का विषय, अमुक भांति की प्रतिक्रिया। ठीक उसी तरह से जिस तरह विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्र में उत्तेजक वस्तु (Stimulus) तथा प्रतिक्रिया (Response) वाला सिद्धान्त काम करता है। विल्ली ने चूहे को देखा, झपट पड़ी। यहां चूहा उत्तेजक पदार्थ का काम करता है, झपट पड़ना प्रतिक्रिया है। Respons है जो विल्ली में जागरित होती है। कविता को चूहे के स्थान पर रख लीजिए, पाठक को विल्ली के स्थान पर। बस, जिस साहित्यिक प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में हम विचार कर रहे है वह वात स्पष्ट हो जायगी।

आज का युग यंत्रों का युग है। अधिकांश मानव-व्यापार और व्यवहार यन्त्रों के द्वारा परिचालित होते है। यन्त्र के द्वारा गृह को आलोकित किया जाता है, उसे साफ-सुथरा किया या वुहारा जाता है। हमारा भोजनाच्छादन, अध्ययनाध्यापन, गमनागमन, आदान-प्रदान सव कुछ यन्त्राधीन है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की बुद्धि अथवा मस्तिष्क की प्रतिक्रिया पर भी यन्त्रों का प्रभाव पड़े और वह यन्त्रों के सन्दर्भ में सोचने लगे तो आश्चर्य की वात नहीं। आपने किसी यन्त्र में कपड़े डाल दिए, सिला-सिलाया तैयार सूट आपके सामने आ गया; मशीन में आपने लोहे के टुकड़े रखे और वना-वनाया लोहे का वर्तन तैयार। तव हम यदि यह सोचने तथा विश्वास करने के लिए तत्पर हो, जाएं कि युद्ध-विरोधी साहित्य, अर्थात उस साहित्य से जिसमें युद्ध का वड़ा ही भयावह चित्रण किया गया हो युद्ध-विरोधी भावों का प्रचार होगा, शान्ति-पाठ से शान्ति उत्पन्न होगी, क्रान्ति से क्रान्ति, प्रेम-चित्रण से प्रेम, घृणा से घृणा, तथा ईर्ष्या से ईर्ष्या की उत्पत्ति होगी तो यह अस्वाभाविक ही कहा जा सकता है। मनुष्य को मशीन वना देने की तथा उसे यन्त्रवत प्रतिक्रिया-तत्पर होते देखे जाने की प्रतिक्रिया कई शताब्दियों से चल रही है उसे हम Sitmulus और Response की सीमा में देखने लगे है।

पर वास्तव में प्रश्न यह है कि मानव पर क्या इस सस्ते तथा सरल ढंग से विचार करना भी होगा? क्या वह इतने सीधे-सादे ढंग से परिचालित होता है कि वटन दवाया और रोशनी जल गई? यदि एक क्षण के लिए यह मान भी लें कि वह ऐसा ही सीधा-सादा तथा भोला-भाला प्राणी है और व्यावहारिक जगत में वह इसी तरह आचरण करता है तव भी प्रश्न यह उठता है कि साहित्यिक जगत में प्रवेश करने पर भी वह साधारण सांसारिक व्यक्ति ही वना

रहता है ? क्या साहित्यिक जगत और साधारण संसार में कोई अन्तर नहीं ? व्यक्ति और पाठक एक ही है ? बाजार से सौदा खरीद कर लाने वाले, पेट काटकर एक-एक पैसा जोड़कर बैंक-बैलेंस बढ़ाने वाले, ईंट का जवाब पत्थर से देने वाले और कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' पढ़ने वाले में या महादेवी वर्मा की कविता पर सर धुन-धुन कर रोने वाले में कोई अन्तर नहीं ?

इस प्रश्न की ओर हमारा ध्यान हठात इसलिए भी आकर्षित होता है कि जब हम विश्व-साहित्य की अमर तथा प्रभावोत्पादक एवं मानव की भावात्मक सत्ता पर सर्वाधिक अधिकार करने वाली कृतियों को देखते हैं तो पाते हैं कि वे दुःखान्त हैं, Tragedies हैं, उनमें नायक का पतन है मानो प्रकाश पर अन्धकार की विजय हो। हां, सुखात्मक कृतियां भी हैं, Comedies भी हैं जिनमें उल्लास के गीत गाये गए हैं, प्रणयोच्छ्वास की कथाएं कही गई हैं ? हमें गुदगुदाने की चेष्टा की गई है, जीवन के सुखमय तथा उज्ज्वल पक्ष का ही चित्रण किया गया है। पर ये प्रभाव की दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रही हैं और लोगों के हृदय की गम्भीर तृप्ति के साधन बनने का गौरव नहीं प्राप्त कर सकी हैं। यह विरोधाभास कैसा ? लोगों को कहते तो यही सुना है **'रोपें पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय'**। पर हम बबूल का पेड़ रोपते हैं और उसमें आम का फल लगता है; वह करुणा जो भवभूति से अधिक मूल्य नहीं रखती उसका उत्तर विश्व की विभूति बन जाता है। जीवन की जुगुप्सा साहित्य में आकर रस का उद्रेक करने वाली किस तरह हो जाती है ?

इस प्रश्न पर इस ढंग से विचार कीजिए। हमें युद्ध-विरोधी साहित्य का प्रणयन करना है। हम चाहते हैं कि ऐसी कहानी की रचना करें या कविता लिखें जिसे पढ़कर पाठक में युद्ध के प्रति घृणा उत्पन्न हो और लोग अपनी मनोवृत्तियों को विश्व-शान्ति की ओर केन्द्रित करें। हमें क्या करना चाहिए ? अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए क्या यह ठीक होगा कि युद्ध की विभीषिका का उग्र वर्णन उपस्थित किया जाय ? इसके द्वारा जो जन-धन की अपार क्षति होती है उसका भयावह चित्रण किया जाय ? हिरोशमा तथा नागासाकी का जीता-जागता चित्र खींचकर रख दिया जाए ? क्या ऐसा करने से हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे ? युद्ध का दूसरा पक्ष भी होता है। युद्ध के कारण हमारे अंदर प्रसुप्त वीरत्व के भाव जाग पड़ते हैं, देश, जाति, राष्ट्र तथा किसी सिद्धान्त के लिए सर्वस्व की आहुति कर देने की प्रवृत्ति भी जागृत होती है, संगठन में दृढ़ता आती है, एकता की भावना बढ़ती है, हम अनुशासन का महत्त्व सीखते हैं। इस रूप को भी अपने वर्णन में स्थान दिया जाय तो क्या पाठक में युद्ध के प्रति आकर्षित होने तथा उसमें युद्धप्रियता के भाव उत्पन्न होने की सम्भावना है ? युद्ध का मानवीय वर्णन क्या पाठकों में युयुत्सा के भाव उत्पन्न करेगा ?

इसका दो-टूक उत्तर देना कठिन है। पर यदि कोई यह कहता है कि युद्ध के दुर्धर्ष तथा लोमहर्षक वर्णन से युद्ध के प्रति आसक्ति के भाव उत्पन्न होने की आशंका है तो हम उसमें निहित सचाई के प्रति उदासीन नहीं हो सकते। यह बात युद्ध ही के लिए नहीं, सब तरह के भावों के लिए लागू हो सकती है। कम-से-कम यह तो सही है ही कि किसी भी विषय की भीषणता, कष्टप्रदायकता तथा पीड़ोत्पादकता में नैसर्गिक रूप से तद्विरोधत्व या तद्बाधकत्व रहता है। इस सिद्धान्त को ठीक मानने में कई तरह की अड़चनें हो सकती हैं।

पहली बात तो यही है कष्ट और पीड़ाएं पाठक के हृदय में वीरता के भावों के लिए आधार प्रस्तुत कर सकती हैं। यह साधारण सी बात है कि वीरगण अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए बड़े-से-बड़े बलिदान के लिए तैयार रहते हैं, कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का सामना करते हैं, देशभक्ति के उन्माद में हमने स्वयंसेवकों को पुलिस की संगीनों को हँसते-हँसते छाती पर लेते देखा है। अर्थात, समीकरण यह हुआ कि जितना ही अधिक कष्ट, बलिदान और पीड़ा; उतनी ही बड़ी वीर-जयमाला। वीर को कष्ट सहना पड़ता है इस सिद्धान्त से जरा-सा खिसक कर इस सिद्धान्त पर आ जाना कठिन नहीं कि जो कष्ट सहता है वह वीर है। अतः वीर कष्ट से डरे क्यों ? ठीक है, युद्ध में कष्ट उठाना पड़ता है, जन-धन-संहार होता है, नगर-के-नगर उजाड़ हो जाते हैं। तो इससे क्या ? इश्क में लाखों-हजारों बस्तियां फुंक जाती हैं। आशिक शायद ही कभी फूलता-फलता हो पर इससे क्या, वह अपने प्रेमपथ से विचलित होगा ? नहीं।

मैं एक सच्ची घटना बताऊं। मैं बहुत ही कायर व्यक्ति हूं मैं सदा यही सोचता हूं कि यदि विपत्तियां सामने

आकर खड़ी होजाएं तो क्या करूंगा ? दुम दवा कर भाग जाऊंगा या डटकर उनका सामना करूंगा ? मैं जब कांग्रेस में काम करता था और कभी-कभी जब सरकार-विरोधी भाषण देता था तो यही सोचता था कि पुलिस गोली चलाने लगे तो क्या होगा ? इसी तरह की दोलायमान चित्तवृत्ति में मैंने अपने एक आर्यसमाजी और कांग्रेसी मित्र से अपनी बात कही और पूछा कि कृपया बतलाइए, कि इस परिस्थिति में आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी ? उत्तर में उन्होंने जो कहा, वह आज भी मेरे कानों में गूंज रहा है। उन्होंने कहा कि जब तक विपत्ति नहीं आई रहती है, पुलिस की बन्दूक नहीं उठी रहती है तब तक तो चित्त जरा चंचल रहता है जरूर; पर जब भय की सामग्री सामने आ खड़ी होती है तो चित्त स्थिर हो जाता है, उस समय कोई विकल्प नहीं रह जाता। बस, भय के मुख को पकड़ने की ही बात रह जाती है।

इन बातों को जब मैं आज अपने स्मृति-पटल पर लाता हूं तो दो कविताएं बरबस याद आ जाती हैं : एक संस्कृत का श्लोक है और दूसरा उर्दू का एक शेर। संस्कृत का श्लोक यों है:

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम्॥

उर्दू का शेर यों है:

रग-रग तड़प रहा है नया रंग देखकर,
कातिल भी है, छुरी भी है, मेरा गला भी है।

बातें तो और भी याद आती हैं जिनमें एक यह भी है कि जब खुदीराम बोस फांसी के तख्ते पर चढ़ रहे थे तो प्रसन्नता के कारण उनके शरीर के भार में अभिवृद्धि हो गई थी।

इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत समस्या पर विचार करें तो क्या ऐसा अनुमान नहीं होता कि मनुष्य में कष्ट सहने की, दुःख से उलझने की, दुख को पछाड़ कर विजय-सुखानुभूति प्राप्त करने की नैसर्गिक आकांक्षा होती है और वह अपना भोजन मांगती है ? क्या शिवजी हलाहल को प्रसन्नतापूर्वक नहीं पी जाते हैं, गले में सर्पो तथा कबन्धों की माला धारण करके आनन्दित नहीं होते हैं, श्मशान-भूमि में रुण्ड-मुण्डों से क्रीड़ा नहीं करते एवं ताण्डव कर प्रलयंकर नहीं बन जाते ? तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि किसी वस्तु का भयावह चित्रण कर, उसकी विभीषिका दिखला कर, रक्त की नदियां बहा कर हम पाठक के हृदय में भय का संचार कर देंगे, उसके हृदय में घृणा-विराग के भाव उत्पन्न कर देंगे। ऐसा भी मान लेने के लिए पर्याप्त अवसर हैं कि जिस विभीषिका को खून में रंग कर हम लाल कर रहे हैं वह इतना चमक उठे कि उसमें रस पड़ जाय और आपको वह अपनी ओर खींचने लगे।

इस पहलू पर विस्तारपूर्वक तो एक क्षण बाद विचार होगा; पर इस दृष्टि से भी क्यों न सोचें कि किसी विषय का अतिचित्रण, **रसस्य युवितः पुनः पुनः** मानसिक कुण्ठा भी उत्पन्न कर सकती है, बुद्धि की धार को भोथर भी कर सकती है। मानस की वह दशा कर दे सकती है कि वह वर्णित विषय के प्रति उदासीन हो जाय और उसके प्रति किसी प्रकार का क्रिया-तत्परत्व उसमें आ ही नहीं सके। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉमस हार्डी के प्रसिद्ध उपन्यास Tess of the D' Urbervilles को लीजिए। टेस पर मानों खुदा की मार है। वह जन्मजात अभागिन है। जहां कहीं भी जाती है वहां दुर्भाग्य उसका पीछा करता है। ऐसा लगता है कि नियति ने उसे इसीलिए निर्मित किया है कि उसके साथ दारुण तथा लोमहर्षक खेल खेला जाय। हम एक बार देखते हैं कि वह विपत्तियों का शिकार हुई, हमें उसके साथ सहानुभूति होती है। पर जब हम बार-बार उसे विपत्तियों में पड़ते देखते हैं, उसने सुवर्ण का स्पर्श किया नहीं कि मिट्टी बन गया, तब हममें एक मनोवैज्ञानिक औदासीन्य (Psychological Callus) आ जाता है। हम कहां तक सहानुभूति दें ! यदि वह इसी के लिए बनी है तो हम क्या करें ! ऐसी मनोवृत्ति हो जाती है। एक बार भी भाग्य ने टेस का साथ दिया होता तो बात भी थी।

जैनेन्द्र ने **'त्यागपत्र'** में किसी की डायरी हाथ लग जाने की बात कही और विश्वास दिलाया कि उस डायरी को जरा सम्पादित कर वह प्रकाशित कर रहे हैं, तो बात समझ में आई और पाठकों ने उसे सत्य समझ कर उस पर विश्वास भी किया। पर बार-बार जब वही बात होने लगी, **कल्याणी** में भी वही बात, यहां तक कि आगे **जयवर्धन** में भी

वही बात, तो पाठकों के लिए इस भ्रम के जाल को तोड़ना सहज हो गया और अब उनमें इस तरह के कौशल के प्रति उदासीनता आ गई।

मान लीजिए कि कोई कवि युद्ध-विरोधी अथवा पूंजीवाद-विरोधी महाकाव्य लिख रहा है; यह निश्चित है कि उसे बाध्य होकर युद्ध की दारुणता, महानाश, प्रलयंकरता का अतिमात्रिक चित्रण करना ही पड़ेगा। वह इससे पीछा छुड़ा ही कैसे सकता है जब वह उसी के लिए प्रतिश्रुत है। पूंजीवादी शोषण के भयानक दृश्यों का चित्रण करना ही पड़ेगा। लेखक के बावजूद भी उसकी कलात्मक प्रतिभा का एक वृहद भाग दूसरी ओर प्रेरित होगा। जब ऐसी बात अनिवार्य है तो यह भी सही है कि उस वर्णन में एक शक्ति होगी, आकर्षण होगा, उसमें अपील होगी, वह आमन्त्रित करता-सा जान पड़ेगा और पाठक के हृदय में वह भाव जगेगा जिसे भयंकरता के प्रति मोह (Fascination for ugliness) कह सकते हैं। हमने देखा है कि सांप कितने भयंकर होते हैं, पर उनके व्यवहार से ऐसा भी लगता है कि उनकी भयंकरता में पक्षियों को सम्मोहित करने की शक्ति भी होती है। दीपक की लौ कितनी गर्म होती है, जला देने वाली होती है पर उसमें सम्मोहन भी होता है जो परवानों को अपनी आहुति देने के लिए प्रेरित करता है।

साहित्य के क्षेत्र में ऐसी घटनाएं न घटी हों सो भी बात नहीं। मिल्टन के पाठकों से यह बात छिपी नहीं है कि वे साहित्य के द्वारा, विशेषत: Paradise lost तथा Paradise Regained के द्वारा शैतान पर धार्मिकता की विजय का निर्घोष करना चाहते थे; पर साहित्य में कुछ एसी रहस्यमयी क्रिया हुई है कि शैतान अपनी शैतानियत की विकरालता एवं दुर्धर्षता के साथ, बल्कि उसी के कारण, आकर्षक बन बैठा है। कौन नहीं जानता कि शेक्सपियर ने शाइलक को कितना गिराना चाहा है, कितनी गहरी काली स्याही उस पर पोतनी चाही है। पर यह जो शाइलक है, वह शेक्सपियर के चंगुल से किसी-न-किसी प्रकार निकलकर पाठक की सहानुभूति पर अधिकार करने लगा है। विद्यार्थियों को न जाने कितनी बार Shylock was more sinned against than sinning ? इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ा होगा। अर्थात, शाइलक उतना अपराधी नहीं जितना कि उसके विरुद्ध अपराध किया गया है।

प्रेमचन्द **'गोदान'** में अपनी सारी सहानुभूति **होरी** को देना चाहते थे, पर बात कुछ ऐसी हुई कि **मालती** का चित्रण अधिक सरस हो उठा और वह चोरी-चोरी दबे-पांव आकर पाठक की सहानुभूति की अधिकारिणी हो उठी। चूंकि **मालती** जिस अधिकार का दावा पेश करती है उसमें एक कौशल है, सफाई है, तर्जे-अदा है, अत: उसमें व्यंग्य या ध्वनि का मजा है। **होरी** में वाच्यार्थ है तो मालती में व्यंग्यार्थ है। **मालती** अपने अधिकार को व्यंग्यत्व की दशा तक पहुंचा देती है, **होरी** में तो ज्यादा गुणीभूत व्यंग्य ही है। **मालती** अधिकार के लिए लड़ती तो है पर हाथ में तलवार नहीं लेती है इसीलिए इसकी सादगी पर मर जाने की इच्छा हो जाती है। **होरी** तो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो प्रेमचन्द के नेतृत्व में सेना लेकर हमारे हृदय की सहानुभूति पर धावा बोलता है।

मनुष्य के स्वभाव में ही विरोधाभास रहता है। उसके भीतर सदा ही दो विरोधी प्रवृत्तियों में संघर्ष चला करता है। वह जिसे प्यार करता है उसके प्रति घृणा के भाव भी इसमें कहीं-न-कहीं पलते रहते हैं। वह आंखों में आंसू भरकर हँसता है और खिल-खिलाकर रोता है। इस विरोधाभास को हम एक भूल, गलती, त्रुटि या दोष कह कर ही सन्तोष नहीं कर ले सकते। यह उसकी जैविक अनिवार्यता है, Biological necessity है। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जिस तरह से उन्हें निसर्ग से अन्य प्रवृत्तियां मिली हैं, उसी तरह यह भी उनमें से एक है।

यही देखिए न ! प्रकृति ने हमें उन सब साधनों से सम्पन्न किया है जिनसे हम सुरक्षित रह सकें; सर्वप्रयोजन-मौलिभूत आनन्द को प्राप्त कर सकें, शिशिर ऋतु में भी बिस्तर पर पड़े-पड़े लिहाफ की गरमी का मजा ले सकें। पांच ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां सब हमारे सुखसम्पादन में सहायता देने के लिए प्रस्तुत हैं। ये हमारे लिए वरदान-स्वरूप हैं। पर प्रकारान्तर से अभिशाप भी हैं। कारण कि इनका अस्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि इन साधनों के प्रयोग के लिए क्षेत्र चाहिए। इसका अर्थ यह होता है कि इन साधनों के चलते ही, इन्हीं के कारण ही हमारे अन्दर एक संघर्ष, युद्ध, छटपट, त्वरा, यह कर, वह कर सदा चलता रहेगा। जब तक यह हलचल बनी रहेगी तब तक हमें कहां शान्ति, कहां चैन की सांस ! भूत तो हमारे बस में हो गया है अवश्य और वह ऐसा शक्ति-सम्पन्न है कि हमारे मुंह से कोई आज्ञा

निकली नहीं कि-उसने पूरी करके दिखला दी। पर उसे तो काम चाहिए। काम नहीं होगा, वह व्यस्त नहीं रहेगा तो व्यक्ति को ही खाएगा। अतः कम-से-कम उसे काम देने की, व्यस्त रखने की ही चिन्ता हमें खाती रहेगी। कहां हमने भूत को इसलिए वस में किया था कि हमें सुख होगा, पर वही दुःख का कारण हो गया। यही मानव है और उसका जीवन विरोधों का पुंज ! !

हम उन विरोधों में से किसी को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देख सकते। ये विरोध हमारे जीवन के मूलाधार हैं, इनमें से हम किसी को छोड़ नहीं सकते। और यदि इन्हें जीवन में नहीं छोड़ सकते तो साहित्य में ही कैसे छोड़ सकते हैं, जो जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करता है।

तब साहित्यिक क्या करे ? यदि युग के श्यामल, ध्वंसकारी, जुगुप्साजनक चित्रण उपस्थित करने से उसके प्रति अनुराग होने तथा पाठक में युद्ध-मनोवृत्ति के उत्पन्न होने की सम्भावना है, तो क्या यह भी सम्भव है कि युद्ध के प्रति नये दृष्टिकोण रखने, अर्थात उसके कोमल चित्र खींचने से, उसके दिव्य तथा उन्नत पहलू दिखलाने से, उसका गुणानुवाद करने से युद्ध के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो और हमें शांति के उपासक होने में सहायता मिले। यदि युद्ध के मानवीय पक्ष को दिखलाया जाय, युद्धजन्य परिस्थितियों के कारण पारस्परिक संगठन की भावना का विकास दिखलाया जाय, कष्टसहिष्णुता की अभिवृद्धि की बात कही जाय, आत्मशक्ति और पौरुष का चमत्कार दिखलाया जाय तो पाठक पर कैसा प्रभाव पड़े ?

जो हो, इतना अवश्य है। ऐसे साहित्य के द्वारा युद्ध-जैसी दुर्धर्ष तथा भयंकर वस्तु के प्रति भी एक शांतिमय दृष्टिकोण से देखने की प्रवृत्ति जगेगी। हम युद्ध को भी सांस्कृतिक दृष्टि से देखना सीखेंगे। इस सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। हम युद्ध के वातावरण में भी शांति की झलक पायेंगे मानो अंधकार में प्रकाश की रेखा चमक रही हो। और जब अन्धकार में प्रकाश की रेखा चमकेगी तब वह प्रकाश की बाढ़ में छिप जाने वाली रेखा से कहीं अधिक प्रभावोत्पादक होगी। हम में आलोचनात्मक मूल्यांकन के भाव जगेंगे और साथ ही हृदय में इस बात की ध्वनि उठेगी कि मानवता की सच्ची सेवा शांति के साधनों से ही होगी, युद्ध के उपादानों से नहीं।

शांति यदि युद्ध से श्रेष्ठ है, उच्चतर है, अधिक वांछनीय है तो इसका सबसे अधिक प्रामाणिक आधार इसी बात से दे सकते है कि इस युद्ध के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण शांतिपूर्ण है, विद्वेषयुक्त या घृणापूर्ण नहीं। बिच्छू डंक मारता जाय, पर साधु उसकी रक्षा से मुख नहीं मोड़ेगा। इस तरह साधुता को डंक पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। कम-से-कम साधुता का स्वरूप तो निखर कर सामने आयेगा। यदि बिच्छू के डंक की चोट लगते ही साधु भी बिच्छू के डंक को तोड़ने के लिए तत्पर हो जाय, तो कहां गई साधुता ? बिच्छू डंक-हीन होने से भले रह जाय, पर साधु की साधुता की भद्द तो उड़ ही जायगी।

इस सम्बन्ध में एक विचारक की उक्ति बड़ी ही उपयोगी है : Let the war be put forward as a cultural way of life, as one channel of effort in which people can be profoundly human and you induce in the reader the fullest possible response to war, precisely such a response as might best lead one to appreciate the preferable ways of peace. 'अर्थात, आप एक काम करें। युद्ध का वर्णन इस ढंग से करें मानो वह हमारे सांस्कृतिक जीवन का अंग हो, एक ऐसा व्यापार हो जिसमें मानवीय गुणों का अधिकाधिक विकास करने का अवसर मिले। परिणाम यह होगा कि मनुष्य में युद्ध के प्रति पूर्ण प्रतिक्रिया-तत्परत्व जगेगा। और वह प्रतिक्रिया ऐसी होगी जो मनुष्य में जीवन के शांतिमय उपायों के प्रति अभिरुचि जागृत करेगी।'

साहित्यिक प्रतिक्रिया के इस पहलू पर विचार करते समय अर्थात युद्ध या किसी भी विषय पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानव के नैसर्गिक विरोधाभास की बात करते समय वर्ड्सवर्थ के विचार याद हो आते हैं जो उसने कविता और छन्द के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रगट किये हैं। उसका कथन है कि काव्य का ध्येय ऐसी उत्तेजना उत्पन्न करना है जिसमें आनन्द का पुट अत्यधिक है। पर उत्तेजना तो मानस की असाधारण या विषम अवस्था मानी जाती है। इस अवस्था में विचार और भाव किसी प्रशस्त मार्ग का अनुसरण नहीं करते। यदि उत्तेजना को उद्दीप्त करने वाले अति

सशक्त चित्रों एवं भावों के कारण अनुपात से अधिक वेदना का पुट आ गया तब इस बात का भय है कि उत्तेजना का रूप अपनी उचित सीमा को लांघ जाय। परन्तु यदि वहां कुछ ऐसी चीज का समानाधिकरणत्व हो जो नियमित है, जिससे मानस की विविध अवस्थाएं कम उत्तेजना के अवसरों पर परिचित हैं तो इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि साधारण भावों के मिश्रण के कारण, उत्तेजना से असम्पर्कित भावों के कारण उत्तेजना संयमित होगी, यह निर्विवाद सत्य है। अतः यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर यह विरोधाभास-सा भले ही मालूम पड़े, पर इसमें किसी भी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं कि छंद के कारण भाषा की वास्तविकता कुछ अंश में मुड़ जाती है और सारी रचना के ऊपर वास्तविक सत्ता की अर्द्धचेतना छा जाती है तथा अधिक कारुणिक अवस्थाएं और भावनाएं जिनमें वेदना का अंश ज्यादा है वे छन्दोबद्ध, विशेषतः तुकान्त काव्य में, गद्य से अधिक सहनीय हो सकती हैं।



अनुसंधान और आलोचना

डा० नगेन्द्र

यों तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु हिन्दी में इसका पारिभाषिक रूप पिछले दो दशाब्दों में ही स्थिर हुआ है। आज इसका प्रयोग अंगरेजी-शब्द 'रिसर्च' के पर्याय रूप में होता है। और एक विशेष प्रकार की प्रविधि एवं उपलब्धि इसके साथ नियमित रूप से सम्बद्ध हो गई है। लक्ष्य-भेद से अनुसंधान के स्थूलतः दो भेद किए जाते हैं : सोपाधि और निरुपाधि। वस्तुतः यह विभाजन सर्वथा स्थूल है। अनुसंधान के प्रयोजन, प्रक्रिया एवं उपलब्धि की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अर्थात, उपाधि तो केवल एक आनुषंगिक तथा व्यावसायिक सिद्धि है। उससे अनुसंधान की आत्मा उपाधि-ग्रस्त ही होती है, इसीलिए उसके लिए 'सोपाधि' विशेषण उपयुक्त ही है। फिर भी हम सभी सोपाधि ब्रह्म के ही रूप हैं, अतः अपने आवरण के अन्तर्गत उपाधि-सापेक्ष्य रूप ही हमारे विवेचन का उचित विषय बन सकता है।

उपाधि-सापेक्ष्य अनुसंधान के लिए प्रायः निम्नलिखित उपबन्धों का विधान है :

(१) इसमें (अनुपलब्ध) तथ्यों का अन्वेषण अथवा (उपलब्ध) तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन रूप में आख्यान होना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में यह ग्रन्थ इस बात का द्योतक होना चाहिए कि अभ्यर्थी में आलोचनात्मक परीक्षण तथा सम्यक निर्णय करने की क्षमता है। अभ्यर्थी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि उसका अनुसंधान किन अंशों में उसके अपने प्रयत्न का परिणाम है, तथा वह विषय-विशेष के अध्ययन को कहां तक और आगे बढ़ाता है।

(२) निरूपण-शैली आदि की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का रूप-आकार संतोषप्रद होना चाहिए जिससे कि इसे यथावत प्रकाशित किया जा सके।

—(आगरा यूनिवर्सिटी पी-एच० डी० नियमावली)

आगे चलकर डॉक्टर ऑफ लैटर्स के प्रसंग में भी प्रायः इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख है। केवल एक बात नई है, वहां 'विषय के अध्ययन को और आगे बढ़ाने' के स्थान पर 'ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार' अपेक्षित माना गया है। डी० लिट० की उपाधि की गुरुता को देखते हुए यह उपबन्ध उचित ही है। अन्य विश्वविद्यालयों के नियमों में भी लगभग ये ही शब्द हैं। इस प्रकार विश्व-विद्यालय-विधान के अनुसार अनुसंधान के तीन तत्त्व हैं :

१—अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण

२—उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों का नवीन आख्यान (पुनराख्यान),

३—ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार, अर्थात मौलिकता;

इनके अतिरिक्त एक तत्त्व (चतुर्थ) और भी अपेक्षित है और वह है सुष्ठु प्रतिपादन-शैली।

अनुसंधान के इन चार गुणों में से प्रतिपादन-सौष्ठव तो वाङ्मय के प्रायः सभी रूपों के लिए समान है। इस प्रकार अनुसंधान के अपने विशिष्ट धर्म तीन हैं : नवीन तथ्यों का अन्वेषण, उपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान और ज्ञान की वृद्धि।

आप लोगों की सुविधा के लिए मैं संक्षेप में तथ्यान्वेषण और तथ्याख्यान का अंतर और स्पष्ट करना आव-

श्यक समझता हूं। सत्य के प्रत्येक रूप के साथ अनेक तथ्य सम्बद्ध रहते हैं, सत्य के इस रूप-विशेष को स्पष्ट करने के लिए इन आधारभूत तथ्यों की उपलब्धि आवश्यक है। इनमें से कुछ तथ्य तो विहित (प्रकाशित) रहते हैं, किन्तु अनेक तथ्य प्रायः निहित (प्रच्छन्न) रहते हैं, अथवा काल के आवरण में लुप्त हो जाते हैं और उनका अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। तथ्यानुसंधान प्रायः काल-सापेक्ष्य-सा बन गया है और यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि तथ्यानुसंधान प्राचीन विषयों की शोध में ही सम्भव हो सकता है। किन्तु यह साधारणतः मान्य होते हुए भी आवश्यक नहीं है; क्योंकि प्रत्येक विषय में अनेक निहित तथ्य भी तो होते हैं। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि तथ्यानुसंधान के सामान्यतः दो रूप हैं: (१) काल के प्रवाह में लुप्त तथ्यों का अन्वेषण, और (२) विषय में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए, तुलसी के युग की परिस्थितियां, उनके जीवन की घटनाएं, उनकी रचनाएं, उन रचनाओं की अनेक प्रतियां, उनके निर्माण से सम्बद्ध स्थितियां आदि तुलसी-विषयक अनुसंधान के अनेक बहिरंग तथ्य हैं जो काल-सापेक्ष्य हैं; अर्थात, काल के प्रवाह में से जिन्हें ढूंढ़कर निकालना पड़ता है। इनके अतिरिक्त तुलसी के काव्य में निहित अनेक अंतरंग तथ्य हैं: जैसे तुलसी के आत्म-कथन, दार्शनिक विचार, नैतिक विचार, शैली के तत्त्व, भाषा के तत्त्व, शब्द-समूह आदि जो आन्तरिक अन्वेषण की अपेक्षा करते हैं। ये दोनों अन्वेषण-प्रक्रियाएं तथ्यानुसंधान के अन्तर्गत आती हैं और चूंकि प्राचीन तथा नवीन दोनों प्रकार के साहित्य के अनुसंधान में इनका न्यूनाधिक प्रयोग सम्भव है, अतः तथ्यानुसंधान की संभावना को प्राचीन साहित्य तक ही सीमित करना उचित नहीं है। यह ठीक है कि मैथिलीशरण गुप्त या 'प्रसाद' की जीवन-घटनाओं की जानकारी के लिए प्राचीन राजपत्र, हस्तलेख, शिलालेख आदि की छानबीन की आवश्यकता नहीं है। उनकी रचनाओं के अनेक पाठों का तुलनात्मक अध्ययन सर्वथा अनावश्यक है, उनकी युगीन परिस्थितियों के आकलन के लिए भी गहरी खोजबीन की जरूरत नहीं है; परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे अनेक तथ्य रह जाते हैं जिनका अन्वेषण उतना ही यत्न-साध्य है जितना तुलसी-काव्य से सम्बद्ध तथ्यों का हो सकता है। यहां तक तो हुई तथ्यानुसंधान की बात; अब इसके आगे तथ्याख्यान को लीजिए। तथ्यों के आख्यान का वास्तविक अर्थ है तथ्यों के परस्पर सम्बन्ध का उद्घाटन, उनके द्वारा व्यंजित जीवन-सत्य या मानव-सत्य का उद्घाटन। तथ्य अपने वस्तु-रूप में जड़ है, किन्तु मानव-जीवन के संदर्भ में, अर्थात मानव-चेतना के संसर्ग से वह चैतन्य बन जाता है। मानव-चेतना के संसर्ग से जो एक नवीन अर्थ-ज्योति उसमें कौंध जाती है उसको आलंकारिकों ने व्यंजना कहा है। वास्तव में तथ्यों के आख्यान का अर्थ इसी निहित व्यंजना को विहित करना है। यद्यपि व्यंजना तथ्य-रूप अभिधा पर आश्रित रहने के कारण अन्ततः ससीम ही होती है, किन्तु अपनी सीमा के भीतर भी उसमें अनेक अर्थच्छायाओं की सम्भावना निहित रहती है। इन अर्थच्छायाओं के कारण ही तथ्य के नवीन, चिर-नवीन आख्यान की सम्भावना बनी रहती है और इसीलिए अनुसन्धान के लिए पूर्ण अवकाश रहता है। इस दृष्टि से तथ्यों का नवीन आख्यान अथवा पुनराख्यान भी अनुसंधान के अन्तर्गत आता है। उपर्युक्त सभी तथ्य, चाहे वे बहिरंग हों या अंतरंग, केवल आधार हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन राजपत्रों में तुलसी-विषयक उल्लेख आधारमात्र है, वास्तविक उपलब्धि तो उनके द्वारा तुलसी के जीवन-चरित की व्यंजना का स्पष्टीकरण इन तथ्यों का आख्यान है। यह व्यंजना अनेकरूपा हो सकती है और उसी के अनुसार आख्यान भी नवीन हो सकता है। तथ्याख्यान का यह अपेक्षाकृत स्थूल रूप है। इसके आगे तुलसी की जीवन-घटनाएं स्वयं तथ्य बन जाती हैं और फिर अनुसंधाता उनकी व्यंजनाओं का उद्घाटन करता है। अर्थात, उनके द्वारा व्यंजित तुलसी-व्यक्तित्व के गुण-दोषों का प्रकाशन करता है। यह तथ्याख्यान का दूसरा सोपान है। आगे चलकर व्यक्तित्व के ये गुण-दोष स्वयं तथ्य बन जाते हैं और अनुसन्धाता उनके आधार पर तुलसी की आत्मा का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। यह बहिरंग तथ्याख्यान की प्रक्रिया है। अंतरंग तथ्याख्यान तुलसी के काव्य को केन्द्र मानकर चलता है, वह तुलसी की रचनाओं का क्रम निर्धारित करता है। उनमें निहित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों का, उनकी शैली के तत्त्वों का, भाषा के तत्त्वों—शब्द-समूह आदि का विश्लेषण करता है। यह सब भी वस्तुतः तथ्यानुसंधान के अंतर्गत ही आयेगा। भेद केवल इतना है कि ये तथ्य बहिरंग न होकर अंतरंग हैं, किन्तु हैं ये तथ्य ही। इनका भी आख्यान उतना ही आवश्यक है, अन्यथा ये भी जड़वत हैं। इनके आख्यान का भी अर्थ होगा इनकी व्यंजनाओं का स्पष्टीकरण। नहछू तथा मंगल आदि मानस की पूर्ववर्ती रचनाएं हैं और विनयपत्रिका परवर्ती; इस

तथ्य की उपलब्धि महत्त्वपूर्ण है किन्तु साधन-रूप में ही; अर्थात इस तथ्य के द्वारा व्यंजित तुलसी के कवित्व-विकास का महत्त्व और भी अधिक है और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है इस क्रम-विकास द्वारा व्यंजित तुलसी की कवि-आत्मा का विकास। इसी प्रकार तुलसी की काव्य-शैली के तत्त्वों का विश्लेषण तथ्यानुसंधान-मात्र है। इन तत्त्वों के द्वारा व्यंजित तुलसी-काव्य के स्वरूप का अनुसंधान तथ्याख्यान है। उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी की कृति 'तुलसीदास और उनकी कविता' में तथ्यानुसंधान की प्रवृत्ति अधिक है और शुक्लजी की प्रसिद्ध रचना 'गोस्वामी' 'तुलसीदास' में तथ्याख्यान का प्राधान्य है। तथ्यों के संकलन को देखकर सच्चा अनुसंधाता प्रश्न करेगा—इससे क्या? और फिर उनके आधार पर अपनी आंतरिक जिज्ञासा—काव्य के मर्म के उद्घाटन—में प्रवृत्त हो जाएगा। तुलसी के काव्य में साधर्म्य-मूलक अलंकारों की संख्या वैषम्य-मूलक अलंकारों से अधिक है, यह एक उपयोगी तथ्य है। इसकी व्यंजना यह है कि तुलसी के काव्य में वैदग्ध्य की अपेक्षा रस की प्रधानता है। आगे चलकर यह भी तथ्य हो जाता है और इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्वनित करता है कि तुलसी की कविता का आस्वाद मनःशांति-रूप है, बुद्धि-चमत्कृति-रूप नहीं है। इस प्रकार एक तथ्य दूसरे सूक्ष्मतर तथ्य की व्यंजना करता हुआ काव्य के मर्म तक पहुंचने में सहायता देता है। यही तथ्याख्यान है।

विगत छः वर्षों से मेरा अनुसंधान से व्यावसायिक सम्बन्ध रहा है। अनेक विषयों के निरीक्षकों-परीक्षकों के साथ विचार-विनिमय के प्रचुर अवसर मिलते रहे हैं। इस विचार-विनिमय के अन्तर्गत अनुसंधान के विषय में अनेक प्रश्न सामने आए हैं। एक बार हिन्दी के एक मान्य विद्वान ने हमारे एक शोध-विषय 'रीतिकाल के प्रमुख आचार्य' पर आपत्ति करते हुए मुझसे कहा था कि इस पर 'थीसिस कैसे लिखा जाएगा'? 'थीसिस' से उनका आशय था एक विचार-सूत्र का अनुसन्धान जिसमें प्रमुख आचार्यों की अनेकता बाधक थी। इसी प्रकार शोधमंडल की किसी बैठक में इतिहास के एक विद्वान ने हिन्दी के एक प्रस्तावित विषय 'हिन्दी-काव्य के विकास में सिख कवियों का योगदान' के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की कि इसके अन्तर्गत अनुसन्धाता क्या शोध करेगा? मैंने उत्तर दिया कि यह सम्पूर्ण सामग्री अभी तक सर्वथा अज्ञात है। पहला शोधकर्ता इसका आलोचनात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करेगा, परवर्ती अनुसन्धाता उसके आधार पर अंतरंग विश्लेषण करेंगे। मेरे उत्तर पर अनेक अनुभवी निरीक्षकों की प्रतिक्रिया यह हुई कि आलोचनात्मक सर्वेक्षण अनुसन्धान नहीं है। स्थिति स्पष्ट करने पर उन्होंने यह मान लिया कि सिख-कवियों के ग्रन्थों का पाठानुसन्धान और सम्पादन तो अनुसन्धान के अन्तर्गत आ सकता है किन्तु आलोचनात्मक सर्वेक्षण नहीं; सर्वेक्षण तो अनुसन्धान की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। ये दोनों ही प्रसंग अनुसंधान के स्वरूप पर यथेष्ट प्रकाश डालते है। अंगरेजी का एक शब्द है 'थीसिस', जो संस्कृत न्यायशास्त्र के 'प्रतिज्ञा' शब्द का निकटवर्ती है। इसका अर्थ है कोई मौलिक प्रस्थापना-विशेष जिसको अनुगमन या निगमन-विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार शोध-प्रवन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है। इसीलिए अंगरेजी में शोध-प्रवन्ध के लिए 'थीसिस' शव्द का प्रयोग ही रूढ़ हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तम शोध-प्रवन्ध में किसी-न-किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए, उससे अनुसंधित विषय का सूत्र और उसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। किन्तु इसकी सम्भावना सर्वत्र नहीं है। वास्तव में इस प्रकार का अनुसन्धान उन्हीं क्षेत्रों में सम्भव है जहां अध्ययन काफी विकसित हो चुका है। जहां प्रारम्भिक कार्य ही नहीं, व्यवस्थित अध्ययन भी हो चुका है। उदाहरण के लिए, हिन्दी के सगुण भक्तिकाल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के अनेक कवियों पर इतना कार्य हो चुका है कि इस प्रकार की प्रतिज्ञात्मक शोध के लिए अब भूमि तैयार हो चुकी है। और इस प्रकार का अनुसन्धान-कार्य हो भी रहा है। पिछले वर्ष दो शोध-प्रबंध मैंने देखे, एक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पर था और दूसरा बिहारी पर। एक में यह प्रस्थापना की गई थी कि आचार्य शुक्ल का मूल जीवन-दर्शन है भावयोग, और उनका सम्पूर्ण वाङ्मय-आलोचना, निबन्ध, कविता आदि इसी भावयोग के दर्शन से अनुप्राणित है। दूसरे में यह प्रस्थापना की गई थी कि बिहारी का काव्य ध्वनि-काव्य है और उसी के प्रकाश में सम्पूर्ण काव्य का आख्यान किया गया था। निश्चय ही यह अनुसन्धान की उच्चतर भूमि है। यहां शोधकर्ता अनेकता में एकता के अनुसन्धान का सीधा प्रयत्न करता है। अनेकता में एकता की सिद्धि का नाम ही सत्य है। इसी का अर्थ है आत्मा का साक्षात्कार। अतः शोध का यह रूप सत्य की उपलब्धि अथवा आत्मा के साक्षात्कार के अधिक-से-अधिक निकट है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि सदा कठिन

होती है, अतः यहां भी शोधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के अनुसंधान में यह आशंका सदा रहती है कि मूल प्रतिज्ञा ही कहीं अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यों को विकृत रूप में पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसा प्रायः सम्भव है और इसीलिए यह शोध-पद्धति अधिक वस्तु-परक नहीं मानी गई। वस्तुपरक शोध-पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि तथ्य ही शोधक का अनुशासन करें, शोधक तथ्यों का शासन न करे। स्पष्टतः उपर्युक्त प्रणाली में दूसरी बात का खतरा बराबर बना रहता है। किन्तु साधना की उच्चतर भूमि तो खतरे से खाली कभी रही ही नहीं।

अनुसंधान का तीसरा प्रमुख तत्त्व है ज्ञान-क्षेत्र का सीमा-विस्तार। वास्तव में यही उसका प्राण-तत्त्व अथवा व्यावर्तक धर्म है। नवीन तथ्यों की उपलब्धि, उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों के नवीन आख्यान—ये दोनों तत्त्व इसी सिद्धि के साधन हैं। इनमें से कोई एक तत्त्व या सभी तत्त्व मिलकर अंततः ज्ञान की वृद्धि करते हैं—यह ज्ञान की वृद्धि ही वास्तव में अनुसंधान का मूल उद्देश्य है। अन्य गुण जैसे व्याख्या, विवेचन, संप्रेषण, प्रतिपादन-सौष्ठव आदि भी अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण धर्म हैं, किन्तु वे व्यावर्तक धर्म नहीं हैं; क्योंकि एक तो उनके अभाव में भी अनुसंधान हो सकता है और दूसरे अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में भी उनका उतना ही वरन इससे भी अधिक महत्त्व है। इसके विपरीत ज्ञानवृद्धि के अभाव में अनुसंधान का स्वरूप खंडित हो जाता है। ऐसा विवेचन या प्रतिपादन, जो ज्ञानवृद्धि में सहायक न हो अनुसंधान की परिधि में नहीं आएगा या कम-से-कम शुद्ध अनुसंधान के अंतर्गत नहीं माना जाएगा। विचार या भाव का संप्रेषण अपने-आप में साहित्यिक अध्ययन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है—एक दृष्टि से उसका सर्वाधिक मूल्य है किन्तु वह निरपेक्ष रूप में अनुसंधान के अन्तर्गत नहीं आएगा। अतः निष्कर्ष यह है कि ज्ञानवृद्धि ही अनुसंधान का व्यावर्तक धर्म है।

'आलोचना' का शब्दार्थ है सर्वांग निरीक्षण। साहित्य के क्षेत्र में आलोचना से अभिप्राय है: किसी साहित्यिक कृति का सांगोपांग निरीक्षण। इसके अंतर्गत तीन कर्तव्य-कर्म आते हैं—(१) प्रभाव-ग्रहण, (२) व्याख्या-विश्लेषण, और (३) मूल्यांकन अथवा निर्णय। आलोचना मूलतः कलाकृति द्वारा प्रमाता के हृदय में उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करती है, अर्थात प्रिय-अप्रिय प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है। इसके उपरान्त वह प्रतिक्रिया भी प्रियता अथवा अप्रियता के कारणों का विश्लेषण करती है। सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार रूप का, मनोविज्ञान के अनुसार स्रष्टा और भावक की मानसिक परिस्थितियों का तथा समाजशास्त्र के अनुसार दोनों की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करती है कि कोई कलाकृति भावक को प्रिय अथवा अप्रिय क्यों लगती है। और अन्त में इन दोनों प्रतिक्रियाओं के आधार पर उसका मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के अन्तर्गत ये तीन प्रतिक्रियाएं आती हैं। किसी-न-किसी रूप में आलोचना इन तीनों कर्तव्यों का निर्वाह करती है, अवधारण का भेद हो सकता है; किन्तु समालोचना में प्रायः इन तीनों में से किसी की उपेक्षा करना कठिन ही होता है।

अनुसंधान और आलोचना का परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना दोनों की केवल जाति ही नहीं, उपजाति भी एक है। अतः दोनों में पर्याप्त साम्य है। दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है: व्याख्या-विश्लेषण और निर्णय दोनों में समान है। अनुसंधान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या-विश्लेषण है, दोनों में विवेचन, कार्य-कारण-सूत्र का अन्वेषण, परस्पर सम्बन्ध तथा अर्थ-व्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के संतुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति भी दोनों में प्रायः समान ही है। तथ्य-विश्लेषण के उपरान्त तत्त्व-रूप में निष्कर्ष ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है। उसके बिना तथ्य-विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसंधान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है; उसके बिना विचार की प्रक्रिया पूरी नहीं होती। तथ्याधार अनुसंधान के लिए एकान्त अनिवार्य तो है ही, किन्तु आलोचना के लिए भी उसकी आवश्यकता का निषेध नहीं किया सकता; क्योंकि तथ्यों के पुष्ट आधार के बिना आलोचना में विश्वास की दृढ़ता नहीं आती।

यह सब होने पर भी अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं हैं। मनोविज्ञान से पुष्ट संस्कृत-व्याकरण का यह नियम है कि कोई भी दो शब्द एक अर्थ का द्योतन नहीं करते, उनमें कुछ-न-कुछ भेद अवश्य होता है। अनुसंधान की मूल धातु 'धा' है, उसमें सम उपसर्ग लगाकर संधान शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है लक्ष्य बांधना, निशाना लगाना। और आलोचना की मूल धातु है 'लुच्', अर्थात देखना। इसी मूल धात्वर्थ के आधार पर दोनों के रूढ़ अर्थ में आगे चलकर भेद हो जाता है—एक का अर्थ हो जाता है लक्ष्य बांधकर उसके पीछे बढ़ना और दूसरे का हो जाता है पूरी तरह से देखना-परखना। यही दोनों के मौलिक भेद का आधार है। अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर। यद्यपि ये दोनों तत्त्व भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं; अन्वेषण बिना निरीक्षण-परीक्षण के कृतकार्य नहीं हो सकता, और इसी तरह निरीक्षण-परीक्षण के भी पूर्व-क्रिया रूप में अन्वेषण की आवश्यकता प्रायः रहती है, फिर भी अनुसंधान और आलोचना का क्षेत्र पूर्णतः सह-व्यापक नहीं है। अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो शुद्ध आलोचना के अन्तर्गत नहीं आते और आलोचना के भी कुछ रूपों को शुद्ध अनुसंधान मानने में वास्तविक आपत्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, जीवनचरित-विषयक अनुसंधान, पाठानुसंधान, भाषावैज्ञानिक अनुसंधान आदि रूप आलोचना के अंतर्गत नहीं आ सकते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें आलोचना का अभाव रहता है अथवा इन क्षेत्रों का अनुसंधाता आलोचन-शक्ति एवं निर्णय की क्षमता से सम्पन्न नहीं होता। वास्तव में इन सभी क्षेत्रों में भी निरीक्षण-परीक्षण, निष्कर्ष-ग्रहण आदि उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने अन्यत्र। परन्तु आलोचना का प्रयोग यहां हम साहित्यिक आलोचना (लिटरेरी क्रिटिसिज्म) के अर्थ में ही कर रहे हैं; सामान्य अर्थ में, अर्थात सामान्य निरीक्षण-परीक्षण के अर्थ में, नहीं। इसी प्रकार आलोचना के कुछ-एक रूप भी हैं जैसे प्रभाववादी आलोचना के विभिन्न प्रकार, जो अनुसंधान की गरिमा को वहन नहीं कर सकते। अतएव यह स्पष्ट है कि अनुसंधान और आलोचना के क्षेत्रों में पूर्ण सह-व्याप्ति नहीं है।

अपने मंतव्य को और स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक अर्थ में आलोचना के स्वरूप को और स्पष्ट कर लेना चाहिए। मुझे स्मरण है कि एक बार हमारे किसी प्रश्न-पत्र में एक सवाल था : 'आलोचना विज्ञान है या कला?' मुझे याद नहीं उस समय मैंने क्या उत्तर दिया था, किन्तु आज मेरे मन में इसका उत्तर स्पष्ट है : आलोचना, अर्थात साहित्यिक आलोचना, कला का विज्ञान है। विशिष्ट शब्दावली में आलोचना न तो उस अर्थ में रस का साहित्य है जिस अर्थ में कविता, उपन्यास, कहानी आदि हैं और न उस अर्थ में ज्ञान का साहित्य है जिस अर्थ में दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान-शास्त्र या तर्कशास्त्र हैं। यह तो अपने प्रामाणिक रूप में रस के साहित्य का शास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। विषय का प्रभाव उसके विवेचन पर सर्वथा अनिवार्य होता है; अर्थात किसी विषय का विवेचन और उसकी विचार-पद्धति उसके आत्मभूत तत्त्वों के प्रभाव को ग्रहण किये बिना रह नहीं सकती, क्योंकि विषय के तत्त्व, उसका लक्ष्य आदि उसकी विवेचन-पद्धति को भी अनिवार्यतः अनुशासित करते रहते हैं। साहित्य के तत्त्व हैं अनुभूति और कल्पना, उसका प्राण है रस। अतः साहित्य की विवेचन-पद्धति उसके अंगभूत अनुभूति तथा कल्पना और प्राणभूत रस के प्रभाव को बचा नहीं सकती। अतएव उसमें भी कला के तत्त्वों, अर्थात रस और उसके उपकरण अनुभूति तथा कल्पना आदि का, अन्तर्भाव अनिवार्यतः हो ही जाता है। इस प्रकार आलोचना में कला-तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, उसमें आत्माभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहती है। अनुसंधान के विषय में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि वह कला है या शास्त्र? वह निश्चय ही शास्त्र है, कला की उसके लिए उतनी ही अपेक्षा है जितनी शास्त्र के लिए; क्योंकि शास्त्र की भी अपनी एक कला होती है, एक शैली होती है जो वाङ्मय के अन्य रूपों से उसके रूप-वैशिष्ट्य को पृथक करती है। अनुसंधान के उपबंध चार में निर्दिष्ट 'उपयुक्त' अथवा 'सन्तोषप्रद' रूप-आकार का अभिप्राय इतना ही है, इससे अधिक नहीं। उदाहरण के लिए, निबन्ध की ललित गद्यशैली अनुसंधान के लिए न 'उपयुक्त' होगी और न 'संतोषप्रद'। निष्कर्ष यह है कि **आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व साहित्यिक आलोचना का अनिवार्य गुण है; किन्तु साहित्यिक अनुसंधान से उनका महत्त्व गौण ही रहेगा।**

इसके विपरीत तथ्यान्वेषण, तथ्यों का वस्तुपरक आख्यान, वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए

महत्त्वपूर्ण ही नहीं है, वरन ये तो उसके प्राण-तत्त्व हैं। किसी-न-किसी प्रकार के, बहिरंग अथवा अन्तरंग, तथ्यों के सम्यक् अन्वेषण के बिना अनुसंधान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। फिर इन तथ्यों के आख्यान में अनुसंधाता की दृष्टि एकान्त वस्तुपरक होनी चाहिए जिससे तथ्य ही उसका निर्देशन करें, वह तथ्यों का निर्देशन न करे। यों तो आलोचना के लिए भी निर्लिप्त दृष्टि की बड़ी आवश्यकता है किन्तु अनुसंधान के लिए वह सर्वथा अनिवार्य है। अनुसंधान का मार्ग एकान्त तपश्चर्या का मार्ग है, उसके लिए अधिक कठोर संयम का विधान है। आलोचना के लिए इतने कठोर बौद्धिक ब्रह्मचर्य की आवश्यकता कदाचित नहीं है। आत्मरस का यत्किंचित संस्पर्श उसके लिए एकान्त-वर्जित नहीं है। इसी प्रकार वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया अनुसंधान के लिए सर्वथा अनिवार्य हैं। संदर्भ आदि के पूर्ण विवरण, अनुक्रमणिका, परिशिष्ट, ग्रन्थ-सूची, पाद-टिप्पणियां आदि की व्यवस्था इसी प्रविधि के अन्तर्गत आती है। वास्तव में यह प्रविधि या शिल्प-विधान आलोचना के लिए भी अनुपयोगी नहीं है, किन्तु वहां इसका उतना अनिवार्य महत्त्व नहीं है। शुद्ध आलोचना में आलोच्य की आत्मा के साक्षात्कार के प्रति लेखक और पाठक का इतना आग्रह रहता है कि इस प्रकार के स्थूल तथ्य-विवरण की वह उपेक्षा कर सकता है। वस्तुतः इनसे उसका अवधान-भंग होने की भी सम्भावना हो सकती है।

अनुसंधान और आलोचना का प्रत्यक्ष उद्देश्य भी एक नहीं होता। अनुसंधान का लक्ष्य, जैसा कि हमने अभी सिद्ध किया, ज्ञान-वृद्धि है; किन्तु आलोचना का लक्ष्य है ज्ञान की अवगति। जो अनुसंधान ज्ञान की वृद्धि में योग नहीं देता वह विधानतः असफल है, किन्तु आलोचना के लिए इतना पर्याप्त नहीं है। जो आलोचना काव्य की आत्मा का साक्षात्कार नहीं करा सकती, अर्थात उसके सारभूत प्रभाव का सम्प्रेषण नहीं कर सकती, कलाकार के साथ प्रमाता का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती, वह अपने मौलिक उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। प्रत्यक्ष 'फलागम' के इसी भेद के कारण दोनों के 'आरम्भ' में भी स्पष्ट भेद हो जाता है। 'आलोचक का पहला धर्म है प्रभाव-ग्रहण, अर्थात आलोच्य के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया।' अनुसंधाता के लिए वह आवश्यक नहीं है, प्रायः बाधक भी हो सकती है। वह अपना कार्यारम्भ तथ्य-संकलन से करता है जिसमें उसकी दृष्टि निर्लेप रहनी चाहिए। इस प्रकार अनुसंधान और आलोचना के आरम्भ और फलागम में बाह्य भेद अवश्य है।

अब तक मैंने अत्यन्त तटस्थ भाव से अनुसंधान और आलोचना के साम्य और वैषम्य का निरूपण किया है। यदि आपको आपत्ति न हो तो संक्षेप में अपने निष्कर्षों की आवृत्ति कर दूं जिससे आगे के विवेचन में सहायता मिल सके।

साम्य : (१) साहित्यिक अनुसंधान और साहित्यिक आलोचना एक ही विद्या—साहित्य-विद्या—के दो उपभेद हैं।

(२) दोनों की पद्धति बहुत-कुछ समान है। दोनों की प्रक्रिया में तथ्यों के संकलन—त्याग एवं ग्रहण, व्याख्यान-विश्लेषण, निष्कर्ष-ग्रहण—का प्रायः उपयोग किया जाता है।

वैषम्य : (१) किन्तु अनुसंधान और आलोचना पर्याय नहीं है। धात्वर्थ के अनुरूप अनुसंधान में अन्वेषण पर अधिक बल रहता है और आलोचना में निरीक्षण-परीक्षण पर।

(२) अनुसंधान के अनेक रूप ऐसे हैं जो आलोचना के अन्तर्गत नहीं आते और इसी प्रकार आलोचना के भी कतिपय रूप अनुसंधान के उपबंधों की पूर्ति नहीं कर पाते।

(३) आत्माभिव्यक्ति अथवा कला-तत्त्व आलोचना का अनिवार्य गुण है, किन्तु अनुसंधान में उसका महत्त्व गौण ही रहेगा।

(४) वैज्ञानिक तटस्थता और उसकी अनुवर्ती वैज्ञानिक प्रविधि एवं प्रक्रिया का महत्त्व अनुसंधान के लिए अनिवार्य है। आलोचना के लिए उसका महत्त्व परिशिष्ट रूप में ही रहता है।

(५) अनुसंधान का प्रत्यक्ष (एपेरेंट) उद्देश्य है ज्ञान की वृद्धि, और आलोचना की सिद्धि है मर्म की अवगति या अनुभूति।

मुझे आशा है इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी सापेक्षित धारणाएं और मानस-बिम्ब थोड़े बहुत स्पष्ट अवश्य हो गए होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे आज के प्रतिपाद्य का तथ्याधार-मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूं: क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है: क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है? अथवा क्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूं। यहां तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है? अर्थात क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है? आप कदाचित हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसंधाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्रायः निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहां उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विभूति अपने-आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूंगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूंगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के संदर्भ-ग्रन्थों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में, और वहां के अनुकरण पर इस देश में भी, ऐसे ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता, किन्तु ये सब तो अनुसंधान की सामग्री या साधन-मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्रारूप हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। तथ्य और सत्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध में तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप में किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अन्तर्गत न होकर उपविद्या के अन्तर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी

में अनुसंधान का कार्य विधिवत आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिन्ता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धान्तिक निबन्धों में तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है। वस्तुतः आत्मा का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और सांख्य की पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वह अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं, परवर्ती अनुसंधानों के विशालकाय ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाए हैं। बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के विषय में चिन्तन के जो सूक्ष्म तत्त्व वह अपने इतिहास में रख गए हैं, परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनुसंधेय क्या है? तत्त्व ही न? इस तत्त्व-शोध की सामान्यतः दो विधियां हैं: एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है, वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है; दूसरी का आधार अधिक दृढ़ और पुष्ट है, किन्तु गति मन्थर एवं विलम्बित है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं: पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किन्तु भ्रान्तिपूर्ण भी हो सकते हैं, दूसरी में भ्रान्ति की आशंका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमें एक बड़ी आशंका यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल में उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है। तथ्यों के तक्र के स्वाद में तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्हीं दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहां वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत प्रयोग हो रहा था। यहां आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ संघर्ष में आने लगी। उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढ़ा। पुष्ट तथ्याधार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आई। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी-अनुसंधान का, वरन हिन्दी-आलोचना का भी, कल्याण हुआ, किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अन्तर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी। तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को समझने के लिए सांख्यिकी परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियन्त्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूपविधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अन्तर्दर्शन को नये आलोचक 'छायावादी आलोचना' कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी-अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव में यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहां विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं: वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। जो विद्वान विज्ञान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवावस्था के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का; पर, इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नहीं है,

मुझे आशा है इस भेदाभेद-निरूपण से दोनों के विषय में आपकी सापेक्षित धारणाएं और मानस-विम्ब थोड़े बहुत स्पष्ट अवश्य हो गए होंगे। किन्तु यह तो पूर्वपक्ष है, या आप यह कह सकते हैं कि यह हमारे आज के प्रतिपाद्य का तथ्याधार-मात्र है। उत्तरपक्ष में मैं अपने से और आपसे एक प्रश्न करता हूं : क्या शुद्ध आलोचना अनुसंधान नहीं है? यह प्रश्न एक दूसरे ढंग से भी रखा जा सकता है : क्या उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान नहीं है ? अथवा ग्या उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से भिन्न ही रहता है ? साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते मेरे पास इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि उत्तम आलोचना अनिवार्यतः उत्तम अनुसंधान भी है और उत्तम साहित्यिक अनुसंधान अपनी चरम परिणति में आलोचना से अभिन्न हो जाता है। हिन्दी में जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका उत्तम आलोचना का असन्दिग्ध प्रमाण है और साहित्यिक अनुसंधान का भी मैं उसे निश्चय ही अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण मानता हूं। यहां तो तथ्याधार भी अत्यन्त पुष्ट है इसलिए विवाद के लिए अवकाश कम है। शुक्लजी के सैद्धान्तिक निबन्धों को ही लीजिए। क्या हिन्दी काव्य-शास्त्र के विकास में उनका अत्यन्त मौलिक योगदान किसी प्रकार संदिग्ध हो सकता है ? अर्थात् क्या उनका शोध-मूल्य किसी प्रकार कम है ? आप कदाचित हिन्दी के एक अन्य मान्य आलोचक का प्रमाण देकर मुझे निरुत्तर करना चाहेंगे। ये आलोचक हैं शान्तिप्रिय द्विवेदी। वे निश्चय ही साहित्य के मर्मी आलोचक हैं किन्तु आप औचित्यपूर्वक उनके सफल अनुसंधाता होने में शंका कर सकते हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि शान्तिप्रियजी की जिन रचनाओं का शोध-महत्त्व संदिग्ध है उनका आलोचनात्मक मूल्य भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है। प्रभाव-ग्रहण आलोचना का प्राथमिक धर्म होने पर भी, प्रभाववादी आलोचना प्रायः निम्नकोटि की आलोचना ही मानी जाती है। शान्तिप्रिय अपने चित्त को संयत और दृष्टि को स्थिर कर जहां आधुनिक काव्य—विशेषतः छायावाद काव्य—के मर्म का उन्मेष करने में सफल हुए हैं वहां उनकी आलोचनाओं का शोध-मूल्य भी असंदिग्ध है। छायावादी सौन्दर्य-दृष्टि की विभूति अपने-आप में महत्त्वहीन अनुसंधान नहीं है। अब दूसरा पक्ष लीजिए। मैं आपसे किसी ऐसे शोध-प्रबन्ध का नाम पूछना चाहूंगा जो आलोचनात्मक गुणों के अभाव में भी उत्तम अनुसंधान का प्रमाण हो। आप भाषा-विज्ञान अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र से कदाचित कुछ उदाहरण उपस्थित करेंगे किन्तु मैं तो साहित्यिक अनुसंधान की बात कर रहा हूं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र से भी शायद आप इस प्रकार के शोध-प्रबन्धों के नाम लेना चाहें। विशिष्ट उदाहरण न देकर इस प्रसंग में सामान्य रूप से मैं यही निवेदन करना चाहूंगा कि इस प्रकार के अकाट्य प्रमाण प्रायः दुर्लभ ही हैं। ऐसे प्रबन्ध, जिनका मूल्य केवल तत्त्व-शोध पर आधृत है, उत्तम अनुसंधान न होकर अनुसंधान के संदर्भ-ग्रन्थों के रूप में ही मान्यता प्राप्त कर सकेंगे। पश्चिम में, और वहां के अनुकरण पर इस देश में भी, ऐसे ग्रन्थों का महत्त्व बढ़ रहा है। मैं इसका निषेध नहीं करता, किन्तु ये सब तो अनुसंधान की सामग्री या साधन-मात्र हैं। हिन्दी में ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनके द्वारा प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई है। उनसे हिन्दी साहित्य और उसके अनुसंधाता का निश्चय ही बड़ा कल्याण हुआ है किन्तु कृपया उन्हें आदर्श अनुसंधान मानने का आग्रह न कीजिए। ये तो उत्तम अनुसंधान के प्रारूप हैं। तत्त्व-दृष्टि से यदि हम विचार करें तो विद्या के सभी भेदों का एक ही उद्देश्य निर्धारित किया जा सकता है और वह है सत्य की उपलब्धि। तथ्य और सत्य में यह भेद है कि एक केवल बोध का विषय है और दूसरा अनुभूति का। बोध का अर्थ है ऐन्द्रिय अथवा बौद्धिक प्रत्यय और अनुभूति का अर्थ है मर्म का साक्षात्कार। मर्म के साक्षात्कार के लिए तथ्य-बोध से आगे चलकर तथ्य के द्वारा व्यंजित सत्य की अवगति आवश्यक है। यही आलोचना की परम परिणति है और मेरा आग्रह है कि अनुसंधान की चरम परिणति भी यही होनी चाहिए। तद्विषयक विधान के उपबंध में तथ्यों या सिद्धान्तों के नवीन आख्यान के अन्तर्गत यद्यपि इसका उल्लेख विकल्प रूप में किया गया है किन्तु उसकी शब्दावली से निर्विवाद है कि यह अनुसंधान की उच्चतर भूमि है। इस लक्ष्य की सिद्धि के बिना अनुसंधान केवल तथ्य-बोध का साधन होकर रह जाता है, सत्य की सिद्धि का माध्यम नहीं।—तब फिर उसकी गणना विद्या के अन्तर्गत न होकर उपविद्या के अन्तर्गत ही करनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि प्रकृति और व्यवसाय दोनों से अनुसंधाता होने के नाते आपको अनुसंधान की यह अधोगति स्वीकार्य नहीं होगी।

अनुसंधान के क्षेत्र में आलोचना के इस विरोध का एक इतिहास है। लगभग १५-२० वर्ष पूर्व जब हिन्दी

में अनुसंधान का कार्य विधिवत आरम्भ हुआ, उस समय साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एकाधिपत्य था। शुक्लजी की आलोचना-पद्धति में तत्त्व-दर्शन के प्रति इतना प्रबल आग्रह था कि वे तथ्यों की चिन्ता अधिक नहीं करते थे। उनके इतिहास तथा भूमिकाओं एवं सैद्धान्तिक निबन्धों में तथ्याधार स्पष्टतः दुर्बल है। वस्तुतः आत्मा का अनुसंधान ही उनका ध्येय रहता था—तथ्यों के संकलन और सांख्य की पद्धति के अवलम्बन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जायसी, सूर और तुलसी के काव्य के जिन मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन वह अपनी संक्षिप्त भूमिकाओं में कर गए हैं, परवर्ती अनुसंधानों के विशालकाय ग्रंथ आज तक उनमें कोई आश्चर्यजनक अभिवृद्धि नहीं कर पाए हैं। बिहारी, घनानन्द आदि कवियों के विषय में चिन्तन के जो सूक्ष्म तत्त्व वह अपने इतिहास में रख गए हैं, परवर्ती अनुसंधाता अब तक तथ्यों के आधार पर या तो उनकी पुष्टि कर रहे हैं या विस्तार। वास्तव में मूल अनुसंधेय क्या है? तत्त्व ही न? इस तत्त्व-शोध की सामान्यतः दो विधियां हैं : एक दर्शन की, दूसरी विज्ञान की। पहली की गति ऋजु और त्वरित है, वह लक्ष्य पर सीधा आक्रमण करती है; दूसरी का आधार अधिक दृढ़ और पुष्ट है, किन्तु गति मन्थर एवं विलम्बित है। दोनों के अपने गुण-दोष हैं : पहली के परिणाम शीघ्रगम्य हैं किन्तु भ्रान्तिपूर्ण भी हो सकते हैं; दूसरी में भ्रान्ति की आशंका अपेक्षाकृत बहुत कम है किन्तु उसमें एक बड़ी आशंका यह है कि अनुसंधाता की दृष्टि तथ्य-जाल में उलझ जाती है और तत्त्व की उपेक्षा हो जाती है। तथ्यों के तक्र के स्वाद में तत्त्व के नवनीत का स्वाद भूल जाता है। शुक्लजी के अनुसंधान में पहली पद्धति के गुण-दोष थे। लगभग उन्हीं दिनों हमारे कुछ-एक विद्वान विदेश से शोध-कार्य कर लौटे थे जहां वैज्ञानिक पद्धति का साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी यथावत प्रयोग हो रहा था। यहां आकर इन्होंने देखा कि हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में इसका सर्वथा अभाव था, उसकी प्रविधि और प्रक्रिया अत्यन्त अपूर्ण और अव्यवस्थित थी। फलतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि ने वैज्ञानिक पद्धति को हिन्दी-शोध के क्षेत्र में भी प्रतिफलित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया और एक नवीन शोध-प्रणाली का आविर्भाव हुआ, जो प्रचलित प्रणाली के साथ संघर्ष में आने लगी। उसी संघर्ष से इस नारे का जन्म हुआ कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इस पृथक्करण से लाभ और हानि दोनों ही हुए। लाभ तो यह हुआ कि अनुसंधान में तथ्यान्वेषण का महत्त्व बढ़ा। पुष्ट तथ्याधार से विवेचना में प्रामाणिकता और प्रत्यय-शक्ति का विकास हुआ। प्रविधि और प्रक्रिया में वैज्ञानिक व्यवस्थिति एवं पूर्णता आई। दृष्टि को निस्संग निरीक्षण की क्षमता प्राप्त हुई। व्यक्तिगत रुचि-वैचित्र्य का संयमन और उससे प्रभावित अशुद्ध निष्कर्षण की प्रवृत्ति का नियन्त्रण हुआ। इससे न केवल हिन्दी-अनुसंधान का, वरन हिन्दी-आलोचना का भी, कल्याण हुआ, किन्तु हानि भी कम नहीं हुई। अन्तर्दृष्टि अवरुद्ध होने लगी। तथ्य पर दृष्टि केन्द्रित हो जाने से तत्त्व-दर्शन का महत्त्व कम होने लगा। अनुसंधाता शाखाओं में उलझकर मूल को भूलने लगा। विश्लेषण के स्थान पर गणना का आधिक्य होने लगा। हृदय के सुन्दर रहस्यों को समझने के लिए सांख्यिकी परीक्षा की जाने लगी। कल्पना का नियन्त्रण करने के दुराग्रह ने विचार और चिन्तन को भी क्षीण कर दिया। बाह्य रूपविधा का गौरव इतना बढ़ा कि साहित्य का प्राण-रस सूखने लगा। साहित्य के अन्तर्दर्शन को नये आलोचक 'छायावादी आलोचना' कहने लगे। एक अतिवाद से मुक्त होकर हिन्दी-अनुसंधान एक दूसरे घातक अतिवाद का शिकार हो गया। वास्तव में यह प्रवृत्ति और भी अधिक चिन्त्य थी और यदि समय पर इसका नियमन न हुआ होता तो हमारे यहां विद्या का स्तर निश्चय ही गिर जाता। वास्तव में इस प्रवृत्ति के मूल में एक आधारभूत सिद्धान्त की उपेक्षा निहित थी। वह सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक विषय के अध्ययन की प्रविधि-प्रक्रिया उस विषय की अपनी प्रकृति में से ही प्राप्त होनी चाहिए। अध्ययन के नियम और प्रविधि-प्रक्रिया निरपेक्ष नहीं हैं : वे सदा विषय पर ही आश्रित रहते हैं। जो विद्वान विज्ञान की निस्संग दृष्टि और एकान्त वस्तुपरक प्रविधि-प्रक्रिया का यथावत आरोपण साहित्य के अध्ययन पर करना चाहते हैं वे इस मौलिक सिद्धान्त को भूल जाते हैं कि रूपाकृति तो आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। अतः साहित्य की आत्मा का अनुसंधान करने के लिए विज्ञान का उतना उपयोग तो श्रेयस्कर है जितना कि मानवावस्था के उत्कर्ष के लिए नाना प्रकार के भौतिक और सामाजिक विज्ञानों का; पर, इसके आगे बढ़ना खतरनाक होगा। उससे साहित्यिक मूल्यों का विपर्यय हो जाने की बड़ी आशंका है।

और, यह आशंका आज हिन्दी-अनुसंधान के क्षेत्र में सत्य सिद्ध हो रही है। अनुसंधान आलोचना नहीं है,

इस भ्रान्त धारणा से अन्य भ्रान्तियों का जन्म हो रहा है। हिन्दी का अनुसंधाता यह समझने लगा है कि अनुसंधान का कार्य केवल अन्वेषण करना है, सत्साहित्य और असत्साहित्य—यहां तक कि साहित्य और असाहित्य की परख से उसका क्या वास्ता ? फलतः आज साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर ऐसे वाङ्मय का संग्रह हो रहा है जो किसी भी लक्षण से साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता। मैंने भारतीय हिन्दी परिषद की निबन्ध-गोष्ठी के सभापति-पद से यह प्रश्न उठाया था। उस समय समयाभाव के कारण मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट नहीं कर पाया था, और सुना था, बाद में कतिपय विद्वानों को मेरे वक्तव्य पर आपत्ति भी थी। मेरा अभिप्राय वास्तव में यह है कि साहित्यिक अनुसंधान साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए; ऐसी सामग्री को जो साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात जो अपनी विषय-वस्तु और प्रतिपादन-शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में सर्वथा अक्षम है, उसे साहित्यिक अनुसंधान के अन्तर्गत संग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसंधाता आदिकाल, भक्तिकाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्वार्द्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है। उदाहरण के लिए, राम-काव्य अथवा कृष्ण-काव्य के कलेवर को विगत दस-पन्द्रह वर्षों में नवीनता के अन्वेषकों ने ऐसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थों से भरकर फुला दिया है जो किसी भी परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं हैं। आप कहेंगे उनका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक मूल्य है। ठीक है, मैं भी इसे मानता हूं; किन्तु अनुसंधान के विषय का शीर्षक तो राम-काव्य या कृष्ण-काव्य है, रामभक्ति अथवा कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों का इतिहास नहीं है। जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए उपयोग कर लीजिए किन्तु 'काव्य' शीर्षक के अन्तर्गत उसका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए। आदिकाल को ही लीजिए। नाथों और सिद्धों की सैकड़ों रचनाओं का हमारे खोजियों ने साधुओं की गुदड़ियों में से निकालकर ढेर लगा दिया है। आयुर्वेद, कृषि, समकालीन राजनीति आदि से सम्बद्ध राशि-राशि ग्रन्थ हिन्दी साहित्य का सीमा-विस्तार आयुर्वेद और कृषिशास्त्र तक करते जा रहे हैं। निर्गुण सन्तों की साम्प्रदायिक बानियां जिनकी रचना शुद्ध साम्प्रदायिक उद्देश्य से हुई थी और कवित्व के नितान्त अभाव के कारण किसी भी प्राचीन काव्य-रसिक ने जिनका भूलकर भी उल्लेख नहीं किया, आज के वैज्ञानिक अनुसंधान के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। इसी प्रकार आधुनिक-काल में भारतेन्दु और द्विवेदी-युगों की सम्पूर्ण पत्रकारिता का हिन्दी साहित्य में अविकल रूप से समावेश किया जा रहा है। उधर लोकसाहित्य का आक्रमण भी जोर से हो रहा है, और लोकसाहित्य तक तो कुशल थी, क्योंकि साहित्य शब्द के साहचर्य के कारण लोक-हृदय की करुण-मधुर अनुभूतियों से उसका कुछ न कुछ सम्पर्क बना रहता था; किन्तु अब तो हमारा अनुसंधान लोकवार्त्ता तक प्रगति करता जा रहा है। उस वार्ता तक, जिसके विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य का निर्भ्रान्त निर्णय था :

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

भामह : काव्यालंकार २।८७

अर्थात, 'सूर्यास्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षिगण अपने घोंसले में जा रहे हैं।' यह भी क्या कोई काव्य है ? इसे तो वार्ता कहते हैं। अर्थात 'वार्ता' शब्द हमारे काव्य-शास्त्र में अकाव्य का पर्याय माना गया है।

मैं एक भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए दूसरी को जन्म देना नहीं चाहता। इसलिए अपने मंतव्य को थोड़ा और स्पष्ट करना आवश्यक है। मैं एक क्षण के लिए भी इस प्रकार की सामग्री का अवमूल्यन करना नहीं चाहता। सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक अनुसंधान में इसका अपना विशिष्ट मूल्य है। भारत की मध्यकालीन संस्कृति का इतिहास प्रस्तुत करने में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों का अपूर्व महत्त्व है। देश के नवजागरण का इतिहास भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन पत्रकारों का चिर-आश्रित रहेगा, इसी प्रकार लोक-संस्कृति और समाज-शास्त्र के लिए लोकवार्ताओं का महत्त्व अक्षुण्ण है। मध्ययुग अथवा आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में भी उपर्युक्त सामग्री अत्यन्त मूल्यवान है, प्रेरक स्रोतों के रूप में इसका उपयोग किया जा सकता है, कवि-मानस के निर्माण के लिए तत्कालीन परिवेश की महत्ता भी असंदिग्ध है। किन्तु वह तो क्षेत्र ही दूसरा है। आज तो संत-काव्य, राम-काव्य,

कृष्ण-काव्य, शीर्षक के अंतर्गत इस प्रकार की अकाव्यमयी सामग्री का समावेश होता जा रहा है। और इसका कारण क्या है? केवल यह गलत नारा कि अनुसंधान आलोचना नहीं है। इसीलिए, आलोचक-दृष्टि के अभाव में, अनुसंधाता काव्य के नवनीत के साथ उस सप्रेटा को फिर से मिलाकर रख देता है जिसे आचार्य शुक्ल जैसे मर्मी इतिहासकारों ने निकालकर फेंक दिया था। जैसा कि मैंने अन्यत्र निवेदन किया है, यह सब कच्चा माल है। इसे आलोचना की परिष्कारिणी (रिफ़ाइनरी) में साफ करके ही इस्तैमाल करना चाहिए। आखिर, काव्यानुसंधान का लक्ष्य क्या है? काव्य-सत्य की शोध ही न? जिस अनुसंधान में काव्यत्व, अर्थात काव्य का मूल सत्य, ही खो जाए वह फिर और किसकी खोज करना चाहता है?



उर्दू की परम्परा के मोड़

प्रो० चन्द्रप्रकाशसिंह

जिस भाषा का नाम उर्दू है वह वास्तव में इस देश के जनसाधारण की भाषा कभी नहीं थी। परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वह मुगलकाल के अन्तिम दिनों में कुछ प्रमुख नगरों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों के शिक्षित वर्ग की भाषा वन गई थी। इस समय हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि भाषा की दृष्टि से उर्दू का अभ्युदय और शासन की हैसियत से मुगलों का ह्रास परस्पर समकालीन हैं। इसलिए उर्दूभाषा में जिन भावों की अभिव्यक्ति हो सकी है वे दो प्रकार के हैं, एक तो दुःखवाद और दूसरा है विलासवाद। इन्हीं दो मनोवृत्तियों को लेकर दिल्ली और लखनऊ में उर्दू भाषा और साहित्य के दो सम्प्रदाय स्थापित हुए। जहां तक दिल्ली का सम्बन्ध है, वहां का साहित्य एक वेदना में डूबा है। वह अपने चारों ओर आई हुई आपत्ति को देखता है, और उसे एक दैवी विधान समझकर उसके सामने अपना सिर झुका लेता है। 'मीर' और 'गालिब' दिल्ली के श्रेष्ठ कवि हैं और दोनों ने अपनी आपत्ति का रोना रोया है। इसके विपरीत लखनऊ का सम्प्रदाय कुछ अपवादों को छोड़कर विलासिता के रंग में डूबा हुआ है। उस विलासिता के वातावरण में सत्य की खोज का कोई स्थान नहीं, मनुष्य के भीतर जो गहरी भावनाएं है, उनकी अभिव्यक्ति का कोई उपाय उसमें नहीं है। हँसी-ठट्ठा, छिछोरापन और निम्नतम कोटि की कामुकता का वर्णन ही लखनऊ के सम्प्रदाय की विशेषता है। इस लखनऊ के स्कूल के प्रमुख कवि जुरअत' और 'इंशा' हैं। कवियों की हैसियत से आज उनका सम्मान अवशिष्ट नहीं है परन्तु अपने समय के समाज को वे अपने कविता-पाठ से और अपनी कामुकता की अभिव्यक्ति से मुग्ध कर देते थे। परन्तु लखनऊ में भी एक ऐसा वर्ग विद्यमान था जो कामुकता के पीछे दौड़ना अपना ध्येय न समझता था, जिसके ऊपर वाजिदअली शाह की मनोवृत्ति की मुहर न लगी थी। विलासियों के जीवन में एक समय ऐसा भी आता है, जब वे अपने विलासिता के जीवन से ऊबकर धर्म की ओर दौड़ते हैं, क्योंकि धर्म-चिन्तन में उनको एक सान्त्वना और एक शान्ति मिलती है। इसलिए लखनऊ के इस छिछोरपन और हंसी-ठट्ठे के साहित्य की प्रतिक्रिया-स्वरूप लखनऊ में ही एक धर्म-प्रधान साहित्य का जन्म हुआ, जिसको हम मर्सिया कहते है। यह मर्सिया भारत की अपनी चीज है। जिस प्रकार के मर्सिए उर्दू भाषा में पाए जाते हैं, वैसे न तो फारसी में हैं और न अरबी में। मर्सिया के साहित्य पर हिन्दी का कितना प्रभाव पड़ा है इसका थोड़ा-सा अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मीर अनीस जो मर्सिया-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं उनको हिन्दी के दस हजार दोहे कंठस्थ थे। जितने शब्दों का प्रयोग मीर अनीस ने किया है उतने शब्दों का प्रयोग उर्दू के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। परन्तु मीर अनीस की भाषा न तो कहीं दुरूह हुई है और न कहीं उसमें जटिलता ही आने पाई है। मर्सिया-काव्य का ध्येय श्रोताओं के हृदय को आर्द्र बनाना और उनमें करुण रस की निष्पत्ति करना था। इस काम में मीर अनीस को पर्याप्त मात्रा में सफलता प्राप्त हुई है। उनके बहुत से ऐसे मर्सिए हैं, जिनको पढ़ते समय मनुष्य के भीतर से करुणा का वही स्रोत फूट निकलता है, जो रामायण के अयोध्याकांड के पढ़ने से।

इस प्रकार गदर से पहले उर्दू साहित्य में तीन धाराएं चल रही थी : दिल्ली का दुःखवाद, लखनऊ का विलासवाद, मर्सिया का धर्मवाद। परन्तु १८५७ की क्रान्ति ने भारत की दुनिया ही बदल डाली। अब न दिल्ली स्वतन्त्र

ो और न लखनऊ। कुंठित देश एक नई भावना से पीड़ित था, और उसके लिए नवीन भाषा और भाव की याचना कर रहा था। इसलिए हम यह पाते हैं कि महाक्रान्ति के पश्चात उर्दू ने एक नवीन वाग्योग और नई भावना की अभिव्यक्ति स्वीकार की।

जब दो राष्ट्रों या दो संस्कृतियों में परस्पर संघर्ष होता है, तो उनके फलस्वरूप जो सांस्कृतिक उन्मेष घटित होता है, उसमें उन दोनों का समन्वय होता है। परन्तु यह समन्वय एक ही दिन में नहीं हो जाता। इसके लिए काफी समय चाहिए और इसके लिए साधारणतया तीन मंजिलों से गुजरना पड़ता है। पहले विजेता की संस्कृति विजित की संस्कृति को छाप लेती है, और विजित जाति के साहित्यकार विजेताओं के साहित्य की नकल कर अपने को धन्य मानते हैं। वह अपने अतीत और संस्कृति को एक सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। इस स्थिति में साहित्य का सर्जन नहीं होता, केवल अनुकरण होता है। इस नकल को ही प्रायः प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहा जाने लगता है। परन्तु मनुष्य की आत्मा कभी नकल करने से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह नित्य-नूतन सर्जन में ही शान्ति पा सकता है। सर्जन विश्व के विधाता का नियम है, और जो आत्मा उसी विधाता का अंश है, वह भी नये सर्जन के लिए सदैव विकल रहता है। साथ-ही-साथ राष्ट्रीय जीवन में भी आत्मग्लानि के पश्चात आत्मश्लाघा का एक समय आता है, जब प्रत्येक नई वस्तु को प्रत्येक नये विचार और भावनो को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है, अतीत की पूजा की जाती है और वर्तमान की अवहेलना जीवन का एक अंग बन जाती है। वस्तु और आदर्श का संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप नवीन और पुरातन दोनों से ऊंचा उठकर सनातन तत्त्व की खोज मनुष्य की आत्मा का ध्येय बन जाती है। वह वर्तमान और अतीत के देश और काल के पर्दों के पीछे एक सनातन सत्य की झांकी देखता है। एक ऐसा सत्य, जो परिस्थितियों से आच्छादित हो जाता है, परन्तु नष्ट नहीं हो जाता। सूर्य की तरह मेघमालाओं से घिर जाने पर भी उसका प्रकाश किसी स्तर पर देदीप्यमान रहता है। समन्वय-काल में इसी सनातन तत्त्व की प्रस्थापना होती है। यही जीवित जातियों और भाषाओं का विकास-मार्ग है।

उर्दू भाषा के लिए भी इन तीनों परिस्थितियों के बीच से पार होना अनिवार्य है। दो परिस्थितियों से वह गुजर चुकी है, तीसरी परिस्थिति के लिए उसे तैयार होना है। महाक्रांति के बाद के साहित्य-स्रष्टाओं में मौलाना अल्ताफहुसैन 'हाली' और 'आजाद' का नाम प्रमुख है। वे दोनों उर्दू के गजल, उसके शृंगार, उसकी रूढ़िग्रस्त उपमाओं और उसके संकुचित क्षेत्र से ऊब उठे थे। इसलिए वे अंगरेजी की प्रवृत्ति-सम्बन्धी कविता का अनुसरण करते हैं। विदेश का पौधा इस देश की सांस्कृतिक भूमि में लगाते हैं और उसको अपनी प्रतिभा से सींचते हैं। परन्तु वह पौधा इस देश की भूमि के अनुकूल नहीं है, केवल विलायत के पौधे की नकल है। उससे इस देश के लोगों की तृप्ति नहीं होती, इसलिए वह आप-ही-आप मुरझाकर सूख जाता है। इसलिए हाली और आजाद की गदर-बाद की पहली कविताओं में रस नहीं है। ऐसा लगता है कि वे पद्य में लिखे हुए नीरस निबन्ध हैं। इस समय में केवल अंग्रेजी साहित्य की नकल ही नहीं होती, उसकी कुछ कविताओं का अनुवाद भी होता है। यह सब समय है १८८५ के पहले का, जब इस देश में राष्ट्र की मुक्ति के लिए न तो व्यापक क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुए थे और न कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन और कांग्रेस की स्थापना इस देश के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखते हैं। वे एक राष्ट्र के निश्चय-बल की घोषणा करते हैं। वह राष्ट्र केवल अंग्रेजों की नकल से ही सन्तुष्ट नहीं है, अपने लिए एक स्वतन्त्रता का चित्र चाहता है। स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व एक ही वस्तु हैं। यह स्वतन्त्रता की भावना और व्यक्तित्व उत्पन्न करने की चेष्टा देश में विभिन्न प्रकारों में फूट पड़ती है। कहीं उसका नाम है क्रान्ति-आन्दोलन, और कहीं उसका नाम है पुनर्जागरण। साहित्य का क्षेत्र भी इससे बचा हुआ नहीं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस देश को आत्म-विश्वास के लिए बहुत कुछ तैयार कर दिया था। उन्होंने अपने समय के हिन्दू नवयुवकों के मन में यह भावना भर दी थी कि चाहे हम इस समय किसी भी विषम परिस्थिति में क्यों न पड़ गए हों, हमारे पास ज्ञान की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक वेद हैं, जो विश्व के साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। हिन्दू नवयुवक दयानन्द की इस विचारधारा से प्रभावित हुए, उनके डूबते हुए हृदयों को सहारा मिला और वे अपने पैरों पर खड़े हो सके। उन्होंने अपनी प्रतिभा को एक नये सृजन के कार्य

में लगाया। विदेश की नकल से हटकर अब तक अतीत के प्रति गौरव के अनुभव करने की कहानी प्रारम्भ होती है। परन्तु इसी समय नाटक के रंगमंच पर विदेशी राजनीति का खिलाड़ी आ पहुंचता है जो यह अनुभव करता है कि इस तीस करोड़ के जनसमुदाय पर शासन करने की केवल एक तरकीब है, और वह यह कि हिन्दू और मुसलमानों को आपस में लड़ाया जाय। मीर सैयद अहमदखां इस कूटनीति के चंगुल में फंस जाते हैं और उनके द्वारा अलीगढ़ में एक मुहमडन कालेज की स्थापना होती है, जो आगे चलकर राष्ट्र-विरोधी विचारधाराओं का केन्द्र बन जाता है। सर सैयद 'हाली' को भी अपनी ओर खींच लेते हैं, और वह अलीगढ़ में अध्यापक नियुक्त हो जाते हैं। वही हाली, जिन्होंने पहले 'हुब्बे वतन' के शीर्षक से एक बड़ी लम्बी कविता लिखी थी, जिसमें हिन्दू-मुसलमान सबको एक राष्ट्रीयता की साधना में लग जाने को पुकारा था, अब 'शिकवए हिन्द' और 'मद्दो जज़र इस्लाम' नाम की कविताएं लिखते हैं। 'हुब्बे वतन' नाम की कविता नीरस है, पर उसके विचार स्पष्ट हैं। वह राष्ट्र-विरोधी नहीं हैं। शिकवए-हिन्द (भारत से उपालम्भ) में हाली इस देश में कोई गौरव की वस्तु नहीं पाते। वह यह अनुभव करते हैं कि इस्लाम जिस व्यापक ध्येय को लेकर चला था वह भारत में आकर समाप्त हो गया। जो धर्म अपने जीवन के प्रथम सत्तर वर्षों में ही स्पेन से लेकर अफगानिस्तान तक फैल गया था, उसका बेड़ा गंगा के दहाने में जाकर डूब गया।

राजनीति का प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर भी पड़ा। अंग्रेजों ने जो नीति पहले अपनाई थी, वह अंशतः मुस्लिम-विरोधी थी। परन्तु उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि देश की राजसत्ता का अपहरण हमने मुसलमानों के हाथों से नहीं, वरन हिन्दुओं के हाथों से किया है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि हिन्दू स्वतन्त्रता चाहता है और मुसलमान राजसत्ता का भूखा है। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी साम्राज्यवाद और हिन्दू के बीच में कोई स्थायी समझौता नहीं हो सकता है। हां, सत्ता के बटवारे के विषय में मुसलमान से समझौता किया जा सकता है। मुसलमानों में एक ऐसा प्रबल दल विद्यमान था, जो देश में प्रजातन्त्रवाद की अपेक्षा अंग्रेजों के शासन को अधिक पसन्द करता था। अलीगढ़ कालेज इस मनोवृत्ति का केन्द्र बन गया, और वहां से जो विद्यार्थी निकले उनमें से ९० प्रतिशत साम्प्रदायिकता का विष अपने मन में लेकर लौटे और जहां-जहां वे गए, उन्होंने इस विष को बोना प्रारम्भ कर दिया।

पुरानी पीढ़ी धार्मिक सहिष्णुता के वायुमंडल में पली थी। दोनों जातियों के मान्य व्यक्ति धर्म का परस्पर विरोध करते हुए भी मानवता के कुछ ऐसे मूल्यों को स्वीकार करते थे, जिनके विषय में कोई मतभेद न था; जो बुराई को बुरा और अच्छाई को अच्छा समझते थे और जिनकी धार्मिकता साम्प्रदायिकता से अभिभूत न थी। इस्लाम का वह रूप जो उसने इस देश में आते समय प्रदर्शित किया था, बहुत कम उग्र रह गया था। एक ऐसी विचारधारा का जन्म हुआ था, जो मंदिर और मस्जिद को गौण स्थान देती थी, और हृदय की अन्तर्भावना को मुख्य; जो मुस्लिम होते हुए भी हिन्दुओं के योगियों और संन्यासियों के प्रति आकर्षित हुई थी और जो हिन्दू होते हुए भी मुसलमानों के समाग्रत हसन और हुसेन का आदर करती थी। जो विष अलीगढ़ कालेज के नवयुवकों ने बोया, उससे वह विचारधारा नष्ट हो गई। बुझते हुए कोयलों को फिर नई वायु का प्रोत्साहन मिला और वह धधकने के लिए व्यग्र हो उठे।

यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक समय ऐसा अवश्य आया, जब उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक श्रेणी-विशेष के लोगों की भाषा बन गई थी। या यों कहिए कि वह उत्तर भारत की एक शहरी उपभाषा बन गई थी। मूल हिन्दी भाषा कभी अपने स्थान से च्युत नहीं हुई। उर्दू भारतीय भाषाओं के परिवार में हिन्दी की एक नई शैली के रूप में आई और उसको इस देश की अन्य सब भाषाओं की तरह दुलार और स्नेह मिला। परन्तु उसका रूप केवल एक शहरी उपभाषा का रहा; देश की वास्तविक भाषा, अर्थात जनता की भाषा, वह कभी नहीं बन पाई। फिर भी उर्दू अपनी ही वस्तु थी इसी देश की थी और उस पर भारतीयता की एक गहरी छाप लगी हुई थी। मिर्जा गालिब के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों समाविष्ट थे। अन्य कवियों के शिष्य-जनों में भी हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। तुलसीकृत रामायण की बहुत-सी प्रतियां अब भी पुराने घरों में उर्दू लिपि में छपी हुई मिलेंगी और साठ-सत्तर वर्ष से पहले के संग्रहकर्ताओं के घरों में तो ऐसी पुस्तिकाएं मिलेंगी, जिनमें हिन्दी-छन्द उर्दू लिपि में लिखे हुए पाए जाते हैं। यह आदान-प्रदान केवल एक ओर से न था। उर्दू के कुछ कवियों ने ऐसी कविताएं भी लिखी हैं जिनमें तीन पंक्तियां होती

हैं और दो प्रथम पंक्तियां हिन्दी का दोहा होता है और तीसरी पंक्ति उर्दू के किसी छन्द से उर्दू की पंक्ति होती है।

यहां यह बात याद रखने योग्य है कि दोहा के समान उर्दू में कोई छन्द नहीं है; यद्यपि गीतिका, हरिगीतिका, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्दों के समानान्तर छन्द उर्दू भाषा में उपलब्ध हैं। उर्दू में हिन्दुओं ने रामचन्द्र की कथा लिखने का प्रयास किया, क्योंकि भगवान राम की कथा भारतीय संस्कृति का प्राण रही है। और जिसने भगवान राम के जीवन के मर्म को नहीं समझा उसने भारतीय संस्कृति को नहीं समझा; तथा जिसने भगवान राम की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली उसने हिंदू संस्कृति स्वीकार कर ली। मुंशी जगन्नाथप्रसाद खुश्तर का एक ऐसा प्रयास बहुत प्रचलित है। इसके अतिरिक्त और भी इस प्रकार के प्रयास किये गए, परन्तु वे इतने प्रचलित नहीं।

उर्दू के जन्म के समय मुगल-साम्राज्य में हिन्दू और मुसलमानों को पास लाने का प्रयास चल रहा था। उस समय जो कविता उर्दू में हुई, उसमें हिन्दी-शब्द बहुतायत से मिलते हैं। वह मुगल-साम्राज्य के उत्कर्ष का काल था, सब दिशाओं में समन्वय चल रहा था। साहित्य, संगीत, कला, जीवन सबमें हम सब एक दूसरे के निकट आ रहे थे। रामायण और महाभारत का अनुवाद संस्कृत से फ़ारसी में हुआ था। इस समय के प्रमुख मुसलमानों में और कोई दोष चाहे रहे हों पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि धर्म के नाम पर उनकी कट्टरता कम हो चली थी। हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानों का सूफी मत एक दूसरे के बहुत निकट थे, और दोनों जातियों में भिन्न-भिन्न नामों से उनकी विचारधारा सबसे अधिक सम्मानित थी।

मुसलमानों की नई राजनीति ने साधारण मुसलमानों को यह समझने के लिए विवश किया कि वे हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न हैं। उनका धर्म हिन्दुओं से भिन्न है, उनकी संस्कृति भिन्न है तथा उनके जीवन के मानबिन्दु भी भिन्न हैं। वे देश के शासक रहे हैं और शासन करना उनका जन्मजात अधिकार है। हिन्दू शासित रहा है और उसको मुसलमानों की अधीनता में रहना ही चाहिए। यह बात नहीं है कि मुसलमानों में इसके प्रतिकूल विचार रखने वाले व्यक्ति मौजूद नहीं, परन्तु उद्वेगों की धारा में विचारों के लिए कोई स्थान शेष नहीं रहता। मुसलमान सत्ता की मदिरा की धारा में बहे जा रहे थे, और किसी भी साधारण व्यक्ति के लिए, उस नशे का उतारना, जो उनके ऊपर चढ़ रहा था, असम्भव था।

उर्दू-साहित्य में भी इस स्थान पर स्पष्ट रूप से दो दल हो गए। एक वह जो देश की स्वतन्त्रता के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करता था और दूसरा वह जो मुस्लिम सत्ता के पुनरुत्थान से। ये दोनों विचारधाराएं उर्दू-साहित्य में भी स्पष्ट रूप से देखी जाने लगीं।

देश और विदेश में बहुत-सी ऐसी घटनाएं हुई जिससे दूसरी प्रकार की भावना को बल प्राप्त हुआ। एक भावना थी बलकान की लड़ाई; दूसरी, उसके पश्चात टर्की के ऊपर विजय प्राप्त करना और उसकी आड़ में पैन-इस्लामिज्म का उदय। देश के अन्दर जो घटनाएं हुई उनमें थी १९०६ की पृथक निर्वाचन और मुस्लिम लीग की स्थापना, हिन्दी की खड़ीबोली का उदय और उसका न्यायालयों और शिक्षालयों में प्रथम स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्ष।

सन १९२० तक ये दोनों धाराएं स्पष्ट रूप से देश के सामने नहीं आई थीं। सन १९२० में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में हिन्दू और मुसलमान बाह्यतः एक-दूसरे के बहुत पास आ गए थे, परन्तु साथ-ही-साथ विचार में एक दूसरे से बहुत दूर भी हो गए थे। हिन्दुओं के लिए सारे संघर्ष और पुरुषार्थ का मानबिन्दु था देश की स्वतन्त्रता। मुसलमानों के लिए उसका मानबिन्दु था खिलाफत की संरक्षा। इसीलिए जब हममें एकता का मार्ग अवरुद्ध हो गया, तो विचारों की भिन्नता अपने उग्र रूप में प्रकट हो गई। यह सत्य है कि जब डा० इकबाल यूरोप की यात्रा करके सन १९१० ई० या उसके लगभग भारत में लौटे थे तो उनकी वैयक्तिक विचारधारा में आमूल परिवर्तन हो चुके थे। यूरोप जाने से पहले वह एक उत्कृष्ट राष्ट्रीय कवि थे और इनकी उस समय की लिखी हुई कविताएं राष्ट्र की साहित्यिक सम्पत्ति की मूल्यवान निधियां हैं। अपनी यूरोप की यात्रा में उन्होंने यूरोप की भयंकर राष्ट्रीयता का उग्र रूप देखा। साथ ही-साथ वह बर्गसां, नीत्शे और ट्राट्स्की के दर्शन के भी सम्पर्क में आए। जर्मनी से उनको अपनी डाक्टरेट की डिग्री मिली

थी और उस समय जर्मनी सत्तावाद (डिक्टेटरशिप) की भावना से ओतप्रोत था। डा० इकबाल ने भी इसी प्रवाह में अपना सन्तुलन खो दिया। जब वह भारत लौटे तो वह पैन-इस्लामिज्म के एक उग्र कवि थे। जहां पहले उन्होंने हिमालय, नया शिवाला, तस्वीरे-दर्द और हिन्दी तराना नामक कविताएं लिखी थीं, वहां अब उन्होंने शिकवा, जवाबे शिकवा, शमा और शायर, तुलूए इस्लाम और तरानये-मिल्ली नामक कविताएं लिखीं। उन्होंने अपनी इन कविताओं में इस्लाम की गिरती हुई राजनीतिक सत्ता का रोना रोया है और मुसलमानों को फिर उस सत्ता को प्राप्त करने के लिए उत्तेजित किया है।

जिस समय उन्होंने राष्ट्रीय कविताएं लिखी थीं उस समय देश बंगाल के विभाजन के उत्पीड़ित था और उस विभाजन के प्रतिशोध के लिए स्वदेशी-आन्दोलन भी चलाया गया था। उस समय उर्दू कविता एक नया रूप बदल रही थी। 'हाली' और 'आजाद' का वह जमाना बीत चुका था, जिसमें उर्दू कविता ने अंग्रेजी कविता से न केवल प्रेरणा ही प्राप्त की थी, बल्कि उसका अनुकरण भी किया था। यह इस शती से पहले की बात है। इस शती के साथ ही साथ उर्दू के तीन प्रमुख कवियों ने अपना साहित्यिक जीवन शुरू किया : डा० इकबाल, 'चकवस्त' लखनवी और 'सुरूर' जहानाबादी। पहले डा० इकबाल अपने इस्लामत्व से राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो रहे थे। सुरूर जहानावादी की राष्ट्रीयता की साहित्यिक साधना की पृष्ठभूमि हिन्दू धर्म था और चकवस्त हिन्दू और मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति के संदेशवाहक थे। इकबाल के हृदय में भारत के प्राचीन ऋषियों के प्रति सन्मान और आदर का भाव था, वह उनके विरोधी न थे। अपनी 'हिमालय' नामक कविता में उन्होंने उस पुरानी संस्कृति के पुनरुत्थान की ओर स्पष्ट संकेत भी किया है : 'दौड़ पीछे की तरफ ऐ गर्दिशे ऐयाम तू।'

सुरूर जहानाबादी ने बहुत-सी ऐसी कविताएं लिखी हैं जो भारत की प्राचीन संस्कृति के सन्देश से गर्भित हैं। सीताजी की बेकरारी, नल-दमयन्ती, चित्तौड़ की गुजिश्ता अजमत, 'सती' इत्यादि उनकी अनेक ऐसी कविताएं हैं। परन्तु मुसलमानों के प्रति उनके काव्य में हमें एक उदात्त उदारता और संवेदना का भाव मिलता है। चकवस्त के यहां प्रारम्भ से ही हिन्दू और मुसलमान दोनों परम्पराओं को मिलाने का प्रयत्न विद्यमान है जो लखनऊ की विशेष संस्कृति के अनुरूप ही है।

सुरूर का देहान्त सन १९१० ई० में हो गया उस समय उनकी आयु केवल ३७ वर्ष की थी। वह अपनी प्रतिभा का पूरा दान साहित्य को न दे सके। चकवस्त का शरीरपात सन १९२६ ई० में हुआ। उस समय आयु केवल ४४ वर्ष की थी और वह बहुत कुछ उर्दू की सेवा करने की योजना बना रहे थे। उस समय उनकी कविताएं बहुत लोकप्रिय हो गई थीं। रामायण का एक सीन, ऐनी बीसेंट की गिरफ्तारी, भारत के सैनिकों को विदा आदि उनकी कविताएं सीधी हृदय पर चोट करने वाली हैं और एक सात्विक उत्तेजना प्रदान करती हैं।

सुरूर और चकवस्त की मृत्यु के पश्चात राष्ट्रीयता का कोई कवि उर्दू भाषा में ऐसा न रह गया था, जो किसी अंश में भी डा० इकबाल की समता कर सकता था। इसलिए उर्दू पढ़ने वालों को और विशेषकर मुसलमानों को जो प्रेरणा मिली वह डा० इकबाल से ही। इस समय भी कुछ उर्दू के साहित्यिक, जिनमें भी हमीदुल्ला 'अफसर' विशेष उल्लेखनीय हैं, श्री शब्बीर हुसेन 'जोश' के साथ उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता के दीपक की बुझती हुई लौ के बढ़ाने में प्रवृत्त रहे। परन्तु इकबाल के साहित्य के सर्जन और दर्शन की उनसे कोई तुलना नहीं की जा सकती।

देश का यह भी दुर्भाग्य था कि इसी समय में अजमलखां का देहांत हो गया। हकीम अजमलखां, हिन्दू और मुसलमान, दोनों में समान रूप से समादृत थे और उनका प्रभाव दोनों पर था। दूसरा आघात जो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को पहुंचा वह डा० अंसारी के निधन से। डा० अंसारी के निधन के पश्चात मुस्लिम जनता साम्प्रदायिक पंजे में अच्छी तरह से जकड़ गई। १९३० में जिन मुसलमानों ने देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लिया था उनकी संख्या १९२० के आन्दोलन में भाग लेने वालों की अपेक्षा कहीं कम थी। परन्तु संख्या से भी अधिक मत्त्हव की बात उनके स्तर की थी। सन १९२० में जिन मुसलमानों ने भाग लिया था, वे अपने समाज में एक सम्मान का स्थान रखते थे; परन्तु सन १९३० में जिन लोगों ने भाग लिया उनका कोई स्थान दूसरे समाज में न था।

सन २० का राष्ट्रीय आन्दोलन जब समाप्त हुआ, तो हिन्दू और मुस्लिम एकता की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह एकता अपने-अपने स्वार्थों पर अवलंबित थी और उसके पीछे कोई एकनिष्ठा या किसी एक संस्कृति के पीछे श्रद्धा की भावना न थी। उस प्रतिक्रिया में हमको मिला मुलतान और कोहाट का दंगा; महात्मा गांधी का २१ दिन का व्रत; स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय और महामना मालवीय का कांग्रेस से एक प्रकार से अलग हो जाना और दूसरी ओर मौलाना मोहम्मदअली और शौकतअली का भी कांग्रेस से अलग हो जाना। अंग्रेजी साम्राज्यवाद का कुचक्र सफल होने लगा और जो विष का वृक्ष अलीगढ़ कालेज में बोया गया था, वह साम्प्रदायिकता के वसन्त में अपने विषमय फल लाने लगा। महात्मा गांधी ने एक महान तपस्वी की तरह फिर भी अपना सन्तुलन नहीं खोया। वह फिर भी दोनों सम्प्रदायों को पास लाने के प्रयत्न में संलग्न रहे। इस संकट-काल में हमारे साथ दो प्रमुख मुसलमान नेता थे, एक खान अब्दुलगफ्फार खां और दूसरे मौलाना आजाद। मुसलमान खान अब्दुलगफ्फार खां का सम्मान करते थे परन्तु सीमाप्रान्त को छोड़कर और कहीं भी मुसलमान उनका राजनीतिक नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। मौलाना अबुलकलाम आजाद का प्रभाव मुसलमानों में मौलवियों और उन लोगों पर एकरूप था जो धार्मिक मनोवृत्ति रखते थे। परन्तु उनका प्रभाव उन लोगों पर अधिक न था जो मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए राज-सत्ता चाहते थे। इस समय मुसलमानों के सामने दो वस्तुएं थीं, साम्प्रदायिकता की मदिरा और राष्ट्रीयता का गंगाजल। साधारण मुस्लिम ज़नता ने उस मदिरा को ग्रहण करना ही स्वीकार किया। राष्ट्रीयता में मुसलमानों को यह मनमोहकता और मादकता नहीं मिली जो उन्हें साम्प्रदायिकता में मिली। उर्दू भी इन साम्प्रदायिकता के पुजारियों के पंजे में पड़कर साम्प्रदायिकता की भाषा बन गई। वह साम्प्रदायिकता का ही स्वर अलापने लगी और उस का ही गीत गाने लगी। आजकल जो उर्दू के प्रति एक शंका है, उसका मूल उर्दू के इस साम्प्रदायिक संगीत में ही है।

यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि फारसी के अक्षर ग्रहण करने के कारण उर्दू अपना उद्भव उससे कैसे मान बैठी; हां यह अवश्य हुआ कि युग की समस्त चेतनाओं का प्रभाव अपरोक्ष रूप से उर्दू पर भी पड़ता रहा। यह भी सत्य है कि उर्दू ने आरम्भ से ही फारसी-साहित्य का जो प्रभाव ग्रहण किया था उसे ही अंत तक निष्ठापूर्वक साधे रहने की चेष्टा की और यहां तक कि फारसी साहित्य में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को भी ग्रहण नहीं किया; तो भी उर्दू के कवियों को स्वीकार करना पड़ा कि ज़माने में इश्क के अलावा और भी सैकड़ों ग़म हैं।

ग़ज़ल प्रयुक्त तो ग़ज़ल के ही रूप और अर्थ में हुई, पर 'माशूक' अलबत्ता माशूक नहीं रह गया। अंग्रेजों से हुकूमत लेने की कविताओं में 'हुकूमत' माशूक हो गई, साम्यवाद के दौर-दौरे में 'रोटी'। खत एक ही रहा, मजमून बदलते रहे। मौ० मोहम्मदअली, शौकतअली, गांधीजी, हकीम अजमलखां, डा० जाकिर हुसेन आदि को राष्ट्रीयता का हामी पाकर मौलाना अबुलकलाम आजाद द्वारा उर्दू काव्य में भी राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत रचनाएं की जाने लगीं। सविनय अवज्ञा, असहयोग और सत्याग्रह का भी प्रभाव उर्दू पर उतना ही पड़ा जितना क्रान्तिकारी विचारधारा का और हिन्दुस्तान से लन्दन तक भारतीय 'तेग' चलने की कामना बराबर दोहराई जाती रही।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। दोनों बातों का प्रभाव उर्दू साहित्य पर पड़ा। देश में विभिन्न वादों ने प्रजातन्त्र के झंडे के नीचे अपना-अपना बिगुल बजाना आरम्भ किया। उर्दू के कवियों में भी मोर्चेबन्दी हो गई। यन्त्र-प्रधान व्यापारिक युग की समस्त संवेदनाएं उर्दू-काव्य में अभिव्यक्ति पाने लगीं। आदमी और श्रम की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गई। बुद्धिवाद की नास्तिकता ने भाग्य और भवानी की लिखा-पढ़ी को फफोड़ कर रख दिया, विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व की वकालत भी उर्दू कविता ने की। साम्राज्यवाद के अंत और समाजवाद की स्थापना का खुलकर स्वागत हुआ। 'बोल री धरती बोल' का उत्तर मिल गया।

यदि यह कहा जाय कि उर्दू-साहित्य इस नये मोड़ पर पहुंचते-पहुंचते अपनी कुंठाओं से मुक्ति पाकर मानवता के उन्नयन का समर्थक और माध्यम बन गया है तो अत्युक्ति न होगी। परन्तु उर्दू को लिपि के मामले में स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त हुई। विदेशी लिपि का बहिष्कार करने की आवश्यकता अनुभव की गई और बड़े-बड़े उदारमना उर्दू-लेखकों ने स्वीकार किया कि यदि उर्दू भाषा को देवनागरी लिपि में लिखा जाय तो यह गुलामी के लांछन से त्राण पा

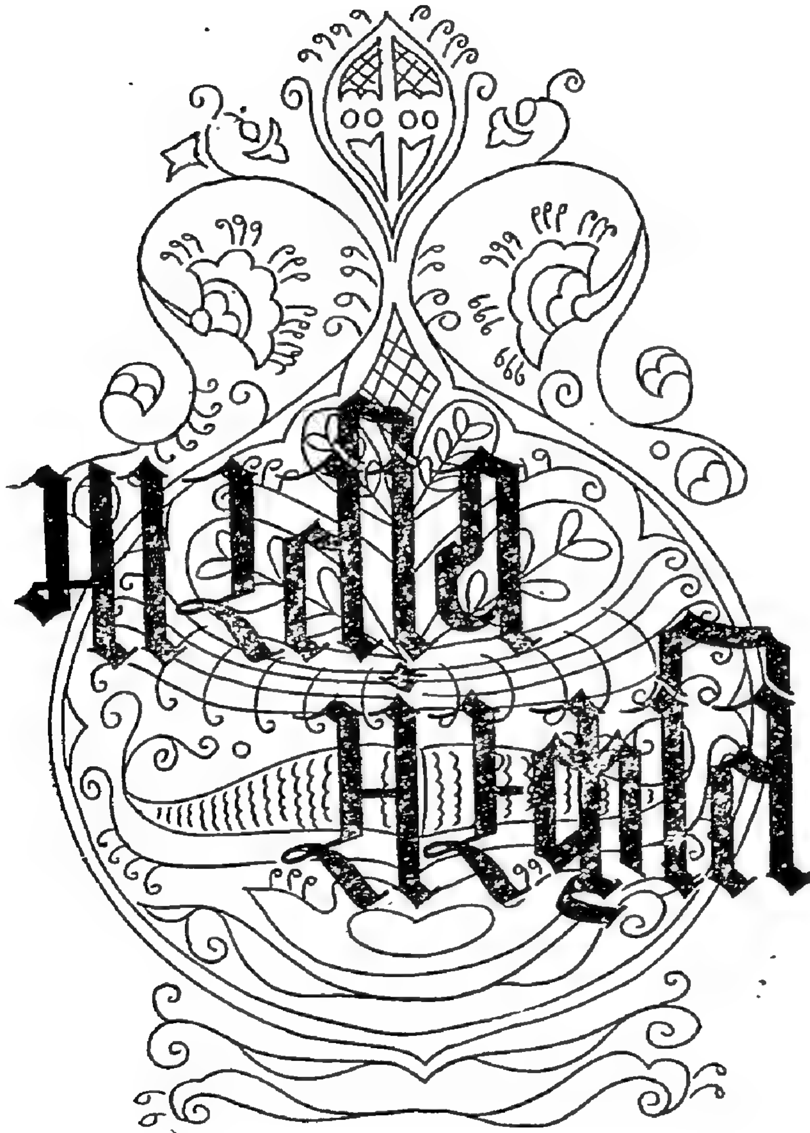
सकेगी। उर्दू के ऐसे भी समर्थक हैं जो इस वांछनीय परिवर्तन के विरोधी हैं। तो भी अब इस युग में परिवर्तन को अधिक दिनों तक स्थगित नहीं रखा जा सकता है। जिस भाषा ने समय से प्रभाव ग्रहण करते-करते इतनी उन्नति करली है, क्या वह संकीर्णता के इस क्षीण बन्धन में बंधी रह जायगी। यह सही है कि उर्दू के कुछ लेखक, जो कल तक अपने देश में राष्ट्रीयता के उन्नायक थे, आज पाकिस्तान पहुंच कर इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं। उर्दू के हिन्दुस्तानी अभिभावकों में भी इस प्रश्न पर दो मत हैं; तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि आज किसी कारण से जो व्यक्ति उचित-अनुचित का विवेक नहीं कर पा रहा है वह कल भी नहीं कर पाएगा।

उर्दू-कवियों के काव्य-संग्रह अब देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुए हैं। फारसी अक्षरों के समर्थकों को विचार करना चाहिए कि इससे पाठ में कहीं कोई अन्तर पड़ता है ? या यह कि उस साहित्य को अब उर्दू-साहित्य नहीं कहा जायगा ? प्रश्न पर उदारतापूर्वक आगे दूर तक देखते हुए किसी पूर्वाग्रह को मन में स्थान दिए बिना विचार करने की आवश्यकता है कि श्रेष्ठ क्या है और वरेण्य क्या है ?

पाकिस्तान द्वारा उर्दू भाषा गृहीत होने के कारण जो अवांछनीय गतिविधि भारत के उर्दू-साहित्य में परिलक्षित होती है, वह यहां की परम्पराओं के विरोध में जी सकेगी, ऐसा नहीं जान पड़ता। यहां उर्दू को समस्त अराष्ट्रीयता विसर्जित करके देश की अन्य भाषाओं से सम्बन्ध रखकर चलने की आवश्यकता है। अराष्ट्रीयता की यह दुर्भावना तब तक बनी रहेगी जब तक उर्दू विदेशी लिपि का बहिष्कार नहीं कर देती। फारसी लिपि और पाकिस्तान जैसे घोर सम्प्रदायवादी राष्ट्र से जब तक उर्दू-साहित्य का सम्बन्ध अक्षुण्ण रहेगा तब तक उसमें भारतीयता की भावना नहीं उत्पन्न होगी और यही प्रवृत्ति अंततः घातक सिद्ध होगी।

अतः आवश्यक है कि उर्दू-साहित्य के कर्णधार इस पक्ष पर विचार करें कि भारत की भाषा होते हुए अभारतीय प्रवृत्तियों को अपनाना उर्दू के लिए कहां तक मुनासिब है और इस प्रवृत्ति का परित्याग किए बिना क्या भारत में उर्दू जी सकेगी ?

उर्दू को जीवित, सुसम्पन्न और उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी के साथ उसने कृत्रिम भेद की जो दीवार खड़ी की है, उसे गिरा दिया जाय। प्रारम्भ में यह भेद नहीं था। उर्दू के आधुनिक आचार्य इंशा ने 'दरियाए लताफत' में उर्दू के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग किया है। आतिश ने भी 'उर्दू' के लिए 'हिन्दी' शब्द का इस्तैमाल किया है और सादी के समकालीन कवि बाकर आगाह अपने काव्य-संग्रह को 'दीवाने हिन्दी' कहते हैं। ऐसे अन्य भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में उर्दू के प्रतिष्ठित कवियों द्वारा हिन्दी-उर्दू का अभेद स्वीकृत था। किन्तु लिपि-भेद के कारण ही भेद की जड़ पड़ी और वह बढ़कर शैली-भेद के रूप में परिणत हुआ और आज वही भ्रम से भाषा-भेद मान लिया गया है। भाषा-भेद-विषयक यह भ्रान्त एवं अवैज्ञानिक धारणा आज इस देश में साम्प्रदायिकता एवं अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का अधिष्ठान बन गई है। इसको दूर करने के लिए हिन्दी और उर्दू के बीच का लिपि-भेद तुरन्त दूर कर देना आवश्यक है। इसको दूर करने के लिए हिन्दी तथा उर्दू दोनों पक्षों से सद्भावनापूर्ण सामूहिक प्रयत्न होना चाहिए। हिन्दी के पाठ्यक्रमों में मीर, गालिब आदि को हिन्दी का ही कवि मान कर स्थान दिया जाना चाहिए, उर्दू-साहित्य के इतिहास को भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अविच्छेद्य अंग मान कर अध्ययन किया जाना चाहिए। लिपि-भेद दूर हो जाने से शैली-भेद दूर होगा, और दोनों की सहज एकता की सम्यक प्रतिष्ठा हो सकेगी। एक ध्यान में रखने की बात है कि बंगाल और गुजरात में भी बहुसंख्यक समर्थ मुसलमान कवि हुए हैं, परन्तु वहां उर्दू की तरह लिपि या शैली का कोई भेद उत्पन्न नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण लिपि की एकता थी। हिन्दी और उर्दू के बीच लिपि-भेद दूर कर देने से हमारे राष्ट्रीय जीवन की अनेक जटिल साम्प्रदायिक समस्याओं का फल स्वतः प्राप्त हो सकता है।



सम्पादक—

रामधारीसिंह 'दिनकर'

जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

सम्पादकीय

यह संस्कृति खण्ड राजर्षि टंडन जी की सांस्कृतिक विचारधारा के प्रति एक छोटी-सी श्रद्धांजलि-मात्र है। संस्कृति का क्षेत्र असीम है, एक-एक विषय पर सैकड़ों ग्रंथ विद्यमान हैं। यहां पर भारतीय संस्कृति की कुछ मूल प्रवृत्तियों पर एक-एक लेख दिया गया है। सौभाग्य से भारतीय चित्र-कला, संगीत-कला तथा नाट्यकला में वर्तमान शताब्दी में जो प्रगति हुई है उसके भी अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित कुछ सर्वेक्षण हमें प्राप्त हो गये हैं। भारतीय संस्कृति के उद्‌गमकालीन कुछ मूल प्रश्नों पर तथा संस्कृतियों के समन्वय पर भी इस खण्ड में कुछ विचार प्रकट किये गए हैं जो हिंदी के लेखकों को इन विषयों पर और अधिक ध्यान देने के लिए आकर्षित करते हैं। इस छोटे-से खण्ड में भी हमें हिंदी के कुछ माने हुए विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो सका, इसके लिए हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं।

इन्द्र

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

ऋग्वेद में इन्द्र देवता की महिमा और व्याख्या के अनेक मंत्र हैं। 'इन्द्र' ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाय, तो उसके लिए 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है। इस विश्व में सर्वव्यापक शक्ति-तत्त्व इन्द्र है। इस शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्यप्राण भी इन्द्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि कोई मूलभूत शक्ति या अग्नि इस देह में प्रतिष्ठित हुई है। उसी के संचालन से अन्य सब अवयव कार्य में प्रवृत्त हैं। वह अग्नि या जीवनी-शक्ति समिद्ध होने के कारण 'इन्ध' कहलाती है। उसका शतायु-पर्यन्त समिन्धन हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वनस्पति, पशु और मानव, इन तीन धरातलों या रूपों में वह शक्ति प्राणनक्रिया कर रही है। उसकी मध्यगत सत्ता से ही जीवन का सत्र संतत है। इस शक्ति की संज्ञा इन्धनात्मक होने के कारण परोक्ष या सांकेतिक भाषा में 'इन्द्र' कही जाती है। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस निरुक्ति का जो कुछ मूल्य हो, तात्त्विक दृष्टि से यह नितान्त सत्यात्मक है।

मध्य या केन्द्रीय प्राणशक्ति मूलरूप में 'एक' है, किन्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति में आते ही वह 'बहुधा' हो जाती है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** ऋषियों का दर्शन है। यह अर्थवाद या कथन-मात्र नहीं, सृष्टि का अविचल तथ्य है। विश्व में मूल शक्ति एक है पर उसके रूप बहुधा हैं। शरीर की मूलभूत शक्ति एक है, पर वही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राण, मन आदि के रूप में कार्य करती है। इन्हें 'देव' कहा जाता है। स्थूल इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता शक्ति के ही रूप हैं। इन्द्रियों को प्रकारान्तर से 'लोक' कहा गया है, और उनके देवों को लोकी या लोकपाल। देवों का अधिपति इन्द्र एक होते हुए भी नाना-रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसके मूल में इन्द्र की प्रातिस्विक शक्ति ही कारण है, यही उसका स्वभाव है:

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपे ईयते'

शरीर में इन्द्रियों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उनके मूल में इन्द्रशक्ति सक्रिय और सत्तावान है। वनस्पतिजगत, पशुजगत और मानवजगत इन तीनों में इन्द्रियों का विकास देखा जाता है। वृक्ष भी स्पर्श का अनुभव करते हैं। उनमें स्पर्शेन्द्रिय का, अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विकास है। जहां इन्द्रिय की क्रिया है उसके मूल में मन-स्तत्त्व अवश्य रहता है। अतएव इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा जाता है:

'यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।'

इन्द्र मनस्वी देव है। उसी की सत्ता अन्य देवों या इन्द्रियों को क्रतु या संकल्पात्मक कर्मशक्ति से युक्त करती है।

इन्द्र इन्धनात्मक शक्ति है। उसके तीन रूप हैं: मन, प्राण, वाक्। पंचभूतों की संज्ञा वाक् है। क्योंकि पंचभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है जिसका गुण शब्द है; अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन रूप एक ही मूलभूत शक्ति-तत्त्व के हैं। स्थूलभूत रूप में इन्द्र कहा जाता है। अग्नि पृथ्वी-लोक की, वायु अन्तरिक्ष-लोक की और इन्द्र या आदित्य द्युलोक की शक्ति है। द्युलोक में जो आदित्य है, उसे ही इन्द्र भी कहा जाता है:

'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'

हम अपने ही शरीर में देखें। जठराग्नि वासव इन्द्र है जो वसु या भूत-तत्त्वों को शरीर में सम्भृत करता है। मध्यभाग में मरुत्वान् इन्द्र है जो हृदय और फुप्फुस का संचालन करता है। यह ठीक वैसी ही विद्युत्-शक्ति है जो किसी यन्त्र को संचालित करती है। मरुत् या प्राणों के द्वारा ही यह विद्युत् मिल रही है। तीसरा मस्तिष्क-संस्थान है जहां चिन्तन या मननशक्ति का अधिष्ठान है। वह सबसे सूक्ष्म और व्यापक है, एवं उसकी शक्ति सबसे अधिक प्रभावशालिनी है। वह मघवान् इन्द्र है। मन की यज्ञिय शक्ति ही मघ-तत्त्व है। मघतत्त्व के अयान में ही मन मोहग्रस्त होता है।

इन्द्र का रथ यह शरीर है। इन्द्र को अपने रथ में गति की आवश्यकता है। गतितत्त्व ही अश्वतत्त्व है। पंजर का नाम रथ नहीं। रथ वह है जिसमें पंजर का संचालन-वाहन भी हो। इन्द्र के रथ में दो अश्व हैं। उन्हें ही 'अश्विनी' कहते हैं। प्राणापान या प्राण के द्विविध रूप ही अश्विनीकुमार हैं। प्रत्येक शरीर को जीवन या प्राणन की आवश्यकता है। वनस्पति, पशु, मानव इन तीनों को गति या स्पन्दन प्राणापान से ही प्राप्त होता है। दो रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी प्राण एक ही है। शतपथब्राह्मण में उसकी यथार्थ वैज्ञानिक परिभाषा की गई है :

'प्राणे वै समंचनप्रसारणम्'

फैलना और सिकुड़ना—यही स्पन्दन का रूप है। जहां यह क्रिया हो वहीं प्राणन की अभिव्यक्ति जाननी चाहिए। प्राणनात्मक कर्म ही जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह प्राणन-क्रिया श्वास-प्रश्वास की धौंकनी है। जिस शरीर में यह धौंकनी चल रही है उसी में जीवन है। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणापान की धौंकनी के लिए शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। विराट्-शक्ति की अभिव्यक्ति हमारे अनुभव में तभी आती है जब वह शरीर में प्रकट हो। भूत-प्राण-मन की समष्टि संज्ञा शरीर है। इसी संघात को 'देह' कहते हैं। प्रत्येक शरीर, शक्ति का एक आवपन या पात्र है। यही यज्ञ की वेदी है, अथवा समष्टि या विराट् भुवन का केन्द्र-बिन्दु या नाभि है :

'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'

इस मन्त्र-भाग में शरीर की सीमाएं प्रवर्तमान यज्ञ की ओर संकेत है। शरीर में जो शक्ति कार्य करती है, वह छन्द या सीमा से छन्दित हो जाती है। जहां छन्द है वहीं दैवी यज्ञ है। जो शक्ति छन्द से बहिर्भूत है वह आसुरी है। प्रत्येक शरीर, देश और काल के छन्द का अनुशासन मानकर जीवित है। जन्म, वृद्धि और अन्त ये कालकृत छन्द हैं जो क्रमशः शरीर की देशगत सीमा में प्रकट होते हैं। इन्हें ही गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन नामों से अभिहित किया जाता है।

ऊपर जिस 'अश्व' या 'अश्विनी' का उल्लेख किया गया है उसकी एक संज्ञा 'दध्यंग अथर्वा' भी है। अथर्वन् की दो व्युत्पत्तियां हैं, जो दोनों संगत हैं। शतपथ के अनुसार प्राण या अग्नि अथर्वा है। श० ६।४।२।१ तथा यजु० ११।३२ के अनुसार अथर्वा ने प्राणाग्नि का सर्वप्रथम मथन किया :

'अथर्वा त्वा प्रथमो निमन्थदग्ने'

अथर्वा में जो 'अथर्' शब्द है वह अग्नि का वाचक है, जिससे ईरानी परम्परा में 'अतर, आज़र-आतिश' शब्दों की परम्परा चली। पर गोपथ में एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है :

तद् यद् अब्रवीद अथ अर्वाङ् एनम् एतासु अपसु अन्विच्छ इति तद् अथर्वा भवत् तदथर्वणोथर्वत्वम्। (गो० पू० १।४)। अथ अर्वाग्, से अथर्वा की व्युत्पत्ति क्या संकेत करती है? पहले जल की सृष्टि और उसमें अग्नि का जन्म या गर्भधारण—यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसका ऋग्वेद में कई बार उल्लेख आता है—**'अग्नि अपांगर्भः'** (ऋ० ३।५।३); अर्थात् अग्नि जलों का पुत्र है। देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों में ढूंढ निकाला :

'अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम्।' ऋ० ३।१।३

पहले ऋतात्मक जल, फिर सत्यात्मक अग्नि—यही सृष्टि का क्रम है। माता-पिता का शुक्र-शोणित, ऋत या सोम है। उसमें शिशु प्राणरूप अग्नि का जन्म होता है। इस शिशु को ऋग्वेद में 'चित्र शिशु' कहा जाता है। यही क्रमशः चित होने वाला अदभुत प्राणतत्त्व या जीवन है। कवियों ने इसे ही 'कुमार' कहा है जो किसी देश या काल-विशेष

की विजड़ित घटना या लीला यही 'कुमारसम्भव' है जो तारकासुर-रूपी मनस्तत्त्व को मर्यादित करने वाली दैवी शक्ति है। **'चन्द्रमा मानसो जातः'** के अनुसार चन्द्रमा-रूपी नक्षत्र या तारक ही मन है।

जल पहली सृष्टि है : **अप एव समर्जादौ।** उसमें त्रयी विद्या का बीज अग्नि या प्राण का रूप है। वही 'अथ अर्वाग्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथर्वा है। यह अथर्वा गति का ही प्रतीक है। **यह अश्व या गति प्रत्येक प्राणी के मस्तक के साथ जुड़ा है।** ऐसा कोई जीवधारी नहीं जिसमें अथर्वा अश्व का शीर्षभाग न हो। इस वैदिक आख्यान का मूल तात्पर्य क्या है ? हमारा जो भौतिक शरीर है वह पार्थिव है। इस पृथ्वी को जो प्राणात्मक स्पन्दन प्राप्त है उसका मूल मनस्तत्त्व में है। भौतिक दृष्टि से भी समस्त शरीर में रुधिर का अभिसरण कराने वाला यन्त्र हृदय है। यह ऐसा इंजिन है जो जन्म से मृत्यु-पर्यन्त स्पन्दन या संधमन करता रहता है। जिस शक्ति से यह निरन्तर संचालित होता है वह वैद्युत शक्ति इन्द्र कही जाती है। यह अन्तरिक्षचारी मरुत्वान् इन्द्र है। पर इस प्राणात्मक शक्ति का प्रेरणा-केन्द्र मस्तिष्क में है जहां से हृदय नित्य संचालित रहने का विधान प्राप्त करता है। जो स्थूल मस्तिष्क है वह भौतिक है। किन्तु उसके आधार पर प्रतिष्ठित जो मनस्तत्त्व है वह देव कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे सूर्य के पांचभौतिक शरीर के मूल में भी कोई सूर्य या भौतिक मस्तिष्क को स्थूल विज्ञानगत साधनों से देखा या जाना जा सकता है। पर मस्तिष्क के अभ्यंतर में कार्य करने वाले मानस तत्त्व का केवल अनुभव किया जा सकता है। यही देवों का देवत्व है। प्रत्येक भूतात्मक संस्थान के पीछे यही देवमयी शक्ति है। वह देवात्मक मनस्तत्त्व, जो मस्तिष्क की प्रतिष्ठा है, इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद में इन्द्र को यथार्थ ही 'मानस्—वान्' कहा है। उसी की शक्ति अन्य सब देवों या शरीर-संस्थान के प्राणावयवों को शक्ति प्रदान करती है। वैदिक परिभाषाओं में अर्थ की व्यापकता निहित रहती है। अतएव प्राण की शक्ति भी इन्द्र है और मनस्तत्त्व भी इन्द्र है, एवं इन दोनों से ऊपर शुद्ध आत्मतत्त्व भी इन्द्र है।

अथर्वा को 'दध्यङ्' क्यों कहा जाता है ? कालान्तर के आख्यानों में इस को ही 'दधीचि' ऋषि की संज्ञा दी गई जिसके दृढ़ अस्थितत्त्व से इन्द्र के वज्र का निर्माण होता है। 'दधि अचंतीति दध्यङ्', अर्थात जो 'दधि' का निर्माण करता है वह दध्यंग प्राण है। इसे ही 'दधिक्रा' या 'धिक्रवा' भी कहा गया है। दधि का विकिरण करने वाला यह प्राण सूर्य के केन्द्र में है। वही अपनी रश्मियों से महती ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति का विकिरण या वितरण करता हुआ भूतों का निर्माण करता है। जिसे हम दधि कहते हैं, वह दुग्ध का जमा हुआ रूप है; उसे ब्राह्मण-ग्रन्थों में पृथिवी-लोक का प्रतीक माना गया है :

'दधि हैवास्य लोकस्य लोकस्य रूपम्।' शतपथ ७।५।१।३

गेहूं के पौधे में पहले जल या सोम संचित होता है। उस जलीय सोम में दूध मिलाया जाता है और वही दूध-रूपी सोम गेहूं के दाने के कोटर या पोखली में भर जाता है। अन्त में वही दुग्ध जम जाता है जिसे लोक-भाषा में दधि और विज्ञान की भाषा में श्वेत-सार या स्टार्च कहते हैं। पानी, दूध और दही, ये तीनों सोम के ही तीन रूप हैं। सोम के कूटने-पीसने-छानने, दूध मिलाने और पीने की समस्त प्रक्रिया प्रत्येक प्राणिसंस्थान में नित्य होती है। वनस्पति, पशु और मनुष्य, तीनों के शरीर का निर्माण सोम की चमत्कारिक पद्धति पर ही निर्भर करता है। जो प्राणतत्त्व इस सोमयज्ञ का संधमन करता है, जो जीवन की धौंकनी चलाकर शरीरगत उष्णता और बाह्य सूर्य की उष्णता से सोम का अधिश्रयण और पवित्रीकरण करता है, वही इन्द्र है। यदि वह इन्धनात्मक मध्यप्राण या समिद्ध जीवनीय अग्नि सक्रिय न हो तो सोम-सम्बन्धी कोई प्रक्रिया शरीर में सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रत्येक शरीर या देह-संस्थान में प्राणाग्नि द्वारा रस या सोम की शुद्धि और पावन के लिए तीन अच्छिद्र पवित्र लगे हुए हैं : पहला छानने का नतना शरीर की कोष्ठाग्नि या वैश्वानर है जो खाये हुए अन्न को पचाकर रसों को छानती है। आदि से अन्त तक यह अतिसूक्ष्म और पेचीदा रासायनिक क्रिया है जिसमें कई प्रकार के अम्ल और क्षार स्वयं उत्पादित होकर योग प्रदान करते हैं। दूसरे अच्छिद्र पवित्र प्राणापान है, और तीसरा मन है। शरीर की धातुओं का पवित्रीकरण इन तीनों के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाया जाता है। ये तीनों ही तीन प्रकार की अग्नियां हैं, अथवा एक ही अग्नि के तीन रूप हैं जो इसी कारण 'त्रिपवस्थ' कही जाती हैं। पहली पार्थिव वैश्वानर अग्नि को 'पवमान', दूसरी

आन्तरिक्ष्य प्राणापानरूपी अग्नि को 'पावक' और तीसरी दिव्य या मानस अग्नि को 'शुचि' कहते हैं। पहली पवमान अग्नि को निर्मथ्याग्नि भी कहा जाता है। यही शरीर की शक्ति के अरणि-मन्थन से मथी जाती है। जीवन की मूलभूत अग्नि यही है। यह पार्थिव या स्थूल है जो रासायनिक रूप में उन रसों में निवास करती है जिनसे शरीरस्थ अन्न-सामग्री का परिपाक किया जाता है।

इन्द्र और सोमपान

वेदों में इन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता सोमपान है। इन्द्र-रूपी अग्नि निरन्तर सोम चाहती है। सोम के अभाव में क्षणभर भी अग्नि का स्पन्दन या जीवन सम्भव नहीं। वैश्वानर जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। ऐसी ही जितनी धातुचितियां है सब एक-दूसरे से अनस्यूत हैं और सबमें प्राणाग्नि का संधमन हो रहा है। अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र का संस्थान पुष्ट किया जाता है। पहला सोम है, बादवाला अग्नि है। प्रत्येक को सोम और प्रत्येक को अग्नि के रूप में कार्य करना पड़ता है। ये ही अध्यात्म शरीर-यज्ञ की सप्त चितियां हैं। सर्वत्र इन्द्र के सप्त मरुतों की शृंखला व्याप्त है। प्रत्येक चिति में इन्द्र का सोमपान चालू है। सबसे अन्त में शुक्र और ओज से मनःशक्ति का निर्माण होता है। मन-रूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिए। सोम के भी अनेक रूप हैं। अंशु सोम स्थूल रसात्मक सोम है। सोम का अग्नि द्वारा जहां मन्थन होता है वहीं संस्थान 'ओषधि' कहलाता है। शरीर और उसके प्रत्येक अवयव या चिति में 'ओषधि'-संस्थान कार्य कर रहा है। दूसरा ग्रह सोम है जो शरीर के भिन्न भागों में या इन्द्रियों में प्राणशक्ति-रूप में संचित होता है। तीसरा राजा सोम है जो मनस्तत्त्व के रूप में आलोम-आनखाग्र व्याप्त है। इसे ही चन्द्रमा कहते हैं। चान्द्र सोम की शान्ति अमृत है जो शरीर को प्रतिक्षण जीवन देकर अमर बना रही है। सबसे अन्त का वाज सोम है जो हमारे भीतर बुद्धि या विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है और जो हमारे व्यक्तिभाव को समष्टि प्राण, समष्टि विज्ञान और समष्टि चेतना के साथ जोड़ने वाला यही वाज सोम है।

इन्द्र और बृहस्पति

इसके अधिष्ठाता बृहस्पति समष्टि विज्ञान या सूर्य के ही रूप है। ये इन्द्र रूपी व्यष्टि मन और व्यष्टि अहंकार या चान्द्र-सोम या प्रज्ञान के नियामक गुरु है। बृहस्पति की गौएं किसी अद्रि की गुफा में मुंदी है। वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओं को व्यष्टि जीवन के लिए उन्मुक्त करने वाला इन्द्र व्यक्ति का निजी मन है। बृहस्पति और इन्द्र दोनों एक-दूसरे से अविनाभूत हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक ब्रह्म है दूसरा क्षत्र है। जो क्षत्र है वही राजा है। जो राजा है वही धर्म का पालक या व्यवस्थापक है। धर्म ही मर्यादा या सीमाभाव है। यही व्यक्ति या व्यष्टि भाव है। क्षत्र से उच्चतर ब्रह्म भाव है। वह निर्धर्मक स्थिति है। उसमें सब धर्मो का अन्तर्भाव या समन्वय रहता है। वही ऋषि की स्थिति है। राजसूय से राजा और वाजपेय से सम्राट् बनता है—'**स वाजपेयेनेष्टवा सम्राडिति नामाधत्त।**' (गोपथ पू० ५।८) अनेक राजाओं का अधिपति सार्वभौम सम्राट् कहलाता है। एक जनपद की सीमित पृथिवी का स्वामी पार्थिव या राजा कहलाता है। समस्त जनपदों की भूमियों को वश में करने वाला सम्राट् होता है। व्यष्टि जीवन 'राजा' और समष्टि जीवन 'सम्राट्' के समान है। प्रत्येक जीवन एक इकाई, एक जनपद-राज्य या एक यज्ञ के समान है।

जीवन का अधिपति देवता इन्द्र है। एक-एक प्रजा या जनता में एक-एक इन्द्र होता है। जो उसका सर्वश्रेष्ठ और ओजिष्ठ-बलिष्ठ रूप है, वही इन्द्र कहलाता है। इन्द्र की शक्ति का स्रोत सोमपान है। सोम की वैदिक कल्पना एक ओर सरल और दूसरी ओर जटिल है। सारे विश्व की व्याख्या ही अग्नि-सोम के रूप में की गई है। **अग्निषोमात्मकं जगत्**—यही सृष्टि का संक्षिप्त सूत्र है। जहां भी प्राण या जीवन का स्पन्दन है वहीं अग्निषोमीय, पशु का आलम्बन हो रहा है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद में अन्न की आहुति ही यज्ञ है। सोम मातृतत्त्व, अग्नि पितृतत्त्व है। अग्नि अक्षर या शक्ति है, सोम क्षर या भूत है। अग्नि के बिना सोम निर्जीव है और सोम के बिना अग्नि अरूप रहता है।

सोम से ही भूतात्मक शरीर का निर्माण गर्भित मातृ-कुक्षि या गर्भ में किया जाता है। अग्नि रूप इन्द्र को सोम की उपलब्धि ही उसकी पूर्णता है।

सोम की व्याख्या

सृष्टि के मूलभूत शक्ति-तत्त्व को वेदों में पारमेष्ठ्य समुद्र कहा गया है। वही ऋत है—**'ऋतमेव परमेष्ठि।'** उस महती महीयान अखंड समुद्र की ऊर्मियां या लहरें ही विश्व का ओजायमान जीवन-प्रवाह है। उस महासमुद्र की तुलना में एक-एक विश्व एक ऊर्मि या एक मधुविन्दु है। उस मधुविन्दु की निरन्तर आहुति सूर्य को प्राप्त हो रही है। उसी सोमाहुति से सूर्य का जीवन संचालित है। सूर्य की एक संज्ञा इन्द्र भी है। सूर्य अपने विश्व का केन्द्र या मध्यप्राण या इन्द्र है। पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र धारा ही सूर्यरूपी इन्द्र का विराट् सोमपान है। समष्टि-विज्ञान के एकाकार अखंड संस्थान में जो सृष्टि के नाना भावों का उदय होता है, वही उसका सोमपान या मातृसंपर्क है जिससे व्यष्टि का अस्तित्व संभव होता है। जहां अग्नि में सोम की आहुति नहीं, वहां तम या अन्धकार व्याप्त रहता है। अग्नि का निजी रूप कृष्ण है, वह अनभिव्यक्त है। सोम से ही उसमें प्रकाश उत्पन्न होता है। जो अग्नि काष्ठ या समिधा में व्याप्त है वह कृष्ण है। अग्नि के संयोग से सोमरूप समिधा का समिन्धन ही ज्योति या शक्ति का आविर्भाव है। सूर्य या इन्द्र द्युलोक का अधिपति है। **'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** का यही तात्पर्य है। जहां 'द्युलोक' इन्द्र है वहीं द्युलोक है और जहां है वहां इन्द्र की सत्ता अवश्य है। कोई ऐसी पृथिवी नहीं जिसका निजी द्युलोक न हो। जो स्थूल दृश्य है वह भौतिक रूप पृथिवी है। उसी में अग्नि का पार्थिव रूप दिखाई पड़ता है। उस पृथिवी के आधार पर स्थिति अग्नि का जो विरल रूप है वही द्युलोक का इन्द्र तत्त्व है। जैसे कोष्ठ की अग्नि क्षरात्मक रसों के रूप में स्थूल है। उससे अन्ततः उत्पन्न होने वाली जो मन की विचार-शक्ति या ज्योति है वह उसका विरल रूप है, वही इन्द्र है।

शीर्ष भाग में वह ज्योति का लोक है। उसे ही ज्योति से आवृत्त स्वर्ग कहा जाता है जहां मनस्वान् इन्द्र का अधिष्ठान है। जैसे व्यष्टि में मन है, वैसे ही समष्टि ब्रह्माण्ड में विज्ञानात्मक सूर्य है। वहां सूर्य के स्थूल भौतिक सूर्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूर्य का स्थूल भूतात्मक अंश तो उसका पार्थिव भाग है। उस पार्थिव लोक पर अधिष्ठित विज्ञान या बुद्धि-तत्त्व ही सूर्य का द्युलोक है। यह बुद्धि ही प्रज्ञा या धी तत्त्व है। मस्तिष्क का जो स्थूल रूप है वह उसका पार्थिव भाग है। उसी संस्थान के द्वारा प्रज्ञा-भाग प्रकाशित होता है। यही नियम प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में चरितार्थ हो रहा है। जो सूर्यगत प्रज्ञा-तत्त्व या प्राण है उसे निरन्तर सोम चाहिए। इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए **'प्राणास्मि प्रज्ञात्मा'** कहा है। प्राणमय संस्थान में अभिव्यक्त प्रज्ञात्मक चितितत्त्व ही इन्द्र है। यही विश्व में जीवन की अभिव्यक्ति है जो मानव, पशु और वनस्पति के रूप में त्रेधा विभक्त है। पर सबका मूलभूत नियम एक है। एक में मन, एक में प्राण और एक में भूतों की विशिष्टता का तारतम्य या भेद है, अन्यथा तीनों में तीन हैं। प्रत्येक त्रिवृत् सृष्टि है।

अश्व का प्रतीक

सूर्य के एक ओर परमेष्ठी है, दूसरी ओर पृथिवी : परमेष्ठ्य समष्टि सोम और पार्थिव व्यष्टि दोनों सूर्य की सत्ता के लिए आवश्यक हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से जहां भी पृथिवी पर सोम है प्रत्येक तृण और जलाशय से उसका संग्रह करता है। मेघों के रूप में सोम के विशाल द्रोणकलश भौतिक सूर्य के चारों ओर आकाश में संचित हो जाते है। वही सोम अभिवर्षण द्वारा पुनः पृथिवी पर आता है। उससे औषधि-वनस्पतियों का जीवन-चक्र प्रवर्तित होता है। इसी सोमाहुति-परम्परा से अन्त में पुरुष का निर्माण होता है। जहां सोम की आहुति है वहीं भूत की अभिव्यक्ति या भूतात्मक शरीर की रचना होती है। भूतात्मक देह की संज्ञा ही 'दधि' है। इस दधि का निर्माता ही दध्यंग अथर्वा अग्नि है जिसे सोम-विद्या का रहस्य ज्ञात है। दध्यंग अथर्वा मूल आग्नेय प्राण है। उसके द्वारा सोम का रहस्य दो अश्विनीकुमारों को प्राप्त होता है। प्राणापान का द्विधा विभक्त क्रम ही अश्विनी है। जब तक शरीर में अश्विनीकुमारों का निवास है तभी तक उसका गति से सम्बन्ध रहता है। गति का वास्तविक रूप समंचन-प्रसारण हैं।

गति के दो रूप हैं : एक गति, दूसरा आगति। गति-आगति का युग्म ही एक अश्व के दो रूप हैं जिन्हें अश्विनी

कहा जाता है। ये अश्विनी वस्तुतः विराट् विश्व और व्यष्टि शरीर दोनों के लिए आवश्यक है। विराट् में गति का स्रोत सूर्य है। सूर्य की शक्ति ही व्यष्टि में सूर्या है। सूर्या का वर सोम है। सोम और सूर्या का प्रतिक्षण विवाह होता है। यह विवाह ही जीवन और प्राण है। सोम के सहयोगी अश्विनी हैं। यदि किसी संस्थान में अश्विनी-रूप प्राणापान का द्विविध स्पन्दन नहीं है तो उसमें सोम या मधु का पाचन नहीं हो सकता।

आख्यान के रूप में कहा जाता है कि अश्विनीकुमार वधू-कामुक सोम के सहयोगी हैं, अथवा उनके रथ पर बैठकर सूर्य की पुत्री सूर्या अपने पति के यहां जाती है। यदि विराट् सूर्य की ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्ति का एक अंश हमें प्रतिक्षण न मिले, यदि हमारे जीवन का स्वस्तिक विश्वास्वस्तिक के साथ सन्तुलित न रहे तो जीवन का रथ नहीं चल सकता। उसमें विषमता उत्पन्न हो जायगी जो उसकी गति कुंठित कर देगी। अतएव सूर्य-सूर्या-सोम-अश्विनी की कथा का रहस्य स्पष्ट है।

इसका ही परिवर्तित या उपबृंहित रूप विवस्वान् सूर्य और सरण्यू-छाया की कहानी है। सूर्य की पुत्री या दुहिता शक्ति ही सरण्यू या उसकी छाया है। वह छाया प्रत्येक चिदंश या जीव को प्राप्त हो रही है। ईश्वर आतप और जीवन छाया-रूप है। विराट् प्राण सूर्य और व्यष्टि प्राण छाया है। इसी छाया ने अश्वा का रूप धारण किया और सूर्य ने अश्व का। उनके सम्मिलन से दो अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ जो प्रत्येक जीवन-केन्द्र या शरीर-संस्था के संचालक हैं। एक ही मूलभूत तत्त्व की द्विविध कल्पना इन आख्यानों में पाई जाती है। सबसे रहस्यात्मक तो प्राण या जीवन है। समष्टि जीवन का व्यष्टि जीवन के साथ जो स्थिर और फलवान् सम्बन्ध है उसको बताना ही वैदिक आख्यान का लक्ष्य है।

'अश्व' और 'अश्वा' शब्द सृष्टि-विषयक भावों के प्रतीक हैं। गति-तत्त्व का स्थूल प्रतीक अश्व है। सूर्य ही विराट् अश्व है जिसके मेध से यह विश्व विरचित हुआ है और नित्य रचा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अश्वमेध है। विराट् प्राण ही विराट् अश्व है। उस विराट् शक्ति के एकत्र संचय या यज्ञ से ही विश्व की रचना होती है। सूर्य ही अपनी सहस्र रश्मियों से प्राणों को संचित और प्रसारित करता हुआ इस यज्ञ का विधाता है। सूर्य सापेक्ष काल या संवत्सर का प्रतीक है। संवत्सर प्रजापति के घूमते हुए चक्र की संज्ञा सूर्य है। सूर्य स्वयं महाकाल का अभिव्यक्त रूप है। यह अभिव्यक्त सापेक्ष काल ही हमारे वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्रों के रूपों में प्रतिपल प्रकट हो रहा है। इनकी उपलब्धि ही जीवन है। काल के ये खण्ड जब तक हमें प्राप्त होते रहते हैं तब तक आयुष्य का अमृत-सत्र चलता रहता है।

महाकाल की सृष्टि से एक ही उषा है। सापेक्ष काल की दृष्टि से अनेक उषाएं हैं जो आती-जाती रहती हैं। यही काल-चक्र का परिभ्रमण है। वस्तुतः काल-रूपी अश्व का जब से आरम्भ हुआ तभी से यह उषा है। अतएव उषा काल के उपक्रम का एक छोर या एक सिरा है—**उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः**। जो सिर या मस्तक है वही शरीर का एक छोर है। प्रत्येक उषा सूर्य की पुत्री है। वह किसी एक दिन थी, दूसरे दिन नहीं—ऐसा नहीं है। प्रत्येक क्षण उषा के आरम्भ का क्षण है। प्रत्येक क्षण में संवत्सर के आरम्भ की गणना की जा सकती है। काल के पटल पर जितने भी चिह्न मानव ने अंकित किए हैं वे अपनी कल्पना के अनुसार है, वे ध्रुव नहीं, सापेक्ष हैं। अतएव शतपथ में जो यह कहा है कि संवत्सर उषा में अपने रेत का सिंचन करता है और उससे कुमार का जन्म होता है। वही कुमार रुद्र है। जो रुद्र है वह अग्नि है (श० ६।१।३।८–१०)।

संवत्सर सविता है, उषा उसकी सावित्री शक्ति है। संवत्सर और उषा के संयोग से ही कुमार या प्राण या जीवन का जन्म होता है। प्रत्येक प्राणी का जीवन-चक्र उसका अपना संवत्सर है। जितनी कलावधि में जो अपने जीवन का एक मंडल-चक्र पूरा कर लेता है वही उसका जीवन-चक्र या संवत्सर-चक्र है।

अग्निरूपी अद्भुत कुमार या चित्र शिशु

प्रत्येक बीज के अभ्यन्तर में यह अग्नि-रूपी प्राणतत्त्व सोया हुआ रहता है। जब बीजाधान किया जाता

है तब मातृकुक्षि में वह जीवन-केन्द्र जागृत हो जाता है। उसका वह जागरण ही जीवन का आरम्भ या यज्ञ का उपक्रम है। वही कुमार का जन्म है। यही कुमार अग्नि भी कहा जाता है और इसी की संज्ञा इन्द्र है। समिन्धन या समिद्ध अग्नि ही इस कुमार का जागरण या रुदन भी कहलाता है। अशनाया तत्त्व की संज्ञा रुदन है। बालक अन्न के लिए रोता है। ऐसे ही प्राण रूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिए रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिए व्याकुल हो पड़ता है। इसी अशनाया या अन्न-ग्रहण की इच्छा को ब्राह्मण-ग्रन्थों में रुदन कहा गया है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य में जितनी प्राणिसृष्टि है, वनस्पति-पशु-मानव जिसके त्रिविध रूप हैं, उस सबको रोदसी सृष्टि कहते हैं। रोदसी में सर्वत्र अन्न-अन्नाद एवं स्त्री-पुरुष का नियम व्याप्त है। पुष्टि और प्रजनन प्राण के दो लक्षण हैं। अग्नि हैं। अग्नि से पुष्टि और इन्द्र से कलात्मक प्रजनन संभव होता है। दोनों के मध्य में प्राणात्मक शक्ति वायु है।

जहां जीवन है वहां तीन नियम कार्य करते हैं। एक तो अन्न-अन्नाद या अशनाया का नियम है। इसी से स्थूल भौतिक देह का निर्माण होता है। यह अग्नि देवता का पार्थिव क्षेत्र है। दूसरा नियम श्वास-प्रश्वास की क्रिया है। प्राण की धौंकनी से ही अन्न का ग्रहण और परिपाक होता है। प्राणन-क्रिया बीच में होने से अन्तरिक्षलोक का वायु देवता है। इसी में तीसरी अवस्था प्रजनन की है जिसके कारण प्रत्येक बीज वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में पुष्प और फल के माध्यम से पुनः बीजसृष्टि में पर्यवसान पाता है। बीज से चलकर फिर बीज तक पहुंच जाना ही जीवन का पूरा चक्र है। जो बोया जाता है वह बीज या शुक्र है। उसका अन्तिम परिणाम भी बीज ही है। यह समस्त रोदसी सृष्टि शुक्र-शोणित या बीज-सृष्टि है। सर्वत्र माता-पिता का द्वन्द्व आवश्यक है। अर्धशरीर पुरुष, अर्धशरीर नारी—यही प्राणि-सृष्टि है। इसमें प्रजनन की प्रक्रिया ही इन्द्र का रूप है। प्रजनन आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। उसका मूल काम है। काम मन का रेत या वीर्य है—**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १०।१२९।४**

मन की रहस्यात्मक शक्ति है। मन ही इन्द्र है—**यन्मनः स इन्द्रः। (गोपथ उ० ४।१२)। यो जात एव प्रथमो मनस्वान्। (ऋ० २।१२।१)।**—यह मनस्वान् इन्द्र ही सब देवों का अधिपति देव है। शरीर में मन ही सबसे महत्त्वपूर्ण दिव्य शक्ति है। इसे ज्योतियों की ज्योति एवं अमृत-ज्योति कहा गया है। ऋषि ने प्रश्न किया है:

कवीयमानः क इह प्रवोचद्

देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ ऋ० १।१६४।१८

"जो कवि है और जो अपने दर्शन को छन्दों में निबद्ध करता है, वह जानता हो तो इस बात को बतावे कि विश्व में मनरूपी देवता की सृष्टि कहां से और कैसे हुई?"

सचमुच मन की रचना बहुत बड़ा रहस्य है। इन्द्रियां, प्राण और शक्ति के अन्य अनेक स्फुट रूपों का स्रोत और रहस्य मन में है। मन-प्राण-वाक् (=पंचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। ये तीनों ही आदित्य-वायु-अग्नि देवता हैं। तीनों इन्द्र के रूप हैं जो द्युलोक-अन्तरिक्ष-पृथिवी के अधिपति हैं। इन तीनों का एक सूत्र में बंध जाना ही तानूनप्त्र सम्बन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव से शरीर की स्थिति सम्भव नहीं रहती। इन तीनों में भी मन की महिमा सबसे विशिष्ट है। उपनिषद् के अनुसार, 'तीन वस्तुएं आत्मा के लिए रची गईं।' मन-प्राण-वाक् को आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए निर्मित किया गया। जब मन अन्यत्र चला जाता है तो देखता-सुनता नहीं। मन से ही व्यक्ति देखता है, मन से ही सुनता है। वस्तुतः काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब कुछ मन के ही रूप हैं। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय प्रवृत्ति और क्रियाओं की समष्टि आत्मा है (बृ० उप० १।५।३)।

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं वह मन ही है। पुराणों ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया, तदनुसार क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्वप्रथम महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणों के वैषम्य से ही नानात्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक संज्ञाएं हैं; जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित्, भू, ज्ञान आदि। सबको जानने और सबकी उपलब्धि करने के कारण मन को ही संवित् कहा जाता है। जितने द्वन्द्व हैं, वे इस मन में ही घर बनाते हैं, इसलिए इसका एक नाम 'विपुर' है। लोक में मन ही सबका अधिपति और नियामक है अतएव ब्रह्मा इसकी

संज्ञा है। यह उत्पन्न होता है, अतएव भव है। शरीर-रूपी पुर में निवास करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी स्वयं सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है, अतएव यह स्वयम्भू भी कहा जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति है। भोग्य पदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति भी कहते हैं। प्रत्येक में जो बोध-शक्ति है वह बुद्धि मन ही है। कहां तक कहा जाय, भूतमात्रा, प्राण-मात्रा और प्रज्ञा-मात्रा––इन तीनों मात्राओं के छन्द और विवेक का हेतु मन ही है। भूतमात्रा से यह भूतों का अपने भीतर भरण कर लेता है। प्राणमात्रा के रूप में भूतों के पृथक-पृथक विभागों को बांटता है और प्रज्ञा मात्रा के रूप में सबका ज्ञान रखता है—ऐसी विलक्षण रहस्यमयी शक्ति मन है। **बिभर्ति मानं मनुते विभागं मान्यते पि च** (वायु० ४।२३।५०) यजुर्वेद में शिव-संकल्प मन्त्रों के अनुसार प्रजाओं के अन्तः-करण में निवास करने वाला यह मन अद्भुत यक्ष है जो कभी विश्राम नहीं लेता, सदा काम में व्यापृत रहता है। जिस में अनन्त शक्ति है, जो जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओं में अपनी दूरंगम प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कभी बाहर जाता है और कभी भीतर लौट आता है। जो नश्वर भूतों में रहते हुए स्वयं अमर ज्योति है। प्रज्ञा, चिति, धृति, चित्त जिसके अनेक रूप हैं, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र में पिरोए हुए हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल में परिगृहीत है, जिसके बिना कोई कर्म करना सम्भव नहीं, यज्ञों में और सभाओं में होने वाले मानवों के कर्म जिस पर निर्भर हैं, जिसका स्वरूप अजर और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि में सबसे रहस्यमयी रचना है। वह मन ही इन्द्र तत्त्व है। मन की शक्तियों का भी क्या कहीं अन्त है! 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बड़ी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य संख्या बढ़ने लगे तो भी रुद्र की बृंहण शक्ति का कभी अन्त नहीं होगा' (ऋ० १।५२।११)। ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अंश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र में स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही केन्द्र की प्रतिरूपता है—**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बड़ा या छोटा कोई रूप ऐसा नहीं जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र सबकी नाभि में बैठा हुआ नम्य प्राण है। मन के रूप में प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणों की रश्मियां चारों ओर छिटकती हैं जिससे व्यक्तित्व-रूपी मंडल का विधान बनता है।

इन्द्र और असुर

इन्द्र अपने मंडल का अधिपति है। वह विश्वकर्मा विश्वदेव है। (ऋ० ८।९१।२) वह धर्मकृत् है। (ऋ० ८।९८।१) अर्थात् अपने मंडल में मर्यादा का पालन कराने वाला है। जहां तक इन्द्र की सत्ता है, कोई असुर उसका धर्षण नहीं कर सकता। असुरों का पराभव इन्द्र का अपराजित यश है।

जहां इन्द्र का मंडल है उस पर असुरों का आक्रमण होता रहता है। इन्द्र और असुर दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इन्द्र अपने मंडल का राजा है। वह असुरों का प्रवेश नहीं चाहता। असुर उसके मंडल में बलपूर्वक प्रवेश कर जाना चाहते हैं। इन्द्र और वृत्र के संघर्षों को देवासुरम् कहा जाता है। देवासुरम् की लीला भूत, प्राण, मन इन तीनों क्षेत्रों में हो रही है। वस्तुतः सृष्टि के मूल में दो प्रधान तत्त्व हैं—एक आकर्षण, दूसरा विकर्षण। मित्र और वरुण का सम्बन्ध पारस्परिक आकर्षण पर आश्रित है। इनके भी अपने-अपने मंडल हैं। मित्र को 'आंगिरस' और वरुण को 'भार्गव' कहते हैं। पर ये दोनों मंडल माता-पिता की तरह एक-दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं। इसके विपरीत इन्द्र और वृत्र एक-दूसरे को परे फेंकते हैं। उनमें विकर्षण का नियम काम करता है। विकर्षण या विरोध ही वैर है। आकर्षण से शृंगार और विकर्षण से वीर रस का जन्म होता है। इन्द्र सबसे महान् वीर है। जो वीर है उसे असुरों का पराजय करना ही चाहिए। विजयी युद्ध से ही वीर की चरितार्थता होती है। प्रसुप्त शक्ति का संघर्ष के लिए जागरण ही उसका वीरण है। एक बार जब इन्द्र को युद्ध का नायक कल्पित किया गया तो उसके वाहन, आयुध, सेना आदि अनेक उपकरणों का वर्णन रोचनात्मक अर्थवाद है। इन्द्र अपने रथ में दो अश्वों का संयोजन करता है—**योजा न्विन्द्र ते हरी**। ऋषि ने प्रश्न किया है—कौन इन्द्र के हरी अश्वों को जानता है? **हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित** (ऋ० १०।११४।९) कहा है—**ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी**—ऋक् और साम ही इन्द्र के दो अश्व हैं। (ऐ० ब्रा० २।२४) ऋक् और साम को रथ में जोड़कर ऋषि उसका संचालन करते हैं:

यज्ञं दिमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्ररथं वर्तयन्ति। यज्ञ ही रथ है जिसे विमित किया गया है, अर्थात् मात्रा या नाप-जोख के अनुसार जिसका पंजर-संस्थान रचा गया है। इस यज्ञीय रथ को गति देने वाले इन्द्र के दो अश्व हैं और इसकी व्यवस्था करने वाले मनीषी कवि हैं। प्रत्येक का शरीर ही देवरथ या इन्द्ररथ है। मन-रूपी प्रज्ञातत्त्व का अधिष्ठाता इन्द्र इस रथ का नियामक है। ऋक् और साम वाक् और मन के, प्राण और अपान के या दो अश्विनी के या गति आगति के प्रतीक हैं। इन्द्र के मण्डल का व्यास ऋक् और घेरा या परिधि साम कहा जाता है।

वस्तुतः इन द्वंद्वों का अंत नहीं है। समस्त रचना ऋक्-साम का वितान है। और परिधि को ही वृत्ति का विस्तार समझना चाहिए मण्डल छोटा हो या बड़ा, उसका केन्द्र-बिन्दु एक-सदृश रहता है। उस केन्द्र में स्थिति के धरातल पर गतितत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र-बिन्दु या स्थित-गति के सम्मिलित रूप को यजु कहा जाता है। यजु में यत् और जू के दो प्रतीक हैं। 'यजू' ही सांकेतिक भाषा में यजु कहा जाता है। यजू में 'यत' गति तत्त्व का और 'जू' स्थिति तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं सांकेतिक परिभाषाओं को और आगे बढ़ाते हुए गति को वायु और स्थिति को आकाश भी कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति-तत्त्व, गति-तत्त्व और आगति-तत्त्व इन तीनों के सम्मिलिन से वृत्त का मूर्त्त रूप या मण्डल का सम्पूर्ण रूप बनता है। मण्डल ही जीवन की इकाई है। प्रत्येक शरीर एक-एक मण्डल है।

मण्डल ही पुर या राष्ट्र है। मुख्य प्राण इन्द्र मण्डलेश्वर है, अन्य सब प्राण उसके सामन्त कहे जाते हैं। इन्द्र का असुरों से सदा युद्ध भी रहता है। क्योंकि मण्डल की रक्षा का दायित्व इन्द्र पर है। पर वस्तुतः वेदों और ब्राह्मणों में जो युद्धों के वर्णन हैं, ये सब रोचक अर्थवाद हैं। इन्द्र तो अशत्रु उत्पन्न हुआ है—**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे** (ऋ० १०।१३३।२) **अशत्रु हि मा जनिता जनान्** (ऋ० १०।२८।६)। इन्द्र के वलों की कहानी माया है। न उसका कोई शत्रु पहले था, न आज है।

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा विवित्से॥

(ऋ० १०।५४।२)

शतपथ में भी इसी की व्याख्या करते हुए कहा है :

नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्।

(शतपथ ११।१।२।१७)

आख्यानों में और इतिहासों में जो देवों और असुरों के युद्ध की कहानियां कही जाती हैं, उनमें घटना की तथ्यात्मक सचार्य नहीं देखनी चाहिए। वे वर्णन तो अर्थवाद-रूप हैं। वे सृष्टि-विद्या के प्रतीक हैं। इन वर्णनों में इतिहास की खोज व्यामोह है। वृत्र, बल, शम्बर, पणि ये असुर ऐतिहासिक नहीं, ये तो आसुरी भावों के प्रतीक हैं। जैसे इन्द्र कोई पुरुष-विशेष नहीं, ऐसे ही असुर भी जातीय पुरुषों के नाम नहीं। दैवासुरम् की कल्पना सृष्टि के ज्योति और तम का संघर्ष है। वृत्र एक है, और अनेक भी हैं, इसीलिए उसे 'वृत्राणि' भी कहा जाता है। इन्द्र की शक्तियों का अवरोधक वृत्र है—**सर्वं वृत्वा शिश्ये।** जो सबको घेर कर बैठ गया, वही आवरंयक तत्त्व वृत्र है। वृत्र का निराकरण इन्द्र का सबसे बड़ा यशस्य कर्म है। इन्द्र वृत्रहन् है। इन्द्र की विजय शाश्वत है, वह जेता और अपराजित है। 'जितं ते' कह कर उसे प्रणाम किया जाता है। सूर्य प्रकाश का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। सूर्य और प्रकाश पर्याय हैं। **इन्द्रः सूर्यमरोचयत्** (ऋ० ८।३।६), अर्थात इन्द्रत्व के कारण सूर्य में रोचना या ज्योति है। इन्धन ही इन्द्रत्व है। समिद्ध अग्नि ही 'इन्ध' या इन्द्र है। प्रत्येक व्यक्ति महान् अश्वत्थ वृक्ष की एक शाखा है। इस शाखा में अग्नि गर्भित है। शाखा का ज्वलनशील होना ही जीवन है। सौ वर्ष की अवधि तक जलने के लिए जीवन या प्राणरूपी समिधा या शाखा का प्रकृति निर्माण करती है। इष् और ऊर्ज् इस शाखा को जीवन के लिए अन्न और शक्ति प्रदान करते हैं। यह शाखा कटी हुई नहीं है। इसकी अव्यक्त जड़ सदा हरी रहती है, अतएव यह शाखा फूलती-फलती है। मधु या सोम चखकर जीवित रहने वाला मध्वद, सुपर्ण या जीव इस शाखा पर रहता और प्रसव करता है। जो एक सुपर्ण की गति है, वही सब गुणों के जीवन-चक्र का नमूना है।

इन्द्र और श्वा

ऋग्वेद में इन्द्र को **'शुनं हुवेम मघवानमिद्रम्'** (ऋ० ३।३६।६।।३।३०।२२) आदि मन्त्रों में 'श्वा' कहा गया है। इन्द्र भौंकने वाला कुत्ता है, यह भी विचित्र कल्पना है। इसके पीछे तत्त्वात्मक संकेत है। जो अमृत आकाश है, इन्द्र उसका अधिष्ठाता है। इसे ही परम व्योम कहते हैं। परम व्योम में परा वाक् या अमृता वाक् का स्रोत है। उसी की भूतात्मक अभिव्यक्ति भौतिक आकाश के रूप में होती है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द ही वाक् है। जो शब्द या वाक् है वही ब्रह्म है। वेदों में वांग्ब्रह्म का पूरा दर्शन ही है—**यावद ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्** (ऋ० १०।११४।८) परा वाक् और अपरा वाक् यही विश्वसृष्टि है। जहां आकाश है वहीं शब्द है। जो परमाकाश या अमृत आकाश है वही वैयाकरणों द्वारा स्फोट और ऋग्वेद में गौरी वाक् या चतुष्पदा वाक् का पहला 'परा' नामक चरण कहा जाता है। इसी आकाश तत्त्व का अधिष्ठातृदेव इन्द्र है। आकाश में अनन्त शब्द भरा हुआ है। स्तनयित्नु मेघ-शब्द से लेकर नाना वागात्मक शब्दों का उद्गम आकाश है। यही इन्द्र का भौंकता हुआ कुत्ता है। श्वान तो एक प्रतीक है। जैसे स्तनयित्नु मेघ गर्जन के रूप में प्रचण्ड शब्द सहसा उत्पन्न करता है, ऐसे ही कुत्ता अपने कण्ठ में अकीमात् शब्द का ढेर उत्पन्न करता है। अतएव श्वा आकाश का प्रतीक है। सरमा देवशुनी वाक् की संज्ञा है। जो सृष्टि-व्यापिनी शक्ति का मूल सरस्वान् समुद्र है, जिसे ब्रह्मसर भी कहते है; उसी के जलों का मापन व्यष्टि-रचना में होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर एक कमण्डलु है जिसमें उस सरस्वान् समुद्र का सलिल भरा हुआ है। यही सर-मा का शब्दार्थ है। सरमा ब्रहवादिनी है। जैसे आम्भृणी, सरस्वती आदि वाक् की संज्ञाएं हैं, ऐसे ही सरमा है। सरमा इन्द्र की गतिविधि से परिचित है। आकाश-तत्त्व कहां नहीं है। वह इन्द्र का प्रत्यक्ष रूप है। आकाश का गर्जन या शब्द इन्द्र का वज्र है। भौतिक आकाश मानों परमव्योम या अमृताकाश-रूपी सरस्वान् समुद्र का फेन है। शब्द तन्मात्रा ही सृष्टि का मूल है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश में आकाश सबसे सूक्ष्म है। वाक्-तत्त्व आकाश नाम का पहला भूत है। वह मर्त्या वाक् है। उससे उपर जो ब्रह्मतत्त्व है वह अमृता वाक् कहा जाता है। मर्त्या वाक् इन्द्र की माया या इन्द्राणी या शची शक्ति है। अमृता वाक् स्वयं इन्द्र है। केवल शब्द को और पंजीकृत पंचभूतों के समुच्चय को भी वाक् कहा जाता है। पंचभूतों का मूल उपादान वाक् है। देवश्वा और देवशुनी प्रतीकों का यही अभिप्राय है। शब्दात्मक आकाश के रूप में इन्द्र की सत्ता का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अव्यक्त रूप में इन्द्र नम्य आत्मा है। सृष्टि में उसी का वितान होता है। यही परिब्रंहित या समृद्ध रूप उसका श्व रूप है—**यद्वै समृद्धं तच्छुनम्** (श० ७।२।२।६।)। मूल आत्मतत्त्व का विस्तृत तूलभाव कितना अनन्त है, इसका पल्लवित वर्णन विज्ञान और दर्शन के शब्दों में मिलता है। वही शुन इन्द्र है। सर्वत्र उसमें शब्द का अधिष्ठान है।

इस प्रकार वेदों में इन्द्र का स्वरूप अनेक आख्यानात्मक वर्णनों और प्रतीकों के रूप में पल्लवित हुआ। हमारे इस शरीरात्मक विश्व में प्रज्ञान-रूपी इन्द्र की महिमा सबसे अधिक और रहस्यात्मक है।



चार सांस्कृतिक क्रान्तियां

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

परिवर्तन की चाल जब धीमी रहती है तब उसे सुधार कहते हैं। किन्तु, जब वह बहुत तेज हो जाती है तब उसे क्रांति कहने का रिवाज है। भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में ऐसी चार क्रान्तियां घटित हुई हैं और हमारी संस्कृति पर उन चारों क्रान्तियों का प्रभाव है।

पहली क्रान्ति तब हुई जब आर्य भारत आए; अथवा यों कहें कि जब भारतवर्ष में आर्य और आर्येतर जातियों का मिलन हुआ। आर्य और आर्येतर जातियों के मिश्रण से भारत में जो जनता तैयार हुई वही भारत की बुनियादी जनता हुई और उस जनता की संस्कृति ही इस देश की बुनियादी संस्कृति है।

उन्नीसवीं सदी में भारत के प्राचीन साहित्य का जो अध्ययन और मनन हुआ, उससे विद्वानों का मत यह हो गया था कि भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी सुन्दर और श्रेष्ठ है वह आर्यों का दिया हुआ है; इसके विपरीत, जो कुछ भी साधारण और सामान्य है, वह आर्येतर जातियों का दान रहा होगा। किन्तु, इधर तीस-चालीस वर्षों के भीतर इस विषय में जो अध्ययन और चिन्तन किया गया है, उससे तस्वीर कुछ और ही बनती है। अब विद्वान यह मानने लगे हैं कि भारत की प्राचीन बुनियादी संस्कृति भी सामासिक है और उसमें आर्यों और आर्येतर जातियों का प्रायः बराबर-बराबर का अंशदान है।

शिव आर्येतर देवता हैं

उदाहरण के लिए, यदि शैव धर्म पर विचार किया जाय तो यजुर्वेद के शतरुद्रीय अध्याय में रुद्र की कल्पना तो मिलती है; किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य से यह पता नहीं चलता कि 'बाण की तरह चमकते हुए आनेवाले' इस रुद्र से श्मशानवासी, गजाजिन पहनने और भांग-धतूरा खाने वाले शिवजी का क्या सम्बन्ध है। वामन, कूर्म और शिव-पुराणों में शिवजी की जो कथा आती है, उससे भी यही दिखाई देता है कि शिव की पूजा आर्य-ऋषियों की पत्नियों में तो चलती थी, किन्तु, ऋषिगण उसे पसन्द नहीं करते थे। इस पर से यह अनुमान निकलना स्वाभाविक है कि ऋषियों का विवाह आर्येतर देवियों से हुआ था तथा ये देवियां जब अपने पतियों के घर आईं, तब अपने पितृकुल के देवता शिव को भी अपने साथ लेती आईं। ऋषियों ने पहले तो शिव-पूजा का विरोध किया, किन्तु, बाद को वे स्वयं भी शिवजी को पूजने लगे। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव का भाग नहीं रखा गया था, इससे भी यही अनुमान निकलता है कि आर्यों के यहां शिव की पूजा की स्वीकृति जरा देर से हुई है। शिव की पूजा करो, किन्तु उनका प्रसाद न खाओ; यह बात भी शिव के सम्बन्ध में आर्यों की झिझक का ही प्रमाण है। आज भी कार्त्तिकेय और गणेश के लिए जो उत्साह दक्षिण में दिखाई देता है, वह उत्तर में नहीं है। उत्तर भारत में कार्त्तिकेय की मूर्ति सिर्फ विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनाई जाती है और गणेश, अक्सर, शुभ और लाभ के बीच दूकानों पर विराजा करते हैं; लेकिन, दक्षिण के मन्दिरों में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियां देखने में आती हैं जिनकी बनावट से वीरता टपकी पड़ती है। अलबत्ते, उज्जैन में गणेश की एक अच्छी मूर्त्ति पधराई गई है; पर, वह अभी बिलकुल हाल ही की घटना है।

रेवरेण्ड किटेल की कन्नड़-इंगलिश-डिक्शनरी में ऐसे कितने ही शब्दों की सूची दी गई है जो द्रविड़-भाषा

से निकल कर, वहुत प्राचीन काल में ही, संस्कृत में पहुंच गए और जो अब संस्कृत से किसी भी तरह विलगाये नहीं जा सकते। ऐसे शब्दों में एक शब्द पूजा भी है। लोगों का अनुमान था कि यह शब्द पूज् धातु से निकला होगा, किन्तु हिन्द-जर्मन-भाषा-परिवार में जब कहीं भी इस धातु का पता न चला, तब लोग नई दिशाओं में सोचने लगे। अन्त में, अब यह अनुमान, प्रायः सत्य माना जा रहा है कि, हो न हो, पूजा शब्द तमिल के पू और जै, इन दो धातुओं के योग से बना है। तमिल में पू का अर्थ पुष्प और जै का अर्थ कर्म होता है; अतएव, पूजा का अर्थ पुष्प-कर्म होना चाहिए जो बिलकुल ठीक है। आर्यों का प्रधान प्रेम हवन अथवा यज्ञ पर था। पूजा इस देश की जनता की चीज थी। इसीलिए, हवन तो पंडितों तक ही सीमित रह गया, किन्तु, पूजा घर-घर में फैल गई।

भारत की यह बुनियादी संस्कृति शताब्दियों तक अक्षुण्ण चलती रही और बाहर से जो भी जातियां इस देश में आई, वे सब-की-सब भारतीय जनता के समुद्र में डूबती चली गई और उनकी संस्कृतियां भी भारतीय संस्कृति में विलीन होती गई। उसके अपवाद केवल पारसी और मुसलमान हैं जो बहुत बाद को आए।

संतों द्वारा ऊंच-नीच का विरोध

तब ईसा से, प्रायः, छह सौ वर्ष पूर्व भारत में पहले भगवान महावीर और फिर भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध हिन्दू जन्मे थे और उनके सारे कार्य भी बतलाते हैं कि वह अपने समय के सबसे बड़े हिन्दू सुधारक और संत थे। उन्होंने हिंसापूर्ण यज्ञों का तो विरोध किया ही; किन्तु, उनका सबसे बड़ा कार्य, शायद, यह था कि उन्होंने जन्म के आधार पर जातियों को श्रेष्ठ और अधम मानने से इनकार कर दिया। 'सभी मनुष्य जन्मना समान हैं और ऊंच-नीच का भेद केवल कर्म और आचरण की उच्चता और नीचता का भेद है', इस विचार का जोरदार प्रचार, सबसे पहले, बुद्ध ने ही किया था। बुद्ध ने ही वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध विद्रोह करके इस देश में बृहत मानवतावादी उस विचारधारा को आरम्भ किया जो बौद्ध एवं नाथ संतों तथा कबीर, नानक, दादूदयाल और स्वामी दयानन्द को छूती हुई महात्मा गांधी तक पहुंच गई है। यह बुद्ध की धारा है। किन्तु, इसके समानान्तर वह विचारधारा भी बह रही है जिसके विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह किया था, किन्तु, जो स्मृतियों और पुराणों से निकल कर शंकराचार्य, उदयनाचार्य, वाचस्पति मिश्र, विद्यापति और तुलसी को छूती हुई लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय जी महाराज तक आई है। बुद्ध के इसी बृहत मानवतावादी आन्दोलन से भारतीय संस्कृति में दूसरी क्रांति घटित हुई जिसका प्रभाव जीवन की असंख्य दिशाओं में पड़ा है। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, इन दोनों धाराओं की पारस्परिक दूरी, क्रमशः, क्षीण होती जाती है और बुद्ध तथा शंकर परस्पर समीप होते जाते हैं।

तीसरी क्रान्ति तब हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत आया। कहते हैं, मुसलमान जब भारत आए तब, आरम्भ में, सबसे अधिक हत्या उन्होंने बौद्ध साधुओं की ही की थी। किन्तु, यह भी सच है कि भारत में इस्लाम के फैलने-योग्य जो वातावरण था वह, सब-का-सब, बौद्धों का ही तैयार किया हुआ था। इस्लाम के आगमन के पूर्व ही, भारत में ऐसे कई सम्प्रदाय तैयार हो चुके थे जो बहुत-कुछ इस्लाम के अनुकूल थे। बौद्धों के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिरकार, समाज में एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया था जो निराकार का पूजक, जाति-प्रथा का द्रोही और धर्म-शास्त्रों का शत्रु था। सिद्ध, नाथपंथी और बाद के निर्गुनियाँ सन्त बौद्ध प्रचारकों के ही उत्तराधिकारी थे जो वर्णाश्रम-धर्म की खुले-आम खिल्ली उड़ाते थे। भारत में जो लोग झुण्ड-के-झुण्ड मुसलमान हुए उनमें अधिक संख्या उन्हीं लोगों की थी जो इन निर्गुणवादियों के अनुयायी रहे थे, अर्थात् जिन पर बुद्ध के उपदेशों का गहरा प्रभाव था।

इस्लाम का प्रभाव

हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से, बाद को, ऐसी कितनी ही बातें निकलीं जिनसे भारतीय संस्कृति की सामासिकता में वृद्धि हुई है। खुसरो, जायसी, कबीर, नानक और दादूदयाल, ये उस सामासिकता के आरंभिक व्याख्याता हुए हैं। उर्दू भाषा इसलिए उत्पन्न हुई कि फारसी के प्रेमी मुसलमान अपनी काव्यात्मक भावनाओं का गान भारत की भाषा में करना चाहते थे। इसी प्रकार, खान-पान, रहन-सहन और पोशाक तथा संगीत और चित्रकारी एवं स्थापत्य में

ऐसी कितनी ही चीजें हैं जो हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से उत्पन्न हुई हैं। काव्य में इस्लाम की सबसे बड़ी देन, शायद, सूफी-प्रवृत्ति या रहस्यवाद है। फारस में रहस्यवाद उपनिषदों और बौद्ध साधनाओं के साहचर्य से जन्मा था। पीछे, जब वह भारत आया, तब वह प्राचीन होता हुआ भी बहुत-कुछ नवीन था। भारत में निवृत्ति का प्रचार बहुत दिनों से होता आया था; किन्तु, कबीर से पहले यहां कोई भी ऐसा कवि ही नहीं जन्मा जिसने मृत्यु को, उस प्रकार, काम्य बताया हो जैसे कबीर ने बताया है।

जिन मरने थे जग डरै, सो मेरो आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ, पूरन परमानन्द।।

'जिन्दा रहना विरह है और मरने से विरह समाप्त हो जाता है', यह अनुभूति फारस के सूफी सन्तों की थी। वहीं से यह चीज हिन्दुस्तान आ गई। और अब तो यह भाव रवीन्द्रनाथ और महादेवी की कविताओं में भी देखा जा सकता है।

हिन्दुत्व और इस्लाम ने, एक-दूसरे को, कई प्रकार से प्रभावित किया और, कभी-कभी, यह प्रभाव गंभीर भी रहा है। किन्तु, आदमी यदि सतर्कता न बरते तो इन प्रभावों का वर्णन घोर अतिरंजन से युक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह कहना घोर असत्य है कि गुरु-परंपरा भारत में इस्लाम के साथ आई, अथवा, भक्ति-आन्दोलन के पीछे इस्लाम का प्रभाव था। गुरु-परंपरा भारत में तब से मौजूद है जब महात्मा मुहम्मद का जन्म भी नहीं हुआ था। और भक्ति भी इस्लाम के जन्म से बहुत पहले की चीज है। इसके आरंभिक बीज उपनिषदों और गीता में मिलते हैं तथा इसका भावनात्मक विस्तार तमिल भाषा के आलवार और नायनार संतों की भावविह्वल कविताओं में प्राप्त है जिनमें से कुछ लोग छठी सदी में भी जनमे थे।

परंपरा से यह देश मानता आया है कि भक्ति का जन्म दक्षिण में हुआ। पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत, दोनों में एक श्लोक, समान रूप से, मिलता है जिसमें भक्ति स्वयं अपने मुख से स्वीकार करती है:

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं, कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतां गता।।

और हिन्दी में भी, परम्परा से आता हुआ एक दोहा है जो भक्ति को दक्षिण में उत्पन्न बताता है:

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड।।

रामानुज आलवार संतों की मानस-संतान थे। भक्ति की भावनात्मक अनुभूति पहले आलवार संतों को ही हुई थी। रामानुज ने उन अनुभूतियों में से भक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त निकाला। आलवार अपढ़ पिता और रामानुज पंडित पुत्र हैं। यदि आलवार नहीं हुए होते तो रामानुज का उद्भव असंभवप्राय था।

प्रपत्ति के विषय में भी, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। मेरा खयाल है, रामानुज को यह सिद्धान्त इस्लाम से नहीं मिला। इस्लाम तब तक भारत में फैला कहां था? यह तो आलवारों की शरणागति को रामानुज के द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। विपद की बात यह है कि भक्ति-आन्दोलन का इतिहास अभी ठीक से लिखा ही नहीं गया है। और वह तब तक सही नहीं समझा जाएगा जब तक उत्तर और दक्षिण की सभी भाषाओं में उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग कई विद्वान सम्मिलित होकर नहीं करते। आन्तर-भारती का यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि मद्रास और दिल्ली के विश्वविद्यालयों को इसे तुरन्त हाथ में ले लेना चाहिए। डाक्टर ताराचन्द और प्रोफेसर कबीर की पुस्तकों से, इस विषय में जो भ्रम फैला है, उसका समीचीन मार्जन इसी श्रम-साध्य कार्य से होगा।

डाक्टर ताराचंद ने यह भी लिखा है कि इस्लाम यदि भारतवर्ष में नहीं आता तो शंकराचार्य का आविर्भाव होता या नहीं, यह संदिग्ध है। किन्तु, इस्लाम क्या शांकर मत की तरह अद्वैत में विश्वास करता है? इस्लाम एक ईश्वर में विश्वास अवश्य करता है, किन्तु, वह अद्वैतवादी नहीं है। इस्लाम ईश्वर को एक मानता है, किन्तु, वह यह भी

समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, वह सातवें आसमान पर रहता है और उसके हृदय में भक्तों के लिए दया और दुष्टों के लिए घृणा का वास है। संसार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते हैं वह 'कुछ नहीं में कुछ का आभास है', ये बातें इस्लाम में न पहले थीं, न अब हैं। इस्लाम में इसका कुछ थोड़ा आभास मात्र सूफियों के जरिये आया था और वह भी नवीं-दसवीं सदी के बाद। किन्तु, शंकर का जन्म आठवीं सदी में हुआ था और जिस विचारधारा का उन्होंने विकास किया, वह भारत में बहुत दिनों से बहती आ रही थी। शंकर अपने पूर्वज नागार्जुन और वसुबन्धु के उत्तराधिकारी हैं। उनकी माया की कल्पना बौद्धों के शून्यवाद से निकली थी। इसीलिए, शंकर को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। उपनिषद, बुद्ध, वसुबन्धु और नागार्जुन की विचारधारा से अपरिचित होने के कारण ही अर्धपंडित शंकर को इस्लाम की देन मानते हैं।

इसी प्रकार, जो पंडित यह कहता है कि कर्णाटक का वीर-शैव अथवा लिंगायत संप्रदाय इस्लाम का अनुकरण है, वह शैव विचारधारा का सम्यक ज्ञान नहीं रखता। कन्नड़ भाषा में अल्लम का अर्थ लिंगायत भक्त होता है। इस शब्द को अल्लाह से निकला हुआ मानना उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि कृष्ण नाम क्राइस्ट से निकला होगा। फिर भी, ये दोनों हास्यास्पद बातें ऐसे लोगों ने कही हैं जो विद्येतर कारणों से, विद्वान कहला रहे हैं।

यूरोपीय बुद्धिवाद

संस्कृति के क्षेत्र में चौथी क्रान्ति तब आरम्भ हुई, जब भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का संपर्क ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से हुआ। यह महाक्रान्ति अन्य सभी क्रान्तियों से अधिक व्यापक और गम्भीर है। शुरू तो यह उन्नीसवीं सदी के साथ ही हुई, किन्तु, आज भी इसकी धारा लहरें लेती हुई आगे जा रही है और हम सभी लोग उसके प्रवाह में हैं। इस क्रान्ति का सबसे भयानक परिणाम यह है कि इसने धर्म और विज्ञान, नवीन और प्राचीन तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच दुर्धर्ष संघर्ष उत्पन्न कर दिया है।

हिन्दुत्व के वृत्त में इस क्रान्ति के नेता राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्र, अरविन्द, महर्षि रमण, एनी बेसेंट और महात्मा गांधी हुए है। और इस्लाम के भीतर इस क्रान्ति का मार्ग-दर्शन सर सैयद अहमद खां, मौलाना चिराग़अली, सैयद मेंहदीअली, सलाह अलदीन खुदाबख्श, मौलाना करामतअली, मौलाना हाली, मौलाना शिबली नौमानी और सर मुहम्मद इकबाल ने किया है। सन सत्तावन के गदर में अंगरेज़ों का मुकाबिला हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर किया था। लेकिन, संस्कृति के क्षेत्र में यूरोप से जब चुनौती आई, तब उसका जवाब दोनों धर्मों की ओर से अलग-अलग दिया गया। खैरियत की बात यह है कि अलग-अलग होने पर भी हिन्दुत्व और इस्लाम के उत्तर, मूलतः, दो नहीं, एक हैं। वह एक उत्तर यह है कि यूरोप और अमरीका के नये ज्ञान में जो कुछ भी उपयोगी और श्रेष्ठ है उसे हम अवश्य ग्रहण करेंगे; लेकिन, साथ ही, हमारे अपने धर्म और संस्कृति में जो कुछ भी ऊंचा और महान है, हम उसे भी नहीं छोड़ सकते। एक हाथ में विज्ञान की मसाल और दूसरे में अध्यात्म का ज्योतिर्मय कमल, यह भारत का अगला स्वरूप दीखता है। विज्ञान के उदय के बाद अतीत और वर्तमान के बीच जो विश्वव्यापी संघर्ष आरम्भ हुआ, उसमें अतीत, प्रायः, सभी देशों में पराजित हो गया है। केवल भारत ही वह देश है जहां विश्व का अतीत आज भी ज़ोरों से युद्ध कर रहा है। हमें कोई ऐसी राह निकालनी चाहिए जिससे इस लड़ाई में एक की जीत और दूसरे की हार न होने पाए। संस्कृति अहंकार नहीं, विनय है। संस्कृति जीत नहीं, समझौता और मैत्री का नाम है। अतीत और वर्तमान अगर परस्पर मित्र हो गये तो यह समझिये कि दुनिया को अपने दुःखों से बाहर निकलने की राह मिल गई।

पुनश्च

दिल्ली में संस्कृति शब्द का अर्थ नाच-गान और नाटक तक सीमित होता जा रहा है। नृत्य, संगीत और नाटक भी संस्कृति के अंग हैं, किन्तु संस्कृति उन्हीं तक सीमित नहीं है। सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है; संस्कृति वह तत्त्व है जो हम स्वयं हैं। सभ्यता बहुत जल्दी भी बन सकती है; किन्तु, संस्कृति के बनने में बहुत ज्यादा वक्त लगता

है और सभ्यता शीघ्र ही नष्ट भी हो सकती है; किन्तु, संस्कृति के नष्ट होने में भी समय लगता है। मोटर, महल और हवाई जहाज, ये सभ्यता के उपकरण हैं। वे जल्दी लाये जा सकते हैं और जल्दी ही छीने भी जा सकते हैं; किन्तु, दया, माया, करुणा, अहिंसा, साहस और शील ये आसानी से नष्ट नहीं होते। कहा तो यह जाता है कि संस्कार आदमी की मृत्यु से भी समाप्त नहीं होता। वह जन्म-जन्मान्तर तक हमारा पीछा करता है।

एक दूसरे धरातल पर संस्कृति विचार है, संस्कृति भावना है, संस्कृति मनुष्य का जीवनव्यापी दृष्टिकोण है। हम जैसे विचारों में विश्वास करते हैं, हमारे कर्म वैसे ही हो जाते हैं। निवृत्ति की माला जपते-जपते हम गुलाम हो गये और प्रवृत्ति की आराधना का आरम्भ करते ही हमारी गुलामी चली गई,। किन्तु, संस्कृति न तो केवल निवृत्ति है और न केवल प्रवृत्ति। संस्कृति दुराग्रह नहीं, सहनशीलता को कहते हैं। संस्कृति युद्ध नहीं, समझौते का नाम है। संसार में आज जो अशान्ति दिखाई पड़ती है, उसका एकमात्र कारण यह नहीं है कि दुनिया पूंजीवाद और समाजवाद नामक दो शिविरों में बंट गई है। इस संकट का मूल कारण, शायद, यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति के संघर्ष में निवृत्ति बिलकुल पराजित हो गई। जैसे निवृत्ति की अति से दीनता और दौर्बल्य बढ़ता है, वैसे ही, प्रवृत्ति की अति, राक्षसी वृत्ति को बढ़ावा देती है।

एक समय लोग यह मानकर निश्चेष्ट हो गए थे कि संसार माया और असत्य है। आज वे इस विश्वास के कारण कठोर हो रहे हैं कि परलोक की कल्पना ही झूठ है; इसलिए, पुलिस से बच कर जो भी करोगे वह पुण्य होगा। संसार की अशान्ति का कारण यह है कि व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों ही, आज नम्बर एक बनने की कोशिश में बेतहाशा दौड़ रहे हैं। लोग यह भूल गए हैं कि प्रजातन्त्र की असली पताका का नाम कफन है जिस पर लिखा रहता है कि सभी व्यक्ति समान हैं। मेरा खयाल है, प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही में जब तक निवृत्ति का पानी मिलाया नहीं जाएगा, तब तक शान्ति की कविता नहीं लिखी जा सकती।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जिस जलाशय में नया जल लाने वाले द्वार खुले हुए हैं, वह हमेशा ताजा और नवीन रहेगा। जिसके पानी लाने वाले दरवाज़े बन्द हो गए, वह जलाशय सड़कर सूख जाएगा। भारत की बुनियादी संस्कृति बन्द जलाशय की संस्कृति नहीं थी। एक तो उसका जन्म ही अनेक संस्कृतियों के योग से हुआ था। दूसरे, जब तक वह अन्य संस्कृतियों के जल को स्वीकार करती रही, उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया। अपनी समृद्धि के दिनों में भारतीय संस्कृति बहिष्कार की नीति नहीं बरतती थी। उस समय भारत ने संसार को अनन्त ज्ञान दिया, यह बात हमें याद है। किन्तु, हम यह भूल गये कि उन दिनों बाहर से चीजें हम लेते भी थे। केन्द्र शब्द एक समय ग्रीक शब्द केंटर से लिया गया था। ज्योतिष-ग्रन्थों में एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है जो रोम की याद दिलाता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिश-सिद्धान्त के बारे में भी अनुमान है कि वह अलेक्जेंड्रिया के विद्वान पोलस के सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया था। कहते हैं, होरा-चक्र की पद्धति भी यहां यूनान से आई थी। और ताजक-शास्त्र तो, स्पष्ट ही, अरब से आया हुआ लगता है। इस ग्रन्थ के अनेक श्लोकों में अरबी-शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है, ऐसा पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।

इन बातों से शिक्षा यह निकलती है कि गुरु का पद उसी को शोभा देता है जिसमें शिष्य बनने की भी शक्ति है। जो शिष्य बनने से इनकार करने लगता है, उसका गुरु-पद आपसे-आप विनष्ट हो जाता है।

भारतीय संस्कृति

डा० मंगलदेव शास्त्री

जिस रूप में भारतीय संस्कृति का प्रश्न आज देश के सामने है, उस रूप में उसका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। तो भी यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर इस पर विशेष ध्यान गया है।

वर्तमान भारत में यह प्रश्न क्यों उठा ? यह विषय रुचिकर होने के साथ-साथ मनन करने के योग्य भी है। हमारे मत में तो इसका उत्तर यही है कि, विदेशीय संघटित विचारधारा तथा राजनीतिक शक्ति के आक्रमण का प्रतिरोध करने की दृष्टि से, हमारे मनीषियों ने अनुभव किया कि सहस्रों वर्षों की क्षुद्र तथा संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधाराओं और भावनाओं के विघटनकारी दुष्प्रभाव को देश से दूर करने के लिए आवश्यक है कि जनता के सामने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, मौलिक तथा समन्वयात्मक विचार-धारा रखी जाए। भारतीय संस्कृति की भावना को उन्होंने ऐसा ही समझा। वर्तमान भारत में भारतीय संस्कृति के प्रश्न के उठने का यही कारण हमारी समझ में आता है।

'संस्कृति' शब्द का अर्थ

'संस्कृति' शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न के झगड़े में हम इस समय पड़ना नहीं चाहते। सब लोग इसका कुछ-न-कुछ अर्थ समझकर ही प्रयोग करते हैं। तो भी प्रायः निर्विवाद रूप से इतना कहा जा सकता है कि :

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिकजीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तयैव तुलया विभिन्नसभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते । किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः 'सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छान्दोग्योपनिषद् ८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुं शक्यते।" (प्रबन्धप्रकाश, भाग २, पृ० ३)।

इसका अभिप्राय यही है कि किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की समाप्ति संस्कृति में ही होती है। विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिए संस्कृति के आधार पर ही विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।

विद्वानों का इस विषय में ऐकमत्य ही होगा कि ऊपर के अर्थ में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्रायः बिलकुल नया ही है।

भारतीय संस्कृति के विषय में विभिन्न दृष्टियां

संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से उपयुक्त विचार के होने पर भी, भारतीय संस्कृति की भावना के विषय में बड़ी गड़बड़ दिखाई देती है। इस विषय में देश के विचारकों की प्रायः परस्पर-विरुद्ध या विभिन्न दृष्टियां दिखाई देती हैं।

इस विषय में अत्यन्त संकीर्ण दृष्टि उन लोगों की है, जो परम्परागत अपने-अपने धर्म या सम्प्रदाय को ही 'भारतीय संस्कृति' समझते हैं। संस्कृति के जिस व्यापक या समन्वयात्मक रूप की हमने ऊपर व्याख्या की है, उसकी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता है। 'कल्याण' ने कुछ वर्ष पहले एक 'संस्कृति-विशेषांक' निकाला था। उसमें लेख लिखने वाले अधिकतर ऐसे ही सज्जन थे, जिनको कदाचित यह भी ज्ञान नहीं था कि प्राचीन 'धर्म', 'सम्प्रदाय', 'सदाचार' आदि शब्दों के रहने पर भी देश में 'संस्कृति' शब्द के इस समय प्रचलन का मुख्य लक्ष्य क्या है?

दूसरी दृष्टि उन लोगों की है, जो भारतीय संस्कृति को, भारतान्तर्गत समस्त सम्प्रदायों में व्यापक न मानकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों से ही सम्बद्ध मानते हैं। इस दृष्टि वाले लोग यद्यपि उपर्युक्त पहली दृष्टि वालों से काफी अधिक उदार हैं, तो भी देखना तो यह है कि उपर्युक्त विचार-धारा से प्रभावित भारतीय संस्कृति में वर्तमान भारत की कठिन साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की, तथा साथ ही संसार की सतत प्रगतिशील विचारधारा के साथ भारतवर्ष को आगे बढ़ाने की कहां तक क्षमता है। यदि नहीं, तब तो यही प्रश्न उठता है कि कहीं भारतीय संस्कृति के इस नवीन आन्दोलन से देश को लाभ के स्थान में हानि ही न उठानी पड़े? हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनों पहले तक सबसे सम्मानित 'भारतीय संस्कृति' शब्द उपर्युक्त विचार-धारा के कारण ही अब अपने पद से नीचे गिरने लगा है।

तीसरी दृष्टि उन लोगों की है जो भारतीय संस्कृति को देश के किसी विशिष्ट एक या अनेक सम्प्रदायों से परिमित या बद्ध न मानकर, समस्त सम्प्रदायों में एक सूत्र-रूप से व्यापक, अतएव सबके अभिमान की वस्तु, काफी लचीली, सहस्रों वर्षों से भारतीय परम्परा से प्राप्त संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं और विषमताओं के विष को दूर करके राष्ट्र में एकात्मकता की भावना को फैलाने का एकमात्र साधन समझते हैं। स्पष्टतः इसी दृष्टि से भारतीय संस्कृति की भावना देश की अनेक विषम समस्याओं के समाधान का एकमात्र साधन हो सकती है।

दूसरी ओर, लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से भी, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों में विभिन्न धारणाएं फैली हुई हैं। कोई तो इसको प्रतिक्रियावादिता या पश्चाद्गामिता का ही पोषक या समर्थक समझते हैं। संस्कृति-रूपी नदी की धारा सदा आगे को ही बहती है, इस मौलिक सिद्धान्त को भूलकर वे प्रायः यही स्वप्न देखते हैं कि भारतीय संस्कृति के आन्दोलन के सहारे हम भारतवर्ष की सहस्रों वर्षों की प्राचीन परिस्थिति को फिर से वापस ला सकेंगे। पश्चाद्गामिता की इसी विचार-धारा के कारण देश का एक बड़ा प्रभाव-सम्पन्न वर्ग भारतीय संस्कृति की भावना का घोर विरोधी हो उठा है, या कम-से-कम उसको सन्देह की दृष्टि से देखने लगा है।

दूसरे वे लोग हैं, जो भारतीय संस्कृति को देश के परस्पर-विरोधी तत्त्वों को मिलाने वाली, गंगा की सतत अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात करने वाली धारा के समान ही सतत प्रगतिशील, और स्वभावतः समन्वयात्मक समझते हैं। प्राचीन परम्परा से जीवित सम्बन्ध रखते हुए वह सदा आगे ही बढ़ेगी। इसीलिए उसे संसार के किसी भी वाद से, वस्तुतः प्रगतिशील वाद से न तो कोई विद्वेष हो सकता है, न भय।

उपर्युक्त विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव के कारण ही भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में भी विभिन्न मत प्रचलित हो रहे हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

इस सम्बन्ध में जनता में सबसे अधिक प्रचलित मत विभिन्न सम्प्रदायवादियों के हैं। लगभग दो-ढाई सहस्र वर्षों से इन्हीं सम्प्रदायवादियों का बोलबाला भारत में रहा है। इन सम्प्रदायों के मूल में जो आर्थिक, जातिगत, समाजगत या राजनीतिक कारण थे, उनका विचार यहां हम नहीं करेंगे। तो भी इतना कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस दो-ढाई सहस्र वर्षों के काल में भी भारतवर्ष की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन सम्प्रदायवादियों का काफी हाथ रहा है।

अपने-अपने सम्प्रदाय तथा परम्परा को ही सृष्टि के प्रारम्भ से ब्रह्मा, शिव आदि के द्वारा प्रायः प्रवर्तित कहने वाले, तथा अपने से भिन्न सम्प्रदायों को प्रायः अपने से हीन कहने वाले, इन लोगों के मत में तो 'विशुद्ध' भारतीय

संस्कृति का आधार उनके ही सम्प्रदाय के प्रारम्भिक रूप में ढूंढना चाहिए। वैदिक, तांत्रिक, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध जैसे सम्प्रदाय प्रायः इसी कोटि में आ जाते हैं।

ये लोग अपने-अपने सम्प्रदाय से अनन्तर-भावी या भिन्न सम्प्रदायों को प्रायः अपने मौलिक धर्म का विकृत या बिगड़ा हुआ रूप ही समझते हैं।

उदाहरणार्थ मनु के :

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति॥ (१२।९७)
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥ (१२।९५-९६)

(अर्थात्, चातुर्वर्ण्य और चारों आश्रमों के साथ-साथ भूत, वर्तमान और भविष्य तथा तीनों लोकों का परिज्ञान वेद से ही होता है। वेदबाह्य जो भी स्मृतियां या सम्प्रदाय हैं, वे तमोनिष्ठ तथा नवीन होने के कारण निष्फल और मिथ्या हैं।) इत्यादि वचन, युगों के क्रम से धर्म के ह्रास की कल्पना, मनुस्मृति-जैसे ग्रंथों में शूद्र राज्य की विभीषिका, पुराणों में 'नन्दान्तं क्षत्रियकुलम्' (अर्थात नन्दों के अनन्तर वैदिक सम्प्रदाय के पोषक क्षत्रिय राजाओं का अन्त), धर्मशास्त्रों में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के साथ संकरज जातियों की स्थिति की कल्पना, इत्यादि समस्त विचार-धारा उन्हीं सम्प्रदायवादियों की प्रतीक है, जो भारतीय संस्कृति को प्रगतिशील और समन्वयात्मक न मानकर केवल अपने-अपने सम्प्रदाय में ही अपनी विचारधारा को बद्ध रखते हैं।

एकमात्र शब्द-प्रमाण की प्रधानता, असहिष्णुता की भावना और भारत के वर्तमान या ऐतिहासिक स्वरूप के समझने में वैज्ञानिक समष्टि-दृष्टि का अभाव—इन बातों में ही इन लोगों का मुख्य वैशिष्टय दीख पड़ता है।

यह विचित्र-सी बात है कि हमारे कुछ आधुनिक इतिहास-लेखक तथा विचारक भी इस (बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक) पूर्वग्रह (Prejudice) से शून्य नहीं हैं। साम्प्रदायिक या जातिगत पूर्वग्रह के कारण वे भारतीय संस्कृति के इतिहास के अध्ययन में समष्टि-दृष्टि न रखकर, एकांगी दृष्टि से ही काम लेते रहे हैं। केवल बौद्धों आदि पर भारत के अधःपतन का दोष मढ़ना, ऐसे ही लोगों का काम है।

ऐतिहासिक गवेषणा में हमारी एकांगी दृष्टि का प्रधान कारण यह होता है कि हम प्रायः अपनी दृष्टि को संस्कृत-साहित्य में ही परमिति कर देते हैं। पर संस्कृत-साहित्य में कितनी अधिक एकांगिता है, इसका ज्वलंत प्रमाण इसी से मिल जाता है कि बौद्धकालीन उस इतिहास का भी, जिसको हम भारत का स्वर्ण-युग कह सकते हैं, संस्कृत-साहित्य में प्रायः उल्लेख ही नहीं है। 'व्याकरण महाभाष्य' में पाणिनि के **'येषां च विरोधः शाश्वतिकः'** (२।४।९) (अर्थात जिनमें परस्पर शाश्वतिक विरोध होता है, उनके वाचक शब्दों का द्वंद्व समास एकवचन में रहता है) इस सूत्र का एक उदाहरण 'श्रमणब्राह्मणम्' दिया है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि कम-से-कम ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व से ही श्रमण (अर्थात बौद्ध) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल-जैसी शत्रुता रहने लगी थी। संस्कृत-साहित्य की उपर्युक्त एकांगिता के मूल में ऐसे ही कारण हो सकते हैं। यही बात संस्कृतेतर साहित्यों के विषय में भी कही जा सकती है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त साम्प्रदायिक तथा एकांगी दृष्टि के मुकाबले में आधुनिक विज्ञानमूलक ऐतिहासिक दृष्टि है। इसके अनुसार भारतीय संस्कृति को उसके उपर्युक्त अत्यन्त व्यापक अर्थ में लेकर, उसको स्वभावतः प्रगतिशील तथा समन्वयात्मक मानते हुए, वैदिक परम्परा के संस्कृत-साहित्य के साथ बौद्ध-जैन साहित्य तथा सन्तों के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन, मूक जनता के अनंकित विश्वास और आचार-विचारों के परीक्षण

और भाषा के साथ-साथ पुरातत्त्व-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक साक्ष्य के अनुशीलन के द्वारा समष्टि-दृष्टि से, भारतीय संस्कृति के आधारों का अनुसंधान किया जाता है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टियों में किसका कितना मूल्य है, यह कहने की बात नहीं है। स्पष्टतः उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि से ही हम भारतीय संस्कृति के उस समन्वयात्मक तथा प्रगतिशील स्वरूप को समझ सकते हैं, जिसको हम वर्तमान भारत के सामने रख सकते हैं और जिसमें भारत के विभिन्न सम्प्रदायों और वर्गों को ममत्व की भावना हो सकती है। हम इस लेख में इसी दृष्टि से, संक्षेप में ही, संस्कृति के आधारों की विवेचना करना चाहते हैं।

भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार

भारतीय संस्कृति के आधार के विषय में उपर्युक्त समन्वयमूलक दृष्टि का क्षेत्र यद्यपि आज के वैज्ञानिक युग में अत्यधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है, तो भी यह दृष्टि नितरां नवीन कल्पनामूलक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष के ही विद्वानों की परम्परागत प्राचीन मान्यताओं में इस दृष्टि की पुष्टि में पर्याप्त आधार मिल जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत के ज्ञाताओं से छिपा नहीं है कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के लिए 'निगमागम धर्म' नाम पंडितों में प्रसिद्ध है। अनेक सुप्रसिद्ध ग्रंथकारों के लिए, उनकी प्रशंसा के रूप में **'निगमागमपारावारपारदृश्वा'** कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्टतः यही है कि परम्परागत पौराणिक हिन्दू धर्म का आधार केवल 'निगम' (या वेद) न होकर, 'आगम' भी हैं। दूसरे शब्दों में वह निगम-आगम-धर्मों का समन्वित रूप है। यहां 'निगम' का मौलिक अभिप्राय, हमारी सम्मति में, निश्चित या व्यवस्थित वैदिक परम्परा से है और 'आगम' का मौलिक अभिप्राय प्राचीनतर प्राग्वैदिक काल से आती हुई वैदिकेतर धार्मिक या सांस्कृतिक परम्परा से है। 'निगमागमधर्म' की चर्चा हम आगे भी करेंगे। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों की भी अस्पष्ट रूप से यह भावना थी कि भारतीय संस्कृति का रूप समन्वयात्मक है।

इसके अतिरिक्त साहित्य आदि के स्वतन्त्र साक्ष्य से भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। सबसे पहले हम वैदिक संस्कृति से भी प्राचीनतर प्राग्वैदिक जातियों और उनकी संस्कृति के विषय में ही कुछ साक्ष्य उपस्थित करना चाहते हैं।

वैदिक साहित्य को ही लीजिए। ऋग्वेद में वैदिक देवताओं के प्रति विरोधी भावना रखने वाले दासों या दस्युओं के लिए स्पष्टतः 'अयज्यवः' या 'अयज्ञः' (=वैदिक यज्ञ-प्रथा को न मानने वाले), 'अनिन्द्राः' (=इन्द्र को न मानने वाले) कहा गया है। इन्द्र को इन दस्युओं की सैकड़ों 'आयसी पुरः' (=लोहमय या लोहवत् दृढ़ पुरियों को) नाश करने वाला कहा गया है।

अथर्ववेद के 'पृथिवी-सूक्त' में **'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्'** (१२।१।५) (अर्थात जिस पृथ्वी पर पुराने लोगों ने विभिन्न प्रकार के कार्य किए थे और जिस पर देवताओं ने 'असुरों' पर आक्रमण किए थे) स्पष्टतः प्राग्वैदिक जाति का उल्लेख है। भारतीय सभ्यता की परम्परा में 'देवों' की अपेक्षा 'असुरों' का पूर्ववर्ती होना और प्रमाणों से भी सिद्ध किया जा सकता है। संस्कृत भाषा के कोषों में असुरवाची 'पूर्वदेवाः' शब्द से भी यही सिद्ध होता है।

शतपथ में मांस को श्रेष्ठ अन्नाद्य तो बतलाया ही गया है; पर हमारी स्मृति में कदाचित यह भी कहा है कि जहां देवता मांस को पसन्द करते हैं, वहां असुरों को उससे घृणा होती है।

बौधायन धर्मसूत्र में एक स्थल पर ब्रह्मचर्यादि-आश्रमों के विषय में विचार करते हुए स्पष्टतः कहा है :

'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः तत्रोदाहरन्ति।
प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस।
स एतान् भेदांश्चकार ... तान् मनीषी नाद्रियेत।'

अर्थात् आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने किया था। पुराणों तथा वाल्मीकि रामायण

आदि में भारतवर्ष में ही रहने वाली यक्ष, राक्षस, विद्याधर, नाग आदि अनेक अवैदिक जातियों का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इन जातियों की स्मृति और स्वरूप साहित्य में क्रमशः अस्पष्ट और मन्द पड़ते गए हैं, यहां तक कि अन्त में इनको 'देवयोनि-विशेष' (तु० **विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धोऽभूतोऽमी देवयोनयः॥** —अमरकोश) मान लिया गया, इससे यही सिद्ध होता है कि ये प्रागैतिहासिक जातियां थीं, जिनको क्रमशः हमारी जातीय स्मृति ने भुला दिया। अग्रवालों आदि की अनुश्रुति में भी 'नाग' आदि प्रागैतिहासिक जातियों का उल्लेख मिलता है।

पुराणों में शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुत-कुछ भिन्न है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्ष, राक्षस आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु पौराणिक शिव की तो एक विशेषता यही है कि उसके गण भूत, पिशाच आदि माने गए हैं। वह राक्षस और असुरों का खासतौर पर उपास्य देव है। इससे यही सिद्ध होता है कि शिव अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनैः-शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया।

वैदिक तथा प्रचलित पौराणिक उपास्य देवों और कर्मकाण्डों की पारस्परिक तुलना करने से भी हम बर-बस इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रचलित हिन्दू देवताओं और कर्मकाण्ड पर एक वैदिकेतर, और बहुत अंशों में प्रागैतिहासिक, परम्परा की छाप है।

प्राचीन वैदिक धर्म की अपेक्षा पौराणिक धर्म में उपास्यदेवों की संख्या बहुत बढ़ गई है। वैदिक धर्म के अनेक देवता (ब्रह्मणस्पति, पूषा, भग, इन्द्र, मरुत) या तो पौराणिक धर्म में प्रायः विलुप्त ही हो गए हैं या अत्यन्त गौण हो गए हैं। पौराणिक धर्म के गणेश, शिवशक्ति और विष्णु ये मुख्य देवता हैं। वेद में इनका स्थान या तो गौण है या है ही नहीं। अनेक वैदिक देवताओं (जैसे विष्णु, वरुण, शिव) का पौराणिक धर्म में रूपान्तर ही हो गया है। भैरव आदि ऐसे भी पौराणिक धर्म के अनेकानेक देवता हैं, जिनका वैदिक धर्म में कोई स्थान नहीं है।

पौराणिक देव-पूजा-पद्धति भी वैदिक पूजा-पद्धति से नितरां भिन्न है। पौराणिक कर्मकाण्ड में धूप, दीप, पुष्प, फल, पान सुपारी आदि की पदे-पदे आवश्यकता होती हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में इनका अभाव ही है।

वैदिक धर्म से प्रचलित पौराणिक धर्म के इस महान परिवर्तन को हम वैदिक तथा वैदिकेतर (या प्राग्वैदिक) परम्पराओं के एक प्रकार के समन्वय से ही समझ सकते हैं।

इसी प्रकार हमारी संस्कृति की परम्परा में विचार-धाराओं के कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी द्वन्द्व हैं, जिनको हम वैदिक और वैदिकेतर धाराओं के साहाय्य के बिना नहीं समझ सकते। ऐसे ही कुछ द्वन्द्वों का संकेत हम नीचे करते हैं :

१. कर्म और संन्यास।

२. संसार और जीवन का उद्देश्य हमारा उत्तरोत्तर विकास है। उत्तरोत्तर विकास का ही नाम अमृतत्व है। यही निःश्रेयस् है।

इसके स्थान में—

संसार और जीवन दुःखमय है। अतएव हेय हैं। इनसे मोक्ष या छुटकारा पाना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

३. ज्योतिर्गमय लोकों की प्रार्थना[1] और नरकों[2] का निरन्तर भय; इन द्वंद्वों में पहला पक्ष स्पष्टतया वैदिक संस्कृति के आधार पर है। दूसरे पक्ष का आधार, हमारी समझ में, वैदिकेतर ही होना चाहिए।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारतवर्ष की प्राचीनतर वैदिकेतर संस्कृतियों में ही दूसरे पक्षों की जड़ होनी चाहिए। ऊपर संन्यासादि आश्रमों की उत्पत्ति के विषय में जो बौधायन धर्मसूत्र का मत हमने दिया है, उससे भी

१. तुलना कीजिए:—उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। (यजु० २०।२१); तमसो मा ज्योतिर्गमय। इत्यादि।

२. 'नरक' शब्द ऋग्वेद संहिता, शुक्ल यजुर्वेद, वा० संहिता तथा सामवेद संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्ववेद संहिता में केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।

यही सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी हमारे देश के अध्यात्म-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र का आधार ये ही द्वितीय पक्ष की धाराएं हैं। ये धाराएं अवैदिक हैं, यह सुनकर हमारे अनेक भाई चौंक उठेंगे। पर हमारे मत में तो वस्तु-स्थिति यही दीखती है।

इन्हीं दो प्रकार की विचारधाराओं को बहुत अंशों में, हम क्रमशः ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय भी कह सकते हैं। 'ऋषि' तथा 'मुनि' शब्दों के मौलिक प्रयोगों के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। 'मुनि' शब्द का प्रयोग भी वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका 'ऋषि' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऋषि-सम्प्रदाय और मुनि-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही यहां कहना चाहते हैं कि दोनों की मौलिक दृष्टियों में हमें महान भेद प्रतीत होता है। जहां एक का झुकाव हिंसा-मूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहां दूसरे का अहिंसा तथा तन्मूलक निरामिषता तथा विचार-सहिष्णुता (तथा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। जहां एक का, परम्परा में वेदों को सुनने के कारण ही शूद्रों के कान में शीशा पिलाने का विधान है, वहां दूसरी ओर उसने संसार भर के शूद्रातिशूद्र के भी हित की दृष्टि से बौद्ध, जैन तथा सन्त सम्प्रदायों को जन्म दिया है। इनमें एक मूल में वैदिक, और दूसरी मूल में प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।

इसी प्रकार हमारे समाज में वर्ण और जाति के आधार पर सामाजिक भेदों का द्वैविध्य दीखता है, वह भी इसी प्रकार का एक द्वन्द्व प्रतीत होता है।

पुरुष-विध देवताओं के साथ-साथ स्त्री-विध देवताओं की पूजा-उपासना भी इसी प्रकार के द्वन्द्वों में से एक है।

हम एक और द्वन्द्व का उल्लेख करके अपने लेख के उपसंहार की ओर आते हैं। वह द्वन्द्व ग्राम और नगर का है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहां 'ग्राम' शब्द वैदिक संहिताओं में अनेकत्र आया है, वहां 'नगर' का प्रयोग हमें एक बार भी नहीं मिला। वैदिक साहित्य और धर्म-सूत्रों में भी वैदिक सभ्यता ग्राम-प्रधान दीखती है। दूसरी ओर, नगरों के निर्माण में 'मय' जैसे असुरों का उल्लेख पुराणों आदि में मिलता है। नगरों के साथ ही नागरिक शिल्प और कला-कौशल का विचार सम्बद्ध है। यह विचारणीय बात है कि वैदिक संस्कृति के वाहक ऊपरी तीनों वर्णों में कला और शिल्प का कोई स्थान नहीं है। इन कामों को करने वालों की तो ये लोग 'शूद्रों' में गणना करते हैं। इस प्रवृत्ति की व्याख्या हमारी समझ में उपर्युक्त ग्राम तथा नगर के द्वन्द्व में, जो कि वैदिक और प्राग्वैदिक परिस्थितियों की ओर संकेत करता है, मिल सकती है।

उपसंहार

ऊपर के अनुसन्धान से यह स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के मौलिक आधारों के विचार में हम उसकी प्रधान प्रवृत्तियों को, जिनमें अनेक परस्परविरोधी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियां भी हैं, कभी नहीं समझ सकते, जब तक हम यह न मान लें कि उनके निर्माण और विकास में वैदिक संस्कृति की धारा के साथ-साथ एक वैदिकेतर या प्राग्वैदिक धारा का भी बड़ा भारी हाथ रहा है। दोनों धाराओं के समन्वय ही में हमें उन मौलिक आधारों को ढूंढना होगा।

वैदिक संस्कृति के समान ही वह प्राग्वैदिक संस्कृति भी हमारे अभिमान और गर्व का विषय होना चाहिए। आर्यत्व के अभिमान के पूर्वग्रह से युक्त, और भारत में अपने साथ सहानुभूति का वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से प्रवृत्त यूरोपीय ऐतिहासिकों के प्रभाव से उत्पन्न हुई यह भावना कि भारतीय सभ्यता का इतिहास केवल वैदिक काल से प्रारम्भ होता है, हमें बरबस छोड़नी पड़ेगी। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, त्याग की भावना, पारलौकिक भावना, अहिंसावाद जैसी प्रवृत्तियों की जड़, जिनके वास्तविक और संयत रूप का हमको गर्व हो सकता है, हमको वैदिक संस्कृति की तह से नीचे तक जाती हुई मिलेंगी।

वैदिक संस्कृति का बहुत ही बड़ा महत्त्व है, जिसके विषय में एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है, तो भी भारतीय जनता के समुद्र में उसका स्थान सदा से एक द्वीप-जैसा रहा है। मूक जनता की अवस्था के अध्ययन से तथा महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में वैदिकों की अपनी पृथक अवस्थिति से यही सिद्धान्त निकलता है।

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय

वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का उक्त समन्वय अदृष्टविधया बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। परस्पर आदान-प्रदान से दोनों धाराएं आगे बढ़ती हुई अन्त में पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में समन्वित होकर आपाततः एक धारा में ही विकसित हुई। इस समन्वय का प्रभाव धर्म, आचार-विचार, भाषा और रक्त तक पर पड़ा। इसके प्रमाणों की यहां आवश्यकता नहीं है।

इसी समन्वय को दृष्टि में रख कर, जैसा हमने ऊपर कहा है, निगमागम धर्म नाम की प्रवृत्ति हुई। इसी के आधार पर सनातनी विद्वान बहुत ही ठीक कहते हैं कि हमारे धर्म का आधार केवल 'श्रुति' न होकर श्रुति-स्मृति-पुराण हैं।

पौराणिक अनुश्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस समन्वय में बहुत बड़ा काम भगवान व्यास का था। अपने समय में पुराणों के 'संग्रह' या 'संपादन' में उनका बड़ा हाथ था—यही पौराणिक प्रसिद्धि है। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही उपर्युक्त प्राग्वैदिक संस्कृति की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उस समय के अनेकानेक 'ऋषि-मुनियों' ने दिया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में व्यास के सदृश ही दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।

यह समन्वित पौराणिक संस्कृति जो कि बहुत अंशों में वर्तमान भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड के समान है, न तो केवल वैदिकेतर ही कही जा सकती है न उसको हम यूरोपीय विद्वानों के अभिप्राय से 'आर्य-संस्कृति' या 'अनार्य-संस्कृति' ही कह सकते हैं। उसकी तो समान रूप से उपर्युक्त दोनों धाराओं में सम्मान की दृष्टि होनी चाहिए। यही सनातन धर्म की दृष्टि है। इसीलिए यूरोपीय प्रभाव से हमारे देश के कुछ लोगों में आर्य-अनार्य, वैदिक-अवैदिक शब्दों को लेकर जो एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है, वह वास्तव में निराधार और अहेतुक है।

समन्वित धारा की प्रगति और विकास

गंगा-यमुना-रूपी वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं के संगम से बनी हुई भारतीय संस्कृति की यह धारा अपने 'ऐतिहासिक' काल में भी स्वभावतः स्थिर तथा एक ही रूप में नहीं रह सकती थी। इस लम्बे काल में भी तत्कालीन विशिष्ट परिस्थितियों और आवश्यकताओं से उत्पन्न होने वाली नवीन धाराओं से वह प्रभावित होती हुई, और क्रमशः उन धाराओं को आत्मसात करती हुई, नवीनतर गम्भीरता, विस्तार और प्रवाह के साथ आगे बढ़ती रही है।

वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियों का प्रारम्भिक समन्वय केवल नाम-मात्र में ही था। उन दोनों में अनेकानेक स्वार्थों और बद्धमूल परम्पराओं के कारण अनेक प्रकार के वैषम्य, गंगा की धारा में प्रारम्भ में बहते हुए परस्पर टकराने वाले टेढ़े-मेढ़े शिलाखण्डों के समान, चिरकाल तक संयुक्तधारा में भी वर्तमान रहे। परस्पर संघर्ष के द्वारा ही उन्होंने अपनी विषमता के रूप को धीरे-धीरे दूर किया है और भारतीय संस्कृति की धारा की महिमा को बढ़ाया है। यह क्रिया अब भी जारी है और जारी रहेगी। इसी में भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता है।

उपर्युक्त वैषम्यों में एक बड़ा भारी वैषम्य उस बड़ी भारी मानवता के कारण था, जिसको उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों ने सब प्रकार से दलित कर रखा था। भारतवर्ष के आगे के इतिहास में पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उत्पन्न होने वाले जैन, बौद्ध, वैष्णव और सन्त आदि आन्दोलनों की उत्पत्ति और प्रसार में उपर्युक्त विषमताओं का बड़ा भारी हाथ था। समाजगत विषमताओं ने ही भगवान कृष्ण, बुद्ध, महावीर, कबीर, चैतन्य आदि महापुरुषों को जन्म दिया और उन्होंने उन विषमताओं के दूर करने में अपने महान कार्य के द्वारा भारतीय संस्कृति की धारा की ही महत्ता को बढ़ाया।

भारतवर्ष के इतिहास में आने वाले इसलाम और ईसाइयत के आन्दोलनों को भी हम भारतीय संस्कृति

की धारा के प्रवाह से बिलकुल अलग नहीं समझते। प्रथम तो इन दोनों की आध्यात्मिकता और नैतिकता का आधार 'एशियाटिक' संस्कृति के इतिहास की परम्परा के द्वारा भारतीय संस्कृति की मौलिक धारा तक पहुंच जाता है। दूसरे, इतिहास-काल में भी उनका, भारतीय बौद्ध संस्कृति का ऋणी होना कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तीसरे, उन दोनों में कम-से-कम ९५ प्रतिशत संख्या उन्हीं की है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के ही उत्तराधिकारी हैं, और आज भी उनमें सांस्कृतिक मूल्य की वस्तुओं पर भारतीयता की काफी छाप है। हमारा तो विश्वास है कि हम सहिष्णुता से काम लेते हुए, उनकी वास्तविक धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुंचाते हुए, उनमें सुप्त भारतीयता को जगा सकते हैं। और वे भी भारतीय संस्कृति की धारा से पृथक नहीं रह सकते। हमारे मत में बौद्ध, जैन आदि धर्मों की तरह ही, भारतवर्ष की पूर्वोक्त विषमताओं से ही इन सम्प्रदायों के प्रसार में काफी सहायता मिली है और इनके द्वारा भारतीय संस्कृति भी प्रभावित हुई है, और उसको कई प्रकार के साक्षात या असाक्षात रूप से लाभ भी हुए हैं।

हम उपर्युक्त सब आन्दोलनों को भी एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का उपकारक और आधार कह सकते हैं।

आवश्यकता है कि हम भारतीय संस्कृति के विकास को समझने के लिए उपर्युक्त समष्टि-दृष्टि से काम लें। प्रत्येक भारतीय साम्प्रदायिक एकांगी दृष्टि को छोड़कर भारतीय संस्कृति के समस्त क्षेत्र के साथ अपने ममत्व को स्थापित करे और अपने को उसका उत्तराधिकारी समझे।

यह भारतीय संस्कृति स्वभावतः सदा से प्रगतिशील रही है और रहेगी। इसमें अपने जीवन की जो अबाध धारा बह रही है, उसके द्वारा ही यह भविष्य के देशीय या आन्ताराष्ट्रिक मानवता के हित के आन्दोलनों का स्वागत करते हुए, अपनी अनन्त परम्परा की रक्षा करते हुए ही आगे बढ़ती जाएगी। इसी भारतीय संस्कृति में हमारी आस्था है।



भारतीय संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना

श्री परशुराम चतुर्वेदी

भारतीय संस्कृति के प्रारंभिक रूप की एक झलक हमें वैदिक साहित्य में मिलती है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वेद-कालीन आर्यों का जीवन-क्रम अत्यंत सीधा-सादा था और उनकी आवश्यकताएं भी बहुत सीमित थीं। वे अधिकतर वनों में रहा करते थे, खेती किया करते थे और पशुओं का पालन भी करते थे। उनकी मित्र-मंडली में स्वभावतः अपने वर्ग के ही लोग रहा करते थे और इसी प्रकार उनके शत्रुओं में वे लोग गिने जाते थे जिन्हें वे अनार्य कहते थे। उन अनार्यों के साथ में वे प्रायः लड़ा-भिड़ा करते थे और उन पर विजय प्राप्त कर इन्होंने विस्तृत भूमि उपार्जित कर ली थी। परन्तु फिर भी ये उनके प्रति किसी प्रकार के स्थायी वैर की भावना रखते हुए नहीं जान पड़ते। जब ये कभी परमात्मा की स्तुति करने लगते हैं तो उनके प्रति भी इनके हृदयों से प्रायः मैत्री-भाव की ही अभिव्यक्ति होती है। ऐसे अवसरों पर इनका कहना है—"मुझे मित्र से भय न रहे, अमित्र वा शत्रु से भय न रहे, अपने परिचितों से भय न रहे, अपरिचितों से भय न रहे, रात को भय न रहे, दिन को भय न रहे और सभी दिशा के लोग मेरे मित्र बने रहें।"[१] वास्तव में, ये अन्यत्र इस प्रकार भी कहते हैं—"हे परमेश्वर, मुझे समस्त प्राणीगण मित्र की आंख से देखें और मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की आंख से देखूं। हम सभी एक दूसरे को भले प्रकार से एक मित्र की ही आंख से देखा करें।"[२]

वेदकालीन आर्यों के अनुसार उनके पशुओं के लिए भी शांति और अभय की दशा उसी प्रकार अभीष्ट थी। उनका कहना था कि "हे भगवन्, हमारी प्रजाओं के लिए शांति प्रदान कर तथा पशुओं के लिए भी अभय प्रदान कर!"[३] और "हे इन्द्र तुम हमारे द्विपद (भृत्यादि) और चतुष्पद (चौपायों) के लिए भी कल्याणकारी बनो।"[४] बहुत से लोग उनकी इस प्रकार की उक्तियों को कोरी स्वार्थपरता पर ही आधारित मान लेने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। परन्तु, यदि, उपनिषद-साहित्य की ओर भी दृष्टि डाली जाय तो, यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसका मूल कारण उनका वह दार्शनिक दृष्टिकोण भी हो सकता है जिसके अनुसार, सारे विश्व के भीतर एवं बाहर तक भी, सिवाय एक आत्मा के और कुछ भी सत्य नहीं। एक ही आत्मा सर्वत्र ओतप्रोत है जिस कारण किन्हीं भी दो व्यक्तियों या पदार्थों में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जैसा कि 'ब्रह्मविन्दूपनिषद्' में कहा गया है—"एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत वा पदार्थ में व्यवस्थित है और वही, जल में चन्द्र के प्रतिबिंब की भांति, एक होता हुआ भी, अनेक रूपों में प्रतीत होता रहता है"।[५] फिर इसी बात को, एक दूसरे प्रसंग में, 'ईशोपनिषद्' के अन्तर्गत भी इस प्रकार कहा गया है: "यह सारा का सारा जगत और उसमें जो कुछ भी दीखता है वह ईश्वर द्वारा अधिष्ठित है जिस कारण तू उसका त्यागभाव से ही उपभोग कर और किसी

---

१. अथर्ववेद, १९--१५--६
२. यजुर्वेद, ३६--१८
३. यजुर्वेद, ३६--३२
४. यजुर्वेद, ३६--८
५. ब्रह्मविन्दुपनिषद, १--१२

के धन का लोभ न कर'।[1] अतएव, इसी उपनिषद के अनुसार 'जो व्यक्ति संपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा का ही अनुभव करता है वह, इस सर्वात्मवादी मनोवृत्ति के कारण, किसी से भी घृणा नहीं करता।'[2] तथा, इसलिए, जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सभी भूत आत्मवत हो गए उस समय क्या उस एकत्वदर्शी को कभी शोक वा मोह हो सकता है ?[3]

विश्व-ऐक्य तथा गीता

इस प्रकार, यदि ऐसा कहा जाय कि, विश्व-बन्धुत्व की भावना के लिए, कम-से-कम उपनिषदों की रचना के समय उसके दार्शनिक मूलाधार पर अधिक बल दिया जाता था तो, कदाचित, अत्युक्ति न होगी। इस बात के उदाहरण हमें 'महाभारत' की रचना के समय तक भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और गीता में तो ऐसे ही ज्ञान को 'सात्त्विक' भी कहा गया है। जैसे 'जिस ज्ञान से यह समझ पड़ता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव (आत्मा) है वही सात्त्विक ज्ञान है।'[4] तथा उसी ग्रन्थ में अन्यत्र, सर्वोत्कृष्ट योगी का परिचय देते समय भी, कहा गया है—'हे अर्जुन, सुख हो या दुःख, अपने ही समान औरों को भी होता है, जो ऐसी आत्मौपम्य दृष्टि से सर्वत्र देखने लगे वही योगी परम वा उत्कृष्ट माना जाता है।'[5] किन्तु इस मनोवृत्ति का कहीं अधिक स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूप हमें वहां लक्षित होता है जब हम अनेक महापुरुषों द्वारा यह कहते हुए भी सुनते हैं कि हम न केवल सभी प्राणियों के दुःख से दुखी हैं, अपितु उन्हें दुःखरहित कर देने के लिए कटिबद्ध भी हैं। ऐसा स्वर हमें प्रथम कदाचित 'महाभारत' में ही सुन पड़ता है जहां कहा गया है—'मैं न तो राज्य चाहता हूं, न स्वर्ग की इच्छा रखता हूं और न मोक्ष ही मेरा परम ध्येय है, मैं तो यही चाहता हूं कि किसी प्रकार दुखी प्राणियों का कष्ट दूर कर सकूं।'[6] यही बात कहीं-कहीं ऐसी शुभेच्छा के रूप में दीख पड़ती है—'सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी अपने कल्याण के भागी बनें और कोई भी किसी प्रकार दुःख का अनुभव न करें।'"[7] और इन बातों से वह भावना वस्तुतः क्रियात्मक रूप ग्रहण कर लेती है।

श्रमण-साहित्य

विश्वबन्धुत्व की भावना के इस दूसरे व क्रियात्मक रूप के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें श्रमण-साहित्य में मिलते हैं। महात्मा गौतम बुद्ध ने, आत्मा के अस्तित्व की ओर से पूरी उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए, सारी संसृति को ही दुःखमूलक ठहराया था। अतएव, उनके अनुसार सभी प्राणी दुःख के गर्त में पड़े हैं और उनका उद्धार करना हमारा परम कर्तव्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'करुणा' की भावना को भी विशेष महत्त्व दिया तथा 'मेत्ता' वा मैत्री को पूर्णतः व्यवहार में लाने की चेष्टा की। सारिपुत्र के अनुसार—"अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अंगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और अपने पुत्र राहुल के प्रति, इन सभी के प्रति वे मुनि एक समान थे।"[8] भगवान बुद्ध ने स्वयं कहा है—"हे वाशिष्ठ, जैसे कोई बलवान शंख बजाने वाला थोड़े ही परिश्रम से चारों दिशाओं को गुंजा देता है उसी प्रकार, मित्र-भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से भी, जो कार्य होता है उसकी व्यापकता बढ़ जाती है।"[9] इसी बात को 'धम्मपद' के भी अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है—"वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अवैर से वैर

---

१. ईशोपनिषद (१)
२. वही (६)
३. वही (७)
४. भगवद्गीता (१८—२०)
५. वही (६—३२)
६. महाभारत
७. गरुड़पुराण, उत्तर (३५—५१)
८. मिलिन्द-प्रश्न (ओपम्य-कथा)
९. तेविज्ज सुत्त (दीघ० १—१३)

शान्त होता है, यह सनातन धर्म है।"[१] जैनधर्म के महान तीर्थंकर, महावीर ने, इस तथ्य को पूर्ण महत्त्व देते समय 'अहिंसा' को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। उनके मतानुसार तो ज्ञानी होने का भी सार यही है कि किसी की हिंसा न की जाय। इस हिंसा से अभिप्राय केवल जीव-हत्या का ही नहीं, और न इसे किसी का जी दुखाने तक भी सीमित किया जा सकता है। इसकी व्यापकता का कुछ आभास जैन-दर्शन के इस अनेकांतवाद के आधार पर भी कराया जा सकता है जिसके अनुसार प्रत्येक मत का अपना एक पृथक महत्त्व है। मेत्ता और अहिंसा इन दोनों के ही लिए अंतर्वृत्तियों की समुचित साधना अपेक्षित रही और इनका व्यावहारिक रूप विशुद्ध नैतिक आचरण में दीख पड़ता था जिसे पीछे निर्वैर धर्म की भी संज्ञा दी गई और जिसका कवीरादि संतों ने भी प्रचार किया।

संतों के समय तक भारत में इस्लाम धर्म का भी प्रवेश हो चुका था और मुस्लिम संस्कृति का क्रमशः कुछ-न-कुछ प्रभाव भी पड़ने लगा था जिस कारण उसके द्वारा प्रचारित विश्ववन्धुत्व की भावना का भी यहां यत्किंचित अपना लिया जाना असम्भव न था। इस्लामी विश्ववन्धुत्व के मूल में कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं काम करता था और न विश्व के प्राणियों के प्रति पूरी सहानुभूति का ही भाव था। इसका प्रमुख आधार किसी जगन्नियंता के केवल एक मात्र होने में दृढ़ विश्वास-मात्र था और इस्लाम के अनुयायियों का यह एक दावा भी था कि उस विश्व व्यापक भ्रातृ-भाव का सम्वन्ध भी केवल उन्हीं में सम्भव है जो उनके इस प्रकार के 'दीन' में पूरा ईमान लाने वाले हों। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनकी विश्ववन्धुत्व-सम्वन्धी इस भावना के कारण विभिन्न धार्मिक वर्गो का अस्तित्व भी स्वीकृत हो जाय। कम-से-कम भारतवर्ष की जनता पर तो इसका प्रभाव विना पड़े नहीं रह सका और भारतीय संस्कृति के मध्यकालीन रूप में हमें इस प्रकार की दो भिन्न-भिन्न मान्यताओं के चिह्न अवश्य लक्षित हुए, जिनमें से एक के पोषक यदि मुसलमान थे तो दूसरी को प्रश्रय देने वाले अपने को स्पष्ट शब्दों में 'हिन्दू' कहने लगे और इन दोनों के पारस्परिक विरोध की मात्रा में वृद्धि हो गई। कवीर आदि निर्गुणी संतों एवं सूफियों को ऐसी ही स्थिति को संभालने एवं प्रेमभाव फैलाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करने पड़े।

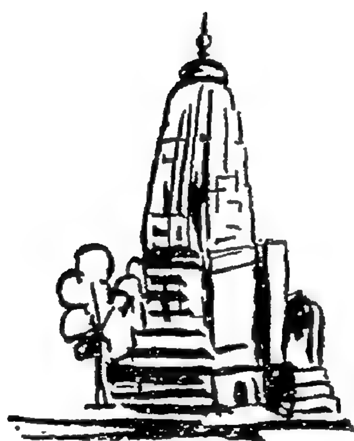
भारतवर्ष पर मुसलमानों का आधिपत्य पांच सौ वर्षो से भी कुछ अधिक समय तक रहा और इस अवधि के भीतर तथा इसके आगे भी कुछ दिनों तक, विश्ववन्धुत्व की भावना पर यहां न्यूनाधिक मजहबी रंग ही चढ़ता चला गया जिसकी सवसे वड़ी कमजोरी यह थी कि ईश्वरवाद को इसके लिए मूलाधार मानते हुए भी, न तो वहां, वैदिक युग की भांति किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष वल था और न उसके पीछे श्रमण-संस्कृति वाले त्याग की नैतिक प्रेरणा ही काम करती थी। इसके सिवाय इस्लामी ईश्वरवाद के साथ अनेक ऐसी अन्य स्वीकृतियां भी लगीं हुई थीं, जो सव किसी धार्मिक वर्गो के लिए एक समान मान्य नहीं हो सकती थीं और जिनके कारण इसीलिए, विश्ववन्धुत्व की भावना में बाधा भी पड़ सकती थी; जिसका एक परिणाम यह हुआ कि यहां की भारतीय संस्कृति पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। आधुनिक जगत की विविध आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियों के फलस्वरूप स्वयं ईश्वरवाद की मूल धारणा को ही ठेस पहुंचते देर नहीं लगी और तदनुसार विश्ववन्धुत्व की भावना को भी कोई नया रूप देने की जरूरत पड़ी। इसीलिए हम देखते है कि जो वात पहले आत्मनिष्ठ एवं आचरणपरक-मात्र ही लगती थी वह आज क्रमशः वस्तुनिष्ठ एवं संगठन-प्रसूत वनती चली जा रही है और एक ऐसी भावना उदय हो रही है जो अनेक तत्त्वों पर आधारित होगी।

आधुनिक जगत के विभिन्न देशों वा जातियों ने अपने-अपने यहां राष्ट्रीय संगठन-सम्वन्धी आन्दोलनों को जन्म देकर आपस में प्रतिस्पर्धा के भाव जागृत कर लिए हैं जिससे प्रायः अशान्ति की आशंका खड़ी हो जाया करती है। उनके चिन्तनशील नेताओं ने इसी कारण कई वार अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की योजना कर उनके द्वारा विश्व-शान्ति लाने का स्वप्न देखा है और इस वात में उनके साथ स्वयं भारत ने भी सहयोग किया तथा हाथ वंटाया है। इसने अपने यहां धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्रतिष्ठा की है और दूसरों के साथ व्यवहार के लिए यह 'पंचशील'-सम्वन्धी आदर्श का भी पूरा

---

१. धम्मपद (१-६)

प्रचार करने लगा है यह देश उन मनीषियों के स्वर में अपना स्वर मिलाने के लिए उत्सुक रहता है जो विशुद्ध मानवतावाद के प्रचारक रहे हैं। अतएव अन्य अनेक देशों के लोग जहां इन सारी बातों को केवल किसी राजनीतिक सहूलियत जैसा ही महत्त्व देते होंगे, वहां यह देश अपने प्राचीन आदर्शों के आधार पर आज भी बहुत स्पष्ट शब्दों में कहता है—"भारत का धर्म समस्त समाज का धर्म है, इसका मूल पृथिवी में है, किन्तु इसका शिखर आकाश में है और फिर भी दोनों अन्योन्याश्रय हैं। भारत ने धर्म को सदा द्युलोक व भूलोक के समस्त प्राणियों के ही जीवन-व्यापी विशाल वृक्ष के रूप में देखा है।" —रवीन्द्रनाथ टैगोर।



प्राचीन भारत में निरामिष भोजन की प्रवृत्ति

डा० रामजी उपाध्याय

भोज्य पदार्थों का विश्लेपण और वर्गीकरण करने से प्रतीत होगा कि वे निम्न प्रकार के हैं :

वनस्पति से प्राप्तव्य —अन्न, फल-फूल, नाल, पत्र, शाक, तेल, गुड़, चीनी, मिश्री, मसाले आदि।

प्राणिवर्ग से प्राप्तव्य—मांस, दूध, दही, घी, वसा, अण्डा, मधु आदि।

भूगर्भ तथा जल से प्राप्तव्य—नमक।

उपर्युक्त वस्तुओं में से यथासम्भव अधिकाधिक वस्तुओं को लोग अपने लिए स्वाद और स्वास्थ्य की दृष्टि से चुन लेते हैं। स्वाद और स्वास्थ्य के अतिरिक्त भोजन की वस्तुओं का चुनाव अपनी सात्त्विकता की अभिवृद्धि के लिए एवं धार्मिक दृष्टि से भी करने की रीति भारत में सुदूर प्राचीन काल से ही रही है। भारतीय धारणा के अनुसार मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका शरीर बनता है और विचार-सम्बन्धी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार 'आहार शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि, सत्त्व-शुद्धि से ध्रुव स्मृति और ध्रुव स्मृति से मोक्ष सम्भव होता है।'[१] गीता में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियों के परिचायक भोजनों के लक्षण मिलते हैं।[२]

भोज्य पदार्थों की उपर्युक्त सूची में मांस, वसा और अण्डे को आमिष तथा शेष को निरामिष कोटि में रखा गया है। आमिष भोज्य को निरामिष भोज्य से मिश्रित करके या स्वतन्त्र रूप से खाने का प्रचलन भारत में प्रायः सदा ही रहा है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्वास्थ्य की दृष्टि से आमिष-भोजन की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और सम्भवतः यही कारण है कि मांस-भोजन सतत लोकप्रिय रहा है।[३] वैदिक और पौराणिक युग में यज्ञों के अवसर पर देवताओं को समर्पित किये हुए मांस-भोजन को खाने की रीति प्रचलित थी।[४] फिर भी मांस-भोजन के परित्याग के लक्षण वैदिक काल से ही दिखाई पड़ते हैं। वैदिक काल से ही यज्ञ की दीक्षा लेने वाले पुरुषों के लिए मांस खाने का निषेध था। आचार्यों के लिए भी नियम बना कि उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन की अवधि में मांस-भोजन न करें। तपोमय जीवन

---

१. छान्दोग्य उप० ७।२६।२

२. गीता १७।८–१०

३. चरक, सूत्रस्थान २७।३०७–३१०

४. यह लोकप्रियता इतनी बढ़ी हुई थी कि शतपथ ११।७।१।३। में मांस को सर्वोत्तम भोज्य कहा गया। आरम्भिक युग में जैन और बौद्ध भिक्षु भी भिक्षा में मांस पाते थे तो उसे खाने में हिचकिचाते नहीं थे। कोई निषेध कम-से-कम आरम्भिक युग में नहीं था। आचारांग सूत्र २।१।१०।५

ऋग्वेद १।१६२।२१ के अनुसार लोगों को धारणा थी कि जिस घोड़े का यज्ञ में वध किया जाता है वह न मरता है और न संसार उसकी हिंसा करता है, अपितु वह उत्तम मार्ग से देवताओं के पास चला जाता है। तथा १।१६।१३। वैदिक साहित्य में इस धारणा के सूचक असंख्य उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद १. १६२. १०. ८६. १४. १०. २७. २; १०. ९१. १४; ८. ४३. ११; अथर्ववेद १२.४; ५. १८; ३. २१. ६; तैत्तिरीय संहिता १. ३. १४.; ७; शतपथ ब्राह्मण ३.१. २. २१; ऐतरेय ब्राह्मण—६. ८. बृहदारण्यक उप० ६. ४. १८; आप० ध० सू० २. ७. १६. २५; आश्व० गृ० सू० १. २४. २२–२६

बिताने वाले लोग भी मांस नहीं खाते थे।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञायज्ञीय सामसूक्त जानने वाले व्यक्ति को आदेश दिया गया है कि उसे जीवन-भर मांस नहीं खाना चाहिए, कम-से-कम एक वर्ष तक तो नहीं ही खाना चाहिए।[2] अथर्ववेद में मांस को सुरा के समकक्ष माना गया है।

वैदिक साहित्य के उपर्युक्त उल्लेखों से कम से कम इतना तो सिद्ध होता ही है कि भारत में उस समय भी एक वर्ग अवश्य ही था, जो मांस-भोजन को आध्यात्मिक अभ्युदय के प्रतिकूल और अपावन मानता था।

उपनिषद्-काल से पशुओं की बलि देकर सम्पादित किए जाने वाले यज्ञों का महत्त्व घटने-सा लगा और वेदों में बताए हुए यज्ञों के द्वारा प्राप्य स्वर्ग के स्थान पर तप और तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति को लभ्य माना गया। तप जीवन की शुद्धि है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में तप को ही प्रधानता दी गई। वानप्रस्थ और संन्यास के मुनिवर्ग ने मांस भोजन का प्रायः सर्वथा परित्याग किया है। इससे मांस-भोजन की सात्त्विक दृष्टि से हीनता सिद्ध हुई। मुनियों की संख्या उपनिषद्-काल से लेकर प्राचीनकाल में प्रायः सदा ही बहुत अधिक रही। मांस के परित्याग का जो आदर्श मुनि-वर्ग में प्रतिष्ठित हुआ, उसका सारे समाज पर अतिशय प्रभाव पड़कर रहा।[3]

बौद्ध तथा जैन और अहिंसा

बौद्ध और जैन संस्कृतियों में अहिंसा का प्रधान रूप से प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए। प्राणियों का वध किए बिना मांस मिलना असम्भव ही है। ऐसी परिस्थिति में इन दोनों संस्कृतियों के अनुयायी गृहस्थों का मांस खाना बन्द-सा होने लगा। अहिंसा के साथ जिस दया-भाव की प्रतिष्ठा की गई, उसका प्रतिपालन तभी हो सकता था, जब मांस भोजन का सर्वथा त्याग किया जाता। धीरे-धीरे जैन और बौद्ध भिक्षुओं की भी समझ में यह बात आ गई कि यदि अहिंसा के व्रत को अपनाना है तो मांस-भोजन नहीं ही करना चाहिए। जैन संस्कृति में तो पूर्ण रूप से आगे चलकर गृहस्थों और मुनियों के लिए मांस-भोजन को सर्वथा त्याज्य बताया गया।[4] बौद्ध संस्कृति की महायान शाखा में मांस-भोजन के परित्याग पर बल दिया गया।[5]

गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्ध मत में भिक्षुओं के लिए मांस-भोजन की ग्राह्यता का विरोध आरम्भ हुआ। यह विरोध सक्रिय था और इसका नेता देवदत्त था, जो स्वयं पहले बुद्ध का अनुयायी था। देवदत्त ने एक बार बौद्ध संघ के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि बौद्ध भिक्षु मछली का मांस-भोजन करने से विरत हो जायं, तो मैं और मेरे अनुयायी पुनः संघ में सम्मिलित हो जायं।[6] इस घटना से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज का एक वर्ग मांस-भोजन और साधु-जीवन के सामंजस्य को समझने में असमर्थ था।

मांस के लिए पशु-वध पर रोक राजकीय नियमों के द्वारा भी लगाई गई।[7] गौतम के जीवन-काल में ही कुछ दिन ऐसे नियत किए गए, जब कोई किसी पशु का वध मांस के लिए नहीं कर सकता था। अशोक ने मांस-भोजन पर प्रतिबंध की दिशा में स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत किया। जहां उसके सूप के लिए सहस्रों पशुओं का वध होता था,

---

१. शतपथ १४।१।१।२९
२. छान्दोग्य २।१९।२
३. प्राचीन काल से ही भारत में यह परिपाटी रही है कि तपोमय जीवन के उच्चादर्श को यथाशक्य गृहस्थ जीवन में समन्वित किया जाय, जैसे उपवास, तीर्थाटन आदि प्रारम्भ में मुनियों के लिए और फिर गृहस्थों के लिए भी नियत हो गए।
४. जैन-संस्कृति के अनेक ग्रन्थों में कथाओं के माध्यम से निरूपित किया गया कि जिस पशु का मांस कोई खा रहा है, वह पूर्व जन्म का उसका कोई सम्बन्धी—माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री आदि रह चुका है। उदाहरण के लिए देखिए पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरिउ' में यशोपति अपने पिता के श्राद्ध में जन्मान्तर में मछली-योनि में उत्पन्न अपने पिता का ही मांस ब्राह्मणों को भोजन के लिए देता है।
५. वार्टर्स—ह्वेनसांग, पृ० ५७
६. चुल्लवग्ग—७।३।१५
७. देखिए, अर्थशास्त्र सूनाध्यक्ष-प्रकरण

उसने नियम वनाया कि केवल दो मोर और एक हरिण के मांस से ही काम चलाया जाय। हरिण-वध किसी-किसी दिन ही हो सकता था। उसने प्रजा को सूचित किया कि इन पशुओं का वध भी भविष्य में बन्द हो जाएगा।[1] अशोक की दया-भावना के पात्र मनुष्यों के साथ-ही-साथ पशु भी हुए। उसने जहां मनुष्यों के लिए औषधालय खोले वहां पशुओं के लिए भी। अशोक ने राजपथ पर वृक्ष लगवाए और कुएं खुदवाए तो वे पशुओं और मनुष्यों के लिए समान रूप से थे। वह ऐसे स्थलों पर पशुओं का नाम व्यंजना से समझने के लिए नहीं छोड़ देता, अपितु स्पष्ट शब्दों में कहकर मनुष्य और पशु को एक कोटि में ला देता है।[2] अशोक ने प्रजा को समझाया कि प्राणियों को न मारना साधु-पथ है।[3] उसने प्रजा को प्राणि-वध से विरत करने के लिए बहुविध प्रयत्न किए और इस दिशा में उसे सफलता भी मिली।[4] एक दिन ऐसा आया जब उसने अनेक पशु-पक्षियों और मछलियों का वध अपने राज्य में सर्वत्र बन्द करा दिया। नियम वनाया कि कम-से-कम एक जीव को तो दूसरे जीव का मांस नही ही खिलाया जाए। वर्ष के अनेक पवित्र दिनों के लिए भी नियम वनाया कि मछलियां न तो पकड़ी जायं और न वेची जायं। उन दिनों जलाशयों और वनों में प्राणि-वध सर्वथा बन्द रहता था।[5]

महाभारत तथा स्मृतियां

मांस-भोजन के सम्बन्ध में महाभारत और मनुस्मृति में, पक्ष और विपक्ष, दोनों प्रकार के मत भरपूर मिलते है। मांस-भक्षण का विरोध उसकी असात्त्विकता के आधार पर किया गया और उसका गुण-गान स्वाद और स्वास्थ्य-संवर्धन की दृष्टि से निरूपित किया गया है। स्वाद की दृष्टि से इसे विविध प्रकार के अपूप (पूए), शाक, खाण्डव, तथा अनेक प्रकार के रस-योगों से अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी।[6] फिर भी अहिंसा की दृष्टि से महाभारत काल में मांस-त्याग को परमधर्म बतलाया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक अभ्युदय, परलोक और सात्त्विकता की तनिक भी चिन्ता होती थी, उसके लिए भारत में पूरा प्रयत्न किया गया कि वह मांस-भक्षण से विरत हो जाय। इस प्रयत्न की दिशा इस प्रकार है—"मांस अपने पुत्र के मांस के समान ही है। यह समझना निरी भूल है कि मैं स्वयं तो मार ही नहीं रहा हूं, केवल मांस खाता भर हूं, मुझे पाप लगने का कोई कारण नहीं।"[7] वास्तव में अपने आप मरे हुए या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मारे हुए प्राणी का मांस खाने वाला उसके वध करने वाले के समान ही है। मांस-क्रय करने वाला धन से, खाने वाला अपने उपयोग से और घातक वध और बंधन से उस प्राणी का वध करते है। प्राणियों को अपना जीवन सवसे बढ़कर प्रिय है। ऐसी परिस्थिति में सभी प्राणियों के प्रति दया करनी चाहिए। अहिंसक सभी प्राणियों का पिता और माता है।[8]

महाभारत का उपर्युक्त तर्क मानव की सद्भावनाओं को जागरित करने के लिए था। इसके द्वारा प्राणियों के प्रति आत्मीयता का विकास हो सका होगा। इन तर्कों के अतिरिक्त धार्मिक दृष्टि से भी मांस-भक्षण का परिणाम अत्यन्त भयावह दिखाया गया और अहिंसा तथा मांस परित्याग को इस लोक और परलोक में सर्वोच्च अभ्युदय का कारण बताया गया। मांस-विरति से लाभों की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई, वह अत्यन्त आकर्षक है। अहिंसा और मांस-विरति का धार्मिक विवेचन इस प्रकार है :

---

१. अशोक का प्रथम शिलालेख
२. अशोक का द्वितीय शिलालेख, 'मगेसुलुखानि लोपितानि उदुपानानि च खानापितानि पटिभोगाये पसुमुनिसानं।
३. अशोक का तृतीय शिलालेख
४. चौथा शिलालेख
५. पांचवां स्तम्भलेख
६. महाभारत, अनुशासन पर्व ११६।२–६
७. बौद्ध धर्म में मांस-भक्षण को इसी परिस्थिति में मान्यता मिली थी।
८. महाभारत-अनुशासनपर्व, अध्याय ११४।११५ तथा ११६ से इसी प्रकार की उक्ति भागवत पुराण में इन शब्दों में मिलती है :

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ७।१४।६

(मृग, ऊंट, गदहा, बन्दर, चूहा, सांप, पक्षी और मक्खी इन सबको अपने पुत्र के समान समझो, पुत्र कैसे इन सबसे भिन्न है ?)

अहिंसक का रूप सुन्दर हो जाता है, अङ्ग पूर्ण और निर्दोष होते हैं, आयु, बुद्धि, बल, सत्त्व और स्मरण-शक्ति बढ़ती है। सौ वर्षों तक प्रतिमास अश्वमेध करने वाले के समान ही पुण्यशाली मधु और मांस का न खाने वाला होता है। जो मांस नहीं खाता, पशुओं को किसी प्रकार की हानि नहीं करता, वह सभी प्राणियों का मित्र और विश्वास-पात्र बन जाता है। उसकी किसी प्रकार की हानि प्राणि-वर्ग नहीं कर सकता। सज्जनों के बीच ऐसे पुरुष का सम्मान होता है। जो अपना मांस अन्य प्राणियों के मांस से बढ़ाना चाहता है, वह निश्चय ही विनाश के पथ पर है। कोई व्यक्ति मधु-मांस न खाकर मानो यज्ञ ही करता रहता है, सदा दान ही देता रहता है, सदा तपस्वी रहता है। मांस का परित्याग सुख, धर्म और स्वर्ग का सर्वश्रेष्ठ आयतन है। मांस न खाने वाला सर्वत्र निर्भय रहता है, वह कभी उद्विग्न नहीं होता। मांस खाने से आयु क्षीण होती है। जो दूसरों के मांस से अपना मांस बढ़ाता है, वह जहां कहीं भी अगले जन्म में उत्पन्न होता है, वहीं उद्विग्न रहता है। मांस न खाने से बल, आयु, यश आदि बढ़ते हैं और स्वर्ग में स्थान मिलता है। यज्ञ के बहाने भी मांस खाने वाला नरक में ही स्थान पाता है। प्राचीन काल में यज्ञ के समय भी अन्न के पशु बनाकर उन्हीं की बलि चढ़ाने की परम्परा रही है। मांस न खाने से तपस्या का फल मिलता है, जो चार वर्ष तक मांस नहीं खाता उसे कीर्त्ति, आयु, यश और बल—चार मंगलों की प्राप्ति होती है। यदि एक मास का भी बिना मांस खाएं रह जाय तो सभी दुःखों से छुटकारा पाकर मानव स्वस्थ होकर रहता है। मास या पक्ष भर भी मांस न खाए तो ब्रह्मलोक में स्थान पाने का अधिकार हो जाता है। जो मनुष्य जीवन-भर मांस नहीं खाता, वह स्वर्ग में विपुल स्थान पाता है। इसके विपरीत मांस-भक्षक की भयावह दुर्गति कुंभीपाक नरक में होती है। मांस-भक्षक जिस प्राणी का मांस खाता है, उसी का मांस वह प्राणी अगले जन्म में खाएगा। अहिंसा सबसे बढ़कर धर्म, दम, दान, तप, यज्ञ, फल, मित्र और सुख है।[1]

मांस के परित्याग और अहिंसा के सिद्धान्त के इस प्रकार स्पष्टीकरण होने के पश्चात भी यदि मांस-भोजन भारत से कभी न जा सका तो उसके लिए सर्वप्रथम कारण '**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**' का ही बहाना रहा है। वेदों की धारणाएं आप्त वचन मानकर सदा प्रतिष्ठित रही हैं। वैदिक वचनों के अनुसार याज्ञिक कर्मकाण्ड में मांस और पशुबलि प्रायः अपेक्षित रहे हैं। याज्ञिक हिंसाओं का विरोध उपनिषद्, महाभारत और मनुस्मृति आदि किसी ग्रन्थ में नहीं हुआ है।[2] पौराणिक युग में भी वैदिक परंपरा के अन्धभक्त लोगों में यज्ञ-सम्बन्धी मांस-भोजन पर रोक पूर्ण रूप से नहीं लग पाई।[3]

पुराणों द्वारा मांस-भोजन का विरोध

फिर भी कुछ पुराणों में मांस-भोजन का घोर विरोध किया गया। इस विरोध की रूप-रेखा बहुत कुछ

---

१. महाभारत-अनुशासनपर्व के अध्याय ११४-११६ से
उपर्युक्त उच्च सिद्धान्तों के होते हुए भी महाभारतकाल में 'मांस-भोजन लोकप्रिय प्रतीत होता है। वन-पर्व ५०।४ के अनुसार पाण्डवों ने हरिण का शिकार करके उसके मांस से ब्राह्मणों का आतिथ्य किया। सभापर्व ४।१-२ के अनुसार मय-सभा के उद्घाटन के अवसर पर १०,००० ब्राह्मणों को जो भोजन दिया, उसमें सूअर और हरिण का मांस भी था। रामायण २।९१।६३-७३ में भी भोजन में मांस की विशेषता है।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८-१५-१ में, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा होनी चाहिए, केवल तीर्थ को छोड़कर। महाभारत-अनुशासनपर्व ११५।५२-५४ में भी यज्ञ द्वारा प्रोक्षित मांस को खाद्य स्वीकार किया गया है। फिर भी इस विशाल ग्रन्थ में याज्ञिक हिंसा का विरोध भी मिलता है। मनुस्मृति ५।२२।२७।४२ ने ब्राह्मणों के लिए भी पशु-पक्षियों को वध करने की छूट दी है यदि वध यज्ञ-सम्पादन करने के लिए हो यद्यपि मनुस्मृति ५।५३ मांस-भोजन के पक्ष में नहीं है। मनु ने स्पष्ट कहा है—प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस नहीं उत्पन्न होता, प्राणि-वध करने से स्वर्ग नहीं मिलता। अतः मांस खाना छोड़ देना चाहिए। (मनु० ५।४८—५१) परन्तु देवताओं और पितरों को अर्पित करके मांस खाया जा सकता है (वही ५-५२)

३. विष्णु पुराण ३।१६, वायुपुराण अ० ८३ तथा अग्नि पुराण १६।३०-३२ में श्राद्ध के अवसर पर पितरों की तृप्ति के लिए ब्राह्मणों को मांस-भोजन देने का विधान इसी बात का द्योतक है।

महाभारत के समान ही है। इसके अनुसार, "जो लोग मांस नहीं खाते, वे स्वर्ग में स्थान पाते हैं। मांस न खाने से जो पुण्य होता है, वह एक सहस्र गायों के दान के समान ही है। सभी तीर्थों में जाने और सभी यज्ञों के सम्पादन करने से जो पुण्य होता है, वह सारा-का-सारा मांस न खाने वाले को अनायास ही मिल जाता है।"[1] भागवत पुराण में मांस-भोजन से विरत करने की योजना अत्यन्त सफल कही जा सकती है। लोकप्रियता की दृष्टि से यह पुराण सर्वोत्तम रहा है और इसकी साहित्यिक विशेषताएं इतनी उदात्त रही हैं कि यह ग्रन्थ न केवल साधारण जनता के बीच ही प्रतिष्ठित हुआ अपितु विद्वानों में भी इसकी अप्रतिम प्रतिष्ठा हुई। सारे भारत, और विशेषतः वैष्णव मतानुयायियों, में मांस-परित्याग का सारा श्रेय प्रायः इसी ग्रन्थ को दिया जा सकता है। भागवत में निश्चयात्मक भाषा में कहा गया है—"धर्म जानने वाला व्यक्ति न तो स्वयं मांस खाए और न श्राद्ध में पितरों को ही समर्पित करे। पशु के मांस से उतनी तृप्ति नहीं होती, जितनी मुनियों के भोजन से। सद्धर्म की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए मन, वाणी और कर्म से किसी भी प्राणि को दुःख न देना परम धर्म है। सबसे बड़ा यज्ञ है ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-संयम की अग्नि में अपने कर्मों का होम कर देना। जब यज्ञ में द्रव्य का होम किया जाता है तो उसे देख सभी प्राणी डरने लगते हैं कि यह निर्दय व्यक्ति कहीं हमारा ही तो वध नहीं करेगा।" भागवत में आदेश दिया गया है कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का सम्पादन मुनिजनोचित अन्नों से ही करे।[2] जो लोग वैदिक हिंसा को उचित समझते हैं, उनके लिए भागवत श्रुतियों का वास्तविक अर्थ समझने की सीख देती है। वैदिक साहित्य में भी मांस-मद्य से निवृत्ति करा देना ही अभीष्ट अर्थ है। यज्ञ में पशुओं के आलभन का अर्थ उनकी हिंसा नहीं है।[3]

स्कन्दपुराण में आयुर्वेद के इस मत का खण्डन किया गया है कि मांस खाने वाले लोग विशेष पुष्ट और दीर्घजीवी होते हैं। इसे मांस-लोभियों और दुष्ट पापात्माओं का मत कहा गया है। इसके अनुसार मांस न तो आयु बढ़ाने का साधन है और न तो इससे स्वास्थ्य या बल ही बढ़ता है। मांस खाने वाले भी रोगी, दुर्बल और स्वल्पायु देखे जाते है तथा जो मांस नहीं खाते, वे भी पृथ्वी पर नीरोग, दीर्घायु और हृष्ट-पुष्ट अंगों वाले होते हैं। मांस की उत्पत्ति घास, काठ या पत्थर से नहीं होती; किसी जीव की हिंसा करने पर ही मांस मिलता है, अतः उसे सर्वथा त्याग देना चाहिए।[4]

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस युग में मांस-भोजन समादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। महाकवि बाण ने समाज की इसी परिवर्तित मनोवृत्ति का निदर्शन करते हुए कहा है—मधु, मांस आदि का आहार सज्जन पुरुषों के द्वारा निन्दित है।[5] सात्त्विक वृत्ति वाले तथा अध्यात्मवादी गृहस्थों की मांस के प्रति धारणा अवश्य ही परिवर्तित हो गई। फिर भी भोजन में रसास्वादन को सर्वप्रथम ढूंढने वाले नागरिकों को मांस-युक्त तेमन के रस से कभी विरति नहीं हुई।[6]

---

१. ब्रह्म पुराण २१६।६३-६५-६६
२. भागवत सप्तम स्कन्ध १५।७-११
३. वही, एकादश स्कन्ध ५।११
४. स्कन्द पुराण, नागरखण्ड २६।२२५-२३७
५. आहारः साधुजननिन्दितः मधुमांसादिः
   —कादम्बरी पृ० ३०, सं० श्री पी० डी० वैद्य
६. नैषधचरित १६।८६-८१-८० आदि।
   ये उल्लेख प्राचीन संस्कृति के अन्तिम युग के कहे जा सकते हैं।

प्राचीन भारत में नैतिकता

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे अपने दैनिक जीवन में किसी-न-किसी जीव अथवा समाज के किसी-न-किसी अंग के सम्पर्क में आना ही पड़ता है। उसे जो भी आचरण करना पड़ता है, वह समाज सापेक्ष है। समाज-विहीन व्यक्ति के लिए नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह समस्या तो तभी सामने उपस्थित होती है जब कि मनुष्य किसी अन्य प्राणी अथवा समाज के प्रति कार्य करने को उद्यत होता है। इस प्रकार नैतिकता को हम मानवी-आचरण की सच्ची सार्थकता को निर्धारित करने वाला साधन और सिद्धान्त ठहरा सकते हैं।

परन्तु साधन और सिद्धान्त की शुद्धिता के समर्थक सभी नहीं मिलते। एक पक्ष अभीष्ट-सिद्धि को ही महत्त्व देता है तो दूसरा सिद्धि के साथ-साथ साधन की पवित्रता में भी आस्था प्रकट करता है। इस प्रकार आज नैतिकता-वादियों के दो दल बन गए हैं। एक प्रवृत्तिमूलक नैतिकता का समर्थक है तो दूसरा आदर्शमूलक नैतिकता का विधायक। प्रवृत्तिमूलक नैतिकतावादी ऐसी नैतिकता के पोषक हैं जो किसी जातीय जीवन में युग-युग से परम्परागत मान्यताओं के आश्रित हैं। इसके विपरीत आदर्शवादी ऐसी नैतिकता के समर्थक हैं जो जीवन के परिवर्तित मूल्यों के साथ-साथ स्वयं भी बदलती रहे। व्यवहार में नैतिकता के दो रूप लक्षित होते हैं, व्यक्तिगत और सामाजिक। दोनों का परस्पर सापेक्षिक सम्बन्ध है। फलतः नैतिकता-अनैतिकता पर विचार करते समय संतुलित दृष्टि अपेक्षित है।

वेदों में नैतिक मानदंड

भारतीय चिन्ताधारा में नैतिकता के बीज उसकी प्रारम्भिक अवस्था से ही मिलने लगते हैं। 'अवेस्ता' आदि से तो यहां तक संकेत मिलता है कि आर्यों के भारत पहुंचने के पूर्व ही उनमें नैतिक भावनाओं की उद्भावना हो चुकी थी। ज्योतिर्मय कल्याणकारी और दुष्ट दानवों के विरोध में पवित्र देवताओं की स्वीकृति आदि नैतिक तत्त्वों के कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में साधु-असाधु और नृत-अनृत जैसे भाव-व्यंजक शब्दों के प्रयोग मिलते रहते हैं।[१] भक्ति-भावना का प्रादुर्भाव अपने-आप में क्रमशः कोमल वृत्तियों की सक्रियता का द्योतक है। वैदिक जीवन में यज्ञ का विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रसंग में श्रद्धा को यज्ञ की अधिष्ठात्री देवी स्वीकार किया गया है। और तदनुसार श्रद्धा और यज्ञ को अभिन्न ठहराया गया है।[२] ऋग्वेद में वरुण को निष्पाप कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद में इन्द्र को बतलाया गया है कि वह पहले पापकर्मा था, किन्तु अब उससे मुक्त है।[३] ऋग्वेदीय युग के उत्तरकाल में देवताओं की एक ऐसी गोपनीय गोष्ठी की चर्चा आती है जिसमें वरुण के सम्मुख निष्पाप व्यक्तियों के नाम लिये जाते हैं।[४] ऋग्वेद में ही ऐसी भी प्रार्थना की गई मिलती है जिसमें पाप से मुक्ति पाने की जागरूक अभिलाषा प्रकट होती है।[५]

---

१. ऋग्वेद : ४।१।१७

२. गोस्वामी : दी भक्ति कल्ट इन एनशियेंट इंडिया, पृष्ठ ६

३. अथर्ववेद : ३।३१।२

४. ऋग्वेद : १०।१२।८

५. वही : ५।८२।५ और २।२८।६

पापकर्म से विरत होने वाले के लिए क्षमा-याचना की गई मिलती है।[1] अथर्ववेदीय युग तक आते-आते लोक-मंगल तक की भावना मुखरित हो उठती है।[2]

ऋग्वेद में नैतिक-अनैतिक कार्य का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट ही कहा गया है कि "देवताओं द्वारा स्वीकृत सभी कार्य नैतिक हैं।"[3] इस प्रकार उस काल में नैतिकता की जो धारणा थी उसके अनुसार वह दैवी व्रतों (नियमों) की अभिव्यक्ति है और पाप उन व्रतों का उल्लंघन है।[4] यही नहीं, पाप का फल भोगने का क्लेश स्वतः पापस्वरूप बन जाता है। अस्वस्थ होना अनैतिक है और यह दैवी प्रकोप का लक्षण है। पाप के दंड-स्वरूप रुग्णता पाप का ही मूर्त रूप है।[5] वैदिक साहित्य में नरक का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु उसका संकेत अवश्य मिलता है। ऋग्वेद की ही एक ऋचा में अदिति, मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई मिलती है जिसमें दीर्घकालीन अन्धकार से छुटकारा मिलने और प्रकाश पाने की कामना प्रकट की गई है।[6] वरुण पापी को क्षमा-दान करते हैं। उन दिनों लोगों की ऐसी धारणा रही है कि दैवी व्रतों के पालन करने वाले को देवता लोग सहर्ष सहायता भी पहुंचाते हैं। ऋग्वेद में ही वरुण तथा अन्य देवताओं के ऐसे गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है जो कभी सोते अथवा विश्राम नहीं करते, अपितु पृथिवी के उन मानवों पर दृष्टि रखते हैं जो दैवी व्रतों (नियमों) का उल्लंघन करते हैं। इस प्रकार का उल्लेख जरथस्त्रु के उपदेश में भी बतलाया जाता है।

उत्तरकालीन वैदिक युग में बहुदेववाद के क्रमशः एकेश्वरवाद में परिणत होते जाने से दैवी शक्तियों का प्रभाव लोप होने लगा। संस्कारग्रस्त मानव अपनी परम्परागत मान्यताओं की ओर उन्मुख हुआ। जादू और टोना-टोटका द्वारा रोग, शोक और चिन्ताहरण के उपाय किए जाने लगे। अपरोक्ष शक्तियों को द्रवीभूत करने के लिए वैदिक ऋचाओं तक के उपयोग होने लगे। अथर्ववेद में टोने--टोटके का वर्णन मिलता है। परन्तु इसमें लोक-प्रचलित रीति-रस्मों के साथ-साथ नैतिकतापरक धर्म का भी स्थान है। उस समय तक नैतिकता-व्यंजक पूर्व प्रचलित शब्दों के प्रयोग होते जा रहे थे। नैतिक दृष्टि से पूर्ववर्ती वेदों से इसमें महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि अब दीर्घकालीन अन्धकार की चर्चा न होकर नरक का वर्णन मिलने लगता है। वास्तव में, ऐसे लोकों के अन्धकारमय होने की चर्चा ईशावास्योपनिषद में भी आ चुकी है।[7] यम अभी तक स्वर्ग के ही देवता हैं जहां से मृत प्राणी पापी होने पर नरक में ढकेल दिया जाता है। कालान्तर नरकों के भेद के साथ-साथ उनकी संख्या-वृद्धि भी होती गई। यम उसके अधिष्ठाता बने। सत्कार्य की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त करने के उद्देश्य से पवित्रात्मा के लिए ज्योतिर्लोक (स्वर्गलोक) में बहुस्त्रियों का सुख भोगने की ओर आकर्षित किया गया मिलता है।[8] यद्यपि उसमें काम-केलि की ओर संकेत नहीं है।

प्रजापति और धार्मिकता

प्रजापति प्रारम्भ से ही धार्मिकता एवं नैतिकता के प्रमाण-स्वरूप हैं। बुद्ध के समय तक उन्हीं के ऐसे विधि-विधान थे जो एक दैवी व्यक्तित्व की देन कहे जा सकते हैं।[9] अपनी चारित्रिक विशेषताओं के ही कारण प्रजापति को

---

१. ऋग्वेद : ८, ६७, १७
२. अथर्ववेद : ३, ३०, १—७
३. ऋग्वेद : २।२३।१६ और ३।५६।२
४. ई. ड. होपकिंस : एथिक्स आव इंडिया, पृष्ठ ४४
५. वही, पृष्ठ २५
६. ऋग्वेद : ८।१८।१५
७. असूर्या नाम ते लोका अंधेन तमसाऽऽवृताः।
   तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
   तुलनीय : श्रीमदभगवद्गीता: १६।१६-१९-२०
८. अथर्ववेद : ५।१८।१३ और ११।३
९. ई. ड. होपकिंस : एथिक्स आव इंडिया, पृष्ठ ५१

ऊंचा पद प्राप्त था और नैतिकता के प्रश्न छिड़ने पर उन्हीं के मत उद्धृत किए जाते थे।

ब्राह्मण-ग्रंथों में दार्शनिकतापरक ऐसे अनुमान पाये जाते हैं जो विकसित होकर उपनिषदों के रूप में मिलते हैं। इनमें प्रजापति की लोकप्रियता अभिवृद्धि पर लक्षित होती है। परवर्ती काल में वह नैतिकता का नियन्ता और नियामक बन जाता है। वैदिक युग के बाद उसके आदेश प्रत्येक अवसर पर निर्णायक का काम करते हैं। परन्तु देवताओं की नैतिकता के संरक्षक के रूप में उसकी स्वीकृति अब भी बनी रहती है और टोना-टोटका भी चलता रहता है। उन दिनों नैतिक आचरण और परम्परागत रीति-नीति में स्पष्ट भेद करना संभव न था, यद्यपि नैतिकता की उपेक्षा अथवा अवहेलना को पाप समझा जाता रहा। पाप दैवी इच्छा के विरुद्ध होने के बजाय अनाचार समझा गया। दुष्ट के प्रति दैवी प्रकोप का होना अब भी विश्वास का विषय था। अतएव सिल्वां लेवी का यह कथन सर्वथा भ्रामक है कि इस प्रथा में नैतिकता का कोई स्थान न था।[1]

आत्म-नियन्त्रण

औपनिषदिक दर्शन के अन्तर्गत जीवात्मा को विश्वात्मा से अभिन्न मानने के कारण नैतिकता का प्रश्न कुछ दूसरे प्रकार का हो गया और तदनुसार इसका समाधान भी किया जाने लगा। एक स्थल पर कहा गया है कि जो अनैतिक आचार से विरत नहीं होता वह कोरे ज्ञान से 'उसकी' प्राप्ति नहीं कर सकता। इसमें आत्म-नियंत्रण पर अधिक बल दिया गया मिलता है। अपवित्रात्मा को बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है और वह इस प्रकार अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति से वंचित रह जाता है।[2] नैतिक दृष्टि से परमात्मा शुद्ध एवं पवित्र है और धर्म के माध्यम से उसकी प्रकृति का बोध होता है। अब धार्मिक जीवन में कर्मकाण्ड का वह स्थान नहीं रह गया था। इसका स्थान तपस्या, उदारता, शुद्धता, अहिंसा और सच्चाई ने ले लिया था।

महाभारत में कहा गया है कि बुद्धिमान लोग पाप नहीं करते, वे पाप-कर्म से विरत रहते हैं और अपनी बुद्धिमानी से पूर्वजन्म के संचित पापों का भी परिहार कर देते हैं।[3] उपनिषदों में भी कहा गया है कि वही पक्का साधु या संत है जो अपने पापों को ध्वस्त कर उनसे मुक्त हो जाता है।

उपनिषद्कालीन दार्शनिकों ने भाग्य के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। परन्तु मनु भाग्य और मानवीय प्रयत्न दोनों को ही समान रूप से स्वीकार करते हैं। पूर्वकालीन दार्शनिकों का ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का सिद्धांत शिथिल पड़ता गया। आध्यात्मिक एवं सदाचार-पूर्ण जीवन के बिना अब मोक्ष संभव न था। उनके अनुसार जीवन के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्ग थे। वास्तव में, ये दार्शनिक संसार में रहते हुए भी उसमें लिप्त नहीं थे। वे जीवन को कर्तव्य रूप में स्वीकार करते थे, अपने को इसमें जकड़ा हुआ नहीं अनुभव करते थे।

प्रारंभिक अवस्था में भद्र पुरुषों के आचरण ही नैतिकता के आदर्श थे। संशय उत्पन्न होने की स्थिति में संतों के जीवन से प्रेरणा ली जाती थी। मनु के अनुसार नैतिक आदर्शों की मर्यादा भंग करने वाले को उसकी जातिगत स्थिति के अनुरूप दंड मिलना चाहिए। एक जैसा अपराध करने वाले ब्राह्मण अथवा राजा को चांडाल से अधिक दंड देना उचित है।[4] 'महाभारत' में तो यहां तक कहा गया है कि बड़े को बड़ा ही दंड मिलना चाहिए।[5] फिर भी, सच बात यह है कि आरंभिक स्थिति में नैतिकता का स्वतंत्र रूप से दार्शनिकों अथवा सदाचारवादियों ने विचार नहीं किया था। सम्पूर्ण जीवन किसी-न-किसी धर्म-भावना से प्रेरित था और नैतिकता धर्म में ही अंतर्निहित थी। कानून की बाग-

---

१. लेवी : डाक्टरिन ड् सेक्रीफिस, पृष्ठ ६
२. कठोपनिषद् १।२।२४ और ३।७
३. महाभारत : १२।२७०।२०
४. मनु : ८।३३६
५. महाभारत : १२।२६८।१५

डोर मुखिया अथवा शासक के हाथ में रहती थी और वे प्रायः धर्माचार्यों द्वारा प्रेरित होते थे। इनके आदेश अधिकतर वंशगत अथवा जातिगत परम्पराओं का अनुसरण करते थे।

स्मृतियों द्वारा नैतिकता पर ज़ोर

वैदिकोत्तर युग में स्वर्ग और नरक की कल्पना दृढ़ होती गई। शुभाशुभ और पाप-पुण्य की धारणा पर ध्यान केन्द्रित रहने लगा। शुभ कर्मों का कर्त्ता स्वर्ग का तथा पाप कर्मों का कर्त्ता नरक का भागी अथवा भोक्ता समझा जाने लगा। पापियों के लिए दण्ड-विधान निर्मित होने लगे। अब यम नरक के प्रशासक हुए, जाति-प्रथा, पुनर्जन्मवाद और नरक की कल्पना ने पाप-पुण्य की भावना को बल प्रदान किया। ऐसा माना जाने लगा कि पापी का जातिच्युत होना अथवा पुनर्जन्म के अनुसार निम्नतर योनि में जन्म लेना तथा नरक में जाकर उसका दण्ड भोगना अवश्यम्भावी था। इस जन्म में जो जैसा कर्म करेगा वह अगले जन्म में वैसा फल भोगेगा। इसी प्रकार इस जन्म में जो भोगा जा रहा है, उसमें पूर्व जन्म के कर्मों का भी फल है। स्वभावतया सभी लोग मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में स्थान पाने के इच्छुक रहते थे। विवेक का स्थान भय अथवा आतंक ने ले लिया था। धर्मसूत्रों के कालक्रम के बारे में अभी तक विद्वानों में मतैक्य नहीं हो पाया है।[1] बौद्धायन के अनुसार "स्वर्ग जाने का पात्र होने का अधिकारी वही है जो नीचता, कठोरता और कुटिलता का परित्याग करने को तत्पर है।" इसी प्रकार वशिष्ठ का सुझाव है कि "न तो वेद अथवा बलि और न उदारता उस व्यक्ति की रक्षा कर सकती है जिसका चरित्र गर्हित है जिसने अपने को पथभ्रष्ट कर लिया है—दुश्चरित्र को मनुष्य अपराधी ठहराते हैं और बुराइयों के कारण उसका पतन होने लगता है तथा वह रोग का शिकार होकर अल्पायु हो जाता है।"[2]

गौतम बुद्ध-कालीन गौतम ऋषि ने अपने धर्मशास्त्र में चालीस पवित्र क्रियाओं का पालन करने का आदेश दिया है।[3] उनके अनुसार चालीस पवित्र क्रियाएं हैं: "अब मैं आत्मा के आठ श्रेष्ठ गुणों को बतलाता हूं। जीव-दया, धैर्य, असन्तोष से निवृत्ति, शुद्धता, उत्साहपूर्ण उद्योग, मंगलमय विचार, निर्लोभ और द्वेषहीनता।" साधु-संतों के लिए सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कठोर नियम हैं। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार विरक्त को मांस-भक्षण की इच्छा न कर संसार के प्रति उदासीन रहना चाहिए। किसी के साथ न तो वह पक्षपात करे और न उसे हानि पहुंचावे। इसी प्रकार जन-साधारण के लिए "द्वेष करना, धोखा देना, घमंड करना, अहंकार करना, अविश्वास करना, आत्म-प्रशंसा करना, दूसरे पर अपराध थोपना और क्रोध करना आदि वर्जित हैं।" इस नियामक ने आगे चलकर बतलाया है कि "ईमानदारी का अभ्यास करो, बेईमानी का नहीं, दूरदर्शी बनो, अदूरदर्शी नहीं; उर्ध्वगामी बनो, अधोगामी नहीं।"[4] कभी-कभी इन नियामकों का आग्रह बड़ा विचित्र मालूम देता है जब वे कहते हैं कि "वेद-प्रमाण को अस्वीकार कर संतों के उपदेशों में दोष निकालना आत्मा का हनन करना है।" बौद्धायन के अनुसार "धर्म में अनास्था पाप है" और नास्तिक को नैतिक अपराधी की श्रेणी में रखा गया है। मनु के अनुसार अविश्वास करना, वेद में दोष निकालना, देवताओं को अपशब्द कहना, घृणा करना, क्रोध करना और निर्दयता का व्यवहार करना त्याज्य है।[5] इस प्रकार नैतिकता की बागडोर देवताओं के हाथ से निकल कर मनुष्य के हाथों आ गई।

परन्तु मनुष्य के हाथ में नैतिकता की बागडोर आने के बाद नैतिक मूल्यों में परिवर्तन लक्षित होने लगा।

---

१. पी. एस. शिवस्वामी अय्यर : इवोल्यूशन आव हिन्दू मोरल आइडियल्स, भूमिका पृष्ठ १६

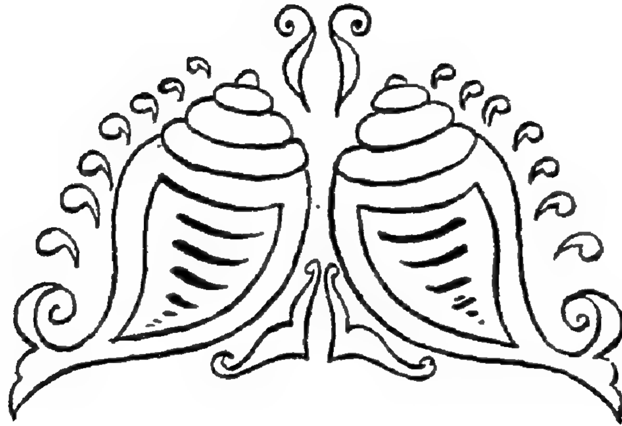
२. बौद्धायन धर्मसूत्र : २।२।४।२५

३. ई. ड. हापकिंस : एथिक्स आव इंडिया, पृष्ठ ६०

४. वशिष्ठ धर्मसूत्र; १०।३० और ३०।१

५. मनु : ४।१६३

सत्य के प्रति आस्था तो पूर्ववत बनी रही, किन्तु उसे मर्यादित करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी।[1] गाय का पीछा करने वाले कसाई को उसका पता बतलाया जाय अथवा नहीं, यह विचार का विषय बन गया। ऐसे अवसरों पर झूठ तक बोलने की छूट दे दी गई, विशेषतया जबकि एक प्राणी के प्राणों की रक्षा हो रही हो। आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार मिथ्या साक्षी देने वाला नरक जाता है, किन्तु गौतम और मनु प्राण-रक्षा के लिए झूठ बोलने की छूट देते हैं, यद्यपि ऐसा करने के बाद आत्मशुद्धि का भी सुझाव देते हैं। ब्राह्मण तथा गाय की प्राण-रक्षा, विवाह और प्रेम-व्यापार आदि में असत्य-भाषण क्षम्य है।[2] महाभारत में कहा गया है कि "यदि आवश्यकता पड़े तो बोलो, यद्यपि मौन रहना, बोलने से अधिक अच्छा है। परन्तु केवल सत्य ही बोलो, वह भी जो प्रिय हो।[3] बौद्धों के सुभाषित सूत्र में भी कुछ ऐसी ही बात दुहराई गई है। राजाओं के लिए कहीं-कहीं अपवाद भी मिलते हैं। कौटिल्य ने, नैतिकता का उपदेशक न होने पर भी, कहा है कि राजा की ओर से सच्चरित्रता को सदा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यद्यपि मनु ने सत्ता-मद को मद-पान से भी हेय ठहराया है। पापों से मुक्ति पाने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। वशिष्ठ और मनु ने तो यहां तक कहा है: "पाप का प्रायश्चित्त उसको स्वीकार करने अथवा दण्ड का भुगतान करने-मात्र से दूर हो जाता है।"



---

१. सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियंच नानृतं ब्रूयादेव धर्मः सनातनः ॥मनु॥

२. आपस्तम्ब सूत्र : २।११।२६।६

३. महाभारत : ५।३६।१२

भारतीय कला के दो प्रेरणा-स्रोत : शिव और कृष्ण

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

जब हम भारतीय कला के हजारों वर्षों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो हठात् दो नामों पर हमारा ध्यान अटक जाता है। साहित्य, संगीत, शिल्प, नृत्य, चित्रकला तथा स्थापत्य सभी क्षेत्रों में शिव तथा कृष्ण के व्यक्तित्व हमें प्रभावित करते है। साहित्य की बड़ी-बड़ी कृतियों का ताना-बाना इन दो रूपों के बीच बुना हुआ है; और जहां पर शिव या कृष्ण स्वयं नायक नहीं हैं वहां वह कथाकार के रूप में ही सही हमारे सामने आते हैं। लेकिन जहां तक संगीत, शिल्प, चित्रकला या स्थापत्य का सम्बन्ध है, यदि भारतीय कला के इन अंगों से हम शिव तथा कृष्ण को निकाल दें तो क्या बच जाएगा। केदारनाथ से लेकर रामेश्वरम तक और द्वारिका से लेकर जगन्नाथपुरी तक हमारी कला इन्हीं दो शक्तियों से अभिभूत रही है।

क्या शिव आर्यों के देवता नहीं हैं ?

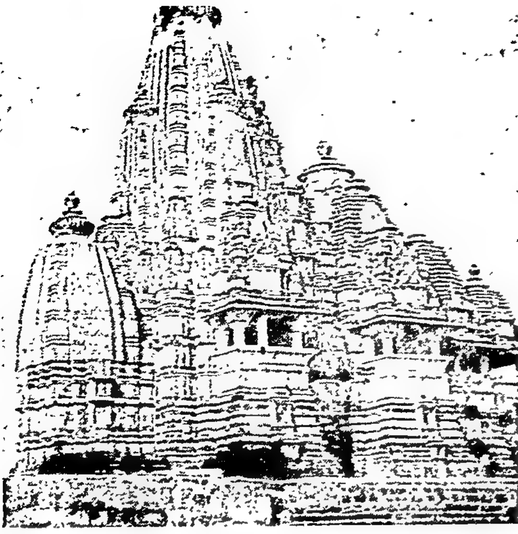
इससे पूर्व कि हम इन महाशक्तियों की कल्याणकारी प्रवृत्तियों का विवेचन करें, यह आवश्यक है कि शिव तथा कृष्ण के सम्बन्ध में हमारी भावनाएं स्पष्ट हो जानी चाहिए। साधारणतः यह धारणा बन गई है—विशेषतः उन लोगों में जो विद्वान या विद्या-प्रेमी हैं कि शिव तथा कृष्ण अनार्य देवता थे, द्रविड़ थे, जिन्हें बाद में आर्यों ने आत्मसात कर लिया। सावधान लेखक इस अनार्यत्व को आर्येतर नाम देते है। न केवल पाश्चात्य लेखकों ने, बल्कि हमारे देश के ही डा० अल्तेकर व डा० हरप्रसाद शास्त्री जैसे विद्वानों ने यह पक्ष लिया है। जो इतने सावधान नहीं हैं वह कह देते हैं कि शिव दक्षिण के देवता थे, वहां पर ही शिव-परिवार व शिव की बड़ी प्रतिष्ठा थी और वैदिक ऋषियों ने जब अनार्य स्त्रियों से विवाह किया तो उनके देवता के रूप में शिव को स्वीकार कर लिया।

इस भ्रांत धारणा का उद्गम दो कारणों से हुआ है। एक तो यह मत कि भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व सिंधु-सभ्यता वाली जाति थी जिसके साथ आर्यों का धीरे-धीरे सम्बन्ध हुआ। इसलिए जिस समय ऋग्वेद लिखा गया उसमें शिव का उल्लेख नहीं है लेकिन बाद के साहित्य में शिव धीरे-धीरे आ गए। ऋग्वेद में शिव के जिस रुद्र रूप का उल्लेख है उसे शिव से पृथक माना जाता है और कहा जाता है कि अथर्ववेद में रुद्र देवता महादेव बन गए।[1] रुद्र विशुद्ध वैदिक देवता हैं लेकिन उनको शिव से पहले अलग किया गया और बाद में यह सिद्ध किया जाता है कि शिव रुद्र की एक उपाधि हो गई। इस सबका आधार यह कहा जाता है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है और अथर्ववेद सबसे नया, इसलिए अथर्ववेद में जो वर्णन है वह बाद के हैं।

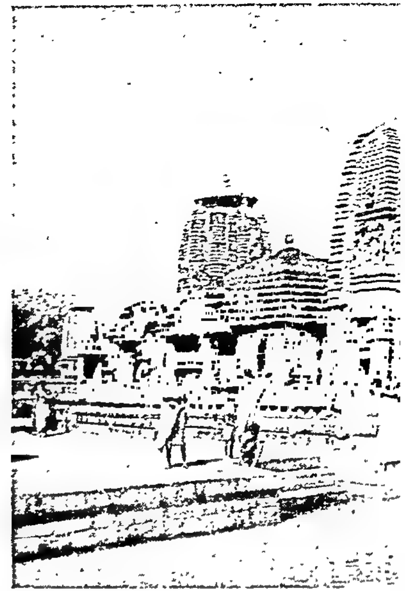
अथर्ववेद के सम्बन्ध में यह कल्पना बड़ी गलत है। स्वयं अथर्ववेद का नाम यह पुकारता है कि वह पुराना वेद है, नया नहीं। और उसके जो वेद-मन्त्र हैं उनमें से तीन-चौथाई ऋग्वेद तथा सामवेद में मिलते है। इसका सीधा अर्थ होता है कि वह अंश कम-से-कम उतना ही पुराना है जितना ऋग्वेद या सामवेद। ऋग्वेद के प्रथम ऋषि अंगिरा ही अथर्ववेद के आदि ऋषि हैं। अथर्ववेद संहिता का पूरा नाम ही अथर्व आंगिरस संहिता है। फ्रेंच इतिहासकार मेसन

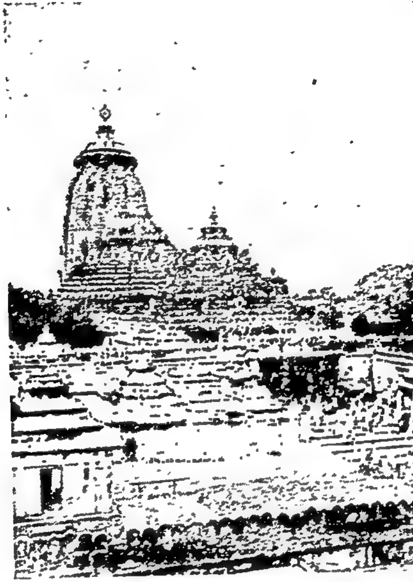
---

१. शैवमत : डा० यदुवंशी, पृष्ठ १०



खजुराहो का कन्दर्पेश्वर
का मंदिर

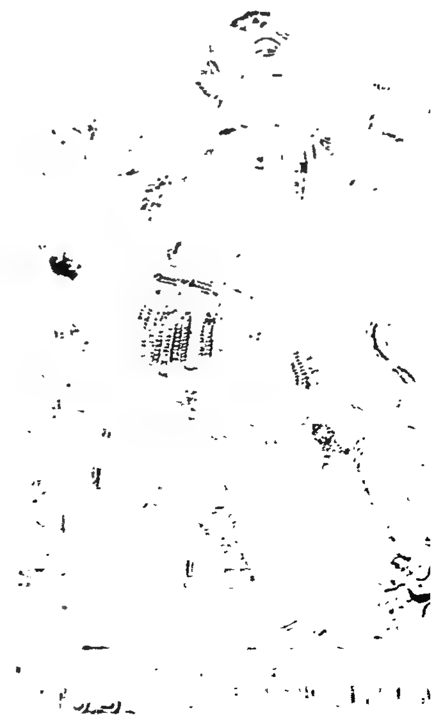




पुरी का जगन्नाथजी
का मंदिर



दाएँ हाथ में वट लिये
हुए परिवृत्तवदना सुन्दरी
खजुराहो
(समय १०वीं शती)



वेलूर (मैसूर) में
चित्र केशव मंदिर में
एक 'मदनिका'



मृगजातक का दृश्य
भरहुत से प्राप्त किलापट्ट
भारतीय संग्रहालय,
कलकत्ता
(समय ई० पूर्व दूसरी शती)



मयूर-युग्म। मयूर
शिलाखंड पर बैठे प्रेमी-युगल
चित्रित हैं।
सांची के मुख्य स्तूप के
पूर्वी द्वार पर उत्कीर्ण
(समय ई० पू० प्रथम शती)



त्रिभंगी मुद्रा में जटाजूटधारी
शिव की भावपूर्ण मूर्ति
कौशांबी से
(गुप्तकाल)

औसेंल के अनुसार—"यह संग्रह अन्य संग्रहों से कुछ ज्यादा नया नहीं है। इसका शीर्षक ही यह घोषणा करता है कि इसका जन्म प्राचीन है क्योंकि अथर्वन् अग्नि का पुरोहित है। अवेस्ता का अतर है।"[1]

अंग्रेज विद्वानों की परम्परा को स्वीकार करते हुए भी डा० यदुवंशी ने माना है कि अथर्ववेद का निम्नलिखित श्लोक ऋग्वेद के मन्त्रों से पुराना है :

'रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः ।
इदं महासेभ्यः स्वभ्यो अकरं नमः ॥' ११।२।३०

इस मन्त्र में रुद्र का जो रूप बतलाया गया है, जिसमें श्वान भी साथ है वह शिव के पौराणिक रूप से मिलता-जुलता है। अथर्ववेद में रुद्र को जटाओं वाला, नील-ग्रीव (नीलकण्ठ), कपर्दनि, भिषगराज (वैद्यनाथ), पशुपति, महादेव सभी प्रकार के नामों से पुकारा गया है। यही शिव के वर्तमान स्वरूप के परिचायक भी हैं। यजुर्वेद में तो और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि रुद्र के सौ रूप हैं और शिव के सभी नामों को उसमें स्मरण किया गया है। शतरुद्रिय सूक्त में तो रुद्र और शिव स्पष्ट ही एक हैं। यहां हम उसके कुछ मन्त्र दे रहे हैं :

नमस्ते रुद्रमान्यवऽउते ताइववे नमः बाहुभ्यमुत ते नमः। या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशान्ताभिचाकशीह। यामिषुंगिरिशान्त हस्ते विमर्ष्यस्तवे। शिवां गिरिशतां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत। शिवेन वचसात्वा गिरिशाच्छावदामसि।

× × × ×

नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च। नमः शंगाय च पशुपतये च नमः उग्राय च भीमाय च नमो ऽग्रेवधाय च दूरवेधाय च नमो हंत्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्तराय।

नमः शम्भुवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

× × × ×

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अ धः क्षमाचरा तेषां॑सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्यसि।

× × × ×

इन मन्त्रों में जिस प्रकार भगवान शिव के समस्त गुणों का वर्णन है उसके बाद यह कहना कि शिव केवल आर्येतर लोगों के देवता थे जो बाद में आर्यों के देवता बने, गले नहीं उतरती।

क्या शिव सिन्धु-सभ्यता की देन हैं ?

वेद-मन्त्रों के अतिरिक्त शिव के आर्येतर देवता होने के पक्ष की दूसरी दलील यह दी जाती है कि सिन्धु-घाटी की सभ्यता में शिव की नग्न मूर्ति मिली है जिसका वेदों के 'शिश्ने देवता' के साथ मेल मिलता है। चूंकि यह मान लिया गया है कि मोंहजोदड़ो तथा हड़प्पा तक आर्य-संस्कृति नहीं पहुंची थी इसलिए वहां पर नन्दी तथा शिव के जो प्रतीक मिले हैं वह निस्सन्देह आर्येतर हो जाते हैं। परन्तु सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध में पिछले दस वर्षों में जो अनुसंधान हुए हैं उन्होंने सिन्धु-सभ्यता की सारी कल्पनाओं को झूठा कर दिया है। कल तक जो सभ्यता सिन्धु नदी की दक्षिण घाटी तक सीमित समझी जाती है उसका उत्तरी छोर हिमालय के नीचे रोपड़ तथा दक्षिणी छोर गुजरात के लोथल नगर में मिला है। उधर सौराष्ट्र के रंगपुर से लेकर उत्तरप्रदेश में यमुना-तट पर स्थित आलमगीरपुर तक हड़प्पा-संस्कृति के अवशेष मिले हैं। इस प्रकार सिन्धु-सभ्यता का प्रसार हिमालय से विन्ध्याचल और सिन्धु-घाटी से गंगा के मैदान तक मान लिया गया है।[2]

---

१. एंशिएंट इंडिया एण्ड इण्डियन सिविलिजेशन : मेसन औसेंल, ग्रेबोवस्का व फिलिप स्टर्न द्वारा लिखित (रतलज व केगन द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी-अनुवाद)—पृष्ठ-संख्या २००

२. इण्डियन आर्क्योलोजी, १९५८-५९, पृ० १

सिंधु-सभ्यता पर नवीन अनुसंधान

लोथल, रोपड़ तथा आलमगीरपुर में केवल हड़प्पा-संस्कृति के अवशेष ही मिले हों, सो बात नहीं। वहां पर हड़प्पा-संस्कृति के साथ-साथ अन्य प्रकार के अवशेष भी मिले; जिनसे यह सिद्ध हो गया कि इस सारे क्षेत्र में समय-समय पर एक जैसी सभ्यता फैलती रही। हड़प्पा व मोंहजोदड़ो की खुदाई से वैदिक सभ्यता के प्रतीकों की ही नहीं, बौद्ध-कालीन भारत तक की सभ्यता की कोई कड़ी नहीं मिलती थी। सन १९३४–३५ में काठियावाड़ के लींमड़ी राज्य के रंगपुर स्थान में श्री माधौस्वरूप वत्स ने खोजकर यह अनुमान किया था कि रंगपुर में हड़प्पा-संस्कृति के अवशेष हैं। लेकिन सन १९४७ में डा० मोरेश्वर पंत ने यह अनुमान किया कि रंगपुर विशुद्ध आर्य बस्ती है। सन ५३-५४ में वहां पर जो दोबारा खुदाई हुई तो उससे पता चला कि वहां पर एक के बाद एक तीन सभ्यताओं के युग हैं। इन खोजों से यह भी सिद्ध हुआ कि यदि पहली परत से हड़प्पाकालीन सभ्यता का पता लगता है तो ऊपरी तह राजस्थान में उदयपुर के पास अहाड़ में प्राप्त सामग्री से मिलती जुलती है। अहाड़ की इस सभ्यता की कड़ी एक ओर उत्तर भारत के काले व लाल मिट्टी के बर्तनों से मिलती है तो दूसरी ओर दक्षिण में मैसूर के मस्की नामक स्थान तक के रहन-सहन से।

सोमनाथ की खुदाई ने जो १९५५ में हुई एक के बाद एक पांच नगरों का पता दिया जिसमें हड़प्पा के प्रारम्भिक चिह्नों से लेकर गुप्तकाल के चमकदार लाल पालिश वाले मिट्टी के बर्तन मिले। इससे तय हो गया कि इस स्थान पर लगातार एक के बाद एक प्रकार की सभ्यताओं का सिलसिला बना रहा है और उनका एक-दूसरे से सम्बन्ध रहा है।[1] निवास की एक दूसरे काल की परतों में काले व लाल पालिश, चमकदार लाल पालिश, उत्तरी काली पालिश के बर्तन इस प्रकार मिले हैं कि प्रत्येक काल का दूसरे काल से सम्बन्ध व सिलसिला मिलता जाता है। इसी प्रकार की खोज खान्देश जिले में बहल की खुदाई से मिलती है जो उसका रंगपुर तथा हड़प्पा से सम्बन्ध कायम रखती है।[2] लोथल में तो काले व लाल पालिश के बर्तन सभ्यता की हर परत पर मिले हैं जो कि हड़प्पा-संस्कृति के पिछले अवशेषों में नहीं मिले थे। इन्होंने लाल पालिश, काली व लाल पालिश, व चमकदार उत्तरी काली पालिश के नाम से तीन विभिन्न सभ्यताओं का जो भ्रम था उसे दूर कर तीनों सभ्यताओं को एक-दूसरे का उत्तराधिकारी बना दिया है। सन १९५९ में मेरठ जिले में आलमगीरपुर की खुदाई ने भी इस मत का समर्थन किया।[3]

शिव की लिंगाकार मूर्ति के कारण शिव को आर्येतर लोगों का देवता कहा जाता है। परन्तु सिंधु-घाटी या हड़प्पा-सभ्यता में कहीं भी शिवलिंग या उस प्रकार की कोई मूर्ति नहीं प्राप्त हुई है। केवल एक नग्नमूर्ति को देखकर जिसके चारों ओर पशु हैं विद्वानों ने कल्पना कर ली है कि उसके लिंग को पृथक किया जा सकता होगा। डा० यदुवंशी ने, सम्भवत: अन्य विद्वानों के मत का समर्थन पाकर लिखा है—"सिंधु-घाटी के लोग लिंगोपासक थे। ऊपर जिस शील चित्र (सील चित्र, सील की छाप) की चर्चा की गई है उसमें पुरुष देवता को अर्ध्वमेढ्र अवस्था में दिखाया गया है। यद्यपि लिंग को किसी प्रकार बढ़ाकर नहीं दिखाया गया है और न किसी अन्य प्रकार से उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी चित्र में इस देवता को त्रिमुख दिखाया गया है अतएव सम्भव है कि पुरुष नर की मिली एक भग्न मूर्त्ति, जिसकी गर्दन की मोटाई को देखते हुए कहा जा सकता है कि इसके भी तीन सिर रहे होंगे, इसी देवता की मूर्ति होगी। इस मूर्ति की जननेन्द्रिय ऐसी बनाई गई है कि उसको अलग किया जा सकता है। इन दोनों बातों से यह सम्भव हो जाता है कि सिंधु-घाटी में उर्वरता-सम्बन्धी विधियों में जिस लिंग की उपासना होती थी, वह इस देवता का लिंग था। अत: जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया।"[4]

---

१. इण्डियन आर्क्यालोजी, १९५५–५६, पृष्ठ ८
२. ,, ,, १९५६-५९, पृष्ठ १५, १७
३. ,, ,, १९५८–५९, पृष्ठ ५५
४. डा० यदुवंशी : शैवमत, पृष्ठ ३१-३२

यह अनुमान नितान्त कपोल-कल्पना है। हड़प्पा, मोहंजोदड़ो, लोथल, रंगपुर, रोपड़, वहल, आलम गीरपुर तथा सौराष्ट्र व गुजरात के उन समस्त स्थलों में जहां पर हड़प्पाकालीन संस्कृति के अवशेष मिले हैं, एक भी शिवलिंग प्राप्त नहीं हुआ है। किसी भी मूर्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि लिंग ही यहां पूजा जाता था। सिंधु-सभ्यता की मूर्तियों में तो सिर व हाथ भी अलग किये जा सकते हैं। यदि सिंधु घाटी की सभ्यता जो इस समय यमुना तथा सतलुज की घाटी से लेकर नर्मदा के मुहाने तक पहुंच गई है, लिंगोपासक होती तो उसके कोई चिह्न अवश्य होते।

शिवलिंग का जन्म-स्थान : मथुरा

इसके विपरीत पहला शिवलिंग मथुरा में मिला है। मथुरा आर्यों के ब्रह्मर्षि देश का भाग है। ग्रेवोवस्का व फिलिप स्टर्न के अनुसार लिंग-मूर्तियों का प्रारम्भ ही मथुरा की कला के साथ हुआ :

"The linga (phallus) treated naturalistically both in India and Indo-China appears with the art of Mathura and the fingure accompanying is related in style to the Bodhisattavas of the same art and the images of Shiva on the reverse of Scykian coins."[१]

लेखकों के अनुसार स्वाभाविक रूप से निर्मित लिंग-मूर्ति, क्या भारत में क्या इण्डोचीन में, मथुरा की कला के साथ प्रकट होती हैं और उनके साथ जो मानवाकृति है वह उसी कला के बोधिसत्त्व तथा शक-मुद्राओं के पीछे शिव की मूर्तियों से मिलती है।

कुषाण राजाओं के अनेक सिक्कों के पीछे शिव व नांदी की मूर्तियां हैं। विमकड़फसीज, वासुदेव व कनिष्क तृतीय के सिक्कों पर एक या अनेक मुखवाली शिवमूर्तियां हैं जो मथुरा में मिली हैं।[२] कुषाणकालीन एक शिव मूर्ति की शक लोग पूजा करते दिखाए गए हैं। कुषाण-काल का एक चतुर्मुखी शिवलिंग मिला है और गुप्त-काल का एक पंचमुखी शिवलिंग। शिव-पार्वती की सम्मिलित मूर्तियां भी मिली हैं जो गुप्तकाल की हैं। अर्द्धनारीश्वर की मूर्ति और इलौरा के कैलाश की मूर्ति-जैसी एक छोटी मूर्ति जिसमें रावण कैलाश उठा रहा है और पार्वती भयभीत हो रही हैं, मथुरा में मिली है। सभी मूर्तियां प्राचीन हैं और गुप्त-काल तक की हैं।

शिव उत्तर भारत के देवता हैं

भगवान शिव की पौराणिक परम्पराएँ उन्हें उत्तर भारत का देवता सिद्ध करती हैं। वह हिमालय के निवासी हैं। उनका पहला विवाह दक्ष प्रजापति की पुत्री से तथा दूसरा विवाह हिमालय की पुत्री पार्वती से होता है। कैलाश, गंधमादन, हेमवंत से हट कर भी यदि शिवजी कहीं आते हैं तो काशी को विश्वनाथ पुरी बनाते हैं। वाल्मीकि रामायण के अनुसार भी, और वह हमारा सबसे प्राचीन काव्य है, मथुरा का शासक मधु शिव का बड़ा भक्त था और उसे वरदानस्वरूप एक अमोघ शूल प्राप्त हुआ था। समस्त यदुवंशी शिव के उपासक थे। यहां तक कि भगवान कृष्ण के जन्मदिवस पर उनका दर्शन करने व भविष्य बताने के लिए महादेवजी आते हैं। मथुरा के चारों कोनों पर चार शिव-मंदिर प्राचीन काल से चले आते हैं जिनमें रंगेश्वर, रत्नेश्वर, पिप्पलेश्वर व भूतेश्वर अब भी प्रसिद्ध हैं।

मथुरा में शिव-परिवार की भी बड़ी भक्ति रही है। ईसा के ८९वें सन में बनी स्वामी कार्तिकेय की दाएं हाथ में अभय मुद्रा व बायें हाथ में माला लिये एक मूर्ति मिली है जो मथुरा-संग्रहालय में मौजूद है। एक दूसरी मूर्ति में वह मयूर पर बैठे हुए हैं। मिट्टी की मूर्ति में भी स्वामी कार्तिकेय दिखाये गए हैं जिससे पता चलता है कि वहां यह रूप इतना लोकप्रिय हो गया था कि खिलौने तक बनते थे। एक मूर्ति में शिव व ब्रह्मा कार्तिकेय का अभिषेक कर रहे हैं।

गणेश की जो मूर्तियां मथुरा में मिली हैं वे विविध प्रकार की हैं। बाल गणपति की मूर्तियां मिली हैं। हाथ में मोदक लिये दशभुजी गणेश एक मूर्ति में नृत्य कर रहे हैं। एकदन्ती गणेश की अनेक मूर्तियां हैं।

मथुरा में आज भी दशभुजी गणेश की एक बड़ी भारी मूर्ति एक मन्दिर में है। वैसे कोई शिव मन्दिर ऐसा नहीं है जहां पर गणेशजी न हों।

---

१. एंशियेंट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलिजेशन, पृष्ठ ३७३-३७४

२. श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा, पृष्ठ ३१

गौरी गणेश

भगवान शंकर तो शैव व स्मार्तों के देवता हैं लेकिन शिव-परिवार के दो व्यक्ति गौरी और गणेश तो उत्तर भारत के प्रत्येक हिन्दू के देवता हो गए हैं। भारतीय नारी के सौभाग्य का कोई कार्य पूरा नहीं होता जब तक कि गौरी-पूजन न हो। और कोई भी धार्मिक कृत्य, जन्म से लेकर मृत्यु तक बिना गणेश-पूजन के सिद्ध नहीं होता। इसलिए मैं आदरणीय दिनकरजी की इस राय से सहमत नहीं हूं कि उत्तर भारत में गणेश केवल शुभ व लाभ के बीच आते हैं। गणेश चतुर्थी उत्तर भारत का एक बड़ा पवित्र व्रत है। उसी प्रकार हरतालिका तीज व गणगौर उत्तर भारत की स्त्रियों के बड़े भारी राष्ट्रीय त्यौहार हैं। यह गौरी तथा गणपति दोनों के प्रति सम्मान को प्रकट करते हैं।

दिनकरजी की यह धारणा गणेशजी की मूर्तियां न देख कर हुई है। परन्तु मुस्लिम काल में उत्तर भारतीय देवताओं के इतने मन्दिर नष्ट हुए कि उत्तर भारत की मूर्ति-सम्पदा को जब दक्षिण से मुकाबिला करते हैं तो दक्षिण कहीं अधिक सम्पन्न मिलता है। परन्तु आज भी यदि हम उत्तर भारत के मन्दिरों व संग्रहालयों का निरीक्षण करें तो पता चलेगा कि गणेशजी का इतना कम सम्मान न था। शिव का शिवालय तो उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक ग्राम में विद्यमान है और वहां गणेशजी व पार्वतीजी भी विद्यमान रहती हैं। काशी का सबसे बड़ा मंदिर ढुंढिराज गणेश का है।

अब हम इस बात का ब्यौरेवार वर्णन करेंगे कि भारतीय कला में शिव का योगदान कितना है और तब देखेंगे कि उनको हटा दें तो हमारी कला बड़ी अधूरी रह जायगी।

भारत के प्रसिद्ध शिव-मन्दिर

उत्तर भारत के सबसे बड़े समृद्ध व महत्त्वपूर्ण मन्दिरों में सोमनाथ का नाम आता है। सोमनाथ के मन्दिर को महमूद गजनवी ने नष्ट कर दिया। पर जब वह तैयार था तो कला का अदभुत भण्डार था। कुमारपाल चालुक्य तथा रानी अहिल्याबाई ने पुनः इस मन्दिर को बनवाया। और अब एक नये मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

उसी काल के एक दूसरे महत्त्वपूर्ण मन्दिर-समूह को सौभाग्यवश हम अब तक सुरक्षित पाते हैं। यह है खजुराहो का मन्दिर-समूह। इसका कन्दरिया महादेव का मन्दिर आज तक के सुरक्षित मन्दिरों का, स्थापत्य तथा शिल्प, दोनों की दृष्टि से मुकुट-मणि माना जाता है।

ग्यारसपुर का नीलकण्ठेश्वर का मन्दिर दूसरा मन्दिर है जो मध्य प्रदेश के आन्तरिक अंचल में पड़ा रहने के कारण सुरक्षित रह गया। यह भी भारतीय मूर्तिकला का अद्‌भुत नमूना है।

उड़ीसा में भुवनेश्वर में भुवनेश्वर या लिंगराज का मन्दिर उत्तर भारत का न केवल सबसे ऊंचा व सुन्दर मन्दिर है, एक प्रमुख देवस्थान भी है। इसने नगर को नाम दिया है। इसी प्रकार का आसाम का शिवसागर का विशाल मन्दिर है। यद्यपि कला की दृष्टि से शिवसागर इतना सम्पन्न नहीं है जितना भुवनेश्वर; परन्तु सुदूर आसाम में भी शिवसागर अपनी विशालता केलिए प्रसिद्ध है। नर्मदा नदी के उद्‌गम अमरकण्टक, ओंकारेश्वर मांधाता व महेश्वर के मन्दिर केवल धार्मिक दृष्टि से ही पवित्र नहीं हैं उनका कला-रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भोपाल के पास 'भोजपुर' का भग्नावशेष एक ऐसे मन्दिर की स्मृति दिलाता है जो किसी समय सोमनाथ की सानी का था।

काश्मीर तो शैवमत का बड़ा भारी केन्द्र रहा है और न केवल अमरनाथ की पवित्रता, बल्कि श्रीनगर के शिव तथा गणेश मन्दिर प्राचीन काश्मीरी कला का परिचय देते हैं।

उज्जैन का महाकाल शताब्दियों से हमारे साहित्य, कला, संस्कृति को प्रभावित करता आया है। हर-गौरी की सम्मिलित मूर्ति महाकाल की ऐसी अमूल्य भेंट है जिसने आज के नास्तिक काल में भी हर-गौरी को बैठक वालों की शोभा के लिए आवश्यक बना दिया है।

विश्वनाथ पुरी काशी का मन्दिर कितना भव्य रहा होगा, इसका कुछ पता ज्ञानवापी की मसजिद से लगता है। स्वयं वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर की मूर्तियां सुन्दर हैं परन्तु प्राचीन विश्वनाथ का शिल्प तो जौनपुर की मसजिद में दबा पड़ा है।

शैव कला के अन्य स्मारक

इलोरा का कैलाश, नृत्य करते हुए शिव, इलौरा की शान और भारत के शिल्पियों का गौरव है। एलिफेंटा तो केवल त्रिमूर्ति शिव, अर्द्धनारीश्वर शिव तथा प्रलयंकारी शिव के रूप को प्रकट करती है। ये सब भारतीय कला के गौरव हैं।

शिव ने भारत की सभी कलाओं को प्रभावित किया है। नृत्य और संगीत के वह आदि आचार्य हैं, वह नटराज हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में भगवान शिव को ही संगीत व नृत्य का आधार माना है। भरत को उन्होंने ताण्डव नृत्य सिखाया। पार्वती को उन्होंने लास्य सिखाया है। और पार्वती से यह नृत्य भगवान कृष्ण की पतोहू उपा ने सीखा। उपा ने यादव स्त्रियों को लास्य सिखाया और उन्होंने सारे संसार में इस सुन्दर नृत्य का प्रसार किया।

परिणामस्वरूप, भारत में जितनी कांस्य प्रतिमाएँ बनीं, उनमें नटराज सबसे प्रमुख हैं। दक्षिण में चिदंबरम् के मंदिर में नटराज शिव के नृत्य करते हुए अनगिनत रूप हैं। बादामी की गुफाओं में, हालबीड के होयसलेश्वर के मंदिर में, उड़ीसा के मुकटेश्वर में, इलौरा की गुफाओं में नृत्य करते शिव की सुन्दर मूर्तियां बनीं। यही नहीं, शिव तथा पार्वती के पुत्र नृत्य-गणपति की भी बड़ी सुन्दर मूर्तियां बनीं। भेड़ाघाट (जबलपुर) के गौरीशंकर मंदिर में नृत्य-गणपति की सुन्दर मूर्ति कल्चुरि कला का एक श्रेष्ठ प्रतीक है।

संगीत शिव के डमरू से निकला है। संगीत शास्त्र के लिए भी शिव को हम विस्मरण नहीं कर सकते। समस्त परम्पराएं भारतीय संगीत का स्रोत कैलाशवासी महादेव से ही मानती हैं।

इन शिव ने हमें आज-पर्यन्त केदारनाथ और रामेश्वरम्, काशी और कांची, सोमनाथ और भुवनेश्वर, उज्जैन और त्र्यंबकेश्वर जैसे सुन्दर तीर्थ दिए हैं और उनके द्वारा हमारी स्थापत्य, शिल्प तथा कांस्य मूर्तिकला की गौरवपूर्ण परम्परा की रक्षा की है।

अफगानिस्तान में शिव व गणेश

शिव और गणपति की कुछ अलभ्य मूर्तियां हाल ही में अफगानिस्तान में भी मिली हैं। भारतीय पुरातत्त्व-विदों का एक मण्डल अफगानिस्तान में खुदाई के लिए गया था। उसको काबुल में महाविनायक की एक मूर्ति मिली जिसमें नागरी लिपि में शिलालेख भी है। यह लेख छठवीं शताब्दी का है। डा० रामचन्द्रन व डा० शर्मा के अनुसार मणि, प्रवाल तथा वलय-सहित यह मूर्ति गुप्तकाल की सारनाथ की मूर्तियों से मेल खाती है। महाविनायक सर्प का यज्ञोपवीत पहने हैं और मोदक प्राप्त कर चुके हैं। उनका यह भी अनुमान है कि वस्त्राभूषण मगध परंपरा के अनुसार हैं। इस प्रकार महाविनायक की यह प्रतिमा, जो शाही नरेश खिमंगल ने स्थापित की थी, अफगानिस्तान से मगध तक की एक-सी परम्पराओं की याद दिलाती है।

गणेशजी की एक और प्रतिमा शकरधार (या शंकरधार) से प्राप्त हुई है। यह संगमरमर की है। वहां पर शिव तथा सूर्य की भी संगमरमर की सुन्दर मूर्तियां मिली हैं। यह मूर्ति ईसवी की चौथी शताब्दी की है जिस पर गुप्तकला की छाप है। पुरातत्वज्ञों के अनुसार यह कौशाम्बी की हरगौरी प्रतिमाओं की भांति है।

यहां पर जो शिव की मूर्ति मिली है उसमें मुकुट पर चन्द्रकला तथा कानों में पत्रकुंडल व माथे पर अर्द्ध-मीलित त्रिनेत्र है। यह सुन्दर मूर्ति भी चौथी शताब्दी की आंकी गई है। ये सारी मूर्तियां गर्देज से मिली हैं जिसको शाही शासकों ने अपनी राजधानी बनाया था।[1]

शिव के उपासक चंद्रवंश ने, जिस चन्द्र को शिव ने अपने मस्तक पर रख दिया है, यदुवंशी कृष्ण के रूप में एक और विभूति दी, जिसने हमारी कला तथा विचारधारा में मौलिक क्रांति कर दी। और यह है भगवान कृष्ण का व्यक्तित्व।

---

१. आर्क्योलोजीकल रिकोनेसां इन अफगानिस्तान : श्री बी० एन० रामचन्द्रन व डा० वाई० डी० शर्मा द्वारा (केवल सरकारी प्रयोग के लिए प्रकाशित, १९५६)
अध्याय २, पृष्ठ-संख्या ३–४–५–६

क्या कृष्ण भी अनार्य देवता थे ?

भगवान कृष्ण के सम्बन्ध में भी एक धारणा है कि वह वैदिक देवता न थे क्योंकि वेदों में उनका नाम नहीं है। परन्तु वेदों में कृष्ण के नाम का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि उनका जन्म निश्चित ही वैदिक काल के पश्चात हुआ। छांदोग्य उपनिषद में देवकी-पुत्र कृष्ण का उल्लेख है और उन्हें घोर आंगिरस का शिष्य कहा है। यह कथन कृष्ण के पौराणिक वर्णन से बिल्कुल मिलता है, क्योंकि आंगिरस द्वारा वर्णित अथर्ववेद की अनेक क्रियाओं, विज्ञान तथा शिल्प का मथुरा बड़ा भारी केन्द्र था। आंगिरस का तत्त्वज्ञान विशुद्ध वैज्ञानिक है और जो भी ऐतिहासिक शोधें हुई हैं उनसे पता लगता है कि लोहे के प्रयोग, निर्माण-कार्य में पत्थर तथा मसाले के प्रयोग, शिल्प विश्वविद्यालय व रासायनिक क्रियाओं में मथुरा उस समय अग्रगण्य था जिसके कारण वहां पर ही ऐतिहासिक शिल्प, चित्र तथा स्थापत्य कला, नाट्य आदि के हमें प्रथम दर्शन होते हैं। मथुरा यदुवंशियों के विशाल गणतन्त्र की राजधानी व अंतर्राष्ट्रीय राजपथ के केन्द्र पर स्थापित थी जिस कारण उसने सब स्थानों से प्रभाव ग्रहण किया और उसे सशक्त बनाकर दूर-दूर तक फैलाया।

कृष्ण का कलाओं को योगदान

इस ऐतिहासिक भूमि में जब भगवान श्रीकृष्ण जैसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ तो उसने भारतीय जीवन की काया पलट कर दी। नृत्य हमें शिव ने दिया था, पर बांसुरी की तान और रास देकर, हल्लीसक व मंडलाकार नृत्यों को रचकर, कृष्ण ने नृत्य व संगीत को व्यक्ति से लेकर सामूहिक रूप दे दिया। अजन्ता व बाघ की गुफाओं में भारतीय नृत्य के चित्र इन्हीं हल्लीसक नृत्यों की परम्परा को दिखाते हैं।[१]

ईस्वी पहली शताब्दी का कृष्णमन्दिर

भगवान कृष्ण के जन्म-स्थान पर मथुरा में एक मन्दिर बना था जिसका उल्लेख ईसा की पहली शताब्दी में मिलता है। शक राजा शोडास के समय में उत्कीर्ण एक शिलालेख से पता लगता है कि वहां पर वासुदेव कृष्ण के एक चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति ने किया था।[२] इसके पश्चात चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में इसी जन्म-स्थान पर एक विशाल मन्दिर बनवाया गया। इसके पश्चात महमूद गजनवी द्वारा जब मथुरा के मन्दिर तोड़े गए तो उसके इतिहासलेखक उल उत्बी ने एक ऐसे मन्दिर का जिक्र किया है, जिसे देवताओं ने बनाया था और मनुष्य बना ही नहीं सकते थे।[3]

बीसलदेव रासो के नायक यदुवंशी बीसलदेव ने तथा ओरछा के शासक वीरसिंह देव ने भी इस स्थान पर मन्दिर बनाये, जो बनते और बिगड़ते गए। केशवराय के मन्दिर की फ्रांसीसी यात्री टैवर्नियर ने प्रशंसा की थी।

भगवान कृष्ण के कितने मन्दिर बने व बिगड़े, परन्तु आज भी क्या उत्तर, क्या दक्षिण, सर्वत्र उनकी कीर्ति के स्मारक विद्यमान हैं। द्वारिका का मथुरानाथ का मन्दिर, जगन्नाथपुरी का जगदीश का मन्दिर भारत के सबसे लोकप्रिय धाम है। लगभग एक हजार वर्षों से बने ये मन्दिर अनूठे हैं। वेलूर का चिन्नकेशव मन्दिर भारतीय मूर्ति तथा स्थापत्य की अद्भुत छवि अंकित किये है और न जाने कितने नृत्यसंगीत-विशारदों को प्रेरणा देता रहा है। मथुरा, वृन्दावन, कांकरौली, नाथद्वारा, डाकौर जी, पंढरपुर, चितलदुर्ग इन सभी स्थलों का महत्त्व इसी विभूति के कारण बढ़ गया है।

भारतीय संगीत की परम्परा

उत्तर भारत का संगीत तो जैसे भगवान कृष्ण से अलग हो नहीं सकता। उनकी संगीत मुरलिया ने क्या हिन्दू क्या तुरक सभी को मोह लिया। आज कृष्ण ही ऐसे भारतीय देवता हैं जिसके गुण-गान कड़े से कड़े मुसलमान संगीतज्ञ के मुख से सुन सकते हैं। भगवान कृष्ण ने संगीत की शक्ति को दर्शाया था तथा उसके द्वारा जीवन में रस डाला

---

१. 'नटराज' : श्री जगदीशचन्द्र : पृष्ठ २२
२. 'मथुरा'—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ ८८
३. ब्रज का इतिहास—पृष्ठ १३०, तथा मथुरा-महिमा, पृष्ठ ६५

था। अतएव यह भी आश्चर्य की बात नहीं कि मथुरा नगरी में आचार्य दत्तिल हुए जिन्हें श्री अमियकुमार गोस्वामी भरत से भी पहला संगीताचार्य तथा अन्य लोग (जैसे श्री रामकृष्ण कवि) पंच-भरतों में से एक मानते हैं। डाक्टर वासुदेव-शरण अग्रवाल के अनुसार पाणिनि ने कंस-वध नामक नाटकों के खेले जाने का वर्णन किया है। आज-पर्यन्त मथुरा में कंस-वध-लीला खेली जाती है। संस्कृत नाटकों की समस्त पात्रियां शौरसेनी बोलती हैं। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं कि कृष्णलीला से ही—जिसे उस समय कंस-वध कहते हों——भारतभूमि में विधिवत नाटक खेलने की परम्परा पड़ी हो। उस समय मथुरा में नटसूत्रों के प्रणयन-अध्ययन की सम्भावना भी है।

इस प्रकार नाटकों के लिए भी, नृत्य की भांति, हम कृष्ण से ही प्रारम्भ देखते हैं। आश्चर्य नहीं कि नृत्य तथा संगीत और नाटकों की यह लोक-कला विकसित होकर सारे देश में फैल गई। यदुवंशियों के पूर्वपुरुष नहुष के बारे में यह परम्परा है कि उन्होंने नाटकशाला बनाई थी। परन्तु उनके पश्चात संगीत व नृत्य नाटक के बारे में यदुवंशियों का प्रेम कृष्ण के समय में ही ज्ञात हुआ। यदुवंशियों ने सौराष्ट्र, गुजरात, विदर्भ, महाराष्ट्र तथा कर्णाटक तक जो वंश-विकास किया उसके साथ-साथ नृत्य, संगीत, शिल्प व नाटकों की परम्पराएं भी गईं। कहा तो यह जाता है कि पुरी के मन्दिर का प्रारम्भकर्ता भी यदुवंशी ही था।

ध्रुपद, धमार, होरी के गायक हरिदास, मीरा, बैजू बावरा, गोपाल नायक, तानसेन आदि अनेक श्रेष्ठ कलाकार हुए। कवियों तथा संगीतज्ञों ने भगवान कृष्ण की आराधना में सर्वोत्तम पदों की रचना की। यदि कृष्ण का सहारा न होता तो ब्रजभाषा का काव्य ही नहीं, संगीत भी सूना-सूना लगता।

कला में 'त्रिभंगी' लाल

भगवान कृष्ण ने भारतीय कला में एक नई शैली दी। त्रिभंगी लाल कृष्ण की मुरली बजाते समय की छवि ने कला में 'त्रिवंका' परम्परा को जन्म दिया जिसने नृत्य को मूर्ति पर उतारना सम्भव कर दिया। डाक्टर कुमार-स्वामी ने लिखा है[1] :

"Besides the seated forms already noted there are no less characterstic standing poses. Some severe types are perfectly symetrical but more frequent and capable of greater variation is the stance, well seen in figure 57, where the weight of body rests on one leg and the other is slightly bent. Images of the later type are called Trivanka because the maiden line in front view is twice curved. A rarity of this with legs crossed is frequently adopted in the representation of Krishna the flute player. From such forms again there are all transitions to the cotinuous movement and perfect fluidity of dancers. If any power in Indian art is really unique it is its marvellous representations of movement—for here in the movement of limbs is given the swiftness and necessity of impelling thought itself much more than an enstay of action subsequent to thought.

There is close connection between sculpture and dancing not merely as much as certain images represent dancing gods (Shiva, Krishna, etc.) but because the Indian art of dancing is primarily one of gesture in which the hands play a most important part."

डा० आनन्द कुमारस्वामी का मत है कि त्रिवंका की शैली ने भारतीय मूर्तिकला को संसार में अद्वितीय शक्ति दी है क्योंकि इसके द्वारा गति का अद्भुत चित्रण करने में समर्थ हुए हैं। वंशीवादक कृष्ण की इस त्रिवंका मूर्ति के दर्शन हमें जापान के नारा नगर में दैबुत्सु मूर्ति के सामने के एक शिरदल पर मिले। यही शक्ति भारतीय कला को सारे दक्षिण एशिया में घुमा लाई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव तथा कृष्ण की प्रेरणा भारत की सभी कलाओं के विकास व प्रसार में असाधारण महत्त्व की रही है। इसी सभ्यता व संस्कृति पर हमें गौरव है। और हमें यह भी गौरव है कि कृष्ण व शिव भारतीय विचारधारा की प्राचीनतम परम्पराओं की अपनी विभूतियां हैं, किसी के मांगे-जांचे की नहीं। यदि ये देवता उधार लिये गए होते तो भारत की जनता ने उनके चित्रण व पूजन के लिए अपना श्रम इस प्रकार न व्यय किया होता जैसा किया।

---

१. दी आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स आव इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ ३१

गत अर्धशताब्दी में शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत की प्रगति

श्री ठा० जयदेवसिंह

१६वीं शती में मुगलराज्य का अन्त हो जाने के बाद जो कुछ शास्त्रीय संगीत के कलाकार बच गए थे उन्होंने देशी रियासतों में शरण ली। जयपुर, उदयपुर, अलवर, रामपुर, इन्दौर, ग्वालियर रियासतें शास्त्रीय संगीत का केन्द्र बन गई। किन्तु कलाकार प्रायः अपने ही घरवालों को संगीत सिखलाते थे, दूसरों को नहीं। दूसरी बात यह हुई कि शास्त्रीय संगीत से साधारण जनता की कौन कहे, शिक्षित वर्ग का भी कोई सम्पर्क न रह गया। जिस प्रकार महिलाओं के आभूषण पिटारी में बन्द रहते हैं, केवल किसी उत्सव के दिन निकाले जाते हैं, उसी प्रकार राग भी होली-दिवाली के दिन कलाकारों द्वारा राजसभा में प्रस्तुत किए जाते थे। उसके अनन्तर ये किसी को सुनने को भी न मिलते थे। केवल नाथद्वारा, कांकरौली इत्यादि के बैष्णव मन्दिरों में कलेवा, भोग, शयन, आरती इत्यादि के समय रागों में विष्णुपद, ध्रुवपद गाए जाते थे जो कि साधारण जनता जाकर सुन सकती थी। किन्तु इन गायकों को इतना साधारण वेतन मिलता था कि उनको अपना पेट पालना कठिन था। न तो वहां संगीत के अच्छे शिक्षक रह गए, न विद्यार्थी निश्चिन्त होकर अपना सारा समय संगीत की साधना में लगा सकते थे। परिणाम यह हुआ कि मन्दिरों में संगीत का केवल कंकाल अवशिष्ट रहा। इसका प्राण निकल चुका था।

थोड़ी बहुत जो नाटक कम्पनियां स्थापित हुई उनमें अधिकतर चलते हुए गाने गाए जाते थे। कभी-कभी नाटक के आरम्भ होने में ध्रुवपद शैली में एक वृन्द-गान हो जाता था, किन्तु प्रायः चलते हुए गाने ही सुनने को मिलते थे।

न तो संगीत का कोई विद्यालय था जहां कोई उसे सीख सकता हो और न स्वरलिपि में गान अथवा गत (गति) ही प्रकाशित थे जिन्हें देखकर कोई घर पर सीख सके।

जहां तक पता चलता है सबसे पहले महाराजा बड़ौदा के प्रसिद्ध गायक उस्ताद मौलाबख्श ने १८८६ में स्वरलिपि में कुछ गान लिखे, परन्तु व्यवस्थित रूप से शास्त्रीय हिन्दुस्तानी संगीत की प्रगति २०वीं शती से आरम्भ हुई। इस दिशा में जो कार्य हुआ है उसे हम तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं--(१) प्रकाशन, (२) प्रचार, (३) शिक्षण। इन्हीं तीन शीर्पकों में हम इसकी प्रगति का वर्णन करेंगे।

१. प्रकाशन—राजा शौरीन्द्रमोहन टागोर ने १८९६ में यूनीवर्सल हिस्ट्री आफ म्यूजिक 'Universal History of Music' प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने सबसे पहले भारतीय संगीत का एक संक्षिप्त इतिहास दिया। उन्होंने 'यंत्रक्षेत्रदीपिका' भी प्रकाशित की जिसमें सितार इत्यादि वाद्यों की गतें स्वरलिपि में छपीं, जिससे संगीतप्रेमियों को घर-बैठे संगीत सीखने का अवसर मिला। बंगाल के कुछ और विद्वानों ने भी संगीत पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कराई। श्री कृष्णधन वन्द्योपाध्याय का 'गीतसूत्रसार' निकला और श्री रामप्रसन्न वन्द्योपाध्याय ने 'संगीतमंजरी' प्रकाशित कराई। तानसेन के कुछ वंशज बंगाल में पहुंच गए थे। उनसे सीखकर श्री गोपेश्वर वन्द्योपाध्याय ने कुछ ध्रुवपद 'संगीत-चन्द्रिका' में प्रकाशित किए।

कलाकारों ने जिन गीत और गतों को छिपाकर रखा था और अपने पुत्र-पुत्री के सिवा जल्दी और किसी

को सिखलाते नहीं थे वे अब धीरे-धीरे प्रकाश में आने लगे।

संगीतशास्त्र का अध्ययन

सब संगीतशास्त्र संस्कृत में था। संगीतशास्त्र की यह दशा हो गई थी कि उसका कोई समझने वाला ही नहीं रह गया; क्योंकि जो केवल संस्कृत जानते थे वे संगीत नहीं जानते थे, और जो संगीत जानते थे वे संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ थे। अतः संगीत के ग्रंथ केवल कौतुकालय की वस्तु बन गए थे जिनका दूर से लोग आदर के साथ-साथ कभी-कभी दर्शन कर लेते थे, किन्तु जिनका कोई उपयोग नहीं होता था। कलाकार केवल लक्ष्य संगीत जानते थे, लक्षण संगीत से वे उदासीन हो गए थे।

लक्ष्य संगीत का संग्रह और उनके लक्षणों का शास्त्रीय विवेचन, यह संगीत के लिए अत्यन्त अपेक्षित था। इस कार्य को वही कर सकता था जो संगीत और संस्कृत दोनों जानता हो। संगीत के सौभाग्य से ये दोनों गुण पंडित विष्णुनारायण भातखण्डे में मिल गए। उन्होंने संगीत विधिपूर्वक सीखा था और वह संस्कृत के भी विद्वान थे। इस कांचनमणि-संयोग से संगीत का बड़ा उद्धार हुआ। संगीत शास्त्रों का मन्थन करके और प्रचलित संगीत से मिलाकर उन्होंने संस्कृत में 'श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्' की रचना की। इस ग्रंथ के मूल तत्त्वों का उन्होंने अपने मराठी-ग्रंथ 'हिन्दुस्थानी-संगीतपद्धति' के चार भागों में विस्तृत रूप से वर्णन किया। इसका पूरा हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। भिन्न-भिन्न रागों में गीतों का संग्रह करके स्वरलिपि में निबद्ध कर उन्होंने 'हिन्दुस्थानीसंगीतक्रमिक' के छः भागों में प्रकाशित किया। इन दो ग्रन्थों से संगीत का बहुत उपकार हुआ। संगीतशास्त्र को, जिसे कलाकार भी भूल गए थे, लोग फिर से जानने लगे, और अमूल्य गीत लोग घर बैठे सीख सके।

पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने ख्यालों को स्वरलिपि में 'संगीतबालबोध' के कई भागों में प्रकाशित किया। फिर उन्होंने एक-एक राग के ख्याल को लेकर आलाप, तान, बोलतान, सरगम इत्यादि से विस्तार करके 'राग-प्रवेश' नामक ग्रन्थ के १८ भाग प्रकाशित किए। 'रागप्रवेश' के द्वारा गायक प्रत्येक राग का आध घंटे तक विस्तार कर सकता है। इनके अनन्तर पण्डितजी ने एक-एक राग पर अधिक विस्तार से एक-एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसके भी पांच भाग प्रकाशित हो चुके हैं। मीरा, कबीर, सूर, तुलसी, दादू, नानक इत्यादि सन्तों के पदों को रागों में निबद्ध कर, स्वरलिपि में लिखकर 'भजनामृतलहरी' कई भागों में प्रकाशित कर पंडितजी ने गायकों का बहुत बड़ा उपकार किया। इसके पूर्व स्वरलिपि में भजन नहीं लिखे गए थे। इसके अतिरिक्त पण्डितजी ने कुछ टप्पों को स्वरलिपि में निबद्ध कर 'टप्पागायन' नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। पण्डितजी के शिष्यों में से श्री शंकरराव व्यास ने ख्याल की कई रचनाएं करके 'व्यासकृति' के कई भागों में प्रकाशित कीं। श्री विनायकराव पटवर्धन ने 'संगीतविज्ञान' के छः भागों में कुछ पुरानी और कुछ नई चीजें प्रकाशित कीं। पण्डित ओंकारनाथजी ने कुछ सुन्दर गान 'संगीतांजलि' के कई भागों में प्रकाशित किया। पण्डित श्री कृष्णनारायण रातांजनकर ने कुछ नई रचनाओं को स्वरलिपि में निबद्ध कर 'अभिनव-गीतमंजरी' में प्रकाशित किया। साथ ही उन्होंने प्रसिद्ध रागों में तानें बनाकर 'तानमालिका' के तीन भाग प्रकाशित किए। ग्वालियर के श्री राजाभैया पूछवाले ने ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पे, ठुमरी इत्यादि का संग्रह प्रकाशित किया।

कुछ ग्रन्थ शास्त्र पर भी निकले हैं जिनमें मराठी में प्रो० कृष्णराव गणेश मुले का 'भारतीय संगीत' और हिन्दी में पण्डित ओंकारनाथ की 'प्रणवभारती' तथा पण्डित कैलाशचन्द्र बृहस्पति का 'भरत का संगीत-सिद्धान्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राजा नवावअली ने उर्दू में 'मारफुन्नगमात' २ भागों में प्रकाशित किया। इसका अब हाथरस के 'संगीत कार्यालय' से हिन्दी-अनुवाद भी छप गया है। रामपुर के नव्वाब छम्मन साहब ने बहुत से ध्रुवपदों का स्वरलिपि में संग्रह किया, किन्तु वह अभी तक अप्रकाशित है। इधर रामपुर के नवाब हिज़ हाइनेस रज़ा अली ने भी अपनी रचनाओं के कुछ संग्रह छपवाए हैं।

संगीत-परिषदों द्वारा प्रचार

२. प्रचार—शास्त्रीय संगीत का प्रचार संगीत-परिषदों और आकाशवाणी द्वारा सबसे अधिक हुआ।

सबसे पहले पण्डित भातखण्डे के प्रयत्न से बड़ौदा में सन १९१६ में अखिल भारतीय संगीत परिषद हुई जिसमें प्राय: देश भर के गुणी जन एकत्र हुए थे। इसमें कलाकारों का गायन-वादन तो हुआ ही, संगीतशास्त्र की मुख्य समस्याओं पर भी विचार हुआ। इसके अनन्तर दिल्ली, बनारस, लखनऊ इत्यादि नगरों में भी परिषदें हुई। प्रयाग, कानपुर, कलकत्ता और बम्बई में बरसों तक प्रत्येक वर्ष संगीत-परिषद हुई। पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने अपने शिष्यों के साथ देश भर में भ्रमण किया और जहां-जहां वह गए उन्होंने संगीत-परिषद की जिसमें उनके शिष्यों और अन्य गुणीजनों का गायन-वादन हुआ। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत का सन्देश देश के कोने-कोने तक पहुंच गया।

सन १९३७ में अखिल भारतीय आकाशवाणी की स्थापना हुई। तब से इसके द्वारा नित्य पर्याप्त अंश में शास्त्रीय संगीत का प्रसार होता है।

इतने समय के निरन्तर प्रचार के परिणामस्वरूप श्रोताओं को मुख्य रागों के नाम मालूम हो गये और उन्हें उनकी थोड़ी-बहुत पहचान भी हो गई।

संगीत विद्यालय

३. शिक्षण—शास्त्रीय संगीत की सबसे बड़ी समस्या थी उसके शिक्षण की समुचित व्यवस्था। जो अच्छे कलाकार थे वे अपने कुटुम्ब के लोगों को छोड़कर दूसरों को संगीत सिखलाते नहीं थे। ग्वालियर में उस्ताद हद्दू खां-हस्सू ख़ां ने अपने कुटुम्ब के बाहर के लोगों को ख़्याल सिखलाया। इस प्रकार ख़्याल महाराष्ट्र में फैला। कुछ कलाकारों ने बंगाल में विष्णुपुर में कुछ लोगों को ध्रुवपद सिखलाया। इस प्रकार ध्रुवपद बंगाल में फैला। किन्तु अभी तक संगीत का कोई ऐसा विद्यालय नहीं था जिसमें संगीत का समुचित रूप से शिक्षण होता हो। सबसे पहले पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने लाहौर में १९०१ में गान्धर्व महाविद्यालय खोला जिसमें व्यवस्थित रूप से संगीत की शिक्षा दी जाने लगी। धीरे-धीरे उन्होंने पंजाब के और कई नगरों में इसकी शाखाएं खोलीं। बम्बई में १९०८ में उन्होंने गान्धर्व महाविद्यालय खोला जिसमें लगभग ४० शिक्षक थे और ४००-५०० विद्यार्थी संगीत सीखते थे। कुछ लोगों ने कलकत्ते में भी संगीत विद्यालय खोले। महाराजा बड़ौदा ने बड़ौदा में एक संगीत विद्यालय खोला जिसमें देश के कई प्रसिद्ध कलाकार संगीत के शिक्षण के लिए नियुक्त किए गये। पण्डित भातखण्डे जी ने महाराज सिंधिया की सहायता से ग्वालियर में माधव-संगीत विद्यालय खोला और १९२६ में राय राजेश्वर बली, राय उमानाथ बली और राजा नवाब अली की सहायता से लखनऊ में 'मैरिस कालेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूज़िक' खोला। इसके अनन्तर प्रयाग में 'प्रयाग संगीत विद्यालय' खुला। धीरे-धीरे कुछ शिक्षा बोर्डों और विश्वविद्यालयों में संगीत एक वैकल्पिक विषय हो गया।

संगीत के ह्रास के कारण

यह सब होते हुए भी, संगीत के महान् कलाकारों का अभाव होता जा रहा है। इसके दो मुख्य कारण हैं—एक तो आज के विद्यार्थी में साधना की बड़ी कमी आ गई है। संगीत एक ऐसी कला है जो जीवन-भर की साधना से कुछ हाथ में आती है। दूसरे एक कक्षा में बहुत से विद्यार्थियों को एकत्र सिखलाने की जो पद्धति है उससे संगीत का साधारण ज्ञान-मात्र होता है, कलाकार नहीं तैयार किए जा सकते। विद्यालय में सीखे हुए कुछ प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थियों को चुन कर यदि अच्छे गुरु को सौंपा जाय और वे केवल दो-तीन विद्यार्थियों को दो-तीन घण्टे नित्य शिक्षण दें तभी संगीत के अच्छे कलाकार बन सकते हैं।

हमारे कलाकार तैयारी को सब कुछ मान बैठे हैं। इसलिए कला का बहुत ही ह्रास हो रहा है। प्रत्येक विद्यालय में कलात्मक सौन्दर्य (aesthetics) की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

अभी तक किसी भी विद्यालय में संगीतविषयक अनुसन्धान के लिए कोई प्रबन्ध नहीं है। संगीत की प्रगति के अनुसन्धान की परम आवश्यकता है।

संगीत शास्त्र के बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ ग्रन्थागारों में अप्रकाशित पड़े हुए हैं। उनके प्रकाशन की भी बड़ी आवश्यकता है।

वर्तमान शताब्दी की भारतीय चित्रकला

श्री नगेन्द्र भट्टाचार्य

पिछले ६० वर्षों की भारतीय चित्रकला अपने मनोवैज्ञानिक आधार की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें न केवल इस समय की, बल्कि पिछली शताब्दी की भी देश की राजनीतिक चिन्ताधारा का चित्रण हुआ। यद्यपि, हमें यह स्वीकार करना होगा कि इस काल में हमारे देशवासियों की कलाओं के सम्बन्ध में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रही, और न उन्होंने इनमें कोई जीवन्त दिलचस्पी लेने का प्रयत्न किया।

इस छोटे-से लेख में भारत के कला-आन्दोलनों के मनोवैज्ञानिक आधार का एक सिलसिलेवार ब्यौरा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। १८वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९वीं शताब्दी के अन्त तक का काल अनुकरण का काल है जिसमें पश्चिमी मान्यताओं एवं आदर्शों को स्वीकार किया गया और यह स्वीकृति मुख्यतः हमारी अन्तर्निहित हीन भावना का ही परिणाम थी। अगला काल राष्ट्रीय जागरण का काल है जिसमें कला के क्षेत्र में भी पुरानी परम्पराओं के अनुकूल एक विशिष्ट शैली के अन्वेषण एवं अपनाने का प्रयत्न किया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तीसरा काल प्रारम्भ हुआ। इस काल में भी पश्चिम की ओर ही अधिक रुझान रहा। वस्तुतः पहले और तीसरे काल का प्रभाव एक जैसा रहा, केवल मनोवैज्ञानिक रुख में परिवर्तन हुआ। दूसरा काल पहले तथा तीसरे काल से वास्तविक रूप में भिन्न है। इसलिए इस काल की सामाजिक पृष्ठिभूमि तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करते हुए इस काल का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। तीसरे काल की मुख्य बात यह है कि इसमें हमने अपनी पुरानी हीन भावना का त्याग करके अपने आपको दूसरों के समकक्ष समझना आरम्भ किया। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाए तो इस काल में हमने राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय भावना को अपनाया और अपने कला-आन्दोलन को आधुनिक विश्व कला-आन्दोलन के साथ सम्बद्ध करने का यत्न किया।

प्रत्येक देश की कला वहां की जनता के जीवन और उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति से सम्बद्ध होती है, इसलिए साधारणतः यह स्वाभाविक है कि कला जनता की आत्मा को चित्रित करती है। यदि हमें किसी देश की किसी निश्चित काल की परिस्थितियों का पता लगाना हो तो हम देश के उस निश्चित काल के साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और भवन-निर्माण कला के स्तर से यह पता लगा सकते हैं।

अब हम संक्षेप में विगत इतिहास की समीक्षा करेंगे और हमारे देश के ही कुछ उदाहरणों की जांच करेंगे। हम मौर्य और गुप्तकाल तथा चोल, पल्लव और राष्ट्रकूट साम्राज्यों की समृद्धि का अन्दाजा उनके युग की कला और साहित्य के विकास से लगा सकते हैं। भवभूति और कालिदास के काव्य, अमरावती, इलौरा, सांची, सारनाथ या महाबलिपुरम् की भव्य मूर्तियां और अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला, इन सब अमर कृतियों की रचना किसी अत्याचार, गरीबी और राजनीतिक अशान्ति के वातावरण में सम्भव नहीं हो सकती थी। बाद के समय में, जब कि कला, जो कि राजा और प्रजा के बीच धार्मिक ऐक्य का आधार थी, का ह्रास हुआ तब मुगल, राजपूत और पंजाब के छोटे-छोटे पहाड़ी राजाओं के दरबारों में बहुत छोटे-छोटे आकार के किन्तु आश्चर्यजनक चित्रों का बोल-बाला हुआ। इन चित्रों में इन सभी दरबारों की समृद्धि की झांकी मिलती है। इनमें जन-साधारण के जीवन का कोई अंकन नहीं है क्योंकि

ये चित्र जन-कलाकारों द्वारा नहीं आंके गए। इस समय के कलाकारों को राजाओं का आश्रय एवं संरक्षण प्राप्त था और वे राजाओं के आदेशों पर कला-सृष्टि करते थे और इसलिए वे अपने चित्रों द्वारा अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने का यत्न करते थे।

कला का आधार धर्म

भारतीय इतिहास के स्वर्णिम युग में सर्जनात्मक कला का आधार धर्म था। बड़े-बड़े राजा लोग असीमित धनराशि व्यय करके उदारतापूर्वक कलाकारों को प्रोत्साहन देते थे और इस प्रकार जीविका-निर्वाह से निश्चिन्त होकर ये कलाकार भवन-निर्माण-कला, चित्रकला और मूर्ति-कला आदि की, अपने-अपने क्षेत्र में महान कृतियां तैयार करने की साधना में अथक रूप से लगे रहते थे। मन्दिर और विहार इस कला के केन्द्र थे, और इसलिए इस समय की कला, राजा और प्रजा दोनों के संयुक्त प्रयत्नों का परिणाम थी। किन्तु बाद के समय में, जबकि धर्म, जो राजा और प्रजा की घनिष्ठ एकता को बनाए रखने की कड़ी था, का प्रभाव कम हुआ तब धर्म और सामाजिक कृतियों पर आधारित जन-कला सदा के लिए विलुप्त हो गई और दरबारों की नफासत भरी कला ने उसका स्थान ले लिया। परिमाणतः जन-कला की महानता और आभा क्षीण हो गई और उसका रूप केवल धार्मिक एवं विधि-विधानात्मक मात्र होकर रह गया। इस प्रकार यह कला देश के हजारों-लाखों घरोंदों में सदा के लिए तिरोहित हो गई। इसके बाद भारत की चित्रकला दरबारों की चित्रकला के नाम से जानी जाने लगी। किन्तु जब विदेशी शासन के आतंकस्वरूप राजाओं और राज्यों का लोप हुआ तो भारतीय कला भी पूर्ण रूप से विलुप्त हो गई। किन्तु फिर भी दिल्ली, लखनऊ, पटना और पहाड़ी राज्यों की कुछ राजधानियों में भारतीय चित्रकला अपनी कुछ प्रभावहीन प्रतिलिपियों के रूप में जीवित रही। आमतौर पर विदेशी दर्शकों और धनी भारतीयों ने इन प्रतिलिपियों का संग्रह किया, किन्तु इनमें कोई सर्जनात्मक चमक नहीं है।

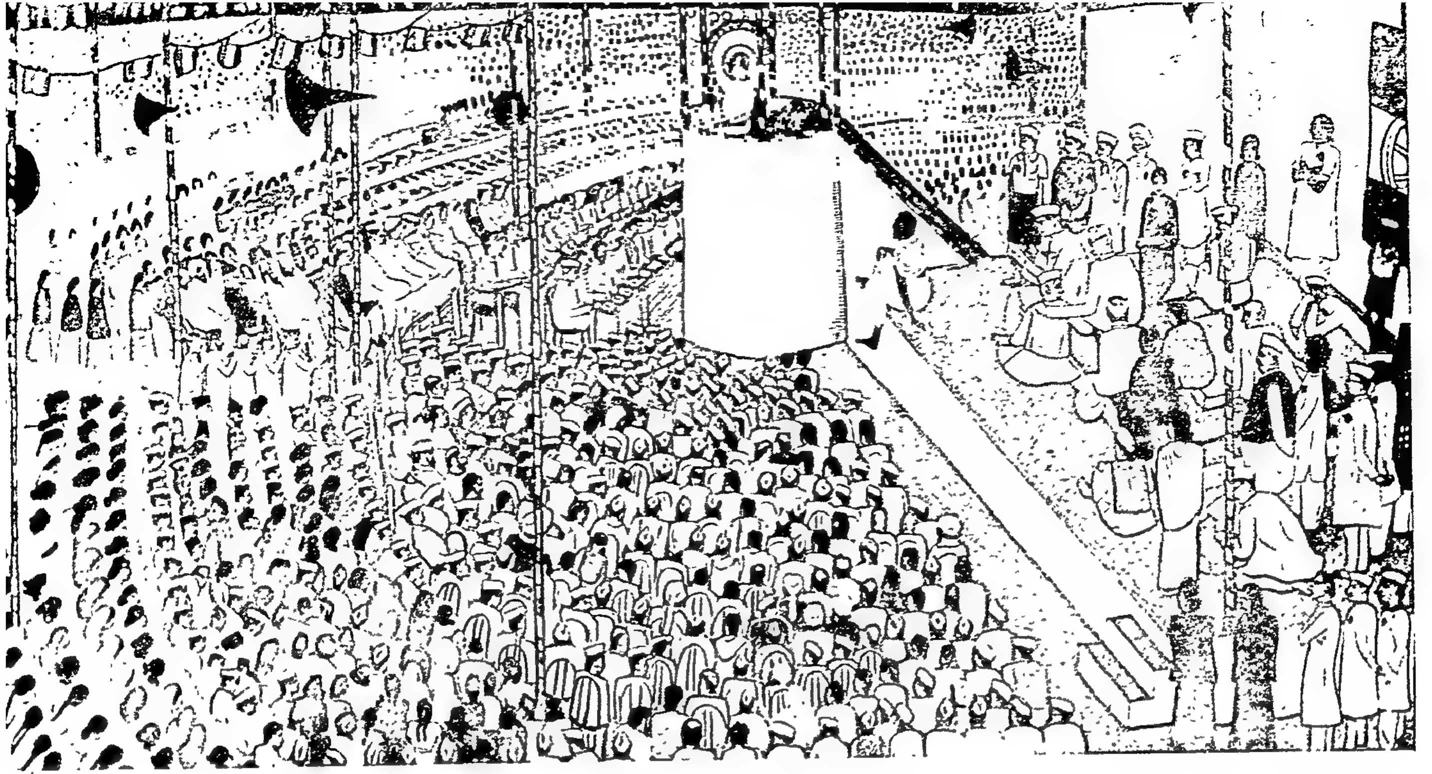
१८वीं शताब्दी में जब अंग्रेज और फ्रांसीसी आदि पश्चिमी शक्तियों ने पूर्वी तथा दक्षिण भारत की रियासतों पर विजय प्राप्त कर ली तब जनता ने विवश होकर यूरोपीय प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारतीयों में जिस हीन भावना का उदय हुआ वह केवल युद्ध और राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही बल्कि वह हमारे जीवन की जड़ों में भी प्रविष्ट हो गई और हमारे लोगों ने पश्चिम का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया।

पश्चिम के इस अंधानुकरण का प्रभाव हमारे राष्ट्रीय जीवन पर भी पड़ा। हम लोगों ने अपनी कला और साहित्य की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया और हम न केवल सामयिक, बल्कि भूतकाल की महान कलाकृतियों को पूर्णरूप से भुला बैठे। हमारी अपनी कला के सम्बन्ध में उपेक्षा एवं विस्मृति की यह स्थिति लगभग एक शताब्दी तक बनी रही।

१९वीं शताब्दी के आरम्भ में राजा राममोहनराय सरीखे लोगों ने हम लोगों को बताया कि पूर्व और पश्चिम की सर्वोत्तम बातों के समन्वय से ही देश का लाभ हो सकता है। राममोहनराय ने एक ओर तो वेदान्त दर्शन की पुनः स्थापना का प्रयत्न किया और दूसरी ओर उन्होंने हमारे बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया। इन दिनों में राजा राममोहन राय ने स्त्री-शिक्षा तथा जिन अन्य सामाजिक सुधारों का समर्थन किया उन्हें बड़ा क्रान्तिकारी समझा गया। उन्होंने उपयुक्त समय पर देश को यह चेतावनी दी कि हम पश्चिमी विचारधारा और पूर्वी प्रथाओं के बारे में विवेकपूर्वक विचार करें और पश्चिम के अंधानुकरण करने के स्थान पर केवल वही बातें स्वीकार करें जो हमारे लिए अच्छी और लाभदायक है।

पाश्चात्य कला का प्रभाव

पुस्तकों के अध्ययन द्वारा पूर्व का पश्चिम की विचारधारा के साथ जो सम्पर्क हुआ वह देश के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ। कलकत्ता, जो इन दिनों ब्रिटिश भारत की राजधानी था, में बहुत से प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन महान आत्माओं ने दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में हमारे पूर्वजों द्वारा प्राप्त की गई महान उपलब्धियों की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया और यह आश्वासन दिया कि भविष्य में भी इस प्रकार की महान



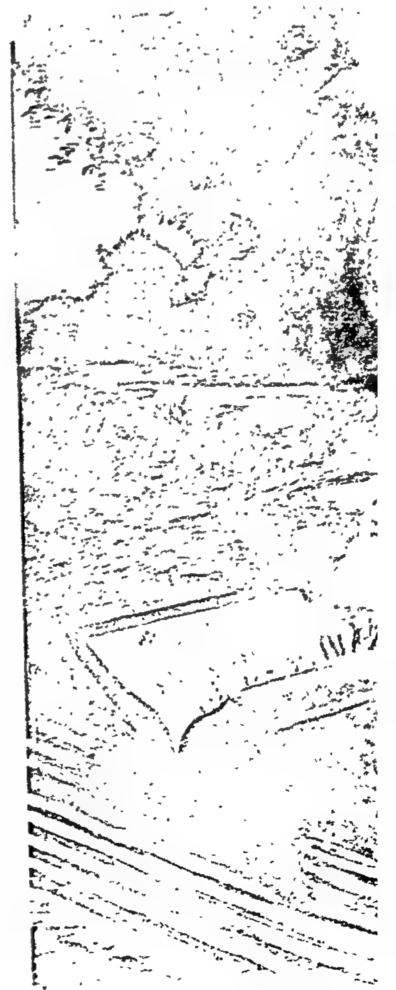
कुरानशरीफ पढ़ते
हुए एक मुसलमान

'पस्तोजी वामनजी'

गोपिनी

'जैमिनीराय'





मंदिर

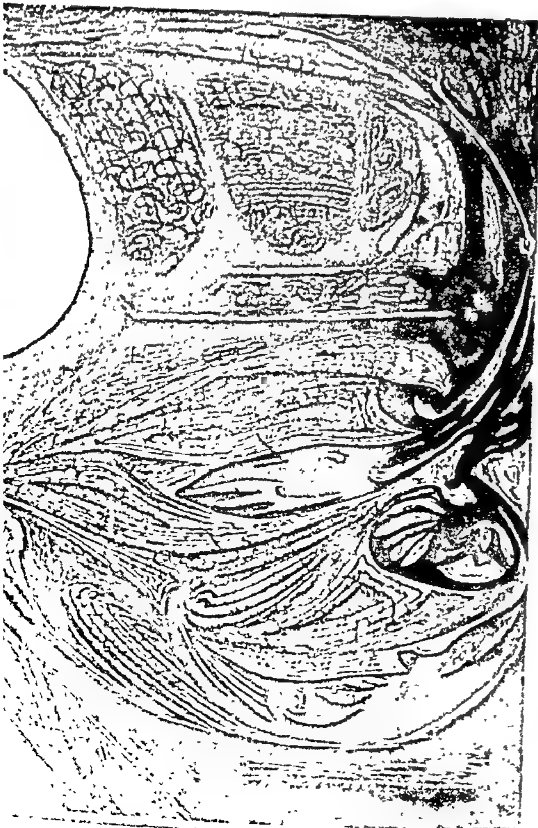
'गगेन्द्रनाथ ठाकुर'



प्रणय-मिलन



'रवीन्द्रनाथ ठाकुर'



वैश्विक टकराव





विजय

'के० सी० एस० पानिकर





प्राचीन कथावाचक

'अमृता शेरगिल'



निर्माण

'के० के० हैब्बर'



उपदेश

'सतीश गुजराल'

उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। साथ ही साथ, इन लोगों ने पश्चिम के दर्शन, विज्ञान और साहित्यसम्बन्धी पुस्तकों का गहन अध्ययन किया। इस प्रकार जो नई चेतना जागृत हुई वह बंगाल में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचंद्र चटर्जी, माइकेल मधुसूदन दत्त, रमेशचन्द्र दत्त, द्विजेन्द्रलाल राय तथा कई अन्य लेखकों के साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई। साधारणतः इन सबके साहित्य का प्रतिपाद्य विषय राष्ट्रीय जागृति और स्वाधिकार-प्रतिष्ठा ही था। इस साहित्य ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन का पथ प्रशस्त किया और इस प्रकार १९०५ में बंग-भंग के साथ यह आन्दोलन अत्यंत जोर पकड़ गया।

किन्तु कला के क्षेत्र में मामला कुछ दूसरा ही था। यूरोपीय कला के साथ हमारा परिचय कुछ घटिया दर्जे के चित्रकारों के चित्रों द्वारा हुआ। ये चित्रकार सिर्फ पैसा कमाने के लिए भारत आए थे। हमारे लोग, जो भारत की पुरानी कला-सम्बन्धी परम्पराओं को भूल चुके थे और जो यूरोप की हर किसी चीज को ग्रहण कर लेना चाहते थे, इन औसत दर्जे की प्रतिभा वाले यूरोपीय चित्रकारों के यथार्थवादी चित्रों को देखकर अभिभूत हो गए। ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर काम करने वाले अंग्रेज शासकों और फौज के जनरलों ने भारत आने वाले इन चित्रकारों को न केवल संरक्षण प्रदान किया बल्कि भारतीय रियासतों के राजाओं के दरबारों में भी उनका परिचय करा दिया, जहां उन्हें बड़े-बड़े कीमती चित्र बनाने का काम मिलता था। राजा लोग इनके चित्रों की प्रशंसा करते थे और राजाओं के साथ-साथ प्रजा भी उनकी प्रशंसा करती थी। इन्हीं परिस्थितियों में हमारे बहुत से चित्रकारों ने चित्र बनाने की पश्चिमी शैली यूरोपीय चित्रकारों से सीखी। १९वीं शताब्दी के मध्य में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय विद्यार्थियों को चित्रकला की पश्चिमी शैली सिखाने के लिए मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में कला-विद्यालय खोले। मलाबार के राजा रविवर्मा ने तैल-चित्रकला एक यूरोपीय चित्रकार से सीखी और उन्होंने रामायण और महाभारत के विषयों को लेकर कई तैल-चित्र तैयार किए। ये चित्र बहुत बड़े आकार के हैं, इनमें प्रतिपाद्य विषय का चित्रण अत्यन्त यथार्थवादी रूप से किया गया है और इनमें जिस कला-दाक्षिण्य का प्रयोग हुआ वह बड़ी उच्चकोटि का है। बम्बई में धुरन्धर, त्रिणीदाद, पिट्ठावाला, बोमन जी पेस्टन जी, ये सब लोग यूरोपीय शैली के चित्रकारों के रूप में प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार कलकत्ता में रणदा गुप्त, शशी हेस, यामिनी प्रकाश गांगोली आदि भी यूरोपीय कलाशैली को अपनाने वाले चित्रकारों के रूप में प्रसिद्ध हुए। इन्हीं दिनों कलकत्ता के एक नवयुवक, जो प्रिंस द्वारकानाथ टैगोर का पड़पोता था, ने यूरोपीय चित्रकारों से चित्रकला की शिक्षा ली। इस नवयुवक का नाम अवनीन्द्रनाथ टैगोर था जिसने हमारे देश की कला में एक अद्भुत क्रान्ति पैदा कर कर दी।

कला के क्षेत्र में पश्चिम के अन्धानुकरण की धारा को परिवर्तित करने के लिए कुछ यूरोपीय विद्वानों ने बड़ा घोर परिश्रम किया। इन विद्वानों में जेम्स फर्गुसन, सिस्टर निवेदिता और श्री ई० बी० हैवल के नाम प्रमुख हैं; जिन्होंने पूर्व और पश्चिम दोनों के लोगों को आश्वस्त किया कि भारत की अपनी महान कला-परम्पराएं थीं और इसलिए कम-से-कम कला के क्षेत्र में पश्चिम के पास कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे वह भारत को दे सके। श्री ई० बी० हैवल, जो उस समय कलकत्ता के गवर्नमेण्ट स्कूल आफ आर्ट्स के प्रिंसिपल थे, ने अपने स्कूल में रखी हुई ग्रीक और रोमन मूर्तिकला की अनुकृतियां पास के तालाब में फेंक दीं और उन्होंने अपने विद्यार्थियों से कहा कि अब उन्हें इन अनुकृतियों की नकल करने की कोई जरूरत नहीं है। उन्होंने अपने विद्यार्थियों से कहा कि उनकी अपनी एक विशिष्ट कला है और उसी का उन्हें अध्ययन करना चाहिए।

जोरासांको में टैगोर लोगों का घर कई पीढ़ियों से कलकत्ता की सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। टैगोर लोग बड़े जमींदार थे। वे देश में होने वाले सभी सामाजिक सुधारों में गहरी दिलचस्पी लेते थे। संस्कृत और परशियन साहित्य, संगीत, नाटक और चित्रकला, इन सभी के लिए उनके हृदय में अनन्य अनुराग था। टैगोर लोगों के घर में वेदान्त दर्शन पर प्रतिदिन उपदेश दिया जाता था। अवनीन्द्रनाथ इस प्रकार के वातावरण में पैदा हुए और इसी में उनका लालन-पालन हुआ।

राष्ट्रीय आंदोलन और कला में क्रांति

वंग-भंग के दिनों में जोरासाँको एक बार फिर सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया जिसमें रवीन्द्रनाथ टैगोर, जो उस समय एक प्रमुख साहित्यिक के रूप में प्रसिद्धि पा चुके थे, एक प्रमुख नेता के रूप में सामने आए। देश के अन्य शिक्षित नवयुवकों के साथ अवनीन्द्रनाथ भी इस आन्दोलन में पूरी तरह से कूद पड़े। उन्होंने लिखित रूप से यह प्रतिज्ञा की कि वे केवल देश में बनी हुई चीजों का ही प्रयोग करेंगे, अंग्रेजी के स्थान पर अपनी ही भाषा में अपना सम्मेलन करेंगे, विदेशी वस्तुओं का इस्तेमाल नहीं करेंगे और अपने तमाम झगड़ों तथा मतभेदों का निबटारा विदेशी सरकार की अदालतों में जाए बगैर अपने आप ही आपस में बैठकर कर लेंगे। 'घड़ोया' नामक अपनी आत्म-कथा सम्बन्धी एक लेख में अवनीन्द्रनाथ ने लिखा है कि यह एक ऐसा समय था जब कि एक मजदूर भी अपने देश के लिए कुछ करने की बात सोचता था। अपने देश के लिए कुछ बलिदान करना चाहता था। एक दिन जब कि अवनीन्द्रनाथ पल्ली समिति की एक बैठक के बाद लौट रहे थे तो एक कुली ने उनको रोक लिया। उसने अपने सिर से एक टोकरी नीचे उतारी और अपने कपड़े के पल्लू को खोलकर उसमें से कुछ आने निकाले और उनके हाथ में देते हुए उसने कहा, "मेरी यह दिन भर की कमाई देश के लिए समर्पित है।" ऐसा प्रतीत होता है कि अवनीन्द्रनाथ के चित्र देश को समर्पित किया गया उनका अर्घ्य है। अपनी युवावस्था में उन्होंने प्रत्येक विदेशी वस्तु का प्रयोग न करने की जो प्रतिज्ञा की थी, सम्भवतः उसी ने उनके हृदय में यह प्रेरणा उत्पन्न की कि वह चित्रकला में भी एक भारतीय भाषा की खोज करें।

श्री ई० बी० हैवल के साथ अवनीन्द्रनाथ के परिचय का ही यह परिणाम था कि उन्होंने इस दिशा में अनुसन्धान करने का निश्चय किया और इसके फलस्वरूप उन्होंने कृष्णचरित्र-सम्बन्धी कई चित्र तैयार किए जिनमें उन्होंने एक सर्वथा अभिनव शैली को अपनाया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उन्होंने पुराने मुगल और राजपूत चित्रों तथा देश की लोक-परम्पराओं का भी अध्ययन किया। उन्होंने जापानी चित्रशैली का परिचय प्राप्त किया और इस प्रकार अपनी शैली को समृद्ध बनाते रहे। अपने दीर्घ जीवन के अन्त समय तक वह घोर परिश्रम करते रहे और उनके एक जीवनकाल की कलाकृतियां उनके दूसरे जीवन-काल की कलाकृतियों से भिन्न हैं और उनका अपना अलग-अलग वैशिष्टय है। कई दृष्टि से उनके शिष्य नन्दलाल बोस भावना में अधिक भारतीय हैं और निष्पादन में अधिक शक्तिशाली। लेकिन हमें यह तथ्य भूल नहीं जाना चाहिए कि अवनीन्द्रनाथ ने अन्वेषक का कार्य किया और देश की विस्मृत पुरातन कला-परम्पराओं की खोज करके उन्हें नया रूप प्रदान किया।

कलागुरु अवनीन्द्रनाथ की परम्परा

अवनीन्द्रनाथ ने कुछ थोड़े से समय के लिए कलकत्ता के 'गवर्नमेण्ट स्कूल ऑफ आर्ट्स' में वाइस प्रिंसिपल का पद स्वीकार किया और बाद में उन्होंने 'इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट्स' नामक अपनी संस्था की स्थापना की। यहां उनके अनेक प्रतिभाशाली विद्यार्थी एकत्र हुए। नन्दलाल बोस, असितकुमार हाल्दार, शारदाचरण उकील, वेंकटप्पा, मुकुल, देवीप्रसाद राय चौधरी, समरेन्द्रनाथ गुप्ता, प्रमोद चट्टोपाध्याय, क्षितीन्द्र मजूमदार तथा उनके बहुत-से अन्य शिष्यों ने पिछले लगभग ३० वर्षों से देश के कला-आन्दोलनों का नेतृत्व किया है, और वे देश की विभिन्न कला-संस्थाओं के अध्यक्ष रहे हैं।

सामान्यतया इस विचारधारा से प्रभावित चित्र ऐतिहासिक और पौराणिक साहित्य का, दैनिक जीवन की घटनाओं एवं दृश्यों का चित्रण प्रस्तुत करते हैं। यह उसी प्रभाव का सचित्र चित्रण है जो बंकिमचन्द्र, रमेशदत्त और द्विजेन्द्रलाल के साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है।

इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रकार, जिनने इस समय की चित्रकला में अद्वितीय योगदान दिया है, गगनेन्द्रनाथ टैगोर हैं। उन्होंने सामाजिक व्यंग्य-विद्रूप चित्र, सीधे-सादे प्राकृतिक चित्र और क्युबिस्टिक आर्ट (ज्यामितिक चित्रांकण-पद्धति) की अवतारणा करके भारतीय चित्रकला को समृद्ध किया है। उनके सामाजिक व्यंग्य-विद्रूप चित्र बड़े शक्तिशाली हैं और वे इसी प्रकार के यूरोपीय चित्रों से भिन्न हैं। उनके ये क्युबिस्टिक चित्र रोमांटिक प्रकार

के हैं। अपने बचपन में, जोरासांको-स्थित टैगोर लोगों के भवनों के विशाल खम्भों तथा सीढ़ियों पर प्रकाश एवं छाया का जो अनोखा खेल उन्होंने देखा, उसीसे उन्होंने अपने इन चित्रों की प्रेरणा प्राप्त की।

सामान्यतः वह अपने रंगों के प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतते थे और मुख्य रूप से काले रंग का प्रयोग करते थे। उन्होंने रंगों में कई उल्लेखनीय फेन्टसीज की रचना की है। इस समय के अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रकार जैमिनी राय, अमृता शेरगिल और रवीन्द्रनाथ टैगोर हैं। जैमिनी राय पाश्चात्य शैलियों के प्रयोग में एक अत्यन्त कुशल चित्रकार हैं। अपनी परिपक्व अवस्था में उन पर बंगाल की लोक-कला का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपने चित्रों को नये रूप और रंग प्रदान किए। और इस तरह से वह बड़े लोकप्रिय हो गए।

पंजाब की अमृता शेरगिल के पिता सिक्ख थे, जो फारसी और संस्कृत के विद्वान थे। इनकी माता हंगरी की रहने वाली थीं और जो बड़ी कुशल पियानो-वादक थीं। अमृता ने पेरिस के कला-स्कूल में प्रशिक्षण प्राप्त किया। वह गोंगा के प्रभाव में रंगों और रूपों के सरलीकरण के सम्बन्ध में परीक्षण कर रही थीं। भारत लौट आने पर जब उन्होंने राजपूत, मुग़ल और अजन्ता की चित्रकला देखी तो वे भारतीय चित्रशैली की अनुयायी हो गई। १९४१ में ३२ वर्ष की छोटी-सी आयु में उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन इतने थोड़े समय में भी वह बहुत-सी ऐसी कृतियां छोड़ गई जो समय गुजरने के साथ-साथ बड़ी लोकप्रिय हो रही हैं और जिन्होंने हमारे कुछ प्रतिभाशाली कलाकारों को भी प्रभावित किया है।

कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी काफी बड़ी उम्र में अपने चित्रों की प्रदर्शनी की थी। यह प्रदर्शनी पहले यूरोप में और फिर भारत में हुई थी। इस प्रदर्शनी को देख कर कला-समीक्षकों ने एक मौलिक और शक्तिशाली कलाकार के रूप में उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। चित्रकला के सम्बन्ध में उन्होंने कोई शिक्षा तो ग्रहण नहीं की थी, किन्तु रूप, रंग और छन्दों के समन्वय के बारे में उनकी पैनी सूझ-बूझ ही उनकी सबसे बड़ी कुशलता थी जिसके आधार पर उन्होंने अपने चित्र बनाए। उनके चित्र रंगों में तैयार की गई फेन्टसीज हैं और भारतीय चित्रों की अपेक्षा आधुनिक यूरोपीय चित्रों के साथ उनकी कला के निष्पादक तत्त्वों की अधिक समानता है।

प्रिंसिपल देवीप्रसाद चौधरी के तत्त्वावधान में 'मद्रास स्कूल आफ आर्ट्स' और प्रिंसिपल असितकुमार हालदार और वीरेश्वर सेन के पथ-प्रदर्शन में 'लखनऊ स्कूल आफ आर्ट्स' तथा इसी प्रकार शारदाचरण उकील के नेतृत्व में दिल्ली, नव भारतीय चित्र-शैली के प्रसार एवं प्रचार के लिए महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए।

जबकि भारत के विभिन्न भागों में नये-नये परिवर्तन हो रहे थे तब भी बम्बई की चित्रकला पर प्रिंसिपल वर्ड्सवर्थ सोलोमन, डब्ल्यू० एस० वागादातापोलास, प्रिंसिपल जेरार्ड और प्रो० लंघामार आदि के नेतृत्व में पश्चिमी विचार और शैली का प्रभाव ही अक्षुण्ण बना रहा। सन १९३१ में बोला चटर्जी नामक एक कलाकार के नेतृत्व में कलकत्ता के कुछ कलाकारों ने 'आर्ट रेव्यूलेशन सेन्टर' नामक एक संघ का निर्माण किया। उन्होंने अपने चित्रों की एक प्रदर्शनी भी की। इस प्रदर्शनी के कुछ चित्र अत्यन्त सफल सिद्ध हुए क्योंकि उनमें रूपों का सरलीकरण और रंगों का गहरा अभिनव निष्पादन किया गया था। परन्तु यह आन्दोलन अधिक देर तक न चल सका।

युद्धोपरान्त प्रवृतियां

दूसरे महायुद्ध के समय अमेरिका, यूरोप और आस्ट्रेलिया के अफसर तथा सिपाही भारत आए। इनमें से अधिकांश विश्वविद्यालयों से निकले हुए नवयुवक थे जिनकी चित्रकला के प्रति अभिरुचि थी। इन लोगों ने भारतीय चित्रों की बहुत अधिक मांग की। ग्रामीण चित्रकारों की भांति जैमिनी राय भी अपने चित्रों की अनुकृतियां तैयार करते थे और उन्हें सस्ते दामों पर बेचा करते थे। इनके चित्र बहुत अधिक लोकप्रिय हुए और उनकी बहुत अधिक मांग बढ़ गई। कलकत्ता में कुछ नवयुवकों ने मिलकर एक कलकत्ता ग्रुप स्थापित किया। इन चित्रकारों में गोपाल घोष अपने ब्रुश के शक्तिशाली कार्य और चीनियों जैसी कला-निष्पादन के लिए, अवनिसेन पशुओं के आश्चर्यजनक चित्रों के लिए, जो अत्यन्त सादे और सुन्दर होते थे, प्रदोष दास गुप्त अपनी प्रभावशाली मूर्तिकला के लिए और नीरद मजूमदार अपने रंगों के लिए अत्यन्त लोकप्रिय हुए।

दिल्ली में शैलोज मुकर्जी ने कांगड़ा-चित्रों के रूप-विघान और रचना-विधान का पेरिस के चित्रकार मातीस के रंग और कला-दाक्षिण्य के साथ समन्वय करने के सफल परीक्षण किए।

श्री पण्णिकर, श्रीनिवासुलु, नरसिंह मूर्ति तथा अन्य नवयुवक चित्रकारों ने मिलकर मद्रास में एक प्रगतिशील चित्रकार संघ की स्थापना की। अपने रूप-विघान की सादगी, रंगों की प्रभावोत्पादकता और अपने चित्रों के शक्तिशाली लोकतत्त्वों के कारण ये लोग भी बड़े प्रसिद्ध हुए। हुसेन, रजा, गाडे, डि सौजा तथा अन्य लोगों ने मिलकर बम्बई में एक प्रगतिशील संघ की स्थापना की। ये लोग भी अपने रूप-विधानों की सादगी, गहरे तथा अभिनव रंगों के प्रयोग तथा अपनी साहसिक कल्पना के लिए काफी सफल हुए। इनके अतिरिक्त देहरादून के सुधीर खास्तगीर और इन्दौर के परितोष सेन, जो बाद में कलकत्ता ग्रुप में शामिल हो गए, तथा बम्बई में कृष्णा हैबर, सियावौक्स चावड़ा, वेन्द्रे और आरा आदि चित्रकार भी अपनी कला के लिए प्रसिद्ध हो गए।

यद्यपि कलकत्ता ग्रुप और मद्रास के प्रगतिशील कालाकारों की मुख्य प्रेरणा का स्रोत उनका अपना देश ही था, परन्तु बम्बई के प्रगतिशील कलाकार यूरोप के आधुनिक कला-आन्दोलन के साथ ही बंधे हुए थे।

दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ। १५ अगस्त, १९४७ को भारत ने विदेशी दासता से मुक्ति पाई। स्वाधीनता के साथ एक नया मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुआ। अब तक हम विदेशियों को नापसन्द करते थे और जहां तक हो सकता था वहां तक विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करते थे तथा जो लोग विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते थे, वे भी कम-से-कम खुले-आम अपनी पसन्द जाहिर नहीं करते थे। किन्तु अब बराबरी की भावना का उदय हुआ है, बल्कि एक उदासीनता की प्रवृत्ति पैदा हो गई। हम में एक विशेष प्रकार की विशालहृदयता का जन्म हुआ और बहुत-से लोगों ने तो खुले आम यह कहा कि राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के रूप में सोचना तो एक मानसिक संकीर्णता है। हमें अपना दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय बनाना चाहिए। हमने एकदम पुरानी राष्ट्रीय भावना का परित्याग कर दिया और अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, वेषभूषा में, खान-पान में और रहन-सहन में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपना लिया। अब हमें विदेशी वस्तुएं खरीदने में कोई संकोच नहीं रहा। और तो और, परिस्थितियों ने हमें विदेशी गेहूं और चावल तक पर निर्भर रहने के लिए विवश किया। कला के क्षेत्र में भी राष्ट्रीयता का उपहास किया जाने लगा। और अब तो कलाकारों और कला-आलोचकों का यह आग्रह है कि भारतीय चित्रकला को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के अनुकूल ही विकसित होना चाहिए। सतीश गुजराल ने भारत में मैक्सिको के कला-माध्यम का सूत्रपात किया। अमीना अहमद, ज्योतिष भट्टाचार्य और वीरेन्द्र डे आदि कलाकार अमूर्त एवं नोन रिप्रजेन्टेशनल—वस्तु-निरपेक्ष रूप-विधानों के सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे है। इसी प्रकार कुलकर्णी, कौशिक, रामकुमार, रजाक, लक्ष्मण पाई गाईतोंडे और अन्य बहुत-से चित्रकार अमरीकी, जर्मन और फ्रेंच माध्यमों का प्रयोग कर रहे है। इसका मुख्य कारण यह है कि अब कलाकारों को अधिक सुगमता से और अधिक बार विदेशों में भ्रमण करने की सुविधा प्राप्त है और अब वे विदेशी कला-कक्षों को जब चाहे तब देख सकते हैं और इसीलिए उनकी कला पर आधुनिक यूरोपीय कला का अधिक गहरा और सीधा प्रभाव पड़ रहा है।

यह सब होते हुए भी हमें यह बात नहीं भूल जानी चाहिए कि हमारे कलाकारों को बड़ी भारी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। हमारे लोगों में न तो कला के प्रति कोई अभिरुचि है, न कलाकृतियों की कोई मांग है और न ही कलाकारों की कोई सराहना या सम्मान है। सामान्यतः जनसाधारण के प्रोत्साहन एवं सराहना से ही किसी काल की कला पनपती है। अब तो स्थिति यह है कि भारतीय रियासतों के विलुप्त हो जाने के बाद केवल विदेशी ग्राहक ही हमारे कलाकारों की कलाकृतियां खरीदते हैं। परन्तु विदेशी ग्राहकों के आधार पर ही किसी भी कला का भविष्य गौरवान्वित नहीं हो सकता।

सरकार ने भारत में कला के विकास के लिए 'ललित कला अकादमी' की स्थापना की है। सरकार ने समस्त नये सरकारी भवनों को कलाकारों द्वारा चित्रित कराने के लिए भी काफी धनराशि की व्यवस्था की है। निस्सन्देह इससे कलाकारों को काफी सहायता मिलेगी, लेकिन जब तक जनता में कला के प्रति अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती तब तक इस देश में न तो कला उन्नत हो सकती है और न कलाकारों की स्थिति सुधर सकती है।



ऋषि विश्वमित्र एवं
अप्सरा मेनका

'राजरवि वर्मा'

राधा का विरह

'नंदलाल बोस'





भारतमाता

अवनीन्द्रकुमार ठाकुर

सम्राट हुमायूं कमरान
मिरजा के साथ

'राजपूत एवं मुगल चित्रकारी'





दरबारियों सहित
महाराजा साहब

'राजपूत एवं मुगल चित्रकारी'

भारतीय नाट्य-परम्परा की खोज

डा० सुरेश अवस्थी

नाटक, साहित्य के अन्य सभी रूपों की अपेक्षा किसी भी जाति के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का अधिक सच्चा और पूर्ण चित्र उद्घाटित करता है। नाटक एक ऐसी सामासिक कला है जिसमें जाति की अनेक साहित्यिक और दृश्य-कलाओं, जीवन-पद्धतियों, प्रथाओं, विश्वासों, आदर्शों और संघर्षों का समन्वित रूप व्यक्त होता है। यही कारण है कि किसी भी देश और किसी भी युग का समृद्ध नाटक-साहित्य संस्कृति की बहुत बड़ी थाती होता है। जहां नाटक-साहित्य एक ओर राष्ट्र की साहित्यिक सम्पदा का अंग होता है, वहीं वह सांस्कृतिक दाय का एक ऐसा अपूर्व संग्रहालय होता है जो शताब्दियों तक आगामी पीढ़ियों को अपने समकालीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का साक्षात्कार कराता रहता है।

नाटक के इस रूप और उसके इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की दृष्टि से यदि हम पिछली एक शताब्दी में विकसित होने वाले नई शैली के नाटक-साहित्य को समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में देखें तो हमको एक बहुत बड़े विरोधाभास का अनुभव होता है। वह विरोधाभास यह है कि भारतीय भाषाओं का पिछली एक शताब्दी का नाटक-साहित्य राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन का सच्चा चित्र प्रस्तुत नहीं करता। यही नहीं, वह साहित्यिक तत्त्व और रूप-शिल्प की दृष्टि से भी दुर्बल है, क्योंकि उसने अपनी परम्परा के सूत्रों को छोड़कर विदेशी कला-तत्त्वों और परम्पराओं को पूरी तरह अपना लिया।

नवीं-दसवीं शताब्दी में संस्कृत नाट्य-परम्परा के क्षीण हो जाने पर कई शताब्दियों तक हमारे देश में नाटक की कोई स्वस्थ और सबल परम्परा न रह सकी। कई शताब्दियों के लम्बे व्यवधान के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिमी नाटक-साहित्य के प्रभाव से जब सभी भारतीय भाषाओं में नई कोटि के नाटक-साहित्य का जन्म हुआ तो हम न केवल अपनी संस्कृत परम्परा से विमुख हो गए, बल्कि टूटी-फूटी और विरल मध्ययुगीन नाट्य-परम्परा से भी अपने को विच्छिन्न कर लिया।

इसमें सन्देह नहीं है कि जब दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का नाटक-साहित्य एक-दूसरे के सम्पर्क में आता है तो उनमें नाट्य-कला के तत्त्वों, व्यवहारों और रूढ़ियों का पारस्परिक विनिमय एक सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया है। हमारी भारतीय भाषाओं में जिस समय नाट्य-रूप विघटित हो चुका था उसी समय पश्चिम के समृद्ध नाटक-साहित्य के सम्पर्क में आकर हमने स्वभावतः उसके अधिकांश तत्त्वों, कला-नियमों और व्यवहारों को ज्यों का त्यों अपना लिया। इसके पश्चात बराबर पूरी एक शताब्दी से भारतीय भाषाएं पश्चिमी देशों से नाटकों और नाटकीय तत्त्वों का आयात कर रही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस एक शताब्दी की अवधि में सभी भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसे छोटे-छोटे काल-खण्ड आए हैं, और ऐसे नाटककारों का जन्म हुआ है जिन्होंने अपने को पश्चिमी परम्परा की इस अधीनता से मुक्त करके अधिक मौलिक और परम्परानुरागी श्रेष्ठ नाटक-साहित्य की रचना की।

प्रायः देशों के साहित्य के इतिहास में ऐसा होता है कि कभी-कभी एक देश दूसरे देश से केवल इसीलिए नाटकों का आयात करता रहता है कि दूसरा देश राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अधिक सामर्थ्यवान अथवा सत्ता-

धारी है। इस शताब्दी के आरम्भ में अनेक यूरोपीय देश फ्रांस से ही नाटकों का आयात करते थे, और फ्रांसीसी नाटकों के ही किसी न किसी प्रकार के रूपान्तर उनके अपने देशों की रंगशालाओं में सफल होते थे। हमने भी १९वीं शताब्दी के मध्य में शेक्सपियर और ऐलिजावेथकालीन दूसरे नाटककारों के नाटकों के ही अनेक प्रकार के रूपान्तरों से अपनी रंग-शालाओं को आबाद किया। और तब से आज तक नाटकों का ऐसा ही रूपान्तर और आयात बराबर किया जा रहा है। किन्तु ऐसी स्थिति से प्रायः राष्ट्र के अपने मौलिक नाटक-साहित्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः विदेशों से नाटकों का आयात रोककर देश के मौलिक नाटक-साहित्य का विकास आज की भारतीय कलात्मक जीवन की एक बहुत बड़ी सांस्कृतिक समस्या बन गया है। यहां पर इस समस्या के स्वरूप, उसके कारणों और उसके समाधान से सम्बन्धित ऐतिहासिक और कलात्मक पक्षों पर विचार किया गया है।

भारतीय नाटकों में गत्यवरोध

भारतीय भाषाओं के वार्षिक साहित्य-सर्वेक्षणों तथा दूसरे साधनों से ज्ञात होता है कि समसामयिक भार-तीय नाट्य-लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपों की अपेक्षा, सबसे अधिक शिथिल, गतिहीन और अल्प उत्पादन वाला है। यद्यपि पिछले १०–१२ वर्षों में नाटकीय क्रियाकलाप का नवोन्मेष हुआ है, और भारतीय रंगमंच पहले से अधिक साधनवान और समृद्ध हो गया है, किन्तु इस रंगमंचीय आन्दोलन ने श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नहीं दिया। इस विरोधपूर्ण और विषम स्थिति से हमारे मन में कई प्रकार के प्रश्न उठते हैं। हमारी भाषाओं का नाटक-साहित्य परिमाण और गुण दोनों दृष्टियों से आगे क्यों नहीं बढ़ा? वह हमारे आधुनिक जीवन की विभिन्न शैलियों, समस्याओं, आदर्शों और संघर्षों की नाटकोचित व्यंजनाएं क्यों नहीं कर पा रहा? हम आज भी अपनी रंग-शालाओं को समुचित नाट्य-सामग्री पहुंचाने के लिए विदेशी नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर पर ही क्यों निर्भर कर रहे है? क्या यह स्थिति नितांत अनिवार्य और अटल है? और क्या भारतीय नाटक कभी भी स्वतन्त्र होकर विकसित न हो सकेगा? और क्या हमारी रंगशालाएं विदेशी नाटकों का ही प्रदर्शन करती रहेंगी? इस स्थिति के कोई बड़े ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक कारण हैं? अथवा यह केवल हमारे नाटककारों की असमर्थता है कि वे नई शैली की आधु-निक रंगशालाओं के उपयुक्त नाटकों का निर्माण नहीं कर पा रहे? आज इसी प्रकार के अनेक प्रश्न सभी नाट्य-विचारकों, समीक्षकों और नाट्य-गोष्ठियों में बार-बार उठाए जा रहे हैं, किन्तु हम अभी तक किसी सन्तोषजनक उत्तर पर नहीं पहुंच पाए।

इस स्थिति के सन्दर्भ में जब हम भारतीय भाषाओं के पिछली अर्ध-शताब्दी के नाटक-साहित्य के इतिहास का अवलोकन करते हैं तो हमको ज्ञात होता है कि आधुनिक शैली के जिस नाटक ने हमारी भाषाओं में इस शताब्दी के आरम्भिक दशकों में जन्म लेने का विश्वास दिलाया था, वह भी जैसे समय के साथ-साथ आगे नहीं बढ़ सका। और आज नाट्य- लेखन में एक ऐसी गतिरोध की स्थिति पैदा हो गई है कि जब रंगमंच और उसकी आनुषंगिक कलाएं तो विकसित होकर आगे बढ़ रही हैं, तब हमारा नाटक प्रगति नहीं कर रहा और वह पिछड़ा हुआ है।

नाट्य-लेखन के इस गतिरोध और कुण्ठा के कारणों पर विचार करते ही सबसे पहली बात जो हमारे सामने आती है वह यह है कि पश्चिमी नाटक-साहित्य के प्रभाव से जब हमारी भाषाओं में आधुनिक शैली के नई कोटि के नाटक का जन्म हुआ तो हम अपनी संस्कृत नाट्य-परम्परा तथा मध्यकालीन और लोकशैली की नाट्य-परम्पराओं और रूढ़ियों से विलग हो गए। वास्तव में, नाटक एक ऐसा साहित्यरूप है कि उसके व्यवहारों और रूढ़ियों में जब कभी दूसरे साधनों से आने वाले दूसरी प्रकार के व्यवहारों और रूढ़ियों का समावेश होता है तो कलात्मक अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। और जब तक इन अन्तर्विरोधों को दूर कर दो भिन्न प्रकार की कला-रूढ़ियों में सामंजस्य नहीं स्थापित हो जाता तब तक नाट्य-रूप कभी भी विकसित नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक ऐसी सार्वभौम कला है कि वह अनेक जातियों की नाट्य-परम्पराओं से कला के तत्त्व और व्यवहार ग्रहण करता रहता है। विश्व के नाटक-साहित्य के इति-

हास में सभी युगों में इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय कलात्मक आदान-प्रदान होता रहा है। किन्तु, साथ ही वह परम्परा-वादी, पुरानुगामी और संस्कृति-परक होता है और अपने इन गुणों और प्रवृत्तियों के कारण ही वह किसी जाति की संस्कृति की अभिव्यंजना-का सर्वश्रेष्ठ और उच्चतम माध्यम होता है। इन्हीं दो विरोधी प्रकृतियों और तथ्यों के कारण प्राय: देशों के नाटक-साहित्य के इतिहास में ऐसे ही संकट और गतिरोध आ जाते हैं जैसा आज हम अपने देश में देख रहे हैं।

पश्चिमी नाट्य-परम्परा और भारतीय नाट्य-परम्परा की अपनी-अपनी मूल प्रकृति क्या है, और इन दोनों के मिलन ने किस प्रकार के अन्तर्विरोध को जन्म दिया, इसे जान लेना अपेक्षित होगा। एक ओर तो पश्चिम का अनु-कृतिमूलक और यथार्थवादी नाटक-साहित्य है जो रंगमंच के अनेक कला-साधनों और उपस्कर पर निर्भर करता है; और दूसरी ओर, भारत का रसपरक, काव्यमय और प्रतीकवादी नाटक है जिसमें कल्पनातत्त्व का प्राधान्य है, और जो अपने रंगमंचीय प्रदर्शन के लिए भौतिक साधनों की अपेक्षा समाज की रसज्ञता, कल्पना और संवेदनशीलता पर अधिक निर्भर करता है। वह संवादों की काव्य-माधुरी से दर्शकों की अभिनयात्मिका वृत्ति को जगाता है, और रंगमंच पर सत्याभास के नितान्त सरल विधान द्वारा नाटक के उपस्थापन का सफल उपचार करता है। इसके विपरीत पश्चिमी नाटक संवाद से अधिक दृश्य-कलाओं पर जोर देता है, और नितान्त स्वाभाविकवादी दृष्टि से जीवन के चित्र-खण्ड रंग-मंच पर प्रस्तुत करता है। दो देशों के नाटक-साहित्य की इन भिन्न-भिन्न प्रकृतियों ने ही आज के इस गतिरोध को जन्म दिया है।

हमारी भारतीय भाषाओं ने पहले चरण में नाटक को जो रूप दिया उसमें उन्होंने एक ओर तो लोक-नाटकों में भारतीय परम्परा के अवशेष और विघटित तत्त्वों को लिया; और दूसरी ओर, पश्चिमी नाटक के रचना-व्यवहार, रूढ़ियां, शैली-नियम सभी कुछ अपना लिये। किन्तु, हमारे नाटककार पश्चिमी देशों से ग्रहण किये गए इन कला-तत्त्वों को पूरी तरह आत्मसात नहीं कर सके, और अपनी परम्परा के साथ उनका ऐसा समन्वित रूप नहीं खोज सके कि दो वर्गों की और दो जातियों की नाट्य-रूढ़ियों और परम्पराओं के सम्मिलन से एक तीसरे वर्ग की रूढ़ियों और एक नई परम्परा का सूत्रपात होता। ऐसा लगता है कि अभी इस अन्तर्विरोध से जूझने में हमको कई दशक लग जाएंगे, और इसी संघर्ष की प्रक्रिया में हम अपनी परम्परा के सच्चे सूत्र और समन्वय के मार्ग को खोज सकेंगे। हमारी भाषाओं का नाटक देश की सांस्कृतिक और कला-भूमि में धीरे-धीरे जड़ें पकड़ेगा, और तब शायद, कोई आधी शताब्दी बाद, श्रेष्ठ कोटि के नाटक का जन्म हमारी भाषाओं में सम्भव हो सकेगा।

भारतीय नाट्य-शैली पर आघात

नाट्य-लेखन के नियमों, व्यवहारों और अनेक शैलीगत तत्त्वों के आयात के कारण उत्पन्न होने वाले इस अन्तर्विरोध के साथ-ही-साथ रंगमंच के रूप, आकार और उसके सज्जा-विधान से भी कई प्रकार के अन्तर्विरोधों का जन्म हुआ जिनके आघात से भारतीय नाटक अभी तक उबर नहीं पाया और उसका रूप स्थिर नहीं हो सका। संस्कृत की रंगमंच-परम्परा नष्ट हो जाने के बाद जो मध्ययुगीन रंगमंच भारतीय भाषाओं को मिला वह नितान्त सादा, खुला रंगमंच था जिसमें प्राय: तो सम धरातल पर ही अभिनेता अपना प्रदर्शन करते थे। कुछ विशेष प्रकार के नाटकों, जैसे लीलानाटकों में, मंचों और सिंहासनों पर नाटकीय दृश्य झांकी के रूप में सजाए जाते थे, और ये नाटक-दृश्य जलूस के समान एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाए जाते थे। आज भी हमारी लोकपरम्परा में नाट्य-प्रदर्शनों का ऐसा ही रूप प्रचलित है। प्रदर्शन की इस शैली में अभिनेताओं और श्रोताओं में किसी प्रकार का विलगाव नहीं रहता, वे नाटकीय क्रियाकलाप के सहकर्त्ता और सहभोक्ता होते हैं। नाटकीय दृश्यों को जोड़ने, पात्रों और व्यापारों का परिचय देने, और नाट्येतर प्रसंगों और सूचनाओं को दर्शकों तक पहुंचाने के लिए हमारे इन नाट्यप्रदर्शनों में सूत्रधार और कथावाचक का विधान रहता था। हमने १९वीं शताब्दी के मध्य में यूरोप से जो नया रंगमंच लिया उसके त्रि-आयामिक स्वरूप ने, जिसके रंगद्वार में चौखटे अथवा तस्वीरी फ्रेम का विधान था, हमारे इस प्रचलित रंगमंच का सारा कलात्मक स्वरूप ही

नष्ट कर दिया। नाटक एक ओर साहित्य का अंग है, और दूसरी ओर वह दृश्यकलाओं के अन्तर्गत आता है। और इसी कारण, रंगमंच के रूप, आकार और उसके सज्जा-विधान से ही नाट्य-लेखन के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यवहारों और रूढ़ियों का जन्म होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि रंगमंच का यहं रूप ही अब हमारे देश का एक प्रधान और स्थिर रूप हो गया है और हमको इसी के अनुरूप नाटक रचने होंगे। किन्तु, अब भी इस बात में बड़ी सार्थकता है और इसकी अमित सम्भावनाएं है कि हम रंगमंच के अपने परम्परागत रूप और उसके व्यवहारों की फिर से खोज करें, और उनके अनुरूप नाटक का निर्माण करें। रंगमंच की अपनी मौलिक रूढ़ियों से अनुशासित होकर नाटक का जो नया रूप हमारी भारतीय भाषाओं में विकसित होगा वह अधिक कलापूर्ण और सशक्त होगा।

यदि हम भारतीय नाट्य-परम्परा के सूत्रों की खोज और उसके पुनर्मूल्यांकन का यह कार्य सांस्कृतिक जागरूकता के साथ करें तो हमको वर्तमान स्थिति के अन्तर्विरोधों का समाधान सहज ही मिल सकेगा, और यह गतिरोध टूट कर उस श्रेष्ठ नाटक-साहित्य का जन्म होगा जो चाहे पश्चिमी नाटक के समान सुबद्ध न हो और वह जीवन के व्यापारों का अनुकरण न प्रस्तुत करे, किन्तु जिसमें काव्य, संगीत, नृत्य और विविध दृश्य-कलाओं के वे सभी तत्त्व विद्यमान होंगे जो नाटक को वास्तव में एक सामाजिक कला की संज्ञा देते है। भरत ने नाटक के इसी विशाल और व्यापक रूप की कल्पना करते हुए नाट्य कला के ग्यारह अंग बताए थे : रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग। अपनी परम्परा से संबद्ध होकर भविष्य का भारतीय नाटक इन्हीं अनेक कला-तत्त्वों और गुणों से विभूषित होगा, और वह राष्ट्र की संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व और उसकी सच्ची अभिव्यंजना कर सकेगा।



स्वतन्त्रता आन्दोलन और हमारी संस्कृति पर उसका प्रभाव

श्री मन्मथनाथ गुप्त

यदि स्वतन्त्रता-आन्दोलन का हमारी संस्कृति पर प्रभाव पड़ा तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अंग्रेजों से पहले जो विदेशी भारत में आए और अपना शासन कायम किया उनका भी हमारी संस्कृति पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा; पर यह स्मरण रहे कि संस्कृति-सम्बन्धी यह आदान-प्रदान कोई एकतरफा प्रतिक्रिया नहीं है, यानी केवल लिया ही हो ऐसी बात नहीं, उस लेने की प्रक्रिया का एक हद तक जबर्दस्त प्रतिरोध किया जाता रहा। इस प्रकार विदेशी प्रभाव के कारण एक तरफ जहां नये जीवन-क्रमों तथा विचारों के साथ सम्पर्क हुआ और उनसे ग्रहण की धारा जारी हो गई, वहीं हर कदम पर उनकी हर शै के प्रतिरोध का भी सिलसिला चल पड़ा।

जो बाहरी प्रतिरोध होता है, वह तो होता ही है; पर एक आन्तरिक प्रतिरोध भी होता है। सच तो यह है कि आन्तरिक प्रतिरोध ही असली प्रतिरोध है, उसी के फलस्वरूप संस्कृति का भावी रूप निश्चित होता है।

ग्रहण तथा प्रतिरोध

पहले हम ऐतिहासिक दृष्टान्त के रूप में अंग्रेजों के पहले ग्रहण तथा प्रतिरोध की जो द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया जारी रही, उसके सम्बन्ध में कुछ तथ्य सामने रख दें। बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध भारतीयों की ओर से जो प्रतिरोध हुए, यहां तक कि राणा सांगा की ओर से जिस सम्मिलित प्रतिरोध की चेष्टा हुई, इसमें हम कोई देशभक्ति नहीं पाते। हां, इसमें साधारण शत्रु के विरुद्ध सम्मिलित प्रतिरोध की बात अवश्य थी। एक साधारण सरदार दूसरे आक्रमण-कारी सरदार के विरुद्ध जिन कारणों से लड़ता है, इन लड़ाइयों पर उनसे उदात्ततर किसी कारण का आरोप करना कठिन है। ये लड़ाइयां हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों की लड़ाई नहीं कहला सकती, क्योंकि आम हिन्दू जनता को इन लड़ाइयों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। राणा प्रतापसिंह तथा इस प्रकार के तमाम लोगों में स्थानीय भक्ति को छोड़ कोई अखिल भारतीय देशभक्ति या दृष्टिकोण था, ऐसा समझना मुश्किल है। शिवाजी के विचार इन सबमें व्यापक तथा विस्तृत थे, किन्तु शायद उनके विचार उन्हीं तक सीमित थे; क्योंकि उनकी तरफ से जो फौज लड़ती थी, कुछ लोगों के अनुसार अधिकांश रूप में वह मुगलों की फौज की तरह 'भाड़े के टट्टू' मात्र थी। बाद को नाटककार तथा उपन्यासकारों ने राजपूतों तथा मराठों में देशभक्ति का सबसे विकसित रूप दिखलाया है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। उस युग में केवल भारतवर्ष में ही नहीं, कहीं भी जिसे आज लोग देशभक्ति समझते हैं, वह भावना नहीं थी। जातीयता तथा देशभक्ति की भावना पूंजीवादी युग की भावना है। उस युग के पहले उसका उस रूप में कहीं भी अस्तित्व नहीं था।

बाबर आदि विजेता अपने पहले आने वाले आर्यों की तरह लुटेरों की भांति ही आए थे। जैसे हिन्दू नाटककार तथा उपन्यासकार यह दिखलाते हैं कि बाहर से आये हुए मुसलमानों के साथ लड़ने वाले देशभक्ति की भावना से परि-चालित थे, उसीप्रकार कट्टर मुसलमान लेखक ऐसा दिखलाते हैं मानों मुसलमान आक्रमणकारी यहां पर धर्मप्रचार करने आए थे, पर यह बात बिल्कुल गलत है। ये विजेता केवल विजय की दृष्टि से आए थे। भारतवर्ष के मध्ययुग का इतिहास मुसलमान राजाओं के आपसी युद्ध का इतिहास है। यदि धर्मप्रचार उद्देश्य था तो बाबर के आने की क्या जरूरत थी?

लोदी-वंश तो राज कर ही रहा था। इसी प्रकार सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं।

सच तो यह है कि कथित सभी मुसलमान आक्रमणकारी अलग-अलग जाति तथा कबीले के थे और उन्होंने भारतवर्ष पर अपने विशेष कबीले या जाति का आधिपत्य स्थापित करना चाहा था। इन हमलों को धार्मिक दृष्टि से समझने की कोशिश न कर आबादी के गति के नियमों से समझने की चेष्टा अधिक वैज्ञानिक होगी।

ये विजेता धर्म का वहीं तक उपयोग करते थे जहां तक कि धर्म उनके राज्य-शासन में सहायक होता था। अवश्य इसके कुछ अपवाद भी हैं। कई बार कोई कट्टर राजा धर्म में इतना मतवाला हो गया कि उसने बुद्धि से काम नहीं लिया, पर ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं।

जैसे मुसलमानों के आने के पहले आक्रमणकारियों को भारतवर्ष में हजम कर लिया गया, उसी प्रकार मुसलमानों को भी हजम करने की चेष्टा दूसरे रूप में हुई। मुसलमानों को बिल्कुल हिन्दू बना लेने के बजाय कबीर, नानक आदि तत्त्वदर्शियों ने यह कहा कि हिन्दू, तुर्क दोनों एक हैं। इन लोगों ने यह चेष्टा की कि दोनों अपना-अपना धर्म छोड़ दें और तीसरा कुछ हो जाए। इन लोगों ने दोनों को एक हद तक गलत बताया। ये लोग सफल न हो सके, पर इन्होंने दोनों की साधारण बातों पर जोर देकर दोनों के सम्बन्ध को सरलतर कर दिया, इसमें सन्देह नहीं। कबीर या नानक किस हद तक सफल रहे, हमें इस बात को कबीरपंथियों तथा नानकपंथियों की संख्या से नहीं कूतना चाहिए। इनकी संख्या बहुत थोड़ी हुई, पर इनका प्रभाव इससे कहीं अधिक रहा। कबीर या नानक ने जिस कार्य को किया, उसके विराट असर को शायद कभी ठीक-ठीक कूता नहीं जा सके, पर उन्होंने एक बहुत प्रगतिशील चेष्टा की, इसमें संदेह नहीं। बाहर से जो मुसलमान आए थे, वे यहां पर बस चुके थे; ऐसी हालत में विदेशी करार देकर उनके विरुद्ध एक चिरन्तन जेहाद जारी रखना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होती।

दोनों धर्मों के इस समन्वयवाद में जो प्रगतिशील पहलू था, उसका हम दिग्दर्शन करा चुके; पर इस प्रकार के समन्वयवाद में एक काला पहलू भी था। यह एक तरह से आध्यात्मिक क्षेत्र में आक्रमणकारी विदेशियों के सामने पराजय स्वीकार कर लेना तथा समन्वयवाद के द्वारा लोगों को विदेशी शासन से बेखबर कर देना था। इसकी सफाई में यह कहा जा सकता है कि यहां के लोगों में इतनी ताकत कहां थी कि वे विदेशियों का विरोध करते? इसलिए यह समन्वयवाद ठीक ही था।

समन्वयवाद का प्रभाव

पठान-मुगल-काल के सारे साहित्य को पढ़ जाइए, उसमें एक तरफ तो शृंगार रस है जो सबसे भद्दा पलायनवाद है और दूसरी ओर आध्यात्मिकों का समन्वयवाद है। यह विचारधारा एक पराधीन जाति के उपयुक्त थी। कबीर आदि दार्शनिकों ने लोगों से बार-बार कहा कि 'रूखा-सूखा खाकर ठण्डा पानी पी।' यह कहा गया कि उस दुनिया की फिक्र करो। क्यों न ठण्डा पानी पीकर सन्तुष्ट रहते, दूध तो सब राजा तथा उनके टुकड़खोरों के लिए रिजर्व था। इहलोक जा चुका था, स्वाभाविक रूप से दूसरी दुनिया की फिक्र न करते तो क्या करते।

यह समन्वयवाद तथा उसके आनुषंगिक मतवाद शासक वर्ग के बड़े मतलब की चीज थे। अकबर ने इस विचार को हद तक पहुंचाना चाहा। इस समन्वय के जोश में 'अल्लोपनिषद' तथा 'दीन इलाही' की सृष्टि की गई, पर कुछ अमीरों तथा चापलूसों के अलावा किसी ने इस नवीन धर्म को गम्भीर रूप से स्वीकार न किया। पर फिर भी समन्वयवाद का मध्ययुग में बराबर बोलबाला रहा।

औरंगज़ेब ने आकर कट्टरपन के पहिए को फिर से घुमाना चाहा। औरंगजेब की गलती यह थी कि वह समझता था कि सब हिन्दू मुसलमान बन सकते हैं, पर उसकी यह धारणा गलत साबित हुई। औरंगजेब ने अकबर के द्वारा चलाई हुई धारा को उलटने की कोशिश कर बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया। फिर सिखों तथा मराठों ने भी कट्टरपन का जवाब कट्टरपन से दिया। नतीजा यह हुआ कि जो भूत किसी न किसी प्रकार सुला दिए गये थे, वे फिर से जग उठे। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सार्वभौम सत्ता शिथिल तथा दुर्बल हो गई। दिल्ली के बादशाह भारत-सम्राट

न रहकर वहुत कुछ हद तक केवल दिल्ली और उसके इर्द-गिर्द तक के राजा रह गए। सिख खालसा राज्यनिर्माण में लग गए। मराठे अलग खिचड़ी पका रहे थे, और उनमें भी कई चूल्हे हो गए। राजपूताना तो हमेशा से ही छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। न तो सब मुसलमान राजा ही एक थे, न सब हिन्दू राजा ही एक थे, न सब पठान ही एक थे और न सब मराठे ही एक थे। दलबन्दियां किसी उसूल, सम्प्रदाय या धर्म पर निर्भर न रहकर सम्पूर्ण रूप से सुविधा देखकर की जाती थीं। यदि हिन्दू सचमुच कथित मुस्लिम शासन से परेशान थे तो उनके लिए यह सुवर्ण सुयोग था; किन्तु सच वात तो यह है कि आम जनता, चाहे वह मुसलमान हो या हिन्दू हो, की यह राय थी :

कोऊ नृप होय हमें का हानी।

चेरी छाँड़ि न होउब रानी॥

स्मरण रहे कि ये पंक्तियां कथित मुसलमान काल के ही एक कवि की लिखी हुई हैं। यह चौपाई सच्चे मानो में भारतीय जनता की दयनीय दशा का चित्रण करती है। विशेषकर जिस जमाने का हम चित्र खींच रहे हैं उस जमाने की जनता के लिए यह चौपाई विल्कुल घटती है।

कहना न होगा कि यह समय बाहर से आक्रमण करने वालों के लिए बड़ा सुन्दर था। भारत की जनता जो अब तक शासन के प्रति सम्पूर्ण रूप से उदासीन थी, वह अब अपनी उदासीनता की सजा पाने वाली थी; क्योंकि अब जो लोग शासनरूढ़ होने वाले थे वे उन्हें ग्राम्य आर्थिक पद्धति में रहने देने वाले नहीं थे, वे उनको जबरदस्ती घसीटकर पूंजीवादी पद्धति के अन्दर ले आने वाले थे, और पटक कर छाती का खून पीने वाले थे। ग्राम्य आत्म-यथेष्ट आर्थिक पद्धति का टूटना एक महान क्रान्ति थी; यह उन्नति थी, पर अंग्रेज भारतीयों को अपना शोषित वनाने वाले थे; वे अब तक के आक्रमणकारियों की तरह इस देश में वसने वाले नहीं थे। वे यहां के लोगों को लूट-लूटकर अपने देश में ले जाने वाले थे। वे पहले से कहीं अधिक अच्छी तरह जनता का शोषण करने वाले थे।

ब्रिटिश शासनकाल में स्वतन्त्रता-आन्दोलन कब शुरू हुआ, यदि यह देखा जाए तो बहुत-सी बातें सामने आती हैं। यों १८५७ की क्रान्ति को स्वतन्त्रता-आन्दोलन का प्रथम विन्दु मानने का रिवाज है; पर सच्ची वात तो यह है कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन किसी न किसी रूप में लगभग उसी समय से शुरू हुआ जब अंग्रेज भारत में आए। पर कहां तक छोटे-छोटे विद्रोह, यहां तक कि मुस्लिम युग के विद्रोह भी, देशभक्तिमूलक थे यानी उस अर्थ में देशभक्तिमूलक थे, जिस अखिल भारतीय अर्थ में हम उसे लेते हैं, यह विवादग्रस्त है।

हमारे यहां के उपन्यासकार, नाटककार तथा कवियों ने इस युग के तथा इसके पहले के युग के बहुत से भारतीय शासकों तथा अन्य लोगों पर देशभक्ति का सेहरा मढ़ दिया है, और उनके मुंह से बड़ी-बड़ी देशभक्ति की वाणी कहलाई है, पर यह सब मनगढ़न्त है। इतिहास को इस प्रकार ढालकर नवयुगोपयोगी बनाना कई दृष्टि से उचित और शुभफल-उत्पादक कहा जा सकता है, पर यह इतिहास नहीं है। इन युगों में बड़े-बड़े लड़नेवाले थे, वे बहादुर भी तथा त्यागी भी थे; किन्तु यह कहना कि वे राष्ट्रभक्ति से परिचालित थे एक बहुत ही गलत बात होगी। हम मुगल-युग में यह देखते हैं कि सिसोदिया-वंश के सिरमौर राणा प्रतापसिंह ने यह प्रण किया था कि जब तक वे मेवाड़ को मुगलों से मुक्त न कर लेंगे, तब तक पत्तल में ही खाएंगे, इत्यादि। इसी प्रकार हम टीपू सुल्तान को ऐसा ही प्रण करते पाते हैं। इससे ऐसे लोगों की बहादुरी पर बहुत श्रद्धा होती है; पर यह कहना कि उनकी लड़ाई सारे भारत की लड़ाई थी, यह सत्य नहीं है। अभी अखिल भारतीय देशभक्ति का विकास नहीं हुआ था। लोग अपने छोटे-छोटे इलाकों, कुलों, गोत्रों तथा खानदानों की दृष्टि से सोचते थे। ऐसा कहना किसी अर्थ में उनका अपमान करना नहीं है। इन युगों में तो योरोप में भी राष्ट्र-भक्ति के विचार अच्छी तरह नहीं उदित हुए थे।

यदि लोगों में किसी मामूली हद तक भी देशभक्ति उत्पन्न हो चुकी होती, तो हमें विश्वास है कि भारतवर्ष इतनी आसानी से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं होता। मराठों में शिवाजी के बाद धीरे-धीरे पेशवा, सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ ये चार राजघराने हो गए थे। इनमें यदि कुछ भी देशभक्ति होती, यानी अखिल भारतीय देशभक्ति नहीं, मराठीपन लिये हुए देशभक्ति होती तो भी ये चार राज्य किसी-न-किसी सूरत में एक सामरिक तथा परराष्ट्र नीति

की दृष्टि से एक बने रहते, कम-से-कम इनकी परराष्ट्र नीति कुछ नहीं तो अंग्रेजों के मुकाबले में एक होती; पर खुर्दबीन लेकर ढूंढने पर भी हम इनमें कोई ऐसा योगसूत्र नहीं पाते। इसी प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू शासकों के द्वारा शासित राज्यों में भी कोई एका नहीं था, न वे किसी ऐसी नीति का अनुसरण कर रहे थे, जिसे पैन-हिन्दू या महासभाई कहा जा सके। यही हाल मुसलमान-शासित राज्यों का भी था। हम जब इस सारे दृश्य को एक निगाह से देखते हैं तो हमें ऐसा ज्ञात होता है कि इनमें धर्म या देश के आधार पर कोई सार्वजनिक भावना नहीं थी। उस समय के सब राजा, नवाब, बादशाह एक प्रकार से केवल अपने क्षुद्र स्वार्थवाले शोषक ही जंचते हैं। सम्भव है कि इसमें कहीं कोई व्यतिक्रम दिखलाई दे, पर यह व्यतिक्रम था न कि नियम। कई राजा अच्छे स्वभाव वाले तथा व्यक्तिगत रूप से परोपकारी थे, पर इससे उनकी पद्धति के अन्तर्निहित चरित्र में कोई फर्क नहीं आता।

अंग्रेजों ने भारतवर्ष को इतनी आसानी से जीत लिया, इसका कारण यह है कि यहां के शासक तथा शासन-यन्त्र बिल्कुल लचर, निकम्मे तथा कमजोर थे। वे पतित भी थे। इसके साथ ही एक बात और भी साफ कर देनी चाहिए, नहीं तो गलतफहमी पैदा होने का डर है, वह यह है कि इन लोगों पर जिस शक्ति ने विजय पाई वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी कोई धर्मार्थ कम्पनी नहीं थी। उनके अपनी ही लेखों-पत्रों तथा पार्लियामेंट के सामने समय-समय पर आये हुए सबूतों से यह साबित है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी डाकुओं का एक गिरोह-मात्र था। इसके सभी अफसर, कर्मचारी, छोटे से लेकर बड़े अहलकार अव्वल दर्जे के मक्कार, बेईमान तथा खूंखार थे। फिर भी उनमें एक बात थी जो भारत के राजाओं, नवाबों, बादशाहों में नहीं मिलती।

एक उदाहरण लिया जाए। जिस समय मुगल-सम्राट शाहजहां की लड़की बीमार हुई थी और उसका सफल इलाज करने के लिए एक अंग्रेज डाक्टर से यह कहा गया कि वह इनाम मांगे, तो उसने अपने लिए कुछ मांगने के बजाय सारी अंग्रेज जाति के लिए कुछ हक मांग लिए। यह साबित है कि कम्पनी के बड़े से बड़े नौकरों ने उस युग में अपने निजी कारोबार को बढ़ाया, यहां तक कि अपनी जेबों में लाखों की रकमें घूस के रूप में डालीं, फिर भी आम तौर से जहां भी कम्पनी के बुनियादी स्वार्थों की बात आई, वहां उन्होंने न तो कम्पनी को धोखा ही दिया, और न उसके विरुद्ध आचरण ही किया। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि सांगठनिक तथा नैतिक दृष्टि से कम्पनी के ये पतित नौकर हमारे राजाओं, नवाबों, वजीरों से अच्छे थे। कम्पनी के नौकरों ने बड़ी-से-बड़ी घूसखोरी की, पर उनमें कोई न तो मीरजाफर या दुर्लभराय ही पैदा हुआ जो घूस खाकर कम्पनी के विरुद्ध लड़े; और न कोई ब्रिटिश सेना ही ऐसी निकली जो मीरजाफर तथा दुर्लभराय की सेना की तरह दुश्मन से जाकर मिल गई। यह एक कारण है जिसकी वजह से अंग्रेजों का सितारा बराबर बुलन्दी पर चढ़ता गया।

इससे यह निष्कर्ष निकालने की हरगिज आवश्यकता नहीं है कि नस्ल या जाति की दृष्टि से ही अंग्रेजों में कोई खूबी थी। नहीं, अंग्रेजों में इस प्रकार की किसी खूबी की कल्पना करना गलत है। एक जमाना था जब उनके देश में भी धर्म के नाम पर इतने बड़े वैमनस्य पैदा हो जाते थे कि बाहर के कैथोलिकों को देश पर आक्रमण करने के लिए मदद दी जाती थी; पर जिस समय अंग्रेज यहां आए थे, उस समय उनमें पूंजीवाद का उदय हो रहा था, और साथ ही साथ देशभक्ति का भी उदय हुआ था। इसलिए अंग्रेजों की यह विशेषता नस्ल की खूबी नहीं थी, बल्कि सामाजिक पद्धति की दृष्टि से उन्नत होने का परिणाम था।

यदि हम ब्यौरों की ओर जाते हैं तो पता लगता है कि पलासी के कुछ सालों के अन्दर १७६४ में बंगाल सेना में काफी व्यापक विद्रोह हुआ था। यह विद्रोह कुछ नये फौजी नियमों के विरुद्ध हुआ था। इन लोगों की मांग यह थी कि ये नियम बदल दिए जाएं। ये लोग पहले हथियारबन्द विद्रोह की तरफ नहीं गए, बल्कि इन्होंने एक तरह से हड़ताल कर दी थी। पर मेजर मनरो को जब उनके इस प्रतिवाद का पता लगा तो वे जल्दी से बांकीपुर से छपरा पहुंच गए, और गोरे सैनिकों के साथ विद्रोही सैनिकों पर हमला कर दिया। फिर तो इन विद्रोहियों में से जो हाथ आए, उनको तोप के मुंह से उड़ा दिया गया।

इसी प्रकार १७६५ में एक अन्य सिपाही-विद्रोह हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में १८५७ के पहले ही

कई और सिपाही-विद्रोहों का पता लगता है। १८०६ में वेल्लोर में मद्रास आर्मी में देशी सेना ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह ने इतना व्यापक रूप धारण किया कि इसी के कारण कहा जाता है कि लार्ड विलियम बेंटिक की नौकरी गई। बाद को बेंटिक ने अपनी सफाई देते हुए कहा कि यह विद्रोह उनके कुशासन के विरुद्ध नहीं था। बल्कि वर्षों से मुसलमानों में जो विद्रोह की आग भड़क रही थी, उसी का यह परिणाम था। पर यह बात गलत थी। जैसा कि लार्ड बेंटिक ने खुद ही १८०७ की ८ जनवरी के मिनिट में माना है, बाद को यह विद्रोह नन्दी दुर्ग, संकरी दुर्ग आदि जिन स्थानों में फैल गया, वहां फिर हिन्दू और मुसलमान का प्रश्न नहीं रहा। सभी धर्मों के सैनिक एक होकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे।

सिपाही-विद्रोह के दो साल पहले भी निजाम की फ़ौज की तृतीय घुड़सवार सेना ने १८५५ के २१ सितम्बर को विद्रोह का झंडा बुलन्द किया। फौज के अध्यक्ष ब्रिगेडियर मैकेंजी के शरीर पर दस घाव आए, और वे किसी तरह जान लेकर भागे। विद्रोहियों ने उनका घर लूट लिया। इस विद्रोह के नेता भी मुसलमान थे।

हमें इन विद्रोहों के ब्यौरे में जानने की आवश्यकता नहीं है। 'राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास' नामक पुस्तक में हमने इन पर ब्यौरेवार विचार किया है, इसके अलावा 'क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास' में भी इनका उल्लेख है।

१८५७ का विद्रोह इन विद्रोहों की कड़ी में ही एक महान कड़ी थी। उसके सम्बन्ध में यहां हम कुछ नहीं बताएंगे। केवल इतना कहकर हम आगे बढ़ जाएंगे कि इस घटना का प्रभाव सुदूरव्यापी रहा।

संस्कृति के प्रश्न पर वापस आते हुए हम यह देखते हैं कि ग्रहण, प्रतिरोध और ग्रहणमूलक प्रतिरोध और प्रतिरोधमूलक ग्रहण सब तरह की प्रक्रियाओं के दृष्टान्त हमें मिलते हैं।

एक तरफ राजा राममोहनराय थे जो भारतीय नवजागृति के पुरोधा थे। वह भारतीय और अंग्रेजी दोनों विद्या, दर्शन तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता थे। १७७४ में उनका जन्म हुआ था। वह बहुत ही उदार विचारों के व्यक्ति थे और घटनाओं तथा वस्तुओं को भविष्य की दृष्टि से देखने में समर्थ थे। वह जिस युग में पले, उस युग में पश्चिम की उदीयमान पूंजीवादी सभ्यता और भारतवर्ष की ह्रासशील सामन्तवादी धार्मिक सभ्यता में प्रबल संघर्ष हो रहा था। राममोहन ने इन दोनों सभ्यताओं का अच्छी तरह अध्ययन किया था, और उनकी यह राय बन चुकी थी कि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा अपनानी चाहिए।

यों तो १८१३ के पहले सरकारी तौर पर भारतवर्ष में पादरियों को कोई उत्साह नहीं दिया जाता था कि वे धर्मप्रचार करें। पर नई सनद में सरकार की ओर से एक याजक विभाग खोल दिया गया, और यह तय हुआ कि एक बिशप और दो आर्च डिकन भारतवर्ष में होंगे। ये लोग अब सरकारी पैसे से पलने वाले थे। इस प्रकार सरकारी तौर पर तो ईसाई धर्म के प्रचार की व्यवस्था अब हुई, पर इसके बहुत पहले से ही जो पादरी यहां पर किसी तरह घुस आए थे, वे कहीं सतीदाह-प्रथा, तो कहीं गंगा और सागर के संगम पर बच्चों के विसर्जन की बात को लेकर, तो कहीं हिन्दुओं की मूर्तिपूजा को लेकर तरह-तरह का प्रचार किया करते थे और साबित करते थे कि हिन्दू बहुत निकृष्ट दर्जे के प्राणी हैं।

राममोहनराय ने शास्त्रों का अध्ययन किया तो वे इस नतीजे पर पहुंचे कि हिन्दू धर्म का सार एकेश्वरवाद है, न कि बहु-देवदेवीपूजा। उन्होंने १८०४ में ही फारसी में 'तूहफात उलभुमाह दीन' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें एकेश्वरवाद को स्थापित किया। कहना न होगा कि उनकी इस चेष्टा से पादरी बहुत नाराज हुए, पर सबसे मजे की बात तो यह है कि कट्टर हिन्दू भी उनसे नाराज हुए। पर वह इससे दबने वाले नहीं थे। १८१५ में उन्होंने वेदान्त का भाष्य लिखा, और फिर उसमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया। उसी साल उन्होंने मानिकतल्ला स्थान में आत्मीय सभा नाम से एक सभा खोली जिसका उद्देश्य वेदान्त की आलोचना करना था। यही आत्मीय सभा १८२८ में उपासना समाज, ब्रह्म सभा या ब्राह्म समाज में परिणत हो गया।

राममोहन ने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भी बड़ा जबर्दस्त काम किया, उन्हीं के आन्दोलन के कारण सतीदाह-प्रथा गैरकानूनी करार दी गई। यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे मामलों में भी, जिनमें अंग्रेजों का कुछ बिग-

ड़ता नहीं था, उन्होंने राममोहन को वर्षों तक टकराया। सती-दाह एक ऐसी कुप्रथा थी जिसके सम्बन्ध में दो रायें नहीं हो सकती थीं। पर इस सम्बन्ध में भी सरकार ने दीर्घ सूत्रता से काम लिया। जब जोरों से इसका आन्दोलन उठाया गया तो भी लार्ड वेलेसली पूछताछ कर रह गए। वह भी समझते थे कि यह प्रथा खराब है, किन्तु वह अपने साम्राज्य का हित इसी में समझते थे कि इस प्रथा में हस्तक्षेप न किया जाए। बहाना यह था कि सरकार धार्मिक बातों में हस्तक्षेप करके जनता में क्षोभ उत्पन्न करना नहीं चाहती; पर पहले दिए विवरणों से ज्ञात है कि सरकार ने ऐसी सैकड़ों बातें कीं जिनसे जनता को क्षोभ हुआ, जैसे यहां की कारीगरी का नाश कर सैकड़ों लोगों की रोजी ली गई। इसलिए क्षोभ की बात नहीं थी। सरकार ऐसे मामलों में क्षोभ उत्पन्न करने से नहीं डरती थी, जिनसे उनका काम बनता था। बाकी जनहितकर बातों में वह बहुत तटस्थ बन जाती थी।

मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स का भी ध्यान इस ओर गया, किन्तु उन्होंने भी इस पर जांच-पड़ताल करने के अतिरिक्त कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। राजा राममोहनराय ने इस सम्बन्ध में सैकड़ों प्रमाण देकर एक अंग्रेजी में पुस्तक लिखी, जिसमें यह दिखलाया गया कि सती दाह कोई धार्मिक प्रथा नहीं है और इसे बन्द करने में धर्म में हस्तक्षेप का प्रश्न नहीं उठता। प्रजातन्त्र का यह एक सम्मिलित सिद्धान्त समझा गया है कि धर्म में हस्तक्षेप न किया जाय किन्तु यह कब तक, इसका भी तो कुछ हिसाब है। धर्म में हस्तक्षेप तभी तक नहीं करना चाहिए जबकि वह निर्दोष हो, अपने तक ही सीमित हो, तथा किसी पर उससे जबर्दस्ती न होती हो। इसलिए सती-प्रथा के सम्बन्ध में यह उदासीनता सरकार की प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का परिचय देती है। फिर ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सिद्धान्तों से क्या मतलब था?

राममोहनराय ने बंगाल में प्रचलित कुलीन-प्रथा के विरुद्ध भी आन्दोलन किया। कुलीन-प्रथा के अनुसार एक पुरुष कई सौ स्त्रियों तक से विवाह कर सकता था। राममोहन ने इस कुप्रथा के विरुद्धआवाज उठाई, पर इस सम्बन्ध में वे कानून नहीं बनवा सके। उन्होंने स्त्रियों के दायाधिकार के सम्बन्ध में आन्दोलन किया और यह चाहा कि पति की मृत्यु के बाद उसकी सारी सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार हो जाए। दहेज तथा लड़की बेचने के विरुद्ध भी उन्होंने आन्दोलन किया। संक्षेप में वह सभी तरह के प्रगतिशील आन्दोलन के अग्रभाग में रहे। देशबन्धु दास ने एक समय बोलते हुए यह जो कहा था कि—"The life-work of this great man has got to be re-estimated, re-valued, re-understood and re-interpreted." याने इस महान व्यक्ति के जीवन के कार्यों पर पुनर्विचार करने, समझने तथा उसकी फिर से व्याख्या करने की आवश्यकता है। यह बात बहुत ही सत्य है। अभी राममोहन को समुचित तरीके से समझा नहीं गया है।

दूसरी तरफ उसी युग में एक अन्य व्यक्ति थे, जिनका बंगाली युवकों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हेनरी लुई डिवीयन डिरोजियो नामक एक फिरंगी शिक्षक थे। फिरंगियों में अपने को अंग्रेज समझने की जो प्रवृत्ति थी, वह इनमें नहीं थी। वह जन्मभूमि भारत को ही अपना देश समझते थे। वह कवि भी थे, और कविता में स्वदेश-प्रेम का प्रचार करते थे। १८२६ में जब वह हिन्दू कालेज में काम लेकर आए, तो उनकी उम्र केवल १७ थी। वे लोगों के, विशेषकर छात्रों के, मन में देशभक्ति उत्पन्न करने के साथ-साथ तरह-तरह के विषयों पर बोलते थे। कालेज के अलावा भी वह डेविड हेयर के स्कूल में भी जाकर व्याख्यान दिया करते थे। यह एक अजीब बात है कि डिरोजियो एक तरह से बंगालियों की, और इसलिए भारतीयों की देशभक्ति के गुरु हुए।

डिरोजियो की शिष्य-मण्डली और राममोहन-प्रचारित प्रगति में एक बहुत बड़ा फर्क यह था कि डिरोजियो के शिष्य अपने सुधारों में धर्म का आधार नहीं मानते थे। धर्म को सब कुसंस्कारों का जनक जानकर उन्होंने धर्म के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की थी। वे बहुत से काम ऐसे करते थे, जिनको देखकर कट्टर समाज के लोग बहुत घबड़ाते थे; उदाहरणार्थ उन्होंने उसी युग में छूआछूत त्याग दिया था, गोमांस आदि भक्षण किया था, इत्यादि। लोगों को डिरोजियो से इतनी घबराहट हुई कि हिन्दू कालेज की कमेटी ने १८३१ के २५ अप्रैल को उन्हें कालेज से निकाल दिया। इसके बाद डिरोजियो ने पहली जून से ही 'ईस्ट इण्डिया' नाम से एक अखबार निकाला। दुर्भाग्य से उसी साल के

२६ दिसम्बर को उनकी मृत्यु हो गई, नहीं तो इसमें सन्देह नहीं कि ये जिस सेवा को कालेज के जरिये से कर रहे थे, अब उसी की अखबार के जरिये से व्यापकतर रूप में जारी रखते। डिरोजियो के शिष्यों में कई नव जागृति के नेता हुए। कट्टर लोग उनसे जिस प्रकार घबड़ाते थे, उस प्रकार घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं थी; यह इस बात से साबित है कि डिरोजियो की शिष्य-मण्डली में केवल कृष्णमोहन बन्द्योपाध्याय ईसाई हो गए। बाकी लोगों ने किसी-न-किसी प्रकार के सुधार कार्यों में भाग लिया। कृष्णमोहन भी बराबर राष्ट्रीय विचार के रहे।

यहां हम एक पहलू की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। वह यह कि अंग्रेजों के प्रति लोगों में जितना विद्वेष बढ़ता गया, अंग्रेजी के प्रति उतना ही प्रेम बढ़ता गया; यह एक बहुत ही सुन्दर विशेषता रही और इसका हमारी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, बल्कि हमारे मनोजगत और बहिर्जगत सब पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। यह प्रक्रिया अब भी जारी है और बहुतों के अनुसार इसके जारी रहने में ही हमारा कल्याण है; अवश्य इस हद तक नहीं कि इससे हमारी अपनी भाषाओं की प्रगति रुके।

इसी सम्बन्ध में हम एक टाइप के रूप में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध में उल्लेख कर दें। वह कट्टर सनातनी पण्डित थे, इस पर भी उन्होंने विधवा-विवाह का प्रचार किया। १८१० में उनका जन्म हुआ। विद्वान के रूप में वे ख्यात हो गए, और वे स्वभाव से परोपकारी, दानशील, उदार, मेधावी थे; पर सुधार से वे कोसों दूर रहते थे। एक घटना से उनके हृदय पर इतनी चोट पहुंची कि वे सरपट सुधार में कूद पड़े। उन्होंने श्री शम्भूचन्द्र वाचस्पति नामक एक विद्वान से वेदान्त शास्त्र पढ़ा था। यह महाशय बूढ़े हो गए थे, इनकी स्त्री मर चुकी थी। कुछ लोगों ने इनसे कहा कि फिर से ब्याह कर लो, वे कुछ दिनों तक को इस अनुरोध को टालते रहे, फिर राजी हो गए।

वाचस्पतिजी ने अपने शिष्य विद्यासागरजी से पूछा कि उनकी इस सम्बन्ध में क्या राय है। विद्यासागर जो अपने गुरु को पिता की तरह मानते थे, बोले कि आपको बहुत कष्ट तो हो रहा है, पर इस उम्र में इस प्रकार एक कम-उम्र लड़की से शादी करने का तथा उसको विधवा छोड़कर मर जाने का कोई अधिकार उन्हें नहीं है। वाचस्पति जी इस पर बहुत दिनों तक अपने शिष्य से झक-झक करते रहे, किन्तु विद्यासागर ने अपनी राय नहीं पलटी। बल्कि और भी उग्रता के साथ अपने मत का प्रतिपादन करते रहे। अब वाचस्पति जी ने शिष्य को समझाने की आशा छोड़ दी, और विवाह करने का ढंग लगा लिया। इस पर विद्यासागर ने गुरु को अन्तिम नमस्कार किया। जब शादी हो चुकी तो गुरु ने फिर शिष्य को बुलाया। जब वे गुरु के सामने गए तो वे उस लड़की की बात सोचकर, जिसका गुरु जी ने सर्वनाश किया था, रोने लगे। इसके बाद जब उन्होंने गुरु पत्नी को देखा तो और भी रोने लगे। उन्होंने कायदे के अनुसार कुछ रुपये गुरुआइन जी को भेंट किए। गुरुजी ने बहुत जिद की कि वे कुछ जलपान करके जाएं तो उन्होंने कहा—"बस हो चुका, मैं अब इस घर में पानी नहीं पी सकता।"

इस घटना ने विद्यासागर के मन पर इतनी जबर्दस्त चोट पहुंचाई कि उन्होंने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता कि शास्त्र में विधवा-विवाह का विधान न हो। उन्होंने इसी उद्देश्य से शास्त्र को छानना शुरू किया। कई मन्त्रों में उन्हें ऐसा प्रमाण मिला कि विधवा चिता पर से उतार ली गई और इसके बाद उसका पुनर्विवाह हुआ। चिता पर से उतारने के मन्त्र भी थे। वेदों में एक शब्द दिवपू आता है, इसका अर्थ है विधवा से विवाह करने वाला व्यक्ति। उसके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत से प्रमाण निकाले। कहा जाता है कि जब वे इस काम में संलग्न रहते थे तो एक ही बार भोजन करते थे, और दिन भर इसी का मनन करते थे। एक तरफ तो उन्होंने शास्त्रीय प्रमाण देकर यह पुस्तक लिखी, जिसमें विधवा-विवाह को शास्त्रीय बतलाया गया। दूसरा उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत से लेख लिखे तथा बंगाल के बहुत से प्रतिष्ठित आदमियों के द्वारा दस्तखत कराकर सरकार को एक प्रार्थना-पत्र भेजा। उनके प्रयत्नों का फल १८५६ की २६ जुलाई को हुआ। उस दिन विधवा-विवाह सम्बन्धी कानून बन गया। विद्यासागर ने बहुविवाह को रद्द कराने के लिए भी आन्दोलन किया। उन्होंने २५,००० व्यक्तियों के दस्तखत से एक प्रार्थना-पत्र भेजा। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा के लिए एक स्कूल भी खुलवा दिया।

स्वामी दयानन्द ग्रहण और प्रतिरोध के क्षेत्र में शायद प्रतिरोध का ही अधिक प्रतिनिधित्व करते थे। स्वामी

जी का सुधार-कार्य राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र से भिन्न किस्म का था। पहले तीन सज्जनों का मुंह वहुत कुछ योरोप की ओर था, पर स्वामी दयानन्द ने योरोप की ओर पीठ कर रखी थी। राममोहन आदि मानते थे कि सभी धर्मों में सत्य है, वे उन धर्मों के सत्य पर ही जोर देते थे, पर स्वामीजी का मत भिन्न था। वे वैदिक धर्म में ही पूर्ण सत्य का प्रकाश मानते थे, जवकि सब धर्मों को भ्रान्त समझते थे। उनकी लिखी हुई पुस्तक 'सत्यार्थप्रकाश' इस वात का प्रमाण है। मुख्यतः वह पुस्तक दूसरे धर्मों के विरुद्ध के उपादान से पुष्ट है,और इसमें खण्डन का अंश ही प्रधान है। ईसाई-मुसलमान धर्मों के अतिरिक्त उन्होंने १८ पुराण, मूर्तिपूजा, शैव, शाक्त, वैष्णव सम्प्रदाय का भी विरोध किया। स्वामी दयानन्द का अगाध पाण्डित्य एक तलवार की तरह था जिसे वे सब पर चलाने के लिए उत्सुक रहते थे। इनके अनुसार वेदों का युग ही आदर्श युग था।

परमहंस रामकृष्ण, महादेव गोविन्द रानाडे, सैयद अहमदखां सब में हम प्रतिरोध और ग्रहण के विभिन्न उपादनों को मूर्त देखते हैं।

एक हद तक कहा जा सकता है कि भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन पाश्चात्य विशेष कर रूस के निहिलिस्टों और आयरलैण्ड के सिनफिन दल के प्रभाव के कारण था, पर यह वात कहां तक सत्य है? इसमें सन्देह नहीं कि जहां तक तकनीक का सम्बन्ध है भारतीय क्रान्तिकारियों ने रूसी नारोदनिकों से वहुत कुछ सीखा, पर उसमें जो मौलिक संस्कृति-गत पहलू था, यानी हिंसा के द्वारा भी जवर्दस्त हिंसक का प्रतिरोध करना चाहिए तथा लोहा लेना चाहिए, यह किसी प्रकार भी वैदेशिक प्रभाव नहीं था। यदि भारत में अहिंसा के प्रतीक बुद्ध और महावीर हुए तो रामकृष्ण आदि का प्रतीक तथा विचारधारा उससे पुरानी ही है।

अब हम वहुत संक्षेप में इधर के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का उल्लेख कर दें जिसके मुख्य नेता महात्मा गांधी थे। जहां तक संस्कृति के क्षेत्र का प्रश्न है, वह अपने महान भारतीय पूर्ववर्तियों से बिल्कुल अलग इस अर्थ में थे कि उन्होंने बुद्ध और महावीर के धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्त को तालस्ताय द्वारा दर्शाई हुई दिशा में राजनीतिक अस्त्र बना डाला। इसका हमारी संस्कृति पर क्या असर पड़ा, कितना अच्छा असर पड़ा और कितना बुरा, यह अभी अच्छी तरह कूता ही नहीं गया है; पर इसके सामाजिक असर कई क्षेत्रों में वहुत जवर्दस्त हुए। स्त्रियों को घर की चहारदीवारी से निकाल कर आजादी की खुली हवा में रख देना, अछूतों के लिए जवर्दस्त आन्दोलन करना और इस प्रकार सैंकड़ों वर्ष पुरानी जाति-भेद-मूलक वर्णाश्रम पद्धति को चोट पहुंचाने में वह वहुत सफल हुए। इसमें सन्देह नहीं कि विशेषकर छुआ-छूत का कलंक दूर कराकर हमारी संस्कृति को नवजीवन दिलाने में उनका जवर्दस्त हाथ रहा।

यह न समझा जाए कि संस्कृति के क्षेत्र में ग्रहण और प्रतिरोध का यह सिलसिला समाप्त हो गया है। केवल जवाहरलाल-प्रचारित साम्यवाद के कारण ही नहीं, वल्कि वामपक्षी दलों की ओर झुके हुए उपन्यासकारों, कहानीकारों का भी भविष्य समाज के आधार पर गठित करने में वड़ा भारी हाथ है। पर हम तो स्वतन्त्रता-आन्दोलन को छोड़कर समाजवादी आन्दोलन के क्षेत्र में आ गए, पर क्या समाजवाद के विना स्वतन्त्रता को पूर्ण माना जा सकता है? दूसरे शब्दों में समाजवादी भारत की स्थापना का आन्दोलन भी स्वतन्त्रता-आन्दोलन का ही भाग है।

हमारी संस्कृति, स्वतन्त्रता और इस समय चलने वाले समाजवादी आन्दोलन के कारण वहुत वदल चुकी, पर वह और भी वदलेगी; शायद सर्वधर्म-विरोध उसका एक आवश्यक तत्त्व हो जाए क्योंकि भारत में प्रचारित कई वार परस्पर-विरोधी धर्मों के मानने वालों को एक पंक्ति में लाने का शायद ही अपरिहार्य अंग है। इसके अलावा इसमें सामा-जिक शोषण के उन तत्त्वों को भी समाप्त करना पड़ेगा, जिनसे मनुष्य मनुष्य को अछूत मानकर उसका केवल मानसिक ही नहीं, आर्थिक शोषण भी करता है।



हिन्दी-क्षेत्र के प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

वर्तमान हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हिमाचल प्रदेश से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और जैसलमेर से लेकर पूर्व में बिहार की अन्तिम सीमा तक इस प्रदेश का विस्तार है। प्राचीन काल में इस विस्तृत भूभाग में भारतीय राष्ट्रनीति, धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और ललित कलाओं के क्षेत्र में जो उन्नति हुई, उसका पता भारतीय इतिहास की थोड़ी भी जानकारी रखने वालों को है। एक लम्बे समय तक इस प्रदेश के अन्तर्गत पाटलिपुत्र, श्रावस्ती कान्यकुब्ज, थानेश्वर, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी, त्रिपुरी आदि नगर राजनीति के गढ़ रहे, जहां से इस देश के बड़े भागों का प्रशासनिक कार्य नियन्त्रित रहता था। वैदिक काल से लेकर आज तक इस क्षेत्र का राजनीतिक महत्त्व प्रायः अक्षुण्ण रहा है।

राजनीति के अतिरिक्त सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस क्षेत्र का महत्त्व है। सरस्वती, गंगा, यमुना, चम्बल (चर्मण्वती), टोंस (तमसा), नर्मदा आदि नदियों से सिंचित इस भूमि पर हमारे इतिहास के प्राचीनतम काल से भारतीय संस्कृति के विविध अंग पल्लवित-पुष्पित होते रहे। इसका प्रमाण साहित्यिक रचनाओं, पुरातत्त्व के अवशेषों, कलाकृतियों तथा विदेशी यात्रियों के वर्णनों से चलता है। यहां कुछ प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्रों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है, जिनका भारतीय संस्कृति के निर्माण में विशेष योग रहा है।

वर्तमान हिमाचल प्रदेश और पंजाब के कुरुक्षेत्र, थानेश्वर, रोपड़, कांगड़ा और चम्बा स्थान विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम दोनों स्थानों में अभी तक अनुसंधान और उत्खनन का कार्य नहीं किया जा सका। यहां क्रमशः प्रारम्भिक वैदिक सभ्यता तथा पूर्वमध्यकालीन सभ्यता के अवशेष निकलने की पूरी संभावना है। अम्बाला जिले के अंतर्गत रोपड़ नामक स्थान में केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई का जो कार्य हुआ है, उससे जहां एक ओर हड़प्पा, मोंहजोदड़ो की सिन्धु घाटी वाली सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है, वहां आर्य-सभ्यता के भी अनेक अवशेष मिले हैं। इनसे पंजाब के इस भाग की प्राचीन सभ्यता पर बड़ा प्रकाश पड़ा है। १८वीं शती में पंजाब के उत्तर-पूर्वी अंचल में स्थित कांगड़ा घाटी चित्रकला के लिए बहुत प्रसिद्ध हुई। कांगड़ा, गुलेर, बसोली, चम्बा आदि स्थानों में अत्यंत सुन्दर चित्रों का सृजन हुआ। पंजाब के पश्चिमी भाग में विकसित मूर्ति-कला का नाम 'गांधार-कला' प्रसिद्ध है। बुद्ध—बोधिसत्त्व की—सैंकड़ों मूर्तियां इस कला में मिली हैं।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक केन्द्रों की संख्या बहुत बड़ी है। पंचनद प्रदेश से पूर्व दिशा में आगे बढ़ने पर आर्यों ने वर्तमान दिल्ली और उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों को अपना आवास-स्थल बनाया। इनमें से कुछ स्थान धीरे-धीरे बड़े नगरों का रूप ग्रहण करते गए। इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, कान्यकुब्ज (कनौज), अहिच्छत्रा, काम्पिल्य, अयोध्या, श्रावस्ती, प्रयाग, कौशाम्बी, काशी आदि ऐसे ही स्थान थे। प्रारम्भ में आर्य लोगों की दो मुख्य शाखाएं इस प्रदेश में रहीं: एक सूर्यवंश की शाखा जिसका केन्द्र अयोध्या था और दूसरी चन्द्रवंश की, जिसका मुख्य केन्द्र प्रतिष्ठान था। कुछ विद्वान इस प्रतिष्ठान का अभिज्ञान प्रयाग के पास झूसी नामक स्थान से करते हैं। अन्य लोग उसे प्राचीन सरस्वती नदी के तट पर अम्बाला जिले में मानते हैं।

अंतर्वेदी के महान नगर

गंगा-यमुना का दोआबा प्राचीन काल में 'अन्तर्वेदी' के नाम से प्रसिद्ध था। इस भूभाग में भारतीय संस्कृति के अनेक बड़े केन्द्र थे। चन्द्रवंश और उसकी कई मुख्य शाखाओं का विस्तार यहां हुआ। यहां के दो मुख्य प्रदेश—ब्रह्मावर्त तथा ब्रह्मर्षि देश—आदर्श रूप में माने जाते थे। अन्तर्वेदी में स्थित हस्तिनापुर नगर कुरु राज्य की राजधानी था। इस नगर के भग्नावशेषों की खुदाई करने से प्राचीनतम वस्ती का पता चला है, जो ईस्वी-पूर्व १००० से पहले यहां थी। दूसरी वस्ती ई० पूर्व ६०० के लगभग बसाई गई और मौर्यकाल तक आबाद रही। तीसरी वस्ती का पता शुंगकाल से लेकर कुषाणकाल के अन्त तक चला है। अन्तिम वस्ती के प्रमाण ग्यारहवीं से चौदहवीं शती तक मिलते हैं। दूसरा प्रसिद्ध नगर हरिद्वार है। इसका पुराना नाम 'मायापुर' था। हरिद्वार और कनखल से गुप्त एवं मध्यकाल की अनेक हिन्दू मूर्तियां मिली हैं। तीसरा मुख्य नगर मथुरा था। इस नगर की गणना सप्त महापुरियों में की जाती है। भगवान कृष्ण का जन्म-स्थान और उनकी लीलाभूमि होने के अतिरिक्त मथुरा नगर धर्म, कला, भाषा और साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र बना। ई० पूर्व चौथी शती से लेकर १२वीं शती तक यहां मूर्ति-कला तथा स्थापत्य का विकास होता रहा। जैन, बौद्ध तथा हिन्दू, इन तीनों प्रधान धर्मों ने मथुरा की पावन भूमि में बड़ी उन्नति प्राप्त की। इन धर्मों से सम्बन्धित कई हजार मूर्तियां अब तक मथुरा नगर और उसके आसपास से मिल चुकी हैं। मूर्तरूप में भगवान् बुद्ध का पूजन मथुरा से ही प्रारम्भ हुआ माना जाता है। अनेक हिन्दू देवी-देवताओं तथा जैन-तीर्थंकरों की प्रतिमाओं का निर्माण भी यहीं से आरंभ हुआ। कुषाण-काल में मूर्तियों का निर्माण सबसे अधिक हुआ। मथुरा की गुप्तकालीन मूर्तियों में अध्यात्म और सौंदर्य का अभूतपूर्व समन्वय देखने को मिलता है। मथुरा के कलाकारों ने पाषाण और मिट्टी की कितनी ही ऐसी कलाकृतियों का निर्माण किया जिनमें प्राचीन लोक-जीवन की झांकी मिलती है। अकबर और जहांगीर के समय में मथुरा-वृन्दावन में अनेक विशाल हिन्दू मंदिरों का निर्माण हुआ।

अन्तर्वेदी का अन्य महत्त्वपूर्ण नगर कनौज था। पुष्यभूति वंश के सम्राट हर्षवर्धन के समय से इस नगर की बड़ी उन्नति हुई। चीनी यात्री हुएनसांग ने इस नगर की समृद्धि का वर्णन विस्तार से किया है। इससे ज्ञात होता है कि सातवीं शती में कनौज में कई सौ बौद्ध-संघाराम थे। हर्ष ने यहां पर बहुसंख्यक स्तूप बनवाए थे। नगर में उस समय कई सौ देव-मंदिर भी थे। हर्ष के बाद गुर्जर-प्रतिहार वंश के शासन-काल में भी कनौज में कला की बड़ी उन्नति हुई। यहां से हिन्दू कलाकृतियां बहुत बड़ी संख्या में मिली है, जिन्हें देखने से प्राचीन कलाकारों की प्रतिभा का पता चलता है। अंतर्वेदी में वर्तमान फर्रुखाबाद जिले में कम्पिल तथा संकिसा नामक दो स्थान है। कम्पिल (काम्पिल्य) प्राचीन दक्षिण-पंचाल राज्य की राजधानी था। संकिसा (संकाश्य) वह स्थान है जहां बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार, भगवान बुद्ध स्वर्ग में माता मायादेवी को उपदेश देने के बाद ब्रह्मा और इन्द्र के साथ अवतरित हुए थे। बौद्धों के प्रमुख तीर्थों में संकिसा की गणना है। यहां से पाषाण और मिट्टी की पुरानी मूर्तियां, मुद्राएं आदि बड़ी संख्या में मिली हैं।

गंगा-यमुना के संगम पर बसा हुआ प्रयाग नगर भारत का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। भारद्वाज मुनि का आश्रम तथा प्राचीन अक्षयवट यहीं माना जाता है। प्रयाग में संगम पर सम्राट अकबर ने एक मजबूत किला बनवाया। इसके अन्दर मौर्य-सम्राट अशोक का स्तम्भ है, जिस पर गुप्तवंशी शासक समुद्रगुप्त का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। इसी स्तम्भ पर अशोक की रानी तथा बीरबल और जहांगीर के लेख भी खुदे हैं। प्रयाग से ३७ मील पश्चिम-दक्षिण यमुना के किनारे कोसम नामक गांव है। यहां भारत की प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी कौशाम्बी बसी हुई थी। यह वत्स देश की राजधानी थी। महात्मा बुद्ध के समय वहां का राजा उदयन था, जिसने अवंती की राजकुमारी वासवदत्ता से विवाह किया। भगवान बुद्ध के सम्मान में कौशाम्बी में कुक्कुटाराम, घोषिताराम आदि अनेक विहारों का निर्माण कराया गया। अशोक ने अपना एक स्तम्भ-लेख यहां लगवाया। कौशाम्बी की खुदाई से शुंग-काल से लेकर गुप्तकाल तक के प्राचीन अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं।

अन्तर्वेदी में ही आगरा नगर है। मुगल शासन-काल में आगरा और उससे चौबीस मील दूर फतेहपुर-सीकरी में अनेक प्रसिद्ध इमारतों का निर्माण हुआ। अकबर, जहांगीर और शाहजहां का शासन-काल इन इमारतों के लिए

महत्त्वपूर्ण है। आगरा में लाल किला, ताजमहल, एतमादुद्दौला का मकबरा तथा फतेहपुर-सीकरी में जामा मस्जिद, शेख सलीम चिश्ती की दरगाह, जोधाबाई का महल और बुलन्द दरवाजा उल्लेखनीय इमारतें हैं।

कोसल-काशी

गंगा और सरयू के बीच का विस्तृत खंड भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का है। प्राचीन काल में पंचाल, अयोध्या तथा काशी राज्य इसी प्रदेश में थे। अहिच्छत्रा, अयोध्या और वाराणसी क्रमशः इन राज्यों की राजधानियां थीं। अहिच्छत्रा नगर के अवशेष बरेली जिले में रामनगर गांव के समीप टीलों के रूप में बिखरे हैं। वैदिक साहित्य, महाभारत तथा पुराणों के अनुसार यह नगर उत्तर पंचाल की राजधानी था। राजा द्रुपद को परास्त करने के बाद द्रोणाचार्य ने उत्तर पंचाल को अपने अधिकार में कर लिया था। मौर्यकाल के बाद यहां मित्रवंश के अनेक राजाओं ने राज्य किया, जिनके सिक्के अहिच्छत्रा में सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं। उत्खनन से पाषाण और मिट्टी की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियां यहां मिली हैं। मिट्टी की गुप्तकालीन मूर्तियों में पार्वती, शिव तथा अन्य देवों आदि की मूर्तियां दर्शनीय हैं। कई पुराने शिलालेख भी यहां से मिले हैं।

अयोध्या नगरी की गणना भारत की सात महापुरियों में की जाती है। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की यह नगरी बहुत समय तक राजधानी रही। भगवान् श्रीराम का जन्म-स्थान यहीं माना जाता है। अयोध्या का राज्य कोसल कहलाता था। शुंग-वंश के प्रथम शासक पुष्पमित्र का एक शिलालेख अयोध्या में मिला है।

वाराणसी या काशी की गणना भारत के प्राचीनतम नगरों में की जाती है। ऐतिहासिक काल में कोशल तथा काशी राज्यों के बीच बहुत समय तक कशमकश चलती रही। अन्त में काशी, कोशल राज्य का अंग हो गया। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि वाराणसी नगर व्यवसाय और व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। उत्तर तथा मध्य भारत के सभी मुख्य नगरों से उसका सम्बन्ध व्यापारिक मार्गों द्वारा था। शिक्षा-केन्द्र के रूप में काशी का विशेष महत्त्व है। यहां संस्कृत-शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है, जहां वेद, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, काव्य आदि का अध्ययन होता था। काशी के समीप राजघाट नामक स्थान से शुंगकाल से लेकर मध्यकाल तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें गुप्तकाल की सैकड़ों मृण्मूर्तियां और मुहरें हैं। गंगा और वरुणा के संगम पर स्थित आदिकेशव-घाट तथा मन्दिर महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। इनका उल्लेख गाहड़वाल शासकों के ताम्र-पत्रों में मिलता है, जो काशी और उसके पास कमौली नामक स्थान से मिले हैं। काशी से ५–६ मील उत्तर सारनाथ एक प्रख्यात बौद्ध केन्द्र है। बुद्धगया में ज्ञान-सम्प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध ने सबसे पहले सारनाथ (मृगदाव) में अपना धर्मोपदेश किया। अपने जीवन में वे यहां बहुत समय तक रहे। सम्राट अशोक ने यहां एक बड़ा स्तूप बनवाया, जिसमें भगवान् के कुछ अवशेष सुरक्षित किए गए। पास में ही अशोक ने एक बड़ा स्तम्भ लगवाया। अशोक के बाद सारनाथ में स्तूप, मन्दिर और विहार बनवाने की परम्परा जारी रही। इनमें से चौखंडी, धमेख और मर्मराजिका स्तूपों के भग्नांश अब भी देखे जा सकते हैं। खुदाई में अनेक प्राचीन विहारों और मन्दिरों के खंडहर निकले हैं। साथ ही बुद्ध और बोधिसत्त्व मूर्तियां, जातककथाओं से चित्रित शिलापट्ट तथा विभिन्न इमारती पत्थर बड़ी संख्या में सारनाथ में मिले हैं। इनमें अशोककालीन सिंह-शीर्ष विशेष उल्लेखनीय है। मध्यकालीन वज्रयान-सम्बन्धी बौद्ध मूर्तियां भी यहां मिली हैं।

गंगा-सरयू के बीच वाले प्रदेश में जौनपुर तथा लखनऊ भी उल्लेखनीय नगर हैं। जौनपुर में १४-१५वीं शती में अनेक भग्न इमारतें बनीं, जिनकी कला शर्की-स्थापत्य नाम से प्रसिद्ध है। लखनऊ अवध के नवाबों का केन्द्र था। १७२० ई० से लेकर १८५६ ई० तक यहां नवाबी शासन रहा। उनके समय में विशाल इमारतों के निर्माण के साथ संगीत और नृत्य की बड़ी उन्नति हुई।

सरयू के पारवर्ती प्रदेश में श्रावस्ती एवं कुशी नगर नामक दो मुख्य प्राचीन स्थान हैं। विस्तृत कोशल राज्य के दो भाग हो जाने पर उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती हुई थी। यह स्थान आजकल गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर 'सहेत-महेत' नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध और जैन-साहित्य में इसका नाम 'सावत्थी' मिलता है। महात्मा बुद्ध ने

अपने पचीस वर्षाकाल यहीं व्यतीत किए। श्रावस्ती के समृद्ध सेठ अनाथपिंडक ने नगर के राजकुमार जेत से जेतवन नामक एक उद्यान खरीदा जिसमें उसने जेतवन-विहार नामक सुंदर मठ का निर्माण कराया। चीनी यात्री हुएनसांग ने इसका विस्तृत वर्णन लिखा है। जैन तीर्थंकर संभवनाथ तथा चन्द्रप्रभु स्वामी के जन्म श्रावस्ती में माने जाते हैं। यहां की खुदाई से मूर्तियों, अभिलेखों और सिक्कों के रूप में कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। दूसरा प्रमुख स्थान कुशीनगर है जो देवरिया जिले में वर्तमान कसिया नगर के पास स्थित है। यहां भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था। पुराने टीलों की खुदाई करते समय यहां प्राचीन निर्वाण-स्तूप मिला था। गुप्त-काल तथा मध्यकाल के कई विहार और मंदिर भी प्रकाश में आए। यहां की सबसे अधिक उल्लेखनीय वस्तु भगवान् बुद्ध की लेटी हुई विशाल मूर्ति है, जिसका निर्माण गुप्त-काल में हुआ था।

बुन्देलखण्ड की कला

यमुना के दक्षिण का भाग बुन्देलखण्ड कहलाता है। गुप्तकाल तथा चन्देल शासनकाल में इस प्रदेश में कई स्थानों में मन्दिरों का निर्माण हुआ। झांसी जिले में ललितपुर से लगभग २३ मील पश्चिम देवगढ़ नामक स्थान है, जहां गुप्तकाल में 'दशावतार' नामक विष्णु-मन्दिर का निर्माण हुआ। इसके द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना का आकर्षक आलेखन है। मन्दिर की बाहरी दीवालों पर कई शिलापट्ट लगे हैं, जिन पर नर-नारायण, गजेन्द्र-मोक्ष, शेषशायी विष्णु आदि का चित्रण अत्यन्त कलात्मक ढंग से किया गया है। रामायण तथा कृष्ण-लीला के भी दृश्य यहां बड़ी संख्या में मिले हैं। जालौन जिला में यमुना-तट पर कालपी नामक नगर बसा है। जनश्रुति के अनुसार महर्षि व्यास का यहां पर निवास रहा। चन्देल राजाओं के मुख्य केन्द्रों में से एक कालपी भी था। चन्देलों के अन्य गढ़ महोबा और कालिंजर थे। महोबा में इन शासकों द्वारा निर्मित अनेक बड़े सरोवर विद्यमान हैं। हिन्दू तथा बौद्ध कलाकृतियां भी यहां मिली हैं। कालिंजर भारत के प्रसिद्ध पहाड़ी दुर्गों में से एक है। इसकी गणना अभेद्य दुर्गों में की जाती थी। चन्देलों के कई महत्त्वपूर्ण शिलालेख और बहुसंख्यक मूर्तियां यहां मिली हैं।

बिहार की विभूतियां

बिहार प्रदेश में पाटलिपुत्र (पटना) उत्तर भारत की राजधानी के रूप में कई शताब्दियों तक प्रख्यात रहा। पटना के समीप कुमरहार नामक स्थान की हाल में खुदाई हुई है, जिससे प्राचीन मौर्यकालीन इमारतों का पता चला है। सम्राट चन्द्रगुप्त के महल यथा अशोक के ओपदार स्तम्भों के अवशेष इस खुदाई में मिले हैं। मौर्य और शुंग-कालीन मिट्टी की मूर्तियां भी बड़ी संख्या में पटना और उसके आसपास से मिली हैं। कला की दृष्टि से मिट्टी की अनेक मूर्तियां उच्च कोटि की हैं। पटना और उसके समीपवर्ती स्थानों से यक्ष-यक्षिणियों की भी अनेक काय-परिमाण मूर्तियां मिली हैं, जिन पर अशोक के समय का ओप मिलता है। यक्षों की दो विशाल मूर्तियां कलकत्ता संग्रहालय में हैं। पटना के समीप दीदारगंज नामक स्थान से चंवरधारिणी स्त्री की एक अद्वितीय प्रतिमा मिली है जो पटना संग्रहालय में है।

पाटलिपुत्र के पहले मगध की राजधानी गिरिव्रज थी, जिसे आजकल 'राजगृह' कहते हैं। यहां जो नगर-दीवाल मिली है वह भारत में अब तक प्राप्त दीवालों में सबसे पुरानी है। राजगृह के विस्तृत भाग में प्राचीन अभिलेख तथा मूर्तियां दर्शनीय हैं। मगध के प्रसिद्ध दो राजाओं—बृहद्रथ तथा जरासंध—के समय राजगृह की बड़ी उन्नति हुई।

गया तथा बुद्धगया नामक स्थान भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। गया जिले में 'बराबर' नामक पहाड़ियों में मौर्य सम्राट् अशोक और उसके वंशज दशरथ ने आजीवक साधुओं के लिए अनेक गुफाओं का निर्माण कराया। इन गुफाओं में तत्कालीन ब्राह्मी-लेख हैं। गया में मध्यकालीन हिन्दू मन्दिर और प्रतिमाएं बहुत बड़ी संख्या में निर्मित हुई। गया से चार मील दूर बुद्धगया बौद्ध-धर्म के मुख्य केन्द्रों में से है। यहां पर बोधिवृक्ष के नीचे गौतम को सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हुई। अशोक और उसके बाद बुद्धगया में जिन कृतियों का निर्माण हुआ, उनके कुछ अवशेष अब भी यहां सुरक्षित हैं। शुंगकालीन वेदिका, गुप्त एवं मध्यकाल की मूर्तियां तथा बोधिमन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। गया जिले में कुर्किहार नामक स्थान पाल-राजाओं के शासन-काल में बौद्ध-कला का केन्द्र बना। यहां से धातु की बनी हुई कई सौ बौद्ध प्रति-

माएं प्राप्त हुई हैं। इनमें से अधिकांश अब पटना संग्रहालय में हैं।

विहार प्रान्त का नालन्दा नगर प्राचीन राजगृह के पास ही स्थित था। यहां के प्रख्यात विश्वविद्यालय में दस सहस्र के लगभग विद्यार्थी पढ़ते थे। यहां खुदाई करने से प्राचीन विश्वविद्यालय के खंडहर निकले हैं। साथ ही प्रतिमाओं, लेखों तथा दैनिक जीवन-सम्बन्धी सामग्री के रूप में प्राप्त अवशेषों से प्राचीन जीवन-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दूसरा पुराना विश्वविद्यालय विक्रमशिला विहार के पूर्वी अंचल में स्थित था।

विहार का अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान वैशाली था, जो इस समय मुज़फ्फरपुर जिले में है। वह नगर प्रसिद्ध लिच्छवि गणतन्त्र की राजधानी थी। लिच्छवियों के अतिरिक्त विदेह तथा ज्ञात्रिक जनपद भी विहार में ही स्थित थे। विदेहों की राजधानी मिथिला नगरी प्राचीन काल में ब्रह्मविद्या के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी। कालान्तर में भी संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन के लिए उसकी बड़ी ख्याति रही। ज्ञात्रिकों के वंश में ही जैनधर्म के प्रसिद्ध तीर्थंकर भगवान् महावीर का जन्म हुआ। प्राचीन अंग राज्य की राजधानी चम्पानगरी भागलपुर जिले में स्थित थी। वाणिज्य और व्यवसाय के लिए यह नगरी बहुत प्रसिद्ध थी। यहां से बंगाल की खाड़ी (महोदधि) तक जल-यातायात था।

राजस्थान की चित्रकला

वर्तमान राजस्थान के भी अनेक नगरों में भारतीय संस्कृति का विकास हुआ। चित्तौड़ के पास प्राचीन माध्यमिका नगरी थी जहां से प्राप्त मौर्यकालीन शिलालेख से राजस्थान के इस भाग में वैष्णव धर्म के प्रचलन का पता चलता है। प्राचीन मत्स्य जनपद की राजधानी विराट् नगरी थी, जो वैराट नाम से वर्तमान जयपुर के अन्तर्गत है। इस नगर की खुदाई से इस ओर की प्राचीन सभ्यता का पता चला है। राजस्थान में पुष्कर, आबू, नाथद्वारा, कांकरोली आदि प्रसिद्ध तीर्थ हैं। अन्तिम दोनों स्थान उदयपुर में हैं और वैष्णवों के वल्लभ-सम्प्रदाय के मुख्य केन्द्र हैं। नाथद्वारा में श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध मूर्ति है। आबू जैन धर्म का मुख्य तीर्थ है। वहां ग्यारहवीं से तेरहवीं शती तक भव्य जैन-मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें से कई मन्दिर केवल संगमरमर के बने हैं। जोधपुर के पास ओसिया के मध्यकालीन मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान चित्रकला के विकास के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। यहां के विभिन्न रजवाड़ों में चित्रकला का विकास मुग़लकाल और उसके बाद होता रहा। नाथद्वारा, किशनगढ़, बूंदी, कोटा, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर आदि स्थानों में राजस्थानी चित्रकला की सैकड़ों कृतियां प्राप्त हुई हैं। इनमें बहुत से चित्रित ग्रन्थ तथा चित्रपट भी हैं।

मध्यप्रदेश का स्थापत्य व शिल्प

वर्तमान मध्यप्रदेश के तीन मुख्य भाग हैं—विन्ध्यप्रदेश, मध्यभारत तथा महाकोशल। विन्ध्यप्रदेश में सबसे प्राचीन ऐतिहासिक स्थान भारहुत मिला है, जिसमें ई० पूर्व दूसरी शती में एक विशाल बौद्ध-स्तूप का निर्माण हुआ। इस स्तूप के प्राप्त भग्नावशेषों से तत्कालीन लोक-जीवन की मनोरंजक झांकी मिलती है। जातक-कथाओं से युक्त कलावशेष यहां बड़ी संख्या में मिले हैं। इनमें से अधिकांश पर अभिलेख हैं। विन्ध्यप्रदेश का दूसरा मुख्य स्थान नचना-कुठारा है। इसके समीप ही भुमरा नामक स्थान है। यहां गुप्तकाल में जो शैव मन्दिर बने उनके कुछ भग्नावशेष मिले हैं। इनकी कला उत्कृष्ट कोटि की है। पन्ना जिले में अजयगढ़ नामक स्थान चन्देल शासकों का गढ़ था जहां अनेक चन्देल शिलालेख मिले हैं। शहडोल जिले में बान्धवगढ़ नामक स्थान है, जहां तीसरी-चौथी शती में राज्य करने वाले मघ शासकों के अभिलेख तथा सिक्के आदि बड़ी संख्या में मिले हैं।

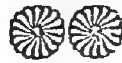
विन्ध्यप्रदेश में ही खजुराहो है। चन्देलों ने इस नगर को अपना केन्द्र बनाया। उनके शासन-काल में यहां अनेक भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ। कला की दृष्टि से ये मन्दिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मध्यकालीन धर्म और समाज की स्थिति का पता उन बहुसंख्यक मूर्तियों से चलता है जो इन मन्दिरों पर उत्कीर्ण हैं। यहां के कारीगरों ने सौन्दर्य और शृंगार के विविध उपकरणों को शाश्वत रूप प्रदान कर दिया है।

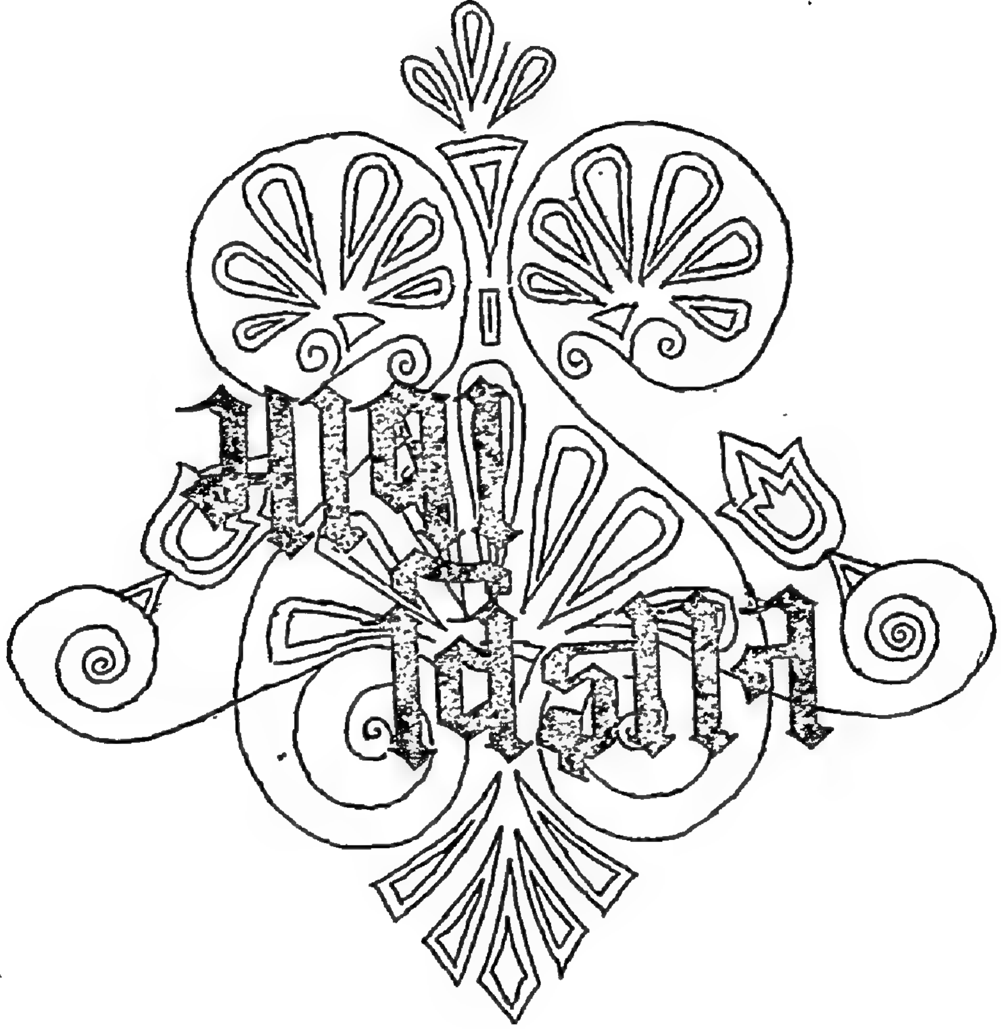
मध्यभारत में महेश्वर, उज्जयिनी, विदिशा, सांची, पद्मावती, मंदसौर, उदयपुर आदि कितने ही महत्त्व-

पूर्ण स्थान हैं, जहां भारतीय संस्कृति अपने विविध रूपों में विकसित हुई। नर्मदा के तट पर स्थित महेश्वर नगर यादवों की हैहय शाखा का एक केन्द्र था। यहां हाल में की गई खुदाई से प्रागैतिहासिक सभ्यता का पता चला है और ज्ञात हुआ है कि ईरान के साथ इस प्रदेश का सम्बन्ध था। उज्जयिनी का नाम भारतीय साहित्य और पुरातत्त्व में अमर है। धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में नहीं, व्यावसायिक क्षेत्र में भी उज्जयिनी की प्रसिद्धि थी। भारत के प्राचीन राजमार्ग उज्जयिनी से होकर जाते थे। यहां के धनी नागरिक धार्मिक कार्यों में कितना भाग लेते थे, इसका पता सांची आदि स्थानों में प्राप्त अभिलेखों से मिलता है। उज्जयिनी के समान ही विदिशा की प्रसिद्धि थी। वहां अनेक व्यवसाय उन्नति पर थे। सांची स्तूप के निर्माण में विदिशा के धनिकों का बड़ा योग रहा। विदिशा शृंगार और विलास की नगरी थी। महाकवि कालिदास ने उज्जयिनी की तरह इसके वैभव का भी वर्णन किया है।

विदिशा के समीप सांची के जिन स्तूपों का निर्माण शुंग-सातवाहन काल में हुआ, वे प्राचीन भारतीय स्थापत्य के गौरवशाली उदाहरण हैं। तत्कालीन भारत में जीवन के प्रति जो मान्यताएं थीं उनका सच्चा दिग्दर्शन सांची में मिलता है। विदिशा के पास ही उदयगिरि नामक पहाड़ियों में गुप्तकाल में अनेक कलापूर्ण कृतियों का निर्माण हुआ। पृथिवी का उद्धार करते हुए वाराह भगवान् की एक प्रभावोत्पादक मूर्ति यहां विद्यमान है। मध्यभारत के उत्तरी भाग में पद्मावती (वर्तमान पवाया) नागवंशी राजाओं की राजधानी थी। नाग-प्रतिमाओं के अतिरिक्त माणिभद्रयक्ष की एक अभिलिखित मूर्ति यहां मिली है। गुप्तकालीन मिट्टी की बनी हुई अनेक सुन्दर मूर्तियां भी यहां मिली हैं। आधुनिक मंदसौर का प्राचीन नाम 'दशपुर' था, जहां गुप्तकाल में सूर्य का एक बड़ा मन्दिर था। दशपुर में रेशम के बारीक कपड़ों का व्यवसाय उन्नति पर था। यशोधर्मा नामक शासक के विशाल विजय-स्तम्भ मंदसौर में आज भी सुरक्षित हैं। ये इस शासक के द्वारा हूणवंशी मिहिरकुल पर विजय-प्राप्ति के सूचक हैं। मध्यभारत में सुहानियां, पद्मावली, ग्यारसपुर, ग्वालियर, उदयपुर, धार, मांडू आदि स्थान मध्यकाल में बहुत प्रसिद्ध थे। इनसे मिले हुए अनेक प्राचीन अवशेष आज भी प्राचीन गौरव के साक्षी हैं। इनसे मध्यकालीन शैव, वैष्णव तथा जैन धर्मों के विकास का पता चलता है। धार और मांडू में मुस्लिम वास्तु के कुछ दर्शनीय उदाहरण हैं।

महाकौशल का भूभाग गुप्तकाल और उसके बाद इतिहास में प्रसिद्ध था। सागर ज़िले में एरण नामक स्थान गुप्तकाल में एक बड़ा नगर था। यहां सम्राट् समुद्रगुप्त का एक लेख मिला है। इसके अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण लेख यहां प्राप्त हुए हैं। गुप्तकालीन विष्णु-मन्दिर के अवशेष आज भी यहां सुरक्षित हैं। जबलपुर ज़िले में त्रिपुरी नामक स्थान प्राचीन चेदि राज्य की राजधानी थी। मौर्यकाल से लेकर १२वीं शती तक के अवशेष यहां बड़े परिमाण में मिले हैं। इस नगर के टीले कई मील के विस्तार में फैले हैं, जिनसे प्राचीन शहर के विस्तार का पता चलता है। रायपुर ज़िले का सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) नामक नगर बौद्ध तथा शैव धर्मों का प्रमुख केन्द्र था। यह बहुत समय तक महाकोशल की राजधानी रहा। महाकोशल में राजिम, करीतलाई, अमरकण्टक, रतनपुर, पाली, जांजगीर आदि स्थान मध्यकाल में धर्म और कला के केन्द्र थे। इन स्थानों में अब भी अनेक भग्नावशिष्ट मन्दिर विद्यमान हैं और भारतीय संस्कृति का मूर्त रूप व्यक्त करते हैं।





सम्पादक—

बाबूराम सक्सेना

भोलानाथ तिवारी

सम्पादकीय

मुझसे जब प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के भाषा-खंड का सम्पादन करने के लिए कहा गया तो मैंने इस भार को सहर्ष और सधन्यवाद स्वीकार कर लिया क्योंकि श्रद्धेय टंडन जी की प्रत्यक्ष या परोक्ष सेवा में जिस सन्तोष का आनन्द मिलता है वह निश्चय ही अग्निहोत्र आदि देव-पूजा से प्राप्त आनन्द से किसी प्रकार कम नहीं।

श्रद्धेय बाबूजी का जीवन त्याग और तपस्या कर अनुपम उदाहरण है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य-भार से मैं उनके निकट सम्पर्क में आया और वह मुझे सर्वथा विश्वसनीय समझ सके, यह मेरे लिए सौभाग्य की बात हो गई। मैंने उनके पास बैठकर बहुत कुछ सीखा है। यह कुछ बातों से स्पष्ट हो जाएगा।

प्रथम कांग्रेसी सरकार (१९३७–३९) के बनने के कुछ महीने बाद ही यह निश्चय हुआ कि सम्मेलन, श्री सम्पूर्णानन्द जी, प्रान्तीय शिक्षा-मन्त्री, का स्वागत करे और मानपत्र भेंट करे। मैं सम्मेलन का प्रधानमन्त्री था और बाबूजी की आज्ञा से मैंने मान-पत्र का मसौदा बनाया, उन्होंने अनुमति देकर कहा कि छपने दे दीजिए। उस समय सम्मेलन-मुद्रणालय का अस्तित्व न था, पड़ोस के कृष्ण प्रेस में मैंने छपने भेज दिया। सभा का समय ६ बजे सायंकाल नियत था। उससे दस-पन्द्रह मिनट पूर्व तक उस छोटे से मान-पत्र का बाबूजी शुद्धीकरण करते रहे। मैं कांप रहा था कि यदि समय पर न आ पाया तो क्या होगा, पर बाबूजी को इसकी चिन्ता न थी। उनका एक ही ध्येय था कि मान-पत्र सर्वथा दोष-रहित होना चाहिए। वह दोष को सहन नहीं कर सकते।

शिमला-अधिवेशन से हम लोग लौट रहे थे। स्वामी केशवानन्द का आग्रह था कि श्रद्धेय टंडन जी अबोहर का हिन्दी-केन्द्र देखकर जाएं। उनको फ़ुर्सत नहीं थी। मुझे आदेश दिया कि आप जाइए। आज्ञा का पालन करना था। साथ चले, एक स्टेशन पर मुझे दूसरी गाड़ी में बैठकर जाना था। इस बीच उन्होंने दो-तीन चिट्ठियां मुझसे लिखवाईं। मैं आशा करता था कि वह एक नज़र से देखकर हस्ताक्षर कर देंगे, पर ऐसा नहीं हुआ। कई जगह वाक्य-विन्यास बदला, मेरे वर्णों की आकृति जहां-तहां ठीक की और तब हस्ताक्षर किए। कितनी भी जल्दी हो, वह बिना पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हुए, सही नहीं करते। ब्यौरे के बारे में इतना सचेत और जागरूक मैंने दूसरा व्यक्ति नहीं देखा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन आरंभ से ही उनका प्राण-स्वरूप रहा है। उसकी प्रतिष्ठा को वह अपनी प्रतिष्ठा और उसकी निन्दा को अपनी निन्दा समझते रहे हैं। उसके मान

और गौरव के लिए वह अपने व्यक्तित्व को त्याग चुके हैं। सम्मेलन की स्थायी समिति ने यह निश्चय किया था कि सम्मेलन का २५ वर्ष का इतिहास लिखाया जाए। एक सज्जन को प्रारूप तैयार करने के लिए रुपये पेशगी दिए गए। उन्होंने न कार्य करके दिया और न रुपये ही वापस किए। एक दूसरे महोदय ने पारिभाषिक शब्दावली तैयार कराने का ज़िम्मा लिया और स्थायी समिति को आश्वासन दिया कि उनको १००) आरंभिक व्यय के लिए दिए जाएं, शेष वह उगाह लेंगे। दिए गए। वर्षान्त तक न उन्होंने कोई काम किया और न उस रकम का हिसाब दिया। पत्रों का उत्तर ही न देते थे। ऊपर वाली रकम की तरह, इस रकम को भी स्थायी समिति ने बट्टेखाते में डालने का निश्चय किया। वार्षिक विवरण में मैंने अपने (प्रधान मन्त्री के) निवेदन में इन दोनों बातों का उल्लेख करके विवरण छपवा डाला। वार्षिक अधिवेशन को जाने के लिए हम लोग तैयार थे कि बाबूजी मेरे घर पर आए और मुझसे कहा कि "उपर्युक्त उल्लेख विवरण से निकाल दीजिए।" मैंने पूछा कि बाबूजी, क्या यह बात जो मैंने लिखी है वह झूठ है। बोले, "नहीं, अक्षरशः सत्य है। पर संस्था बदनाम होगी। लोग यही कहेंगे कि सम्मेलन में इस तरह अपव्यय होता है।" ये वही बाबूजी थे जो सम्मेलन में चार आने, आठ आने के व्यय को भी कसते थे! मैंने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। प्रधान मन्त्री का निवेदन उक्त उल्लेख को निकालकर फिर से छापकर वार्षिक विवरण में लगाया गया।

इसी प्रकार १९४८ के दिसम्बर में सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। जो लोग उसके पदाधिकारियों में बाद को चुने गए वे छिपे-छिपे यह प्रचार कर रहे थे कि परीक्षा-मन्त्री ने कई हज़ार रुपये खा लिए हैं। मैं उस समय कार्यवाहक उपसभापति था और मैं जानता था कि यह प्रचार सर्वथा निर्मूल और चुनाव जीतने के लिए किया गया मिथ्या आरोप है। परीक्षा-मन्त्री भी श्रद्धेय बाबूजी के स्वजन आत्मीय थे। मैंने बाबूजी से कहा कि 'बाबूजी, मैं भरी सभा में इस मिथ्या आरोप का खंडन करूँगा और विरोधी पक्ष को प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए ललकारूंगा।' बाबूजी ने तुरन्त आग्रहपूर्वक मना किया और बोले, "सक्सेनाजी, मुझे इन बातों का आपसे अधिक अनुभव है। हमारा समाज सत्यान्वेषण नहीं करता। बात बढ़ाने से बात और अधिक फैलेगी और अन्ततः सम्मेलन की ही हानि होगी। आप कुछ न कहिए।" उनकी आज्ञा से, मुझे क्रोध का घूँट पी जाना पड़ा और मैंने चुप्पी साध ली।

एक बार मुझसे बाबूजी ने कहा कि "आप खादी ही पहनने का व्रत ले लीजिए।" इस प्रस्ताव से, संभव है, बाद में मुझे कांग्रेस में ले जाने की इच्छा रही हो। मैंने उत्तर दिया कि, "मैं अधिकांश खादी ही पहनता हूं, पर जब तक कुटुम्ब-भर को न पहना सकूं तब तक कैसे बद्ध-वचन हो सकता हूं और खादी महंगी बहुत पड़ती है।" उनका उत्तर सुनकर मैं रोमांचित हो गया। उन्होंने कहा, "नहीं, महंगी नहीं पड़ती। साबुन से धोने का अभ्यास कर लेने से थोड़ी-सी धोतियां रखने से काम चल जाता है। कुर्ते पीठ के ऊपरी हिस्से पर अधिक ज़ोर पड़ने से फटते हैं इसलिए उस भाग को दुहरे कपड़े से सिलाना चाहिए। और

धोती बीच से फटती है, तब उसकी दो लुङ्गियां कर लेता हूं। लुङ्गियां फटने लगें तो उनके अंगोछे हो जाते हैं। और अन्त में अंगोछों के रूमाल। मैं तो भाई, इसी क्रम से कपड़ा इस्तेमाल करता हूं।"

आज दिल्ली या प्रादेशिक राजधानियों में दिन में भी दीपक लेकर तलाश कीजिए तो इस कैंड़े का लोक-नेता नहीं मिलेगा! राष्ट्र का दुर्भाग्य कि इनकी सेवाओं का पूरा लाभ न उठाया जा सका!

मैं तो अपना सौभाग्य समझता हूं कि ऐसे महापुरुष के सम्पर्क में आया और अपनी योग्यतानुसार उनसे कुछ सीख सका।

× × ×

प्रस्तुत खंड में पंद्रह लेख जा रहे हैं। इनको प्राप्त करने का सारा श्रेय मेरे सहयोगी डा० भोलानाथ तिवारी को है। मैंने लेखों को देख लिया है, कई प्रकार से प्रस्तुत सामग्री उपादेय, संग्रहणीय और बहुमूल्य है। सम्पादन में डा० तिवारी के अतिरिक्त मेरे विभागीय सहयोगी श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने भी मदद की है। मैं इन दोनों का कृतज्ञ हूं।



हिन्दी के कोश और कोशशास्त्र के सिद्धांत

डा० हेमचन्द्र जोशी, डी० लिट्०

यास्काचार्य का निघंटु प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा (वैदिक) का पहला कोश है। इसके साथ यास्क ने निरुक्त देना भी उचित समझा। निरुक्त का अर्थ है किसी शब्द पर निःशेष कहना। खड़ी बोली में निरुक्त का पर्याय व्युत्पत्ति है। हम जानते ही हैं कि **वराह** 'जंगली सूअर' को कहते हैं; पर यह नहीं जानते कि यह नाम क्यों और कैसे गढ़ा गया। संस्कृत वैयाकरण कहते हैं कि शब्द के भीतर धातु, प्रत्यय और उपसर्ग रहते हैं। धातु नाम भी हो सकता है। इस कारण निरुक्तकार ने बताया कि **वराह** शब्द **वराहार** 'जिसका आहार बहुत है' से निकला। वराह, वराहार का संक्षिप्त रूप है। अब, हमारी बुद्धि पर प्रकाश पड़ा कि अधिक खाने के कारण जंगली सूअर को **वराह** नाम दिया गया। यास्क की उक्त व्युत्पत्ति ने हमारे आगे **वराह** शब्द का मूल-चित्र खींच दिया और उक्त शब्द को विशेष महत्त्व सौंपा तथा उसकी महिमा हमारे मन में जमा दी। सब जानते हैं कि कुछ जंतु बिलों में रहते हैं। बिल, हम सबकी ज़बान पर है; पर हमें पता नहीं कि **बिल** शब्द कहां से आया, कैसे बना और हम इसे **बिल** क्यों कहते हैं? यह शब्द वैदिक काल से चला आया है और आज भी खड़ी बोली में धड़ाधड़ बोला जाता है। इस शब्द पर भी यास्क ने प्रकाश डाला है। उसने बताया है कि **बिल भिद्** 'छेदना, तोड़ना' धातु का एक रूप है। अब हमारी समझ में आया कि शब्द सार्थक है। लंबे और पतले जीव मिट्टी, दीवार आदि भेद कर अपने वास के लिए जिस छेद को तैयार करते हैं, उसका नाम वैदिक जनता ने **बिल** रखा। यहां **भ** का **ब** और **द** का **ल** हो गया है। **बिल** शब्द जनता की बोली से लिया गया होगा। वेदों में जनता की बोली के कुछ रूप आगए हैं। **विकृत का विकट, प्राकृत का प्रकृत, प्रकृत का प्रकट** ऐसे ही शब्द हैं। जो हो, यास्क की निरुक्ति ने इस शब्द के विषय में हमारी ज्ञान की आंखों का परदा उठा दिया। इसकी व्युत्पत्ति से हमें आनंद मिला और पता चल गया कि यह कैसे और कहां से आया? निरुक्त, निघंटु का प्रमुख अंग माना गया। उणादि सूत्र उन शब्दों की व्युत्पत्ति बताने को तैयार किए गए, जिनकी व्युत्पत्ति बनना कठिन था। भले ही, इसकी कई व्युत्पत्तियां हँसी पैदा करने वाली ही क्यों न हों, पर प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा के भाषाशास्त्रियों के लिए महान गौरव और गर्व का स्थान है कि उन्होंने ही संसार में पहले-पहल इस नियम का आविष्कार किया कि कोई भी शब्द अपना अर्थ और व्युत्पत्ति अपने भीतर छिपाकर रखता है। आदि आर्य-भाषा के समय से यह नियम काम करता था। किन्तु इसका आविष्कार प्राचीन भारत के भाषाशास्त्रियों की देन है और आज सभी भाषाशास्त्री इससे लाभ उठा रहे हैं। यह तथ्य सभी भाषाशास्त्री स्वीकार करते हैं।

यूरोप में तीन सौ साल से कोशों में शब्द के साथ उसकी व्युत्पत्ति और अर्थ देने का प्रचलन है। जॉनसन का कोश अठारहवीं सदी के अंत में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रायः सौ वर्ष तक, अंगरेजी भाषा-भाषियों में, धूम रही। इसकी विशेषता थी व्युत्पत्ति और अर्थ की स्पष्टता। जॉनसन ने सारे अंगरेजी साहित्य को छान कर कोश पर हाथ लगाया। उसे अवश्य ही चमकना था। किन्तु किसी भी विषय में प्रगति अबाध और निरंतर होती रहती है। इधर डेढ़ सौ वर्ष से, यूरोप में प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा का प्रगाढ़ और तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है। इससे भाषाशास्त्र और व्युत्पत्ति के विषय में क्रांति हो गई है। जर्मन विद्वान ब्रुगमान, हाल्सफेल्ड क्रूगे, वाकरनागल आदि ने इस क्षेत्र में वह शोध की कि स्वयं प्राचीन भारतीय व्याकरणकार कई स्थलों में अपूर्ण सिद्ध हो गये। इन विद्वानों ने व्युत्पत्ति के मूल तक

पहुंचने का प्रयत्न किया और इसमें बहुत दूर तक सफलता प्राप्त की। क्लूगे ने 'सव्युत्पत्तिक जर्मन कोश' लिखा। इसमें जर्मन शब्दों की व्युत्पत्ति प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा तथा उससे भी प्राचीन आदि-आर्य-भाषा तक पहुंचाई गई। एक शब्द लीजिए; जर्मन में लोमड़ी को **फ़ुख्ज़** कहते हैं। क्लूगे ने खोज से निदान निकाला कि **फ़ुख्ज़** प्राभा (=प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा) के **पुच्छ** से बना है। यह व्युत्पत्ति इस कारण निकली कि सियार की पूंछ नरम और घने बालों की होती है। किसी पदार्थ या जीव की किसी एक विचित्र विशेषता के कारण भी उसका नामकरण किया जाता है। प्राभा० में **रोम-पुच्छक** एक जीव का नाम है। ऋग्वेद में इसका बहुत व्यवहार है। क्या यह जीव लोमड़ी (=लोम 'रोम'-अपभ्रंश प्रत्यय –ड़ी) तो नहीं है? मोनियर विलियम्स ने इस शब्द का अर्थ 'भेड़, सूअर और गिलहरी' दिया है, जिनके विषय में कुछ निश्चित कहा नहीं जा सकता, क्योंकि प्राभा० शब्दों का अर्थ समय के प्रभाव से कुछ का कुछ हो गया है। प्राभा० में **टिड्डी** को **शलभ** कहते थे, प्राकृत (प्रा०) में इसका रूप **सलह** हो गया। कुमाऊंनी बोली में टिड्डी को आज भी **सलों** कहते हैं, पर खड़ी बोली (खबो०) में इसको **टिड्डी** कहते हैं। कम-से-कम डेढ़ हजार वर्ष से मध्य-भारतीय आर्य-भाषाओं में जनता **टिड्डी** को **तेड्ड** कह रही है। देशीप्राकृत (देप्रा०) में यह शब्द मिलता है। गुजराती में इसे **टिड्ड** कहते हैं। इस दृष्टि से सम्भव है कि **रोम-पुच्छक** 'लोमड़ी' ही हो। चंवरी-गाय का नाम भी **रोम-पुच्छक** है। इन तथा इनके अतिरिक्त और अनेक प्रमाणों से महापंडित क्लूगे ने निदान निकाला है कि प्राभा० **पुच्छ** का रूप जर्मन (ज०) में **फ़ुख्ज़** हो गया है। वेब्स्टर के प्रसिद्ध अंगरेजी (अं०) कोश ने यह निदान पक्का मानकर अं० **फौक्स** की व्युत्पत्ति **पुच्छ** तक पहुंचाई है। यह व्युत्पत्ति ठीक ही है। प्राभा० में लोम (न्) का अर्थ 'पूंछ के बाल' है। इसी कारण सियार को **लोम-रा** भी कहते हैं। खबो० के शब्द **लोम-ड़ी** का अर्थ भी **लोम-(न्)-ड़ी** 'नरम और बालदार पूंछ वाला' है। हिन्दी के प्रसिद्ध कोश हिन्दीशब्दसागर तथा संक्षिप्त हिन्दी शब्द-सागर में बताया गया है कि **लोम-डी** प्राभा० **लोमटिक** या **लोमलीय** से निकला है। पर ये दोनों शब्द मेरे देखने में नहीं आए। प्राभा० में **रोम-पुच्छक** है, **रोम-श**, **रोम-आश** भी मिलते हैं। लोम (न्) भी है, किन्तु **लोमटिक**, **लोम-लीय** नहीं है। हिं० श० सा० के विद्वान लेखकों ने उक्त प्राभा० के शब्द कहां पाए, यह बड़ा रहस्य है! प्राहिं० में **लोमड़ी** का एक नाम **लोवा** भी मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति उक्त कोश ने **लोमश** में निकाली है जो अशुद्ध है। **लोवा** प्राभा० (वैदिक) **लोपाश** का रूप है। **लोपाश** वैदिक (वै०) **लुप्** या **रुप्** 'विध्वंस करना' से बना है। अवेस्ता (अ०) में **लोपाश** का प्रतिशब्द **रओपिश** है, पहलवी (पह०) में **रोपास, रोबास** मिलता है, फ़ारसी (फ़ा०) में यह रूप **रूबाह** हो गया। वै० **लोपाश** संस्कृत (सं०) में **लोपाक** रूप में भी है। यह **रुप्**, **लुप्** 'लूटना, लोप करना' से बना है। वै० **रुप्** धातु (धा०) पह० **रोप** 'लूट' में भी है। अं० में rob इस **रुप्** का रूपान्तर है। इसलिए स्पष्ट है कि **लोवा** का मूल **लोपाश** में ही मिलता हैं। **लोमश** वह व्युत्पत्ति है जो बिना विचारे दे दी गई। प्रायः नब्बे वर्ष से शुद्ध व्युत्पत्ति देने के साधन पैदा होने लगे। पहला व्युत्पत्ति-कोश अं० में १८८० ई० में प्रकाशित किया गया। यह महापंडित स्कीट ने लिखा। १८८२ ई० में उन्होंने संक्षिप्त अंगरेज़ी व्युत्पत्ति कोश निकाला। उस समय शब्दों की बाल की खाल निकाली जा रही थी कि अपने मूल का रहस्य-उद्घाटन करें। इस कारण अपने १६०१ के संस्करण में स्कीट ने भूमिका में लिखा—'इस बीच बहुत-से महत्त्व-पूर्ण लेख और ग्रंथ निकले हैं जो नाना विद्वानों की शोध का फल है। इनका विषय इंडो-जर्मन तुलनामूलक भाषाशास्त्र है। इन भाषाओं के ध्वनि-परिर्तन का विश्लेषण करने के लिए सठीक ढंग निकाले गए हैं। भाषाशास्त्र बहुत आगे बढ़ गया है। क्लूगे का जर्मनभाषा का व्युत्पत्ति-कोश, फ्रांक का डच भाषा का व्युत्पत्तिकोश, हान्सफेल्ड और दार्मस्टेटर का नवीन फ्रेंच-कोश आदि व्युत्पत्ति के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथों ने, जैसे ब्रुगमान का 'भारोपा भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' आदि ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र को स्पष्टतर और अधिक सठीक बनाकर व्युत्पत्ति को नया रूप दे दिया है। इसलिए अति आवश्यक है कि नये तथ्यों के साथ-साथ चलने के लिए मेरे ग्रंथ का नया, अधिक शुद्ध संस्करण निकाला जाय।' उत्तम से उत्तम हिन्दी-कोश में प्रायः सब व्युत्पत्तियां अशुद्ध हैं। एक तो, हमारा व्युत्पत्ति देने का ढंग ग़लत है। हम हिन्दी-शब्दों के आगे से, फा०, अं०, पुर्त० आदि रख देते हैं और समझते हैं कि व्युत्पत्ति दे दी गई। अब थोड़ा विचार कीजिए कि **सम** (सं०) का अर्थ **समान** देकर क्या व्युत्पत्ति मालूम हो गई? **मील** (अं) लिखकर कौन-सी व्युत्पत्ति हाथ लगी? अं० में **मील** को **माइल** कहते हैं। **नमाज़** (फा०)

से हम क्या समझें ? कोश का कर्तव्य है कि हमें बताए कि यह आर्य शब्द है और प्राभा० **नमस्या, नमस्** से सम्बन्धित है। **गिरजा** (पुर्त० **इग्रिजिया**) से क्या पता चला ? **इग्रिजिया** अशुद्ध है, पुर्तगाली में **इग्रेजा** है। यह भूल संक्षि० शब्द-सागर में तीस साल से चली आ रही है। सं० हिंशसा० के कई संशोधित (?) संस्करण निकल गए हैं, पर इसके विद्वान संपादकों ने यह भद्दी भूल नहीं सुधारी। उधर स्कीट का अंगरेजी व्युत्पत्ति-कोश देखिए; उसमें बताया गया है कि इसका यूनानी (यू०) रूप **कुरिअकोन्** था जो **कुरिअकॉस्** 'स्वामी या प्रभु का' नपुंसकलिंग का रूप है। यू० में **कुरॉन्** 'शूर' को कहते हैं। स्कीट ने बताया है कि **कुरॉन्** और प्राभा० **शूर** ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार एक शब्द हैं। इस व्युत्पत्ति से हमारी ज्ञान की आंख के सामने शब्द का इतिहास और पूरा चित्र खिंच गया। उधर अपने कोश देखिए कि संस्करण के बाद संस्करणों का तांता बंधा है पर तीस साल से **इग्रिजिया** सुधार का **इग्रेजा** नहीं किया गया। हिन्दी में एक रोग को **अपरस** कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति दी गई है--(सं० अ– स्पर्श)। इससे क्या समझा जाय ? वास्तव में यह शब्द अरबी (अ०) से हिन्दी में आया है। सं० कोशों में यह शब्द या इसका तथाकथित मूल **अ-स्पर्श** रोग कहीं नहीं मिलता। अ० में कोढ़ को **बरस** कहते हैं और **अबरस** भी; इस **अबरस** का हिन्दी (हिं०) में **अपरस** हो गया। अ० और फा० का भाषाशास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण ऐसी भद्दी भूल को हिन्दी कोशों में आदर का स्थान प्राप्त हो रहा है। ग़रीब की जोरू का खुदा रखवाला है। हिन्दी-कोशों का रखवाला कोई नहीं है। एक शब्द **दिवाला** है। अपने कोशों में बताया गया है कि यह हिं० **दिवाली** से निकला है; पर है यह वास्तव में फा० शब्द। इस पर विद्वानों ने कुछ विचार नहीं किया। इस प्रकार अपने कोशों में व्युत्पत्तियां प्रायः सभी अशुद्ध हैं। इस पर कोई संस्था या सरकार ही कुछ कर सकती है। हमारे कोशों से अधिक शुद्ध व्युत्पत्ति वाले कोश अन्य प्रादेशिक भाषाओं में हैं। मराठी का मराठी-व्युत्पत्ति-कोश आदि-भारोपा-भाषा तक पहुंचा है। वह तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक है। यह प्रयास सचमुच में स्तुत्य है। बंगला, उड़िया गुजराती आदि में अच्छे-अच्छे कोश हैं। हम ही क्यों पिछड़े रहें ? कोश और व्याकरण की त्रुटियां सारे साहित्य को अशुद्ध कर देती हैं।

कोश में प्रमुख स्थान अर्थ का है। अर्थ सरल भाषा में अति स्पष्ट और सठीक होना चाहिए। प्रत्येक शब्द के अर्थ सभी पहलुओं और स्थलों के विचार से पूरे-पूरे होने चाहिए। हमारे हिंदी-कोशों में इस दृष्टि से भी बहुत कमी है। एक शब्द **बितताना** लीजिए। सूरदास में इसका प्रयोग मिलता है और वह तीन अर्थों में। ये तीन अर्थ हैं: (१) बीतना समाप्त होना, (२) आनंदित या विशेष तृप्त होना और (३) संताप करना, दुःख करना, विलाप करना, किन्तु हिंशसा० में इसका केवल एक अर्थ दिया गया है। उसमें है—'बितताना–क्रि० अ० (हिं बिलखना) बिलखाना। व्याकुल होना, संतप्त होना। उ० (उदाहरणार्थ) रोवरि महरि फिरति बिततानी। ···' इस शब्द पर 'सरस्वती' सितंबर १९५९ मेरा लेख देखें। संतप्त अर्थ ठीक है और यह वितप्त का बितत्त होकर निकला है, न कि बिलखना से। विद्वान पाठक देखें कि ध्वनिपरि-वर्तन के किस नियम से **बिलखना** बितताना बन गया ? पाइय-सद्द-महण्णवो में **वितृप्त** से निकला **बितत्त** है इसका प्रयोग जैन शास्त्र में मिलता है। तीसरे अर्थ बीतना या समाप्त होना का भी सूरदास ने उपयोग किया है। हिंशसा के एक अर्थ से सूरदास द्वारा उपर्युक्त तीनों अर्थ कैसे मालूम होंगे ? कोश की यह त्रुटि अक्षम्य है। इससे अर्थ-क्षेत्र में अनर्थ की सृष्टि हो जाती है। और देखिए, **समाचार** शब्द भी उक्त कोश में दिया गया है—'समाचार-संज्ञा पु० (सं०) संवाद, खबर, हाल' विज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे सारा सं० साहित्य छान डालें, उन्हें समाचार का कोश में दिया अर्थ नहीं मिलेगा। भले ही आप्टे या विलसन के कोशों में एक अर्थ news भी दिया गया है। पाली में **समाचार** का अर्थ **'संघ का आचार'** है। सं० में **समाचार** का अर्थ पीटर्सबुर्गर संस्कृत-जर्मन कोश में 'अच्छी तरह करना' दिया गया है। समाचरति, समाचरेत् आदि का अर्थ भी यही है। केवल एक शब्द **संचारी** है दूती का कार्य करने वाली स्त्री। अप-भ्रंश (अप०) में सयंभू ने **समाचार** के अर्थ में **संचार** का व्यवहार किया है। उसकी रामायण में एक स्थान पर है—'लइ एत्तडउ सारु संचारु हो।' प्रसंग से इसका अर्थ यह बैठता है—'मैं इतना ही बढ़िया समाचार लाया हूं।' तुलसी ने प्राकृत रामायणें पढ़ी थीं, सो उन्होंने समझा होगा कि इस **संचार** का सं० रूप **समाचार** होगा और अपने रामचरितमानस में **समाचार** 'खबर' के लिए रख दिया। इस शब्द का प्रचार सिंध से लेकर बंगाल तक पाया जाता है। दक्षिण में नहीं है।

इस स्थिति में **समाचार** प्रा० या अप० **संचार** से निकला। कोश में इसका निर्देश होना चाहिए। तब उत्पत्ति और अर्थ की स्पष्टता का बोध पाठकों को होगा।

कोश मनगढ़ंत नहीं होना चाहिए, यह कोश-शास्त्र का पहला सिद्धांत है। इसके सब शब्द साहित्य के भीतर व्यवहृत होने चाहिए। यूरोप के सभी देशों की भाषाओं में कोश में केवल वे ही शब्द दिए जाते हैं जिनका समावेश उच्च कोटि के साहित्यिकों द्वारा ग्रन्थों में किया गया हो। इतना ही क्यों, न्यू इंगलिश डिक्शनरी में अंग्रेजी साहित्य से शब्द चयन करने में ५० वर्ष लगे। शब्दों के सब प्रकार के उचित प्रयोग के उदाहरण खोजने में अधिक समय लगा। यह न्यू इंगलिश डिक्शनरी अब आक्सफोर्ड डिक्शनरी नाम से जगत में प्रसिद्ध है। इसमें यह भी बताया गया है कि शब्द पहले-पहल कब और किसके ग्रन्थ में व्यवहार में आया। इससे शब्द के इतिहास का पता चलता है। फ्रेंच कोशकार लित्रे ने फ्रेंच साहित्य में व्यवहृत प्रत्येक शब्द के प्रथम प्रयोग का समय ढूंढने में अपना सारा जीवन होम दिया। प्रायः सौ वर्ष से लित्रे का फ्रेंच कोश फ्रेंच भाषा का गौरव बढ़ा रहा है। हमारे कोशों में अंग्रेज कोशकार टोमस, गिलक्राइस्ट, शेक्स-पियर, फोर्ब्स, बेट्स, फैल्लन और प्लैट्स ने अपने संपादित कोशों में केवल वही शब्द लिये हैं जो साहित्य में काम में आ चुके हों। फैल्लन ने तो अपने कोश में प्रत्येक शब्द के नाना अर्थों के लिए नया उदाहरण खोज-खोजकर दिए है, इस कारण उसके कोश का जोड़ नहीं मिलता। शेक्सपियर, गिलक्राइस्ट आदि ने दखिनी हिंदी के शब्द भी दिए थे। हिंदी या उर्दू में दहि० का कुछ पता हाल-हाल तक न था, सो उस हिंदी के शब्द हमारे कोशों में मिलते ही नहीं। हिंदी भाषा के इतिहास में इन शब्दों का महत्त्व है। इनका देना भी आवश्यक है। अब देखिए **हुआ** के पहले दो रूप थे **हुता, अथा। हुता** संहिशसा० में, है **अथा** का कहीं पता नहीं है। यह **अथा, था** का पूर्व रूप है और दहिं० में मिलता है। यह **अथा** वै० **अस्थात्** से अत्था होकर आया है। हिंदी की परंम्परा में इसका स्थान है। दहिं० का यह रूप अपनी भाषा के ध्वनिपरिवर्तन का अच्छा उदाहरण है। हिंदी-कोशों में यह नहीं पाया जाता। और सुनिए, **जाना** कोश में है और ठीक है किन्तु **गया** के विषय में है—'गया—क्रि० अ० (सं० गम्) जाना क्रिया का भूतकालिक रूप। थोड़ा विचार करने पर साफ हो जायगा कि **गम्** (?) से **गया** नहीं बना है। यह **गम्** के **गत** रूप से बना है और वह पहले प्रा० में **गय** रूप प्राप्त करने के बाद। **गम** (?) से **गया** कैसे आयगा? **गया-बीता** में देप्रा० **गय** 'मरा हुआ' है। कोश को इतना तो अवश्य बताना चाहिए। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में देखिए किस प्रकार go और went की व्युत्पत्तियां दी गई हैं। इसी प्रकार is, was' were आदि समझाये गये हैं कि इनके मूल रूप भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा हिंदी में भी होना ही चाहिए। हमें ज्ञान और ज्ञान के उद्गम भाषा का सठीक और सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर अन्य सभ्य देशों के समकक्ष बनना चाहिए।

अब कुछ शब्द लीजिए, जिनका प्रयोग हिंदी में बहुत कम या शायद ही होता हो। **तालीशपत्री, तालाख्या, तामस मद्य, तामस बाण ताम्रकूट** 'तंबाकू?' (तंबाकू तो दक्षिणी अमरीका से पुर्तगाली लाए। मोनियर विलियम ने इस शब्द का अर्थ एक झाड़ी लिखा है, इस पर विचार होना चाहिए था) **ताम्रकर्षी** तांबे का बरतन बनाने वाला, **ताम्रकार** 'अंजना' (प्रूफ की भूलें हैं, ऐसी भूलें हजारों की संख्या में है।) **ताम्रगभ** (ताम्रगर्भ) **ताम्रपाकी, ताम्रादी, तार्क्ष, तार्क्षय, तार्क्षी, तार्क्ष्य, तार्क्ष्यज, तार्क्ष्यप्रसव, तार्क्ष्यशैल, तार्क्ष्यी, तार्प्य** आदि शब्द ऐसे हैं जिनमें से कुछ संस्कृत कोश (मो०.सि०) में नहीं मिलते और कुछ के अर्थ अशुद्ध और भ्रमात्मक हैं। सं० कोश में **तार्क्ष** और **तार्क्ष्य** ये दो शब्द ही मिले। इनसे बने और शब्द कहां से आये? कोशकार ही जानें। इस प्रकार के शब्दों से कोश के सैकड़ों पन्ने भरे है। भला हिंदी साहित्य में क्या कभी वे शब्द काम में आये? पहले यह जान लेना चाहिए। ऐसे अशुद्ध-अप्रयुक्त शब्दों से कोश का कलेवर वृहदाकार बना देना, कोशशास्त्रज्ञों के लिए अनुचित है।

हिन्दी-कोशों में मनमानी घरजानी का राज है। जो शब्द जिस रूप में साहित्य के ग्रंथों में आए हैं, उनका रूप तोड़ा-मरोड़ा गया है। भाषण-शास्त्र का नियम है कि किसी भाषा शब्द का अद्यतम रूप मूल-रूप से अधिक महत्त्व का होता है। हिन्दी के लिए **अद्य** और **अज्ज** का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि उक्त शब्दों की परम्परा में आए हुए नवीन-तम रूप **आज** का। **नव, नव्य** से **नया** का मूल्य हिन्दी के लिए अधिक है। हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए **मूर्च्छन** से **मुरझाना** का बहुत अधिक महत्त्व है। पर हिन्दी-कोशों ने उलटा मार्ग पकड़ना उचित समझा है। तुलसी ने **घटजोनी** शब्द

का प्रयोग किया है, यह व्यवहृत शब्द-कोशों में नहीं है। उनमें सम्पादकों ने, न मालूम क्या समझकर, इसको उड़ा दिया है और सं० शब्द **घटयोनि** दे दिया है। तुलसी या सूरदास ने **कौसल्या** लिखा है, पर हिन्दी के कोशों में यह व्यवहृत शब्द है। इस प्रकार जायसी, तुलसी, सूर आदि द्वारा प्रयुक्त प्राचीन हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति भ्रष्ट रूप में कोशों में आई है। हिन्दी के शब्दों के रूप मध्य भारतीय आर्य भाषाओं द्वारा प्रभावित और परिवर्तित होकर हमारे पास आए हैं। उन रूपों का सं० से अधिक महत्त्व है, ऐसे स्थलों पर उन हिन्दी रूपों का संस्कृतीकरण करना हिन्दी को अपने उच्च पद से गिराना अर्थात् भ्रष्ट करना है। हमारे कोशों में हिन्दी के प्राचीन और परम-प्रतिभाशाली कवियों के शुद्ध शब्दों की अवहेलना कर रूप विकृत कर दिया गया है। क्या भाषा के प्रयोग में अपना जोड़ न रखने वाले ये महाकवि जिन्होंने प्राचीन हिन्दी को इतना ऊंचा चढ़ा दिया कि सारे संसार को कवीर, तुलसी आदि का अनुवाद करना पड़ा, हमसे भी गए-बीते थे कि अब हम यह कुप्रयास कर रहे हैं कि उनके शब्द सुधारें। कोशों में तो उनके शब्द ज्यों-के-त्यों दिए जाने चाहिए। इसी में हिन्दी का गौरव और सौष्ठव है।

कोश को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वह तुलनात्मक हो। भाषा का तुलनात्मक ज्ञान नया है। यह इधर डेढ़ सौ वर्षों की उपज है। किसी भाषा का ज्ञान विना सम्बन्धित भाषाओं तथा शब्दों की परम्परा या इतिहास में उसके विकास की क्रमशः तुलना के नहीं होता। साथ ही किसी भाषा-वर्ग के शब्दों की तुलना से उस वर्ग की भाषा-विशेष के शब्दों की व्युत्पत्ति और ठीक अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। **विधवा** शब्द लीजिए। हम लोग सदा समझते रहे कि प्राभा० के वैयाकरणों के अनुसार यह **वि-धव** 'विना-पति' से बना है। **वि-धव-आ, विधवा** हो गया। पर ऋ० में **विधवा** आया है किन्तु **धव** 'पति' नहीं आया है, भले ही यास्क ने **धव** का अर्थ 'पति' तो नहीं, किन्तु 'नर' दिया है। पाश्चात्य पंडितों ने लै० में **विधवा** के अर्थ में विद्उ अ देखा और पाया कि **विद्** का अर्थ 'अलग करना, भाग करना' है सो तुरत ताड़ गए कि जो (पति से) अलग हो गई हो वह **विधवा** है। फिर उन्होंने पाया कि ऋ० में **विध्** का अर्थ 'अकेले रहना' रिक्त होना' है। वै० **विधु** का अर्थ 'चन्द्रमा' इसलिए है कि चन्द्रमा अकेला अथवा आकाश में वेजोड़ है। श्लोक भी है—— **'एकश्चन्द्रस्तमो हंति।'** इस **विध्** धातु से हमारा **विधवा** शब्द व्युत्पन्न हुआ। **वि-धव-आ** से नहीं। अब देखिए यह शब्द आर्य-परिवार (भारोपा) का है। प्रास्ला० में **विधवा** को **विदोव** कहते थे, यू० में **एइथ्यौस** 'अकेला ब्रह्मचारी' प्राआइरि० में इसका रूप **फ़ेद्व** है गौ० में **विधवा** को **विदुवो** कहते हैं। आदि आर्य-भाषा में इसका रूप **विधे-उ-ओ** रहा होगा। प्राभा० में पत्नीरहित पुरुष को **वि-धव-स्** (=:) कहते थे, **विधुर** भी। तुलनात्मक अध्ययन से उक्त शब्द का सच्चा रहस्य खुल गया। जब मैं हिंशसा का सम्पादन कर रहा था तो उसमें एक शब्द **छगन** या **छगनिया** मिला। **छगनिया** का अर्थ स्पष्ट ही 'छगन से बना' होता है। इसकी व्युत्पत्ति केवल देप्रा० में **छगण** और **छगणिया** मिले। पहले शब्द का अर्थ 'गोवर' तथा दूसरे का 'गोइंठा' है। इससे व्युत्पत्ति का सहारा मिला, व्युत्पत्ति का परदा नहीं उठा। केवल इतना ही पता चला कि भारतीय आर्य जनता कभी यह शब्द बोलती थी तथा इसने साहित्य में स्थान प्राप्त कर लिया था। इसके कुछ समय बाद मुझे पंडितप्रवर वाकरनागल का 'आल्ट इंडिशे ग्रामाटीक' पढ़ने का अवसर मिला। उसने लिखा था कि **यकृत** में **त** प्रत्यय है, क्योंकि भारोपा भाषा-वर्ग में सर्वत्र **यकर** या प्राभा० **यकृ** एक शब्द के रूप में मिलता है। यू० में **एयार, लै० येकुर,** अवे० **याकरे,** फा० **जिगर** आदि रूप पाए जाते हैं जिनमें **यकृ-त** का **यकृ** सदा एक साथ है, इसलिए इसमें केवल **–त** प्रत्यय है। शकृ-त में भी यह प्रत्यय होना चाहिए और इसका दूसरा रूप कभी शकृ या शकन् भी रहा होगा। इसका षष्ठी रूप शकृ (—स्) होता ही है। खत्ति (Hittite) भाषा में कुछ शब्द ऐसे पाए गए हैं कि उनके अंत में **र्** या **न्** समान रूप से एक ही अर्थ में होता था। **एशर्** 'रक्त', **असृ-क'** है, **एशन्** भी उसी अर्थ में है। **असृ** में **क** प्रत्यय है। मूल-शब्द **असृ** है। इसका षष्ठी का रूप भी **असन-स्** है। इसका भी दूसरा रूप **असन्** रहा होगा और यह **ख-एशन्** का प्रतिरूप है। संस्कृत में और भी ऐसे शब्द हैं——जैसे, **धन्वन् धनुर् विद्वन्** (अथर्ववेद) **विदुर** आदि शब्द इसी आदि आर्य-परम्परा के हैं। अब **छगन** का परदा उठ गया। मैं तुरन्त समझ गया कि वाकरनागल का वताया **शकन** या **शकन्** रूप अवश्य कभी रहा होगा और उस रूप से ध्वनि-परिवर्तन के स्थिर नियमों के अनुसार जनता ने **शकल्** का रूप विगाड़ या अपने मुख-सुख के अनुसार **छगण** कर दिया, जिसका अर्थ देप्रा० में 'गोवर' हो गया और प्राहिं० से स्पष्ट मालूम होता है कि इसका

एक अर्थ 'विष्ठा' भी रहा होगा। सूरदास ने वार-वार वालगोपाल को **छगन-मगन** वताया है। संहिंशसा० में **छगन** शब्द दिया गया है, अर्थ वताया गया है 'छोटा वच्चा-प्रिय वालक' और साथ में सूरदास का उदाहरण है—'गिरि गिरि परत, घुटुरुवनि टेकत, खेलत हैं दोउ छगन-मगन।' **छगन** का 'छोटा वच्चा, प्रिय बालक' अर्थ कहीं नहीं देखा जाता। यहां **छगन-मगन** का अर्थ है—मैल से लथपथ और आनन्द में मगन, छगन में डूवे हुए।' सूरदास वर्णित यह रूप वच्चों के लिए स्वाभाविक ही है। आर्य या भारोपा भापा वर्ग की तुलनात्मक अध्ययन-शैली का यह चमत्कार है। एक और शब्द लीजिए; सं० और हिं० में भी **धन, निधन, धनु-स् धन्वन्** आदि शब्द हैं। **धन** का अर्थ वेद में है 'युद्ध या मार-काट में जीती सम्पत्ति'; **निधन** का अर्थ मृत्यु है; **धनु (स्)** का अर्थ है 'मारने वाला अस्त्र'; **धन्-वन्** 'मार-वाड़' है। प्राचीन जर्मन में दुनुम् 'समुद्र तट पर वालू का पहाड़' है। यू० में एक **थेन्** धातु मिलता है जिसका अर्थ 'मरना' है; इसके रूप **ए-थन्-ए** 'वह मरा' **ते-थ्-आसि** 'वे मरे' हैं। प्राभा० में एक धन् धातु है 'दौड़ना', कभी प्राभा० में दूसरा **धन्** धातु भी रहा होगा जिसका अर्थ होगा 'मरना, मारना, विध्वंस करना'। उक्त शब्द उसी लुप्त धातु के रूप हैं। अन्यथा उनकी क्या व्युत्पत्ति होगी ? यह व्युत्पत्ति भी तुलनात्मक अध्ययन का फल है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनमें स्वयं हिन्दी शब्दों पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु स्थानाभाव वाधक है।

यहां इतना कहना जरूरी है कि यदि ऊपर की वातों पर पूरा प्रकाश डालने के साधन कोशकार के पास न हों, तो कोश अवश्य अधूरा और त्रुटिपूर्ण रहेगा। एक विद्वान जिनको यह गर्व था कि वे कोशशास्त्र के ज्ञाता हैं, मुझसे नागरी प्रचारिणी सभा के कोश-विभाग में भेंट करने आए। उन्होंने नाक की व्युत्पत्ति पूछी। मैंने कहा—'इस शब्द की पूरी व्युत्पत्ति मिलना कठिन हो रहा है। केवल इतना ही ज्ञात हो सकता है कि सं० में नाक के लिए **नक्र** है और देप्रा० में **णक्क**। यह पता नहीं कि **नक्र** का **णक्क** वना या **णक्क** का संस्कृतीकरण **नक्र** किया गया। इस पर प्राभा० के ये पंडित वोले कि **नक्र** तो **नाके** को कहते हैं। सं० में कामदेव को **नक्रकेतन** और **मकरकेतन** दोनों नामों से कहते हैं। मैंने उन्हें वताने का यत्न किया कि **नक्र नाक** को भी कहते हैं, पर अपने विद्वान मित्र हठ करने लगे कि ऐसा नहीं है। तव उन्हें कोश दिखाए गए और उनको स्वीकार करना पड़ा कि **नक्र** का एक अर्थ 'नाक' है। ऐसी अधूरी विद्या किसी काम को निकम्मा कर देती है। सच है :

अनंत पारं किल शब्द शास्त्रम्, स्वल्पं तथायुर्बहवश्च विघ्नाः।

मेरे इस लेख से स्पष्ट है कि कोश में चार वातें अवश्य होनी चाहिए—(१) शब्दचयन का ठीक ढंग जिसमें कोश की भाषा के साहित्य से प्रचलित शब्द, उचित ही नहीं समुचित उदाहरण के साथ, रहने चाहिए; (२) व्युत्पत्ति ऐसी होनी चाहिए कि शब्द के भीतर का रहस्य स्पष्ट हो जाय। यह रहस्य शब्दों के आगे सं० अं० अ० फ़ा० आदि देकर नहीं खुलता। ऐसा करने से वहुधा भ्रम रह जाता है। (३) अपने मनगढ़ंत शब्द कोश में नहीं भरे जाते, उसमें तो साहित्य में वर्तमान और प्रचलित शब्द चुने जाते हैं। (४) कोश में कोश की भाषा का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन भी रहना चाहिए। आज़कल का भापाविज्ञान तुलनात्मक होता है। इस तुलना का ज्ञान न होने से, छात्र हो चाहे अध्यापक, सभी का भाषा का ज्ञान अधूरा रह जाता है। अभी, हाल में, डाक्टरेट के लिए शोध करने में लगे एक वुद्धिमान छात्र ने तुलनात्मक शब्द-शास्त्र के सिलसिले में वताया कि अं० शब्द **कैमल** सं० शब्द **क्रमेल** या **क्रमेलक** से निकला है। मैंने आश्चर्यान्वित होकर पूछा कि ऐसा उलटा पाठ तुमको किसने पढ़ाया ? वोला—'यह तो अमुक विद्वान ने अपने भापा-शास्त्र में दिया है।' सचमुच, उसने उक्त पुस्तक में यह अशुद्ध क्रम दिखा दिया। मैं और भी चक्कर में पड़ा। वात यह है कि दो, सवा दो हजार वर्ष पहले भारत के ज्योतिपशास्त्र के पंडितों ने ज्योतिप के ग्रंथों में कुछ यू० शब्द अपनाए। **केंद्र, होड़ा, ज्यामिति** आदि ऐसे ही शब्द हैं। उस समय यू० **कमेलौस्** शब्द भी शुद्धि करके **क्रमेल-स्** (=:) रूप में संस्कृत हो गया। इस पर तुर्रा यह कि शब्द-कल्पद्रुम में इसकी व्युत्पत्ति दी गई है—'क्रमेण एलति गच्छतीति क्रमेलकः।' अत्र तमाशा देखिए कि धातुपाठ में **एल्** नदारद है। **तव एलति गच्छति** कहां से आया ? यह संस्कृतीकरण का चमत्कार है। इसलिए, अति आवश्यक है कि तुलनात्मक शब्द विना भारोपा भापाओं का ऐतिहासिक क्रम और प्राभा० का पूर्ण ज्ञान किये नहीं दिए जा सकते। नहीं तो **'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'** हो जायगा। तेजस्विनावधीतमस्तु !

ब्रजभाषा : उद्गम और विकास

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

१. कोई भी साहित्यिक भाषा एक साथ आकाश से नहीं उतरा करती है । उसका किसी-न-किसी जनबोली से विकास हुआ करता है। साहित्यकारों की लेखनी का बल पाकर उस जनबोली में क्रमशः परिष्कार, प्रांजलता एवं लालित्य बढ़ता जाता है। समय के प्रवाह में आगे बढ़ती हुई वह जनबोली भी अपना रूप बदलती चलती है। यही बात ब्रजभाषा के उद्गम और विकास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

२. ब्रजभाषा से तात्पर्य ब्रज में बोली जाने वाली भाषा या बोली से है । वैदिक साहित्य में 'व्रज' शब्द का प्रयोग गोष्ठ अथवा गो-समूह के अर्थ में पाया जाता है। वैदिक ऋषि त्रिष्टुप् छन्द में अग्निदेव की प्रार्थना करते हुए कहता है कि 'हे तरुण ! शीत से पीड़ित मानव तेरी सेवा में उसी प्रकार आते हैं, जिस प्रकार कि गाएं उष्ण गोशाला में आती हैं।'[1]

३. हरिवंशपुराण में 'व्रज' शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए हुआ है जो मथुरा के निकट था।[2] मथुरा के चारों ओर चौरासी कोस में भी व्रज माना जाता है । डा० सत्येन्द्र का कथन है कि वाराहपुराण में मथुरा-मंडल की सीमा बीस योजन अथवा चौरासी कोस निर्धारित हो चली थी। मत्स्यपुराण में कृष्ण की लीलाभूमि को ही 'व्रजमंडल' कहा गया है।[3] सन् १५६० ई० के लगभग रचित श्रीनारायण भट्ट-कृत 'व्रज-भक्ति-विलास' ग्रन्थ के एक श्लोक के आधार पर तत्कालीन व्रज-क्षेत्र की सीमा इस प्रकार मानी जाती है—पूर्व में हास्यवन (अलीगढ़ जिले का हसायन गांव), पश्चिम में उपहारवन (गुड़गांव जिले में सोन नदी के किनारे तक), दक्षिण में जह्नुवन (जिला आगरे का बटेश्वर गांव) और उत्तर में भुवनवन (शेरगढ़ परगना) । इन्हीं सीमा-स्थानों से सम्बन्धित 'व्रज-क्षेत्र' के विस्तार के विषय में निम्नांकित दोहा भी प्रचलित है :

"इत बरहद उत सोनहद, उत सूरसेन को गाँव।
व्रज चौरासी कोस में, मथुरा-मंडल माँह।।

४. इतिहास बताता है प्राचीन भारतीय शूरसेन जनपद बड़ा महत्त्वपूर्ण था। इस जनपद की राजधानी मथुरा थी, जिसे 'मधुरा' नाम से भी पुकारते थे। शौरसेनी प्राकृत इसी जनपद में बोली जाने वाली भाषा थी। कालान्तर में मथुरा-मंडल या व्रज-मंडल की संस्कृति और भाषा जिस प्रदेश में फैली, वह व्रज-प्रदेश कहा गया। वर्तमान-काल में व्रज भाषा-भाषी क्षेत्र का विस्तार ग्रियर्सन आदि विद्वानों के अनुसार इस प्रकार माना जा सकता है :

जिला मथुरा, राजस्थान का जिला भरतपुर तथा करौली का उत्तरी भाग जो भरतपुर तथा धौलपुर की सीमाओं से मिला हुआ है; धौलपुर जिला । मध्यप्रदेश के मुरैना और भिण्ड नामक जिले एवं ग्वालियर का लगभग २६ अक्षांश से ऊपर का भाग, कुल आगरा जिला, इटावा जिले का अधिकांश; जिला मैनपुरी, जिला एटा (पूर्व के कुछ

---

१. 'गाव उष्णमिव व्रजं यविष्ठ'—ऋ० १०-४-२
२. हरिवंशपुराण महात्म्य, अ० १०, श्लोक १६, पृ० २८३
३. 'व्रज और व्रज-यात्रा', भारतीय विश्वप्रकाशन दिल्ली, सन् १९५६, पृ० ५

भागों को छोड़कर जो फर्रुखाबाद जिले की सीमा से मिलते हैं), जिला अलीगढ़ (उत्तर-पूर्व में गंगा नदी की सीमा तक), बुलन्दशहर जिले का लगभग आधा दक्षिणी भाग (पूर्व में अनूपशहर की सीध से लेकर); गुड़गांव जिले का दक्षिणी भाग (पलवल की सीध से) तथा अलवर जिले का पूर्वी भाग जो गुड़गांव जिले की दक्षिणी सीमा तथा भरतपुर की पश्चिमी सीमा से मिला-जुला है।

५. ब्रजभाषा-क्षेत्र के सम्बन्ध में लल्लूलाल का मत भी यहां उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'जनरल प्रिंसिपल्स ऑफ इन्फ्लैक्शन एण्ड कन्जूगेशन इन दी ब्रजभाखा[1]' में ब्रजभाषा का क्षेत्र निश्चित करते हुए लिखा है कि यह भाषा ब्रज, जिला ग्वालियर, भरतपुर, बैसवाड़ा, भदावर, अन्तर्वेद तथा बुन्देलखण्ड में बोली जाती है :

"Bruj Bhakha or The Language spoken by the Hindoos in the Country of Braj in the District of Goaliyur, in the Dominions of the Raja of Barutpoor, as also in the extensive Countries of Bueswara, Bulundawur, Untur and Boondelkhund."—Lalloolal Kuvi.

६—डा० धीरेन्द्र वर्मा कन्नौजी को ब्रजभाषा के अन्तर्गत ही मानते हैं। अतएव उनके मतानुसार ब्रजभाषा के क्षेत्र में निम्नांकित प्रदेश सम्मिलित हैं—उत्तरप्रदेश के अलीगढ़, मथुरा, आगरा, बुलन्दशहर, एटा, मैनपुरी, बदायूं तथा रायबरेली के जिले; पंजाब के गुड़गांव जिले की पूर्वी पट्टी; राजस्थान में भरतपुर, धौलपुर, करौली तथा जयपुर का पूर्वी भाग; मध्यभारत में ग्वालियर का पश्चिमी भाग। इसके अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के पीलीभीत, शाहजहांपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा और कानपुर के जिले भी ब्रजभाषी क्षेत्र में सम्मिलित कर लिये गए हैं।

७. मेरा अपना मत यह है कि कन्नौजी ब्रजभाषा से पृथक है। कन्नौजी पर अवधी का भी प्रभाव है। संक्षेप में यहां यही कहा जा सकता है कि कन्नौजी अपनी प्रकृति में ओकारान्त है और ब्रजभाषा औकारान्त। भूतकाल की क्रियाओं में ब्रज में औकारान्त के साथ 'य' श्रुति का योग भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भविष्यत-काल की क्रियाओं में ब्रजभाषा कृन्दन्तरूपिणी है और कन्नौजी तिङन्तरूपिणी।

८. **कन्नौजी** — **ब्रजभाषा**

कन्नौजी			ब्रजभाषा	
नौकरी को काम		—	नौकरी कौ काम।	
घर ते निकार दओ		—	घर ते निकारि दयौ।	
राम नें (ने) देखो हइ		—	राम नै देखौ है (देख्यौ है)।	
काम करन् लगो		—	काम करन् लगौ (लग्यौ)।	
मरो परो हइ		—	मरौ परौ है (मर्यौ पर्यौ है)।	
राम घर गओ हइ		—	राम घर गयौ है (गयौ ऐ)।	
छोरा जइहै छोरी जइहै	(तिङन्त रूप)	—	छोरा जाइगौ छोरी जाइगी	(कृदन्त रूप)
अथवा				
छोरा जइहइ छोरी जइहइ	(तिङन्त रूप)	—	छोरा जायगौ छोरी जाइगी	(कृदन्त रूप)

९. ब्रजभाषा के प्रचलित जनबोली-रूप की विशुद्धरूपता के दृष्टिकोण से सर्वेक्षण किया जाय तो विशुद्ध रूप में ब्रज बोली[2] निम्नांकित जिलों में ही मिलेगी :

---

१. प्रिंटेड ऐट दी इण्डिया गजट प्रेस, सन् १८११ ई०।

२. ब्रजबुलि इस ब्रज बोली से पृथक् काव्यभाषा है। ब्रजबुलि, वास्तव में उड़ीसा, बंगाल तथा आसाम प्रदेश के मध्यकालीन (१५वीं-१६वीं शती) कृष्ण-भक्त वैष्णव कवियों द्वारा प्रयुक्त एक कृत्रिम-सी भाषा है। इसका मूल ढांचा मैथिली तथा बंगाली के संयोग से बना है।—(दे० हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल, बनारस, सं० २०१५ वि०, पृ० ५१६)।

जिला धौलपुर, आगरा, मथुरा और अलीगढ़ की सभी तहसीलों में। बुलन्दशहर जिले की तहसील बरन, खुरजा और अनूपशहर में तथा एटा जिले की तहसील जलेसर में। बरन (बुलन्दशहर) तहसील के अगौता और स्याना नाम के परगनों में खड़ीबोली का मिश्रण अथवा उसके प्रभाव के चिह्न तथा संकेत मिलने लगते हैं। इन्हीं उपर्युक्त जिलों में हमें व्रजभाषा विशुद्ध रूप में सुनने को मिल सकती है। **'राम कौ छोरा', 'गयौ', 'मार्यौ', 'कल्लि छोरी पीहर ते विदा है जाइगी'** आदि प्रयोग विशुद्ध व्रजभाषा के हैं और उपर्युक्त जिलों में पूर्णरूपेण प्रचलित हैं।

१०. इस समय हमारे समक्ष व्रजभाषा दो रूपों में है—(१) साहित्यिक व्रजभाषा, (२) जनपदीय व्रजभाषा। साहित्यिक व्रजभाषा का उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ सूरदास का 'सूरसागर' माना जा सकता है। व्रजभाषा के साहित्य में यह प्रसिद्ध मौलिक कृति है। व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना ऐसी सुडौल, परिमार्जित प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण हो और उसकी पृष्ठभूमि में भाषा का कोई स्वरूप न रहा हो, ऐसा होना असम्भव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'सूरसागर' की भाषा की पृष्ठभूमि में एक परम्परागत विकास है जिसकी पुष्टि डा० शिवप्रसादसिंह कृत 'सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य' नामक शोध-ग्रन्थ से हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में बहुत बड़ा सार है कि "सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"[1]

११. मनुस्मृति (२।२१), गरुड़पुराण (१।१५) और विनयपिटक महावग्ग (५।१३।१२) में मध्यदेश की सीमाओं का उल्लेख है। उनके आधार पर यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि मध्यदेश भारत का केन्द्र था। केन्द्र में स्थिति होने के कारण मध्यदेश की भाषा समय-समय पर प्रमुख स्थान पाती रही है। ईसा-पूर्व एक सहस्र वर्ष से लेकर आज तक इस प्रदेश की भाषा ने सम्पूर्ण भारत के शिष्ट जनों की वाणी पर आसन जमाया है। शिष्टजनों की यह भारतीय आर्य-भाषा क्रमशः वैदिक, संस्कृत, पालि, शौरसेनी, प्राकृत और अपभ्रंश के नामों से समय-समय पर विख्यात हुई है। अपभ्रंश की विकास-परम्परा में ही व्रजभाषा भी आती है। अतएव भारत का मध्यदेश व्रजभाषा की उद्गम-भूमि भी है।

१२. मध्यदेशीय आर्यों की मूल भाषा वैदिक थी। इसमें जनजीवन के तत्त्व संपृक्त थे। मध्यदेशीय आर्य, आर्येतर जातियों से वर्षों संघर्ष करते रहे। कोल, द्राविड़ तथा अन्य जातियों ने आक्रमणकारी आर्य जाति का डटकर सामना किया। ये आर्येतर जातियां मध्यदेशीय आर्यों से पराजित हुईं और विजेता जाति की संस्कृति तथा भाषा से प्रभावित भी हुईं। उसके साथ-साथ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा में भी कोल, द्राविड़, मुण्डा आदि अनेक स्थानीय जातियों की भाषाओं के बहुत-से तत्त्व सम्मिलित हो गए।[2] अतः वैदिक भाषा में जो प्रवृत्ति प्रतिलक्षित होती है, वही शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश तथा व्रजभाषा में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा में शब्द के मध्यग 'र्' का लोप विकल्प से पाया जाता है। वैदिक साहित्य में 'दूलभ' के लिए दुर्लभ'[3] और अप्रगल्भ के लिए 'अपगल्भ'[4] शब्द मिलते हैं। हेमचन्द्र ने इस 'र्' लोप की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। जैसे प्रिय > पिय। चन्द्र > चन्द। वैदिक **'दूलभ'** (ऋक्० ४।९।८), संस्कृत **'दुर्लभ'**, अपभ्रंश **'दुल्लह'** (हेमचन्द्र, शब्दानुशासन, ८।४।३३८।१), और व्रजभाषा **'दूल्हा'** या **'दूल्हौ'** पर दृष्टिपात करने पर वैदिक भाषा की विकासशृंखला के स्वरूप का हमें कुछ आभास अवश्य हो जाता है। व्रजभाषा में **'पहर'** (सं० प्रहर > पहर) और **'पिय'** (सं० प्रिय > पिय) आदि के प्रयोग वैदिक **'अपगल्भ'** का ही स्मरण दिलाते हैं।

१३. ध्वनि-परिवर्तन की जो प्रवृत्ति पालि में मिलती है, वही व्रजभाषा में भी देखी जा सकती है। अशोक के शिलालेखों में जो शब्द मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सं० 'ऋ' का विकास अ, इ, उ और ए ध्वनियों में हुआ है। जैसे—सं० कृत > कत, कट, किट। सं० पितृ > पितु। सं० पृथ्वी > पुठवी।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् २००६ वि०, पृ० १६५
२. देखिए पी० टी० श्रीनिवास आयंगर, लाइफ इन एंशिएंट इण्डिया इन दी एज आफ मंत्राज़, मद्रास, १९१२ ई०, पृ० १५
३. ऋक्० ४।९।८
४. तैत्तिरीय संहिता २।३।१४

१४. व्रजभाषा में भी पालि की भांति सं० ऋ का विकास इ, अ में हुआ है। जैसे–सं० हृदय >व्रज० हिया। सं० कृष्ण > व्रज कन्हैया। कारण यह है कि पालि मध्यदेश की भाषा थी। श्रीयुत स्व० सिलवां लेवी और हाइनरिख ल्यूडर्स जैसे विश्वविख्यात भाषा-शास्त्रियों का मत है कि पालि भारत के मध्यदेश की प्राचीन बोली थी।[1] डा. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'पाली उज्जैन से मथुरा तक के भू-भाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है।'[2] वस्तुतः पालि को पश्चिमी हिन्दी का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। पालि आर्यावर्त के हृदय-प्रदेश की भाषा थी, इसलिए आस-पास, पूर्व-पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण-पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। अतः हम कह सकते हैं कि व्रजभाषा वास्तव में पालि भाषा की उत्तराधिकारिणी के रूप में ही विकसित हुई है। कुछ निम्नांकित शब्दों की विकास परम्परा भी हमारे कथन की पुष्टि करती है :

सं० **पुत्र** > पालि० **पुत्त** > व्रज० **पूत**। सं० **कृष्ण** > पालि० **कण्ह** > व्रज **कान्हा**। सं० **कर्म** >पालि० **कम्म** > व्रज० **काम**।

१५. पालि एक साहित्यिक भाषा के रूप में ई० पूर्व २०० से २०० ई० तक विकसित होती रही। यह भाषा मध्यदेश की एक जन-बोली पर आधारित थी और संस्कृत की प्रतिद्वंद्विनी भाषा के रूप में अपना आसन जमाने लगी। पालि भाषा के शासन-काल में ही प्राकृतों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। संस्कृत के नाटकों में प्राकृतों का प्रयोग ग्राम्य-जनों की भाषा के रूप में किया जाना यह सिद्ध करता है कि प्राकृत भाषाएं मूलतः बोलियों पर आधारित थीं। परन्तु उन बोलियों का सहज स्वाभाविक रूप क्या था, इसे जानने का हमारे पास इस समय कोई साधन नहीं है। संस्कृत वैयाकरणों ने जिन प्रमुख प्राकृतों का उल्लेख किया है, उनमें शौरसेनी और महाराष्ट्री को ही हम यहां लेते हैं, क्योंकि इन्हीं की विकास-श्रृंखला में हमारी व्रजभाषा आती है। श्री मनमोहनजी घोष ने बड़े सबल प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि महाराष्ट्री वास्तव में शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है।[3] जो लोग महाराष्ट्री को मराठी की पूर्वजा मानते हैं, वे भूल-भुलइयों में हैं। जॉन बीम्स ने स्पष्ट कहा है कि सम्भवतः यह मान लेना जल्दबाजी होगी कि मराठी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत की वंशानुगत उत्तराधिकारिणी है।[4]

१६. हम महाराष्ट्री को परवर्ती शौरसेनी प्राकृत कह सकते हैं। अन्तर केवल इतना था कि शौरसेनी प्राकृत में प्रायः गद्य-साहित्य की सर्जना होती थी और महाराष्ट्री प्राकृत में कविता की सरिता बहती थी। शौरसेनी प्राकृत ही विकसित होकर शौरसेनी अपभ्रंश कहलाई और सम्पूर्ण भारतवर्ष के शिष्ट जनों की भाषा मानी गई। इसका प्रभाव ६०० ई० से १००० ई० तक बना रहा। व्रजभाषा इसी शौरसेनी अपभ्रंश की विकसित अवस्था है। कन्नौजी, बुन्देली और खड़ीबोली भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी अपने ग्रंथ (आर्यभाषा और हिन्दी, पृ० १७७) में लिखा है कि वास्तव में शौरसेनी प्राकृत व्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी। अतः व्रजभाषा की पूर्व पीठिका में विकास-श्रृंखला को स्पष्ट करना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं–शौरसेनी प्राकृत की वंशजा शौरसेनी अपभ्रंश है और शौरसेनी अपभ्रंश की वंशजा व्रजभाषा है। 'अपभ्रंश' शब्द से तात्पर्य शौरसेनी अपभ्रंश का समझना चाहिए। हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ (शब्दानुशासन ८।४।४४६) में स्पष्ट कह दिया है कि अपभ्रंश में प्रायः शौरसेनी के समान कार्य होते हैं।[5]

१७. शब्दों के मूल और विकास को स्पष्ट करने की दृष्टि से यहां हम कुछ शब्दों की सूची पिशल-कृत 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना) से उद्धृत करते हैं और उसके साथ व्रजभाषा के शब्दों को भी रख रहे हैं, ताकि व्रजभाषा के उद्भव और विकास पर प्रकाश पड़ सके—

---

१. देखिए W. Geiger, Poli grammatic and H. Lueders, Epigraphische Beitrage, 1913.

२. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, सन् १९५४ ई०, पृ० १७५

३. देखिए Jaurnal of the Department of Letters, Calcutta University, Vol. XXIII, 1933.

४. Comparative Grammar of Modern Aryan Languages, Page 34.

५. 'शौरसेनीवत्' (८।४।४४६)

संस्कृत		शौरसेनी प्राकृत		अपभ्रंश		व्रजभाषा
हृदय	—	हिअअ	—	हिअअ	—	हिआ, हिया
पिनष्टि	—	पीसेदि	—	पीसइ (हेम० ४।१८५)	—	पीसै
प्रसीद	—	पसीद	—	पसीय	—	पसीज
द्वितीय	—	दुदिअ	—	दुइअ (हेम० १।९४)	—	द्वै
चूर्ण	—	चुण्ण	—	चुण्ण	—	चून
मूर्धन्	—	×	—	मुंड (हेम० १।२६; २।४१)	—	मुड्ढ
पार्श्व	—	पास	—	पास (हेम० २।९२)	—	पास
शीर्ष	—	सीस	—	सीस	—	सीस
पिंड	—	पिंड	—	पेंड	—	पेड़ा
स्थविर	—	थेर	—	×	—	ठेर
प्रति	—	पदि	—	×	—	पै
रुक्ष	—	×	—	रुक्ख	—	रूख (=पेड़)

१८. हेमचन्द्र के व्याकरण में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनकी विकसित परम्परा में व्रजभाषा की शब्दावली आती है :

अपभ्रंश		व्रजभाषा		टिप्पणी
णाइ (८।४।३३०।१)	—	नाई	—	(भांति या तरह के अर्थ में)
होइ (८।४।३३०।२)	—	होइ, होऐ	—	(सामान्य वर्तमान काल में)
पइट्ठि (८।४।३३०।३)	—	पैठि	—	(पूर्वकालिक क्रिया-रूप)
जो (८।४।३३०।४)	—	जो	—	(सम्बन्धवाचक सर्वनाम)
सो (८।४।३३२।१)	—	सो	—	(,, ,,)
ठाउ (८।४।३३२।१)	—	ठाउँ	—	(अनुनासिकता आगई है)
पराई (८।४।३५०।२)	—	पराई	—	(सं० परकीया=दूसरे की)
पहुच्चइ (८।४।३९०।१)	—	पहुंचै	—	(सं० प्रभवति=पहुंचता है)
अइसो (८।४।४०३)	—	ऐसौ	—	(विशेषण तथा क्रियाविशेषण)
तइसो (८।४।४०३)	—	तैसो	—	(,, ,,)
कइसो (८।४।४०३)	—	कैसो	—	(,, ,,)
जइसो (८।४।४०३)	—	जैसो	—	(,, ,,)

१९. प्राकृत पैंगलम्[1] में ऐसी शब्दावली पाई जाती है जिसका साम्य व्रजभाषा की शब्दावली से सुगमतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है। इस ग्रंथ का रचनाकाल डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार ईसा की ९वीं और १४वीं शती के बीच में है। इसके बहुत से शब्दों की निकटतम विकसित अवस्था का स्वरूप सूरसागर की पदावली में देखा जा सकता है। कुछ आचार्यों ने अपभ्रंश[2] को भी प्राकृत नाम दिया है। वास्तव में 'प्राकृतपैंगलम्' की भाषा अपभ्रंश ही है जिसे हम शौरसेनी अपभ्रंश भी कह सकते हैं। यहां हम ऐसे शब्दों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनकी समानता व्रजभाषा के शब्द अच्छी तरह कर सकते हैं।

---

१. संपादक श्री चन्द्रमोहन घोष, एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता, सन् १९२० ई०

२. पिशेल महोदय हेमव्याकरण के दोहों को भाषा को शौरसेनी अपभ्रंश मानते हैं।
(डा० भायाणी, वाग्व्यापार, पृ० १४६)

२०—प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली से ब्रजभाषा-शब्दावली की तुलना[1]—

प्राकृत पैंगलम् का शब्द (पृष्ठ और पंक्ति-सहित)	विकास-क्रम सहित ब्रजभाषा का शब्द
(१) अक्खर [१५८।४]	=अक्षर। (सं० अक्षर > प्रा० पैंग० अक्खर > ब्रज० आखर)। 'गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो) मन आखर दै मोहिं।'—सूरसागर, ना० प्र० सभा, १०।४०।
(२) अग्गे [२२८।५]	=आगे, पहले, मुंह के सामने। (सं० अग्रे > प्रा० पैंग० अग्गे > ब्रज आगे, आगैं)। 'अब आज तें आप आगैं दई लै आइयै चराइ।'—सूरसागर, १।५१।
(३) अग्गि [३०४।१]	=आग, अग्नि। (सं० अग्नि > प्रा० पैंग० अग्गि > ब्रज० आग)। 'इहि उर आनि रूप देखे की आगि उठै अगिआई।' ब्रजभाषा सूरकोश, पृ० ६२।
(४) अज्जु [४४८।२]	=इस दिन, आज। (सं० अद्य > प्रा० पैंग० अज्जु > ब्रज आजु)। 'आजु हौं एक-एक करि टरिहौं'—सूरसागर, ना० प्रा० सभा, पद संख्या १३४।
(५) अहीर [२८६।३]	=एक जाति विशेष। (सं० आभीर>प्रा० पैंग० अहीर > ब्रज० अहीर)। 'अहिर जाति जाति गोधन कौं मानैं।'—सूरसागर, २५४३। 'ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।'—रसखान
(६) आइ [४८५।३]	=आकर, आकर के। (सं० आ + √या > प्रा० पैंग० आइ > ब्रज० आइ)। 'आइ जुरे सब ब्रज के वासी।'—सूरसागर १५२३।
(७) इकलि [५४१।३]	=एकाकिनी, अकेली। (सं० एकली > प्रा० पैंग० इकलि > ब्रज० इकली, अकेली)।
(८) कहिओ [२४।५]	=कहा, कथन किया। (सं० कथितः > प्रा० पैंग० कहिओ > ब्रज० कह्यौ)। 'प्रथम कह्यौ जो वचन दयारत, तिहिं बस गोकुल गाइ चराई।'—सूरसागर १।६
(९) कहू [५४१।४]	=किसी जगह। (प्रा० पैंग० कहू > ब्रज० कहूँ)। 'मेरे लाड़िले हो तुम जाउ न कहूँ।'—सूरसागर, १०।२९५। विशेष—प्राकृत पैंगलम् का 'कहू' ब्रजभाषा-काल तक आते-आते कुछ नाक के स्वर में बोलने लगा है।
(१०) काहा [५१६।४]	=क्या। (प्रा० पैंग० काहा > ब्रज० कहा, का)। 'स्याम कहा चाहत से डोलत ?' —सूरसागर, पद-संख्या ८९७।
(११) घरु [४६३।१]	=मकान, घर। (सं० गृह > प्रा० पैंग० घरु > ब्रज० घरु)—जिस प्रकार प्राकृतपैंगलम् के 'घरु' में उकारान्तता है, ठीक उसी प्रकार ब्रजभाषा की प्रवृत्ति उकारबहुला है। साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी के अकारान्त पुंलिग शब्द ब्रजभाषा में उकारान्त होते हैं। मुख्यतः कर्ता-कारक और कर्म कारक में—जैसे, गोपालु आयौ। अब तू नाजु लै लै।
(१२) चलावे [३५८।४]	=चलाता है। (सं० चालयति > प्रा० पैंग० चलावे > ब्रज० चलावै)—'चलाता है' के अर्थ में अलीगढ़ जिले की खैर तहसील में 'चलावै' क्रिया का प्रयोग होता है। जैसे—अरे! तू मोइ चलावै, अर्थात् अरे! तू मुझे चलाता है!
(१३) वेसा [११८।४]	=वेश्या, रंडी। (सं० वेश्या > प्रा० पैंग० वेसा > ब्रज० वेसा)। विशेष—अलीगढ़, मथुरा और आगरा जिले की ग्रामीण स्त्रियां लड़कियों को गाली देते देते समय 'वेसा', रंडी, सौति आदि शब्दों का प्रयोग करती हैं।

१. विशेष शब्दों की तुलना के लिए देखिए, लेखक का लेख—'प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली और वर्तमान ब्रजलोकशब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन'—हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९५९, भाग २०, अंक १

(१४) लेहु [१८६।१] =लो, ग्रहण करो। (प्रा० पैंग० लेहु>व्रज० लेहु, लेउ)। तुम कौन-सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।' —घनानन्द, आचार्य शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' सं० २००६ वि०, पृ० ३४३।

(१५) हम्मारो [३६।१४] =हमारा (अप० अम्हार>प्रा० पैंग० हम्मारो>व्रज० हमारौ)।

२१. संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा भूतकालीन क्रिया के रूपों में शौरसेनी अपभ्रंश के परवर्ती रूप ओकारान्त मिलते हैं। अवहट्ट भाषा शौरसेनी का परवर्ती रूप है। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में राजस्थानी और अवहट्ट का मिश्रण पाया जाता है। अवहट्ट की कृति 'कीर्तिलता' में भी भूतकालीन क्रियाएं ओकारान्त मिलती हैं। यही ओकारान्तता उपर्युक्त प्राकृतपैंगलम् की शब्दावली में भी दृष्टिगोचर होती है। व्रजभाषा की प्राचीन पुस्तकों में हमें ओकारान्त रूप ही मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रम की १५वीं-१६वीं शती में व्रजभाषा की प्रवृति ओकारान्त वाली थी। ओकारान्त की प्रवृत्ति तो बाद में आई है। कबीर, दादू, नन्ददास, कृष्णदास आदि की कविताओं में ओकारान्त रूप ही मिलते हैं। इतना ही नहीं, विक्रम की १७वीं शताब्दी तक हमें शब्दों के ओकारान्त रूप पूरी तरह से मिलते हैं। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' नामक पुस्तक का निम्नांकित उद्धरण हमारे कथन की पुष्टि करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार इस पुस्तक का रचनाकाल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है:

"सो श्री नन्दगाम में रहतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र **पढ़यो** हतो। सो जितने पृथिवी पर मत हैं **सबको** खंडन करतो, **ऐसो वाको** नेम हतो।...सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में **आयो**।"[1]

२२—प्राचीन व्रजभाषा काव्यों का अध्ययन करने पर हमें जिन विशेष ध्वनियों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना है, वे निम्नांकित हैं:

(१) ए॒ अर्थात् ह्रस्व ए।

(२) ओ॒ अर्थात् ह्रस्व ओ।

(३) न्ह् (महाप्राण न्)
(४) म्ह् (महाप्राण म्)
(५) र्ह् (महाप्राण र्)
(६) ल्ह् (महाप्राण ल्)

हेमचन्द्र के व्याकरण में उपर्युक्त ध्वनियों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से मिलता है।

ह्रस्व ए (ए॒) के उदाहरण

'अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधें चिन्तिज्जइ माणु।

(हेम० व्याक०, ८।४।३६६।२)

हेमचन्द्र "कादि—स्थैदोतोरुच्चार—लाघवम्" (सू० ४१०) सूत्र का उल्लेख करते हुए कहता है कि 'सुधें' में ए का उच्चारण लघु है। ठीक इसी प्रकार तुलसीदास की व्रजभाषा-कृति 'कवितावली' में भी हमें ह्रस्व ए (ए॒) के उदाहरण मिलते हैं—

'अववेस कै द्वारे सकारे गई,
सुत गोद कै भूपति लै निकसे।' —(कवितावली, बाल० १)

ह्रस्व ओ (ओ॒) के उदाहरण

'तसु हउँ कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउँ सुअणस्सु।'

—(हेम० व्याक० ८।४।३३८।१)

---

१. देखिए, आचार्य शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', ना० प्र० सभा, काशी, वि० सं० २००६, पृ० ४०४

यहां 'हो' मे 'ओ' का उच्चारण लघु है। इसे सूत्र (८।४।४१०) में हेमचन्द्र ने स्पष्ट किया है। यह ध्वनि भी प्राचीन व्रजभाषा मे सुरक्षित थी। तुलसी प्रमाण है—

'पुनि लेत सोई[1] जेहि लागि अरै।' (कवितावली, बाल० ४)

अतः हम कह सकते है कि अपभ्रंश अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश की ए और ओ (अर्द्ध-संवृत् ह्रस्व अग्र-स्वर और अर्द्ध-संवृत ह्रस्व पश्च-स्वर) ध्वनियां व्रजभाषा को वंश-परम्परागत सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई।

२३. अपभ्रंश के 'ण्' का परिवर्तन व्रजभाषा के 'न्' में हुआ है। अतः महाप्राण 'ण्' भी व्रजभाषा के महाप्राण 'न्' में बदला; अर्थात् ण्ह् > व्रज० न्ह्। व्रजभाषा को उकारान्त की प्रवृत्ति भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही प्राप्त हुई है—अप० ण्हाणु (८।४।३९९।१) > व्रज० न्हानु। 'म्हो म्भो वा' (८।४।४१२) सूत्र में महाप्राण मूल ध्वनि 'म्ह' का उल्लेख है ही। व्रजभाषा में भी म्हौं (मुख), तुम्हारौ, कुम्हार आदि में यह ध्वनि पाई जाती है। यह मूल ध्वनि संस्कृत में मिलनी असम्भव है। व्रजभाषा के ल्हास (=लाश), ल्हैट्ठ (=लट्ठ) आदि शब्दों के आदि में; उल्हानौ, जल्हैली, गल्हैत आदि के मध्य में तथा सल्हा, सोल्है आदि के अन्त में जो पार्श्विक महाप्राण वर्त्स्य ध्वनि है, वह हेमचन्द्र के व्याकरण में भी मिलती है :

'अह रिउरुहिरे उल्हवई'—(हेम० व्याकरण ८।४।४१६।१)

२४. संस्कृत भाषा के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द व्रजभाषा में अकारान्त हो गए है। जैसे सं० रेखा > व्रज० रेख। स० वार्ता > व्रज० वात। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से ही व्रजभाषा को प्राप्त हुई है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में 'स्यादौ दीर्घह्रस्वौ' (८।४।३३०) की सिद्धि के लिए प्रथम छन्द में 'सुवण्णरेह' और 'धण' रूपों का उदाहरण प्रस्तुत किया है—सं० सुवर्णरेखा > अप० सुवण्णरेह। सं० धन्या > अप० धण।

२५. व्रजभाषा में यदि परसर्ग-रहित अकारान्त पुलिंग एकवचन का प्रयोग कर्ता तथा कर्मकारक के रूप में होता है तो उस शब्द का रूप उकारान्त हो जाएगा :

(१) जि खेलु अच्छौ है (यह खेल अच्छा है)।

(२) तुमने अच्छौ खेलु कर्‌यौ (तुमने अच्छा खेल किया)।

२६. व्रजभाषा ने इस प्रवृत्ति को अपभ्रंश ही से लिया है। हेमचन्द्र 'स्यमोरस्योत्' (८।४।३३१) सूत्र की व्याख्या में कहते है कि—'अपभ्रंशे अकारस्य स्यमोः परयोः उकारो भवति', अर्थात् अपभ्रंश भाषा में प्रथमा और द्वितीया एकवचन परे रहने पर अकार का उकार हो जाता है। जैसे दहमुहु, संकरु, चउमुहु, छंमुहु आदि शब्द-रूपो में।

२७. यहां यह अच्छे प्रकार से समझ लेना चाहिए कि व्रजभाषा की यह उकार-बहुला प्रवृत्ति उसे पालि शौरसेनी-प्राकृत तथा शौरसेनी-अपभ्रश से क्रमागत रूप में प्राप्त हुई है— सं० पुत्रः > पालि पुत्तो > पुत्तु (मेरौ पूतु आयौ)।

२८. प्रारम्भिक व्रजभाषा में जासु, तासु, कासु आदि षष्ठी विभक्ति के रूप भी अपभ्रंश के जस्स, तस्स, कस्स आदि से ही विकसित हुए है जो क्षतिपूरक दीर्घीकरण के परिणाम है।

२९. व्रजभाषा मे मध्यमपुरुष एकवचन कर्त्ता के साथ आज्ञार्थ क्रिया में इकार का आगम हो जाता है। जैसे— तू जि कामु करि; जा वन मे तू बिचरि। यह अपभ्रंश की ही परम्परा है। हेमचन्द्र कहते है कि आज्ञा-अर्थ में मध्यम पुरुष के एकवचन और बहुवचन में इ, उ, ए विकल्प से आदेश होते है। निम्नांकित दोहे में सुमरि, मेल्लि और चरि को व्रजभाषा के करि और बिचरि से मिलाइए :

कुंजर सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि।
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि॥[2] —(हेम० व्याक० ८।४।३८७।१)

---

१. खैर तहसील में आज्ञार्थ में 'लेओ', 'देओ' (लघु ओ) क्रियाएं बोली जाती है विशेषतः टप्पल परगने के जाटों में।

२. हे कुंजर! तू सल्लकी नामक वृक्षों का स्मरण मत कर, लम्बी-लम्बी सांसें मत छोड़, भाग्य से जो कवल प्राप्त कर लिया है, उसी को चर! अपने मान को मत छोड़!

३०. 'में' परसर्ग के अर्थ में 'हिं' विभक्ति[1] का प्रयोग व्रजभाषा में पर्याप्त रूप से मिलता है। सूर के सागर में ऐसे अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं--

'अर्जहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ'। --(सूरसागर, १०।१६८७)

'गरजि चढ़्यौ ब्रजभूमहिं आयौ।' --(सूरसागर, ६।१४१)

हेमचन्द्र के उदाहरणों में भी 'हिं' विभक्ति अधिकरण-अर्थ में ही प्रयुक्त हुई है :

'आयहिं जम्महिं' (८।४।३८३।३) अर्थात्, इस जन्म में।

'तहिं देसहिं जाहुँ' (८।४।३८६।१) अर्थात्, उस देश में जाएंगे।

३१. विभक्तियों के साथ परसर्गों का प्रयोग सूरसागर में मिलता है। यह रूप-विधान हेमचन्द्र के दोहों में भी है--

'कृपा करि मोहिं पर' --(सूरसागर, १।२१४)

'हृदै माँझ जौ हरिहिं बतावत।'--(सूरसागर, १०।३५७४)

× × × ×

'तुहुं पुणु अन्नहि रेसि' (हेम० व्याक०, ८।४।४२५।१)

'जीवहं मज्झे एइ।'--(हेम० व्याक०, ८।४।४०६।३)

३२. संवत १६२३ वि० में अब्दुलवाहिद बिलग्रामी ने फारसी भाषा में 'हक़ायक़े हिन्दी' नाम से एक पुस्तक लिखी थी। इसके हिन्दी-अनुवाद[2] से पता चलता है कि इसमें सूरदास से पहले की व्रजभाषा-रचनाएं हैं। जिस उत्तम पुरुष एकवचनीय पुरुषवाचक सर्वनाम 'हौं' का प्रयोग सूरसागर (६।३४) में हुआ है, उसी का प्रयोग 'हक़ायक़े-हिन्दी' में उद्धृत व्रजभाषा की रचनाओं में हो चुका था :

'हौं नय करौं जुहार।'--(हक़ायके-हिन्दी, पृ० ४८)

सं० अहम् > अप० हउँ (हेम० व्याक० ८।४।३३८।१) > हौं--यह विकासक्रम सूर की भाषा की पूर्व-पीठिका पर प्रकाश डालता है।

३३. अतएव साहित्य के पृष्ठों में व्रजभाषा १००० वि० से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। इसका वास्तविक विकास संवत १४०० वि० से १६०० वि० तक हुआ। तदुपरान्त इसने अपना परिष्कृत एवं परिनिष्ठित स्वरूप ग्रहण किया। आज व्रजभाषी क्षेत्र में व्रजभाषा का जनपदीय रूप भी चल रहा है जो कुछ विभिन्न रूपों के साथ प्रचलित है। जातियों की बोली में आकर व्रजभाषा ने अब कई प्रकार के रूप धारण कर लिये हैं। अतः हम यहां व्रजभाषा के साहित्यिक रूपों तथा जनबोलीगत रूपों का कुछ भाषाशास्त्रीय विश्लेषण करेंगे।

३४. व्रजभाषा की ध्वनियां

स्वर--अ̍, अ, आ, इ॒, इ, ई, उ॒, उ, ऊ, ए॒, ए, ऐ, ओ॒, ओ, औ॒, औ।

विशेष--ह्रस्व ए (ए॒) और ह्रस्व औ (औ॒) के उदाहरण तुलसी की कवितावली में मिल जाते हैं। सब स्वर अनुनासिक भी पाये जाते हैं।

व्यंजन--क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। च्, छ्, ज्, झ्, (ञ्)[3]। ट्, ठ्, ड्, ढ्, ड़्, ढ़् (ण्)[3]
त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह। प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह। य्, र्, र्ह, ल्, ल्ह, व्, स्, ह्।

विशेष--बुलन्दशहर जिले की गूजर जाति की बोली व्रजभाषा है। इस बोली में ण् ध्वनि पाई जाती है। जैसे मकीण

---

१. विभक्ति संश्लिष्टावस्था में और परसर्ग विश्लिष्टावस्था में होते हैं --लेखक

२. 'हक़ायके हिन्दी'--अनुवादक सैयिद अतहर अब्बास रिजवी, ना०प्र० सभा काशी, सं० २०१४ वि०

३. कुछ कवियों की कविताओं में ञ् और ण् लिपि में ही मिलते हैं जैसे कुञ्ज (रसखान); कुण्डल (सूरदास)। 'साञ्-साञ्' में 'ञ' 'ध्वनि' मानी जा सकती है।

(मकान) ; **परधौण** (प्रधान) । इस 'ण्' को 'ड़ँ' के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है। जैसे--**मकौड़ँ, परधौड़ँ।**

अ=गढ़्अ, चार्अ, गस्त्अ

अ=अब्, मल्

आ=आदिमी, आफति, चमारि, छोरा [आँसू]

इ=आवत्इ, सोवत्इ ब्यार्इ (इ की फुसफुसाहट वाली यह ध्वनि अलीगढ़ जिले की तहसील कोल में अच्छी तरह सुनी जा सकती है)

इ=इमिर्ती, चिरइआ, मरि [इँठानी]

ई=ईख, पतीली, छाती [ईगुर]

उ=आवत्उ, जात्उ, सूज्ज्उ,[1] (फुसफुसाहट वाली यह ध्वनि भी तहसील कोल में सुनी जा सकती है)। उ़आर (परगना टप्पल के जाटों की बोली में)

उ=उड़ान् कउआ, रेतु [उँगरिया]

ऊ=ऊन्, कथूला, कलेऊ

ए=एकवैनिया (=एक वेणी वाला सिर)

ए=एक्, चेला, हरे

ऐ=ऐसौ, अनैठ, बरसै

ओ=सोई (पुनि लेत सौई जेहि लागि अरैं--कवितावली, वालकाण्ड, ४)[2]

औ=हौं (वरु मारिए मोहिं विना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौ जू--कवितावली, अयोध्याकाण्ड, ६)[3]

औ=औझपौ, कौली, औखटौ।

३५. व्रजभाषा में दो असम स्वरों का संयोग तो प्रायः मिलता ही है, किन्तु तीन असम स्वरों का संयोग भी मिलता है।

अ इ=कइ (कहि>हिं० कह)
अ ई=लई (हिं० ली)
आ उ=आउ (हिं० आ)
अ उ आ=कउआ, हउआ
अ इ आ=चिरइआ, विलइआ
अइ ओ=अइओ (हिं० तू आना)
अ इ औ=अइऔ (हिं० (तुम) आना)

३६. 'ड़' और 'ढ़' ध्वनियां शब्द के आदि में नहीं आतीं। व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार यह कहना बहुत कुछ संगत है कि 'ड' अक्षर अर्थात स्वरयुक्त ड् शब्द के मध्य में नहीं आता है। व्यंजन-संयोग के साथ तो आ सकता है जैसे, **अड्डौ, गड्ढौ, मुन्डौ** आदि। 'गँडासी' और 'मुँडेल' जैसे शब्द व्रजभाषा के नहीं है। ये व्रज की बोली में **गड़ासी** और **मुंड़ेल** वोले जाते हैं।[4]

---

१. देखिए डा० धीरेन्द्र वर्मा: व्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०, पृ० ४०

२, ३. देखिए, डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, सन् १९४०, पृ० १०४, १०३

४. डा० धीरेन्द्रवर्मा ने अपने शोध-ग्रंथ 'व्रजभाषा' (पृ० ४२) में 'क्रोडत' का उदाहरण दिया है जिसे प्राचीन व्रजभाषा का रूप वताया है। हमारे विचार से ऐसे दो-एक उदाहरण अपवाद ही हैं। यह भी हो सकता है कि 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की किसी प्रति में 'क्रीड़त' पाठ भी हो, क्योंकि हिन्दी में 'क्रीड़ा' प्रचलित है।

३७. 'अ' अन्त्य स्वर व्रजभाषा-शब्दों में सामान्यतया लुप्त हो गया है परन्तु संयुक्त व्यंजन के साथ का और अन्त्य ड़ और ढ़ का 'अ' अवश्य बोला जाता है :

(१) मस्त, गस्त, गद्द-पद्द, झट्ट-पट्ट।

(२) झाड़, लड़, ताड़, गढ़।

३८. स्पर्श-व्यंजनों में अनुनासिक 'ङ्' भी व्रजभाषा में आदि, मध्य और अन्त में पाया जाता है :

आदि ङ्	—	ङ्वाँ	(वहाँ)
मध्य ङ्	—	अङ्गा	(एक प्रकार की रोटी)
अन्त्य ङ्	—	भाङ्	(भाँग), स्वाङ् (स्वाँङ्)

३९. अलीगढ़ जिले के अशिक्षित मनुष्यों तथा अशिक्षित स्त्रियों की बोली में पश्चगामी समीकरण की प्रवृत्ति अधिक मिलती है—

(१) उर्द	>	उद्द	(बुलन्दशहर में उड़्द)
(२) मर्द	>	मद्द	(,, ,, मड़्द)
(३) कर्ज	>	कज्ज	
(४) हर्ज	>	हज्ज	
(५) भर्ला	>	भल्ला	
(६) वाद्साह	>	वास्सा	
(७) द्वाद्सी	>	द्वास्सी	

४०. जिला आगरा, मथुरा, अलीगढ़ और एटा जिले की जलेसर तहसील के चमारों की बोली में शब्द के मध्य में आया हुआ 'ल्' प्रायः 'न्' में बदल जाता है :

(२) बाल्टी	>	वान्टी	(चमारों की बोली में)
(२) झल्सा (जल्सा)	>	झन्सा	(,, ,,)
(३) कल्सा	>	कन्सा	(,, ,,)

४१. मथुरा जिला और अलीगढ़ जिले की तहसील इगलास व खैर में निश्चयार्थ सामान्य भूतकाल की क्रिया में 'य' श्रुति का आगम पाया जाता है :

(१) मरौ (मरा)	>	मर्यौ।
(२) करौ (किया)	>	कर्यौ।
(३) धरौ (धरा)	>	धर्यौ।

४२. आदि व्यंजन-गुच्छ का होना व्रजभाषा की अपनी विशेषता है। अवधी में यह मध्य स्वर-संयोग के रूप में पाई जाती है :

अवधी			व्रजभाषा
(१) दुआर	(उ आ)	—	द्वार
(२) कुआर	(उ आ)	—	क्वार
(३) सिआर	(इ आ)	—	स्यार
(४) पिआर	(इ आ)	—	प्यार

४३. अलीगढ़ जिले की इगलास, खैर और सिकन्दराराऊ तहसीलों में स्वतः नासिक्यीकरण पाया जाता है[1]—

१. डा० धीरेन्द्रवर्मा कृत 'व्रजभाषा' ग्रन्थ (पृष्ठ ४१) के अनुसार यह अकारण अनुनासिकता बरेली, फर्रुखाबाद और मैनपुरी में भी पाई जाती है। अलीगढ़ जिले के चमारों की बोली में अकारण अनुनासिकता पाई जाती है जैसे मुई को मुइँ, नाज को नाँज।

(१) भूक > भूँक
(२) हगास > हँगास (टट्टी फिरने की हाजत)
(३) आवतूं > आँमतूँ

सन्धि-जन्य ध्वनि-परिवर्तन

(१) चलतु + है = चलत्वै
(२) फिरत + हौ = फिरतौ, फित्तौ
(३) दुवक + गई = दुवग्गई

ब्रजभाषा का रूप-विचार

४४. ब्रजभाषा में हिन्दी की अन्य बोलियों के समान केवल दो ही लिंग होते हैं–(१) पुंल्लिग। (२) स्त्रीलिंग। प्राणिवाची संज्ञाएं तो लिंगार्थ-भेद से ही निश्चित की जाती हैं जैसे **बर्ध** (पुंल्लिग) और **गाय** (स्त्रीलिंग)। प्राणहीन वस्तुओं की द्योतक संज्ञाएं भी इन्हीं दोनों लिंगों के अन्तर्गत आती हैं। इनके लिंग का निर्धारण पतंजलि के कथन **'लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य'** के अनुसार ही किया जा सकता है—**काठ** (पुंल्लिग), **खाट** (स्त्रीलिंग)। ब्रजभाषा में **दही** पुंल्लिग में ही अधिक प्रचलित है। छोटे-छोटे जानवर, कीड़े-मकोड़े आदि प्रायः नित्य-स्त्रीलिंग या नित्य-पुंल्लिग होते हैं। जैसे **मूसौ** (पुंल्लिग), **मछरी** (स्त्रीलिंग)। इनका **मूसी** और **मछरा** नहीं होता है। हां, **मूसटा** का स्त्रीलिंग **मूसटी** अवश्य होता है।

४५. ब्रजभाषा की पुंल्लिग संज्ञाएं नीचे लिखे स्वरान्त[1] वाली होती हैं:

—अ, जैसे स्याम[1], गढ़, लट्ठ, ताड़, सार[1]।
—आ, जैसे सखा, पोथा, बगुला, घोड़ा, छोरा।
—इ, जैसे कबि (सं० कवि)
—ई, जैसे स्वामी, धनी, दही, पानी, बाइगी (साँप काटे का ज़हर उतारने वाला), सँमई।
—उ, जैसे बैनु, पेचु, रेतु, पनु (आयु का एक भाग),
जमाउ, समाउ (कवितावली, लंका०, ५४), पाउँ।
—ऊ, जैसे प्रभू, बीछू, पखेरू, कुँदरू (एक पौधा),
—ओ[2], टेसू, माऊँ (फसल के रोग का एक कीड़ा)।
—औ, जैसे माथौ, पामरौ (हिं० फावड़ा), तयौ, झगड़ौ, सुहागौ।

४६. ब्रजभाषा की स्त्रीलिंग संज्ञाएं निम्नांकित अन्त वाली होती हैं:

—अ, जैसे बात, खाट, रेख, डांट, गड़बड़।
—आ, जैसे माया, माला, पुड़िया, लढ़िया, चिरइआ।
—इ, जैसे सौति, मौति, राति, जाति, कोखि।
—ई, जैसे रानी, देवी, छड़ी, घड़ी, थारी।
—उ, जैसे धेनु (सं० धेनु)
—ऊ, जैसे बहू, भटू
—ऐ, जैसे परै (खेत की एक हानि जो वर्षा से होती है), सरै (फोड़े या घाव में से निरन्तर मवाद निकलना)।

---

१. सामान्यतया शब्द का अन्तिम 'अ' स्वर बोला नहीं जाता। किन्तु लिपि में उसका अस्तित्व अवश्य पाया जाता है। संज्ञा के इस विवरण के कुछ उदाहरण डा० धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'ब्रजभाषा-व्याकरण' से लिये गये हैं।
२. ओकारान्त संज्ञाएं प्राचीन ग्रन्थों की लिपि में मिलती हैं।

—ओ, जैसे लपड़ो (झूठ बोलने वाली स्त्री), झव्वो (बड़े बालों वाली कुतिया), मुर्रो (वह भैंस जिसके सींग मुड़े हुए होते हैं)।

४७. निष्कर्ष यह है कि ठेठ जनपदीय ब्रजभाषा में इकारान्त, एकारान्त, ऐकारान्त और ओकारान्त पुंल्लिग संज्ञाएं नहीं होतीं। स्त्रीलिंग संज्ञा—शब्दों में भी जनपदीय ब्रजभाषा में उकारान्त, एकारान्त और औकारान्त नहीं पाये जाते।

४८. अनियमित रूप से पुंल्लिग संज्ञाओं के स्त्रीलिंग बनने वाले शब्द :

	पुंल्लिग		स्त्रीलिंग
(१)	भइया	—	भैंन
(२)	भइआ	—	भाभी, भौजाई (तह० इगलास के जाटों की बोली में भग्या[१])
(३)	बाबुल	—	मइआ
(४)	फूफा	—	बूआ
(५)	बर्‌ध	—	गइआ (तह० इगलास के जाटों की बोली में गग्या[१])
(६)	चिरौटा	—	चिरइआ (तहसील इगलास के जाटों की बोली में 'चिरइग्या'[१] भी)

४९. पुंल्लिग प्राणिवाचक संज्ञाओं को स्त्रीलिंग रूप में बदलने वाले प्रत्यय :

	प्रत्यय	उदाहरण	टिप्पणी
(१)	{अ~इनि, इनी}	[ग्वाल~ग्वालिनि, ग्वालिनी]	—
(९)	{आ~ई}	[छोरा~छोरी; चेला—चेली]	—
(२)	{अ~अनी}	[मोर~मोरनी; सिंघ—सिंघनी]	—
(३)	{अ~अनी}	[ऊँट~ऊँटनी]—आदि दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है	
(४)	{अ~ई}	[चमार~चमारी; देव~देवी]	—स्त्री 'चमारिन' भी
(५)	{अ~इन}	[चमार~चमारिन; कहार~कहारिन]	—स्त्री० 'कहारी' भी
(१३)	{ई~इन, इनि}	[माली~मालिन, मालिनि; धोबी~धोबिन, धोबिनि]—	
(१०)	{आ~अनी}	[कउआ~कउअनी; भिड़िआ~भिड़िअनी]	
(१४)	{ई~इनी}	[हाथी~हथिनी]—आदि दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है।	
(६)	{अ~आनी}	[देवर~द्यौरानी; जेठ~जिठानी]	
(११)	{आ~अ, इ}	[भैंसा~भैंस, भैंसि; भेड़ा~भेड़]	
(७)	{अ~आइन}	[ठाकुर~ठकुराइन,]	
(८)	{अ~आनी}	[ठाकुर~ठकुरानी; पंडित~पंडितानी]	
(१२)	{आ~इया}	[कुत्ता~कुतिया; पट्ठा~पठिया]	—ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं।
(१५)	{औ~इन}	[चौबौ~चौबिन]	
(१६)	{औ~ई}	[क्वारौ~क्वारी; आँधरौ~आँधरी]	

५०. 'इया' प्रत्यय लगाकर हीनतावाची या लघुतावाची स्त्रीलिंग से संज्ञाएं बनती हैं :

स्त्रीलिंग		लघुतावाचक या हीनतावाचक
खाट	—	खटिया
मालिन	—	मलिनिया

१. मध्य व्यंजन—संयोग का युग्म बोलने में पहले व्यंजन को दुहरा कर लेता है।

चमारी	—	चमरिया[1]
लाठी	—	लठिया

५१. 'आ' तथा 'इया' प्रत्यय लगाकर हीनतावाचक पुंल्लिग संज्ञाएं वनती हैं :

पुंल्लिग		हीनतावाचक
चमार	—	चमरा
कुम्हार	—	कुम्हरा
नाऊ	—	नउआ
धोवी	—	धोविया
कोरी	—	कोरिया

५२. कारक-चिह्न (कारकीय परसर्ग)-रहित वचन-विश्लेषण :

पुंलिंग (मूल रूप)

एकवचन		बहुवचन
एक गढ़ / एक गढ़ु	—	द्वै गढ़
एक छोरा	—	द्वै छोरा
एक वाइगी	—	द्वै वाइगी
एक पनु	—	द्वै पन
एक बीछू	—	द्वै बीछू
एक माथौ	—	द्वै माथे (इस औकारान्त पुंलिंग संज्ञा का मूलरूप वहुवचन में एकारान्त हो जाता है—औ∼ए)

स्त्रीलिंग (मूल रूप)

एकवचन		बहुवचन
एक वात	—	द्वै वात
एक माला	—	द्वै माला
एक सौति	—	द्वै सौति
एक रानी	—	द्वै रानी
एक धेनु	—	द्वै धेनु
एक वहू	—	द्वै वहू
एक परैं	—	द्वै परैं
एक लपड़ो	—	द्वै लपड़ो

उपर्युक्त पद जव कर्ता और कर्मकारक के रूप में ने, को आदि चिह्नों के विना वाक्य में आते हैं तो ये ही रूप रखते हैं। जैसे :

(१) एक छोरा आयौ; द्वै छोरा आए।
(२) तैंने एक छोरा मार्यौ; तैंने द्वै छोरा मारे।
(३) तेरी एक वात अच्छी है; तेरी द्वै वात अच्छी हैं।
(४) तैंने एक वात कही; वानैं द्वै वात कहीं।

लघुवाची या हीनतावाची स्त्रीलिंग शब्दों के वहुवचन में इया का इयां हो जाता है :

एकवचन		वहुवचन	
लठिया	—	लठियाँ	
कुम्हरिया	—	कुम्हरियाँ	
कुतिया	—	कुतियाँ	(यह सादृश्य का परिणाम है)।

---

१. हिन्दी के 'इया' प्रत्यय के मूल में सं० 'इका' भी है। 'कंजरिया' (कंजर की स्त्री) की व्युत्पत्ति सं० कन्दरिका (कन्दरा में रहने वाली) से है।

पुंलिग (विकृत रूप)

एकवचन		बहुवचन
एक गड़ नैं	—	द्वै गड़न नैं
एक छोरा नैं	—	द्वै छोरन (छोरान) नैं
एक वाइगी नैं	—	द्वै वाइगिन नैं
एक पन नैं	—	द्वै पनन नैं
एक वीछू नैं	—	द्वै वीछुन नैं
एक माथे नैं	—	द्वै माथेन नैं

स्त्रीलिंग (विकृत रूप)

एकवचन		बहुवचन
एक वात नैं	—	द्वै वातन नैं
एक माला नैं	—	द्वै मालन (मालान) नैं
एक सौति नैं	—	द्वै सौतिन नैं
एक रानी नैं	—	द्वै रानिन नैं
एक वहू नैं	—	द्वै वहून नैं
एक परैं नैं	—	द्वै परैंन नैं
एक लपड़ो नैं	—	द्वै लपड़ोन नैं

विशेष—स्त्रीलिंग के वहुवचन में 'नु' प्रत्यय भी लगता है।

५३. व्रजभाषा में विभवित-प्रत्यय :

प्रत्यय	उदाहरण	कारक
(१) { एँ }	['ताकी माता खाई कारैं'—सूरसागर ७।८ 'संकटैं गर्व वढ़ायौ'—सूरसागर १०।६१]	कर्ता
(२) { ऐ }	['तू छोराऐ मारैगौ'—जिला अलीगढ़ में]	कर्म
	['कन मांगते वांभनैं लाज नहीं।' सुदामाचरित्र]	×
(३) { एँ }	['ताको हमैं वतावत'—सूरसागर]	कर्म
(४) { हिं हि }	['महादुष्ट लै उड़्यौ गुपालहिं'—सूरसागर १०।७८ 'जियहि जिवाय' —सुजानसागर, ५]	कर्म
(५) { ए }	['मेरे हिये हरि के पदपंकज'—सुदामाचरित्र]	अधिकरण
(६) { एँ }	['राजा हियें सुरुचि सौं नेह'—सूरसागर, ४।६]	,,

विशेष—'हिं'-प्रत्यय संप्रदान और अधिकरण अर्थ में भी सूर ने प्रयुक्त किया है।[1]

५४. व्रजभाषा के कारकीय परसर्ग :

(१) {ने, नें, नै, नैं} कर्ता कारक

(२) {कु, कुँ, कू, कूँ, को, कों, कौं, इ, ऐ (यह 'ऐ' सम्भवतः 'हि' से विकसित है—हि>इ>ऐ)[2] }—कर्मकारक तथा सम्प्रदानकारक

(३) {ते, तें, तैं सू, सूँ, सों, सौं, सेती, सेदी, सेंती, सेंदी, सेंदा।}—करणकारक

(४) { ते, तें, तैं, सू, सूँ, सों, सौं}—अपादानकारक

(५) { कि, की, के, को, कौ}—सम्बन्धकारक[3]

(६) { पै, माँहि, में, मैं}—अधिकरण

---

१. देखिए डा० प्रेमनारायण टण्डन, सूर की भाषा, सन् १९५७, पृ० १५८ से १६२ तक।

२. रामहि > रामइ > राम ऐ > रामै।

३. हिन्दी में प्रचलित है। इसी लिए यहाँ हमने सम्बन्ध को कारक लिख दिया है। वैसे वह विशेषण की भांति आता है।

संयुक्त परसर्ग—पै–ते, मैं–ते, के–मैं–ते, के–लैं आदि।

विशेष—ब्रजभाषा में '**नैं**' परसर्ग कर्मकारक में और '**पै**' परसर्ग कर्ता और अपादान में भी प्रयुक्त होता है। 'ऐ' परसर्ग अधिकरण में भी।

(१) **पौहेन नैं** घेर मैं ते निकारौ।[1] (कर्म)

(२) **गोपाल पै** चलौ (चल्यौ) नाइं जातु। (कर्ता)

(३) तू **गोपाल पै** माँगि। (अपादान)

(४) **राम ऐ** जुरु है। (अधिकरण)

कर्मकारक के अर्थ में 'कूँ' परसर्ग का प्रयोग अलीगढ़ जिले में पूरी तरह प्रचलित है। रीतिकाल के आलम के 'सुदामाचरित्र' में भी यह प्रयोग है :

"अपने सुख की ख्वाहिश **तुझकूँ**
मुझकूँ नाहक भेजि लजावै।"[2]

सर्वनामों का विश्लेषण

५५. (१) पुरुषवाचक सर्वनाम (उत्तम पुरुष)

	एकवचन		बहुवचन
मूल रूप—	हूँ, हौं, मैं	—	हम
विकृत रूप—	मो, मौ	—	हम

(२) पुरुषवाचक सर्वनाम (मध्यम पुरुष)

	एकवचन		बहुवचन
मूलरूप—	तू, तूँ, तें, तैं	—	तुम
विकृतरूप—	तो	—	तुम

(३) पुरुषवाचक सर्वनाम (अन्य पुरुष)[3]

	एकवचन		बहुवचन
मूल रूप—	बु बुअ, वो, गु	—	वे, ग्वे
विकृत रूप—	वा, वा	—	उन, गुन, बुन, विन

५६. निश्चयवाचक निकटवर्ती सर्वनाम—

	एकवचन		बहुवचन
मूल रूप—	यि, जि, जिअ, गि, गिअ	—	ये, जि, जे, गि, गे,
विकृत रूप—	या, जा	—	इन, गिन

५७. सम्बन्धवाचक सर्वनाम—

	एकवचन		बहुवचन
मूल रूप—	जो	—	जे
विकृत रूप—	जा	—	जिन
मूल रूप—	सो	—	सो
विकृत रूप—	ता	—	तिन

---

१. 'पौहेन नैं' का यह 'नैं' परसर्ग कर्मकारकीय 'को' के अर्थ में है। ब्रजभाषा पर यह अपनी पड़ौसिन हरियाणी और राजस्थानी (मारवाड़ी) का प्रभाव है।

२. हिन्दी-अनुशीलन (धीरेन्द्रवर्मा विशेषांक), पृ० ३६४

३. इसे दूरवर्ती निश्चयवाचक भी कह सकते हैं।

एकवचन		बहुवचन
५८. प्रश्नवाचक सर्वनाम		
मूल रूप—कौन, को, कहा, का	—	कौन, को, कहा, का
विकृत रूप—का, कौन	—	का, कौन

५९. अनिश्चयवाचक सर्वनाम

मूल रूप— कोई, कोऊ, कछू, कछुक।

विकृत रूप— काऊ, काहू।

६०. विशेषण—एक, द्वै, पहलौ, दूसरौ, तीसरौ, चौथौ, पाँचमी, छठी, सगरौ, थोरौ, भौत, इकहरौ, दुहरौ, मौंटौ, पतरौ, मौंटौ, पतरौ, हलुकौ, भारी।

एकवचन		बहुवचन
मौंटौ—पतरौ लोग	—	मौंटे-पतरे लोग
मौंटी—पतरी बइग्ररवानी	—	मौंटी-पतरी बइग्ररवानी
मौंटौ—पतरौ चिरौटा	—	मौंटे-पतरे चिरौटा
मौंटी—पतरी चिरइग्रा[1]	—	मौंटी-पतरी चिरइग्राँ

६१. क्रिया-विशेषण अव्यय—

(क) स्थानवाचक—याँ, ह्याँ, वाँ, ह्वाँ (ह्वाँ)।

(ख) कालवाचक —अब, जब, कब।

(ग) विधिवाचक—त्यों, यों, ऐसैं।

(घ) निषेधवाचक—नाँहि, नाइँ, मति।

(ङ) कारणवाचक—चौं, च्यों, क्यों, कत।

(च) परिमाणवाचक—कितेक, नैंक, कछुक।

६२. समुच्चयबोधक अव्यय—ग्रौ, ग्रौर, ग्रौरु, फेरि, परि, जा मारैं, बलिकम।

६३. विस्मयादिबोधक अव्यय—हे, ग्रो, ग्राह, ग्ररे, 'क्व-क्व' से मिलती क्लिक-ध्वनि।

व्रजभाषा की क्रियाएं

६४. निश्चयार्थ

व्रजभाषा	हिन्दी		काल
(१) वु[2] (गु) चलत्वै (चलै या चलतु है)।	=वह चलता है	—	सामान्य वर्तमान
(२) वु (गु) चलि रह्यौ है (चलिरौ ऐ)।	=वह चल रहा है	—	अपूर्ण वर्तमान
(३) वु (गु) चल्यौ है (चलौ ऐ)	=वह चला है	—	पूर्ण वर्तमान
(४) वु (गु) चल्यौ (चलौ)।	=वह चला	—	सामान्य भूण
(५) वु (गु) चलि रह्यौ हो (चलिरौ ग्रो)।	=वह चल रहा था	—	अपूर्ण भूत
(६) वु (गु) चल्यौ हो (चलौ ग्रो)।	=वह चला था	—	पूर्ण भूत
(७) वु (गु) चलैगौ।	=वह चलेगा	—	सामान्य भविष्यत्

१. छोटे बालक की व्रजबोली में चिरइग्रा को 'चोंचों' पानी को 'पापा' ग्रौर खाने को 'हप्पा' कहते हैं। —लेखक

२. वो, वौ, उ, गुग्र रूप भी व्रजभाषा में चालू हैं।

६५. संभावनार्थ—

(१)	स्याइत है गु चलै	=शायद वह चले	—	भविष्यत् काल
(२)	त्यारी जै होइ	=तुम्हारी जय हो	—	,,
(३)	राजा कूँ चइऐ कै परजा को पालन करै	=राजा को चाहिए कि प्रजा का पालन करे।	—	,,
(४)	स्याइत गु चल्यौ होइ	=शायद वह चला हो	—	भूतकाल

६६. संदेहार्थ—

(१)	छोरा चल्तु होइगौ	=लड़का चलता होगा	—	वर्तमान काल
(२)	घोड़ा चल्यौ होइगौ	=घोड़ा चला होगा।	—	भूतकाल

६७. आज्ञार्थ—

(१)	छोरा वाँ जाइ	=लड़का वहाँ जावे।	—	भविष्यत्
(२)	तुम सड़क पै चलौ	=तुम सड़क पर चलो।	—	,,
(३)	का मै संग चलूं ?	=क्या मैं साथ चलूं ?	—	,,

६८. संकेतार्थ—

(१) जौ मेरें बहुत-सौ धन होतौ (होंतौ) तौ त्यारे सॅंग चलतौ। } =यदि मेरे यहां बहुत-सा धन होता तो तुम्हारे साथ चलता। —भविष्यत्

(२) जौ मौहन मेरे संग चल्यौ तौ लड़ाई वदिकै होइगी। } =यदि मोहन मेरे साथ चला तो लड़ाई अवश्य होगी। —भविष्यत्

६९. संयुक्त क्रियाएं

(१) क्रियार्थक संज्ञा के मेल से बनी हुई संयुक्त क्रिया—

मोइ तेरे घर **जानौ परेगौ**=मुझे तेरे घर जाना पड़ेगा।

(२) संज्ञा या विशेषण के मेल से बनी हुई संयुक्त क्रिया—

रिसी के साप ते गु वईं **भस्म हैगौ**=ऋषि के शाप से वह वहीं भस्म हो गया।

(३) वर्तमानकालिक कृन्दत से बनी हुई संयुक्त क्रिया—

गु आपु ई आप **पढ़तु र् हैत्वै**=वह आप ही आप पढ़ता रहता है।

लोटा पै की चमक **जाति रही**=लोटे पर की चमक जाती रही।

(४) भूतकालिक कृदन्त से बनी हुई संयुक्त क्रिया—

गु पोखरा मै **कूदी परत्यै** =वह पोखरे (कच्चा तालाब) में कूदी पड़ती है।

(५) पूर्व कालिक कृदन्त से बनी हुई संयुक्त क्रिया—

झट्ट गोपालु **बोलि उठ्यौ**=तुरन्त गोपाल बोल उठा।

छोरी **रोइ परी** और मा **उठि वैठी**=लड़की रो पड़ी और माँ उठ वैठी।

(६) अपूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त से बनी क्रिया—

न निगल्त बनें, न उगल्त बनें=न निगलते बनता है न उगलते बनना है।

(७) पूर्ण क्रियाद्योतक कृदन्त से बनी क्रिया—

हूं जि काम **करें जातिउँ**= मैं यह काम किये जाती हूं।

(८) पुनरुक्त संयुक्त क्रिया—
गु कछु **बोल्तुचाल्त्वै**—वह कुछ बोलताचालता है।

सामासिक पद-युग्म

७०. **प्रतिध्वनि पद-युग्म**—घोड़ा-वोड़ा, काम-फाम (काम-वाम), मौंटी-फौंटी, रोटी-फोटी (रोटी-वोटी), पानी-वानी, काम-धाम।

७१. **अनुकार पद-युग्म**—पूछ-ताछ (पूछ-गछ), खुसामद-दरामद, ऊवड़-खावड़, वासन-कूसन।

७२. **विकार पद-युग्म**—गोभी-गाभी, घेर-घार, होना-हवाना, देर-दार, काम-कूम, फेर-फार, ज्वान-जमान, रोज-राहट, कूंच-कांच, टूटी-टाटी।

७३. **अनुवाद-पद-युग्म**—साग-सब्जी, धन-दौलत, वर्तन-भांड़े, हल्लौ-गुल्लौ, सील-म्हौर, कपड़ा-लत्ता, जान-बूझ।

७४. **प्रतिचर-पद-युग्म**—लड़ुआ-पेड़ा, ढोल-तांसे, लोग-लुगाई, मा-बाप, भैनि-भइआ, कहन-सुनन, न्हान-धोमन, आनौ-जानौ, देख-भार, बाट-बनौरौ, खेल-कूद, खानौ-पीनौ (खाइवौ-पीवौ), लैनौ-दैनो (लैंवौ-दैवौ) धरनी-ढकनौ, घिस्सा-पट्टी।

७५. **द्विरुक्ति-पद-युग्म**—सरर्-सरर्, पट्-पट्, टन्-टन्, गट्-गट्, घर्र-घर्र, पड़र्-पड़र्, कड़र्-कड़र्, ताड़-ताड़, गटागट्, पटापट्, सड़ासड़्, घूंसम्घूंसा, टालम्टूल, ढीलम्ढालौ, मुक्का-मुक्की, घिस्सा-घिस्सी।

७६. ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली की वाक्यावली की तुलना :

(१) ब्रजभाषा—"हरी रोजु गोपाल् ते जिई कहतु रहत्वै कै ए गोपाल ! राम् नैं अपनी आंखिन् ते देख्यौ ऐ कै मोहन् के बाप नैं अपने बेटा कूं[1] धन के लऐं घर् ते निकार दौ ऐ और गु साइकिल पै चढ़िकैं सहर मैं नौकरी कौ काम करन् लगौ ऐ।"—(तह० कोल, जि० अलीगढ़)

(२) **कन्नौजी**—"हरी रोज गोपाल् सै जहे कहत् कहत् हइ के ओ गोपाल् ! राम् ने अपनी आंखिन् सै देखो हइ के मोहन के बाप् ने अपने बेटा कउँ धन के लए घत्ते निकाद्दओ हइ अउ बउ साइकिल् पइ चढ़िकै सहर मइं नउकरी को काम् करन लगो हइ।" (तह० कन्नौज)

(३) **बुन्देली**—"हरी रोज गोपाल् सौं जोई कहत रहत है कै ए गोपाल् ! राम ने अपनी आंखन् सौं देखो है कै मोहन के बाप् ने अपने बेटा खौं धन के काजें घर सें निकार दओ है और वो साइकिल् पै चढ़िकैं सहर मैं नौकरी को काम करन् लगो है।"—(तहसील झांसी)

परसर्गों की तुलना :

ब्रज		**कन्नौजी**		**बुन्देली**
नैं	—	ने	—	ने
कौ	—	को	—	को
कूं	—	कउँ	—	खौं
मैं	—	मइं	—	मैं

क्रिया की तुलना :

लगौ है	—	लगो हइ	—	लगो है।
आवतु है	—	आत हइ	—	आउत है।
गु रिस मैं भरिगौ	—	वउ रिस मइं भर गओ	—	वो रिस में भर गओ

१. बुलन्दशहर में 'कू' और मथुरा शहर के चौबों की बोली में 'कौं' बोला जाता है—लेखक

हिन्दी में बलाघात और सुरलहर

श्री रमेशचन्द्र महरोत्रा

हिन्दी में बलाघात[1] का ध्वनियों और ध्वनिगुणों पर सामान्य प्रभाव

एक ने कहा, 'मुझे भूख् लगी है।'

यदि दूसरा व्यक्ति इस वाक्य में प्रयुक्त 'भूख्' शब्द को न सुन पाए, और एक दुहरे प्रश्न के साथ पहले व्यक्ति से पूछे, 'क्या ? प्यास् ?', तो इसके उत्तर में प्रथम वक्ता यदि 'नहीं' के मानों को व्यक्त करते हुए केवल 'भूख्' कहे, जिसका अर्थ अपने में ही 'प्यास् नहीं' हो, तो वह अपने पहले वाक्य 'मुझे भूख् लगी है' के 'भूख्' से इस दूसरे 'भूख्' को अधिक बलाघात के साथ बोलेगा (आगे से हम बलाघात-युक्त अक्षर के आरम्भ के पहले बलाघात का एक चिह्न लिखा करेंगे, यथा 'ˈभूख्'), और तब इस 'ˈभूख्' का 'ऊ' एक तो अपेक्षाकृत अधिक दृढ़ (Tense) होगा, और दूसरे अधिक दीर्घ। ऐसे ही उदाहरणों से निष्कर्ष निकाल कर नियम के रूप में यह कहा जा सकता है कि बलाघात ध्वनियों को दृढ़ बना देता है, और उनमें दीर्घता ला देता है। यदि हम, उदाहरणार्थ 'टूट्' को 'ˈटूट्'की भांति बोलें, तब विशेषकर पहला 'ट्' बहुत दृढ़ (Fortis) होगा, और यदि उसे बिना बलाघात दिए बोलें, तब दोनों 'ट्' अपेक्षाकृत एकदम शिथिल (Lenis) होंगे।

बच्चे से पहली और दूसरी बार 'खा' कह चुकने के बाद—यदि वह जिद पकड़कर, खाना नहीं शुरू करता है—अगर डाटकर 'ˈखा' कहा जाय, तो वह 'ˈखा' पहली और दूसरी बार कहे गए 'खा' की अपेक्षा अधिक बलाघातयुक्त होगा, साथ ही उसका स्वर भी दीर्घतर। इसी के साथ सुर (Pitch) को भी लें---कि अधिकांशतः, बलाघात का प्रयोग 'सुर' को ऊंचा कर देता है। उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि बाद वाले 'ˈखा' में पहले और दूसरे 'खा' की अपेक्षा काफी ऊंचा सुर प्रयुक्त किया जायगा। सुर और बलाघात का यों तो काफी निकटसम्बन्ध है, पर ऐसा नहीं है कि बलाघात पड़ने पर निश्चिततः सुर भी ऊंचा हो ही जाय, जैसे यदि हम बच्चे से कहें, 'वह् चिड़िया फुर्र् से उड़ गई।' और वह इस वाक्य के तीसरे शब्द को न समझते हुए हमसे पूछे, 'कैसे उड़् गई ?', तब हम उसे समझाते हुए 'ˈफुर्र्।' को अधिक बलाघात तो देते है, पर सुर ऊंचा नहीं करते। इसी प्रकार, यदि कोई हमसे पूछे, 'कित्ने बजे हैं ?', और हम उत्तर दें 'चार्।' लेकिन यदि वह फिर पूछ बैठे, 'कित्ने ?' तो हम 'ˈचार्।' पर बलाघात तो देंगे, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि सुर भी ऊंचा उठाएं ही; हां, यदि वह एक बार और पूछ ले, 'कित्ने ?', तब जरूर सुर भी काफी ऊंचा हो जाएगा, और तब उस 'ˈचार।' में यह अर्थ भी निहित होगा, 'वह् रे हो गए हो क्या बिल्कुल् ?'। 'ˈचार्।' का 'आ' हमारे दोनों—दूसरे और तीसरे—उत्तरों में पहले उत्तर 'चार्।' के 'आ' की अपेक्षा दीर्घतर होगा। तीसरी बार कहे गए 'ˈचार्।' का 'आ' सबसे ज्यादा लम्बा होगा।

१. (क) इस लेख में उदाहरणों का उच्चरणा अक्षर-विन्यास की दृष्टि से किया जाएगा, प्रचलित में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके।
(ख) चूंकि बिना बलाघात के कोई अक्षर नहीं बोला जाता, इसलिए जहां हल्का बलाघात होगा, वहां हम मानेंगे कि 'बलाघात नहीं है' या 'अशक्त बलाघात है'। और जहां जोर का, यानी अधिक श्रोतव्य बलाघात होगा, वहां हम मानेंगे कि 'बलाघात है' या 'सशक्त बलाघात है'।

इसके भी कम-से-कम दो उदाहरण देखें कि बलाघात स्वरों की ही नहीं, व्यंजनों की भी दीर्घता बढ़ा देता है :

यदि आपसे पूछा जाय, 'वह क्या है ?', और आप उत्तर दें, 'नल् ।'(बलाघात नहीं है); उसके बाद प्रश्न कर्ता दुबारा पूछ ले, 'क्या ?', और आप फिर उसी प्रकार उत्तर दे दें, 'नल् ।'(अब भी बलाघात नहीं है); लेकिन प्रश्नकर्ता सिर्फ तफ़रीह के लिए एक बार और पूछ लें, 'क्या ?'; बस, आपका धैर्य डांवाडोल हो जाएगा, और आप 'नल्' पर इतना ज़ोर दे डालेंगे कि उसकी शक्ल 'नल्ऽऽ' जैसी हो जाएगी; अर्थात् इस अक्षर पर पड़ा हुआ बलाघात 'ल्' को बहुत लम्बा बना देगा।

एक व्यक्ति के लिए हम कहें, 'उसमें अनन्त् गुण् भरे पड़े हैं।', और दूसरे के लिए कहें, 'उसमें अनन्त् गुण् भरे पड़े हैं।' तो साफ भेद पता चल जाएगा कि पहले से दूसरे व्यक्ति में अधिक गुण हैं, क्योंकि पहले वाक्य के 'अनन्त्' शब्द के 'नन्त्' अक्षर पर बलाघात का प्रयोग नहीं हुआ है, और दूसरे वाक्य के 'अनन्त्' शब्द के 'नन्त्' अक्षर पर उसका प्रयोग जम कर हुआ है। इस बलाघात का 'त्' के पहले वाली 'न्' ध्वनि पर पड़ा हुआ प्रभाव भी स्पष्टतः सुना जा सकता है कि वह अपेक्षाकृत कितनी अधिक दीर्घ हो गई है।

बलाघात, 'एक सुरलहर' का जो 'केन्द्र अक्षर' (Syllable at the centre of an intonation) होता है, यानी उस सुरलहर में निहित बात का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश होता है, उसे उस सुर लहर के अन्य सारे अक्षरों से अधिक मुखर (prominent) बनाने में सहायता करता है, जैसे :

'मैं शेर् था।' (='मैं था शेर, और कोई व्यक्ति नहीं।), इसकी सुरलहर के केन्द्र पर है 'मैं'।

'मैं शेर् था।' (=मैं 'शेर' था, गीदड़ नहीं।), इसमें 'शेर्' सबसे सधिक मुखर है।

'मैं शेर् था।' (=मैं शेर 'था', अब नहीं हूं, अब कुछ और हूं।), इसकी सुरलहर में 'था' परका बलाघात उसे सर्वाधिक मुखर बनाए हुए है।

बलाघात व्यंजन-ध्वनियों में द्वित्व भी ला देता है, जैसे हम कहते हैं, 'धम्म् से गिरा।' या 'खट्ट् से आवाज् हुई।' इन दोनों वाक्यों के पहले अक्षरों पर बलाघात है, इसीलिए 'धम्' का 'धम्म्', और 'खट्' का 'खट्ट्' हो गया है। बिजनौर जिले के लोग झटके दे-देकर बोलते हैं, अर्थात् कम-ज्यादा बलाघात का खूब प्रयोग करते हुए। उन्हें 'रोटी नहीं खाता ?' को आप कहते हुए सुनेंगे 'रोट्टी नइं खात्ता ?'

बलाघात स्पर्श-ध्वनियों में, अंग्रेजी में तो खूब, पर हिन्दी में कभी-कभी ('कभी-कभी' इसलिए कि हिन्दी में बलाघात का प्रयोग अंग्रेजी की अपेक्षा वैसे भी बहुत कम होता है। हिन्दी में वाक्य के अधिकांशतः तो एक भी अक्षर पर बलाघात का प्रयोग नहीं 'किया जाता'; कभी केवल एक अक्षर पर किया जाता है; और कभी—कम ही अवसरों पर—दो या अधिक अक्षरों पर किया जाता है। इसके विपरीत, अंग्रेजी में ऐसा कभी नहीं होता कि वाक्य के एक भी अक्षर पर बलाघात न हो ? उसमें वाक्य के एक से लेकर कई-कई अक्षरों तक पर बलाघात रहना एक बहुत आम बात है।) महाप्राणत्व ला देता है, जैसे हम यदि 'क्या बताऊं!' को खीझ कर कहें, तो वह मुंह से निकलता है, 'ख्या बताऊं!' इसका उल्टा है कि एकदम बलाघातहीन (मतलब, बहुत ही अल्प बलाघात युक्त) होने पर अक्षर में से महाप्राण का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई संशय उठाए कि 'आप् क्या सच्मुच् आर्मी में रहे हैं ?' तब तो आप हर 'ह्' युक्त अक्षर पर बल देकर कहेंगे, 'हां, हां, रहा हूं।', लेकिन यदि आप किसी अन्य प्रसंग में किसी से सारा-का-सारा वाक्य बिल्कुल शिथिलता से (अर्थात् बिना कहीं बलाघात प्रयुक्त किए) पूछें, 'कहां जा रहे हो ?' तो वह इस सूरत का हो जायगा—'कां जा रएओ ?'। 'साहब्' का 'साब्', या कभी-कभी 'पाव्' का 'पा' हो जाना भी इसी ओर इंगित करता है कि जब ऐसे शब्द बलाघात-शून्य करके बोले जाते हैं, तब उनकी एकाध ध्वनि उड़ जाती है।

यदि संवृत स्वरों को बलाघातयुक्त बनाकर बोला जाय, तब तो वे वैसे ही रहते हैं; लेकिन यदि उन्हें बलाघातहीन करके बोला जाय, तो वे मध्य-केन्द्रीय स्वर (Central mid vowel) की दिशा की ओर थोड़ा-सा बढ़ जाते हैं, जैसे 'भाई साहब्' और 'पच्चीस' का 'भाइ साहब्' और 'पच्चिस्' हो जाने में ('ई' से 'इ'), या 'बाऊजी' और 'संदूक्ची' का 'बाउजी' और 'संदुक्ची' हो जाने में ('ऊ' से 'उ')। इसी प्रकार, यदि विकृत स्वरों को बलाघातयुक्त बनाकर बोला जाय, तब तो वे वैसे ही रहते हैं; लेकिन यदि उन्हें बलाघातहीन करके बोला जाय, तब वे भी मध्य-केन्द्रीय स्वर की दिशा की ओर बढ़ जाते हैं। जैसे, 'माता जी' और 'बाज़ार्' का 'मातअजी' और 'बजार्' हो जाने में ('आ' से 'अ')।

हिन्दी में बलाघात की सार्थकता

दुनिया में कोई भी भाषा ऐसी नहीं होती, जिसमें सारे-के-सारे अक्षर एक-सा बल लगाकर बोले जाते हों। उन पर बलाघात की विभिन्न मात्राओं का लगाया जाना ही भाषा की स्वाभाविकता का द्योतक है। हिन्दी में बलाघात दो प्रकार का मिलता है—एक तो वह जिसके बारे में ठीक-ठीक बताया जा सकता है कि वह 'कहां' होगा, जैसे—

(१) यदि शब्द में केवल एक अक्षर महाप्राण-ध्वनि ('ह्', या विसर्ग) या महाप्राण व्यंजन-ध्वनि (ख्, घ् आदि) से युक्त हो, तो उस अक्षर पर शब्द के अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक (सशक्त)[1] बलाघात होगा। उदाहरणार्थ, 'हकीम्' में 'ह' पर, 'ग्राहक्' में 'हक्' पर, 'राही' में 'ही' पर, 'मह्मान्' में 'मह्' पर, 'बेगुनाह्' में 'नाह्' पर, 'प्रायः' में 'यः' पर, 'फन्दा' में 'फन्' पर, 'निश्छल्' में 'छल्' पर, 'अमिताभ्' में 'ताभ्' पर, 'अर्धांगिनी' में 'धाङ्' पर, 'बलाघात्' में 'घात्' पर और 'उदाहरणार्थ' में 'दाह्' पर, इत्यादि।

(२) यदि शब्द 'साधारण एकाक्षरीय' (महाप्राणत्वयुक्त ध्वनिहीन) बोला जाय, तो उस पर अशक्त बलाघात नहीं पड़ा करता, सदा सशक्त ही पड़ा करता है। उदाहरणार्थ, 'कि', 'आ', 'तुम्', और 'वीर्', इत्यादि पर; लेकिन यदि वह महाप्राणत्वयुक्त ध्वनियुक्त हो, तो उसमें कुछ और सशक्तता आ जाती है। जैसे 'हो', 'भव्' और 'भाव्' इत्यादि पर।

(३) यदि शब्द में दो अक्षर हों, जिनमें से कोई भी महाप्राण-ध्वनि या महाप्राण व्यंजन-ध्वनि से युक्त न हो, और उनमें से एक दीर्घ स्वर रखता हो और दूसरा ह्रस्व, तो सदा दीर्घ स्वर वाले अक्षर पर बलाघात होगा। उदाहरणार्थ 'नीति' में 'नी' पर, 'आदत्' में 'आ' पर, 'नकेल्' में 'केल्' पर, और 'रमा' में 'मा' पर, इत्यादि।

(४) द्व्यक्षरात्मक शब्द में कहीं भी कोई महाप्राण-ध्वनि या महाप्राण व्यंजन-ध्वनि न हो, और यदि दोनों अक्षरों के स्वर ह्रस्व हों तब भी, और यदि दोनों के स्वर दीर्घ हों तब भी, बलाघात प्रथम अक्षर पर रहता है। जैसे 'किरण्' में 'कि' पर, और 'मृदु' में 'मृ' पर; इसी प्रकार, 'जीजा' में 'जी' पर, और 'पालतू' में 'पाल्' पर, इत्यादि।

(५) यदि द्व्यक्षरात्मक शब्द के दोनों अक्षरों में महाप्राणध्वनि और महाप्राणव्यंजन-ध्वनि में से कोई एक-एक ध्वनि आई हो, तो उस पर नियम (३) और (४) लगेंगे। उदाहरणार्थ 'झाखड़्' में 'झा' पर, 'हठी' में 'ठी' पर और 'हाथी' में 'हा' पर, इत्यादि।

(६) तीन अक्षरों के शब्दों में (यदि किसी में भी महाप्राणत्वयुक्त ध्वनि न हो) बलाघात की स्थिति सामान्यतः इस प्रकार रहती है :

ह्रस्व ह्रस्व ह्रस्व	'नलिनि', 'अरुणिम्'	पहले अक्षर पर
दीर्घ दीर्घ दीर्घ	'पाजामा', 'चौवालीस'	दूसरे पर

१. इस (सशक्त) बलाघात को दिखाने के लिए आगे के उदाहरणों में बलाघात-द्योतक चिह्न । को नहीं प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि इस प्रकार की सशक्तता अर्थ भेदोत्पादिका नहीं है। आगे चिह्न के प्रयोग को केवल 'उस सशक्त बलाघात के लिए' सीमित कर दिया है, जिसके कारण अर्थ में भेद उत्पन्न हो जाता है।

ह्रस्व ह्रस्व दीर्घ	'अतुकान्त', 'कबड्डी'	तीसरे पर
दीर्घ दीर्घ ह्रस्व	'पालागन्' 'रामानुज्'	पहले पर
दीर्घ ह्रस्व ह्रस्व	'मांगलिक्' 'पागल्पन्'	पहले पर
ह्रस्व दीर्घ दीर्घ	'निशाना', 'बराती'	दूसरे पर
ह्रस्व दीर्घ ह्रस्व	'चमारिन्', 'तमारि'	दूसरे पर
दीर्घ ह्रस्व दीर्घ	'आसुरी', 'कामुक्ता'	पहले पर

(७) चार अक्षरों के शब्दों में (यदि एक भी महाप्राणयुक्त ध्वनि न हो) से अधिकतर पर बलाघात आरम्भिक अक्षर पर रहता है। जैसे 'कमलिनी' में 'क' पर, 'कार्य्कारिता' में 'कार्य्' पर, 'आदरणीया' में 'आ' पर, और 'करामाती' में 'क' पर, इत्यादि।

ऊपर-वर्णित बलाघात सार्थक बलाघात नहीं है, वह हिन्दी की केवल सामान्य ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति द्योतित करता है। उदाहरणार्थ, यदि 'नलिनि' के 'न' के बलाघात को 'लि' पर, और 'न' को बलाघातहीन बनाकर बोल दिया जाय, तो अर्थ में किसी प्रकार का फर्क पड़ने की सम्भावना भी नहीं हो सकती; हां कानों को कुछ फर्क जरूर सुनाई पड़ सकता है—कुछ-कुछ अस्वाभाविक-सा। ऐसा बलाघात हिन्दी में प्रयुक्त स्वाभाविक बलाघात है। अर्थों में भेद पैदा करने के लिए "हमारी इच्छानुसार प्रयुक्त किया गया" बलाघात नहीं। इस बलाघात को 'निरर्थक बलाघात' कह सकते हैं।

दूसरे प्रकार का बलाघात हिंदी में 'सार्थक' बलाघात है। 'वह् वहां थी'—इस वाक्य में कोई भी विशिष्ट भाव नहीं घुसा हुआ है। इसकी कार्यकारिता है 'मात्र सूचना दे देना।' कि किसी ने हमसे पूछा, 'वह् कहां थी?' और हमने जैसे बिना किसी विशेषता के साथ एक साधारण-सा उत्तर दे दिया कि वह वहां थी। पर यदि हमें बताना हो 'मैं बिल्कुल सही कह रहा हूं, आप मानें या न मानें, 'वह वहां मौजूद थी।' तब हम उक्त वाक्य 'वह् वहां थी।' को इस प्रकार बोलेंगे, 'वह वहां थी'। हमने देखा कि यदि अक्षर 'थी' को दो प्रकार से—एक कम बलाघात के साथ और दूसरे अधिक बलाघात के साथ—उच्चारित किया जाय, तो (बाकी सारी बातें समान रखने पर भी) माने बदल जाते हैं, यानी बलाघात की हिन्दी में दो मात्राएं (degrees)—अशक्त और सशक्त[१]—विरोध (contrast) में हैं, ध्वनिग्रामीय हैं। हिन्दी में बलाघात के दो ध्वनिग्राम हुए। इस प्रकार के बलाघात को पहले प्रकार के बलाघात (निरर्थक) की भांति हम अन्दाज से नहीं बता सकते कि वह किस अक्षर पर प्रयुक्त होगा, या किस ध्वनि के द्वारा प्रशासित रहेगा। बलाघात का यह भेद अनुमान से परे (unpredictable) है; और यदि अनुमान के साथ चलता है, तो अर्थ-परिवर्तन के साथ भी चलता है—एक अर्थ के साथ इसकी एक मात्रा, और दूसरे अर्थ के साथ इसकी दूसरी मात्रा। एक-सी स्थितियों में इस (सार्थक बलाघात) के दोनों रूप आ सकते हैं, पर निरर्थक बलाघात की अशक्त और सशक्त मात्राएं बैठी हुई स्थितियों में आएंगी, एक-सी स्थितियों में नहीं। सार्थक बलाघात की बात पक्की करने के लिए कुछ अन्य उदाहरण और लें :

'तुम् कभी पास् नहीं हो सक्ते।'—इस वाक्य से कोई ऐसा अर्थ नहीं निकल रहा कि जिससे यह प्रतिभासित हो कि इसमें किसी चीज की 'तुलना' किसी अन्य वस्तु से की जा रही है; लेकिन आप इसी वाक्य के पहले शब्दवत् अक्षर 'तुम्' को सशक्त बलाघात से युक्त करके बोलिए, और फिर देखिए कि वाक्य का अर्थ कुछ और ही हो जाता है; उसमें 'तुलना का भाव' प्रखर रूप से आ जाता है—'चाहे सारी दुनिया पास हो जाए, लेकिन "तुम" कभी पास नहीं हो सकते।' यहां भी बलाघात की दो मात्राओं से दो अर्थ सम्बद्ध हैं।

'तुम्ने कब् देखा?' एक साधारण प्रश्न है, लेकिन 'तुम्ने कब् देखा?' केवल प्रश्न ही नहीं है, बल्कि वह इस अर्थ को भी स्पष्टतः सूचित करता है कि प्रश्नकर्ता का आशय प्रश्न के साथ यह जतलाना भी है कि '(तुम) झूठ

१. निरर्थक बलाघात के सशक्त रूप से सार्थक बलाघात का सशक्त रूप सर्वदा अधिक सशक्त हुआ करता है।

वोलते हो ?' एक और उदाहरण देकर वलाघात की वात की सीमा पर पहुंचा जाय :

'वह् वहुत् सुन्दर् है ।'

'वह् ˈवहुत् सुन्दर् है ।'

उक्त वाक्यों में वलाघात के भेद को छोड़कर शेष वातें समान हैं । बस, वलाघात के ही भेद के कारण अर्थों में भेद मौजूद है । पहले 'वहुत्' के माने हैं 'वहुत', पर दूसरे 'वहुत्' (ˈवहुत्) के माने हैं 'वहुत ही ज़्यादा; पहले की अपेक्षा कई गुना ज़्यादा ।'[1]

निरर्थक वलाघात की दो मात्राएं खोजने के वाद भी यदि हम कह दें कि 'हिन्दी में वलाघात नहीं है', तो कोई हर्ज नहीं; लेकिन सार्थक वलाघात की दो मात्राएं ढूंढ़ने (और स्थापित करने) के वाद हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'हिन्दी में वलाघात है ।'

हिन्दी में सुर-लहर

हिन्दी में सुर (Pitch) महत्त्वपूर्ण है—तान (Tone) नाम से नहीं (जिसे हम शब्द-स्तर पर परखते हैं), सुर-लहर (Intonation) नाम से (जिसे वाक्य-स्तर पर जांचा जाता है) ध्वनियों को विभिन्न सुरों पर वोलकर हम 'वाक्य में कही गई पूरी वात' के अर्थ में कुछ विशेषता लाते हैं, किसी 'शब्द' के अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं करते ।

सुर-लहर कहते हैं भापा में सुरों के उतार-चढ़ाव के क्रम को । ऐसी सुर-लहर, जो केवल विश्वव्यापी मनोवेगों को द्योतित करे, भाषा-विज्ञानियों के अध्ययन के क्षेत्र में नहीं आती; बल्कि हम ऐसी सुर-लहर को, जो संसार की सभी भाषाओं में समान रूप से मिलती है, पारिभाषिक रूप में 'सुरलहर' ही नहीं कहते । क्रोध में सुरों का ऊंचा हो जाना, या वहुत भावुक होकर धीरे-धीरे वर्राते वक्त सुरों का अपेक्षाकृत नीचा प्रयोग, इत्यादि सुर-लहर का हिस्सा नहीं हैं । कानाफूंसी में वात करते समय सारी ध्वनियों के सुरों को एक ही तल पर वोलना, आदि भी भापा की सुर-लहर से वाहर की वातें हैं । सुर में उतार-चढ़ाव रोने-झींकने में भी होता है, और हँसने-दहाड़ने में भी होता है, लेकिन यह सब सम्पत्ति प्राणी-मात्र की है, किसी विशिष्ट भाषा-भाषी की नहीं । भाषा-विज्ञान तो ऐसी ध्वनियों को अपने दायरे में आनेवाली 'भाषा' की परिभाषा में ही शामिल नहीं करता । गाना गाते समय भापा की स्वाभाविक सुर-लहर की सर्वथा समाप्ति हो जाती है, क्योंकि उस समय ध्वनियों को संगीत के सुरों के एक वनावटी, अर्थात् नकली, उतार-चढ़ाव में चलना पड़ता है, वातचीत के समय वाली असली सुर-लहर में नहीं ।

जिस भापा में शब्द-स्तर पर सुर सार्थक होता है, उसे Tone language कहा जाता है, जैसे चीनी । उसमें दो खंडीय ध्वनिग्रामों (फ् और उ) का एक क्रम है 'फु' । इसे चार अलग-अलग सुरों के साथ वोला जाता है,

---

१. हिन्दी का यह वलाघात शब्द-स्तर पर तो है, लेकिन शब्द के अक्षरों पर उसका विभाजित रूप से होना-न होना इस प्रकार निश्चित नहीं है, जिस प्रकार उदाहरणार्थ ग्रीक में; कि यदि, उदाहरण के लिए 'पोली' के पहले अक्षर पर वलाघात है, तो अर्थ होगा 'शहर', और यदि दूसरे पर है, तो उसका अर्थ होगा 'वहुत' । कह सकते हैं कि हिन्दी के शब्दों पर सार्थक वलाघात का प्रयोग करने से 'पूरमपूर शब्दार्थ' तो नहीं वदलता, पर शब्द का 'सामान्य अर्थ' वदलकर 'विशिष्ट अर्थ' हो जाता है: जैसे अंग्रेजी में भी; उदाहरणार्थ, सामान्य अर्थ वाले वाक्य He is there. को यदि कोई 'he ˈis there.' की भांति वोलता है, तो उसका अर्थ वहुत विशिष्ट हो जाता है (कि मैं शर्त वदकर कहता हूं कि वह वहां है और जरूर है) । अंग्रेज़ी में वलाघात का काम व्याकरणिक भेद भी पैदा करना है, जैसे ˈcontest संज्ञा और conˈtest क्रिया । इस तरह का वलाघात भी हिंदी में नहीं है । हिंदी में जिस प्रकार का वलावात है, उसका अंग्रेज़ी से एक उदाहरण और प्रस्तुत है—

'How ˈare you ?' (प्रथम वक्ता के द्वारा प्रयुक्त)

'How are ˈyou ?' (जो जवाव देता है, उसके द्वारा प्रयुक्त)

जिससे चार अलग-अलग शब्द बनते हैं, यथा गिरते सुर के साथ 'फ़ु' बोले जाने का अर्थ है 'जिलाधीश', चढ़ते सुर के साथ 'फ़ु' के माने हैं 'धन-दौलत', सम सुर के साथ 'फ़ु' का अर्थ है 'आदमी', और गिरकर चढ़ते (Falling-rising) सुर के साथ 'फ़ु' का मतलब है 'धनवान'। हिन्दी में यदि कोई शब्द 'फ़ु' होता, तो वह केवल एक शब्द होता; क्योंकि उसे हम चाहे किसी भी प्रकार के सुर के साथ बोलते, वह वही रहता (अर्थ-भेद उत्पन्न करने में असमर्थ); लेकिन चीनी में 'फ़ु' जैसे चार शब्द हैं, जो चार प्रकार से बोले जाते हैं और चार अर्थ व्यंजित करते हैं। हिन्दी का कोई जानकार संभवतः यह प्रश्न उठा बैठे कि हिन्दी में भी, उदाहरणार्थ 'तुम।' 'तुम ?' और 'तुम !' तीन अलग-अलग सुरों से युक्त शब्द हैं। लेकिन (इसका उत्तर यह है कि) 'तुम' के अपने कोई सुर नहीं हैं; इन तीन उदाहरणों में प्रयुक्त सुर हैं तीन वाक्यों के सुर। यदि इनकी जगह कोई अन्य वाक्यवत् प्रयुक्त शब्द, उदाहरणार्थ 'बेवकूफ़' रख दिया जाय, तो उस पर भी इसी प्रकार उक्त तीन प्रकार के सुरों का प्रयोग करना पड़ेगा। या यों कहें कि यदि इनमें से प्रत्येक 'तुम' को उठाकर अन्य वाक्यों में कहीं रख दिया जाय, तब इनके ये सुर नहीं रहेंगे; लेकिन किसी Tone language के ऐसे शब्द वाक्य में चाहे कहीं भी व्यवहृत हों, उनके सुर हमेशा वही रहेंगे। जैसे चीनी भाषा के उक्त उदाहरण के किसी 'फ़ु' को किसी भी वाक्य में, और वाक्य के किसी भी स्थान पर रख दें, उसका अपना सुर उसके साथ चलेगा। तय हो गया कि हिन्दी Tone language नहीं है; क्योंकि उसके एक भी शब्द का अपना पृथक सुर निश्चित नहीं है। उसमें सुर का उतार-चढ़ाव होता है, अर्थ भी बदलते हैं, लेकिन वह उतार-चढ़ाव और अर्थ में परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि अमुक शब्द या शब्द-क्रम वाक्य में किस स्थल पर और कैसे व्यवहृत हुआ है, अर्थात हिन्दी के 'वाक्य में' सुरों की की स्थिति सार्थक है। एक उदाहरण लें :

मैं वहां जाऊंगा।

मैं वहां जाऊंगा ?

इन दोनों वाक्यों को बोलने में 'मैं वहां जा' तक सुर एक-सा रहता है, लेकिन उसके बाद पहले वाक्य में वह गिरने लगता है, और 'गा' की समाप्ति तक पहुंचते-पहुंचते वह उससे भी नीचे गिर जाता है, जिससे कि 'मैं' शुरू हुआ था। दूसरे वाक्य में 'जा' के बाद सुर ऊपर चढ़ने लगता है, और 'गा' की समाप्ति तक पहुंचते-पहुंचते वह इतना ऊंचा उठ जाता है कि जितना ऊंचा सुर उस वाक्य में कहीं प्रयुक्त नहीं होता।

यह कहना कि हिन्दी में सुर-लहर है, 'सुर-लहर' का सामान्य प्रयोग है। सुर-लहर का विशेष प्रयोग इस प्रकार होगा कि जब भी हम बोलते हैं, तब कम-से-कम 'एक सुर-लहर', या अधिक सुर-लहरों का प्रयोग हम किया करते हैं। हमारी हर सुर-लहर, छोटी या बड़ी, तीन में से एक प्रकार के विराम में समाप्त होती है, यानी हिन्दी की प्रत्येक सुर-लहर का अंतिम हिस्सा सुर का या तो (१) रुकाव (स्थिरत्व) दिखाता है, या (२) चढ़ाव प्रदर्शित करता है, और या (३) गिराव द्योतित करता है। चूंकि ये रुकाव, चढ़ाव और गिराव 'विराम' के तीन प्रकार हैं, इसलिए इन्हें ध्वन्यात्मक रूप में सुविधा की दृष्टि से (मोटे तौर पर) इस प्रकार नाप कर कहा जा सकता है कि रुकाव वाली सुर-लहर (जिसमें न चढ़ाव होता है, न गिराव) के अन्त पर की ध्वनि की दीर्घता, या वहां पर उच्चारण की गति का विश्राम 'दो पल' के लिए किया जाता है, चढ़ाव वाली सुर-लहर के अन्त में उस विराम की दीर्घता 'तीन पल' की होती है, और गिराव वाली सुर-लहर के अन्त में वह 'चार पल' की होती है। दो, तीन या चार पल की दीर्घता का प्रयोग तो हम सदा सुर-लहर के अन्त में करते हैं, पर एक पल की दीर्घता का प्रयोग हम सुर-लहर के बीच में एक या एकाधिक संधि-स्थलों (Junctures) पर किया करते हैं। बिना एक पल की दीर्घता रखने वाली सुर-लहर हो सकती है, जैसे 'नहीं।' की सुर-लहर, क्योंकि 'नहीं।' में कोई संधि-स्थल नहीं है। लेकिन ऐसी कोई सुर-लहर नहीं हो सकती, जिसमें दो, तीन और चार पल की दीर्घता में से एक का प्रयोग न हो। बात और आसान करने के लिए चारों प्रकार की दीर्घता के उदाहरण देखें :

नहीं^२ पल भाई।^४ पल

कभी^१ पल नहीं^१ पल जाओगे ?^३ पल

हां।^४ पल कभी^१ पल नहीं^१ पल जाऊंगा।^४ पल

पहले उदाहरण में 'न्' से 'अ', 'अ' से 'ह्', और 'ह्' से 'ई' तक जाने में एक-एक पल भी नहीं लगता, लेकिन 'ई' से 'भ्' तक जाने में दो पल लग जाते हैं। बस यहां 'ई' के बाद पहली सुर-लहर समाप्त हो जाती है। 'भ्' से दूसरी सुर-लहर आरंभ होती है। 'भाई' के 'ई' के बाद अगर हम कुछ और बोलते हैं, तो चार पल बाद बोलेंगे। दूसरे वाक्य 'कभी नहीं जाओगे ?' का अंतिम 'ए' तीन पल का समय लेता है, अर्थात् यदि हम 'कभी नहीं जाओगे ?' 'क्यों नहीं जाओगे ?' साथ-साथ पूछें, तो इन दो वाक्यों के बीच में, या तो तीन पल को रुक जाएंगे, और या पहले वाक्य के 'जाओगे' के 'ए' को तीन पल लम्बा बना देंगे। इस उदाहरण में एक सुर-लहर है। तीसरे उदाहरण में फिर दो सुर-लहरें हैं। पहली सुर-लहर 'हां।' पर खत्म हो जाती है, क्योंकि वहां सुर-लहर का गिराव प्रयुक्त हुआ है, चार पल लम्बा। 'कभी' के 'ई' और 'नहीं' के 'न्' के बीच में केवल एक पल का समय लगता है। इसी प्रकार 'नहीं' के 'ई' और 'जाऊंगा' के 'ज्' के संधि-स्थल पर भी केवल एक पल का समय लगता है। यह (एक पल का) विराम (संगम) सुर-लहर को हिस्सों में बांटने वाली एक चीज कहा जा सकता है। अब यह जाहिर है कि एक वाक्य या किसी अन्य उच्चार-खण्ड में जितने भी दो, तीन, या चार पल वाले विराम आएंगे, उतनी ही सुर-लहरें उसमें होंगी। उदाहरणार्थ :

नहीं^२ पल ऐसा मत करो^३ पल वरना मैं जान दे दूंगा।^४ पल

यहां दुहरा लें कि दो पल की जगह पर का सुर उससे पिछले सुर की बराबर ऊंचाई पर है, तीन पल की जगह पर का सुर उससे पिछले सुर से कुछ चढ़ गया है, और चार पल की जगह पर का सुर उसके पिछले सुर से उतर गया है।

अनेक बार ऐसा होता है कि चढ़ाव वाली सुर-लहर के अन्त पर हम देवनागरी में प्रश्न-सूचक चिह्न लगाते हैं। जैसे 'कभी नहीं जाओगे ?' में, लेकिन इन दोनों (चढ़ाव वाली सुर-लहर और प्रश्न-सूचक चिह्न) में कोई नियमित और स्थिर सम्बन्ध नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि हम प्रश्न-सूचक चिह्न लगाएं, और बोलते समय गिराव वाली सुर-लहर का प्रयोग करें, जैसे 'कैसा रहा उनका भाषण ?' ऐसा भी संभव है कि हम प्रश्न-सूचक चिह्न न लगाए, और फिर भी चढ़ाव वाली सुर-लहर का प्रयोग करें; जैसे 'रुको, मैं आता हूं।' में, या 'एक, दो, तीन।' में कॉमा ही चढ़ाव वाली सुर-लहर के द्योतक का काम निभा रहा है। आमतौर से ऐसा होता है कि चढ़ाव वाली सुर-लहर से पिछला सुर यदि कोई उंचा सुर हो, तब तो वह प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा लिखी जाती है, और यदि उससे पिछला सुर अपेक्षाकृत कोई नीचा सुर हो, तब उसे कॉमा के द्वारा लिखा जाता है। चढ़ाव वाली सुर-लहर को विस्मयसूचक चिह्न या संबोधक चिह्न के द्वारा भी लिखा जाता है, जैसे 'अच्छा ! इतना सुन्दर !' और 'सुनो !' इत्यादि में। गिराव वाली सुर-लहर को अधिकांशतः पूर्ण विराम-चिह्न के द्वारा लिखा जाता है, जैसे 'मैं मजे में हूं।' लेकिन जैसा ऊपर प्रश्न-सूचक चिह्न के सम्बन्ध में चर्चा करते समय इंगित हो चुका है कि इस सुर-लहर को बहुत से मौकों पर प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा भी लिखा जाता है। जैसे 'कल जाओगे ? वापस कब आओगे ?' में 'आओगे' के बाद के प्रश्न-सूचक चिह्न के द्वारा। गिराव वाली सुर-लहर को लिखने के लिए चाहे पूर्ण विराम लगाया जाय, चाहे प्रश्न-सूचक चिह्न, वह बात के पूर्ण होने की सूचना देती है। उसे सुनकर हमारे मन में यह धारणा बैठ जाती है कि वक्ता की उस सुर-लहर में कही गई बात अधूरी नहीं है, वह पूरी हो चुकी। जैसे कोई मकान-मालिक यदि आपसे एक धमकी के साथ पूछे, 'आप नहीं निकलेंगे मेरे घर में से ?', और आप उसे तैश में आकर उत्तर दें, 'हां। नहीं निकलूंगा।' तब आप गिराव वाली दो सुर-लहरें बोलते हैं। यदि आप 'नहीं निकलूंगा।' न बोलें, तब भी आपका काम पूरी तरह चल सकता है, क्योंकि आप चार पल वाले विराम की गिराव वाली सुर-लहर का प्रयोग कर चुके हैं। मकान-मालिक को जवाब आप सिर्फ 'नहीं' कह कर दो प्रकार से दे सकते हैं, जिसमें से एक का अर्थ होगा—'आप नहीं निकलेंगे।' और दूसरे का अर्थ होगा 'आप निकलने को तैयार हैं।' कैसे ?

यदि आप 'नहीं।' को गिराव वाली सुर-लहर के साथ बोलते हैं, तो आप मकान-मालिक की बात काट रहे हैं (और अपना जवाब पूर्ण करके बोल रहे हैं) ; और यदि आप 'नहीं' को चढ़ाव वाली सुर-लहर के साथ बोलते हैं, तो आप मकान-मालिक की बात का समर्थन कर रहे हैं कि 'नहीं भाई, तुम गलत समझ रहे हो, मैं निकलूंगा' (और अपना जवाब पूर्ण के करने लिए अभी कुछ और, जैसे 'निकलूंगा' कहेंगे) । आपका पहला जवाब इस प्रकार लिखा जायगा—'नहीं ।' (या 'नहीं निकलूंगा ।') और दूसरा जवाब इस प्रकार लिखा जायगा—'नहीं ! निकलूंगा ।' चढ़ाव वाली सुर-लहर से बात पूरी भी हो जाती है जैसे 'जाओगे ?' में, और अधूरी भी रह सकती है, जैसे 'एक, दो, तीन ।' में 'एक' और 'दो' के बाद यह आभास होता है कि अभी कुछ कहना शेष है । अर्धविराम-चिह्न से भी गिराव वाली सुर-लहर को द्योतित किया जाता है, जैसे 'मैं जाता हूं ; तुम आओ ।' में 'हूं' के बाद । पर 'मैं जाता हूं, तुम आओ ।' में 'हूं' के बाद चढ़ाव वाली सुर-लहर का विराम है । दो सुर-लहरें पास-पास हों, तब उनके बीच में यदि गिराव वाली सुर-लहर का विराम हो, तो उन दो सुर-लहरों की बातों में परस्पर इतना समीप और घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, जितना उन दो सुर-लहरों की बातों में होता है जिनके बीच में चढ़ाव वाली सुर-लहर का विराम हो । यदि बीच में रुकाव वाली सुर-लहर का विराम हो, तो यह सम्बन्ध और भी ज्यादा निकट का होता है । रुकाव वाली सुर-लहर को देवनागरी में लिखने का तरीका अधिकांश स्थलों पर जगह उसी प्रकार खाली छोड़ देना है, जिस प्रकार कि एक पल वाले विराम के लिए । एक पल वाले विराम के लिए कभी-कभी समास-चिह्न लिखा मिलता है, जैसे 'भाषा-विज्ञान' या 'समास-चिह्न' आदि में, लेकिन दो पल वाले विराम के लिए समास-चिह्न कभी लिखा नहीं मिल सकता, क्योंकि वह सुर-लहर के मध्य में कभी नहीं आता । वैसे काल-मात्रा को छोड़कर इन दो विरामों में समानता है, क्योंकि दोनों ही न सुर का किसी प्रकार का चढ़ाव रखते हैं और न गिराव । चूंकि रुकाव वाली सुर-लहर के विराम की दीर्घता अल्प ही है, इसलिए उसे अधिकांशतः लिखकर दिखाने की जरूरत नहीं समझी जाती । इसके विपरीत, चढ़ाव वाली और गिराव वाली सुर-लहरों के विरामों की दीर्घता अधिक (रुकाव वाली की से क्रमशः डेढ़ और दो गुनी) होती है, इसलिए उन्हें हमेशा लिखकर दिखाने की जरूरत समझी जाती है । रुकाव वाली सुर-लहर का एक उदाहरण लें :

'हां $^{\text{२ पल}}$ जाउंगा । $^{\text{४ पल}}$ जरूर $^{\text{१ पल}}$ जाऊंगा । $^{\text{४ पल}}$

यह विराम सुर-लहरों के अन्त में तो प्रायः आया करता है, लेकिन संपूर्ण वाक्य के अन्त में चढ़ाव और गिराव वाली सुर-लहरों के विरामों की अपेक्षा बहुत कम आया करता है । यदि यह वाक्यांत में आता है, तो आमतौर से तब, जब वक्ता कुछ कहते-कहते रुक जाय—शर्म के कारण, या झिझक के कारण, या किसी घटना के कारण, या किसी अन्य कारण, जैसे मान लिया हम कोई प्राइवेट बात कर रहे हों, और अचानक कमरे में कोई ऐसा व्यक्ति घुस आए जिसे हम वह बात न सुनाना चाहते हों, उदाहरणार्थ 'मैंने चुपके से झांका ही था—' । सुनने वाला ऐसी सुर-लहर को सुनकर मन में अवश्य सोचेगा कि आगे क्या हुआ । ऐसी अधूरी बात की रुकाव वाली सुर-लहर के विराम के लिए देव-नागरी में डैश भी लिखा जाता है और कुछ डौट भी।

एक व्यक्ति का नाम है 'सागर' । 'सागर' नाम का एक शहर भी है। एक वाक्य बनता है—'कहां जा रहे हो सागर ?' इसका अर्थ स्पष्ट है कि 'सागर' नाम के 'व्यक्ति' से प्रश्न पूछा जा रहा है । इस वाक्य में दो सुर-लहरें हैं । पहली सुर-लहर का 'दो पल वाला' विराम 'हो' के बाद है, लेकिन देवनागरी लिपि इस विराम को दिखाने की परवाह नहीं करती । एक वाक्य और है—'कहां जा रहे हो, सागर ?' इसमें 'हो' के बाद सुर-लहर का दो पल वाला विराम नहीं हो सकता । इस वाक्य का अर्थ भी कम-से-कम किसी हिन्दी-भाषी से नहीं छिप सकता (क्या सागर जा रहे हो ?) और यदि वाक्य इन शक्लों के कर दिए जाएं :

'सागर ! जा रहे हो क्या ?'

'सागर जा रहे हो क्या ?'

तो 'सागर' व्यक्ति के बदले 'सागर' शहर वाले वाक्य में दो पल वाले विराम से काम निकाला गया है ।

दूसरे वाक्य में 'सागर' के बाद एक पल के विराम का प्रयोग भी सामान्य बात है।

अभी तक हमने बात की किसी सुर-लहर के गिराव, चढ़ाव और रुकाव की। अब देखें कि एक सुर-लहर में 'सुरों' की क्या स्थिति रहती है। हिन्दी की छोटी-से-छोटी सुर-लहर में कम-से-कम दो सुर होते हैं—एक आरम्भ में और एक अन्त में, जैसे ⊙**दस**● में। बड़ी सुर-लहर में भी ऐसा अक्सर हुआ करता है कि केवल दो सुर हों, जैसे ●**दस साल बाद ऐसा हुआ है**⊙ में, लेकिन उसमें तीन भी हो सकते हैं, जैसे ●**आज**● **दस साल बाद ऐसा हुआ है**● में; और अधिक-से-अधिक चार हो सकते हैं, जैसे ●**आज हमारे घर में** ⊙**ठीक**● **दस साल बाद ऐसा हुआ है**● में।

हर सुर-लहर की पूरी बात में केवल एक सुर ऐसा होता है, जिस पर विशेष बल दिया जाता है, जैसे ●**जाओ**● के शुरू में ही। सुर-लहर के उस सुर को सुर-लहर का केन्द्र कहते हैं। यह केन्द्र दो सुर रखने वाली सुर-लहर में सदा आरम्भ के सुर पर होता है, तीन सुर रखने वाली सुर-लहर में बीच के सुर पर होता है, और चार सुर रखने वाली सुर-लहर में आरम्भ से तीसरे नम्बर के सुर पर होता है। ऊपर दिये गए उदाहरणों में जहां कहीं 'दस' आया है, यह केन्द्र उसके साथ वाले सुर पर है। अन्य उदाहरण ये हैं—

●**भागो यहां से**⊙ में 'भा' पर।

⊙**वहां**⊙ **कब चलोगे**● में 'कब' पर।

●**मैंने**● **पैसे न होने के कारण**● **कल से खाना नहीं खाया है**● में 'कल' पर।

सुर के तीन स्तर नीचे लिखे दो वाक्यों की तुलना करके सहज ही ढूंढ़े जा सकते हैं :

●**कब चलोगे वहां**●

●**वहां** ⊙**कब चलोगे**●

यदि हम इन वाक्यों को चार पल वाले विराम के साथ बोलें, तो पहले वाक्य में आरम्भ वाला सुर ऊंचा है, और अन्त वाला नीचा। दूसरे वाक्य में भी ऊंचा सुर 'कब' पर ही है, लेकिन वह वाक्य के आरम्भ में नहीं है। इसी प्रकार, दूसरे वाक्य में भी नीचा सुर वाक्य के अन्त में ही है, लेकिन अन्तिम अक्षर (शब्द बदल जाने के कारण) बदला हुआ है। अब दूसरे वाक्य के बचे हुए (आरम्भिक) सुर को परखें, तो साफ पता चलेगा कि वह 'कब' के ऊंचे 'गे' के नीचे सुरों के बीच का है। इन तीन सुरों के नामकरण 'ऊंचा सुर', 'नीचा सुर' और 'बीच का सुर' करने के बाद हम 'वहां कब चलोगे?' को इस वाक्य की सुर-लहर में प्रयुक्त सुरों के साथ इस प्रकार लिख सकते हैं (विराम का जिक्र दुबारा न छेड़ते हुए) :

[बी]वहाँ [ऊँ]कब चलोगे[नी]

अन्य उक्त दो-एक उदाहरणों को भी इस प्रकार लिख कर देखें।

[ऊँ]भागो यहाँ से[नी]

[बी]मैंने[बी] पैसे न होने के कारण [ऊँ]कल से खाना नहीं खाया है[नी]

[बी]आज [ऊँ]दस साल बाद ऐसा हुआ है[नी]

कुछ अन्य उदाहरण भी :

[बी]तुम[ऊँ] यहाँ रहते हो[ऊँ]

[ऊँ]कौन[ऊँ]

[बी]मेरे[ऊँ] मन की बात नहीं होने पा रही है[नी]

[बी]मैं[ऊँ] दसों बार तो[बी] कह चुका हूँ[बी]

⊙ यह चिह्न केवल इतना बताता है कि अमुक स्थल पर सुर की कोई इकाई मौजूद है।

उक्त अन्तिम उदाहरण से यह पता चलता है कि यह जरूरी नहीं है कि सुर-लहर के केन्द्र वाला सुर सुर-लहर का सर्वोच्च सुर ही हो।

इन तीनों सुरों के अतिरिक्त एक चौथा सुर भी हिन्दी में प्रयुक्त होता है, जो 'ऊंचे' से भी ऊंचा है (इसे 'आ' द्वारा लिखेंगे)। यह तब सुनने को मिलता है जब कोई व्यक्ति आश्चर्यचकित होकर, या बनकर, ऊंचे सुर को ही कुछ और ऊंचा करके बोले, जैसे :

वी वह आ मर गए आ

इस सुर का महत्त्व उस वक्त नहीं माना जाना चाहिए, जब यह अचानक ही स्वाभाविक रूप से मुंह से (चीख की तरह) निकल पड़े, जैसे सांप देखते ही भयभीत होकर कोई चिल्ला उठे :

आ सांप आ

हिन्दी-सुर-लहर में इन चारों सुरों को हम सार्थक तब कह सकते हैं, जब केवल इन्हीं के कारण अर्थों में भेद पड़ जाय। एक शब्द है 'अच्छा', जिसे हम बहुत मौकों पर वाक्यवत् व्यवहृत किया करते हैं। कोई यदि आपसे कहे, 'मेहरबानी करके यह काम कर दीजिए' और आपको उसके उत्तर में हल्के से रौब के साथ (जिससे विराम गिराव वाली सुर-लहर के बदले चढ़ाव वाली सुर-लहर का हो जाय) स्वीकृति-वाचक मात्र—'अच्छा' कहना हो, तो आप उसे इस प्रकार कहेंगे—

वी अच्छा नी

और यदि किसी से बातें करने के बाद आप इस प्रकार अच्छा कहकर चल दें, जिसका अर्थ हो, 'तो मैं अब चलता हूं', तो उसे इस प्रकार लिखा जायगा,

वी अच्छा वी

फिर, यदि आप किसी को कोई चुनौती देते हुए, जो एक प्रकार का प्रश्न भी होगी, कहना चाहें, 'तो तुम बाज नहीं आओगे ?' तो केवल 'अच्छा' को इस प्रकार बोलकर कह सकते हैं—

वी अच्छा ऊं

इसके बाद, यदि आपका बच्चा आपसे आकर कहे कि वह चार फुट ऊंचा कूद लेता है, तब आप उससे आश्चर्य-मिश्रित प्रश्न 'सचमुच !' के अर्थों के साथ 'अच्छा' को इस प्रकार कह सकते हैं :

वी अच्छा आ

चारों प्रकार के 'अच्छा' कहने के अन्त में एक ही प्रकार की चढ़ाव वाली सुर-लहर के तीन पल वाले विराम का प्रयोग है। इन चार उदाहरणों में नी, वी, ऊं, और आ सुरों का परस्पर ध्वनिग्रामीय विरोध है, अतः ये चार सुर-स्तर हिन्दी की सुर-लहर की (विरामों की भांति) सार्थक इकाइयां हैं। सुरों के अन्य सूक्ष्म अन्तर इन चारों में ही समान हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो दूर जाने वाले को, जैसे-जैसे वह अधिक दूर बढ़ता जाय, अपना सुर सरगम के अनुसार क्रमशः ऊंचा करते हुए, 'हिन्दी में ही' पुकारता चला जाय, लेकिन इससे हिंदी भाषा की सुर-लहर में बारह या इक्कीस सार्थक सुरों की सत्ता सिद्ध नहीं हो जायगी !

अवधी के ध्वनि-ग्राम

डा० उदयनारायण तिवारी

अवधी पूर्वी-हिन्दी की एक प्रमुख बोली है। साधारणतः अवधी एक विस्तृत क्षेत्र—खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर, गोंडा, बहराइच, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर, मिर्जापुर तथा बांदा के कुछ भागों—में बोली जाती है। किन्तु यहां इस अध्ययन का आधार इलाहाबाद जिले की मेजा तहसील की अवधी बोली है। यह अध्ययन श्री दिनेशप्रसाद शुक्ल[1] एम० ए०, शोधछात्र, प्रयाग विश्वविद्यालय की सहायता से सम्पन्न हुआ है। इसके सूचक (Informant) भी श्री शुक्ल ही हैं। श्री शुक्लजी अपने घर में, परिवार वालों से सदैव इसी बोली में बातचीत करते हैं। इस बोली के ध्वनिग्राम आगे दिए जा रहे हैं—

स्वरीय—

	अग्र	मध्य	पश्च
	अवृत्ताकार	अवृत्ताकार	वृत्ताकार
संवृत	इ [i]		उ [u]
अर्धसंवृत	ए [e]	ऽ [ə]	ओ [o]
विवृत	ऍ [æ]	आ [a:]	ऑ [ɔ]

१. श्री दिनेशप्रसाद शुक्ल लेखक के निर्देशन में ही डी० फिल्० के लिए अधिनिबन्ध प्रस्तुत कर रहे हैं। बाबूजी (श्री टण्डनजी) घर में तथा प्रयाग के अवधी बोलने वालों से प्रायः इसी बोली में बातें करते हैं। प्रस्तुत निबन्ध का इस दृष्टि से भी महत्त्व है। —लेखक

व्यंजनीय—

		ओष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	काकल्य
अवरोधी	स्पर्श	प	त	ट	च	क	
		फ	थ	ठ	छ	ख	
		ब	द	ड	ज	ग	
		भ	ध	ढ	झ	घ	
अनवरोधी	संघर्षी		स				ह
	नासिक्य	म	न			ङ	
	कम्पनजात		र				
	ताड़नजात			ड़			
	पार्श्विक		ल				
	अर्धस्वर	व			य		

खण्डेतर ध्वनिग्राम [Supra-Segmental Phonemes]

१. दीर्घता, [Length]

२. अनुनासिकता [Nasalization]

अवधी में दीर्घता एवं अनुनासिकता खण्डेतर ध्वनिग्राम हैं। उदाहरणार्थ—गऽरे (गले में)—गऽःरे (गया रे); साप (श्राप)—साँप (साँप)।

स्वर

अग्र[1] अवृत्ताकार	।इ।	संवृत	उच्च	।सिर। ;	मस्तक
	।ए।	अर्धसंवृत	मध्य	।बेना। ;	पंखा
	।ए̩।	विवृत	निम्न	।ए̩ना। ;	दर्पण
मध्य अवृत्ताकार	।ऽ।	अर्धसंवृत	मध्य	।बऽर। ;	वर, दूल्हा
	।आ।	विवृत	निम्न	।बार। ;	बाल
पश्च वृत्ताकार	।उ।	संवृत	उच्च	।कुकुर। ;	कुत्ता
	।ओ।	अर्धसंवृत	मध्य	।ओकऽर। ;	उसका
	।ओ̩।	विवृत	निम्न	।नौ̩कऽर। ;	नौकर

व्यंजन

स्पर्श	।प।	—[प]	द्व्योष्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।पार।[1]
	।फ।	—[फ]	,,	,,	महाप्राण	।फार।
	।ब।	—[ब]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।बार।
	।भ।	—[भ]	,,	,,	महाप्राण	।भार।
	।त।	—[त]	वर्त्स्य	अघोष	अल्पप्राण	।तार।
	।थ।	—[थ]	,,	,,	महाप्राण	।थार।
	।द।	—[द]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।दान।
	।ध।	—[ध]	,,	,,	महाप्राण	।धान।
	।ट।	—[ट]	मूर्धन्य	अघोष	अल्पप्राण	।टाट।
	।ठ।	—[ठ]	,,	,,	महाप्राण	।ठाट।

१. 'पार, फार' आदि में, अन्तिम व्यञ्जन स्वर-रहित है। यद्यपि इन्हें हलन्तर रूप में लिखा नहीं गया है।

	।ड।	—[ड]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।डाक।
	।ढ।	—[ढ]	,,	,,	महाप्राण	।ढाक।
	।च।	—[च]	तालव्य	अघोष	अल्पप्राण	।चार।
	।छ।	—[छ]	,,	,,	महाप्राण	।छार।
	।ज।	—[ज]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।जार।
	।झ।	—[झ]	,,	,,	महाप्राण	।झार।
	।क।	—[क]	कण्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	।कार।
	।ख।	—[ख]	,,	,,	महाप्राण	।खार।
	।ग।	—[ग]	,,	सघोष	अल्पप्राण	।गऽर।
	।घ।	—[घ]	,,	,,	महाप्राण	।घऽर।
संघर्षी	।स।	—[स]	वर्त्स्य	अघोष	,,	।सार।
	।ह।	—[ह]	काकल्य	,,	,,	।हार।
नासिक्य	।म।	—[म]	द्वयोष्ठ्य	सघोष	अल्पप्राण	।मार।
	।न।	—[न]	वर्त्स्य	,,	,,	।नार।
	।ङ।	—[ङ]	कण्ठ्य	,,	,,	।पऽङ्खी।
कम्पन-जात	।र।	—[र]	वर्त्स्य	,,	,,	।घोरा।
ताड़न-जात	।ड़।	—[ड़]	मूर्धन्य	,,	,,	।घोड़ा।
पार्श्विक	।ल।	—[ल]	वर्त्स्य	,,	,,	।लाला।
अर्धस्वर	।व।	—[व]	द्वयोष्ठ्य	,,		।वार।
	।य।	—[य]	तालव्य	,,		।यार।

अवधी में निम्नलिखित ध्वनि-ग्रामों के एक से अधिक सह स्वन (Allophone) हैं—

।ढ। —[ढ] आदि अथवा नासिक्य व्यंजन के बाद। [ठन्ढ] [ढाक]
[ढ़] अन्यत्र [वाढ़]

।फ। —[फ़] अन्त में [साफ़]
—[फ] अन्यत्र [फार] [ऽसरफी]

।स। —[श] मध्य, ट के पहले [मुशटी]
[स] अन्यत्र [सार] [घास]

। न ।—[ञ] तालव्य-अवरोधी व्यंजन के पूर्व मध्य में,
[चञचऽल]

[न] मूर्धन्य-अवरोधी व्यंजन के पूर्व मध्य में;
[डऽनडा]

[न] अन्यत्र [किनकी] [तऽनखाह]

खण्डेतर ध्वनिग्राम— दीर्घता—

। इ ।	। इः ।	...। सिर ।	। सीर ।
। ए ।	। एः ।	...। केतऽना ।	। केः तऽना ।
। ओ ।	। ओः ।	...। ओतऽना ।	। ओः तना ।
। उ ।	। उः ।	...। मुड़ऽव ।	। मुः ड़ऽव ।
। ऽ ।	। ऽः ।	...। जऽरे ।	। जऽः रे ।

अनुनासिकता

। आ ।	। आँ ।	। साप ।	। साँप ।
। ओ ।	। ओं ।	। गोद ।	। गोंद ।
। उ ।	। उँ ।	। नाउ ।	। नाउँ ।

सर्वाधिक प्रचलित आक्षरिक आकृति

अवधी में कोई भी शब्द स्वर अथवा स्वर + व्यंजन के संयोग से बन सकता है। नीचे जो सूची दी जा रही है उसमें स्वर के लिए अ तथा व्यंजन के लिए क चिह्न का प्रयोग किया गया है।

(१) अ=इः (यह), (२) अ+अ=आइ=(आया), (३) अ+अ+अ=आइउ (स्त्रीलिंग तुम आई), (४) क+अ+क=जऽर (ज्वर), (५) क+अ+क+अ=जऽरऽ (जलो), (६) क+अ=जऽ (जाओ), (७) क+अ+अ=गाइ (गाय), (८) क+अ+अ+अ=खाइउ (स्त्रीलिंग खाया ?), (९) अ+अ+क=आएन (आये), (१०) अ+अ+क+अ=आएनि (आये), (११) क+अ+क+अ+अ+अ+क+अ=वसिअउटा (वासी), (१२) क+अ+क+अ+क+अ+अ+क+अ=मरिगउनुः (एक गाली, जिसे औरतें पुरुषों के लिए प्रयोग करती हैं।

स्वर-संयोग

आदि—

(१) ऽउ (ऽउर), (२) आइ (आइनि), (३) आउ (आउब), (४) उऽ (उऽब), (५) एउँ (एउँसऽ—चावल आदि पकाने के लिए कहना), (६) एउ (एउ—ये भी), (७) ओउ (वे भी)।

मध्य—

(१) ऽइ (कऽइसे), (२) ऽइँ (भइँसि), (३) ऽउ (खऽउलऽब), (४) आए (सुनाएस), (५) इआ (उ) (भोरिआउब), (६) इऽ (बऽसिऽउटा), (७) एउ (नेउरऽवा), (८) एँउ (जेंउब—खाना), (९) ओ आ (सोआउब), (१०) उऽ (छुऽब), (११) उ आ (दुआरे)।

अन्त—

(१) अइ (गऽइ—गई), (२) ऽइँ (तऽइँ), (३) ऽइः (कऽलऽइः), (४) आइ (गाइ), (५) आई (लाई), (६) आए (बिआए)।

लगभग सभी अन्य स्वरों (अनुनासिक तथा दीर्घ) के संयोग भी मिलते हैं।

व्यंजन-संयोग

आदि—

आदि व्यंजन-संयोग के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है। फिर भी अभी तक निम्नलिखित आदि व्यंजन-संयोग मिला है :

(१) त+र=त्राहि।

(२) प+र=प्रेमा (एक नाम)।

मध्य—

(१) प प—छऽपपऽर, (२) प फ—कऽपफऽन, (३) प त—जदुपती, (४) प न—सऽपना, (५) प ट—खऽपटा, (६) प ड़—कऽपड़ा, (७) प च—खऽपची, (८) प ल—वऽपला, (९) प स—लऽपसी, (१०) व व—मुरऽववा, (११) व भ—जिवभा, (१२) म व—लऽमवऽर, (१३) म म—गुरऽममा, (१४) म त—रऽमता, (१५) म द—उमदा, (१६) म ट—चिमटा, (१७) म छ—गऽमछा, (१८) म ह—सऽमहारऽञ, (१९) म ल—गऽमला, (२०) त त—पऽततल, (२१) तथ—पऽतथऽ, (२२) त क—सऽतका, (२३) द द—गऽददा, (२४) द् ध—ऽदधा,

(२५) न प—पऽनपऽव, (२६) न न—पऽननी, (२७) न ट—घऽनटा, (२८) न ड—चऽनडाल, (२९) ञ छ—पऽञ्छी, (३०) ङ खी—पऽङखी, (३१) न ह—ग्रानहऽर, (३२) ट ट—गऽटटा, (३३) ट ठ—पऽटठा, (३४) ट क—पऽटका, (३५) ड ड—गऽडडी, (३६) च च—वऽचचा, (३७) च छ—मऽचछऽर, (३८) ज ज—लऽजजा, (३९) ज झ—खुजझा, (४०) क क—मुकका, (४१) क त—चुकता, (४२) क न—ढऽकना, (४३) क ट—नऽकटी, (४४) क ठ—लऽकठा, (४३) क च—सिकचा, (४६) क ख—भुकखऽड़, (४७) क स—वऽकसा, (४८) ग ग—लऽगगी, (४९) ग त—लऽगता, (५०) ग ल—बऽगली, (५१) र प—खुरपी, (५२) र फ—वऽरफी, (५३) र म—गऽरमी, (५४) र द—गऽरदा, (५५) र त—भऽरता, (५६) र छ—वऽरछा, (५७) र ध—बऽरधा, (५८) र ग—गऽरग, (५९) र ह—मारह, (६०) ड़ ह—गाड़ह, (६१) ल व—चऽलवऽयऽ, (६२) लत—चऽलता, (६३) ल ट—पऽलटा, (६४) ल द—जऽलदी, (६५) ल न—चऽलनी, (६६) ल क—गऽलका, (६७) ल ह—चूलह, (६८) स प—इसपात, (६९) स म—चंऽसमा, (७०) सत—सऽसता, (७१) सक—इसकूल, (७२) स ख—मऽसखऽरा, (७३) स स—मिससी।

अन्त—

(१) न द—कऽनद, (२) न स—कऽनस, (३) न ध—गऽनध, (४) नट—चऽनट, (५) ङ ग—जऽङग, (६) न ढ—ठऽनढ, (७) ञ च—पञच, (८) ङ ख—सऽङख, (९) स त—जुसत, (१०) ट ठ—भुटठ, (११) क क—झऽकक, (१२) ड ड—गऽडड।

मध्यव्यंजन संयोग

	प	फ	ब	भ	त	थ	द	ध	ट	ठ	ड	ढ	च	छ	ज	झ	क	ख	ग	घ	स	ह	म	न	ङ	र	ड़	ल	य	व
प	X	X			X				X				X				X				X			X			X	X		
फ																														
ब			X	X																										
भ																														
त					X	X																								
थ																														
द								X																						
ध																														
ट									X	X																				
ठ											X						X													
ड											X																			
ढ																														
च													X	X																
छ																														
ज															X	X														
झ																														
क					X				X	X			X				X	X			X			X						
ख																														
ग					X				X	X									X								X	X		
घ																														
स	X				X												X	X			X		X							
ह																														
म					X		X		X					X		X	X					X	X	X		X	X	X		
न	X		X				X	X	X		X	X		X			X	X	X		X	X	X	X						
ङ																		X	X	X			X							
र	X	X			X	X	X							X	X				X		X	X	X							
ड़																														
ल			X		X		X		X								X					X		X						
य																														
व																														

सुर[1]

(१) प्रश्न कहां जाथय ?

उत्तर—^{1}घरे^{2} ↑ —स्वाभाविक उत्तर।

(२) ^{2}घरे^{3} ↑ जाथय—क्या घर जा रहे हो ?

(३) ^{1}घरे^{2} ↓ —घर छोड़कर अन्यत्र जा ही कहां सकता हूं।

× × ×

(१) प्रश्न—का तूं यहं समड़ घरे जाथय ?

उत्तर—^{3}हां^{1} ↑ —हां के बाद भी और कहे जाने की आशा।

(२) ^{2}हां^{2} ↑ —श्रोता किसी वस्तु को ध्यानपूर्वक सुनकर उत्तर दे रहा है।

(३) ^{3}हां^{3} ↑ —यदि उत्तर 'हां !' में मिलने की सम्भावना हो, किन्तु किसी कारणवश प्रश्नकर्ता उत्तर न सुनकर स्वयं पूछ उठे—हां।

× × ×

(१) ^{3}राम^{2} ↓ (ए राम)—यदि दूर से बुलाना हो।

(२) ^{3}राम^{2} ↑ —पास में बैठे रहने पर यदि बुलाना हो।

× × ×

(१) ^{1}मर्द^{1} ↓ (मर्द अहइ)—सामान्य जातिवाचक संज्ञा।

(२) ^{1}मर्द^{2} ↑ —आटा गूंधो।

× × ×

(१) ^{1}मर्द^{1} ↓ न^{1} —मर्द का बहुवचन।

(२) ^{1}मर्द^{2} ↑ न^{2} ↑ —आटा गूंधो न।

× × ×

(१) ^{2}जार^{1} ↓ —काटा।

(२) ^{2}जार^{3} ↑ —जलाओ।

× × ×

^{1}मेल^{1} ↓ —विष्टा।

^{3}मेल^{1} ↑ —मलो।

× × ×

(१) ^{1}उ ^{3}मनई^{1} ↑ ^{1}अहइ^{1} ↓ —सामान्य कथन।

(२) ^{2}ऊ ^{1}मनई^{2} ↑ ^{1}अहइ^{1} ↓ —वह आदमी है।

---

१. अंकों (१,२,३,४) द्वारा सुर [Pitch] का सामान्य, मध्य, उच्च तथा अति उच्च रूप में चढ़ाव-उतार या आरोह-अवरोह दिखलाया गया है। इसी प्रकार ऊर्ध्वगामी तथा अधोगामी बाणों द्वारा सुर का ऊपर-नीचे जाना प्रदर्शित किया गया है। —लेखक

(३) $\overset{१}{उ}$ $\overset{१}{म}$नई^{२} ↑ $\overset{१}{अ}$हइ^{१} ↓ —क्या वह आदमी है ? (प्रश्नवाचक)

× × ×

(१) के^{२} $\overset{१}{अ}$हइ^{१} ↓ —प्रश्न

(२) के^{२} $\overset{१}{अ}$हइ^{१} $\overset{१}{भ}$उजी^{२} ↓ —कौन है भाभी ? (यदि भाभी से पूछा जाय)

(३) के^{२} $\overset{१}{अ}$हइ^{१} ↓ $\overset{१}{भ}$उजी^{२} ↑ —कौन है—भाभी ? (प्रश्नवाचक)

(४) $\overset{१}{भ}$उजी^{२} $\overset{१}{अ}$हइ^{१} ↓ का^{३} ↑ —भाभी हैं क्या ? (,,)

(५) $\overset{१}{भ}$उजी^{२} $\overset{१}{अ}$हे^{२} ↑ का^{२} रे^{३} ↓ —क्या भाभी हैं ? (सन्देहात्मक)

(६) $\overset{१}{अ}$च्छा^{३} ↑ $\overset{१}{भ}$उजी^{२} $\overset{१}{अ}$हइ ↓ —ठीक है, भाभी हैं।

× × ×

(१) $\overset{३}{ए}$ $\overset{१}{भ}$इया^{२} ↑ —पास में रहने पर यदि बुलाया जाय।

(२) $\overset{४}{ए}$ $\overset{१}{भ}$इया^{२} ↑ —दूर रहने पर यदि बुलाया जाय।

(३) $\overset{२}{ए}$ $\overset{१}{भ}$इया^{१} ↑ —मान-मनौती करने में।

× × ×

(१) का^{३} $\overset{१}{प}$ढ़थऽय^{१} ↑ $\overset{१}{का}$लि^{१} ↓ दा^{१} ↑ स^{१} ↓ —('क्या पढ़ते हो कालिदास' यदि पाठक का नाम कालिदास हो)

(२) का^{२} $\overset{१}{प}$ढ़थऽय^{१} ↑ $\overset{२}{का}$ली^{२} ↑ $\overset{१}{दा}$स^{१} ↓ —क्या कालिदास कवि के ग्रंथ पढ़ रहे हो ?

× × ×

(१) $\overset{२}{ह}$म $\overset{३}{खु}$रपी^{२} ↑ $\overset{२}{ले}$व^{१} ↓ —मैं खुर्पी लूंगा—सामान्य कथन

(२) $\overset{२}{ह}$म $\overset{२}{खु}$रपी^{३} ↑ $\overset{२}{ले}$व^{१} ↓ —मैं खुर्पी ही लूंगा—अन्य वस्तु नहीं।

(३) $\overset{२}{ह}$म $\overset{२}{खु}$रपी^{२} ↑ $\overset{२}{ले}$व^{१} ↓ —मैं (दूसरा कोई नहीं) खुर्पी लूंगा।

(४) $\overset{२}{ह}$म $\overset{२}{खु}$रपी^{२} ↑ $\overset{३}{ले}$व^{१} ↓ —मैं खुर्पी अवश्य लूंगा।



प्राचीन खड़ी बोली गद्य में भाषा का स्वरूप

डा० प्रेमप्रकाश गौतम

भाषा-स्वरूप तथा भाषा-विकास के अनुशीलन की दृष्टि से गद्य-वाङ्मय जितना उपयोगी है, उतना पद्य नहीं। पद्य की भाषा गति, यति, मात्रा आदि की आवश्यकताओं के कारण प्रायः जन-भाषा से दूर और कभी-कभी कृत्रिम हो जाती है। पुराने शब्दरूप तथा प्रयोग भी पद्य-क्षेत्र में स्थान पाते हैं। परन्तु गद्य बहुधा बोलचाल की स्वाभाविक भाषा के निकट होता है। वस्तुतः किसी समय का गद्य ही उस समय की भाषा के रूप को जानने का उपयुक्त साधन है। काव्यात्मक अलंकृत गद्य की बात दूसरी है परन्तु शुद्ध गद्य सदैव भाषानुशीलन के कार्य में महत्त्वपूर्ण सहायता करता है। हिन्दी के प्राचीन गद्य का महत्त्व मुख्यतः भाषा की ही दृष्टि से है। विषय, शैली रूप आदि का भी महत्त्व उसमें माना जा सकता है। परन्तु उसकी उपयोगिता प्रधानतः हिन्दी के पुरातन रूप को प्रतिबिम्बित करने के कारण है।

प्राचीन हिन्दी गद्य की परम्परा चौदहवीं शताब्दी से प्राप्त होती है, वह भी राजस्थानी तथा मैथिली में। परन्तु इन दोनों विभाषाओं के साहित्यिक तथा विद्वान् और श्री ग्रियर्सन जैसे भाषाविज्ञानी इन्हें हिन्दी से बाहर की स्वतंत्र भाषाएं मानते हैं। दक्खिनी तथा ब्रजभाषा में भी गद्य का प्रारम्भ चौदहवीं शती से बताया जाता है। परन्तु इनमें प्रामाणिक गद्य सोलहवीं शती से उपलब्ध होता है। खड़ी बोली की गद्य-परम्परा और भी परवर्तिनी है। विश्वसनीय रूप में खड़ी बोली का गद्य सत्रहवीं शती से ही मिलता है। अवधी, छत्तीसगढ़ी और भोजपुरी में तो प्राचीन गद्य-वाङ्मय ही अत्यन्त क्षीण हैं। कुछ कागज-पत्र, टीका-टिप्पण, शिलालेख तथा अठारहवीं शती के दो-चार ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। बनारसी बोली की 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' नामक बारहवीं शती की एक औक्तिक व्याकरणिक रचना अवश्य उपलब्ध है जिसमें बनारसी बोली के गद्य-वाक्य संस्कृत-वाक्यों के साथ लिखित हैं। यह ग्रन्थ इसकी भाषा के सुनीतिबाबू-कृत अध्ययन के साथ प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के बाद सत्रहवीं शती तक अवधी या बनारसी गद्य का कोई नमूना प्राप्त नहीं होता। वस्तुतः प्राचीन काल में गद्य का जैसा उन्मेष राजस्थानी, ब्रजभाषा, दक्खिनी तथा खड़ी बोली में हुआ, वैसा अवधी आदि पूर्वी भाषाओं में नहीं। इनके प्राचीन गद्य के आधार पर इन भाषाओं के पुराने रूप तथा विकास का अध्ययन प्रामाणिक रूप में किया जा सकता है। खड़ी बोली के पुरातन रूप पर प्रकाश डालने की उपयोगिता और उसके आधुनिक उत्कर्ष तथा महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध में खड़ी बोली और उसके प्रसंग से दक्खिनी के प्राचीन गद्य का संक्षिप्त भाषा-सम्बन्धी अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

खड़ी बोली का अभ्युदय तो साम्प्रतिक है परन्तु प्राचीन वह लगभग उतनी ही है जितनी ब्रजभाषा। उसके अस्तित्व के प्रमाण चौदहवीं शताब्दी से ही मिलते हैं। पद्य में ही नहीं, गद्य-क्षेत्र में भी उसकी स्थिति चिरप्राचीन है। नाथ-सिद्धों की अनेक गद्यमय और गद्य-पद्य-मय रचनाओं में ब्रजभाषा, राजस्थानी और पंजाबी के साथ खड़ी बोली का प्रयोग मिलता है। अर्ध-शिक्षित जनता के निमित्त लिखित कथा-कृतियों में भी इस भाषा का व्यवहार हुआ है। रीतिकाल से पूर्व की (१६५० ई० से पहले की) ऐसी अनेक लघु गद्य-मय तथा गद्य-पद्य-मिश्रित रचनाएं उपलब्ध हैं जिनमें खड़ी बोली शैली के शब्द-रूप अन्य-भाषाओं के शब्दरूपों के साथ पर्याप्ततः प्रयुक्त हैं। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती के 'मलफ़ूजात' (मुसलमान सन्तों के लिखित प्रवचनों) से सम्बन्धित फारसी-ग्रन्थों में भी खड़ी बोली के वाक्य यत्र-तत्र

प्राप्त होते हैं।[1] परन्तु इन वाक्यों की प्रामाणिकता सुनिश्चित नहीं। लिपिकों ने इन्हें मूल रूप में रहने दिया होगा, इस सम्बन्ध में सन्देह होता है। राजा मानसिंह से सम्बन्धित एक फरमान में भी खड़ी बोली गद्य की कुछ पंक्तियां प्राप्त होती हैं।[2] चौदहवीं शती के ख्वाजा जहांगीर समनानी की १३०८ ई० में निर्मित एक सूफीमत-विषयक गद्य-रचना बताई जाती है।[3] परन्तु यह अप्राप्त है। इसकी प्रामाणिकता भी सन्दिग्ध है।

प्राचीन दक्खिनी में, उसे खड़ी बोली हिन्दी का पूर्व रूप माना जाए या न माना जाए, बहुत-सी गद्य-रचनाएं समुपलब्ध हैं। ख्वाजा गेसूदराज़ के नाम से प्रसिद्ध 'मेराजुलआशिकीन', 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता तो संदिग्ध है परन्तु कुछ ग्रन्थ (यथा, शाह बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुलहक़ायक़', मौला अब्दुल्लो-कृत अहकामुस्सलात' और मुल्ला वजही-कृत 'सबरस') अवश्य ही प्रामाणिक हैं। परन्तु दक्खिनी में भी गद्य का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ सोलहवीं शताब्दी का है। भक्ति-काल के अन्त तक दक्खिनी में गद्य-निर्माण यद्यपि प्रचुर परिमाण में हो चुका था, परन्तु अपने मूल और प्रामाणिक रूप में प्राचीन दक्खिनी गद्य की बहुत कम रचनाएं प्राप्त हैं। उपलब्ध प्रतियां प्रायः काल-निर्देश-रहित हैं, फिर उनमें भाषा भी परिवर्तित है। ख्वाजा गेसूदराज, शाह मीरांजी शम्सुलउश्शाक आदि सूफी सन्तों के कुछ फ़ारसी-ग्रन्थों के उनके अनुयायियों द्वारा किये गए अनुवाद भी इन सन्तों के नाम से उनकी मौलिक कृतियों के रूप में प्रसिद्ध हो गए प्रतीत होते हैं। परन्तु दक्खिनी की जितनी भी प्रामाणिक रचनाएं उपलब्ध हैं वे खड़ी बोली के इतिहास की दृष्टि से—उसके प्राचीन स्वरूप पर प्रकाश डालने के लक्ष्य से महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन दक्खिनी रचनाओं में, अन्य भाषाओं के शब्द-रूपों के साथ ही सही, खड़ी बोली शैली के शब्द-रूप जितनी प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं उतनी प्रचुरता से उत्तर भारत की सत्रहवीं शती तक की 'हिन्दवी' या 'हिन्दुस्तानी की रचनाओं में नहीं। उत्तर भारत में अठारहवीं शती के प्रारम्भ तक जहां कहीं भी खड़ी बोली का लिखित प्रयोग हुआ प्रायः व्रजभाषा, राजस्थानी या इतर प्रादेशिक भाषा के सहारे ही हुआ।

उत्तर भारत में निर्मित जिन प्राचीन (रीति-युग से पूर्व की) प्राप्त गद्य-रचनाओं की प्रतियों में खड़ी बोली के शब्द-रूप न्यूनाधिक मिलते हैं उनमें 'कुतुब शतम्', (प्रतिसम्वत् १६७० गद्य-पद्यमय), 'भोगलु पुरान' (प्रति सम्वत् १७६२ गद्यमय[4]), 'गोरष गणेस गुष्टि' (प्रति सम्वत् १७१५ गद्य-मय) और 'महादेव गोरष गुष्टि' (प्रति सम्वत् १७१५ गद्यमय) उल्लेखनीय हैं। 'नव बोली छन्द', 'नव भाषा', 'सकुनावली' आदि और भी अनेक लघु रचनाओं में खड़ी बोली का प्रयोग प्राप्त होता है।[5] परन्तु इनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये रीति-युग से पूर्व की हैं। जिन रचनाओं का नाम-निर्देश यहां किया गया है वे प्रायः सुलघु हैं। कोई भी कृति पांच पृष्ठों से अधिक की नहीं है। इनमें 'कुतुबशतम्' ('कुतुबुद्दीनरीवात') तथा 'भोगलुपुरान' (भूगोल पुराण) में खड़ी बोली शैली के शब्द-रूप अपेक्षाकृत अधिक हैं। तत्कालीन जन-भाषा का रूप प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'कुतुब शतम्' अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह

---

१. 'मलफ़ूज़ात'-सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—'सियरुलऔलिया', 'खैरुलमजालिस', और 'सरूरुस्सुदूर'। इनमें मिलने वाले कुछ वाक्य हैं—'खोजा बुरहानुद्दीन बाला है', 'पोंनू का चांद भी ब'ला होता है', 'रह रह', 'तू मेरा गुसाईं, तू मेरा करतार', 'मुझ इस तपधई' 'छुड़ा', जो मुडासा बांधे सो पाइन पसरे', 'अरे मौलाना ये बड़ा होसी'। मौलवी अब्दुल हक ने 'उर्दू की इब्तदाई नशो व नुमा में सूफ़ीयाए कराम का काम' पुस्तक में फारसी के कुछ अन्य ग्रन्थों से खड़ी बोलो के वाक्य उद्धृत किए हैं जो इन ग्रन्थों में यत्र-तत्र आए हैं। इन वाक्यों में प्रयुक्त कुछ शब्दरूप हैं—तुझसे, होए, करे, तुसां, पोंचे, कूं, को, तें, का, में, जिस, पावे, देवे, हुआ, मुआ, तैसा। 'पंजाब में उर्दू' और 'बिहार में उर्दू' नामक ग्रन्थों में भी प्राचीन खड़ी बोली के वाक्य उद्धृत किये गए हैं।

२. हाजीपुर के शाहे मुख्तार अहमद से प्रो० हसन अस्करी को प्राप्त यह फ़रमान 'बेंगाल : पास्ट ऐंड प्रेजैंएट' नामक ग्रंथ (जिल्द ६६) में प्रकाशित हो चुका है। मूल फ़रमान फ़ारसी में है, उसका संक्षिप्त अनुवाद खड़ी बोली में। १६वीं शती के इस नमूने में भाषा का रूप यह है—'श्री महाराजाधिराज श्री मानसिंह जी ओ……दखल मत करो वो हर साल परवाना तलब मत करो साल तमाम में फी बीगा मजरुआ पीछे सिक्का यक खालसा लीजो अवरंव अवर कछू दखल मत करो……।'

३. हामिद हसन कादिरी—'दास्ताने तारीखे उर्दू' (१९४१) पृ० १९।

४. इस रचना को प्राचीनतर प्रतिलिपि श्री ह० प्र० द्विवेदी ने 'नाथसिद्धों की बानियां' शीर्षक संग्रह-पुस्तक में प्रकाशित की है।

५. इन रचनाओं की प्रतियों में बहुत पाठान्तर है।

रचना सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की व्यावहारिक खड़ी बोली पर प्रकाश डालती है। इसमें खड़ी बोली, राजस्थानी तथा ब्रजभाषा के साथ प्रयुक्त है। अन्य रचनाओं में भी ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी अथवा पूर्वी हिन्दी से प्रभावित खड़ी बोली का दर्शन होता है।[1] इस विभाषा-मिश्रण का कारण खड़ी बोली का उस समय दुर्बल और साहित्य-क्षेत्र में अप्रतिष्ठित होना तो है ही, गद्यकारों का अपनी प्रादेशिक बोली के संस्पर्श से न बच पाना भी इसका कारण है। प्रादेशिक शब्द और शब्द-रूप ही नहीं, प्रदेश-विशिष्ट उच्चारण भी इस समय की रचनाओं में प्राप्त होता है।

उल्लिखित रचनाओं की भाषा की एक मुख्य विशेषता, प्राचीनता और अर्वाचीनता का संयोग है। इनकी प्राप्त प्रतिलिपियों में एक ओर 'अम्हे'-'अमे' (हम), तुम्ह (तुम), 'अम्हारा' (हमारा), 'उत्पन्यां',[2] 'सूरजु', 'कउन', 'अउर', 'इकु', 'जलकीआं', 'उत्पन्निओ',[3] 'उतपते', 'कथन्ति', 'भ्रमते',[4] 'घरां', 'वूढां', 'पावइ', 'करतइ', 'जाण्या'[5] ऐसे पुराने रूप हैं; दूसरी ओर 'यह', 'तूम', 'हम', 'तुमाहारा', 'मारा', 'मीठा', 'पारा', 'का', 'आया', 'गावणा', 'चलती',[6] 'इन', 'दाहिणे' 'से', 'सुनो', 'आवते', 'जाते', 'होरहते', 'जैसा', 'तैसा',[7] 'पर्वतों', 'अखों', 'देवते', 'ऊंचा', 'बड़ा', 'होता', 'करता', 'बैठा', 'होयगा',[8] 'यह', 'जिसका', 'इतनी', 'ऐसा', 'चाहता है', 'करते हुइ', 'बैठा था', 'खुलावती थी', 'आकर खड़ा रहा',[9] ऐसे आधुनिक ढंग के शब्द-रूप।

इन रचनाओं में अर्ध-तत्सम और तद्भव शब्द अपेक्षाकृत अधिक हैं। 'कुतुबशत' में तो, जो अर्ध-शिक्षित जनता के निमित्त लिखी गई है, भाषा प्रायः तद्भव-निष्ठ है। प्रचलित प्रयोग उन्मुक्ततः अपनाये गए हैं। संज्ञा-पद ही नहीं, विशेषण भी प्रायः तद्भव हैं।[10] कुछ लेखों में उकारान्त संज्ञा-सर्वनाम भी प्रयुक्त हैं। स्वर-सन्धि-रहित उद्वृत्त रूप ('कउन', 'कहइ', 'करउ', 'तउ' आदि) भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। परन्तु स्वर-सन्धि वाले रूपों का प्राधान्य है। संज्ञा के विकारी बहुवचन रूप की 'ओं', 'यों' विभक्तियां प्रायः नहीं मिलतीं। केवल 'भूगोल पुराण' की श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि में 'अखों', 'पर्वतों' ऐसे रूप प्राप्त होते हैं।[11] आकारान्त पु०-संज्ञा का एकारान्त अविकारी बहुवचन रूप 'देवते' भी इस रचना की उक्त प्रतिलिपि में मिलता है। 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीनरी वात') में पु० एकवचन विकारी में 'शाहजादे' प्रयुक्त हुआ है। अन्य रचनाओं में खड़ी बोली शैली के ऐसे रूपों का प्रायः अभाव है। इनमें बहुवचन की विभक्तियां हैं—'आं', 'यां', 'नि', 'न'।[12] कर्तृ-संज्ञा के रूपों में 'हार' परसर्ग मिलता है जिसके पूर्व 'नि' अथवा 'न' है। सर्वनाम रूप प्राचीन-अर्वाचीन दोनों प्रकार के हैं। उल्लिखित रचनाओं की उपलब्ध प्रतियों में सर्वनाम के एक ओर 'अम्हे', 'कून', 'कउन', 'ते', 'तु', 'ताका', 'तोसु' इत्यादि रूप हैं; दूसरी ओर 'तुम्हारा', 'हमारे', 'आपकी', 'यह', 'ये', 'जिसका' इत्यादि। आद्यक्षर कहीं-कहीं दीर्घ हैं—यथा 'तूम', 'जीन' ('गोरख ग० गुष्टि') उकारान्त सर्वनाम भी मिलते हैं, यथा—'तिसु', 'कउन', ('भूगोल पुराण')। आकारान्त विशेषण लगभग सभी रचनाओं में हैं, यथा—'बड़ा',

१. 'भोगलु पुराण' की भाषा ब्रजभाषा तथा पंजाबी से प्रभावित है। 'गोरष गणेस गुष्टि' तथा 'महादेव गोरष गुष्टि' में ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली है। शेष में प्रायः राजस्थानी तथा ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली प्रयुक्त है।

२. 'गोरष गणेस गुष्टि'

३. 'भूगोल पुराण'

४. 'महादेव गोरष गुष्टि'

५. 'कुतुबशत'

६. 'गोरष गणेस'

७. 'महादेव गो० गुष्टि'

८. 'भूगोल पुराण'

९. 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीन रीवात')

१०. तद्भव शब्दों में आद्यक्षर कहीं लघु के स्थान पर दीर्घ हैं, कहीं दीर्घ के स्थान पर लघु। यथा—'कीया', पीलाया, ईतनी, दुध, सुरत। 'स' के स्थान पर 'श' और 'श' के स्थान पर 'स' मिलता है—यथा—मांगशा, शिराहांकूं, 'सहर'। 'न' को 'ण' और 'ख' को 'ष' है। संयुक्त व्यंजन कम हैं। लोप तथा आगम के विकार पर्याप्त हैं।

११. देखिए हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'नाथसिद्धों की बानियां', परिशिष्ट १

१२. 'आं', 'यां' विभक्तियां 'कुतुबशत' तथा 'भूगोल पुराण' में ही हैं।

'खारा', 'रचरचरा' (गोरख ग० गुष्टि), 'ऊंचा', 'वड़ा', 'खारा', 'केता', (भूगोल पु०), 'ऐसा', 'वड़ा', 'वड़ेरा', (कुतुंव शत)। वहुवचन अविकारी और एकवचन विकारी विशेषण-पद प्रायः एकारान्त हैं। यथा—'ऐसे', 'जेते', 'ऊंचे' (भूगोल पु०), 'दाहिणे', (महादेव गो० गुष्टि)। विशेषण के पु० विकारी वहुवचन रूप प्रायः 'आं' विभक्त्यन्त हैं। यथा—'हमारे वडां वूढ़ां के उठ साफ करउ' (कुतुवशत)। कारक-चिह्न अधिकतर व्रजभाषा और राजस्थानी के हैं। खड़ी वोली के केवल 'का', 'रा', 'में', 'पर' चिह्न मिलते हैं। कहीं-कहीं 'से' भी प्रयुक्त हैं। 'भूगोल पुराण'—में सम्बन्धकारक का स्त्री-वहुवचन का परसर्ग 'कीआं' है—'जलकीआं नदीआं वहतीआं है नि'। अन्य प्रयुक्त कारक-प्रत्यय हैं—'कु', 'कू', 'कूं', 'कुं', 'कीं' (कर्म), 'त', 'ते', तें, 'सु', 'शुं', 'सो', 'सेती' (करण-अपादान); 'परि', 'मैं', 'महि', 'मधि' (अधिकरण)। स्पष्ट है कि कारक-चिह्नों में वहुत अस्थिरता और अनेक-रूपता है। अन्य शब्द-भेदों में भी अव्यवस्था और रूप-वैविध्य है। इसका एक कारण तो व्रजभाषा आदि विभिन्न भाषा-शैलियों का सम्पर्क है। दूसरा कारण उस समय तक खड़ी वोली का व्याकरण-वद्ध न हो पाना है।

रीतिकाल से पूर्व के खड़ी वोली गद्य के जो भी नमूने प्राप्त हुए हैं उनमें क्रिया का अच्छा प्रयोग नहीं मिलता। क्रियारहित वाक्य भी उपलब्ध होते हैं। 'गोरष गणेस गुष्टि' में तो वहुत से वाक्य क्रिया-रहित हैं। संयुक्त क्रिया तो वहुत ही कम आई है। केवल 'कुतुब शत' की परिवर्तिनी प्रतियों में, 'आकर खड़ा रहा' 'भर ल्या आ', ऐसे संयुक्त क्रियापद यत्र-तत्र मिलते हैं। इस रचनाओं में क्रिया का प्रयोग अपेक्षाकृत विकसित है। इसमें 'जोड़कर' 'आकर', आदि पूर्वकालिक कृदन्त भी प्रयुक्त हैं। संयुक्त काल के उदाहरण 'भूगोल पुराण' में भी प्राप्त होते हैं— यथा 'चलता है', 'होता है', 'वैठे हैं'। 'कुतुवुद्दीन री वात' में तो संयुक्त काल के प्रयोग वहुत हैं। यथा—होइ है, धरै हैं, होत है, चाहता है, पिछाणताऊँ, करते हइ, वैठा था, 'वुलावती थी' इत्यादि। 'भूगोल पुराण' में भी क्रिया का अपेक्षाकृत अच्छा प्रयोग है। इसकी द्विवेदी जी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि में 'चलते ही', 'वैठे हैं', ऐसे अर्वाचीन रूप भी हैं। गोरखपंथी और निरंजन-पंथी रचनाओं में भाषा उतनी विकसित नहीं है। उनमें इस प्रकार के क्रियापद विरल हैं। इन रचनाओं की उपलब्ध प्रतियों में वर्तमान सामान्य के रूप प्रायः लट् तिङन्त हैं। यथा—कहै, वुज, आव, ऊतपतते, (गोरष ग० गुष्टि) कथंति, भ्रमते, उतपते, अनुसरै, भोगवै, (महादेव गोरप गुष्टि) धरै हैं, होइहै, पावइ, (कुतुवशत)। 'भूगोल पुराण' में ऐसे रूपों का प्रायः अभाव है। उसमें इस काल में अधिकतर कृदन्त हैं। यथा—होता है, करते हैं, देखते। 'कुतुव शत' में भी 'होता है', 'चाहता है', 'करते हइ' आदि क्रियापद प्रयुक्त हैं। गोरखपंथी रचनाओं में कृदन्त पद अपेक्षाकृत कम हैं। व्यंजन द्वित्व वाले 'दित्ता' ऐसे रूप, 'अंचवते', 'अनुसुरै' ऐसे नामधातु क्रिया-पद और 'वहती आं', इस प्रकार के 'आं' विभक्ति वाले स्त्री वहुवचन वर्तमान कृदन्त भी प्राप्त होते हैं। संज्ञा कृदन्त 'न', 'ना' दोनों में अन्त होते हैं। पंजावी-राजस्थानी-प्रभाव से 'ना' के स्थान पर यत्र-तत्र 'णा' प्रत्यय मिलता है, उसके पूर्व प्रायः 'व' है। यथा—गावणा, ध्यावणा, (गोरष ग० गुष्टि), करणा (कुतुव)। पूर्वकालिक कृदन्त अधिकतर 'मिलि' ऐसे इकारान्त हैं। 'कर' परसर्गान्त पूर्वकालिक केवल 'कुतुवशत' की परवर्ती प्रतियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

भूतकालिक (पूर्ण) कृदन्त पु० एकवचन में आकारान्त, 'या विभक्त्यन्त और व्रजभाषा-शैली के 'इओ', 'इऔ' अन्त वाले तीनों प्रकार के हैं। यथा—आया, आव्या, कह्या (गोरप ग० गुष्टि); कीया, हुआ, कहा, कह्या, रहा, भया (कु० वात); रहिआ, रहिओ, 'उत्पन्निओ' (भूगोल पु०)। इनके वहुवचन रूप कहीं एकारान्त हैं, कहीं अकारान्त।[1] आकारान्त पद भविष्य काल में भी उपलब्ध होते हैं। इनमें 'ग' के पूर्व प्रायः 'य' अथवा 'इ' है। यथा—होयगा, होइगा, (कु० वात)।[2] 'कुतुवुद्दीन री वात' की परवर्ती प्रतियों में 'था, थी, थे', और 'है, हैं, हूं', का भी प्रयोग मिलता है।[3] 'हइ', 'ऊँ', 'हैनि' ऐसे रूप भी प्राप्त होते हैं। 'भूगोल पुराण' की द्विवेदीजी द्वारा प्रकाशित प्रतिलिपि में तात्कालिक कृदन्त 'चलते ही' भी एक स्थल पर आता है। अव्यय अधिकतर पुराने ढंग के हैं और प्रायः व्रजभाषा शैली के हैं।

---

१. आकारान्त पु० शब्दों के वहुवचन अविकारी रूप अधिकतर एकारान्त हैं।

२. मध्य अ ऩरागम वर्तमान काल के भी रूपों में है— आवते, जावते (गोरप ग० गुष्टि), आवती, वसियता, (भूगोल पुराण)

३. 'भूगोल पुराण' में 'है', 'हैं', के साथ 'हैनि' भी हैं।

पंजाबी के 'तद', 'कदी' अव्यय भी आए हैं। अव्यय-शब्दों में भी अस्थिरता और वैविध्य है।[1]

वाक्य अधिकतर लघु और सरल हैं। 'गोरख ग० गुष्टि' में तो वहुत-से वाक्य आधी-आधी पंक्ति के हैं और प्राय: क्रियारहित हैं। क्रिया का समुचित प्रयोग नहीं मिलता, यह हम लिख चुके हैं। कहीं-कहीं कारक-चिह्नों का भी प्रयोग नहीं है। मिश्र-संयुक्त वाक्य अपेक्षाकृत कम हैं। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्राय: कर्मणि है, परन्तु 'साहिवां खवर पाई', 'साहिवा कही', 'ढढणी प्रसाद कीया' (कु० वात) ऐसे भी प्रयोग पाए जाते हैं, जिनमें कर्ता अप्रत्यय है। कहीं-कहीं वाक्यारम्भ में 'सो' का प्रयोग हुआ है। शब्द-क्रम आधुनिक हिन्दी से प्राय: अभिन्न है।[2]

दक्षिण में गुलवर्गा, वीजापुर और गोलकुण्डा में निर्मित 'दक्खिनी साहित्य' की भाषा में खड़ी वोली की प्रवृत्तियां अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होती हैं। भक्ति-काल के अन्तिम चरण तक 'दक्खिनी' में गद्य-निर्माण पर्याप्त परिमाण में हो चुका था। दक्खिनी के प्राचीनतम गद्यकार शेख ऐनुद्दीन गंजुलइल्म (मृत्यु १३४८ ई० में) वताए जाते हैं, परन्तु उनकी दक्खिनी रचना अप्राप्त है। उनके पश्चात ख्वाजा गेसूदराज वन्दानवाज का नाम लिया जाता है, परन्तु उनके नाम से प्राप्त 'मेराजुल आशकीन', 'हिदायतनामा', 'शिकारनामा', 'तिलावतुलवजूद' आदि रचनाओं की भी प्रामाणिकता संदिग्ध है। 'मेराजुल आशिकीन' अपेक्षाकृत प्रामाणिक मानी जाती है, परन्तु वह जिस रूप में प्राप्त है भाषा की दृष्टि से १५वीं-१६वीं शती की नहीं मानी जा सकती। लिपिकों ने उसकी भाषा में पर्याप्त परिवर्तन किया प्रतीत होता है। शाह मीरांजी शम्सुलउश्शाक (निधन-काल १४९६ ई०) के नाम से प्रसिद्ध 'शरहमरगूवुल कुलूव', 'सवरस', 'जलतरंग', 'गुलवास' नामक रचनाएं भी प्राय: अप्रामाणिक हैं। वास्तव में रीतिकाल से पूर्व की प्रामाणिक दक्खिनी गद्य रचनाएं चार ही हैं। ये हैं—शाह वुरहानुद्दीन जानम (१४५४–१५८३) कृत 'कल्मितुल हक़ायक़', मौला अव्दुल्ला-रचित 'अहकामुस्सलात' (१६२३), मुल्लावजही-प्रणीत 'सवरस' (१६३६ ई०) और अव्दुस्समद-लिखित 'तफ़सीर वहावी' (१६४० ई० के लगभग)। गेसूदराज की 'मेराजुल आशिकीन' भी लगभग प्रामाणिक है। इन्हीं रचनाओं के आधार पर प्राचीन दक्खिनी का भाषा-सम्वन्धी अध्ययन किया जा सकता है।

१. कुछ अव्यय-शब्द उद्धृत किए जाते हैं— अंगे, आगे, आगैं, तउ, तो, तौ, अवर, और, कहां, कहा, काहा, काहां, नहिं, नाही, क्या, काहा।

२. इस समय (रीतिकाल से पूर्व के) खड़ी बोली गद्य के कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

एक दिवस साहिवां ढढणी कूं पाण पुलावती थी। ढढणी प्रसाद कीया। साहिवां तुम्ह कुं क्या उपगार करूं। हम कूं क्या उपगार करहुगे। हमारे वडां वूढां के उठ साफ करऊ। तेहउ अवर क्या उपगार करउगे (कुतुवशतम्, पुरातत्व-मन्दिर जयपुर में स्थित सं० १६७० की प्रति, प्रथम पत्र)

ऐसा कुतुवदी साहजादा दिल्ली वीच पिरोसाह पातस्याह का साहजादा भया। दांवलदांन फकीर की लड़की साहिवां से आसिक रह्या। वहुत दिनां प्रीति लागी। दुखपीड आपदा सहुमागी। पीरोसाहि का तखत पाया। साहजादा साह कहाया। यह सिफ्त कुतवदीन साहजादे की पढ़ै। वहुत हो वजन सुख से वढ़ै। यह वात शाह जुग से रही। ढढणी ने जोड़कर कही। (कुतुवशतम्— भण्डारकर ओ० इं० की सं० १७८६ की प्रति)।

सूरज उदंचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्त होता है। सूरज चलते ही सिख्या दोइ सहस्र जोजन एक निमिष महि सूरज चलता है।—— देवते रछिया करते हैं। शब्द सुनते हैं। अरु अखों देखते न हैं। अमी जल अंचवते हैं।

तहां गति कउन पावते हैं। अकाल मधि अखंड मूरति है। (भूगोल पुराण—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रतिलिपि, नाथसिद्धों की वानियां, परिशिष्ट १)

सुमेर परवत कैं दछिणै भाग जंवू असे नामअेक वृछ है। अरु अेक लाख जोजन जंवू वृछ का विस्तार है। तिस वृछ का फल हस्ती समान है। से फल पडत प्रमांण पांणी का प्रवाह चलत है। सो प्रवाह मानसरोवर जात है। फुन तिस फलं का रस की नदी वहिती है। (भूगोल पुराण—सं० १७६२ की प्रति)

गणेस वुज गोरप कहे। स्वामी जी तूम काहां त आया। कहा तुमाहारा नाव। अवधू हम निरत्रतं आया। जोगी हे मारा नाव। स्वामी जो जोगी ते तो कुन वोलिवे...। स्वामी पृथ्वी का कोंण वरण, आपका कोंण वरण, तेज का कोंण वरण, वाई का कोंण वरण, आकास का कोंण वरण,— (गोरप गणेस गुष्टि— 'सेवादास की वानी' शीर्षक गुटका, पत्र ६३२-६३३)

छुधा, त्रिषा, निद्रा, आलस, क्रांति ये पांच प्रकृति तेज की वोलिये। इन तेज मारग जीव अनुसरैं तौरजि-पानि भोगवै।—— इच्छा आसंति अविगत रहंत, आवते न जाते। जैसा है तैसा हो रहते (महादेव गोरप गुष्टि—सं० १७१५ की प्रति)

इन रचनाओं की भाषा में खड़ी बोली की प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। परन्तु बहुत-सी बातों में वह खड़ी बोली से भिन्न है। शब्द-रूपों, शब्द-भण्डार और वाक्य-रचना में ही नहीं, उच्चारण में भी भेद है। संज्ञा-बहुवचन के रूप राजस्थानी और पंजाबी के समान प्रायः 'आँ'–'याँ' विभक्ति वाले हैं।[1] यथा–मूरताँ, जीवाँ, आदम्याँ के, नेकियाँ सूँ, करनहारियाँ (सबरस)। बहुवचन विशेषण-रूप और विशेषण-कृदन्त भी विशेष्य के अनुसार 'आँ'–'याँ' में अन्त होते हैं : 'ऐस्याँ ते बहुत्याँ का, बड़ियाँ (सबरस); चार चीजाँ छुपाको रख्याँ (मेराजुल आशिकीन); करत्याँ, पढ़त्याँ (कल्मितुलहक़ायक़) सर्वनाम रूप बहु-विध हैं। खड़ी बोली–भिन्न सर्वनाम-रूप भी पर्याप्त हैं : हमन, हमना, तुमन, तुमना, तुज, उनों, जिनों (विकारी) तूं, ऊ, यू, यो, तुमे, हमे, ई, इने, किने, जे, ज कोई, जकुछ, अपस (अविकारी)। तुज, जाके, ताके (सम्बन्ध) इत्यादि। सार्वनामिक विशेषण प्रायः 'ता'–'ते' (पु०), 'ती'–'तियाँ' (स्त्री०) प्रत्ययान्त हैं। यथा–जेता, जिता, विते, एते, तेतियाँ, एतियाँ। कर्त्ता प्रत्यय 'ने' का प्रायः अभाव है। सम्बन्ध-कारक का स्त्री० बहुवचन का प्रत्यय 'क्याँ' है : 'मे राज क्याँ निशानियाँ' (मेराजुल आशिकीन)। अन्य खड़ी बोली–भिन्न कारक-चिह्न हैं। कूं, कों, सूं, सों, ते, थे, सेती, सते, केर, मो, पो, महिं, मंह, मने, मियाने, उपराल। बहुत-से क्रियारूप भी आधुनिक खड़ी बोली से भिन्न हैं। यथा कते (कहते), देखत, करत्याँ (करतीं), देख्या (देखा) रखयाँ (रक्खीं), होसी (होगा), लेसूं (लूंगा), आइ, बुलाय, देको (देकर) अँपड़्या, अछ, अह, अथ, थ्यां (थीं)।

दक्खिनी में ऐसे अव्यय भी बहुत हैं जो खड़ी बोली में नहीं हैं। ये हैं–च, छ (ही), होर (और), नको (मत) जधाँ (जहाँ), तधाँ (तहाँ), अंगे, आधें (आगे), संगात (साथ), अताल (अब), की (क्यों), अजहों (अबतक), नेमे, नमेन, धात (तरह) इत्यादि। अव्यय ही नहीं, अन्य कई शब्द भी खड़ी बोली से भिन्न हैं। यथा–डोसा (बूढ़ा), झांप (छलांग), खुई (पसीना), तमा (लालच), अंझू (आँसू), ठार (स्थान), बारा (बालक), खिलारा (खिलानेवाला), पलाओ (बुलाओ), तहे (लिए), गल (बात)। इनमें से कुछ शब्द तो ब्रजभाषा-शब्दों के तद्भव हैं, कुछ मराठी-पंजाबी आदि के हैं। 'सूं', 'केर' प्रत्यय और 'ने' का अभाव पूर्वी हिन्दी का प्रभाव है। फारसी-अरबी के शब्द भी प्रचुरतः प्रयुक्त हैं। संस्कृत-शब्द भी हैं, विशेषकर बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुलहक़ायक़' और वजही-कृत 'सबरस' में।

वाक्य-रचना फ़ारसी से प्रभावित है। शब्द-क्रम और समास-विधान प्रायः उसी प्रकार का है : वजूदे खाकी, तेरे ज़िक्रे बगैर (वजूदुल आरफ़ीन), के जद अमर हता उस थे (कल्मितुलहक़ायक़) गुनाह कबीरा, हातां दोनों (अहकामुस्सलात)। भूतकाल की सकर्मक क्रिया प्रायः कर्त्तरि है। संयुक्त क्रिया के कई रूप और प्रयोग मिलते हैं। प्राचीन उत्तरी खड़ी बोली गद्य की अपेक्षा प्राचीन दक्खिनी-गद्य में 'क्रिया' और 'वाक्य' का अच्छा विकास दिखाई देता है। यत्र-तत्र क्रिया और कारक-चिह्न का अध्याहार, नाम-धातु क्रियापद, दुहरा कारक-चिह्न, 'ठारेठार' ऐसे द्विरुक्त संज्ञा-पद, लिंगदोष, और कुछ विचित्र-विशिष्ट तथा अनुचित प्रयोग, प्राचीन दक्खिनी गद्य-भाषा की इतर विशेषताएँ हैं। उसकी प्रमुख ध्वनि-सम्बधिनी प्रवृत्तियाँ ये हैं। आद्य लघु को दीर्घ : यथा–पीलानां; दीर्घ को लघु यथा दुसरा, गुंगे; महाप्राण को अल्पप्राण। यथा–हात, देक, मुजे, रकता; दो शब्दों के समास में पूर्व या पर-पद के किसी व्यंजन, स्वर या अक्षर का लोप, यथा-ज कुछ, ज लग; कुछ क्रिया-रूपों में 'ह' या किसी अन्य मध्य व्यंजन का लोप : यथा–कते, दीस; 'ह' का पर-व्यजंन में लीन होना : यथा-पछानता; दो मूर्धन्य ध्वनियों वाले शब्दों के प्रथम मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य (तुटे, थंडी); अन्तिम 'म' को 'वँ' और 'ग' को 'क' (नावँ, लोक); कुछ शब्दों में अनुस्वारान्तता (यां, वां, जधां, तधां), 'क' का 'ख'-जैसा उच्चारण (यथा–'शौक' को 'शौख') और आ, ए, ओ इन स्वरों का लघु होना।

परन्तु इन विषमताओं की अपेक्षा दक्खिनी में समताएँ अधिक हैं। संज्ञा के एकवचन अविकारी और विकारी रूप खड़ी बोली से अभिन्न हैं। एकवचन विकारी रूप सभी रचनाओं में एकारान्त है। कहीं-कहीं बहुवचन अविकारी और विकारी रूप भी खड़ी बोली के समान हैं—'सजदे किए ठार', 'क्या समझेंगे दाने', 'किस्से धड़ेंगे इस ठार' (सबरस); 'दोनों कानों' (मेरा जुल आशिकीन); 'हातां दोनों' (अहकामुस्सलात)। दक्खिनी की प्राचीन गद्य-

---

१. ब्रजभाषा-शैली के 'न' प्रत्ययान्त और खड़ी बोली शैली के 'ए' और 'ओं' प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं।

रचनाओं में 'मेराजुल आशिकीन' की भाषा खड़ी बोली के अपेक्षाकृत अधिक निकट है। इस पुस्तक में 'उसे', 'उसका', 'मैं', 'तुम्हारा', 'जो', 'दूसरा', 'दोनों', 'करता है', 'करते हैं', 'करेगा', 'लेकर', 'लेना', 'करे', 'सुनो', 'हुआ', इत्यादि खड़ी बोली शैली के रूप प्रचुर हैं। सर्वनाम और सार्वनामिक विशेषण के जो रूप नीचे उद्धृत किये गए हैं, उनके अतिरिक्त खड़ी बोली के निम्नावतरित सर्वनाम-रूप भी प्रयुक्त हुए हैं :

हम, तुम, तुज, तुमारी, वह, यह, ये, जिसे, क्या, सब, सभी, और वर्तमान-कालिक कृदन्त के पुल्लिग एकवचन में 'ता' प्रत्यय भी मिलता है, पुल्लिग-बहुवचन में और स्त्रीलिंग-एकवचन में क्रमशः 'ते', 'ती' प्रत्ययान्त क्रियापद हैं। भविष्य के सी, से, सूं प्रत्यय वाले रूपों के अतिरिक्त, गा, गी, गे वाले पद पर्याप्ततः व्यवहृत हैं। पूर्वकालिक कृदन्त के 'को', 'इ', 'य' पदान्तों के साथ खड़ी बोली का 'कर' पदान्त भी है। सहायक क्रिया के पीछे अवतरित रूपों के अतिरिक्त खड़ी बोली शैली के 'हूँ', 'हैं', 'है', 'हो' रूप बहुधा आए हैं। कुछ अव्यय भी इस शैली के हैं। खड़ी बोली-प्रदेश की बोल-चाल में व्यवहृत 'काँ', 'याँ', 'वाँ', जाँ, नईं, अंगे, 'कने', 'सात', 'भौत' आदि अव्यव दक्खिनी गद्य में स्थल-स्थल पर उपलब्ध होते हैं।

रीतिकाल की फ़ोर्ट विलियम कालेज से पूर्व की खड़ी बोली गद्य की रचनाओं ('एकादशी-महिमा', 'सकुनावली', 'पोथी सलोत्री की', 'सीधा रस्ता,' 'मारफतसागर परिचय', 'गोरक्षशतम् टिप्पण,' 'नरसिंहदास गौड़ की दवावैत', 'लखपत दवावैत', 'जिनसुखसूरि मजलस', 'अनुभव प्रकाश','मोक्षमार्ग प्रकाश', 'भाषा-उपनिषद्,' 'भाषा योग वासिष्ठ', 'भाषा पदम पुराण', 'आदि पुराण वचनिका', 'सुदृष्टि-तरंगिणी वचनिका', 'दहमजलिस' इत्यादि) की भाषा प्राचीनतर खड़ी बोली गद्य की भाषा की भांति प्रायः ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी, पूर्वी हिन्दी और फ़ारसी में से किसी एक भाषा अथवा अनेक भाषाओं से प्रभावित है। परन्तु इस समय के खड़ी बोली गद्य पर प्राचीनतर खड़ी बोली गद्य की अपेक्षा ब्रजभाषा आदि का प्रभाव कम है। भाषा की दृष्टि से इस समय की रचनाएँ त्रिविध हैं : संस्कृतनिष्ठ, तद्भवनिष्ठ और फ़ारसीपरक (उर्दू-शैली की)। शब्द रूपों का वैविध्य प्रायः सर्वत्र है जिसका कारण विभाषा-सम्पर्क और व्याकरणिक अस्थिरता है। कुछ रूप द्रष्टव्य हैं :

सर्वनाम—यह, इअह, इह, इअ, ऐह, एह, ए, या (इस); मुझे, मोकों, मोहे, मोए; उसका, ताका, वाका, तिसका, विसका, वुसका, ताकी, ताको; उन्हेंने, उनोंने, वुन्होंने, विन्होंने, विनोंने।

क्रिया—कहता, कहत, कहतु, कहै; किया, कीआ, कर्या, करिआ, करा, कीना, कीयो, कीयौ।

स्पष्ट है कि ब्रजभाषा आदि निकटवर्तिनी भाषाओं का प्रभाव पर्याप्त है। ऐसा होने पर भी इस काल के खड़ी बोली गद्य की भाषा आधुनिक खड़ी बोली के बहुत निकट है। संज्ञा के विकारी बहुवचन की 'ओं' (ओ), 'यों' विभक्तियाँ बहुलतः मिलती हैं।[1] 'आँ', 'इयाँ', वाले किरणाँ, 'पदमनियाँ' 'धारणेहारियाँ' (भाषा योगवाशिष्ठ-निर्वाण-प्रकरण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी की प्रति) ऐसे भी रूप हैं और ब्रजभाषा शैली के 'नि', 'न' अन्तवाले भी। अविकारी बहुवचन में 'वातें' शब्द भी एक रचना ('मारफतसागर' ग्रंथ के 'हकीकत' शीर्षक परिचय) में मिलता है। संज्ञा-पद सप्रत्यय-अप्रत्यय दोनों प्रकार के हैं। कर्तृ-संज्ञा के प्रत्यय 'हार', 'हारा' हैं। 'भाषा-योग-वासिष्ठ' की प्रतियों में 'वाला' भी मिलता है।[2] इनके विकारी रूप एकवचन में एकारान्त और बहुवचन में कहीं 'ओं' विभक्त्यन्त, कहीं 'आँ' (पु०) 'इयाँ' (स्त्री०) विभक्ति वाले और कहीं 'न' विभक्ति वाले हैं। कारक-चिह्न खड़ी बोली शैली में केवल पांच-छः हैं—का, की, के, से, में, पर। शेष कारक-प्रत्यय ब्रजभाषा और अन्य प्रादेशिक बोलियों के हैं। इस समय की रचनाओं में 'से'-वाचक 'करिके'–'करि' शब्द और 'में'-वाचक 'विषे'–'विषै' शब्द बहुलतः व्यवहृत हैं। विशेषण अकारान्त, आकारान्त और 'ओ'। 'औ' में समाप्त होने वाले कई प्रकार के हैं। उनके विकार प्रायः आधुनिक ढंग के हैं। अन्य आकारान्त

---

१. 'ओं' के स्थान पर 'ओ' भी है। यथा-शरीरों का, बुधों का (भाषा उपनिषद्, पत्र २) अंगों में, नेत्रों के (वही पत्र २७), फलों, पदार्थों के (वही पत्र ३७) उपनिषदों का (वही पत्र १०७), वचनों करि (भाषा योग० पत्र ६), कानो (वही पत्र ६५), शब्दों (वही पत्र १४०)।

२. 'भाषा उपनिषद्' की एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित प्रति में 'भक्षणहार' (भक्षण करने वाला) तथा 'भक्षण कर्नहारा' ऐसे भी रूप हैं। (पत्र २)।

शब्दों की भाँति आकारान्त विशेषण पदों के भी अवि० पु० बहुवचन रूप और वि० पु० एकवचन रूप बहुधा एकारान्त है। पु० वि० बहुवचन मे 'ओं' विभक्ति भी यत्र-तत्र मिलती है। स्त्री-बहुवचन में कहीं-कहीं 'इयाँ' वाले 'बड़ियाँ' (बड़ीं) ऐसे रूप आए है। सर्वनाम-रूप कुछ तो खड़ी बोली के समान है, कुछ ब्रजभाषा आदि के। 'भाषा उपनिषद्' (रचना सं० १७७६) में ब्रजभाषा शैली के 'जु', 'कोउ', 'या', 'जासों', 'वाही', 'ए', 'जा', 'वा', 'ता' आदि बहुत से सर्वनाम है। खड़ी बोली शैली के सर्वनाम पद भी इस रचना में पर्याप्त है।

वर्तमान सामान्य काल में कृदन्त रूपों के साथ 'करों', 'ग्रहों', 'कहै है', 'हो है' तिङन्त-पद भी प्रचलित थे। इस काल में कृदन्त पदों में 'ता'-'ती'-'ते' के अतिरिक्त 'त'-'तु'-'ति'-'तियाँ' प्रत्यय भी प्राप्त होते है। 'भाषा योग वासिष्ठ' की कुछ प्रतियों में और कुछ अन्य रचनाओं की उपलब्ध प्रतिलिपियों में 'करतियाँ', 'जातियाँ' ऐसे रूप प्रयुक्त है। भूत-कालिक कृदंत के 'भइयाँ', 'आइयाँ' ऐसे रूप भी व्यवहृत है। इस कृदन्त के एकवचन पुल्लिग रूप त्रिविध हैं–'कहा', 'कह्या', 'कह्यो', (कह्यौ)। पु० बहुवचन में ये कही एकान्त है कही ऐकारान्त। यथा—आऐ; ल्याऐ ('बीतक', 'दृष्टान्तसागर टीका') भूतघटमान काल में 'पढे थी', 'सुणे थी', 'कीये थी' (विवेकमार्त्तण्ड) ऐसे प्रयोग भी मिलते है। आरंभिक अपूर्ण काल (Inceptive Imperfect) के 'चाहता भया', 'बरतत भया', 'कर्त भये' आदि रूप और 'भासता है' 'फुर्ता है', 'प्रकासता है' आदि नाम-धातु क्रिया-पद प्रयुक्त है[1] इनके अतिरिक्त 'लेपायमान', 'बंधायमान' ऐसे कृदन्त और 'आश्चर्य को प्राप्त भया' 'दृष्ट आता है' ऐसे सस्कृतानुयायी प्रयोग भी कुछ रचनाओं में विशेषकर संस्कृत से अनूदित पुस्तकों में प्राप्त होते हैं, पूर्व कालिक कृदन्त और आज्ञा-विधि के रूप कही आधुनिक हिन्दी के समान है, कही ब्रजभाषा-शैली के। भविष्य के रूप वर्तमान खड़ी बोली के भविष्य-रूपो से प्रायः अभिन्न है, केवल मध्य में 'य़', 'इ', अथवा 'वे', का आगम है, यत्र-तत्र ऐसे 'पाइहों' तिङन्त भी इस काल में व्यवहृत है। खड़ी बोली शैली के 'हे, 'है, है, था, थी, थे' सहायक क्रिया-पद पर्याप्ततः प्रयुक्त है। 'हे', 'हो', कही-कहीं 'थे', 'था' के वाचक है। 'हा'–'हता' (था), हती (थी), 'हते' (थे) भी उपलब्ध होते है। संयुक्त काल और संयुक्त क्रिया के बहुत-से रूप और प्रयोग प्राप्त होते है। प्राचीनतर खड़ी बोली गद्य की अपेक्षा इस समय के खड़ी बोली गद्य में संयुक्त क्रिया और संयुक्त काल का प्रयोग अधिक हुआ है। अव्यय अधिकतर ब्रजभाषा शैली के है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं—विशेषकर पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी—के भी अव्यय आए है। खड़ी बोली के बहु-प्रयुक्त अव्यय ये है : 'और', 'परन्तु', 'नही', 'क्या', 'जहाँ', 'कहाँ', 'कैसी', 'जेसे', 'तेसे', 'साथ'।

वाक्य लघु और दीर्घ, सरल और मिश्र-सयुक्त दोनों प्रकार के है। 'भाषा उपनिषद्', 'भाषा योग वासिष्ठ' और 'पद्मपुराणवचनिका' में काफी बड़े वाक्य मिलते है। संयुक्त वाक्यों में 'सो', 'अरु', 'और' संयोजक उपवाक्यों के आदि मे बहुलतः प्रयुक्त हैं। 'अरु' की आवृत्ति कभी-कभी खलने लगती हैं। अन्य बहु-प्रयुक्त संयोजक है। यथा—'कि'-वाचक 'जो', 'यदि'-वाचक 'जौ', 'जो', और, 'तौ' 'जेसे', 'तेसे', 'यद्यपि', 'परन्तु'।

विशेषणोपवाक्यों वाले मिश्र-वाक्यों में प्रमुख उपवाक्य प्रायः अन्त में है। पहले विशेषणोपवाक्य दिए गए है, फिर 'ऐसा जो...........' 'सी तिस—' शब्दों के साथ प्रधान उपवाक्य जोड़े गए है। 'कैसा है अमुक', 'रूपी' और 'जो है सो' की शैली भी मिलती है।[2] तुकमय गद्य की रचनाओं में वाक्य प्रायः पद्यात्मक है उनमें शब्द-क्रम पद्य-वाक्यों जैसा है। कहीं-कही शब्द-क्रम उर्दू-शैली का अथवा आधुनिक हिन्दी-शैली से भिन्न है। यथा–'निकट श्री प्रजापति के गमन कर' (भाषा उप) 'अरु दुख सब मिटि गए है' (भाषायोग-निर्वाण), 'मालदे विसके में' (बाजनामा)। भूतकाल की

---

१. इस प्रकार के प्रयोग 'भाषा उपनिषद' और 'भाषायोगवासिष्ठ' में अधिक है।

२. कैसा है सच चित आनन्द रूप सो कहते हैं जिससे इह सर्व भासते हैं। अरु जिस विषै इते सर्व लीन होते है। अरु जिस विषै इस सर्व इस्थित है। नित सत आत्मा को नमस्कार है। (भाषा योगवासिष्ठ—वैराग्यप्रकरण, सं० १८५५ की इन्डिया ऑफिस में सुरक्षित प्रति, पत्र १)। अरु अवर अंग जु पाछै है सो पष्ट कहत है......अरु परा जु इन तीन काल सो है सो वहो है, (भाषा उप० एशियाटिक सो० की प्रति, पत्र ३७, ९९) 'कैसे है श्रीराम, लक्ष्मीकर आलिगित है हृदय जिनका और प्रफुल्लित है मुख रूपी कमल जिनका, महा पुण्याधिकारी है महा बुद्धिमान हैं गुणन के मन्दिर उदार है चरित्र जिनका, जिनका चरित्र केवल ज्ञान के ही गम्य है ऐसे जो श्री रामचन्द्र...' (पद्म-पुराणवचनिका प्रथम पर्व, पृ० ६)

सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्रायः कर्मणि है। कहीं-कहीं कर्तरि भी है और कर्ता अप्रत्यय है। यथा, हे रघुनन्दन में जो तुमकों उपदेश किया हों ('भाषायोग')। सप्रत्यय कर्म के भी उदाहरण दृष्टिगत होते हैं—यथा—'सास्त्र को पढ़े थी' (विवेक मार्तण्ड)। कहीं-कहीं कारक-चिह्न और क्रिया का अध्याहार है। वचन-लिंगदोष और अनगढ़ विचित्र प्रयोग पर्याप्त हैं।

रीतिकाल की दक्खिनी-गद्य-रचनाओं (कंजुलमोमिनीन, 'गुलजारुस्सा लिकीन', 'शमायलुल अतकिया', 'दलायलुल अतकिया', 'रिसाले वजूदिया', 'रिसाला तसव्वुफ', 'गंज मखफ़ी', 'मारिफतुल सुलूक' असरारुत्तौहीदः' 'हैदरनामा', 'तुतीनामा' 'अनवारे सुहेली' आदि) की भाषा प्राचीनतर दक्खिनी-गद्य-रचनाओं की भाषा की अपेक्षा उत्तर की हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) के और अधिक निकट है। खड़ी बोली शैली के 'औरतों', 'आँखों', 'प्यालों', 'तुजको', 'निकालकर', 'भरकर', 'होते थे', 'बनाना', ऐसे शब्द इस समय के दक्खिनी गद्य में पर्याप्त प्राप्त होते हैं। दक्खिनी-विशिष्ट शब्दरूप भी प्रचुर हैं। वे प्रायः ज्यों के त्यों बने हुए हैं। रीतिकालीन दक्खिनी गद्य में फारसी-निष्ठता भी कुछ अधिक है। 'कल्मितुल हक़ायक़', 'सबरस' आदि प्राचीनतर रचनाओं में जहां संस्कृत के शब्द और हिन्दी-शैली के स्थल पर्याप्त हैं, वहाँ इस समय की रचनाओं में इस प्रकार के शब्दों तथा स्थलों का प्रायः अभाव है। उनके स्थान पर फारसी-अरबी के 'में फरमावरर्दार हूं उसका', 'खुदा ए ताला', मोमिनान', 'जमाल के दीदार सूं जमाल बखशता हूं' (तर्जुमा शमायलुल अतकिया), 'हज़रत रिसालत पनाह अनस सूं इसरारे अजायब व सुखनाने ग़रायब छिपाये', 'ज़बाने गौहर फिशाँ सूं जवाब यों दिए' (रिसाला तसव्वुफ़) आदि प्रयोग और शब्द प्रचुरतः प्राप्त होते हैं। वास्तव में इस समय के दक्खिनी-गद्य की भाषा उर्दू शैली की है। प्राचीनतर गद्य में भी उर्दू शैली की वाक्य-रचना तथा शब्दावली है, इस युग की रचनाओं में उर्दू की प्रवृत्ति और बढ़ गई है।

खड़ी बोली गद्य का विकास वास्तव में १९वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। साहित्य तथा भाषा दोनों दृष्टियों से इस शताब्दी में खड़ी बोली हिन्दी का गद्य प्रगति को प्राप्त हुआ। राजनीतिक तत्त्वों, धार्मिक प्रचारकों, शिक्षा-समितियों, समाचार-पत्रों, प्रेस के आविष्कार और अंग्रेजी तथा बंगला के गद्य के सम्पर्क ने खड़ी बोली हिन्दी-गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। भाषा-क्षेत्र में भी शुभ परिवर्तन हुए। परन्तु भारतेन्दु के समय तक गद्य-भाषा में पूर्ण व्याकरणिक शुद्धता, स्थिरता तथा एकरूपता न आ सकी। ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी आदि के शब्द-रूप उसमें बने रहे। १९वीं शती-पूर्वार्द्ध की रचनाओं ('रानी केतकी की कहानी', 'बैतालपच्चीसी', 'सिंहासनबत्तीसी', 'नासिकेतोपाख्यान', 'राम-चरित', 'प्रेमसागर', 'लताइफ़े-हिन्दी', 'लालचन्द्रिका-टीका', 'गोरा-बादल की वीरता', 'स्त्री-शिक्षा-विधायक', 'भाग-वत-सार', 'आत्मसिद्धान्त', 'दाय-भाग', 'उपदेश कथा', 'कृष्णचरितोपाख्यान नाटक', 'जानकीरामचरित नाटक', 'इन्दर-सभा', 'धरमसिंह का वृत्तान्त', 'बुद्धि फलोदय' आदि) समाचार-पत्रों ('उदन्तमार्तण्ड', 'बंगदूत', 'जगतदीपक भास्कर', 'बनारस अखबार', 'साम्यदण्ड मार्तण्ड', 'मालवा अखबार', 'सुधाकर' आदि) और जनपत्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि १८५० ई० तक गद्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा, पूर्वी हिन्दी आदि निकटवर्तिनी प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव, व्याकरणिक अनौचित्य और अस्थैर्य बराबर बना रहा। हां, समय के साथ वह कुछ कम होता गया है और गद्य-भाषा परिष्कृति तथा प्रौढ़ता की ओर अग्रसर होती गई है।

इस समय की गद्य-भाषा प्रायः तत्सम-निष्ठ है। 'गोरा-बादल की वीरता' तथा 'ससिपना वारता' जैसी अर्धशिक्षित जनता के निमित्त लिखित कुछ रचनाओं में अवश्य तद्भवनिष्ठ भाषा है। परन्तु पाठ्यपुस्तकों और साहि-त्यिक रचनाओं में संस्कृत-परक भाषा ही प्राप्त होती है। कहीं-कहीं संस्कृतनिष्ठता के आग्रह के कारण भाषा निर्जीव हो गई है। रूप-रचना पर्याप्त विकसित है। पुराने ढंग के 'पदमिनियां', 'साथवालियां', गातियां, 'होतियां', 'बिन ब्याहियां' ऐसे 'यां'-विभक्ति वाले स्त्री० बहुवचन रूप; 'राजों', 'आत्मों', 'देवतों', 'अनगिनत गौं', 'करनिहारा' ऐसे संज्ञापद; 'विसे', 'वुह', 'मुज', 'उस्को', 'विन्होंने', 'वीनों के', 'तिन्ह को', 'सभों को', 'हमों को', ऐसे सर्वनाम; 'ढूढ़ूँ', 'पहचानूँ हूँ', 'आवे है', 'चीन्हते हैं', 'किई' (ली) 'लिई' (ली) हुऐ, हुवा, भया, पावेगा, होयगा, दीजे, ऐसे क्रिया-पद और इनके साथ ब्रजभाषा तथा पूर्वी शैली के बहुत-से शब्द-रूप इस काल के गद्य में उपलब्ध होते हैं। यह सब होने पर भी १९वीं शती-पूर्वार्द्ध के खड़ी बोली गद्य की भाषा आधुनिक गद्य-भाषा के बहुत निकट है। ब्रजभाषा आदि का प्रभाव धीरे-धीरे हट

रहा था। खड़ी बोली निखर रही थी। अधिकतर आधुनिक ढंग के शब्द-रूप प्रयुक्त होते थे। संज्ञा के विकारी-अविकारी बहुवचन रूप, सर्वनाम तथा विशेषण प्रायः आधुनिक ढंग के हैं। आकारान्त रूपों का बाहुल्य है। उनके एकवचन विकारी तथा बहुवचन अविकारी रूप एकारान्त हैं। संज्ञा-कृदन्त 'ना' में अन्त होते हैं। कर्तृ संज्ञा में 'हार', 'हारा', 'हारे' की अपेक्षा 'वाला', 'वाले', अधिक प्रयुक्त हैं। वर्त्तमान सामान्य काल में 'दूहूँ', 'आवे हैं', ऐसे तिङन्त और 'आवत', 'आतियां', 'करतियां', ऐसे कृदन्त भी आए हैं। परन्तु 'ता', 'ती', 'ते', 'तीं' प्रत्यय वाले रूप अधिक हैं। पूर्वकालिक कृदन्त अधिकांश में व्रजभाषा-शैली पर 'इ' (य) प्रत्ययान्त हैं। 'कर' 'के' परसर्ग इनके साथ कम संयुक्त हैं। तादार्थ्यक कृदन्त भी प्रायः व्रजभाषा-शैली पर 'न' अन्तवाले हैं। यथा—'ब्याहन आऐ', 'पुकारन लागे'। भूतकाल में प्रायः भूतकालिक (पूर्ण विशेषण) कृदन्त व्यवहृत हैं। इनके विकार आधुनिक ढंग के हैं। इस समय के खड़ी बोली गद्य में 'नारी'-वाचक रंडी शब्द, 'योगी'-वाचक 'अतीत' शब्द, 'अत्यन्त' का अर्थ रखने वाला 'निपट' शब्द, 'से'-अर्थक 'करि-करिके' शब्द तथा 'में'-अर्थक 'विशे' शब्द बहुलतः प्रयुक्त हैं।

इस समय के भी गद्य में विचित्र अशुद्ध प्रयोग स्थल-स्थल पर प्राप्त होते हैं। यथा—'राजा को अज्ञान किया', 'मुझे कहा', 'तुझे क्या वध करूं' (प्रेमसागर), 'रंडियां चुलबुलियां', 'जो अपने मद में उड़चलियां हैं' (केतकी की कहानी) 'जाया चाहती हूं', 'ज्ञान-विज्ञान को पहुंची', 'आपने निपट हमको सनाथ किया', 'विनती किए पर' (नासिकेतोपाख्यान'), 'हम लोग का जय होगा', 'विचार में ठहरेगा', 'विस बातों में' (रामचरित्र)। पूर्वी प्रभाव के कारण लिंग-दोष के उदाहरण सदलमिश्र के गद्य से लेकर भारतेन्दु तक के गद्य में प्राप्त होते हैं। लक्ष्मणसिंह तथा शिवप्रसाद जी के भी गद्य में प्रयोग का अनौचित्य तथा वैचित्र्य लक्षित होता है। बहुत से वाक्य शिथिल, अस्पष्ट तथा प्रभावहीन हैं। सदलमिश्र, लल्लूलाल आदि १९वीं शती के प्रारम्भ के गद्यकारों की वाक्य-रचना तो अधिकतर दुर्बल है। इनके गद्य में पूर्वकालिक कृदन्तों, वर्तमान अपूर्ण कृदन्तों या विकारी भूतकृदन्तों की लड़ी मिलती है। मुख्य क्रिया एक ही रहती है। वर्तमान अपूर्ण कृदन्तों से बने विशेषणोपवाक्यों को अन्त में 'ऐसे जो', 'ऐसे जो सो' शब्दों की सहायता से जोड़ा गया है। ऐसे वाक्यों के प्रारम्भ में टीका-शैली के 'अमुक कैसा है जिसके…' ये अथवा इस प्रकार के अन्य शब्द आए हैं। कहीं-कहीं 'लगा', 'लगी' या 'लगे' क्रिया को प्रथम उपवाक्य में लिखकर शेष उपवाक्य उसके बिना लिखे गए हैं। ऐसे वाक्य भी हैं जिनमें मुख्य क्रिया नहीं है या बहुत दूर है। कहीं-कहीं विचित्र वक्र रचना है। तुकमय, पद्यात्मक तथा उर्दू-शैली का भी वाक्य-विन्यास कहीं-कहीं है, जहां क्रिया कर्म के पूर्व है और विशेषण विशेष्य के बाद। यत्र-तत्र वाक्यांश अथवा शब्द व्यर्थ अथवा अनुचित हैं। ऐसे वाक्य भी प्राप्त होते हैं जो सहकारी क्रिया के बिना पंगु हैं। कहीं-कहीं कारक-चिह्न अप्रयुक्त हैं, कहीं दुहरा कारक-चिह्न है। कुछ संयोजक ('कि', 'अरु', 'और', 'सो') बहुलतः प्रयुक्त हैं। 'जो' शब्द 'कि' संयोजक के भी अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भूतकाल की सकर्मक क्रिया का प्रयोग प्रायः कर्मणि है, परन्तु कहीं-कहीं कर्त्तरि प्रयोग के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। संयुक्त क्रिया का अच्छा प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं तो 'होता चला आया है', 'उठ खड़ा हुआ' ऐसी लम्बी संयुक्त क्रियाएं मिलती हैं। परन्तु कहीं-कहीं इस क्रिया का अभाव खटकता है, जैसे 'नासिकेतोपाख्यान' के इन प्रयोगों में—'वह भी धरती पर गिरी', 'मेरी छाती फटती है।' 'चल खड़े हुए' (नासिकेतोपाख्यान) 'चटाया की' (वैतालपंच्चीसी) ऐसे विचित्र-अशुद्ध क्रियापद भी मिलते हैं। नाम-धातु क्रियापद इस काल के गद्य में प्राचीनतर गद्य की अपेक्षा कम हैं। इनका प्रयोग अधिकतर वर्तमान सामान्य काल में हुआ है। आरम्भिक अपूर्णकाल के 'करते भये' ऐसे प्रयोग तथा 'कम्पायमान', 'शोभायमान' ऐसे 'मान'-प्रत्ययान्त वर्तमान कृदन्त इस समय के गद्य में भी प्राप्त होते हैं, परन्तु समय के साथ ये कम होते गए हैं।

कौरवी और राष्ट्र-भाषा हिन्दी

डा० कृष्णचन्द्र शर्मा

जिनके कर्णकुहरों में ब्रजभाषा की माधुरी ने रस घोल दिया है, वह पछांह (दो-आब के पश्चिमोत्तर कोने के प्रदेश) की बोली को 'खड़ी-बोली' कहते हैं। इस सम्बोधन से उनका अभिप्राय कदाचित इस बोली की खरखराहट या उजड्डपन को व्यक्त करना है। वास्तव में खड़ी-बोली पौरुषेय व्यक्तियों की अभिव्यक्ति का साधन रही है, और यह उसके स्वर का बल ही है जिसके कारण उसे कर्ण-कटु कहा जाता है। आज भी जिसे 'दो टुकड़े बात कहना' बोलते हैं कोई इनसे सीख जाय। यही वह बोली है जिसको ११-१२वीं शती के पश्चात पंजाब की ओर से आकर दिल्ली में बसने-वाले यवन-आक्रान्ताओं ने अपने व्यवहार के लिए चुना था। वास्तव में खड़ी बोली इधर के ग्रामीणों की शुद्ध-सम्पूर्ण बोली है, जिसे खड़ी-बोली की अपेक्षा 'खरी-बोली' कहना अधिक उपयुक्त होगा। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार 'ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अधिकांश भाग में सर्वापेक्ष अधिक लालित्य एवं सौष्ठवपूर्ण उत्तरी भारत का प्रादेशिक भाषा-रूप समझा जाता था' और खड़ी-बोली उसका एक विकसित रूप है।[1]

दिल्ली के चारों ओर एक तो वैसे ही कई बोलियों—ब्रज, राजस्थानी, बांगरू व पंजाबी—का साम्राज्य है, और दूसरे राजधानी होने के कारण समय-समय पर बदलने वाले शासकों के प्रभाव-स्वरूप यहां की बोली में विदेशी शब्द पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित होते रहे हैं। खड़ी बोली में अरबी-फारसी शब्दों की संख्या लगभग बीस-तीस प्रतिशत तक है, जो कि तद्भव-रूप में जनसाधारण द्वारा व्यवहार किये जाते हैं। इसमें अनेक ऐसे देशज शब्द भी हैं जिनका हिन्दी-संस्कृत-पर्याय खोजने में कठिनाई होगी, क्योंकि इस बोली ने आर्यभाषाओं ही से नहीं, अपितु अनार्य भाषाओं से भी शक्ति ग्रहण की है। इसे 'रेखता' कहकर ठीक ही पुकारा गया था। 'रेखता' शब्द फारसी मसदर 'रेख़तन'—जिसका अर्थ 'छिड़कना' है—से बना है तथा यह स्पष्ट किया जा चुका है कि खड़ी-बोली में अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों का मिश्रण हुआ है। इसी बोली का एक रूप मुसलमानी आक्रमणकारियों के साथ १७वीं शती में दक्षिण में पहुंचकर 'दक्खिनी' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका है। यह वही भाषा थी जिसे खुसरो ने हिन्दी (हिन्दवी) या रेख़ता, आ० ग्रियर्सन महोदय ने पश्चिमी (हिन्दी) देशज हिन्दोस्तानी, तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'कौरवी' नाम दिया है। इसी में जब फारसी-तत्सम शब्दों की अधिकता हो जाती है, तो इसको 'उर्दू' और संस्कृत-तत्सम बहुला होने पर (साहित्यिक) 'हिन्दी' कहा जाता है। वास्तव में यह 'कुरु-प्रदेश' के ग्रामीणों की बोली है। किसी समय में यमुना के पश्चिम की समस्त वनस्थली, जो सरहिन्द तक फैली थी, कुरु-जांगल के नाम से विख्यात थी। महाराज कुरु पुरुवंशी राजा भरत के अनन्तर छठी पीढ़ी में राजा संवरण के पुत्र थे। इन्हीं महाराज कुरु की तपस्या-भूमि होने के कारण इस वन का नाम 'कुरु-जांगल' पड़ा। कुरु प्रदेश की राजधानी हस्तिनापुर थी, जो मेरठ जिले की मवाना तहसील का अब एक ग्राम है। वर्तमान खड़ी-बोली प्रदेश का जो सीमा-निर्धारण आधुनिक विद्वानों ने किया है, वह लगभग सभी 'कुरु-प्रदेश'[2] के अन्तर्गत

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

२. श्री राहुलजी के अनुसार यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी की मूल भूमि है—सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ के पूरे तीन जिले एवं बुलन्दशहर की सिकन्दराबाद तहसील। यही प्राचीन 'कुरु-जनपद' है।

आ जाता है। अतः खड़ी बोली को 'कौरवी' नाम से पुकारना अत्यन्त उपयुक्त है। एक तो प्रादेशिक बोलियों के नाम प्रदेश से सम्बन्धित होने ही चाहिए, दूसरे यह कि अपने नूतन नाम से यह बोली अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना से युक्त होकर खड़ी बोली (साहित्यिक हिन्दी), रेखता अथवा देशज हिन्दुस्तानी से पृथक अपने यथार्थ रूप में पहचानी जा सकती है।

प्राकृत भाषाओं का युग समाप्त होते न होते इस क्षेत्र में वर्तमान बोलियों का युगारम्भ हो गया था। यहां जिन प्राकृत भाषाओं का चलन था, उनमें १—शौरसेनी, २—मागधी, ३—पैशाची मुख्य थीं। इनके अतिरिक्त जो बोलियां थीं, उनमें 'अर्द्ध-मागधी' और 'नागर' मुख्य बतलाई जाती हैं। 'नागर' शौरसेनी तथा मागधी (महाराष्ट्री) का मिश्रण था।

'नागरन्तु महाराष्ट्री शौरसेन्योस्तु संकरात्।'

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह नागर ही नागरी अथवा हिन्दी की जननी है। शौरसेनी-अवहट्ट से प्राप्त हिन्दी के इस रूप को आ० ग्रियर्सन तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने पश्चिमी हिन्दी कहा है। स्थानीय विशेषताओं के कारण इसके चतुर्भुज १. खड़ी-बोली, २. व्रजभाषा, ३. कन्नौजी, ४. बुन्देली कहे जाते हैं। खड़ी-बोली पंजाबी तथा राजस्थानी से प्रभावित है। इन चारों बोलियों में व्रज तथा खड़ी-बोली अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि खड़ी बोली आज राज-भाषा, राष्ट्र-भाषा तथा साहित्य-भाषा के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित है, तो व्रजभाषा भी लगभग तीन सौ पचास वर्ष तक साहित्य की सर्व-मान्य भाषा होने का गौरव प्राप्त कर चुकी है। हिन्दी के युगान्तरकारी कवि, महाकाव्य-प्रणेता लोकनायकों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने का व्रजभाषा ही को गर्व है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से खड़ी-बोली का परिचय संक्षेप में इस भांति दिया जा सकता है कि भारतीय आर्य-भाषा-परिवार में प्राकृतों के पश्चात शौरसेनी-अपभ्रंश से मध्यदेश (कुरु-पांचाल आदि) में पश्चिमी हिन्दी का रूप स्थिर हुआ, जिससे विकसित दो-आब के उत्तरी-पश्चिमी कोने में बोली जाने वाली बोली का रूप गठित हुआ जिसे खड़ी-बोली कहते हैं। इस भाषा का मूलाधार 'औ' या 'ओ'-कारान्त बोलियां न होकर 'आ'-कारान्त बोलियां हैं। साथ ही द्वित्व की प्रवृत्ति के कारण यह पंजाबी की ओर अधिक खिचती मालूम होती है। श्री बद्रीनाथ भट्ट के अनुसार खड़ी-बोली की उत्पत्ति 'शौरसेनी+अर्द्धमागधी तथा पंजाबी+पैशाची के गड़बड़ अपभ्रंश से' हुई है। 'खड़ी-बोली' का भौगोलिक स्थिति को देखकर सहज ही में स्पष्ट हो जाता है कि यह तथा इसके आधार पर निर्मित 'साहित्यिक हिन्दी' उस स्थान की भाषाएं हैं, जहां व्रजभाषा शनैः-शनैः पंजाबी में अन्तर्भुक्त हो जाती है। डा० उदयनारायण तिवारी का यह मत सर्वथा समीचीन है। ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया' (भाग ४, अ० १) में इस बोली का रूप कुछ इस प्रकार दिया है:

"एक माणस के दो छोरे थे। उनमें तै छोट्टे छोरे ने वाप्पू तें कह्या अक बाप्पू हो, धन का जौणसा हिस्सा मेरे वांडे आवे सै मन्नै दे दे।"

कौरवी (खड़ी-बोली) वास्तव में उत्तरी दो-आब के पश्चिमी जिलों की बोली है। इसका मूल क्षेत्र मेरठ और उसमें भी तहसील बागपत है।[1] किंतु बोलियों के साम्य की दृष्टि से इसका क्षेत्र उत्तरी दो-आब के पश्चिमी जिले, पश्चिमी रुहेलखण्ड तथा अम्बाला (कग्गर नदी से पूर्व का भाग) तक बतलाया जाता है। इस प्रकार यह बिजनौर, मुरादाबाद, रामपुर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के स्थलीय भाग, अम्बाला, पूर्वीय तथा पेप्सू-राज्य के कुछ भागों तक बोली जाती है। भौगोलिक दृष्टि से यह क्षेत्र पश्चिमी हिन्दी-भाषी प्रान्त के उत्तरी-पश्चिमी कोने में पड़ता है, जिसके पूर्व और दक्षिण में व्रजभाषा, पश्चिम में बांगरू व राजस्थानी तथा उत्तर में पहाड़ी भाषाएं (—जिन

१. कुछ लोगों के विचार में कौरवी का केन्द्र बागपत न होकर हस्तिनापुर (त० मवाना) है क्योंकि कौरवों की राजधानी यहीं थी और आदर्श मानी जाने के कारण यहीं की बोली का प्रचार हुआ होगा। किन्तु यह भ्रमात्मक है तथा महाभारत-काल की बोली से कौरवी का सम्बन्ध-स्थापन कोरे भावावेश का परिणाम है। इस बोली (खड़ी-बोली) को कौरवी नाम देने का अर्थ केवल उस प्राचीन प्रदेश से उसका सम्बन्ध जोड़ना है न कि उस काल की बोली से ही।

पर कुछ-राजस्थानी का प्रभाव है) बोली जाती हैं।

डिस्ट्रिक्ट गजैटियर्स के प्रस्तुतकर्ता श्री एच० आर० नेविल महोदय ने इन सब जिलों की बोली को हिन्दुस्तानी (पश्चिमी हिन्दी का एक रूप) कहा है, जिनमें कहीं-कहीं स्थानीय अथवा जातिगत विशेषताओं के कारण अरबी-फारसी का पुट अधिक हो गया है, और कहीं कम। जैसे, मुजफ्फरनगर जिले के चमारों की बोली का उदाहरण देते हुए वह कहते हैं कि वहां का खेत रखाने वाला चमार अपना व्यवसाय बतलाते हुए 'महाउजत' शब्द उच्चारण करेगा, जो 'महाफजत' का विकृतरूप है। अपने किसी पड़ौसी के निधन की सूचना वह इन शब्दों में देगा कि अमुक 'काल कर दिया' जिसका अभिप्राय है उसका 'इन्तकाल' हो गया। बिजनौर के सम्बन्ध में उन्होंने टिप्पणी दी है कि युक्तप्रान्त के किसी अन्य जिले में यहां से अधिक उर्दू का व्यवहार पढ़े-लिखे और जनसाधारण में नहीं पाया जाता। सहारनपुर जिले की बोली में भी वह ग्रामीणों की भाषा में फारसी का अत्यधिक मिश्रण बतलाते हैं, और ऐसी ही मुरादाबाद की बोली भी है, जिसका दक्षिण दिशा में बढ़ते हुए 'ब्रज' में विलय हो जाता है। मेरठ जिले में अरबी-फारसी शब्दों के मिश्रणवाली भाषा तो गांवों में बोली ही जाती है किन्तु जमना-खादर की भाषा पर हरियाणा-भाषा (बांगरू या जाटू) का प्रभाव व्यक्त रूप से देखा जाता है। द्वित्व की प्रवृत्ति भी यहीं से आरम्भ हो जाती है, जिसका पूर्ण प्रभाव मुजफ्फरनगर, सहारनपुर की बोली में अनुभव किया जा सकता है। सहारनपुर जिले के एक कृषक की बोली का उदाहरण लीजिए :

"एक पंड्डत था। म्हारे पड़ोसी ने अपणी लौंडी के ब्या में उसै बुल्लाणँ का तै कर्‍या था। पंडज्जी पन्चस रपे पै आणकु रजाबंद होग्ए। ठीक दो दिण पहल्ड़े म्हारे पड़ोसी कु नूं खबर चली, अक उतौ बाहर लगर्‍ये जाण। वो ढेर पिरेसाण होण लग्या।"

इससे प्रकट है कि खड़ी बोली पर बांगरू के माध्यम से पंजाबी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कुरु और आधुनिक हरियाणा एक देश ही थे। हरियाणा और मेरठ की भाषा में अन्तर नहीं है। दोनों के मुहावरे तथा वाक्य-विन्यास समान हैं। इन दोनों बोलियों में यदि अन्तर है तो वह 'स' और 'ह' का है। कौरवी में 'स' के स्थान पर वर्तमान-कालिक क्रिया में 'ह' और भूतकालिक क्रिया में 'य' जोड़कर कोमल उच्चारण किया जाता है। समस्त कुरु-प्रदेश की बोली में हम ये प्रवृत्तियां स्पष्ट देख सकते हैं। हिन्दुस्तानी के पश्चात यदि यहां कोई और बोली प्रमुख है तो वह पंजाबी ही है। जिसके फलस्वरूप यहां के निवासियों की बोली में 'लोड़', 'नू' जैसे अनेक पंजाबी शब्द सम्मिलित हो गए हैं।

जन-संख्या-लेखा देखने से पता चलता है कि कौरवी (खड़ी-बोली) उत्तरप्रदेश के सघन जनसंख्या वाले प्रदेश की बोली है। इसके बोलने वालों की संख्या यद्यपि ५३ लाख बतलाई जाती है, जो यूरोप के ग्रीस देश की सम्पूर्ण जनसंख्या से समता करती है, परन्तु ये आंकड़े पुराने हैं। खड़ी बोली बोलने वालों की संख्या वास्तव में इससे कहीं अधिक है। क्योंकि खड़ी बोली क्षेत्र का विस्तार निर्धारित क्षेत्र से भी कुछ अधिक है (यह क्षेत्र बोली में साम्य उत्पन्न होने की दृष्टि से हापुड़ से १३ मील दक्षिण ग्रांड ट्रंक रोड पर स्थित जिला बुलन्दशहर के गुलावठी ग्राम से आरम्भ हो जाता है) और उपर्युक्त अंकों में विगत वर्षों में हुई जन-वृद्धि का विचार भी नहीं रक्खा गया है। यदि उक्त दोनों बातों को दृष्टि में रखकर कौरवी बोलने वालों की संख्या निश्चित की जाय, तो वह अवश्य ही इससे कहीं अधिक होगी।

व्याकरण—कौरवी 'आ'-आकारान्त बोली है। ब्रज तथा उसकी सीमाओं पर बोले जाने वाले 'औ' और 'ओ'-कारान्त शब्द पंजाबी-प्रभाव से यहां 'आ'-रान्त में परिवर्तितत हो जाते हैं।

संस्कृत	ब्रज	कौरवी-सा० हिन्दी
काण	कानौ: कानो	कान्ना <काना
अंध	अंधौ	अण्धा <अंधा
चौक्ष	चोखौ <चोखो	चोखा
धाव	धावौ	धावा
निष्पुत्र	निपूतौ	निपूता
भद्र	भलौ <भलो	भला

वधिर	वहिरौ<वहिरो	वहरा वडरा
लभन	लहनौ	लहना
अक्षगट	अखाड़ौ	अखाड़ा

सम्वन्धकारक में कौरवी में 'का' अनुसर्ग का प्रयोग होता है। वह भी अन्य वोलियों के 'कौ' अथवा 'को' का आकारान्त रूप ही है।

ब्रज	**कौरवी-सा० हिन्दी**	**पंजाबी**
घोड़ा कौ	घोडे का	घोड़े दा

ग्रामीण वोली कोरवी में साहित्यिक-हिन्दी का 'ऐ' अथवा 'अ', 'ए' तथा 'औ' में वदल जाता है—

सा० हिन्दी	**कौरवी**
भोंडा	भौडा<भुंडा
मौसी	मोंसी
और	ओर<अर<होर
मैला	मेह्‌ला, मह्‌ला

स्वरलोप, स्वरागम तथा स्वपरिवर्तन—

सा० हिन्दी	**कौरवी**
तुम	तम
कुत्ता	कूता (वागपत तहसील)
इकट्‌ठा	कट्‌ठा
मासलह (फा०)<मसाला	मसाल्ला<मसाल्ड़ा
मिठाई	मठाई
सरकारी	सिरकारी
मिल	मील<मील्ड़ ळ
इकवाल	अकवाल
उठवाना	ठुवाना

साहित्यिक हिन्दी का 'न' और 'ल' वैदिक ल्ड़ में वदल जाता है। किन्तु 'न' का 'ण'-'ल्ड़' में परिवर्तन अधिक और ल का ल्ड़ में अपेक्षतया कम होता है—

सा० हिन्दी	**कौरवी**
सोहना	सोहणा, सोंणा
मनुष्य	मानस<माणस<मणख
वर्ध	वल्ड़द
वाल	वाल्ड़

द्वित्व की प्रवृत्ति—

लोटा	लोट्‌टा
धोती	धोत्ती
गाड़ी	गड्‌डी
धवल	धौल्ड़ा, धौल्ला
जीजा	जीज्जा<जिज्जा

वास्तव में द्वित्व की प्रवृत्ति कौरवी में पाली-भाषा से आई है, जो वांगरु के माध्यम से कौरवी में सम्मि-

लित हो गई है। मेरठ में इसका प्रारम्भ होता है, किन्तु मुजफ्फरनगर-सहारनपुर में इसका पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। इसके अनुसार स्वराघात वाले दीर्घ स्वर के पश्चात का व्यंजन द्वित्व हो जाता है। द्वित्व व्यंजन के पूर्व का ई–इ, ऊ–उ तथा ए–एं में वदल जाता है, किन्तु 'आ' किंचित ह्रस्व तो हो जाता है, परन्तु वदलता नहीं—

घीसा	घिस्सा
मीठा	मिट्ठा
ऊपर	उप्पर
देखा	देक्खा
खाता	खात्ता
वोली	वोल्ली

संज्ञाओं के विकारी रूप—

संज्ञाओं के विकारी रूप वनाने के लिए 'ओ' अथवा 'ऊँ' लगा दिया जाता है,

घर में	घरों मा
घर जा रहा	घरू जार्‌या
मरदो को	मंर्दू कुँ

क्रिया में 'है', 'था' की अन्तर्भुक्ति हो जाती है, ऐसा दीर्घस्वरान्त क्रियापदों के वर्तमान और भविष्यत् काल में देखा जाता है।

आव्वै,	खाव्वै,	जाव्वै,	करै
करै हागा	खावै हागा		करता था, खाता था।
जागा,	खागा		जाएगा, खाएगा।

कौरवी में संपूर्ण वर्तमानकालिक क्रिया के स्थान पर सामान्य वर्तमान क्रिया का प्रयोग भी मिलता है। ऐसा साहित्यिक हिन्दी में नहीं होता—

सा० हिन्दी	**कौरवी**
गया है	जार्‌या है।
गए हैं	जार्‌ये हैं।

यथा, 'मेरा वाप्पू गां जार्‌या आ। (गया है)

'यहां कोइ नी सव रामलिल्ला देखण जार्‌ये हैं। (गए हैं।)

वर्ण-संयुक्ति

मुख-सुख के लिए भाषा की समास-सक्ति का प्रयोग—

साहित्यिक भाषा	**कौरवी**
गया	ग्या
करा	कर्‌या
मिला	मिल्या
यहां से	य्हंस्सै
वहां से	व्हंस्सै

व्यंजन-परिवर्तन

है	सै
वीरे	दीरै
कीकड़	टिक्कड (वागपत तहसील)

भगवान	बगमान (मेरठ परगना पूर्वीय।)
सीधा	सुध्धा < सुड्डा
आदमी	यादमी

वर्ण-विपर्यय

जमानत	जनामत
मतलब	मतबल
नुकसान	नुसकान < नसकान
इकसठ	इसकट
सिगनल	सिंगल्ड़ ळ

कौरवी में परसर्गों का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी के समान ही होता है। किन्तु 'ने' का प्रयोग कर्मणि और भावे के अतिरिक्त करण में भी कभी-कभी देखा जाता है। 'ने' का प्रयोग खड़ी बोली की निजी विशेषता है।

मनै तनै उसनै

'उसनै कह दिज्जै य्हंस्सै इबी म्हारा जाणा नी हो सक्कै।'

'रामफल्ड़ हर नै यो बात विगाड़ दी।'

'ड' का उच्चारण कौरवी में सुरक्षित है तथा इसी प्रकार ढ का भी, जैसा कि उक्त उदाहरण से प्रगट है। नकारार्थक 'नहीं' के स्थान पर यहां 'नी' अथवा 'ने' का प्रयोग होता है।

कढ़ाई कढाई

फारसी के प्रभाव स्वरूप कौरवी में साहित्यिक हिन्दी की भांति 'श' का तालव्य, 'ज' का दंत-तालव्य तथा 'फ' का दंतोष्ठ्य उच्चारण नहीं होता—

सा० हिन्दी	कौरवी
जरूरत	जरूरत
शादी	साद्दी
काग़ज	कागज

दीर्घ स्वर के पश्चात आने वाला अनुस्वार आधे न की भांति सुन पड़ता है—

ईंट	=	ईन्ट
पांच	=	पान्च
ऊंट	=	ऊन्ट

इसके अतिरिक्त कौरवी एवं साहित्यिक हिन्दी के व्याकरण में विशेष अन्तर नहीं है। वाक्य-विन्यास प्रायः दोनों का एक जैसा ही है।

कौरवी ने अरबी, फ़ारसी, तुरकी एवं अंग्रेजी व अन्य यूरोपीय भाषाओं के शब्दों को अपनाकर उन्हें अपना रूप दे दिया है और वह तद्भव-रूपों में अगणित संख्या में बोले जाते हैं। इस प्रकार के शब्दों की सूची श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'Persian Influence on Hindi' तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में दी है। इन विदेशी भाषाओं का प्रभाव केवल इतने तक ही सीमित नहीं है, अपितु उन्होंने हमारी भाषा को लिंग-भेद में परिवर्तन, नये प्रत्ययों के आगम तथा नूतन प्रयोगों के व्यवहार में भी प्रभावित किया है। असंख्य विदेशी शब्दों के बहु-वचन हिन्दी-नियमों के अनुसार बना लिये गए है, तथा अनेक विशेषण, क्रिया-विशेषण अथवा सम्बन्धसूचक अव्यय और उपसर्ग उनसे ले लिये है। यह सब इस भांति हुआ है कि आज यहां के लोगों को उसका भान भी नहीं है। 'भाषा बहता नीर' कबीर ने ठीक ही कहा था। भाषा की यही शक्ति तो उसका जीवन और बल है।

साहित्यिकता की दृष्टि से कौरवी उपयोगी बोली है। इसके अनेक वाग्व्यवहार (मुहावरे) और लोको-

क्तियां अत्यन्त सारगर्भित हैं। इनका चयन कर हम अपनी भाषा को अतिरिक्त शक्ति प्रदान कर सकते हैं। इस प्रदेश की बोली अभिधा की अपेक्षा लक्षणा तथा व्यंजना से अधिक सम्पन्न है और प्रायः लोग गूढ़ार्थ भाषा का ही उपयोग करते हैं। एक बार किसी व्यक्ति ने दूसरे से प्रश्न किया :

'ताऊ हो घस्सिटा का छोरा—सुण्या ता टान्ग टुट्टगी—इब कैस्से ?'

उत्तर मिला—

'हां आराम आग्या उसणै, पर सौरा इब्बी खांड सी मल्ड़ता चल्डै।'

लँगड़ेपन को बतलाने के लिए इससे अधिक सुन्दर शब्द-चित्र क्या दिया जा सकता है। 'खांड सी मल्ड़ता चल्डै' में अभिभाषक सम्बन्धित व्यक्ति के रोग का ही वर्णन नहीं करता, अपितु वह उसके समक्ष उसका जीता-जागता चित्र उपस्थित कर देता है। कौरवी की शक्ति का परिचय और अनुमान कराने वाले मुहावरों में से कुछ नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

किठूर किठूर देखणा
गदबद मारणा
टांग तराज्जू होणा
या लिकड़ना
सियों सै गांडे खान्ना[1]
तग्गा तोड़ करणा

यदि बोल-चाल के शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों को, जो अगणित संख्या में आज भी व्यवहार में हैं, संग्रह कर परिष्कृत कर लेने के अनन्तर साहित्य-भाषा में स्थान दिया जाय तो भाषा की यह सहस्रों वर्ष की अर्जित शक्ति, जिसके पीछे अनुभव और व्यवहार का अनन्त बल है, व्यर्थ न हो पाएगी। यहां कुरु-जनपद में प्रचलित कतिपय शब्दों की अर्थ-सहित सूची दी जा रही है। इससे सहज अनुमान हो सकेगा कि इन शब्दों में अर्थ की कितनी गाम्भीरता तथा द्योतन की कैसी अमोघ शक्ति है :

संस्कृत	कौरवी	सा० हिन्दी
मांद्य	मांदगी	रोग, बीमारी
चोलक	चोला	शरीर, वस्त्र
स्वस्थान	सुथना	सुथना<पायजामा
पर्याण	पलान<पलाण	काठी
	याणी	अयानी
शोधिनी	सौंजनी	बुहारी

अनुकरणात्मक—

झरनाटा	(झांझ का स्वर)
धुद्कार	(घोर रव)
दह्मल-दह्मल	(मंद गति)
हुलहुलियाई	(उद्वेगपूर्ण)

अन्य—

शब्द	अर्थ
सिखर	आकाश, चोटी

१. महाकवि सूर ने 'भ्रमरगीत' के एक पद में इस लोकोक्ति का प्रयोग किया है—
"हुस्यार तौ घणीं, पर रांड कैस्सै होग्यी ?"

चस्कना	मीठा-मीठा दर्द होना
तीमन	पतली पानीदार सब्जी (तेमन)
बुकलाणा	इतराना
वरगी	समान (उपमावाचक)

परन्तु आज तो इस शक्ति के नष्ट हो जाने की बड़ी भारी आशंका उत्पन्न हो गई है। श्री राहुलजी के विचार में 'हिन्दी के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि साहित्यिक भाषा का जन्म लेकर ग्रामवासिनी कौरवी से उसका नाता टूट गया।'[1]

कौरवी पौरुषेय व्यक्तियों की बोली है, जिनका व्यवसाय साधारणतया कृषि है। इससे वह खूब पदा करते हैं, और जीवन की सब सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य-प्राप्त ये लोग बड़े मसखरे और व्युत्पन्न-मति देखे जाते हैं। इनकी बोली में हास्य-व्यंग तो मानो पुंजीभूत हो गए हैं। एक बार तहसील बागपत के बावली ग्राम के सिमाने पर कोई बड़ी-बड़ी मूंछों वाला अधेड़ आयु का व्यक्ति छोटे-से मरियल टट्टू पर सड़क-सड़क चला जा रहा था कि इतने में ही सिर पर न्यार (पशुओं के चारे) की गठरी धरे दो मुग्धाएं खेत से निकलीं और जो आगे थी उसने अपनी सखी से कहा—

'अर, यो टट्टू पै मूंछ कूंण लाद्दे जा है।'

'टट्टू पर मूंछ लादना'—वस्तुतः सबल अभिव्यक्ति है, जिससे कोई भी तुरन्त मूंछों के आकार, विस्तार और परिमाण का सहज अनुमान ले सकता है। इस भांति अनेक अवसरों पर यहां के ग्राम्य जनसाधारण बातचीत में जो ध्वनि उत्पन्न करते हैं, वह हास्य-व्यंग्य के लिए तो उपयुक्त है ही, साथ ही उसकी विशाल साहित्यिक सम्भावनाएं भी हैं। ये लोग अपने अनूठे प्रयोगों द्वारा शब्दों को नूतन अर्थ देने की क्षमता प्रदान करते हैं। राजा लक्ष्मणसिंह ने अपनी पुस्तक 'मिमौयर्स आव बुलन्दशहर' में बागपत का नाम 'वाक्प्रस्थ' दिया है और उसका अर्थ वाग्मी पुरुषों का नगर बतलाया है जो आज भी यहां के निवासियों की वाक्पटुता देखकर उपयुक्त जान पड़ता है। अब से लगभग ५ वर्ष पूर्व एक बार लेखक का ज्येष्ठ पुत्र मेरठ के बावली ग्राम-निवासी अपने सहपाठी के गांव गया। जैसे ही ये दोनों युवक ग्राम की सीमा में प्रवेश कर रहे थे, उसी समय खेत में काम कर रहे किसी व्यक्ति का परिचित स्वर कान में पड़ा—

"अरे बच्चू दिक्खै, अर यो संग म कौंण सै—तण या ठेट्टर से का मूं मेरी ओर फेरिए।"

सूट-बूट-नेकटाई से लैस बने-ठने युवक के लिए 'ठेट्टर' शब्द के व्यवहार में भाव-गाम्भीर्य की पराकाष्ठा हो गई है। प्रश्नकर्त्ता का अभिधेयार्थ यह था कि इस अभिनेता-जैसे विचित्र वेष-भूषा वाले व्यक्ति का दर्शन और परिचय दो, जिसने हमारे भावों को सहसा उत्तेजित कर दिया है। सत्य ही रंगमंच पर नवीन पात्र के उदित होने पर जिस भांति प्रेक्षकों में उत्कण्ठा की एक लहर दौड़ जाती है, ठीक उसी भांति तो इस नवीन शहरी का गांव में आगमन भी था। इन्हीं कारणों से यहां के जाट लोगों की मति-व्युत्पन्नता के सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध ही हो गई है कि,

'बेपढ़ा जाट, पढ़ा जैसा। पढ़ा हुआ जाट खुदा जैसा।'

कौरवी-प्रदेश के निवासियों में जाट, गूजर तथा चमारों की संख्या अधिक है। जाति-भेद के अनुसार इनकी बोल-चाल और व्यवहार में भी अन्तर है। जाट लोगों की तरह गूजरों की बोली 'गूजरी' अन्य जाति वालों से भिन्न है। किन्तु, चमारों की ऐसी कोई पृथक बोली नहीं है, यद्यपि उच्चारण की स्थानीय विशेषताएं ग्राम-ग्राम में अनुभव की जा सकती हैं। गूजरी भाषा की प्रगट विशेषता यह है कि उसमें 'हो' 'हो' जैसे मुखाकृति को गोल बनाकर बोले जाने वाले शब्द अधिक हैं तथा वे लोग, विशेषकर उनकी स्त्रियां, उच्चारण के इस विचित्र ढंग को अपनाते हैं। मेले-ठेले में—विशेषकर गढ़-गंगा पर कातिकी के मेले में—बैलगाड़ी पर बैठकर जाती हुई गूजरियां जब गीत के बोल उठाती हैं, तो उसमें कोई शब्द भी श्रोता की समझ में नहीं आता, और पीछे केवल 'हो' की ध्वनि गूंजती रह जाती है। गुर्जर-इतिहास के लेखक श्री यतीन्द्रकुमार वर्मा का कथन है कि सन १८५७ में अंग्रेजों ने सड़कों पर राह-चलते हर आदमी को जो 'ए' को 'ओ' उच्चारण करता उसे गूजर समझकर ग्राम रास्तों व सड़कों पर तुरन्त फांसी के फन्दों में झुला दिया था।

---

१. आदि हिन्दी के गीत और कहानियां, भूमिका पृ० २ : श्री राहुल सांकृत्यायन, १९५०

'गूजरी भाषा' का सम्बन्ध शौरसेनी से अधिक है। इस सम्बन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का मत भी ऐसा ही है। इसके विपरीत श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने गूजरी को राजस्थानी का महत्त्वपूर्ण अंग माना है। कुछ भी हो, दोनों ही दशा में गूजरी का सम्बन्ध शौरसेनी अवहट्ट से ठहरता है। गूजरों की भाषा के विषय में विद्यालंकार जी द्वारा प्रगट एक विशेष बात यह है कि सभी जगह फिरन्दर गूजर अपनी गूजरी बोली, जो मेवाती और जमुना[1] कांठे की बोली का मिश्रण है, बोलते हैं। इस विषय पर उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी का वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि "काश्मीरी गूजरों के ग्राम्य-गीत, लोक-गीत बिल्कुल हमारे गुजरात के ग्राम्य-गीतों की तरह हैं।—" इससे सिद्ध है कि गूजर लोग कहीं भी रहें, वे अपनी भाषा-एकता को सर्वत्र बनाए रखते हैं। इस संदर्भ में अफ़गानिस्तानी शहाना गूजर खानबहादुर मोहम्मद अब्दुल मलिक की भाषा का उदाहरण देना यहां उपयुक्त होगा :

"थारा नामि क्या है। तुम कित गया था, म्हारो बाप-दादो दिल्ली से आयो थो। म्हारे गांव अन्दर पांच सौ गूजरां के हैं।—म्हारो बड़ों का बड़ा बड़ो बहादुर थो।"

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उत्तर-पश्चिमी भारत तथा अफ़गानिस्तान के गूजरों की बोली में पर्याप्त साम्य है। तुलना के लिए हापुड़ के निकट ग्राम मतनोरा (जि० मेरठ) के गूजरों की बोली का एक उदाहरण और लीजिए :

"मेरो नौम रामचन्द्रै जी। हमारे गां में तौ कोई इस्कूल नौ है।"

दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि यत्किंचित ब्रज का प्रभाव आता है। गूजरी बोली में बहुवचन बनाने के लिए ब्रज की तरह 'न' लगाने की प्रथा है—

घोड़े	घोड़न
भैंस	भैंसन

तथा 'आ' को इसमें 'औ' के समान बोला जाता है। कहीं-कहीं 'आ' का परिवर्तन 'ऊ' में होता है, किन्तु यह अधिकांश व्यक्तिगत है :

यहां < य्हां   यूहं

भाषा-वैचित्र्य यों तो एक ही स्थान पर जाति-भेद तथा वर्ग-भेद के अनुसार देखा जा सकता है, किन्तु इसके अतिरिक्त स्थानान्तर में अनुभव किया जाने वाला भाषा-भेद वास्तव में ध्यान देने की बात है। मेरठ जिले में ही बागपत, हापुड़ और मवाने की बोलियों में अन्तर है। हापुड़ में ब्रज का कुछ पुट मिल जाता है, जबकि बागपत तहसील में हरियाणी भाषा का प्रभाव और मवाने में मुजफ़्फ़रनगर की द्वित्व बोली का प्रभाव अधिक है। किंतु शुद्ध कौरवी बागपत बड़ौत की ही मानी जाएगी।



---

१. बुलन्दशहर जिले की सिकन्दराबाद तहसील में गूजरों की संख्या अधिक है और इनकी यही जमना-कांठे की बोली है।

'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग और अर्थ : एक शोधक दृष्टि

डा० आशा गुप्ता

भाषा-विशेष के अर्थ में खड़ी बोली नाम ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि अन्य भाषाओं की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम लल्लूजीलाल के 'प्रेमसागर' तथा सदलमिश्र-कृत 'नासिकेतोपाख्यान' एवं 'रामचरित्र' में मिलता है। ये गद्य-ग्रंथ फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डा० जान गिलक्राइस्ट के आदेश से लिखे गए थे। लल्लूजीलाल तथा सदलमिश्र अपने ग्रंथों की भूमिका में क्रम से लिखते हैं कि--

१. 'श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलिकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वाले ने जिसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की **खड़ी बोली** में कह नाम प्रेमसागर धरा।'[१]

२. 'अब सं० १८६० में नासिकेतोपाख्यान को जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है देववाणी से कोई-कोई समझ नहीं सकता इसलिए **खड़ी बोली** में किया।'[२]

३. 'अब इस पोथी को भाषा करने का कारण सिद्ध है कि मिस्टर जान गिलक्रस्त साहब ने ठहराया और एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्मरामायण को ऐसी बोली में करो जिसमें अरबी-फारसी न आवे। तब मैं इसको **खड़ी बोली** में कहने लगा और सं० १८६२ में इस पोथी को समाप्त किया और नाम इसका रामचरित्र रखा।'[३]

इसके पश्चात डा० गिलक्राइस्ट द्वारा रचित 'द हिन्दी स्टोरी टैलर', 'द ओरिएंटल फव्युलिस्ट' तथा 'द हिन्दी-रोमन आर्थोएपिग्रेफिक अल्टिमेटम' आदि ग्रंथों में भी इसका अनेक बार उल्लेख मिलता है। इनमें से कुछ प्रयोग विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जो इस प्रकार हैं :

१. 'इन (कहानियों) में से कई **खड़ी बोली** अथवा हिन्दुस्तानी के शुद्ध हिन्दवी ढंग की हैं। कुछ ब्रजभाषा में लिखी जाएंगी'।[४]

२. 'मुझे खेद है कि ब्रजभाषा के साथ **खड़ी बोली** की भी उपेक्षा कर दी गई थी। हिन्दुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली (पार्टीक्युलर ईडियम और स्टाइल) उस भाषा के विद्यार्थियों के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती।'[५]

३. 'ठेठ **खड़ी बोली** में हिन्दुस्तानी के व्याकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता है और अरबी-फारसी का प्रायः पूर्ण परित्याग रहता है।'[६]

---

१. प्रेमसागर—पृ० १, १८०५ : प्रथम संस्करण
२. नासिकेतोपाख्यान—पृ० २
३. रामचरित्र—पृ० २ (हस्तलिखित प्रति) इण्डिया आफिस, हिन्दी अनुशीलन—पृ० ३४ : वर्ष ७, अंक १ से उद्धृत
४. The Hindie story Teller. Vol. II 1803. p. 2, Calcutta.
५. The Oriental Fabulist. p. 5. 1803, Calcutta.
६. The Oriental Fabulist. p. 5. 1803, Calcutta.

४. 'शकुन्तला का दूसरा अनुवाद **खड़ी बोली** अथवा भारतवर्ष की 'निराली' (खालिस) बोली में है। हिन्दुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात में है कि अरबी और फारसी का प्रत्येक शब्द छांट दिया जाता है।'[१]

५. 'प्रेमसागर' एक बहुत ही मनोरंजक पुस्तक है जिसे लल्लूजीलाल ने हमारे विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की शिक्षा देने के निमित्त व्रजभाषा की सुन्दरता और स्वच्छता के साथ **खड़ी बोली** में किया। इससे अंग्रेजी भारत की हिन्दू जनता के वृहत समुदाय को भी लाभ होगा।[२]

प्रेमसागर से पूर्व किसी अन्य साहित्यिक गद्य-पद्य ग्रंथ अथवा ऐतिहासिक पुस्तक में 'खड़ी बोली' शब्द का उल्लेख नहीं मिला। स्वयं डा० गिलक्राइस्ट भी इस शब्द से पहले अपरिचित थे। यह सदलमिश्र की उक्ति से स्पष्ट है कि, 'एक दिन आज्ञा दी कि अध्यात्मरामायण को **ऐसी बोली** में करो कि जिसमें अरबी-फारसी न आवे।' सम्भवतः इसीलिए उनके प्रेमसागर से पूर्व रचित ग्रंथ आरिएंटल लिंग्विस्ट (१७९८ ई०) तथा अपेंडिक्स टु गिलक्राइस्ट डिक्शनरी (१७९८ ई०) में 'हिन्दवी' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे उनका तात्पर्य 'भारत की उस प्राचीन भाषा से है जो मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व देश की भाषा थी और जो अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दुस्तानी का मूलाधार है।[३] कहना न होगा कि खड़ी बोली शब्द की अनुपलब्धि इस तथ्य का द्योतक है कि उस समय तक यह शब्द भाषा-विशेष के अर्थ में प्रचलित न था।

भाषा के इस नूतन नाम को देखकर कतिपय परवर्ती विद्वानों को यह भ्रम हो गया कि खड़ी बोली नाम से व्यवहृत यह बोली नई है। अतएव उन्होंने इसके उद्भव के सम्बन्ध में अनेकानेक कल्पनाएं कर डालीं। राजा शिवप्रसाद ने लिखा कि, '(जब) डा० गिलक्राइस्ट ने मीर अम्मन और लल्लूजीलाल कवि से भाषा में कुछ गद्य-पुस्तकें लिखने को कहा : तो वे दोनों बहुत ही द्विविधा में पड़ गए होंगे (क्योंकि) वह (भाषा) उनके लिए नई चीज थी। (अतः) उन्होंने लिखा तो परन्तु दोनों ही ने कृत्रिम भाषा में लिखा।[४] डा० ग्रियर्सन ने कहा कि 'यह हिन्दी भाषा के उद्भव का समय था जिसे अंग्रेजों ने आविष्कृत किया और गद्य-साहित्य में इसका उपयोग गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में सर्वप्रथम 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूजीलाल ने किया।[५]

इसके अतिरिक्त सदलमिश्र और लल्लूजीलाल दोनों 'भाखा'-मुंशियों ने डा० गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार कथा-वाचनार्थ अरबी-फारसी शब्दों का पूर्ण परित्याग कर दिया। अतएव 'यामनी भाषा को छोड़' जैसे वाक्यांशों के कारण उर्दू-हिन्दी साहित्य जगत में यह भी भ्रांति फैली कि उर्दू ही खड़ी बोली की जन्मदात्री है। डा० अब्दुल हक़ ने दावा पेश किया कि, 'फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों ने (खुदा उनका अरवाह को शरमाए) बैठे-बिठाए बिला वजह और बग़ैर जरूरत यह शोशः छोड़ा। लल्लूजीलाल ने जो उर्दू के जबांदां और उर्दू किताबों के मुन्सिफ़ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज़ किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी-फारसी लफ़्ज़ चुन-चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिन्दी के नामानूस लफ्ज जमा दिए, लीजिए हिन्दी बन गई।'[६]

यही भ्रम हिन्दी साहित्य के कवि-मनीषियों को भी हो गया। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने कहा कि, 'खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी-अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी-तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई।'··· ··· ···हिन्दी गद्य भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरम्भ होती है··· ··· ···पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी है।··· ··· विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी बोली' को 'खड़ी' बनाकर लश्कर

---

१. The Hindee-roman ortho-epigraphic ultimatum. p. 19. (foot note) 1804, Calcutta.
२. The Hindee roman ortho-epigraphic ultimetum p. 20. (foot note) 1804, Calcutta.
३. Oriental Linguist. p. 3. 1798. Calcutta.
४. Hindi Selections. p. 11. 1867. Shiv Prasad
५. The modern vernacular literature of Hindoostan (Introduction) G. A. Grierson 1889.
६. उर्दू, पृ० ३८३, अंजुमन तरक्की ए उर्दू, औरंगाबाद (दकन), अप्रैल १९३७

ग्रौर समाज के लिए उपयोगी बनाया।'[1] जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी शब्द-भेद से बात यही दोहराई। उन्होंने कहा कि 'जो भाषा ग्राजकल खड़ी बोली के नाम से कही जाती है वह हमारी समझ में उर्दू का ही रूपान्तर है। ग्रारम्भ में तो वह उर्दू भाषा में भाखा के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई ग्रौर फिर शनैः-शनैः उसमें संस्कृत के शब्द मिलाये जाने लगे।'[2] ला० भगवानदीन के विचार से, 'फारसी में ही कुछ ब्रज ग्रौर कुछ बांगड़ू का टेक लगाकर बोली को 'खड़ा' कर दिया गया ग्रौर उसका नाम पड़ गया 'खड़ी बोली'। (खड़ी बोली किसी बोली का नाम नहीं है वह सिर्फ हिन्दी की तारीफ है) फारसी ग्रार्याई बोली है।'[3] शायद इसीलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसे 'नई भाषा' या 'साधु भाषा' नाम से ग्रभिहित किया है।'[4]

इसके ग्रलावा प्रेमसागर की खड़ी बोली ग्रत्यधिक ब्रजरंजित थी ग्रौर डा० गिलक्राइस्ट ब्रजभाखा को हिन्दुस्तानी का मूलाधार भी घोषित कर चुके थे।[5] ग्रतएव उर्दू-हिन्दी के लेखकों ने यह कहना ग्रारम्भ कर दिया कि दोनों शैलियां ब्रजभाषा की ग्रौरस पुत्री हैं। एक ग्रोर बालमुकुन्द गुप्त ने ग्रपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक लेख में कहा कि, वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं ब्रजभाषा से यह उत्पन्न हुई ग्रौर वहीं उसका नाम हिन्दी रखा गया।'[6] ग्रौर दूसरी ग्रोर मौलाना मुहम्मद हुसैन ग्राजाद ने (१८३३--१९१० ई०) 'ग्राबेहयात' में जबान उर्दू की तारीख बताते हुए फरमाया कि, 'इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी नई जबान बिरजभाषा से निकली है ग्रौर बिरज-भाषा खास हिन्दोस्तानी जबान है। लेकिन वो ऐसी जुबान नहीं है केह दुनिया के परदे पर हिन्दोस्तान के साथ ग्राई हो। उसकी उम्र ग्राठ सौ बरस से ज्यादह नहीं है ग्रौर ब्रज सब्जाजार उसका वतन है।'[7]

इस प्रकार के ग्रवैज्ञानिक मतों का तर्कपूर्ण खण्डन करने की विशेष ग्रावश्यकता नहीं प्रतीत होती, क्योंकि डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविदों ने ग्रनेक तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि "शौरसेनी-ग्रपभ्रंश-प्रसूत-पश्चिमी हिन्दी के मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोले जाने वाले एक रूप खड़ी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिन्दी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है।......भारतवर्ष में ग्राने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली रहा, ग्रतः फारसी, तुर्की ग्रौर ग्ररबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता से बातचीत ग्रौर व्यवहार करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के ग्रड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में ग्रपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतन्त्रतापूर्वक मिला लेना इनके लिए स्वाभाविक था।......शाही दरबार से सम्पर्क में ग्राने वाले हिन्दुग्रों को इसे ग्रपनाना स्वाभाविक था क्योंकि फारसी-ग्ररबी शब्दों से मिश्रित किन्तु ग्रपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी......शासकों द्वारा ग्रपनाई जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट-समुदाय की भाषा मानी जाने लगी......उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुग्रा।......उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ी बोली है। यही बोली ग्राधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं।"[8] प्रारम्भ में यह

---

१. 'पुरानी हिन्दी', पृ० १०८ : पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

२. खड़ी बोली का ग्रान्दोलन, पृ० २१ : डा० शितिकण्ठ मिश्र

३. हिन्दुस्तानी पत्रिका (१९४६), पृ० २५१, महात्मा भगवानदीन

४. हिन्दी भाषा, पृ० १०, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

५. Proceedings of the Council of the college of Fort William.
Home miscellaneous Vol. I., P. 62--63. Extract from a letter of Dr. Gilchrist dated the 4th Jan. 1802 to Charles Roman-Secretary to the Coollege Cuncil.

६. हिन्दी भाषा, भूमिका 'क', श्री बालमुकुन्द गुप्त

७. ग्राबेहयात 'जबाने उर्दू की तारीख' पृ० ६ : मुहम्मद हुसैन ग्राजाद

८. (क) हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका, पृ० ५६, ६१-६२, डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९४९
(ख) Indo-Aryan and Hindi, P. 175, 179; Dr. S. K. Chetterjee, Ed. 1940.
(ग) पश्चिमी हिन्दी ग्रथवा केन्द्रीय हिन्दी ग्रार्यभाषा की प्रधान पांच विभाषाएं हैं---खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बांगरू ग्रौर बुन्देली......इसी की (खड़ी बोली) उत्पत्ति के विषय में ग्रब यह माना जाने लगा है कि इसका विकास शौरसेनी-ग्रपभ्रंश से हुग्रा

स्वरूप और स्थान भेद के कारण कितने नामों से जानी जाती थी और इसका नाम 'खड़ी बोली' किस प्रकार पड़ा, यह डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में सुनने योग्य है। हिन्दी, हिन्दुस्तानी या हिन्दुस्थानी और खड़ी बोली वगैरह भिन्न-भिन्न नामों से कही जाने वाली केवल एक मूल भाषा है जो पश्चिमी श्रेणी के अन्तर्गत एक बोली या भाषा या उप-भाषा मात्र है······दिल्ली की बोली 'पारतख्त' अर्थात् राजधानी की बोली थी······मुसलमान राज्यशक्ति तथा उससे सम्बन्धित हिन्दुओं द्वारा व्यवहृत होने के कारण साहित्य की भाषा न होने पर भी बोलचाल की मुख्य अथवा प्रतिष्ठित भाषा होने से पीछे इसका नया नाम पड़ा 'खड़ी बोली'।'[1] डा० ताराचन्द ने भी हिन्दुस्तानी की व्याख्या करते हुए कहा है कि, 'हिन्दुस्तानी कोई मनगढ़न्त नई भाषा नहीं हैं, वह वही खड़ी बोली है जिसे दिल्ली और मेरठ के आसपास रहने वाले बहुत पुराने वक्तों से बोलते चले आते हैं।'[2]

हाब्सन-जाब्सन-कोष के प्रणेताओं ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का उर्दू भाषा के प्रर्याय में प्रयोग किया है, किन्तु उसका आधार आगरा-दिल्ली के आसपास के क्षेत्रों की बोली को माना है।[3] १८८१ की जनसंख्या-रिपोर्ट में पंजाब की विभिन्न बोलियों का उल्लेख करते हुए चार्ल्स इवसन ने भी शब्द-भेद से यही कहा।[4] इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैयाकरण मिस्टर बीम्स का भी मत उल्लेखनीय है। वे कहते हैं,' "यह सामान्य बोली प्राचीन राजधानी दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्र में उत्पन्न हुई। बोलचाल की वही हिन्दी भाषा के नए रूप का आधार बनी जिसमें संज्ञा और क्रियाओं का रूप-परिवर्तन हिन्दी का था और अत्यन्त प्रचलित शब्द भी रखे गए किन्तु फ़ारसी, अरबी यहां तक कि तुर्की शब्द इस प्रकार सन्निविष्ट हो गए जैसे अंग्रेजी में लैटिन और ग्रीक शब्द।"[5] यह नहीं, विदेशी गवर्नर, इतिहासज्ञ, फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी अध्यक्ष, परीक्षक आदि सभी ने यह अनुभव कर लिया था कि उर्दू अथवा 'हिन्दुस्तानी' भारत की जन-प्रचलित भाषा नहीं है। इस हिन्दुस्तानी के सम्यक् एवं समुचित ज्ञान के लिए उसकी मूलाधार बोली का ज्ञान अनि-वार्य है चाहे उसे खड़ी बोली कहा जाय अथवा 'हिन्दवी'। कहते हैं कि ६ वर्ष लगातार काम करने के उपरान्त जब एल्फ़िंस्टन अवकाश लेकर १८०६ में कलकत्ता गए तब उसने कहा था कि, "यहां (भारत में) के लोग उस भाषा 'मूर्स' अर्थात् 'उर्दू' में बात करते हैं जिसमें वे सोचते नहीं।"[6] ब्लाकमैन के अनुसार, "हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही बोली में बात करते थे जिसका नाम हिन्दी या हिन्दवी था।"[7] इस हिन्दी में फारसी के शब्द कैसे अधिकाधिक सन्नि-विष्ट होते गए, ई० होरविट्ज़ के शब्दों में सुनिए। वे कहते हैं, "यह विशेष आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दी अधिका-धिक फारसीमय हो गई। मुगलों ने हिन्दुओं पर विजय पाई पर हिन्दी की विजय उससे भी बड़ी थी। उसने असम्य (खड) विजेताओं को जीत लिया। एक पीढ़ी के बाद हिन्दी ज़बान तैमूर के अनुयायियों के कैम्प में स्थापित हो गई।

है······यह खड़ी बोली ही आजकल की हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी तीनों का मूलाधार है······खड़ी बोली अपने शुद्ध रूप में केवल एक बोली है।'

—भाषा-विज्ञान, पृ० १०६, डा० श्यामसुन्दरदास

१. भारत की भाषाएं और भाषा-सम्बन्धी समस्याएं—पृ० ५८

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

२. हिन्दुस्तानी १९३८, पृ० २१३

३. Hobson.-Jobson, p. 317. New Edition-London 1903; Edited by william Crooke; John Murray Albernate street.

४. Report on the Census of Punjab. p, 161 (Taken on the 17th Feb. 1881); by D. Charles J. Ibbtson, vol. I., Calcutta.1883

५: Report on the Census of Punjab. Taken on the 17th Feb. 1881; P. 162. by D. Chrrles J. Ibbetson, Vol. I. Calcutta.

६. The men who ruled India–The Founders– Philip Woodruff

७. The Hindus Rajas under the Mogals–Calcutta Reviw 1871.

उन्होंने हिन्दी को अपनी आवश्यकतानुसार नवीन सांचे में ढाल लिया और उसे उर्दू भाषा अर्थात 'कैम्प की भाषा' कहा। किन्तु हम इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं क्योंकि उर्दू सारे भारत में प्रचलित है।"[1]

खड़ी बोली में प्रेमसागर लिखने की प्रेरणा देने वाले हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष डा० गिलक्राइस्ट ने स्वयं भी हिन्दवी को मुसलमानी आक्रमण से पूर्व भारत की प्रचिलित बोली तथा उसपर आद्धृत अरबी-फारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी को अर्वाचीन कहा है। उन्होंने 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तानी' की सेक्सन और अंग्रेजी भाषा के सम्बन्धसे तुलना की है।[2] बाद में जब फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी पठन-पाठन की उपेक्षा की जाने लगी तो तत्कालीन हिन्दुस्तानी अध्यक्ष जे० टेलर एवं परीक्षक जे० रोएबक ने कौंसिल के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों के नाम (क्रम से १४ नवम्बर १८१२ तथा १६ नवम्बर १८१२ को) जो पत्र लिखे उनमें स्पष्ट कहा था कि 'हिन्दी' मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व भारत के सारे उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में बोली जाती थी और अब भी इन प्रान्तों के आदिम हिन्दू इसे बोलते हैं। यह खड़ीबोली या 'ठेठ' हिन्दी अथवा 'हिन्दुस्तानी' की विशिष्ट बोली जो सारे भारत विशेषतया दिल्ली-आगरे में बोली जाती है कालेज में उसी रूप में नहीं पढ़ाई जाती जैसे प्रारम्भ में पढ़ाई जाती थी, जब हिन्दुस्तानी अध्यक्ष के पास दो भाखा-मुंशी थे।'[3] एस० डब्ल्यू० फैलन ने तो भाषा-निबन्ध में स्पष्ट ही कहा कि, 'जो ट्यूटोनिक और अंग्रेजी का सम्बन्ध है वही हिन्दी और उर्दू का है। जो उत्तम अंश अंग्रेजी में लैटिन और ग्रीक का है वही उर्दू में फारसी-अरबी का है। हिन्दी इस कपड़े का 'ताना' तथा फारसी-अरबी उसका बाना है। 'उनके विचार में भाषा के रूप-परिवर्तन का कारण यह था कि 'मिश्रित-भाषा, जो हिन्दुओं और फारसी-भाषी मुगल विजेताओं के निकट-सम्पर्क के कारण सहज रूप में विकसित हुई है, बाद में सम्पर्क न रहने पर भी विदेशी मुहावरों से अनुप्राणित होती रही × × (इस तरह) सच्ची भाषा दब गई, उसको घृणापूर्वक तिरस्कार करके किनारे ढकेल दिया गया।' फलतः हिन्दुस्तानी की मूलाधार खड़ी बोली × × "दरबार और सार्वजनिक कार्यालयों से अपमानित होकर यह प्रकृत हिन्दी आज भी सामाजिक या घरेलू जीवन एवं बाजारों में जीवित है। देश की सारपूर्ण उक्तियां, लोकोक्तियां, राष्ट्र-गीतों आदि में आज भी उसकी आत्मा का ऐसा प्रभाव है जिसके समक्ष विदेशी और उपेक्षाकृत कम-परिचित बोली (उनका तात्पर्य उर्दू से था) दुर्बल एवं अशक्त दृष्टिगत होती है। इन (हिन्दी) पद-पदार्थों की जड़ें जनता के स्वभाव और सभा-समाजों में गहराई तक जमी हुई हैं जो उच्चतम से लेकर निम्नतम (लोगों) के भावानुरूप एवं बुद्धिगम्य हैं।"[4] कदाचित इसीलिए इसे कृत्रिम भाषा घोषित करने वाले राजा शिवप्रसाद इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए आगे चलकर कहते हैं कि, "फारसी-अरबी शब्दों से लदी हुई इस नई भाषा प्राकृत को हिन्दी, हिन्दुस्तानी, भाखा, व्रजभाषा, रेखता, खड़ीबोली, उर्दू या उर्दू-ए-मुअल्ला कुछ भी नाम दिया जाय। (यह निश्चित है कि) इसका बीजारोपण महमूद गजनवी के परवर्तियों के हाथों हुआ।"[5] मौलाना अब्दुल हक़ ने भी अपने 'कवायदे उर्दू' में स्वीकार कर लिया है कि उर्दू हिन्दुस्तान में जन्मी है और इसकी बुनियाद पुरानी हिन्दी पर है, क्रियापद जो भाषा का प्रधान अंग है और सर्वनाम तथा कारक-चिह्न सबके सब हिन्दी हैं, सिर्फ संज्ञा और विशेषण अरबी-फारसी के दाखिल हो गए हैं।" और सम्भवतः इसी कारण डाक्टर ग्रियर्सन भी पश्चिमी हिन्दी की बोली के रूप में 'हिन्दुस्तानी' के अनेक प्रकारों का अस्तित्व मानते हैं।"[6]

---

१. Short history of Indian literature by Horrwitz. p. 159. T. Fisher Unwin Adephi Terrace, London 1907

२. Oriental Linguist P. 3. Calcutta. 1779.

३. Proceedings of the College of fort william. Home miscellane ousVol. 4. p. 276-277.

४. An English Hindustani Law and Commercial Dictionary of words and Phrases-S.W.Fallon. Calcutta. 1858. Dissertation. p. 11,12,14.

५. Hindi Selections p. 10. Part VI. Sive Prasad.

६. A Linguistic Survey of India. Vol. IX, Part I, P. 47.

जैसा कि पहले कहा जा चुका है खड़ी बोली और उर्दू दोनों आत्मजाओं को व्रजभाषा से उद्भूत मानने की भ्रान्ति का कारण कुछ तो प्रेमसागर की व्रजरंजित भाषा और कुछ फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी-अध्यक्षों की नासमझी थी। पन्द्रह-सोलह वर्ष (१७८५-१७९८) तक हिन्दुस्तानी का पर्याप्त अध्ययन करके तथा समस्त उत्तरप्रदेश में घूम-फिरकर डा० गिलक्राइस्ट को यह तो विदित हो गया था कि भारत की मूलभाषा हिन्दवी है। किन्तु यह शब्द (हिन्दवी) उन्होंने स्थान-भेद से बोली जाने वाली दोआब की सभी बोलियों के लिए व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया था। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हिन्दुस्तानी का आधार 'व्रजभाषा' निश्चित किया। और कालेज के परवर्ती कर्मचारियों को भाषा-भेद का समुचित ज्ञान हो जाने पर भी हिन्दुस्तानी के आधार के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति बहुत समय तक बनी रही। विलियम प्राइस ने कालेज के हिन्दी-अध्यक्ष के पद से ११ अक्तूबर, १८२४ को कौंसिल के सेक्रेटरी कैप्टेन रडैल के नाम जो पत्र लिखा उसमें खड़ी बोली का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया; उसे ही उर्दू का आधार माना और सेक्रेटरी से अनुरोध किया कि खड़ी बोली को 'हिन्दी' नाम से व्यवहृत किया जाय। किन्तु उनके विचार से अन्य भगिनी भाषाओं से इसके पार्थक्य का कारण विदेशी पदांशों का प्रभाव-मात्र था। क्योंकि उन्होंने सब प्रकार का अन्तर स्वीकार करते हुए भी सबका व्याकरण एक ही माना है। उनके अनुसार उच्चतम उर्दू तथा निम्नतम 'भाषा' की वाक्य-रचना तथा अन्य रूप प्रायः समान ही हैं। उदाहरण देते हुए प्राइस साहब ने कहा कि, 'उर्दू तथा भाषा के सम्बन्ध-कारक चिह्न 'का-के-की' तथा 'कौ-के-की' में विशेष अन्तर नहीं है। (और) भाषा का 'मैं मार्‌यो जातो हों' तथा उर्दू का 'मैं मारा जाता हूं' भी लगभग एक से हैं।' और 'व्रजभाषा और उर्दू के उदाहरणों में जो थोड़ा-सा अन्तर स्पष्ट किया गया उस शैली-वैविध्य का कारण केवल प्रान्तीयता है।'[१] सम्भवतः इसीलिए रडैल ने लुशिंगटन को २४ सितम्बर, १८२४ को पत्र में लिखा था कि, 'इस प्रेजीडेंसी के अन्तर्गत क्षेत्रों में प्रचलित किसी भी संस्कृत-प्रसूत बोली का व्याकरण-ज्ञान उसी स्रोत से निकलने के कारण अन्य भगिनी भाषाओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त होगा। अतएव कालेज कौंसिल······नये नियमों के अन्तर्गत फारसी भाषा के साथ हिन्दुस्तानी की जगह बंगाली या व्रजभाषा का पर्याप्त ज्ञान (जिसे ठेठ हिन्दी या हिन्दवी भी कहा जाता है) अनिवार्य कर दिया जाय।'[२] यह भ्रान्ति एच० टी० कोलब्रुक को भी हुई। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से सम्बन्धित एक लेख में कहा कि, 'कान्यकुब्जों का बहुत बड़ा राज्य था जिसकी राजधानी कान्यकुब्ज अथवा कन्नौज थी। उन्हीं की भाषा सम्भवतः आधुनिक हिन्दुस्तानी का आधार है जिसे हिन्दी या हिन्दवी नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसकी दोनों बोलियों में अन्तर स्पष्ट है। एक अधिक सभ्य है दूसरी कम। इसमें से पहली का नाम हिन्दी है और दूसरी प्राकृत के समान कुत्सित है।'[३] ईस्ट इंडिया कालेज हेलबरी के उर्दू-अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने भी इनका समर्थन कर डाला। आपने फरमाया कि, 'हिन्दी, हिन्दुस्तानी दोनों का आधार मिस्टर कोलब्रुक ने ठीक ही कहा है, उत्तरभारत की राजधानी कन्नौज की भाषा 'हिन्दवी' है। यह मथुरा के आसपास व्रजक्षेत्र में अब भी बोली जाती है। इसलिए इसे व्रजभाषा भी कहते हैं।'[४]

वास्तव में गलतफहमी का कारण यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भी खड़ी बोली की विशिष्ट-

---

१. Letter from William Price (dated 11th Oct. 1824) to Captain Ruddell, Secretary to the College Council, p. 503-506 Proceedings of the College Fort William. Home Miscellaneous Vol. 9.

२. Letter from Rudell (24th Sept. 1824) to C. Lushington, Secretary to the government, General department P. 495-500. Vol. 9.
Proceedings of the College of Fort William. Home Miscellaneous.

३. Asiatic Researches p. 220. Vol. VII, 1803 (Second imp.) 'on the Sanskrit and Prakrit languages.' by H. T. Colbrooke.

४. 'A concise grammar of the Hindustani lauguage,' by E. B. Eastwick James Maddena Leadenhall Street, London, 1847.

ताओं का अध्ययन करने की ओर न तो किसी का ध्यान ही गया था और न उसका अपना कोई व्याकरण बना था। इस सम्बन्ध में एच० विलसन का कथन उल्लेखनीय है, 'हिन्दी की बोलियों की विशिष्टताओं का कभी अध्ययन ही नहीं किया गया। हमारे पास केवल एक व्रजभाषा का व्याकरण है जो बहुत छोटा है। कहने-योग्य कोश-जैसा भी कुछ उपलब्ध नहीं होता। 'प्रेमसागर' ही मात्र ऐसा ग्रंथ है जिसका (इस दृष्टि से) कुछ मूल्य है।'[१]

निष्कर्षत: यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि खड़ी बोली विदेशियों की देन नहीं है। न वह 'उर्दू पर से बनाई गई' और न व्रजभाषा उसकी माता है। व्रजभाषा की तरह यह भी शौरसेनी-अपभ्रंश-प्रसूत पश्चिमी हिन्दी से उत्पन्न हुई। प्रारम्भ में यह दिल्ली-मेरठ तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती थी। देश में जब मुसलमानी साम्राज्य स्थापित हुआ और दिल्ली राजधानी घोषित कर दी गई तो फारसी-भाषी विदेशियों का भारतीय जनता के साथ सम्पर्क बढ़ता गया। शनैः-शनैः दिल्ली की स्थानीय बोली फारसी-कोश से जीवनदायिनी शब्द-शक्ति संचित करने लगी। सामाजिक एवं राजनीतिक मैत्री के साथ इसका प्रचार और प्रसार बढ़ा। स्थान-भेद तथा प्रयोग-भेद से इसके स्वरूप-भेद भी होते गए। इस प्रकार साहित्य-जगत में यह हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुई, उर्दू, रेखता, दखिनी आदि अनेक नामों से पहचानी जाने लगी। प्रारम्भ में इसके बोलचाल के रूप को हिन्दोस्थानी अथवा 'मूर्स' कहा जाता था।

स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि जब प्रस्तुत बोली के इतने नाम प्रचलित थे तब 'खड़ीबोली' नये नाम की आवश्यकता क्यों पड़ी? इन्हीं में से एक नाम क्यों नहीं चुन लिया गया। इसके निम्नलिखित कारण दृष्टिगत होते हैं:

हिन्दी, हिन्दवी एवं हिन्दुई नाम

उर्दू-साहित्य में इसके जितने नाम प्रचलित हैं उनमें 'हिन्दी 'हिन्दवी' अथवा 'हिन्दुई' सबसे पुराना है। मुसलमान लेखकों ने इसका सर्वत्र उपयोग किया है। कहा जाता है कि सादल्दवलाह मसऊद (मृत्यु ५२५ हि०) ने एक हिन्दी दीवान लिखा था।[२] अमीर खुसरो के नाम से प्राप्त 'खालिक बारी' (उर्दू-हिन्दी कोश) में बारह बार 'हिन्दी' और पचपन बार 'हिन्दवी' शब्द का उल्लेख मिलता है। कवि सौदा के उस्ताद शाह हातम और आतिश भी अपने अभिव्यक्ति के माध्यम को इसी नाम से अभिहित करते थे। सादी के समकालीन बाकर आगाह (११५७ हि० में जन्म) ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने हिन्दी' रखा था।[3] उर्दू के आधुनिक आचार्य इंशा ने अपने 'दरिया-ए-लताफत' में भी इस शब्द का कई जगह प्रयोग किया है। अब्दुल कादिर सरवरी साहब ने बाकर आगाह के दीवाचे का मुताला करते हुए कहा है कि 'हिन्दी या हिन्दवी इसका (उर्दू) का कदीम तरीन नाम था ··· ··· उर्दू और दखनी के लिए भी यह लफ्ज बिला तकल्लुफ इस्तेमाल होता था। उर्दू, हिन्दी, दक्खिनी एक ही जबान के मुख़्तलिफ़ नाम हैं।'[४] स्पष्ट है कि हिन्दी, हिन्दवी अथवा हिन्दुई नाम 'उर्दू' के लिए भी प्रयुक्त हो चुकने के कारण भ्रम उत्पन्न कर सकते थे।

उर्दू, रेख़ता अथवा हिन्दुस्तानी नाम

उर्दू पद्य-साहित्य की भाषा को 'रेखता' नाम से भी अभिहित किया जाता था। कहते हैं कि 'रेख़ता' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सादी दक्खिनी के कलाम में मिलता है जो वली दक्खनी से पूर्व आदिलशाह अव्वल के समय (सन १५८६) में हुआ था।[५]

---

१. A glossary of Judicial and Revenue terms. Preface p. 25......by H. H. Wilson. 1855. Enlarged edition by Ganguli and Basu; Eastern Law House, Calcutta, 1940.

२. Early Hindustani poetry. by A Speenger, P. 442. Journal of asiatic society of Bengal, Vol, 21 (1853)

३. हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी : पृ० ४८--४६, पद्मसिंह शर्मा

४. उर्दू, अप्रैल-सन् १६२६ ई० जिल्द ६ हिस्सा ३४, पृ० २८१--३१८; बाकर आगाह, मुहम्मद अब्दुल कादिर सरवरी

५. हिन्दी उर्दू हिन्दुस्तानी : पद्मसिंह शर्मा, पृ० १६, २५

बाद में तो शाह मुबारक ग्राबरू, मीर, सौदा, गालिब, जुरअत, कायम आदि सभी शायरों ने अपनी काव्य-भाषा को 'रेख़ता' संज्ञा दी। 'रेख़ता' हिन्दी आदि नामों से अभिहित इस अरबी-फारसी मिश्रित पद्यबद्ध शेरों की भाषा के लिए 'उर्दू' नाम कब से चल पड़ा इसका निर्णय अभी तक किसी पुष्ट-प्रमाण के आधार पर नहीं हुआ है। हां, अठारहवीं शती के अन्त में (१७९७ ई०) सैय्यद अताहुसैन तहसील ने चहार दरवेश का तर्जुमा 'नौतजैमुरस्सा' के नाम से किया था। उसमें इन्होंने अपनी जुबान के लिए रेख़ता, हिन्दी और जबान उर्दू-ए-मुअल्ला तीनों नाम एक ही प्रसंग और एक ही पृष्ठ पर साथ-साथ दिए हैं। इससे ज्ञात होता है कि 'उर्दू' शब्द भाषा के लिए तब तक रूढ़ नहीं हुआ था।

इधर खड़ी बोली-साहित्य में भी कबीर, पलटू, तुलसी साहब आदि के कुछ 'रेख़ता' शीर्षक पद मिलते हैं। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन संत-कवियों ने ही स्वयं इन पदों की भाषा को 'रेख़ता' संज्ञा दी। क्योंकि अधिकांश संत अपढ़ थे ··· और इनकी बानियों का संकलन इनके शिष्यों या परवर्ती लिपिकारों ने किया। परंतु इस शब्द के प्रयोग से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि 'रेखता' शब्द उर्दू-साहित्य के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य में भी प्रचलित था। कदाचित इसीलिए आलम (सं० १६४०--१६८०) ने अपने काव्य 'सुदामाचरित्र' को 'रेख़ता' शब्द सम्पूर्ण कहा है। और सवाई प्रतापसिंह देव ब्रजनिधि ने (१८२१–१८६०) की 'रास का रेख़ता' शीर्षक रचना एवं 'रेखता संग्रह', लिखे थे जिनकी भाषा प्राय: अरबी-फारसी-मिश्रित है। यह भी कहते हैं कि ब्रजनिधि की सभा में 'रेख़ता' शायरों का बड़ा मान था जिनमें 'रसराज' तथा 'रसपुंज' विशेष रूप में समादृत थे।[1] इन 'रेखता' शीर्षक पदों को पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि ये कवि अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग में कोई संकोच नहीं करते थे और 'रेखता' को भाषा के साथ संगीत का पारिभाषिक शब्द समझ कर राग-रागिनियां भी बांधा करते थे। तात्पर्य यह है कि अठारहवीं शताब्दी तक शायर और कवि दोनो अपनी-अपनी पद्य-भाषा के लिए 'रेखता' शब्द का निस्संकोच उपयोग करते थे।

अब फोर्ट विलियम कालेज में भाषा के नाम की स्थिति देखिए। कह आए हैं कि यूरोपियन इतिहासज्ञ, यात्री एवं साहित्यकार 'हिन्दी' की इस जन-प्रचलित और विकसित भाषा को 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' कहा करते थे।[2] गिल-क्राइस्ट 'मूर्स' शब्द को अनुपयुक्त समझते थे।[3] फोर्ट विलियम कालेज में वह हिन्दुस्तानी-प्रोफ़ेसर क्यों कहलाए, इसका उन्होंने कारण भी स्पष्ट किया है।[4] वे जानते थे कि ब्रिटिश राज्य के सुशासन के निमित्त सिविल कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी में पूर्ण दक्षता प्राप्त कराने के लिए उनकी आधारभूत बोली 'हिन्दवी' का ज्ञान अनिवार्य था। उनके अपने विचार में आधेय (उर्दू) एवं आधारभूत (हिन्दवी) भाषाओं में प्रधान भेद केवल अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्द-सन्निवेश तथा विभिन्न लिपियां था। इसलिए उन्होंने कालेज कौंसिल से नागरी खुशनवीस तथा भाखा-मुंशी के लिए मांग पेश की थी।[5] जिसके परिणामस्वरूप लल्लूजीलाल और सदलमिश्र दोनों भाखा-मुंशियों की नियुक्ति हुई। गिल-क्राइस्ट ने दोनों से कथा में 'यामनी भाषा छोड़ने' या 'अरबी-फारसी न आने देने' का अनुरोध किया। और क्रम से 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' रूपान्तरित हुए। डाक्टर साहब के 'हिन्दवी' से उत्तर प्रदेश की सब बोलियों का अर्थ निकलता था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी तथा विद्यार्थी 'हिन्दुस्तानी', 'हिन्दी' या 'रेख़ता' को उर्दू के पर्याय

---

१. ब्रजनिधि-ग्रन्थावली की प्रस्तावना—सं० हरिनारायण शर्मा पुरोहित

२. Hobson-Jobson (being an glossary of Anglo-Indian colloquial words and pharases and of kindered terms) p. 417, 584
by Col. Henry Yule and Artbaur Coke Burnell. Pub: Jon Murray, Albernate Street, 1886, New edition 1903.

३. See– The Title page of the Oriental Linguist an easy familiar introduction to the popular language of Hindustani Vulgarly, but unproperly called the moors, Calcutta, 1798.

४. Oriental Linguist Introduction 3.

५. Proceedings of the College of Fort William. p. 62–63. Home miscellaneous Vol. I.

में प्रयुक्त करते थे।[1] स्वयं डा० गिलक्राइस्ट भी 'रेखता'— मिश्रित भाषा को (उर्दू) का द्योतक समझते थे।[2] दूसरे लल्लूजीलाल खुद रेखता (उर्दू) के पंडित थे। जब उनसे साहिब ने कहा कि, 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे 'रेख़ते' की वोली में कहो।' तो उन्होंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिए कोई पारसी लिखने वाला दीजै, तो भलीभांति लिखा जाय।'[3]

तीसरे, उस युग तक 'रेख़ता' नाम से प्राप्त खड़ी बोली काव्य में समान्यतया अरवी-फारसी आदि शब्दों का प्राचुर्य रहता था। हिन्दी साहित्य के कवि भाषा के अतिरिक्त उसे गेय पदों की एक विशिष्ट शैली भी मानते थे। वास्तव में अब तक उसमें से किसी कवि ने विदेशी शब्दों के वहिष्कार की चेष्टा न की थी। अतः प्रेमसागर की भाषा के लिए 'रेख़ता' या हिन्दुस्तानी शब्द का उपयोग कालेज के अध्यक्ष, अन्य कर्मचारियों, विद्यार्थियों एवं साहित्यकारों के मस्तिष्क में उलझन पैदा कर सकता था। आश्चर्य नहीं जो इन सब कारणों के देखते हुए लल्लूजीलाल ने उसे 'खड़ी बोली' नाम दे दिया हो।

खड़ी बोली शब्द के अर्थ : जिस प्रकार नाम की नवीनता को देखकर कतिपय विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणाएं बना ली थीं, उसी प्रकार नाम की विशिष्टता के आधार पर खड़ी बोली शब्द के भी विभिन्न अर्थ स्थिर करने के प्रयत्न किये गए। सर्वप्रथम ईस्ट इण्डिया कालेज हेलबरी के हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष ई० बी० इस्टविक ने 'खड़ा' और 'खरा' को समानार्थक मानकर प्रेमसागर के नवीन संस्करण (१८५१) के हार्ट फोर्ड[4] कोष में खड़ी बोली के अर्थ इस प्रकार दिए—

खड़ा—

1. Erect, upright, steep, standing.
2. Genuine, pure went it (Khara)

खड़ी बोली—

Khari Boli, the true genuine language i. e. the pure language. 3

पादरी कैलॉग ने भी 'खड़ी' बोली को 'खरी' बोली कहकर उसका अर्थ 'प्योर' स्पीच किया।[5] इसी प्रकार जॉन प्लेट्स ने भी 'खड़ा' और 'खरा' में कोई भेद न किया। 'खरा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के शस्त छ+क: से कल्पित करते हुए आप कहते हैं कि—

1. खरा (Khara— (Perhaps शस्त+क:) adj. good. exellent, best, prime, choicc, real, true, not false or counterfeit, pure, undebased, unalloyed.

2. Upright, right, exact, fixed, complete, full standard, settled, valid-Khara Karra, (v. t. to seprate good from bad)

---

१. हिन्दुस्तानी ज़बान कि जिसका ज़िक्र मेरे दावे में है उसको 'हिन्दी' 'उरदू' या 'रेखता' कहते हैं।—बैली का थीसिस जो ६ फरवरी १८०२ को फोर्ट विलियम कालेज में पढ़ा गया।

फोर्ट विलियम कालेज— पृ० १०६, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

(b) Glossay of India terms for the various department of the Government of East India Company, Pub: J & H, Cox Brothers, Printers for East India Company,

२. Rekthu morter, plaster. mixed dialect.
Oriental linguist. p. 105, Calcutta 1798.

३. Lalchandrika, p. 3, by G. Grierson. Government Printing, Calcutta 1896.

४. Prem Sagur p. 40 (Hertford) 1851,' El. p. 40

५. A grammer of the Hindi language: p. 18 (preface to the first edition-- foot note)
—by S. H. Kellog

Khari Boli (Vulgar khari boli) pure language or idiom., coin of the true mint.

कदाचित विदेशी विद्वानों का प्रभाव था कि हिन्दी साहित्य के कलाकारों ने 'खरी' को 'खड़ी' का पर्याय-वाची समझ लिया। पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'सीधी बोली की राम-कहानी की भूमिका' में कहा है कि 'हिन्दी और संस्कृत में र, ड़, ल का अदल-बदल हुआ करता है। इसलिए खरी बोली के स्थान पर 'खड़ी बोली' होगई। खरी-खोटी बोलियों में से खरी-खरी बोलियों को चुनकर 'खड़ीबोली' बनी है। अपनी भाषा में भूल कर जो शब्द दूसरे आ गए हों इन्हें निकाल देने से 'खरे' शब्दों की खरीबोली हो जाती है। इसी अर्थ में ठेठ हिन्दी भी प्रचलित है। ठेठ हिन्दी का अर्थ है 'सूखी हिन्दी', जिसमें दूसरी भाषा के रस न हों।'[1] यही 'प्रेमघन' जी ने भी तृतीय साहित्य सम्मेलन में सभापति के पद से कहा, 'आज-कल के लोगों के इस कथन में कुछ भी सार नहीं है जो 'खरी बोली' को खड़ी बोली लिखते और कहते हैं कि यह ईजादे-बन्दा है। स्व० बाबू अयोध्याप्रसाद की उत्तेजना से जिसका आरम्भ व अधिक प्रचार हुआ है।[2] अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी जी ने कहा कि रेखता पुष्ट या पक्की भाषा है। समय पाकर यही हिन्दुओं में नागरी या नगर की भाषा व 'खरी' बोली कहाने लगी।[3]

टी० ग्राहम बेली ने 'खड़ी बोली' शब्द के प्रयोग एवं अर्थ (use and meaning of the term khari Boli) सम्बन्धित लेख में अनेक तर्क एवं प्रमाण देकर विद्वानों में फैले हुए खरी-खरी के भ्रम को दूर करना चाहा। और अन्त में उसकी व्याख्या में शब्द के सामान्य अर्थ 'खड़ा', फिर 'प्रस्तुत', 'प्रचलित' और स्थापित' निश्चित किए।[4] इसका कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्यत्र कहा है कि, 'खरी' शब्द का ' 'अर्थ 'शुद्ध' अथवा 'जिसमें किसी का 'मिश्रण' न हुआ हो' आदि तो अवश्य माना जा सकता है और यह (शब्द) किसी भी भाषा का विशेषण भी हो सकता है। (परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि) यह किसी बोली का नाम कभी नहीं था चाहे वह 'गंवारी' रही हो या न रही हो।[5] मौलाना अब्दुल हक ने 'खड़ी' और 'खरी' का फर्क तो किया किन्तु अर्थ प्रायः वही रखे अर्थात् मुरव्वजा, आममुस्तनद (स्टैण्डर्ड) ज़बान। और शायद जान प्लेट्स के 'वल्गर' विशेषण से ही संकेत लेकर यह भी कह डाला कि खड़ी बोली के मानें हिन्दुस्तानी में आम तौर पर गंवारी बोली के हैं जिसे हिन्दुस्तान का बच्चा-बच्चा जानता है। वह न कोई खास जबान है और न ज़बान की कोई शाखा।[6] किन्तु वंशीधर विद्यालंकार फिर भी 'र' और 'ड़' के झमेले में फंसे रहे। उन्होंने लिखा, 'खड़ी' का लफ़्ज़ संस्कृत के 'खर' से बना है जिसके माने सख्त, कठोर और खुरदुरा है। जिसमें किसी तरह की नरमी और नजाकत न हो। इस 'खर' लफ्ज से खड़ी बना है। खरी के माने 'सच्ची' या 'हक़ीक़ी' इसलिए होते हैं कि सच्ची बात अक्सर सख्त होती है।[7]

पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने 'खड़ी बोली' की निरुक्ति' शीर्षक लेख में अपने से पूर्व-स्थापित सभी मतों का तर्कपूर्ण खण्डन करते हुए कहा कि, 'खड़ी बोली' का अर्थ है प्रकृत, ठेठ या शुद्ध बोली। उनकी तर्क-पद्धति इस प्रकार है :

खड़ा—

१. बिना पका, असिद्ध, कच्चा, जैसे खड़ा चावल

२. समूचा, पूरा जैसे, खड़ा चना चबाना।

---

१. A Dictionary of urdu, classicel Hindi and English by John T. Platts 1930, Oxford University Press fifth imp.

२. सीधी बोली की रामकहानी, भूमिका, पृ० ११ — सुधाकर द्विवेदी

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १६१३, पृ० १०६

४. हिन्दी पर फ़ारसी का प्रभाव —पृ० १२, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

५. Vol. VIII Bulleetin of the School of Sriental Otudies 1935-37

६. उर्दू—(औरंगाबाद) जनवरी १६३४, जिल्द १४, हिस्सा ५३, सं० १५१-१६० लेख 'बाज गलतफ़हमियां'

—पं० मनोहरलाल जुत्शी

७. उर्दू (औरंगाबाद) अौ त—जिल्द १६३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सं० ४७१-४७८

—खड़ी बोली, लेख०—वंशीधर विद्यालंकार

पाण्डेयजी को पं० सुधाकर द्विवेदी का खड़ी वोली के लिए 'सीधी वोली' शब्द-प्रयोग तो मान्य है, किन्तु ग्राहम वेली द्वारा प्रस्तुत 'टकसाली' अथवा 'प्रचलित' (करेन्ट) अर्थ से वह विल्कुल सहमत नहीं हुए।[1] मातावदल जायसवाल ने चन्द्रवली पाण्डेय के 'शुद्ध' अर्थ का तो तिरस्कार कर दिया और 'प्रचलित वोली' को ही खड़ी वोली का सार्थक अर्थ निश्चित किया। इसके प्रमाण में उन्होंने 'मोल्सवर्थ' के मराठी शब्दकोश से खड़ी, चाकरी, खड़ी किमत, खड़ी ताजीम आदि प्रयोग उद्धृत भी किए हैं।[2] डा० शितिकण्ठ मिश्र ने भी कहा कि, 'मौलिक प्रयोगों से इसका जो प्रचलित अर्थ निकलता है उसका रहस्य इसकी सर्वजन-सुवोधता और सरलता ही है। अतः (उनकी राय में) ग्राहम वेली के 'प्रचलित' अर्थ को मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिए।'[3]

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जिन्होंने अपनी रुचि के अनुसार 'खड़ीवोली' भाषा में कतिपय दोष देखे और उन दोषों को अर्थ-रूप में 'खड़ी' शब्द पर आरोपित कर दिया। इन सवने शब्द-भेद से 'खड़ी' शब्द को कर्कशता, कर्णकटुता, नीरसता आदि अवगुणों का द्योतक वताया। कामताप्रसाद गुरु ने हिन्दी-व्याकरण में लिखा कि, 'व्रजभाषा के ओकारान्त रूपों से मिलान करने पर हिन्दी के आकारान्त रूप खड़े जान पड़ते हैं––वुन्देलखण्ड में भी इस भाषा को ठाठ वोली (या तुर्की) भी कहते हैं।[4] डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी कुछ ऐसी ही कल्पना की। उन्होंने कहा कि, 'व्रजभाषा की अपेक्षा यह वोली वास्तव में खड़ी-खड़ी लगती है, कदाचित इसी कारण इसका नाम खड़ी वोली पड़ा।'[5] किशोरीदास वाजपेयी ने 'खड़ी वोली' के सम्वन्ध में प्रकारान्तर से कामताप्रसाद गुरु की धारणा दोहरा दी। आप कहते हैं कि,'मीठा, जाता, खाता' आदि में जो खड़ी पाई––आप अन्त में देखते हैं वह दिल्ली के अतिरिक्त इसकी किसी भी दूसरी वोली में न मिलेगी। व्रज में 'मीठ' और अवधी में 'मीठी' चलता है, मीठी जल, मीठ पानी। इसी तरह 'जात है, खात है' आदि रूप होते हैं। केवल कुरुजनपद में ही नहीं, यह खड़ी पाई आगे पंजाव तक चली गई है––'मिट्ठा पाणी लावंदा है।' सो, इस खड़ी पाई के कारण इसका नाम 'खड़ी वोली' वहुत ही सार्थक है।'[6]

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डा० सुनीनिकुमार चटर्जी प्रभृति विद्वानों ने न तो खड़ी शब्द के अर्थ किए और न उस भाषा के गुण-दोषों की आलोचना की। उन्होंने केवल व्रजभाषा, अवधी आदि को 'पड़ी वोली' संज्ञा देकर 'खड़ी' नाम सार्थक माना। गुलेरी जी लिखते हैं कि, 'हिन्दुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह व्रजभाषा या पूर्वी वैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी और गुजराती आदि ही में मिलती है—अर्थात 'पड़ी वोली' में पाई जाती है। 'खड़ी-वोली' या 'पक्की वोली' या रेखता या वर्तमान हिन्दी के वर्तमान गद्य-पद्य को देखकर यह जान पड़ता है कि उर्दू-रचना में फारसी-अरवी-तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी वना ली गई—विदेशी मुसलमानों ने आगरा, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी वोली को 'खड़ी' वनाकर लश्कर और समाज के लिए उपयोगी वनाया।[7]

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के विचारानुसार भी, 'अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हिन्दुओं का ध्यान दरवार

१, उर्दू का रहस्य—खड़ीवोली की निरुक्ति—पृ० ५६-८३ —चन्द्रवली पाण्डेय : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९९७

२. हिन्दी-अनुशीलन— —वर्ष ७, अंक १, भारतीय हिन्दी परिषद, पृ० ३२-३८ : खड़ी वोली नाम का इतिहास —मातावदल जायसवाल

३. खड़ीवोली का आन्दोलन—पृष्ठ ११-११ —डा० शितिकंठ मिश्र

४. हिन्दी व्याकरण—पाद-टिप्पणी, पृ० २५ —कामताप्रसाद गुरु

५. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ४१ —डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९३३

६. हिन्दी-शब्दानुशासन—पृष्ठ १५ —किशोरीदास वाजपेयी —नागरी प्रचारिणी सभा,

७. Indo Aryan and Hindi, p. 169, by S. K. Chatterjee, 1940

की परिनिष्ठित (स्टैण्डर्ड) बोली की ओर गया। उसका नाम तो पड़ा 'खड़ीबोली' और ब्रजभाषा, अवधी आदि शेष बोलियां 'पड़ीबोली' कही जाती थीं।[1]

गुलेरीजी तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के समान ब्रजरत्नदास ने 'खड़ी' नाम तो 'पड़ी' के वज़न पर आधारित माना किन्तु उन्होंने इस 'पड़ी' को ब्रज, अवधी आदि भाषाओं का द्योतक न मानकर रेख़्ता से सम्बन्धित बताया। उन्होंने लिखा कि, 'मुसलमानों ने जब हिन्दी का साहित्य-रचना में उपयोग करना आरंभ किया तब वे उसमें अपने छोड़े हुए देशों की भाषाओं के शब्द तथा भाव आदि का भी प्रयोग करने लगे और इसलिए उन्होंने इस मिश्रित भाषा का नाम 'रेख़्ता' रखा, जिसका अर्थ मिली-जुली या गिरी-पड़ी है। ब्रजभाषा-भाषी लल्लूजीलाल ने, जो उर्दूदाँ मुंशियों की सहकारिता में काम कर रहे थे और यामनी भाषा छोड़ दिल्ली-आगरे की बोली में ग्रंथ-रचना कर रहे थे, थे, गिरी-पड़ी रेख़ते की बोली से यामनी शब्दावली निकालकर जिस भाषा में प्रेमसागर लिखा उसे रेख़ते अर्थात् मिश्रित गिरी-पड़ी बोली के वजन पर खड़ी बोली नाम दे दिया, जो नाम उनके बाद चल पड़ा।[2] हां, डा० श्यामसुन्दरदास इस सम्बन्ध में कुछ अनिश्चित मत के ही रहे। उन्होंने कहा, 'इसका नामकरण किसी प्रदेश के नाम पर नहीं है। मुसलमानों ने जब इसे अपनाया तब 'रेख़्ता' का नाम दिया। रेख़्ता का अर्थ गिरता या पड़ता है। क्या इसी गिरी या पड़ी भाषा के नाम पर विरोध सूचित करने के लिए इसका नाम खड़ी बोली रखा गया? कुछ लोगों का कहना है कि यह 'खड़ी' शब्द खरी (टकसाली) का विगड़ा रूप है।[3]

खड़ी बोली शब्द के उपर्युक्त अर्थ-निर्वाचनों में विद्वानों के स्थूलतः चार दृष्टिकोण लक्षित होते हैं जिन पर क्रमशः तर्क एवं प्रमाण-पुरस्सर विचार करना आवश्यक है।

खड़ी-खरी शब्द

प्रथम वर्ग के विद्वानों में इस्टविक एवं प्लेट्स ने 'खड़ी' और 'खरी' को समानार्थक मानकर 'खड़ी बोली' शब्द के 'ट्रू जेनुइन' अथवा 'प्योर' अर्थ किए हैं। प्लेट्स ने एक अर्थ 'वल्गर' इस्टविक से अधिक दिया है।

अब यह देखना है कि लल्लूजीलाल ने 'खड़ी', 'खरी' में से किस शब्द का प्रयोग किया था? जैसा कि ग्राहम बेली ने कहा है लल्लूजीलाल ने जिस भाषा में प्रेमसागर लिखा था उसको उन्होंने स्पष्ट 'खड़ी बोली' कहा है। १८०३ तथा १८०५ ई० के दो प्रकाशित अपूर्ण संस्करणों में इसका यही अक्षरीकरण रहा। ग्रंथ का पूर्ण संस्करण १८१० ई० स्वयं लल्लूजीलाल की देख-रेख में मुद्रित हुआ था। उसमें भी खड़ी बोली शब्द ज्यों-का-त्यों बना रहा। इनके अतिरिक्त सदल मिश्र ने अपने नासिकेतोपाख्यान (१८६० ई०) तथा रामचरित्र (१८६२) लगभग दो वर्ष के अन्तरा में लिखे थे। शब्द-प्रयोग में उल्लेखनीय परिवर्तन यहां भी दृष्टिगत नहीं होता। १८१४ ई० में विलियम प्राइस ने प्रेमसागर के आधार पर 'खड़ी बोली-इंगलिश कोश' तैयार किया था। उसकी भूमिका में भी 'खरी' नहीं, बल्कि 'खड़ी' का ही उपयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि यदि किसी कारण 'खरी' का रूप लेखक या प्रकाशक की भूल से 'खड़ी' लिखा अथवा छप गया होता तो पन्द्रह वर्ष की अवधि में इसे कहीं-न-कहीं अवश्य शुद्ध कर दिया जाता। अतएव यह निश्चित है कि फोर्ट विलियम कालेज के भाखा-मुंशी लल्लूजीलाल ने उसका नाम 'खड़ी बोली' ही रखा था।

शब्दार्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से भी 'खड़ी' और 'खरी' पर्यायवाची नहीं हैं। प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानने की भ्रान्ति कब, कहां तथा कैसे हुई? यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'ड़' और 'र' के सूक्ष्म अन्तर को यूरोपियन विद्वान समझते नहीं थे। डा० गिलक्राइस्ट ने 'ओरिएण्टल लिंग्विस्ट' के कोश में 'खड़ा' और 'खरा' के पृथक-पृथक अर्थ किए हैं। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'खड़ा' और 'खरा' को एक समझने की गलती सर्वप्रथम इस्टविक की हुई जो उसके कोश द्वारा प्लेट्स तक संक्रमित हुई तो फिर इस्टविक को यह भ्रान्ति किस प्रकार हुई? इस्टविक उर्दू के पंडित थे। ईस्ट इंडिया कालेज हेलबरी में हिन्दुस्तानी के अध्यक्ष थे। १८४७ ई० में हिन्दुस्तानी भाषा

१. Indo-Aryan and Hindi, p. 189, by S. K. Chatterjee, 1940
२. खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १०-११ —ब्रजरत्नदास
३. हिन्दी भाषा—पृ० ३२—(पाद टिप्पणी) —डा० श्यामसुन्दरदास

का व्याकरण लिखकर ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतएव यह कहना युक्तिसंगत न होगा कि उन्हें 'ड़' और 'र' में अन्तर नहीं ज्ञात था। ग्राहम वेली इस भ्रान्ति का सूत्रपात करने का समस्त दोष गासाँद तासी पर मढ़ते हैं जिन्होंने अपने 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर हिन्दवी एट हिन्दुस्तानी' के प्रथम संस्करण (१८३९ ई०) में 'खड़ी' और 'खरी' को पर्याय माना और फिर दूसरे संस्करण (सं० १८७०) में (खड़ी) शब्द की आवश्यकता ही न समझी।[1] किन्तु तासी साहब तो उर्दू के जवांदां थे ? तो फिर ?

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो डा० गिलक्राइस्ट द्वारा खड़ी बोली के 'प्योर', स्टर्लिंग, टंग, पर्टिक्युलर ईडियम आदि विशेषण ही प्रच्छन्न रूप से इस गलतफहमी का कारण बने। तासी साहब का sans melange de mots arbes un persans पदांश डा० गिलक्राइस्ट के nearly a total exclusion of Arabic and persian का भाषान्तर-मात्र था, और 'प्योर' को उन्होंने ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। तासी साहब की नासमझी बस इतनी ही हुई कि उन्होंने इसे 'खड़ी' का विशेषण न मानकर शब्द का 'अर्थ' कल्पित कर लिया। सम्भवतः इस 'प्योर' को ही फिट बैठाने के लिए उन्हें 'खड़ी' को 'खरी' कर देना पड़ा।

तासी के बाद ईस्टविक, प्लेट्स, बेली आदि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न वर्षों के लिए भी डा० गिलक्राइस्ट के 'प्योर', स्टर्लिंग, आदि ईडियम शब्दों से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। डा० गिलक्राइस्ट ने प्योर, स्टर्लिंग तथा 'खरा' के अनेक अर्थ बताए हैं, जिनमें से कतिपय विषय की दृष्टि से उल्लेखनीय है। जैसे :

Pure=saf (साफ) nirmal (निर्मल) clear, genuine, real.
usl (अस्ल) Khalis (खालिस) theth (ठेठ)
Sterling=standard, Genuine
Khalis (खालिस) nirala (निराला) poora (पूरा)[2]
खरा—Khura—honest, genuine.

इस्टविक ने देखा कि 'खरा' का जैनुइन 'प्योर' एवं 'स्टर्लिंग' में भी विद्यमान है, अतः उन्होंने pure and genuine when it "खरा" स्पष्ट करके कोश में the true genuine language i. e. pure language खड़ी बोली शब्द के अर्थ-रूप में ही दे दिए। जॉन प्लेट्स ने तासी का 'प्योर' तथा गिलक्राइस्ट का 'ईडियम' 'पर्टिक्युलर ईडियम और स्टाइल' से तो ले लिया, किन्तु ईस्टविक द्वारा कल्पित 'जैनुइन' का तिरस्कार कर दिया। इस प्रकार इन्हीं तीन-चार शब्दों को लेकर बेली, चन्द्रबली पाण्डेय, जायसवाल, शितिकण्ठ मिश्र आदि विद्वानों ने अपने से पूर्व प्रतिपादित मतों की आलोचना-प्रत्यालोचना की; उनका खण्डन-मण्डन किया और अपनी-अपनी रुचि एवं धारणानुसार विभिन्न अर्थ कर डाले। डा० बेली ने 'खड़ा' को करंट तथा आस्टेब्लिश्ड आदि अर्थों का द्योतक बताया। चन्द्रबली पाण्डेय ने 'जैनुइन' या 'प्रकृत' को ही सर्वथा साधु अर्थ कहा। और माताबदल जायसवाल तथा डा० शितिकण्ठ मिश्र को डा० बेली का प्रचलित (करेन्ट) अर्थ 'खड़ी' की उचित व्याख्या प्रतीत हुई।

प्लेट्स द्वारा किये गए अर्थों में 'वल्गर' शब्द भी गिलक्राइस्ट की ही देन है। डा० साहब ने प्रयोग-भेद के आधार पर हिन्दुस्तानी की तीन प्रचलित शैलियां निर्धारित की थीं, जिनमें से तीसरी प्रकार की 'हिन्दवी' शैली को 'वल्गर' कहा। किन्तु स्मरण रहे, डा० गिलक्राइस्ट ने यह शब्द अपने पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों एवं लेखकों से ही सीखा था। इसके प्रमाण में हाब्सन-जाब्सन में दिए अनेक अवतरण उद्धृत किये जा सकते है। जब तक फारसी राज-दरबार की भाषा रही, आम बोलचाल में व्यवहृत होने वाली तथाकथित 'हिन्दुस्तानी' या 'मूर्स' विदेशियों द्वारा 'वल्गर' कहलाती रही। किन्तु जब वही 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'उर्दू' शिष्ट एवं शिक्षित व्यक्तियों की भाषा हो गई, तब डा०

---

१. Use and meaning of the term Khari Boli. P. 717-723. Journal of the Royal Asiatic Society, Oct. 1926; T. G. Bailey, (also see—Historic de la litrature Hindo Vie et Hindoustanhie- P. IV Vol. I, Ist edition. 1839 and P. 307, 2nd edition, 1870)

२. oriental Linguist—by Gilchrist, Calcutta. 1798.

गिलक्राइस्ट के ही शब्दों में वह लेंग्वेज अथवा 'पाप्युलर स्पीच' कहलाई। हिन्दवी ही अशिक्षित (ग्रामीणों) की अभिव्यक्ति का माध्यम रह गई थी; अतएव डा० गिलक्राइस्ट ने उसे 'वलगर' हिन्दवी कह डाला। यही शब्द प्लेट्स ने 'खड़ी' शब्द के विशेषण रूप में दे दिया। डा० अब्दुल हक़ ने 'खड़ी' और 'खरी' में फर्क बताकर भी डा० गिलक्राइस्ट द्वारा प्रयुक्त स्टर्लिंग शब्द के स्टैण्डर्ड अर्थात 'आममुस्तनद' जबान प्रस्तुत किए।

हिन्दी साहित्य में सुधाकर द्विवेदी आदि का 'खरी बोली' सूखी हिन्दी आदि अर्थ करने का कारण बहुत स्पष्ट है। प्रेमघन, द्विवेदी, वाजपेयीजी आदि सब साहित्यकार व्रजभाषा-प्रेमी थे। उन दिनों 'खड़ी बोली बनाम व्रजभाषा' आन्दोलन जोरों पर था; विशेष आश्चर्य नहीं जो उन्होंने व्रजभाषा के माधुर्य के कारण इसे खरी-खोटी अथवा सूखी हिन्दी आदि अर्थों में प्रयुक्त किया हो। वास्तव में ऐसे व्रजभाषा-प्रेमियों की विचारधारा से प्रभावित होकर ही वंशीधर विद्यालंकार ने 'खड़ी' की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'खर' शब्द तक खींच कर उसके सख्त, कठोर और खुरदुरा अर्थ किए। यह उन्होंने उसी लेख में आगे चल कर स्पष्ट भी कर दिया है कि इसका सिर्फ यही मतलब है कि उस जबान को उस जमाने के हिन्दीदाँ व्रजभाषा के मुकाबले में न तो मीठी समझते थे और न उसमें वह सलाहियत थी जो व्रजभाषा में थी। इसका गैर-शुस्तापन और करख्तगी व्रजभाषा के मुकाबले में थी। लल्लूजीलाल जहां के रहने वाले थे वहां खड़ी के लफ्ज से वही मायने लिये जाते हैं। दिल्ली, आगरे के इलाकों में आज 'खड़ी' का लफ्ज गैरशुस्ता और कर्ख के मायने में इस्तैमाल होता है इसलिए अगर उन्होंने इस लफ्ज को उन्हीं मानों में इस्तैमाल किया हो तो कुछ ताज्जुब की बात नहीं।[१] शायद कुछ इसी करख्तगी की वजह से 'नूर-उर-लुगात' में खड़ी बोली की व्याख्या इस प्रकार की गई है, 'मरदों के लबो-लहजे में जो गुफ्तगू की जाती है उसको खड़ीबोली कहते हैं।'[२]

एक बात और। मौलाना अब्दुल हक़ ने खड़ी बोली को 'गंवारी बोली' कहा है।[३] इनसे पूर्व डा० ग्रियर्सन भी अपने भाषा-सर्वे में इसे 'गंवारी बोली' के नाम से प्रचलित बता चुके थे।[४] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस 'गंवारी' शब्द का डा० गिलक्राइस्ट के 'वलगर' शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि उस समय तक 'वलगर' शब्द सामान्यतया भाषा के साथ एवं 'गंवारी' नहीं, 'अपितु प्रकृत, आमफ़हम, प्रसिद्ध, मशहूर' आदि अर्थों में इस्तेमाल किया जाता था। कोलब्रुक ने 'प्राकृत' भाषा का समानार्थक अंग्रेजी शब्द 'वलगर' दिया है।'[५] और गिलक्राइस्ट ने 'वलगर' के 'आम, प्रसिद्ध, प्रकट, मशहूर' आदि अर्थ दिए हैं।[६] वास्तव में उनका तात्पर्य उसी बोली से होता था जो 'ठेठ' रूप में शिक्षित एवं अशिक्षित वर्गों द्वारा आम तौर पर भावाभिव्यक्ति के लिए उपयोग में लाई जाती थी और जिसे गांव का बच्चा-बच्चा समझता था। अतएव डा० गिलक्राइस्ट 'वलगर हिन्दी' का अर्थ केवल आम, प्रसिद्ध या मशहूर 'हिन्दवी' आदि अर्थों तक ही सीमित रखा जा सकता है।

खड़ी बोली के साथ 'गंवारी' शब्द जोड़ने में सबसे बड़ा हाथ मौलाना अब्दुल हक़ के पूर्ववर्ती उर्दू-समर्थकों का है। सन् १८३७ में 'उर्दू' सब प्रान्तों के दफ्तरों की भाषा घोषित की जा चुकी थी। जब स्कूली शिक्षा के प्रबन्ध में भाषा का प्रश्न उठा तो वहां से भी खड़ी बोली को दूर रखने का जागरूक प्रयत्न किया गया। खड़ी बोली के विरोधियों में सबसे प्रखर स्वर सैय्यद अहमद खां (१८१७-१८९८) का था। कहते हैं कि वह हिन्दी को एक 'गंवारी बोली' बता

---

१. उर्दू : अप्रैल १९३४, जिल्द १४, हिस्सा ५४, सफा ४७१-४७८; 'खड़ी बोली' : वंशीधर विद्यालंकार
२. नूर-उल-लुगात : जिल्द ४, मौलवी नैय्यर-उल-हसन, नैय्यर प्रेस, लखनऊ १९२९ (प्र० सं०)
३. उर्दू : जनवरी १९३४ (औरंगाबाद) जिल्द १४, हिस्सा ५३, सफा १९०, नोट
४. Linguistic survey of India. P. 291. Vol. 9, Part I—Grierson.
५. on the sanskrit and prakrit Laguages. by H. T. Colebrooke, P. 220, Asiatic Researches. Vol. VIII. 1803. P. 220.
६. Hindoostani philology. Vol. I, Gilchrist. 1810.
see—vulgar [and also oriental Linguist, Calcutta 1798.]

कर अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते जा रहे थे।[1] उस युग के मौलवी और अन्य उर्दूदाँ 'खड़ी बोली' को किस प्रकार घृणा की दृष्टि से देखते थे और १८७६ तक 'गंवारी' विशेषण किस उदारता से खड़ी बोली के साथ प्रयुक्त होने लगा था, यह फ़ैलन साहब के 'इंगलिश हिन्दुस्तानी ला एण्ड कमर्शल डिक्शनरी (१८५८)' तथा 'ए न्यू हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिक्शनरी' (१८७६) की भूमिका पढ़ने से ज्ञात हो जाता है।[2] अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संगृहीत 'खड़ी बोली का पद्य' नामक पुस्तक के भूमिका-लेखक फ़्रेड्रिक पिंकोट ने भी इसकी ओर संकेत किया था।[3] इधर हिन्दी साहित्य में भी 'खड़ीबोली बनाम ब्रजभाषा आन्दोलन' चल चुका था और ब्रजभाषा-प्रेमियों का एक दल इसे 'डाकिनी, पिशाचिनी, बांस, भद्दी बोली, बाजारू भाषा' आदि कहकर तिरस्कृत कर रहा था। खड़ीबोली-विरोध के ऐसे युग तथा ऐसी परम्परा में डा० ग्रियर्सन एवं मौलाना अब्दुल हक़ आदि का 'खड़ी बोली' को 'गंवारी' का पर्यायवाची कह डालना कुछ आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता।

निष्कर्ष—सत्य तो यह है कि लल्लूजीलाल, सदलमिश्र, डा० गिलक्राइस्ट आदि किसी ने भी दिल्ली-आगरा की इस बोली के लिए 'खड़ी' शब्द का उपयोग उपर्युक्त अर्थों में से किसी में किया नहीं था। १८५० तक जितने भी हिन्दुस्तानी-इंगलिश कोश प्रकाशित हुए, किसी में खड़ी बोली का उल्लेख तक नही मिलता। टेलर-हंटर कृत 'हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश डिक्शनरी' (१८०८), डब्ल्यू० सी० स्मिथ की 'ए डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश' (संक्षिप्त १८२०); टाम्पसन की 'ए डिक्शनरी उर्दू एण्ड इंगलिश' (१८३८) तथा डन्कन फोर्ब्स की 'डिक्शनरी हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश' (१८४८) आदि अधिकांश कोशों की भूमिका में उन ग्रन्थों के नाम गिनाये गए है जिनके आधार पर वे कोश तैयार किये गए थे। लगभग सभी में 'प्रेमसागर' का उल्लेख मिलता है। किन्तु इन कोशों में 'खड़ा', 'खरा' और 'खरी' के अर्थ केवल शब्दों के अर्थों तक सीमित है। टाम्सन एवं डन्कन फोर्ब्स ने अपनी डिक्शनरी में 'ब्रजभाषा' के अर्थ तो दिए है किन्तु 'खड़ी बोली' के अर्थ नहीं दिए। यही नहीं लैफ्टिनेन्ट विलियम प्राइस ने केवल 'प्रेमसागर' में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण शब्दों के आधार पर एक 'खड़ी बोली' और इंगलिश कोश (१८१४) तैयार किया था। इसकी भूमिका में कोशकर्ता ने 'खड़ी बोली' शब्द का उल्लेख तो किया है, किन्तु कोश में इसका अर्थ कहीं नहीं दिया। अन्य कोशों की तरह खरी-खड़ी का शाब्दिक अर्थ 'मिट्टी' ही दिया गया है। टेलर, रोएबक, रडैल, विलियम प्राइस आदि परवर्ती हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष एवं परीक्षकों ने खड़ी बोली के लिए 'ठेठ हिन्दवी' या 'हिन्दी' नाम का व्यवहार भी किया है।[4] यह 'ठेठ' भी डा० गिलक्राइस्ट के 'प्योर, स्टर्लिंग' आदि शब्दों की तरह 'खड़ी बोली' का विशेषण-मात्र था, खड़ी शब्द की व्याख्या नहीं। और ये विशेषण केवल उसके प्रकृत तथा जन-प्रचलित स्वरूप एवं सुगमता आदि गुणों की ओर संकेत करते है।

पं० कामताप्रसाद गुरु, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पं० किशोरीदास वाजपेयी आदि द्वितीय वर्ग के विद्वान 'खड़ी बोली' की आकारान्त प्रवृत्ति को ब्रजभाषा की ओकार-बहुला वृत्ति की तुलना में कर्णकटु एवं नीरस समझते है। उनकी धारणा है कि 'खड़ी' शब्द इस बोली के उल्लिखित अवगुणों का सूचक है। तात्पर्य यह है कि ये लोग भी पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एवं डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति भाषाविज्ञों के समान 'खड़ी' नाम ब्रजभाषा-सापेक्ष्य ही कल्पित करते है। अन्तर केवल इतना है कि पं० कामताप्रसाद, डा० वर्मा आदि इस 'खड़ी' को माधुर्य-गुणविहीन कल्पित करते हैं और

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४३३

२. (a) Dissertation-p. 19. An English Hindustani law and commercial Dictionary or words and Phrases—S. W. Fallon. Calcutta. 1858.

३. (b) Preface 3. A new Hindustani English Dictionary with and foiklore, Banaras. by S. W.Fallon. 1879.

४. J. Roebuck (examiner) An address to the Council pf. College of Fort Willian (16th Nov, 1812) P. 282-291, home Miscellaneous. Vol, IV.

डा० सुनीतिकुमार तथा गुलेरीजी आदि ब्रज, अवधी जैसी प्रान्तीय भाषाओं को 'पड़ी बोली' अभिहित कर 'खड़ी' नाम की सार्थकता बताते हैं।

किन्तु वस्तुस्थिति को देखते हुए 'खड़ी बोली' को ब्रज-सापेक्ष्य भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, जिसके अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम 'प्रेमसागर' की भाषा पर ही दृष्टिपात कीजिए। बोली के नाम-दाता लल्लूजीलाल ने अपना प्रेमसागर चतुर्भुज मिश्र-कृत ब्रजभाषा काव्य से खड़ी बोली में गद्यान्तरित किया था। उपर्युक्त भाषा-मनीषियों की धारणानुसार लल्लूजीलाल को खड़ी बोली के प्रकृत स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए ब्रजभाषा के संज्ञा, सविभक्तिक सर्वनाम, अव्यय, क्रियापद आदि प्रयोगों का बहिष्कार अभीष्ट होना चाहिए था; किन्तु लेखक ने डा० गिलक्राइस्ट के आदेशानुसार केवल 'यामिनी भाषा न आने देने' पर ही ध्यान जमाए रखा। कदाचित इसीलिए प्रेमसागर की भाषा अनेक स्थलों पर अत्यधिक 'ब्रजरंजित' है।

'वहां जाय देखे तो चित्रशाला में उजला बिछौना बिछा है। उस पर एक फूलों से संवारी अच्छी सेज बिछी है। तिसी पर हरि जा विराजें और कुबजा एक ओर मन्दिर में जाय उबटन लगाय, न्हाय-धोय, कंघी-चोटी कर, सुथरे कपड़ा गहने पहर आपको नख-सिख से सिंगार कर, पान खाय, सुगन्ध लगाय, ऐसे रोब-चाव से श्रीकृष्णचन्द्र के निकट आई कि जैसे रति अपने पति के पास आई होय।'[1] उपर्युक्त उद्धरण में 'जाय, तिसी, लगाय, धोय, होय' आदि प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

दूसरे यदि डा० गिलक्राइस्ट का उद्देश्य इसे ब्रजभाषा से पृथक करना होता तो वे 'यामिनी भाषा छोड़ने' का आदेश न देकर ब्रजभाषा छोड़ने का आग्रह करते। लालचन्द्रिका की भूमिका में लल्लूजीलाल ने रेखते की बोली, ब्रजभाषा और खड़ी बोली तीन भाषाओं का उल्लेख किया है। ब्रजभाषा-सापेक्ष होने पर केवल दो ही नामों का उल्लेख पर्याप्त होता। तीसरे भाखा-मुंशियों द्वारा रचित माधोनल कामकन्दला, शकुन्तला, सिंहासनबत्तीसी और बैताल पच्चीसी आदि ग्रंथों का ही अध्ययन पर्याप्त समझकर डा० गिलक्राइस्ट फोर्ट विलियम कालेज में भाषा-मुंशियों की नियुक्ति की मांग पेश न करते। क्योंकि इन रचनाओं की भाषा प्रेमसागर की खड़ी बोली से कहीं अधिक स्वच्छ एवं परिमार्जित है। उदाहरणार्थ, बैतालपचीसी की कुछ पंक्तियां देखिए :

१. 'इसके एक धोबी की लड़की अति सुन्दरी आती साम्हने से इसने देखी। उसे देख मोहित हुआ और देवी के दरशन को गया। दंडवत कर हाथ जोड़ उसने अपने मन में कहा, 'हे देवी, जो इस सुन्दरी से मेरा विवाह तेरी कृपा से हो तो मैं अपना सिर तुझे चढ़ाऊं।'—छठी कहानी

२. 'तब मनस्वी बोला, 'संसार में भगवान ने बहुत रत्न पैदा किए हैं पर स्त्री-रत्न सबसे उत्तम है। और उसी के लिए मनुष्य धन की इच्छा करते हैं। जब नारी को त्यागा तो धन लेके क्या करेंगे; जिनको हसीन औरत मुयस्सर न हो उनसे संसार में पशु भले हैं। धर्म का फल है धन, और धन का फल है सुख; और सुख का फल है नारी।'[2] —बैताल पच्चीसी, चौदहवीं कहानी।

खड़ी बोली व्याकरण की दृष्टि से इनमें कोई दोष नहीं है। हां हसीन, मुयस्सर, ग़रज़, इत्तिफ़ाक आदि यामिनी शब्द आ गए हैं। इन्हीं पर डा० गिलक्राइस्ट को आपत्ति हुई। क्योंकि उनका विचार तो यह था कि खड़ी बोली ब्रजभाषा का माडिफिकेशन (संशोधित रूप) मात्र है।[3] और खाय, बुलाय, चलाय अथवा बिनका, परखा, पुनि भई आदि शब्दों का सन्निवेश हो जाना स्वाभाविक है। अन्यथा प्रेमसागर की ब्रजरंजित भाषा को फोर्ट विलियम कालेज के विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तक के रूप में कदापि स्वीकार न किया जाता।

इसके अतिरिक्त खड़ी बोली और हिन्दुस्तानी (उर्दू) का उदाहरण डा० गिलक्राइस्ट ने अपने 'पालिग्लौट

---

१. प्रेमसागर : ४६वां अध्याय, पृ० १५८; ब्रजरत्नदास

२. Hindi and Hindoostanee Selections—Vol. I, William Price.
(बैताल-पच्चीसी–P. 33. 51) Hindoostani Press, 1827

३. Orient

फैन्यूलिस्ट' में दिया है। जिस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जायगा कि अरबी-फारसी वहिष्कृत भाषा को ही वे खड़ी वोली कहते थे—

खड़ी बोली

'एक समय किसी नगर में चर्चा फैली कि उसके पड़ोस के पहाड़ को प्रसूति की पीर हुई। और कहते है कि अति आह कर कराहने का शब्द उससे सुना जाता था। और सब की ध्यान उसी पर थी कि कुछ अनूठी वस्तु छिन एक में प्रसिद्ध होगी। अधिक चाओ से लोगों की भीड़ उस नये कौतुक के देखने को इकट्ठी थी। एक तो तक रहा था कि कोई देवयत जनेगा, दूसरा इस बात पर कि कोई अद्भुत राक्षस होगा।'

हिंदुस्तानी

'एक बार किसी शहर में यूं शुहरत हुई कि उसके नजदीक के पहाड़ को जनने का दर्द उठा। और कहते है कि बहुत आह-औ-नाले की आवाज उससे सुनी जाती थी। और सब किसी पर नजर थी कि कुछ अनूठी चीज अनक़रीब जाहिर होगी। बड़े शौक़ से आदमियों की भीड़ उस अजायब तमाशा देखने जमा थी। एक तो मुन्तजिर था कि कोई देव पैदा होगा। दूसरा इस बात पर कि कोई अनोखा राकस होगा।'[1]

वास्तव में यही 'रेखता' अर्थात् हिन्दुस्तानी तथा हिन्दवी यानी खड़ी वोली में अन्तर भी था। और कदाचित इसी आधार पर उन्होंने 'रेखता' को मिश्रित (मिक्सड) बोली और हिन्दवी को शुद्ध (प्योर) कहा था। यही नहीं, फैलन और देवीप्रसाद आदि ने भी अपने निबन्ध एवं व्याकरण आदि में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं उनमें हिन्दुस्तानी और हिन्दी का अन्तर अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्दों के प्रयोगों द्वारा ही स्पष्ट किया गया है। फैलन अपने निवन्ध में हिन्दी की मौलिक क्रियाओं का उल्लेख करते हुए कहते है कि 'प्रश्न किया जा सकता है कि अरबी के' हासिल करना, मनक़लीव करना, मुतग़यार करना, फ़तेह, गैरमुमकिन, नामुकम्मल आदि हिन्दी के अधिक परिचित क्रियापदों पाना, पलटना, वदलना, जीत, अनहोनी, अधूरा आदि से किस प्रकार अच्छे है?[2] इसी प्रकार के उदाहरण देवीप्रसाद ने भी अपने व्याकरण में दिए हैं :

उर्दू—तुम्हारे उस्ताद के नजदीक पढने आया हूं।

हिन्दी—तुम्हारे गुरु के समीप अध्ययन करणे आया हो।

उर्दू—मौलवी साहब घर में है या ना? किस तरह खवर पावे कि मैं मुलाकात को आया हूं उनकी।

हिन्दी—मलोवि साहब घर में है कै नहीं? कसि भांति संवाद पावें कि मे साक्षात को आया हो।[3]

सम्भवतः इसीको देखकर डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि—'वे महोदय (डा० गिलक्राइस्ट) अरबी-फारसी हटाकर और उनके स्थान पर हिन्दी-शब्द भरती करवा कर एक उर्दू की ही किताब लिखवाना चाहते थे।'[4] और जैसा कि खड़ी बोली की व्युत्पत्ति के प्रकरण में दिखाया भी जा चुका है। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी-अध्यक्ष बहुत समय तक हिन्दुस्तानी के ज्ञान के लिए व्रजभाषा-व्याकरण का अध्ययन ही पर्याप्त समझते रहे थे। परिणामस्वरूप 'मैं मार्‌यो जातो हो' ओकारान्त वाक्य एवं 'मै मारा जाता हूं'—आकारान्त वाक्य में विशेष अन्तर नहीं देखा। अतएव यह कहना कि व्रजभाषा की ओकारान्त प्रवृत्ति की तुलना में आकारान्त प्रवृत्ति तथा व्रजभाषा के माधुर्य एवं कोमलता आदि गुणों की समता में कर्कशता-परुपता जैसे अवगुणों के कारण खड़ी वोली नाम दिया गया, यह कल्पना निस्सार प्रतीत होती है।

---

१. An English Hindoostani Law and Commercial dictionary of words and Phrases. P. 15. Dissertation–S. W. Fallon. Calcutta. 1858.

२. Debi Prasads Polyglot grammer and exercises. P. 59. (in persian) English Arabic, Hindee, Oordoo and Bengali). Calcutta. 1854.

३. The Satsaiy of Bihari P. 12. (Lal Candrika)—Grierson.

४. The Satsaiy of Bihari P. 12. (Lal Candrika)—Grierson.

तब फिर विचारणीय प्रश्न यह कि खड़ी बोली को ब्रजभाषा-सापेक्ष मानने की धारणा किन कारणों से बद्धमूल हुई ? जैसा कि पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने स्पष्ट ही कहा है इसका कारण ब्रजभाषा और खड़ी बोली का द्वन्द्व था।[1] भारतेन्दु-काल में जिस समय खड़ी बोली को काव्य का माध्यम स्वीकृत करने का प्रश्न उठा, तब ब्रजभाषा के कुछ प्रेमी केवल लालित्य के परिरक्षण के लिए ब्रजभाषा को हिन्दी साहित्य में बनाये रखने के पक्षपाती रहे। प्रतापनारायण मिश्र, शिवनाथ शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि कवि-आलोचक ब्रजभाषा की रसपूर्णता के समक्ष खड़ी बोली को काव्यभाषा बनाना युग का दुराग्रह-मात्र समझते थे।

इसके अतिरिक्त इन तथाकथित गुण-अवगुणों का आरोप 'खड़ी' शब्द पर किसी प्रकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह आन्दोलन खड़ी बोली नामकरण के लगभग पचहत्तर वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ था। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्रज-अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओं का नाम कभी भी 'पड़ी बोलियां' नहीं रहा। अतएव डा० सुनीतिकुमार, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि की तद्विषयक धारणा में कोई बल नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है कि प्रेमसागर ब्रजभाषा से नहीं, अपितु 'हिन्दुस्तानी' या 'रेख्ता' से पृथक् करने के लिए रचा गया था। जो शब्द-भेद से ब्रजरत्नदास के 'रेख्ता' के वजन पर 'खड़ी बोली' नामकरण मत का समर्थन करता है।[2]

इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि किसी भाषा के नामकरण का प्रायः क्या आधार होता है ? संसार की विभिन्न भाषाओं के नामों पर दृष्टिपात करने से भाषा-नामकरण के तीन आधार लक्षित होते हैं :

(१) भाषा का नाम—जाति अथवा देशपरक होता है। जैसे ग्रीक, जर्मन, इंगलिश, इटैलियन, मराठी, गुजराती, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि।

(२) भाषा का नाम गुणपरक हो सकता है। जैसे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि।

(३) भाषा का नाम किसी भाषा के वजन पर भी रख दिया जाता है। जैसे पिंगल के वज़न पर डिंगल।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है और डा० श्यामसुन्दरदास ने भी कहा है 'खड़ी' शब्द किसी स्थान, देश अथवा जाति का द्योतक नहीं है। यह शब्द किसी प्रकार के गुण या अवगुण पर भी प्रकाश नहीं डालता। अतः अब एक ही सम्भावना शेष रह जाती है कि 'खड़ी' नाम किसी प्रचलित बोली के नाम के वज़न पर रखा गया। बाबू ब्रजरत्नदास का कहना है—'खड़ी' नाम रेखता अथवा गिरी-पड़ी अर्थों के वज़न पर रखा गया होगा। वास्तव में यही एक कारण हो भी सकता है क्योंकि रेख़्ता शब्द से पृथक करने के लिए ही 'खड़ी बोली' नये नाम की आवश्यकता पड़ी थी और गिलक्राइस्ट ने अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा से विदेशी शब्दों के बहिष्कार द्वारा खड़ी बोली का प्रकृत स्वरूप निश्चित किया था। रेख़्ता शब्द की अर्थगत व्याख्या इस मत को और पुष्ट कर देती है। मुहम्मद हुसेन आजाद ने 'आबेहयात' में रेख़्ता शब्द के अर्थ इस प्रकार दिए हैं :

'रेख़्ता के माने है गिरी, पड़ी, परीशान चीज़। क्योंकि इसमें लफ्जे-परीशान जमा है इसलिए इसे रेख़ता कहते हैं। यही सबब है कि इसमें अरबी-फारसी-तुर्की वग़ैरह कई जबानों के अल्फ़ाज़ शामिल हैं और अब अंगरेजी भी दाख़िल होती है।'[3]

'फ़रहंगे आसफियां' में इसकी पहली सिफ्त गिरा हुआ और बिखरा हुआ बताई गई है।[4] 'नूर-उल-लुगात' में भी मुहम्मद हुसैन आज़ाद की बात ही दोहरा दी गई है, अर्थात् 'रेख़्ता के माने हैं गिरी, पड़ी, परीशान चीज। क्योंकि

---

१. उर्दू का रहस्य—पृष्ठ ६६, खड़ी बोली की निरुक्ति —चन्द्रबली पाण्डेय

२. खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०-११ —ब्रजरत्नदास

३. आबेहयात, सफ़ा, २१, मुहम्मद हुसैन आज़ाद, आज़ाद बुक डिपो, लाहौर

४. रेख़्ता—सिफ्त—१. गिरा हुआ, चकीदा, टपका हुआ, बेसाख्ता, निकला हुआ, जिला तक्लीफ़ या बिला तसनीह, जबान से निकला हुआ।
२. जिसका हुआ, मुन्तशिर, परेशान।

उस जवान में अरबी-फारसी, तुर्की वगैरह कई जवानों के अल्फ़ाज शामिल हैं इसलिए रेख्ता कहलाती है।'[1] सैयद एहतिशाम हुसैन ने भी 'रेख्ता' का अर्थ मिला-जुला, गिरा-पड़ा या पक्का दिया है।[2] फ्रांसिस जानसन तथा स्टैन गैस के फारसी-अंग्रेजी शब्दकोशों में रेखता की व्युत्पत्ति फारसी के रेख्त: से बताकर उसके अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं।

रेख्ता—रेख्त:=Poured, spilled, scattered, a mass made by spilling anything.

जवाने रेख्ता=a gibberish, a mixed language-name given to Hindustani language.[3]

रेख्ता के उपर्युक्त अर्थों से जो 'गिरी-पड़ी' अर्थ निकलता है वह 'खड़ी' शब्द के नामकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लल्लूजीलाल को 'खड़ी' नाम देने का स्फुरण सम्भवत: रेख्ता के गिरी-पड़ी अर्थ के वजन ही हुआ था।

खड़ी बोली की व्युत्पत्ति एवं अर्थों से सम्बन्धित विभिन्न मतों एवं व्याख्याओं की युक्ति-युक्त मीमांसा करने के उपरान्त सारांशत: कहा जा सकता है कि लल्लूजीलाल-कृत प्रेमसागर से पूर्व 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग यद्यपि हिन्दी साहित्य के किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता; तथापि निश्चित है कि यह बोली भारत में स्थान एवं स्वरूप-भेद से हिन्दवी, हिन्दुई, रेख्ता, हिन्दुस्तानी आदि अनेक नामों से प्रचलित थी। मुसलमान जाति से शताब्दियों तक सम्पर्क में आने के कारण इस बोली में शनै:-शनै: अरबी-फारसी आदि विदेशी शब्दों का सन्निवेश होता गया। अठारहवीं शती के अन्त तक यह मिश्रित भाषा शिष्ट एवं शिक्षित जनसमुदाय की अभिव्यक्ति का माध्यम हो चुकी थी। किन्तु इसका ठेठ रूप दिल्ली-मेरठ और उसके आसपास के गांवों में तब भी बोला जाता था। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दुस्तानी डा० गिलक्राइस्ट ने रेख्ता या हिन्दुस्तानी की इसी आधारभूत बोली में लल्लूजीलाल को प्रेमसागर तथा सदल मिश्र को नासिकेतोपाख्यान लिखने का आदेश दिया था। इसका मिश्रित रूप उर्दू-काव्य की तरह हिन्दी-काव्य में भी प्रयुक्त होता था और दोनों शैलियों में यह 'रेख्ता' नाम से ही जानी जाती थी। इस रेख्ता नाम का एक तो हिन्दी साहित्य में पर्याप्त प्रचार न था, दूसरे फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष और विद्यार्थी इसे उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी के पर्याय में प्रयुक्त करते थे, इसलिए लल्लूजीलाल ने उसी 'रेख्ता' शब्द के गिरी-पड़ी अर्थ के वजन पर अरबी-फारसी युक्त इस बोली को 'खड़ी' नाम दे दिया। और पिंगल के वजन पर निर्मित शब्द 'डिंगल' की जिस तरह परवर्ती काव्य में अनेकानेक व्याख्याएं की गई उसी प्रकार 'खड़ी बोली' शब्द के भी विभिन्न अर्थ कर डाले गए। गिलक्राइस्ट महोदय ने खड़ी बोली भाषा के लिए जितने विशेषणपरक शब्दों का इस्तेमाल किया था, परवर्ती विद्वानों ने उन्हीं विशेषणों के आधार पर 'खड़ी' शब्द के अर्थ घटित कर लिये। वस्तुत: उन अर्थों से इस शब्द (खड़ी बोली) का कोई सम्बन्ध न था।



१. नूर-उल-लगात—मौलवी नैय्यर—उल-हसन, नैय्यर प्रेस लखनऊ, १९२९ प्रथम संस्करण

२. उर्दू साहित्य का इतिहास पृ० ६२, सैयद एहतिसाम हुसैन, अनजुमन तरक्कीए उर्दू (हिन्दी) अलीगढ।

३. (a) A Dictionary Perrsian, Rrabia and English-Francis Johnson.
(b) Persian English Dictionary, F. Steingass. Kengan Paul Trench Trubner & Co., London (3rd inp.)

खड़ी बोली का ब्रजभाषाकरण

डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी

आधुनिक बोलचाल की ब्रजभाषा पर स्टैण्डर्ड हिन्दी का प्रभाव दिन-दिन बढ़ता जाता है। व्याकरण-रूप, शब्द-समूह, यहां तक कि वाक्य-विन्यास में भी इस प्रभाव की छाया देखी जा सकती है। पर इस प्रभाव का एक दूसरा ही रूप वहां द्रष्टव्य है जहां शिक्षित वर्ग की बोली में स्वतः स्टैण्डर्ड हिन्दी अथवा खड़ी बोली का ब्रजभाषाकरण हो जाता है। खड़ी बोली के ब्रजभाषाकरण से तात्पर्य यह है कि स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द-रूपों और प्रयोगों का ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक और व्याकरणगत प्रकृति के अनुकूल प्रयोग। आगरा जिले की बोली के जो नमूने लेखक ने एकत्र किए हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि इस क्षेत्र के काफी शिक्षित और संस्कृत लोग अब भी आपस की बोलचाल में ब्रजभाषा का प्रयोग करना पसन्द करते हैं; पर उनके भाव आधुनिक चिंतन से सम्बद्ध हैं, जिन्हें ठेठ ब्रजभाषा में समुचित रूप से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका फल यह होता है कि वक्ता के विचार तो स्टैण्डर्ड हिन्दी की शैली से लिये होते हैं, पर उन्हें ब्रजभाषा में ढाला जाता है। कहीं-कहीं तो लगभग स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द-प्रयोगों और मुहावरों का ब्रजभाषा में अनुवाद-सा कर दिया जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहां अंग्रेजी के वाक्य-विन्यास और लहजे को अपनाने का बिना सजग हुए प्रयास किया गया है।

भाषा काफी हद तक वक्ता की संवेदना को नियमित और निर्धारित करती है। इस दृष्टि से ठेठ ब्रजभाषा बोलने वाले की संवेदना आधुनिक संदर्भ में सीमित और संकीर्ण ही कही जायगी। शिक्षित लोग जब आपस में ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं तो उनकी संवेदना और भाषा-गत रूप में तारतम्य नहीं दिखाई देता। उनकी संवेदना अपेक्षाकृत विकसित है, जिसे ब्रजभाषा कदाचित ठीक-ठीक वहन नहीं कर पाती। फलतः वे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कभी-कभी स्टैण्डर्ड हिन्दी का ब्रजभाषाकरण करते हैं।

ब्रजभाषाकरण की यह प्रवृत्ति मुख्यतः दो रूपों में देखी जा सकती है। एक तो स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्दों को लेकर उनका व्याकरण-सम्बन्धी परिवर्तन ब्रजभाषा के नियमानुसार करना, और दूसरे उन शब्दों का उच्चारण ब्रजभाषा की ध्वनि-प्रकृति के अनुकूल करना। स्पष्ट ही यह ब्रजभाषाकरण शब्द-प्रयोगों के क्षेत्र में ही सीमित है। पर कहीं-कहीं मुहावरों और शैली में भी परिलक्षित होता है। नीचे इस ब्रजभाषाकरण के कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं:

१ **सत्याग्रहन् कों जोर हैं**—इस वाक्य में स्टैण्डर्ड हिन्दी के शब्द **सत्याग्रह** को लेकर उसका बहुवचन ब्रजभाषा के नियम से बनाया गया है।

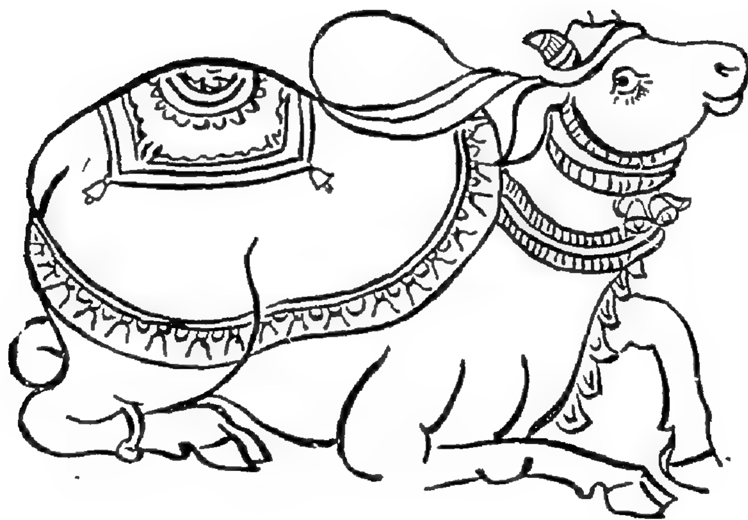
२. **प्रस्तावनि में प्रस्ताव धरे हैं**—इस वाक्य में भी **प्रस्ताव** शब्द का बहुवचन ब्रजभाषा के अनुसार है।

३. **हमऊँ उनिकी बातन् सें प्रभावित भए**—इस वाक्य में संयुक्त क्रिया मूलतः स्टैण्डर्ड हिन्दी की है। पर **प्रभावित हुए** के स्थान पर **प्रभावित भए** करके प्रयोग का ब्रजभाषाकरण किया गया है।

४. **ब्यौंसाय कछु हैं नांए**—खड़ी बोली की संज्ञा **व्यवसाय** में आदि स्वर **अ** को ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक प्रकृति के अनुकूल **औं** (व्यः व्यौं) कर लिया गया है। ब्रज में पहले भी संस्कृत-तत्सम व्यापार से **ब्यौंपार या ब्यौंपारी** जैसे शब्द मिलते हैं। पर **ब्यौंसाय** अपेक्षाकृत आधुनिक जान पड़ता है।

५. **आंदोलननि कों इतिहास बताउत हैं**—इस वाक्य के प्रथम शब्द में बहुवचन के लिए ब्रजभाषा का नियम तो अपनाया ही गया है, पर उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्टैण्डर्ड हिन्दी के एक विशिष्ट शैलीगत प्रयोग **'बताता है'** का **'बताउत हैं'** करके ब्रजभाषाकरण किया गया है। इस प्रकार के प्रयोगों में परसर्ग तथा क्रिया-सम्बन्धी रूप आदि ही ब्रजभाषा के रह जाते है, मूल भाव स्पष्टतः खड़ी बोली का दिखाई देता है।

ब्रजभाषा के एक अत्यन्त सफल आधुनिक कवि ने एक स्थल पर कहा है—**'पूछें अतो पतो'**। यहां पर खड़ी बोली के मुहावरे को ब्रजभाषापन दिया गया है। साथ ही **'अता पता'** बदलकर उसका ओकारांत ब्रज रूप **अतो पतो** कर दिया गया है। ऐसे प्रयोग बोलचाल की भाषा में भी मिल जाते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि ब्रजभाषाकरण की यह प्रवृत्ति शिक्षितों की परस्पर बातचीत में ही विशेषतः मिलती है। किसी अशिक्षित ग्रामीण से बात करते समय शिक्षित ब्रजभाषी अपनी बोली में अपेक्षाकृत ठेठ शब्दों के प्रयोग की अधिक चिंता करता है।



भाषा-ध्वनि-विज्ञान का मूल तत्त्व

डा० सिद्धेश्वर वर्मा

वर्तमान युग में विज्ञान का इतना विस्तार हो गया है कि एक ही घटना के विषयक अनेक विज्ञान उत्पन्न हो रहे हैं। इस लेख का प्रयोजन केवल मानव-भाषा की ध्वनियों तक संकुचित रहेगा। प्राचीन भारत में भाषा-ध्वनि-विज्ञान का नाम 'शिक्षा' था। यह नाम क्यों रखा गया? इसका उत्तर एक प्राचीन ग्रंथ 'शिक्षापंजिका' में दिया गया है—'शिक्षा वह है जिसके द्वारा वर्णोच्चारण सिखाया जाता है' (देखिए मनमोहन घोष-कृत 'पाणिनीय शिक्षा', पृष्ठ ४)। इस व्याख्या का आधार संस्कृत धातु 'शिक्ष्' है, जिसका अर्थ पाणिनीय धातुपाठ में 'विद्या ग्रहण करना' बताया गया है। स्वभावतः विद्या-ग्रहण का प्रारम्भ वर्णोच्चारण से ही होता है। अतः शिक्षा का प्रयोजन विशेष रूप में निम्नलिखित स्थलों से प्रतीत होगा :

(१) 'शिक्षा वह है जिसका प्रयोजन वर्णोच्चारण का ऐसा विशिष्ट ज्ञान है जिसमें उदात्तादि स्वर और ह्रस्वादिमात्रा भी सम्मिलित हों' (देखिए, मधुसूदन सरस्वती, वेबर-कृत 'भारतीय अध्ययन' और इण्डिश स्टूडीन Indische Studien, खंड १, पृष्ठ १६ में उद्धृत)।

(२) 'शिक्षा वह है जिसमें वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण-प्रकार का उपदेश किया जाता है' (सायण ऋग्वेद-भाष्यभूमिका से घोष-कृत पाणिनीय शिक्षा XXIX में उद्धृत)।

यद्यपि शिक्षा के उपरोक्त लक्षण पर्याप्त व्यापक हैं तो भी वर्तमान युग की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से न तो इतने स्पष्ट हैं, और न इतना विस्तार जतलाते हैं। भाषा-ध्वनि-विज्ञान का लक्षण वेब्स्टर के अंग्रेजी कोष में बड़ा सन्तोषजनक है, और वह यह है :

'ध्वनि-विज्ञान भाषांश रूप से गृहीत वर्णों का वह विज्ञान है जिसमें निम्न विचार किए जाते हैं : (१) उच्चारण-यत्न द्वारा वर्णों की उत्पत्ति; (२) वर्णों का श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण; (३) वर्णों की विशेषताएं जैसे मात्रा, स्वर, बल, श्राव्यता तथा समीपस्थ ध्वनियों द्वारा उसकी विकृति; (४) भाषा के वर्ण-विन्यासादि अन्य पक्षों के साथ उनका सम्बन्ध।' इस लक्षण को देखते ही पहले तो इसकी सर्वांगीणता स्पष्ट प्रतीत होती है, क्योंकि पहले तो यह वक्ता और श्रोता दोनों के पक्ष को सम्मुख रखता है और फिर वर्णों का लिखित हिज्जों के साथ सम्बन्ध भी जतलाता है। दूसरे शब्दों में यह लक्षण ध्वनि-विज्ञान का सारा प्रोग्राम हमारे आगे रख देता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि इस लेख का विषय मानव-भाषा की ध्वनियों तक ही संकुचित होगा। परन्तु यहां कुछ और भी संकोच करना होगा। प्राचीन वैदिक ग्रंथ तैत्तिरीय संहिता (५।१।६) में भाषा को प्राण का उच्चतम रूप बताया गया है, और इसी भाव को अधिक विस्तृत रूप से वेब्स्टर ने अपने कोष में ऐसे प्रकट किया है— 'भाषा उस श्वास अथवा नाद का नाम है जो जिह्वा-अवयवों की गति द्वारा वर्णों के रूप में प्रकटित और उद्गारित किया जाता है।' परन्तु ये दोनों लक्षण भाषा का आभ्यन्तर और चरम तत्त्व जतलाते हैं, क्योंकि अन्ततः श्वास और नाद ही भाषा के मूल तत्त्व हैं। किन्तु भाषा का वाह्य रूप भी जानना आवश्यक है। इस पक्ष को प्रसिद्ध ध्वनि-विज्ञ प्रोफैसर डेनियल जोन्ज़ अपने ग्रंथ 'वर्णत्व' (फ़ोनीम) १६५०, पृष्ठ १ में भाषा का निरूपण इस प्रकार करते हैं—'भाषा स्वरयन्त्र, मुख,

नासिका आदि द्वारा उन विविध शोरों (नोइजिज) के उच्चारण का नाम है, जिन्हें मानव-समाज ने विशिष्ट अर्थों का सांकेतिक प्रतीक मान लिया है। इस सारगर्भित वचन में भाषा का मूल तत्त्व वे क्रमरहित ध्वनियां बताई गई है जो किसी समाज में क्रमिक और संहित शब्द बनकर उस समाज के व्यावहारिक संकेत द्वारा अर्थ-विशेष का बोध कराती है। 'हिन्दीशब्दसागर' में भी कुछ इसी प्रकार का लक्षण किया गया है— 'भाषा व्यक्त नाद की वह समष्टि है जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक-दूसरे पर प्रकट करते हैं।' परन्तु यहां भाषा को 'नाद की समष्टि' श्रोता के दृष्टिकोण से कहा गया है, परन्तु वक्ता के दृष्टिकोण से भाषा उच्चारण-यन्त्र और वक्ता के प्रयत्न का फलविशेष है।



आदिकालीन हिंदी जैन साहित्य की प्राचीनतम कृति 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' और उसकी भाषा

डा० हरिशंकर शर्मा 'हरीश'

आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य में ११वीं शताब्दी में उपलब्ध होने वाली सर्वप्रथम और महत्त्वपूर्ण कृति 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' है। यह रचना एक उल्लास-प्रधान गीत है जिसे स्तुति भी कहा जा सकता है। गीत-मुक्तकों में इस प्रकार की अनेक रचनाएं परवर्ती साहित्य में विशाल संख्या में उपलब्ध होती हैं परन्तु प्रस्तुत रचना की भांति 'उत्साह'-संज्ञक रचनाओं का लगभग अभाव ही है। 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' एक अनुभूति-प्रधान गीति-रचना है जिसकी विषयवस्तु का सीधा सम्बन्ध इतिहास से है। गीति-रचनाओं में ऐतिहासिकता का समन्वय करने वाली रचनाओं की कड़ी में 'महावीर-उत्साह' को शीर्ष स्थान दिया जा सकता है।

'उत्साह' नाम से रचना के नाम व शिल्प का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है तथा न आगे ही इस नाम की अन्य कोई रचनाएं पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का कोई काव्यरूप भी परवर्ती रचनाओं में परिलक्षित नहीं होता। पूर्ववर्ती साहित्य में अर्थात संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में गीति-प्रधान रचनाएं तो पर्याप्त मिल जाती हैं, परन्तु 'उत्साह' संज्ञा-विशेष से किसी काव्यरूप का बोध कराने वाली कोई अन्य रचना नहीं मिलती। वस्तुतः अपभ्रंश से इतर पुरानी हिन्दी में सर्वप्रथम यही रचना उपलब्ध होती है जिसका कई दृष्टियों से महत्त्व है।

प्रस्तुत कृति का नाम 'उत्साह' है। उत्साह वीररस का स्थायी भाव है अतः इसकी निष्पत्ति किसी उल्लास या आल्हादक महोत्सव अथवा अन्य किसी घटना-विशेष के कारण ही हो सकती है। यह भी सम्भावना हो सकती है कि किसी चमत्कारिक दैवीय घटना, भक्ति का चरम आनन्द या उद्वेग होने पर ही कवि के ये हृदयोद्गार फूट निकले हों। यों परम्परा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्याश्रित जितने भी कवि होते थे, वे राजा की स्तुति या प्रशस्ति स्तवनस्वरूप गीत-वर्णन किया करते थे तथा राजा की विजय या पराभव के पश्चात पुनः राज्य-प्राप्ति के अवसर पर हर्षोल्लास और असीमित आनन्द में स्निग्ध स्तुतिमूलक रचनाओं का निर्माण किया करते थे। वस्तुतः उत्साह नाम इसीलिए सार्थक परिलक्षित होता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि उत्साहसंज्ञक रचनाओं का वस्तु शिल्प किसी काव्यरूप-विशेष के लिए रूढ़ नहीं है। यह तो एक स्तुतिमूलक गीतिरचना है जो कवि के आह्लाद-विशेष और उत्साह-विशेष की सूचना प्रस्तुत करती है। यों सरलता के लिए उसे वीररस-प्रधान स्तवन या गीत कहा जा सकता है परन्तु फिर भी संख्या में केवल एक होने से यह परिभाषा रूढ़ नहीं कही जा सकती। जो भी हो, यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की रचनाओं में एक स्वाभाविक तथा असाधारण उत्साह का उन्नयन होता है। वस्तुतः विशिष्ट प्रकार की कोई भी आह्लादक स्तुति 'उत्साह' नाम से पुकारी जा सकती है।

'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' का रचना-काल सं० १०८१ के लगभग है तथा इसके रचनाकार धनपाल हैं। इस कृति का सम्पादन श्री मुनि जिनविजय जी ने किया था और बहुत पहले यह रचना प्रकाशित भी हो गई थी।[1] पर इस रचना को अपभ्रंश तथा प्राचीन राजस्थानी समझकर इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु परिशीलन

१. जैन साहित्य संशोधक, सं० १६८४, पृ० २४४, सम्पादक मुनि जिनविजय।

करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कृति अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के बीच की एक कड़ी है और इसके द्वारा अपभ्रंश और हिन्दी के शब्द-रूपों के बीच में एक विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। इस दृष्टि से इस रचना का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

प्रस्तुत स्तुति का स्थान सत्यपुर है, महावीर की मूर्ति इसी स्थल पर वर्णित है। सत्यपुर मारवाड़ का 'सांचौर' नामक स्थान था। यह स्थान अब भी जोधपुर राज्य के दक्षिण भाग में है। सत्यपुर सांचौर का संस्कृत रूप है और सच्चउर > प्राकृत है जिसका अपभ्रंश सांचौर हो गया। यही स्थान महावीर का एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राचीन तीर्थ है। सत्यपुर के लिए 'जगचिन्तामणि' ग्रंथ में "जयउ वीर सच्चउरि[१] मंडण" उल्लेख मिलता है तथा जिनप्रभ सूरि के विविध तीर्थ-कल्प में भी 'सत्यपुर की विशेपकल्प'[३] वताने का उल्लेख मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि सत्यपुर जैनियों का एक विशिष्ट तीर्थ था।

कृति की विषय-वस्तु स्तुतिपरक या धार्मिक है तथा घटना ऐतिहासिक। स्तवन या उत्साह का विषय श्री सत्यपुरीय महावीर की प्रतिमा है जिसका आक्रमणकारी के हाथ से बच जाना, मूर्ति के प्रभाव से आक्रमणकर्त्ता का पुनः लौट जाना आदि घटनाओं ने, जो उत्क्रांति और विध्वंस की प्रतीक है, श्रद्धालु भक्तों को गाने, नाचने, मूर्ति का यश वर्णन करने तथा किसी भी प्रकार अपनी हर्षोल्लासमयी भावनाओं के उद्वेग की उत्साहपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वाध्य किया। धनपाल का यह स्तवन उसी प्रतिक्रिया का प्रतिफल है। क्योंकि महावीर के दैवीय सामर्थ्य के कारण व्याकुल होकर गजनीपति चला गया और जैन संघ जव पूर्णतया परितुप्ट हुआ तो सब वीर भवणे पूजा, महिमा, गीत, नृत्य, वजित्र और द्रव्यों का दान आदि प्रभावनाएं करने लगे। वस्तुतः इसी प्रभावना-प्रसंग पर उपस्थित हो, महाकवि धनपाल ने अपनी भक्ति और उल्लास में डूब कर यह उत्साह-गीत प्रस्तुत किया होगा, ऐसा स्पष्ट होता है।

विषय-विवेचन की दृष्टि से विचार करने पर हमें रचनाकार की काव्यशक्ति का परिचय सहज ही मिल जाता है। धनपाल ने इस रचना का प्रारम्भ प्रार्थना से किया है। कवि ने महावीर के यश की विशालता का वर्णन किया है। महाकवि की इस कृति में यह स्पष्ट है कि विशाल पैमाने पर काव्यगत अलंकारों, छन्दों तथा अन्य कलापक्षीय उपादानों का अभाव है जो आदिकालीन अधिकांश रचनाओं में ही है, परन्तु फिर भी भाषा काव्यरूप तथा तत्कालीन समय में साहित्य की प्रामाणिक रचनाओं के रूप में सत्यपुरीय महावीर उत्साह जैसी छोटी कृतियों का भी पर्याप्त महत्त्व है। प्रस्तुत गीति-मुक्तक में एक अजस्र धारावाहिकता है। प्रत्येक पद में कवि का उल्लास है। यह उसका उत्साह-प्रधान गीत है, जिसमें अपभ्रंश की अनुरणनात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता जैसी काव्य-प्रवृत्तियां स्पष्ट होती है। कवि के स्वर में महत् अनुभूति और मधुरता का समन्वय है, अतः अनुरंजन की क्षमता होना स्वाभाविक है। कवि ने ऐतिहासिक तथ्य को काव्य के माध्यम से प्रचुर रूप में प्रभावोत्पादक बनाया है। प्रस्तुत गीत की सबसे बड़ी विशेपता इसके जनगीत के रूप में लोकप्रिय होने में है। जीवन के मनोवेगों और भावों को जगाने में ये जैन-काव्य बड़े प्रभावशाली है। जैन समाज में आज भी सत्यपुरीय महावीर उत्साह जैसे आह्लादक गीत कंठस्थ करके प्रतिदिन पाठ किए जाते हैं।

कवि ने सत्यपुरीय जिनेन्द्र महावीर के शौर्य का वर्णन पर्याप्त कुशलता से किया है। वर्णन का प्रवाह स्पष्ट है :

वहुएहिं तारायणेहिं रवि पसरू किं भिज्जइ
वहुएहिं वि विसहरेहिं मिलि वि किम गरुडु गिलिज्जइ।
वहु कुरंग आरूट्ठ करहिं किरि काय मयंदह
पुणिवि वहुय तुरूक्क कांइ सच्चउरि—जिणिंदह॥[१]

अर्थात्, "अनेक तारागण मिलकर जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का भेदन नही कर सकते, वैसे अनेक विपधर

१. जैन साहित्य संशोधक, पृ० २४४
२. विविध तीर्थकल्प—श्री जिनप्रभ सूरि, पृ० ९०-९६
३. ,, ,, पृष्ठ २४२

मिलकर भी क्या गरुड़ को निगल सकते हैं ? और जिस प्रकार अनेक हिरणों का समूह भी मदोन्मत्त हाथी का कुछ नहीं कर सकता, उसी प्रकार अनेक तुर्क मिलकर भी सत्यपुर के जिनेन्द्र का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।"

कवि ने दृष्टान्त से उक्त तथ्य को पुष्ट किया है। प्रस्तुत उत्साह कवि की आह्लादमयी अभिव्यक्ति होने से अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है। श्रद्धा, भक्ति और भावावेश में कवि ने महावीर की महिमा की क्षमता को अनेक उपमानों में बांधा है। जिस प्रकार पहाड़ों में सुमेरु, तारागणों में दिवाकर तथा सुरलोक में देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार तीनों लोकों में जिनेन्द्र सत्यपुरीय श्रेष्ठ हैं :

जिम महंतु गिरवरह मेरु गहगणह दिवायरु,
जिम महंतु सुरवरह मज्झि उवहिहिं रयणायरु।
जिम महंतु सुरवरह मज्झि सुरलोइ सुरेसरु,
तिम महंतु तियलोय लितउ सच्चउरि जिणेसरु॥[1]

"चांद-सूरज के प्रकाश की भांति उज्ज्वल (प्रकाशित) सागर की भांति गम्भीर महावीर का अमृत बरसाने वाला प्रतिविम्ब तीनों लोकों में अनुपमेय है। 'तिहुमणि तसर पडिविम्बु नत्थि जसु उप्पम दिज्जइ' ऐसे अनुपमेय और अनिर्वचनीय मन्दिर के वर्णन करने को अनेक मुंह और देखने को अनेक नेत्र चाहिए। जबकि कवि के पास तो सिर्फ एक ही जीभ व दो आंखें मात्र हैं।

सहस्सेण विलोयणह तित्यु न होय नियंतह,
वयण सहस्सेहि गुणननुह निट्ठि यहि घुणंतह।
एक्क जीह घणपालु भणइ इक्कु जं महनियतणु,
किं वन्नउ सच्चउरि वीर हउं पुणु इक्काणणु॥[2]

रचना मुक्तक गीति है जिसके प्रत्येक पद में अपना-अपना स्वतन्त्र भाव है। यह रोला छन्द में रची गई है।

'सत्यपुरीय महावीर उत्साह' की भाषा के विषय में विद्वानों में परस्पर मत भेद है। रचना ११वीं[3] शताब्दी की होने से भाषा की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन भाषा का स्वरूप, उसका पुरानी हिन्दी की ओर या तत्सम शब्दों की ओर बढ़ने का प्रयास, लोक-भाषा के शब्दों का उसमें समावेश, तथा अपभ्रंश की उत्तरवर्ती स्थिति आदि सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश धनपाल की इस रचना में समन्वित है। सत्यपुरीय उत्साह एक ऐसी कड़ी है जो परवर्ती अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी या देश्य भाषाओं से मिलती है। अतः भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी रचना महत्त्वपूर्ण लगती है। इस रचना की भाषा के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्री मुनि जिनविजय जी[4] तथा श्री के० का० शास्त्री[5] दोनों इसको अपभ्रंश की ही ठहराते हैं। पर श्री अगरचन्द नाहटा इसे शुद्ध अपभ्रंश न मान, प्राचीन राजस्थानी से प्रभावित उत्तर अपभ्रंश की मानते हैं तथा उन्होंने इसे वीरगाथा-काल के भाषा-काव्यों के अन्तर्गत ही रखा है।[6] कई गुजराती विद्वान इसे जूनी गुजराती की कृति समझते हैं, स्वयं मुनिजी ने गुजराती समाज में जैन साहित्य की गुजराती की सबसे प्राचीन रचना मानकर ही इसका प्रकाशन किया है।[7]

अतः इसकी भाषा को अवश्य विवादग्रस्त बना दिया गया है पर रचना की भाषा का अध्ययन करने पर

---

१. जैन साहित्य संशोधन खण्ड ३३, अङ्क ३, पृ० २४३, पद ११
२. वही पृष्ठ, पद १४
३. नागरी प्रचारिणी वर्ष ४६, अङ्क ३ में श्री नाहटाजी का लेख—वीरगाथा-काल का जैन भाषा साहित्य
४. जैन साहित्य संशोधक पृ० १९८४; खण्ड ३, प्र० ३, सत्यपुरीय महावीर उत्साह परिचय, पृष्ठ २४४
५. आपणा कवियों, पृष्ठ ४४ पर—श्री शास्त्री जी लिखते हैं कि यह कवि मालवपति मुखसिंधुराज और भोज की विद्वत-सभा में अग्रणी था। इसी कवि ने १५ गाथा का सत्यपुरीय महावीरोत्साह मंड नाम का अपभ्रंश-काव्य रचा है
६. ना० प्र० वर्ष ४६, अङ्क ३ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख
७. जैन सा० सं० पृ० २४१-२४४

यह स्पष्ट हो जाता है कि रचना प्राचीन राजस्थानी की है जिस पर अपभ्रंश के परवर्ती रूपों का प्रभाव है। साथ ही तत्कालीन प्रचलित कुछ विदेशी शब्द भी आ गए हैं। वस्तुतः भाषावैज्ञानिक प्रवृत्तियों, प्राचीन राजस्थानी के ध्वनिजन्य प्रभावों तथा नियमों का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। रचना के शब्दों, रूपों और शब्दों की व्युत्पत्ति पर विचार करने पर पुरानी राजस्थानी और उत्तर अपभ्रंश का समन्वय स्पष्ट परिलक्षित होता है तथा कई शब्द तो एकदम संस्कृत के ही अपभ्रंश हैं। यथा :

पसरंत	(सं०) प्रसरंत	पसाउ	पसादु	(सं०) प्रसाद
रक्खि	(सं०) रक्षि	कोहु	(सं) क्रोध	
सामि	(सं०) स्वामिन्	सच्चउरि	(अपभ्रंश) साचोर	
			(प्रा०) सच्चउस	(सं०) सत्यपुर[1]
विहोडहि	(सं०) विस्फोटय			

उत्तर अपभ्रंश के स्वरूप प्रस्तुत करने वाले कुछ शब्द देखिए :

(संज्ञाएं) (१) इयरनर, गब्भरु, तिहुयण, जगडण, मयण, सिद्धत्थह, पेच्छंतह, नयरि, नाहु, गहगणह, दिवायरु, रयणायरु मज्झि तियलोयतिलहु...आदि

(क्रियाएं) (२) भिज्जइ, जगडिज्जइ, भग्गु, गिलिज्जइ, उव्वसियइ, पुच्छुरथउवि, विरज्जइ, पणमिज्जइ, दिज्जय आदि।[2]

प्राकृत के भी शब्द मिल जाते हैं :

दुट्ठट्ठ, कम्म, दुट्ठ, आरुट्ठ, पाविट्ठ, चड्डावल्लि, सोरट्ठु, 'अज्जवि, दुट्ठमडिहि, किंकिल्लि, वयण-सहस्सेहि, गुणनतुट्ठु, अत्थि, तित्थु, नत्थि, तुट्ठइ आदि।

अनेक राजस्थानी शब्द भी बहुलता से परिलक्षित होते हैं :

प्रा० राजस्थानी संज्ञा सर्वनाम विशेषण क्रियाएं आदि

जेण, किम, तणु, जासु, तरुवरिहि, फरसु, तेरिस, जाव, ताव, सोतेहि सिरि, कोड, जिणु, कुहाड़ा, भामंडलु, सिरिभाल, जण, मण, आणंदण

मोडिय, वितोडिय, तोड़हि, फोड़हि, चलिउ, करहि, मिलि, रहि, नामिओ, संदामिओ, निविडिय, ताड़िउ, दीसहि, सोहिय, सहवि, नमहु, उवहि, हरवि, लेखि, दीसइ, पइसइ, भणइ भावइ, आवइ आदि।

तत्सम शब्दों की वृद्धि—

इन अनेक तत्सम रूपों से यह ज्ञात हो जाता है कि कृति की भाषा अपने पुराने रूपों को छोड़ नये रूप ग्रहण कर रही है :

उम्मूल, जासु, पहरंत, नयणिहि, सिरिमाल देसु, मोमेसरु, अनु, सिरि, मिलि, करहिं, चिरकालि, चामीयरं, वरतुरंग, निमित्त, अंगि, तसु, गोसाला, संगमय, अमर, कुसुम चमर, गिरिवर, मेहु, किम आदि-आदि।

विदेशी : 'तुरुक्क' शब्द विदेशी है—

अपभ्रंश की उकार-बहुला प्रवृत्ति यद्यपि इन शब्दों में स्पष्ट है परन्तु फिर भी उसमें एक उत्तरोत्तर विकास परिलक्षित हो जाता है। यदि इसी विकसित रूप या देश्य भाषा या लोक-भाषा के इन रूपों के उत्तर अपभ्रंश का विकसित स्वरूप कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

करेवि, मुमरेवि, भंजेवि आवि शब्द अपभ्रंश के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं और अन्य रूप प्राकृत-तत्सम की भांति ही लगते हैं। भाषा के इन उदाहरणों से ऐसा लगता है कि अपभ्रंश के दो रूप उस समय प्रचलित रहे

१. देखिए—जैन सा० संशोधक, खण्ड ३, प्र० ३, पृ० ३, २४१-२४३
२. वही ग्रन्थ, वही पृष्ठ

होंगे एक स्वाभाविक और दूसरा कृत्रिम। साथ-ही-साथ इन शब्दों में सरलता आने का आग्रह है।

वस्तुतः ११वीं शताब्दी का यह काल अपभ्रंश का पराभव-काल है। इसी काल से परवर्ती अपभ्रंश में तत्सम शब्दों का संक्रमण बड़ी तेजी से प्रारंभ होगया था। उसके कई शब्दों के चिह्न घिस गए थे तथा विभक्तियां भी बिखरने लग गई थीं। बोलचाल की इन भाषाओं में तत्सम शब्दों के प्रचार से उनके बदलते हुए स्वरूप में एक नव्य रूप अवश्य ही झांकने लग गया था। साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में संस्कृत-शब्द उसी स्वाभाविकता से प्रयुक्त होते थे जैसा बाद की बोलियों में होता रहा। धीरे-धीरे संस्कृत के तत्सम शब्द अधिकाधिक मात्रा में आने लगे। सो इस काल की भाषा की प्रमुख प्रवृत्ति रही बोलचाल में तत्सम शब्दों का प्रचार।[1] और इसीलिए अपभ्रंश पुरानी हिन्दी में परिवर्तित होगई। अतः सत्यपुरीय उत्साह में पुरानी हिन्दी के शब्दों का अंकुर दिखाई देने लगता है। प्रस्तुत कृति की भाषा में हिन्दी के प्राचीन रूपों के तत्त्वों के अंकुर रूप में विद्यमान होने के लिए स्वर्गीय गुलेरीजी का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है—'विक्रम की ७वीं से ११वीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही है और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत होगई। इसमें देशी की प्रधानता है, विभक्तियां घिस गई हैं, खिर गई हैं। एक ही विभक्ति 'हैं' या 'आहं' कई काम देने लगी है। वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली। विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पदलुप्त विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे जो विभक्तियां नहीं हैं। क्रिया-पदों में मार्जन हुआ। हां, इसने केवल प्राकृत ही के तत्सम और तद्भव पद नहीं लिये, किन्तु बनवती अपुत्रा मौसी संस्कृत से भी कई तत्सम पद लिये। अपभ्रंश साहित्य की भाषा हो चली थी। वहां 'गत' भी 'गय' और 'गज' भी 'गय'। काच, काक, काय, कार्य सबके लिए 'काय'। इसमें भाषा के प्रधान लक्षण सुनने में अर्थ-बोध का व्याघात होता था। अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि ११वीं शताब्दी में अपभ्रंश अपने अवसान पर थी और उसमें उत्तरोत्तर पुरानी हिन्दी के स्वरूप का ढांचा निर्मित हो रहा था। अद्यावधि अन्य विभाषाओं में सत्यपुरीय महावीर उत्साह के अतिरिक्त तत्कालीन कोई प्रति नहीं मिलती, अतः पुरानी हिन्दी के प्रारम्भिक रूपों को बीज रूप में इस कृति में देखा जा सकता है।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि इस कृति की भाषा अपभ्रंश के परवर्ती रूपों से प्रभावित प्राचीन राजस्थानी है। राजस्थानी साहित्य के एक प्रसिद्ध विद्वान श्री नरोत्तमदास जी भी इसको प्राचीन राजस्थानी की ही रचना स्वीकार करते हैं।[3]

अतः कृति की भाषा में राजस्थानी, ऊपर अपभ्रंश तथा तत्सम शब्दों के प्रयोगों से सम्बन्धित कुछ प्रवृत्तियां और उदाहरण इस प्रकार देखे जा सकते हैं:

(१) अपभ्रंश में ह्रस्व और दीर्घ का व्यत्यय करके इस नियम की पूर्ति होती थी, वह चाहे पद के अंत में दीर्घ हो या प्रारंभ में।

(२) प्रत्यय स्वार्थक हों और जिन्हें स्वार्थक बनाने में विशेष अइल्ल और ड़ आदि प्रत्यय हों। यथा—अलंकृत—अलंकिय। उ जोड़ कर यह अलंकियउ बनाया जा सकता है।

(३) छन्द-योजना के लिए (।) लघु स्वरों का दीर्घीकरण। पद आदि मध्य और अन्त में से कोई भी हो। कहीं-कहीं स्वर के मध्य में भी पद दीर्घ हो जाता था।

(४) द्वित्व-प्रवृत्ति भी एक प्रधान प्रवृत्ति थी। विशेषकर परवर्ती वर्णन को द्वित्व करने की प्रवृत्ति प्राकृत में भी मिलती है। यथा:

अमर मम्मर। यह प्रवृत्ति छंद-योजना में विशेष योग देती है।

(५) अनुस्वार की प्रवृत्ति छंद-योजना को सुघड़ करने की है अतः सत्यपुरीय उत्साह में अमिय, हियंकरं

---

१. देखिए—हिन्दी साहित्य का आदिकाल: श्री आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ २०

२. पुरानी हिन्दी (सभा-संस्करण): श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृष्ठ ६

३. ढोलामारू रा दोहा—प्रस्तावना-भाग, पृष्ठ १५० (सभा-संस्करण, स्वामी नरोत्तमदास)

आदि शब्दों के प्रयोग देखे जा सकते हैं। तत्कालीन काव्य 'ढोलामारू रा दोहा' में भी चमकउ, गजतउ आदि प्रयोग मिलते हैं।

(६) **संयुक्त वर्णों में एक का लोप करना—**

यह पूर्ववर्ती स्वर को लघु बनाने के कार्य में आया है यथा :

अपभ्रंश का थक्क थकइ।

(७) अनुस्वार को ह्रस्व करने के लिए अर्द्धचन्द्र का प्रयोग भी अपभ्रंश में मिलता है। यथा, सं० पर्यंकिका पल्लंकिका; पालंकी पालंकी; संपूर्ण सउन्न।

इनके अतिरिक्त संकोच और प्रसारण के नियम भी मिलते हैं, यथा :

मयूर मउर मोर; (अप०) अइ ऐ; अउ औ।

अपभ्रंश की यह संकोच की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं जो आलोच्य ग्रंथ में मिल जाते हैं। इनमें अपभ्रंश का उत्तरकालीन स्वरूप परिलक्षित होता है।

(८) अन्त्य स्वर को ह्रस्व करने की प्रवृत्ति[1] अपभ्रंश-ध्वनियों की मुख्य विशेषता है। इसके अतिरिक्त प्रथमा और द्वितीया में ओ का उ में परिवर्तित हो जाना; य का ज (निय निज); क, त, प, तथा ख, थ, प का लोप; ग, द, व, का घ, ध, भ, हो जाना, म का व में बदल जाना आदि प्रवृत्तियां इस 'उत्साह'-कृति में पाई जाती है। और ये अपभ्रंश की ध्वनिमूलक विशेषताएं हैं।[2]

(९) लिंग-भेद की समाप्ति, कारक-विभक्तियों का घिसना और संख्या में बहुत कम हो जाना, अनेक नये परसर्गों का प्रयोग। यथा सहुं, केहि, थिउ, मज्झ आदि।

(१०) सामान्य वर्तमान काल के अपभ्रंश रूपों का घिसकर पुरानी हिन्दी की भांति हो जाना, यथा—करउं का करहुं, करहि का करह, करइ का कहइं। अ इ उ का उकारान्त होना, स और ह कम एक समान होकर 'ह' की प्रधानता होना तथा संयुक्त क्रियाओं का निर्माण होना। यथा—भज्जिउ और पूर्वकालिक क्रिया में प्रमुखतः 'इ' का निर्वाह आदि उसकी विशेषताएं थी। अतः डा० याकोबी के ये विचार कि 'अपभ्रंश एक मिश्रित भाषा थी, जिसने अपने शब्द-कोष का अधिकांश साहित्यिक प्राकृतों से ग्रहण किया और अपना व्याकरणिक गठन देशी भाषाओं से।'[3] वस्तुतः अपभ्रंश का व्याकरण देशी भाषाओं के आधार पर बनता चला जा रहा था और भारतीय आर्यभाषा के विकास के बीज उसमें सन्निहित थे। उसकी ध्वनियों पर प्राकृत का प्रभाव अवश्य था पर वह भी धीरे-धीरे दूर होता जा रहा था। तथा इसी परवर्ती अपभ्रंश से कई क्षेत्रीय भाषाओं के निर्माण के सूत्र स्पष्ट हो रहे थे। और राजस्थानी उनमें सबसे प्रधान है। अपभ्रंश के परवर्ती स्वरूपों के परस्पर साम्य का अनुमान सत्यपुरीय महावीर उत्साह के निम्नांकित उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाता है:

१. **अ का इ में बदल जाना—**

सं० कच्टपक (अप०) कच्छवउ काचवउ (प्रा० रा०) काचिवउ।

सं० गत (अप०) गउ गिउ

२. पूर्ववर्ती परवर्ती अक्षर 'उ' होने पर उसके प्रभाव से अ का उ हो जाना

जैसे—प्रस्तुत रचना में—

गरुड गुरुडु ?[4]

---

१. हि० ग्रे० आ० अप० : डा० तगारे, पृष्ठ १८-१९

२. देखिये 'सन्देश रासक' की भूमिका : डा० हरिवल्लभ मायाणी, पृष्ठ ४१

३. देखिये भविस्सयत्त कहा, पृष्ठ ६८

४. जैन साहित्य संशोधक—सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृष्ठ २४१-४२

३. संयुक्त स्वर 'अ' के बीच में य श्रुति का आगम :

सं० रत्न (अप०) रअण रयण (प्रा० रा०)[1]

४. अपभ्रंश के उत्तरकाल में पश्चिमी राजस्थानी में अनुस्वार और अनुनासिक में परिवर्तन—

संचरित (अप०) संचरइ सांचरइ।

अपभ्रंश का पद के अन्त में आया हुआ अनुस्वार प्राचीन राजस्थानी में अ अनुनासिक के रूप में मिलता है :

पूणिहि वहुय तुरुक्क कांइ सच्चउरि-जिणिदहं[2]

५. ज का परिवर्तन कभी-कभी य में हो जाता है। 'अनेक स्थानों पर इस परिवर्तन का केवल आभास मात्र ही होता है क्योंकि लिखने में 'ज' और 'य' प्रायः एक-दूसरे के स्थान पर व्यवहृत हो जाते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वे बहुत-कुछ एक ही प्रकार से सच्चरित होते थे, अर्थात ज की भांति। लेकिन कुछ स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता हैं कि 'ज' का दुर्बल होकर य हो जाना वास्तविक है अर्थात् स्वरों के बीच 'ज' व्यंजन की शक्ति खो देता है।'[3]

यथा—१–सं० कथ्यते (अप०) कहिज्जइ कहीजइ कहीयइ कहीइ।

२–निज निय[4]

६. किसी अन्य स्वर के पूर्व यदि 'अ' आता है तो उसका प्राचीन राजस्थानी में अ आ के पूर्व य का आगम हो जाता है—

सं० नगर, (अप०) नयर[5]

७. द्वित्व व्यंजन का बिना स्वर के दीर्घकरण के ही प्रा० रा० में सरलीकरण हो जाता है। यथा—

१–सं० निष्पद्यते, (प्रप०) णिप्पज्जइ नीपजइ नीमजइ (प्रा० रा०)

२–सं० व्याख्यानइति, (अप०) वक्खाणइ वखानइ (प्रा० रा०)

८. कहीं-कहीं अनुनासिकता में विपरीत स्थिति भी मिलती है। यथा—

१–सं० कानि (अप०) काइं काइं या काई या काहं।

२–मध्य मज्झ मांझ मांह (पु० हि०)

व्यंजन के अन्त के प्रतिपादिक में 'उ' विभक्ति प्रत्यय मिलता है। यथा—

जिणेसरु[6]

९. सर्वनामों में भी जस्सु जासु जसु के पश्चिमी राजस्थानी या पुरानी हिन्दी में सम्बन्ध विकारी रूप जास जस जसु तथा तस्सु, तासु, तस, तास, तामु देखे जा सकते हैं। प्राचीन राजस्थानी का यह रूप—'तिहुयण जगडण, मयण सरहि तणु जासु न भिज्जइ'[7] उदाहरण से सम्बन्धकारक का रूप स्पष्ट हो जाता है। अपभ्रंश का को, कोइ, कोवि आदि कोइ कोवि कोय आदि रूप बन जाता है तथा काइँ के कांइ, काई आदि रूप पुरानी राजस्थानी में बनते हैं।

१०. प्रश्नवाचक में किसउ किसिउ, किस्यउ शब्द प्रमुख हैं जो लोप द्वारा प्रश्न और अनिश्चय को प्रकट करते हैं। यथा—

१–किसउ सउ; २–किसिउ सिउ

---

१. सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृष्ठ २४३, पद ११

२. वही, पृष्ठ २४२, पद ४

३. पुरानी राजस्थानी, मूल लेखक डा० एल० पी० तेस्सीचेरी, अनुवादक श्रीनामवरसिंह, पृष्ठ ३४

४. भणइ ऐक्कु जं० मह नियतखु (जैन सा० संशोधक) पृ० २४३, पद १४

५. वही, पृ० २४२, पद ७, वही, पृ० २४२ पद ४, कांइ सच्चउरि जिणि० दह।

६. स० महावीर उत्साह। जैन सा० पृ० २४३, पद ११

७. वही, पृ० २४१

३–किस्यउ स्यउ आदि चिह्न रह जाते हैं। पश्चिमी हिन्दी में इस अनिश्चयवाचक का रूप 'सो' मिलता है। अनुमानतः यह रूप किसउ सउ सो आदि क्रम में रह जाता होगा। हमारी आलोच्य रचना में 'वयसाहिहि सच्चउरि वीरु सो किम पणभिज्जइ' रूप सर्वनाम है तथा 'सोमसरु सो तेहि भग्गु' प्रयोग भी मिलता है, परन्तु यहां यह शब्द समान अर्थ 'सिउं' या 'सादृश्य' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।'[1]

११. इसी रचना में राजस्थानी अव्यय क्रिया-विशेषण जिमतिम आयि मिलते हैं—

१–जिम महंतु गिरिवर मेरु

२–जिम महंतु सु सयंभु रमणु

३–तिम महंतु तियलोय तिलकु[2]

क्रिया के पहले कहीं-कहीं सं० नापि, (अप०) णवि, नवि (राज०) भी मिलता है। तिण, तिणइ, तेणि, तिणी आदि भी राजस्थानी रूप हैं जो सम्भवतः सर्वनामों से ही बनते होंगे।

१२. क्रियाओं में में वर्तमान काल की भवति होइ होय और होइ एवं हुइ रूप भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त कहइ, भणइ, पुच्छइ, जावइ, भावइ आदि रूप पुरानी राजस्थानी या पुरानी हिन्दी की पूर्ववर्ती स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त भी रचना में 'लेवि' प्रयोग द्रष्टव्य हैं—'कुहाड़ा', 'हत्थि लेवि' अमियलेवि।[3] अपभ्रंश की उकार प्रवृत्ति की भांति पुरानी हिन्दी में भी सुणउ, करउ, आवउ अउ आदि प्रयोग मिलते हैं।

१३. प्रा० प० राजस्थानी में—सं० भग्नक (अप०) भग्गउ भागउ रूप मिलता है जो व्यंजन तथा प्रत्यय के सारूप से होता है, पर राजस्थानी में यह यौगिक स्वरूप और भी सरल हो गया है।

१४. पूर्वकालिक कृदन्त में धातु में एवि प्रत्यय जोड़कर क्रिया के—भणेवि धरेवि पणमेवि आदि रूप, तथा 'ई' प्रत्यय जोड़कर नमीअ, पणमीअ आदि रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान कर्मवाच्य के कीजइ, दीजइ, पीजइ रूप मिलते हैं—

सं० क्रियते अप० कीज्जइ कीजइ (पुरानी हि० या रा०)।

दीयते दिज्जइ दीजइ

लीयते लिज्जइ लीजइ।

१५. इसके अतिरिक्त संज्ञा या विशेषण से सीधी बनी हुई नामबोधक क्रियाएं भी मिलती हैं। यथा—

सं० आनंद आणन्द आणन्दिउ तथा सत्यपुरीय उत्साह का 'जणमण आणन्दणु'[4] ऐसा ही प्रयोग है।

इसी तरह प्राचीन राजस्थानी या परवर्ती अपभ्रंश के रूपों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। और इन शब्दों में हिन्दी की सरलता स्पष्ट परिलक्षित होती है। कई तद्भव शब्दों के तत्सम रूप हिन्दी की ही भांति सरल हो जाते हैं। तद्भव व तत्सम रूपों के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

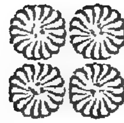
पसरंत-प्रसरंत। तिहुयण-त्रिभुवन। सोमेसरू-सोमेश्वर। सिरि-श्री। सिद्धत्थ-सिद्धार्थ। तारयण-तारागण। विपहर-विपधर। तुरुक्क-तुर्क। जिणिदह-जिनेंद्र। सामि-स्वामी। अज्ज-आज। नयर-नगर। चलणारविंद-चरण अरविंद। पणमहु-प्रणमहु। विणु-बिनु। नाहु-नाथ। भुवण-भुवन। गहगण-ग्रहगण। दिवायरू-दिवाकर। संयंभु रमणु-स्वयंभू-रमण। रयणायरू-रत्नाकरू। दिणयर-दिनकर। लोयण-लोचन। तणु-तनु। निय-निज। भड-भट। नाण-ज्ञान। सहस्सेण-सहस्त्रेण। वन्नउ-वर्णउ।[5]

इसके अतिरिक्त अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिनमें तत्समता, सारल्य और नवीनता स्पष्ट होती है। तत्का-

१. सत्यपुरीय महावीर उत्साह,
२. वही, पृ० २४३
३. वही
४. जैन साहित्य संशोधक—सत्यपुरी महावीर उत्साह, पृ० २४२, वर्ष ३, अङ्क ३
५. वही, पृ० २४३-२४४

लीन प्रयुक्त इन शब्दों और वर्तमान हिन्दी के शब्दों में पर्याप्त साम्य है। यथा—बलवंत, उम्मूल, जासु, तोजहि, सुधी-रह, दसु, सिरि, सोमेसरू, वहु, रवि, किम, कुरंग, करहि, चिरकालि, वीरु, वर तुरंग, चामीयर, निमित्त, रज्जु, जिम, रुण्ड, परवलि, जो, न, नमहु, तसु, सहयि जसु, समवसरण, सुरवर, चमर, कुमसम, जिम महंतु, गिरिवर मेरु, गंभीर, इमि, भावइ, जाउ, जहिं, गयउ न आवइ आदि-आदि।[1]

श्री राहुल सांकृत्यायन ने तो अपभ्रंश को ही पुरानी हिन्दी कह डाला है। उनके द्वारा इस सम्बन्ध में प्रयुक्त 'देशी भाषा' शब्द बड़ा प्राणवान है। वस्तुतः अपभ्रंश ने ही अपने विशाल गर्भ से इन अनेक देशी भाषाओं को जन्म दिया है। अपभ्रंश के महाकवि हेमचन्द्र के बाद भारत में हुई राज्यक्रांति और राष्ट्रीय परिस्थितियों ने सारा ढांचा ही बदल डाला। इससे अपभ्रंश का व्यापकत्व बिगड़ गया और उसके भावी विकास को इन संक्रान्तियों ने भिन्न-भिन्न देशी भाषाओं के रूप में बदल दिया और राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, बंगला, मराठी आदि अनेक प्रान्तीय भाषाएं बनीं। इस प्रकार अपभ्रंश की इन पुत्रियों ने मां की सम्पन्नता की, जिससे जितनी बनी, रक्षा की है। इन सब देश्य भाषाओं में अपभ्रंश की श्रीवृद्धि-जन्य गौरव व महिमा की अधिक सुरक्षा इस राजस्थानी ने की है। जो अपभ्रंश की 'जेठी बेटी' कहलाती है। राजस्थानी में सबसे प्राचीन व प्रामाणिक रचनाओं की रक्षा का श्रेय इन जैन मुनियों व जैन विद्वानों को है। वस्तुतः अब तक जो जैन रचनाएं मिली हैं उनमें यह रचना सबसे प्राचीन है, इसलिए इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। पर इसके काव्य से भी श्रेष्ठ उदाहरण हाल ही में बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम के एक शिलालेख में मिला है जिसकी भाषा १०वीं शताब्दी की है तथा जिसका काव्य सत्यपुरीय महावीर उत्साह से भी प्राचीन एवं अत्यन्त सम्पन्न है। और उसमें एक नायिका के नख-शिख का सांगोपांग वर्णन है। यह शिलालेख अजैन लेखक का है, परन्तु आदिकाल के काव्य का सर्वोत्तम रूप प्रस्तुत करने वाला यही शिलालेख है जो स्थान-स्थान पर कटा होने से स्पष्ट नहीं है। लेखक को उसकी प्रतिलिपि (estempage) के रूप में डा० मोतीचन्द से प्राप्त हुई हैं। इस शिलालेख के काव्य के उदाहरण, लेखक ने पूर्व पृष्ठों में विस्तृत रूप से दिए हैं परन्तु अजैन रचना होने से आदिकाल के हिन्दी जैन साहित्य की सर्वप्रथम रचना धनपाल की सत्यपुरीय महावीर उत्साह ही कही जायगी।



१. जैन-साहित्य-संशोधक सत्यपुरीय महावीर उत्साह, पृ० २४१-४५

हिन्दी भाषा के अध्ययन की परम्परा[1]

श्री महेन्द्र

हिन्दी भाषा का अध्ययन पिछली ढाई शताब्दियों से होता आ रहा है किन्तु अभी तक इसे एक स्थान पर प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। इस लेख में उसी का प्रयास किया गया है। सुविधा के लिए इस अध्ययन को हिन्दी भाषा की विभिन्न बोलियों के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) पश्चिमी हिन्दी—खड़ी बोली, उर्दू, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली।

(२) पूर्वी हिन्दी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।

(३) राजस्थानी—मेवाती, अहीरवाटी, मालवी, जयपुर-हाड़ौती, मारवाड़ी-मेवाड़ी।

(४) पहाड़ी (मध्यवर्ती)—कुमाउंनी, गढ़वाली।

(५) बिहारी—मैथिली, मगही, भोजपुरी।

(१) पश्चिमी हिन्दी

(१) पश्चिमी हिन्दी के सबसे प्राचीन व्याकरण के विषय में सुनीति बाबू ने लिखा है[2]—'मेरे मित्र, शान्ति-निकेतन विश्वभारती के फारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी जियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान ने फारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के एक व्याकरण तथा ब्रजभाषा काव्य एवं अलंकारविषयक ग्रन्थ का पता बताया जो औरंगजेब के शासनकाल में रचा गया था।' उन्होंने आगे लिखा, 'इस पुस्तक से 'हमें ईसा की सत्रहवीं सदी के अन्तिम भाग के फारसीदां मुसलमानों के व्यवहार के लिए लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमें दिए हुए ब्रजभाषा के व्याकरण को हम हिन्दी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते है।' यह पुस्तक सन १९३५ में शान्तिनिकेतन से प्रकाशित हुई। इस दृष्टि से यह भले ही नवीन हो किन्तु इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यद्यपि इसके रचनाकाल के विषय में स्वयं सुनीति बाबूने लिखा है—'इस पुस्तक का रचना-काल नहीं पता।

---

१. 'भाषा का अध्ययन' एक व्यापक वाक्यांश है। इसके अन्तर्गत अनेक रूप से अनेक बातें आ सकती हैं किन्तु समयाभाव के कारण यहां पर निम्न बातों पर ही अपने आपको केन्द्रित करने का प्रयास किया गया है—

(१) भाषा का किसी भी दृष्टि से अध्ययन,

(२) व्याकरण रूप में,

(३) पर्याय, मुहावरा और लोकोक्ति-कोषों के रूप में।

शब्द-कोष को जान बूझकर कुछ कठिनाइयों के कारण छोड दिया गया है।

इस प्रकार की सूची में अधुनातन लेख भी यदि संगृहीत किये गए होते तो अच्छा होता, किन्तु आधुनिक काल में इतनी अधिक पत्र-पत्रिकाएं निकल रही हैं कि उन्हें एकत्रित कर पाना कई महीनों का काम है। अतः सन् १९१९ से पूर्व के प्रकाशित तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख ही यहां उद्धृत किये गए हैं।

इधर कुछ दशकों से केवल पाठ्यक्रम के लिए भी पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमें से विशेष स्तर की पुस्तकों को ही यहां स्थान दिया गया है।

२. ऋतम्भरा—डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या; पृष्ठ १४३

समय शायद सत्रहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण होगा।'[1] शान्तिनिकेतन से प्रकाशित संस्करण के आधार पर इसका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—'पुस्तक फारसी भाषा में है। परिच्छेद संख्या २६ बी० से लेकर ४८ अ० तक संगृहीत किया गया है। इसकी एक विस्तृत भूमिका है जो ४६ पृष्ठों की है, उसमें पुस्तक के शेषांश का भी विवरण दिया गया है। पुस्तक का नाम 'तुहफतु-ल-हिन्द' (Tuhfatu-L-Hind) दिया गया है। इसमें एक भूमिका है जो अनुच्छेद सं० २ बी से ४८ अ (Foll 26-48a) तक है। उसी का उत्तरांश यहां संगृहीत किया गया है। भाषा-वैज्ञानिक या व्याकरणिक दृष्टि से यही महत्त्वपूर्ण है। इसके चार उदाहरण हैं। पहले में हिन्दी-ध्वनियों और उनकी विशेषताओं पर, दूसरे में हिन्दी-ध्वनियों की संख्या तथा क्रम और अरबी तथा फारसी से उनकी पहिचान के चिह्न, तीसरे में स्वरों के चिह्न तथा उनसे सम्बन्धित व्याकरणिक नियम, चौथे में व्यंजनों के साथ प्रयुक्त स्वर, उनके प्रकार तथा विशेषताएं और भाषा के व्याकरणिक नियम दिये गए हैं जिसमें शब्द, सर्वनाम, उपसर्ग, प्रत्यय आदि पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में सात अन्य अध्याय हैं जिसमें छन्द, लय, काव्यशास्त्र आदि अन्य विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

(२) जॉन जोशुआ केटेलेर द्वारा रचित व्याकरण है। ग्रियर्सन ने इसका समय १७१५ ई० दिया है।[2] उस विवरण से ऐसा लगता है कि ग्रियर्सन को वह पुस्तक प्राप्त नहीं हुई थी। इस बात की ओर सुनीति बाबू ने भी अपने लेख में संकेत किया है।[3] इस पुस्तक का उन्होंने जो विवरण दिया है उसी का बहुत ही संक्षिप्त किन्तु आवश्यक अंश यहां दिया जा रहा है। यह पुस्तक हालैंड के लाइडन नगर से सन १७४३ ई० में 'दावीद मिल या मिल्लिउस' (Daud mill or millus) नामक एक पंडित द्वारा प्रकाशित की गई थी। 'पुस्तक लैटिन में है और इसमें इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय में कई प्रबन्धों के साथ-साथ लैटिन में केटेलर का हिन्दुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी धातु-पाठ, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी अरबी शब्द-कोष तथा हिन्दुस्तानी के समोच्चारण-युक्त कुछ शब्दों का संग्रह आदि बातें दी हुई हैं। पुस्तक-प्रकाशक मिल ने अपनी भूमिका में लिखा है कि केटेलेर की पुस्तकें हालैंड की भाषा डच में थीं जिनका स्वयं उन्होंने (मिल ने) लैटिन में अनुवाद किया।[4] पुस्तक की लिपि रोमन है, हिन्दुस्तानी शब्द भी उसी में दिए गए हैं।

पुस्तक के प्रथम अनुच्छेद में ग्रन्थकार ने (Akar Nagion) या नागराक्षर के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। शब्द-रूप में कर्तृ कारक, कर्तृ कारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपदिक में पार्थक्य नहीं है। सर्वनाम के रूप; मत अव्यय का प्रयोग; ई तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक बन जाते हैं इसके उदाहरण; विशेषण पर्याय; विभिन्न प्रत्ययों के योग से कर्तृवाच्य विशेष्य बनाने की रीति के उदाहरण; और क्रियापद की आलोचना यही विषय प्रस्तुत किये गए हैं। इस पूरे व्याकरण से सुनीति बाबू के निष्कर्ष कुछ इस प्रकार हैं—'व्याकरण के सूत्र नितान्त संक्षिप्त हैं पर थोड़ा सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिए काफी हैं जो केटेलेर ने हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी; उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ी बोली नहीं, बाजारू बोली है और विशेषतया बम्बई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिन्दुस्तानी है।'[5]

पुस्तक के अन्त में लैटिन-हिन्दुस्तानी-अरबी-फारसी का एक छोटा सा शब्द-कोष भी दिया गया है। उस दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

(३) १७४४ ई०—सिहुलट्ज का ग्रामर। इसके विषय में ग्रियर्सन ने लिखा है कि यह लैटिन में है।[6] इसका अधिक विवरण नहीं मिलता।

१. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४४
२. L. S. I.—Vol IX. Part 1. Page 6.
३. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४४
४. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १४५
५. ऋतम्भरा—डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पृष्ठ १५७
६. 'Schultze's Grammer is in Latin. Hindustani words are given in the Perso-arabic character with transliteration.' L. S. I. Vol. IX. Pt. 1. Page 8.

(४) १७७२ ई०—हडले का व्याकरण है।

(५) १७७३ ई०—जे० फरगुसन का लंदन से प्रकाशित-कोष—'A Dictionery of the Hindostan langnage' जिसकी भूमिका में हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण दिया गया है।

(६) १७७८ ई०—अज्ञात लेखक द्वारा लिखित तथा एम-रोम० से प्रकाशित पुस्तक—'Portnguese Gramatica Indostana.'

(७) १७७६ ई०—जार्ज हडले का लन्दन से प्रकाशित व्याकरण—'A short Grammar of hemuors languege.'

(८) १७६६ ई०—गिलक्राइस्ट का कलकत्ते से प्रकाशित व्याकरण भाषा 'A Grammar of the Hindoustanee Language.'

(९) १८०१ ई०—लैविडैफ का लन्दन से प्रकाशित व्याकरण, 'A Grammar of the prose and mixed East Indian Dialects, with Dialogues affixed, spoken in all the Eastern countries, methodically arranged at Calcutta, according to the Brahmenian system of the Sanskrit Language.[१]

(१०) १८०८ ई०—चार्ल्स स्टुअर्ट का व्याकरण 'An Introduction to the study of the Hindostani Language as spoken in the cornote. जो सम्भवतः कुडलोर से प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण १८४३ ई० में मद्रास से प्रकाशित माना है।

(११) १८०६ ई०—जान बोर्थविक गिलक्राइस्ट का कलकत्ते से प्रकाशित व्याकरण (A Grammar of the Hindustani Language)

(१२) १८१० ई०—मौलवी अमानतुल्ला का कलकत्ते से प्रकाशित हिन्दी कविता में हिन्दुस्तानी भाषा का संक्षिप्त व्याकरण है जिसका नाम है 'सर्फ-ए-उर्दू'।

(१३) १८११ ई०—लल्लूजीलाल का कलकत्ते से प्रकाशित ब्रजभाषा व्याकरण जिसमें सुबन्त और तिङन्त के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है।

(१४) १८११ ई०—रोबक का कलकत्ते से प्रकाशित अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी का कोष, जिसमें हिन्दुस्तानी भाषा का संक्षिप्त व्याकरण भी है।

(१५) १८१३ ई०—जॉन शेक्सपीयर का लन्दन से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण (A Grammar of Hindustani Language)।

(१६) १८२३ ई०—मिर्जा मुहम्मद सलीह और कैप्टिन डब्लू० प्राइस का लन्दन से प्रकाशित तीन प्रमुख भाषाओं—हिन्दुस्तानी, अरबी और फारसी का व्याकरण।

(१७) १८२३ ई०—मुहम्मद इब्राहीम मकबाह का बम्बई से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण—'तोहफा-ए-एलीफ-निस्तून'।

(१८) १८२७ ई०—विलियम एट्स की कलकत्ते से प्रकाशित हिन्दुस्तानी भाषा पर लिखी पुस्तक जिसके तीन भाग हैं। प्रथम और तृतीय में क्रमशः व्याकरण और शब्द-समूह दिया गया है। व्याकरण ७६ पृष्ठों में है तथा ११ पृष्ठों में उसका परिशिष्टांश है। क्रमशः ध्वनियों संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय तथा संयुक्त शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम परिशिष्ट में पद-परिचय तथा दूसरे में वाक्य-सम्बन्धी कुछ विशेषताएं दी गई हैं। पुस्तक में विवेचन की पद्धति वैज्ञानिक है, पहले रूप दिये गए हैं फिर उनसे सम्बन्धित विशेषता आने पर प्रकाश डाला गया है।[२]

(१९) १८२७ ई०—एम० टी० आदम का कलकत्ते से ही प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का व्याकरण'।

(२०) १८२७–२८ ई०—कैप्टिन विलियम प्राइस द्वारा लिखित लन्दन से प्रकाशित हिन्दुस्तानी

---

१. L. S. I. Vol IX, Pt. I.

२. पुस्तक का यह विवेचन सातवें संस्करण से है जो १८४५ में प्रकाशित हुआ

व्याकरण; 'A New Grammar of Hindoostani Language.'

(२१) १८२७–३० ई०— कैप्टिन विलियम प्राइस और तारिणीचरण मित्र की कलकत्ते से प्रकाशित 'Hindee and Hindostanee Selections' जिसकी भूमिका में हिन्दुस्तानी और व्रजभाषा-व्याकरण की प्रारम्भिक बातें दी गई हैं।

(२२) १८२८ ई०— सैंडफोर्ड अरनोट और डंकन फोर्ब्स की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है— 'On the origin and structure of the Hindoostanee tongue.'

(२३) १८२९ ई०— गार्सा द तासी तथा जॉसफ हेलिओडोर की पेरिस से प्रकाशित पुस्तक 'Rudiments de La Langue Hindustanie जो हिन्दुस्तानी भाषा की बुनियादी बातों पर प्रकाश डालती है।

(२४) १८३० ई० डब्लू० एनड्रू द्वारा लिखित लन्दन से प्रकाशित 'A Comprehensive Synopsis of the elements of Hindoostani Grammar.'

(२५) १८३१— सैन्डफोर्ड अरनॉट का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का नया व्याकरण'।

(२६) १८३८— जेम्स आर वैलण्टाइन का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(२७) १८३९— जेम्स आर० वैलण्टाइन की ही लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'Elements of Hindi and Braj Bhakha Grammar.'

(२८) १८४२— जेम्स आर० वैलण्टाइन का ही लन्दन से प्रकाशित हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण, जिसमें व्रज तथा दक्खिनी बोलियों का विशेष विवरण दिया गया है।

(२९) १८४२— मद्रास से प्रकाशित किसी अज्ञात लेखक की 'हिन्दुस्तानी व्याकरण की भूमिका'।

(३०) १८४४— अरनॉट तथा फोर्ब्स का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(३१) १८४५— शेक्सपीयर की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'An Introduction to Hindustani Language.'

(३२) १८४५— अहमद अली की दिल्ली से प्रकाशित उर्दू के प्रारम्भिक व्याकरण की पुस्तक 'फियाज-ए-चश्मा'।

(३३) १८४५— डंकन फोर्ब्स की लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी मैनुअल'। इसके दो भाग है : एक में भाषा का संक्षिप्त व्याकरण तथा दूसरे में अंग्रेजी, हिन्दुस्तानी के आवश्यक शब्दों की सूची दी गई है।

(३४) १८४६— फोर्ब्स डंकन का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण' 'A Grammar of Hindustani Language in the Oriental and Roman Character.'

(३५) १८४७— मुहम्मद इब्राहीम मकबाह की बम्बई से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी व्याकरण के पाठ'।

(३६) १८४७— ईस्टविक की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी भाषा का संक्षिप्त व्याकरण'।

(३७) १८४८— इंशा अल्लाह खां तथा मुहम्मद हसन की मुर्शिदाबाद से प्रकाशित उर्दू भाषा के व्याकरण तथा मुहावरे पर पुस्तक 'दरस-ए-लतीफत'।

(३८) १८४९— इमामबख्श मौलवी की दिल्ली से प्रकाशित 'उर्दू भाषा का व्याकरण'।

(३९) १८४९— वाजिदअली खां का आगरे से प्रकाशित ग्रंथ 'गुलदस्त-ए-अंजुमन'।

(४०) १८५२— जे० डैटलो पोर्चनो की बर्लिन से प्रकाशित पुस्तक 'An fangsginde einer Grammatik der his dustanischan sprache.'

(४१) १८५४—अलेक्जेण्डर फॉकनर की बम्बई से प्रकाशित पुस्तक 'The Orientalist's Grammatical Vade Mecum.'

१. पुस्तक का यह विवेचन सातवें संस्करण से दिया गया है जो १८४५ में प्रकाशित हुआ।

(४२) १८५४— देवीप्रसाद की कलकत्ते से प्रकाशित 'पोली ग्लोट व्याकरण' जिसमें फारसी, अंग्रेजी, अरबी, हिन्दी, उर्दू और बंगाली पाठ भी दिए गए है।

(४३) १८५७ (लगभग)— रामजसन की 'भाषा-तत्त्व-बोधिनी'।

(४४) १८५७ लगभग— रतीलाल का 'भाषा-चन्द्रोदय'।

(४५) १८५८—करीमुद्दीन मौलवी की पुस्तक 'कवायदुल मुवतवी', आगरा से प्रकाशित तृतीय संस्करण। पुस्तक कब लिखी गई, यह ज्ञात नहीं है।

(४६) १८५८— सर विलियम मोनियर की चैलटनहम से प्रकाशित पुस्तक 'Rudiments of Hindustani Gramar.'

(४७) १८६०—सर विलियम मोनियर की 'हिन्दुस्तानी प्रीमियर' नाम की पुस्तक जो लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके विषय में लिखा गया है कि यह पहला व्याकरण है जो नए सीखने वालों के लिए उपयोगी है।[1] इसमें विभिन्न विषयों के प्रचलित शब्दों की सूची दी गई है।

(४८) १८६०— 'उर्दू अंग्रेजी शब्द-समूह' नाम से बनारस से प्रकाशित पुस्तक, जिसके लेखक का नाम नहीं मिलता।

(४९) १८६१— हैदरजंगबहादुर की लन्दन से प्रकाशित 'Key to Hindustani' नाम की पुस्तक।

(५०) १८६१— ईश्वरीदास की बनारस से प्रकाशित पुस्तक 'The Soldiers Hindoostanee Companion.

(५१) १८६२— सर विलियम मोनियर का लन्दन से प्रकाशित 'व्यावहारिक हिन्दुस्तानी व्याकरण' नामक ग्रंथ।

(५२) १८६२— 'कवायदे उर्दू' नाम का उर्दू-व्याकरण, जिसके चार भाग है। पहला, दूसरा तथा तीसरा भाग नासिर अली बेग तथा फैजउल्ला खां द्वारा तथा चौथा मुहम्मद अहसान द्वारा लिखित है।

(५३) १८६५— जी० पी० हजलग्रोव की बम्बई से प्रकाशित 'A vocabulary – English and Hindustanee' नाम की पुस्तक।

(५४) १८६६— हलरायड की लाहौर से प्रकाशित पुस्तक 'तसहील-अल-कलम'।

(५५) १८६८— कैप्टिन बोरैन डाइल की अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी के शब्द समूह पर मद्रास से प्रकाशित एक पुस्तक।

(५६) १८६९— अज्ञात लेखक की मद्रास से प्रकाशित पुस्तक 'Romanized Hindustanee Manual.'

(५७) १८६९— बा० नवीनचन्द्र राय का 'नवीन चन्द्रोदय'।

(५८) १८७० (लगभग)— हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषा तत्त्व दीपका'।

(५९) १८७०— एथरिंग्टन की बनारस और लन्दन से प्रकाशित 'The Students Grammar of Hindi Language.'

(५९) (अ) १८७०— शीतलप्रसाद गुप्त की लखनऊ से प्रकाशित 'शब्द प्रकाशिका' नामक पुस्तक।

(६०) १८७०—मुहम्मद अली की पुस्तक The Hindustan Teacher का बंगलौर से प्रकाशित तृतीय संस्करण। प्रथम संस्करण का समय अज्ञात है।

(६१) १८७१—भैरवप्रसाद मिश्र की पुस्तक 'हिन्दी लघु व्याकरण' का द्वितीय संस्करण।

(६२) १८७२—जौन टी० प्लैट्स का हिन्दुस्तानी और उर्दू भाषा का व्याकरण।

(६३) १८७२—'हिन्दुस्तानी व्याकरण के प्राथमिक नियम' नाम की एक पुस्तक रुड़की से प्रकाशित हुई,

1. A first Grammer Suited to Beginners —L. S. I. Vol. IX. Pt. 1, p. 22

जिसके लेखक का नाम मालूम नहीं। यह पुस्तक थॉमसन सिविल इंजीनियरिंग कॉलेज के लिए लिखी गई थी।

(६४) १८७२—जॉन डाउसन की लन्दन से प्रकाशित पस्तक A Grammar of the Urdu or Hindustani Language.

(६५) १८७२ से ७६ तक—जॉन थीम्स की प्रसिद्ध पुस्तक Comparative Grammer of the Modern Aryan Languages of India यह लन्दन से प्रकाशित हुई। इसके तीन भाग हैं। पहला भाग १८७२ में, दूसरा १८७५ में, तीसरा १८७६ में प्रकाशित हुआ, जिनमें क्रमशः वर्णन, संज्ञा सर्वनाम तथा क्रिया पर विचार किया गया है।

(६६) १८७३—एथरिंग्टन की बनारस से प्रकाशित 'भाषा-भास्कर'।

(६७) १८७३—फरल की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तक (Hindustani Synonyms)

(६८) १८७३—सदासुखलाल के इलाहाबाद से प्रकाशित 'एंग्लो-उर्दू कोश', जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी बातें भी हैं।

(६९) १८७४—पौलोमेरिस होमम की असागांव-बम्बई से प्रकाशित पुस्तक Novo. Vocabulario en Portignee, Concanim, Inglare Hindustani.

(७०) १८७४—पैजोनी मोनसिगनोर की सरधना से प्रकाशित पुस्तक Grammatica italianae indostana.

(७१) १८७४—जॉन टी० प्लैट्स की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी और उर्दूभाषा का व्याकरण'।

(७२) १८७४—सैल की मद्रास से प्रकाशित प्रारम्भिक व्याकरण की पुस्तक 'सुलासादुल कवानीन'।

(७३) १८७५ (लगभग)—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'हिन्दी व्याकरण' नाम की छोटी पुस्तिका।

(७४) १८७५—राजा शिवप्रसाद का 'हिन्दी व्याकरण'।

(७५) १८७५—राजा शिवप्रसाद की उर्दू-व्याकरण की पुस्तक 'उर्दू सर्फ ओ नहो'।

(७६) १८७५—केलॉग की प्रसिद्ध पुस्तक A Grammer of Hindi Language, जिसमें हिन्दी की विभिन्न बोलियों के भी रूप दिये गए हैं। पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(७७) १८७७—सैल की मद्रास से प्रकाशित पुस्तक 'जामिउल कवानीन'।

(७८) १८७७—शिवप्रसाद का इलाहाबाद से प्रकाशित 'हिन्दी-व्याकरण'।

(७९) १८७७—दुर्गाप्रसाद का लखनऊ से प्रकाशित उर्दू-व्याकरण 'जुब्दातुल कवायद'। इसके दो भाग हैं।

(८०) १८८०—हार्नली की लन्दन से प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक 'गौड़ी-भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन : पूर्वी हिन्दी के विशेष विवरण सहित'।

(८१) १८८०—जॉन टी० प्लैट्स का एडिनबर्ग से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी और उर्दू' विषय पर एक लेख, जो एनसाइक्लोपीडिआ ब्रिटानिका, भाग ११, ९वां संस्करण में संगृहीत है।

(८२) १८८०—सर लायल की एडिनबर्ग से प्रकाशित पुस्तक 'Sketch of the Hindustani Language.'

(८३) १८८१—ग्रियर्सन की कलकत्ते से प्रकाशित 'कैथी लिपि-चिह्नों के विषय में लिखित छोटी सी पुस्तिका'।

(८४) १८८२—ई० पामर की लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी फारसी अरबी का सरल व्याकरण' जिसका नाम 'Simplified Grammar Hindustani Persian Arabic' है।

(८५) १८८२—पिंकोट का लन्दन से प्रकाशित 'The Hindi Manual', इसमें व्याकरण के विषय में विचार किया गया है।

(८६) १८८३—कीगन की सरधना से प्रकाशित पुस्तक 'Grammatica Lingunal Indostani.'

(८७) १८८३—फौक्यूज की नापोली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी जबान का कवाइद'।

(८८) १८८३—जे० विन्सन की पेरिस से प्रकाशित हिन्दुस्तानी व्याकरण की पुस्तक 'Elements de la Grammaise Hindonstanie.'

(८९) १८८४—फैलन का 'हिन्दुस्तानी मुहावरा-कोष'।

(९०) १८८५—मुहम्मद हुसैन की लाहौर से प्रकाशित 'जमिउल कवायद' नाम की पुस्तक।

(९१) १८८५—अज्ञात लेखक की दिल्ली से प्रकाशित Polyglot Grammer and Dialogues नामक पुस्तक।

(९२) १८८६—दीनानाथ डे का कलकत्ते से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी व्याकरण'।

(९३) १८८६—'रेनोल्ड की कलकत्ते से प्रकाशित 'घरेलू हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक, जो हिन्दुस्तानी सीखने वालों के लिए विशेष उपयोगी है।

(९४) १८८६—शिवप्रसाद सितारे-हिन्द का 'हिन्दी व्याकरण'।

(९५) १८९०—कैम्पसन की लन्दन से प्रकाशित 'The syntax and Idioms of Hindustani' नामक पुस्तक।

(९६) १८९०—सैंट कैन्टिन रनीडे की रोनन से प्रकाशित एक पुस्तक, जिसका नाम है 'Abrege de Grammaise Hindustani'.

(९७) १८९०—परसी स्मिथ का कलकत्ते से प्रकाशित 'उर्दू-व्याकरण'।

(९८) १८९०—शिवदास की 'लोकोक्तिकौमुदी'

(९९) १८९०—विश्वम्भरनाथ खत्री की कलकत्ता से प्रकाशित 'हिन्दी लोकोक्ति कोष'।

(१००) १८९२—देवीदयाल की 'भाषा शब्द निरूपण' नाम की पुस्तक।

(१०१) १८९२—कमीलो टगलिअव्यू की टोरिनो, रोम, फ्रेंच से प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है: 'Grammatica della Lingua Hindustani Urdu'

(१०२) १८९४—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन लिपिमाला'

(१०३) १८९४—एम० सिहुलट्ज़ का लिपजिग से प्रकाशित ग्रंथ 'Grammatika der Hindustanis chm Grammar'.

(१०४) १८९५—लैफ्टिनैंट ग्रीन का ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित 'A practical Hindustani Grammar'

(१०५) १८९५—एल० मैक्कार्थी की वरनाअर से प्रकाशित पुस्तक 'Grammaire Hindustani Francaise'

(१०६) १८९५—जी० रैंन्किग की कलकत्ता से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दुस्तानी की गाइड'।

(१०७) १८९५—जी० स्माल का कलकत्ते से प्रकाशित 'उर्दू या हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

(१०८) १८९५—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बलात्मक स्वराघात' पर एक लेख।

(१०९) १८९६—एडविन ग्रीव्स की बनारस से प्रकाशित 'A Grammer of Modern Hindi' नामक पुस्तक।

(११०) १८९७—एस० संगोगी द्वारा लिखित, मद्रास से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी भाषा सीखने का सरल तरीका' नाम की पुस्तक।

(१११) १८९८—टी० बोलजली हेग का इलाहाबाद से प्रकाशित 'उर्दू-अध्ययन का तरीका' प्राप्त होती है।

(११२) १८६६—जे० विन्सन की पेरिस से प्रकाशित पुस्तक 'Manual de La Langue Hindustani.'

(११३) १६००—हरीचन्द्र का पेशावर से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी मैनुअल' ।

(११४) १६००—कामताप्रसाद गुरु की प्रसिद्ध पुस्तक 'भाषा वाक्यपृथक्करण' ।

(११५) १६०२—संतप्रसाद की 'कहावत-संग्रह' ।

(११६) १६०४—पन्नालाल बाकलीवाल को छोटी-सी पुस्तिका 'लिङ्ग-बोध' ।

(११७) १६०५—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'अंक' नाम की पुस्तक मिलती है।

(११८) १६०६—हलरायड की लाहौर और लंदन से प्रकाशित पुस्तक, जिसका नाम है 'Hindustani for every day.'

(११९) १६०७—सिद्धेश्वर वर्मा की पुस्तक 'लोकोक्ति या कहावत' प्रकाशित हुई।

(१२०) १६०७—महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' । पुस्तक संक्षिप्त है। उपसंहार में हिन्दी की विभिन्न बोलियों का क्षेत्र, सीमा आदि बताया गया है। वहीं पर कुछ व्याकरणिक विशेषताएं भी यत्र-तत्र उद्धृत की गई हैं।[1]

(१२१) १६०८—बालमुकुन्द गुप्त की 'हिन्दी भाषा' नाम की पुस्तक।

(१२२) १६०६—फिलोट की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक जिसका विवरण कुछ इस प्रकार है–'Hindustani Stumbling Block, being difficult points in the Syntax and idiom of Hindustani explained and exemplified.'

(१२३) १६११—गोविन्दनारायण मिश्र की 'विभक्ति-विचार' नामक की पुस्तक ।

(१२४) १६११—टिसडल की लन्दन से प्रकाशित 'A conversation Grammar of the Hindustani Language.'

(१२५) १६१५—रामरत्न का 'लोकोक्ति-संग्रह', यह सन उसके द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का है।

(१२६) १६१६—कलकत्ते से प्रकाशित ग्रियर्सन के 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का भाग ९, हिस्सा १; इसमें पश्चिमी हिन्दी पर विस्तार से विचार किया गया है।

(१२७) १६२०—कामताप्रसाद गुरु का काशी से प्रकाशित प्रसिद्ध 'हिन्दी व्याकरण' । यह व्याकरण विस्तृत है। इसमें ऐतिहासिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों को अपनाया गया है। इसी के 'मध्यम','संक्षिप्त' आदि अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

(१२८) १६२०—गौरीशंकर शुक्ल की प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' ।

(१२९) १६२४—नगेन्द्रनाथ वसु की पुस्तक 'भारतीय लिपि-तत्त्व' ।

(१३०) १६२४—बद्रीनाथ भट्ट की पुस्तक 'हिन्दी' । व्याकरण की दृष्टि से इसमें बहुत कम सामग्री है।

(१३१) १६२४—श्यामसुन्दरदास का बनारस से प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का विकास' । इसमें हिन्दी की विभिन्न बोलियों के रूप दिये गए हैं। व्रज, अवधी और खड़ी बोली में साम्य ढूंढ़ने के यत्न किये गए हैं।[2]

(१३२) १६२४—रामाधीन मिश्र की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरे' ।

(१३३) १६२५—आर० एन० साहा की 'अक्षरों की उत्पत्ति' नाम की पुस्तक ।

(१३४) १६२५—श्यामसुन्दरदास का 'भाषा-विज्ञान' । इसमें हिन्दी पर भी सामग्री है।

(१३५) १६२६—दुनीचन्द की प्रसिद्ध पुस्तक 'पंजाबी और हिन्दी का भाषा-विज्ञान' । भाषा-विज्ञान की पुस्तक होते हुए भी इसमें व्याकरण पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

(१३६) १६२६—गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा की पुस्तक 'नागरी अंक और अक्षर' प्रकाश में आई।

---

१. पुस्तक का यह विवरण १६२७ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण से दिया गया है।

२. पुस्तक का विवरण १६५० में प्रकाशित तृतीय संस्करण से दिया गया है।

(१३७) १९३०— मोहिउद्दीन कादरी का 'हिन्दुस्तानी ध्वनि-विज्ञान' नाम का लन्दन विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध। इसके दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में उर्दू अथवा हिन्दुस्तानी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

(१३८) १९३२— बहादुरचन्द की 'लोकोक्तियां और मुहावरे' नाम की पुस्तक।

(१३९) १९३२— रामनरेश त्रिपाठी की पुस्तक 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी'।

(१४०) १९३२— पद्मसिंह शर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी'। इसमें व्याकरण-भेद, लिपि-भेद, उर्दू में दूसरी भाषा के शब्द, हिन्दी में शब्द-प्रयोग आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। विवेचन अधिक सूक्ष्म नहीं है। व्यावहारिकता का आश्रय लिया गया है।[1]

(१४१) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की इलाहाबाद से प्रकाशित पुस्तक 'ग्रामीण हिन्दी'। इसका परिशिष्ट व्याकरण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इसमें हिन्दी की मुख्य बोलियों के व्याकरणों की तालिकाएं दी गई हैं।[2]

(१४२) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की 'हिन्दी भाषा का इतिहास' अपने ढंग की यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

(१४३) १९३३— धीरेन्द्र वर्मा की 'हिन्दी भाषा और लिपि' नाम की पुस्तक। यह पहली पुस्तक का भूमिका-भाग ही है।

(१४४) १९३४— ब्लाक की 'La Indo Aryan' नाम की पुस्तक फ्रांसीसी भाषा में है। इसमें हिन्दी भाषा-विषयक सामग्री भी है।

(१४५) १९३५— जम्बुनाथन की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरा कोश'।

(१४६) १९३६— गौरीशंकर भट्ट की 'देवनागरी लिपि का विधान-निर्माण-पत्र'।

(१४७) १९३६— गौरीशंकर भट्ट की पुस्तक 'अक्षरतत्त्व'।

(१४८) १९३७— आ० जे० सरहिन्दी का 'हिन्दी मुहावरा कोष'।

(१४९) १९३७— धीरेन्द्र वर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'व्रजभाषा-व्याकरण'। संक्षिप्त आकार होते हुए भी इसमें वैज्ञानिकता का आधार ग्रहण किया गया था।

(१५१) १९३९— अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव'।

(१५२) १९३८— ब्रह्मस्वरूप दिनकर की पुस्तक 'हिन्दी मुहावरे'।

(१५३) १९३८— कालेलकर की 'चलती हिन्दी'।

(१५४) १९३९— रामचन्द्र शुक्ल की काशी से प्रकाशित 'हिन्दुस्तानी उद्गम'।

(१५५) १९३९— चन्द्रवली पांडेय का काशी से प्रकाशित 'भाषा का प्रश्न'।

(१५६) १९३९— चन्द्रवली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'बिहार में हिन्दुस्तानी'।

(१५६) (अ) १९३९— चन्द्रवली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'कचहरी की भाषा और लिपि'।

(१५७) १९४०— अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी की पुस्तक 'हिन्दुस्तानी मुहावरे'।

(१५८) १९४०— चन्द्रवली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'मुगल बादशाहों में हिन्दी'।

(१५८) (अ) १९४०— चन्द्रवली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'उर्दू का रहस्य'।

(१५९) १९४२— सुनीतिकुमार चटर्जी की अहमदाबाद से प्रकाशित 'Indo Aryan and Hindi.' यह पुस्तक बाद में हिन्दी में भी प्रकाशित हुई।

(१६०) १९४३— किशोरीदास वाजपेयी की प्रयाग से प्रकाशित 'व्रजभाषा का व्याकरण'। सन दूसरे संस्करण का है।

१. पुस्तक का विवरण इलाहाबाद से १९५१ में प्रकाशित नवीन संस्करण से दिया गया है।

२. यह विवरण १९५५ में प्रकाशित पंचम संस्करण से दिया गया है।

(१६१) १६४३— महात्मा गांधी की दिल्ली से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का प्रश्न' नाम की छोटी सी पुस्तिका।

(१६२) १६४४— रामचन्द्र गर्ग की 'अच्छी हिन्दी' नाम की पुस्तक।

(१६२) (अ) १६४५— गणेशदत्त इन्द्र की लखनऊ से प्रकाशित 'अक्षरशास्त्र'।

(१६३) १६४५— रविशंकर शुक्ल की 'राष्ट्र भाषा की समस्या और हिन्दुस्तानी' नाम की पुस्तक।

(१६४) १६४५— राममूर्ति महरोत्रा की आगरे से प्रकाशित 'लिपिविकास' नाम की पुस्तक।

(१६५) १६४६— रामचन्द्र वर्मा की 'हिन्दी प्रयोग' नाम की पुस्तक।

(१६६) १६४७— महात्मा गांधी की अहमदाबाद से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' नाम की पुस्तक।

(१६७) १६४७— चन्द्रवली पांडेय की काशी से प्रकाशित 'हिन्दी की हिमायत क्यों'।

(१६८) १६४८— शिवनाथ की काशी से प्रकाशित 'हिन्दी कारकों का विकास' नाम की पुस्तक।

(१६६) १६४८— किशोरीदास वाजपेयी की कलकत्ते से प्रकाशित 'अच्छी हिन्दी का नमूना' नाम की पुस्तक।

(१७०) १६४६— जवाहरलाल नेहरू की अहमदावाद से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का सवाल' नाम की छोटी सी पुस्तिका।

(१७१) १६४६— किशोरीदास वाजपेयी का कलकत्ते से प्रकाशित 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण'।

(१७२) १६४६— किशोरीदास वाजपेयी की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तिका 'हिन्दी निरुक्त'।

(१७३) १६४६— देवनागरी लिपि सुधार समिति का विस्तृत विवरण लखनऊ से प्रकाशित किया गया। यह केवल ७५ पृष्ठ का है, किन्तु वहुत महत्त्वपूर्ण है।

(१७४) १६५०— दुनीचन्द की होशियारपुर से प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण'।

(१७५) १६५०— डा० सूर्यकान्त की दिल्ली से प्रकाशित 'टकसाली हिन्दी'।

(१७६) १६५१— भोलानाथ तिवारी का 'हिन्दी मुहावरा कोष'।

(१७६) (अ) १६५२— वावूराम सक्सेना की इलाहावाद से प्रकाशित 'दक्खिनी हिन्दी'।

(१७७) १७५४— वीरेन्द्र वर्मा के 'लॉ लाँग व्रज' नाम के थीसिस का हिन्दी-अनुवाद 'व्रज भाषा' नाम से इलाहावाद से प्रकाशित हुआ।

(१७८) १६५४— सुनीतिकुमार चटर्जी की 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी'। यह उनकी १६४२ में प्रकाशित 'Indo-Aryan and Hindi' का अनुवाद है।

(१७८) (अ) १६५४— भोलानाथ तिवारी का इलाहावाद से प्रकाशित 'वृहद् पर्यायवाची कोष'।

(१७६) १६५५— रामचन्द्र वर्मा की वनारस से प्रकाशित 'शब्द-साधना'।

(१८०) १६५५— उदयनारायण तिवारी की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास'।

(१८१) १६५६— कपिलदेव की आगरा से प्रकाशित 'व्रजभाषा वनाम खड़ी वोली'।

(१८१) (अ) १६५६— शितिकण्ठ मिश्र की काशी से प्रकाशित पुस्तक 'खड़ी वोली का आन्दोलन'।

(१८२) १६५७— किशोरीदास वाजपेयी की काशी से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी शब्दानुशासन'।

(१८३) १६५८— भारत सरकार की ओर से प्रकाशित 'A Basic Grammar of Modern Hindi.'

(१८४) १६५८— शिवप्रसाद सिंह का शोधप्रवन्ध 'सूर-पूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य।

(१८५) १६५८— भोलानाथ तिवारी की दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण'।

(१८६) १६५८— किशोरीदास वाजपेयी का 'सरल शब्दानुशासन'।

(१८७) १६५६— हरदेव वाहरी की इलाहावाद से प्रकाशित 'Hindi Semantics' पुस्तक।

(१८८) १९५९—रामदहिन मिश्र का पटना से प्रकाशित 'बृहद् मुहावरा कोष' (प्रथम भाग)।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनका उल्लेख तो मिलता है किन्तु प्रकाशन समय ठीक से ज्ञात नहीं है :

१.	केशवराम भट्ट	—	'हिन्दी व्याकरण'
२.	रामचरण सिंह	—	'भाषा प्रभाकर'
३.	रामावतार शर्मा	—	'हिन्दी व्याकरण'
४.	विशेश्वर दत्त शर्मा	—	'भाषा तत्त्व प्रकाश'
५.	रामदहिन मिश्र	—	'प्रवेशिका हिन्दी व्याकरण'
६.	अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	—	'हिन्दी कौमुदी'
७.	रसूल अहमद	—	'हिन्दुस्तानी मुहावरा कोष'

इनके अतिरिक्त निम्न पांच ग्रंथ ऐसे हैं जिनका प्रकाशन अभी नहीं हुआ है। ये पांचों डी० लिट्० या पी०एच० डी० की उपाधि के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध हैं—

(१) १९४९—ओमप्रकाश का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्वीकृत 'हिन्दी मुहावरे' नाम का शोध-प्रबन्ध है।

(२) १९५७—कनिका विश्वास का 'ब्रजबुली' नाम का शोध-प्रबन्ध, जिस पर काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से उपाधि प्राप्त हुई।

(३) १९५८—कैलाशचन्द्र भाटिया का आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत 'हिन्दी में आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।

(४) १९५८—रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'आगरा जिले की बोली का अध्ययन' शीर्षक ग्रंथ, जिस पर प्रयाग विश्व-विद्यालय से उपाधि प्राप्त हुई।

(५) १९५९—जगदेव सिंह का *'A Grammatical Structure of Bangaru' शीर्षक ग्रंथ पर, जिसे* पैनिस्लावेनिया विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध रूप में स्वीकार किया।

(२) पूर्वी हिन्दी

(१) १८८०—हार्नलीका 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण', जिसमें 'पूर्वी हिन्दी' शब्द आधुनिक बिहारी और अवधी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(२) १८९०—हीरालाल काव्योपाध्याय लिखित 'छत्तीसगढ़ी बोली का व्याकरण', जिसका ग्रियर्सन ने अनुवाद और सम्पादन किया था और जो बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल (Vol. IX) में प्रकाशित हुआ था। १९२१ में यह अलग छपा।

(३) १८९३—केलॉग का हिन्दी भाषा का व्याकरण, जिसमें पूर्वी हिन्दी की विभिन्न बोलियों के स्थान-स्थान पर उल्लखित।

(४) १८९५—ग्रीव्ज के बनारस से प्रकाशित 'तुलसीदास के रामायण ग्रंथ के व्याकरण पर विचार' नामक ग्रंथ, जिसमें अवधी पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

(५) १९०४—ग्रियर्सन का कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का छठा भाग, जिसमें विस्तार से पूर्वी हिन्दी की सभी बोलियों व उपबोलियों के रूप पर प्रकाश डाला गया है।

(६) १९३७—बाबूराम सक्सेना का इलाहाबाद से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध 'Evolution of Awadhi'. इसमें अवधी का प्रायः सभी दृष्टियों से ऐतिहासिक और वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

(७) १९४९—लक्ष्मीधर का शोध-प्रबन्ध जो लन्दन से प्रकाशित हुआ। इसका नाम है–'मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य पद्मावत के विशिष्ट संदर्भ में १६वीं शती की हिन्दी का भाषा-वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन'।

(८) १९५७—भालचन्द्र राव तैलंग को नागपुर विश्वविद्यालय से 'भारतीय आर्य-भाषा परिवार की ये परिवर्तित बोलियां, छत्तीसगढ़ी, हलबी, भरती' पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। इस प्रबन्ध के प्रथम, द्वितीय, तृतीय खण्डों में तीनों बोलियों का दर्शन, रूप और अर्थतत्त्व की दृष्टि से विचार किया गया है। पंचम खण्ड में तीनों बोलियों के शब्दों की अनुक्रमणिका भी प्रस्तुत की गई है। ग्रंथ अभी अप्रकाशित है।

(३) राजस्थानी

(१) १८१८—जोहन क्रिस्टोफ अडनलंग की बर्लिन से प्रकाशित 'Mithridates order Allgemeins' sprachenkunde. etc. Vol. IV. जिसमें जयपुरी के विषय में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(२) १८६६—जे० राबसन का ख्याल अथवा मारवाड़ी नाटकों का संग्रह बेवर मिशन प्रेस में प्रकाशित हुआ, जिसमें विस्तृत भूमिका और शब्द-कोष भी था।

(३) १८७६—केलॉग का 'हिन्दी भाषा का व्याकरण', जिसमें स्थान-स्थान पर राजस्थानी बोलियों के रूप भी हैं।

(४) १८८६—फैलन द्वारा लिखित 'हिन्दुस्तानी-मुहावरा कोष' प्रकाशित हुआ, जिसका सम्पादन व संशोधन टैम्पिल और दिल्ली के लाला फकीरचन्द वैश्य द्वारा किया गया था। यह बनारस तथा लंदन से प्रकाशित हुई थी।

(५) १८९८— जी० मैकलिस्टर द्वारा लिखित अहमदाबाद से प्रकाशित 'जयपुर जिले में बोली जाने वाली बोलियों के उदाहरण' नामक पुस्तक, जिसमें शब्दकोष और व्याकरण भी था। इस पुस्तक के विषय में ग्रियर्सन ने लिखा है–'मैकलिस्टर का यह कार्य जयपुर जिले में बोली जाने वाली भाषाओं का पूर्ण व महत्त्वपूर्ण संग्रह है। वास्तव में यह उस जिले का भाषा-सर्वेक्षण है।'[१]

(६) १९०१—पं० रामकरन शर्मा द्वारा लिखित 'मारवाड़ी व्याकरण'। यह सम्भवतः जोधपुर से प्रकाशित हुई थी।

(७) १९०१— ग्रियर्सन का रायल एशियाटिक सोसायटी के जनरल में प्रकाशित एक लेख, जिसमें प्रमुख राजस्थानी बोलियों पर प्रकाश डाला गया है।

(८) १९०८—ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित कलकत्ता से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का भाग ९, हिस्सा २।

(९) १९१४-१६—इटेलियन विद्वान टैसीटरी के 'इंडियन एन्टीक्यूरी' में पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर कुछ लेख प्रकाशित हुए थे। कुछ दिन पूर्व 'राजस्थानी भाषा' नाम से अनुकरण करके नामवरसिंह ने इसे काशी से प्रकाशित किया।

(१०) १९४९ (लगभग)—नरोत्तम स्वामी और मुरलीधर व्यास की 'राजस्थानी कहावतां' जो कलकत्ता से प्रकाशित हुई। यह दो भागों में है।

(११) महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर के अन्तर्गत महाकवि सूर्यमल आसन से ता० २७, २८, २९ जनवरी, सन १९४७ को सुनीतिकुमार चटर्जी ने तीन भाषण दिए जो वहीं से 'राजस्थानी भाषा' नाम से प्रकाशित किए गए। इनमें राजस्थानी की विशेषताएं तथा उसका इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

---

१. 'of the above, Mr. Macalister's work is a most complete and valuable record of the many forms of spuch employed in the Jaipur state. It is a linguistic survey of the entire state.' L. S. I. Vol. IX, pt. 2 Page 33.

(१२) मोतीलाल मेनारिया की प्रयाग से प्रकाशित पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'। इसके प्रथम प्रकरण से व्याकरण पर भी प्रकाश पड़ता है।

(१३) १९५३—पुरुषोत्तमलाल मेनारिया की बनारस से प्रकाशित 'राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता का प्रश्न' नामक पुस्तक।

(१४) १९५८—कन्हैयालाल सहल का दिल्ली से प्रकाशित शोध-प्रवन्ध 'राजस्थानी कहावतें : एक अध्ययन'। इसमें राजस्थानी कहावतों का विस्तृत विवेचन है।

(४) पहाड़ी

(१) १८९३—केलॉग का लन्दन से प्रकाशित हिन्दी व्याकरण का दूसरा संस्करण है। इस व्याकरण में गढ़वाली और कुमाउंनी दोनों भाषाओं के रूप स्थान-स्थान पर उल्लिखित हैं।

(२) १८९४—गंगादत्त उपरेती द्वारा लिखित लोडिआना से प्रकाशित 'Proverles and Folklore of Kumaun and Gorhwal'.

(३) १९००—गंगादत्त उपरेती की अलमोड़ा से प्रकाशित 'Hill Dialects of the Kumaun Division.' इसके विषय में डॉ० ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'यह पुस्तक पहाड़ी भाषा की अनेक बोलियों के महत्त्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करती है।'

(४) १९०८—ग्रियर्सन द्वारा संगृहीत, कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' के नवें भाग का चौथा हिस्सा।

इन उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त तीन ग्रन्थ और प्राप्त होते हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। ये तीनों पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रवन्ध हैं।

(क) १९५४—गुणानन्द जुयाल का आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'मध्य पहाड़ी भाषा और उसका हिन्दी से सम्वन्ध : एक आलोचनात्मक अध्ययन'। इसके ध्वनि, शब्द, रूप तथा वाक्य-विन्यास का विवेचन किया गया है।

(ख) १९५७—गोविन्दसिंह कन्दारी द्वारा प्रस्तुत आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'गढ़वाली की रावल्टी उपबोली, उसके लोकगीत और उसमें अभिव्यक्त लोक-संस्कृति'।

(ग) १९५८—जनार्दनप्रसाद काला का 'गढ़वाली भाषा और उसका लोक-साहित्य' शीर्षक लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-प्रबन्ध। इस पुस्तक में भाषा का अध्ययन अत्यन्त संक्षिप्त है। द्वितीय खण्ड में ध्वनि, व्याकरण, शब्द-तत्त्व सम्बन्धी विशेषताएं हैं तथा तृतीय खण्ड के पंचम अध्याय में लोकोक्तियों, मुहावरों आदि पर प्रकाश डाला गया है।

(५) बिहारी

(१) १८६८—बीम्स का रायल एशियाटिक सोसायटी के (Vol. III) जर्नल में प्रकाशित एक लेख, जिसमें भोजपुरी पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

(२) १८७४—सर जार्ज कैम्पबैल की कलकत्ते से प्रकाशित पुस्तक 'specimen of languages of India'. इसमें मैथिली भाषा पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है, साथ ही शब्दों की एक सूची भी प्रस्तुत की गई है।

(३) १८७५—मिस्टर फैलन ने 'इण्डियन एन्टीक्यूरी' में मैथिली भाषा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

(४) १८७९—फैलन का बनारस तथा लन्दन से प्रकाशित 'नया हिन्दुस्तानी-अंग्रेजी कोष' प्राप्त होता है, जिसमें बिहारी भाषाओं पर प्रकाश डाला गया है।

(५) १८८०—हार्नली का लन्दन से प्रकाशित अन्य गौड़ीय भाषाओं की तुलना-सहित 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण'।

(६) १८८१—ग्रियर्सन द्वारा लिखित कलकत्ते से प्रकाशित 'उत्तरी बिहारी की मैथिली भाषा' यह सन

१८८० में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (भाग १) में पहले प्रकाशित हो चुका था।

(७) १८८१—जे० आर० रेड की इलाहाबाद से प्रकाशित 'आजमगढ़ जिले की रिपोर्ट', जिसके तृतीय परिशिष्ट में भोजपुरी के शब्द-समूह पर प्रकाश डाला गया है।

(८) १८८१—ई० बी० अलेक्जैण्डर का इलाहाबाद से प्रकाशित 'भारत के उत्तरी-पश्चिमी जिलों का व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक विवरण', जिसमें गोरखपुर में बोली जाने वाली भाषा का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(९) १८८१—ग्रियर्सन की कलकत्ते से प्रकाशित 'कैथी' की एक छोटी पुस्तिका।

(१०) १८८२—ग्रियर्सन का कलकत्ते से प्रकाशित 'मैथिली बोली का प्रारम्भिक विवेचन' नाम की पुस्तक, जिसके पहले भाग में उसका व्याकरण दिया गया है।

(११) १८८३—ग्रियर्सन का बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (भाग III) में बिहारी संज्ञा एवं क्रिया-रूपों पर (Declension and Conjugation) प्रकाशित निबन्ध।

(१२) १८८३ से ८७ तक—ग्रियर्सन की कलकत्ते से प्रकाशित आठ भागों में 'बिहारी भाषा की बोलियों व उपबोलियों के सात व्याकरण'।

(१३) १८८५ व ८९ में—हार्नली और ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित कलकत्ता, लन्दन और लिपज़िग से प्रकाशित 'बिहारी भाषाओं का तुलनात्मक कोष' जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी बातें हैं।

(१४) १८९१—जॉन क्रिश्चियन की लन्दन से प्रकाशित पुस्तक मिलती है जिसका नाम है 'बिहारी मुहावरे'।

(१५) १८९३—केलॉग का लन्दन से प्रकाशित 'हिन्दी भाषा का व्याकरण', जिसमें मैथिली, भोजपुरी के भी रूप दिये गए हैं।

(१६) १८९७—गिरीन्द्रनाथ दत्त का बंगाल की 'एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल' में (Vol. Lxvi) 'सरई जिले में बोली जाने वाली बोलियों का विवेचन' शीर्षक लेख।

(१७) १९०३—ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित, कलकत्ते से प्रकाशित 'भारत के भाषा-सर्वेक्षण' का भाग ५, हिस्सा २, जिसमें बिहारी भाषाओं का विस्तृत व्याकरण प्रस्तुत किया गया है।

(१८) १९२६—सुनीतिकुमार चटर्जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास', जिसमें बिहारी की विभिन्न बोलियों के भी उदाहरण दिये गए हैं।

(१९) १९५४—उदयनारायण तिवारी का पटना से प्रकाशित 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' नामक शोध-प्रबन्ध, जिसके द्वितीय खण्ड में विस्तार से भोजपुरी भाषा का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

(२०) १९५८—सुभद्रा झा का 'मैथिली भाषा की रूप-रचना' नामक लन्दन से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध।

(२१) १९५८—हरिहरप्रसाद गुप्त का दिल्ली से प्रकाशित शोध-प्रबन्ध, जिसका नाम है—'आजमगढ़ जिले की फूलपुर तहसील के आधार पर भारतीय ग्रामोद्योग-सम्बन्धी शब्दावली का अध्ययन'।

इसके अतिरिक्त दो शोध-प्रबन्ध और प्राप्त होते हैं जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं—

(१) १९४३—नलिनीमोहन सान्याल का कलकत्ता वि० वि० से स्वीकृत 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।

(२) १९५०—विश्वनाथप्रसाद का लन्दन वि० वि० से स्वीकृत 'भोजपुरी ध्वनियाँ और ध्वनि-प्रक्रिया का अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबन्ध।[1]

---

१. यह लेख इसी अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए श्रद्धेय डॉ० भोलानाथ जी तिवारी के आदेश से उन्हीं के निर्देशन में तैयार किया गया है। शीघ्रता के कारण यह सूची उतनी पूर्ण नहीं हो सकी है, जितनी सम्भव थी। अशुद्धियों एवं परिवर्द्धनों के सम्बन्धों में सुझावों का सहर्ष स्वागत करूंगा।

—लेखक

देशज शब्द और हिन्दी

श्री पूर्णसिंह

हिन्दी भाषा के शब्द-समूह का ऐतिहासिक दृष्टि से वर्गीकरण—तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी—चार शीर्षकों के अन्तर्गत बहुत दिनों से होता आया है। थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ यही वर्गीकरण सबसे अधिक तर्क-सम्मत एवं ग्राह्य भी है। यहां इनमें से, अत्यधिक विवादास्पद, 'देशज' नामक वर्ग पर विचार किया जा रहा है।

यों तो प्राचीन काल में देशज शब्द के अनेक पर्यायों एवं उनके अनेक अर्थों का प्रयोग मिलता है परन्तु शब्द-समूह के एक विशिष्ट वर्ग के अर्थ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य भरत[1] ने किया है। उन्होंने देशज के लिए 'देशीमत' शब्द का प्रयोग किया है।

देशज शब्द की परिभाषा एवं स्वरूप

देशज शब्दों के अध्ययन में आज तक उसकी किसी निश्चित परिभाषा का अभाव रहा है। यों तो इसके स्वरूप को लेकर भरत ने भी कुछ संकेत दिए थे परन्तु उस स्वरूप का स्पष्टीकरण आज तक न हो पाया। हमारे पुराने आचार्यों में से भरत, चण्ड, रुद्रट तथा हेमचन्द्र ने ही देशज शब्द पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार किया है। भरत के कथन से केवल यही व्यंजित होता है कि देशज शब्द तत्सम (समान) तथा तद्भव (विभ्रष्ट) शब्दों से भिन्न प्रकार के होते हैं। इनके पश्चात छठी शताब्दी के आचार्य चण्ड ने 'देशीप्रसिद्ध की संज्ञा उन दोनों को दी है जो न संस्कृत के हैं और न प्राकृत के।'[2] रुद्रट के अनुसार 'देशज शब्द उनको कहते हैं जिनकी प्रकृति-प्रत्ययमूलक रचना नहीं दिखाई जा सकती।'[3] अर्थात इनके अनुसार देशज शब्दों का न तो संस्कृत से सम्बन्ध है और न इनकी व्युत्पत्ति ही दी जा सकती है। रुद्रट के पश्चात देशीनाममाला के रचयिता अपभ्रंश के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने उन शब्दों को देशज कहा है 'जिनकी संस्कृत से व्युत्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती। यदि संस्कृत से व्युत्पत्ति दिखा भी दी जाए तो उस अर्थ में वे संस्कृत-कोषों में प्रचलित नहीं हैं। वे शब्द भी देशज हैं जिनका अर्थ-परिवर्तन हो गया है और जो प्राकृत में बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। परन्तु अर्थ-परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि वह शब्द के लाक्षणिक या गौण प्रयोग के आधार पर न हुआ हो।'[4]

लोक-भाषाएं ज्यों-ज्यों संस्कृत से दूर होती गई, त्यों-त्यों देशज शब्दों की संख्या भी बढ़ने लगी और परिणामस्वरूप देशज शब्दों के अध्ययन की ओर भी ध्यान जाने लगा। आधुनिक काल में इस अध्ययन को और भी बल मिला। आधुनिक युग में देशज शब्दों पर विचार करने वाले विद्वानों में बीम्ज, हार्नले, डा० भण्डारकर, जार्ज ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार तथा डा० बाबूराम सक्सेना के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

बीम्ज महोदय ने उन शब्दों को देशज माना है जिनका उद्गम-स्रोत संस्कृत नहीं है। इनके उद्गम-स्रोत के

---

१. नाट्यशास्त्र (१७-३)
२. हिस्टोरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश, पृष्ठ ५, तगारे
३. रुद्रट-प्रणीत काव्यप्रकाश (६-२७)
१. देशीनाममाला (१—३, ४)

विषय में बीम्ज का कथन है 'या तो वे देश के मूल निवासियों की भाषाओं से आए हैं या संस्कृत-काल के पश्चात आर्यों ने ही उनका निर्माण किया है।'[1] हार्नले भी देशज शब्दों का संस्कृत से कोई सम्बन्ध न मानते हुए उनके उद्गम-स्रोत के विषय में बीम्ज से सहमत हैं। साथ ही उन्होंने एक नई सम्भावना व्यक्त करते हुए कहा है कि 'आर्यों ने संस्कृत के शब्दों को ही अपने सम्भाषण से इतना विकृत कर लिया है कि उनको पहचानना असम्भव हो गया है। ऐसे शब्द ही देशज हैं। इस मान्यता का कारण देते हुए हार्नले का कहना है कि आधुनिक युगीन भाषा-वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप देशज शब्दों की संख्या घटती जा रही है। इनके मूलरूप पहचाने जा रहे हैं और इस प्रकार इनका सम्बन्ध संस्कृत से स्थापित होता जा रहा है।[2] डा० भण्डारकर भी देशज शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत से न मानते हुए इनका विकास आर्यों द्वारा विजित आदिवासियों की भाषाओं से स्वीकार करते हैं।[3]

जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार देशज शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से नहीं दिखाई जा सकती और ये कई प्रकार के होते हैं। कुछ देशज शब्द ऐसे हैं जो मुंडा तथा द्रविड़ भाषाओं से ग्रहण किये गए हैं, तो कुछ स्थानीय या प्रादेशिक हैं जिनका विकास यहीं हो गया है। जार्ज ग्रियर्सन का यह भी कथन है कि देशज शब्दों की अधिकांश संख्या प्राथमिक प्राकृतों से निकली है, परन्तु ये प्राकृतें उस प्राकृत से भिन्न हैं जिसका संस्कार करके संस्कृत का निर्माण किया गया। अतः ये शब्द सच्चे तद्भव हैं, परन्तु तद्भव के उस अर्थ में नहीं जो भारतीय वैयाकरणों द्वारा इस शब्द को दिया गया है। ये शब्द स्थानीय बोलियों के रूप थे और इनको तद्भव से अभिन्न मानना चाहिए।[4]

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत को निष्कर्षस्वरूप यों कह सकते हैं कि कुछ देशज शब्द तो आर्य-पूर्व की भाषाओं से आए हैं और कुछ का विकास देश में ही जनसाधारण की बोल-चाल से हो गया है। इनका यह भी कथन है कि 'प्राचीन वैयाकरणों ने ध्वन्यात्मक शब्दों को भी इनके अन्तर्गत रख दिया है।'[5] डा० बाबूराम सक्सेना ने अपना देशज-सम्बन्धी मन्तव्य और भी स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हुए कहा है 'उन शब्दों को हम देशज कहते हैं जो आधुनिक समय की बोल-चाल में स्वतः विकसित हुए हैं। जैसे पेड़, गड़बड़, ठंडाई आदि।'[6]

समीक्षा एवं निष्कर्ष

ऊपर हमने देश-विदेश के नये-पुराने अनेक भाषा वैज्ञानिकों के देशज-सम्बन्धी मन्तव्यों का अवलोकन किया। इन मतों के सत्य-असत्य पर विचार करना अभी शेष है। यदि इन सभी मतों को मिलाकर देशज शब्दों की विशेषताएं बताई जाएं तो सात विशेषताएं बनती हैं। अर्थात इन सभी मतों में देशज शब्दों के विषय में कुल मिलाकर निम्न सात बातें कही गई हैं:

(१) इन (तथाकथित देशज) शब्दों की संस्कृत भाषा से व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती।
(२) ये देश के मूल निवासियों की भाषाओं से आए हैं।
(३) इन शब्दों की व्युत्पत्ति अज्ञात है।
(४) इनकी उत्पत्ति देश में ही हुई है।
(५) ये शब्द संस्कृत के ही ऐसे विकृत रूप हैं जिनको पहचानना असम्भव हो गया है।
(६) ये शब्द प्रारम्भिक प्राकृतों से आए हैं।
(७) अनुकरणात्मक शब्द भी देशज का ही एक अंग है।

---

१. ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑव दि मॉडर्न द्राविडियन लैंग्वेजिज ऑव इण्डिया—भाग १, पृष्ठ १२
२. 'ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑव दि गॉडियन लैंग्वेजिज' की भूमिका, पृष्ठ ३६-४०; सम्पादक : मुरलीधर बनर्जी; 'हेमचन्द्र की देशीनाममाला' के पृष्ठ २४ पर उद्धृत
३. विल्सन फिलॉलॉजीकल लैक्चर्स, पृष्ठ १०८-१०८
४. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया—प्रथम भाग, पृष्ठ १२७
५. ओरिजिन एण्ड डिवलपमैण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १९१-१९२
६. सामान्य भाषा-विज्ञान, पृष्ठ १२६

यह प्रश्न अभी शेष है कि उक्त विशेषताएं ठीक हैं या गलत। नीचे प्रत्येक विशेषता के साथ प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर संक्षेप में विचार किया जाएगा।

(१) क्या देशज शब्दों की संस्कृत से व्युत्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती ?

देशज शब्दों का आर्यमूल से कोई सम्बन्ध नहीं, यह मान्यता सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। क्योंकि संस्कृत से सम्बन्ध जुड़ने पर तो कोई भी देशज शब्द संस्कृतसम (तत्सम) या संस्कृत-भव (तद्भव) की श्रेणी में आ जाएगा। इतना ही नहीं, अपितु यह मान्यता और भी विस्तृत है। जब प्राकृत-वैयाकरणों ने देशज शब्दों के संस्कृत-सम्बन्ध का निषेध किया था तो सम्भवतः वे यह कहना चाहते थे कि देशज शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक सम्बन्ध कहीं से भी नहीं दिखाया जा सकता। परन्तु, क्योंकि तत्कालीन भाषा का शब्द-समूह प्रायः संस्कृत से ही निःसृत था, अतः संस्कृतेतर भाषाओं से व्युत्पत्ति की समस्या उठाने की उन्होंने आवश्यकता ही न समझी होगी। यदि इस रूप में इस मत को स्वीकार न करें तो संस्कृत से भिन्न अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के सभी शब्द देशज हो जाएंगे, क्योंकि इनकी व्युत्पत्ति भी तो संस्कृत से सिद्ध नहीं की जा सकती।

(२) क्या देशज शब्दों का उद्गम-स्रोत देश के मूल निवासियों की भाषाएं हैं ?

बीम्ज, डा० भण्डारकर, ग्रियर्सन तथा डा० चैटर्जी आदि विद्वानों ने स्पष्ट कहा है कि देशज शब्द आर्य-पूर्व की भाषाओं से आए हैं। इतना तो सर्वथा सम्भव है कि आर्यों ने द्रविड़-कोलादि भाषाओं के कुछ शब्द अपनाये हों, परन्तु यह बात विचारणीय है कि इन शब्दों को देशज किस आधार पर कहा जा सकता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि देशज शब्दों का व्युत्पत्तिमूलक सम्बन्ध किसी भी भाषा से स्थापित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार हिन्दी में गृहीत अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि के शब्दों को देशज नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार द्रविड़, कोलादि भाषाओं से गृहीत शब्द भी देशज नहीं कहे जा सकते। यह तो हो सकता है कि तथाकथित देशज शब्दों में अनेक शब्द द्रविड़ भाषाओं से आकर मिल गए हों; परन्तु सिद्धान्ततः इन शब्दों को देशज नहीं कहा जा सकता और आशा की जा सकती है कि देशज शब्दों में मिले हुए ऐसे शब्द भविष्य में अलग कर दिए जाएं।

(३) *क्या देशज शब्दों की व्युत्पत्ति अज्ञात है ?*

ऊपर की दोनों विशेषताओं पर विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि देशज शब्दों की व्युत्पत्ति किसी भी भाषा से सिद्ध नहीं की जा सकती। इसका यही अर्थ हुआ कि इनकी व्युत्पत्ति अज्ञात है। अतः पहली दो और तीसरी, तीनों विशेषताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। डा० श्यामसुन्दरदास ने देशज शब्दों की व्युत्पत्ति को अज्ञात मानते हुए इसे 'अल्पज्ञता का सूचक'[१] माना है। परन्तु हमारे विचार से यह अल्पज्ञता की कोई बात नहीं है। डा० श्यामसुन्दरदास की इस मान्यता का तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अल्पज्ञता दूर होने पर सभी देशज शब्दों की व्युत्पत्ति का पता चल सकता है। तो क्या देशज शब्दों का अस्तित्व एक प्रपंच या भ्रम-मात्र है ? क्या अज्ञान का आवरण हटते ही ये शब्द किसी अन्य शब्द-श्रेणी में समाविष्ट हो जाएंगे। केवल अल्पज्ञता के आधार पर ही देशज शब्दों का अस्तित्व स्वीकार करना तो ठीक नहीं।

हमारे विचारानुसार देशज शब्द केवल ऐसा प्रपंच-मात्र नहीं है जो अल्पज्ञता के दूर होते ही साफ हो जाएगा। भाषा की स्थिर प्रकृति विकसनशीलता के कारण उसमें नूतन शब्दों का निर्माण, और पुरानों का लोप होता रहता है। प्राचीन आर्यों ने संस्कृत-काल तक कई सहस्र शब्दों का निर्माण कर लिया था। किसी भी भाषा का यह विकास या निर्माण कोई योजनाबद्ध प्रक्रिया नहीं होती अपितु अपनी स्वभाविक प्रवृत्ति के कारण ही शब्द-समूह आदि का परिवर्तन होता रहता है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत के निर्माण के पश्चात भी अनेक ऐसे शब्द स्वभावतः बने होंगे जिनका संस्कृत भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। ये शब्द उसी प्रकार बने होंगे जिस प्रकार संस्कृत के सहस्रों शब्द बने थे, जिस प्रकार संस्कृत (या आदिम भाषा इंडोहिट्टाइट) के शब्दों की व्युत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता उसी

---

१. हिन्दी भाषा का विकास, पृष्ठ ३१

प्रकार इन शब्दों की व्युत्पत्ति भी नहीं दी जा सकती। ऐसे शब्द ही वास्तविक देशज शब्द हैं और इनकी व्युत्पत्ति सदैव अज्ञात रहेगी। यही तो उनके देशजत्व का मूलाधार है। इस प्रकार डा० श्यामसुन्दरदास की धारणा तर्कसंगत नहीं कही जा सकती; हां अल्पज्ञता उन शब्दों के विषय में हो सकती है जो अदेशज होते हुए देशज शब्दों में घुल-मिल गए हैं और कालान्तर में जिनकी व्युत्पत्ति का पता लगने की सम्भावना की जा सकती है।

(४) क्या देशज शब्दों की उत्पत्ति देश में ही हुई है ?

आधुनिक युग में भाषा की दैवी उत्पत्ति को प्रायः अस्वीकार किया जा चुका है। अतः यह सिद्ध है कि शब्द भी आकाश से न टपककर पृथ्वी पर या देश में ही बने होंगे। तो फिर यहां देशज से क्या विशिष्ट अभिप्राय है? यहां 'देशज' शब्द में यह अभिप्राय निहित है कि जो भी शब्द जिस भाषा के देशज कहे जाते हैं वे उस भाषा-भाषी क्षेत्र-विशेष में ही वहां के जनसाधारण द्वारा आम बोलचाल में निर्मित किये हुए होते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि संस्कृत भाषा के (असंस्कृतावस्था के) शब्द भी तो जनता ने अपने देश-विशेष में साधारण बोलचाल द्वारा ही विकसित किए थे तो फिर वे देशज क्यों नहीं हैं? इसका उत्तर यही है कि हमें अपनी प्राचीनतम भाषा को, जिससे हमारी आधुनिक भाषा का व्युत्पत्ति-मूलक सम्बन्ध है, आधार रूप में स्वीकार करना होगा। अन्ततः किसी आधार पर तो आधुनिक अध्ययन टिकेगा ही। हिन्दी के विकास के सम्बन्ध में संस्कृत से और पहले का आधार खोजने की हमें आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देशज शब्द देश-विशेष की ही उपज हैं। परन्तु किस शब्द की उत्पत्ति कब हुई, इसका सूक्ष्म अध्ययन बहुत कठिन है। देशज शब्द संस्कृत-काल से लेकर आधुनिक काल तक बनते आ रहे हैं और भविष्य में भी बनते रहेंगे।

(५) क्या देशज शब्द संस्कृत-शब्दों के ही अत्यधिक विकृत रूप हैं ?

आधुनिक युग में अनेक खोजों के परिणामस्वरूप बहुत से तथाकथित देशज शब्दों की संस्कृत से व्युत्पत्तियां सिद्ध की जा रही हैं। इन्हीं शोधों के आधार पर हार्नले तथा डा० व्हूलर आदि ने अनुमान लगाया था कि सभी देशज शब्द संस्कृत के ही विकृत रूप हैं और एक-न-एक दिन इन सभी के मूल रूपों का पता चल जाएगा।

यह बात तो स्वीकार की जा सकती है कि तथाकथित देशज शब्दों में अनेक शब्द अज्ञानवश ऐसे मिले हुए हैं जो संस्कृत के ही अति विकृत रूप हैं और कालान्तर में जिनके मूल रूपों को पहचाना जा सकता है, परन्तु सिद्धान्त रूप में ऐसे शब्दों को देशज नहीं कहा जा सकता। लेकिन क्योंकि हम ऐसे शब्दों को वर्तमानावस्था में देशज शब्दों से अलग नहीं कर सकते अतः देशज शब्दों के अध्ययन की यह एक समस्या अवश्य है।

(६) क्या देशज शब्द प्रारम्भिक प्राकृतों के हैं और इनको तद्भवों से अभिन्न मानना चाहिए ?

जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार संस्कृत के निर्माण से पहले आर्यों की नैसर्गिक भाषा के कई रूप थे, जिनको इन्होंने प्रारम्भिक प्राकृतें कहा है। इन्हीं नैसर्गिक या प्राकृत भाषाओं में से मध्यदेशीय प्राकृत का संस्कार करके संस्कृत भाषा का निर्माण किया गया। शेष प्राकृतें भी लोकजीवन में रहकर संस्कृत के साथ-साथ चलती रहीं और कालान्तर में इन्होंने संस्कृत, पालि तथा प्राकृत आदि को अपने शब्द-समूह से प्रभावित किया। इन्हीं मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतों से गृहीत शब्द ही ग्रियर्सन के अनुसार देशज हैं। दूसरे शब्दों में देशज शब्दों का उद्गम-स्रोत मध्यदेशेतर प्राकृत भाषाएं ही हैं।

एक क्षण के लिए इस मत को ठीक मान भी लें तो हम इसमें इतना और जोड़ना चाहेंगे कि देशज शब्द जहां मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतों से आए हैं वहां यह भी सर्वथा सम्भव है कि कुछ शब्द मध्यदेश की ही प्रारम्भिक प्राकृत से आए हों। कहा जा सकता है कि उसका तो संस्कार करके संस्कृत बनाई ही थी, फिर वे शब्द देशज कैसे कहे जा सकते हैं? लेकिन क्या मध्यदेशीय प्राकृत के सभी शब्दों का परिष्कार करके संस्कृत में परिवर्तित कर दिया गया था और वे वाङ्मय में आ गए थे? हमारे विचार से जनसाधारण के सभी शब्द कभी भी वाङ्मय में नहीं आ सकते। बहुत से शब्द संस्कृत की मुहर लगने से बच गए होंगे, लेकिन वे जनता में प्रचलित रहे और कालान्तर में अपने प्रभावस्वरूप वाङ्मय में भी स्थान पा गए। क्योंकि; ये शब्द संस्कार के नियमों एवं विधि-विधानों से बाहर रह गए थे, अतः संस्कार

की हुई भाषा (संस्कृत) से इनकी व्युत्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती। कहने का अभिप्राय यह कि मध्यदेशेतर प्रारम्भिक प्राकृतों से ही नहीं, अपितु मध्यदेशीय प्रारम्भिक प्राकृत से भी आए शब्दों को ग्रियर्सन के हिसाब से देशज कहना चाहिए। हम इस पूरी मान्यता पर ही नीचे विचार करेंगे।

तथाकथित देशज शब्दों में प्रारम्भिक प्राकृतों के शब्द हो सकते हैं यह तो माना जा सकता है; परन्तु उन्हें देशज कहना हमें ठीक नहीं लगता। ग्रियर्सन महोदय ने प्रारम्भिक प्राकृतों से आए इन शब्दों को संस्कृत के शब्दों से, अधिक प्राचीन चाहे हों, लेकिन कम प्राचीन नहीं माना है। हमारे विचार से इन शब्दों और संस्कृत के शब्दों में कोई अन्तर नहीं करना चाहिए और यदि ऐसे शब्द हमारी भाषाओं में हैं, तो उन्हें तत्सम और तद्भव के अन्तर्गत स्थान देना चाहिए। देशज शब्दों का अस्तित्व संस्कृत-काल के पश्चात मानना ही ठीक है वरना तो संस्कृत के शब्दों को भी देशज कहा जाने लगेगा। यदि ऐसे शब्द हमारी भाषाओं में हैं तो इतने लम्बे समय से वे अवश्य ही विकृत हो गए होंगे और इसी अवस्था में ग्रियर्सन की यह मान्यता ठीक हो सकती है कि वे तद्भवों से अभिन्न हैं। यदि उन्हें देशज कहें तो तद्भवों से अभिन्न कैसे हो सकते हैं? अतः इन शब्दों को उसी अर्थ में तद्भवों से अभिन्न मानना चाहिए जो भारतीय वैयाकरणों ने तद्भव शब्द को दिया है।

प्रारम्भिक प्राकृतों के कई रूप थे भी या नहीं। यदि थे तो इसका कोई प्रमाण नहीं कि देशज शब्द वहीं से आए हैं। हम किसी भी देशज शब्द के विषय में निश्चय से नहीं कह सकते कि यह किसी प्रारम्भिक प्राकृत से आया है। अतः ऐसी दशा में हमारा उक्त विवाद निरर्थक-सा लगता है।

(७) क्या अनुकरणात्मक शब्द भी देशज के अन्तर्गत आएंगे?

जो शब्द किसी ध्वनि या दृश्यादि के अनुकरण पर बनते हैं उन्हें अनुकरणात्मक कहते हैं। ध्वन्यात्मक की अपेक्षा 'अनुकरणात्मक' नाम अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसमें ध्वनि एवं दृश्य दोनों के अनुकरण पर बने शब्दों का समावेश हो जाता है। इन शब्दों के विषय में यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि क्या ध्वनि या दृश्य का शब्दों में ठीक-ठीक अनुकरण किया जा सकता है? यदि ऐसा सम्भव होता तो अनुकरणात्मक शब्द ही भाषा की वास्तविक सम्पत्ति होते। परन्तु ऐसे शब्दों में ज्यों-का-त्यों अनुकरण न होकर ध्वनि या दृश्य की गूंज अथवा प्रतिविम्ब-मात्र होता है।

अनुकरणात्मक शब्द भाषा के जन्मकाल से ही उसके साथ हैं, लेकिन प्राचीन काल में इनके अध्ययन की ओर ध्यान नहीं दिया गया। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनुकरण-सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान तो ऐसे ही शब्दों के आधार पर भाषा का निर्माण एवं विकास मानते हैं। कम-से-कम इस सिद्धान्त में इतनी सत्यता तो है ही कि भाषा के आरम्भ में अनुकरण के आधार पर भी कुछ शब्द बने थे। इस प्रकार इन शब्दों की नींव बड़ी गहरी है।

प्राकृत-वैयाकरणों ने ऐसे शब्दों को देशज के ही अन्तर्गत रखा था, इस बात का स्पष्ट उल्लेख डा० चाटुर्ज्या तथा डा० उदयनारायण तिवारी ने किया है।[1] हिन्दी के आधुनिक विद्वानों में से कुछ इनको देशज मानने के पक्ष में हैं तो कुछ विपक्ष में। वास्तव में यदि अनुकरणात्मक शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक विशेषताओं पर विचार किया जाए तो ये देशज शब्दों से अभिन्न लगते हैं। प्रथम तो इनकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती, दूसरे इनका सम्बन्ध भी देश-विशेष से है। लेकिन, क्योंकि इनके मूल में स्पष्ट या अस्पष्ट अनुकरण का आधार वर्तमान है, अतः यह विशेषता इनको देशज शब्दों से कुछ अलग कर देती है, तथापि इतना अलग नहीं कि देशज की श्रेणी से बाहर निकल जाएं। यह तो देशज शब्दों के एक वर्ग की एक विशेषता मात्र है। सारतः अनुकरणात्मक शब्द भी देशज ही हैं।

अनुकरणात्मक शब्दों में स्पष्ट या अस्पष्ट अनुकरण का होना आवश्यक है परन्तु हिन्दी के कोषग्रंथों में कुछ ऐसे शब्दों को भी अनुकरणात्मक दिया गया है जिनके मूल में अनुकरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, हिन्दीशब्दसागर से झंझट, चहलपहल, चरपरा, चुभना तथा चोचला आदि शब्दों को लिया जा सकता है। हमारे विचार से 'झंझट' शब्द के निर्माण के मूल में किस ध्वनि या दृश्य का अनुकरण रहा होगा, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा

१. (i) ओरिजिन एण्ड डिवलपमैण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृष्ठ १६१
(ii) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ २११

सकता। 'झंझट' शब्द का अर्थ भी किसी ध्वनि या दृश्य से प्रकट नहीं हो सकता। ऐसी ही स्थिति दूसरे शब्दों की है। हमारे विचार से ऐसे शब्दों को अनुकरणात्मक न मानकर सीधे देशज के अन्तर्गत रखना चाहिए।

ऊपर की विशेषताओं के विवेचन के फलस्वरूप वास्तविक देशज शब्दों की निम्न विशेषताएं स्थापित की जा सकती हैं :

१. देशज शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती।

२. देशज शब्द जनसाधारण की बोलचाल द्वारा देश-विशेष की उपज हैं।

३. देशज शब्दों का एक भाग ही अनुकरणात्मक शब्द है।

इसके अतिरिक्त भ्रम या अज्ञान के कारण देशज शब्दों में कुछ ऐसे शब्द भी मिले हो सकते हैं जो—

(i) संस्कृत के ही अत्यधिक विकृत रूप हैं,

(ii) द्रविड़-कोलादि मूलनिवासियों की भाषाओं से आए हैं,

(iii) प्रारम्भिक प्राकृतों से आए हैं।

परन्तु ये देशज शब्दों के अध्ययन में समस्याएं-मात्र हैं, सिद्धान्ततः ऐसे शब्द देशज नहीं हैं। यदि ऊपर उल्लिखित देशज शब्दों की विशेषताओं को एकत्र कर दिया जाए तो देशज शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है :

'संस्कृत-काल के पश्चात प्रदेश-विशेष के लोक-व्यवहार में निराधार अथवा अनुकरणात्मक आधार पर निर्मित व्युत्पत्ति-रहित शब्दों को देशज कहते हैं।' यह सामान्य रूप से देशज शब्दों की परिभाषा हुई। हिन्दी के देशज शब्द वही हैं जो हिन्दी-युग में बने हैं।

विभिन्न युगों में देशज शब्दों की स्थिति

(१) संस्कृत-युग—सामग्री के अभाव में संस्कृत-काल के देशज शब्दों की स्थिति के विषय में अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। संस्कृत (वैदिक) भाषा का काल प्रायः १५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक माना जाता है। ५वीं शती-पूर्व पाणिनि ने नैसर्गिक भाषा का संस्कार करके संस्कृत रूप का प्रतिष्ठापन किया। यदि नैसर्गिक भाषा के एक हजार (१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू०) वर्षों की बात छोड़ दी जावे, तो ऐसा विचार है कि संस्कार के एकदम बाद संस्कृत में देशज शब्दों का अभाव रहा होगा, क्योंकि उस समय की जो भी शब्दावली जिस रूप में मिली वही संस्कृत हो गई थी। परन्तु इस संस्कार के पश्चात भी तो लोक-व्यवहार में नये शब्द बनते रहे होंगे। ऐसे शब्दों को ही देशज कहा जा सकता है। पाणिनि के पश्चात प्रयोग में आये इन देशज शब्दों के आधार पर भी कुछ नई धातुएं प्रकाश में आई होंगी और उनके लिए नये प्रत्ययादि सोचे गए होंगे। अष्टाध्यायी का उणादि-प्रकरण और उसके आधार पर परवर्ती शब्दों की सिद्धि में इस बात का सहज संकेत है।

संस्कार की प्रारम्भिक अवस्था में कुछ वर्षों तक विधि-विधानों की कठोरता के फलस्वरूप प्रत्येक ऐसे शब्द का बहिष्कार किया गया होगा जिसका संस्कृत की किसी धातु से सम्बन्ध न हो। लेकिन कुछ वर्ष के पश्चात जनसमाज में निर्मित शब्दों ने संस्कृत को प्रभावित करना और वाङ्मय में आना आरम्भ कर दिया होगा। परन्तु, क्योंकि इस प्रकार के शब्द प्राचीन काल से ही संस्कृत के अंग बन चुके हैं अतः उनको अलग करना बहुत कठिन ही है।

संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान टी० बरो ने भी यह स्वीकार किया है कि 'क्लासिकल संस्कृत में भी अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका उद्गम अज्ञात है। भारतीय शब्दावली के अनुसार इनमें अनेक शब्द देशज ही हैं। हमें इन अज्ञात उद्गम वाले शब्दों को देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए।'[1]

(२) पालि-काल—पालिकाल तक आते-आते देशज शब्दों की संख्या बढ़ गई होगी, क्योंकि इतने समय तक काफी देशज शब्दों का विकास हो गया होगा। राइज डेविड द्वारा सम्पादित पालि के एकमात्र अच्छे कोष 'पालि-इंगलिश डिक्शनरी' में एक बहुत बड़ी संख्या अज्ञात व्युत्पत्ति वाले शब्दों की है। निश्चय ही इनमें से अधिकांश शब्द देशज होंगे।

१. दि संस्कृत लैंग्वेज, पृष्ठ ४७

स्वयं कोषकार ने भूमिका में कहा है 'ऐसे शब्दों की विशाल संख्या है जिनके उद्गम का पता नहीं चलता। अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति उनका ठीक अर्थ प्रकट नहीं करती, अपितु कभी-कभी तो उलटा अर्थ देती है। प्रत्येक जीवित भाषा में इस प्रकार के शब्द होते हैं।'[1] कोषकार का यह वक्तव्य देशज शब्दों की ओर ही संकेत करता है। बहुत से शब्दों को कोष में अनुकरणात्मक भी माना गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पालि भाषा के देशज शब्दों की संख्या कई सहस्र है।

(३) **प्राकृत-काल**––प्राकृत काल देशज शब्दों की दृष्टि से बहुत सम्पन्न है। देशज शब्दों की बड़ी संख्या को देखकर ही इस युग में इन शब्दों का अध्ययन आरम्भ हुआ। प्राकृत भाषा के प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक कोष 'पाइअसद्द-महण्णवो' में अनेक शब्दों को स्पष्ट रूप से देशज स्वीकार किया गया है। कोषकार का कथन है, 'जिन शब्दों का संस्कृत के शब्दों के साथ कुछ भी सादृश्य नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है, उनको देश्य या देशी बोला जाता है। यथा अकासिय, अगय, इसव, उअचित––आदि।'[2] यहां कोषकार ने उदाहरण रूप में ४५ शब्द दिए हैं। यह तो बानगी-मात्र है और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कोष के भीतर कई सहस्र शब्दों को स्पष्टतया देशज स्वीकार किया गया है।

(४) **अपभ्रंश-काल**––अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि इस युग में देशज शब्दों की संख्या सर्वाधिक रही है। बहुत से वैयाकरण इनके अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए और बारहवीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने तो ऐसे शब्दों की माला ही प्रस्तुत कर दी।

इस युग में देशज शब्दों की स्थिति पर प्रकाश डालने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अपभ्रंश की सारी तो क्या, अधिकांश शब्दावली भी एकत्र उपलब्ध नहीं है। इसका कोई कोष भी प्रकाशित नहीं हुआ है। तगारे महोदय ने अपनी पुस्तक 'दि हिस्टोरिकल ग्रामर ऑव अपभ्रंश' में यों तो अपभ्रंश के प्रत्येक पक्ष पर विचार किया है, परन्तु देशज शब्दों की ओर उनका ध्यान भी प्रायः नहीं गया है।

वैसे तो अपभ्रंश भाषा का साहित्य बहुत है परन्तु उसके सुसम्पादित एवं सुप्रकाशित ग्रंथों में पाहुड़ दोहा, सावयधम्म दोहा, प्राकृतपैंगलम्, उक्तिव्यक्तिप्रकरण, वर्णरत्नाकर तथा कीर्तिलता का ही नाम लिया जा सकता है। इन पुस्तकों की शब्दानुक्रमणी देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन ग्रंथों में अनेक देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेखक अनेक शब्दों की व्युत्पत्तियां देने में असमर्थ रहे हैं, व्युत्पत्ति न दे सकने पर उन्होंने कहीं तो उसका संस्कृत-पर्याय दे दिया है और कहीं प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। कई शब्द तो ऐसे हैं जिनके अर्थ का भी पता नहीं चल सका है। हमारे विचार से इस प्रकार के सभी शब्दों को देशज कहा जा सकता है। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की गवेषणात्मक भूमिका में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भी अपभ्रंश में अनेक देशज शब्दों के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उक्त पुस्तक से ही उदाहरण दिए हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी के आदिकाल में उपलब्ध देशज शब्दों में से बहुत से उसी रूप में अथवा भिन्न (पूर्व) रूप में अपभ्रंश-काल में वर्तमान रहे होंगे।

(५) **हिन्दी-युग में देशज शब्दों की स्थिति**—हिन्दी-युग से अभिप्राय हिन्दी भाषा के आरम्भ से आज तक के समय का है। इसका आरम्भ लगभग १०वीं शताब्दी से स्वीकार किया जाता है। सुविधा के लिए इस युग को परम्परा-गत चार कालों में ही विभक्त करके प्रत्येक काल में देशज शब्दों की स्थिति पर अलग-अलग विचार किया जाएगा।

हिन्दी के आदिकाल तक अर्थात दसवीं शताब्दी तक आते अपभ्रंश अपने रूप परिवर्तित कर हिन्दी की ओर बढ़ने लगी थी। वैसे तो इस काल का बहुत-सा साहित्य अप्रामाणिक एवं अर्द्ध-प्रामाणिक माना जाता है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि इन ग्रंथों की रचना उस समय हुई जब अपभ्रंश और हिन्दी के रूप पूर्णतया अलग न हो पाए थे। इस युग के रासो-ग्रंथों में देशज शब्द भरे पड़े हैं। अकेले 'पृथ्वीराज रासो' में ही कई सौ देशज शब्द हैं। डा० विपिन-विहारी त्रिवेदी ने अपने ग्रंथ 'चन्दवरदाई और उनका काव्य' में रासो के देशज शब्दों पर कुछ विचार कर लगभग साठ

---

१. पालि-इंगलिश डिक्शनरी, भूमिका-पृष्ठ ७

२. पाइअसद्दमहण्णवो, भूमिका-पृष्ठ ७

शब्दों को उदारण रूप में प्रस्तुत किया है। हमारा विचार है कि यदि रासो की भाषा का व्युत्पत्तिमूलक अध्ययन किया जाए तो निश्चय ही कई सौ देशज शब्द निकलेंगे। ऐसी ही स्थिति अन्य ग्रंथों की है।

सम्भवतः हिन्दी के आदिकाल में देशज शब्दों की संख्या अपभ्रंश-काल की संख्या से कम हो गई थी और फिर निरन्तर घटती रही। इस युग में कुछ तो धार्मिक धाराओं के उदय के कारण संस्कृत-शब्दावली का और मुसलमानों के आगमन के कारण अरबी-फारसी की शब्दावली का हमारी शब्दावली पर प्रभाव पड़ा होगा और इन शब्दों ने बहुत से देशज शब्दों को स्थानान्तरित कर दिया होगा।

इसके पश्चात भक्तियुग आया। भक्ति-आन्दोलन के आधार पर ग्रंथ संस्कृत के होने के कारण संस्कृत-शब्दावली का प्रचार बहुत बढ़ गया। साथ ही अरबी-फारसी और तुर्की के शब्द भी हमारे शब्द-समूह में प्रविष्ट हो गए जिससे देशज शब्दों की संख्या और भी कम हो गई। फिर भी देशज शब्दों का बहुत कम प्रयोग इस काल में नहीं हुआ है क्योंकि तुलसी, सूर तथा जायसी के ग्रंथों में इनकी एक बहुत बड़ी संख्या वर्तमान है। सूरसागर में ही अनुकरणात्मक शब्दों सहित सहस्रों देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं। डा० प्रेमनारायण टण्डन ने अपने शोध-प्रबन्ध 'सूर की भाषा' में सूर-साहित्य से कुछ देशज शब्दों को उद्धृत किया है। 'तुलसीशब्दसागर' में भी बहुत से शब्द व्युत्पत्ति-रहित एवं अनेक अनुकरणात्मक हैं।[1] ये सभी शब्द सिद्ध करते हैं कि तुलसी ने संस्कृतमयी भाषा का प्रयोग करते हुए भी अनेक शब्दों को अपनाया है। यही दशा जायसी के काव्य की है। लोकभाषा के अत्यधिक निकट होने के कारण सम्भवतः देशज शब्दों की दृष्टि से वे सूर एवं तुलसी से भी आगे बढ़ गए हैं।

रीतिकाल की प्रवृत्तियां, राजमहलों के शृंगार-वर्णन और रीति-ग्रंथों के निर्माण की थी। अन्तःपुर अथवा नायक-नायिकाओं के वर्णन में कवि सीमित शब्दावली का ही प्रयोग करते थे। दूसरी ओर यद्यपि इनका काव्यशास्त्रीय विवेचन विशेष गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण तो न था, तथापि शब्दावली तो काव्य-शास्त्र की ही थी। उपर्युक्त दोनों बातें देशज शब्दों के अनुकूल न होने से इस युग में देशज शब्दों की संख्या भक्तिकाल से भी कम हो गई, फिर भी बिहारी एवं भूषण जैसे कवियों ने इनका प्रयो ग तो किया ही है। बिहारीसतसई में लगभग ४५ देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

आधुनिक काल अथवा खड़ी बोली युग में देशज शब्दों की स्थिति

कविता—यों तो खड़ी बोली का जन्म भी ब्रज तथा अवधी के साथ ही हुआ, परन्तु साहित्य में इसका विशेष स्थान भारतेन्दु के बाद ही बना। खड़ी बोली के विकास के संकेत ११ वीं शती से ही मिलने लगते हैं और गोरख-नाथ-देवलनाथ तथा चन्दबरदाई की रचनाओं में इसका पुट मिलता है। आदिकाल के अन्तिम चरण के कवि अमीर खुसरो ने तो इसके बहुत परिष्कृत रूप का प्रयोग किया है। यदि इस काल को खड़ी बोली का भी आदिकाल माना जावे तो इसमें देशज शब्दों की स्थिति हिन्दी के आदिकाल के समान ही है। खुसरो की परिष्कृत हिन्दी की रचनाओं में बहुत ही कम देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी के पूर्व-मध्ययुग की भांति खड़ी बोली का भी पूर्व-मध्ययुग माना जा सकता है जिसमें साहित्य की तीन धाराएं थीं। सन्तों की प्रेम एवं भक्तिमिश्रित काव्य-धारा, उर्दू कवियों की प्रेम-कथानकों की धारा—जिसे भाषा की दृष्टि से हिन्दी-उर्दू धारा कह सकते हैं—तथा रहीम-गंग आदि की नीतिपरक काव्य-धारा। सन्तों की रचनाओं में प्रयुक्त खड़ी बोली में देशज शब्दों का सामान्य प्रयोग हुआ है। हिन्दी-उर्दू धारा के कवियों—आलम, जटमल, बली, इंशा, नजीर तथा मीर आदि की—भाषा दिल्ली के निकट की जनभाषा थी, अतः इस काल में इसी धारा में देशज शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसके विपरीत रहीम तथा गंग आदि की रचनाओं में बहुत कम देशज शब्द आए हैं। रहीम की एकमात्र खड़ी बोली की रचना 'मदनाष्टक' में किसी भी देशज शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उत्तर मध्ययुग में रस-निधि, ठाकुर, पद्माकर, देवनाथ तथा ग्वाल आदि की कुछ रचनाओं में खड़ी बोली का पुट मिलता है। इन्होंने भी देशज शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है।

---

१. तुलसी-शब्दसागर : सम्पादक डा० भोलानाथ तिवारी

वास्तविक रूप से खड़ी बोली-युग का आरम्भ भारतेन्दु से हुआ। भारतेन्दुयुगीन खड़ी बोली कविता का विषय देशप्रेम एवं भारतीय संस्कृति के अधोपतन का खेद-प्रकाशन है। साथ ही भविष्य के उज्ज्वल स्वप्नों एवं प्राचीन संस्कृति के गुणगान पर भी कविताएं लिखी गई है। इस प्रकार के काव्य-विषय के कारण इस युग में संस्कृत-शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा और देशज शब्दों की स्थिति सामान्य रही। द्विवेदी-युग में भाषा की शुद्धि एवं संस्कार-परिष्कार पर अधिक बल दिया गया। भाषा संस्कृतनिष्ठ बन गई और देशज शब्दों का प्रयोग निरन्तर कम होता चला गया। इस युग की संस्कृतनिष्ठ रचनाओं में 'प्रियप्रवास' का नाम लिया जा सकता है जिसमें सम्भवतः ही किसी देशज शब्द का प्रयोग हुआ हो।

यों तो द्विवेदीयुगीन कविता में भी देशज शब्दों का प्रयोग काफी कम हो गया था, परन्तु छायावादी कविता को देखने से तो ऐसा लगता है कि इसमें देशज शब्द है ही नहीं। प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी की रचनाएं बहुत संस्कृतनिष्ठ है और सिवाय कुछ अनुकरणात्मक शब्दों के अन्य बहुत ही कम देशज शब्द इनमें आ पाए हैं। देशज शब्दों का यह बहिष्कार किसी जान-बूझकर चलाये गए आन्दोलन का परिणाम नहीं, अपितु कविता-विषय, अति-सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति तथा छायावादी वायवीयता के कारण स्वतः हो गया है। छायावादी कविता-जितने कम देशज शब्द संस्कृत-काल के पश्चात आज तक किसी भी युग में प्रयुक्त नहीं हुए।

यह बात बहुत कुछ ठीक है कि छायावादी कविता की भाषा कभी भी जनभाषा नहीं रही। छायावाद की परवर्ती प्रगतिवादी कविताधारा ने जहां छायावादी विचारधारा का विरोध किया वहां उसकी भाषा, अति कल्पना-प्रियता तथा वायवीयता का भी खण्डन किया। यथार्थवादिता पर बल दिया गया और भाषा को भी जनसाधारण के निकट लाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार लोक की ओर रुचि बढ़ने से अनेक देशज शब्द फिर से साहित्य में आने लगे। प्रयोगवादी एवं अधुनातन कविता में भी देशज शब्दों की स्थिति प्रायः वैसी ही है। अधुनातन युग के देशज शब्दों के विषय में यह और उल्लेखनीय है कि अनुकरणात्मक आधार पर बने देशज शब्द अन्य देशज शब्दों की अपेक्षा अधिक हैं।

खड़ी बोली गद्य में देशज शब्दों की स्थिति

पद्य की अपेक्षा गद्य साधारण जनता के अधिक निकट होता है, सम्भवतः इसी कारण गद्य-साहित्य में पद्य-साहित्य की अपेक्षा देशज शब्दों का आधिक्य पाया जाता है।

खड़ी बोली हिन्दी गद्य की आरम्भिक अवस्था में जासूसी तथा तिलस्मी आदि मनोरंजन एवं घटनाप्रधान उपन्यासों का आधिक्य था। इनकी भाषा सरल एवं अनेक देशज शब्दों से युक्त है। यदि गणना की जाए तो इन उपन्यासों में सहस्रों देशज शब्द मिलेंगे। इनके पश्चात प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में जनता के बहुत निकट आ गए, फलतः उन उपन्यासों में ग्रामीण एवं देशज शब्दों की एक बहुत बड़ी संख्या समाविष्ट हो गई। 'रंगभूमि' उपन्यास में ही लगभग २२५ देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें से १५० के लगभग तो खड़ी बोली में बहुत प्रचलित है। यही दशा 'गोदान' आदि उपन्यासों की है।

जनसाधारण में निर्मित होने के कारण देशज शब्द दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा विचार-प्रधान विषयों के लिए उपयुक्त नहीं होते। सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति प्रायः इनके द्वारा नहीं की जा सकती। यही कारण है कि छायावादी गद्य एवं अन्य विचार-प्रधान निबन्धों आदि में इनका प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। प्रसाद के निबन्धों, महादेवी वर्मा की आलोचनात्मक भूमिकाओं, राय कृष्णदास आदि के गद्यगीतों, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी एवं अज्ञेय आदि के साहित्य में देशज शब्द बहुत कम है। इसके विपरीत यशपाल आदि के प्रगतिवादी गद्य में इनकी संख्या अपेक्षाकृत कुछ अधिक है।

आंचलिक उपन्यासों में देशज शब्द

गद्य साहित्य में देशज शब्दों की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। इन उपन्यासों में मैला 'आँचल', 'परती परिकथा', 'गंगा मैया' तथा 'बाबा बटेश्वरनाथ' बहुत प्रसिद्ध हुए है। इनमें देशज शब्दों की अधिकता का

अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अकेले 'मैला आंचल' में ही ३०० के लगभग देशज शब्दों का प्रयोग हुआ है। निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि अधुनातन गद्य में पर्याप्त देशज शब्दों का प्रयोग हो रहा है।

हिन्दी में देशज शब्दों की संख्या

हिन्दी में देशज शब्दों की संख्या जानना भी बड़ा मनोरंजक होगा। यद्यपि इस बात का कोई निश्चित उत्तर तो नहीं दिया जा सकता, फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है।

जब हम हिन्दी शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसमें मध्यदेश के, दसवीं शताब्दी से आज तक के, सभी भाषा-रूप आ जाते हैं। साहित्य में प्रयुक्त मध्यदेशीय शब्दावली का सबसे बड़ा कोष 'हिन्दी शब्द सागर' है जिसमें लगभग एक लाख शब्द हैं। इस कोष में लगभग ३१०० शब्दों को स्पष्ट रूप से देशज स्वीकार किया गया है। लगभग एक हजार शब्द अनुकरणात्मक हैं। पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि अनुकरणात्मक शब्द भी देशज ही हैं अतः देशज शब्दों की संख्या चार हजार से ऊपर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उक्त कोष में ६०० शब्द इस प्रकार के हैं जिनकी व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। लगभग १५० शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत, फारसी और अरबी आदि से दी तो गई है परन्तु उसे संदिग्ध माना गया है। क्योंकि इन शब्दों के विषय में कोषकारों का कोई निश्चित मत नहीं है अतः इनको भी देशज़ माना जा सकता है। सैकड़ों शब्द डिंगल के एवं सैकड़ों दोहरी व्युत्पत्तियों वाले हैं। इन शब्दों में से भी बहुतों के देशज होने की सम्भावना है। इस प्रकार सब मिलाकर हिन्दी में देशज शब्दों की संख्या ५००० से भी अधिक होती है जो हिन्दी-शब्द-समूह का लगभग ५ प्रतिशत है।

खड़ी बोली के देशज शब्दों की संख्या

अब रहा खड़ी बोली में देशज शब्दों की संख्या का प्रश्न। यह तो निश्चित ही है कि हिन्दी शब्द सागर की शब्दावली के एक बहुत बड़े भाग का प्रयोग खड़ी बोली में नहीं होता। अतः हिन्दी एवं खड़ी बोली हिन्दी के देशज-शब्दों की संख्या में काफी अन्तर है। उक्त कोष के आधार पर ही खड़ी बोली के देशज शब्दों की संख्या लगभग ३००० मानी जा सकती है।

खड़ी बोली के देशज शब्दों की संख्या के विषय में एक बात और भी कथनीय है कि अधुनातन खड़ी बोली के साहित्य में अनेक ऐसे देशज शब्दों का प्रयोग हो रहा है जो हिन्दी शब्दसागर में नहीं आ पाए हैं। किसी भी कोष में अधुनातन पूरी शब्दावली तब तक नहीं आ सकती जब तक कि सारे अधुनातन साहित्य की शब्दानुक्रमणी तैयार न हो। यदि इस प्रकार का प्रयास किया जाए तो अनेक शब्द ऐसे निकलेंगे जो अभी तक किसी भी कोष में स्थान नहीं पा सके हैं और जिनमें से बहुत से देशज हैं। आंचलिक उपन्यासों के विषय में यह कथन सर्वाधिक सत्य है। यदि साहित्य में प्रयुक्त, परन्तु कोषों द्वारा अप्रकाशित शब्दावली की ओर भी ध्यान दिया जाए तो निश्चय ही खड़ी बोली के देशज शब्दों की संख्या बढ़ जाएगी।

खड़ी बोली के बहुप्रचलित देशज शब्द

यह प्रश्न विवादास्पद है कि खड़ी बोली के देशज शब्द कौनसे हैं और कौनसे नहीं। आज आंचलिक कथा-साहित्य और लोकभाषा-प्रचार के कारण हिन्दी-प्रदेश की देशज शब्दों से युक्त शब्दावली, चाहे अब तक वह परिनिष्ठित हिन्दी का अंग न भी रही हो, खड़ी बोली भी शब्दावली में स्थान पाती जा रही है। यहां इस विवाद में न पड़कर खड़ी बोली के बहुप्रचलित लगभग २६० शब्द उदाहरण रूप में प्रस्तुत करके उनमें से कुछ पर व्युत्पत्तिमूलक विचार किया जाएगा :

अटकल, अरराना, आढ़त, आल्हा, ऊटपटांग, ऊबड़खाबड़, ऊलजलूल, कंजूस, कटकटाना, कलमलाना, कल्लर, कसमसाना, कायँ-कायँ, किचकिचाना, कुलबुलाना, खचाखच, खच्चर, खटकना, खटखटाना, खटपट, खड़बड़ाहट, खद्दर, खनकना, खनखनाना, खर्राटा, खलबली, खादी, खिलखिलाना, खुभना, खुर्राट, गटकना, गटपट, गड़बड़, गड़पना, गत्ता, गदराना, गपकना, गालमूसरी, गिचपिच, गिटपिट, गिड़गिड़ाना, गिलगिली, गिलौरी, गुड़गुड़ाना, गुन-

गुनाना, गुर्राना, घड़घड़ाहट, घपला, घमासान, घमाका, घर्राटा, घहराना, घिसपिस, घुन्ना, घूंट, घोंपना, घोटाला, चंपत, चटकना, चटकीला, चटपट, चमाचम, चरमराना, चहकना, चहलपहल, चाटना, चिड़चिड़ा, चिपकना, चिपचिपा, चिरौरी, चिलड़ा, चिल्ला, चींचपड़, चीकू, चुभना, चुहड़ा, चूहा, चोचला, छटपटाना, छपछप, छमाछम, छलछलाना, छावड़ी, छौंकना, जंजाल, जगमगाना, जलेबी, झंझट, झंझनाना, झकझक, झकझोरना, झगड़ा, झटपट, झड़प, झन्नाटा, झमेला, झहरना, झिझिक, झिड़कना, झिलमिल, झुग्गी, झुटपुटा, झुनझुना, टंटा, टट्टू, टनटन, टपकना, टर्राना, टाली, टीमटाम, टीस, टूम, टेंटुआ, ठंढाई, ठकठक, ठनठन, ठनाका, ठपठप, ठहाका, ठुमकना, ठुमरी, ठेठ, ठेस, डकार, डबडबाना, डील, डुगडुगी, ढावा, तड़कना, तड़तड़ाना, तड़पना, तड़कभड़क, तरतराना, तारामीरा, तावड़तोड़, तुतलाना, तेदुआ, थपकना, थपकी, थपथपाना, थपेड़ा, थप्पड़, थूक, थोथा, दनदनाना, दनादन, दहाड़ना, दुतकारना, धकधक, धकधकाना, धक्का, धड़कना, धड़ल्ला, धड़ाका, धड़ाधड़, धड़ाम, धत्, धधकना, धव्वा, धमकाना, नहरुआ, नौटंकी, पटपट, पठाका, पपोरना, पागल, पिचपिचा, पिलपिला, पुचकारना, पेठा, पेड़, फफकना, फटकना, फटकारना, फटफटाना, फड़फड़ाना, फरफराना, फर्राटा, फुदकना, फुसफुसाना, फूंक, फूहड़, बंटाढार, बड़बड़ाना, बरबर, बरमा, बरवै, बांगर, बिचकना, बिज्जू, बिनौला, बिलबिलाना, भड़कना, भड़कीला, भड़ास, भद्दा, भन्नाना, भनभनाना, भबकी, भरता, भिनकना, भुरभुरा, भेंगा, भोंपू, मकौड़ा, मक्का, मखौल, मचकना, मचमचाना, मचलना, मट्ठी, मांद, मुन्ना, मेमना, रद्दा, रिमझिम, रेवड़ी, लचक, लचकीला, लच्छा, लड़खड़ाना, लथपथ, लपकना, लपलपाना, ललकारना, लात, लुंगाड़ा, लहड़ा, लोच, लौंडा, शेरवानी, संडास, सकपकाना, सटपटाना, सनसनी, सन्नाटा, समोसा, सरसराहट, सहलाना, सांझी, साई, साईस, सालू, सिटपिटाना, सिलवट, सिसकना, सौड़, हकलाना, हक्कावक्का, हड़पना, हड़बड़ाना, हल्ला, हांफना, हौआ, हारिल, हिचकी, हिनहिनाना तथा हुल्लड़ आदि।

ऊपर उद्धृत शब्दों में से कुछ पर व्युत्पत्तिमूलक विचार

(१) **अटकल**—

हिन्दी में अटकल शब्द का प्रयोग (अ) कल्पना, अनुमान तथा (आ) अन्दाज व कूत के अर्थ में होता है। हिन्दीशब्दसागर[१] में 'अटकल' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

अटकल—सं० √अट्=घूमना+सं० √कल्=गिनना।

श्री कुलकर्णी ने इसकी व्युत्पत्ति सं० अर्द्ध+कल् अथवा सं० अन्तर+कल् से बताई है।[२] इस व्युत्पत्ति को देखकर यह कहा जा सकता है कि श्री कुलकर्णी का एक निश्चित मत नहीं है। दूसरे श्री कुलकर्णी तथा हिन्दी शब्दसागर दोनों का 'अटकल' की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है, वह भी उस अवस्था में जबकि दोनों ने ही व्युत्पत्ति संस्कृत से दिखाई है। हमारे विचार से ये सभी व्युत्पत्तियां भी अटकल-मात्र हैं। तीसरे 'अट्+कल्', 'अन्तर+कल्' या 'अर्द्ध+कल्' आदि किसी से भी यदि अटकल शब्द निकला होता तो इन मतों में इतना वैपरीत्य तथा अनिश्चितता नहीं रहती। चौथे संस्कृत की दो धातुओं से, जिनका अर्थ भी अटकल से अनुरूप नहीं है, अटकल शब्द का बनना कुछ कम ही समझ में आता है। उक्त व्युत्पत्तियों को प्रामाणिक न मानकर ही श्री रामचन्द्र वर्मा[३] ने 'अटकल' की व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है।

हमारे मत से यह शब्द देशज है फलतः व्युत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। अनुमानमात्र के आधार पर संस्कृत की किन्हीं समान ध्वनियों वाली धातुओं को पकड़ कर रख देना व्युत्पत्ति नहीं कही जा सकती। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री टर्नर[४] का इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मौन रहना भी इसके देशजत्व की ओर संकेत करता है। यदि इसकी

१. हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ६३, कालम १
२. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृष्ठ १७, कालम २
३. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृष्ठ २६, कालम २
४. नेपाली डिक्शनरी, (अड़कल्), पृष्ठ १०, कालम २

व्युत्पत्ति सम्भव होती तो टर्नर-जैसा प्रौढ़ मस्तिष्क उसे प्रस्तुत करने में नहीं चूकता। निष्कर्ष-स्वरूप यह कहना अनुचित न होगा कि अटकल शब्द देशज ही है और इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती।

(२) कंजूस—

हिन्दी शब्दसागर[१] में 'कंजूस' शब्द की व्युत्पत्ति सं० कण + हिं० चूस से बताई गई है। श्री रामचन्द्र वर्मा का भी यही मत है।[२] श्री ज्ञानेन्द्रमोहनदास[३] ने इसे सं० कण् + चुप् से व्युत्पन्न माना है और इसका प्राकृत रूप 'कंचुप' दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी मत लगभग समान ही हैं और कण् + चूस से 'कंजूस' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं, तथापि ये उचित नहीं लगते, भले ही ध्वनि और भाव का कुछ साम्य इनमें दिखाई पड़ता हो। सं० 'कण्' तत्सम और 'चूप' तद्भव का मेल ही क्यों हुआ? इनके अतिरिक्त श्री कुलकर्णी[४] ने इसकी व्युत्पत्ति सं० कर्ण + जुप् से मानी है और इसका प्राकृत रूप 'कण्णझुस' बताया है। इतने पर भी श्री कुलकर्णी 'जुप्' के विषय में कोई निश्चय नहीं कर सके हैं। अतः यह स्पष्ट है कि हिन्दी शब्दसागर और श्री रामचन्द्र वर्मा के मत से इनका मत भिन्न है जबकि दोनों ही पक्षों ने संस्कृत का आधार ग्रहण किया है। इस प्रकार ये व्युत्पत्तियां तर्कसंगत प्रतीत नहीं होतीं।

यहां यह संकेत करना भी अच्छा होगा कि 'कंजूस' शब्द को हिन्दी शब्दसागर में जहां देशज दिया गया है वहां इसके नवीनतम संस्करण 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' में इसकी व्युत्पत्ति को संदिग्ध व अनिश्चित मानकर प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया है।[५] यह उक्त शब्द के देशजत्व की ओर संकेत करता है। वास्तव में 'कंजूस' शब्द देशज है। टर्नर महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है[६] अतः यह मत और भी पुष्ट हो जाता है।

(३) खादी

गजी, किसी अन्य मोटे कपड़े या हाथ से बने कपड़े को खादी कहते है।

हिन्दी शब्दसागर[७] में इस शब्द को देशज माना गया है। श्री रामचन्द्र वर्मा[८] ने इसकी व्युत्पत्ति के स्थान पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। श्री कुलकर्णी[९] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। इन्होंने फारसी 'खादा' से इसके निकलने की सम्भावना अवश्य प्रकट की है परन्तु फिर स्वयं ही कह दिया है कि ऐसा होना कठिन एवं संदिग्ध है।

टर्नर[१०] महोदय ने संस्कृत के एक कल्पित रूप 'खद्द' से इसकी व्युत्पत्ति दिखाने की चेष्टा की है परन्तु इस पर उनको स्वयं विश्वास नहीं है। वास्तव में इस प्रकार किसी संस्कृत-शब्द की कल्पना करके उसके साथ किसी शब्द को सम्बद्ध करना तर्कसंगत नहीं। सारतः इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती और यह देशज ही है।

(४) चमाचम

इसका अर्थ है उज्जवल, कांति के सहित, झलक के साथ।

हिन्दी शब्दसागर[११] में इसे हिन्दी 'चमकना' के अनुकरण पर निर्मित शब्द माना गया है और 'चमकना' की व्युत्पत्ति सं० चमत्कार से दी गई है। हमारे विचार से 'चमकना' की व्युत्पत्ति सं० चमत्कार से ठीक नहीं; क्योंकि न तो 'चमकना' में सं० चमत्कार का भाव है और न ही 'चमत्कार में 'चमकना' के प्रकाश तथा ज्वाला-सम्बन्धी भाव हैं।

---

१. हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ४११, कालम १
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृष्ठ २०२, कालम १
३. बांगलाभाषार अभिधान, पृष्ठ ४०८, कालम ३
४. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृष्ठ १२६, कालम २
५. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ १५१, कालम २
६. नेपाली डिक्शनरी, (कंजूस) पृष्ठ ६८, कालम १
७. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ७०३, कालम २
८. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ३०४, कालम १; पृ० २६८, कालम १
९. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० २०३, कालम २
१०. नेपाली डिक्शनरी, पृ० १२०, कालम १
११. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ६४५, कालम २

अतः न तो सं० 'चमत्कार' से 'चमकना' की व्युत्पत्ति दी जा सकती और न ही 'चमकना' से 'चमाचम' बना है।

टर्नर[1] महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति न देकर केवल इतना लिखा है कि इसकी सं० 'चमत्कार' से तुलना करो। अतः यह तो स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में संस्कृत का चमत्कार शब्द था और यदि वे 'चमकना' की व्युत्पत्ति इससे ठीक समझते तो एक निश्चित मत प्रकट करते। इस प्रकार हमारे मत का और भी समर्थन हो जाता है।

श्री रामचन्द्र वर्मा ने 'चमाचम' को अनुकरणात्मक शब्द माना है।[2] यद्यपि इस शब्द में अनुकरण के आधार की कम ही सम्भावना है फिर भी ऐसा असम्भव नहीं। कुछ भी हो, यदि यह अनुकरणात्मक है तब तो देशज है ही, और यदि अनुकरणात्मक न भी माना जावे तो इसे सीधे रूप से देशज स्वीकार करना ही अधिक उचित है।

(५) चूहा

हिन्दी शब्दसागर[3] और श्री रामचन्द्र वर्मा[4] द्वारा इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है--

अनुकरणात्मक चू (चूं) + हा (प्रत्यय) = चूहा।

परन्तु यह व्युत्पत्ति कुछ तर्कसंगत नहीं लगती। इसके अटकल मात्र होने का प्रमाण यह है कि संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर[5] के नवीनतम संस्करण में इसकी व्युत्पत्ति सं० चूप + क ? = चूहा दी गई है। परन्तु यह भी एक अन्य कल्पना-मात्र है और सम्भवतः 'मूपक्' की नकल पर ऐसा किया गया है। टर्नर महोदय[6] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। हमारे विचार से इस शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती और यह देशज ही है।

अधिक से अधिक चूहा शब्द को अनुकरणात्मक माना जा सकता है क्योंकि चूहा 'चूं-चूं' की ध्वनि करता है। ऐसा मानने पर भी यह देशज के अन्तर्गत ही रहेगा और हमारी मान्यता यथावत रहेगी।

(६) जंजाल

यह शब्द हिन्दी में झंझट, बखेड़ा, प्रपंच, बंधन, फंसाव आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

श्री रामचन्द्र वर्मा[7] तथा हिन्दी शब्दसागर[8] द्वारा जंजाल शब्द हिन्दी 'जग + जाल' से व्युत्पन्न माना गया गया है। परन्तु यह व्युत्पत्ति ध्वनि एवं अर्थ के साम्य पर आधृत एक ऐसी कल्पना-मात्र लगती है जैसे कि अवधी के 'नियर' शब्द को अंग्रेजी 'नीयर' शब्द से उद्भूत मानना। श्री कुलकर्णी[9] ने जंजाल की व्युत्पत्ति सं० जंज् = युद्ध से मानी है। डा० बनीकांत काकाती ने इसे 'खासी' तत्त्व माना है।[10] श्रीदास[11] ने इसकी व्युत्पत्ति न देकर केवल यह लिख दिया है कि इसके मूल में सं० झंझा का भाव है। वास्तव में जंजाल की व्युत्पत्ति के विषय में इतने विभिन्न मतों का होना यही सिद्ध करता है कि इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती। टर्नर महोदय[12] ने भी इसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं दी है। इन सभी मतों को देखते हुए 'जंजाल' शब्द को देशज मानना ही तर्कसंगत होगा।

(६) झंझट

यह शब्द व्यर्थ का झगड़ा, टंटा, बखेड़ा, कठिनाई तथा परेशानी आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। हिन्दी-

---

१. नेपाली डिक्शनरी (चम्कनु), पृ० १६७, कालम १
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष
३. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०२६, कालम २
४. प्रामाणिक हिन्दीकोष, पृ० ४१६, कालम २
५. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृ० ३२२, कालम १
६. नेपाली डिक्शनरी, (चुहा) पृ० १८२, कालम १
७. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ४४०, कालम १
८. हिन्दी शब्दसागर, पृ० १०६६, कालम १
९. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० ३०६, कालम १
१०. आसामी इट्स फॉर्मेशन एण्ड डिवलपमेंट, पृ० ३४
११. बांगला भाषार अभिधान, पृ० ८२८, कालम १
१२. नेपाली डिक्शनरी, पृ० २०६, कालम २

शब्दसागर[1] तथा श्री रामचन्द्र वर्मा[2] के अनुसार 'झंझट' शब्द अनुकरणात्मक है। परन्तु यह विचारणीय है कि किस आधार पर इसे अनुकरणात्मक कहा जा सकता है। 'झंझट' शब्द को देखकर हम किसी ऐसे दृश्य या ध्वनि की दुरूह कल्पना तक नहीं कर पाते जिसका अनुकरण इस शब्द में दिखाई पड़े। 'झंझट' शब्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया है। तुलसी शब्दसागर[3] में इसकी कोई व्युत्पत्ति न देकर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया गया है। टर्नर महोदय[4] ने भी इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। इन सभी मतों को देखते हुए यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि 'झंझट' शब्द देशज ही है।

(८) ठेस

हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग 'आघात' या 'चोट' के अर्थ में होता है।

हिन्दी शब्द सागर[5] में 'ठेस' शब्द का निकास हिन्दी 'ठस' से माना गया है। श्री रामचन्द्र वर्मा[6] का भी यही मत है। अब प्रश्न यह उठता है कि हिं० 'ठस' कहां से आया? इसकी व्युत्पत्ति उक्त दोनों ने ही सं० 'स्थासन्' से मानी है जिसका अर्थ है—दृढ़ता से जमा हुआ अथवा दृढ़। इसके विपक्ष में प्रथम बात तो यह है कि मोनियर विलियम्ज ने अपनी 'संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' में 'स्थासन्' शब्द ही नहीं दिया है। उन्होंने 'स्थास्नु' शब्द अवश्य दिया है जिसका अर्थ है टिकाऊ, स्थायी, अनादि आदि। यदि 'स्थासन्' शब्द भी मान लिया जाए अथवा इसके स्थान पर 'स्थास्नु' ही मान लिया जाए तो भी कुछ आपत्तियां शेष रह जाती हैं। जैसे न तो इनका अर्थ ही 'ठेस' के अर्थ से मेल खाता है और न ही इनसे ठेस का विकास स्वाभाविक जान पड़ता है। अतः इन संस्कृत-शब्दों से ठेस की व्युत्पत्ति मानना औचित्यपूर्ण नहीं।

टर्नर महोदय[7] भी ठेस की व्युत्पत्ति के विषय में मौन हैं। यदि उक्त संस्कृत-शब्द से यह निकला होता तो यह विद्वान अवश्य ही कुछ उल्लेख करते। सारतः इस शब्द की व्युत्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि यह देशज है। डा० श्यामसुन्दरदास[8] द्वारा इसको देशज माना जाना हमारे कथन को और भी पुष्ट करता है।

(९) पागल

पागल शब्द की व्युत्पत्ति हिन्दी शब्दसागर[9] एवं श्रीदास[10] द्वारा सं० पागल से दी गई है। परन्तु यह विवादास्पद है कि सं० भाषा में 'पागल' शब्द है भी या नहीं। सर मोनियर विलियम्ज[11] ने 'पागल' शब्द तो दिया है परन्तु उसके आगे लिखा है—'बंगाली भाषा में प्रयुक्त एक शब्द'। उन्होंने ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से इस शब्द का निर्देश भी किया है। परन्तु ऐसा विचार किया जाता है कि ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वह अंश, जहां 'पागल' शब्द आया है, बहुत बाद का एवं प्रक्षिप्त है। यहां यह बात और द्रष्टव्य है कि मोनियर विलियम्ज ने तो 'पागल' को बंगला भाषा में प्रयुक्त एक शब्द कहा है परन्तु श्री दास ने इसे संस्कृत का ही शब्द स्वीकार किया है। सर विलियम्ज का यह कथन भी विचित्र-सा लगता है कि 'पागल' बंगला में प्रयुक्त एक शब्द है। इस बात को सभी जानते हैं कि बंगला में ही नहीं, अपितु हिन्दी, मराठी तथा पंजाबी आदि अनेक भाषाओं में इसका प्रयोग धड़ल्ले से होता है।

---

१. हिन्दी शब्द सागर—पृष्ठ १२०९, कालम २
२. प्रामाणिक हिन्दी कोष—पृष्ठ ४८०, कालम १
३. तुलसी शब्द सागर—पृष्ठ १८३, कालम २
४. नेपाली डिक्शनरी—पृष्ठ २२८, कालम २
५. हिन्दी शब्द सागर—पृष्ठ १२६६, कालम २
६. प्रामाणिक हिन्दी कोष—पृष्ठ ५१२, कालम २
७. नेपाली डिक्शनरी—पृष्ठ २५४, कालम १
८. हिन्दी भाषा—पृष्ठ ५५
९. हिन्दी शब्द सागर—पृ० २०६१, कालम २
१०. बंगला भाषा अभिधान—पृ० १२०७, कालम ३
११. प्राकृत हिन्दी डिक्शनरी—पृ० ६१४, कालम ३

श्री कुलकर्णी[1] ने 'पागल' की व्युत्पत्ति नहीं दी है। इन्होंने इतना अवश्य कहा है कि मराठी में तो यह शब्द हिन्दी से आया है परन्तु इसका उद्गम-स्रोत कोई अन्य भाषा है। उस अन्य भाषा का कोई संकेत नहीं किया गया है।

हमारे विचार से यह शब्द संस्कृत आदि का न होकर देशज है। सम्भवतः इसी कारण हिन्दी-शब्दसागर के नवीनतम संस्करण संक्षिप्त हिन्दीशब्दसागर[2] में इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित मानी गई है। श्री रामचन्द्र वर्मा[3] का भी यही मत है। टर्नर[4] महोदय ने भी इसकी व्युत्पत्ति नहीं दी है। समग्रतः 'पागल' शब्द संस्कृत से व्युत्पन्न न होकर देशज है।

डा० बनीकान्त काकती[5] ने 'पागल' शब्द को मलयालम का तत्त्व माना है, परन्तु किसी उद्धरणादि से अपने पक्ष का समर्थन नहीं किया है। मलयालम के एक-दो कोषों को देखने पर हमें इस प्रकार का कोई शब्द नहीं मिला, अतः इस मत को विश्वासनीय प्रमाणों के न मिलने तक स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं।

(१०) पेड़

हिन्दी में 'पेड़' शब्द वृक्ष का पर्याय है।

हिन्दी शब्दसागर[6] और श्री रामचन्द्रवर्मा[7] द्वारा इसकी व्युत्पत्ति सं० पिण्ड से मानी गई है। हमारे विचार से यह व्युत्पत्ति-अनुमान मात्र पर आधारित है और यह अनुमान 'पेड़ और पिण्ड' के ध्वनि-साम्य को देखकर ही लगाया जान पड़ता है। यदि 'पेड़ और पिण्ड' के कुछ समान अर्थ की दुहाई भी दी जाए तो भी बात कुछ बनती नहीं, क्योंकि पेड़ से भिन्न सहस्रों ऐसे पदार्थ हैं जिनमें पिण्डत्व के लक्षण पेड़ की अपेक्षा अधिक हैं और पेड़ (वृक्ष) की अपेक्षा उनको पेड़ (पिण्ड) कहना अधिक सार्थक है।

डा० बाबूराम सक्सेना[8] ने 'पेड़' शब्द को देशज स्वीकार किया है। हम डा० सक्सेना के ही मत से सहमत हैं।[9]



---

१. मराठी व्युत्पत्ति कोष, पृ० ४८४, कालम ३
२. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृ० ६०५, कालम ३
३. प्रामाणिक हिन्दी कोष, पृ० ७७७, कालम १
४. नेपाली डिक्शनरी, पृ० ३७१, कालम १
५. आसामी इट्स फार्मेशन एण्ड डिवलपमेंट, पृ० ४५
६. हिन्दी शब्द सागर, पृ० १२८७, कालम २
७. प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोष, पृ० ८१४, कालम २
८. सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० १२६
९. शब्द-समूह की दृष्टि से देशज शब्द प्रत्येक भाषा की मूल सम्पत्ति होते हैं फलतः प्रत्येक भाषा के लिए इनका अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु जहां तक मुझे ज्ञात है भारत की किसी भी भाषा को लेकर इस विषय पर विशेष कार्य नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा भी इसका अपवाद नहीं। एम. ए. के डिस्सर्टेशन के रूप में आदरणीय डा० भोलानाथ तिवारी के निर्देशन में मैंने इस विषय पर कार्य किया था। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रंथ के लिए उसी आधार पर, डा. तिवारी के आदेश से यह निबन्ध लिखा गया है। इसकी सीमाओं से मैं अपरिचित नहीं हूँ, फिर भी मुझे विश्वास है कि दिशा नई होने के कारण पाठकों द्वारा पसन्द किया जायगा।

हिन्दी-अक्षर

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

०.० 'अक्षर' का सामान्य अर्थ है, जो घटता नहीं अथवा जिसका क्षरण नहीं होता।[1] अक्षर एक गतिमात्र है जिसकी गति वक्ष की मांसपेशियों का श्वास-स्पन्दन ही है जिसके द्वारा फेफड़ों में वायु-संकोचन उत्पन्न होता है और वायु-उत्प्रेषण प्रारम्भ होता है।[1] स्टेट्सन[3] महोदय 'अक्षर को एक मोटर यूनिट' मानते हैं। साधारणतः हम अक्षर उस ध्वनि-समुदाय (वर्ण या वर्ण—समूह) को कह सकते हैं जो एक आघात या झटके में बोला जाता है जिसमें एक स्वर या स्वरवत् व्यंजन रहता है। उसी स्वर के पूर्वांग या परांग बनकर अनेक व्यंजन रह सकते हैं। अक्षर में स्वर ही प्रमुख होता है—यह अक्षर का मेरुदण्ड है। स्वर ही अक्षर, स्पन्दन को घोषित करता है इस प्रकार एक अक्षर से स्वर को न तो पृथक् ही किया जा सकता है और न बिना स्वर या स्वरवत् व्यंजन के अक्षर का निर्माण ही सम्भव है। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा[4] अक्षर का आवश्यक तत्त्व स्वर मानते हुए नारद-शिक्षा से उद्धरण देते हुए कहते हैं कि व्यंजन किसी भी भाषा में मोतियों के तुल्य हैं जबकि स्वर उस डोरी के तुल्य हैं जिनमें सभी मोती पिरोये रहते हैं। स्वर तो स्वतः शासित होता है—'स्वयं राजते' में पतंजलि ने माना है। नारद-शिक्षा में स्वर को शक्ति-सम्पन्न सम्राट् और व्यंजन को निर्बल राजा के तुल्य माना है। अक्षर के सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट विवेचन प्राचीनों में ऋक्-प्रातिशाख्य में किया गया है। विवेचन सूत्रों में है, प्रारम्भ इस प्रकार होता है—'अक्षर' कोरा स्वर, स्वर तथा व्यंजन, अनुस्वार के साथ स्वर या व्यंजन तथा अनु-

---

१. पतंजलि ने अपने महाभाष्य में कहा है—

अक्षरं न क्षरं विद्यात्। न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम्।

√क्षि, √क्षर > दोनों धातुओं से ही इसका अर्थ अविनाशी है।

व्याकरण महाभाष्य भाग १, खण्ड १, आह्निकम् २, डेक्कन एज्यूकेशनल सोसायटी, पुणे, १८८१ शक, पृष्ठ १३८

२. आर० एम० एस० हेफनर—जनरल फॉनेटिक्स, सन् १९४९, पैरा ३-०६

३. आर० एच० स्टेट्सन—मोटर फोनेटिक्स, सन् १९५१, पृष्ठ २९

टिप्पणी—अक्षर के विशेष विवरण के लिए देखिए—

अ—कैलाशचन्द्र भाटिया, अक्षर, त्रिपथगा, सितम्बर १९५९, पृष्ठ ११९-१२२

आ—रोमनयकवसन, फंडामेंटल्ज अव लैंग्वेज, सन् १९५६, पृष्ठ २०

इ—एलन—फोनेटिक्स इन एंशियेंट इण्डिया, सन् १९५३, पृष्ठ ७९-८१

ई—एल० ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज, सन् १९५६, हेनरी होल्ट कं०, पृष्ठ १२०

उ—सी० हॉकेट: ए मैन्युअल अव् फॉनोलोजी, प्र० सं०, पृष्ठ ५१

ऊ—सी० हॉकेट, ए कोर्स इन मोर्डन लिंग्विस्टिक्स, सन् १९५८ पृष्ठ ६६

ए—फर्थ-साउंड्ज एण्ड प्रासोडीज़, टी० पी० एस० १९४८, पृष्ठ १२८-१५२

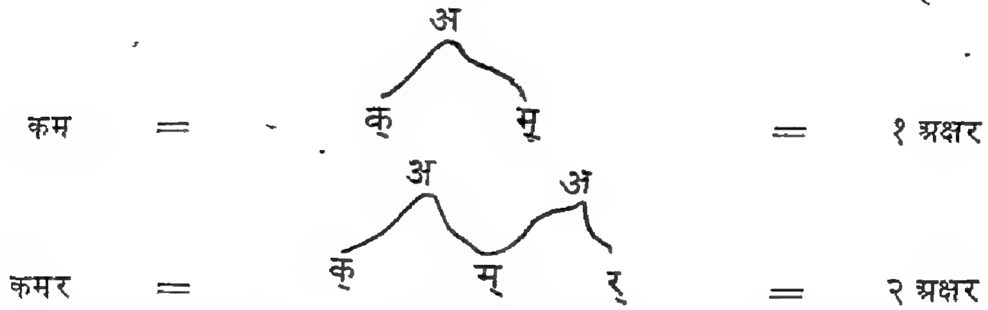
ऐ—कोनर तथा ट्रिम-वॉवेल, कासोनेंट एण्ड सिलेबिल, वर्ड, सन् १९५३, पृष्ठ १०३-१२२

४. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा, क्रिटिकल स्टडीज़ इन द फ़ोनेटिक आब्जर्वेशन अव् इण्डियन ग्रामेरियन्ज, सन् १९२९, पृष्ठ ५५-५८

स्वार के साथ स्वर रूप में हो सकता है। आदि व्यंजन आगे के स्वर और अन्त्य व्यंजन का सम्बन्ध पूर्व स्वर के साथ होता है। मध्य में दो व्यंजन हों तो एक का पूर्व व दूसरे का पर से होता है। अक्षर गुरु व लघु भी होते हैं।[1]

०. १ मुखरता, मात्रा, श्वास-बलादि तत्त्व मिलकर अक्षर के उत्कर्ष तत्त्व का निर्माण करते हैं। यह तत्त्व स्वर में ही अधिक होता है, वैसे कुछ भाषाओं में व्यंजनों को भी यह स्थान प्राप्त है। वही व्यंजन इस स्थान को प्राप्त कर सकते है जो बहुत मुखर हों जैसे अंग्रेजी[2] में 'न' और 'ल' तथा जापानी[3] में 'स'। अफ्रीकी[4] भाषाओं में भी अनेक व्यंजन इस कोटि के है।

०. २ इस प्रकार 'व्यष्टिरूप' में स्वर इकाई से युक्त 'स्वनग्रामों की संहति' का वह न्यूनतम आदर्श 'अक्षर' है जो पूर्वापर किसी एक व्यंजन-ध्वनि अथवा अनुमत व्यंजन-गुच्छों से युक्त हो। इस प्रधान तत्त्व को शिखर का रूप दिया जा सकता है। एक शब्द में शिखर निर्मित होंगे, उतने ही अक्षर कहलाएंगे, जैसे—



०. ३ अक्षर की सीमा-निर्धारण करना दुष्कर कार्य है,[5] जब तक कि ध्वनियंत्रों का आश्रय न लिया जाय। लेकिन फिर भी एक शब्द में कितनी आक्षरिक ध्वनियां है इसका निश्चय कानों के द्वारा सुनने मात्र से ही हो सकता है और फिर उसके साथ कहां और किस स्थिति में कौन-सा व्यंजन आ रहा है यह निश्चय करना शेप रह जाता है। आदि व अन्त्य स्थिति के व्यंजनों में कोई विवाद नहीं हो सकता; पर मध्य में प्रयुक्त व्यंजनानुक्रमों में से कितने व्यंजन प्रथम स्वर के साथ रहकर अक्षर-निर्माण कर रहे है और कितने आगे आने वाले स्वर के साथ, यह बात विवादास्पद हो सकती है। फिर भी अक्षर की सीमा के लिए डॉ० बाबूराम सक्सेना[6] ने एक विधि दी है—"रुकने का स्थान उन दो अक्षरों के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णों का द्वितीय अवयव) या श्रव्यता की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरों में, उससे कम अंतःस्थों में, फिर संघर्षी वर्णों में और कम-से-कम स्पर्श वर्णों में होती है।......जैसे बगड़ दो पहाड़ियों के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो बगड़ों के बीच के भाग को हम पहाड़ी कहते है, उसी प्रकार दो अल्प स्वरत्व वाली ध्वनियों के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते है।"

१. हिन्दी-अक्षर :

१. १ वैदिक काल से आज तक निरन्तर शब्दों का उच्चारण बदलता रहा और फिर उसके फलस्वरूप उनका आक्षरिक स्वरूप भी। वैदिक काल में तो अक्षरों का विशेप महत्त्व था। प्रत्येक छन्द अक्षरों की संख्या पर आधा-

---

१. ऋक् प्रातिशाख्य : स० मंगलदेव शास्त्री, सन् १९३१, पृष्ठ ४९३-९४
सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् ।८,३२।। व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु पूर्वभाक् ।८,३३।। विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम् ।८,३४।। संयोगादिश्च वैवं च ।८,३५।। सहक्रम्यः परक्रमे क्रमेण सहक्रम्यो वर्णः पूर्वमक्षरं वा भजते परक्रमे सति, अक्र्कः ।८,३६।। गुर्वक्षरम् ।८,३७।। लघु ह्रस्वं न चेत्संयोग उत्तरः ।८,३८।। अनुस्वारश्च ।८,३९।। संयोगं विद्याद् व्यञ्जनसंगमम् ।८,४०।। गुरुर्दीर्घम् ।८,४१।। गरीयस्तु यदि सव्यंजनं भवेत् ।८,४२।। लघु सव्यञ्जनं ह्रस्वम् ।८,४३।। लघीयो व्यंजनादृते ।८,४४।।
२. डेनियल जोन्स—ऐन आउटलाइन अव् इंगलिश फोनेटिक्स, नि० १०१, सन् १९५६, पृष्ठ २४
३. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा—वही पुस्तक, पृष्ठ ५५
४. प्रो० गोलोक विहारी धल, ध्वनि विज्ञान, प्र० सं०, पृष्ठ २०९
५. डेनियल जोन्स—वही पुस्तक, पाद टिप्पणी २, नियम २१२, पृष्ठ ५५
६. डॉ० बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा-विज्ञान, १९५६ ई०, पृष्ठ ७३-७४

रित है। संस्कृत के सहस्रों शब्द आज भी हिन्दी में प्रयुक्त होते हैं; उनमें से कुछ का रूप भी वही है, पर उच्चारण नितान्त भिन्न हो गया है, जिसके कारण आक्षरिक रूप भी भिन्न हो गया। अतएव आज के उच्चारण के आधार पर हिन्दी के शब्दों से आक्षरिक स्वरूप का विश्लेषण होना अत्यावश्यक है।[1]

१.२. हिन्दी का आक्षरिक विन्यास अभी तक पूर्णरूपेण नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में हिन्दी के व्याकरणों,[2] भाषा-विज्ञान की पुस्तकों[3] तथा कुछ रिसर्च पेपरों[4] में यत्र-तत्र निर्देश मात्र हुआ है। अक्षर के निर्माण में स्वर का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया जा चुका है अतएव सर्वप्रथम हिन्दी-स्वरों के सम्बन्ध में कुछ विवेचन आवश्यक है।

२. हिन्दी-स्वर

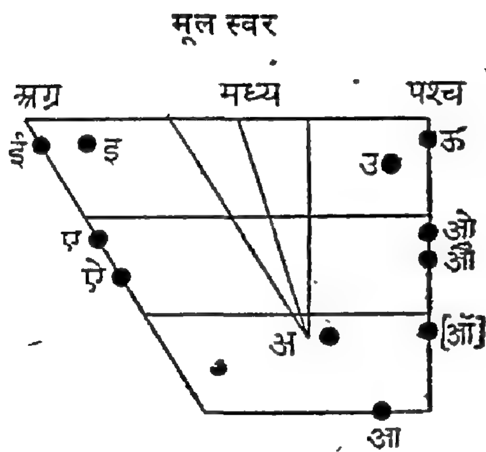
हिन्दी में निम्नलिखित स्वर प्रयुक्त होते हैं।[5]

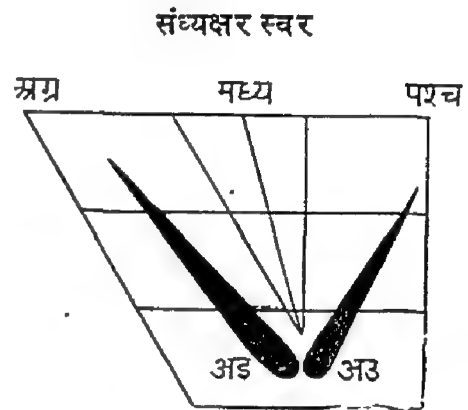
२.१ मूल स्वर—ह्रस्व— अ, इ, उ

दीर्घ— आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ

नवीन— । ऑ। केवल अंग्रेजी-आगत शब्दों में।

२.२ संध्यक्षर— ऐ। अइ। औ। अउ।





टिप्पणी—१. अ, इ, उ स्वरों के आ, ई, ऊ स्वर क्रमशः केवल दीर्घ-रूप नहीं हैं, वरन् दोनों स्वरों में उच्चारण-स्थान की दृष्टि से भी अन्तर है, जिससे स्वरों के गुण पृथक् हो जाते हैं।

---

१. हिन्दी के आक्षरिक विन्यास का विवरण प्रस्तुत करने के हेतु उत्तर प्रदेश की प्रारम्भिक कक्षाओं में कक्षा १ से कक्षा ५वीं तक के पाठ्यक्रम (बेसिक) में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों की शब्दावली को आधार बनाया है। यह हिन्दी की बेसिक शब्दावली मानी जा सकती है जो उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा मान्य है। पुस्तकों से मैंने लगभग १०,००० चिटें बनाकर उनका विश्लेषण किया है और यथासम्भव उन्हीं से आगे आने वाले समस्त उदाहरण दिए हैं, जहां उदाहरणों का अभाव है, हो सकता है कि वे आगे के अध्ययन में प्राप्त हों। कुछ पैटर्न (आदर्श, नमूने, स्वरूप) भी बढ़ सकते हैं। पर मुझे विश्वास है कि कम-से-कम द्व्यक्षरिक शब्दों के नमूने अब अधिक न होंगे। हां, आगे तो उपसर्ग और प्रत्ययों की भीड़ के फलस्वरूप सैकड़ों नवीन रूप दृष्टिगत हो सकते हैं। फिर भी पाठकों से निवेदन है कि अपने सुझावों से अवगत कराके अध्ययन को आगे की दिशा में बढ़ाने में सहायता प्रदान करेंगे।

श्रद्धेय डॉ० बाबूराम सक्सेना तथा प्रो० गोलोकविहारी धल से मैंने अक्षर-विभाजन की विधि प्राप्त की है। अपने विश्लेषण के कार्य को मैं समय-समय पर क० मु० हिन्दी विद्यापीठ के संचालक डॉ० विश्वनाथप्रसाद को संशोधनार्थ दिखाता रहा, उन्होंने मुझे जो अमूल्य सुझाव दिए, उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूं। अक्षरों के विश्लेषण-कार्य में मुझे श्री निरोतीलालजी से विशेष सहायता मिली।

२. कामताप्रसाद गुरु—हिन्दी-व्याकरण, नि० ४० तथा बेसिक ग्रामर आव् हिंदी, पृ० १२-१३

३. श्यामसुन्दरदास—भाषा रहस्य, सं० १९९२, पृ० २३९-२४०

४. उर्दू—डॉ० मसूदहुसैन : ए फोनेटिक एण्ड फोनोलोजीकल स्टडी द वर्ड इन उर्दू
हिंदी : रमेशचंद्र मेहरोत्रा—हिंदी सिलेबिक स्ट्रक्चर, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स टर्नर, भाग २, पृ० २३१-२३७

५. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, सन् १९४९, पृ० १०२-१०८
डॉ० उदयनारायण तिवारी—हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, प्र० सं०, पृ० ३१८-३२१

२. (ए) से (ऐ) और (ओ) से (औ) नितान्त भिन्न हैं। सभी दीर्घ हैं।

(ए) वेल (ओ) ओट

(ऐ) बैल (औ) औट

३. 'ऐ' और 'औ' लिखित रूप से समान होते हुए भी परिनिष्ठित हिन्दी में दो-दो रूपों में उच्चरित होते हैं—

(ऐ) < १. बैल— बैल—अग्र अर्द्धविवृत दीर्घ स्वर[1]
२. गैया— गइया—सन्ध्यक्षर स्वर, केवल अर्द्धस्वरों के पूर्व

(औ) < १. औरत औरत—पश्च अर्द्ध विवृत दीर्घ स्वर
२. कौआ कउआ—संध्यक्षर-स्वर

४. प्रत्येक स्वर से अक्षर प्रारम्भ हो सकता है और वह अन्त्य स्थिति में भी आ सकता है।

५. 'ऋ' का उच्चारण आज 'रि' की तरह होता है।

३. स्वर-संयोग

हिन्दी भाषा में प्रयुक्त स्वरों का संयोग भी पाया जाता है। परिनिष्ठित हिन्दी में स्वर-संयोग सीमित संख्या में ही है जबकि हिन्दी की बोलियों में इसकी संख्या बहुत अधिक पाई जाती है। हिन्दी की प्रधान बोलियों में से ब्रजभाषा के स्वर-संयोगों का विवेचन डॉ० धीरेन्द्र वर्मा[2] तथा भोजपुरी के स्वर-संयोगों का विवेचन डॉ० विश्वनाथ प्रसाद[3] ने किया है।

हिन्दी-स्वर-संयोगों को हम निम्नलिखित तालिका में प्रस्तुत कर सकते हैं—

	अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
अ	×	×		×		×	×			
आ	×	×		×		×	×		×	
इ	×	×					×		×	
ई										
उ		×		×			×		×	
ऊ	×	×								
ए	×	×		×			×			
ऐ										
ओ	×	×		×	×	×	×		×	
औ										

१. प्रो० गोलोकविहारी धल, ध्वनि-विज्ञान, ४.४१, १९५८, पृ० १०९

२. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—ब्रजभाषा, १९५४, पृ० ४१-४२

३. डॉ० विश्वनाथ प्रसाद—फ़ोनेटिक फण्ड फ़ोनोलोजीकल स्टडी ऑव् भोजपुरी, लन्दन विश्वविद्यालय, १९५०, पृ० ११८-११९

४. मूर्द्धन्य ध्वनियों के संयोग से 'श्' ध्वनि में मूर्द्धन्यता आ जाती है।

५. तालव्य ध्वनियों के सहयोग से 'न्' का ही तालव्यीकृत अनुनासिक व्यंजन 'ञ' हो जाता है।

६. [ ] ध्वनियां केवल शब्द के मध्य या अन्त में ही आती हैं। इनसे शब्द कभी प्रारम्भ नहीं होता है।

७. उच्चारण में ।अ। का लोप –

शब्दों की विभिन्न स्थितियों में लिखित ।अ। उच्चरित नहीं होता है।[1]

७.१. एकाक्षर –

७. १. १. प्रारम्भ में स्वर 'ह्रस्व' या 'दीर्घ' हो और उसके परे कोई व्यंजन हो तो अन्त्य ।अ। उच्चरित नहीं होता है।

ह्रस्व स्वर	अब्	इन्	उस्
दीर्घ स्वर	आज्	ईख्	ऊन्

७. १. २. १ दो व्यंजनों के मध्य ह्रस्व या दीर्घ स्वर हो तो अन्त्य : अ : उच्चरित नहीं होता

७. १. २. १. १.	ह्रस्व	घर्	किस्	बुन्
७. १. २. १. २.	दीर्घ	साफ्	सीप्	घूट्
७. १. २. १. ३.	दीर्घ अनुनासिक	सांप्	नींद्	घूंट्

७. १. २. २. आदि में व्यंजन गुच्छ हो अथवा अन्त में[2], अन्तिम ।अ। उच्चरित नहीं होता।

७. १. २. २. १.	आदि	स्वर्	ध्रुव्
७. १. २. २. २.	अन्त्य	शान्त्	दीर्घ्
७. १. २. २. ३.	आदि अथवा अन्त में	प्रश्न्	क्षुब्ध्

७. २. द्व्यक्षर

७. २. १ यदि प्रारम्भ में स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो और उसके आगे दो व्यंजन हों जिनके प्रथम व्यंजन का स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो तो अन्तिम व्यंजन के ।अ। का लोप हो जाता है।

	आदि	मध्य		
७. २. १. १.	ह्रस्व	ह्रस्व	अनल्	अधिक्
७. २. १. २.	दीर्घ	ह्रस्व	आकर्	आतुर्
७. २. १. ३.	दीर्घ	दीर्घ	आकाश्	आधीन्
७. २. १. ४.	ह्रस्व	दीर्घ	अनाज्	अहीर्

---

१. इस संबंध में देखिए, कामताप्राद गुरु का हिन्दी व्याकरण, सं० २००१, नियम ४०, पृष्ठ ४६-४७। हिन्दी की बेसिक व्याकरण, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार सन् १९५८, पृष्ठ १८-१९।

२. उक्त दोनों ही लेखक इस स्थिति में ।अ। का लोप नहीं मानते। देखिए गुरु-नियम ४ 'क'१ तथा बेसिक व्याकरण, नियम ५१ ।द। और दूसरी ओर मेहरोत्रा कहीं भी ।अ। का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। देखिए उनका वही लेख टर्नर वोल्यूम भाग २, पृष्ठ २३२। मैंने इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देकर उच्चारणों को सुना। इस संबंध में निश्चित रूप से तीन कोटियां प्रतीत होती हैं—

अ--लम्ब	--अन्त्य ।अ।	नहीं है।
आ--क्षुद्र	--अन्त्य ।अ।	उन उच्चारणों में सुनाई पड़ता है जो बहुत ही संभल कर बोलते हैं, अन्यथा ।अ। का अस्तित्व नहीं।
इ--कार्य	--अन्त्य ।य।	के साथ कुछ न कुछ सुनाई अवश्य देता है। हो सकता है अर्द्ध स्वर के कारण कुछ स्वरत्व सुनाई पड़ता हो।

मैंने इस संबंध में श्रद्धेय डा० विश्वनाथप्रसाद से भी परामर्श लिया, आपका सुझाव इस प्रकार है—

"इन उदाहरणों (प्रश्न, अवश्य, स्वास्थ्य आदि) के अन्त्य संयुक्त वर्ण के बाद जो एक हलकी स्वरवत् ध्वनि सुनाई पड़ती है वह वस्तुतः स्वर नहीं मानी जा सकती है। मैं तो उसे केवल रागमात्र मानूंगा जिसे ə या P या ɤ या ɾ द्वारा द्योतित किया जा सकता है।" (पत्र से उद्धृत)

७. २. २. यदि प्रारम्भ में स्वर हो और उसके आगे दो व्यंजन हों तथा अन्त में दीर्घ स्वर हो तो प्रथम व्यंजन के ।अ। का लोप हो जाता है—

७. २. २. १. इत्ना, उठ्ता

७. २. ३ यदि प्रारम्भ में स्वर (ह्रस्व या दीर्घ) हो तत्पश्चात तीन व्यंजन हों, और अन्तिम तीन व्यंजनों के मध्य ह्रस्व या दीर्घ स्वर हो तो पहले और तीसरे व्यंजन के बाद का ।अ। उच्चारित नहीं होता है—

	आदि	अन्तिम	(दो व्यंजनों के मध्य)
७. २. ३. १	ह्रस्व	ह्रस्व	अक्वर्
७. २. ३. २	ह्रस्व	दीर्घ	अप्मान्
७. २. ३. ३	दीर्घ	ह्रस्व	आच्मन्
७. २. ३. ४	दीर्घ	दीर्घ	आस्मान्

७. २. ४. १ यदि किसी शब्द में तीन व्यंजन हों तो अन्तिम तृतीय व्यंजन के ।अ। का उच्चारण नहीं होता है—

	प्रथम व्यंजन का स्वर	द्वितीय व्यंजन का स्वर	
७. २. ४. १. १	ह्रस्व	ह्रस्व	फसल्
७. २. ४. १. २	ह्रस्व	दीर्घ	विशाल्
७. २. ४. १. ३	दीर्घ	ह्रस्व	वापस्
७. २. ४. १. ४	दीर्घ	दीर्घ	बीमार्

७. २. ४. २ यदि किसी शब्द में तीन व्यंजन हों और अन्तिम व्यंजन का स्वर दीर्घ हो, तो प्रथम अक्षर में द्वितीय व्यंजन के बाद का ।अ। उच्चारित नहीं होता है—

विक्ती चल्ता मर्ता

७. २. ५. १. यदि किसी शब्द में चार व्यंजन हों जिनके मध्य में दो व्यंजनों का व्यंजनानुक्रम हो तो अंतिम व्यंजन का ।अ। उच्चारित नहीं होता—

पत्थर् सुन्दर्

७. २. ५.२. यदि सभी व्यंजन ह्रस्व स्वरों के साथ हो तो द्वितीय और चतुर्थ व्यंजन के स्वर का ।अ। उच्चार नहीं होता—

लग्भग् जम्कर्

७. २. ५. ३. यदि तृतीय व्यंजन दीर्घ स्वर युक्त हो तो द्वितीय तथा चतुर्थ व्यंजन के ।अ। का उच्चारण नहीं होता—

बर्सात् चुप्चाप्

७. २. ५. ४ यदि प्रथम व्यंजन दीर्घस्वर युक्त हो तो द्वितीय तथा चतुर्थ व्यंजन के ।अ। का उच्चारण नहीं होता—

जान्कर् जोध्पुर्

७. २. ५. ५ यदि प्रथम तथा तृतीय दोनों व्यंजन दीर्घ हों तो भी द्वितीय तथा चतुर्थ व्यंजन के ।अ। का उच्चारण नहीं होता—

सूर्दास

७. ३. इस प्रकार विभिन्न परिस्तिथियों में।अ। का उच्चारण नहीं होता है। इस सम्बन्ध में अभी शोध अपेक्षित है। यह लोप की प्रक्रिया केवल ह्रस्व 'अ' तक ही सीमित नहीं, वरन् सभी ह्रस्व-स्वरों 'अ,इ,उ' पर प्रभाव डालती

है। अन्त्य स्थिति में ह्रस्व-स्वर का उच्चारण प्रायः बहुत क्षीण होकर लुप्त हो जाता है अथवा दीर्घ हो जाता है।[1] उदाहरणार्थ—

'गति' का उच्चारण 'ग-ति' न मिलकर 'गत्' या 'गती' मिलता है।

७.४ अंग्रेजी के सैकड़ों शब्द[2] जिनके अन्त में ह्रस्व ।इ। थी, हिन्दी में दीर्घ ।ई। के साथ गृहीत हुए हैं, जैसे कम्पनी, बैटरी, कमेटी, पौलिसी आदि।

८. अक्षर-विभाजन

८.०. अक्षर-सीमा, रूपमात्र-सीमा तथा शब्द-सीमा के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन श्री मेहरोत्रा[3] ने अपने लेख में किया है। अक्षर-सीमा सर्वत्र शब्द-सीमा नहीं होती, वरन् शब्द-सीमा सर्वत्र अक्षर-सीमा होती है। जैसे :

१. आ-काश् अक्षर-सीमा पर 'आ', 'काश' पृथक-पृथक शब्द नहीं हैं।

२. न-चल शब्द-सीमा पर 'न' तथा 'चल' पृथक-पृथक अक्षर हैं।

रूप-मात्र सीमा भी सर्वत्र अक्षर-सीमा नहीं होती है। जैसे 'स्त्रीत्व' के शुद्ध उच्चारण में ।ई। और ।त्। ध्वनियों के मध्य अक्षर-सीमा नहीं है, पर—

स्त्री – एक पृथक रूपमात्र है, और

त्व – एक पृथक रूपमात्र है

हिन्दी में 'नहर' शब्द को बहुवचन रूप में बदलने के लिए – 'ओं' प्रत्यय लगा दिया जाता है। इस प्रकार 'नहरों' शब्द में दो रूपमात्र हैं—

नहर + ओं

जबकि अक्षर-सीमा है—

नहर = न–हर

नहरों = नह्–रोंज

८.१ बहुवचन तथा आक्षरिक विभाजन

८.१.१. जहां अक्षर-संख्या और अक्षर-सीमा में कोई परिवर्तन नहीं—

एकवचन	अक्षर स्वरूप	बहुवचन	अक्षर-स्वरूप
बच्चा	बच्–चा	बच्चों	बच्–चों

८.१.२. जहां अक्षर-संख्या में परिवर्तन नहीं, पर अक्षर-सीमा बदल जाती है—

एकवचन	अक्षर-स्वरूप	बहुवचन	अक्षर-स्वरूप
फसल	फ–सल्	फसलों	फस्–लों

८.१.३. जहाँ अक्षर-संख्या में वृद्धि हो जाती है तथा अन्तिम अक्षर का स्वरूप बदल जाता है—

८.१.३.१ एकाक्षर

एकवचन	अक्षर-संख्या	बहुवचन	अक्षर-संख्या
दिन	१	दिनों	२
बैल	१	बैलों	२

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना : परिवर्तनशील हिन्दी, साहित्य सन्देश भाग १६, अंक १-२ पृष्ठ ५३

डा० सिद्धेश्वर वर्मा : The Pronimication of Engish in North West Indian hin guislics Bagachi Vol. पृष्ठ १०७

डा० मसूद हुसेन : The Phonekic and Phonological Study of word in urdu, पृष्ठ २३

२. कैलाशचन्द्र भाटिया : हिन्दी में अंगरेजी के आगत शब्दों को भाषा-तात्त्विक अध्ययन, थीसिस आगरा विश्वविद्यालय १९५०, पृ० ४३

३. रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, वही टर्नर वोल्यूम भाग २ वाला लेख, पृष्ठ २३३

८. १. ३. २ द्व्यक्षर				
	पूर्वज	२	पूर्वजों	३
८. १. ३. ३ त्र्यक्षर				
	उपासक	३	उपासकों	४

८.२ मध्य में व्यंजनों का अनुक्रम या गुच्छ :

८.२.१ द्वित्व :

यदि दो स्वरों के मध्य में एक से दो व्यंजन द्वित्व रूप में प्रयुक्त हों तो उनमें से प्रथम व्यंजन प्रथम स्वर के साथ और द्वितीय व्यंजन अन्तिम स्वर के साथ आवेगा :

अम्मा — अम्-मा

'अन्न' में 'न्' का द्वित्व न मानकर 'न्' में दीर्घता मानना अधिक उचित होगा।

यदि प्रारम्भ में व्यंजन हो और अन्त में दीर्घ स्वर हो तो भी प्रथम व्यंजन प्रथम अक्षर के साथ और द्वितीय व्यंजन द्वितीय अक्षर के साथ होगा :

गल्ला = ग् अ ल् ल् आ
= गल्-ल् आ
= गल्-ला

८.२.२ व्यंजनानुक्रम रूप[1] :

प्रारम्भ[2] और अन्त में जितने भी व्यंजन-गुच्छ शुद्धतम उच्चारण में सम्भव हो सकते हैं उनका रेखाचित्र पृथक् से दिया जा चुका है पर मध्य स्थिति में दो भिन्न व्यंजनों का साथ-साथ आना आक्षरिक विभाजन में एक समस्या है जिसका हल निम्नलिखित प्रकार किया जा सकता है :

८.२.२.१ समस्थलीय—	नासिक्य-स्पर्श	लम्बा	= लम्-बा
	स्पर्श-नासिक्य	अन्तिम	= अन्-तिम
	अघोष-महाप्राण	अच्छा	= अच्-छा
	स्पर्श-संघर्षी	उत्साह	= उत्-साह
	संघर्षी-स्पर्श संघर्षी	पश्चिम	= पश्-चिम
८.२.२.२ सम उच्चारण-विधि—	स्पर्श	भक्ति	= भक्-ति
		चुट्की	= चुट्-की

१. बेसिक ग्रामर ऑव् हिन्दी, शिक्षा मन्त्रालय, पृष्ठ १३ पर इस सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया है कि अनेक व्यंजनानुक्रमों में से पहला प्रथम अक्षर के साथ और शेष सभी दूसरे आगामी अक्षर के साथ आते हैं। इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए गए हैं—

मन्त्री = मन्-त्री, चन्द्रमा = चन्-द्र-मा, अक्षर = अक्-षर् (अ-क्षर नहीं)
अद्वितीय = अद्-वि-ती-य (अ-द्वि-ती-य नहीं)

टिप्पणी—अद्वितीय का उच्चारण—अद्-वि-ती-य सम्भव नहीं। ।वि। का पृथक से उच्चारण नहीं होता है। इसके दो भिन्न उच्चारण सम्भव हो सकते हैं :

१. अ-द्वितीय; यहां 'अ' उपसर्ग-रूप में है। २. अद्-द्वितीय; यहां ।द्। ध्वनि का उच्चारण दोनों ओर होता है। वस्तुतः अधिकतर लोग दूसरे प्रकार से ही बोलते हैं वैसे प्रथम उच्चारण भी ठीक है क्योंकि ।द्व। का व्यंजन गुच्छ आदि स्थिति में आ सकता है। देखिए व्यंजन गुच्छ चार्ट। इस तथ्य की ओर निर्देश डा० बाबूराम सक्सेना ने 'सामान्य भाषा-विज्ञान', पृष्ठ ७३-७४ पर भी किया है और श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने भी (देखिए वही लेख, पृष्ठ २३४) किया है—

विद्वान् = विद्-द्वान्

२. आदि स्थिति में व्यंजन-गुच्छों को बहुधा जनभाषा में स्वरागम अथवा स्वर-भक्ति के द्वारा तोड़ दिया जाता है। यही प्रक्रिया विदेशी व्यंजन-गुच्छों के साथ भी चरितार्थ होती है। हिन्दी तथा अंग्रेजी के व्यंजन-गुच्छों के तुलनात्मक विवेचन के लिए द्रष्टव्य है :
कैलाशचन्द्र भाटिया—हिन्दी तथा अंग्रेजी के व्यंजन-गुच्छों का तुलनात्मक अध्ययन, भारतीय साहित्य, वर्ष ४, अङ्क ३, पृष्ठ १-५

८.२.२.३ भिन्न-भिन्न उच्चारण-विधि तथा स्थल :

पार्श्विक	स्पर्श	हल्का	=	हल्-का
संघर्षी	स्पर्श	उस्की	=	उस्-की
सघोष स्पर्श	महाप्राण	अद्भुत	=	अद्-भुत्
स्पर्श	अर्द्ध स्वर	उद्योग	=	उद्-योग्
लुंठित	स्पर्श	आर्थिक	=	आर्-थिक्
स्पर्श	नासिक्य	आत्मा	=	आत्-मा

८.२.३ व्यंजन-गुच्छ :

८.२.३.१ समस्थलीय

नासिक्य	स्पर्श	पंक्ति	=	पंक्-ति
अनुस्वार	संघर्षी	संस्था	=	संस्-था
स्पर्श	लुंठित	निमन्त्रण	=	नि-मन्-त्रण्

८.२.३.२ भिन्न-भिन्न उच्चारण तथा स्थल—

महाप्राण स्पर्श अर्द्ध स्वर	अध्यापक	=	अ-ध्या-पक्

८.२.४ तीन व्यंजनों का अनुक्रम हो :

तीन व्यंजनों का अनुक्रम वैसे सामान्यतः कम प्रयुक्त होता है फिर भी जहां कहीं भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं तो उनका आक्षरिक विभाजन इस प्रकार होता है—

सम्भावित रूप : स्वर व्यं व्यं व्यं स्वर : को कई प्रकार से विभाजित किया जाता है।

१. स्वर—व्यं व्यं व्यं स्वर=राम की स्त्री, केवल शब्द-सीमा पर ही सम्भव है
स्वर व्यं व्यं व्यं—स्वर=अस्त्र आदि

२. स्वर व्यं–व्यं व्यं स्वर=सन्ध्या=सन्-ध्या

३. स्वर व्यं व्यं-व्यं स्वर = संस्था=संस्-था

८३. प्रत्यय लगाने से आक्षरिक विभाजन में परिवर्तन—

शब्द	आक्षरिक स्वरूप	
शीत	शीत्–एक अक्षर	व्यं स्वर व्यं
शीतल	शी-तल्–द्व्यक्षर	व्यं स्वर–व्यं स्वर व्यं
कीच	कीच–एक अक्षर	उपर्युक्त प्रकार ही
कीचड़	की-चड़–द्व्यक्षर	

इस प्रकार विभिन्न प्रत्ययों के लगने से मूल शब्द के आक्षरिक स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

८.४. अक्षर-विभाजन की सीमाएं :

हिन्दी में आक्षरिक स्वरूप की निम्नलिखित सीमाएं है :

संकेत-चिह्न :

अक्षर-सीमा – –
स्वर–स
दीर्घता– – (स के ऊपर)
अनुनासिकता– ~

दीर्घ स्वर—स̄

अनुनासिक स्वर—स̃

दीर्घ अनुनासिक स्वर—स̄̃

व्यंजन	—व		
१.	स— स̄	हु—आ	हुआ
२.	स̄— स	खा—इ	खाइ अन्त में दीर्घत्व आ जाता है
३.	स̄— स̄	आ—ओ	आओ
४.	स̃— स	कुँ—अर	कुँअर
५.	स— स̄̃	हु—ईं	हुईं
६.	स̄— स̄̃	सा—ईं	साईं
७.	स— व	अ—त्इ	अति
८.	स̃— व	वं—धी	वंधी
९.	स̄— व	आ—ठ	आठ
१०.	स̄̃— व	आं—ख	आंख
११.	स̄$_{\text{व}}$—वव	आ$_{\text{श}}$—श्रम	आश्रम
१२.	स$_{\text{व}}$—वव	श$_{\text{त}}$—त्रु	शत्रु
१३.	व—व	अच्—छा	अच्छा
१४.	व—वव	इन्—द्र	इन्द्र
१५.	वव—व	संस्—था	संस्था

८.४. अक्षर-आदि-स्थिति :

अक्षर के आदि में कोई भी स्वर (ह्रस्व, दीर्घ, अनुनासिक) ड़, ढ़, ण्, ङ् व्यंजनों को छोड़कर सभी व्यंजन, अकेले, अथवा अनुमत व्यंजन-गुच्छ, जिसका रेखाचित्र पीछे दिया जा चुका है, आ सकते हैं। इन सभी बातों को ध्यान में रखकर हिन्दी के शब्दों का जो (विश्लेषण कर) आक्षरिक विभाजन किया गया है, उनके निम्नलिखित स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं :

९. आक्षरिक स्वरूप :

९. १. एकाक्षर :

स्वरूप		उदाहरण
९.१.१ स̄		आ
९.१.२ स̄̃		एं
९.१.३ स̄ व	—आ—	आंख

	–ई–	ईंट
	–ऊ–	ऊट
	–ऐ–	ऐठ
	–औ–	औंघ
९.१.४ स व	–अ–	अब
	–इ–	इन
	–उ–	उस
९.१.५ स̄ व	–आ–	आज
	–ई–	ईख
	–ऊ–	ऊन
	–ए–	एक
	–ऐ–	ऐब
	–ओ–	ओस
	–औ–	और
९.१.६ स व व[1]	–अ–	अग
	–इ–	इंच
	–उ–	उच्च
९.१.७ स व व व[1]	–अ–	अस्त्र
	–इ–	इन्द्र
९.१.८ व स	–अ	न
	–इ	कि
९.१.९ व स̄	–आ	खा
	–ई	थी
	–ऊ	भू
	–ए	ले
	–ऐ	है
	–ओ	जो
	–औ	नौ
९.१.१० व स̄~	–आ	हां
	–ई	थी
	–ऊ	हूं
	–ए	मे
	–ऐ	मैं
	–ओ	यों
	–औ	—
९.१.११ व स व	–अ–	घर
	–इ–	किस

१. अन्त में 'राग' माना जा सकता है जैसा कि निर्देश पहले किया जा चुका है।

	–उ–	बुन
९.१.१२ व स̃ व	–अ–	हँस
	–उ–	मुंह
९.१.१३ व स̄ व	–आ–	साफ
	–ई–	चीज
	–ऊ–	धूल
	–ए–	देर
	–ऐ–	चैत
	–ओ–	ठोस
	–औ–	मौत
९.१.१४ व स̄ व $व_{रा}$	–आ–	शान्त
	–ई–	शीघ्र
	–ऊ–	सूर्य
	–ए–	नेत्र
	–ओ–	योग्य
	–औ–	बौद्ध
९.१.१५ व स̄̃ व	–आ–	सांप
	–ई–	नींद
	–ऊ–	घूंट
	–ए–	भेंट
	–ऐ–	भैंस
	–ओ–	चोंच
	–औ–	हौंस
९.१.१६ व स व $व_{रा}$	–अ–	कंठ
	–इ–	सिक्ख
	–उ–	शुद्ध
९. १. १७ व स व व $व_{रा}$	–अ–	वस्त्र
९. १. १८ व स व व व $व_{रा}$	–अ–	वर्त्स्य
९. १. १९ व स̄ व $व_{रा}$	–ई–	तीव्र
	–ऊ–	मूल्य
	–ओ–	योग्य
९. १. २० व व स व	–अ–	स्वर
	–इ–	प्रिय
	–उ–	ध्रुव

९. १. २१ वव सवव~रा~ —अ— प्रश्न

९. १. २२ वव स̄ ववव~रा~ —आ— स्वास्थ्य

९. १. २३ वव स —आ— क्या

—ई— श्री

९. १. २४ वव स̄ व —आ— प्यास, स्थान, द्वार[1]

—ई— द्वीप

—ऊ— व्यूह

—ए— प्रेम

—ओ— क्रोध

९. १. २५ वव स̄ वव —आ— प्राप्त

९. १. २६ वव स̄̃ —ओ क्यों

९. २. द्व्यक्षर :

९. २. १ स-वस[2] अति

९. २. २ स-वस̄

	-आ	-ई	-ए
अ-	अहा	अभी	अरे
इ-	इठा	इसी	इसे
उ	उठा	उसी	उसे

९. २. ३ स—वसव

	-अ-	-इ-	-उ-
अ-	अनल	अधिक	अतुल
इ-	इधर		
उ-	उपल	उचित	उडुप[3]

९. २. ४ स—व̄ स व

	आ	ई	ऊ	ए	ओ
अ -	अनाज	अहीर	अनूप	अचेत	अशोक
उ-	उतार			उमेश	

९. २. ५ स—वसवव अगस्त

९. २. ६ स—व̄स वव अपूर्व

९. २. ७ स̄—स̄ आओ

---

१. इन शब्दों के पिआस, इस्थान, दुआर आदि उच्चारण भी लोक में प्राप्त होते हैं। साधारणतः लोक में व्यंजन-गुच्छों के पूर्व आदि स्वरागम हो जाता है।

२. अन्त्य ह्रस्व स्वर उच्चरित नहीं होते अथवा दीर्घत्व आ जाता है।

३. बेसिक में प्रयुक्त नहीं।

९.२.८ स̄~—व स̄ आँधी, ऊँचे

९.२.९ स̄~—व स̄~ आँखें, आँतें

९.२.१० स̄~—व स व आँगन, ईंधन

९.२.११ स̄—व स आठों

९.२.१२ स̄—व स आयु। अन्त में दीर्घत्व भी आता है।

९.२.१३ स̄—व स̄

	-आ	-ई	-ए	-ओ
आ-	आशा	आती	आने	आयो
ऊ-	ऊना	ऊनी		
ऐ-	ऐसा	ऐसी	ऐसे	
ओ-	ओढ़ा	ओढ़ी	ओढे	

९.२.१४ स̄—व स̄~ औरों

९.२.१५ स̄—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
आ-	आकर	आशिष	आतुर
ऊ-	ऊपर		

९.२.१६ स̄— व स व व रा — एकत्र

९.२.१७ स̄— व स̄ व आकाश, आधीन, आदेश

९.२.१८ स̄— व व स̄ आज्ञा

९.२.१९ स̄व— व व स व आश्रम

९.२.२० स व— व स̄

	-आ	-ई	-ऊ	-ए	-ओ
अ-	अच्छा	अप्नी		अड्डे	
इ-	इत्ना	इत्नी		इत्ने	
उ-	उठ्ता	उस्की	उल्लू	उन्के	उस्को

९.२.२१ स व— व स~ अम्माँ
इन्हें
उन्हें

९.२.२२ स व—वस व

	-अ-	-इ-	-उ-
अ-	अक्बर्	अन्तिम्	अद्भुत्
इ-	इस्थल्		
उ-	उड़्कर्	उन्नति	

आदि स्वरागम

९.२.२३ स̄ व–वस̄ व

	-आ-	-ई-	-ऊ-	-ए-	-ओ-
अ–	अप्मान्		अंगूर्		
इ–	इस्नान्	इक्कीस्	इस्कूल्	इस्नेह्	
उ–	उत्साह्	उन्नीस्		उप्देश्	उद्योग्

आदि स्वरागम

९.२.२४ स̄ व– व स व — आत्मज्, आर्थिक्
९.२.२५ स̄ व– वस̄ व — आस्मान्
९.२.२६ स̄~ व–व स̄ — आत्मा, आप्की, आग्रे, आप्को
९.२.२७ स~ व–व स̄ — उँगली
९.२.२८ स व–व स व व — अरविन्द
९.२.२९ स व–व व स व — उज्ज्वल
९.२.३० स̄ व–व स व व रा — आश्चर्य
९.२.३१ स व–व व स̄ — इस्त्री
९.२.३२ स̄ व व–व स व — आर्कटिक
९.२.३३ वस–स̄ — मई, हुआ, रुई, लिए, हुए
९.२.३४ वस–स̄~ — हुई, हुओं
९.२.३५ व स–व स[1]

	-इ	-उ	
-अ	अरि	पशु	दीर्घत्व अन्त में
-इ	तिथि	रितु	,, ,,
-उ	मुनि	गुरु	,, ,,

९. २. ३६ व स–व स~ — नहिं

९. २. ३७ व स–व स̄

	आ	ई	ए	ऐ	ओ
-अ	दवा	पड़ी	मरे	परैं	चलो
-इ	चिता	छिपी	मिले	मिलें	मिलो
-उ	सुधा	सुखी	चुके		

९. २. ३८ व स–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-अ	फसल्	चरित्	चतुर्
-इ	बिगड़्		
-उ	कुशल्	रुधिर्	बुरुश्

१. अन्त में दीर्घता

६. २. ३९ व स—व स̄ व

	-आ-	-ई-	-उ-	-ए-	-अ-
अ	सलाम्	हकीम्	खजूर्	सफेद्	करोड़्
इ	विशाल्	निशीथ्		विशेष्	विरोध्
उ	गुलाम्	कुलीन्		सुवेद्	सुयोग्

६. २. ४० वस—व स व व — वसन्त, चरित्त, चरित्र, समुद्र
६. २. ४१ व स—व स̄ व व — समाप्त
६. २. ४२ व स—व स̄~ — वहाँ, नहीं, सकूँ, कहें, पदों, मियाँ, मिलें, दिनों, दुखों,
६. २. ४३ व स~—स व — कुँअर
६. २. ४४ व स—व स~ व — पहुँच
६. २. ४५ व स~—व स — बँधी, हँसी
६. २. ४६ व स~—व स व — सँभार, सँभाल
६. २. ४७ व स̄—स — भाई, कोई, सोओ
६. २. ४८ व स̄—स̄~ — साईं, लाऊँ
६. २. ४९ व स—व स — धेनु, नारि। अन्त में दीर्घता आ जाती है।
६. २. ५० व स̄~—व स — पाँति, भाँति। अन्त में दीर्घता।
६, २, ५१ व स̄~—व स̄ — गूँजी, बाँका, फाँसी
६. २. ५२ व स̄—व स

	आ	ई	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
आ	काला	नाड़ी	बापू	तारे	भावै	मानो	
ई	नीला	धीमी	टीपू	नील	खीझै	छीको	
ऊ	बूढ़ा	भूखी	छू-छू	छूने	टूटैं	पूछो	
ए	ठेला	तेजी		बेटे		देखो	
ऐ	बैठा	पैड़ी	मैकू	पैसे			
ओ	सोचा	जोगी		मोटे	सोवै	खावो	
औ	दौड़ा	चौकी		बौने			

६. २. ५३ व स̄—व स̄~ — बैलों, गेहूँ
६. २. ५४ व स̄—व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-आ	वापस्	नाविक्	जामुन्
-ई	दीपक्	जीवित्	
-ऊ	भूतल्	दूषित्	नूपुर्
-ए	बेगम्		
-ऐ	पैदल्	लैटिन्	
-ओ	होकर्	कोटिक्	गोकुल्
-औ	रौनक्	कौशिक्	कौतुक्

९. २. ५५ वस–व स व — वीमार, भूगोल, कालेज, वेहोश

९. २. ५६ व स̄–व व स̄ — कीन्ही

९. २. ५७ वस̄–स̄ व — वाईस, तेईस

९. २. ५८ व स̄~–व स̄~ — दाँतों, पाँचों

९. २. ५९ व स̄~–व स व — बैंगन

९. २. ६० व स$_{व}$–व व स — शत्रु

९. २. ६१ व स–व व स व — सुदृढ़ [ऋ–रि]

९. २. ६२ व स व–व स — भक्ति, मंजु, सिद्धि, विन्दु, मुक्ति ।

९. २. ६३ व स व–व स̄

	-आ	-ई	-ऊ	-ए	-ऐ	-ओ
-अ-	गंगा	बक्री	टट्टू	जप्ते		सम्झो
-इ-	जिन्का	दिल्ली	हिन्दू	बिख्रे		किस्को
-उ-	कुर्ला	छुट्टी	जुग्नू	चुग्ते		मुझ्को

९. २. ६४ व स व–व स̄~ — भक्तों,

९. २. ६५ व स व–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-अ-	पत्थर्	पश्चिम्	जय्पुर्
-इ-	निश्चय्	चिन्तित्	बिल्कुल्
-उ-	सुन्दर्	पुल्कित	चुन्मुन्

९. २. ६६ व स व–व स̄ व

	-आ-	-ई-	-ऊ-	-ए-	-ओ-	-औ-
-अ-	बर्सात्	तल्लीन्	मंजूर्	संकेत्	सन्तोष्	कन्नौज्
-इ-	विश्वास्	निर्भीक्	तिर्सूल्	सिग्रेट्	विद्रोह्	बिज्नौर्
-उ-	चुप्चाप्					

९. २. ६७ व स व–व स व व — निष्कर्ष, दुर्गन्ध, सत्संग, संकल्प, संबंध

९. २. ६८ व स व–व स̄ व व — सिद्धान्त

९. २. ६९ व स व–व व स̄ — तपस्या, तपस्वी, मन्त्री

९. २. ७० व स व–व व स̄~ — वस्त्रों, यन्त्रों

९. २. ७१ व स̄~ व–व स̄ — मँग्वा, वँट्ना, हँस्ते

९. २. ७२ व स व–व व स व — उज्ज्वल

९. २. ७३ व स व–व व स̄ व — संग्राम

९. २. ७४ व स̄ व–व स — शान्ति, मूर्ति । अन्त में दीर्घता ।

९. २. ७५ व स̲ व–व स

	-आ	-ई	-ऊ	-ए
-आ	कात्ना	पाद्री	पाल्तू	काट्ने
-ई	तीस्रा	भीत्री		बीत्ते
-ऊ	सूच्ना	पूर्वी		दूस्रे
-ए		रेश्मी	नेह्रू	देख्ने
-ऐ	तैर्ना	फैल्ती		तैर्ने
-ओ	बोल्ना	लोम्ड़ी		टोक्रे
-औ		नौक्री		तौल्ने

९. २. ७६ व स̲ व–व स̲~ टोक्रों, साव्नों

९. २. ७७ व स̲ व–व स व

	-अ-	-इ-	-उ-
-आ-	वास्तव्	हार्दिक्	कान्पुर्
-ई-	बीर्बल्		पीर्पुर्
-ऊ-	घूम्कर्		फूल्पुर्
-ए-	देख्कर्		
-ओ-	लोट्कर्		जोध्पुर्
-औ-	दौड़्कर्		जौन्पुर्

९. २. ७८ व स̲ व–व स̲ व मार्कर्, लालटेन्, पूज्नीय्

९. २. ७९ व स̲ व–व स व व देवदत्त, मार्नसिंह

९. २. ८० व स व–व स̲~ शिखरों, सैकड़ों

९. २. ८१ व स̲ व–व स̲ पाँचवें

९. २. ८२ व स̲ व–व स व पेंशन

९. २. ८३ व स̲ व–व व स̲ व राष्ट्रीय

९. २. ८४ व स̲~ व–व स

—आ	ई
चाँदनी	सींचती

९. २. ८५ व स व व – व स	पंक्ति
९. २. ८६ व स व व – व स̄	संस्था
९. २. ८७ व स व व – व स व	वज्रमय
९. २. ८८ व स व व – व स̄ व	संस्कार, विद्यमान
९. २. ८९ व स व व – व व स व	संस्कृत । ऋ–रि ।
९. २. ९० व व स – स̄~	म्याऊँ
९. २. ९१ व व स – व स̄	कृपा । ऋ–रि ।
९. २. ९२ व व स – व स व	प्रकट, स्वगत
९. २. ९३ व व स – व स व व	प्रसिद्ध, प्रसन्न
९. २. ९४ व व स – व स̄ व	प्रकार, स्वभाव, प्रकाश, प्रताप
९. २. ९५ व व स – व स व व व	स्वतन्त्र
९. २. ९६ व व स̄ व – व स̄	द्वारा
९. २. ९७ व व स व – व स̄ व	श्रृंगार । ऋ–रि ।
९. २. ९८ व व स̄ – व स	व्याधि
९. २. ९९ व व स̄ – व स̄	प्यारे, ग्वाला
९. २. १०० व व स̄ – व स व	व्याकुल, ज्योतिष
९. २. १०१ व व स̄ – व स̄ व	स्वीकार, त्योहार
९. २. १०२ व व स̄ व – व स̄	प्रार्थी
९. २. १०३ व व स̄ व – व व स̄	ज्योत्स्ना
९. २. १०४ व व स̄~ – व स̄	न्योंता

९. ३ त्र्यक्षर—

९. ३. १ स – व स – व स	अवधि
९. ३. २ स – व स – व स व	अनुपम

९. ३. ३ स – वस – वसव	अनुसार
९. ३. ४ स – वसव – वस̄	इकट्ठा
९. ३. ५ स – ववस – वसव	अध्ययन
९. ३. ६ स – ववसव – वसव	अमृतसर । ऋ–रि ।
९. ३. ७ स – वस̄ – वस	उपाधि
९. ३. ८ स – वस̄ – स	अढ़ाई
९. ३. ९ स – वस̄ – वस̄	उड़ाते
९. ३. १० स – वस̄ – वसव	अचानक
९. ३. ११ स – वस̄व – स̄	उछालता
९. ३. १२ स – वस̄व – वस̄~	इमारतें
९. ३. १३ स – वस̄~ – ववस̄	अयोध्या
९. ३. १४ स – ववस̄ – वसव	अध्यापक
९. ३. १५ स – ववस̄ – वस̄व	इब्राहीम
९. ३. १६ स̄~ – वसव – वस̄	अँगरखा
९. ३. १७ स̄~ – वस̄ – वस̄	अँधेरी
९. ३. १८ स̄ – स – स̄	आइए
९. ३. १९ स̄ – वस – वस	आहुति
९. ३. २० स̄ – वस̄ – वस̄व	आयोजन
९. ३. २१ स̄ – वस̄व – वस̄व	आशीर्वाद
९. ३. २२ स̄~ – वस – स̄~	आँसुओं
९. ३. २३ सव – वस – वस	स्थिति । अग्रागम इ ।
९. ३. २४ सव – वस – वस̄	उन्मनी
९. ३. २५ सव – वस – वस̄~	अवसरों
९. ३. २६ सव – वस – वसव	स्मरण । अग्रागम इ ।
९. ३. २७ सव – वस̄ – स̄	उपजाऊ
९. ३. २८ सव – वस̄ – वसव	उत्साहित
९. ३. २९ सव – वस̄ – वस̄	उपयोगी
९. ३. ३० सव – वस̄ – वस̄~	अवतारों
९. ३. ३१ सव – ववस – वसव	अत्याचार
९. ३. ३२ सव – वस – वसव	अन्वेषण
९. ३.३३ वस – वस – वस	जलधि
९. ३.३४ वस – वस – वस̄~	दुनिया, मथुरा
९. ३.३५ वस – वस – वस̄व	परिवार
९. ३.३६ वस – वस – स̄	कलई
९. ३.३७ वस – वस – स̄	पशुओं
९. ३.३८ वस – वस – वस̄~	कलियां
९. ३.३९ वस – वसव – वसव	पुरन्दर

९. ३.४० व स – व स व – व स̄
भिझकते

९. ३.४१ व स – व स व – व $_{स}$ व
नमस्कार

९. ३.४२ व स – व स व – व व स व
निमन्त्रण

९. ३.४३ व स̄ $_{व}$ – व व स – स~
शत्रुओं

९. ३.४४ व स̄ – व स̄ – व स
समाधि

९. ३.४५ व स – व स – व स व
जवाहर

९. ३.४६ व स – व स̄ – स
भलाई

९. ३.४७ व स – व स – स̄~
वलाएँ

९. ३.४८ व स – व स – व स

				स³		
स¹	स²	आ	ई	ऊ	ए	ओ
-अ	आ	मराठा	पठारी	तराजू	बहाते	
	ई	महीना			पलीते	
	ऊ	नमूना				
	ए		बरेली	घरेलू	सबेरे	बसे
	ओ	महोबा				
	औ		कसौटी			
-इ	आ	निराला	सिपाही		खिलाते	
	ई				पपीते	
	ए	बिखेरो				
	ओ	भिगोया	बिलोती			
-उ	आ	कुठारा	पुरानी		बुझाते	

९. ३.४९ व स – व स̄~ – व स̄~
दरारें

९. ३.५० व स – व स̄ – व स̄
पढ़ूंगी

९. ३.५१ व स – व स̄ – व स̄ व
लगातार

९. ३.५२ व स – व स – व स̄ व
जहाँगीर

९. ३.५३ व स – व स̄~ व – व स̄
महात्मा

९. ३.५४ व स – व स̄~ – व व स̄ व
पराक्रम

९. ३.५५ व स~ – व स̄ – स̄
सिंचाई

९. ३.५६ व स~ – व स̄ – व स̄
गँवाते

९. ३.५७ व स̄ – व स – स̄~
धातुओं

९. ३.५८ व स̄ – व स – व स̄
तौलिया। विदेशी शब्द।

९. ३.५९ व स — व स — व स~ रानियाँ
९. ३.६० व स — व स — व स व कालिदास
९. ३.६१ व स — व स व — व व स सामग्री
९. ३.६२ व स — व स व — व व स व भारद्वाज
९. ३.६३ व स — व स व — व स~ सोलहवीं
९. ३.६४ व स — व स — व स व कारीगर
९. ३.६५ व स — व स — स~ शाखाओं
९. ३.६६ व स — व स — व स झूमेगा
९. ३.६७ व स — व स~ — व स लौटूँगा
९. ३.६८ व स — व स — व स~ बाजारों
९. ३.६९ व स — व स — व स व नारायर
९. ३.७० व स — व स व — व स व शोभायमान
९. ३.७१ व स व — व स — व स व लक्ष्मण
९. ३.७२ व स व — व स — स बम्बई
९. ३.७३ व स व — व स — स~ जुगनुओं
९. ३.७४ व स व — व स — व स तरजनी
९. ३.७५ व स व — व स — व स~ दर्शकों
९. ३.७६ व स व — व स व — व स सुन्दरता
९. ३.७७ व स व — व स व — व स~ सरकंडों
९. ३.७८ व स व — व व स व — व स~ पन्द्रहवीं
९. ३.७९ व स व — व स — स वहजोई
९. ३.८० व स व — व स — व स व सम्मेलन
९. ३.८१ व स व — व स — व स सरकारी
९. ३.८२ व स व — व व स व — व स विद्यार्थी
९. ३.८३ व स व — व स~ — व स जिन्होंने
९. ३.८४ व स व — व व स — व स~ विद्वानों
९. ३.८५ व स व — व व स — व स चन्द्रमा
९. ३.८६ व स~ व — व स — व स मँगवाना
९. ३.८७ व स व व — व स व — व स व संगमरमर
३. ३.८८ व स व व — व स — व स कर्मचारी
९. ३.८९ व स व — व स — व स~ शाहजहाँ
९. ३.९० व स व — व स — व स पाठशाला
९. ३.९१ व व स — व स व — व स व्यवस्था
९. ३.९२ व व स — व स — व स व प्रयोजन
९. ३.९३ व व स — व स — व स व व्यापारिक
९. ३.९४ व व स — व स — व स द्वारिका। द्वितीय उच्चारण 'द्वार्-का'।
९. ३.९५ व व स — व स — व स क्यारियाँ
९. ३.९६ व व स — व स व — व स व प्रारम्भिक

९.४. चतुरक्षर—

९.४.१ स – वस – वस̄ – वस̄	अधिकारी
९.४.२ स – वस – वस̄ – वसव	अभिवादन
९.४.३ स – वस̄ – वसव – वस̄~	अठारहवीं
९.४.४ स̄ – ववस – वस – वस̄~	आक्रमणों
९.४.५ वस – वस – वस̄ – स̄	कठिनाई
९.४.६ वस – वस – वस̄व – वस̄	पहिचानते
९.४.७ वस – वस̄ – स – वस̄~	लड़ाइयों
९.४.८ वस – वस̄ – वस – वस̄~	पहाड़ियों
९.४.९ वस – वस̄ – वस – वस̄	बराबरी
९.४.१० वस – वस̄ – वस – वस̄~	निवासियों
९.४.११ वस – वस̄व – वस̄ – स̄~	महात्माओं
९.४.१२ वस – वस – वस̄ – वस̄	हरियाली
९.४.१३ वस̄ – वस̄ – वस̄ – वस̄	चौकीदारी
९.४.१४ वस – वसव – वस – वस	वनस्पति
९.४.१५ वस̄ – वसव – वस – वसव	पारस्परिक
९.४.१६ वस̄ – वस – वस̄ – वसव	हानिकारक
९.४.१७ वस̄ – वस̄ – वस – वस̄~	कारीगरों
९.४.१८ वसव – वसव – वस – वस̄~	पगडंडियों

९.५ पंचाक्षर—

९.५.१ स – वस – वस̄ – वस – वस̄~	अधिकारियों
९.५.२ वस – वस̄ – वस – वस̄ – स̄	दियासलाई

१०. हिन्दी-अक्षर तथा अंग्रेजी-आगत शब्द :

हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी-आगत शब्दों का आक्षरिक स्वरूप भी विचारणीय है। प्रत्येक भाषा विदेशी शब्दों को लेकर अपने रूप में आत्मसात कर लेती है अथवा कभी-कभी किसी बहुप्रयुक्त तथा आवश्यक शब्द के साथ उसका अपना रूप भी चला आता है। वे ही शब्द अधिक आ पाते हैं जो उस भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल हों।[२]

१०. १. १. दोनों भाषाओं में कोई आक्षरिक परिवर्तन नहीं :

१०. १. १. एकाक्षर :

शब्द	अंग्रेजी उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी-रूप
Bill	[bil]	वसव	बिल
Boot	[bu:t]	वस̄व	बूट
Bank	[b e n k]	वसवव	बैंक

टिप्पणी—१. अन्त में ह्रस्व 'इ' दीर्घत्व ले लेती है अथवा लुप्तप्राय हो जाती है।

२. विभिन्न उपसर्ग और प्रत्ययों के लगाने से आक्षरिक स्वरूप बदलते जाते हैं जिनपर विस्तृत अनुसन्धान अपेक्षित है।

२. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है :
कैलाशचन्द्र भाटिया—सिलेबिक चेंज आव् इंग्लिश लोन वर्ड्ज इन हिन्दी
कैलाशचन्द्र भाटिया—हिन्दी में अंग्रेजी-आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन (थीसिस), आगरा विश्वविद्यालय, १९५८, पृष्ठ १५०-१५६

Rail	[r ei l]	वससव	रेल

१०. १.२ द्व्यक्षर—

Baby	[b ei bi]	वस—व स	बेबी
Engine.	[endzin]	स व—व स व	इंजन

१०. १.३ त्र्यक्षर—

Advocate	[ædvəkeit]	स व—व स—व स व	एडवोकेट

१०. २. अंग्रेजी के एकाक्षरिक शब्द हिन्दी में द्व्यक्षरिक :

१०. २.१. अंग्रेजी में संध्यक्षर स्वर के कारण :

शब्द	उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी रूप	आक्षरिक स्वरूप
Pile	[fail]	व स स व	फाइल	व स—स व
Fine	[fain]		फाइन	
Down	[daun[		डाउन	

१०. २.२. अंग्रेजी-व्यंजन-गुच्छ के टूटने के कारण :

शब्द	उच्चारण	आक्षरिक स्वरूप	हिन्दी-रूप	आक्षरिक स्वरूप
Glass	[gla:s]	व व स व	गिलास	व स—व स व
School	[sku:l]	व व स व	इस्कूल	व स—व स व

इस प्रकार अंग्रेजी द्व्याक्षरिक हिन्दी त्र्याक्षरिक में, त्र्याक्षरिक शब्द हिन्दी-चतुराक्षरिक में परिवर्तित हो गए और कहीं क्रम इसका उल्टा भी रहा है।

११. हिन्दी-अक्षर तथा संगम

हिन्दी-अक्षर में संगम[१] का भी महत्त्व है।

'न + दी जाय' और 'नदी' दोनों एक समान होते हुए भी संगम की दृष्टि से भिन्न हैं। प्रथम उदाहरण में 'न' और 'दी' के मध्य संगम है जहां पर कुछ देर के लिए जिह्वा को विश्राम करना पड़ता है। स्पष्ट ही है कि इसमें—

'न'—निषेधात्मक अव्यय है और

'दी'—देना क्रिया का एक रूप

यदि इन दोनों शब्दों के मध्य कुछ देर के लिए रुका न जाय तो यही दोनों शब्द मिलकर 'नदी' बन जावेंगे जिसका अर्थ नितान्त भिन्न है। इस प्रवृत्ति के पर्याप्त उदाहरण हिन्दी में भरे पड़े हैं।

११. १. जब एक रूप में कोई क्रिया-पद होता है :

११. १. १ 'लो' अथवा 'ली' के साथ :

{हो + ली = क्रिया रूप
{होली = त्योहार विशेष

{रो + ली = क्रिया रूप
{रोली = एक लाल रंग का पदार्थ

{खा + ली = क्रिया
{खाली = रिक्त

१. इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम लिंग्विस्टिक स्कूल देहरादून, १९५७ में लेखक से डॉ० भोलानाथ तिवारी के साथ विचार-विमर्श हुआ। उदाहरणों की ढूंढ में हम दोनों ही रहे, पर इधर मुझे अपने सहयोगियों श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय तथा श्री रोशनलाल से पर्याप्त उदाहरण प्राप्त हुए, उनके प्रति मैं आभारी हूं। इस सम्बन्ध में श्री मेहरोत्रा का टर्नर वोल्यूम भाग २ वाला लेख भी द्रष्टव्य है।

[पी + ली = क्रिया
[पीली = पीत रंग का

१.१.१.२. अन्त में 'जा' हो :

[खा + जा = क्रिया
[खाजा = खाने का एक नमकीन पदार्थ

[रो + जा = क्रिया
[रोजा = 'रोज़ा' का अपभ्रंश रूप

११.१.३ एक ही क्रिया के दो भिन्न रूपों का युग्म :

{पी + पा = पीना क्रिया के दो रूप
{पीपा = छोटा कनस्तर

११.१.४ जब नकरात्मक अव्यय 'न' साथ में हो :

{न + आई = क्रिया के साथ
{नाई = बाल काटने वाली जाति

११.१.५ कर्म के साथ क्रिया :

{बतासा + ले = 'ले' क्रिया के साथ
{बता + साले = बताना क्रिया का आज्ञार्थक रूप साले के साथ

{सोडा + ला = 'ला' क्रिया के साथ
{सो + डाला = 'सोना' क्रिया का भूत।

११.२ सम्बन्धवाचक 'का', 'की', 'के' के साथ :

{छल + की = छल से सम्बन्धित
{छलकी = 'छलकना' क्रिया का भूत

{हल + की = हल से सम्बन्धित
{हल्की = भारी का विलोम

{सिर + का = सिर से सम्बन्धित
{सिरका = एक पेय पदार्थ

{सिर + की = सिर से सम्बन्धित
{सिरकी = छप्पर बनाने के प्रयोग में आने वाले सरकंडे

{पाल + की = पाल से सम्बन्धित
{पालकी = एक सवारी जिसको उठाकर ले जाया जाता है।

{पल + की = पल से सम्बन्धित
{पलकी = 'पालकी' का छोटा रूप

{पल + का = पल से सम्बन्धित
{पलका = 'पलंग'

{गुट + का = गुट से सम्बन्धित
{गुटका = एक खेलने का पदार्थ

{मन + का = मन से सम्बन्धित
{मनका = माला का एक दाना

{सन + की = सन से सम्बन्धित
{सनकी = विकृत मस्तिष्क वाला

{जान + की = जान से सम्बन्धित
{जानकी = सीताजी

नल + की = नल से सम्बन्धित
नलकी = मशीन में लगाने वाली लम्बी पेचक

११.३. अन्य रूप : प्रत्यय के साथ :

बे + गम[1]	=	बिना चिन्ता के
बेगम	=	रानी

११.४. तीन प्रकार से संगम :

आज + आ	=	आज के दिन आओ
आ + जा	=	आकर जाओ
आजा +	=	आना क्रिया का ही रूप

यह हिन्दी के आक्षरिक स्वरूप की झांकी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। यह विषय जटिल है और साथ ही विवादास्पद। फिर भी, मैंने चेष्टा की है कि अक्षर-व्यवस्था की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके। प्रत्येक अक्षर की पृष्ठभूमि में हिन्दी-स्वर, संध्यक्षर स्वर, स्वर-संयोग, व्यंजन तथा व्यंजन-गुच्छ, व्यंजनानुक्रम, विभिन्न स्थितियों में स्वर का लोप, अक्षर-संगम का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है अतएव इन तत्वों की ओर भी स्थान-स्थान पर निर्देश मात्र किया गया है। इन सभी विषयों पर हिन्दी में पृथक्-पृथक् कार्य अभी उपेक्षित ही पड़ा है।



१. यद्यपि 'बेगम' अरबी शब्द है और 'बेगम' तुर्की फिर भी हिन्दी-भाषा-भाषी जनता के द्वारा सामान्यतः एकसा ही उच्चारण सुनाई पड़ता है।

निश्चित संख्यावाची में अनिश्चितत्व

डा० बाबूराम सक्सेना

विराट् पुरुष के लक्षण में उसे सहस्र शीर्ष वाला, सहस्र आंखों वाला और सहस्र पांव वाला बताया है। निश्चय ही यहां सहस्र का अर्थ १००० नहीं है; अर्थ है, सहस्रों या असंख्य। उसी प्रकार शतक्रतुः का अर्थ है सैकड़ों वीर-कर्म करने वाला, न कि केवल निश्चित १०० यज्ञों का कर्त्ता। पौराणिक काल का यह कथानक कि इन्द्र ने सौ यज्ञ किए हैं और जब कोई मानव ९९ यज्ञ करके १००वां यज्ञ करना चाहता है तो इन्द्र इस डर से कि कहीं यह मुझे इन्द्रासन से हटा न दे, या मेरी बराबरी न करने लगे, उसके यज्ञ में सर्वथा बाधा पहुंचा कर उसे 'शतक्रतु' नहीं होने देते, कथानक-मात्र है। सहस्राक्ष, शतक्रतु आदि शब्दों में समास का विग्रह भिन्न-भिन्न करने पर हजारों आंखों वाला या एक हज़ार आंखों वाला, सैकड़ों क्रतुओं वाला या एक-सौ क्रतुओं वाला आदि अर्थ प्रकरण के अनुकूल किया जा सकता है।

हिन्दी बोल-चाल के स्तर पर ध्यान देने से यह देखा गया है कि गणसंख्यावाची शब्द कभी-कभी क्रमिक संख्या के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। हम ऐसा बहुधा बोलते है कि कालेज ४ तारीख को बन्द होगा और ३० तारीख को खुलेगा; जबकि हमारा अभिप्राय यह होता है कि कालेज चौथी तारीख को बन्द होगा और ३०वीं को खुलेगा। किसी से पूछिए कि आज कौन तारीख है, तो उत्तर मिलेगा १२ या १३, न कि १२वीं या १३वीं। यदि पूछें कि क्या बजा है तो उत्तर होगा चार बजा है या पांच, न कि चौथा या पांचवां। आप कह सकते है कि चार या पांच घण्टे बजाये जाते है इस लिए गणवाचक शब्द का प्रयोग ही साधु है, क्रमवाचक का नहीं। परन्तु फिर आप प्रश्न में एकवचन का प्रयोग क्यों करते हैं? आज दोनों प्रकार के प्रयोग हिन्दी में चल रहे हैं—

(१) क्या बजा है?
चार बजा है।
(२) कितने (कै) बजे है?
चार बजे है।

और कट्टर व्याकरणशास्त्री भी प्रथम प्रयोग को असाधु नहीं ठहरा सकता। अंगरेजी बोल-चाल में भी तारीख और समय के विषय में इसी प्रकार का प्रयोग चलता है, और शिष्ट समाज के लेख में भी 16th April के स्थान पर 16 April पाया जाता है।

निश्चित संख्यावाची शब्दों को अनिश्चित के अर्थ में प्रयोग करने के उदाहरण भी अब हिन्दी बोल-चाल में मिलते हैं। अवधी में मसल है—

'पांच पंच मिलि कीजइ काजा,
हारे जीते न आवइ लाजा।'

निश्चय ही यहां पांच का अर्थ निश्चित संख्या ५ नहीं है; अर्थ है, ५, ६, ७ या और अधिक।

मुहाविरा है—

"चार पैसे कमाने लगे तो इसका घर भी बसा दिया जाय।"

यहां निश्चय ही ४ का अर्थ चार नहीं है और न पैसे का पैसा। चार पैसे में तो एक प्याला चाय भी न मिलेगी, भार्या के भरण-पोषण की बात कौन कहे!

नौकरी के लिए प्रार्थना करने का मुहाविरा है—

'सरकार आध सेर आटे का प्रबन्ध कर दीजिये।'

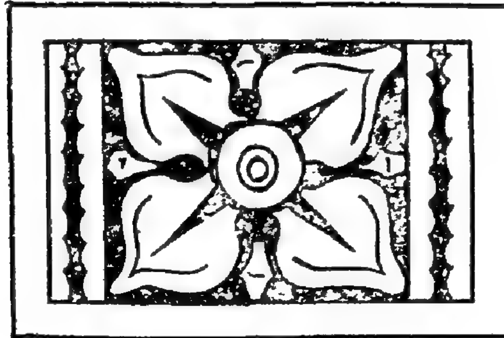
निश्चय ही 'आध सेर आटा' यहां जीविका का प्रतीक-मात्र है और आध, आधे का वाचक नहीं है। यदि अक्षरशः वही अर्थ लिया जायगा तो हम वही भूल करेंगे जो उस साहब ने की थी जिसने नौकर के यह कहने पर कि 'हुजूर हमारे माई-बाप हैं।' —कहा था कि 'देखो हम तुम्हारा बाप हो सकता है, माई नहीं होने सकता।'

जब आप किसी ऐसे आदमी को साथ ले जाना चाहते हैं जो तुरन्त चलने योग्य नहीं है और स्नान करना चाहता है, तो वह कहता है—

'ठहरिए, शरीर पर दो लोटे पानी डाल लूं तो चलूं।'

यहां निश्चय ही वह व्यक्ति दो ही लोटे पानी नहीं डालेगा, यह बात आप तुरन्त स्वीकार कर लेंगे।

विचार और अनुसंधान करने पर इसी प्रकार के अनेक उदाहरण बोलचाल में मिल जायंगे। यहां मैंने दिङ्मात्र निवेदन किया है। वाणी में मितार्थी शब्द अमितार्थी हो जाते हैं और अमितार्थी मितार्थी। भाषा के सभी अंगों में यही बात दिखाई देती है। इसी प्रकार विकास होता है। भगवती सरस्वती की यही क्रीड़ा है।



भारत की भाषा-समस्या

डा० भोलानाथ तिवारी

भारत की भाषा-समस्या निखर कर भी खटाई में पड़ी हुई-सी है। अनेक क्षेत्रों से अब भी रह-रहकर विरोधी स्वर सुनाई पड़ जाते हैं और लगता है कि बहुतों के मन में यह बात बैठी हुई है कि इस समस्या को जिस ढंग से सुलझाया गया है वह न्यायोचित नहीं है। यहां पूरी समस्या और उसके समाधान पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

कवीन्द्र रवीन्द्र भारत को 'महामानवेर समुद्र' कहा करते थे। यहां अनेक धर्म, अनेक जाति और अनेक भाषाओं का होना इसके अनुरूप ही है। यूरोप में से यदि रूस को निकाल दें तो शेष का लगभग दो-तिहाई भाग भारत से बड़ा नहीं है। इस प्रकार यह महाद्वीप-जैसा ही है। भाषाओं और बोलियों की संख्या, यहां लगभग सात सौ है, जो भारोपीय, द्रविड़, आस्ट्रोएशियाटिक और तिब्बती-बर्मी इन चार परिवारों की हैं। इनमें प्रमुख हैं कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, बंगाली, उड़िया, आसामी और हिन्दी।[1] इनमें उत्तरी भारत की आर्य-भाषाओं में शब्द-समूह के साथ-साथ रूप-साम्य भी है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं की उत्तर भारत की भाषाओं से केवल शब्दावली की ही न्यूनाधिक समानता है।

भाषा की समस्या प्रमुखतः तीन प्रकार की है। शासन और न्याय की भाषा की समस्या, शिक्षा के माध्यम की समस्या, विदेशों से सम्बन्ध की समस्या। इनमें प्रथम के केन्द्रीय, प्रान्तीय और अन्तर्प्रान्तीय तीन रूप हैं : न्याय और शासन के लिए केन्द्र में किस भाषा का प्रयोग हो? प्रांत में किसका प्रयोग हो और एक प्रांत से दूसरे के पत्र-व्यवहार में किसका प्रयोग हो? शिक्षा की दृष्टि से भी समस्या तीन प्रकार की है : प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालयीय शिक्षा। विदेशों से सम्बन्ध का अर्थ है, उनसे पत्र-व्यवहार किस भाषा में किया जाय?

स्पष्ट ही प्रांत में वहां की भाषा का प्रयोग होगा। यदि दो भाषाएं हैं, दोनों का प्रयोग वैकल्पिक हो सकता है। शिक्षा का माध्यम अन्ततः तीनों स्तरों पर प्रांतीय भाषा होगी। अपनी भाषा के अतिरिक्त माध्यमिक स्तर से दो अन्य भाषाओं (एक अपने देश की राजभाषा और एक विदेशी भाषा) का अध्ययन होना चाहिए, जैसा कि रूस आदि कई समुन्नत देशों में है। इस प्रकार शिक्षा और प्रांतीय समस्याओं को हल करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं है। समस्या शेष रहती है केवल एक भाषा की, जिसमें न्याय तथा शासन आदि की दृष्टि से केन्द्र का, केन्द्र और प्रांतों का तथा प्रांत और प्रांत का एवं वैदेशिक सम्बन्ध के काम किये जा सकें।

यदि भारत की समुन्नत भाषाओं की संख्या बड़ी न होती तो यह समस्या विशेष कठिन न होती। इस प्रसंग में कुछ लोग स्विट्जरलैण्ड, कनाडा और बेल्जियम आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि सभी भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए, जैसा कि इन देशों में होता है। वस्तुतः इन देशों में स्थिति ऐसी नहीं है, विशेषतः वैदेशिक संबंध एक से अधिक भाषाओं में करना तो बिल्कुल ही व्यावहारिक नहीं होगा। स्विट्जरलैण्ड में भाषाएं कई हैं जिनमें जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन

---

१. हिन्दी-उर्दू व्याकरणिक दृष्टि से एक हैं। वस्तुतः उस एक भाषा की ही एक शैली संस्कृतनिष्ठ, दूसरी फारसी-अरबी शब्दों से लदी और तीसरी बीच की है। हिन्दुस्तानी भी भिन्न नहीं है, वह या तो उर्दू-हिन्दी के बीच की भाषा है या फिर उर्दू का ही दूसरा नाम।

श्रौर रोमांश ग्रादि प्रमुख हैं। इनमें केन्द्र में जर्मन, फ्रेंच श्रौर इटैलियन का प्रयोग होता है, किन्तु वैदेशिक कार्यों में केवल फ्रेंच ही प्रयुक्त होती है। कनाडा में भाषाएं तो कई हैं किन्तु प्रमुख केवल अंग्रेजी श्रौर फ्रेंच हैं। केन्द्र का कार्य इन दोनों में होता है, किन्तु वाहरी कामों में केवल अंग्रेजी का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार वेल्जियम में भाषाएं कई हैं, जिनमें प्रमुख फ्लेमिश, फ्रेंच श्रौर जर्मन हैं। केन्द्र का कार्य फ्लेमिश श्रौर फ्रेंच में होता है। वैदेशिक कार्यों में फ्लेमिश का प्रयोग होता है।

उपर्युक्त देशों की व्यवस्था से दो वातें स्पष्ट हैं: (क) वैदेशिक कार्यों के लिए तो हमें एक भाषा को चुनना ही होगा, सारी भाषाएं उसका माध्यम नहीं वन सकतीं; (ख) केन्द्र में एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग हो सकता है।

'ख' के सम्बन्ध में भारत में समस्या कुछ भिन्न है। ऊपर हमने देखा कि दो-तीन से अधिक भाषाओं का प्रयोग केन्द्र में कहीं नहीं होता। किन्तु भारत में उस रूप में दो-तीन भाषाओं को चुनना कई कारणों से संभव नहीं है। पहली वात तो यह है कि यहां के लोग दुर्भाग्य या सौभाग्य से भाषा श्रौर धर्म के नाम पर इतनी वुरी तरह से जागरूक हैं कि केन्द्र के लिए दो-तीन को लिये जाने का प्रश्न उठने पर सभी चाहेंगे कि उनकी भाषा अवश्य ले ली जाय। दूसरे उन देशों में सौभाग्य से प्रतिशत की दृष्टि से केवल दो या तीन भाषाएं ही प्रमुख हैं, अतः दो-तीन को चुन लेना सरल है। उदाहरणतः, स्विट्जरलैण्ड में रोमांश ग्रादि जो भाषाएं छोड़ दी गई हैं उनके वोलने वाले एक प्रतिशत या उससे भी कम हैं। किन्तु भारत में चार से दस प्रतिशत के वीच में ही वंगला, मराठी, तेलुगु, तमिल, पंजावी, गुजराती श्रौर कन्नड़ ये सात भाषाएं ग्राती हैं। अतः अन्य देशों के सादृश्य के ग्राधार पर भी दो-तीन भाषाओं को चुनना यहां कठिन हैं। इसका ग्राशय यह निकला कि केन्द्रीय तथा अन्तर्प्रान्तीय ग्रादि कार्यों के लिए भी एक भाषा को चुनना ही अधिक सुविधा-जनक है। व्यावहारिक एवं ग्रार्थिक दृष्टि से भी यही अच्छा है।

समस्या वस्तुतः यही है कि वह एक भाषा कौनसी है जिसमें उपर्युक्त काम किये जायं? उसे राज-भाषा कहें या राष्ट्र-भाषा[१]? इसके लिए कुछ लोग संस्कृत का नाम पेश करते रहे हैं, किन्तु यह एक तो व्याकरण की जटिलता एवं रूपाधिक्य के कारण अत्यन्त कठिन है श्रौर दूसरे ग्राज की जीवित भाषा नहीं है। कई करोड़ ग्रावादी वाले इस देश में हजार व्यक्ति भी शायद ही मिलें जो इसका अधिकार के साथ वोलने श्रौर लिखने में प्रयोग कर सकें।[२] दूसरा नाम अंग्रेजी का लिया जाता रहा है श्रौर अव भी लिया जाता है। वस्तुतः एक स्वतन्त्र श्रौर स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह वहुत ही अपमानजनक है कि वह अपनी भाषाओं को छोड़ किसी भी विदेशी भाषा को इस सम्मानीय स्थान पर प्रतिष्ठित करे। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजी भारत की किसी भी भाषा की तुलना में वहुत ही विकसित श्रौर संपन्न है; किन्तु ऐसे प्रसंग में तर्क के अतिरिक्त श्रौर भी वातों का सामने उभर ग्राना स्वाभाविक है। जिस प्रकार हम अपने राष्ट्र-पति या प्रधानमंत्री ग्रादि सम्मानीय पदों को अपने ही राष्ट्रवासियों को देते है, उसी प्रकार इस प्रसंग में भी हमें करना पड़ेगा। हम किसी भी अन्य राष्ट्र के व्यक्ति को केवल इस ग्राधार पर इन पदों पर नहीं रख सकते कि वह वहुत योग्य है। यहां भावनाओं के प्रश्न को ठुकराया नहीं जा सकता। दूसरे भारत में अंग्रेजी जानने वालों का प्रतिशत भी वहुत नगण्य है। कहने को लगभग एक प्रतिशत लोग अंग्रेजी जानते हैं किन्तु इस वात में तनिक भी संदेह नहीं कि ऐसे व्यक्ति जो विश्वास के साथ अंग्रेजी वोल, लिख श्रौर पढ़ सकें शायद १० या १२ प्रतिशत से अधिक न होंगे। श्रौर इन १० या १२ प्रतिशत के लिए शेष, लगभग सौ प्रतिशत, जनता भुलाई नहीं जा सकती। लोग कहते हैं अंग्रेजी हमारे लिए कामधेनु है,

---

१. एक भाषा को राष्ट्रभाषा कहना वहुत समीचीन नहीं है, क्योंकि राष्ट्र की सभी भाषाएं इस नाम की अधिकारिणी हैं। यों यह नाम चल गया है, अतः इसे रोकना अव असम्भव सा है।

२. डा॰ चटर्जी ने भी संस्कृत के राज-भाषा होने का समर्थन नहीं किया है। वे अपनी पुस्तक 'भारत की भाषा-सम्बन्धी समस्याएं' (प्रथम संस्करण, पृ० ६०) में इसकी सम्भावनाओं पर विचार करते हुए निष्कर्षस्वरूप कहते हैं, 'लेकिन मुसलमान श्रौर ऐसे अनेक हिन्दू, जिनका मानसिक विकास संस्कृत के वातावरण में नहीं हुआ है, इस सरल संस्कृतको भी नहीं स्वीकार करेंगे।' अतएव संस्कृत की वात छोड़ देनी होगी।

ज्ञान का बहुत बड़ा साधन है। ठीक है, बात सही है; किन्तु दो अलग प्रश्नों को मिलाना क्यों ? उस दृष्टि से अंग्रेजी ही क्या, अनेक भाषाओं को हम सदा-सर्वदा पढ़ते रहेंगे। राजभाषा के रूप में अंग्रेजी को न स्वीकार करने से, हमारा ज्ञान के लिए अंग्रेजी पढ़ना-पढ़ाना, कहां प्रभावित होता है ?[1]

इन दो के बाद हिन्दी ही विचारणीय है। यह इसलिए नहीं कि भारतीय भाषाओं की तुलना में यह सम्पन्न और सुविकसित है, बल्कि इसलिए कि इसके बोलने वाले औरों की तुलना में अधिक हैं। सन १९५१ की जनगणना के अनुसार हिन्दी को छोड़कर भारत में सबसे अधिक संख्या (९.२४ प्रतिशत) तेलुगु बोलने वालों की है। बंगला के ७.०३ प्रतिशत हैं, तथा अन्य भाषाओं के और भी कम हैं। इस प्रकार १० प्रतिशत से अधिक बोलने वाले किसी के नहीं हैं, किन्तु हिन्दी के बोलने वाले ४० प्रतिशत से ऊपर हैं। यहां बोलने वालों से आशय है जिनकी मातृभाषा हिन्दी या उसकी कोई बोली है। किन्तु इसके अतिरिक्त अहिन्दी-भाषियों में भी पर्याप्त संख्या ऐसे लोगों की है जो हिन्दी बोल और समझ लेते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक भारत हिन्दी से सुपरिचित है। भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान डा० सुनीतिकुमार चटर्जी[2] का मत इस प्रसंग में दर्शनीय है। वे अपनी पुस्तक 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' में लिखते हैं :

'उक्त भाषाओं (भारतीय भाषाओं) में हिन्दी या हिन्दुस्थानी का स्थान सबसे आगे है। कुछ अंशों में तो हिन्दी भारत की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है। हिन्दी या हिन्दुस्थानी घरेलू भाषा की दृष्टि से अवश्य केवल दक्षिण-पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश, उत्तरी ग्वालियर तथा पूर्वी राजपूताना आदि कतिपय प्रदेशों में ही बोली जाती है; और यहां भी अधिकांश भागों में प्रादेशिक बोलियां और केवल शहरों में हिन्दुस्थानी बोली जाती है। परन्तु फिर भी अपने दो रूपों — नागरी हिन्दी एवं उर्दू — में हिन्दुस्थानी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, नैपाल, सिन्ध, गुजरात एवं महाराष्ट्र[3] को छोड़कर बाकी समस्त भारत की सर्वमान्य भाषा है। गुजराती तथा मराठी बोलने वाली जनता नागरी हिन्दी को भली भांति पढ़ एवं समझ ही लेती है। इसके अतिरिक्त बोलचाल की हिन्दुस्थानी समझने में भी उसे कोई खास कठिनाई अनुभव नहीं होती। राजपूताना एवं मालवा की जनता ने पिछली शताब्दियों के अपने उच्चकोटि के राजस्थानी पिंगल साहित्य के रहते हुए नागरी हिन्दी को अपना लिया है। कुछ थोड़े से सिक्खों एवं अन्य व्यक्तियों को छोड़ कर बाकी सारे पंजाबी भी हिन्दुस्थानी का (नागरी हिन्दी या उर्दू रूप में) व्यवहार करते हैं। पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के निवासियों ने भी हिन्दी को अपना लिया है········· बंगाल, आसाम एवं उड़ीसा में भी बोलचाल की हिन्दी का एक सरल रूप सभी लोग समझते हैं।······ द्राविड़-भाषी दक्षिण में भी सबसे अधिक समझ ली जाने वाली भाषा हिन्दुस्थानी ही है, खासकर शहरों एवं बड़े तीर्थ-स्थानों में। इसके अतिरिक्त फिजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद, वेस्ट-इंडीज, दक्षिणी तथा पूर्वी अफ्रीका, मॉरिशस, मलय तथा इन्डोनेशिया में हिन्दुस्तानी-भाषियों की बस्तियां हैं।'

डॉ० चटर्जी अपने उपयुक्त कथन के निष्कर्ष-स्वरूप कहते हैं—

'बोलने वालों एवं व्यवहार करने तथा समझने वालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दुस्थानी का स्थान जगत की महान भाषाओं में तीसरा है; इसके पहले केवल चीनी भाषा को उत्तरी बोली तथा अंग्रेजी......।' **इस प्रकार हिन्दी या हिन्दुस्थानी आज के भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ी रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का एक महत्तम साधन तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक रूप है। वास्तव में हिन्दी ही भारत की भाषाओं का प्रतिनिधित्व**

---

१. डा० चटर्जी भी अंग्रेजी के पक्ष में नहीं हैं। वे अपनी पूर्व-उल्लिखित पुस्तक (पृ० ८४) में लिखते हैं, 'अनेक व्यक्ति अन्तर्प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय या जातोय भाषा के रूप में अंग्रेजो को ही स्वीकार करने का अनुमोदन करते हैं। किन्तु मेरा विचार है कि यह पूर्णतया सम्भव नहीं है।' आगे इस पर विचार करते हुए वे भारत के लिए वेसिक इंगलिश, एस्परान्तो, इदा, नोवियाल आदि की सम्भावनाओं पर भी विचार करते हैं, जिसका निष्कर्ष है, 'इनमें से एक भी हमारे लिए सुविधाजनक न होगी।' (पृ० ८९)

२. डा० चटर्जी भारत के मूर्द्धन्य भाषा-तत्त्वज्ञ हैं, अहिन्दी-भाषी हैं अतः उनकी ओर से हिन्दी के पक्ष में पूर्वाग्रह का प्रश्न नहीं है; और अब हिन्दी-विरोधी हैं, इसीलिए यहां और आगे उनके मत को विस्तार से उद्धृत किया गया है। वस्तुतः हिन्दी के पक्ष में जितनी भी बातें कही जा सकती हैं, उन सभी को उन्होंने विरोधी होने के पूर्व बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से सबके सामने रखा है।

३. यहां दक्षिणी भारत छूट गया है

कर सकती है।[1]

यह है हिन्दी-प्रचार और प्रचलन के आधार पर एक भाषा-विशेषज्ञ का मत। कहना न होगा इस दृष्टि से स्पष्ट ही हिन्दी अपने इस स्थान की एकमात्र अधिकारिणी है।

दूसरी बात जो हिन्दी को इस पद के योग्य बनाती है वह है उसकी प्रकृति। इस बात की ओर सबसे पहले ग्रियर्सन ने संकेत किया था। उनका कहना था कि इसका व्याकरण अन्यों की तुलना में सरल है। गांधीजी ने भी व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इस प्रकार की बात कभी कही थी। डॉ० चटर्जी ने विस्तार से इसकी प्रकृति पर प्रकाश डाला है। यहां लगभग उन्हीं के शब्दों में प्रमुख बातें ये हैं :

(क) कुछ दृष्टियों से यह सभी भारतीय भाषाओं के निकट है। आर्य-भाषाओं से रूपों और शब्दों दोनों ही दृष्टियों से और द्राविड़ भाषाओं से वाक्य-विन्यास, शब्द तथा मुहावरों की आधारभूत बातों की दृष्टि से।

(ख) सभी महान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को प्राप्त भाषाओं (उदा० अंग्रेजी) की भांति हिन्दुस्थानी भी अब प्रान्त या देश के संकुचित दायरे को छोड़कर विश्वकोषीय स्थिति (encyclopaedic stage) को प्राप्त कर रही है। ......वह एक अत्यंत उदार तथा युक्तियुक्त नीति का अनुसरण करने वाली भाषा कही जा सकती है।

(ग) हिन्दुस्थानी की शैली संक्षिप्त या लाघवपूर्ण एवं अलंकृत या विस्तारपूर्ण दोनों प्रकार की हो सकती है। हिन्दुस्थानी एक ओजपूर्ण पौरुषयुक्त भाषा है।

(घ) 'करना' 'बनाना' आदि के साथ संज्ञा जोड़कर अनेक भावों को व्यक्त कर सकती है। इससे क्रिया के रूप घट जाते हैं, तथा संज्ञा के प्रयोग के कारण क्रिया में स्पष्टता रहती है।

(ङ) इसकी ध्वनियां नपी-तुली और सुनिश्चित भी हैं। कश्मीरी या पूर्वी बंगला की तरह स्वर-परिवर्तन की दुरूहता नहीं है। कठिन ध्वनियां भी नहीं हैं।

(च) हिन्दी के व्याकरण के रूप भी अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में कम हैं। ......बोलचाल की हिन्दुस्थानी-व्याकरण तो केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखी जा सकती है।

इस प्रकार प्रकृति की दृष्टि से भी, सामान्य व्यक्ति नहीं अपितु एक भाषा-तत्त्वज्ञ की दृष्टि से, हिन्दी अपने पद की, भारतीय भाषाओं में एकमात्र अधिकारिणी है।[2]

तीसरी बात जो हिन्दी के पक्ष में है, वह है परम्परा की। मनुस्मृति तथा अन्य अनेक ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति और धर्म का केन्द्र और स्रोत प्राचीन काल से ही मध्यदेश रहा है, और यहीं की भाषा पूरे देश की एक प्रकार से राष्ट्र-भाषा रही है। वैदिक संस्कृत का स्वरूप तो अधिकांशतः बाहर ही निश्चित हो चुका था, किन्तु लौकिक संस्कृत का सम्बन्ध मोटे रूप से मध्यदेश के पश्चिमोत्तर भाग से है। आगे चलकर सर्वमान्य भाषा 'पालि' मिलती है। पालि का सम्बन्ध पहले विद्वान बिहार से मानते थे किन्तु अब यह प्रायः निश्चित-सा हो गया है कि वह मूलतः मध्यदेश की भाषा थी। पालि के बाद उसका स्थान शौरसेनी प्राकृत लेती है। इसका सम्बन्ध भी मध्यदेश से ही है। इसी प्रकार अपने काल की पूरे उत्तरी भारत की परिनिष्ठित और सर्वसामान्य भाषा शौरसेनी अपभ्रंश का सम्बन्ध भी इसी मध्यवर्ती भूभाग से था। कहना न होगा कि खड़ी बोली हिन्दी भी इसी मध्य देश से सम्बद्ध है और अपने-अपने काल की सर्वमान्य भाषा की परम्परा में—संस्कृत—पालि—शौरसेनी प्राकृत—शौरसेनी अपभ्रंश—हिन्दी—आती हैं। इस प्रकार परम्परागत रूप से भी हिन्दी सर्वमान्य भाषा है।[3] यह बात विचित्र है कि आज भी यह बात किसी-न-किसी रूप में मान्य-सी है कि हिन्दी प्रदेश ही भारत का केन्द्र है। आज भी इस क्षेत्र के निवासियों के लिए नैपाल के लोग 'मदे-

१. भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृ० १४७-९

२. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १५०-२

३. इससे भी भाषाविज्ञानविदों ने स्वीकार किया है। इस प्रसंगमें डॉ. चटर्जी का ही एक उद्धरण देखा जा सकता है : 'हिन्दुस्थानी भारत की एक सार्वजनिक भाषा के इतिहास की श्रृंखला में अन्तिम कड़ी के रूप में हमारे सामने आई।'...'हमेशा उत्तर भारतीय मैदानों के पश्चिमी भाग—आधुनिक पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश—में उद्भूत भाषा ही सार्वजनीन भाषा बनकर रही है।' (वही, पृष्ठ १८८)

सिया' (मध्यदेशीय) का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार बंगाली और पंजाबी, दोनों, हिन्दी प्रदेश वालों को 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं, यद्यपि वे स्वयं भी हिन्दुस्तानी ही हैं।

इस प्रकार प्रचार-प्रसार, प्रकृति और परम्परा तीनों ही दृष्टियों से हिन्दी ही राष्ट्र या राज-भाषा होने की स्थिति में है।

जहां तक देश तथा देश के बाहर पास के द्वीपों, बरमा, सिंगापुर या अफ्रीका आदि में प्रचार-प्रसार का सम्बन्ध है, इसका प्रमुख कारण आर्थिक है। इस प्रदेश की आबादी पर्याप्त है और एक ओर धनिक वर्ग है तो दूसरी ओर अत्यन्त गरीब वर्ग। दोनों ही वर्ग के काफी आदमी हिन्दी प्रदेश के बाहर और देश के बाहर भी अपनी जीविका कमाने इस सदी के आरंभ के पूर्व से ही जाते रहे हैं। ग्रियर्सन के सर्वेक्षण से पता चलता है कि अहिन्दी प्रदेश के बड़े-बड़े नगरों में काफी बड़ी संख्या हिन्दुस्तानी बोलने वालों की है। देश के भीतर कोने-कोने में प्रचार के लिए आर्थिक के अतिरिक्त कुछ और भी कारण हैं। दिल्ली काफी दिनों से राजनीति और इतिहास का केन्द्र है, इस कारण भी इसके पास की भाषा को कुछ प्राथमिकता एवं प्रचार मिला है। मुसलमान आरंभ में आए तो पंजाब के बाद दिल्ली के आस-पास रुके। वहां से धीरे-धीरे दक्षिण में वे 'दक्खिनी' या 'दक्खिनी हिन्दी' लेकर गए तथा देश के और भागों में भी यहां की भाषा लेकर फैले। हिन्दी के प्रसार में धर्म का भी कम हाथ नहीं है। राम और कृष्ण इधर काफी दिनों से हिन्दू धर्म के मूल स्तंभ रहे हैं और इन दोनों की भूमि (अयोध्या, व्रज) हिन्दी-प्रदेश में है। इस कारण यहां चारों ओर से तीर्थ-यात्री आते रहे हैं। तीर्थराज प्रयाग और देवनगरी काशी तथा आसपास के अन्य अनेक तीर्थों का आकर्षण भी इसके साथ काम करता रहा है। इधर कुछ दशकों से सिनेमा ने भी हिन्दी के प्रचार में सहयोग दिया है। हिन्दी-दर्शकों की संख्या अधिक होने से देश में हिन्दी फिल्में अपेक्षाकृत अधिक बनती हैं और उनका पूरे भारत में प्रचार है। दक्षिण भारत में भी लोग उनके द्वारा अपना मनोरंजन करते हैं। कलकत्ता और बम्बई में तो समस्त हिन्दी-प्रचार का श्रेय सिनेमा को दिया जा सकता है।

यह तो इधर की बात की जा रही है। पढ़े-लिखे लोगों में तो थोड़ा-बहुत प्रचार बहुत पहले से है। यही कारण है कि बहुत से अहिन्दी प्रान्तों में कई सदियों पूर्व से हिन्दी में भी रचनाएं हुई हैं। पंजाब तो पड़ौसी प्रदेश है और वहां के अनेक पंजाबी कवियों ने हिन्दी में रचनाएं की हैं। इस दृष्टि से गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह, दलसिंह, धर्मसिंह, चन्द्रशेखर, नरेन्द्रसिंह, संतोषसिंह आदि पचास से ऊपर नाम उपलब्ध हैं। इसमें कबीर के प्रभाव ने भी काम किया और न केवल पंजाब में अपितु अन्य प्रान्तों में भी संत-साहित्य हिन्दी में लिखा गया। गुजरात में तो कहना ही क्या। श्री के० एम० झावेरी ने अपने 'माइल स्टोन ऑव् गुजरात लिटरेचर' में लिखा है कि 'मध्ययुगीन गुजरात में हिन्दी ही अधिकांशतः विद्वानों की भाषा थी।' कृष्ण-प्रेम से प्रभावित दर्जनों कवियों ने हिन्दी में लिखा है। वहां जैन साहित्य, विशेषतः दिगंबरों का भी, हिन्दी में ही लिखा गया है। गुजरात के प्रमुख हिन्दी-कवियों में भालण, अखो, दयाराम, दलपतराम, ब्रह्मानन्द, धीरो, गवरी आदि उल्लेख्य हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी के प्राचीन प्रचार और प्रयोग के अनेक उदाहरण हैं। समर्थ रामदास की हिन्दी रचनाएं सर्वविदित हैं। हिन्दी के कवि भूषण उधर कई दरबारों में थे। शिवाजी स्वयं हिन्दी के कवि थे, उनके कुछ छन्द आज भी उपलब्ध हैं। पेशवाओं, होलकरों और सिंधियों के दरबार में हिन्दी में काम होता था। वहां के अन्य प्रसिद्ध हिन्दी-कवियों में चक्रधर, दामोदर पंडित, ज्ञानेश्वर, नामदेव, गोंदा, सेना, एकनाथ, श्यामसुन्दर, कान्होबा, तुकाराम, वामन पंडित, अमृतराय, रंगदास, कल्याण आदि तथा कवयित्रियों में महदासिया, महदंबा, उमांबी, रूपाई, मुक्ताबाई, बहिणाबाई आदि उल्लेख्य हैं। दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के अनेक कवि हुए हैं जिनमें बंदा नवाज, शाह मीरांजी, शाह अलीमुहम्मद, शाह बुरहानुद्दीन, रुस्तमी, हाशिमी, कुतुबशाह, वजही, वजदी, वली आदि का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने दक्खिनी में लिखा, किन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दी के अन्य रूपों में लिखने वाले भी कुछ दक्षिण भारत में मिल जाते हैं। केरल के महाराज रामवर्मा ने सूर-तुलसी की भांति भक्ति के बड़े सुन्दर छंद रचे हैं। आंध्र के १६ वीं सदी के प्रसिद्ध कवि पेद्दन्ना के भी कुछ हिन्दी छंद मिलते हैं। बंगाल का व्रजबुलि-साहित्य तो हिन्दी-प्रभावित है ही, वहां के कई अच्छे कवियों ने बंगाली के साथ-साथ हिन्दी में भी रचनाएं की हैं। इस दृष्टि से

१८वीं सदी के पूर्वार्द्ध के प्रसिद्ध कवि चन्द्र गुणाकर का नाम उल्लेख्य है। इसी प्रकार उड़िया कवियों में भी कुछ ने हिन्दी में रचना की है, जिनमें ब्रजनाथ बड़जेना प्रमुख हैं। इस प्रकार इस सदी के पहले ही हिन्दी अन्य प्रान्तों में इतनी पहुंच ही चुकी थी कि लोग उसे साहित्य-रचना के स्तर पर स्वीकार कर रहे थे।

प्राय: यह आरोप लगाया जाता है कि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने का आन्दोलन हिन्दी वालों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया। वस्तुत: इतिहास न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं। हिन्दी वाले तो हिन्दी का प्रयोग करते थे, उसके आधार पर चारों ओर अपने देश में घूम लेते थे, और उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी, इसीलिए भाषा की समस्या पर कभी उनका ध्यान ही नहीं गया। दूसरी ओर कोई अहिन्दी-भाषी जब अपने प्रदेश से बाहर जाता था तो उसके सामने यह प्रश्न स्वभावत: आता था कि वह दूसरों को कैसे समझाए और उन्हें स्वयं कैसे समझे। उसकी अपनी भाषा तो काम कर नहीं पाती थी। इसीलिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि भारत की अखिल देशीय भाषा की ओर उसका ध्यान गया। इस प्रकार अहिन्दीभाषी भारतीयों ने ही सर्वप्रथम यह कहा और माना कि हिन्दी ही यहां की अखिल देशीय भाषा है।[1] जैसा कि आगे स्पष्ट हो जाएगा। दूसरे लोग, जिन्होंने इस बात को हिन्दीभाषियों से पहले अनुभव किया था, वे थे विदेशी। विदेशी यहां आए तो स्वभावत: वे सभी भाषाओं को तो सीख नहीं सकते थे, अत: कोई एक ऐसी भाषा चाहते थे, जिसे जान लेने पर पूरे देश में काम चल जाए। इस प्रकार अहिन्दी और विदेशी लोगों ने ही सर्वप्रथम हिन्दी को अखिल देशीय भाषा के रूप में पहचाना और इसके जानने पर बल देना प्रारम्भ किया। कालक्रमानुसार इस दृष्टि से कुछ बातें यहां देखी जा सकती हैं।

विदेशी लोगों में प्रथम नाम एडवर्ड टेरी का है जिसने अपने यात्रा-विवरण (वाइज़ टु द ईस्ट इण्डीज़) में, जो १६५५ ई० में छपा, 'हिन्दोस्तानी' को यहां की बोलचाल की भाषा कहा है। १८वीं सदी के आरम्भ में ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी का महत्त्व स्पष्ट हो गया था, इसीलिए १७०४ में ही तुरोनेसिस नामक विद्वान ने 'लोकसिकन लिंगुआ हिन्दोस्तानिका' प्रस्तुत किया। उस समय डचों का व्यापार चल रहा था। यद्यपि उन लोगों का सम्बन्ध प्रमुखत: दक्षिणी भारत से था, फिर भी हिन्दुस्तानी का जानना उनके लिए इतना आवश्यक प्रतीत हुआ कि डच मालिकों की सुविधा के लिए जे० जे० केटेलेयर ने डच भाषा में हिन्दुस्तानी का व्याकरण (१७१५ ई०) लिखा। यह हिन्दुस्तानी का प्रथम व्याकरण १७४३ ई० में लायडेन द्वारा लैटिन में अनूदित हुआ। १७२७ में ए० हेमिल्टन ने हिन्दुस्तानी को अपने एक यात्रा-विवरण में, जो १७२७ में छपा, मुगल राज्य की सामान्य भाषा कहा। यह ध्यान देने योग्य है कि मुगल राज्य केवल हिन्दी प्रदेश नहीं था। १८५२ में फ्रांस में अपने एक व्याख्यान में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सां द तासी ने 'हिन्दुई-हिन्दुस्तानी' को भारत की लोक या अखिलदेशीय भाषा कहा था। १८८६ में लन्दन मे प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध कोश 'हाब्सन-जाब्सन' में हिन्दुस्तानी को भारत भर के मुसलमानों की राष्ट्र-भाषा कहा गया है। इसके बाद तो ग्रियर्सन आदि अनेक लोगों ने इसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया।

अपने देश में सबसे पहले बंगाल और बम्बई में जागृति हुई, इसी कारण राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी सर्वप्रथम वहीं के लोगों का ध्यान गया। डॉ० अमरनाथ झा के अनुसार इस बात की ओर संकेत करने का प्रथम श्रेय राजा राममोहनराय को है। उन्होंने हिन्दी को इस रूप में अपनाने की बात अपने किसी भाषण में कही थी। बम्बई फ्री चर्च कॉलिज के प्राध्यापक श्री पेठे ने कदाचित १८६४ में 'राष्ट्रभाषा' नाम की एक मराठी पुस्तक में यह स्पष्ट किया कि 'भारत के लिए एक भाषा आवश्यक है और वह हिन्दी है।' तीसरे प्रसिद्ध व्यक्ति, जिन्होंने इस बात पर बल दिया था, बंगाल के महान धार्मिक नेता केशवचन्द्र सेन थे। इनका एक पत्र था 'सुलभ समाचार', १८७५ में इसमें इन्होंने स्पष्ट शब्दों में भारत की एकता के लिए एक भाषा पर बल दिया था और इसके लिए हिन्दी अपनाने को कहा था।[2]

---

१. डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भी इस बात को स्वीकार किया है। वह अपने पश्चिम बङ्ग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के अध्यक्षीय भाषण (१९५१) में कहते हैं—"आधुनिक भारत में हिन्दी के प्रमुख स्थान के विषय पर पहले-पहल सचेत हुए अहिंदी प्रान्तों के लोग।" (पृ० १२)

२. उनके शब्द ये हैं—'यदि भारतवर्ष एक ना हइले, भारतवर्षे एकता नाहय, तवे ताहार उपाय किं? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार

वस्तुतः श्री पेठे और श्री सेन को ही इस आन्दोलन का अगुआ माना जा सकता है, यद्यपि राष्ट्रभाषा का आन्दोलन उसके बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। केशवचन्द्र सेन ने स्वयं तो ऐसा लिखा ही, किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होंने एक और बहुत बड़ा काम किया जिसने हिन्दी के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता की। उन्हीं दिनों गुजरात के स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्यसमाज या वैदिक धर्म का प्रचार कर रहे थे। वे संस्कृत में भाषण दिया करते थे। ४८ वर्ष की अवस्था में स्वामीजी कलकत्ता पहुंचे और वहां भी उन्होंने संस्कृत में भाषण दिया। श्री केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी से कहा कि यदि आप पूरे भारत को अपनी बात सुनाना चाहते हैं तो हिन्दी सीखिए और उसी का प्रयोग कीजिए। स्वामीजी ने श्री सेन की बात मानकर ४८ वर्ष की उम्र में हिन्दी सीखी और हिन्दी में भाषण देना तथा आपने ग्रंथ लिखना शुरू किया। कहना न होगा कि आर्यसमाज ने हिन्दी-प्रचार में बहुत बड़ा योग दिया और इसके साथ हिन्दी अनेक ऐसे घरों में प्रविष्ट हो गई, जहां उसका जाना सामान्यतः सम्भव न था। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं कि हिन्दी का एक प्रकार से पहला व्यवस्थित गद्य-ग्रंथ प्रेमसागर के लिखने वाले लल्लूजीलाल गुजराती थे। हिन्दी-प्रदेश के प्रथम पत्र 'बनारस अखबार' के सम्पादक एक मराठी सज्जन हरि रघुनाथ थत्ते थे। उन्हीं दिनों एक अन्य मराठी हरिगोपाल पाण्डे ने 'भाषा-तत्त्व दीपिका' (१८७० के लगभग) नाम का हिन्दी-व्याकरण लिखा। इस प्रसंग में न केवल बंगला और भारत के, अपितु विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकार बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी का भी नाम लिया जा सकता है। ये भी हिन्दी को ही भारत की राष्ट्र-भाषा मानते थे। बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यिक पत्र 'बंगदर्शन' में १८७८ में इन्होंने एक लेख लिखा था जिसमें अपने ये विचार बड़ी स्पष्टता और दृढ़ता से व्यक्त किये थे।[1] प्रसिद्ध शिक्षाविशारद भूदेव मुखर्जी भी बंगाली ही थे, जिन्होंने डॉ० ग्रियर्सन से लोहा लेकर बिहार की कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी एवं कैथलिपि को स्थान दिलाया था। उन्होंने अपने 'आचार-प्रबन्ध' नामक पुस्तक में तथा अन्यत्र भी हिन्दी को ही अखिल भारतीय भावनाओं के ऐक्य का साधन कहा था।[2] सन १९०० के आसपास तक के अन्य गुजराती, मराठी तथा बंगाली हिन्दीप्रचारकों तथा समर्थकों में हरगोविन्ददास सेठ, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सदाशिवराव, योगेन्द्रनाथ वसु, अमृतलाल चक्रवर्ती तथा बंगाल के प्रसिद्ध नेता कालीप्रसन्न आदि उल्लेख्य हैं। इसके बाद भी अहिन्दी लोगों ने ही राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी को तथा इस आन्दोलन को विशेष रूप से आगे बढ़ाया है। ऐसे लोगों में सर्वश्री महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस, राजगोपालाचार्य, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, पं० ग० र० वैशम्पायन, न० वि० गाडगिल, मश्रूवाला, दिवाकर, निजलिंग्पा, सुनीतिकुमार चटर्जी तथा अनन्तशयनम् आयंगर आदि प्रमुख हैं। यों हिन्दी-भाषियों में राजर्षि टंडन तथा उनके द्वारा संस्थापित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा किये गए ऐतिहासिक कार्य की प्रशंसा में यह सम्पूर्ण ग्रंथ आपके समक्ष है।

कराइ उपाय। एखन जतो गुलि भाषा प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र-इ प्रचलित। एहि हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य ना पाइले कखनो-इ सम्पन्न हइबे ना। एखन इंग्रेज जाति आमादेर राजा। तांहारा जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारतवासी देर मध्ये अनैक्य था— कबेना, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय-तो इंग्रेजेर मने भय हइबे। तांहारा मने करिया थाकेन जे, भारतवासीयेर मध्ये अनैक्य थाकिले ब्रिटिश साम्राज्य स्थिर थाकिले ना।......भारतवर्षेर मध्ये जे सकल बड़ो-बड़ो राजा आछेन, तांहारा मनोयोग करिले, ए कार्य ही आरम्भ करिते पारेदन।...जेमन एकभाषा करिते चेष्टा करा कर्तव्य, तेमनि उच्चारण के ओ एक रूप करिते चेष्टा करा कर्तव्य।...भाषा एक ना हइले पारे ना।

१. उस लेख का एक अंश है—'इंग्रेजी भाषा द्वारा जाहा हउक, किन्तु हिन्दि शिक्षा ना करिते कोनो क्रमे-इ चलि बेना। हिन्दी भाषाय पुस्तक ओ वक्तृता द्वारा भारतेर अधिकांश स्थानेर मंगल-साधन करिबेन, केवल बांगला ओ इंग्रेजी चर्चाय हइबे ना। भारतेर अधिवासी संख्यार सहित तुलना करि ले, बांगला ओ अंग्रेजी रूप जन लोक बलिते ओ बुझिते पारेन? बांगलार न्याय जे हिन्दिर उन्नति हइते छे ना, इहा देशेर दुर्भाग्येर विषय। हिन्दि भाषार साहाय्ये भारतवर्षेर विभिन्न प्रदेशेर मध्ये जांहारा ऐक्य बन्धन संस्थापन करिते पारिबेन, तांहारा इ प्रकृत भारत बन्धु नामे अभिहित हइबार योग्य। सकले चेष्टा करुन, यत्न करुन, जतो दिन परे-इ हउक मनोरथ पूर्ण हइबे।

२. आचारप्रबन्ध में वे लिखते हैं, 'भारतवासीर चलित भाषा गुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी इ प्रधान, एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश-व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहा के अवलम्बन करिया-इ कोनो दूरवर्ती भविष्यकाले समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।

गांधीजी का ध्यान इस ओर इस सदी के प्रथम दशक में ही गया। १९०९ में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज और होमरूल' के १८वें अध्याय में लिखा था "हर एक पढ़े-लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा का, हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को परशियन का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए।......सारे हिंदुस्तानी के लिए अखिल देशीय भाषा हिंदी होनी चाहिए।......ऐसा होने पर हम अपने आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकेंगे।"[1]

तभी से वह इसके लिए प्रयत्नशील रहे। १९१७ में भड़ौंच में दूसरी गुजरात शिक्षा-परिषद में सभापति पद से भाषण देते हुए उन्होंने इस प्रश्न को पर्याप्त विस्तार से लिया। उस समय तक राष्ट्रभाषा के लिए अंग्रेजी का नाम भी बड़े जोर-शोर से लिया जाने लगा था। गांधीजी ने उसी दृष्टि से प्रश्न को उठाया। उनके गुजराती-भाषण के कुछ अंशों का हिंदी-रूपांतर देखने योग्य है।

'अगर गहरे पैठकर हम सोचें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती और न उसे बनाना चाहिए। इसे ठीक से समझने के लिए हमें यह देखना चाहिए किसी भाषा के राष्ट्रभाषा बनने के लिए क्या-क्या बातें आवश्यक हैं। ऐसी बातें पांच हैं—(१) सरकारी कर्मचारियों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए, (२) भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसके माध्यम से पूरे भारत में धार्मिक, आर्थिक और राजनीति का विचार-विनिमय हो सके, (३) उसका भारत के काफी लोग प्रयोग करते हों, (४) राष्ट्र के लिए सरल हो, (५) ऐसी भाषा का चुनाव करने में मात्र अल्पकालिक या वर्तमान लाभ ही न देखकर दूर तक देखना चाहिए,

आगे विस्तार से विचार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया था कि 'अंग्रेजी में इन में से कोई गुण नहीं है, और इनमें कोई भी ऐसा नहीं है जो हिंदी में न हो, इसीलिए हिंदी ही राष्ट्रभाषा होने के योग्य है।'

आगे भी गांधीजी इस सम्बन्ध में 'यंग इंडिया' में बराबर लिखते रहे तथा अपने भाषणों में कहते रहे। मद्रास और बंगाल में हिन्दी का विशेष विरोध था। सन २० तथा २१ में उन्होंने वहां के लोगों से अपील की और अंत में उन्हीं के प्रयास का फल था कि १९२५ में कानपुर के कांग्रेस-अधिवेशन में कांग्रेस की महासमिति और कार्यकारिणी का काम हिन्दी में करने का प्रस्ताव पारित हो गया।

बापू अपने जीवन के अंत तक इसके सम्बन्ध में हिन्दी नवजीवन, नवजीवन हरिजन-सेवक, हरिजन-बन्धु आदि में लिखते और कहते रहे और उन्हीं के आशीर्वाद से सन '४९ में कन्स्टीट्यूट असेम्बली ने हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार कर लिया।

राजनीति के अहिंदी दिग्गजों में सुभाषचन्द्र बोस का नाम भी इस दृष्टि से उल्लेख्य है, कि वे सरल हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए यत्नशील रहे। १९३८ में हरिपुरा-कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया।[2]

यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि श्री राजगोपालाचार्य तथा डा० सुनीतकुमार चटर्जी आज हिन्दी के कट्टर विरोधियों में है। डा० चटर्जी अपने जीवन के आरम्भ से हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा मानते रहे हैं। १९२१ में अपने थीसिस की भूमिका में उन्होंने अपना यह मत व्यक्त किया था[3]। १९४० में अहमदावाद की गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी के समक्ष भाषण देते हुए भी इन्होंने बहुत विस्तार से इन्हीं बातों को दोहराया। उनका यह भाषण सन '४२ में अंग्रेजी

१. A universal language for India should be Hindi.........if we can do this, we can drive the English language out of the field in a short time.

२. We shall have to develop our lingua franca and a common script.........So far our Lingua franca is concerned, I am inclined to think that the distinction between Hindi & Urdu is artificial one...

३. Hindi or Hindustani is unquestionably the most important language of India and the only speech which can be said to be really national for all India.

में तथा '५४ में हिन्दी में 'भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी' नाम छपा। इस पुस्तक से पर्याप्त उद्धरण पीछे दिए जा चुके है। १९४३ में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित 'लैंग्वेजेज् एन्ड लिंग्विस्टिक प्राब्लम' में १९५१ में हिन्दी में प्रकाशित 'भारत की भाषाएं और भाषा-सम्बन्धी समस्याएं' में तथा १९५१ में ही पश्चिम बंग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के अपने अध्यक्षीय भाषण में भी डा० चटर्जी ने ऐसे ही विचार व्यक्त किए। पीछे हम देख चुके है कि आपने विस्तार से इस बात को बड़े विद्वत्तापूर्ण ढंग से स्पष्ट किया कि राष्ट्रभाषा के योग्य संस्कृत, अंग्रेजी या बंगला आदि नहीं है और केवल हिन्दी ही है। यह विचारणीय है कि लगभग आधी सदी तक एक भाषा के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत व्यक्त करने वाला विद्वान भाषा-शास्त्री एकाएक विरोधी मत व्यक्त करने वाला कैसे हो गया। इसका संक्षिप्त उत्तर यही है कि राजनीति का चक्कर इसीको कहते है। पहले भाषाशास्त्री बोल रहा था, अब राजनीतिज्ञ बोल रहा है। जहां तक सत्य का प्रश्न है, स्पष्ट ही यदि हिन्दी १९२१ से १९५१ तक हर प्रकार से डा० चटर्जी की दृष्टि में भारत के लिए एकमात्र राष्ट्रभाषा थी तो १९५४ या ५६ में उसका इस पद के सर्वथा अयोग्य हो जाने का प्रश्न बिलकुल नहीं उठता।

राजाजी के सम्बन्ध में भी यही बात है। १९२८ में राजाजी ने 'हिन्दी इंगलिश सेल्फ़-इन्सट्रक्टर' नामक पुस्तक की भूमिका में हिन्दी को राष्ट्रभाषा माना है और उसे सभी को पढने की सलाह दी है। १९३८ में मद्रास के मुख्य मन्त्री की हैसियत से राजाजी ने हिन्दी को वहां अनिवार्य विषय करा दिया था और विरोधियों को जेल भी भेजा था। इस प्रकार बहुत दिनों तक हिन्दी का समर्थन करने वाले राजाजी, अब उसके विरोधी हो गए है। कहना न होगा कि राजाजी को भी राजनीति ने ही अपने पूर्व-व्यक्त मत का विरोधी बना दिया है। वस्तुत डा० चटर्जी तथा राजाजी की आलोचना या उनके विरोध के लिए किसी उत्तर की आवश्यकता नहीं; विरोधी होने के पूर्व इन दोनों विद्वानों ने जो लिखा, किया और कहा है वही उनके लिए सबसे बड़ा उत्तर है।

इस प्रकार हमारी भाषा-समस्या किसी भी दृष्टि से उलझी हुई नही है; हां, राष्ट्र के हित को न देखते हुए अपने राजनीतिक स्वार्थवश उलझाने वालों की बात और है।



१. Of the 30 crores that live in India, 14 crores speak Hindi or some very near dialect of that language.........From the political as well as cultural and businiss points of view, it is imperatively necessary for the south Indians to learn Hindi......Can the deliberation of the central assembly and the transactions of the high officers of state and others exercising authority in the central govt. be permitted to be done in English? Obviously not. Hindi is bound to be the language of the cantral Govt. and the Legislature and also of the provincial government in their dealings with each other and with the govt. of India.



सम्पादक—
मो० सत्यनारायण
यशपाल जैन

सम्पादकीय

इस शती के साठ वर्षों में राष्ट्रभारती की सहोदराओं ने अपने-अपने साहित्य में जो प्रगति की है, उससे पाठकों का परिचय कराना इस खंड का मुख्य प्रयोजन है। हमारे साहित्य-भण्डार का मूल्यांकन तभी तो हो सकता है, जबकि प्रत्येक भारतीय भाषा के योग-दान का लेखा-जोखा हमारे सामने हो।

हमने प्रयत्न किया है कि भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत सभी राष्ट्र-भाषाओं तथा उनके साहित्य की विगत साठ वर्षों की प्रगति का विवरण इन पृष्ठों द्वारा पाठकों को सुलभ हो जाय। इस प्रयास में कितनी सफलता मिली है, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही कर सकेंगे, लेकिन हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि विद्वान लेखकों ने बड़ी गंभीरता, परिश्रम तथा सचाई से अपनी-अपनी भाषाओं के विवरण प्रस्तुत किये हैं। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा न होते हुए भी उन्होंने अपनी रचनाएं हिन्दी में ही तैयार करके भेजी हैं। यह हम सबके लिए निस्संदेह बड़े गौरव की चीज़ है।

हम लेखकों के आभारी हैं, जिन्होंने समयाभाव की चिन्ता न करके हमारे अनु-रोध पर अपने सारगर्भित लेख भेजकर इस अनुष्ठान को पूर्ण करने में योग दिया।

हम आशा करते हैं कि इस खंड की सामग्री भारतीय साहित्य के संबंध में जहां हमारा ज्ञान-वर्धन करेगी, वहाँ हमें इस बात का आभास भी करायेगी कि पिछले साठ वर्षों में हमारी साहित्य-निधि में कितनी मूल्यवान अभिवृद्धि हुई है।

असमीया साहित्य और उसका विकास

श्री रजनीकान्त चक्रवर्ती 'अरुण'

आधुनिक असमीया साहित्य का विहंगावलोकन

आधुनिक असमीया की साहित्यधारा की गति को देखने से पहले हमें इसकी विशाल पृष्ठभूमि की ओर देखना आवश्यक है, क्योंकि जिस उत्थान-पतन के बीच क्रमशः इसका विकास होता आया है, वह न केवल असमीया साहित्य के अपितु समूचे भारतीय साहित्य के साथ इसका पूर्वापर-सम्बन्ध प्रतिष्ठित कर एक मधुर और निविड़ स्नेह-सूत्र को संग्रथित करता है।

असमीया भाषा का जन्म-काल

असमीया भाषा भारतीय आर्य-भाषाओं में अन्यतम है। इसका विकास साधारणतया मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। सातवीं सदी में 'ह्वेनसांग' के भारत-भ्रमण के विवरण में इसका स्वतंत्र अस्तित्व दिखाई पड़ता है। दसवीं सदी तक आते-आते इसका रूप बहुत ही स्पष्ट हो पड़ता है और एक निश्चित दिशा की ओर यह प्रवाहित होने लगती है।

असमीया भाषा का शब्द-भंडार

जहां तक शब्द-भंडार का सवाल है, असमीया भाषा में मुख्यतः चार प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। इसकी जननी संस्कृत होने के कारण अधिकतर शब्द तत्सम या संस्कृत के ही हैं। हां, कुछ संस्कृत-शब्द स्थान तथा काल-विशेष के अनुसार परिवर्तित होकर तद्भवरूप में इसमें प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिए, बिया (विवाह), हात (हस्त), मूर (मस्तक), शराध (श्राद्ध), भाइ-भनी (भ्राता-भगिनी) आदि शब्द इस श्रेणी में आते हैं। इसके अलावा असम घाटी में आस्ट्रो-एशियाई, तिब्बती-ब्रर्मी आदि जातियों का व्यापक आगमन हुआ था, इसलिए उनका भी प्रभाव इस भाषा पर पड़ा, अर्थात उनके कुछ शब्द असमीया भाषा में समा गए। यही नहीं, अरबी-फारसी और आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के अनेक शब्द घुल-मिल गए, जिनके कारण वर्त्तमान असमिया साहित्य का शब्द-भंडार (भारतीय दूसरे दो-तीन साहित्य को छोड़कर) बढ़ता ही जा रहा है।

असमीया साहित्य का काल-विभाजन

इसके जन्म-काल और शब्द-भण्डार की आलोचना के बाद अब हम इसके साहित्य पर कुछ दृष्टिपात करना चाहेंगे। सारे विश्व की सभी भाषाओं के प्राथमिक रूप का विश्लेषण करने पर यह साफ दिखाई पड़ता है कि पहले-पहल सब जनता की बोली में अलिखित रूप में ही पड़े हुए थे। क्रमशः जब जन-चेतना की वृद्धि होती गई, तब जाकर आहिस्ते-आहिस्ते उनमें लिखित साहित्य दिखाई देता है। ठीक इसी तरह, असमीया साहित्य का प्रारम्भिक रूप भी हमें अलिखित ही मिल जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत दिनों तक इसका प्रचार लोक-गीत, लोक-कथा और तंत्र-मंत्र आदि के जरिए ही होता आया है और अन्त में वह लिखित साहित्य का रूप धारण कर लेता है। असमीया साहित्य के इतिहास को बहुतों ने बहुत प्रकार से विभाजित किया है। पर श्री डिम्बेश्वर नेओगजी के विभाजन को अधिक विद्वानों का समर्थन

मिला है। श्री नेग्रोगजी ने असमीया साहित्य का काल निम्न प्रकार से विभाजित किया है—

१.	आदि युग	सन ६०० से ११०० ई० तक
२.	प्राक्-वैष्णव युग	सन ११०० से १४५० ई० तक
३.	वैष्णव युग	सन १४५० से १६५० ई० तक
४.	उत्तर-वैष्णव युग	सन १६५० से १८२६ ई० तक
५.	आधुनिक युग	सन १८२६ से अब तक

यद्यपि असमीया साहित्य का प्रारम्भिक काल सन ६०० ई० से ही माना गया है, तथापि दसवीं सदी से पहले लिखित साहित्य का निदर्शन अब तक नहीं मिला। 'बौद्ध गान और दोहा' में प्राचीन असमीया का रूप मिलता है। 'डाकर वचन' जो मुख्यतः किसानों के कुछ नीतिमूलक पदों का संग्रह है, इस काल में विशेष स्थान रखता है। इनके अलावा धाइनाम, विहुनाम, फुल कोंवर, मणि कोंवर, पगला पार्वतीर गीत आदि लोक-कथाएं और योगिनी-तंत्र, कालिका-पुराण, तंत्र-मंत्र आदि असमीया साहित्य के अन्तर्गत हैं। प्राचीन कामरूपी जनता के आदर्शों, विश्वासों और विविध धार्मिक सम्प्रदायों का चित्र इन सबमें हमें मिल जाता है।

प्राक्वैष्णव युग से असमीया साहित्य का यथार्थ विकास होता आया है। पौराणिक गाथाओं को लेकर इस काल में बहुत से काव्यों की रचनाएं हुई। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र', हरिवर विप्र का 'बभ्रु-वाहन. युद्ध' तथा 'लव-कुश युद्ध' अपनी चारुता और गांभीर्य के कारण प्रसिद्ध हैं। कविरत्न सरस्वती ने 'जयद्रथ-वध' और रुद्रकन्दलि ने 'सात्यकिप्रवेश' की रचना की।

इस काल में असम-उपत्यका के पूर्वाचल पर आहोम, मध्यभाग में कछारी और पश्चिम खंड में कोचराजाओं का शासन विराजमान था। लेकिन पारस्परिक वैमनस्य के रहते हुए भी इन तीनों वंश के राजाओं ने असमीया साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए आशातीत प्रोत्साहन दिया था। वराहराज महामाणिक्य की प्रेरणा से माधवकन्दलि ने 'सप्तकांड रामायण' की रचना की। वाल्मीकि रामायण की कथा का आधार होते हुए भी इस रामायण में कवि की मौलिक सूझ-बूझ दिखलाई पड़ती है।

वैष्णव युग को असमीया साहित्य के लिए स्वर्ण-काल कहा जा सकता है। इसके पहले असम में शाक्तों और तांत्रिकों की भीड़भार थी। समाज में धर्म के नाम पर कुत्सित आचारों का प्रचलन हुआ था। विभिन्न राज-वंशों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण जनता तबाह हो रही थी। इसी समय में छिन्न-विछिन्न असमीया जाति को नवजीवन देने वाले श्रीमन्त शंकरदेव का प्रादुर्भाव हुआ। श्रीमन्त शंकरदेव ने सारी असमघाटी में भक्ति की ज्योतिमय धारा वहा दी, जिससे असम की सारी दीनताएं धुल गई और उसमें नवीन चेतना का पवित्र रूप चमकने लगा। जनमानस और साहित्य नवीन भावों की उत्प्रेरणा से प्रफुल्लित व चमत्कृत हो उठा।

असमीया साहित्य में श्रीशंकरदेव की देन अतुलनीय है। उनके कीर्त्तनघोषा, दशम, गुणमाला, भागवत का अनुवाद, भक्ति-प्रदीप और वरगीत आदि अमूल्य ग्रन्थों के द्वारा असमीया साहित्य जगमगा उठा। इन्होंने काव्य-ग्रन्थों के अलावा असमीया साहित्य में नाटक की रचना कर क्रांति-सी मचा दी। श्रीशंकरदेव ने रुक्मिणी-हरण, चिह्न-यात्रा, पत्नी-प्रसाद, कालिदमन, केलिगोपाल, रामविजय आदि नाटकों की रचनाएं कीं और साथ ही इन्हें उपयुक्त खुले रंगमंच पर खेलने की व्यवस्था भी की। यही नहीं, नाटकों के अभिनय के समय वे खुद नट बनकर अभिनय भी करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि श्री शंकरदेव ने असम के लोक-समाज को नवीन दिशा की ओर चलने का संकेत किया। आपने साहित्य की सृष्टि में जिस तरह की गद्य-शैली को अपनाया है, वस्तुतः भारतीय भाषाओं में वह सर्वप्रथम प्रयास है। उस प्रचीन काल में भी असमीया गद्य साहित्य का रूप कितना प्रौढ़ और पूर्णता को प्राप्त था, उसका श्रीमन्त शंकर-देव की रचनाओं से ही प्रमाण मिलता है। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' की तरह असम के जन-समाज में श्री शंकरदेव के 'कीर्त्तनघोषा' ग्रन्थ ने प्रसिद्धि प्राप्त की है।

इस तरह श्री शंकरदेव के प्रमुख शिष्य श्री माधवदेव के 'वरगीत', 'नामघोषा' और 'भक्तिरत्नावली'

आदि भी असमीया भक्ति-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। सोलहवीं सदी में कोच-विहार के महाराजा नरनारायण के राजत्व-काल में राजकवि श्री रामसरस्वती ने महाराज के आदेश से असमीया में महाभारत लिखना प्रारम्भ किया था। उनके वध-काव्य समूह अपूर्व और मर्मस्पर्शी हैं। श्री रामसरस्वती के समकालीन श्री अनन्त कन्दलि ने असमीया में 'रामायण' लिखी। यह रामायण भक्ति-प्रधान भाव से ओतप्रोत है। इस भक्तिकाल में अनेक कवियों ने असमीया में भक्तिमूलक काव्यों की रचना पर इस धारा को बहुत आगे बढ़ा दिया। इस काल की विशेष देन है गद्य और पद्य में लिखित वैष्णव अनुयायियों की चरितपोथियां, जिनसे ऐतिहासिक लेखों का सूत्रपात होता है। इस समय के गद्य-रचयिताओं में वैकुण्ठनाथ भट्टदेव ने असमीया गद्य-रचना को सुदृढ़ बना दिया। सच कहा जाय तो असमीया का प्रकृत गद्य-लेखक श्री भट्टदेव जी को ही कहना चाहिए। 'कथा-भागवत', 'कथा-गीता', 'भक्ति-विवेक' तथा 'शरण-संग्रह' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

आहोम राजा भी असमीया साहित्य की श्रीवृद्धि के पोषक थे। भारतीय साहित्य में इन आहोम राजाओं की सबसे बड़ी देन है 'बुरंजी', जिसको हम इतिहास कहते हैं। इन राजाओं ने अपने पण्डितों के द्वारा क्रम-बद्ध रूप से वंशावलियों की रचना कराई और इतिहास-लेखन-कला को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। आहोम-बुरंजी, तुंगखुंगिया बुरंजी आदि से उस काल के गद्य-साहित्य तथा इतिहास को बहुत ही प्रोत्साहन मिला है।

आधुनिक युग का प्रारम्भ

अठारहवीं सदी का अन्तिम और उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भिक काल असम के इतिहास में सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण और अन्धकारमय समय था। गृह-विवाद के कारण आहोम राज-शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। क्रूर बर्मणों (ब्रह्मदेशीय लोगों) के अत्याचार एवं भयंकर रक्तपात से हरी-भरी असम घाटी श्मशान-सी बन गई। ऐसे दुर्योगकाल में साहित्य की प्रगति कैसे हो सकती थी? मानों[1] (ब्रह्मदेशियों) ने असम की समृद्धि, शृंखला, व्यवस्था सब कुछ विनष्ट कर डाला। असम के इतिहास की बर्बरता का पटाक्षेप सन १८२६ ई० में जाकर होता है, अर्थात उसी साल अंग्रेजों ने बर्मियों के हाथ से असम को जीतकर अपने शासन में मिला लिया।

असम पराधीन हुआ और साथ ही उसकी संस्कृति पर प्राणान्तक एक दूसरा आक्रमण आरम्भ हो जाता है। अंग्रेजों के अधीन होते ही असम की तमाम अदालतों में बंगाली अफसर और दूसरे कार्यकर्त्ता नियुक्त हुए। इन अफसरों और कार्यकर्त्ताओं ने अपने कामकाज में असमीया भाषा का एकदम बहिष्कार कर दिया। इन लोगों ने प्राचीन साहित्य-भंडार से समृद्ध असमिया भाषा को बंगला भाषा की एक अपभ्रंश बोली की आख्या दी और आखिर में उनका षडयन्त्र इस प्रकार बढ़ गया कि सन १८३६ ई० में असम की अदालतों में बंगला भाषा को ही स्थान मिला, असमीया भाषा निर्वासित हो गई। बंगला भाषा के न जानने के कारण बहुत से असमी कर्मचारी पदच्युत हो गए। शिक्षा में भी बंगला ही चलने लगी। सारे असम की संस्कृति और उसके भाषा-साहित्य के लिए यह चरम विपर्यय का समय था। इसी दुर्योग-पूर्ण काल में अमेरिकन बैप्टिस्ट मिशन का असम में आगमन हुआ। इन मिशनरियों ने जनता के साथ सम्पर्क स्थापित किया और यह महसूस किया कि असमीया बंगला की एक अपभ्रंश बोली नहीं, बल्कि एक स्वतन्त्र भाषा रही है। इन मिशनरियों ने ही पहले-पहल असमीया भाषा में पाठ्य-पुस्तकों की रचना की और अपने ईसाई विद्यालयों में उन्हें चालू कर दिया। इसके अलावा शिवसागर नगर में इन लोगों ने छापाखाना भी खोला। धीरे-धीरे असमी लोगों पर इसका काफी असर पड़ा। अपनी दूरदर्शिता से सन १८४६ में असमीया भाषा में 'अरुणोदय' नामक एक पत्रिका इन मिशनरियों ने ही निकाली। 'अरुणोदय' ही असमीया भाषा की सर्वप्रथम पत्रिका है।

उस अन्धकारमय काल में इस प्रकार धीरे-धीरे म्रियमाण असमीया जाति में नवीन चेतना का स्फुरण हुआ। इसी काल में आनन्दराम ढेकियाल फुकन असमीया भाषा के उद्धारक के रूप में प्रकट हुए। आनन्दराम के नेतृत्व में असमिया भाषा को उसका न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए अनवरत संघर्ष करना पड़ा। उन्होंने अंग्रेज सरकार

---

१. असमीया लोगों ने ब्रह्मदेशीय लोगों को इस समय मान नाम से पुकारा था।

को स्मारक-लिपि दी और उनके प्रयत्न में मिशनरी लोगों ने भी बड़ी सहायता पहुंचाई। अन्त में इनके अथक परिश्रम से सन १८७६ ई० में असमीया भाषा को अदालत आदि में जगह मिल गई। असमीया जाति में नव-जागृति शुरू हुई।

आनन्दराम ढेकियाल फुकन आधुनिक असमीया साहित्य के पुरोधा कहे जाते हैं। आपने 'असमीया लरार मित्र', 'असमीया भाषा के सम्बन्ध में कुछ बातें' आदि पुस्तकों की रचना कर भाषिक मार्ग की रुकावटें काफी हद तक दूर कीं। इनके बाद हेमचन्द्र बरुआ ने प्रथम असमीया वैज्ञानिक कोष 'हेम कोश' की रचना। श्री गुणाभिराम बरुआ भी इस काल के एक प्रमुख लेखक थे।

आधुनिक काव्य

यद्यपि असमीया भाषा राहुग्रास से मुक्त होकर प्रकाश में आने लगी और रघुदेव गोस्वामी, गोपीनाथ चक्रवर्त्ती, पूर्णकान्तदेव शर्मा आदि ने प्राचीन शैली पर काव्य-रचना की, फिर भी सन १८७५ के बाद ही काव्य में आधुनिक पाश्चात्य प्रेरणा की झलक मिलती है। माइकेल मधुसूदन के 'मेघनाथ-वध' काव्य के अनुकरण पर रमाकांत चौधरी ने 'अभिमन्यु-वध' की रचना की। यह काव्य आधुनिक असमीया काव्य में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। कमलाकांत भट्टाचार्य इस काल के श्रेष्ठ कवियों में अन्यतम हैं। देशभक्ति-मूलक कविता-रचना कर उन्होंने राष्ट्रीय भावना से असमिया जाति को उद्बोधित किया है। उनकी 'चिन्तानल' (१८६०) सर्वश्रेष्ठ काव्य-कृति है। इसमें संगृहीत सभी कविताएं अपूर्व तेजोद्दीपक और स्फूर्ति संचार करने वाली हैं। भोलानाथदास ने भी अतुकान्त छन्द में 'सीताहरण' काव्य की रचना की। इसी सूत्र में गुणाभिराम बरुआ का 'रामनवमी' काव्य भी उल्लेखनीय है।

असमीया साहित्य में छायावादी युग

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह उन्नीसवीं सदी का अन्तिम भाग और बीसवीं सदी का प्रारम्भ असमिया साहित्य के सर्वांगीण विकास का काल है। 'जोनाकी' (१८८६) के प्रकाशन से पश्चिमी रोमांटिक भावधारा से अनुप्राणित जिन कवियों का अभ्युदय हुआ उन्होंने साहित्य के सारे क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। एक ओर राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताएं लिखी जाने लगीं, दूसरी ओर कवियों के हृदय में विशाल मानववादी दृष्टिकोण जाग उठा। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम, इसमें प्रेममय तत्त्व का संधान और साथ-साथ मानवीय-हृदयवेदना का सामंजस्य, इस काल के साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं।

इस समय में आकर राष्ट्रीय चेतना जनता के हृदय में उच्छ्वसित हो उठीं। देश की पराधीनता की आलोचना में जाकर शोषित-पीड़ित मानवसमाज की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। वस्तुतः यह युग आधुनिक असमीया साहित्य की अभिव्यक्ति, विचार और भावना की सशक्त अनुभूति की महिमा से मंडित है।

इस गौरवशाली युग में चन्द्रकुमार आगरवाल, लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और हेम गोस्वामी इन तीन महारथियों का उदय असम के सारे साहित्य-क्षेत्र को मथ डालने वाला है। ये तीन विभूतियां 'त्रिवेणी' की तरह एक साथ मिलकर प्रवाहित हुई। साहित्य का हर विभाग इनकी देन से परिपूर्ण हो उठा। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध सबमें अपूर्व ओजस्विता आ गई। पत्रकारिता का क्षेत्र भी बहुव्यापक और सम्भावनाओं से युक्त होकर प्रकट हुआ।

इस युग की नींव डालने वाले के रूप में चन्द्रकुमार आगरवाल का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उनके पिता हरिविलास आगरवाल भी असमीया के अच्छे साहित्यिक और अनुरागी थे। कलकत्ते में पढ़ते समय लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ, हेम गोस्वामी के सहयोग से उन्होंने सन १८८६ में 'जोनाकी' का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया, जिससे युग-परिवर्तन की सूचना मुखर हो उठी। इस पत्र के माध्यम से अनेक भावी असमीया लेखकों को उन्होंने प्रोत्साहन दिया।

कविता

चन्द्रकुमार आगरवाल न केवल कुशल पत्रकार ही थे, बल्कि काव्य में रोमांटिक भावना या छायावाद के प्रवर्तकों के अग्रदूत भी थे। 'प्रतिमा' (१६१३) और 'बीन बरागी' (१६२३) नामक उनके काव्य-संग्रहों में भावना का चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। ये दोनों काव्य असमीया साहित्य की उज्ज्वल मणियां हैं। चिन्तन-शील दार्शनिक

कवि के रूप में आप अग्रगण्य रहे। 'जानकी' के अलावा चन्द्रकुमार ने 'असमीया' साप्ताहिक तथा अर्द्ध-साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। लक्ष्मीनाथ वेंजवरुआ को छायावादी या रोमांटिक कवियों में श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी, फिर भी काव्य-रचना में उन्होंने बड़ी निपुणता दिखाई। सन १६१३ ई० में 'कंदम कलि' नामक उनका एक कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें बीन बरागी, प्रियतमा का सौन्दर्य-भ्रम, धनबर रतनी आदि कविताएं छायावादी भावनाओं को प्रकाशित करती हैं। श्री वेंजवरुआ ने प्रचलित रूढ़िवाद के खिलाफ आवाज उठाई और साथ ही भावजगत में एक उथल-पुथल मचा दी। वह छायावादी होने पर भी उत्कट स्वदेशानुरागी थे। उन्होंने राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण 'अमोर आपोनार देश' तथा 'असम संगीत' आदि कविताओं की रचना कर असम की अतीत संस्कृति की महत्ता को सामने लाकर जन-मानस में उद्बोधन का स्वर गुंजा दिया। इसी तरह हेमचन्द्र गोस्वामी का इस समय के कवियों में अपना एक अलग महत्त्व है। उन्होंने 'सानेटों' की रचना की और पश्चिमी रोमांटिक की अनुप्रेरणा से उच्च कोटि की कई कविताएं लिखीं। सन १६०७ की 'फुलर चाकि' नामक संगृहीत प्रेममूलक कविताएं कवि के मानस का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं। एक ओर जहां उनमें विरह का आधिक्य दिखाई पड़ता है, वहां दूसरी ओर प्रकृति-प्रेम तथा आशावाद का संकेत मिल जाता है।

असमीया साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक इन तीन कवियों के अलावा और भी कवि उनके अनुवर्ती होकर साहित्य-गगन में उदित हुए और उन्होंने असमीया साहित्य को चमकाया। इनमें पद्मनाथ गोहांई वरुआ, वेणुधर राजखोवा, हितेश्वर बरुवरुआ, दुर्गेश्वर शर्मा, नीलमणि फुकन आदि प्रमुख रहे। 'लीला' और 'फुलर चानेकी' आदि काव्यों के रचयिता के रूप में पद्मनाथ गोहांईबरुआ बहुत ही श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं। प्रसाद गुण-युक्त भाषा-शैली, प्रवाह-पूर्ण छन्द और गम्भीर भावनाओं से परिपूर्ण उनकी कविताएं हैं। वेणुधर राजखोवा का 'चन्द्रसम्भव' एक प्रबन्ध काव्य है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंच कविता', 'दश गीत', 'सुर लरार गीत', 'असमिया भाई' तथा 'बांही' आदि गीति-कविताओं के संग्रह निकाले।

काव्य के माध्यम से जिन कवियों ने राष्ट्रीय भावना का उद्बोधन किया, उन लोगों में हितेश्वर बरबरुआ का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अंग्रेजी काव्य के अध्ययन और प्रेरणा का प्रभाव उनके काव्य में सुपरिस्फुटित है। यद्यपि उनके पहले भी अतुकान्त पदों और सानेटों की रचना हो चुकी थी, तथापि उन्होंने उनमें प्राण-संचार कर एक नवीन दिशा का संकेत किया। 'कमतापुर ध्वंस', 'युद्ध क्षेत्रत आहोम रमणी' उनके सर्वाधिक जनप्रिय काव्य-ग्रन्थ हैं। राष्ट्रीय भावना और वीर रस इन काव्यों में मुखरित हुआ है, साथ-ही-साथ करुण रस का भी यथोचित समाहार है।

नीलमणि फुकन की कविताओं में रहस्यवाद की ओर झुकाव दिखाई पड़ता है। उनमें भावना की अपेक्षा अधिक मनन और चिन्तन हम देख पाते हैं। श्री फुकन के 'मानसी' और 'ज्योति कणा' काव्यों में अन्तर की आकुल जिज्ञासा का परिचय मिलता है। 'सन्धानी' में सत्य एवं शाश्वत तत्त्व की अन्वेषण-स्पृहा प्रबल हो उठती है। परवर्ती काल में इनके द्वारा रचित 'जिजिर' तथा 'अमित्रा' आदि काव्यों में विदेशी शासन के प्रति तीव्र असन्तोष, सामाजिक विषमताओं पर उत्कट घृणा-भाव प्रकट रूप से दिखाई पड़ते हैं।

इसी काल के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि-रत्न रघुनाथ चौधरी और यतीन्द्रनाथ दुवारा हैं। कविरत्न रघुनाथ चौधरी जन-समाज में 'विहगी कवि' नाम से प्रसिद्ध हैं। आपके हर एक काव्य में प्रकृति के प्रति असीम मोह दिखाई पड़ता है। पक्षियों को लेकर काव्य-रचना के क्षेत्र में वह निपुण हैं। इनके 'सादरी', 'केतेकी' और 'दहिकतरा' काव्य बड़े ही मार्मिक और मधुर हैं। विषय की मौलिकता, भावों में गहराई और प्रेमधारा से अभिसंचित होकर ये काव्य असमीया साहित्य में सदा चमकने वाले हैं। यतीन्द्रनाथ दुवारा ने रुबाइत-ई-उमरखैयाम का प्रांजल असमीया अनुवाद 'ओमर तीर्थ' के नाम से किया है। इनके 'आपोन सुर' और 'वनफुल' नाम के दो काव्य प्रकाशित हुए हैं। 'वनफुल' काव्य पर कवि दुवारा को भारत सरकार का पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। दुवारा की कविताओं में निराशावाद, मनोवृत्तियों का द्वंद्व और आशाभंग-जनित गहरी व्यथा का मार्मिक चित्रण मिलता है। छन्दों की विविधता, शब्दों के माधुर्य के कारण इन्हें असमीया का 'शेली' कहा जाता है। 'कथा-कविता' नामक गद्य-काव्य की रचना कर उन्होंने गद्य-काव्य के

क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित कर दिया है।

छायावादी-काल की महिला-कवियों में स्वर्गीया धर्मेश्वरीदेवी वरुवानी और श्रीमती नलिनीवाला देवी के नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। धर्मेश्वरीदेवी के 'फुलर शराई' तथा 'प्राणर परश' नामक काव्यों में गहरी मनोव्यथा, संसार के प्रति तीव्र वैराग्य और परमात्मा के प्रति हार्दिक आत्म-निवेदन का भाव दिखाई पड़ता है। श्रीमती नलिनीवालादेवी विशेष रूप से रहस्यवादी भावधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। इनके 'सन्धियार सुर', 'सपोनर सुर' और 'परश मणि' आदि काव्यों में आध्यात्मिकता तथा रहस्योन्मुखतापूर्ण भावावेश पाया जाता है। उनकी कविता का मूल स्वर भी दुःखवादी हो गया है। उन्हें भारत के राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मश्री' की उपाधि का सम्मान मिला है।

नवीन राष्ट्रीय प्रगतिवादी काव्यधारा

द्वितीय महायुद्ध के कुछ समय पहले से राष्ट्रीय आन्दोलनों की तीव्रता बढ़ने के साथ-साथ सरकारी दमन नीति की चरम सीमा को छूने लगी थी। जनता एक ओर अभावों के मारे पिसती जा रही थी और दूसरी तरफ स्वतंत्रता की प्यास उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। फलतः कवियों का झुकाव भी उधर होना अपरिहार्य था। इस काल में राष्ट्रीय स्वर अधिकाधिक मुखर होता गया। साथ-ही-साथ अपनी हीनताजन्य अवस्थाओं के कारण पर भी विचारपूर्ण कविताएं लिखी जाने लगीं।

एक ओर समाजवादी चिन्ताधारा से प्रेरित होकर कुछ कवियों ने सामाजिक और आर्थिक विषमता पर दारुण प्रहार किया, दूसरी तरफ कुछ कवि 'फ्रायडियन' विचारधारा से अनुप्राणित होकर अन्तर्द्वन्द्वों, दमित कुंठाओं-जनित सामाजिक तथा मानसिक अन्तःवृत्तियों का चित्रण करने लगे। इस तरह के दोनों प्रकार के कवि ही सामाजिक जीवन और परिस्थितियों से असन्तुष्ट थे। परन्तु जहां एक पक्ष उसकी वाहरी विषमताओं को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहा वहां दूसरा पक्ष विषमताओं से फैली विवशताओं का चित्रण करने में लगा हुआ था, जिसमें दुःख और वेदना का प्राधान्य था। टी० एस० इलियट, ऐजरा पाउंड आदि कवियों की प्रेरणा से असमीया काव्य में प्रतीक शैली और नवीन काव्यिक अनुसन्धान चलने लगा। अनेक नवीन कवि इस धारा के अन्तर्गत आज हम देख पाते हैं।

इस काल के सशक्त राष्ट्रीय कवियों में अम्बिकागिरी रायचौधरी का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। 'तुमि' काव्य में यद्यपि उन्होंने अपनी रहस्यवादिता का परिचय दिया है, तथापि अपनी राष्ट्रीय कविताओं के कारण ही वह प्रसिद्ध है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय 'अन्तर में आग जलाने वाले कवि' के रूप में आपकी प्रसिद्धि फैली और उन्हें 'अग्नि कवि' की उपाधि मिली। स्वतन्त्रता के बाद उनकी दृष्टि सामाजिक और वर्गिक विषमताओं की ओर मुड़ गई है, साथ ही उन पर समय-समय पर अग्नि-वाण का प्रहार होता रहता है।

विनन्दचन्द्र वरुआ ने 'शंख ध्वनि' और 'प्रतिध्वनि' नाम के दो काव्यों की रचना की। इनमें प्राचीन असमीया संस्कृति के प्रति गहरी आस्था को प्रकट करते हुए कवि ने उदात्त आह्वान किया है। इस तरह डिम्बेश्वर नेओग के 'इन्द्र धनु' और 'मुकुता' आदि काव्यों के द्वारा राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष हुआ। प्रसन्नलाल चौधुरी ने भी सामाजिक जीवन की विवशताओं के विरुद्ध सघन शंखनाद किया।

प्रगतिवादी आधुनिक कविता का प्रारम्भ देवकान्त वरुआ से होता है। इनकी 'सागर देखिछा' कविता को आधुनिक असमीया काव्य-जगत में श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इधर हेम वरुआ ने तो प्रतीकवादी कविताओं की रचना में विशिष्टता दिखलाई है। नवकांत वरुआ भी इसी शैली को अपनाकर अनेक कविताओं की रचना कर चुके हैं। उनकी 'हे अरण्य, हे महानगर' के अलावा और भी कई कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई है। वर्तमान प्रगतिवादी कवियों में नवकांत वरुआ का स्थान प्रमुख माना जाता है।

इस धारा में आज अनेक कवि हो रहे हैं। 'आवाहन' और 'राम-धेनु' नामक मासिक पत्रों में अनेक कविताएं हम देख रहे हैं। इन कवियों में दिलीप वरुवा, महेन्द्र वरा, कमलेश्वर चलिहा, लक्षहीरादास, निर्मलप्रभा वरदलै, शुचिव्रता रायचौधुरी आदि के नाम गिने जा सकते हैं।

वर्तमान असमीया कविताओं की प्रसार-वृद्धि हो तो रही है, परन्तु जनमानस के साथ जैसा गहरा सम्बन्ध होना चाहिए था, धीरे-धीरे उसमें कमी दिखाई पड़ रही है इसका कारण है अनुकरण की प्रवृत्ति तथा पांडित्य-प्रदर्शन की अप-चेष्टा । छन्द और लय का बहिष्कार हो जाने से कविता में नीरसता की वृद्धि हो गई है और उनके भाव विच्छिन्न भी हुए, जिससे साधारण जन के लिए दुर्बोध्य माने गए । अभी तक असमीया साहित्य में बेजबरुआ जैसे युगान्तरकारी पुरुष नहीं निकले । सबसे पहले सोचने की बात यह हुई है कि आज के कवियों के पास दृढ़ आस्था, त्याग और तपस्या की कमी है। लेकिन हमें आशा है कि असमीया जन-समाज में (खासकर नवयुवकों में) जैसी जागृति दिखाई पड़ रही है, जल्दी ही कोई प्रतिभा आगे आकर उनका मार्ग-प्रदर्शन करेगी।

असमीया गद्य-साहित्य

यह कहा जाय तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी कि असमीया भाषा का गद्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में सबसे पुराना है। भट्टदेव ने बहुत पहले ही चमत्कारपूर्ण असमीया भाषा में गद्य-साहित्य का सृजन किया। परंतु जैसा कि कहा गया है, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक अपनी जीवन-रक्षा के संघर्ष के कारण जूझते रहना पड़ा और इसी कारण साहित्य की गति भी कुछ रुक-सी गई थी। बाद की, उन्नीसवीं सदी के तीसरे चरण में पुनर्विकास दिखाई दिया। नाटक, उपन्यास, छोटी कहानी और निबन्ध आदि में असमीया गद्य-साहित्य का भंडार फलने-फूलने लगा। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उच्चकोटि का गद्य-साहित्य असमीया में मिला।

उपन्यास

सन १८७७ ई० में अरुणोदय में प्रकाशित 'कामिनीकान्त' असमीया साहित्य का सबसे पहला उपन्यास है। लेकिन मुख्यतः ईसाई धर्म के प्रचार के उद्देश्य से ही यह लिखा गया था। इसमें न तो औपन्यासिक कला है, न कोई दूसरा आदर्श। इसके बाद आनन्दराम ढेकियाल फुकन की कन्या पद्मावतीदेवी फुकननी का सुधर्मसार उपाख्यान निकला। सत और असत चरित्र का द्वंद्व इसमें प्रकट हुआ तथा आदर्शवाद की स्थापना हुई है। इनके बाद पद्मनाथ गोहांइबरुआ के भानुमती और लाहरी नामक दो उपन्यासों का प्रकाशित होना उल्लेखनीय है। ये दोनों उपन्यास आहोम-काल पर लिखे गये हैं। ये सारे उपन्यास किसी विशेष आदर्श को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से लिखे जाते थे। उपन्यास-कला पर इनमें कम ध्यान रखा गया था, इसलिए ये आधुनिक उपन्यासों की कोटि में नहीं आ सके। सन १८९५ में असमिया के उपन्यास-सम्राट रजनीकान्त बरदलै का पहला उपन्यास 'मिरी जियरी' प्रकाशित हुआ। एक जनजातीय मिरी युवक-युवती की यह प्रेमकथा है। इसमें लेखक की करुणा सहानुभूति से ओतप्रोत है। यह लघु उपन्यास असम की जनजातीय (असम घाटी के) समस्या की ओर संकेत करने वाला है।

इसके बाद असम की ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित अनेक उपन्यास एक-एक करके प्रकाश में आने लगे। मनोमती (१९००), दन्दुवाद्रोह (१९०९), रंगिलि (१९२५), निर्मल भकत (१९२६), रहदै लिगिरी (१९३०), राधारुक्मिणीर रण (१९२५), ताम्रेश्वरीर मंदिर (१९२६) आदि प्रसिद्ध उपन्यास असमीया साहित्य-भंडार में बरदलै की अपार देन हैं। मनोमती और रहदे लिगिरी दोनों की घटनाएं असम के ऊपर बर्मियों के आक्रमण के काल से ली गई हैं। दन्दुवाद्रोह असम के गृहविवाद तथा मोवामरिया आन्दोलन पर रची गई घटनाएं हैं। बरदलै के उपन्यासों पर स्काट तथा बंकिमचन्द्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। परंतु इन्होंने विषयवस्तु, चरित्र-चित्रण और औपन्यासिक भाषा-शैली में अपनी सर्वाधिक प्रतिभा दिखाई है। उनके उपन्यास असमिया साहित्य की अक्षय निधि हैं। बरदलै-जैसा विशाल दृष्टिकोण, सूक्ष्म अनुभूति और उदात्त भावनापूर्ण कोई औपन्यासिक असमीया साहित्य में अब तक दिखाई नहीं पड़ा।

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने भी सन १९०५ में 'पदुम कोवरी' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। किन्तु बरदलै की तरह उन्हें सफलता नहीं मिली।

संख्या की दृष्टि से अधिक होने पर भी वर्तमान काल में असमीया साहित्य में उच्च कोटि के उपन्यासों

का अभाव है। हितेश्वर बरबरुवा का मालिता और मइना, दण्डिनाथ कलिता का फुल, साधना, गणविप्लव, अदृष्ट और आविष्कार, विनन्दचन्द्र का प्रेम कुंहि, देवचन्द्र तालुकदार का धुंवली कुंवली, आग्नेयगिरी, विद्रोही और अपूर्ण, शरत-चन्द्र गोस्वामी का पाणीपथ, हरिनारायण दत्तबरुआ का चित्रदर्शन आदि उपन्यास वर्तमान असमीया जन समाज में जनप्रिय हो चुके हैं।

युद्धोत्तर काल में असमीया उपन्यास में आंचलिक समस्याएं अधिक मुखर हो उठी है। वीणा वरुआ के जीवनर बाटत उपन्यास में असम का एक मनोमोहक चित्र हमें मिल जाता है। हितेश डेका के आजिर मानुह, नतून पथ आदि उपन्यासों में गांधीवाद का आकर्षण देखा जाता है। रास्ना बरुआ के सेउजी पातर काहिनी में असम के चायबागानों में काम करने वाले मजदूरों के जीवन का दृश्य हमारी आंखों के सामने दिखाई पड़ता है। दीनानाथ शर्मा के नदाइ उपन्यास में ग्रामीणों तथा किसानों की मार्मिक कहानी है।

इनके अलावा होमेन वरगोहांइ, सैयद अब्दुल मालिक, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य आदि भी औपन्यासिक श्रेणी में आ जाते हैं। रचना-शैली में वरगोहांइ की रचनाओं ने जनप्रियता प्राप्त की है। अब्दुल मालिक और वीरेन्द्र भट्टाचार्य समाजवादी दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करते आये हैं। मालिक का 'छविघर' बहुचर्चित उपन्यासों में एक है। जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास में कुमुदेश्वर वरठाकुर और प्रेमनारायण दत्त ने अच्छा नाम कमाया है। प्रेमनारायण की कलम में बच्चों का दिल बहलाने वाला जादू है।

कहानी

साधु-कथा (लोककथा) के रूप पुराने काल से ही कहानी का उद्‌भव हुआ है, लेकिन आधुनिक असमीया कहानी का विकास पश्चिमी प्रभाव से ही हुआ है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही कहानी-कला में निखार आया है। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ को ही असमीया के आधुनिक कहानीकारों का स्रष्टा माना गया है। सुरभि, साधुकथार कुकि और जानबिरी आदि कहानी-संग्रहों में प्राचीन लोक-कथाओं और आधुनिक कहानिओं में समन्वय का प्रयास देखा जाता है। जीवन के लघु अंश को ग्रहण करके उसे प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त कर देना बेजबरुवा की विशेषता है। उनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है यथार्थ चित्रण। बीच-बीच में तीव्र व्यंग्योक्ति और परिहास का पुट बेज-वरुआ की रचना में मिल जाता है।

शरत गोस्वामी दूसरे गल्प-लेखक हैं जिन्होंने गल्पांजलि, मयना, बाजीकर आदि कहानियों में शैली की मनोज्ञ छटा, गम्भीर सहानुभूति और करुणा की धारा बहा दी है। इस श्रेणी के छविराम डेका, लक्ष्मीधर शर्मा, रमा-दास, इन्दीवर गगैं, मुनिन बरकटकी, महीचन्द्र बरा, होमेन बरगोहांइ, अब्दुल मालिक, लक्ष्मीनाथ फुकन आदि कहानी-कार हैं। प्रगतिवादी कहानी-लेखकों में पद्म बरकटकी का नाम उल्लेखनीय है।

लक्ष्मीधर शर्मा की कहानियों में नारी-समस्याओं का समाधान पाया जाता है। 'व्यर्थतार दान' की भाषा-शैली और कथावस्तु का विकसित रूप दिखाई पड़ता है। महिला-कहानीकारों में वीणा वरुआ, उषा भट्टाचार्य, लक्षहीरा दास, मामणि गोस्वामी आदि प्रमुख है।

दूसरे महासमर से पहिले पश्चिमी प्रभाव से फ्रायडीय विचारधारा का बड़ा गहरा प्रभाव हमारे इन कहा-नीकारों पर पड़ा था। इसी वजह से यौन व्यापारों का चित्रण कहीं-कहीं कुरुचि और अश्लीलता की सीमा को छू लेता है। महायुद्ध के परवर्ती काल में कहानी भी साधारण मजदूर, किसान और मध्यवर्ग के जीवन का चित्रण करती है। भाव और शैली दोनों में अत्यधिक परिवर्तन हो गया है। पुरानी और नई विचारधाराओं का संघर्ष इन कहानियों में अधिक मुखर हो उठता है। आज की कहानी मध्ययुग के पीड़ित, वंचित मानव-समाज को लेकर चलती है तथा उसे अपनी मान व मर्यादा में प्रतिष्ठित देखना चाहती है। ऐसे कहानीकारों में अब्दुल मालिक, जोगेशदास, भवेन्द्रनाथ शइकीया आदि प्रसिद्ध हैं।

आजकल असमीया कहानी की दशा यथार्थवाद की ओर अधिक है। जहां एक ओर घरेलू समस्याओं और

सम्बन्धों की उलझनों को दिखाता हुआ वह उनके समाधान की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर पहाड़ी तथा नाना दुर्योगों से पीड़ित असम की एकाग्रता पर भी विचार करता है। मनस्तात्त्विक उथल-पुथल, मध्यवर्गीय जीवन की परेशानी और विचार-संकट, कदम-कदम पर सामाजिक एवं आर्थिक प्रतिबन्ध से सब क्रमशः कहानी के मूल स्वर होते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है कि पुरानी कुण्ठा पर नवीन आस्था का निर्माण हो रहा है।

नाटक

असमीया में नाटक और रंगमंच दोनों ही बहुत पुराने जमाने से चले आ रहे हैं। श्री शंकरदेव और श्री माधवदेव के रचे हुए नाटक उस समय की धार्मिक प्रेरणाओं के स्रोत थे, जिन्हें आज भी असम के ग्रामीण लोग बड़े चाव से देखते और रस-पान करते हैं। उस काल के रंगमंच बहुत ही सादा-सीधा रहा। वस्तुतः आज जिसे हम रंगमंच कहते हैं वह उसी का प्रारम्भिक होने पर भी प्रौढ़ रूप था।

प्राचीन नाटकों की परम्परा से समृद्ध होने पर भी आधुनिक नाटक विशेषकर बंगला और अंग्रेजी नाटकों के प्रभाव से ही पनपे हैं। अंग्रेजी प्रभाव-सम्पन्न प्रारम्भिक नाट्यकारों में गुणाभिराम बरुआ, हेमचन्द्र बरुआ तथा रुद्रराम बरदलै अग्रवर्ती हैं। गुणाभिराम के रामनवमी, हेमचन्द्र के कनियार कीर्तन और रुद्रराम बरदलै के बंगाल-बंगालिनी नामक नाटक प्रसिद्ध हैं।

इस धारा को पुष्ट करने वाले लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ हैं। उन्होंने चक्रध्वजसिंह, जयमती कुंवरी, बेलिमार, जितिकाइ, चिकरपति-निकरपति आदि ऐतिहासिक नाटकों की रचना कर उनमें राष्ट्रीय सन्देश भर दिया। इन तमाम नाटकों में कल्पना तथा ऐतिहासिक तथ्य दोनों के प्रति लेखक सतर्क रहा है। असम के प्राचीन गौरव को प्रतिष्ठापित कर नवीन असम की चेतना का उद्बोधन इन नाटकों में है। चक्रध्वजसिंह नाटक में असम की वीरता एवं पौरुष की गाथा है। लाचित बरफुकन के नेतृत्व में मुगलों का असम से निर्वासन इसका आधार है। बेलिमार में बर्मियों के आक्रमण और उस समय के असम की राजनीतिक व सामाजिक हीनावस्था का चित्रण किया गया है। इधर तो आहोम राजा विलासी बनकर गृह-विवाद में पड़े हुए थे, उधर जनता की तबाही चरम सीमा पर आ पहुंची थी। इसी समय बर्मियों ने अवसर देखते ही हमला कर सारे असम को तहस-नहस कर डाला। इस नाटक में मर्मान्तिक वेदनाओं को साकार रूप में दिखाया गया है। जयमती कुंवरी में वीरांगना नारी के सतीत्व का आदर्श तथा बलिदान का महत्त्व चित्रित किया है।

नाटकों के अलावा बेजबरुआ ने प्रहसन भी लिखे थे। 'चिकरपति-निकरपति' उनके उत्तम प्रहसनों में से एक है। तीव्र चुटीले संवाद और सशक्त व्यंग-रस उनके प्रहसनों की विशेषता है।

जयमती, गदाधर, बाणरजा और लाचित बरफुकन इन चार नाटकों के रचयिता पद्मनाथ गोहाँइबरुआ प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। उनके सभी नाटक ऐतिहासिक सच्चाई पर आधारित हैं। किन्तु बेजबरुआ में संयम का जितना निर्वाह है वह गोहांइबरुआ में पहुंच नहीं पाया है। हां, प्रहसनों के क्षेत्र में उनका 'गांव बूढ़ा' बहुत ही सफल बन पड़ा है। असम के किसान-जीवन की विवशता का, उसके हाहाकारों का चित्रण ऐसा सुन्दर हुआ कि अभिनय के समय उससे तहलका मच गया था। ग्रामीण जीवन के चित्रण में गोहांइबरुआ सिद्धहस्त और अनुभवी रहे।

माइकेल के 'मेघनाद-वध' और 'तिलोत्तमा-संभव' इन काव्यों से आधार लेकर चन्द्रधर बरुआ ने असमीया साहित्य में अतुकान्त छन्दमय नाटकों की रचना की। 'भाग्यपरीक्षा' उनका एक प्रहसन है।

असमीया नाटक-रचयिता और रंग-मंच के उन्नायक के रूप में ज्योतिप्रसाद आगरवाल की देन महत्त्वपूर्ण है। असमीया चलचित्र के निर्माता के रूप में रूपकोंवर ज्योतिप्रसाद आगरवाल ही सर्वप्रथम हमारे सामने पहुंच जाते हैं। शोणित कुंवरी, कारेंडर लिगिरी और लभित आदि इनके नाटक धीरोदात्त भावना और असीम देश-भक्ति से ओत-प्रोत हैं। पश्चिमी भाषा के विद्वान होने के कारण इनके नाटकों में पश्चिम का प्रभाव भी पाया जाता है।

स्वतन्त्रता के आन्दोलन के समय में नाटकों को जनता में जागृति लाने का अच्छा साधन माना गया था।

अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना भी हुई। असम के प्राचीन गौरवमय इतिहास की तरफ लेखकों ने दृष्टि डाली। इन साहित्यकारों ने उसे फिर से साकार रूप देने का प्रयत्न किया।

नकुलचन्द्र भूयां का वदन वरफुकन, चन्द्रकान्तसिंह, बुद्धीन्द्र भट्टाचार्य का रमणी गाभरू, देवचन्द्र तालुकदार का असम प्रतिभा, वामुनी कांवर और भास्कर वर्मन, प्रसन्नलाल चौधुरी का नीलाम्बर आदि ऐतिहासिक नाटक बहुत ही प्रसिद्ध है। इधर पौराणिक नाट्यकारों में अतुलचन्द्र हाजरिका का स्थान प्रमुख माना गया है। वंगाली अपेरा (यात्रागान) शैली को अपनाते हुए असमीया में अनेक नाटकों की सृष्टि कर हाजरिका ने रंग-मंच के एक विशेष अभाव को असम से दूर कर दिया। पहले कई वार हम जिक्र कर चुके है, दूसरे महासमर के वाद असमीया साहित्य के सभी अंगों में परिवर्तन आ गया था। ठीक उसी तरह नाटक के क्षेत्र में भी नई दृष्टिभंगी हमें मिलती है। इसी वक्त ऐसे अनेक ऐतिहासिक नाटकों का निर्माण हुआ जिनमें सामाजिक समस्याओं के प्रति अधिक ध्यान दिया गया है। दण्डिनाथ कविता के सतीर तेज, पराजित, कीचक-वध, प्रवीण फुकन के मणिराम देवान, लाचित वरफुकन, चन्द्रनाथ फुकन के पियली फुकन, सुरेन्द्रनाथ शइकीया के कुशल कोंवर आदि अनेक प्रसिद्ध नाटक हम देख पाते हैं। इन नाटकों में स्वाधीनता-आन्दोलन में आत्माहुति देने वाले वीरों की गाथाओं का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त शिशुओं के लिए भी नाटकों का निर्माण हुआ। इस दिशा में मित्रदेव महन्त का स्थान बहुत ही ऊंचा है। इनके 'कुकुरी कणार आठ मंगला', 'चरणधूहि' आदि नाटकों ने बड़ी प्रसिद्धि पाई है।

आधुनिक काल में प्रवीण फुकन ने नाटक के क्षेत्र में काफी हाथ वंटाया है। 'शतिकार वाण' नामक नाटक ने वर्तमान प्रकाशित नाटकों में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। इस नाटक में वर्तमान असम की विभिन्न समस्याओं को चित्रित किया गया है। सत्यप्रसाद वरा का शिखा तथा अब्दुल मालिक का राजद्रोही, ये दोनों नाटक आज के समय में बड़े ही प्रसिद्ध हुए।

एकांकी और रेडियो-नाटक भी हाल में काफी रचे गए हैं। इस काम में 'आकाशवाणी गुवाहाटी' की तरफ से विशेष रूप से प्रोत्साहन मिला है।

वर्तमान समय में नाटकों की प्रगति कुछ धीमी-सी नजर आ रही है। इसका कारण सिनेमा के आजाने से और स्थायी रंगमंच की कमी की वजह से नाटकों के विकास में वाधाएं वताई जाती हैं। हां, कई सहकारी समितियां इन अभावों को दूर करने के लिए वनी हैं, परन्तु अवतक इसका ठोस सुधार नहीं हो पाया। स्कूल-कालेजों में तथा समय-समय पर दूसरे उत्साही लोगों के द्वारा कुछ अच्छे नाटकों का अभिनय हो जाता है, परन्तु इन सवको देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि शंकरदेव के युग में जनता के वीच नाटक ने जैसा पवित्र स्थान वना लिया था उससे आज वहुत ही पिछड़ा जा रहा है। स्थायी रंगमंच तभी सम्भव हो सकता है जव सरकार का सही दृष्टिकोण और सामूहिक प्रचेष्टा हो, इससे नाटक का विकास अवश्य ही होगा।

निबन्ध

असमीया साहित्य में पश्चिम के प्रभाव से निवन्ध भी विकसित हुआ। अरुणोदय के काल से ही इसका आरम्भ हम मानते हैं। इसके परवर्ती निवन्धकारों में आनन्दराम ढेकियाल फुकन, हेमचन्द्र वरुआ, गुणाभिराम वरुआ, कमलाकान्त भट्टाचार्य, सत्यनाथ वरा के नाम उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीनाथ वेजवरुआ ने असमीया निवन्ध को बहुत ही गति प्रदान की। व्यक्तिवादी गद्य-रचना की शैली में वह सवसे आगे आ जाते हैं। असमिया घरेलू जीवन की घटनाओं का आपने अपने कृतित्व में समावेश किया है। 'कृपावर वरवरुवार काकतर टोपोला' में कृपावर का जो सुन्दर चित्रण तथा साथ-ही-साथ उस समय के समाज की विभिन्न स्थितियों का रसपूर्ण जो विवरण दिया, वह सचमुच ही मनोमोहक व व्यंग्यात्मक चुटकियों से परिपूर्ण है। सत्यनाथ वरा ने 'जीवन का शान्ति पर्व' आदि जो निवंध लिखे, उन पर वेजवरुआ की शैली की छाप दिखाई देती है।

कमलाकान्त भट्टाचार्य ने गंभीर तथा चिन्तामूलक निवन्ध लिखे हैं। पद्मनाथ गोहांइवरुआ के निवन्ध

साधारण विषयों के होने पर भी उनकी रचना-शैली में शब्दों का आडम्बर दिखाई पड़ता है। रजनीकान्त वरदलै के कौतुक और हास्य से परिपूर्ण निबन्ध हृदयग्राही बन पड़े हैं।

गवेषणामूलक निबन्धकारों में रजनीकुमार पद्मपति प्रसिद्ध हैं। प्राचीन असमीया इतिहास के बारे में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके कई लेख निकल चुके हैं। हां, उन निबन्धों में विचार-तत्त्व की प्रधानता होने से कुछ नीरसता अवश्य आ गई है। निबन्धकार के रूप में नीलमणि फुकन का स्थान भी बहुत अग्रणी है। 'दैनिक बातरि' के सम्पादन के काल से इस दिशा में आपका झुकाव देखा गया है। 'चिन्तामणि' और 'साहित्य कला' ये दोनों निबन्ध उनकी गद्य-रचना के अच्छे दृष्टान्त हैं। इस तरह वेणुधर शर्मा ने अनेक ऐतिहासिक लेख लिख कर असमीया के गद्य साहित्य-भंडार को सुदृढ़ बनाया। इनके अतिरिक्त सूर्यकुमार भूयां, उपेन्द्रनाथ लेखारु, सत्येन्द्रनाथ शर्मा, महेश्वर नेओग आदि भी निबंधकारों की श्रेणी में अपना स्थान लेकर असमीया के इस अंग-विशेष की पूर्ति में सहायता पहुंचा रहे हैं।

असमीया लोक-साहित्य

असम का लोक-साहित्य बहुत ही पुराना है। इसके बारे में हम पहले ही कुछ चर्चा कर चुके हैं। परम्परा से यह लोक-साहित्य गीतों के रूप में चला आ रहा है। असमीया साहित्य के प्राचीन युग को बहुतों ने गीति-युग ही कहा है। धाइ नाम, गरखीया नाम, बिहु नाम, फुल कोंवर, मणि कोंवर, पगला पार्वतीर गीत, टोकारी नाम, हुचरी नाम तथा आइ नाम आदि इसी काल की रचनाएं हैं।

यहां के 'बिहु' उत्सव को किसी ने मंगोल-परम्परा की देन माना है। बिहु जैसे अनुष्ठान चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रचलित हैं। बिहु गीतों में कुछ चीनी फूलों के नाम (जैसे कपौ) का उल्लेख किया जाता है। बिहु गीतों की भाषा बहुत ही सरल और मधुर है, परन्तु इनमें भावार्थ-गांभीर्य दिखाई पड़ता है।

नृत्य इस गीत का अविच्छेद्य अंग है। आन्तरिकता, अनुभूति की गंभीरता, विश्वात्म बोध, उच्च कोटि की कल्पना, सौन्दर्य-बोध, प्रकाशन-शैली का संयम आदि के समावेश से ये बिहु गीत अपूर्व ऐश्वर्य-मंडित हैं।

बिया नाम में संयत पवित्र मिलन का मधुर गीत सुना जा सकता है। सरल कल्पना, मनोहर उपमा और पाताल गंगा की तरह बहता हुआ करुण रस आदि इन गीतों की विशेषताएं हैं।

धाइ नाम और गरखीया नाम आदि की भावना और अनुभूति अत्यन्त सरल हैं। बच्चों को बुलाने, खिलाने और हँसाने की मनोमोहक भंगिमा इनमें पाई जाती है। इन गीतों के अलावा नाव खेलवा गीत, बार माही गीत, टोकरी गीत, देह विचार गीत आदि असमीया लोक-गीतों के सुन्दर नमूने हैं। लोक-कथाओं का संग्रह यद्यपि बहुत कुछ हुआ है तथापि हमारी दादियों और नानियों के आंचल की गांठ में असंख्य कथाएं छिपी पड़ी हैं। उन सबको अच्छी तरह संग्रह करने से असमिया साहित्य ही नहीं, बल्कि भारत के दूसरे साहित्य भी धनी बन सकते हैं।

इनके अतिरिक्त असमीया में ऐतिहासिक लोक-गीत भी प्रचलित हैं। फूल कोंवर, मणि कोंवर गीत, ज़ना गाभरुर गीत, बदन बरफुकनर गीत, मणिराम देवानर गीत और मदुम कोंवरीर गीत आदि ऐतिहासिक गीतों में हैं। उन गीतों में विशेषकर देश-माता के लिए शहीद होने वालों के यश-गान हैं।

भारत के पूर्वांचल में सुदृढ़ सेनानी की भांति स्थित असम पहले से ही साहित्य के क्षेत्र में जागरूक है। फिर भी प्रगति के इस युग में उसमें त्रुटि या कमी रह सकती है। वह दिन दूर नहीं, जब असमीया भाषा अपनी प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृति की वाहक बनकर भारती के मन्दिर में अपनी सर्वोत्तम भेंट अर्पित करेगी। हमारी कामना अन्त में यही है कि भारत की महान संस्कृति का वृक्ष सुदृढ़ हो और अपने और पुष्पों की महक से भारत-भूमि को सुगन्धित करे।

आधुनिक उत्कल-साहित्य

श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

आधुनिक उड़िया साहित्य के गत ६० वर्षों के इतिहास की चर्चा करने वालों की दृष्टि १८६६ के फकीर मोहन सेनापति पर जा सकती है। कारण, आधुनिक भाषा के साथ-साथ साहित्य की चर्चा उनसे, या उनसे कुछ ही साल पूर्व से चलती है और इस चर्चा में मुख्यतः सामने आ जाते हैं तत्कालीन ईसाई धर्म के प्रचारक पादरीगण। उनका मुख्य उद्देश्य साहित्य अथवा भाषा के प्रचार एवं उसकी अभिवृद्धि न था, उनका लक्ष्य तो केवल ईसाई धर्म का प्रचार करना था; पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भाषा में लिखने तथा पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का उन्होंने जो श्रीगणेश किया, उत्कलवासी उसे कभी भी नहीं भूल पाएंगे। उत्कल भाषा तथा साहित्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिए आरम्भिक काल पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सभी मानते हैं कि स्थानच्युत उड़िया भाषा की उन्नति-साधन के लिए सन १८६७ स्मरणीय रहेगा। कारण, यह फकीर मोहन के द्वारा उत्कल-साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा का समय था। उन्होंने पाठ्य पुस्तकों के अभाव को दूर किया तथा शैली का परिमार्जन किया। कई पुस्तकें इन्होंने लिखीं। संस्कृत से रामायण, महाभारत तथा भगवद्-गीता का अनुवाद किया। पत्नी-वियोग में जिन गीतों की रचना उन्होंने की थी, वे 'पुष्पमाला' तथा 'उपहा' के नाम से संग्रहीत होकर उत्कल के साहित्य-भण्डार में सर्व प्रथम आई।[1]

वास्तव में फकीर मोहन की साहित्यिक रचनाएं सन १८६७ से आरम्भ होती हैं। समालोचना, गीति-काव्य आदि पर भी उन्होंने कलम उठाई पर साहित्य-क्षेत्र में अमरता उन्हें प्राप्त हुई उपन्यास और छोटी-छोटी कहानियों के द्वारा २५ वर्ष तक रजवाड़ों में शासक के रूप में रहने के कारण। फकीर मोहन को पावन लोक-चरित्र के अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिला और उस अनुभूति ने सेनापति के लिए अमृत-रसास्वादन के समान, उनके जीवन में ओत-प्रोत होकर उनका जीवन-प्रवाह ही बदल दिया। आज तो जिस भाषा को कवि फकीर मोहन ने वाणी दी तथा उनकी लेखनी ने जिसे निखारा उसका विस्मरण समस्त जाति तथा उत्कल का विस्मरण करना होगा। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस भाषा का संस्कार उन्होंने किया और जो आज उत्कल प्रदेश के जनपदों में फल-फूल रही है, उसका उस समय का रूप बहुत ही असंस्कृत था। उस समय उड़िया भाषा के अनन्य सेवकों मधुसूदन व्यास कवि, फकीर मोहन, राधानाथ राय आदि को भाषा के परिष्कार के लिए जो कठोर साधना करनी पड़ी होगी उसकी कल्पना की जा सकती है। अतः हमको उनके श्रम को दृष्टि में रखकर आगे बढ़ना होगा। उसी समय उनकी सहायता के लिए सन १६०३ में 'उत्कल साहित्य समाज' की स्थापना तथा उत्कल सम्मेलन के जन्म ने सोने में सुगन्धि का काम किया। साथ ही, बहुत सी पत्र-पत्रिकाएं निकलीं, जिनमें 'उत्कल-दर्पण', 'उत्कल-मधुप', 'बिजली' प्रमुख थीं। परन्तु इनके पहले भी 'उत्कल-साहित्य' नामक पत्र १८६७ में विश्वनाथ दास ने निकाला था।

फकीर मोहन अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से उड़िया भाषा और जाति का सच्चा और शुद्ध

१. कटक में रहते सर्व प्रथम उन्होंने 'रेवती' नामक उपन्यास लिखा था। उस समय उत्कल साहित्य पत्रिकाओं में 'धूर्जटी' नाम से कहानियां प्रकाशित होती थी। 'धूर्जटी' नाम मधुसूदन राव ने दिया था।

रूप प्रस्तुत करने में सफल रहे। उनके चार उपन्यास—'लछमा', 'छ माण आठ गुण्ठ', 'मामू' और 'प्रायश्चित्त' राजनीतिक और सामाजिक उपन्यास हैं, और ये दो सौ वर्ष पीछे तक के उत्कलीय सामाजिक जीवन का दर्शन कराते हैं।

उत्कल में नव जागरण का एक और भी कारण है। यह समय उत्कल-साहित्य के श्रीगणेश का था। बंगला का प्रभाव उत्कल-साहित्य पर भरपूर था, उसका कारण है बंगाल की ओर से मुगलों तथा अंग्रेजों का आगमन। दीर्घकाल तक उड़ीसा बंगाल के आधीन रहा। उड़िया की पाठ्य पुस्तकों पर भी, जो कि वहीं से निर्मित होती थीं, बंगला का प्रभाव पड़ता रहा। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, पाठ्य पुस्तकों के निर्माता ईसाई प्रचारक अधिक थे। इस प्रकार यही ढर्रा चला आता रहा, लेकिन इसमें फकीर मोहन, उत्कल साहित्य समाज और उत्कल सम्मेलन बंगला के आदेशवत आने वाले शब्दों को रोका जाने लगा, इसमें ये सफल हुए।

सन १९०५ का वंग-भंग का काल उत्कल के लिए नवजागरण और उत्साह का काल था। सन १९१२ में बंगाल के साथ से हटकर उत्कल बिहार के साथ शामिल हो गया। यह सब हुआ-ब्रिटिश शासन की सुविधा की दृष्टि से; फिर भी उत्कल-साहित्य नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर जाग उठा और सतत विकास-पथ पर अग्रसर होता गया। राधानाथ राय, भक्तकवि मधुसूदन राव और फकीरमोहन आदि लेखकगण अपनी-अपनी रचनाओं के द्वारा लोगों का मनोरंजन करने में लगे थे। राधानाथ के खण्ड-काव्यों पर यद्यपि अंग्रेजी प्रभाव था, तथापि माधुर्यगुण से ओत-प्रोत थे। महायात्रा, दरबार, केदार, उषा और चिलिका ने उत्कल भाषा एवं साहित्य में नई चेतना, काव्य-रसास्वादन करने में एक प्रकार की नई अनुभूति और स्पृहा जागृत की थी। भक्त-कवि मधुसूदन राव के गीतों ने तो उत्कल के जन-जन की वाणी में अपना नीड़ बना लिया :

"प्रभुकु देखिले थरे, आउ त न छाड़िबि रे!"
"भकत लागि भकत बन्धु के ते व्यथा पाउजणा नथिला।"

—आदि पद्य जगन्नाथ धर्म का बाना फहरा रहे थे। इनकी साहित्य-सर्जना ईश्वरभक्ति और प्रेम से प्रेरित थी। भाषा अतिसरल और प्रवाहमयी थी। अवश्य उक्त दोनों की रचना में साहित्य की अभिवृद्धि और अनूठी अनुभूति है, लेकिन जिस प्रकार फकीरमोहन ने अपनी स्वाधीन चिंतना से ४०० वर्ष के उत्कलीय जन-जीवन का चित्र अंकित किया है, वह बेजोड़ है। फकीरमोहन की श्रेष्ठता के दो कारण हैं—एक तो उनकी रचना का काल १८६६ से प्रारंभ होता है और दूसरे उसमें समूचे उत्कल का चित्र है। उनकी रचनाओं में उत्कल जन-जीवन का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत हो जाता है। वहां के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार का परिचय तो उनकी रचनाओं से मिलता ही है, पर उत्कल की धार्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक प्रवृत्तियों की अनुभूतियां तथा प्रेरणाएं भी उनकी कृतियों में साकार हो जाती हैं।

१९वीं सदी के अन्त में उत्कल-साहित्य का अभ्युत्थान होता है। इसमें 'इन्द्रधनु', 'बिजली' आदि कितने ही मासिक पत्र सहायक रहे। विशेष उल्लेखनीय है विश्वनाथ के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'उत्कल साहित्य' मासिक, जिसने उत्कल-साहित्य की प्रगति में विशेष गति प्रदान की है; फिर भी उस पत्र का झुकाव मध्य-कालीन भंज साहित्य की ओर अधिक था। ऐसा लगता था, मानो उत्कल जन-जीवन के साथ का सम्बन्ध दूर होता जाता है।

हम कह आये हैं कि वंग-भंग आन्दोलन और सन १९१२ में बिहार के साथ उत्कल के सम्मिश्रण से उत्कल-साहित्य में नवचेतना का संचार हुआ। बंगाल से आये मुगलों के उत्पात और मराठों का नंगा नाच, ब्रिटिश राज्य का आगमन और उसकी दुरंगी नीति एवं खुशामदी सामन्तों के विलासमय जीवन से प्रताड़ित उत्कल का करुण तथा नैराश्य-पूर्ण चित्र फकीर मोहन की रचनाओं में मिलता है। अनूठी व्यंग्योक्तियों, लक्षणा आदि से मन के भावों को व्यक्त करना या मन के भावों को स्पर्श करना फकीर मोहन का काम था।

इन सब झांकियों का दर्शन करते हमें नन्दकिशोर बल के दर्शन होते हैं। ग्राम्य जीवन के साथ उन्होंने किस प्रकार तादात्म्य स्थापित किया हुआ था, यह उनकी रचनाओं के कथोपकथन, लोकोक्तियों-मुहावरों आदि में स्पष्ट परिलक्षित होता है। गीति-काव्य लिखने में नन्दकिशोर का स्थान मधुसूदन के बाद का है। बाल-सुलभ कथन, काकली की आनन्द-माधुरी की स्निग्ध छाया में पड़कर पाठक जितना आनन्द नन्दकिशोर के काव्य-गीतों को पढ़कर पाते हैं

उतना अन्य काव्यों से नहीं । नन्दकिशोर की रचना का सयय १८७५ से १६२८ तक का माना जाता है ।

इसी समय गंगाधर मेहर ने भी काव्य-रचना की थी । उनका समय है १८६८ से १६२४ ।

गंगाधर मेहर सम्वलपुर जिले के वरपाली नामक गांव में जन्मे थे । आप आधुनिक शिक्षा से पूरी तरह वंचित रहे । परन्तु आपके हृदयसागर की मलय-मधुर तरंगों की गलझार उड़िया भाषा के माध्यम से जिस प्रकार प्रवाहित हुई है और समस्त उत्कल के पुरपल्ली में, नगर-नगर में और आवाल—वृद्धवनिता—के जीवन में व्यापी है, वह अभूतपूर्व है । गंगाधर मेहर ने अनेक कविताएं लिखी हैं, लेकिन जिस प्रकार 'प्रणय-वल्लरी' और 'तपस्विनी' में उनकी कवि-प्रतिभा उभरी है वैसी अन्य ग्रन्थों में नहीं । उक्त दो ग्रन्थ आज भी उड़िया की उच्च शिक्षा के लिए विद्यालयों में स्थान प्राप्त किये हुए हैं । जिस प्रकार उपन्यास, कहानी आदि गद्य-साहित्य में मधुर भाव-व्यंजक भाषा के प्रवाह में फकीर मोहन आनन्द वितरण करते हैं, काव्य-क्षेत्र में गंगाधर मेहर का वही स्थान है । ये दोनों अपने-अपने क्षेत्र में उत्कलीय जन-जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

२०वीं सदी में उत्कल-साहित्य का ज्ञान-भण्डार पर्याप्त भरा जा चुका था । गंगाधर तथा नन्दकिशोर आदि कवियों की काव्य-साधना से उत्कल-साहित्य परिपुष्ट होने लगा था । उन्होंने वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास आदि संस्कृत के महाकवियों से विशेष प्रेरणा ली ।

गीति-काव्य के प्रणयन में अन्य कवियों ने भी योगदान दिया, जिनमें चिन्तामणि महान्ति, मदनमोहन पट्टनायक, पद्मचरण पट्टनायक, दीनवन्धु काव्यरंजन, कृष्णमोहन पट्टनायक, लक्ष्मीकान्त महापात्र आदि का नाम उल्लेखनीय है । इनमें लक्ष्मीकान्त महापात्र की साहित्य-साधना अभूतपूर्व थी । संक्रामक रोग के वाहुपाश में रहते हुए भी हास्य-रसात्मक व्यंगोक्तिमयी सरस रचना में आप सिद्धहस्त थे । आप 'डगर' के जन्मदाता हैं । अनेक साल तक इसके सम्पादक भी रहे । 'डगर' के जरिये आपने उत्कल के जन-जीवन को हरा-भरा वनाये रखा । यह पत्र आज भी प्रौढ़ रसात्मक साहित्य प्रस्तुत करने में सामर्थ्यवान है । कुन्तला कुमारी सावत गीति-काव्य और उपन्यास के नारी-लेखकों में अग्रगण्य हैं । ये केवल उत्कल में ही नहीं, बल्कि हिन्दी संसार में भी सुपरिचित हैं । 'रघुअरक्षित', 'नवतुण्डी' आदि उपन्यास लिखकर कुन्तला कुमारी ने उत्कल के मध्यवर्गीय जीवन का सुन्दर चित्रांकन किया है । आपकी रचनाओं को पढ़कर उत्कल के साहित्यिकों ने अपनी आन्तरिक अभिरुचि प्रकट करते हुए कहा था, "कुन्तला कुमारी फकीर मोहन का खाली स्थान ले लेगी ।"

इसी समय छोटी-छोटी कहानी लिखने में लक्ष्मीकान्त महापात्र के साथ चन्द्रशेखर नन्द, वंकनिधि पट्टनायक दयानिधि मिश्र, दिव्यसिंह पाणिग्राही, गोपालचन्द्र प्रहराज आदि अनेक लेखक उत्कल-साहित्य की श्रीवृद्धि में लगे हुए थे । गोपाल प्रहराज ने 'बाई महान्ति पांजि', 'भागवत टुंगीरे सन्ध्या' आदि कई हास्यरसात्मक पुस्तकें लिखी हैं । आपकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन तथा शहरी जीवन का पुट खूब रहता था । कथन में व्यंगोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग जैसा आपने किया है, अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है । आप उत्कल में एकमात्र व्यक्ति हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम वाल-साहित्य की ओर दृष्टि डाली है । आपका लिखा हुआ विशाल 'पूर्णचन्द्र भाषा कोष' केवल उत्कल में नहीं, समूचे भारत तथा विदेशों में भी प्रसिद्ध-प्राप्त है ।

जहां उत्कल-साहित्य में उपन्यास, कहानी और काव्य का प्रणयन हो रहा था, वहां नाट्य कला भी पीछे नहीं थी । चिकिटि के राजा (१८७२-१६०४) नाटक को परिपूर्ण करने में लगे रहे । उन्होंने नाट्य मण्डलियां वनाईं, रंगमंच वनाया और नाटक की रचना में भी पीछे नहीं रहे । उड़ीसा नाट्य-शास्त्र को जीवित रखने की यह सुन्दर तथा अनोखी चेष्टा है । दक्षिण उड़ीसा में इनका गौरव पूर्ण स्थान माना जाता था । उधर उत्तर उड़ीसा में रामशंकर और भिखारीचरण पट्टनायक ने नाटक-रचना में विशेष नाम कमाया था । प्रान्त के प्रचलित यात्रा (लीला) के संस्कार के लिए रामशंकर राय और कृष्णप्रसाद चौधरी अथक श्रम कर रहे थे । इधर गोविन्दचन्द्र सूर्यदेव भी यात्रा आदि को परिमार्जित करने में लगे हुए थे ।

उत्कलीय युवकों के हृदय में नव-उत्साह जाग्रत करने के लिए तीन प्रसिद्ध घटनाएं सामने आईं : एक है

मधुसूदनदास के नेतृत्व में उत्कल सम्मेलन का गठन; दूसरी है वंग-भंग और तीसरी विहार-उड़ीसा-मिलन। उत्कल सम्मेलन के जन्मदाता का श्रेय मधुसूदनदास को है पर उसके प्राण-प्रतिष्ठाता उत्कलमणि पण्डित गोपवन्धुदास हैं। गोपवन्धुदास की प्रेरणा से उत्कल में राजनीतिक वायुमण्डल भी फैला। आपने 'सत्यवादी' में वकुलवनको केन्द्र वनाकर शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया, विद्यालय की स्थापना की और वह उड़िया भाषा तथा साहित्य की चर्चा का भी केन्द्र वन गया। आपकी प्रेरणा से उत्कलीय नवयुवकों में नव जागरण, नव उत्साह और नव चेतना के भाव जागे, भाषाभिव्यक्तियों के लिए जागा। प्रान्तीय भाषा-भाव के साथ उड़ीसा में जातीय भाव जागा, फलस्वरूप **'वंग आमार'** को आदर्श मानकर उत्कल में भी 'वन्दे उत्कल जननी' की पुकार तमाम उत्कलीयों में गूंजने लगी। चार सौ साल से दलित तथा प्रताड़ित जाति जाग उठी, भाषा-प्रेम जागा, साहित्य के प्रति अनुराग जागा। मराठों के निर्मम प्रहारों से, मुगलों के अमानुषिक अत्याचारों से जो जाति पुराने दर्द को सहला रही थी, उत्कल सम्मेलन के जन्मदाता मधुसूदनदास के **'मां मां वोलि केते मुं उकिलि, मांकु पाइलि नाहिं। भाइ, भाइ वोलि केते मुं उकिलि, भाइकि पाइलि नाहिं'**—की पुकार से उत्कलीय युवकों की रग-रग में नया खून हिलोरें लेने लगा। मधुसूदनदास और उत्कलमणि पण्डित गोपवन्धुदास नवजीवन प्रदान करने वाले दो मनीषी हैं।

इसी समय से उत्कल में प्रवन्ध-साहित्य की रचना भी शुरू हो जाती है। इसमें राधानाथ राय के सुपुत्र श्री शशिभूषणराय का योगदान अतुलनीय है। इसके अलावा पण्डित गोपीनाथ नन्द ने भी कई संस्कृत काव्यों, नाटकों का अनुवाद उड़िया में किया था। भागवत, दाण्डिरामायण और शारला महाभारत पर पाण्डित्यपूर्ण समालोचनाएं भी लिखीं। नन्द ने सर्वप्रथम उड़िया भाषा में छन्दों की रचना का क्रम चलाया था। पण्डित मृत्युंजय रथ ने भी गवेषणात्मक निवंध लिखकर नई धारा का सूत्रपात किया था। जीवनी लिखने में श्याममुन्दर राजगुरु ने जैसा नेतृत्व किया था, उससे उत्कल-साहित्य में उनका नाम हमेशा अमर रहेगा।

उत्कल-साहित्य के पृष्ठपोषक तथा प्रचारकों में शशिभूषण रथ, तारिणीचरण रथ, पण्डित कृपासिन्धु मिश्र आदि सज्जनों के नाम से उत्कल आज भी अपने को गौरवान्वित समझ रहा है।

उत्कल-जागरण की धारा के दो भाग यहां से शुरू होते हैं। एक के नायक प्राचीनता के पृष्ठपोषक, जाति के व्यावहारिक जीवन में उन्नति करने वाले मधुसूदनदास हैं। दूसरी धारा के नायक हैं पण्डित गोपवन्धुदास, और इन धाराओं को हम गंगा-यमुना की संज्ञा दें तो अत्युक्ति नहीं होगी। गंगा की धारा आगे जाकर जातीय जागरण के साथ-साथ राष्ट्रीयता का जामा पहनाती है और दूसरी (जमुना) पीछे हटकर सामाजिक, प्रादेशिक तथा शासकों के साथ आवेदन-निवेदन में विश्वास रखकर आगे वढ़ती है।

गंगा की धारा के पृष्ठ-पोषक थे पण्डित गोपवन्धुदास, वह अत्याचारी शासक के साथ आवेदन-निवेदन के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने अपनी भाव-धारा में गोते लगाने और शुद्ध-पूत राष्ट्रीयता में डूवे हुए व्यक्ति निकालने की कल्पनाओं को सत्य रूप देने के लिए सत्यवादी के वकुल वन में एक राष्ट्रीय विद्यालय की स्थापना की। यह विद्यालय अंग्रेजी शासन द्वारा संचालित विद्यालयों से भिन्न भावाभिव्यक्ति का प्रचार करने वाला विद्यालय सिद्ध हुआ। यह नवयुवकों की रग-रग में नई ज्ञान-ज्योति संचारित करने वाला था। यह जाति-जागरण के इतिहास में अमर छाप रखने वाला कलात्मक चिह्न-स्वरूप खड़ा हो गया था। इस विद्यालय का उद्देश्य केवल परीक्षाएं उत्तीर्ण करवा कर अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ करने वाले गुलाम पैदा करना न था, परन्तु इसका लक्ष्य था जन-जन में मानवीय भावों का विकास करना। युवकों को इसने इतना मुग्ध कर लिया कि वे सर्वस्व-त्यागी वन गोपवन्धु की विद्यागंगा की धारा में अपने को ला-ला कर समर्पित करने लगे। पण्डित गोपवन्धुदास ने तीन नारों की उद्घोषणा की: 'समाज-सुधार करो', 'दरिद्र-नारायण की सेवा करो' और 'भारत माता की सेवा करो'। पण्डित गोपवन्धुदास की इस पुकार को सुन पण्डित नीलकण्ठदास, पण्डित गोदावरीश मिश्र, पण्डित कृपासिन्धु मिश्र, पण्डित लिंगराज मिश्र और आचार्य हरिहरदास आदि कितने ही महान त्यागी, सत्यनिष्ठ, सेवा-परायण, प्रगाढ़ विद्वान युवक जमा हुए, और पण्डित गोपवन्धुदास से सेवा-दीक्षा ली। ये सभी विद्वान एक-एक से वढ़कर धुरन्धर, ज्ञानी, देश और साहित्य-स्रष्टा सावित हुए। और यह क्रम

१६२८ तक जारी रहा।

वकुल वन से जो साहित्य पैदा हुआ, उसका अपना इतिहास है। यह सारा साहित्य पण्डित गोपालवन्धुदास की चिन्ताधारा से प्रवाहित है। एक-से-एक स्वाधीन चिन्ताशील विद्वान जन-सेवा के साथ-साथ सत्‌गुणी साहित्य का सृजन करने लगे। पण्डित नीलकण्ठदास ने 'खारवेल' तथा 'कोणार्क' काव्य लिखकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। पण्डित लिंगराज मिश्र वाल्मीकि रामायण का उत्कल भाषा में अनुवाद कर अपनी अमर कीर्ति छोड़ गए। पण्डित कृपासिन्धु मिश्र ने 'कोणार्क' और 'वारावाटी' लिखकर ख्याति प्राप्त की। आचार्य हरिहरदास गीता का अनुवाद कर जन-जन के सन्मुख आए। आज भी उड़ीसा साहित्य में पण्डित नीलकण्ठदास की प्रतिभा जाज्वल्यमान है। आपने मासिक 'नव भारत' पत्र के द्वारा नए-नए समालोचक तथा निवन्धकार पैदा किए हैं।

उत्कल भर में दो धाराएं स्पष्ट रूप से प्रकाश में आईं। एक सत्यवादी के वकुल वन से प्रकाशमान हुई, जो राष्ट्रीयता की ज्योति से चमकती हुई चल रही थी और दूसरी धारा में वे लोग थे जो अंग्रेजों के शासन में रहकर अपनी अन्तरात्मा को शुद्ध आनन्द, ज्ञानवान साहित्य रस प्लावनमयी धारा को प्रवाहित कर आगे बढ़ रहे थे, जो जातीय जीवन के जागरण से कम सम्वन्ध रखती हुई आ रही थी। जिसमें राजे-महाराजे, सामन्तवादी नौकरशाही के लोग भी शामिल थे। अवश्य ही इस धारा से जरा-सा अपने अलग रखकर मधुसूदनदास ने उत्कल-जागरण में अपना जीवन लगा दिया। लेकिन नाना प्रकार के राजनीतिक जंजाल और कंटकाकीर्ण पथ में चलने वाले थे पण्डित गोपवन्धुदास। आपकी प्रेरणा से राष्ट्रीय कांग्रेस उत्कल में आई। लाखों युवक इसमें शामिल हुए। जिनमें आज के मुख्यमन्त्री डॉ० हरेकृष्ण महताव भी थे। गोपवन्धुदास की पुकार थी—

'मिशु मोर देह ए देश माटिरे
देशवासी चालि जाआन्त पिठिरे।
देशर स्वाराज्य पथे जेते गाढ़
पुरु तहिं पड़ि मोर मांस हाड़ ॥'

उत्कल में एक ओर तो यह राजनीतिक धारा प्रवाहित हो आधुनिक उड़िया साहित्य का निर्माण हो रहा है, दूसरी ओर 'उत्कल साहित्य समाज' की तरफ से प्राचीन उत्कल साहित्य की चर्चा भी जारी थी। श्री आर्त्तवल्लभ महान्ति १६१५ में रेवेंसा कालेज में उड़िया के प्रोफेसर हुए, तव से कालेज में भी प्राचीन साहित्य के प्रति अनुराग जागृत हो उठा। आपके अध्यवसाय से १६२३ में 'प्राची समिति' नामक एक संस्था वनी और आप उसके प्रधान वने। महान्ति जी के गम्भीर पाण्डित्य, निरलस अध्यवसाय और शुद्ध असीम साधना से प्राचीन साहित्य के शुद्ध संस्करण निकलने लगे। अपने प्राचीन साहित्य पर जो मुखवन्ध लिखा है वह ग्रंथों के तत्त्व को खोलने वाला सावित हुआ है। उड़ीसा में जिस प्रकार समालोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है, वह अन्यत्र देखने में कम आती है। आपके समकालीन सहायकों में विच्छन्द चरण पट्टनायक दाहिने हाथ के स्वरूप में साथ थे। साथ-ही-साथ अध्यापक करुणाकर कर, अध्यापक लक्ष्मीकान्त चौधुरी, अध्यापक घनश्यामदास और सुधाकर पट्टनायक आदि को भुलाया नहीं जा सकता। कम-से-कम मध्ययुगीन साहित्य की काव्य-मर्मज्ञता का आभास उत्कल वाणियों के समक्ष आया है। यात्रा, पाला आदि प्राचीन साहित्य के सुन्दर पदों का गायन दर्शक और श्रोताओं के लिए अभिरुचि-वर्द्धक हुआ करता था। महान्ति जी सभा, समाज और कक्षा में भी जव साहित्यसुधा-सागर में गोते लगाने लगते तो वह अपने-आप को भूल जाते। कक्षा में छात्रों के सामने भी मुग्ध हो गा उठते……अहा क्या कहना—

विष्णुपदी विष्णुपद ई कार भेद शवद
तरंगीरे गता-गत तहिं उचित
विशारद से सामन्त मत्तरे दास सेवित
डाकु न शुणन्ते रघुनाथ कथित

विषधर प्राये कि तुहि
बेले नेत्र ढालि शुण उदार नोहिं ।।
बधिर नुहई वीर लोइला तहिं धिवर
शुणिलिणि पयरे पथर अबला
बालि पड़ि तो चरणु आशंका उपुजे एणु
नउका नायिका हेले बुड़िव भेला
वृत्तिए मो पोषे कुटुम्ब
वसाइ न देबि पाद न धोइ नाव ।।
बढ़ाइ देले पयर भावग्राही रघुवीर
पयरे क्षालित करि वसने पोछि
ब्रह्मारे धौत पद नेहिछि शिव विषाद
न पाइ चरणामृत पानकु इछि
बिज्ञानि कैवर्त्त धोइला
विश्वे पतित पावन नाम रहिला ।।

इसके फलस्वरूप हजारों छात्रों में उड़िया-साहित्य के प्रति अनुराग जागा।

सन १९१३ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'गीतांजलि' पर नोवल पुरस्कार मिला था। इससे तमाम हिन्दुस्तान में तहलका मच गया और उसी को आदर्श मानकर सभी प्रान्तों में विश्व-साहित्य की कामना कर रचना होने लगी। उड़ीसा भी इसमें पीछे नहीं रहा। इनकी साहित्य-रचना से जितने कालेज के छात्र प्रभावित हुए उनमें अन्नदाशंकर राय, शरतचन्द्र मुखर्जी, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, वैकुण्ठनाथ पट्टनायक, नवकृष्ण चौधुरी, हरिहर महापात्र आदि युवकों ने शान्ति-निकेतन से प्रकाशित होने वाली 'सबुज'नामक मासिक पत्रिका से अनुप्राणित हो उत्कल में भी एक नई साहित्यिक धारा का सूत्रपात किया। इन लोगों ने मिलकर सबुज नामक समिति की स्थापना की। इस समिति के मुख-पत्र के रूप में 'युगवीणा' नामक मासिक पत्र निकाला। इस कारण से ये लोग सबुज कवि के नाम से प्रसिद्ध हुए। लेकिन उक्त नामों में से केवल दो व्यक्ति लगभग सन १९३१ से आज तक साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। एक हैं कालिन्दीचरण पाणिग्राही और दूसरे हैं वैकुण्ठनाथ पट्टनायक। यह १९३१ का समय था।

महात्मा गांधी ने सन १९२१ में अहिंसात्मक आन्दोलन चलाया, कांग्रेस के सिद्धांतों के प्रति अनुराग रखने वाले व्यक्ति इस आन्दोलन में शामिल हुए। उड़ीसा भी इसमें पीछे नहीं रहा। नाना प्रकार के प्रेरणादायक ओजस्वी राष्ट्रीय गीत लिखे जाने लगे। नाटक, कहानी, उपन्यास, प्रबन्ध आदि लिखने का क्रम जारी था। इसमें पण्डित गोपबन्धु दास अग्रगण्य थे। जेल में रहकर आपने 'कारा कविता', 'बन्दिर आत्म-कथा' का प्रणयन किया तथा जातीय कल्याण की बलिवेदी पर तिल-तिल कर अपनी आहुति चढ़ा दी। इस समय वांछानिधि महान्ति, वीर किशोरदास राष्ट्रीय गीत-रचना में पीछे नहीं रहे। वांछानिधि महान्ति के राष्ट्रीय गीत पढ़ने और सुनने वाले देश-सेवा में अपने को नियोजित करते रहे। रास्ता, घाट, रेलयात्रा आदि में भिखमंगों तक के मुख से आपके गीत, 'राष्ट्रीय पताका जातीय जीवन' की मधुर ध्वनि मुखरित हो उठती थी। इधर डा० हरेकृष्ण महताब अपने लेख, उपन्यास, कहानी आदि साहित्यिक रचनाओं के द्वारा लोगों में उत्साह भर रहे थे। इन रचनाओं में 'पलासी अवसान' जातीय जागरण में बहुत सुन्दर हाथ बटा रही थी। उस पुस्तक से राष्ट्रीय भावधारा को प्रस्फुटित देख तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उसे जब्त कर लिया था। इधर नित्यानन्द महापात्र की 'स्वराज्य पाला' और 'मौसी' नामक दो पुस्तकें जब्त कर ली थीं। इन जब्त पुस्तकों के कारण उत्कल-साहित्य-समाज में आप सुपरिचित हो गये। सन १९२१ से १९४२ तक इसी प्रकार का राजनीतिक उतार-चढ़ाव होता रहा। राष्ट्रीय भावधारा को लेकर चलने वाले उत्कल-साहित्य ने जन-जीवन को इतना ओतप्रोत किया कि प्राचीन साहित्य का प्रचार करने वाली 'प्राची समिति' खतम हो गई। रवीन्द्रसाहित्य के अनुकरण पर चलने वाली 'सबुज-समिति' भी खतम हो गई। उसके प्रधान

पृष्ठपोषक श्रीयुक्त कालिन्दीचरण पाणिग्राही की कलम की गति भी बदल गई, जिसका प्रधान सच्चा रूप 'माटिर मणिष" आज केवल उत्कल में ही नहीं, भारतीय साहित्य में भी स्थान पायें हुए है।

सन १९३६ में उत्काल विहार से अलग हुआ। राष्ट्रीय जागरण के साथ शुद्ध साहित्यिक भावधारा भी काम कर रही थी। इनमें मायाधर, मानसिंह, राधामोहन गणनायक, आनन्द पट्टनायक और सचि राउत राय मुख्य थे। सचि राउत राय तो चमक उठे ढेकांनाल के अत्याचारित और पुलिस की गोली खाए हुए बालक 'बाजिराउत' नामक काव्य लिखकर। यह समय उत्काल-साहित्य के लिए मंगलमय था। नाना प्रकार के उपन्यास, कहानी, कविता, प्रबन्ध आदि की रचनाओं में सुन्दर सौम्य गीति दिखाई पड़ रही थी। नवोदित कवियों की रचना-अभिरुचि उत्कल साहित्य की गौरवमयी अभिवृद्धि है। इसी समय उत्कल के युवकों में नई चिन्ताधारा प्रवाहित होने लगी। भगवतीचरण पाणिग्राही के नायकत्व में समाजवाद और समाजवादी साहित्य का श्रीगणेश हुआ। फलस्वरूप मानसिंह के अनेक साहित्यिक प्रेम-गीत, जिनमें काव्य-सौन्दर्य की परागमयी प्रतिभा विद्यमान थी, वह प्रौढ़ बौद्धिक साहित्य में परिणत हो गई।

आधुनिक नाटककारों में अश्विनीकुमार घोष, कालीचरण पट्टनायक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके नाटक रंगमंच पर आ चुके हैं। अश्विनीकुमार का 'कोणार्क' उत्कल में बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। इसके अलावा उत्कल में और भी बहुत से उदीयमान नाटककार प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

गांधी-विचारधारा से प्रभावित हो डा० हरेकृष्ण महताब ने अनेक उपन्यास, कविता और एकांकी लिखे हैं, जो उत्कल साहित्य में अपना स्थान पा रहे हैं और विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में भी जिन्हें स्थान मिला है।

इतना होते हुए हमको यह कहना पड़ेगा कि साहित्य-सृजन में जितनी मंगलमयी जेलें साबित हुई हैं, उतना कोई भी शुभस्थान मंगलमय नहीं दिखलाई पड़ता। यह सभी भारतीय भाषाओं के लिए मंगलमय शुभ घड़ी थी। उत्कल भी इससे पीछे नहीं रहा। अहमदनगर में रहकर डा० हरेकृष्ण महताब ने उड़ीसा का प्रामाणिक इतिहास लिखकर उड़ीसा के जन-जीवन को विशेष रूप से गौरवान्वित किया। आज तक उड़ीसा के जितने इतिहास लिखे गए हैं, वे या तो अंग्रेजी में है अथवा अंग्रेजी के आधार पर लिखे गए हैं। उस क्षेत्र में यही पहला मौलिक ग्रन्थ है, जिसमें जैन, बौद्ध आदि साहित्य से सामग्री का चयन किया है। इसमें उत्कल में आगत सभी धर्मो, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, वाममार्गी आदि की सुन्दर साहित्यिक चर्चा है। इसलिए कहा जाता है कि १९४२ का आन्दोलन जिस प्रकार स्वराज्य के लिए मंगलमय बना है, उसी प्रकार साहित्य के लिए भी।

सन १९४२ में उड़ीसा के विद्वान लेखक, राष्ट्रप्रेमी ब्रह्मपुर सैण्ट्रल जेल में वन्दी थे। सभी किसी-न-किसी साहित्य-चर्चा में अपना मनोरंजन कर जीवन बिता रहे थे। इनमें पण्डित लिंगराज मिश्र तो पहले 'शकुन्तला' और बाद में 'वाल्मीकि रामायण' का पाठ सुना रहे थे, नित्यानन्द महापात्र जेल का अपना सारा समय उपन्यास और कहानी लिखने में बिता रहे थे। ज्वलन्तानिओं, हिन्द स्वराज, हिडमाटि, भारत भाग्य विधाता, अभंगा हाड़ आदि कितनी रचनाएं आपने वहीं की हैं। श्री भागीरथी महापात्र भी बौद्ध ग्रन्थ का उत्कल भाषा में अनुवाद कर रहे थे। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, मनमोहन मिश्र, वीर किशोरदास आदि सभी राष्ट्र-भक्त साहित्यिक वातावरण को अपने-अपने प्रतिभा-सौरभ से सुरभित किये हुए थे। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी ने 'विश्व इतिहास की झलक' का अनुवाद वहीं किया था।

सन १९४४ में उत्कल-विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ शिक्षा-क्षेत्र में उत्कल एक नई निश्चित दिशा की ओर अग्रसर हुआ। इससे उत्कल साहित्य की अभिवृद्धि में यथेष्ट प्रोत्साहन मिलने लगा। उड़िया साहित्य में नए समाज तथा नए मानव के विकास की सम्भावनाओं से नवीन आभा झलकने लगी। प्राची-समिति, सबुज-समिति मृतप्राय हो चुकी थीं। वल्कि हम यों कहेंगे कि जमुना-धारा की यहीं इतिश्री थी। विच्छन्दचरण पट्टनायक प्राचीन साहित्य के प्रचार के लिए प्राची समिति के प्राण थे। अब केवल मध्ययुगीन भंज साहित्य की आलोचना-गवेषणा में उन्होंने अपने को नियोजित कर दिया और 'कलिंग भारती' नामक संस्था बना, कुछ छात्रों को ले, साहित्य ज्योति जलांते चलते आते हैं।

आगे गंगाधारा के पृष्ठपोषक पण्डित गोपबन्धुदास के अनुकरणीय पण्डित नीलकण्ठदास, गोदावरीश

मिश्र, पण्डित लिंगराज मिश्र, हरेकृष्ण महताव आदि लेखक जिस रास्ते चल रहे थे, उत्कल-साहित्य की धारा उसी रास्ते वहने लगी। उत्कल-साहित्य के लिए यह परम सौभाग्य की वात थी।

१९४६ में स्वराज्य मिलने के वाद उत्कल का शुद्ध निखरा प्रखर तेज सामने आया। साहित्य और समाज अभी तक केवल मूक चर्चा के विषय वने थे। १९४८ में उत्कल के मुख्यमंत्री डा० हरेकृष्ण महताव ने अपनी साहित्यिक अभिरुचि को और व्यापक रूप देने के लिए 'प्रजातन्त्र-प्रचार-समिति' का निर्माण किया। इसके पहले आपके विशाल उत्कल-इतिहास और टाउटर-प्रतिभा आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु प्रजातन्त्र समिति का जन्म उत्कल-साहित्य की उन्नति के लिए एक नई चीज थी। आपने 'झंकार' नामक मासिक पत्र निकाला जिसके शुरू से लेकर आज तक सम्पादक हैं। इस पत्र में वड़े ही उच्चस्तरीय गवेषणात्मक लेख प्रकाशित होते रहते हैं। इस समिति का सर्वोत्तम कार्य हुआ करता है विषुव-मिलन के समय उड़िया साहित्यिकों का सम्मेलन। इसमें विभिन्न विषयों के प्रवन्ध-पाठ किये जाते हैं और सर्वोत्तम आने वालों को पुरस्कृत किया जाता है। प्रचार समिति के इस उद्यम से उच्चकोटि के विद्वानों के द्वारा लिखित लगभग ५०-६० प्रवन्ध संगृहीत होते हैं। साथ ही सैकड़ों विद्वानों का सम्मेलन विना किसी भेदभाव के मधुर भ्रातृ-भाव में परिणत होता है।

इस समय उत्कल में, जिन लेखकों और कवियों का नाम है, उनमें उपन्यास-लेखकों में कान्हुचरण महान्ति, गोपीनाथ महान्ति, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, कमलाकान्तदास, वसन्तलता पट्टनायक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कहानी-लेखकों में राजकिशोर राय, सुरेन्द्र महान्ति, गोदावरीश महापात्र, ब्रह्मानन्द पण्डा; नाटक-क्षेत्र में कविचन्द कालिचरण पट्टनायक, गोपाल छोटराय, प्राणवन्धु कर, शरलादेवी, लाला नगेन्द्रकुमार राय, उदयनाथ मिश्र; साहित्य-इतिहास में गौरीकुमार ब्रह्मा, विनायक मिश्र, सूर्यनारायणदास, कुंजविहारी त्रिपाठी, वंशीधर महान्ति आदि। काव्य में श्रीमती तुलसीदास, विद्युत प्रभा, वांछानिधिदास, नवकिशोरदास, गोपाल मिश्र; प्रवन्ध-समालोचना में श्री नटवर शामन्त राय, जानकीवल्लभ पट्टनायक, तारिणीचरणदास आदि। इतिहास में—डा० हरेकृष्ण महताव, सत्यनारायण राजगुरु, केदारनाथ महापात्र, प्रह्लाद प्रधान आदि। प्रह्लाद प्रधान के गवेषणात्मक, पाण्डित्य-पूर्ण लेखों से उड़िया साहित्य धनी वन रहा है। हिन्दी साहित्य भी आपसे अछूता नहीं है।

उड़ीसा के साहित्यिक एवं राजनीतिक इतिहास-लेखन में प्रायः कम उदारता का परिचय दिया गया है। कुछ ऐसे विद्वान हैं, जिनका नाम ऐतिहासिक भूल से जाते हैं। वालकृष्ण पट्टनायक ने, जिनकी उम्र आज ८६ साल की है, वहुत पहले 'चिर जुहार', 'फुल वउल वेणी' नामक पुस्तकें लिखकर उत्कल की वेदना और आकांक्षा तथा दिवंगत आत्माओं के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी। आज भी वे अपने काम में पूर्ववत लगे हैं और १२,००० मुहावरों और कहावतों का संग्रह किया है। पण्डित स्वप्नेश्वरदास ने, जिनकी आयु आज ८० वर्ष की है, वहुत पहले तुलसी रामायण का उत्कल भाषा में पद्यानुवाद किया था। यह उनकी अमर कीर्ति है। प्रवचन तरंग ने, जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' का उड़िया अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह उत्कल के लिए महान गौरव की वात है। आप सुन्दर ग्रन्थों का उत्कल साहित्य भण्डार को दान है।

श्री लक्ष्मीनारायण साहु उत्कल की एक अपूर्व विभूति हैं। पांच-छः विषयों में एम० ए० हैं। उत्कल में उन इने-गिने विद्वानों में से हैं जो किसी पद के लिए लालायित नहीं हैं। आपने कई पुस्तकें लिखकर उड़िया-साहित्य के भण्डार को भरा है और वर्षों 'उत्कल साहित्य समाज' के मन्त्री रह कर साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

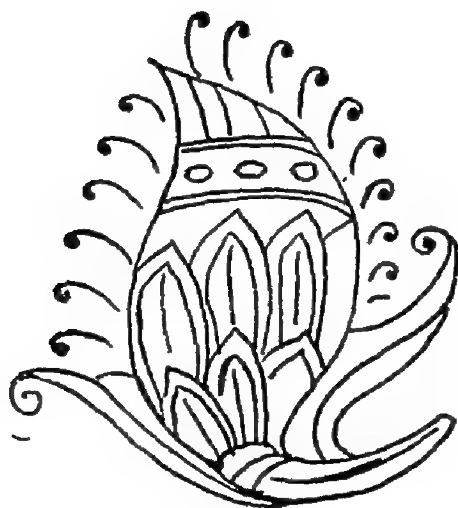
श्री पद्मनाभ पट्टनायक उत्कल के उन इने-गिने लोगों में से हैं, जो कि भंज-साहित्य सागर में गोते लगाकर रत्न निकाल रहे हैं। जगतवन्धु महापात्र ने भी तुलसी-कृत रामायण का उत्कल भाषा में पद्य-वद्ध अनुवाद किया है। और 'मणिकांचन', 'धड़िया वावाजी' आदि उपन्यासों के लेखक हैं।

यहां हम और कुछ ऐसे व्यक्तियों की चर्चा करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते जिन्होंने अपनी वाणी, तन, मन, धन से देश, जाति और साहित्य की सेवा करने में अपने को होम रखा है। ये हैं स्वामी विचित्रानन्ददास, राधानाथ रथ, गोपवन्धु चौधुरी, भुवनानन्ददास। राधानाथ रथ गोपवन्धुदास के परम निष्ठावान भक्तों में से एक हैं।

जिस 'समाज' मासिक, साप्ताहिक और दैनिक के द्वारा गोपवन्धु द्वारा साहित्य और देश की सेवा करने में पीछे नहीं रहे, उनमें एक राधानाथ जी भी हैं। आपने दैनिक 'समाज' का सम्पादन कर उड़िया भाषा में एक नई धारा, नई गति और नई चिंतना का दिशा-निर्देश किया है।

गोपवन्धु चौधुरी जैसे नेता या लेखक विरले ही मिलेगे । उड़ीसा को उन पर गर्व है । उन्होंने गांधी-विचारधारा के प्रचार में अनुपम योग दिया। अपनी पुस्तकों, अपने लेखों तथा अनुवादों के द्वारा उन्होंने उड़िया लोगों में गांधी-विचारों के वीज वोए। उत्कल में गांधी-साहित्य और गांधी-अहिंसा वाणी को जन के जीवन में प्रवेश कराने का विशेष श्रेय गोपवन्धु चौधुरी को है। आप उड़िया, अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू और गुजराती के अच्छे ज्ञाता थे। और उड़िया के प्रौढ़ ज्ञान के भी ज्ञाता और लेखक थे।

मैंने भरसक प्रयत्न किया है कि उड़िया समाज एवं साहित्य के निर्माण में जिसने भी योगदान दिया है, उसके लाभ तथा कर्तृत्व का उल्लेख हो जाय । इस पर भी यदि कुछ भूल रह गई हो तो उदारमना विद्वान क्षमा करेंगे।



उर्दू भाषा के साठ वर्ष

श्री गोपीनाथ 'अमन'

इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उर्दू भाषा में, पुरानी और नई उर्दू भाषा में, दोनों शैलियों में संघर्ष चल रहा है। नवाब मिर्ज़ा खां 'दाग़' ग़ज़लों के सबसे बड़े उस्ताद माने जाते थे। वह शेख़ मोहम्मद इब्राहीम 'ज़ौक' के शार्गिद थे। इन्हीं 'ज़ौक' साहिब से अन्तिम मुग़ल बादशाह बहादुरशाह जफ़र भी इसलाह लिया करते थे। 'ज़ौक' का देहान्त तो ग़दर से पहले ही हो गया था। बहादुरशाह जफ़र सन १८५८ में गिरफ्तार करके ब्रह्मा भेज दिए गए। 'दाग़' उस समय नवयुवक थे और 'ग़ालिब' उस्तादों में माने जाते थे। 'ज़ौक' और 'ग़ालिब' समकालीन थे। परंन्तु 'ग़ालिब' का देहान्त सन १८६९ ई० में हुआ। 'ज़ौक' के शार्गिदों में सबसे प्रसिद्ध मिर्ज़ा 'दाग़' और ग़ालिब के शार्गिदों में 'मौलाना हाली' थे। 'दाग़' का देहान्त सन १९०५ ई० में और 'हाली' का देहान्त सन १९१५ ई० में हुआ। 'दाग़' ग़ज़ल के धनी थे और उनकी ज़बान भी बहुत सरल है। इसी प्रकार 'हाली' की भाषा या ज़बान भी बहुत सरल है, परन्तु दोनों की शैलियों में बहुत अन्तर है। 'दाग़' अपने जीवन-पर्यन्त प्रेम के गीत गाते रहे परन्तु 'हाली' ने समयानुकूल चीज़ें लिखीं। उनकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध 'मुसद्दसे हाली' है जिसमें उन्होंने कविता के रूप में मुसलमानों के भूत और वर्तमान का वर्णन किया है। उनकी दूसरी प्रसिद्ध कविताएं 'हब्बे वतन' 'मुनाजाते बेवा' 'चुपकी दाद' और 'रुबाईयाते-हाली' हैं। उनकी ग़ज़लों का संग्रह एक दीवान के रूप में भी मिलता है। परन्तु यह संग्रह इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ जितनी उसकी भूमिका, जो अलग एक ग्रंथ के रूप में भी छप चुकी है और जिसमें उन्होंने पुरानी शैली को छोड़कर नई शैली को ग्रहण करने पर ज़ोर दिया है। इसी शताब्दी के आरम्भ में डाक्टर सर मोहम्मद इक़बाल का नाम भी चमकने लगा और सन १९३८ ई० में उनका देहान्त हुआ। उस समय तो वह उर्दू भाषा के सर्वप्रथम प्रसिद्ध कवि माने जाते थे। जिस प्रकार १८वीं शताब्दी में 'मीर' को और १९वीं शताब्दी में 'ग़ालिब' को सबसे प्रसिद्ध उर्दू कवि माना जाता था, उसी प्रकार 'इक़बाल' को बीसवीं शताब्दी का माना गया। 'हाली' केवल पद्य के ही धनी नहीं थे, उनकी गद्य-रचनाएं भी बहुत प्रसिद्ध हैं जिनमें 'हयाते-जावेद' और वह भूमिका, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, सर्वप्रसिद्ध हैं। यों तो मौलाना मोहम्मद हुसैन 'आज़ाद' भी सन १९१० ई० तक जीवित रहे, परन्तु पिछली शताब्दी के अन्त में ही वह अपने होशोहवास खो बैठे, इसलिए बीसवीं शताब्दी में उनका वर्णन करना उचित नहीं। एक और कवि, जो पिछली शताब्दी में ही अपने हास्य-रस में प्रसिद्ध थे, परन्तु बीसवीं शताब्दी में इस रस में अधिक प्रसिद्ध हुए, वह अकबर 'इलाहाबादी' हैं। उन्होंने भी पिछली शैली को छोड़कर नई शैली को ग्रहण किया। यह अपनी विचारधारा में तो प्राचीन हैं परन्तु अपनी लेखन-शैली में नवीन। उर्दू कवियों में किसी की रचनाओं में अंग्रेजी-शब्दों का इतना अधिक प्रयोग नहीं मिलता, जितना अकबर 'इलाहाबादी' की रचनाओं में। कहीं-कहीं तो इन्होंने अंग्रेजी शब्दों से अलंकार बनाए हैं। जैसे—

"जबकि दस्ते नाज़नीन से पाई 'टी',
अब कहां बाकी है हम में 'पाइटी।"

यों तो पिछली शताब्दी में 'सैयद इंशा' हास्यरस के सबसे बड़े उस्ताद माने जाते थे, परन्तु अकबर 'इलाहाबादी' ने उनको भी मात कर दिया और आज यदि यह पूछा जाय कि उर्दू में सर्वप्रसिद्ध हास्य-रस में कवि कौन हुआ

है, तो अकबर इलाहाबादी का नाम ही लिया जायगा। इस शताब्दी के आरम्भ में मौलाना शिवली 'नैमानी' भी गद्य-लेखकों में प्रथम श्रेणी में गिने जाते हैं। यों तो वह पिछली शताब्दी से लिखते आ रहे हैं, परन्तु इस शताब्दी में उनका अधिक नाम हो गया है। 'इक़बाल' को छोड़कर यह सब सन १९२० ई० तक इस संसार को छोड़ चुके थे।

राष्ट्रीय कवियों में इस शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध कवि पं० बृजनारायण चकबस्त थे, जिनका देहान्त सन १९२६ ई० में ४२ साल की आयु में हो गया, और उनकी कविताओं का संग्रह उनके देहावसान के बाद सर तेजबहादुर सप्रू की लिखी हुई भूमिका के साथ 'सुबहे-वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ। जिस प्रकार अकबर 'इलाहाबादी' पद्य में हास्यरस में बहुत प्रसिद्ध हुए, उसी प्रकार इस शताब्दी के आरम्भ में मुंशी सज्जादहुसैन भी, जो सन १८७७ ई० से १९१२ ई० तक 'अवध पंच' निकालते रहे, गद्य के हास्य-लेख के लिए प्रसिद्ध हैं। उपन्यासों में इस शताब्दी के आरम्भ में पं० रत्ननाथ 'सरशार' और मौलाना अब्दुलहलीम 'शरर' अधिक प्रसिद्ध थे। 'सरशार' का देहान्त सन १९०३ ई० में हो गया और वह अपनी अमर कृति 'फिसाने आज़ाद' छोड़ गए; परन्तु मौलाना 'शरर' सन १९२६ ई० तक जीवित रहे। उनके लिखे बहुत उपन्यास हैं, परन्तु उनसे साम्प्रदायिकता टपकती है, अतः उनको इतनी ख्याति प्राप्त नहीं हो सकी जितनी 'सरशार' को।

दूसरा दौर

महात्मा गांधी के सत्याग्रह आन्दोलन का राष्ट्रीय जीवन के हर अंग पर प्रभाव पड़ा। उर्दू भाषा भी उससे प्रभावित हुई। मौलाना मोहम्मद अली, जो देश के बहुत बड़े नेता भी थे और कवि भी, नये रंग की ग़ज़लें कहते थे। इसी प्रकार मौलाना हसरत 'मुहानी' जो इस शताब्दी के आरम्भ से ही कविता करते आ रहे हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीक होने पर नये रंग में ही ग़ज़ल कहने लगे और बहुत प्रसिद्ध हुए। मौलाना मोहम्मद अली ने तो थोड़ा-सा कहा, परन्तु मौलाना हसरत 'मुहानी' के कुछ संग्रह हैं, और कुछ लोग इन्हें बीसवीं शताब्दी के मध्य काल का ग़ज़ल कहने वाला सबसे बड़ा कवि मानते हैं। असहयोग-आन्दोलन के दिनों में उर्दू में राष्ट्रीय कविताएं बहुत निकलीं। सन १९२३ ई० में जो साम्प्रदायिक धाराएं इस देश में चलीं उनका भी प्रभाव उर्दू-भाषा पर पड़ा। उर्दू पत्रों में 'मिलाप' और 'प्रताप' हिन्दू दृष्टिकोण से तथा 'सियासत', 'इन्कलाब' और 'जमींदार' मुस्लिम दृष्टिकोण से लिखते थे। 'ज़मींदार' के सम्पादक मौलाना जफर अली खां उच्चकोटि के कवि भी थे, परन्तु कहते बहुत थे, इसलिए कहीं-कहीं उनकी कविता में दोष और फीकापन भी है और कहीं-कहीं फक्कड़पन भी। जहां उर्दू की प्राचीन और नवीन शैलियों के मेल की बात कही जाय वहाँ सर्वप्रथम मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' का नाम उल्लेखनीय है। वह फारसी और अरबी के बहुत बड़े विद्वान थे और उन्होंने इस शताब्दी के आरम्भ में जो कुछ लिखा, उसमें फारसी और अरबी अधिक थी; परन्तु जब वह देश के मान्य नेता बन गए तो जन-साधारण को समझाने के लिए उनको अपनी भाषा में कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इसलिए सन १९४० में जब वह दूसरी बार कांग्रेस के प्रधान चुने गए उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण बहुत सरल भाषा में दिया। परन्तु उसी के दो वर्ष बाद जब वह जेल भेज दिए गए तो जेल से उन्होंने जो पत्र अपने मित्र मौलाना हबीब उर रहमान शेरवानी को भेजे हैं। उनमें फिर उनकी वही पुरानी शैली झलकती है। ये पत्र 'गुबारे खातिर' के नाम से प्रकाशित हुए। मौलाना अबुलकलाम 'आज़ाद' की दूसरी कृतियों में 'तज़किरा' और 'तर्जुमान-उल-कुरान' बहुत प्रसिद्ध हैं परन्तु 'तर्जुमान-उल-कुरान' को वह पूरा नहीं कर सके। उसकी दो जिल्दें ही छप सकीं।

गल्प-लेखकों में सबसे पहले मुंशी प्रेमचन्द का नाम आता है। उनको हिन्दीवाले भी अपनाते हैं और उर्दू-वाले भी। उन्होंने आरम्भ उर्दू से ही किया, परन्तु अन्त में हिन्दी में लिखने लगे, इसका कारण आर्थिक भी था। मुंशी प्रेमचन्द के देहान्त के बाद कृष्णचन्द्र सर्वप्रसिद्ध गल्प-लेखक हो गए। उनके साथ ही राजेन्द्रसिंह वेदी, मन्टो, अस्मत चग़ताई और रेवतीशरण आदि के नाम भी प्रसिद्ध हैं। सन १९३५ ई० के बाद उर्दू में तरक्कीपसन्द या प्रगतिशील शैली का आरम्भ हुआ। ये लोग एक विशेष राजनीतिक विचारधारा के हैं और अपने अतिरिक्त किसी को प्रगतिशील नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि जो **प्रकृति को स्वयं-भू** नहीं मानते, वह प्रगतिशील हो ही नहीं सकते। इसमें मीराजी और नून मीम राशिद पहले-पहल प्रसिद्ध हुए, उन्होंने कविता के साथ शैली भी बदली। जोश 'मलीहाबादी'

और अली सरदार जाफरी भी इन्हीं में गिने जाते हैं। गद्य-लेखकों में सज्जाद जहीर प्रसिद्ध हैं।

स्वतन्त्रता के बाद

देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात जो उथल-पुथल हुई उसका प्रभाव उर्दू पर बिना पड़े कैसे रह सकता था ? देश विभाजित हुआ और उर्दू पाकिस्तान की सरकारी भाषा बन गई। भारत में इसका प्रभाव कम हो गया, परंतु जो हिन्दू पाकिस्तान से भारत आए उनमें बहुत उर्दू के अच्छे कवि थे और हैं। इनमें सर्वप्रथम मुंशी तिलोकचन्द 'महरूम' उल्लेखनीय हैं। उनकी पहली कविता 'ज़माना' नाम के पत्र में सन १९०६ में प्रकाशित हुई। पं० लब्भूराम 'जोश' मलसियानी तो जालन्धर के ही रहने वाले हैं, परन्तु महरूम साहिब का नाम आते ही उनका भी नाम याद आ जाता है। वह दाग़ के शागिर्दों में हैं और ६० साल से अधिक से कविता करते हैं। अबतक उनके शिष्य भी अच्छा कहने वाले कवियों में गिने जाते हैं, जिनमें 'साहिर' होशियारपुरी सर्वप्रसिद्ध हैं। जोश के सुपुत्र पं० बालमुकुन्द 'अर्श' भी गिने-चुने उर्दू-कवियों में से हैं। इसी प्रकार मुं० तिलोकचन्द महरूम के सुपुत्र श्री जगन्नाथ 'आज़ाद' ने भी भारत और पाकिस्तान में बहुत ख्याति प्राप्त की।

पिछली शताब्दी में उर्दू के सम्बन्ध में दिल्ली और लखनऊ में मुकाबला रहता था। वह समय तो गया और वह दौर समाप्त हुआ। कुछ-कुछ पंजाब और उत्तर प्रदेश में अब भी चलती है। उत्तर प्रदेश के कवियों का उल्लेख करते समय मुं० विशेश्वरप्रसाद 'मुनव्वर' के कुटुम्ब की ओर ध्यान आकर्षित होता है। उनके पिता पं० द्वारिकाप्रसाद 'उफक' बहुत उच्चकोटि के कवि थे और उफक के भाइयों में मुं० रामसहाय 'तमन्ना' और मुं० माता प्रसाद 'नैसा' भी अच्छा कहने वाले थे। मुनव्वर स्वयं उच्च कोटि के कवियों में हैं। बच्चों की कविता कहने में उर्दू में मौलाना मुहम्मद 'इसमायली' सर्वप्रसिद्ध हैं। उनका देहान्त सन १९१७ में हुआ और उन्होंने गदर के थोड़े ही वर्षों बाद कविता आरम्भ कर दी थी। ये ५० वर्ष से अधिक कविता करते रहे। उनकी कविताएं गाय, कछुआ और खरगोश, अरहर की दाल, बरसात इत्यादि बच्चों में अब भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं।

नीचे हम इस शताब्दी के प्रसिद्ध कवियों के नाम देते हैं, जिनका वर्णन ऊपर नहीं किया गया, परन्तु जो उल्लेखनीय हैं। इनमें सर्वप्रथम 'जिगर' मुरादाबादी हैं, जिनको वर्तमान काल में ग़ज़ल का सर्वोच्च कवि मानते रहे हैं।[1] और इन्हीं से मिलता-जुलता दर्जा प्रो० रघुपति सहाय 'फिराक' गोरखपुरी का है। आकाशवाणी में भी कुछ अच्छे-अच्छे कवि हैं, जिनमें रविश 'सिद्दीकी', साग़र 'निजामी' और 'सलाम' मछलीशहरी बहुत माने जाते हैं। इनमें से रविश के यहां गहराई अधिक है, सागर के यहां राष्ट्रीयता और रवानी और सलाम मछलीशहरी के यहां रंगीनी और चुलबुलापन। 'दाग़' के शागिर्दों में बहुत से कवि प्रसिद्ध हुए। स्वयं इक़बाल ने भी उनसे कुछ सलाह ली। जोश मलसियानी का जिक्र ऊपर आ ही चुका है। इनके अतिरिक्त नवाब साइल दाग के शागिर्द भी थे और दामाद भी। दूसरे मौलाना 'बेकुल' हैं जिन्होंने सौ वर्ष के करीब आयु पाई। तीसरे आगा शायर, जिनके जीवन में भी मस्ती थी और कविता में भी। चौथे मौलाना 'सीमाब', जिनके शागिर्दों में सागर भी हैं। पांचवें मेहर ग्वालियरी, जिनके सुपुत्र अनवर साहब अब कैम्प कालेज में उर्दू के प्रोफेसर हैं। 'नूह' नारवी अब बहुत वृद्ध हैं, परन्तु शब्दों के उलट-फेर में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। बाग़ 'संभली' मुखम्मस अच्छा कहते थे। नसीम भरतपुरी राजस्थान में दाग़ के सर्वप्रसिद्ध शागिर्द थे। अब दाग़ के जीवित शागिर्दों में पंजाब में जोश मलसियानी, दिल्ली में पं० त्रिभुवननाथ जार और उत्तर प्रदेश में नूह नारवी के नाम विशेषकर आते हैं। उर्दू के गद्य और पद्य-लेखकों में हाली का नाम तो ऊपर आ ही चुका है, उनके शागिर्दों में सर्वप्रसिद्ध पं० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' हुए, जो 'आलमे कैफी' कहलाये। इनका देहान्त ९० साल की आयु में गाजियाबाद में हुआ। 'मंशूरात' और 'कैफिया' इनकी अमर कृतियां हैं। गुलजार 'देहलवी', जो जार साहिब के सुपुत्र हैं, इन्हीं के शागिर्द थे।

उर्दू के पत्रकारों में वर्तमान समय में महाशय कृष्ण, रनबीर, सरदार दीवानसिंह मफतून, हयात उल्ला अन्सारी और मौलाना अब्दुल बाकी प्रसिद्ध हैं। डा० सईद बरेलवी, जफरुल मुल्क, लाला देशबन्धु गुप्ता इत्यादि का

१. इनका अभी हाल ही में देहान्त हो गया है।

तो देहान्त हो ही चुका है। पं० दयानारायण निगम को भी हम से बिछुड़े बहुत वर्ष हो चुके हैं। उनका पत्र 'जमाना' भी खत्म हो चुका। हां, अभी नियाज़ फतेहपुरी अपना चिराग जलाये बैठे हैं और इनका रिसाला 'निगार' अब भी साहित्य में सनद माना जाता है। वर्तमान कवियों में मौलाना अनवर 'साबरी' बहुत पसन्द किये जाते है।

वर्तमान शताब्दी में उर्दू की सेवा करने वाली तीन संस्थाएं विशेष उल्लेखनीय है: अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू, जामिया मिलिया इस्लामिया और उस्मानिया यूनीवर्सिटी, हैदराबाद। इनमें से अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू के प्रधान डा० सर तेजबहादुर सप्रू थे, मन्त्री मौलाना अब्दुल हक और उपमंत्री पं० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफी' थे। सर सप्रू और 'आलमे कैफी' का तो देहान्त हो चुका है और मौलाना अब्दुल हक पाकिस्तान चले गए हैं। अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू ने महात्मा गांधी के हिन्दुस्तानी भाषा के आन्दोलन का विरोध किया था। देश के विभाजन के बाद अब अंजुमन का रूप बदला है, नहीं तो मौलाना अब्दुल हक ने तो इसमें बहुत-कुछ साम्प्रदायिकता को दाखिल कर दिया था। उस्मानिया यूनीवर्सिटी या जामिया उस्मानिया ने उर्दू पर बहुत पैसा खर्च किया और उर्दू में बहुत अनुवाद और मौलिक ग्रंथ निकाले परन्तु इनकी भाषा बहुत ही कठिन है। हां, जामिया मिलिया इस्लामिया ने सदैव अपना रूप राष्ट्रीय रखा और उसने उर्दू की ठोस सेवा की। यह संस्था गांधीजी के आदर्शों पर चलती रही और इसने हिन्दी और उर्दू दोनों को हिन्दुस्तानी का ही रूप माना। आज भी यह ऐसा ही कर रही है और डा० आबिद हुसैन और प्रोफेसर मुजीब ने उर्दू के बहुत ग्रंथ लिखे। प्रकाशन तो, सब उच्च कोटि के उर्दू-लेखकों की किसी न किसी कृति का जामिया मिलिया से हुआ है।



कश्मीरी साहित्य के गत साठ वर्ष

श्री शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम'

परिचय :

कश्मीरी साहित्य के इतिहास में वीसवीं शती के गत साठ वर्ष अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि इस अवधि में कश्मीरी साहित्य उन सब तत्त्वों और गुणों से समृद्ध होने लगा जो किसी साहित्य को सर्वांग-सम्पन्न वनाने के लिए अनिवार्य होते हैं तथा जिनसे वह साहित्य विश्व के समुन्नत साहित्य के समकक्ष स्थान पाता है और जिनके कारण साहित्य संस्कृति का पूरक व पोपक अंग वन जाता है।

जिन विशेप कारणों से वर्तमान शताब्दी के साठ वर्षों का कश्मीरी साहित्य महत्त्वपूर्ण वना है, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

१. इस अवधि में कश्मीरी साहित्य की सुप्राप्य व दुष्प्राप्य पुरातन सामग्री को प्रकाश में लाया गया। यह सामग्री कुछ पांडुलिपियों के रूप में सुरक्षित थी और कुछ श्रुति-परम्परा से संकलित की गई। इस दिशा में अनेक प्राच्य विद्याविशारदों ने कश्मीरी विद्वानों के सहयोग से सराहनीय काम किया।

२. इस अवधि के आरम्भिक काल में कश्मीरी भापा के व्याकरण और शव्दकोश का संकलन-संपादन किया गया, जिससे इस भापा के विकास-क्रम को वैज्ञानिक भूमिका सुलभ हो गई।

३. कश्मीरी साहित्य, जो भारत की अन्य अनेक भापाओं के अतीत की तरह पद्यबद्ध ही था, इसी युग में गद्य की संपत्ति से समृद्ध होने लगा। इस पष्टि के आरम्भ में कश्मीरी लोकसाहित्य को संकलित-संपादित करके लिपिवद्ध किया। इसमें लोकगीत, लोक-कथाएं व लोकोक्तियां शामिल थीं। कुछ धार्मिक ग्रन्थों का कश्मीरी में रूपांतर किया गया और इधर वीस-वाईस वर्षों से आधुनिक गद्य साहित्य का विधिवत सृजन होने लगा है। इसमें कथा-कहानी, उपन्यास, नाटक, वाल-साहित्य, निवन्ध व समीक्षात्मक रचनाएं सम्मिलित हैं।

४. साठ वर्षों की इसी अवधि में भारत के राजनीतिक वातावरण में एक हलचल पैदा हुई। स्वाधीनता-संग्राम सवेग चला, सफल हुआ और फलतः स्वतन्त्र भारत आर्थिक व सामाजिक पुनर्निर्माण के काम में जुट गया। इस देश का एक अभिन्न अंग होने के कारण कश्मीर का वायुमंडल इस परिवर्तन से अछूता न रह सका। कश्मीर में भी सदियों की सामंतशाही के विरुद्ध आन्दोलन चला, फलीभूत हुआ और लोकराज्य के रूप में परिणत हुआ। नवचेतना के इस युग का आह्वान करने में जिस तरह अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य ने योगदान किया, कश्मीरी साहित्य भी अपनी सीमा के अंतर्गत उसमें पीछे न रहा।

५. इसी युग में कश्मीरी भापा को भारत और कश्मीर के नये संविधानों द्वारा राजकीय मान्यता मिली और आंशिक रूप में इसको राज्याश्रय का आश्वासन भी मिला। इतिहास में पहली वार कश्मीरी भापा और साहित्य ने देश के भापा-साहित्य-परिवार में वरावरी का दर्जा और अधिकार प्राप्त किया।

इन कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि २०वीं शती के गत साठ वर्प कश्मीरी साहित्य के इतिहास में क्यों अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

उपरोक्त बातों का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने से पहले यह आवश्यक है कि कश्मीरी भाषा व साहित्य के पूर्व इतिहास का दिग्दर्शन कराया जाय ताकि इसकी पृष्ठ-भूमि तथा विकास-क्रम को समझने में आसानी हो।

पूर्वपीठिका कश्मीरी भाषा कश्मीर के २५ लाख से अधिक लोगों की मातृ-भाषा है और इससे अधिक लोग इस भाषा को समझते हैं। इसके उद्गम के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग इसे हिन्दू-आर्यजातीय भाषाओं में संस्कृत-संभवा मानते हैं। कुछ विद्वान इसको दरद भाषा-समूह की शाखा मानते हैं और इधर कुछ समय से कई विद्वान कश्मीरी को इब्रानी[1] से निकली हुई एक शाखा कहने लगे हैं। इन मान्यताओं में विवाद की बड़ी गुंजायश है, जो इस लेख का विषय नहीं। इतना तो निर्विवाद है कि कश्मीरी भाषा की स्वतन्त्र सत्ता सदियों से चली आ रही है। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में इसका उल्लेख जन-भाषा के रूप में आया है। यह इतिहास १२वीं शती में कल्हण पंडित ने लिखा है। इससे पूर्व के कश्मीरी विद्वानों के संस्कृत-ग्रन्थों में यत्र-तत्र कश्मीरी शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो इस भाषा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

परन्तु इस भाषा की कोई साहित्यिक कृति हमें १३वीं शती से पहले की नहीं मिल सकी है। यों तो पाश्चात्य विद्वान सर ग्रियर्सन के मतानुसार कश्मीरी साहित्य का आरम्भ १४वीं शती में लल्लेश्वरी के वाक्यों से होता है, किन्तु इधर कई विद्वान १३वीं सदी की रचना 'महानय प्रकाश' से कश्मीर का आदि मानने लगे हैं। इसके लेखक काश्मीर शैव सिद्धान्त के विद्वान शतिकंठ राजांक हैं। 'महानय प्रकाश' शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसकी भाषा भारत की तत्सामयिक सभी प्राकृतों से भिन्न है। ध्यान से देखा जाय तो कश्मीरी के पूर्वरूप का इसमें कहीं-कहीं स्पष्ट आभास मिलता है। इससे यह मत निराधार नहीं कहा जा सकता कि कश्मीरी का आदि रूप 'महानय प्रकाश' का अपभ्रंश है।

१३वीं शती कश्मीर के इतिहास का एक संक्रान्तिकाल था। इस युग में काश्मीर के हिन्दू शासकों का दौर अन्तिम घड़ियां गिन रहा था, मुसलमान सुलतानों के पैर जम रहे थे। ऐसे संधि-युग में प्रशस्तियां कहने वाले राज्याश्रित कवियों को सुख-सम्मान कहां से मिलता। ऐसी स्थिति में संस्कृत का दबाव ढीला पड़ा होगा, इसलिए इस काल में संस्कृत की किसी उत्कृष्ट साहित्य-रचना का उल्लेख नहीं मिलता। हां, संस्कृत की, विशेषकर शैव मत की रचनाओं का प्रभाव अवश्य था। तभी तो उसके बाद की 'ललवाणी' पर संस्कृत छाई हुई है।

परन्तु प्रश्न है कि वह कौनसी भाषा थी, जिसके माध्यम को उस समय के मुस्लिम दरवेशों और प्रचारकों ने अपनाया ? संस्कृत से वे परिचित न थे। फारसी और अरबी का कश्मीरी जनसमाज को ज्ञान न था, तो यह अनुमान करना अयुक्त नहीं कि कश्मीरी भाषा बोली व लिखी जानेवाली उन्नत भाषा रही होगी। तभी हमें इसके लगभग १०० साल बाद १४वीं शती में लल्लेश्वरी के वाख (वाक्य) उस दशा में मिलते हैं, जिन्हें कई साहित्यिकों ने कश्मीरी काव्य का आदि-रूप न मानकर किसी परिमार्जित-विकसित साहित्य का अंग मान लिया है। लगता है कि इस अवधि का अधिकांश साहित्य काल के कराल गाल में समा चुका है। यह भी हो सकता है कि संस्कृत के बाद जब फारसी ने राजभाषा का आसन ग्रहण किया तो कश्मीरी भाषा को उसी प्रकार राज्याश्रय से वंचित रखा गया होगा, जिस प्रकार पहले संस्कृत-रचनाओं के मुकाबले में इसे उभरने नहीं दिया गया। अन्यथा कोई कारण नहीं दीखता कि संस्कृत की ढील पर 'महानय प्रकाश' के रूप में भी एक अवशेष मिल जाय और फारसी के राज्याश्रित होने से पूर्व लल्लेश्वरी के वाक्य भी उसी भाषा के उत्कृष्ट साहित्यिक रूप की निशानी बनी रहे, जो उस समय जनभाषा थी। इस कल्पना के पीछे, कि कश्मीरी का साहित्य था किन्तु नष्ट किया गया, यह ऐतिहासिक प्रमाण है कि १५वीं शती में सुलतान जैन-उल्-आब्दीन के, जिन्हें लोग श्रद्धा से बड़शाह (बड़ा बादशाह) कहते हैं, शासनकाल में जहां संस्कृत और फारसी की मूल रचनाओं व अनुवादों का जोर रहा, वहां जैन-चरित (जीवनी) और जैन-विलास (नाटक) की दो कश्मीरी साहित्यिक रचनाओं का

१. यहूदियों की भाषा

उल्लेख भी मिलता है।[1] 'वाणासुर वध' (काव्य) की कश्मीरी रचना भी इसी युग की कृति बतलाई जाती है। किन्तु विधि की विडम्बना कहिए या जानी-बूझी कोशिश कि कोई भी कश्मीरी कृति आज प्राप्य नहीं। कहा जाता है कि स्वयं बड़शाह और उनके वंशज सुलतान हसनशाह आदि कश्मीरी में कविता कहते थे। मगर ये सब इतिहास के पन्नों की सूचनाएं भर रह गई हैं। ऐसी दशा में हमें लल्लेश्वरी के वाख़ (वाक्य) और शेख नूरुद्दीन वली (नुंद ऋषि) के श्रूख (श्लोक) भी न मिलते, यदि वे श्रद्धावान जनता ने श्रुति-परम्परा से अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित न रखे होते। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि इनमें से कितना भाग लुप्त हो गया और कालपरिवर्तन से कितना अंश प्रभावित हुआ।

परन्तु इससे लल्लेश्वरी के 'वाक्यों' और नुंद ऋषि के श्रूखों (श्लोकों) की न तो ऐतिहासिकता कम होती है और ना ही कश्मीरी काव्य-साहित्य में इनका स्थान गौण हो जाता है।

कश्मीरी साहित्य के इतिहास का यह आदि-युग था। इस पर सूफीवाद और धर्मप्रधान दार्शनिकता की प्रबल छाप है। संतोष और गर्व की बात है कि इस साहित्य की आधारशिला धार्मिक मानवतावाद पर खड़ी की गई है, जिसका मूलमंत्र लल्लेश्वरी का यह वाक्य है—

'शिव छुय थलि थलि रोज़ान, मव ज़ान ह्योंद न मुसलमान।'

अर्थात्, 'शिव थल-थल में व्यापक है, हिन्दू और मुसलमान में भेद न मानना।' काश्मीर के सांस्कृतिक विकास में इससे स्वस्थ परम्परा का सूत्रपात हुआ, अन्यथा धर्मांधता के जमने की आशंका थी। यह भी कश्मीरी साहित्य के लिए गौरव की बात है कि इसके आदि काव्य का सृजन उपेक्षिता नारी द्वारा हुआ। इसका प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि लल्लेश्वरी की वाणी कश्मीरी भाषा की सूक्तियां और मुहावरे बन गई। इस अमर काव्य ने मुसलमानों और हिन्दुओं को एक सूत्र में पिरोकर रखने का काम किया। इसी प्रकार का जादुई प्रभाव नुंद ऋषि के श्रूखों का पड़ा। हर्ष और गौरव की बात है कि कश्मीरी साहित्य की आदि विभूतियां बिना धार्मिक भेद-भाव के सभी कश्मीरियों की आराध्य हैं।

इसके बाद लगभग एक शताब्दी तक की कोई कश्मीरी रचना नहीं मिलती।

१६वीं शती के उत्तरार्द्ध में एक बार फिर कश्मीर के इतिहास ने पलटा खाया। १५८६ ई० में कश्मीर मुगल शासन के अधिकार में आ गया। इस काल में कश्मीरी साहित्य-गगन पर जूनी[2] (चांद) का उदय हुआ था। वह एक कृषक बाला थी, जिसका यौवन, लल्लेश्वरी के आरम्भिक जीवन की तरह, ससुराल के उलाहनों और कोसनों से बींधा जाता रहा। किन्तु वह प्रत्युपन्नमति ललना थी। उसके भीतर का कवि सौन्दर्य-वर्णन करने में रम गया। सहज गति से जो गीत उसके मुख से निकले, वे सीमावद्ध न हो सके। यहां तक कि राजदरबार में भी उसके गुण-सौन्दर्य की चर्चा पहुंची। यूसुफ़शाह चक ने, जो उस समय के तरुण शासक थे, तत्काल जूनी को अपनी मलिका बनाया। अब वह हव्वा खातून बन गई।

राजदरबार के वैभव की लोरियां भी हव्वा खातून में जाग्रत कवित्व को न सुला सकीं। बल्कि कहना यह चाहिए कि इस अवसर में उसने कश्मीरी काव्य को ऊंचे स्तर पर ले जाने का यत्न किया। संगीत विद्या की जानकार होने से मलिका ने कश्मीरी गीतों को रागवद्ध किया, जिसके कारण उसकी कई रचनाएं विधि के निर्दय हाथों से बच-बचाकर हम तक पहुंच सकीं। कश्मीरी संगीत में 'रास्त राग' हव्वा खातून की ही देन है।

हव्वा खातून का राज्य-सुख कदाचित विधाता को स्वीकार नहीं था। थोड़े ही समय बाद यूसुफ़शाह चक अकबर द्वारा बंदी बनाकर बिहार भेज दिये गये। उनका बेटा याकूब भी उन्हीं के साथ नजरबंद किया गया। राजनीति के इन दाव-पेंचों से अपरिचित विरहिणी हव्वा वन-पर्वतों, गिरि-गह्वरों और सर-सरिताओं से अपने प्रीतम का पता

---

१. इनके लेखक सोमभट्ट और योधभट्ट बड़शाह के दरबारी रत्न थे

२. हव्वा खातून का बचपन का नाम

पूछने लगी। उसे लगा कि प्रणयी को कोई सौकन (सौत) भरमा कर ले गई। उसकी भावना ने गीत का रूप धारण किया—

च कम्यू सोनि म्यानि भ्रम दिय न्यूनस्को,
च्य क्यहो जि गइयो म्यान्य् दुइ ?

'—मेरे मीत ! किस मेरी सौत ने तुम्हें भरमाकर मुझसे छीन लिया। मुझसे रूठ क्यों गए ?'

विरहिणी नारी की अन्तर्वेदना की कितनी सहज और मार्मिक अभिव्यंजना है ! इसमें नारी की उस दर्द-भरी कहानी का सारा तंत्र निहित है, जो तत्कालीन समाज की ललना के भाग्य में बदा था। सामाजिकता की इस सूचना के अलावा इसमें भाव-प्रवणता के साथ प्रांजल भाषा का विन्यास भी प्रवाहमय और स्वाभाविक बन पड़ा है।

आश्चर्य की बात है कि फारसी और संस्कृत की प्रगल्भता के होते हुए भी हव्वा खातून और उसके बाद अरणीमाल की काव्य-रचना ठेठ रसीली कश्मीरी भाषा में है। इससे विदित होता है कि कश्मीरी भाषा यद्यपि अकिंचन जनता के अंक की अकिंचन पुत्री ही रही, फिर भी न उसे तो प्राकृतिक सुषमा से विहीन होने दिया गया और नाही इतना दीन, कि झोली फैलाने को बाधित हो।

लोल[1] के गीतों की दूसरी गायिका अरणीमाल हुई है। इसका उदय और अस्त १८वीं शती का पूर्वार्द्ध है। मध्यवर्गीय कश्मीरी पंडित घराने की इस ललना का विवाह अपने समय के प्रसिद्ध फारसी कवि मुंशी भवानीदास काचरू 'निक्कू' के साथ हुआ था। किन्हीं कारणों से अरणीपाल अपने पति की कृपा से वंचित हुई। इसके लिए उसे विरही जीवन बिताना पड़ा। इससे अरणी के संवेदनशील हृदय को ठेस लगी। वह पतिव्रता नारी थी, विद्रोह तो न कर सकी, किन्तु अंतर्वेदना को कविता की धारा में इतने वेग से प्रवाहित किया कि वह हर एक के हृदय को झनझना कर अपने साथ बहा ले गई। अरणी का क्रन्दन, विरह-वर्णन समस्त नारी जाति का क्रन्दन बन गया। इतना सशक्त, सरल प्रणय व विरह-वर्णन कश्मीरी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। अरणी की कविता में जो भाषा-सौष्ठव और सहज भाव-प्रवणता समाई है, उसने कश्मीरी गीतों में अपूर्व माधुर्य और रस-सृष्टि की है। अरणीमाल का यह गीत कश्मीर के जन-जन का गीत है—

अरिणि रंग गोप श्रावंणि हिये, कर इये दर्शुन दिये !

—श्रावण की मुझ 'ही' (चम्पाकली) को अरिणि (पीला) रंग हो गया। जाने कब वे आएंगे, दर्शन देंगे !!

हव्वाखातून और अरणिमाल के गीत कश्मीरी साहित्य के इतिहास में दूसरे दौर की पूंजी हैं। संख्या की दृष्टि से इनका उपलब्ध भाग कम हो सकता है; किन्तु काव्य का विषय और वैविध्य एवं उसका गुण-गौरव ध्यान में रखकर इसकी महत्ता इतनी है कि इस दौर का साहित्य क्लासिकी साहित्य की गणना में आ जाता है।

कश्मीरी साहित्य के इतिहास का तीसरा युग १८वीं शती के उत्तरार्द्ध से १९वीं शती के सात दशकों तक फैला हुआ है। इस युग में कश्मीरी काव्य कई प्रमुख धाराओं में प्रवहमान रहा। इनमें से मुख्य दो धाराएं ये हैं :

१. भक्ति या उपदेशात्मक काव्यधारा,
२. प्रणय व आख्यान काव्यधारा।

भक्ति काव्यधारा को भी दो उपधाराओं में बांटा जा सकता है : १. शिवकृष्ण राम भक्ति काव्यधारा, २. तसव्वुफ व विशुद्ध इस्लामी नातिप कलाम की धारा।

इस काल की रचनाओं में पहली बार कश्मीरी भाषा दो विभिन्न स्रोतों से शब्द व भाव ग्रहण करने लगी, जिससे कहीं तो यह संस्कृतनिष्ठ बनी और कहीं अरबी-फारसी-प्रधान भाषा। कुछ तो विषय ही ऐसे थे, जिनके लिए इस या उस शब्द-भण्डार का आश्रय अनिवार्य था; किन्तु इस काल की सभी रचनाओं के लिए यह बात युक्तिसंगत नहीं

---

१. 'लोल' कश्मीरी में प्रेम, भक्ति, वात्सल्य, उत्सुकता और चाहत का पर्याय है। अनुवाद में कोई भी पर्याय पूरी तरह इसका अर्थ वहन नहीं करता।

मानी जा सकती । ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के कवियों से दरबार की फारसी का अनुकरण करने का लोभ संवरण नहीं हो सका । शायद इससे वे अपनी काव्य-रचना का महत्त्व भी बढ़ाना चाहते होंगे । इतना तो ऐतिहासिक सत्य है कि इस युग में कश्मीर का राजनीतिक संपर्क ईरान और काबुल के साथ बढ़ गया था । इससे भी फारसी का अधिक प्रचलन रहा । इसलिए इस काल के काव्य का अधिकांश फारसी शब्दों, मुहावरों और उपमाओं से लदाफंदा मिलता है । इतना ही नहीं, कथानक और विषयवस्तु भी ईरान की प्रणय-कथाओं पर आधारित हैं । कह नहीं सकते कि इसकी प्रतिक्रिया थी या सहज प्रवृत्ति, कि इस युग के हिन्दू कवियों ने भारतीय कथानकों से विषय चुनकर रामचरित, कृष्णलीला आदि काव्यों में संस्कृतगर्भित कश्मीरी का प्रयोग किया । इससे बाहर के विद्वानों को हिन्दू कश्मीरी व मुस्लिम कश्मीरी का भ्रम हुआ, जो वस्तुस्थिति नहीं है ।

इसमें संदेह नहीं कि कश्मीरी भाषा की प्रकृति को यह ऊपरी भार सह्य नहीं हुआ और इससे कश्मीरी भाषा के स्वस्थ विकास में एक धचका-सा लगा; किन्तु इससे यह लाभ भी हुआ कि कश्मीरी काव्य का विषय-क्षेत्र व्यापक और विविधतापूर्ण हो गया ।

सौभाग्य से ऐसे कवियों की रचनाएं भी इस युग की देन हैं जिन्होंने संस्कृत अथवा फारसी शब्दों व मुहावरों को अत्यन्त निपुणता व कुशलता से कश्मीरी रूप में ढाल लिया और उन्हें कश्मीरी भाषा व भाव की प्रकृति के अनुकूल बनाया ।

चूंकि इस युग की विभिन्न धाराओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है इसलिए उसी क्रम से काव्य-रचना का परिचय देना उचित है ।

भक्ति काव्य-धारा के प्रणेताओं में स्वामी परमानन्द, गंगाप्रसाद, दिवाकर प्रकाश भट्ट, साहिबकौल, वासुदेव, लक्ष्मण जी नागाम, प्रकाशराम कुरीगाम और कृष्णदास उल्लेखनीय हैं । इनमें से स्वामी परमानन्द (१७९१-१८७१ ई०) ने अपने काव्य में शिव-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन किया । स्वामी परमानन्द, जिनका असली नाम नन्दराम था, महन (मार्तण्ड) के रहने वाले थे । संस्कृत-फारसी के पंडित थे, कश्मीरी शैव मत के विद्वान थे । इनकी चार रचनाएं 'राधा-स्वयंवर', 'स्वधाम चर्यथ', 'दीनक्रन्दन' तथा 'शिवलग्न' अब एक ही संग्रह रूप में 'विज्ञानप्रकाश' के शीर्षक से मिलती हैं ।

कश्मीरी भाषा के संत-काव्य में लल्लेश्वरी की रहस्यवादी कविता के बाद परमानन्द का स्थान सर्वोच्च है । विद्वत्ता के साथ-साथ कश्मीरी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था, इससे इन्होंने जो काव्य-रचना की उसमें दार्शनिकता की गहराई और लाक्षणिकता का कलामय प्रयोग तो है किन्तु भाषा का सौष्ठव भी बहुत ही निखरा हुआ है । एक पद्य देखिए :

गोकुल हृदय म्योन तति चोन गूर्यवान,
च्यत व्यमर्श दीप्तिमान भगवानो ।

अर्थात, 'मेरे हृदय रूपी गोकुल में तुम्हारी गोचर भूमि है, चित-विमर्श (से) दीप्तिमान हे भगवान, वृत्तियां मेरी गोपिकाएं तेरे ही पीछे दौड़ें बांसुरी-वादन की पुकार से बौराती हुई, भूलकर चेतना खोकर अपना-परायापन ।'

परमानन्द कश्मीरी शैव दर्शन के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार हुए हैं । उनकी कविता में वेदांतियों का पलायनवाद नहीं । वे कहते हैं संसार की सत्ता है, यह यथार्थ है, शुभ है और यह लीला है शिव का नृत्य-मात्र, किन्तु इस कर्म-भूमि में धर्म का बल चाहिए । तभी संतोष के बीजों से आनन्द-फल मिलेगा ।

परमानन्द की संगीत और नृत्य में रुचि थी । कभी-कभी कीर्त्तन में आत्म-विभोर हो स्वयं ही नाचने लगते थे ।

परमानन्द के शिष्यों में वासुदेव, लक्ष्मण जू नागाम और कृष्ण राज़दान ने काव्य-साधना जारी रखी । इनमें से वासुदेव की रचनाएं स्वामी परमानन्द की ही रचनाओं का अंग बन चुकी हैं । अन्य दो कवियों की चर्चा आधुनिक युग के आरम्भिक कवियों में की जायेगी ।

राम व कृष्ण-चरित पर आधारित काव्य लिखने वालों में दिवाकर प्रकाश भट्ट, साहिबकौल और प्रकाश राम कुरीगाम के नाम उल्लेख्य हैं। दिवाकर प्रकाश भट्ट ने 'रामावतार चरित' और 'लवकुश चरित' लिखा है और साहिबकौल की रचनाएं हैं 'कृष्णावतारचरित' व 'जनम-चरित'। इनमें से तीसरे कवि प्रकाशराम कुरीगाम के 'रामायण' का महत्त्व भाव एवं भाषा की दृष्टि से बहुत बड़ा है। कविवर 'आज़ाद' ने कहा है कि जो सहज प्रवाह, अर्थ-गंभीरता और भाषा-सौष्ठव प्रकाशराय की कविताओं में है, वह अगर किसी यूरोपीय कवि की रचना में होता तो संसार में नाम पाता, किन्तु पराधीन कश्मीर के इस अनमोल हीरे का नाम कौन ले! निश्चय ही मध्ययुग के कश्मीरी कवियों में से प्रकाशराय के गीतों में सरलता, मिठास और रस-निष्पत्ति अतुलनीय बन पड़ी है। वात्सल्य देखना हो तो—

कोसल्यायि हंदि गोबरो, करयो गूरह गूरें।

की लोरी पठनीय है। करुण रस यत्र-तत्र भरा पड़ा है। किन्तु उल्लास-चित्रण में भी प्रकाशराय की कल्पना वसंतागमन पर है। वे लिखते हैं—

आई बहार—बुलबुल बोलो रे
हमारे हां आओ, उत्सव मनाऊंगी
कठकशू (कक्कड़ जा भागा; गरजो भी नन्हीं धारा
उर की व्यथा कुछ हल्की हो जायगी
नींद से जाग उठो—अभी तो सबेरा है।—
चमेली से तन को नहलाकर 'संबुल' आ निकलो
धरती के लिए आज़ादी की पाती लेकर—
प्याल लिये नर्गिस तेरी (स्वागत-सत्कार को) अधीर है।

गंगाप्रसाद ने 'संसारमाया मोह जाल दुख सुख चरित' में यथानाम संसार की असारता का वर्णन किया है।

नातियां कलाम व विशुद्ध तसव्वुफ की काव्य-रचनाओं में मुल्ला फ़क़ीर व मीर अब्दुल्ला बैहक़ी के नाम उल्लेखनीय हैं। फारसी तसव्वुफ से प्रभावित होकर इन्होंने तरीक़त, मारिफ़त और सलूक़ आदि के रहस्योद्गार प्रकट किए। इनकी परम्परा को शम्स फ़क़ीर ने आगे चलाये रखा। किन्तु शम्स फकीर ने इसमें प्रणय की हाला इस कलात्मकता से मिला दी कि सूफ़ी कविता, जो विशुद्ध दार्शनिकता से शुष्क-सी प्रतीत होती थी, सर्वप्रिया बन गई।

कश्मीरी काव्य के तीसरे चरण में प्रेमाख्यानों पर आधारित काव्यों का ज़ोर रहा। यद्यपि इस धारा का मूलाधार भी सूफ़ी पद्धति का वह समन्वय है, जो मजाज़ी व हक़ीकी इश्क (प्रेम) की विशेषता रहा है, किन्तु दार्शनिक सूफ़ी-धारा से इसका अन्तर इतना स्पष्ट है कि इस शाखा को भिन्न वर्ग में ही रखा जाना उचित है। खासकर इसलिए भी, क्योंकि इसका विकास-क्रम और प्रभाव-क्षेत्र तसव्वुफ की सीमा में आबद्ध नहीं हो पाया। इस धारा का सूत्रपात करने वालों में महमूद गामी का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

आज से कोई सौ बरस पहले महमूद गामी का जन्म अनन्तनाग जिले के शाहाबाद इलाके में हुआ। इन्होंने फारसी मसनवियों (प्रेमाख्यानों) का कश्मीरी में काव्य-रूप प्रस्तुत किया। इनकी एक रचना 'यूसुफ जुलेखा' का जर्मन-अनुवाद कार्ल फ्रीड्रिक बर्कहार्ड (Karl friеodrich Burkhard) ने किया है। इसके अतिरिक्त 'लैला मजनूं' 'शीरीं खुसरो', 'हारून-अल-रशीद' व 'शेख सन्ना' इनके प्रसिद्ध काव्य हैं। इनके प्रशंसक इन्हें 'कश्मीर का निज़ामी' कहते हैं।

मसनवियों में वल्ली उल्लाह मत्तू की 'हीमाल' भी बहुत ही लोकप्रिय काव्य है। १६वीं शती के आरम्भ की यह काव्य-रचना एक कश्मीरी लोककथा 'हीमाल नागराय' के प्रेमाख्यान पर आधारित है। यद्यपि इस पर भी फारसी की प्रगल्भता है किन्तु इसकी कथावस्तु का विषय कश्मीरी होने से यह अधिक लोकप्रियता पा सका है। इसी काल में अब्दुल अहद नाज़िम ने 'ज़न-उल-अरब' लिखा है, जिसमें उनके प्रणय-गीतों की छवि देखने को मिलती है।

इस युग के दूसरे प्रसिद्ध कवि कालवारी के मकबूलशाह हुए हैं। व्यंग-काव्य के प्रणेता के रूप में इनका

कश्मीरी साहित्य में विशेष स्थान है। इस पद्धति की इनकी रचनाओं में ग्रीस्त्य नाम किसान-गाथा, मुल्लानामा, पीर-नामा, वहारनामा, अयूबनामा प्रसिद्ध हैं। ये उनके चुटीले व्यंगों के शाहकार हैं। यद्यपि इनमें वे कहीं-कहीं शिष्टता की सीमा लांघ गए हैं, तथापि इनमें अनजाने में ही अपने समय के सामाजिक वास्तव की कई झलकियां भी दे गए हैं। किसानों की दुर्दशा, भ्रांतियों की ववा, अशिक्षा के दुष्परिणाम इन सब तत्सामयिक सामाजिक परिस्थियों पर मकवूल की काव्य-रचना से प्रकाश पड़ता है।

परन्तु मकवूल के और भी कई रंग हैं। 'गुलरेज़' का प्रेमकाव्य लिखकर मक़वूल ने अपनी भाव-प्रवणता का रूप उजागर किया है। 'गुलरेज़' का प्रेमाख्यान इसी नाम के १४वीं शती के मध्य लिखी मुजद्दद जियाउद्दीन वखशव की फारसी कृति से लिया गया है; किन्तु मक़वूल ने इसके कश्मीरी रूपांतर में जिस अनूठी शैली को ग्रहण किया, वह वारिस शाह की 'हीर' और 'आल्हा ऊदल' की तरह कश्मीरी काव्य की एक अमर शैली ही वनकर रह गई। प्रकृति-चित्रण, भाव-गुंफन और वेदना-वर्णन में मक़वूल ने वड़े-वड़े गुणवन्तों से टक्कर ली है। कविवर आज़ाद ने लिखा है—

"मक़वूल साहव ने शायरी की जिस सिन्फ (पद्धति) पर कलम उठाया है, उसका हक़ पूरा-पूरा अदा कर चुके हैं। 'गुलरेज़' लिखी तो कश्मीर की मसनवियों पर छा गए। तसव्वुफ लिखते हैं तो ऊंचे पाये के सूफ़ी मालूम होते हैं। ग़ज़ल में दिल की जवानी, मुहव्वत की गर्मी, नाकामी के जज़्वात (भावों) को मुनासिव अल्फ़ाज़ (शब्दों) का जामा पहनाते हैं। दुनिया की वेसवाती (असारता) पर नाउम्मीदी (निराशा के) मुजस्समा (प्रतीक) वन जाते हैं और किसी की हजू (व्यंग) लिखें तो मुंह से अंगारे वरसाते हैं।"

१८४५ ई० में युग के एक और महाकवि अव्दुल वहाव पेर का जन्म हुआ। वह कमराज़ इलाके में हाजिन के रहने वाले थे। इन्होंने फिरदौसी के 'शाहनामा' का कश्मीरी रूपांतर करके प्रशंसकों से 'कश्मीर के फिरदौसी' का नाम पाया। इसके अतिरिक्त इनकी और भी रचनाएं मिलती हैं, जिनमें 'हफ्त किस्साये मकेज़न' 'किस्साय चहार-दरवेश', 'किस्साये वहराम गूर', 'सैलावनामा', 'कारे-पटवार' और 'अकवरनामा' उल्लेखनीय है। इनकी ग़ज़लों का एक दीवान भी है।

फारसी-वहुलता इनके काव्य में भी है; किन्तु इन्होंने रुस्तम व सोहराव की प्रसिद्ध मुठभेड़ का वर्णन जिस ओजपूर्ण भाषा में किया है, उसको सुनते ही आदमी का अंग-अंग फड़क उठता है। इनके काव्य में भी दार्शनिकता की पुट है। सत्तर साल की आयु में इनकी मृत्यु १९१४ ई० में हुई।

इनके ही ग्राम में इनके समकालीन असद पेर एक कवि हुए हैं।

इस युग के जो अन्य कवि हुए हैं, उनमें मौलवी सिद्दीकुल्लाह ने सिकन्दरनामा का कश्मीरी रूपान्तर किया है। 'आरिज़', 'फाजिल', 'मिस्कीन', मुस्तफाशाह, अव्दुलगफ्फ़ार तथा 'नामी' इस काल के अच्छे कवि माने जाते हैं।

लेकिन जिस महाकवि ने इस युग में नई दिशा का दिग्दर्शन कराया वह शाहावाद के रसूल मीर हुए हैं। उनकी लोकप्रियता की यह स्थिति थी कि आधुनिक युग के प्रसिद्ध कवि महजूर तक ने चिरकाल तक उनका ही अनुकरण करने में गौरव अनुभव किया। वे स्वीकार करते हैं कि—

"मीर की पुरानी शराव नए वर्तनों में भर कर मयखानों में वेचने को रखी गई। महजूर, उसी शराव को पैमानों में भर-भर कर वांटता जा!"

अन्यत्र महजूर कहते हैं—

"दर्द की जिस अपूर्व छवि का पर्दा हटा के रसूल मीर गए, महजूर के रूप में उन्हीं का फिर अविर्भाव हुआ।"

रसूल मीर ने ग़ज़लें कही हैं। जिनमें काव्य के क्रूर वन्धनों के प्रति प्रच्छन्न असन्तोष है, किन्तु उनके गीत सकुंचित रुढ़िग्रस्त विचार-सीमा में वंध नहीं गए हैं।

रसूल मीर पहिला कवि है, जिसे महजूर से पहिले कश्मीर-भर में लोकप्रियता मिली। इसका कारण यह है कि उनकी कविता का जैसा माधुर्य और रचना-सौष्ठव अन्यत्र वहुत कम मिलता है।

मीर की कविता का एक पद्य प्रस्तुत है—

मति रोजु दमा रोज धर्मम चानि लोलरे ।
छ्वनदार सोन संण वोंगि गर्यय चानि लोलरे ॥

—मेरे मीत, रुक तो जा, तेरे प्रेम के हेतु मैंने रोज़े (व्रत) धारण किये हैं। तेरे प्यार की ख़ातिर मैंने छनछनाती सोने की चूड़ियां बनाई हैं।

मैंने ज़ात (ईश्वर) से दिन भर मिन्नतें कीं कि तुम्हारा दिल पसीज जाय, मैंने तेरी ख़ातिर क़ुरान शरीफ़ के तीस पारे रात भर में पढ़ लिये।'

कश्मीरी साहित्य की इस पृष्ठभूमि के साथ हम अब २०वीं शती के काव्य-उपवन में प्रवेश करेंगे।

आधुनिक काल

इस काल का आरम्भ वैसे १९वीं शती के अन्तिम दशक से माना जाता है, किन्तु रसूल मीर को छोड़कर १९वीं शती के उत्तरार्द्ध के प्रमुख कवि २०वीं शती के प्रथम चरण तक जीवित रहे, इसलिए उनको भी कालक्रम के अनुसार इसी पंक्ति में गिना जा सकता है।

इनमें वहाबपेर का उल्लेख पहले आया है। रमजान भट्ट ने कश्मीर की एक प्रसिद्ध लोक-कथा के आधार पर अकनंदुन काव्य लिखा। ख्याल किया जाता है कि इसकी कथावस्तु इब्राहीम और इसहाक की उस बलि के आधार पर रची गई है, जिसमें इब्राहीम अल्लाह के कहने पर अपने पुत्र खलील की बलि देने को सन्नद्ध होते हैं। यह काव्य बहुत ही मार्मिक और वेदना-भरा है, इसमें करुण रस का परिपाक हो पाया है। इस विषय पर प्रकाशराम कुरीगाम का काव्य-प्रयास भी उत्तम है। अन्य अनेक कवियों ने भी इस विषय को पद्य-बद्ध किया है, किन्तु रमज़ान भट्ट को वे छू न सके। भक्ति काव्यधारा के अनुयायियों में कृष्ण राज़दान की साहित्य-साधना इस युग के विशेष कवियों में उल्लेखनीय है। अनंतनाग जिले के वनपूह ग्राम में इनका जन्म १८५१ में हुआ, इसलिए इन्हें हम बीसवीं शती का सन्त कवि मान सकते हैं।

कृष्ण राज़दान ने परमानन्द के ही विषयों, शिव-परिणय और कृष्ण-चरित को कविता का विषय चुना। लेकिन जो सरलता, भाषा-सौंदर्य और माधुर्य का सहज प्रवाह इनकी लीलाओं का अंतःबाह्य शृंगार बनकर सामने आया, उसमें वे कहीं-कहीं अपने गुरु परमानन्द से भी आगे निकल गए। उनके उल्लास-चित्रण की एक झांकी देखिए :

'आओ री हाथ मिलाय हम, चलो री सखियो रास खेलें।
छः मास हो गए एक ही रात— गोपीनाथ नाचता जा।
साल हुआ दिन मास पहर।
और इस प्रकार नाचते गाते—
रात हुई दिन बस्ती उपवन
मन ले भागा मन-मोहन ॥'

कृष्ण राज़दान की रचना 'शिव-परिणय' का अंग्रेजी-अनुवाद किया गया है। कश्मीरी में उनकी रचनाओं का संकलन 'हरि-हर कल्याण' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है।

सन्त-काव्य की परम्परा के वर्तमान कवियों में मास्टर जिन्दाकौल 'मास्टरजी' का स्थान बहुत ऊंचा है। वास्तव में 'मास्टरजी' पुरानी और नई धाराओं के समन्वय के प्रतीक हैं। नये युग की क्रान्ति और पाश्चात्य शिक्षा ने इनकी अंतर्दृष्टि को और व्यापकता प्रदान की है। इससे उन्होंने कहीं-कहीं नये प्रयोगों और नये रंगों को भी अपनाया है; किन्तु उनकी कविता में जो दार्शनिक गहराई, धर्म की आस्था, मानववादी प्रवृत्ति और पद-लालित्य की गुणगरिमा है, उससे वे अपना व्यक्तित्व बराबर बनाये रखने में सफल रहे हैं।

'स्मरण' शीर्षक उनके कविता-संग्रह पर साहित्य अकादमी ने उन्हें १९५६ में ५००० रुपये का सम्मान-पुरस्कार दिया है। 'मास्टरजी' ने स्वामी परमानन्द के काव्य के कुछ अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

यहां पर हम 'मास्टरजी' की एक कविता 'प्रेम परमेश्वर' के कुछ पद्यों का कविवर बच्चन द्वारा किया हुआ रूपान्तर प्रस्तुत करते हैं—

हुआ गंदला धर्म का नीर मत-पंथों की धारों में।
मुझे पीने दो वह जल जो नहीं बंधता किनारों में॥
मैं हर जर्रे में देखूं खुद को सब में एक को पाऊं।
दुई रहने न पाए मैं कुछ ऐसा तुझ में मिल जाऊं॥

तसव्वुफ की प्रेम-मार्गी धारा के अनुयायियों में अजीजुल्ला हक्कानी की ग़ज़लों का संग्रह इसी शती की रचना है। वे वेदान्त की 'सोऽहमस्मि' प्रवृत्ति के गायक हैं और आगे चलकर इस धारा को समद मीर, अहद ज़र्गर, रहमान डार, रहीम साहब सोपुरी आदि अनेक कवियों ने अबतक प्रवहमान रखा है। 'मांछतुलर' (शहद की मक्खी) कविता इस धारा का एक नमूना है।

अब हम इतिहास के ऐसे मोड़ पर आते हैं जहां हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि १९वीं शती के उपसंहार ने २०वीं शती को कौनसी राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति उत्तराधिकार में दी। इससे हमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के प्रकाश में इस युग की साहित्यिक व सांस्कृतिक गतिविधि का मूल्यांकन करने में आसानी होगी।

कश्मीर अभी डोगरा शासक महाराज प्रतापसिंह के सामंतवाद के तले ही सिसक रहा था और ब्रिटिश भारत अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष में जुट गया था। कश्मीर बाहर के प्रभाव से बचा नहीं। देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की लहर कभी-कभी यहां के जनमानस से टकराकर हलचल पैदा करने लगी थी। नई शिक्षा-प्रणाली के प्रचलित होने से इस हलचल को बल मिला। इधर जब भारत में स्वभाषा व स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो कश्मीर के लोगों में भी इस प्रवृत्ति का बीजारोपण हुआ। फलतः कश्मीर की प्रजा के अन्दर व्याप्त असंतोष की भावना उबलने लगी। यहां तक कि अत्यन्त शांतिप्रिय और संतोषी 'मास्टरजी' ने भी क्लर्क के जीवन की एक प्रबल व्यंग्य कविता कही।

इस समय से कुछ पहले पाश्चात्य-प्राच्य विद्या-विशारदों (Orientalists) ने भारतीय भाषाओं व साहित्य के अनुसंधान का कार्य शुरू किया था। इस क्रम में कई विद्वानों ने रायल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के तत्त्वावधान में कश्मीरी साहित्य की खोजबीन का प्रशंसनीय काम किया। जिन यूरोपीय विद्वानों ने कश्मीरी विद्वानों के सहयोग से इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न किया, उनमें सर जार्ज ग्रियर्सन, ऑरेल स्टीन, सर रिचर्ड टेम्पिल, हिंटन नोल्स, बुह्लर और बार्नेट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्रियर्सन और टेम्पिल ने लल्लेश्वरी का अंग्रेजी रूपान्तर प्रस्तुत करके दुनिया भर के विद्वानों को इस भाषा की गरिमा का ध्यान दिलाया। स्टीन और ग्रियर्सन ने हातिम तेली से लोक-कथाओं के जो प्रामाणिक वर्णन संकलित-संपादित किए, उससे कश्मीरी लोकसाहित्य की भूमिका तैयार हुई। हिंटन नोल्स के लोककथा-संग्रह तथा लोकोक्ति-संग्रह से यह काम और आगे बढ़ा। और जब पं० ईश्वरकौल के सक्रिय सहयोग से कश्मीर शब्दामृत (व्याकरण) और कश्मीरी अंग्रेजी शब्द-कोष संपादन किया गया तो इस भाषा के साहित्य की वैज्ञानिक पद्धति प्रतिष्ठित हुई।

इन्हीं दिनों कश्मीर में ईसाई पादरियों ने 'अंजील' (New Testament) का कश्मीर गद्य में अनुवाद प्रकाशित किया। कुरान शरीफ के कुछ भाग का कश्मीरी अनुवाद भी इस काल में किया गया।

इस गवेषणा-कार्य का एक लाभ यह भी हुआ कि लोगों को अपने अतीत की महिमा का भान होने के साथ साहित्य-साधना की जिज्ञासा जागी। अबतक जो चीजें गुमनाम पड़ी थीं, वे जब प्रकाश में आई तो स्वभावतः लोगों की श्रद्धा उनके प्रति बढ़ गई। इस भावना ने कश्मीर की सांस्कृतिक नवचेतना के उभरने में भारी योग दिया। अब कश्मीरी जनता सदियों की पराधीनता का जूआ उतार फेंकने और अपनी हर चीज को मान-प्रतिष्ठा देने के लिए मचल उठी। इस स्थिति में परलोकवाद, संसार की असारता और पलायनवाद से लोग ऊब गये। यद्यपि रसूल मीर ने रूमान की नई स्वरलहरी से लोक-रंजन करने का प्रयत्न किया था, जिसे 'महजूर' ने १९२० के बाद कुछ और स्वस्थ-सवेग

वनाकर लोकप्रिय वनाया था; किंतु लोगों का असंतोष कगार तोड़कर वह निकला।

इस असंतोष की व्यापक प्रवृत्ति को जहां राजनीतिक दमनचक्र उकसा रहा था, वहां देश की उठती-मचलती नवचेतना उसे और वल देती थी। ऐसे वायुमण्डल में जिन कश्मीरी कवियों में नवयुग का आह्वान किया, उनमें गुलाम अहमद 'महजूर' का पहला स्थान है।

'महजूर' का जन्म १८८५ ई० में पुलवाया तहसील के 'मित्रगाम' में एक मीर घराने में हुआ। प्राथमिक शिक्षा फारसी में पाई। वचपन ही से कविता की प्रवृत्ति जागी। 'आशिक' के शिष्यत्व में अभ्यास जारी रखा। कुछ समय पंजाव में रहे। 'विस्मिल' के संपर्क में आने से यहां उन्हें मौलाना शिवली से मिलने का सुअवसर भी मिला। उन्होंने 'महजूर' की प्रतिभा देख कर कहा कि वह अपने समय का प्रसिद्ध कवि वनेगा।

१९०७ में वे कश्मीर से लौटे। तवसे वर्तमान शती के प्रथम चरण तक 'महजूर' कभी फारसी और कभी उर्दू में कविता करते रहे। सरकारी नौकरी में उन्हें पटवारी का एक ऐसा पद मिला, जिस पर उन्हें कश्मीर के लगभग सभी इलाकों में घूमना पड़ा। इससे उनका किसान-वर्ग से सम्पर्क वना रहा। प्रकृति गवेषणाशील और रूमानी थी ही, सो रूप-लावण्य के चित्रों को अपने मानसपटल पर उतारते गए। प्राकृतिक सुषमा को मुक्त रूप में भरपूर देखा। जनता के सतत सम्पर्क से लोक-व्यवहृत भाषा का अभ्यास वढ़ा। ऐसी परिस्थिति पाकर उनका कवि सहज गति से गुनगुना उठा। उनके काव्य में जो अद्भुत प्रकृति-चित्रण वन पड़ा है, उसके लिए उनकी कलाप्रिय कवि-आत्मा को प्रेरणा देने वाले कारण भी सशक्त थे।

ऊपर हम कह आए हैं कि शुरू-शुरू में 'महजूर' ने रसूल मीर की हाला ही अपने पैमाने में भर-भर कर वितरण की, किन्तु युग को उनसे इतनी ही अपेक्षा न थी।

कालक्रमानुसार 'महजूर' की दृष्टि कश्मीर-सुषमा के भीतर छटपटाती आत्मा का दर्शन पा सकी। उनका संवेदनशील और भावुकतापूर्ण मानस विह्वल हो उठा; किन्तु उन्होंने भांप लिया कि कश्मीरी जनजीवन का चेतना अभी न तो अन्तर्बाह्य सौन्दर्य के प्रति उतावली हो उठी है, न उसमें ऐहिकता और ऐंद्रिक प्रेम का सम्मोहन जाग गया है, जो जीवन के प्रति आकर्षण और उमंग उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है, और नाही कश्मीरी समाज में आशा और विश्वास की रेखा ने कोई स्पष्टता पाई है। ऐसी परिस्थिति में शायद 'महजूर' ने विद्रोह का स्वर असमय की चुनौती समझा, जवकि जन-सामान्य की मनोभूमि भी अभी इसके अनुकूल नहीं थी।

इसलिए 'महजूर' ने पुराने प्रतीकों और उपमाओं को ही अपनाया, किन्तु उनसे सांकेतिकता एवं लाक्षणिक व्यंग्य का काम लेकर उनके प्रभाव को और तीव्र वनाया।

जो लोग महजूर की कविता को गुल व वुलवुल की शायरी कहते हैं, वे भूल जाते हैं कि गुल और वुलवुल से 'महजूर' ने ऐसे सवल प्रतीकों का काम लिया है, जिनसे कवि का पयाम (संदेश) अधिक भावप्रवण और गम्भीर अर्थवाहक वन गया है। कविवर 'नादिम' का कहना है कि—

> " 'महजूर' वह शायर है, जिन्होंने काव्य को परम्परागत भौंड़ी उपमाओं और मुहावरों से आजाद करके वास्तविक कश्मीरी भावों से सजाया और जो आध्यात्मिकता हमारे काव्य में फारसी काव्य की नकल से पैदा हुई थी, वह दूर की। 'महजूर' की शायरी की सवसे बड़ी विशेषता उसका स्वस्थ आशावाद है।"

महजूर का काव्य 'कलामे-महजूर' और 'पयामे-महजूर' के संग्रहों में उपलब्ध है। जैसा कि कहा गया है, उन्होंने आरम्भ में 'वागे नसीम के गुलों' जैसी कविताएं लिखकर विशुद्ध प्रकृति-चित्रण और प्रणय-वर्णन किया। वाद में परम्पराओं, उपमाओं और प्रतीकों से काम लेकर राष्ट्रीय चेतना को उद्वुद्ध करने और उपेक्षित कश्मीरी को आत्मगौरव का भान कराने के लिए काव्य-सृजन किया। अन्त में प्रथम राष्ट्रीय कवि के रूप में देशभक्ति भरे गीत लिखे। स्पष्ट है कि कवि की कृतियों पर समय की वदलती परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता रहा। ज्यों-ज्यों स्वातंत्र्य आन्दोलन की गति वढ़ती गई, महजूर का स्वर भी त्यों-त्यों स्पष्ट और ऊंचा होता गया। इस प्रकार वे अपने युग का पूर्णत: प्रतिनिधित्व करते रहे।

'महजूर' कश्मीर का पहला कवि है, जिसकी धाक बाहर-भीतर के अभिजात वर्ग पर भी पड़ी। सम्भवत: इसमें विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की उस प्रशस्ति का बड़ा हाथ है, जिसमें उन्होंने 'महजूर' को कश्मीर का वर्ड्सवर्थ कहा। जिस कविता के अंग्रेजी रूपांतर को पढ़कर वे महजूर से इतने प्रभावित हुए वह है 'ग्रीस कूर' (किसान कन्या) इसमें कवि ने किसान-कन्या से सम्बोधित होकर कहा है—

"ऐ हीमाल[1] सी सुन्दर कन्या, तू चश्मों की हरियाली पर लगाई तुलसी की तरह है। फटे-पुराने कपड़ों में भी तू ऐसी दिखाई देती है जैसे फटे हुए मेघ-खण्डों के बीच से चांद झांक रहा हो। जब तू गिरि-पथ पर गाती-गुनगुनाती हुई निकलती है, तो स्वर्ग की अप्सराएं भी तेरे गीतों पर मुग्ध हो जाती हैं। तेरे हुस्न (सौन्दर्य) में बनावट नहीं है, तू वनों-पर्वतों, निर्झरों की सैर करती, हंसती हुई पुष्प-वनों के बीच में गुजरती है। कहीं फूलों ने तेरे कान तो नहीं भरे!

ख्वाजाजादियां (अभिजात वर्ग की महिलाएं) भला तेरा क्या मुकाबला करेंगी; तू फूलों की सहचरी और वे बन्द कमरों में पर्दानशीन। तेरे नयनों में शर्मो-हया का पानी भरा है, तुममें गैरत और स्वाभिमान का असीम बल है, फिर भी तेरी स्वेद-स्निग्ध भौहें तलवार बनकर हर दर्शक का मन मोह लेती हैं। लेकिन हे हाला की भरी मटकी, देखना तेरे होशोहवास बिगड़ न जाएं। ऐ सुषमामयी किसान बाला, मैंने तुम्हें खेत में आस्तीन चढ़ाए गूड़ी करते देखा है। तू वहां भी लोलरी[2] की तरह लोलो करती हुई गा रही थी। कहीं श्रम से तेरी बाहें थक तो न गईं!"

इस कविता ने कश्मीर की उपेक्षिता किसान-कन्या को पहली बार आत्मगौरव का भान कराया, उसमें अपने अस्तित्व पर ग्लानि के बदले अभिमान भर गया।

एक और कविता 'कॉशिर जनान' (कश्मीरी महिला) में भी महजूर ने नारी की मुक्तिकामना को कला के माध्यम से व्यक्त किया है। इसमें पहली बार कश्मीरी नारी जीवन के वैषम्य से सचेत हुई है और उसकी गहन व्यथा को अभिव्यक्ति मिली है।

१९३८ ई० के बाद कश्मीर के जन-आंदोलन ने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आंदोलन का रूप पाया। इस वर्ष मुस्लिम कान्फ्रेंस अखिल जम्मू कश्मीर राष्ट्रीय कान्फ्रेंस बनाई गई। 'महजूर', जो अभी तक गुल व बुलबुल को संकेतों में ही प्रेरणाप्रद संदेश देते थे, अब राष्ट्रीय तराने लेकर क्षेत्र में आए। उनकी एक मशहूर नज़्म है—'बुलो हा बागबानो नौ बहारुक शान पैदा कर' (चमन के माली, आ और नये बसंत की भव्यता पैदा कर! ऐसा वातावरण पैदा कर दे जिससे फूल खिल-खिल जाएं और बुलबुलें झूमने-नाचने लगें)।

महजूर अब नई चेतना का सन्देशवाहक बनकर उस वैषम्य पर स्पष्टता से चोट करने लगा, जिसे देख-देखकर उसकी आत्मा कराह उठी थी। उसने कहा—

अमीरस ऐश तय शादी गरीबस खान-बर्बादी।
अमिस मगरूर आसन वॉल्प सुन्द खान मिटावुन छुम॥

—अमीर के लिए ऐश्वर्य है, परन्तु गरीब का घर उजड़ा पड़ा है। मैंने ऐसे मगरूर (दम्भी) अमीर का भेद ही मिटा देना है।

मिटाने के साथ-साथ वे निर्माण भी करना चाहते हैं—

—बादल बनकर मुझे आकाश पर चढ़ना है और वर्षा बनकर अपने बाग को सरसाना है, क्योंकि वसन्त की दाद जो देनी है मुझे और चाव से उद्यान का आनन्द भी तो लेना है।

इधर जब भारत में साम्प्रदायिक वैमनस्य का दानव उठ खड़ा हुआ तो महजूर तड़प उठा—

"(अफसोस) मनुष्य मनुष्य ही के रक्त से अपनी पिपासा बुझाने लगा! (ऐसा लगता है कि) मनुष्यों

१. कश्मीर के लोक-प्रसिद्ध प्रेमाख्यान का नायिका।
२. दंबूर की प्रेयसी लोलरी (कश्मीर की ऐतिहासिक प्रणय-कथा की नायिका), जिससे कश्मीरी साहित्य को लोलो, लोल मिला है।

में मानवता ही नही रही।"

और इधर अपने चमन (कश्मीर) में महजूर ने लोगों को सचेत किया कि इस विषवृक्ष को अपने यहां जड़ें जमाने न देना। उन्होंने कहा—'न्याय त्रॉविव माय थॉविव पानह् वॉन्य'

अर्थात, आपस के झगड़े त्याग दो, परस्पर प्रेमवर्त्तन करो। (इस प्रकार) सच्ची मुहब्बत आपस में बांटो।

निर्वैर होकर एक-दूसरे को अपने दुखड़े सुनाओ और
अपने मन निर्मल बनाकर दंगा-फिसाद भुला दो।
तुम कश्मीरियों की धरती मां एक, जाति एक,
व्यर्थ ही आपस में भेद व अन्तर न बढ़ाओ।
मुसलमान दूध है तो हिन्दू शक्कर,
दूध-शक्कर की तरह एक होकर मिले रहो।

महजूर को जीते-जी अपने चमन की स्वाधीनता की शुभ घड़ी देखने को मिली तो उन्होने आजादी का 'नवप्रकाश का उदय' कहकर स्वागत किया। उल्लास-चित्रण देखिए—

अन्धकार छट गया, उदय हुआ प्रकाश का,
प्रकाश की रश्मियां पर्वतशिखरों पर थिरकने लगीं।

इस भाव-भरी कविता में 'महजूर' ने बीती व्यथा का वर्णन करने के साथ नूतन आशा के सुहाने सपने संजोये है।

आजादी के बाद भी युग-कवि 'महजूर' ने जन-भावना का प्रतिनिधित्व किया। जहां उन्हें लगा कि आजादी के उनके कल्पना-चित्र को भौड़ा बनाने का षड्यन्त्र हो रहा है—वह चाहे पड़ौसी की ज्यादती से हो, विश्व के राजनीतिक दाव-पेंचों से किया जाता हो, अथवा देश के ही सत्ताधारियों से हो। वह बेचैन हो उठे और उन्होंने चेतावनी देकर युग-कवि के अपने दायित्व का निर्वाह किया।

६२ साल की श्लाघनीय आयु पाकर महाकवि 'महजूर' अप्रैल, १९५२ को जन्नत-नसीब हुए। राज्य सरकार ने उनके शव को सम्मानपूर्वक हव्वाखातून के मकबरे के पास दफना दिया।

अपने जीवनकाल में जितनी लोकप्रियता 'महजूर' को मिली, अभी तक उसका जवाब नही।

महजूर के समकालीन एक और प्रसिद्ध कवि कश्मीरी साहित्य-गगन पर बड़ी आबोताब से चमके। उनका नाम अब्दुल अहद डार 'आजाद' है। आजाद का जन्म बड़गाम तहसील के रांगर गांव में १९०३ ई० में हुआ। महजूर की तरह उन्होंने भी प्रारंभ में फारसी और अरबी शिक्षा पाई। १९१८ में आजाद प्राइमरी स्कूल के अध्यापक नियत हुए। पढ़ने-लिखने का शौक बहुत अधिक था, जल्दी ही उर्दू भाषा और साहित्य पर पर्याप्त अधिकार प्राप्त कर लिया। सौभाग्य से ऐसे लोगों का साथ बराबर मिलता रहा जो आधुनिक शिक्षा व पाश्चात्य विद्या से परिचित थे। इस प्रकार 'आजाद' का अध्ययन-क्षेत्र काफी बढ गया और उनकी प्रतिभा को बढ़ने-पनपने का अवसर मिल पाया।

कविता की शुरूआत के बारे में आजाद ने स्वयं लिखा है 'मेरे वालिद बुजुर्गवार (पूज्य पिता) शेरे-सुखन (कविता) के शैदाई थे। खासकर कश्मीरी गीत और मसनवियां सुनने का उन्हे बहुत शौक था। बारहा मुझसे पढ़वाते थे, जिसका मेरी तबीअत पर यह असर हुआ कि मैंने १५-१६ वर्ष की ही आयु में कश्मीरी में शेअर कहना शुरू किया।'

उन दिनों महजूर के गीत सबकी जबान पर थे तो आजाद ने पहले उसी रंग और उसी विषय पर गजल लिखने शुरू किए। कहना चाहिए कि वे महजूर के अनुगामी बन गए। लोकप्रियता उन्हें भी मिली, लेकिन इस मैदान में वह महजूर की बराबरी नहीं कर सके। वास्तव में उनकी कविता कोई और पहलू बदलने की तैयारी कर रही थी।

समाज का जीवन अब आहो-कराह से छटपटाने लगा था। अंधी धार्मिकता के बहुरूप ने मनुष्य को कितने ही भुलावे दिए थे। इधर आर्थिक व सामाजिक नवजागरण के नये मूल्यों का निर्धारण होने लगा था। ऐसी स्थिति में

आज़ाद गज़लों की पुरानी परम्पराओं के कटघरे में तड़पने लगा। उन्हें लगा कि प्रतीकवाद और सांकेतिकता से अब काम नहीं चल सकता। उन्होंने कहा भी—

तस दर्द गज़्लख्वानस सद हैफ़ हज़ार अफ़सूस,
यस खाय खयानल पथ आराम पनुन रावे।

—उस दर्द के गीतकार पर सौ वार फटकार और हज़ार वार अफसोस! जिसकी काव्य-साधना निराधार कल्पनाओं पर नष्ट हो जाय।

सुहानी किन्तु निराधार कल्पनाओं के चित्रण पर उनका व्यंग्य देखिए—

"ऐ भौंरे! मैं 'नर्गिस' तो तुम पर जान वार देती, परन्तु घर किसे रखूं!

क्या बताऊं, इस मेरे सुकुमार शरीर पर कितने छाले और आवले पड़े हैं जो ग्रीष्म की तपती दुपहरी और शीतकाल में तप्त सिगड़ी की सेक की देन हैं?"

१९३१ से १९३८ तक कश्मीर का राजनीतिक वातावरण बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था और नई चेतना उभरने लगी थी। आज़ाद की संवेदनशील भावना और पैनी दृष्टि इसे सजग होकर देखती रही, आंकती रही। सामाजिक विषमता की तीव्र अनुभूति ने उनके मानसतल को कुरेदा, तभी उनकी व्यथा एक साकार प्रश्न बनकर कलामय वाणी में फूट पड़ी—

'हमारे इस पुष्प-वन ने स्वर्ग की अप्सराओं को भी राम कर लिया। क्या हमारा जीवन हमारे लिए ववाल ही रहेगा? जिस जीवन-धारा ने कल्हण, गनी और सरफ़ी जैसे गुणवन्तों को सींचा-सरसाया, क्या वही आब (जल) हमारे लिए हलाहल विष बना रहेगा?'

ज्यों-ज्यों 'आज़ाद' की जिज्ञासा इस प्रश्न की गहराई में पैठती गई, उनकी यह निष्ठा दृढ़ होती गई कि—

'कमजोरों को देखकर ही तो अत्याचारियों का साहस बढ़ जाता है।' इससे उन्हें दासता की बुराई पहचानते देर नहीं लगी। उन्होंने समझ लिया कि—

'गुलामी ही शूरों को गिराती है, सिंहों को पिंजरों में बन्द कर देती है। कान बहरे बनाती और दिलों में भ्रांतियां पैदा कर देती है।'

इसलिए आज़ाद का स्वर विद्रोही हो गया। वे ललकार कर कहने लगे—

'तेरी ग़ैरत (स्वाभिमान) की आग बुझ क्यों गई, जाग तो जा, मेरे देशवासी! तू भय की कीच में धंस गया है और बरसाती कीड़े की तरह लेटा पड़ा है।'

अब वे एक निर्भीक और दिलेर सिपाही की तरह वैषम्य के विभिन्न गढ़ों पर धावा बोलने लगे। 'शिकवये इबलीस' (शैतान का शिकवा) लिखकर 'आज़ाद' ने धर्म और दीन के झूठे दावेदारों के गढ़ों पर गोलाबारी की। आंख मींचकर अनुकरण करने वालों को उन्होंने सचेत किया—

'आगे वालों (नेताओं) के पीछे चलने वाले भेड़, देख, कहीं खाई में तो नहीं गिर रहा है।'

विद्रोह के इस कवि का लक्ष्य क्या था। एक जगह कहते हैं—

—इनसान मुद्दा म्योन (मेरा उद्देश्य मानव है)

'दीपक' शीर्षक कविता में अपने इस उद्देश्य को और स्पष्ट करते हैं—

'दीन मेरा भाईचारा, धर्म मेरी आत्मीयता, मेरा 'नूराना' (ज्योति) सबके लिए। मेरे लिए जैसा काबा, बुतखाना (मन्दिर) भी वैसा ही।'

इस उद्देश्य की सफलता पर उनकी कितनी दृढ़ आस्था थी, जरा देखिए—

'आने दो ग्रीष्म ऋतु को, बरफ की ये इमारतें नींव से हिल उठेंगी, वसन्त की घन-गरज हिममय पर्वतों को टूक-टूक कर ढा देगी, झूठी दूकान का जगमग करता हुआ माल मंहगे दामों कब तक बिकेगा। जब पीतल कसौटी पर परखा जायगा तो ऊपरी गिलट का मोल-भाव मालूम होते क्या देर लगेगी।'

आज़ाद के जीवन की भरपूर व्याख्या उनकी 'दरियाव' (दरिया) शीर्षक कविता है। इसमें उनकी सभी विशेषताएं प्रतिबिम्बित होती हैं। कश्मीरी भाषा में इतनी संघर्षमय, क्रांतिपरक और प्रेरणादायक कविता अब तक नहीं लिखी गई है। है तो यह एक गरजते गुनगुनाते पहाड़ी दरिया की आपबीती, मगर वास्तव में यह जीवन की उमंग-भरी सरिता का तराना है। इससे आज़ाद के भावगाम्भीर्य का पता नहीं चलता, कश्मीरी भाषा पर उनके अधिकार का पता भी लगता है। इस कविता का आरम्भ यों होता है :

'मैंने ज़िन्दगी का सोज़ सफ़रों और मंज़िलों में पाया'

समन्वय और संतुलन का स्वस्थ अभिव्यंजन देखिए——

'मैं (दरिया) पर्वत-शिलाओं का वक्ष चीरता हूं इतनी ऊष्मा है मुझमें,
सुकुमार मीतों के तन नहलाता हूं, ऐसी नम्रता है मुझमें,
मेरे बल-पेचों में सहज सरलता और लोल (प्रेम) भरा पूरा है,
मुझे जीवन का सोज़ यात्राओं और मंज़िलों में मिलता है।'

आज़ाद ने देश-भक्ति के भी गीत गाए हैं। 'तरानये वतन' की कविता इनका एक उदाहरण है। एक और कविता में उन्होंने देश-प्रेम के बदले में जन्नत के प्रलोभनों तक को ठुकरा दिया है——

'यह जानते हुए भी कि स्वर्ग में दूध की नदियां बहती हैं, मेरा मन अपनी सिंधु,
वितस्ता, रंबीआर, वेरनाग, गंगा और यमुना को नहीं भूल पाता।'

'आज़ाद' के कलाम पर एक निगाह डालने से ही इस विद्रोही कवि की आंच का अनुभव होता है। इनके आगमन से ही कश्मीरी साहित्य में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि 'आज़ाद' और 'महजूर' दोनों पर डाक्टर इक़बाल का गहरा प्रभाव रहा है, परन्तु 'आज़ाद' जल्दी ही कश्मीर की सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप इस प्रभाव-क्षेत्र से बाहर आए।

'आज़ाद' कवि के अतिरिक्त एक सफल समालोचक भी थे। वे वर्षों कश्मीर में घूमते-भटकते रहे, इसलिए कि वे कश्मीरी काव्य की अस्तव्यस्त सामग्री को खोज निकालना और उसका मूल्यांकन करना चाहते थे। उनके इस काम के परिणामस्वरूप कश्मीरी साहित्य को एक विस्तृत 'कश्मीरी काव्य का इतिहास' उपलब्ध हुआ। इस इतिहास के रूप में कश्मीर को समीक्षा की एक उत्कृष्ट कृति मिली। 'आज़ाद' की यह देन उनके कवित्व से किसी भी रूप में कम नहीं।

१९४८ में, जब अभी कश्मीर स्वतन्त्र हुआ ही था, आज़ाद जवानी में ही कालकवलित होगए।

इनकी रचनाएं 'संगरमाल' शीर्षक से अनेक भागों में प्रकाशित की गई हैं।

इस दौर के तीसरे उल्लेखनीय कवि मिर्ज़ा गुलाम हसन बेग 'आरिफ़' हैं। अनन्तनाग में इनका ज़न्म हुआ। एम० एस-सी० तक की उच्च शिक्षा पाई है और इस समय एक सरकारी विभाग में ऊंचे पद पर हैं। इन्होंने 'दस्तकार' शीर्षक कविता लिखकर कश्मीर के श्रमजीवी की दयनीय दशा का चित्रण किया है। स्वातन्त्र्य आन्दोलन को इन्होंने एक अति लोकप्रिय, जोशीला और भाव-भरा तराना दिया। इसका मुख्य स्वर है——

'मगर हमारा कारवां आगे ही आगे बढ़ता गया।'

इधर इनकी विचारसरणी में तसव्वुफ की प्रवृत्ति फिर से जागी है। 'रुबाइयां' लिखकर 'आरिफ़' ने कश्मीरी काव्य की इस सिन्फ (पद्धति) को अच्छी तरह निखारा है।

१९४७ के बाद का वर्णन करने से पहले कुछ और कवियों का उल्लेख यहां आवश्यक है। इनमें दयाराम गंज ने 'घर व्यजमाल' लिखकर कश्मीरी भाषा के विशुद्ध रूप का अच्छा आदर्श प्रस्तुत किया है। नन्दलाल कौल 'नन्हा' ने कश्मीरी भाषा में नये ढंग के नाटकों का आरम्भ किया है। 'सतचे कहवट' (सत्य की कसौटी) राजा हरिश्चन्द्र की सत्यपरायणता पर आधारित है। भाषा इसकी बहुत चुटीली और सरस है। इस नाटक का कई बार अभिनय भी किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त 'रामुन राज' (रामराज) और 'प्रह्लाद भगत' इनके दो अन्य नाटक हैं।

इस दौर के कितने ही और भी कवि हो गुजरे हैं जिन्होंने अपनी साधना से कश्मीरी साहित्य के भण्डार को वढ़ाया है।

आधुनिक काल के कश्मीरी साहित्य को हमें दो काल-विभागों में वांटना पड़ेगा। एक है १९४७ के पूर्व का साहित्य, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दूसरा भाग १९४७ के वाद का है।

१९४७ की शरद ऋतु कश्मीर के इतिहास का एक चिरस्मरणीय अध्याय है। इसमें कश्मीर पर अकारण आक्रमण किया गया, शायद इसलिए कि इस देश की सांस्कृतिक नवचेतना ने साम्प्रदायिकता के सर्पदंश को वे-असर कर दिया था। इस आक्रमण के सामने सामन्तवाद तो टिक न सका, मगर जनता की स्वाधीनताप्रिय आत्मशक्ति ने इससे लोहा लेकर जीत पाई।

इसी संक्रांति-काल में पहली वार कश्मीर में सांस्कृतिक मोर्चा कायम किया गया और कश्मीरी साहित्यकार पहली वार एक जगह इकट्ठे हुए।

जिस राजनीतिक स्वाधीनता को अभी लोग संभालने भी न पाए थे, उसी को हथियाने वाले ने खून-सना हाथ वढ़ाना चाहा। यह जनता के साथ-साथ कश्मीरी भावशिल्पियों के लिए भी एक चुनौती थी। इसने एक झटके में सर्वत्र विद्युत-लहर दौड़ा दी। परीक्षा कठोर थी, परन्तु कश्मीर के साहित्यकार को यह निर्णय करते देर नहीं लगी कि उसका रुख किस ओर होगा। गर्व की वात है कि इस विषम परिस्थिति में सांस्कृतिक परम्परा में कोई झोल नहीं आया। एक प्रवाह वह निकला, जिसने सम्प्रदायवाद की संकीर्णता और रूढ़िवाद की निराशा को कहीं थमने ही न दिया।

इस मौके पर देशभक्ति की भावना का सागर उमड़ पड़ा, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य-भावना दृढ़तर हो गई और अमानवता के विरोध में मानव के शिव संकल्प ने एक वेगवती धारा का रूप धारण किया।

कश्मीरी साहित्य को इस संक्रांति-युग ने कई विभूतियां दीं। महजूर, आरिफ़ तो जीवित थे ही; किन्तु जिन कवियों ने अभी काव्य-साधना में पैर ही धरा था, उनमें भी इस अवसर ने नया जोश, नई उमंग और नया वलवला पैदा किया। नव-गान का आह्वान करने वाले इन कवियों में नादिम, आसी, रोशन, मजबूर, आरिज, अंवारदार, प्रेमी, ज़ार, महेन्द्र, वहार आदि कितने ही साधकों ने सांस्कृतिक मोर्चे पर अपना दायित्व निभाया।

इस मोर्चे के मीरे-कारवां थे, कश्मीरी साहित्य के नवोदित कवि दीनानाथ कौल 'नादिम'। इनका जन्म १९१६ ई० में श्रीनगर में हुआ। इनकी काव्य-साधना वैसे स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ-साथ पहले से ही चलती रही, किंतु १९४७ के संघर्ष ने इनको युग का प्रतिनिधित्व सौंप दिया। उन्होंने अपनी कविता का आरम्भ युद्ध-निनाद से किया :

"तू कश्मीर का युवक है, हल का झण्डा थामे,
तुम्हें मोर्चों पर लड़ना है!"

और एक सच्चे सैनिक की तरह 'नादिम' ने अपने आपको भी इस संघर्ष का अंग मानकर उद्‌घोप किया कि 'मुझे वतन की रक्षा करनी है।' सक्रिय संघर्ष के कुछ शांत होने के वाद आर्थिक व सामाजिक समस्याओं की भीतरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्याओं की वाहरी परिस्थितियों ने कश्मीर के सांस्कृतिक मोर्चे को नये विपयों और नई आवश्यकताओं से सजग किया।

इन्हीं दिनों 'नादिम' ने 'मैं आज वे गीत नहीं गाऊंगा' का प्रेरणाप्रद गीत लिखा। इसका विन्यास आज़ाद शायरी का था, कदाचित तुकों की कैद इसकी प्रकृति ही सहन न करती। इस उद्‌घोप में अनेक तरुण कवियों ने अपने स्वर मिलाये, जिनमें से कुछ के नाम ऊपर गिनाये हैं।

यह पहला अवसर था जव 'कोंग पोश' के रूप में कश्मीरी साहित्य को एक मुखपत्र मिला। इससे कवियों और अन्य लेखकों को प्रकाशन की सुविधा मिली। जो अनेक लेखक अव तक कश्मीरी में लिखना हेठी समझते थे, वे भी प्रेरित होकर इस ओर आए। इनमें से कई कवियों की प्रतिभा कश्मीरी में ही चहक उठी। उदाहरणतः 'रहमान राही' और 'अमीन कामिल' ने कश्मीरी साहित्य को अपनाकर इस वात का ज्वलंत प्रमाण प्रस्तुत किया कि अपनी मातृ-भाषा का माध्यम किसी लेखक को कितनी जल्दी और कितनी तेजी से प्रौढ़ता की मंजिलों पर पहुंचा सकता है। इसी प्रेरणा

ने गुलाम रसूल 'नाज़की' को भी उर्दू के साथ-साथ कश्मीरी में कविता कहने का साहस दिया।

इस दौर के साहित्यिक प्रायः शिक्षित थे और भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य की सभी गतिविधियों और प्रवृत्तियों से परिचित थे, इसलिए उन्होंने कश्मीरी भाषा के साहित्य में नई दिशा का अवलम्बन लिया। कविता के क्षेत्र में जहां पहले अधिक लोक-गीत या तुकांत शैली की छन्दबद्ध रचनाएं ही प्रचलित थीं, वहां १९४७ के बाद कश्मीरी कवियों ने कई नये और सफल प्रयोग किए।

इनमें कविवर 'नादिम' की देन सबसे अधिक है। उन्होंने कश्मीरी काव्य को नया स्वर प्रदान किया, नये विषय दिए और कल्पना की नई भूमिका का निर्माण किया।

'नादिम' प्रगतिवादी कवि हैं, किन्तु उन पर यह आरोप किसी ने नहीं लागाया कि उनकी कविता नारेबाज़ी है, या कलात्मक नहीं है। हिन्दी के उत्कृष्ट कवि स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'नादिम' की गणना भारत के सर्वोच्च कवियों में की है।

कविवर 'नादिम' ने जो अनेक कविताएं कही हैं, उनमें 'पवन ने मुझसे कहा', 'मेरे गीतों ने मुझे क्या कहा', 'एक प्रश्न', '१९५३', 'गुले लाला', 'मुझे कल की आशा है' शीर्षक कविताओं ने कश्मीरी काव्य का ही नहीं, विश्व-साहित्य का सम्वर्द्धन किया है। 'कल मेरी आशाओं का दिन है' शीर्षक कविता में उन्होंने कलापूर्ण एवं भावात्मकता से जीवन की साध और भविष्य की आशा का चित्रण किया है। 'गुले लाला' में वे कहते हैं :

तुम गुले लाला हो !
मेरे गीतों पर तुम्हारे ही रूप का रंग चढ़ा हुआ है,
लेकिन······क्या तुम्हें मालूम है मेरे 'लाला',
मैं कैसे—
रीते जीवन-घट भरते हुए,
तुम्हें मदिरा के रूप में लाया ?
क्या तुम जानते हो (ऐ नन्हें-से फूल),
मैंने कैसे मृत्यु से बचा-छिपाकर तुमको
अपने छंदों में पिरोकर अमर कर दिया।
और फिर वही गुनगुनाहट···
मेरे मुन्ने के कपोलों पर
भूख की आंच से
जो हल्की सी लाली उभर आई,
उससे मैंने
तुम्हारी लालिमा में और लाली भर दी।
वे अश्रुकण··· ··छिपा
जिनको बरौनियों ने छिपा-छिपा कर
अपनी गोद में झुलाया,
उन्हीं से मैंने तुम्हारे लिए, शबनम का हार गूंथा।
मेरी घायल आकांक्षाओं से जो लहू टपका,
उन बूंदों में तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब मैंने झलकते देखा···

नादिम ने कश्मीरी साहित्य में गीतरूपकों (Opera) का समारम्भ किया। अब तक उन्होंने चार गीति-रूपक लिखे हैं, जिनमें 'बबूंर-यंबर्ज्वल' (भौंरा और नर्गिस), 'नेकी-बदी' तथा 'हीमाल-नागराय' रंग-मंच पर खेले भी जा चुके हैं। 'हीमाल-नागराय' की रचना में नूर मुहम्मद 'रोशन' ने उनका साथ दिया है।

इधर 'नादिम' की कविता में और भी गहनता और विलक्षणता आती जा रही है। 'नादिम' से कश्मीरी साहित्य को बड़ी आशाएं हैं।

इनके बाद प्रोफ़ेसर रहमान 'राही' का योगदान कश्मीरी काव्य का गौरव माना जा सकता है। उनकी कविता का एक संग्रह 'नौरोज़ सबा' प्रकाशित हो चुका है। आज तरुण कश्मीरी कवियों में 'राही' ने कश्मीरी ग़ज़ल को अर्थ-गाम्भीर्य और भाव-विलक्षणता से बहुत ऊपर उठाया है। कविवर 'बच्चन' द्वारा रूपान्तरित 'राही' की कविता का एक पद्य यहां प्रस्तुत है :

जंजीरों में बांध मुहब्बत को मत रक्खो नादानो;
भाईचारे में जो मीठापन है उसको पहचानो।
अभी जिन्दगी की पंखुरियां अगनित खुलने वाली हैं;
खिलने को हैं फूल अभी बहुतेरे इसको सच मानो।
बीती अभी बहार नहीं !
सोता है संसार नहीं !!

अमीन कामिल और नूर मुहम्मद 'रोशन' भी इस दौर के उल्लेखनीय कवि हैं। इनमें 'कामिल' ने ग़ज़लों और नज़्मों के अतिरिक्त 'राव रुपी' शीर्षक एक गीतिरूपक भी लिखा है। 'रोशन' का व्यंग्य और वर्णन सरल, स्पष्ट होते हुए भी इतना सबल और चुटीला है कि कहीं-कहीं वे अपने सहयोगियों को पीछे छोड़ जाते हैं। 'इश्क' 'शहीदस मॉजि हुंज सलाम' (बलबीर का माता को प्रणाम) शीर्षक कविताएं इनकी प्रतिभा की परिचायक हैं।

आधुनिक पीढ़ी के जो अनेक नवोदित कवि कश्मीरी साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं, उनमें मुजफ्फ़र आज़िम, चमनलाल चमन, मखनलाल बेकस, गुलाम नबी फ़िराक, गुलाम नबी 'ख्याल', मोतीलाल साक़ी, सर्वानन्द प्रेमी, सत्तार शाहिद, फारोक, नाजी मुनव्वर, शैदा आदि उल्लेखनीय हैं। प्रकृतिचित्रण के सफल कवियों में दीनानाथ वली 'अलमस्त' का नाम इसलिए अलग लिया है, क्योंकि वे जितने सफल चित्रकार हैं, उतनी ही सफलता से उन्होंने शब्द-चित्रण भी किया है, जिसमें भाव-गाम्भीर्य भी है।

कश्मीर से बाहर रहकर शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' भी काव्य-साधना करते हैं। कश्मीर के एक प्रमुख पत्र ने इनके बारे में लिखा है, 'हलीम एक सुलझे हुए कवि और अदीब हैं।'

यहां पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि कल्चरल फ्रंट, कल्चरल कांग्रेस या साहित्य की किसी सभा से सीधा सम्बन्ध न रखने वाले ऐसे अनेक कवि हैं, जिनकी साहित्यसाधना से कश्मीरी भाषा का साहित्य बराबर सम्पन्न हो रहा है। इसमें तसव्वुफ और प्रणय के गीतकार हैं, मसनवियां लिखने वाले हैं और नई धारा के अनुयायी भी हैं।

इस प्रकार कश्मीरी काव्य की सरिता कहीं पहाड़ी नदी की तरह गरजती हुई, तो कहीं शान्त गम्भीर नदी की तरह निरन्तर बढ़ती जा रही है।

कश्मीरी गद्य

शुरू में कहा जा चुका है कि गत साठ वर्षों में कश्मीरी साहित्य गद्य के आवश्यक अंग से सम्पन्न होने लगा है। इस सम्बन्ध में २०वीं शती के प्रथम चरण में जो प्रयास किया गया, वह ऊपर आ चुका है। १९३० के बाद स्वातन्त्र्य आंदोलन के दिनों में ही कश्मीरी गद्य की तीव्रता से कमी महसूस की जाने लगी। श्री प्रताप कालेज, श्रीनगर के 'प्रताप मैगजीन' ने कुछ समय से गद्य लिखने का क्रम चलाया, किन्तु उसका क्षेत्र छात्रों और प्राध्यापकों तक ही सीमित रहा। कुछ देर बाद 'जहांगीर' नामक पत्रिका श्रीनगर से प्रकाशित की गई, जो जल्दी ही बन्द हो गई। कविवर 'महजूर' ने 'गाश' नाम से कश्मीरी की पत्रिका निकाली, लेकिन चल नहीं सकी।

स्वतन्त्र रूप से कश्मीरी गद्य का विधिवत निर्माण १९४७ के बाद होने लगा जो 'कोंगपोश' में छपता रहा। इस क्षेत्र में भी 'नादिम' ने कहानियां लिखकर अगुवाई की। 'शीन प्यतो प्यतो' (बर्फ-बर्फ गिरती जा) उनकी बहुत ही सफल कहानी है। उनके साथ रोशन, अमीन कामिल, तेज बहादुर, बंसी निर्दोष, सोमनाथ जुत्शी और ताज बेगम ने

कश्मीरी में आधुनिक कहानियां लिखना शुरू कीं। अख्तर मुहीउद्दीन ने कश्मीरी क़हानियां, 'दर्यामि हुंद एजार' (सुर्ख शलवार) और 'दंद वजुन' (दाँता किल-किल) कहानियां लिखकर न केवल कश्मीरी, बल्कि भारतीय कहानीकारों को चौंका दिया, क्योंकि अभी कश्मीरी गद्य का आरम्भ ही हो रहा था कि 'अख्तर' एक छलांग लगाकर ऊंची कोटि के कहानीकारों में गिने जाने लगे। अब तक 'अख्तर' के दो कहानी-संग्रह 'सत संगर' और 'सोंजल' व एक लघु उपन्यास छप चुका है। १९५७ में साहित्य अकादमी ने 'अख्तर' के कहानी-संग्रह 'सत संगर' पर उन्हें ५००० रुपये का पुरस्कार दिया है।

इनके अतिरिक्त जिन और लेखकों ने कश्मीरी कहानियां लिखी हैं, उनमें अली मुहम्मद लोन, उमेश कौल, सूफी गुलाम मुहम्मद, दीपक कौल, हृदय कौल 'भारती', अवतारकृष्ण रहबर, गोपीकृष्ण कौल 'अर्जवेगी', शंकरनाथ और बालकृष्ण कौल के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास अब तक तीन प्रकाशित हो चुके हैं— १. 'दोद दग़' (अख्तर मुहीउद्दीन), २. 'गटि मंज़ गाश' (अमीन कामिल), ३. 'असि ति छि इंसान' (अली मुहम्मद लोन)।

नाटकों का आरम्भ १९३० के आसपास नंदलाल 'नन्हां' के नाटक 'सतचे कहवट' (सत्य की परख) से हो चुका था; किन्तु १९४७ के बाद नाटक-साहित्य को रेडियो के माध्यम से नई और व्यापक भूमिका मिली। जो अभी तक 'ग्रीस सुंद घरह' (प्रो० हाजिनी) का ही नाटक प्रकाशित हुआ है, किन्तु अली मोहम्मद लोन, सोमनाथ जुत्शी, सूफी गुलाम मुहम्मद और अमीन काफिल ने अब-तक कई और नाटक भी लिखे हैं जो रेडियो कश्मीर द्वारा प्रकाशित किये गए हैं। प्रसिद्ध नाटकों में 'विजिवाव' (सोमनाथ जुत्शी) और शर्य भट्ट (मोहिनी कौल) के नाटक गिनने योग्य हैं। पुष्कर भान ने प्रहसन (मज़ाहिया) नाटक लिखकर एक अंग का अभाव दूर किया है।

१९५३ के बाद कश्मीर के सूचना विभाग ने लालारुख प्रकाशन के अन्तर्गत कई लोककथाओं के संग्रह 'पोशि थर्य' (फूलों की बेल) के शीर्षक से प्रकाशित किए। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ने भी एक पुस्तक 'देश विदेश चि लूक कथ' छपवाई है।

बाल-साहित्य की कई पुस्तकें भी छप चुकी हैं। इनमें शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम' की रचना 'बाल-यार' को १९५९ की उस प्रतियोगिता में ५००) रु० का पुरस्कार दिया गया है, जो केन्द्रीय शिक्षा विभाग के आयोजन में हर साल की जाती है। इसके अलावा 'पोशिमाल' (सोमनाथ साधू) और 'मोख्तलर (नाजी मुनव्वर व अवतारकृष्ण 'रहबर') भी उपलब्ध हैं। 'गांधी जी का विद्यार्थी जीवन' कश्मीरी में अनुवादित एक बालोपयोगी पुस्तिका है, इसका अनुवाद विशम्भरनाथ कौल ने किया है।

निबन्ध और समीक्षा के क्षेत्र में पृथ्वीनाथ पुष्प, शमीम अहमद शमीम, यूसुफ़ टेंग, विशम्भरनाथ कौल के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें विशम्भरनाथ कौल ने 'महजूर' और 'आज़ाद' के काव्य की तुलनात्मक समीक्षा 'ज़ग तें प्रोन' (नीर क्षीर विवेक) में की है। यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है।

१९४७ के बाद स्वतन्त्र भारत के भाषा-परिवार में कश्मीरी को भी संविधान द्वारा १४ राष्ट्रीय भाषाओं में समानता मिली। तब से भाषा व साहित्य-विकास के हेतु जितने भी उपक्रम किये गए, उनमें कश्मीरी भी साथ रखी गई। आकाशवाणी, दिल्ली तथा रेडियो कश्मीर ने कश्मीरी साहित्य विशेषतः गद्य के विकास में श्लाघनीय योग दिया।

इधर जब से साहित्य अकादमी ने अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के विनिमय का काम शुरू किया है, कश्मीरी साहित्य का विकास-क्षेत्र तब से प्रशस्त हो गया है। अब संसार के क्लासिकी साहित्य का कश्मीरी में रूपांतर किया जाने लगा है। पहली बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की रचनाएं कश्मीरी में अनूदित की जा रही हैं।

इस दिशा में कश्मीर की कल्चरल अकादेमी की स्थापना निस्सन्देह एक बड़ा भारी कार्य है, जिससे कश्मीरी साहित्य को बड़ी आशाएं हैं।

कुछ स्वतन्त्र संस्थाएं भी कश्मीरी साहित्य-संवर्द्धन के उद्देश्य से काम कर रही हैं, जिनमें दिल्ली की 'कश्मीरी बज़्मे अदब' का नाम उल्लेखनीय है। इसके तत्त्वावधान में 'पम्पोश' (द्वैमासिक) पत्रिका प्रकाशित होती है।

इस समय कश्मीर सरकार की 'तामीर' (उर्दू) और 'योजना' (हिन्दी) के अतिरिक्त 'पंपोश' ही एक पत्रिका है, जो कश्मीरी रचनाएं छापती है। यह कमी खटकने वाली है कि कश्मीरी भाषा का अभी तक कोई दैनिक या साप्ताहिक पत्र नहीं है। श्रीनगर की पत्रिकाएं 'कुंगपोष' और 'गुलरेज' कभी की बन्द हो चुकी हैं।

कश्मीरी साहित्य की एक बड़ी समस्या 'लिपि' रही है। इसकी पुरानी लिपि 'शारदा' अब उपयोग में नहीं लाई जाती। फारसी लिपि में ही कश्मीरी का अधिकांश साहित्य उपलब्ध है, हालांकि देवनागरी लिपि भी कहीं-कहीं बरती गई और बरती जा रही है। कश्मीरी भाषा में अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक ध्वनियां हैं, जो न फारसी और नाही देवनागरी लिपि में हैं, इसलिए यह एक समस्या है कि उनको किस प्रकार व्यक्त किया जा सके। इससे साहित्य-सृजन, साहित्य-प्रकाशन व प्रचार में रुकावट होती रही है; मगर अब इसे भी सुलझाया जा रहा है। इस समय फारसी लिपि में ही कुछ चिह्न बढ़ाकर इस अभाव की पूर्त्ति की गई है।

जिस गति से कश्मीरी साहित्य इस समय बढ़ रहा है, उसे देखते हुए इसका भविष्य उज्ज्वल और आशा-मय है।



गुजराती साहित्य का परिचय

(सन १९०० से १९६० तक)

श्री के० का० शास्त्री

सन १९०० के पूर्व गुजराती साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास हो चुका था। काव्य-क्षेत्र में कविवर दलपतराम डाह्याभाई ने प्राचीन कल्प लोकरंजनी पद्धति में रचना की थी और नई पद्धति में नर्मदाशंकर ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। अन्य कई कवियों ने भी अपनी साहित्यिक सेवाओं से गुजराती साहित्य की श्रीवृद्धि की। सन १८५७ के स्वातंत्र्य युद्ध के बाद बम्बई में यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। श्री नर्मदाशंकर ने थोड़ी बहुत शिक्षा पाकर यूरोपीय साहित्य से सम्पर्क स्थापित किया और पश्चिमी विचारधारा को गुजराती साहित्य में बहाने का कार्य किया। नरसिंह राव दीवेटिया ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए और उन्होंने यूरोपीय पद्धति के प्रकृति कव्यों की शैली पर स्वतन्त्र कविताएं लिखने का कार्य आरम्भ किया। उनकी ऐसी कविताओं का संग्रह 'कुसुम माला' में देखने को मिलता है। इसी समय गुजराती में उर्दू की शायरी-पद्धति पर रचनाएं करने का श्रीगणेश भी हुआ। कवि 'बाल' मणिलाल नभुभाई, देरासरी, कलापी, सागर आदि सुकवियों ने ग़ज़ल की परम्परा में सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत कीं।

पश्चिमी शैली के उपन्यासों का सूत्रपात भी इसी काल में हुआ। नन्दशंकर का—'करण घेलो' और महिपतराम का 'वनराज चावडो' प्रारम्भकालीन ऐतिहासिक उपन्यास के सुन्दर नमूने हैं। सन १९०० ई० तक इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हुई थी और इस प्रकार के उपन्यासों की रचनाएं हो चुकी थीं। सामाजिक उपन्यासों के लिखने में नारायण हेमचन्द्र ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। बम्बई से प्रकाशित होने वाले गुजराती के साप्ताहिक पत्र 'गुजराती' में उस काल के कई लेखकों ने कथा-स्तम्भ के अन्तर्गत सामाजिक उपन्यास लिखने का कार्य बड़े मनोयोग से आरम्भ कर दिया था। इस पत्र ने वार्षिक अंकों के रूपों में ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित करने का संकल्प कर लिया था। इस प्रकार साप्ताहिक पत्र 'गुजराती ने दोनों प्रकार के उपन्यासों की भरमार कर दी। स्व० गोवर्धनराम का प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' चार भागों में इसी समय प्रकाशित हुआ। इसका स्थान गुजराती उपन्यास के क्षेत्र में पुराणों के समान है, जिसका चित्रण 'सरस्वती चन्द्र' में किसी-न-किसी रूप में न हुआ हो।

नाटक के क्षेत्र में सन १९०० के पहले से ही रचनाएं की जा रही थीं। इस दिशा में दलपतराम और नर्मदाशंकर ने प्रारम्भिक रचनाएं की थीं। उसके पश्चात श्री नवलराम ने 'वीरमती' नामक ऐतिहासिक नाटक लिखा। श्री रणछोड़भाई उदैराम तथा मणिलाल नभुभाई ने सामाजिक नाटक लिखे। वैतनिक कलाकारों ने रंगभूमि की शोभा बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उस समय गुजरात के सिद्धहस्त अभिनेताओं द्वारा गुजराती लेखकों के समृद्ध नाटकों का अभिनय होने लगा।

निबन्ध, समालोचना, इतिहास-संशोधन तथा व्याकरण आदि के क्षेत्रों में भी गुजरात में पर्याप्त रूप से उल्लेखनीय कार्य आरम्भ हो चुका था। प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य-साहित्य के प्रकाशन का कार्य प्रचुर परिमाण में हुआ। इन पृथक-पृथक विषयों में डा० भगवानलाल इन्द्रजी और उनके सहयोगी आचार्य वल्लभजी हरिदत्त पुरातत्त्व संशोधन के क्षेत्र में सारे भारत में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इसी काल में दलपतराम, नर्मदाशंकर, नवलराम

इच्छाराम देसाई, हरगोविन्ददास कांटावाला आदि विद्वानों ने साहित्य-संशोधन का कार्य शुरू कर दिया था। नर्मदाशंकर, नवलराम, नरसिंहराव दीवेटिया, रमणभाई नीलकंठ, आनन्दशंकर ध्रुव, मणिभाई नभुभाई, कमलाशंकर त्रिवेदी आदि ने इस काल में निबन्ध-लेखन, व्याकरण-संशोधन आदि क्षेत्रों में काफी कार्य किया है। साथ ही इन साठ वर्षों में अग्रगण्य नवयुवक साहित्यकारों, कवियों और संशोधकों आदि ने भी अपना योगदान दिया है।

सन १९०० में कवि 'कलापी' का देहावसान छब्बीस वर्ष की युवावस्था में हुआ। फिर भी उनके मित्र-मंडल के जगमगाते नक्षत्र श्री मणिशंकर 'कान्त', प्रो० बलवंतराय ठाकोर, मणिलाल नभुभाई, सागर, ललित आदि की साहित्य-सेवा का प्रवाह अविरत गति से प्रवाहित होता रहा। कवि नानालाल, अरदेशर 'खबरदार', बोटादकर आदि कवियों ने अपनी काव्य-समृद्धि द्वारा बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी को गौरवशाली बनाया।

इस प्रथम दशाब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि गुजराती साहित्यकारों ने महान उपन्यासकार श्री गोवर्धनराम त्रिपाठी की अध्यक्षता में सन १९०२ में गुजराती साहित्य परिषद की स्थापना की। उसी समय अहमदाबाद में रणजितराय वा० महेता (श्री अशोक महेता के पिता) ने 'गुजरात साहित्य सभा' की स्थापना की। यहां से प्रतिवर्ष साहित्यकारों के मेले का विशिष्ट आयोजन होता रहा। मासिक पत्रों का प्रकाशन सन १८५२ से आरम्भ हो गया था। अहमदाबाद की गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी (आधुनिक गुजरात विधान सभा) की ओर से 'बुद्धिप्रकाश' प्रकाशित होता था और अहमदाबाद के 'प्रेमचन्द रायचन्द अध्यापन मन्दिर' की ओर से 'शाला पत्र' का प्रकाशन होता था। इस क्षेत्र में मणिभाई नभुभाई का मासिक पत्र 'सुदर्शन' प्रौढ़ साहित्यकारों के निबन्धों के प्रकाशन का केन्द्र बन गया। आनन्दशंकर ध्रुव की ओर से 'वसंत' मासिक पत्र का प्रकाशन भी इसी दशाब्दी में हुआ। इस क्षेत्र में 'समालोचक' की सेवा भी स्तुत्य है। इस प्रकार चारों ओर से साहित्य की विभिन्न शाखाओं का निर्माण सामयिक पत्रों एवं स्वतन्त्र ग्रंथों में मूर्त होने लगा।

इस काल की काव्योपासना में कवि-सम्राट नानालाल दलपतराम (१८७७–१९४६) गुजराती ज्योतिर्धरों में एक असामान्य नक्षत्र बन गए। इनको अंग्रेजी साहित्य का अच्छा ज्ञान था। फिर भी भारतीयता के रंग से रँगे हुए थे। आज तक इनका स्थान अपने ढंग का अकेला है। जिन्होंने मुक्त छन्द शैली की नींव डाली और अनेक कवियों ने उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया, किन्तु किसी को भी सफलता न मिली। इनका प्रथम काव्य-संग्रह 'केटलांक काव्यो' भाग १ के नाम से सन १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात 'वसंतोत्सव', 'केटलांक काव्यो' भाग २, 'नाना नाना रास' भाग १, 'चित्र दर्शन', 'गीत मंजरी', 'नाना नाना रास' भाग २, उत्तरोत्तर प्रकाशित होते रहे। इनकी रचनाओं में उत्तम प्रकार से भावगीतों के श्रेष्ठ नमूने देखने को मिल जाते हैं। इन्हीं के हाथों रास-काव्य में नये प्रयोग (प्राचीन, मध्यकालीन गेय तथा नृत्यक्षम पदों एवं लोक-नृत्य के ढांचे पर) आरम्भ हुए। उसकी समृद्धि आज भी हो रही है। इन्होंने अपनी अभीष्ट मुक्त छन्द शैली में अनेक नाटकों की रचना की। यद्यपि यह नाटक रंगभूमि के काम के न थे, किन्तु साहित्य की मूल्यवान निधि बन गए हैं।

नानालालजी इतिहास के भी अच्छे ज्ञाता थे, इसीलिए समय-समय पर दिए गये उनके व्याख्यान ऐतिहासिक सामग्री से भरपूर रहे हैं। उन्होंने अंतिम महान ग्रंथ 'हरिसंहिता' लिखकर भारतीय तत्त्वज्ञान को निचोड़ दिया है। यह ग्रंथ गत वर्ष प्रकाशित हो चुका है।

पारसी जाति के भूषण तथा समस्त गुजरातियों के प्रिय कवि अरदेशर फरामजी 'खबरदार' (१८८१ से १९००) का स्थान दूसरा है। उनका प्रथम काव्य-संग्रह 'काव्यरसिका' सन १९०१ में प्रकाशित हुआ। कवि नानालाल ने यूरोपीय 'फ्लैंक वर्स' को लक्ष्य में रखकर मुक्त छन्द की शैली दी तो खबरदार ने कवित्त-रचना भी इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर की—'विलासिका', 'प्रकाशिका', 'संदेशिका', 'कलिका', 'भजनिका', 'रासचन्द्रिका', 'दर्शनिका', 'भारत नो टंकार' एवं 'प्रभातनो तपस्वी' इनकी समृद्ध प्रकाशित रचनाएं हैं। इन ग्रंथों में उनकी गेय कविताओं का भी पर्याप्त मात्रा में दर्शन होता है। ये दोनों कवि आगम साहित्य के मर्मज्ञ थे।

मणिशंकर 'कान्त' और प्रो० बलवन्तराय ठाकोर 'सैहेनी' (१८६९) भी बड़े मर्मज्ञ कवियों में थे। कान्त

ने सन १६०० के पूर्व से ही वर्णवृत्त में गुजराती कविता का प्रवाह सुन्दर ढंग से बहाया था। उसी को प्रा० ठाकोर ने लगातार चार दशाब्दियों तक नये-नये प्रयोगों द्वारा अजीव ढंग से प्रभावित किया। यह इतिहास के एक समर्थ विद्वान थे। संस्कृत तथा आंग्ल समालोचना साहित्य के भी परम ज्ञाता थे। इन दोनों क्षेत्रों में इनकी सेवा सदा स्मरणीय रहेगी। फिर कविता में इन्होंने नये युग को जन्म दिया। नानालाल और 'खबरदार' का अनुकरण उनके समय में और उनके बाद भी चल न सका। कुछ इधर-उधर के प्रयत्न हुए, किन्तु टिक न पाए। किन्तु प्रा० ठाकोर ने विचार-प्रधान तथा अर्थवाही कविता का प्रयोग आरम्भ किया। उसके साथ ही उन्होंने गुजराती में 'सॉनेट' का प्रयोग भी किया। आज तक यह पद्धति अविरत गति से आगे बढ़ रही है। इसी से उनका महत्त्व और भी बढ़ गया है। उनका यह काव्य-प्रवाह लगातार तीस वर्षों तक बहता रहा। स्व० रामनारायण विश्वनाथ पाठक तथा अन्य तरुण कवियों ने मुख्यतः इसी मार्ग को अपनाया। 'सुन्दरम्', 'स्नेह-रश्मि', 'बादरायण', 'श्रीधराणी', करसनदास माणेक, मनसुखलाल, पुजालाल, राजेन्द्र आदि कवियों ने इसी प्रकार की कविता का प्रवाह बहाया। इन चार दशाब्दियों को यदि हम 'बलवंतराय युग' कहकर पुकारें तो अधिक उपयुक्त माना जायगा।

इन साठ वर्षों में काफी प्रमाण में गेय कविता भी लिखी गई। कवि बोटादकर, ललितजी एवं अन्य तरुण कवियों ने इसी प्रकार की कविताएं प्रचुर मात्रा में लिखीं। अनेक कवियों ने गेय रास-रचना भी की। उनमें सव० केशव ह० सेठ तथा मूलजी भाई शाह की रास-रचनाएं अत्यधिक समादृत हुईं।

गुजराती में आजकल दो प्रकार का काव्यप्रवाह चल रहा है:

(१) भारतीय तथा यूरोपीय पद्धति की विचारप्रधान कविता, और

(२) ग़ज़ल पद्धति की कविता।

दूसरी पद्धति की रचनाएं कवि-सम्मेलनों में अधिक प्रचलित हैं, जिसका उद्देश्य लोक-रंजन है। यह पद्धति १६०० के पूर्व भी विकसित हो चुकी थी। स्व० अमृतकेशव नायक, स्व० सागर, स्व० नारायण विशनजी ठक्कुर ने इस पद्धति पर पर्याप्त मात्रा में अच्छी रचनाएं की थीं। उन रचनाओं में लोकरंजन की मात्रा कम थी, इसीलिए संग्राह्य बन सकीं। आज-कल की इस पद्धति पर लिखी गई अनेक तरुण कवियों की रचनाएं इसीलिए संग्राह्य नहीं बन पातीं कि उनमें लोकरंजक तत्त्व सर्वाधिक होता है। यद्यपि 'शयदा' और 'बेकार' आदि कवियों की रचनाएं इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। मार्ग-दर्शन के अभाव में यह पद्धति अधिक व्यापक नहीं बन सकी।

गुजरात के उच्च कोटि के कवियों का भी इस क्षेत्र में आदर नहीं हुआ है। यदि ग़ज़लों का यथेष्ट आदर हो तो सन १६०० के पूर्व जो ग़ज़लें लिखी गई थीं उनके समान आज भी ग़ज़लों की रचना असंभव नहीं होगी। आज के प्रायः सभी कवि संस्कृत और अंग्रेजी भाषा साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं।

हम यहां पर राष्ट्रीय आंदोलन को स्मरण किये बिना भी रह नहीं सकते। गुजराती के राष्ट्र-शायर स्व० झवेरचंद मेघाणी इस आन्दोलन की संतान हैं, यह कहना अत्युक्ति नहीं माना जायगा। राष्ट्र-भावना से युक्त कविताएं तरुण कवियों के द्वारा भी लिखी गई हैं, किन्तु उनके मूलस्रोत मेघाणीजी ही कहे जाएंगे, जिन्होंने साहित्य के अन्य क्षेत्रों में भी स्मरणीय सेवाएं की हैं।

उपन्यास

इन साठ वर्षों में ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास पर्याप्त समृद्ध बने। बम्बई के 'गुजराती' पत्र ने वार्षिक अंक के रूप में उपन्यासों की भेंट देने की प्रणाली स्थापित की थी। उसे अहमदाबाद के साप्ताहिक पत्र 'प्रजाबन्धु' एवं 'गुजराती पंच' ने जारी रखा। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्व० अमृत केशव नायक, स्व० ठक्कुर, नारायण विशन् जी, कन्हैयालाल मुंशी, चुनीलाल वर्धमान शाह प्रभृति उच्चकोटि के उपन्यासकार अस्तित्व में आये। सन १६१४ में मुंशीजी ने 'घनश्याम' के उपनाम से 'पाटणनी प्रभुता' लिखी। 'बीसवीं सदी' समाचारपत्र ने प्रतिमास उपन्यास-प्रकरणों को प्रकाशित करने की प्रणाली का समादर किया। उसी के फलस्वरूप मुंशीजी के 'गुजरातनो नाथ' तथा 'राजाधिराज' दो उच्चकोटि के उपन्यास प्रकाशित हुए।

अन्तिम दो दशाब्दियों में दैनिक समाचारपत्रों ने भी प्रति सप्ताह उपन्यास-प्रकरणों को छापना आरम्भ किया। इस प्रणाली ने स्व० झवेरचंद मेघाणी, गुणवंतराय आचार्य, पन्नलाल पटेल, गुलाबदास ब्रोकर, चुन्नीलाल मडिया, दर्शक, पीताम्बर पटेल, पुष्कर चंदरवाकर, पेटलीकर आदि उपन्यासकारों को साहित्य-सेवा करने का अवकाश दिया।

कुछ लेखकों ने इस काल में स्वतंत्र रूप से भी उपन्यास लिखने का कार्य आरम्भ किया। गुजराती में छोटी-छोटी कहानियां लिखने का श्रेय श्री 'धूमकेतु' तथा स्व० रामलाल व० देसाई को है। इन दोनों ने ऐतिहासिक एवं सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, जो खूब समादृत हुए हैं।

हम बड़े गौरवपूर्वक कह सकते हैं कि बंगला एवं मराठी भाषा के पश्चात गुजराती भाषा के उपन्यास ही आते हैं। गुजराती उपन्यासों में अधिकतर प्रौढत्व दिखाई देने का एकमात्र कारण यह है कि उपन्यासकारों का प्रगाढ़ सम्बन्ध संस्कृत एवं आंग्ल साहित्य से रहा है। गुजराती में बंगला-उपन्यासों का अनुवाद भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यहां शरतबाबू जैसे उपन्यासकारों की रचनाएं आत्मसात हो गई हैं।

आज के गुजराती उपन्यासों का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है ग्रामीण समाज का चित्रण। पहले यहां सामाजिक उपन्यासों में शहर के समाज का चित्रण हुआ करता था। आज पन्नालाल पटेल, ईश्वर पेटलीकर, चुन्नीलाल मडिया, पुष्कर चंदरवाकर आदि लेखकों की रचनाओं पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि वहां ग्रामीण समाज का अविकल चित्र मिलेगा।

कहानी

कहानी-क्षेत्र के मूल विकास का श्रेय भी समाचार-पत्रों के सिर पर जाता है। इस प्रवाह का आरम्भ श्री 'धूमकेतु' तथा स्व० रामनारायण पाठक 'द्विरेफ' ने किया था। आज यह अत्यन्त लोकप्रिय और प्रचलित बन चुका है। पहले स्व० नारायण वि० ठक्कर ने कुछ ऐतिहासिक कहानियां लिखी थीं। किन्तु वे प्रायः छोटे उपन्यासों की तरह बड़ी थीं। श्री 'धूमकेतु' ने यूरोपीय पद्धति का अनुकरण किया। अतः हम उन्हें यदि छोटी कहानियों का जनक कहें तो सर्वथा उचित होगा।

श्री कन्हैयालाल मुंशी, स्व० रमणलाल व० देसाई, श्री गुणवन्तराय आचार्य, तरुण कवियों में सुन्दरम्, स्नेहरश्मि, उमाशंकर जोशी, तरुण उपन्यासकारों में श्री चुन्नीलाल मडिया, ईश्वर पेटलीकर, पीताम्बर पटेल, पुष्कर चंदरवाकर ने छोटी कहानियां लिखकर इस साहित्य को समृद्ध बनाने में योग दिया है और इसे प्रशस्त बनाया है।

नाटक

गुजराती रंगभूमि का इतिहास यशस्वी है। इसका मुख्य विकास-केन्द्र बम्बई था। पारसी और गुजराती लेखकों ने समय-समय पर अनेक नाटक लिखे, जो आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सन १९०० के पूर्व ही स्व० रणछोड़भाई उदयराम, मणिलाल दमुभाई, डाह्याभाई घोलशा जी, कवि नथुराम सुन्दर जी, नाथाशंकर शास्त्री आदि ने अनेक नाटक लिखे। यह प्रवाह विगत साठ वर्षों में भी प्रवाहित हुआ। इधर के नाटक-लेखकों में स्व० नारायण विसन जी ठक्कुर, श्री कन्हैयालाल मुंशी, स्व० श्री रमणलाल व० देसाई, नृसिह विभाकर की परम्परा में प्रभुलाल ब्रह्म-भट्ट, परमानन्द त्रापजकर आदि लेखकों ने अपने नाटक लिखे हैं। हां, नाटकों के प्रकाशन का काम बहुत कम हुआ है। जिसका मूल कारण यह था कि नाटकों के प्रकाशन का सर्वाधिकार नाटक कम्पनियों के हाथ में सुरक्षित था। सैंकड़ों नाटक लिखे गए थे। फिर भी उनमें से श्री मुंशी जी तथा स्व० रमणलाल देसाई जैसे स्वतन्त्र लेखकों के नाटक ही प्रकाशित हो सके। गुजराती नाटकों का स्थान सदा से विशिष्ट रहा है। उनमें स्वर्गीय बापूलाल नायक तथा वर्तमान जयशंकर सुन्दरी भारत-विख्यात हैं।

इस नये युग में अवैतनिक रंगभूमि का विकास बड़े जोर-शोर से हुआ है। इस रंगभूमि पर अभिनीत होने के लिए अनेक छोटे-मोटे नाटकों की रचना हो रही है। इसी युग में एकांकियों की रचना का प्रचलन भी हुआ। स्व० बटुभाई लालभाई उमरवाडिया (सं० १८९९ से १९५५) ने 'मत्स्यगंधा और गांगेय', 'मालादेवी और अन्य नाटकों' शीर्षक से दो एकांका-संग्रह सर्वप्रथम प्रकाशित कराए। इसके बाद इस प्रवृत्ति की ओर तरुण लेखकों का भी ध्यान खिंचा।

श्री जयन्ती दलाल, चन्द्रवदन मेहता, उमाशंकर जोशी, चुन्नीलाल मडिया, पुष्कर चंदरवाकर, के० का० शास्त्री आदि अनेक लेखकों ने काफी संख्या में एकांकी और लघु नाटिकाओं से गुजराती साहित्य को समृद्ध बनाया है। विद्यालय-महाविद्यालयों में वार्षिक समारोहों के अवसर पर बहुत-से एकांकी और छोटे नाटक रंगभूमि पर आया करते हैं। ये रचनाएं अवैतनिक कलाकारों द्वारा स्वतन्त्र रूप से भी समय-समय पर अभिनीत होती है।

हास्य-साहित्य

इस साहित्य का आरम्भ स्व० महीपतराम नीलकण्ठ तथा नवलराम पंड्या की ओर से आज से साठ वर्ष पूर्व ही हो चुका था। इस परम्परा में स्व० रमणलाल नीलकण्ठ ने 'भद्रंभद्र' जैसा हास्यपूर्ण उपन्यास लिखकर सबको चकित कर दिया। इधर के साठ वर्षों में श्री ज्योतीन्द्र दवे, 'मस्तफकीर', 'ओलिया जोशी', 'दोलिया देव', श्री धनसुखलाल महेता आदि लेखकों ने इस साहित्य को अपनी बहुमूल्य सेवाओं से समृद्ध बनाया है। यह परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है।

लोक-साहित्य

यद्यपि गुजराती का लोक-साहित्य एक अमूल्य निधि है, फिर भी इसका लिखित स्वरूप प्रायः दुर्लभ हो चुका था। यह साहित्य सैकड़ों वर्षो से देहातों में निवास करने वाले लोगो के मुखकण्ठ में दोहा-सोरठा के रूप में चला आ रहा है। सर्वप्रथम साप्ताहिक पत्र 'गुजराती' के वार्षिक अंकों में ऐसे साहित्य को गद्य-पद्यमय कहानियों के रूप में स्थान मिला। सर्वप्रथम पोरबन्दर के निवासी स्व० जगजीत कालिदास ने इस विषय पर अनुसन्धान किया। इसके पश्चात जिन अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओं का ध्यान भी इधर गया उनमें स्व० झवेरचन्द मेघाणी एवं स्व० गोकुलदास रायचुरा का नाम परम आदरणीय है। अनुसन्धानकर्त्ताओं ने इस साहित्य को चारणों-भाटों तथा देहातवासियों से बड़े परिश्रमपूर्वक एकत्र किया। इनके कई संग्रह प्रकाशित हुए। साथ ही बहुत-सी प्रचलित कहानियां भी प्रकाशित हुई। स्व० मेघाणी की 'सौराष्ट्रनी रसधार' के छह भाग तथा 'सोरठी बाहरवटिया' के तीन भाग इसी प्रवृत्ति के उत्तमोत्तम उदाहरण कहे जा सकते है।

तत्पश्चात सामाजिक प्रसंगों तथा उत्सवों पर गाये जाने वाले गीतों, रासों, मरसियों तथा अलग-अलग जातियों में प्रचलित इस प्रकार के साहित्यों का अनुसन्धान हुआ। भीलों के गीत, पठारों के गीत आदि भी प्रकाशित हुए। आज लोक-साहित्य भी साहित्य का एक अंग बन चुका है। प्रो० पुष्कर चंदरवाकर जैसे विद्वानों ने इस साहित्य में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं।

निबन्ध और समालोचना

आज से सौ साल पूर्व 'बुद्धिप्रकाश' और 'शालापत्र' का प्रकाशन आरंभ हो गया था। तभी से स्वतन्त्र निबन्ध-लेखन कार्य भी आरंभ हुआ। यूनिवर्सिटी की स्थापना ने इस साहित्य को अत्यधिक वेग प्रदान किया, इसकी अविरत वृद्धि होने लगी। अनेक विषयों पर छोटे-मोटे निबन्ध लिखे जाने लगे थे, किन्तु इस क्षेत्र को कवि दलपतराम, नर्मदाशंकर, नवलराम आदि के द्वारा एक विशिष्ट गौरव मिला। 'नर्मदे गद्य' और 'नवलराम ग्रंथावली' साठ वर्ष से पूर्व के समृद्ध निबंध-संग्रह हैं।

धीरे-धीरे साहित्य के विभिन्न अंगों को लेकर विवेचनात्मक निबन्धसाहित्य के विकास का आरंभ हुआ। स्व० नरसिंहराव दीवेटिया, कमलाशंकर त्रिवेदी, रमणभाई नीलकंठ, मणिभाई नभुभाई, रणजीतराय वावाभाई, आनंदशंकर ध्रुव आदि विद्वानों ने विवेचन साहित्य को गौरवमय स्थान दिलाया। गत साठ वर्षों में इस साहित्य को समृद्ध बनाने में रमणभाई, रणजीतराय तथा आनंदशंकर ध्रुव की सेवाएं सदा स्मरणीय बनी रहेंगी। रमणभाई के—'कविता और साहित्य' तथा 'धर्म और समाज' के चार-चार संग्रह 'रणजीतराम ना निबंधो', आनंदशंकर ध्रुव के 'आपणो धर्म', 'काव्य तत्त्व विचार', 'साहित्य विचार', 'दिग्दर्शन' 'विचार माधुरी' आदि संग्रह, नरसिंहराव दीवेटिया के 'मनोमुकुर' के चार ग्रंथ, केशवलाल ध्रुव के 'साहित्य और विवेचन' के दो भागों ने इस साहित्य को समृद्ध बनाया है।

अभिनव विवेचकों में प्रा० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, स्व० नवलराम त्रिवेदी, प्रा० डालरराय मांकड, मनसुखलाल झवेरी, अनंतराय रावल, भोगीलाल सांडेसरा, के० का० शास्त्री आदि विद्वानों की सेवाएं अनेक संग्रह-ग्रंथों में प्रसिद्धि पा चुकी हैं। सामयिक पत्रों एवं दीवाली-अंकों में भी विवेचन साहित्य अविरत चालू है। वर्षभर में प्रकाशित होने वाले ग्रंथों की समीक्षा का कार्य भी होता रहता है। अहमदावाद की गुजरात साहित्य सभा की ओर से प्रतिवर्ष ऐसी समालोचना ग्रंथ-रूप में गत ३० वर्षो से आ रही है। संस्कृत एवं आंग्ल साहित्य के विशिष्ट परिचय के कारण गुजराती विवेचन की कक्षा हमेशा ऊंची रही है।

गांधी-युग की सेवा

महात्मा गांधी ने जब से साप्ताहिक 'नवजीवन' का प्रकाशन आरंभ किया तब से गुजराती में एक विशिष्ट प्रकार की सरल, निराडम्बर गद्य-शैली का विकास हुआ। गांधीजी, काका कालेलकर, स्व० किशोरलाल मशरूवाला, स्व० नरहरिभाई परीख, स्व० महादेवभाई देसाई, श्री मगनभाई देसाई प्रभृति लेखकों ने गुजराती के निबन्ध-साहित्य को अधिक परिपोषित किया है। गत ४० वर्षों से नवजीवन लेखक मंडल की सेवा अविरत चालू है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का लाभ 'नवजीवन प्रकाशनगृह' से हुआ है। गांधी-युग के प्रभाव से आज भाषा का कृत्रिम शब्दाडम्बर विलुप्त होता जा रहा है और घरेलू भाषा की प्रतिष्ठा गद्य एवं पद्य में उपभोग्य होती जा रही है।

सन १८४० से यहां समाचारपत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ। गत साठ वर्षो से दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक समाचारपत्रों का अच्छा विकास हुआ है। समाचारपत्रों ने गुजराती साहित्य के विविध अंगों को विवृद्ध करने में प्रोत्साहन दिया है। गांधी-युग के कारण गुजराती भाषा में सर्वभोग्यता और विचारों में व्यापकता आ गई है।

प्राचीन साहित्य का प्रकाशन तथा भाषाशास्त्रीय संशोधन

जब से लिथोग्राफी-मुद्रण कार्य प्रचलित हुआ था तभी से गुजराती कविता साहित्य का प्रकाशन आरंभ हो गया था। सर्वप्रथम स्व० कवि नर्मदाशंकर तथा नवलराम पंड्या की पुस्तकों का, शास्त्रीयता का कुछ ध्यान रखते हुए प्रकाशन हुआ। कवि दलपतराम, इच्छाराम सूर्यराम देसाई, महीपतराम नीलकंठ, हरिगोविन्ददास कांटावाला, छगनलाल विद्याराम रावल आदि विद्वानों ने शास्त्रीयता का अधिक ध्यान रखते हुए भी कई ग्रंथों का सम्पादन किया है। शास्त्रीयता की ठीक-ठीक रक्षा तो गत साठ वर्षो में ही हुई है। स्व० केशव ह० ध्रुव तथा अंबालाल बुलाखीदास जैसे विद्वानों ने भाषा के प्राचीन तथा मध्यकालीन स्वरूप का ध्यान रखते हुए सम्पादन-कार्य आरंभ किया। इसके बाद डॉ० मंजुलाल मजूमदार, स्व० शंकरप्रसाद रावल, स्व० रामलाल मोदी तथा वर्तमान समय में के० का० शास्त्री, मधुसूदन मोदी, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा, कान्तिलाल व्यास, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी आदि विद्वानों ने शास्त्र-सम्मत व्याख्याएं देने का आरंभ किया। इसी के फलस्वरूप आज अच्छे-अच्छे प्राचीन और मध्यकालीन गद्य-पद्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उनसे भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने में सरलता प्राप्त हुई है।

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से व्युत्पत्ति का कार्य सर्वप्रथम स्व० व्रजलाल शास्त्री ने किया था। उसी का अनुसरण स्व० नरसिंहराव दीवेटिया ने किया। गत साठ वर्षो में स्व० केशव ह० ध्रुव के बाद आजकल श्री के० का० शास्त्री, डॉ० त्र्यंबकलाल दवे, मधुसूदन मोदी, डॉ० हरिवल्लभ भायाणी, डॉ० प्रबोध पंडित, डॉ० भोगीलाल सांडेसरा प्रभृति विद्वानों ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

बम्बई यूनिवर्सिटी की ओर से स्व० नरसिंहराव दीवेटिया का 'विल्सन भाषाशास्त्रीय व्याख्यानमाला' में 'भाषा अने साहित्य' तथा 'ठाकुर वसनजी मावजी व्याख्यानमाला' में डॉ० भोगीलाल सांडेसरा का 'शब्द अने अर्थ' एवं के० का० शास्त्री की 'रूपरचना' भाषाशास्त्र के गंभीर तथा अनुशीलनपूर्ण ग्रंथ हैं। इसके पश्चात डॉ० त्र्यंबकलाल दवे का अंग्रेजी में प्रकाशित 'सोलहवीं शताब्दी' की गुजराती भाषा, पं० वेचरदास दोषी का बम्बई यूनिवर्सिटी में दिया गया

व्याख्यान 'गुजराती भाषा की उत्क्रान्ति', डॉ० हरिवल्लभ भायाणी का 'वाग्विकास', के० का० शास्त्री का 'गुजर
वाग्विकास' आदि ग्रंथ स्वतंत्र रूप से इस क्षेत्र के जगमगाते नक्षत्र है।

गुजराती साहित्य के इतिहास के भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। स्व० कृष्णलाल मो० झवेर
'गुजराती साहित्यना मार्गसूचक स्तम्भो' गुजराती और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखा है। स्व० नरसिंहराव द
टिया ने 'भाषा और साहित्य' पर जो पिछले तीन व्याख्यान दिए, वे भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। श्री कन्हैयालाल म
का 'गुजरात एवं उसका साहित्य', श्री विजयराम वैद्य का 'गुजराती साहित्य की रूपरेखा', श्री के० का० शास्त्री
'आपण कविओ', 'कवि चरित' और 'गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन', श्री अनंतराय का 'मध्यकालीन साहित्य का इ
हास' ग्रंथ और कई अन्य लेखकों की इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों का इस क्षेत्र में अच्छा महत्त्व है।

स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई के 'जैन गुर्जर कविओ' ग्रन्थ का नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

पुरातत्त्व-इतिहास आदि का संशोधन

इस विषय पर सर्वप्रथम किन्लोक ए० फार्ब्स और डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने अपनी लेखनी उठा
फार्ब्स ने 'रासमाला' में ऐतिहासिक कथाओं को संकलित किया। डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने गिरिनार की चट्टान
खुदे हुए अशोक के धर्मोपदेशों का अन्तिम शुद्ध वाचन करके संसार में ख्याति प्राप्त की और विदेशों से 'डाक्टर'
उपाधि की पात्रता प्राप्त की। उन्होंने गुजरात के प्राचीन इतिहास का भी संशोधन किया और 'बोम्बे गजैटियर' के ग्रं
का महत्त्वपूर्ण सम्पादन किया। इन साठ वर्षों में यह कार्य और भी सुन्दर ढंग से हुआ है। स्व० दुर्गाशंकर शास्त्री, स्व
रत्नमणि भीमराव, वर्तमान समय में मुनिश्री जिनविजयजी, प्रा० रसिकलाल परीख, डॉ० हसमुख सांकलिया, त
प्रा० फोमिसेरियत की महान सेवाओं का गुजरात ऋणी रहेगा। तरुण लेखकों में डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री ने वल्लभी
के मैत्रकों के विषय में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। वे इस समय 'क्षत्रपों के इतिहास' का अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं।

स्थापत्य और शिल्प के विषय में वर्जेश तथा कनिंगहम ने अंग्रेजी में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यही क
स्व० श्री रत्नमणिराव ने गुजराती में किया है। श्री कन्हैयालाल मा० दवे ने 'गुजरातनुं मूर्तिविधान' पर महत्त्वपू
कार्य किया है। शीघ्र ही इस ग्रंथ का प्रथम भाग प्रकाशित होने जा रहा है। डॉ० कु० प्रियबाला शाह हड़प
संस्कृति की समकालीन लोथल-संस्कृति के अवशेषों पर अनुसंधान कार्य कर रही है।

धर्म और तत्त्वज्ञान साहित्य

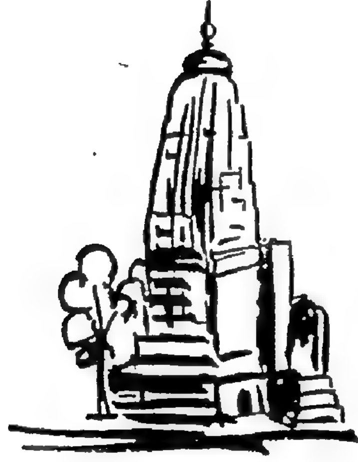
सन १६०० से पहले ही इस विषय में गुजरात में जैन एवं वेदधर्मानुयायी सम्प्रदायों का विशेषतः अनु
वाद-कार्य विपुल प्रमाण में ग्रंथस्थ हो चुका था। यह कार्य उसी समय मणिलाल नभुभाई ने स्वतन्त्र रूप से आरम
किया। इस समय बड़ौदा में श्रेय साधक अधिकारीवर्ग का 'ब्रह्मनिष्ठ' श्री नृसिंहाचार्यजी ने लिखना आरंभ किया—
उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने 'विचारसमर' ग्रंथावली का प्रकाशन किया था। सुप्रसिद्ध विचारक वाडीलाल मो० शा
और परम योगी रामचन्द्रजी ने भी महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया था। स्व० आनंदशंकर ध्रुव और रमणभाई नीलकंठ
भी यह कार्य शुरू कर दिया था। इन साठ वर्षों के समय में भी यह परम्परा चालू रही। स्वतन्त्र रूप से एवं सम्प्रदाय
द्वारा भी ऐसा बहुत-सा साहित्य प्रकाशित हुआ है और आज भी होता जा रहा है। दार्शनिक विषयों पर भी विचारपू
ग्रंथादि का प्रकाशन हो रहा है। स्व० किशोरलाल मशरूवाला और पं० सुखलालजी की दार्शनिक साहित्योपासना क
विशिष्ट स्थान है।

उपसंहार

आज वैज्ञानिक एवं विशिष्ट बाल-साहित्य का विकास भी उल्लेखनीय है। कोश का कार्य स्व० नर्मदा
शंकर ने आरंभ किया था, वह अब भी चल रहा है। गुजरात राष्ट्रीय विद्यापीठ ने गुजराती शब्दों की लेखन-एकरूपत
के लिए 'जोडणी कोश' प्रकाशित किया है। उस कोश के अब तक चार संस्करण हो चुके हैं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक
प्रशंसनीय कार्य गोंडल राज्य के भूतपूर्व नरेश श्री भगवतसिंह के सम्पादकत्व में श्री चंदूलाल ब० पटेल ने 'भगवद्

गोमंडल' कोश के बड़े-बड़े नौ ग्रंथों के रूप में हुआ है। यह कोश ढाई लाख शब्दों की सोदाहरण व्याख्या से अलंकृत है।

इस प्रकार गुजरात में इस समय विविध साहित्यांगों तथा कला के क्षेत्र में विकास-कार्य चल रहा है। प्रौढ़ एवं तरुण लेखक गुजराती साहित्य के विकास में संलग्न हैं। इस गुजराती भाषा का बीज आज से आठ सौ वर्ष पूर्व आचार्य हेमचन्द्र ने बोया, आज उसका विकास वट-वृक्ष की तरह सभी क्षेत्रों में हो रहा है। मध्यकाल में जैन एवं जैनेतर साहित्यकारों ने गुजराती भाषा की बड़ी सेवा की। आधुनिक काल में यूनिवर्सिटी शिक्षा के फलस्वरूप पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क स्थापित हुआ है। अब नये-नये साहित्यांगों का विकास होता जा रहा है। जगत की कोई भी ऐसी विद्या नहीं है, जिस पर गुजराती में ग्रंथ-रचना न हुई हो।



तमिल साहित्य

श्री र० शौरिराजन

संस्कृत की एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी !' (माता और मातृभूमि स्वर्ग से भी महान होती हैं।) इधर, 'जननी' शब्द जननीसम मातृभाषा का पर्याय हो सकता है। संतान के भौतिक पालन-पोषण तथा संवर्धन में मां का जितना ममत्वपूर्ण योग है, उतना ही मातृभाषा का भी बौद्धिक परिपोषण और विकास में है। अतएव यह मत संगत है कि मातृभाषा का अध्ययन-अनुशीलन आदि, स्वर्ग-सुखों को भी नीरस बना देता है।

मातृभाषा की समृद्धि तथा संवृद्धि पर प्रत्येक भाषा-भाषी का विशिष्ट आग्रही होना सहज है। अतः सर्वत्र मातृभाषा की साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा पर गर्व करने की स्वाभाविक चित्तवृत्ति हमें दिखाई देती है। इसका अतिसीमित आवेग, कभी-कभी सर्वमान्यता का गौरव खोकर, कट्टरता से लांछित हो जाता है। भाषाशास्त्रियों, साहित्य-समीक्षकों तथा प्रचारकों की विभिन्न धारणाएं भी कभी-कभी गड़बड़ी पैदा कर देती हैं। इधर, हम तटस्थता से प्रकृत विषय की चर्चा करेंगे।

'तमिल' का शुद्ध रूप 'तमिळ' है। 'ळ' ळ का मूर्धन्य रूप है, जो तमिल भाषा का विशिष्ट अक्षर है। इधर प्रचलन और सुविधा की दृष्टि से 'तमिल' का उपयोग किया जाता है।

द्रविड़ भाषा-कुल में तमिल ही एक ऐसी भाषा है, जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता को अद्यापि बनाये रखती है। आर्यों के भारत-प्रवेश के पूर्व ही द्रविड़ों की संस्कृति और भाषा समृद्ध थी। मोहोनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेष उपरोक्त मत की पुष्टि करते हैं। किन्तु, उस समय, द्रविड़ भाषा का स्वरूप क्या था, उसकी साहित्यिक रचनाएं कैसी थीं, इसका प्रमाण नहीं मिलता। काल-कवलित हो जाने से, केवल अनुमान (तथ्य मूलक) के बल पर हम प्राचीनतम द्रविड़ संस्कृति का आभास पाते हैं।

प्रो० वॅजिनर (Prof Wegener) का अभिमत है कि यूरोप में जब कोयले की उत्पत्ति हो रही थी, तब आस्ट्रेलिया, दक्षिण अमेरिका और भारत आदि भूभागों में एक ही प्रकार के पेड़-पौधे उगे हुए थे। इसलिए ये भूभाग अखण्ड प्रदेश के रूप में फैले होंगे। इस अखण्ड प्रदेश को भूतत्त्वशास्त्रियों ने 'गोंडवाना' (Gondwana) नाम रखा है, इसीको 'लेमूरिया' भी कहते है। प्राचीन तमिल-ग्रन्थों में इस प्रदेश को 'नावलन्तीवु' (नावलम द्वीप) के नाम से निर्दिष्ट किया जाता है। भूगर्भवेत्ता उन भूभागों के खुदाई द्वारा प्राचीनतम अवशेषों से, जो शिलीभूत प्राणियों तथा वनस्पतियों (Fossil remaius) के मूर्त हैं, तत्कालीन अखण्ड प्रादेशिकता को प्रमाणित करते है। इस अखण्ड प्रदेश में ईसा-पूर्व—प्रायः चार हजार वर्ष पूर्व—विकराल प्रलय होने की चर्चा पाश्चात्य विद्वानों ने की है। इधर शतपथ ब्राह्मण और तमिल के संघकालीन साहित्य में भी भीषण जलप्लावन का निर्देश पाया जाता है।

भारत के उत्तरापथ में फैली दस्यु, नाग, कोंड आदि आदिम जातियां द्रविड़ कुल की मानी जाती हैं। नागों की शाखाएं दक्षिण में सिंहल तक फैली हुई हैं। इनकी बोली, आचार-प्रणाली और आकृति के साथ कुछ सीमा तक की समानता मिश्र, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका के आदिम निवासियों में पाई जाती है। विक्टर क्रिश्चियन (Victor

Christion), फेडरिक राइट (Federik Wrigbt), एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) आदि विद्वानों ने उक्त भौगोलिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। ई० एफ० ओर्लन (E. F. Orlon) का मत है, "दिवा-दैव (Beal) बलिपीठ, ऋषभ और सूर्य-स्तम्भ आदि चिह्न सालडिया, बाबिलोनिया आदि भूभागों में प्राचीन काल में पाये जाते थे। वहां प्रचलित (पूजित) सूर्य देवता (Belmarduk) और चन्द्र देवता (Ishtar) के मन्दिरों में देवदासियां रहती थीं। बड़े-बड़े उत्सव तथा पूजाकर्म किये जाते थे। ये द्राविड़ों की आचार-प्रणाली से मिलते-जुलते थे। सालडियों के मृत्तिका-पट्टों में, जो हजार से पांच हजार साल ई० पू० के मध्य के थे, 'Drauvada' और 'Drapada' शब्द मिलते हैं। यह अनुमान सही निकलेगा कि सालडिया की जाति द्रविड़ कुल की ही रही होगी।"[1]

द्रविड़ जाति की व्यापकता तथा अतिप्राचीनता के बारे में पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। कई भारतीय अनुसन्धाताओं ने भी इस मत की पुष्टि और मान्यता दी है।

अब आगे देखें, 'तमिळ' शब्द की निष्पत्ति कब और कैसे हुई, यह यद्यपि कम विवादास्पद नहीं है; फिर भी विद्वानों के बहुमत के आधार पर यह कहा जा सकता है, 'द्रमिल' शब्द से जो आदिम द्राविड़ कुल का प्रचलित शब्द था, 'तमिळ' का उद्भव हुआ। इसी 'द्रमिल' से 'द्रविड़' शब्द निष्पन्न हुआ, न कि 'द्रु' धातु से, जैसा कि कुछ संस्कृतज्ञ मानते हैं। 'तमिळ' के अपभ्रंश-रूपों को ही पालि तथा प्राकृत भाषाओं में 'दविड', 'दविल' आदि शब्दों के द्वारा पाते हैं।

वराह मिहिर ने (ई० छठी शती) अपने ज्योतिष-शास्त्र ग्रन्थ में 'द्रमिड़' शब्द का प्रयोग किया है। उसी काल के मंगलेश नामक राजा के अभिलेखों में 'दिरमिल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

ऐसी प्राचीन भाषा की वर्णमाला भी अपनी विशिष्टता और स्वतंत्रता के लिए प्रसिद्ध है। भारतीय भाषाओं में केवल तमिल लिपि ही ऐसी है जिस पर नागरी अक्षरों का प्रभाव नहीं पड़ा। कारण यह है, इसका स्रोत 'वट्टॆळुत्तु' (वर्तुल लिपि) माना जाता है। इसलिए ब्राह्मी लिपि की तरह, उसकी भी अपनी प्रत्येक परम्परा है और आकृति है।

तमिल में बारह स्वर हैं और अठारह व्यंजन हैं। नागरी की तरह ख, ग आदि महाप्राण-अल्पप्राण के अक्षर नहीं होते। केवल प्रथम वर्ग के अक्षरों से ही स्थान-सन्निवेश के प्रभेदों के अनुसार घोष-अघोष की ध्वनियां व्यंजित होती हैं। तमिल-लिपि की विशेषताओं में यह भी एक है। विसर्ग की तरह 'आयुतम्' नामक अक्षर '◌॰॰' और 'ए, ओ' के ह्रस्व-रूप भी स्वराक्षरों में होते हैं। व्यंजनों में चार विशिष्ट अक्षर हैं जो नागरी आदि आर्य-भाषाकुल की लिपियों में अप्राप्य हैं; वे हैं, ळ ('ळ' का मूर्धन्य मृदु रूप) ऴ, 'ऱ्र' ('र' का महाप्राण), ऩ (दन्त्य 'न' से भिन्न नकार)। तमिल में संयुक्ताक्षर लिखने की परिपाटी सरल है, जैसे कि 'क्क' के लिए 'क्क', 'र्व' के लिए 'र्‌व' इत्यादि। तमिल-लिपिज्ञों को इन संयुक्ताक्षरों की कठिनाई नहीं होती। लिपि-विशेषज्ञों का कहना है कि अंग्रेजी लिपि के बाद, सरलता की दृष्टि से तमिल लिपि को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है।

भक्तिकाल में (ई० दसवीं शती में) जो मणि-प्रवाल शैली तमिल में प्रचलित हुई, उसकी सुगमता के लिए नागरी लिपियों से ज, स, ष, ह, क्ष को लिया गया था। ये अक्षर केवल तमिलेतर भाषा-शब्दों को लिखने के लिए ही उपयुक्त होते हैं।

तमिल साहित्य

तमिल की प्राचीनतम साहित्यिक गति-विधि का परिचय संघकाल से प्राप्त होता है। यह संघ, जिसका मूल तमिल रूप है 'चङ्कम्' विद्वत्परिषद है। इस महान सभा में प्रकाण्ड पंडित, कविवर तथा आचार्य इकट्ठे होकर नये ग्रन्थों का अवतरण करते थे। इस संघ के अभिभावक थे पाण्डिय नरेश। इस प्रकार के तीन संघ (परिषदें) पाण्डिय देश में आयोजित हुए थे।

प्रथम संघ, 'काय्चिन वळुति नामक पाण्डिय नरेश के अभिभावन में, उसकी सभा में और शिवजी के तत्त्वा-

१. 'Links with Past ages' PP. 215-222.

वधान में प्रारम्भ हुआ। इसमें अकत्तियनार (अगस्त्य मुनि), कार्तिकेय इन पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ, मुडिनाकनार, नितियिन् किळवन आदि तमिल विद्वान और मार्कण्डेय, गौतम, वाल्मीकि आदि संस्कृत कवि भी भाग लेते थे। शिवजी को आर्य भाषा के साथ द्रविड़ भाषा का भी जन्मदाता माना जाता है। अगस्त्य तमिल के प्रधान वैयाकरण के रूप में प्रख्यात थे।

इस प्रथम परिषद में ४,४४० (चवालीस सौ चालीस) पंडित भाग लेते थे और उनकी तमिल रचनाओं—परिपाडळ्, मुदुनारै, मुदुकुरुकु, कळरियाविरै आदि-प्रबन्ध-शैलियों की रचनाएं प्रकाशित की गई। यह परिषद् कई सौ साल तक चलती रही और इसके अभिभावक कायूचिन वळुदि से कडुंकोन तक के ८९ (नवासी) पाण्डिय नरेश थे। इन में सात नरेश स्वयं महाकवि थे और इनकी योग्यता की प्रामाणिकता उक्त परिषद् द्वारा अंगीकृत तथा समादृत हुई। इन नरेशों में निलन्तरु तिरुविर पाण्डियन विशेष प्रख्यात था। अपनी विद्वत्ता, नीतिकुशलता, सद्गुणिता एवं गुणज्ञता के कारण, यही बाद को, दूसरे संघ के अभिभावक तथा प्रवर्तक के रूप में ख्याति पाता था। इस प्रथम संघ-काल में सबके लिए अनुकरणीय व्याकरण था अगस्त्य-प्रणीत 'अकत्तियम्' नामक रीति-ग्रन्थ। कालान्तर में, दक्षिण पाण्डिय देश विकराल जल-प्लावन से नामशेष हो चला। इसके साथ संघ तथा उसमें प्रणीत रचनाएं सब विनष्ट हो गईं। अब उनके नामोल्लेख के अलावा कुछ भी प्राप्त नहीं होते।

दूसरा विद्वत्संघ, पाण्डिय राज्य की तत्कालीन राजधानी कपाटपुरम् में स्थापित किया गया। इसका संस्थापक वेण्डेर् चेळियन नामक नरेश था। इनके वंशज उनसठ नरेशों ने अपने शासनकाल में द्वितीय संघ का श्रीवर्धन किया था। अंतिम नरेश मुटत्तिरुमारन था। इस संघ के प्रमुख कर्णधार थे—अगस्त्य, तोलकाप्पियर, करुंकोळि, मोशि, वेळ्ळूर काप्पियन, चिरु पाण्डरंगन, तिरैयन मारन, तुवरैक्कोन, कीरन्तै, अतंकोट्टाशान आदि उनसठ महापण्डित थे। इस द्वितीय संघ काल में ही अगस्त्य के प्रधान शिष्य तोलकाप्पियर का व्याकरण-ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' प्रणीत तथा प्रख्यात हुआ। अगस्त्य के रीतिग्रन्थ के साथ-साथ इसका भी महत्त्व तथा अनुकरण बढ़ने लगा। इस काल की रचनाओं में महापुराण और मुरुवल, शयन्तम्, शेयिरियम् आदि नाटकग्रन्थ तथा पेरुनारै, पेरुंकुरुकु, इशैनुणुक्कम्, तालवगैयोत्तु आदि संगीत शास्त्र-ग्रन्थ विशेषतया उल्लेख किये जाते हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दूसरे संघ का स्थान और ग्रन्थ-समूह भी पूर्ववत् प्रलय-कवलित हो गये हैं। उनमें से तोलकाप्पियम् (रीतिग्रन्थ) ही पूरा बचा है। कारण, तोलकाप्पियर के कुछ शिष्य बच गये और तीसरा संघ उत्तर पाण्डिय देश की राजधानी मदुरै में शीघ्र ही स्थापित हुआ। इस द्वितीय संघ में अगस्त्य-व्याकरण के साथ तोलकाप्पियम् की भी प्रमुख उपादेयता समादृत हुई।

द्वितीय संघ के विनष्ट होने के उपरान्त, तीसरी विद्वत्परिषद् की स्थापना उत्तर पाण्डिय देश की राजधानी कूडल (वर्तमान मदुरै) में हुई। इस संघ की कृतियां अब उपलभ्य तमिल ग्रन्थों की अग्रणी होती है। इस संघ का श्रीवर्धन मुडत्तिरुमारन से लेकर उक्क्रिर पेरुवळुति तक के उनचास पाण्डिय नरेशों ने किया। तमिल के शीर्ष स्थानीय शेन्तम् पूतनार, नक्कीरनार आदि उनचास पण्डितवरों तथा कविवरों ने अनेक अमूल्य ग्रन्थों का अवतरण किया और सैकड़ों कवियों को प्रोत्साहन देकर तमिल साहित्य को समृद्ध कराया। अब तमिल साहित्य और संस्कृति के आलोकस्तम्भ माने जाने वाले पुरनानूरु, अकनानूरु, नेडुन्तोकै, कुरुन्तोकै, नट्रिणै आदि ग्रन्थ इसी तृतीय संघकाल में, जो अठारह सौ पचास वर्ष तक सुचारु रूप से चलता रहा, प्रणीत हुए। इस समय भी अगस्त्य तथा तोलकाप्पियर के रीतिग्रन्थ ही तत्कालीन साहित्य तथा आचार्यों के लिए मार्गदर्शक रहे। इस समय के ग्रथों को ही 'संघसाहित्य' के नाम से निर्देश करते हैं।

उपरोक्त तीनों संघों की चर्चा प्रथमतः इरैयनार कळवियल नामक रीतिग्रन्थ (जीवन के प्रेमपक्ष का प्रतिपादक) में पाई जाती है। उन संघों का काल-विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—संघपूर्वकाल तथा प्रथम संघ-काल ऋग्वेद के समकालीन होते हैं।

द्वितीय संघ यजुर्वेद, सामवेद तथा ब्राह्मणों के समय का है।

तृतीय संघ जैन-बौद्ध काल का निकटवर्ती या पूर्वकालीन मान सकते हैं।

इस काल-विभाजन के लिए कई उपादेय तथा बहुमान्य प्रमाण मिलते हैं। अब संघ-पूर्वकालीन रचनाओं

का थोड़ा अंश भी नहीं मिलता; यही स्थिति है प्रथम संघकालीन रचनाओं की भी। अगस्त्य-व्याकरण के कुछ सूत्र मिलते हैं; बस, अन्य ग्रन्थरत्नों का नामोल्लेख-मात्र प्राप्त है।

तमिल साहित्य और संस्कृति का प्रथम आलोक 'तोलकाप्पियम्' से ही मिलता है। उस रीतिग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि उसके रचयिता के समय में संस्कृत का प्रभाव तमिल पर पड़ना शुरू हो गया। तोलकाप्पियर ने लिखा है, 'अन्य भाषा से उत्तम विषयों तथा ग्रन्थों को तमिल में प्रामाणिकता के साथ अनुवाद के द्वारा लाना चाहिए।'

वेद, आगम तथा स्मृति-ग्रन्थों के कई आशय तोलकाप्पियर के समय में प्रसारित होने लगे। कहीं-कहीं कट्टरता की अवांछनीय छाया भी पड़ने लगी। इसकी सत्यता तोलकाप्पियम् के पद्याधिकरण के १७८वें सूत्र से अवगत होती है। घटना यह है, 'मदुरै में संस्कृत के पण्डितों की एक परिषद् थी। उसके एक पण्डित कुयक्कोडन ने तमिल संघ के कर्णधार कवि नक्कीररर् के समक्ष कह दिया, 'आरिय नन्रु तमिऴ् तीदु।' (संस्कृत श्रेष्ठ है और तमिल नीच भाषा है।)' इस दुराग्रहपूर्ण दम्भी उलाहने से क्रुद्ध होकर, कविवर नक्कीररर् ने उस पण्डित को मृत्यु का शाप दे दिया। वह बेचारा तत्काल ही मर गया। फिर उसके सगे-सम्बन्धियों के बहुत क्षमा-प्रार्थना करने पर नक्कीररर् ने अपने शाप को उठा लिया और मृत कुयक्कोडन जीवित हुआ।'

तोलकाप्पियर को ऐन्द्र (इन्द्रप्रणीत) व्याकरण पर पूरा अधिकार था। इसका समर्थन परवर्ती आचार्यों ने किया है

'तोलकाप्पियम्' तीन अधिकरणों—संज्ञाधिकरण, शब्दाधिकरण तथा अर्थाधिकरण—से युक्त है। इन तीनों अधिकरणों में, तमिल भाषा की विशिष्टताओं को दृष्टि में रखकर विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। तत्कालीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक रूपरेखा का परिचय तोलकाप्पियम् द्वारा पर्याप्त मिलता है।

तृतीय संघकाल में जितने ग्रन्थ रचे गए, उन्हीं को 'संघकालीन साहित्य' के नाम से निर्दिष्ट करते हैं। कारण, उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ विलुप्त हैं। सिवाय तोलकाप्पियम् के अन्य कोई ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। पूर्वोक्त संघकालीन साहित्य-ग्रन्थों में—नेडुन्तोकै, कुरुन्तोकै, नट्रिणै, पुरनानूरु, अकनानूरु आदि में, प्रेम, वीरता, दानशीलता तथा विद्वत्ता की प्रशस्तियां अधिक मात्रा में मिलती हैं। उक्त ग्रन्थों के कविवरों ने न केवल राजाओं, अपितु साधारण कर्मकारों एवं स्त्रियों को भी चरित-नायक का गौरव प्रदान किया है। वे ग्रंथ मुक्तक या फुटकल पद्यों के संग्रह कहे जा सकते हैं। 'पुरनानूरु' में चेर, चोल और पाण्डिय नरेशों की वीरता तथा महानता की प्रशस्ति-गाथा है। इतिहास के अनुसंधाताओं के लिए वह एक उत्तम निधि है। कई कवियों और कवयित्रियों की कविताओं का वह बड़ा प्रामाणिक संग्रह है। सुरासुन्दरियों की रंगीन लहरें उस जमाने में कितनी उद्दाम थीं, इसका मोहक परिचय भी 'पुरनानूरु' आदि ग्रन्थों में कम नहीं मिलता।

संघकाल (तृतीय संघ) का महानतम गौरव-ग्रन्थ है 'तिरुक्कुरल्'। इसके रचयिता हैं महर्षि तथा महाकवि तिरुवल्लुवर। इसको तमिल वेद कहते हैं जो पूर्णतया अन्वर्थ है। भाषा की समृद्धता, भावप्रकाश की अनुपम शैली, स्वच्छ तमिल का विशिष्ट रूप—धर्म, अर्थ और काम के विस्तृत एवं काव्यमय प्रतिपादन, गागर में सागर भरने वाली कवि की निराली प्रतिभा इत्यादि अनेक महानताओं को हम उक्त नीतिकाव्य में पाते हैं। 'तिरुक्कुरल्' की सर्वाधिक श्रेष्ठता उसकी सार्वजनीनता, सर्वधर्मसमानता तथा सर्वात्मकता के कारण ही हुई है। यह ग्रन्थ संघकाल के उत्तरभाग (ई० पूर्व तीसरी या चौथी शती) में प्रणीत है तमिल साहित्य और संस्कृति को गौरवान्वित करने में 'तिरुक्कुरल' का योगदान बहुत बड़ा है।

संघकाल के उपरान्त महाकाव्य-काल प्रारम्भ होता है। ईसवी द्वितीय शती से पांचवीं शती तक इसकी अवधि है। इसी काल में पंच महाकाव्यों 'ऐम् पेरुम् काप्पियम्' का अवतरण हुआ। वे हैं, शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै, जीवकचिन्तामणि, वलयापति और कुण्डलकेशि। इनके क्रमशः रचयिता हैं—इलंगो अडिगल्, शीत्तलैंचात्तनार, तिरुत्तक्क देवर; अन्तिम दोनों के कवि अज्ञात हैं और वे रचनाएं भी पूर्णतया प्राप्त नहीं होती हैं।

शिलप्पधिकारम् ही ठेठ तमिल सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रणीत महाकाव्य है और इसके रचयिता इलंगो अडिगल् ने स्वयं चेर राजा के दूसरे पुत्र होकर भी संन्यास लेकर साहित्य-सेवा का व्रत लिया था। कथा

एक पतिव्रता नारी की दैवी-शक्ति की गाथा है। पतिव्रता कण्णकी अपने निर्धन तथा निर्दोष पति पर बिना सोचे-विचारे पांडिय राजा के द्वारा किये गए अत्याचार से क्रोधित होकर, उसकी राजधानी को भस्मसात हो जाने का शाप दे देती है। पतिव्रता की वाणी अमोघ निकली। चेर राजा चेंगुट्टुवन कण्णकी की शिला-मूर्ति बनवाने के लिए उत्तरायण पर रण-यात्रा कर, हिमालय से शिला खोदकर लाता है और उसे गंगा में नहलाकर विजित नरेशों के सिर पर लदवाकर अपनी राजधानी को ले आता है। वहां सती कण्णकी का भव्य मन्दिर खड़ा किया जाता है और उसकी दैवी मूर्ति प्रतिष्ठापित हो जाती है। सती देवी के नाम से कण्णकी जन-मन में घर कर लेती है और पूजी जाती है।

इसमें तत्कालीन वाणिज्य-व्यवसाय, राजनीति, सामाजिक गतिविधियां, विशिष्ट पर्व-त्योहार, संगीत, नृत्य तथा वाद्य-कालाओं की समृद्धता, आराध्य देवता, प्रचलित सम्प्रदाय इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इस समय जैन-बौद्ध सम्प्रदायों का अच्छा प्रसार तमिल देश में हो चला था, और शिवजी, विष्णु, कार्तिकेय, दुर्गा, इन्द्र आदि देवताओं की आराधनाएं भी प्रशस्त थीं।

'मणिमेखलै' शिलप्पधिकारम् के उत्तरार्द्ध की कथा है। यह एक बौद्ध महाकाव्य है और इसके रचयिता शीत्तलै चात्तनार स्वयं प्रख्यात बौद्ध कवि थे। इसमें कण्णकी के पति कोवलन की और उसकी प्रेमिका नर्तकी मादवी से उत्पन्न पुत्री मणिमेखलै की पुनीत गाथा गाई गई है। वह अपनी कुमारी-अवस्था में ही भिक्षुणी बन गई और कई अड़चनों को पार कर लोक-सेवा में निरत रही। उसके रूपलावण्य पर मुग्ध एक राजकुमार की प्रेम-याचना और मणिमेखलै की जन-मंगलकारी प्रवृत्ति, बौद्ध-धर्म की विशेषताओं का प्रतिपादन, तत्कालीन साम्प्रदायिक संघर्ष इत्यादि कई बातें 'मणिमेखलै' काव्य में वर्णित हैं।

तीसरा महाकाव्य 'जीवकचिन्तामणि' प्रायः पांचवीं शती की रचना है। यह काव्य-शिल्प, रचना-कौशल, वर्णनमाधुर्य और भाषासौष्ठव की दृष्टि से उत्तम माना जाता है। यद्यपि यह शिलप्पधिकारम् की तरह उत्तम कथावस्तु तथा तमिल की सांस्कृतिक यशोगाथा से गौरवान्वित नहीं हो सका, फिर भी काव्य-लक्षणों से सम्पन्न होने का गौरव 'जीवकचिन्तामणि' को प्राप्त है। मान्य अनुश्रुति है कि पीछे महाकवि कम्बर ने अपनी रामायण के प्रणयन में 'जीवकचिन्तामणि' से पर्याप्त मार्ग-दर्शन पाया। काव्य-कथा जैन महापुराण 'श्रीपुराण' की एक कथा पर आधारित है। काव्य भर में जैन धर्म की महानताएं और स्वरूप-संदेश ही स्थान पाते हैं।

चौथा और पांचवां महाकाव्य, जो अब पूर्णतया अनुपलब्ध है, बौद्ध धर्म का प्रचारक था और धार्मिक संघर्ष एवं कट्टरता की प्रधानता उसमें पाई जाती थी।

उक्त पांच कवियों का अनुसरण कर बाद को पंच लघु काव्य भी रचे गए, जो नीलकेशी, चूड़ामणि, यशोधर काव्यम्, नागकुमार काव्यम्, उदयणन् कथा हैं। इनमें संस्कृत साहित्य तथा जैन-बौद्ध सम्प्रदायों के प्रचुर प्रभाव को पाते हैं।

ईसवी छठी शती से नौवीं शती तक भक्ति-काल आन्दोलन ने तमिल साहित्य और संस्कृति में नई धारणाओं तथा प्रवृत्तियों को फैला दिया। बौद्ध-जैन कवियों तथा पंडितों की प्रवृत्तियां, प्रसुप्त शैव-वैष्णव कर्णधारों को उत्तेजित करने लगीं। साम्प्रदायिक संघर्ष तथा स्पर्द्धाएं सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में सक्रिय हुई। कई मन्दिर खड़े हुए, कई नीति-ग्रंथ एवं सम्प्रदाय-ग्रंथ निकले। शैव-वैष्णव सम्प्रदायों के दिग्गज विद्वान देश भर में धर्म-यात्रा कर सफलता पाते गए।

शैव सम्प्रदाय के कर्णधारों में माणिक्कवाचकर्, तिरुज्ञान संबंधर्, अप्पर् तथा सुन्दरर् ये चारों शीर्षस्थानीय हैं। इन्हीं की तरह, रामानुजाचार्य के समकालीन विद्वान तथा उनके पूर्ववर्ती आलवार लोगों ने वैष्णव धर्म का उत्थान और प्रसरण बड़ी सफलता के साथ किया। शैव सन्त कवियों की भक्ति-पुंज रचनाएं 'तिरुमुरै' कही जाती हैं, तथा आल्वारों की सरस-गम्भीर सूक्तियां 'दिव्य प्रबन्धम्' के नाम से प्रशस्त हैं।

पहले, शैव और वैष्णव मिलकर बाह्य प्रतिपक्षी जैनों और बौद्धों को निष्प्रभाव बनाने में सफल हुए। किन्तु बाद को शैव और वैष्णव स्वयं आपसी फूट के शिकार बनकर साम्प्रदायिक कट्टताओं के प्रवर्त्तक बन गए। फिर भी, इस स्पर्द्धा या संघर्ष आदि से तमिलसाहित्य की श्रीवृद्धि हुई। तमिल की विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा में आर्य, बौद्ध

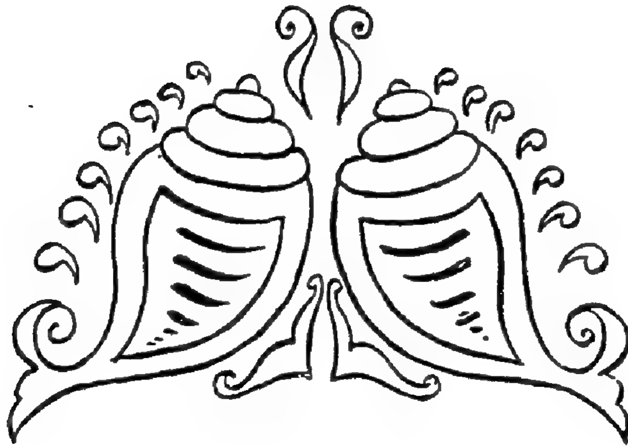
जैन आदि संस्कृतियों का समावेश, इच्छा से या अनिच्छा से ही सही, अनिवार्य हो चला।

इस स्पर्द्धा के फलस्वरूप ही, पेरिय पुराणम्, तिरुविलैयाडल पुराणम् आदि शैव साम्प्रदायिक ग्रंथ और कम्ब-रामायणम् आदि वैष्णव महाकाव्य तमिल वाणी के भव्य कण्ठहार बने।

तमिल के निघंटु (कोश), व्याकरण तथा रीति-ग्रंथों के प्रणयन में जैनाचार्यों की सेवाएं बड़ी महत्त्व-पूर्ण हैं। जैन धर्म ऐसी सेवा, सदाचार तथा समभावना के बल पर ही तमिल देश में लगभग दस शतियों तक समादर पाता रहा। जैनों द्वारा रचित ग्रंथों में, याप्पिलक्कणम् (छन्दश्शास्त्र), वीर चोळियम्, नेमिनाथम् (रीति-ग्रंथ), नन्नूल (व्याकरण), नालडियार (नीति-ग्रंथ), मेरुमंतर पुराणम् आदि विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

कम्बरामायण का रचना-काल ग्यारहवीं शती है। यद्यपि, इसके पूर्व संघकाल में एक रामायण रची गई जो लुप्त हो गई है और बाद को नौवीं शती में एक जैन कवि ने भी राम-कथा को काव्य-रूप में लिखा है। फिर भी कम्ब-रामायण की काव्य-महिमा, उसकी रचनाशैली, सौंदर्योपासना, अभिव्यंजना की प्रांजलता और उक्ति-कौशल से अनूठी बन पड़ी है। उसके बाद उस स्तर का कोई भी महाकाव्य आज तक प्रणीत नहीं हुआ।

साहित्य की धारा सामाजिक गति-प्रगति के साथ बढ़ती-रुकती, बहती-थमती हुई चलती रहती है। अंग्रेजी प्रभाव ने अन्य भाषा-साहित्य की तरह तमिल को भी जागृत किया। कई पहलुओं में अपनी समृद्धि के पथ पर तमिल अब भी बढ़ती जा रही है।



पंजाबी साहित्य के पिछले साठ वर्ष

श्री देवेन्द्र 'सत्यार्थी'

उर्दू कवि नासिख़ ने एक स्थान पर लिखा है : **'सुनाया रात को किस्सा जो हीर-रांझे का, तो अहले-दर्द को पंजाबियों ने लूट लिया ।'** सम्भवत: नासिख़ का संकेत पंजावी कवि वारिस शाह (१७३८-१७९८) द्वारा रचित प्रसिद्ध रचना 'हीर वारिस शाह' की ओर रहा होगा, जिसके काव्य-पाठ की एक विशिष्ट संगीतमय शैली है। आप पंजावी भाषा से अपरिचित होते हुए भी इस काव्य-पाठ से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। जिस 'वैंत' छन्द में कवि ने हीर-रांझे की प्रेम-कथा लिखी है, वह पंजावी वातावरण के अधिक-से-अधिक अनुरूप प्रतीत होता है। ठेठ शब्दावली इसकी विशेषता है। पर राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से शाह मुहम्मद (१७८०-१८६२) की प्रसिद्ध काव्य-रचना 'जंग सिंघां ते अंग्रेजां' बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कवि ने उस युद्ध का आंखों-देखा हाल प्रस्तुत किया है, जिसके फलस्वरूप पंजाब सिक्खों के हाथ से जाता रहा।

पंजावी साहित्य में बहुत-कुछ है, जो बिल्कुल उसका अपना है। स्वर में, लय में, शत-शत चित्रों में, संकेतों में, चिन्तन-आराधन में, मन के मन्थन में, एकान्त समर्पण में बहुत-कुछ उसका अपना है। भगवान बुद्ध ने अपने जीवन के अवसान-क्षण में अपने महाशिष्य आनन्द को सम्बन्धित करते हुए कहा था—'आप अपने दीप बनो, आप अपनी शरण बनो।' यह आवाज आधुनिक पंजाबी साहित्य को छू गई है।

एक तरह से देखा जाय तो आधुनिक पंजावी साहित्य का श्रीगणेश बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। स्वर्गीय भाई वीरसिंह, जिनका जन्म ५ दिसम्बर, १८७२ में हुआ था, सही अर्थों में 'आधुनिक पंजावी साहित्य के पिता' कहे जा सकते हैं। उनकी अन्तिम काव्य-रचना 'मेरे सैयां जीओ' पर साहित्य अकादमी ने सर्वश्रेष्ठ होने के प्रमाणस्वरूप पांच हजार रुपयों का पुरस्कार दिया था।

'सुन्दरी', 'विजयसिंह', 'सत्वन्तकौर' और 'बाबा नौधसिंह' जैसे उपन्यास लिखकर भाई वीरसिंह ने एक तरह से पंजाबी गद्य को जन्म दिया। फिर १९३८ में भाई वीरसिंह की प्रसिद्ध रचना 'गुरु नानक चमत्कार' प्रकाशित हुई। इसे मात्र गुरु नानक की जीवनी कहना तो उपयुक्त न होगा, क्योंकि इसका उदात्त स्वर है गुरुमत की व्याख्या। वही स्वर उनकी एक और रचना 'श्री कलग़ीधर चमत्कार' में मिलता है, जिसमें गुरु गोविन्दसिंह की जीवनी प्रस्तुत की गई है। १९०५ में उनका महाकाव्य 'राणा सूरतसिंह' प्रकाशित हुआ। इसके साथ पंजावी में मुक्त छन्द का प्रचलन आरम्भ हुआ। समूची रचना में मुक्त छन्द का प्रयोग हुआ है। उनकी अन्य काव्य-रचनाएं हैं—'लहिरां दे हार', मटक-हुलारे', 'विजलियां दे हार', 'प्रीत-वीणा', 'कम्वदी कलाई' और 'मेरे सैयां जीओ'। भाई वीरसिंह का प्रेरणा-स्रोत है गुरुवाणी की काव्यधारा। यहां यह उल्लेखनीय है कि भाई वीरसिंह की 'गांधीजी' शीर्षक कविता संवेदना और विषाद का अपूर्व संगम प्रस्तुत करती है। इसकी कुछ पंक्तियां लीजिए—

> **आवाज़ आई : 'ठाह !'**
> **धुन उट्ठी :**
> **'राम, रा···आ···म, रा···आ···म !'**

गैव विच्चों सद्द आई सुकरता दी
आ जा मेरे भाई गांधी, आजा
इस दुनिया पास इहो कुछ है,
इन्हां इन्सानां पास
इहो कुछ है

(आवाज आई, ठाह ! ध्वनि उठी—'राम, राम, राम !' अदृश्य से सुकरात की पुकार सुनाई दी—आजा, मेरे भाई गांधी, आ जा ! इस दुनिया के पास यही कुछ है। इन इन्सानों के पास यही कुछ है।)

प्रोफेसर पूरनसिंह (१८८१-१९३१) ने 'खुल्हे मैदान' और 'खुल्हे घुण्ड' में जिस मुक्त छन्द को जन्म दिया और धरती की जिस सुगन्ध से लिपटकर कविता की सृष्टि की, उसका मूल्यांकन होना अभी शेष है। कुछ लोग पूरनसिंह पर भाई वीरसिंह का गहरा प्रभाव मानते हैं। स्वयं पूरनसिंह ने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ ओरिएण्टल पोयट्री' में स्वीकार किया है कि 'भाई साहब का स्पर्श-मात्र कवि बना देता है···उनका दर्शन करके मुझे अपने आप सुन्दर लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मैं अपने आप की पूजा करता हूं। अपना व्यक्तित्व मुझे बहुत ही काव्यमय प्रतीत होता है।' इस वक्तव्य की अन्तिम स्वीकारोक्ति में अधिक तथ्य है, क्योंकि समूचे रूप में पूरनसिंह का व्यक्तित्व, जैसा कि उनकी काव्य-रचनाओं में व्यक्त हुआ है, पंजाब की माटी की सुगन्ध लिये हुए है और नदी-भाषा का छन्द कुछ इस प्रकार प्रवहमान है कि उसे देखते हुए यह मानना कठिन हो जाता है कि यह कवि भाई वीरसिंह की छाया में बैठकर लिखता है। दूसरी दृष्टि से देखें तो भाई वीरसिंह की काव्य-रचना 'मटक-दुलारे' का आमुख पूरनसिंह ने लिखा; जो न केवल पंजाबी गद्य का एक सुन्दर नमूना है, बल्कि पूरनसिंह को एक आलोचक के रूप में भी हमारे सामने लाता है। कुछ लोगों का यह भी विचार है कि पूरनसिंह के इस मूल्यांकन द्वारा भाई वीरसिंह का कवि-रूप मर्यादित हो पाया।

उस युग में पूरनसिंह ने 'खुल्हे लेख' के लेखक के रूप में एक सफल निबन्धकार के रूप में भी हमें दर्शन दिए थे।

मुसलमान कवियों में उस्ताद हमदम, मौलाबख्श कुश्ता और फीरोज़दीन 'शरफ़' पंजाबी कविता में योगदान दे रहे थे। 'सिक्ख ऐजूकेशनल कान्फ्रेन्स' के कवि-दरबारों में ये तीनों कवि विशेष सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किये जाते थे। उधर पंजाबी के हिन्दू कवियों में 'लक्ष्मीदेवी' के कवि कृपासागर और 'चन्दनवाड़ी' के कवि धनीराम चातृक पंजाबी साहित्य के मंच पर सम्मान पा रहे थे।

'चन्दनवाड़ी' का आमुख प्रो० तेजासिंह ने लिखा था। 'चातृक' के इस कविता-संग्रह की अपनी विशेषता यही थी कि इस पर सिक्ख विचारधारा की वह छाप नहीं थी, जो भाई वीरसिंह की विशेषता थी। कवि ने अपना हिन्दू रूप दरसाने पर भी कोई विशेष बल नहीं दिया था। सब इन्सानों के कवि के रूप में ही चातृक का गौरव है। पर चातृक की ठेठ टकसाली भाषा बहुत दूर तक हमारे साथ नहीं चल सकती।

प्रोफेसर मोहनसिंह का कविता-संग्रह 'सावे पत्तर' १९३६ में प्रकाशित हुई। इसका आमुख प्रो० तेजासिंह ने लिखा और उसमें कवि का जिन शब्दों में स्वागत किया गया, इससे पहले वह भाषा प्रयोग में नहीं आई थी। इसी वर्ष अमृता प्रीतम (उस समय की अमृतकौर) का प्रथम कविता-संग्रह 'अमृत लहिरां' छपकर पाठकों के हाथों में पहुंचा। १९३८ में मोहनसिंह का दूसरा कविता-संग्रह 'कपुम्भड़ा' छपा, तो उसका आमुख भी प्रो० तेजासिंह ने ही लिखा। कुछ लोगों ने समझा कि मोहनसिंह का अब जो भी कविता-संग्रह आया करेगा उसका आमुख निश्चित रूप से प्रो० तेजासिंह ही लिखा करेंगे। पर मोहनसिंह ने बुद्धिमत्ता से काम लेते हुए आगे के लिए अपने किसी कविता-संग्रह का आमुख प्रो० तेजासिंह से ही लिखवाने का आग्रह छोड़ दिया।

स्वर्गीय प्रो० तेजासिंह पंजाबी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों के मूलभूत पुरोहित कहे जा सकते हैं। १९३६ में इन पंक्तियों के लेखक की लोक-साहित्य सम्बन्धी पुस्तक 'गिद्धा' प्रकाशित हुई, तो उसकी लम्बी भूमिका भी उन्होंने ही लिखी थी, जो आज तक सुसंयोजित पंजाबी गद्य का एक प्रतिनिधि रूप मानी जाती है। १९४१ में जब इन

पंक्तियों का लेखक एकाएक कवि के रूप में पंजाबी साहित्य के मंच पर आया तो उसके प्रथम कविता-संग्रह 'धरती दीयां वाजां' का आमुख भी प्रो० तेजासिंह ने ही लिखा था।

१६४० के बाद कुछ नये कवि सामने आए, जिनमें 'महानाच' के कवि बाबा बलवन्त, 'कत्तक कूंजा' के कवि प्रीतमसिंह सफीर, 'कण्ढे कण्ढे' के कवि कर्तारसिंह दुग्गल, 'मन-आइयां' के कवि चन्नणसिंह जेठूवालिया और 'नवें पन्थ' के कवि हरिन्द्रसिंह 'रूप' उल्लेखनीय हैं। मोहनसिंह और अमृता प्रीतम के नये कविता-संग्रह पंजाबी कविता की नई प्रवृत्तियों में अपना विशिष्ट स्थान बनाते चले गये।

मोहनसिंह अब जिस तरह की कविता लिख रहा था, वह 'सावे पत्तर' से बहुत हटकर थी। 'सावे पत्तर' के कई संस्करण छपे। पर अन्य कविता-संग्रह एक-एक संस्करण से आगे नहीं चल पाते थे।

पूरनसिंह ने एक स्थल पर यह भाव प्रस्तुत किया है:

यह क्षणिक होना न होना क्या है!
कुछ उड़ गया-सा लगता होता है।
वह डाल जिस पर से अभी पंछी उड़ा है,
वह कुछ-कुछ कांपती-सी है।

यह तो सभी मानते हैं कि प्रेम, मृत्यु, भलाई-बुराई, अमर जीवन आदि काव्य के प्रसंग नहीं बदलते। इन्हें प्रस्तुत करने के अन्दाज़ बदलते रहते हैं। आधुनिक पंजाबी कविता में भाषा सूक्ष्म हो गई है और कवि का दृष्टिकोण किसी सीमा तक टेढ़ा। कवि की रुचि तीक्ष्णता की ओर जा रही है और उसे उपमा के स्थान पर रूपक का प्रयोग प्रिय लगता है। नूतन छवि-चित्रों का संयोजन भी आधुनिक प्रवृत्ति का विशिष्ट लक्षण है। आम बोल-चाल की भाषा का प्रयोग करते समय उसमें विशेष उतार-चढ़ाव लाने का संस्कार भी अग्रसर हो रहा है।

पश्चिम की नई कविता ने नये पंजाबी कवियों को प्रभावित किया है। प्रो० दीवानचन्द शर्मा ने ठीक ही लिखा है, "मोहनसिंह की कविता में कभी-कभी यों लगता है, जैसे वह अपने अनुभवों को हमारे सामने रखते हुए उनमें से कोई अर्थ ढूंढ़ रहा है। यह नहीं कि वह कोई सच्चाई पेश कर रहा हो, बल्कि यों लगता है कि वह कविता के माध्यम से किसी सच्चाई को ढूंढ़ रहा है। यह विशेषता प्रीतमसिंह सफ़ीर की कविता में विशेष रूप में नज़र आती है। यों लगता है कि 'सफ़ीर' पाठकों को कुछ समझाने के बजाय स्वयं अपनी कविता द्वारा किसी अटल सत्य को समझने का यत्न कर रहा है। जैसे वह अपनी भावनाओं में मस्त किसी अमर सुन्दरता को टटोल रहा है, जिसकी झलकियां ही उसे नज़र आ रही हैं और वह उन्हें अपने पाठकों की ओर मोड़ रहा है। मोहनसिंह की कविता में संयम है, विचारों की प्रौढ़ता है, भावनाओं की तीक्ष्णता है और अनुभव है, जो आयुपर्यन्त प्रेम करने के पश्चात प्राप्त होता है, आयु-पर्यन्त जीवन के संघर्ष से गुज़र कर मिलता है, सोच-समझकर जीवन बिताने से आता है। मोहनसिंह पुराने मूल्यों का खण्डन करता है, नये स्वस्थ मूल्यों का प्रचार करता है।......प्रीतमसिंह सफ़ीर एक प्रकार से नई पंजाबी कविता का प्रतीक है। उसकी कविता में वे सारे गुण हैं (या अवगुण हैं) जो पश्चिम की नई कविता के पाठकों को प्रतीत होते हैं। उसकी कविता में बड़े हद दर्जे का सनकीपन है, यह सनकीपन ऑडन की तरह आध्यात्मिकता में पलायन ढूंढ़ता है। कर्त्तारसिंह दुग्गल अपने मूर्तरूप समाज के शिक्षित वर्ग से लेता है और कभी-कभी इस वर्ग के जीवन पर जोरदार व्यंग्य करता है। ......नई पंजाबी कविता का जिक्र देवेन्द्र सत्यार्थी और अमृता प्रीतम की साहित्य को देन की चर्चा किये बिना पूरा नहीं समझा जा सकता। देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने विशाल अनुभव और लोकगीत-सम्बन्धी यात्राओं के फलस्वरूप पंजाबी कविता में पंजाब से बाहर के चित्र और पंजाब से बाहर की संस्कृति को पंजाबी कविता में अंकित किया। सत्यार्थी की कविता की शैली में लोकगीतों का-सा मुक्त प्रवाह और आवेश है, जो इनसे पहले की नज़र नहीं आया था। सत्यार्थी की कविता में धरती का निकटतम स्पर्श है और उन मूल्यों में कवि का विश्वास पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है जो हमारे जीवन में पुराने-से-पुराने और नये-से-नये हैं।......अमृता प्रीतम मज़दूरों, गरीबों, किसानों और हमारे समाज के पद-दलित लोगों की आवश्यकताओं, मांगों और मुसीबतों को एक स्त्री का हृदय लेकर अनुभव करती है

और उसकी चुभन इसीलिए अधिक तीखी और सदैव अधिक प्रभावशाली रही है।"[1]

साहित्य अकादमी की ओर से अमृता प्रीतम के कविता-संग्रह 'सुनेहड़े' और मोहनसिंह के कविता-संग्रह 'वड्डा वेला' को सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ होने का पांच-पांच हज़ार रुपयों का पुरस्कार दिया जा चुका है।

नये पंजाबी कवियों में डॉ० गोपालसिंह दर्दी, ईश्वर चित्रकार, सन्तोखसिंह धीर, प्रभजोत कौर, प्यारासिंह सहराई, जसवन्तसिंह नेकी, गुरुचरण रामपुरी, ज्ञानसिंह, दियोल, सुखबीर, तख्तसिंह, हज़ारासिंह, गुरदासपुरी, तारासिंह और डाक्टर हरिभजनसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

तारासिंह के कविता-संग्रह 'सिम्मदे पत्थर' और हज़ारासिंह के कविता-संग्रह 'मिट्टी रोई' के आमुख डॉ० हरिभजनसिंह ने लिखे हैं। निश्चित रूप से हरिभजनसिंह इस युग का तेजासिंह प्रतीत होता है। पर आलोचक से कहीं अधिक हरिभजनसिंह का कवि-रूप ही हमें प्रभावशाली प्रतीत होता है। उसका प्रथम कविता-संग्रह 'लासां' और काव्य-नाटक 'तार-तुपका' का पंजाबी के नये आलोचकों ने विशेष स्वागत किया है।

उपन्यास

मियां बख्श मिनहास का सामाजिक उपन्यास 'नवाब खां' (उर्फ 'जट्ट दी करतूत') गुरुमुखी लिपि में प्रकाशित कराने का श्रेय भाई जोधसिंह को है। इससे पूर्व जो उपन्यास भाई वीरसिंह ने लिखे, उनका उद्देश्य साहित्यिक न होकर धार्मिक प्रचारात्मक ही कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'नवाब खां' पंजाबी का पहला सामाजिक उपन्यास है, जिसमें पहली बार किसानों की सामाजिक बुराइयों पर चोट की गई है।

यहां हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि अमृतसर के हकीम सुन्दरसिंह ने 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का पंजाबी-अनुवाद प्रस्तुत किया और उसके द्वारा लोगों में उपन्यास पढ़ने की भूख पैदा की।

आज पंजाबी के लोकप्रिय उपन्यासकार हैं नानकसिंह, जिन्होंने अपना जीवन 'सतगुरु महिमा' नाम की एक काव्य-रचना द्वारा शुरू किया था। उन्होंने कुछ कहानियां भी लिखीं। पर 'चिट्टालहू' उपन्यास के साथ वे प्रसिद्ध हुए, जिसका आमुख प्रो० तेजासिंह ने लिखा था। नानकसिंह के नये उपन्यास की पाठक बाट जोहते रहते हैं। नानकसिंह के उपन्यासों में हमें आधुनिक उपन्यास की प्रगति उतनी नहीं दिखाई देती, फिर भी वह एकाकी अपने पथ पर चला जा रहा है; वह परवाह नहीं करता कि आलोचक क्या कहते हैं।

जिन लोगों ने नानकसिंह से हट कर रास्ता बनाने की चेष्टा की उनमें सन्तसिंह सेखों, कर्त्तारसिंह दुग्गल, सुरिन्द्रसिंह नरूला, जसवन्तसिंह कंवल, नरेन्द्रपालसिंह, महेन्द्रसिंह सरना, अमृता प्रीतम और देविन्दर के नाम उल्लेखनीय हैं। सन्तसिंह सेखों तो एक उपन्यास 'लहू-मिट्टी' लिखकर ही रुक गया। कर्त्तारसिंह दुग्गल के दो उपन्यास 'आंद्रां' और 'नहुं ते मास' में पोठोहार (रावलपिण्डी) का आंचलिक वातावरण मिलता है। सुरिन्द्रसिंह नरूला ने 'पिओपुत्तर' लिखा, जो अमृतसर के गिर्द घूमता है। उसने और भी कई उपन्यास लिखे, पर नरूला अपने पाठक पैदा नहीं कर सका। जसवन्तसिंह कंवल के उपन्यास 'पाली', 'पूर्णमासी', 'सिविल लाइन्ज़' और 'रूपधारा' आदि अपना स्थान बनाते चले गए। महेन्द्रसिंह सरना का एक ही उपन्यास 'वीड़ां मल्ले राह' प्रकाशित हुआ है, जो बेहद पसन्द किया गया। अमृता प्रीतम के उपन्यास हल्की-फुल्की प्रेम-कथाएं होते हैं। देविन्दर का उपन्यास 'खुशबो' १९५७ में प्रकाशित हुआ था। इसका आमुख लोचन बख्शी ने लिखा। देविन्दर कदाचित पंजाबी के सभी उपन्यासकारों में सबसे कम आयु का लेखक है, पर उसकी लेखनी बहुत मंजी हुई है। 'खुशबो' की शैली भी प्रभावशाली है।

कहानी

पंजाबी साहित्य में कहानी का स्तर बहुत ऊंचा है। इन कहानी-लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं—सन्तसिंह सेखों, गुरुबख्शसिंह, देवेन्द्र सत्यार्थी, कर्त्तारसिंह दुग्गल, सुजानसिंह, अमृता प्रीतम, लोचन बख्शी, सन्तोखसिंह धीर, महेन्द्रसिंह सरना, कुलवन्तसिंह विरक, अमरसिंह, सुखबीर, गुरबेल पन्नू, गुरमुखसिंह जीत, गुरबचनसिंह, प्रीतमसिंह पंछी, नवतेजसिंह, बलवन्त गार्गी और महेन्द्रसिंह जोशी आदि।

१. प्रो० दीवानचन्द शर्मा, 'आधुनिक पंजाबी कविता', आजकल (कविता-अंक), मई १९५३

नाटक

आई० सी० नन्दा ने 'सुभद्रा' और 'लिली दा व्याह' (उर्फ 'हठ-धठ') आदि नाटक लिखकर ख्याति प्राप्त की। गुरुवख्शसिंह ने 'राजकुमारी लतिका ते होर ड्रामे' पुस्तक के द्वारा नाटक के क्षेत्र में प्रवेश किया। सन्तसिंह सेखों ने भी कुछ अच्छे नाटक लिखे हैं। पर जिस तरह नानकसिंह उपन्यास में छा गया, वैसे ही बलवन्त गार्गी नाटक के क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय लेखक सिद्ध हुआ। नाटक-रचना में कर्त्तारसिंह ने भी योगदान दिया। पर दुग्गल की नाटक-कला पर रेडियो का प्रभाव अधिक है। नाटक के क्षेत्र में हरचरणसिंह, कपूरसिंह घुम्मण, गुरुचरणसिंह जसूजा के नाम उल्लेखनीय हैं।

निबन्ध

प्रो० तेजासिंह और गुरबख्शसिंह ने निबन्ध की कला में आधुनिक प्रयोग किए हैं। गद्य-लेखन की कला को इन दोनों लेखकों ने अधिक से अधिक परिमार्जित करने का यत्न किया। इस दिशा में स्वर्गीय हरिन्द्रसिंह रूप की पुस्तक 'रूप-रंग' का उल्लेख आवश्यक है।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य सम्बन्धी अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें सबसे नई और बृहत् पुस्तक है 'पंजाबी लोक-गीत', जिसके लेखक हैं महिन्द्रसिंह रन्धावा और देवेन्द्र सत्यार्थी। आरम्भ में डेढ़ सौ पृष्ठों की भूमिका है और फिर साढ़े चार सौ पृष्ठों में अनेक विषयों में विभक्त लोकगीत प्रस्तुत किये गए हैं। इसका प्रकाशन 'साहित्य अकादमी' द्वारा हुआ है।

बालज़ाक का प्रसंग

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पंजाबी में आलोचना का स्तर सबसे नीचा है। यह तो सम्भव है कि एक बद-नीयत और नैतिकताशून्य प्राणी कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक या नाटयकार बन जाए, पर ऐसा प्राणी आलोचक के रूप में अपना हक अदा नहीं कर सकता।

उर्दू-कवि अकबर इलाहाबादी ने खूब कहा है :

आजकल बिगड़ी हुई हैं कुछ हवा-ए-गुलसितां,
बाग़बां पर गुन्चे हँसते हैं गुलों पर बाग़बां !

न जाने यह स्थिति कब तक रहेगी ? जब तक स्थिति नहीं सुधरती, यही कहने को जी चाहता है—'बढ़े चलो, मित्रो ! यह रास्ता तो बहुत लम्बा है और यह तो चलकर ही कटेगा।'

यहां इस प्रसंग में बालज़ाक की बात याद आ रही है। बेचारे बालज़ाक को जीवन-काल में आलोचकों की अच्छी राय कभी प्राप्त न हुई। जब वह चला गया, तो बड़े-बड़े आलोचक उसकी प्रशंसा करने लगे। बालज़ाक को जब रोग ने आ घेरा, तो अनेक डाक्टर उसका इलाज करने आए। क्या मजाल कि किसी की भी दवा काम कर जाय। रोग बढ़ता गया। बालज़ाक ने मृत्यु-शैया पर पड़े-पड़े कहा—'अरे तुम बिऐनचन को क्यों नहीं बुलवाते ? वह मुझे मौत के मुंह से बचा लेगा।' आप पूछेंगे, बिऐनचन कहां प्रैक्टिस करता था ? बिऐनचन तो बालज़ाक के उपन्यासों का एक ईमानदार और अनुभवी डाक्टर पात्र था।

सच बात तो यही है कि जो चीज लेखक को बचा सकती है, वह उसकी अपने प्रति और अपने पाठकों के प्रति ईमानदारी और सच्चाई है; किसी आलोचक की छाती ठोंक कर कही हुई गर्वोक्ति नहीं कि—'जा बेटा, तेरे सिर पर सदा हमारा हाथ रहेगा और हमारे रहते तेरे रास्ते में संकट नहीं आ सकता।' साहित्यकार की जय-यात्रा तो उसके भीतर से ही आरम्भ होती है।

बीसवीं शताब्दी का बंगला-साहित्य

श्री मन्मथनाथ गुप्त

यों तो इस शताब्दी के पहले ही बंगला-साहित्य बहुत उन्नति कर चुका था और उसमें बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र आदि महान कलाकारों का उदय हो चुका था, जिनका नाम अपनी भाषा के बाहर भी फैल चुका था; पर इस शताब्दी में आकर बंगला-साहित्य को विश्व-साहित्य में स्थान प्राप्त हुआ। पर यह नहीं समझना चाहिए कि ऐसा एकाएक या केवल एक व्यक्ति की साधना के फलस्वरूप हुआ, बल्कि इसके पीछे बहुत बड़ी साधनाएं रही हैं। ये साधक सामने नहीं आ पाए, क्योंकि रवीन्द्र और शरत ने ऐसी चकाचौंध फैला दी कि उसके सामने वे फीके पड़ गए।

रवीन्द्र-साहित्य का परिचय देने के पहले कुछ ऐसे उपन्यासकारों का भी परिचय दे देना उचित होगा, जिन्हें अति आधुनिक उपन्यासकारों में हम गिना नहीं सकते, पर वे इसी शताब्दी की आरम्भ की ओर प्रसिद्ध हुए और अच्छे उपन्यास लिख गए। ऐसे उपन्यासकारों में प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। रवीन्द्र और शरत की चकाचौंध में जिन उपन्यासकारों को बंगला में, और इसलिए बंगला के बाहर, उचित सम्मान न मिल सका, उनमें वे प्रमुख हैं। प्रभात बाबू ने कई उपन्यास लिखे। उनका पहला उपन्यास 'रमा सुन्दरी', 'भारती' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होता रहा। इसमें एक स्त्री रमा सुन्दरी का चरित्र-चित्रण है जो विवाह के पहले तक बड़ी ही नटखट साहसी रहती है, उसमें स्त्री का स्वभाव बिलकुल नहीं है, पर विवाह के बाद ही वह स्नेहशीला पत्नी बन कर रह जाती है।

बाद को प्रभात बाबू ने 'नवीन संन्यासी', 'रत्नदीप', 'सिन्दूर कोटा', 'जीवनेर मूल्य', 'मनेर मानुष' आदि बहुत से उपन्यास लिखे। कहानियां लिखने में उन्हें विशेष सफलता मिली। उनकी अधिकांश कहानियां हास्यरस की हैं। कुछ कहानियां अवैध प्रेम के सम्बन्ध में भी हैं। उनकी कई कहानियां स्वदेशी-आन्दोलन पर हैं। रवीन्द्र के बाद कहानियों की धारा को अक्षुण्ण रखने में उन्हें एक बड़ी कड़ी मानना पड़ेगा।

बंगला के गद्यकारों में प्रमथ चौधुरी बहुत ही प्रमुख व्यक्ति हो गए हैं। यों तो उन्होंने कहानियां लिखीं और वे कहानियां अपने समय में बहुत प्रसिद्ध भी हुई, पर बंगला-साहित्य में उनका सबसे बड़ा दान बोल-चाल वाला गद्य है। उन्होंने सम्पूर्ण रूप से बोलचाल की भाषा को अपना कर एक नई शैली की स्थापना की, जिसका प्रभाव सारे साहित्य पर पड़ा। उनकी 'चारयारी कथा' चार कहानियों का संग्रह है, पर उनमें एक अन्तर्निहित योगसूत्र भी है। आज यदि उनकी रचनाओं को पढ़ा जाए, तो यह नहीं पता लग सकता कि वे क्यों अपने समय के साहित्य पर इतना अधिक प्रभाव डालने में समर्थ हुए। बोलचाल की भाषा को साहित्य में सुप्रतिष्ठित करना यह उन्हीं के उद्यम और अध्यवसाय का काम था। इस सम्बन्ध में उनकी सेवा कितनी बड़ी है, यह श्री कुमार बन्द्योपाध्याय के इन वाक्यों से ज्ञात होगा:

"मुख्य रूप से उन्हीं के समर्थन के कारण बोलचाल की भाषा साहित्य की ड्योढ़ी पर एक भिखारी की तरह नहीं, बल्कि समान शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी की तरह साधु भाषा के सिंहासन के आधे अंश पर अधिकार जमा कर बैठ गई है। यहां तक कि रवीन्द्रनाथ ने भी उनकी उक्ति व दृष्टान्त से अनुप्राणित होकर अपनी परवर्ती रचनाओं में बोल-चाल की भाषा का प्रचलन किया, इसीलिए उपन्यासकार की दृष्टि से उनका स्थान उतना ऊंचा न होने पर भी हमारी

मंदीभूत चिन्तांधारा में नये स्रोत का वेग पहुंचाना और बुद्धिप्रधानता-युक्त मनोवृत्ति प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें मिलना चाहिए। इस विषय में वे अंग्रेजी साहित्यकार चेस्टर टन के समतुल्य है। यद्यपि उनमें चेस्टर टन की तड़ित-प्रभा की तरह चकाचौंध कर देने वाली बुद्धि की असिक्रीड़ा का अभाव है।"

राजशेखर बसु उर्फ परशुराम शायद समूचे भारतीय साहित्य में अपने ढंग के एक ही लेखक हैं। कभी वे धर्म पर व्यंग्य करते हैं तो कभी समाज-व्यवस्था पर, कभी चिकित्सा-प्रणाली पर तो कभी राजनीति पर। उनकी बहुत-सी रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद हुआ है और बराबर होता गया है। उनकी रचना को एक विशेष श्रेणी में लाना सम्भव नहीं है, क्योंकि हास्य से सम्बद्ध सभी प्रकार के अस्त्र उनके निकट मौजूद हैं।

श्री केदारनाथ वन्द्योपाध्याय हास्यरस के एक बहुत प्रसिद्ध लेखक हुए हैं। बंगला-साहित्य में वे हास्यरस के कदाचित सबसे प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं, पर उनका हास्यरस भाषा से इस प्रकार बंधा हुआ है कि वे बंगला के बाहर प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सके, यद्यपि उनका हास्यरस किसी भी प्रकार परशुराम से निकृष्ट नहीं है।

इसके बाद हम एकदम से रवीन्द्र-साहित्य में छलांग लगाते हैं। यद्यपि कवीन्द्र रवीन्द्र का उदय बंकिमचन्द्र के युग में ही हुआ था और बंकिमचन्द्र ने उनका अभिनन्दन किया था, पर इसी शताब्दी के प्रारम्भ में उनको देश तथा विदेश में स्वीकृति प्राप्त हुई। रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा को कितना समृद्ध बना दिया, इसका कुछ अनुमान एक आलोचक के इन शब्दों से किया जा सकता है :

'रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य इतनी अधिक बढ़ा दी कि यह कहा जा सकता है कि किसी एक लेखक ने अकेले किसी भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य इतनी नहीं बढ़ाई। रवीन्द्र गद्य-रीति का यह मौलिक गुण है कि वे केवल बुद्धि को उद्‌बुद्ध करके निवृत्त नहीं होते, बल्कि मन के गहन अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर चित्त की गम्भीरतम अनुभूति को जाग्रत कर देते है। इसी कारण रवीन्द्रनाथ को, गद्य-शैली में वाक्यालंकार के बीच में उत्प्रेक्षा उपमा, रूपक, श्लेष और विरोधाभास का प्रयोग सबसे अधिक है। इनमें भी उत्प्रेक्षा की ही प्रधानता है। रवीन्द्रनाथ के गद्य में आदि से अन्त तक उत्प्रेक्षा-प्रधान उक्तियों का बोलबाला है।'[1]

रवीन्द्रनाथ की गद्य रचनाओं को तीन युगों में बांटा गया है—(१) ज्ञानांकुर-भारती युग, याने पन्द्रह साल से बाईस साल की उम्र तक, (२) हितवादी-साधना-भारती-बंगदर्शन-प्रवासी, यानी बाईस साल से इक्यावन की उम्र तक, (३) सबूग ? पत्र-युग याने इसके बाद का युग। उनकी गद्य-शैली बराबर विकसित होती रही। पहला युग तो साधना का युग था, दूसरा युग अष्टसिद्धियों और नवनिधियों का युग कहा जा सकता है और तीसरे युग में उन्होंने युग की ढाल को देखते हुए एकदम से बोलचाल की भाषा अपना ली। उनकी प्रथम गद्यरचना मे ही उनके अध्ययन की विशालता, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का ज्ञान, साथ ही काव्य और संगीत के सम्बन्ध में गहरा ज्ञान सूचित होता है।

उस लेख से दो एक वाक्य लीजिये—

'इसी गीतिकाव्य से फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला, गीतिकाव्य के ही कारण चैतन्य के धर्म ने बंगाल में जड़ पकड़ ली और इसी काव्य के कारण बंगालियों के निर्जीव हृदय में जीवन का कुछ-कुछ संचार हो रहा है।'

'शेक्सपियर दूसरों के हृदय का चित्रण करके दृश्य काव्य में असाधारण हो गए है, पर अपने हृदय के चित्रण में असमर्थ होने के कारण वे नीति काव्य में बहुत बड़े नहीं हो सके। इसी प्रकार कविवर बायरन अपने हृदय के चित्रण में असाधारण है, पर दूसरों के हृदय के चित्रण में अक्षम हैं। गीति-काव्य अकृत्रिम है क्योंकि वह अपने हृदय-कानन का पुष्प है, और महाकाव्य शिल्प है क्योंकि वह दूसरे के हृदय का अनुकरणमात्र है। इसी कारण हम लोग वाल्मीकि, व्यास होमर, वर्जिल आदि प्राचीन कवियों की तरह महाकाव्य नहीं लिख सकेंगे, क्योंकि प्राचीनकाल में लोग सभ्यता के आच्छादन में हृदय को गुप्त रखना नहीं जानते थे, इस कारण कवियों के लिए यह सम्भव था कि दूसरे हृदयों में प्रत्यक्ष कर अनावृत हृदयों को सहज में ही चित्रित कर सकें।'

पन्द्रह वर्ष के बालक रवीन्द्र की यह रचना है। इसके बाद कुछ दिनों में 'भारती' पत्रिका प्रकाशित हुई

१. बांगला-साहित्य, गद्य-पृष्ठ २५७

और उसमें वे माईकेल के 'मेघनाद-वध' के आलोचक के रूप में सामने आए। 'भारती' की तृतीय संख्या से रवीन्द्रनाथ का 'करुणा' नाम से एक उपन्यास चलने लगा। इसके बाद 'भारती' के तीसरे साल में धारावाहिक रूप से यूरोप-प्रवासी के पत्र प्रकाशित हुए, जो १८८१ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

हमने उनके गद्य साहित्य का पहले उल्लेख इस कारण किया कि साधारणतः उनके नाम के साथ कवीन्द्र शब्द जुड़ जाने के कारण वे मुख्यतः कवि समझे जाते हैं; पर नहीं, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना यहां तक कि व्याकरण और भाषाविज्ञान, बालसाहित्य आदि के क्षेत्र में भी वह युगप्रवर्तक माने गए हैं।

बंगला-साहित्य के बाहर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के साहित्य का सौरभ बहुत-कुछ उसकी अन्तर्गत वस्तु या भाव के ऐश्वर्य के कारण फैला। स्वाभाविक रूप से रवीन्द्रनाथ की शैली और भाषा की पृष्ठभूमि में कौन-से तत्त्व क्रिया-शील रहे, इनकी तरफ अनुवाद के जरिए से रवीन्द्र-साहित्य का आस्वादन करने वाले लोगों का ध्यान नहीं जाता।

कोई कहता है रवीन्द्रनाथ ने उपनिषदों तथा हमारे प्राचीन साहित्य से लिया, कोई इसी प्रकार उन्हें पाश्चात्य साहित्य का ऋणी बतलाता है, तो कोई और कुछ बतलाता है; पर जिस उत्स से उन्होंने सबसे अधिक लिया और जिसके वे सबसे अधिक ऋणी हैं, उसके स्रोतमुख की तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है। कम-से-कम जो लोग केवल अनुवाद के जरिए से उनके साहित्य को पढ़ते हैं वे उसके सम्बन्ध में बिल्कुल अज्ञ रह जाते हैं।

रवीन्द्रनाथ के ग्रहणशील मन ने हजारों क्षेत्रों से लिया। उन्होंने प्राच्य से लिया, पाश्चात्य से लिया, प्राचीन से लिया, आधुनिक से लिया, यह ठीक है; पर उन्होंने इन उत्सों के अतिरिक्त बंगाल के लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-संगीत से लिया। यद्यपि रवीन्द्रनाथ, आधुनिक से आधुनिक थे, यहां तक कि जब तक वे जीते रहे तब तक खड़-छंन्द लिखकर भी वे आधुनिकों के पुरोभाग में रहने की आप्राण चेष्टा करते रहे, फिर भी उन्होंने लोक-साहित्य और लोक-संगीत की दुग्धधारा को आकंठ पान किया था।

यहां यह बता दिया जाय कि लोक-साहित्य और लोक-संगीत से उनका परिचय पुस्तकों के जरिए से नहीं था, बल्कि यह परिचय सीधा और प्रत्यक्ष था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उन्होंने लोक-साहित्य और लोक-संगीत से उसी प्रकार से घनिष्ठता प्राप्त की थी जिस प्रकार से बछड़ा अपनी मां के दूध से परिचय प्राप्त करता है। इस परिचय के लिए बछड़े को जैसे किसी प्रकार के मिल्क पाउडर की सहायता नहीं पड़ती, उसी प्रकार से रवीन्द्रनाथ ने बंगाल के लोक-साहित्य और लोक-संगीत से परिचय प्राप्त किया था।

यद्यपि उनके परिवार में पाश्चात्य प्रभाव का सबसे अधिक प्रवेश हुआ था, फिर भी वे कभी ग्रामविमुख नहीं रहे। सुदीर्घ समय के लिए वे गांवों में जाकर रहते और वहां उन्हें साधारण बाउल, भटियाल आदि से गांवों के गाने सुनने का मौका मिलता। इसमें वे बहुत रस लेते थे। यहां मैं रवीन्द्र-संगीत पर ब्यौरे में कुछ न कहूंगा, केवल इतना ही बताना यथेष्ट है कि रवीन्द्र-संगीत बंगाल के लोक-संगीत को लेकर ही अपना ताना-बाना बुनता है। रवीन्द्रनाथ की भाषा पर भी बंगाल के लोक-संगीत का अमिट प्रभाव है।

रवीन्द्रनाथ ने इस ऋण को कभी अस्वीकार नहीं किया। वे इस बात को समझते थे कि लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक-संगीत में ऐसा अमूल्य रत्नभंडार भरा पड़ा है, जिसे किसी भी हालत में छोड़ा नहीं जा सकता। योग्य सन्तान पैतृक सम्पत्ति को छोड़ती नहीं है, पर उसी तक अपने को सीमित न कर वह उसे और बढ़ाती है। यही रवीन्द्रनाथ ने किया। उन्होंने अपने संगीत की मिट्टी तो लोक-संगीत के क्षेत्र से ली, पर उसे उसी रूप में न छोड़कर रवीन्द्र-संगीत के सौध का निर्माण किया।

रवीन्द्रनाथ की साधना का ही फल है कि बंगाल में हिन्दुस्तानी संगीत और प्राचीन लोक-संगीत के अति-रिक्त एक नये संगीत की सृष्टि हुई, जो रवीन्द्र-संगीत के नाम से अब सारे भारत में कुछ या अधिक परिचित है। केवल यही नहीं, बंगला में फिल्म-संगीत के अतिरिक्त एक आधुनिक संगीत बना है, जो लोक-संगीत से अपनी अनुप्रेरणा लेता है। रवीन्द्रनाथ ने भी लोक-संगीत से अनुप्रेरणा ली, पर उन्होंने अपने संगीत को एक दृढ़ और सुसंगठित, स्वाभाविक रूप से सीमित रूप दिया। बंगाल के आधुनिक संगीत में भी उसी साधारण उत्स से अनुप्रेरणा आती है, पर यह अनु-

प्रेरणा दूसरे दरवाजे से और रूप में आती है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ ने बहुत गाने लिखे, पर उन्होंने लोक-संगीत के सारे उत्स को खर्च तो नहीं कर लिया था, इस कारण आधुनिक संगीत की उसी धारा से उत्पन्न होने तथा बराबर पनपते जाने की गुंजाइश बनी रही और शायद हमेशा बनी रहे; क्योंकि लोक-संगीत कोई आबद्ध जलाशय नहीं है, वह भी तो बराबर बढ़ता और कुछ-न-कुछ बदलता जा रहा है।

रवीन्द्रनाथ ने न केवल लोक-साहित्य और लोक-संगीत से अनुप्रेरणा ली, बल्कि उन्होंने लोक-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ खोजें भी कीं, और लोक-साहित्य का कुछ संग्रह भी किया। उन्होंने लोक-साहित्य के एक अंश पर ही याने लोरियों पर ही विशेष रूप से खोज की, आज में इस लेख में उसी का कुछ परिचय दूंगा। उसी से यह ज्ञात हो जाएगा कि लोक-साहित्य के सम्बन्ध में उनके मन में किस प्रकार की भावनाएं थीं और वे उसे कितने आदर की दृष्टि से देखते थे।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ मुख्यतः उच्च वर्ग के ही लेखक और कवि रहे हैं, यद्यपि उनके साहित्य में नरम ढंग के लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी बात की आवाज़ नहीं उठती, फिर भी उनके साहित्य का आवेदन इससे कहीं अधिक है। इसका कारण यह है कि जिस शैली, भाषा और संगीत को उन्होंने अपनाया, बल्कि जिससे उन्होंने अनुप्रेरणा ली, वह जनता की अपनी चीज थी, और उससे जनता परिचित थी। उसकी अन्तर्गत वस्तु कुछ भी हो, (यह तो बाद की बात है) जनता उसे प्रथम दृष्टि में ही अपनी चीज करके अभिनन्दित करने के लिए तैयार थी।

१९१३ में उनको 'गीतांजलि' के अनुवाद पर नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ, जिससे उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई; पर यहां यह बता दिया जाए कि बंगला गीतांजलि और अंग्रेजी गीतांजलि अलग हैं यानी कुछ गीत भिन्न हैं।

इतना ही कहकर हमें रवीन्द्र साहित्य से छुट्टी कर लेनी चाहिए क्योंकि यदि हम इस सम्बन्ध में ब्यौरे देने लगे तो उसका कोई अन्त नहीं है। एक बार किसी नवीन लेखक को डाटते हुए किसी ने हिसाब लगाकर दिखाया था कि रवीन्द्रनाथ ने इतना लिखा है कि यदि सात वर्ष तक दिन-रात जागकर कोई लिखे तो उतना लिख सकता है। यानी परिमाण की दृष्टि से भी वह बहुत अधिक है। 'शान्ति निकेतन' की ओर से बंगला में रवीन्द्र-रचनावली की मोटी-मोटी जिल्दें प्रकाशित हुई हैं, ऐसी लगभग तीन दर्जन जिल्दों में उनकी रचना समाप्त हुई है। उसमें से प्रत्येक जिल्द बड़ डिमाई आकार के सात सौ पृष्ठों की है।

रवीन्द्रनाथ के बाद ही शरतचन्द्र बंगला के बाहर अपनी कृतियों के कारण प्रसिद्ध हैं। नन्दगोपाल सेन गुप्त ने लिखा है--'रवीन्द्र के उपन्यास में हमें मनुष्य के संस्कृति शुद्ध मन की कामना-कल्पना और आघात-संघात का रूप प्राप्त हुआ था। शरतचन्द्र ने ही पहले पहल पाप-ताप, स्खलन-पतन के अन्दर से मनुष्य की आत्मिक महिमा को उज्ज्वल करके सामने रख दिया। उन्होंने ही पहले-पहल देश को यह समझाया कि समाज के सोपान में जो लोग नीचे पड़े हैं, जो उपेक्षित और अवज्ञात हैं, मनुष्यता की दृष्टि से वे कथित संभ्रान्त लोगों से किसी भी तरह निकृष्ट नहीं हैं। जिन लोगों ने परिस्थितियों की मार के कारण या किसी कमजोरी के कारण अन्याय या पाप के मार्ग में कदम रखा है, वे दूसरे बहुत से सदगुणों की सम्भावना को देखते हुए केवल उस अपराध के कारण मनुष्यता के अधिकार से वंचित नहीं हो सकते। शरतचन्द्र के पहले किसी ने इतनी स्पष्टता के साथ यह बात नहीं कही। इस देश में लोगों को हमेशा से सम्मान इस कारण मिला है कि वह ब्राह्मण हैं या जमींदार हैं या बड़े मनसब या ओहदे के अधिकारी हैं। बाहर की इस झूठी चकाचौंध से मुक्त केवल मनुष्य रूप में मनुष्य को समाज में कभी स्वीकृति नहीं मिली, यहां तक कि साहित्य में भी स्वीकृति नहीं मिली। बंकिम, माइकेल, यहां तक कि रवीन्द्रनाथ में भी मनुष्य का सर्वात्मक मानवीय अधिकार अस्वीकृत हुआ है। हां, दीनबन्धु मित्र की रचनाओं में और उनके बाद शरतचन्द्र में वास्तविक मनुष्य का दर्शन होता है और उसका पाप-ताप, स्खलन-पतन सामने आता है और साहित्य में उसे स्वीकृति दी गई है। जिन उपादानों को कभी घृण्य, यहां तक कि दूषणीय समझा जाता था और कला के क्षेत्र में पंक्ति में न बैठ सकने वाले और निन्दित समझे जाते थे, उन्हीं के अन्दर से शरतचन्द्र ने मनुष्य के अन्तर्निहित मनुष्यत्व को प्रस्फुटित करके सामने रखा। लठैत अकबर अली, पतिता चन्द्रमुखी, किसान गफूर, जातिच्युत अन्नदा दीदी को शरत-साहित्य के क्षेत्र में वही सम्मान प्राप्त हुआ है जो रमेश, ताई, गिरीश

या महिम इत्यादि को प्राप्त हुआ है।'

हम उक्त समालोचक की सारी बातों से सहमत नहीं हैं, पर इसमें सन्देह नहीं है कि शरतचन्द्र ने मध्यवित्त वर्ग को ही मुख्यतः अपने उपन्यासों का पात्र बनाया और उन्हीं की विचारधारा और गुत्थियों को सामने रखा, पर यह स्मरण रहे कि उन्होंने भी मुख्यतः हृदय-सम्बन्धी और सामाजिक गुत्थियों को ही सामने रखा, आर्थिक गुत्थियों को नहीं। मैंने शरतचन्द्र-सम्बन्धी अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट दिखलाया है कि उनके सारे पात्र ऐसे हैं जिन्हें रोटी कमाने की कोई फिक्र नहीं है। 'चरित्रहीन', 'देवदास' किसी भी उपन्यास को लीजिये, कहीं भी मनुष्य आर्थिक उलझनों में पड़ा हुआ एक प्राणी है, इसका परिचय नहीं मिलता है। हां, महेश नामक उनकी कहानी में हम इसका परिचय पाते हैं।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि शरतचन्द्र का युग चला गया; पर यह समझना भूल है, क्योंकि जो गुत्थियां उनके सहित्य की उपजीव्य हैं, वे अब भी भारतीय जीवन में ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। इसके अलावा उनका साहित्य, साहित्य रूप में बहुत श्रेष्ठ है। उन गुत्थियों के सुलझ जाने के बाद भी वह साहित्य अमर रहेगा।

जिस समय शरतचन्द्र और रवीन्द्र बंगला-साहित्य के गगन में खूब तप रहे थे, उन्हीं दिनों 'कल्लोल' नाम से एक पत्रिका का उदय हुआ, जिसके इर्द-गिर्द कुछ नये साधक सामने आए।

बंगला-साहित्य के क्षेत्र में कुछ पत्रिकाओं ने साहित्य-निर्माण और युग को ढालने में इतना अधिक कार्य किया है कि थोड़े समय बाद लुप्त हो जाने पर भी बंगला-साहित्य में उनका नाम अमर रहेगा। ऐसी पत्रिकाओं में बंकिमचन्द्र का 'बंगदर्शन', सुरेशचन्द्र समाजपति का 'साहित्य', रामानन्द चट्टोपाध्याय का 'प्रवासी', रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विचित्रा' बहुत उल्लेखनीय हैं; पर इन सबसे कहीं महत्त्वपूर्ण श्री दिनेशरंजनदास और गोकुल नाग द्वारा सम्पादित 'कल्लोल' है।

इस पत्रिका का जीवन-काल केवल सात वर्ष तक सीमित रहा, फिर भी इसको बंगला-साहित्य में इस कारण महत्त्व प्राप्त हुआ कि रवीन्द्रोत्तर सारे बंगला-साहित्य का यह केन्द्र बन गया।

यद्यपि कवीन्द्र ने बंगला-साहित्य के भण्डार को दोनों हाथों से हीरों और मोतियों से भर दिया, और उसके किसी भी अंग को खाली नहीं रखा, फिर भी रवीन्द्र-साहित्य को अपने युग का प्रतीक नहीं कहा जा सकता था। कम-से-कम कुछ शक्तिशाली और कर्मठ लोग ऐसा समझते थे। रवीन्द्रनाथ सारे बंगला-साहित्य पर छा गए थे, इन लोगों के अनुसार बुरी तरह छा गए थे, इस कारण ये समझते थे कि इसे रवीन्द्र-प्रभाव से मुक्त कर आधुनिक जीवन के कलकलमय कल्लोल में लाने की आवश्यकता है।

यहां कहीं कुछ गलतफहमी न हो जाय, इसलिए यह बता दिया जाय कि कल्लोल से बहुत पहले ही शरतचंद्र का आविर्भाव हो चुका था। यद्यपि शरत बाबू ने स्वयं ऐसा कभी नहीं कहा, पर इस बात को बंगला-साहित्य के बाहर भी लोग जानते हैं कि शरतचन्द्र हर तरीके से रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रभावित होने पर भी उनका साहित्य रवीन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत नहीं था; और यह कहा जा सकता है कि बंगला-साहित्य को पहली बार कवीन्द्र रवीन्द्र से मुक्ति उन्हीं के हाथों मिली। फिर भी शरतचन्द्र इस अर्थ में अति आधुनिक होते हुए भी, और उनका साहित्य आधुनिक जीवन की कुछ समस्याओं के समाधान की ओर साहसपूर्वक हाथ बढ़ाने पर भी आधुनिक जीवन की कई ऐसी समस्याएं थीं, जिनको बहुत कम छू पाया।

इन्हीं बातों को लेकर 'कल्लोल' की स्थापना हुई। बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक अचिन्त्यकुमार सेन-गुप्त, जो इस कल्लोल-परिवार के सदस्य हैं इस सम्बन्ध में क्या लिखते हैं, यह सुनने लायक है। कल्लोल के साथ-साथ 'संहति' नाम से उन्हीं दिनों मजदूरों की भी एक पत्रिका निकली थी।

अचिन्त्यकुमार लिखते हैं, सोचने पर आश्चर्य मालूम होता है कि दोनों मासिक पत्र एक ही सन में और एक ही महीने में पहले-पहल प्रकाशित हुए। १३३० बंगाब्द के वैशाख महीने में ये पत्र निकले। कल्लोल कोई सात वर्ष चला, पर संहति पत्र दो साल चलने के पहले ही बन्द हो गया। कल्लोल कहने पर ही समझ में आता है कि वह क्या है। उद्धत यौवन की झाग देती हुई उद्दामता, समस्त बाधाओं और बंधनों के मुक्त विद्रोह, स्थविर समाज की सड़ी-गली नींव को

उखाड़ फेंकने का आन्दोलन। पर 'संहति' क्या है ? संहति तो कठिनीकृत शक्ति है। संघ, समूह, गणशक्ति, यही संहति है। जिस गुण के लिए समधर्मी परमाणु एक होते हैं, वही संहति है। यह नाम आश्चर्यजनक था, और उसका तात्पर्य भी आश्चर्यजनक था। एक तरफ वेग था, दूसरी तरफ वल था। एक तरफ तोड़ना था और दूसरी तरफ़ संगठन और एकीकरण था।

आज वहुत से लोग शायद नहीं जानते कि यही 'संहति' बंगाल में मजदूरों का पहला मुख-पत्र और उनकी पहली मासिक पत्रिका थी। वह दुवली-पतली स्वल्पायु मासिक पत्रिका ही बंगाल में 'गण-जययात्रा का पहला मशालची' थी। इसके वाद तो कई पत्रिकाएं निकलीं, जैसे 'गणवाणी', 'गणशक्ति', 'लांगल' या 'हल'; किन्तु संहति ही अग्रणी थी।

रवीन्द्र और शरच्चन्द्र के वाद बंगाल के सभी ऊंचे दर्जे के साहित्यिक इसी कल्लोल से किसी-न-किसी प्रकार सम्वद्ध थे। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—ताराशंकर, प्रबोध सान्याल, बुद्धदेव वसु, अन्नदाशंकर, नजरुल इस्लाम, जीवनानन्द दास, नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय, पवित्र गंगोपाध्याय, जसीमुद्दीन, प्रेमेन्द्र मित्र, विश्वपति चौधरी, विष्णु दे, गोकुल नाग, माणिक वन्द्योपाध्याय, यतीन्द्रसेन गुप्त, विशराम चक्रवर्ती, यतीन्द्र वागची, राधारानी देवी, शैलजानन्द मुखोपाध्याय, सरोज राय चौधुरी, सुनिर्मल वसु, हुमायूं कवीर इत्यादि।

इस प्रकार बंगला के सव आधुनिक लेखक कल्लोल के इर्द-गिर्द एकत्र हुए। यहां पर कल्लोल गुट के कुछ थोड़े से लेखकों का ही परिचय दिया जायगा।

इनमें से करीव-करीब सभी लेखकों के साथ हिन्दी-जगत अब थोड़ा-वहुत परिचित है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली 'माया' और 'मनोहर कहानियां' नामक कहानी-पत्रिकाओं की वदौलत इनमें से जो लोग कहानीकार हैं, उनकी कहानियां हिन्दी-जगत के सम्मुख समय-समय पर आती रही हैं। अवश्य इन पत्रिकाओं में छपने के कारण इन लेखकों को कोई विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हुई। एक तो अक्सर अनुवाद बहुत बुरा हुआ, और दूसरा किसी कारण से हो, साहित्य के क्षेत्र में 'माया' और 'मनोहर कहानियों' को कोई विशेष मर्यादा प्राप्त नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन पत्रिकाओं ने कहानी की दिशा में बहुत अच्छी सेवा की है। अच्छा होता, यदि कहानियों को परोसने में अनुवाद की उत्तमता की ओर ध्यान दिया जाता।

ताराशंकर के कई उपन्यास हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं, और जल्दी ही शायद उनके वाकी उपन्यास भी हिन्दी में प्रकाशित हों। इस प्रकार ताराशंकर से तो हिन्दी-जगत काफी अच्छी तरह परिचित है। आल इंडिया रेडियो से ताराशंकर के कुछ नाटक प्रसारित हो चुके हैं।

ताराशंकर हिन्दी में जितने अच्छी तरह परिचित है उतना बंगला का कोई जीवित लेखक परिचित नहीं है। हां, काजी नजरुल हसन इस्लाम भी वंगला के बाहर कुछ परिचित हैं, पर कविता में उनकी सारी रचनाएं होने के कारण उनकी कृतियों से हिन्दी-जगत अधिक परिचित नहीं है। एक नजरुल का स्थान वंगला-कविता में रवीन्द्रनाथ के वाद ही समझा जाता था। दुःख है कि करीव दस साल से उनकी लेखनी मूक है। उनकी विचार-धारा कुछ विशेष स्पष्ट नहीं है, पर उनकी रचनाओं में एक विद्रोह की भावना वरावर प्रतिध्वनित हुई है। कल्लोल के सम्पादक श्री गोकुलचन्द्र नाग की असामयिक मृत्यु पर कवि नजरुल ने 'गोकुल नाग' नाम से जो कविता लिखी थी, उसकी कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती है। इन पंक्तियों से यह भी ज्ञात हो जाएगा कि कल्लोल गुट के लेखक किन विचारों से परिचालित थे :

सुन्दरेर तपस्याय ध्याने आत्महारा,
दारिद्र्येर दर्पतेज निये एल जारा।
जारा चिर सर्वहारा करि आत्मदान,
जाहारा सृजन करे, करे ना निर्माण।
सेई वाणी पुत्रदेर आडम्वरहीन,
ए सहज आयोजन ए स्मरणदिन।

स्वीकार कोरिओ कवि, जैमोन स्वीकार
कोरेछिले तांहादेर जीवने तोमार

अर्थात्, 'सुन्दर की तपस्या में ध्यान में विभोर दरिद्रता के दर्प और तेज को लेकर जो लोग आए, जो लोग चिर-सर्वहारा हैं, जो लोग आत्मदान करके सृजन करते हैं, निर्माण नहीं करते, हे कवि इस स्मृति-दिवस में उन शारदा-पुत्रों के आडम्बरहीन सहज जीवन को स्वीकार कर लेता है, जैसा कि तुमने जीवन में उन्हें ग्रहण किया था।'

इसी कविता में अन्यत्र वे लिखते हैं—'जो लोग ऊंची-ऊंची अटारियां बनवाते हैं, उन्हीं की इज्जत और सम्मान है, पर उनका यह निर्माण दो दिन का है, जल्दी ही टूट कर गिर पड़ता है, पर जो लोग विधाता की तरह चुप-चाप सृजन करते रहते हैं, जाति को बनाते हैं, इन्सान को बनाते हैं, वे अपरिचित रह जाते हैं।'

हमने इन पंक्तियों को नजरुल की कवित्व-शक्ति को दिखाने के लिए नहीं, बल्कि किन विचारों को लेकर कल्लोल-गुट चला, उनके स्पष्टीकरण के लिए चुना।

गोकुल नाग कल्लोल-गुट के मध्यमणि थे। उनका उपन्यास 'पथिक' बहुत प्रसिद्ध हुआ और उनकी अकाल-मृत्यु के बावजूद इसी एक उपन्यास के कारण उनकी ख्याति बंगला-साहित्य में अमर है। इस उपन्यास को पढ़कर बंगला के प्राचीनपंथी विद्वान और आलोचक डा० दिनेश सेन इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लिखा था, 'इस प्रकार की कृतियों से प्राचीन समाज की नींव ढह जाएगी। बल्कि बंगाली दुनिया के पर्दे पर से मिट जाएं, यह अच्छा है, पर वे संस्कारों की चक्की में पिस कर निकम्मे होकर बने रहें, इसकी क्या जरूरत है? ऐसे जीने से मरना अच्छा है। जो वीर हमारे दरवाजे खोलकर घर में ताजी हवा पहुंचाने के लिए कमर कस चुके हैं, उनमें कल्लोल के लेखक सबसे तरुण और शक्ति-शाली हैं। प्राचीन पोंगापंथी समाज के साथ समझौता करके चलने की दीनता से मुक्त हो चुके हैं। ये लोग घिसे-पिटे रास्ते को रास्ता नहीं मानते। जो सुन्दर है, स्वाभाविक है, जो वास्तविक रूप से मनुष्यता है, आत्मा के उस स्वप्रकाशित सत्य को वे वेद और कुरान से बड़ा समझते हैं। इन बल-दर्पित लेखकों के पदचाप से प्राचीन जराजीर्ण समाज की हड्डी-पसली हिल उठी है। पर मैं इनकी रचनाओं को पढ़कर बहुत खुश हुआ हूं। हमें ऐसा मालूम होता है जैसे पोखर छोड़कर हम जाह्नवी की पवित्र धारा में आ गए, जैसे कागज के फूलों की दुनिया से नन्दन कानन में आ गए।'

डा० दिनेश सेन के मुंह से यह प्रसंशा बहुत अधिक महत्त्व रखती है।

श्री गोकुल नाग के अतिरिक्त जिन लेखकों ने कल्लोल को बनाया, उनमें प्रबोध सान्याल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पहले ही साल उनकी रचना कल्लोल में प्रकाशित हुई। इस समय उनके बहुत से उपन्यास हैं, जिनमें कई उच्चकोटि के हैं।

अचिन्त्यकुमार की एक कहानी 'मां' नाम से कल्लोल की प्रथम संख्या में ही प्रकाशित हुई थी। इनके भी बहुत से उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री बुद्धदेव वसु बंगला के प्रमुख कथाकारों में हैं। पहले 'प्रगति' नाम से वे एक हस्तलिखित पत्रिका निका-लते थे। जब श्री गोकुलचन्द्र नाग मरे, उस समय ढाका से इन्होंने एक छोटी-सी कविता लिख भेजी थी, जिसमें इन्होंने श्री गोकुलचन्द्र नाग को यौवन-पथिक सम्बोधित करते हुए लिखा था—'तुम नव वसन्त की सुरभित दक्षिण वायु हो, तुम क्षण भर के लिए वाणी के कानन को विकम्पित कर सिधार गए।' उन दिनों श्री बुद्धदेव को कोई नहीं जानता था। बाद को वे कल्लोल के प्रमुख लेखकों में हो गए। उपन्यासों, कहानियों, कविताओं में वे सर्वत्र चमके। उनकी रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। वे अंग्रेजी में भी लिखते हैं। उनके उपन्यासों और कहानियों में अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त बंगाली समाज का चित्रण है। बंगला साहित्य पर 'एन एकर आफ ग्रीन ग्रास' नामक उन्होंने अंग्रेजी में एक सुन्दर पुस्तक लिखी है।

अन्नदाशंकर भी कल्लोल के साथ सम्बद्ध थे। अचिन्त्यकुमार के अनुसार वे ऐसे लेखकों में हैं, जिनमें मन, प्राण और आत्मा का महामिलन हुआ है। उनके अनुसार आत्मा के साथ जब आत्मा की बातचीत होती है, तभी महान कला का जन्म होता है। अन्नदाशंकर उसी महान कला के अन्वेषक हैं। उनके साहित्य का आदर्श इतना ऊंचा है कि जो बात उनकी पहुंच के अन्दर आ जाती है जिस पर वे दखल प्राप्त कर लेते हैं, उससे वे तृप्त नहीं होते। वे जीवन में स्वस्थ

और शान्त भले ही हों, पर सृजन में वे अपरितृप्त हैं।' अन्नदाशंकर के बहुत से उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जो उच्चकोटि के हैं।

बंगला के अन्यतम शक्तिशाली लेखक श्री विभूतिभूषण मुखोपाध्याय भी कल्लोल के लेखकों में थे। विभूति बाबू जब-तब लिखते थे ऐसी बात नहीं, वे नियमित रूप से कल्लोल में लिखा करते थे। उनके भी बहुत से उपन्यास हैं।

जसीमुद्दीन भी कल्लोल के लेखकों में थे। इन दिनों वे पूर्व पाकिस्तान में करीब-करीब राजकवि हैं, पर उन दिनों उनकी कैसी हालत थी, यह अचिन्त्यकुमार की जबानी सुनिए—'एकदम सीधे-सादे, भोले-भाले थे ये कवि जसीमुद्दीन। कंघी के बालों का कोई खास सलीका नहीं। शायद अभाव से कहीं बढ़कर उदासीनता थी। मानों उनके व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द सरल श्यामल गांव का वातावरण था। उनकी कविताओं में भी गांव की ओर संकेत था। गांव के किसान, खेत और खलिहान, नदी-नालों की तरफ उनकी दृष्टि थी। उनका झुकाव उनकी असाधारण साधारणता की ओर था। जो दुःख सर्वहारा का होकर भी सर्वमय था, वही उनका उपजीव्य था। उनमें किसी तरह की शिल्पी-सुलभ कृत्रिमता नहीं थी, कोई प्रसाधन का ढकोसला नहीं था। एकदम सीधे-साधे हृदय-स्पर्श करने की व्याकुलता थी। उनकी बातें किसी वाद के सांचों में ढली न होने के कारण भले ही कुछ लोगों को नापसन्द रही हों, पर वे बहुत सुन्दर थीं।'

जसीमुद्दीन को बंगाल के गांवों का प्रतीक कवि कहा जा सकता है, और इस दृष्टि से बंगला साहित्य में उनका स्थान अद्वितीय कहा जा सकता है। यों तो रवीन्द्रनाथ से लेकर सभी बंगला-कवियों ने बंगाल के गांवों की प्रशस्ति गाई है, पर जिस चुभते हुए पैने ढंग से जसीमुद्दीन ने कविताएं लिखी हैं, वह बिल्कुल उन्हीं तक सीमित रहा।

हुमायूं कबीर भी कल्लोल में आते-जाते रहे। बंगला-साहित्य में उनका स्थान केवल कल्लोल के कारण हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने बंगला में बहुत ठोस कार्य किया है। यह दुःख है कि जब से वे केन्द्रीय सरकार में आ गए हैं, तब से उनका साहित्यिक कार्य बहुत घट गया है।

जीवनानन्द दास भी कल्लोल के संस्पर्श में आए। वे बंगला के प्रमुख कवियों में समझे जाते हैं। ये पहले बारीसाल में थे, बाद को कलकत्ते में आए। जीवनानन्द को कल्लोल वालों ने खींचा, पर ये उसमें अधिक खप नहीं पाये। वे सिटी कालेज में अध्यापक थे। अश्लीलता का दोष लगाकर उन्हें नौकरी से अलग कर दिया गया। अश्लीलता भी किस प्रकार की थी, यह भी देखने लायक है। उन्होंने किसी कविता में कहीं शायद ऐसा लिखा था कि खड़ी फसल के अग्रभाग को देखकर उन्हें स्तन का श्याममुख स्मरण हो आता है। कहना न होगा कि इतनी छोटी-सी बात पर जब जीवनानन्द को निकाल दिया गया, तो कालेज के अधिकारियों के हाथों में शेक्सपियर और कालिदास की कैसी दशा होती!

नृपेन्द्रकृष्ण चट्टोपाध्याय रूसी और संस्कृत साहित्य के विद्वान हैं। वे भी कल्लोल के प्रभाव में आए। इसी प्रकार प्रेमेन्द्र मित्र कवि और साहित्यिक के नाते कल्लोल से संयुक्त हुए। वे उस युग में भी शक्तिशाली कवि और लेखक थे। पवित्र गंगोपाध्याय तो कल्लोल के सहकारी सम्पादक थे। वे भी अच्छे लेखकों में गिने जाते है। अमिय चक्रवर्ती ने कभी कल्लोल में नहीं लिखा, पर वे भी उनके प्रशंसकों में थे, और जब-तब कल्लोल वालों के साथ परामर्श करते थे। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र भी कल्लोल का विशेष आदर करने वालों में थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कल्लोल ने बंगला साहित्य को एक नई करवट लेने में समर्थ किया। कल्लोल ने न केवल अन्तर्गत वस्तु में, बल्कि भाषा में भी नये प्रयोग किए। कल्लोल के संचालकों में व्यापारिक बुद्धि कम थी, इसलिए वह नहीं चला। इसका कारण यह हुआ कि कल्लोल के बनाने वाले अपना-अपना रास्ता ढूंढने लगे। कल्लोल-गुट एक रेल के सफर का गुट था, पर यह सफर बंगला-साहित्य में बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा।

ऊपर जिन लोगों का उल्लेख किया गया उनमें से कवि काजी नजरुल इस्लाम का विशेष उल्लेख होना चाहिए। काजी नजरुल विद्रोह के कवि थे, पर वह प्रेम के भी कवि थे और अब बंगाल के दो टुकड़ों में बंट जाने के बाद वे बंगला भाषा की एकता और अविभाज्यता के प्रतीक भी हैं। पाकिस्तान बने कई साल हो चुके, पर भारतीय सीमा के उस पार के बंगला-भाषी मुसलमानों ने यह साबित कर दिया कि पाकिस्तानी होते हुए भी उनकी मातृभाषा बंगला है। इस क्षेत्र में उन्होंने किसी का हस्तक्षेप नहीं माना। पूर्वी बंगाल के लीगी नेता वहां की जनता पर अरबी के बाद ही मुकद्दस

करके उर्दू को वहां के लोगों पर लादने में असमर्थ रहे। स्वयं श्री मुहम्मअली जिन्ना ने वहां के लोगों को समझाया, पर कुछ नतीजा नहीं हुआ और अब पाकिस्तान की दो राष्ट्रभाषाएं हैं—उर्दू और बंगला।

बंगला भाषा की इस एकता के महान प्रतीक हैं काजी नजरुल। रवीन्द्र जिस समय साहित्य-गगन में अपनी पूरी दीप्ति से प्रकाशमान थे, उस समय गगन के कोने में अपने लिए स्थान बना लेना और कुछ दिनों के लिए ही सही, अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित कर लेना, यह कम शक्ति का परिचायक नहीं था।

काजी नजरुल का जीवन भी बहुत नाटकीय रहा। एक धूमकेतु की तरह आये और अस्त हो गये। वे पश्चिम बंगाल के एक बहुत गरीब घर में पैदा हुए। उनको ठीक-ठीक शिक्षा नहीं मिली और अपनी इच्छाओं के दमन करने की शिक्षा तो कभी मिली ही नहीं। वे प्रकृति के वरद पुत्र थे और इसी रूप में वे कवि भी थे। १९१४ की लड़ाई छिड़ी तो वे उसमें भर्ती हो गए और अन्त तक हवलदार हो गए।

लड़ाई से लौटकर उन्होंने 'धूमकेतु' नाम का एक पत्र निकाला जो अधिक दिन नहीं चला, पर बंगला-साहित्य में नजरुल को एक स्थान देता गया। उन्होंने ललकार कर अग्नि-वीणा के साथ प्रवेश किया और कहीं वे विद्रोही भृगु बने तो कहीं ईश्वर के सीने पर अपने चरणों का चिह्न अंकित करने के लिए लालायित हो गए। उनकी कविता में बम, डिनामाइट की भरमार थी। पराधीनता के युग में इन चीजों को कविता में लाना विशेष गुदगुदी पैदा करता था। एक तो ऐसी शब्दावली, फिर विद्रोही विचार। उनकी कविता में जर्जर सड़ी-गली पद्धति के विरुद्ध विद्रोह ध्वनित था, पर विद्रोही के मन में आगामी समाज-पद्धति का कोई नक्शा है, ऐसा नहीं मालूम होता। विद्रोह करना ही चरम लक्ष्य है।

कवि नजरुल प्रेम कभी बहुत बड़े कवि थे। वे स्वयं बहुत अच्छे गायक थे। ग्रामोफोन कम्पनियों ने उनके गीतों से लाखों रुपए बनाये। झूमुर, भटियाली, बाहुल, गजल, ठुमरी, ख्याल, ध्रुपद, कीर्तन, श्यामा संगीत किसी शैली को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। उनके कितने ही गीत अब भी लोगों के कंठों में गूंज रहे हैं। गीतों के क्षेत्र में रवीन्द्र के बाद ही उनका स्थान है। रवीन्द्र ने लगभग दो हजार गीत लिखे, पर नजरुल ने अपेक्षाकृत कम समय में उनसे कहीं अधिक गीत लिखे। रिकार्डों में तो नजरुल सबको पीछे छोड़ गए।

संयुक्त बंगाल का यह श्रेष्ठ सांस्कृतिक प्रतीक कई वर्षों से मस्तिष्क-विकृति का शिकार है।

अन्त में हम पुनः बंगला की नई कविता के क्षेत्र में पहुंचते हैं। इसमें सबसे प्रमुख नाम स्वर्गीय जीवनानन्द-दास का है। हिन्दी में नई कविता को अभी साहित्य के सब महारथियों की ओर से पूरी स्वीकृति नहीं मिली है, पर बंगला में बहुत दिन पहले ही जीवनानन्ददास के जरिए से नई कविता को सम्भ्रान्त साहित्यिक स्वीकृति मिल चुकी है। जीवनानन्ददास की कविता कुछ धुंधली बताई जाती है, पर उनकी भाषा बड़ी प्रखर और तेजस्वी है। फिर भी ऐसा लगता है कि कवि जो कुछ कह रहा है, उसकी सारी बात हमारे पल्ले नहीं पड़ रही है। श्री बुद्धदेव वसु का कहना है कि जीवनानन्द इतने जिद्दी तरीके से अपने-आप में समाये हुए हैं कि वे परम्परा के स्वदेश को भुलाकर एक ऐसे किन्नरों के देश को अपनाते हैं जिसमें वे ही वे हैं। वे प्रकृतिपूजक हैं, पर किसी भी अर्थ में अफलातूनवादी या वेदान्ती नहीं हैं।

सुभाष मुखोपाध्याय किसान-मजदूरों के कवि हैं। उनकी अन्तर्गत वस्तु स्पष्ट नहीं है और कई बार वे कविता के क्षेत्र से उतरकर भर्त्सना करने, तरह-तरह से मुंह बनाने और सन्देश देने में पड़ जाते हैं।

अन्य नये कवियों में सुकान्त भट्टाचार्य की लौ बहुत थोड़े दिन जली, पर उसी में वे बंगला को बहुत कुछ दे गए। विष्णु दे, सुधीन दत्त, अमिय चक्रवर्ती, सुधीन्द्र दत्त, अरुणकुमार सरकार, मंगलाचरण चट्टोपाध्याय, जगन्नाथ चक्र-वर्ती, नरेश गुह, अजीत दत्त आदि कितने ही नये कवि बंगला-साहित्य में प्रख्यात हैं और रवीन्द्र-युग के बचे-खुचे कवियों के साथ चल रहे हैं।

रवीन्द्र और शरत के बाद के उपन्यासकारों में कई ऐसे हैं जिनका विस्तार के साथ वर्णन होना चाहिए। इनमें सबसे प्रमुख 'पथेर पांचाली' के लेखक विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय हैं, जिसका अनुवाद हिन्दी-जगत के सामने पेश करते हुए मैंने यह दावा किया है कि वे किसी भी प्रकार रवीन्द्र और शरत से या नोबुल पुरस्कार पाने वाले से निकृष्ट नहीं

हैं। इनके अलावा वनफूल, दिलीपकुमार, धूर्जटीप्रसाद मुखोपाध्याय, गोपाल हाल्दार, सुबोध घोषाल, सतीनाथ भादुड़ी, नारायण गंगोपाध्याय आदि कितने ही नाम हैं जो बंगला के कथा-साहित्य को समृद्ध कर रहे हैं।

इधर 'साहेब-बीबी-गोलाम' के लेखक विमल मित्र बहुत जोर से चमक रहे हैं और इस एक पुस्तक से ही वह बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके अलावा 'अवधूत' नामक एक साहित्यकार बंगला उपन्यास-साहित्य में लगभग नजरुल की तरह, धूमकेतु की भांति, उदित हुए हैं। अभी उनका भविष्य स्पष्ट नहीं हुआ।



विगत साठ वर्षों का मराठी साहित्य

श्री श्रीपाद जोशी

गौरवशाली भूतकाल

संसार की अन्य महान भाषाओं की तरह महाराष्ट्र प्रदेश की मराठी भाषा का भूतकाल भी बड़ा गौरवशाली रहा है। अपनी उस आलीशान विरासत के कारण मराठी भाषा और साहित्य दोनों हमेशा एक प्रकार के भारी उत्तरदायित्व का अनुभव करते आये हैं और ज्ञानेश्वर (सन १२७१-१२९६ ईसवी) से लेकर आचार्य विनोवा भावे (जन्म सन १८९५) तक के साहित्यकारों ने उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। आज भी जब कभी मराठी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाली जाती है, तब ज्ञानोवा से विनोवा तक का लगभग सात सौ वर्षों का कालखंड हमारी आंखों के सामने उज्ज्वल हो उठता है।

चिन्तनशीलता का प्रभाव

भारत की अन्य भाषाओं की तुलना में मराठी भाषा के साहित्य की अगर कोई विशेषता बतानी हो तो हम कह सकते हैं कि मराठी साहित्य पर चिन्तनशीलता का अत्यधिक प्रभाव पहले से पड़ा हुआ है। यद्यपि ज्ञानेश्वर से पहले मुकुन्दराज ने मराठी में कविता लिखी थी और वह आज भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है, फिर भी मराठी साहित्य के पिता की हैसियत से ज्ञानेश्वर का ही नाम लिया जाता है। ज्ञानेश्वर ने श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए जनता की भाषा में, अर्थात मराठी में, एक महान ग्रंथ लिखा, जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रख्यात है। आज सात सौ वर्षों के बाद भी मराठी-भाषी जनता के मानस पर 'ज्ञानेश्वरी' का प्रभाव ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। सम्भवतः मराठी ही संसार की वह एकमात्र भाषा है जिस पर भगवद्गीता के दर्शन का जादू हज़ार बरस तक लगातार बना रहा है। महाराष्ट्र के सभी महापुरुष भगवद्गीता से प्रेरणा पाते रहे हैं और गीता के दर्शन एवं बोध के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। बीसवीं सदी में भी महाराष्ट्र के दो महापुरुषों ने इस परम्परा को आगे चलाये रखा। इनमें से एक थे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, जिन्होंने मांडले ब्रह्मदेश के कारावास में 'गीतारहस्य' लिखकर गीता में से कर्मयोग का सन्देश जनता को दिया। 'गीतारहस्य' का अनुवाद भारत की लगभग सभी बड़ी भाषाओं में हुआ था और बीसवीं शताब्दी के द्वितीय एवं तृतीय दशक के युवकों पर इस ग्रंथ का बड़ा ही प्रभाव पड़ा था। मराठी भाषा को बलिष्ठ एवं गौरवपूर्ण बनाने में इस ग्रंथ का बड़ा हाथ रहा है। उसके बाद आचार्य विनोवा भावे के 'गीता-प्रवचनों' ने भी दर्शन के क्षेत्र में ऐसी ही हलचल मचा दी है। इस बीच आचार्य शंकर दत्तात्रेय जावड़ेकर (१८९४-१९५५) ने 'आधुनिक भारत' नाम का एक ग्रंथ लिखकर 'गीतारहस्य' और 'गीताप्रवचनों' के बीच एक कड़ी का निर्माण किया। 'आधुनिक भारत' में भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ ही बीसवीं सदी के विचार-विकास का भी अच्छा लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। इसके लेखक आचार्य जावड़ेकर स्वयं लोकमान्य तिलक एवं गांधीजी के प्रशंसक एवं समर्थक थे और उन पर भी 'गीतारहस्य' का अच्छा प्रभाव पड़ा हुआ था।

चिन्तनात्मक निबन्धों की यह परम्परा लोकमान्य तिलक से पहले भी मौजूद थी। श्री गोपाल हरि देश-

मुख 'लोकहितवादी' (१८१३-१८९२), श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकर (१८५०-१८८२), श्री गोपाल गणेश आगरकर (१८५६-१८९५) आदि विचारकों के निबन्ध आज भी पढ़े जाते है और उनसे प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

निबन्धकारों की परम्परा

लोकमान्य तिलक के बाद भी यह परम्परा बराबर कायम रही; इतना ही नहीं बल्कि वह अधिक पुष्ट भी होती गई। श्री शिवराम महादेव परांजपे (१८६४-१९२९), डॉक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर (१८८४-१९३७), श्री नरसिंह चिंतामण केलकर (१८७२-१९४७), बैरिस्टर विनायक दामोदर सावरकर (जन्म १८८३), श्री वामन मल्हार जोशी (१८८१-१९४३), श्री श्रीपाद महादेव माटे आदि लेखकों ने इस धारा को पुष्ट करने में काफी हाथ बटाया। स्वर्गीय साने गुरुजी की 'भारतीय संस्कृति' का उल्लेख इस सिलसिले में अवश्य करना चाहिए। भारतीय संस्कृति का सुन्दर दर्शन कराने वाली यह पुस्तक मराठी मे ही नही, बल्कि भारत की अन्य भाषाओं मे भी बड़ी लोकप्रिय हो चुकी है। आज के तत्त्वचिन्तक निबन्धकारों मे आचार्य काका कालेलकर, आचार्य दादा धर्माधिकारी, डॉक्टर पु० ग० सहस्रबुद्धे, आचार्य स० ज० भागवत, प्रो० द० के० केलकर, प्रो० श्री के० क्षीरसागर, श्री त्र्यं० शं० शेजवलकर, प्रा० श्री० ना० बनाहट्टी आदि के नाम उल्लेखनीय है। इधर ललित निबन्धों का बोलबाला बढ जाने से गंभीर निबन्ध लिखने वालों की संख्या कुछ कम हो गई है और इस क्षेत्र में नये लेखक बहुत ही कम आते है।

ललित निबन्धों का प्रचार

सन १९२५ से मराठी में ललित निबन्धों का प्रचार शुरू हुआ। अंग्रेजी में जिसे Short Eassay or Personal Essay कहते है, उस प्रकार का यह हल्का-फुल्का निबन्ध होता है। मराठी में इसे लघु निबन्ध कहते है। किसी बात को मजेदार ढंग से पेश करना लघु निबन्ध की विशेषता है। कभी-कभी लघु निबन्ध की सीमाएं कहानी की सीमाओं को स्पर्श कर जाती है और कभी वह गम्भीर निबन्ध की ओर झुक जाता है। प्रो० ना० सी० फड़के इस प्रकार के निबन्ध के प्रणेता समझे जाते है। उनके बाद श्री वि० स० खांडेकर, श्री ना० मा० सन्त, प्रो० अनन्त काणेकर, प्रो० श्रीमती कुसुमावती देशपांडे, श्री गो० रा० दोडके आदि ने लघु निबन्ध का अच्छा विकास किया। इधर उसमें नये-नये प्रयोग भी होते जा रहे है। उसकी स्थूलता कम होकर उसमें अधिक सूक्ष्मता आने लगी है। आज के लघु निबन्धकारों में श्री विंदा करंदीकर, श्रीमती दुर्गा भागवत, श्री मगेश पाडगांवकर, श्री वा० भ० बोरकर, श्री श्रीपाद जोशी, श्री वि० पा० दांडेकर, डा० इरावती कर्वे, श्री म० न० अदवन्त आदि के नाम उल्लेखनीय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थों का भण्डार

किसी भी भाषा के साहित्य का परिचय कराते समय आम तौर पर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विभाग को भुला दिया जाता है, वह है सन्दर्भ-ग्रंथों का विभाग। बेचारे सन्दर्भ-ग्रंथ (Reference Books) सबकी सेवा करते हुए चुपचाप किसी कोने में पड़े या खड़े रहते है और कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास अपनी वाचालता के बल पर सबका ध्यान आकर्षित करते है। मराठी साहित्य का विचार करते समय हम इन ग्रथों को नही भूल सकते। 'महाराष्ट्रीय ज्ञान कोष' (डा० श्रीधर व्यंकटेश केतकर), 'महाराष्ट्र शब्दकोश (सर्व श्री य० रा० दाते, चि० ग० कर्वे, आबा चांदोरकर और चि० श० दातार), प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन चरित्र कोष (श्री सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) **सुलभ विश्व कोश** (य० रा० दाते०, चि० ग० कर्वे), **आधुनिक मराठी वाङ्मयाचा इतिहास** (प्रा० अ० ना० देशपांडे), **मराठी ग्रंथ सूची** (शं० ग० दाते) आदि कई महत्त्वपूर्ण संदर्भ-ग्रंथ मराठी मे मौजूद है। इसके अलावा **शास्त्रीय परिभाषा कोश** (दाते-कर्वे), **महाराष्ट्र परिचय** (कर्वे-जोगलेकर-जोशी), **व्युत्पत्ति कोश** (कृ० पा० कुलकर्णी), **महाराष्ट्र वाक्-सम्प्रदाय कोश** (दाते-कर्वे) आदि बडे-बड़े शब्दकोश तैयार हुए है। अंग्रेजी और हिन्दी से सम्बन्धित भी अनेक कोश मराठी में हैं। हिन्दी के कोशों में **अभिनव शब्द कोश** (श्रीपाद जोशी) अपनी विशेषता रखता है। इसमें हिन्दी-शब्दों के लिए मराठी एवं हिन्दी के प्रतिशब्द दिये गए है और उसी पुस्तक में मराठी शब्दों के लिए हिन्दी के भी प्रतिशब्द दिये गए हैं। इस कोश के बारे में आचार्य विनोबा भावे ने लिखा था, "एक ही पुस्तक मे मराठी-हिन्दी एवं हिन्दी-मराठी कोश जोड़ देने से

वह सचमुच विद्यार्थियों का शब्दमित्र बन गया है। सम्भवतः भारतीय भाषाओं में इस प्रकार का यह पहला ही कोश होगा।" इधर 'संस्कृति कोश' (श्री महादेव शास्त्री जोशी) 'स्थल कोश' (श्री सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव) आदि और भी प्रकार के कोश तैयार हो रहे हैं।

उपन्यास की प्रगति

मराठी निबन्ध की तरह मराठी उपन्यास भी महाराष्ट्र की मिट्टी के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध रखता है। क्योंकि महाराष्ट्रीय जनता के जीवन का यथातथ्य चित्रण करना उसने अपना प्रधान उद्देश्य माना है। यद्यपि पश्चिमी एवं अन्य पश्चिमी उपन्यासों का असर मराठी उपन्यासों पर भी पड़ा है, मगर वह कहानी या कविता की तरह इतना अधिक नहीं है कि वह पूरी तरह विदेशी मालूम हो। इसका श्रेय श्री हरिनारायण आपटे (१८६४-१९१९) को है, जिन्होंने पहले-पहल मराठी उपन्यास को समाजोन्मुख बना दिया, हालांकि उनका समाज बहुत ही सीमित, शहर के मध्य-वित्त परिवारों तक ही सीमित, था। उनके उपन्यासों में यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाया जाता है। श्री आगरकर के सुधारवाद के वे अच्छे समर्थक थे और अपने उपन्यासों में उन्होंने नये-नये सुधारों का बड़े जोश के साथ समर्थन किया है। उनके सबसे श्रेष्ठ उपन्यास 'पण लक्षान्त कोण घेतो?' (मगर ध्यान कौन देता है?) में एक विधवा बालिका की हृदय को हिला देने वाली कहानी है। उसे पढ़ते समय आज भी पाठकों की आंखें भर आती हैं। इस प्रकार के और भी कई सामाजिक उपन्यास उन्होंने लिखे हैं। इसी तरह मराठों और राजपूतों के इतिहास की घटनाओं पर आधारित 'उषाकाल', 'गड आला पण सिंघ गेला' जैसे उपन्यास भी उन्होंने लिखे हैं जिनमें देश-भक्ति एवं सच्चरित्रता पर विशेष बल दिया गया है। चरित्र-चित्रण में भी श्री आपटे बड़े सिद्ध-हस्त थे। यहां तक कि आज भी उनके उपन्यासों के पात्र मराठी पाठकों को सजीव प्रतीत होते हैं।

उपन्यासों को जीवन की समस्यायों की चर्चा करने का एक साधन बनाने का जो प्रयत्न श्री हरिनारायण आपटे ने शुरू किया था वह उनके बाद भी बराबर चलता रहा। श्री वामन मल्हार जोशी (१८८२-१९४३) ने इस दिशा में काफी प्रगति कर दिखाई। उनके उपन्यासों में तत्त्वज्ञान या दर्शन की चर्चाएं ही अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। 'रागिणी', 'सुशीलेचा देव', 'इन्दु काले व सरला भोले' आदि अपने उपन्यासों में उन्होंने स्त्री की स्वतन्त्रता, ईश्वर का अस्तित्व, कला एवं नीति का सम्बन्ध, ज्ञान-मार्ग बनाम कर्म-मार्ग वगैरह कई विषयों की चर्चाएं की हैं। श्री जोशी की वाग्पटुता के कारण इन उपन्यासों में कथा-वस्तु के कमजोर होने के बावजूद शिक्षित महाराष्ट्रियों को उनके उपन्यासों ने मोह लिया था। परम्परागत रूढ़ नीति-कल्पनाओं के बन्धनों से मुक्त होने में लोकहितवादी आगरकर आदि के निबन्धों की तरह श्री वा० म० जोशी, डाक्टर केतकर, श्री मामा वरेरकर आदि के उपन्यासों ने भी मराठीभाषी पाठकों की काफी मदद की है।

डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर के उपन्यास श्री वा० म० जोशी के उपन्यासों से अधिक रूखे-फीके और चर्चा-जड़ हैं। उपन्यास के शिल्प की ओर उन्होंने बहुत कम ध्यान दिया। बल्कि यों कह सकते हैं कि समाज-विषयक अपनी विद्रोही कल्पनाओं को प्रकट करने के एक माध्यम के तौर पर ही उन्होंने उपन्यासों को अपनाया था। अतः कई स्थानों पर वे उपन्यास की कथावस्तु से इतने दूर चले जाते हैं कि पाठक को यह भ्रम होने लगता है कि वह उपन्यास नहीं, बल्कि कोई समाजशास्त्र का ग्रंथ ही पढ़ रहा है। 'गोंडवनांतील प्रियंवदा', 'परागंदा', 'ब्राह्मणकन्या', 'विचक्षणा' आदि उनके उपन्यास इसीलिए आज भी समाजशास्त्र के अध्ययन-ग्रंथ बने हुए हैं।

इस परम्परा को श्री मामा वरेरकर (जन्म १८८३) ने सफलता के साथ आगे बढ़ाया। उनके अट्ठाईस मौलिक उपन्यास अब तक प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'विधवा कुमारी', 'गोदू गोखले', 'धावता धोटा' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। वरेरकरजी की नायिकाएं अपने विद्रोहीपन के लिए मशहूर हैं। संभवतः इसीलिए उन्हें शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों से इतना अधिक प्रेम है। उन्होंने शरच्चन्द्र के सत्ताईस उपन्यासों के मराठी अनुवाद किये हैं। वरेरकरजी अपने नाटकों के लिए अधिक प्रख्यात हैं, पर उनके उपन्यासों का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है।

आदर्शवादी एवं समस्यामूलक उपन्यासों की परम्परा आगे चलकर कुछ क्षीण-सी हुई और प्रो० ना० सी०

फड़के (जन्म १८६४) के 'कला कला के लिए' वाले दृष्टिकोण का प्रभाव बढ़ता गया। श्री फड़के सभी कलाओं का एक-मात्र उद्देश्य 'आनन्द-प्राप्ति' मानते हैं। इसलिए उनके उपन्यासों में गहरे चिन्तन एवं विवेचन का अभाव रहता है। फिर भी (लगातार चालीस बरस तक उपन्यास-लेखक की हैसियत से वे महाराष्ट्र के युवक-वर्ग में लोकप्रिय रहे हैं। आज भी हर साल वे कम-से-कम दो उपन्यास अवश्य लिख डालते हैं और उनके लिए पाठकों की कमी नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब कोई कलाकृति केवल मनोविनोद के लिए जन्म लेती है तो उसका जीवन ज्यादा देर नहीं टिक सकता। अतः श्री फड़के के दर्जनों उपन्यासों में 'दौलत', 'जादूगार', 'अटके पार' आदि कुछ इने-गिने प्रारंभिक उपन्यास ही प्रौढ़ बुद्धि के पाठकों के लिए पठनीय बन गये हैं। उनके बाद के उपन्यास मानो पुराने उपन्यासों की ही भ्रष्ट नकलें हैं। फिर भी इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि उन्होंने अपनी परिष्कृत एवं आकर्षक शैली के बल पर बरसों तक मराठी पाठकों को मंत्रमुग्ध कर रखा था।

श्री फड़के के समकालीन श्री वि० स० खांडेकर (सन १८९८) ने भी अपने उपन्यासों में मध्यवित्त परिवारों का ही जीवन चित्रित किया है। पर वे 'केवल आनन्दवादी' नहीं हैं। वे जीवन की ओर अधिक गहराई के साथ देखते हैं और जीवन की जटिल समस्याओं को अपनी दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। चूंकि उनमें कलात्मकता की मात्रा भी पर्याप्त है और दलित-पीड़ित जनता के प्रति विशेष सहानुभूति भी है, इसलिए उनके उपन्यास भारत की लगभग सभी भाषाओं में (बंगला में भी) अनूदित एवं लोकप्रिय हुए हैं। 'दोन ध्रुव', 'उल्का', 'हिरवा चांफा', 'दोन मनें', 'क्रौंच-वध', 'कांचन मृग' आदि दर्जनों उपन्यास उन्होंने लिखे हैं।

इसी जमाने के अन्य उपन्यासलेखकों में श्री ग० त्र्यं० माडखोलकर, श्री पु० य० देशपांडे श्रीमती प्रेमा कंटक, श्री वि० वा० हडप, श्री ना० ह० आपटे, श्री द० र० कवठेकर, श्री वा० वि० जोशी, श्री साने गुरुजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री वि० स० खांडेकर की तरह स्व० साने गुरुजी के उपन्यास—'श्यामू की मां' आदि—भी भारत की अन्य भाषाओं में अनूदित होकर बड़े लोकप्रिय हुए हैं।

इधर कुछ वर्षों से मराठी में फिर से समस्या-प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे हैं। इस क्षेत्र में श्रीमती मालतीबाई बेडेकर ('बली', 'जाई' आदि), श्री श्री० रा० बिवलकर (सुनीता, शुभा), श्री गो० नी० दांडेकर ('सिन्धु-कन्या, आम्ही भगीरथाचे पुत्र), श्री वसंत कानेटकर ('पंख', 'घर'), श्री अण्णाभाऊ साठे ('फकीरा'), श्री श्रीपाद जोशी ('सुरंगा' और 'विस्कट लेलं घरटं'), श्री र० वा० दिघे (आई आहे शेतांत) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से श्री श्रीपाद जोशी के उपन्यास 'विस्कट लेलं घरटं' में महाराष्ट्र की ब्राह्मण-अब्राह्मण समस्या की मूलग्राही चर्चा की गई है, जिसका हिन्दी अनुवाद 'ध्वस्त नीड़' के नाम से अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। श्री दांडेकर ने 'आम्ही भगीरथाचे पुत्र' में भाकड़ा-नांगल की कहानी को पेश किया है और श्री बिवलकर की 'सुनीता' में नोआखाली के अत्याचारों का विश्लेषण किया गया है।

मगर आजकल मराठी में आंचलिक उपन्यासों का ही बोलबाला अधिक है। यद्यपि श्री र० वा० दिघे ('पाणकला', 'सराई' आदि) ने सन १९३९ से ही आंचलिक उपन्यास लिखना शुरू कर दिया था, पर उस समय उनके उपन्यासों की आंचलिकता के बजाय उनके अन्य कला-मूल्यों की ही कद्र अधिक की गई। उसके बाद श्री श्री० ना० पेंडसे ने सन १९४७ में 'रालगार' उपन्यास लिखा जिसमें कोंकण के जन-जीवन की झांकी दिखलाई गई है। तब से लेकर अब तक आंचलिक उपन्यासों का एक युग-सा चल रहा है। श्री पेंडसे के 'हद्दपार', 'गारंबीचा बापू', 'हत्या', 'कलन्दर' आदि उपन्यासों ने काफी ख्याति प्राप्त की है। उसके साथ ही इस क्षेत्र में श्री गो० नी० दांडेकर का नाम लिया जाता है जिनके 'शित्' और 'पडघवली' उपन्यास आंचलिकता से पूर्णरूपेण प्रभावित हैं। इनके अलावा श्री वा० भ० बोरकर श्री ग० ल० ठोकल, श्री रामतनय, श्री म० भा० भोसले आदि लेखकों ने भी आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। श्री व्यंकटेश माडगूलकर के आंचलिक उपन्यास 'बनगरवाड़ी' का काफी बोलबाला हुआ है जिसमें एक देहाती अध्यापक के जीवन की कुछ घटनाएं चित्रित की गई हैं। यद्यपि इसे उपन्यास कहा तो जाता है, मगर फिर भी वह उपन्यास नहीं, बल्कि लम्बी कहानी ही है।

कहानी की कहानी

भारत की अन्य भाषाओं की कहानी की तरह मराठी की कहानी पर भी पश्चिमी साहित्य का और खास कर अंग्रेजी का बहुत ही गहरा असर पड़ा हुआ है। यद्यपि श्री हरिनारायण आपटे ने भी कहानियां लिखी थीं, फिर भी नई मराठी कहानी का सही विकास फड़के-खांडेकर के जमाने में (१६२६ से १६४५ तक) ही हुआ। इस समय मोपांसां, चेखव, ओ हेन्री आदि पश्चिमी कथा-लेखकों से मराठी लेखक परिचित हो गए थे और इसलिए उनकी कहानी पर इन विदेशी लेखकों का बहुत प्रभाव पड़ा। इस जमाने के लेखकों में फड़के-खांडेकर के अलावा श्री मामा वरेरकर, श्री य० गो० जोशी, श्री वि० वि० बोकील, श्री द० र० कवठेकर, श्री लक्ष्मणराव सरदेसाई, श्री अनन्त काणेकर, श्री वामन चोरघड़े, श्री ग० ल० ठोकल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से श्री य० गो० जोशी की कथा विदेशीय प्रभाव से बिलकुल मुक्त है। उन्होंने मध्यवित्त परिवारों का घरेलू जीवन बड़ी ही सहानुभूति के साथ चित्रित किया है, जिससे वे अल्पशिक्षित होते हुए भी मराठी पाठकों में बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर सके।

नई कहानी

सन १६४७ के बाद मराठी कहानी ने एक कदम आगे बढ़ाया। अब तक की कहानी में कथावस्तु का महत्त्व अधिक होता था, जिससे चरित्र-चित्रण एवं मनोविश्लेपण के लिए बहुत कम अवसर रहता था। अब जो नई कहानी उदित हुई उसने कथावस्तु के बन्धन को तोड़ दिया और मानव के मानस की गहराइयों में गोते लगाने शुरू किए। इससे कहानी की सीमाएं एक तरफ तो कविता तक जा पहुंचीं और दूसरी तरफ उसने लघुनिबन्ध या ललित निबन्ध के छोर को स्पर्श किया। इससे कभी-कभी पाठक को यह भ्रम होने लगा कि वह जो कुछ पढ़ रहा है वह कहानी है या लघुनिबन्ध या गद्य-काव्य! मनोविश्लेपण के नाम पर कुछ लेखकों ने मानव-मन की गन्दी बातों को भी खुलेआम पेश करना शुरू किया, जिससे नई कहानी का मतलब 'मनुष्य के मन में' छिपी हुई गंदी भावनाओं का चित्रण करना समझा गया। दुर्भाग्य से इस जमाने के समालोचकों और टीकाकारों ने इस अश्लाघ्य रुझान की कला के नाम पर सराहना करके उसे और अधिक उभाड़ा, जिससे साधारण पाठक भी गुमराह होकर उस दोपपूर्ण कहानी को अच्छी कहानी समझने लगा। इस प्रकार की नई कहानी लिखने वालों में श्री पु० भा० भावे, श्री गंगाधर गाडगिल, श्री अरविन्द गोखले, श्री ज्ञानेश्वर नादकर्णी, श्री दि० बा० मोकाशी, श्री श्री० ज० जोशी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अलावा श्री व्यंकटेश माडगूलकर, श्री द० मा० मिरासदार, श्री शंकर पाटिल, श्री उद्धव शेलके आदि लेखक भी नये कहानीकार समझे जाते हैं जो आंचलिक कहानियां लिखने में सिद्धहस्त हैं। श्री ग० दि० माडलूकर, श्री महादेव शास्त्री जोशी, श्रीमती इन्दिरा संत, श्रीमती कृष्णाबाई, श्रीमती कुसुमावती देशपांडे, श्रीमती दुर्गा भागवत, श्री श्रीपाद जोशी आदि लेखक तथाकथित नई कहानी से अछूते रहकर पुरानी कथावस्तु-प्रधान, समस्यामूलक कहानी की परम्परा को आगे चला रहे हैं। लेखिकाओं में श्रीमती शांता शेलके, श्रीमती इंदुमती शेवड़े, श्रीमती वसुन्धरा पटवर्द्धन, श्रीमती लीला देशमुख, श्रीमती कमल देसाई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कविता : पुरानी और नई

मराठी की कविता मुक्तेश्वर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, एकनाथ, नामदेव आदि सन्त-कवियों द्वारा परिपुष्ट होती हुई और वामन पंडित, मोरोपंत आदि पंडित-कवियों द्वारा अलंकृत होकर बीसवीं सदी में जब पहुंची तब नये संस्कार ग्रहण करने के लिए वह पूरी तरह सुयोग्य बन चुकी थी। इसी समय उसे 'केशवसुत' अर्थात कृष्णाजी केशव दामले (१८६६-१६०५) जैसा समर्थ कवि मिल गया जो आगे चलकर आधुनिक मराठी कविता का पिता कहलाया। केशवसुत ने 'नई रोशनी' प्राप्त करके पुरानी कविता के विरोध में विद्रोह का झंडा उठाया और उसे अधिक जनताभिमुख बनाया। उनका यह विद्रोह केवल साहित्यिक नहीं, बल्कि वैचारिक भी था। पुरानी सड़ी-गली समाजव्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करके उसके स्थान पर वे एक ऐसी नई समाजव्यवस्था लाना चाहते थे जिसमें किसी प्रकार की विपमता और अन्याय न हो। मगर उन्होंने केवल प्रचार करने वाली कविता नहीं लिखी। अपने अन्तर की विभिन्न भावनाओं को

उन्होंने कविता के माध्यम से प्रकट किया। अंग्रेजी भाषा के कवियों—इमर्सन, शेक्सपियर, ब्राउनिंग आदि–का काफी प्रभाव उन पर पाया जाता है। उन्होंने छायावादी कविताएं भी लिखी है, जो संभवतः मराठी को केवल उन्हीं की देन है। उनकी प्रीतिविषयक कविता भी मराठी के लिए बिलकुल नई ही थी।

केशवसुत के समकालीनों में रेवरंड नारायण वामन तिलक (१८६२–१९१९) और 'विनायक' अर्थात विनायक जनार्दन करंदीकर (१८७२–१९०९) का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्री तिलक ने घरेलू जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध में बड़ी अच्छी कविताएं लिखीं तो श्री विनायक ने ऐतिहासिक कविताओं में कमाल कर दिखाया। इनके बाद ये नाम आते है: 'बाल कवि' अर्थात त्र्यंबक बापू जी ठोंबरे (१८९०–१९१८), 'गोविन्दाग्रज' अर्थात रामगणेश गडकरी, 'BEE' अर्थात नारायण मुरलीधर गुप्ते (१८७२–१९४७), 'दत्त' अर्थात दत्तात्रेय कोंडो घाटे (१८७५–१८९९), श्री एकनाथ पांडुरंग रेंदालकर (१८८७–१९२०) आदि। इनमें हर एक की कोई न कोई अपनी विशेषता है और हर एक ने मराठी कविता को काफी समृद्ध किया है। यहां पर 'बाल कवि' का नाम विशेष स्मरणीय इसलिए है कि आगे चलकर नये कवियों ने इस प्रकृति-प्रेमी कवि को नई कविता का मूल पुरुष माना।

इसके बाद गीतों का युग आता है। सन १९२० से १९४५ ईसवी तक के ज़माने में मराठी कविता गीति-काव्य ही बन गई। इस जमाने पर असर डालने वाले श्री भास्कर रामचन्द्र ताम्बे सुदूर मध्यप्रदेश के इन्दौर, ग्वालियर जैसे शहरों में रहते थे, यह एक मजेदार बात समझी जा सकती है। श्री ताम्बे की कविता बड़ी ही श्रवण-मधुर एवं संगीतमयी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का भी उन पर कुछ असर पाया जाता है। उनकी छायावादी कविताएं भी काफी लोकप्रिय हुई है। उनके समर्थ शिष्य श्री बा० भ० बोरकर ने उनकी संगीतमयी शैली की परम्परा को सफलता के साथ आगे चलाया और बोरकरजी के शिष्य श्री मंगेश पाडगांवकर की प्रारम्भिक कविताओं पर भी श्री ताम्बे का प्रभाव पूर्णतया परिलक्षित हो सकता है।

सन १९२३ ईसवी में श्री मा० त्र्यं० पटवर्धन 'माधव ड्यूलियन', श्री य० दि० पेंढरकर 'यशवंत', श्री शं० के० कानेटकर 'गिरीश' आदि कवियों ने पूना में अपना एक मंडल बनाया जो 'रविकिरण मण्डल' के नाम से मशहूर हुआ। इस मण्डल का प्रभाव मराठी कविता पर लगभग बीस बरस तक बराबर कायम रहा। मण्डल के कवियों ने जन-साधारण की दिलचस्पी के 'प्रेम', 'विरह', 'प्रणय', 'वात्सल्य' आदि विषयों पर बड़ी ही आसान एव योग्य कविताएं लिखीं और उन्हें गा-गाकर लोगों के आगे पेश किया। शिक्षित जनता को उसकी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाली ये कविताएं बड़ी ही पसन्द आई और उसने इन कवियों को सिर-आंखों पर ले लिया।

इसी जमाने में रवि-किरण मण्डल के प्रभाव से दूर रहकर कविता लिखने वाले कवि गोविन्द, (१८७४–१९२६), दुर्गाप्रसाद आसाराम तिवारी (१८८७–१९३९), अज्ञातवासी (जन्म १८९६), कवि माधव (१८९२–१९५९) साने गुरुजी (१८९९–१९५०), श्री टेकाडे, श्री बेहेर, श्री बोवडे (१८८६–१९३४), श्री वा० ना० देशपांडे, श्री गु० ह० देशपांडे, श्री ना० घ० देशपांडे, श्री वा० गो० मायदेव, श्री अनन्त काणेकर आदि अनेक कवि मौजूद थे जो भक्ति, वीर, शृंगार, देश-प्रेम आदि रसों की कविताएं लिखने में सिद्धहस्त थे।

यहां तक आकर मराठी कविता परम्परा के चक्कर में फंस गई। उसे इस चक्कर में से निकालने का बहुत कुछ श्रेय कवि अनिल (आत्माराम रावजी देशपांडे) को है। उन्होंने व्यक्ति-प्रेम को ऊपर उठाकर विश्वप्रेम तक पहुंचा दिया। अनिल को मानव के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा है। इसीलिए वे 'निर्वासित चिनी मुलास' (निर्वासित चीनी बच्चे के प्रति) जैसा प्रबन्ध-काव्य लिख सके। 'फुलवात' और 'पेर्ते व्हा' नाम के कविता-संग्रह और 'भग्न मूर्ति' नामक प्रबन्ध-काव्य भी उन्होंने लिखा है। उनकी एक विशेषता यह है कि उन्होंने मराठी में मुक्त छन्द को रूढ़ कर दिया, जिससे मराठी की कविता छंद के बन्धनों से मुक्त हो गई।

इस जमाने के अन्य कवियों में श्री वि० वा० शिरवाडकर, 'कुसुमाग्रज', श्री वा० रा० कान्त, श्री बा० भ० बोरकर, श्री श्रीकृष्ण पोवले, श्री रा० अ० कालेले, श्री कृ० ब० निकुम्ब, श्री वि० म० कुलकर्णी, श्री ना० ग० जोशी आदि के नाम उल्लेखनीय है। इनमें से श्री कुसुमाग्रज की क्रान्तिकारी कविताओं ने सन १९४२ के बाद कुछ वर्षो तक

मराठी युवकों को मोहित कर लिया था।

संन १९५० ईसवी के आसपास मराठी कविता ने एक कदम आगे बढ़ाया और वह नई कविता कहलाने लगी। इस नई कविता के प्रणेता श्री वा० सी० मर्ढेकर (१९०७-१९५६) समझे जाते हैं। हिन्दी की प्रयोगवादी कविता की तरह ही मराठी की यह नई कविता है। इसका सम्बन्ध भारत की मिट्टी से कम और अंग्रेजी कविता से अधिक है। यह कविता पढ़कर मानव-जीवन के प्रति घृणा होने लगती है और ऐसा होने लगता है कि इस संसार में अच्छा कुछ रहा ही नहीं है। टी० एस० इलियट आदि अंग्रेज कवियों की कविता की बहुत गहरी छाप इस नई कविता पर पाई जाती है। कहीं-कहीं वह गन्दी भी हो गई है। मर्ढेकर के अलावा श्री य० द० भावे, श्री विन्दा करंदीकर, श्री शरच्चन्द्र मुक्तिबोध, श्री पु० शि० रेगे, श्रीमती इन्दिरा सन्त, श्री मंगेश पाडगांवकर, श्री वसन्त बापट, आदि कवियों को नव कवि समझा जाता है। मगर इनमें से हरएक की अपनी-अपनी विशेषताएं भी हैं। मुक्तिबोध-करंदीकर पर साम्यवाद का प्रभाव स्पष्ट-रूपेण दृष्टिगोचर होता है तो बापट-पाडगांवकर की कुछ कविताएं भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता का गुणगान करने वाली भी हैं।

इन तथाकथित नव कवियों के अलावा सीधी, सरल, प्रसादपूर्ण, मधुर कविता लिखने वाले श्री ग० दि० माडगूलकर, स्व० बहिणाबाई चौधरी, श्रीमती शांता शेलके, श्रीमती संजीवनी मराठे, श्रीमती पद्मा गोले, श्री राजा बढ़े, श्री मनमोहन, श्री श्रीपाद जोशी, श्री सूर्यकान्त खांडेकर आदि अनेक कवियों की कविताएं पाठकों द्वारा दिलचस्पी के साथ पढ़ी जाती हैं।

नाटक

जनसाधारण की दृष्टि से मराठी का नाटक ही शायद सबसे लोकप्रिय साहित्य-प्रकार समझा जाएगा। यह कहा जाता है कि भारतीय भाषाओं में बंगला और मराठी भाषाओं ने ही नाटक एवं रंगमंच के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रगति की है। यह भी हो सकता है कि बंगला का रंगमंच मराठी रंगमंच से कुछ आगे बढ़ा हो और मराठी नाटक ने बंगला नाटक को कुछ पीछे छोड़ दिया हो। जो हो, मराठी-भाषी जनता और साहित्यिक हमेशा से ही नाटक एवं रंग-मंच के विकास में रुचि रखते आये हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में श्री अण्णासाहब किर्लोस्कर के 'सौभद्र' (१८८२) नाटक ने एक तरह से मराठी के रंगमंच को बहुत जोर का बढ़ावा दिया। इस नाटक की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज भी उसे देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती है। श्री किर्लोस्कर के बाद श्री गोविन्दबल्लाल देवल (१८५५-१९१६) ने 'शारदा' (१८९९), 'संशयकल्लोल' (१९१६), 'मृच्छकटिक' आदि नाटकों द्वारा मराठी के रंगमंच को अधिक मजबूत बनाया। उसके बाद श्री श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर (१८७१-१९३४), श्रीकृष्णजी प्रभाकर खाडिलकर (१८७२-१९४८), श्री राम गणेश गडकरी (१८८५-१९१९), श्री नरसिंह चिन्तामण केलकर, श्री मामा वरेरकर, श्री माधवराव जोशी, वीर वामनराव जोशी, श्री प्र० के० अत्रे, श्री मो० ग० रांगणेकर, श्री नागेश जोशी, श्री वसन्त कानेटकर, श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित, श्री नाना जोग, श्री वि० वा० शिरवाडकर, श्री पु० ल० देशपांडे आदि अनेक नाटककारों ने मराठी नाटक को आगे बढ़ाने में सहयोग दिया है। यहां यह स्मरण रहे कि मराठी के प्रारम्भिक नाटकों में संगीत की बड़ी भरमार रहती थी। मसलन 'सौभद्र' नाटक में कुल मिलाकर सौ पद या गाने थे, जिनमें से चालीस गाने केवल प्रथम अंक में ही थे। इसका मतलब था, मराठी-भाषी श्रोता एवं दर्शक नाट्य की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत का ही शौक अधिक रखते थे। आगे चलकर संगीत की यह मात्रा कम होती गई और कुछ गद्य नाटक भी लिखे गए। मगर आज भी संगीत नाटकों का आकर्षण कम नहीं हुआ है। सम्भवतः इसी कारण फिल्मों के इस जमाने में भी मराठी नाटक अपने पैरों पर मजबूती के साथ खड़ा है।

जीवनी, पत्र-साहित्य, यात्रा-वर्णन आदि

इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण जीवनियां और व्यक्ति जीवन से सम्बन्धित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; यद्यपि इस क्षेत्र में अभी बहुत काम होना बाकी है। स्व० धर्मानन्द कौसम्बी-लिखित 'भगवान बुद्ध', श्री न० चिं० केलकर-कृत 'तिलक चरित्र', प्रा० न० र० फाटक-लिखित 'रानडे चरित्र' और 'श्री एकनाथ', 'श्री ज्ञानेश्वर' तथा

'श्री रामदास', श्री दा० न० शिखरे, श्री आपटे गुरु जी, श्री शि० ल० करंदीकर आदि की लिखी हुई लोकमान्य तिलक की जीवनियां, आचार्य जावडेकर, श्री सप्ने गुरु जी, श्री दा० न० शिखरे आदि की लिखी हुई गांधीजी की जीवनियां, श्री श्रीपाद जोशी की लिखी हुई 'मीं पाहिले ले गांधीजी' (मेरे देखे हुए गांधी जी), श्री ह० मो० जोशी लिखित मौलाना आजाद की जीवनी, अनेकों लेखकों द्वारा लिखी गई नेताजी सुभाषचन्द्र की जीवनियां, श्री ग० गं० जांभेकर की लिखी बालशास्त्री जांभेकर की विस्तृत जीवनी, श्री भावे, श्री दि०वि० काले, श्री व० मो० पुरन्दरे आदि की लिखी हुई शिवाजी महाराज की जीवनियां, श्रीमती रमाबाई रानडे की लिखी 'आमच्या आयुष्यांतील कांहीं आठवणी' (हमारे जीवन के कुछ संस्मरण), महर्षि धोंडो केशव कर्वे की आत्मकथा, श्रीमती लक्ष्मीबाई टिल की 'स्मृति चित्रें', श्रीमती कमलाबाई देशपांडे की 'स्मरण सारवली' आदि पुस्तकों का इस सिलसिले में उल्लेख करना आवश्यक है।

मराठी का पत्र-साहित्य भी बड़ा समृद्ध है। इसमें स्व० साने गुरुजी के पत्रों का अपना एक विशेष स्थान है। 'सुन्दर पत्रें' के नाम से उनके पत्र तीन खण्डों में प्रकाशित हुए हैं। उसमें गुरुजी का विशाल हृदय स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। इसी प्रकार आचार्य दादा धर्माधिकारी के दो पत्र-संग्रहों 'स्नेहाचे झरे' और 'अन्तरीचे उमाले' में भी पत्र-साहित्य की सारी विशेषताएं प्रकर्षण प्रकट हुई हैं। स्व० नरहरि लक्ष्मण आठवले के पत्रों का संग्रह 'जीवनदीक्षा' भी इसी श्रेणी का एक उत्कृष्ट नमूना है। आचार्य काका कालेलकर के पत्र-संग्रह 'सप्रेम वन्दे मातरम्' में उनकी रसिकता एवं संग्राहकता का दर्शन होता है।

यात्रा-वर्णनों की पुस्तकों में अधिकतर ऐसी ही पुस्तकें है जिनका सम्बन्ध विदेशों के भ्रमण से है। श्री टिके-कर ('मुसलमानी मुलखांतील मुशाफरी'), श्री अनन्त काणेकर ('धुक्यांतून लाल तायाकडे'), श्री पां० वा० काणे ('युरोपचा प्रवास'), श्री गंगाधर गाडगील ('साता समुद्रापलीकडे') आदि विदेशीय यात्राओं के लेखकों के साथ ही श्री महादेव शास्त्री जोशी ('तीर्थरूप महाराष्ट्र') और श्री श्रीपाद जोशी ('माझा देश, माझे लोक' और 'लोक-यात्रा') जैसे भारत-यात्री भी पाये जाते हैं। इधर यात्रा-वर्णनों में लोगों की रुचि काफी बढ़ी हुई है और लेखक भी इस क्षेत्र मे नये-नये प्रयोग करने लगे हैं।

सारांश यह है कि पिछले साठ वर्षों में मराठी साहित्य ने विभिन्न विभागों में कम या अधिक मात्रा में प्रगति की है। नाटक, निबन्ध, सन्दर्भ-साहित्य जैसे कुछ विभागों में यह प्रगति विशेष गौरवपूर्ण है तो कविता, उपन्यास, कहानी आदि क्षेत्रों में उस पर विदेशी प्रभाव बहुत अधिक है। आशा की जा सकती है कि जैसे-जैसे हमारे साहित्यिकों को अपनी स्वतन्त्रता का भान होता जाएगा, हमारा साहित्य इस भूमि के साथ अधिक वफादार बनता जाएगा।



मलयालम-साहित्य की प्रगति

श्री एन० वेंकटेश्वरन

भारत के दक्षिण-पश्चिम के कोने में सह्याद्रि-वलयिता जो शस्यश्यामला वसुन्धरा है, वह केरल नाम से मशहूर है। पश्चिमी घाट और अरबसागर के बीच में पड़े हुए इस देश की प्राकृतिक छटा आंखों को लुभाने वाली है। इस प्रदेश की भाषा केरली या मलयालम है। केरल शब्द बड़ा प्राचीन है। अशोक के शिलालेखों तथा कुछ यूनानी ग्रन्थों में 'केरल' का उल्लेख मिलता है। भाषा-विशेषज्ञों का कहना है कि 'चेरलम्' शब्द ही 'केरलम्' में बदल गया, क्योंकि तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के 'च' कार के स्थान पर मलयाली लोग 'क'-कार का प्रयोग करते हैं। केरल की उपजाऊ भूमि, जहां सर्वत्र 'केर वृक्ष' याने नारियल के पेड़ ही पेड़ नजर आते हैं, सचमुच सारे चेरदेश का 'अलम्' याने 'खजाना' ही थी।

मलयालम द्रविड़ भाषा की एक मुख्य शाखा है। इसकी उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में कई मतभेद हैं। फिर भी आज यही मत प्रामाणिक माना जाता है कि द्रविड़ वर्ग की सबसे प्रमुख भाषा तमिल से ही मलयालम की उत्पत्ति हुई है। 'कुट्टम्' 'कुटम्', 'कर्क', 'वण', 'पूली' इन पांच प्रदेशों में प्रचलित तमिल का रूपान्तर ही मलयालम है। कहा जाता है कि आज केरल में जो केरलीय (मलयालम) संवत प्रचलित है, उसके करीब आरम्भकाल में, याने ईसा की आठवीं या नौवीं शताब्दी में, मलयालम ने तमिल से अलग होकर अपना नया स्वतन्त्र रूप ग्रहण किया। उस समय तक के केरलीय कवि अपने देश की तत्कालीन सामान्य भाषा तमिल में ही काव्य-रचना करते थे।

अध्ययन की सुविधा के लिए मलयालम भाषा के साहित्य के इतिहास को चार कालों में बांटा जा सकता है। वे ये हैं—(१) प्राचीनकाल ई० ८००-१२००, (२) पूर्व मध्यकाल ई० १२००-१५००, (३) उत्तर मध्यकाल ई० १५००-१६००, (४) आधुनिक काल ई० १६००।

प्राचीन काल

प्रारम्भिक काल में मलयालम संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही थी। संस्कृत उस समय पंडितों की साहित्यिक भाषा थी। मलयालम शुद्ध बोलचाल की भाषा के रूप में पामरों के बीच अपने विकास का क्षेत्र ढूंढ़ रही थी। यह भाषा तमिल से बहुत प्रभावित थी। इसके प्राचीन काल का साहित्य विविध गानों के रूप में मिलता है। उनमें अधिकतर गीत देवी-देवताओं के स्तोत्रों तथा भजनों के रूप में हैं। 'भद्रकालिप्पाट्ट', 'शास्तान्प्पाट्ट', 'ब्राह्मणिप्पाट्ट' आदि इनके उदाहरण हैं। इन गीतों में साहित्यिक गुणों का बहुत ही कम विकास मिलता है। 'आट्टपाट्ट' नामक कुछ ऐसे देहाती गीतों का संग्रह है जो खेतों में काम करने वाली किसान औरत गाया करती थीं। उस समय केरल में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। उन राजाओं के यशोगान के रूप में कुछ गीत मिलते हैं जो 'तंपुरान्पाट्ट' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

उस जमाने के कुछ ऐसे ग्रन्थ भी पाये जाते हैं जिनको हम साहित्यिक गुणों से युक्त मान सकते हैं। 'रामचरितम्', 'उण्णुनीली संदेशम्', 'कण्णश्श रामायणम्' आदि इस श्रेणी के ग्रन्थ हैं। प्राचीनकाल के साहित्य में तत्कालीन देहाती दुनिया का वर्णन तथा सामाजिक परिस्थितियों की आलोचना आदि पाते हैं। भाषा और विषय सामयिकता के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। पद्य-रचनाओं के साथ-साथ 'तोलन' जैसे हास्यरसिक विदूषक कवियों ने अपनी विचित्र भाषा में खास तरह के चम्पू-काव्यों की रचना भी की थी। उन काव्यों के कथानक पौराणिक थे। वे काव्य अब मिलते नहीं।

लेकिन 'चाक्यार कुत्तु', 'चात्तिरक्कलि', 'कूटियाट्टम्' आदि जो अभिनयात्मक प्रदर्शन और गाने होते थे, उनमें उन हास्यरस-प्रधान काव्यों का समयानुकूल उद्धरण किया करते थे। 'चाक्यार कूत्तु' जैसे प्राचीन खेलों में संस्कृत भाषा के चम्पू प्रबन्ध-काव्यों के साथ मलयालम की प्राचीनतम कविताओं का समावेश करके जो कथा-पाठ किया करते थे, उनसे एक नये प्रकार की भाषा-शैली की उत्पत्ति होने लगी। आगे चलकर उसी शैली का आदर कवियों के बीच बढ़ने लगा और उन्होंने इस नई भाषा-शैली का नाम 'मणिप्रवालम्' दिया। मणिप्रवाल का मतलब है, संस्कृत-रूपी मणि (रत्न) और मलयालम रूपी प्रवाल (विद्रुम) के सुन्दर संयोग से बनी शैली। संस्कृत और प्रादेशिक मलयालम के समुचित संयोग से मणिप्रवाल-शैली को अपनाने में तत्कालीन पंडित और पामर दोनों प्रकार की जनता ने पूरा सहयोग दिया, जिसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य में मलयालम के प्राचीन तमिल-मिश्रित 'मलयालम-तमिल' वाली पुरानी शैली के बदले नवीन मणिप्रवालम् का उपयोग बहुत बढ़ने लगा और तमिल के प्रभाव से मुक्त होकर संस्कृत माता के लालन-पालन में मलयालम अपने नये सौन्दर्य और सौभाग्य का प्रदर्शन करने लगी।

पूर्व-मध्यकाल

इस काल के मलयालम-साहित्य में हम उपर्युक्त मणिप्रवाल-शैली का ही विशेष महत्त्व पाते है। तत्कालीन प्रारम्भिक रचना 'वटक्कन् पाट्टुक्ल' में यद्यपि इस शैली का बहुत कम उपयोग किया गया है, फिर भी उसमें तमिल भाषा के प्रभाव को बहुत अधिक कम कर डालने की तरफ ध्यान दिया गया है। 'वटक्कन् पाट्टुकल' वीर रस-प्रधान सामाजिक कथानकों को लेकर रचे गए हैं। उन दिनों के मलयाली लोगों की देशभक्ति, वीरता, नारी जाति के प्रति श्रद्धा आदि अनेक गुणों का परिचय उक्त रचनाओं से मिलता है।

उसी जमाने की 'चेरुश्शेरि नंपूतिरि' की 'कृष्णगाथा', 'निरणम्बन्धु' नाम के तीन कवियों की रचनाएं, 'गुरुदक्षिणप्पाटट्टु' आदि सैकड़ों सुन्दर रचनाए मिलती है। चम्पू-काव्यों का निर्माण और प्रचार भी पहले से अधिक बढ़ गया। पुनम् नंपूतिरि के 'रामायणम् चम्पू', महिपमंगलम् के 'नैषधम् चम्पू' तथा 'भारतम् चम्पू', 'स्यमन्तकम्', 'रामार्जुनीयम्', 'कालियमर्दनम्', 'गौरीचरितम्', 'दक्षयागम्' आदि चम्पुओं के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अलावा अनेकों गीति-काव्य भी मिलते है जिनमें 'मट्टम पाट्टु', 'रुक्मांगद चरितम्', 'एकादशीमाहात्म्यम्', 'कुचैलवृत्तम्', 'रामाश्वमेधम्', 'किरातम्', 'नागानन्दम्' (अनुवाद), 'चन्द्रोत्सवम्' आदि प्रधान है। पूतानम् नंपूतिरि की भक्ति-रस-प्रधान कविताओं का सृजन भी इसी युग में हुआ था।

पूर्व-मध्यकाल की अधिकतर रचनाएं भक्ति, वैराग्य आदि भावों से भरी हुई पौराणिक कथाओं के आधार पर बनी है। गद्य साहित्य का उस वक्त एकदम अभाव-सा रहा था, तो भी चम्पू-काव्यों के भीतर समासयुक्त एवं क्लिष्ट शैली में लिखे गए गद्य का स्वरूप मिलता है। उस युग की विशेषता सिर्फ यही थी कि मलयालम ने तमिल का साथ छोड़कर संस्कृत का दामन पकड़ा।

उत्तर-मध्यकाल

मलयालम साहित्य का स्वतन्त्र और सुदृढ़ विकास इस जमाने में हुआ। मलयालम के प्रथम गणनीय कवि तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्चन् (तुंचन्) तथा कलक्कत्तु कुंचन् नंपियार जैसे महान साहित्य-सेवियों ने अपनी असंख्य रचनाओं से साहित्य की श्रीवृद्धि की थी। कथकलि के प्रणेता कोट्टयत्तु केरलवर्मा, तंपुरान उण्णायि वारियर, कार्तिक तिरुनालराम वर्मा तंपुरान, इरवियम्मन् तंपि आदि कवियों के अवतार भी इसी युग में हुए। इसलिए इस युग को साहित्य का स्वर्ण-युग भी कहते है।

कविवर तुंचन् ने, जिनको मलयालम का 'तुलसीदास' मान सकते है, अपनी भक्ति रस-प्रधान विशिष्ट रचनाओं से तथा भाषा की व्याकरण-बद्ध सुन्दर मणिप्रवाल-शैली एवं 'किलिप्पाट्टु' नामक स्वतन्त्र छन्दों से मलयालम साहित्य को गौरवान्वित किया है। उनका नाम आज भी मलयालम के पिता या गुरु के सम्मानपूर्ण भाव से लिया जाता है। उन्होंने रामायण, भारत, भागवत, हरिनाम-संकीर्तनम्, शिवपुराणम्, इरुपत्तिनालु वृत्तम्, शतमुख रामायण आदि अनेकों उत्तम ग्रन्थ लिखे है। तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब उनके इन पौराणिक आख्यानों के वर्णनों में भी मिलता

है। आज भी घर-घर उनकी रामायण का नित्य पारायण किया जाता है। उन्होंने संस्कृत में भी कई भक्तिरस-पूर्ण रचनाएं की हैं।

'तुंचन्' के बाद 'कुंचन' का नाम लिया जाता है। जैसे तुंचन् ने 'किलिप्पाट्टु' नाम से अपने स्वतन्त्र छन्दों में कविताएं रची थीं, वैसे ही कुंचन ने 'तुल्ललप्पाट्टु' नामक अपने स्वतन्त्र छन्दों का आविष्कार करके चालीसों तुल्लल-कथाएं लिखी हैं। उनकी रचनाएं अभिनयात्मक, हास्यरस-पूर्ण पौराणिक कृतियां हैं जिनमें तत्कालीन केरल की सामाजिक, राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक परिस्थितियों के सुन्दर चित्रण मिलते हैं। आज भी उनकी तुल्लल-कथाओं के अभिनयपूर्ण प्रदर्शन व गायन बाजे-गाजों के साथ हुआ करते हैं। इन दोनों कवियों का अनुकरण करने वालों की संख्या बराबर बढ़ती आ रही है। इन दोनों को मलयालम के युग-प्रवर्तक कवि मान सकते हैं।

केरल की विशिष्ट नृत्य-कला 'कथकलि' के साथ जो गाने गाये जाते हैं उनको 'कथकलिप्पाट्टु' कहते हैं। 'कथकलिप्पाट्टु' के रचयिता कोट्टयम् केरलवर्मा, कार्तिकतिरुनाल रामवर्मा, उण्णायिवारियर जैसे कवियों ने सैंकड़ों श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण करके इस युग का महत्त्व बढ़ाया है। उन तमाम रचनाओं के नाम इस छोटे से निबन्ध में देना कठिन है।

जैसे 'किलिप्पाट्टु', 'तुल्ललपाट्टु' और 'कथकलिप्पाट्टु' इन तीनों प्रकार के गीत-काव्यों का आविष्कार इस युग में हुआ था, वैसे ही 'वंचिप्पाट्टु' का भी इसी युग में माना जाता है। 'रामपुरत्तु वारियर' नामक कवि ने अपने आश्रयदाता मार्त्तण्ड वर्मा महाराजा के साथ वैक्कम से नाव में बैठकर जाते समय 'कुचेलवृत्तम्' नामक अपनी अमर रचना का निर्माण सबसे पहले 'वंचिप्पाट्टु' में किया था। उसके बाद वंचिप्पाट्टु लिखने वाले कवियों की संख्या दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी।

इस युग में उपर्युक्त चारों प्रकार के नवीन छन्दों में सैकड़ों रचनाएं मिलती हैं। उनके अलावा पून्तोट्टम नंपूतिरि, चेलप्पुरम् नंपूतिरि, शिवोल्लि नंपूतिरि, वेण्मणि नंपूतिरि आदि बहुत से कवियों के नामों और रचनाओं का परिचय भी यहां दिया जा सकता है।

यह युग कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रहा। इसमें साहित्य का स्वच्छन्द विकास, नवीन छंदों की रचना, संस्कृत-काव्यों का स्वतन्त्र अनुवाद, देहाती दुनिया का वास्तविक चित्रण आदि प्रवृत्तियां मुख्य रही हैं। मलयालम साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों ने इस युग को सचमुच स्वर्ण-युग ही बनाया है।

आधुनिक काल का पद्य-साहित्य

इस काल में मलयालम साहित्य पहले-पहल अंग्रेजी के सम्पर्क में आया और उस विदेशी साहित्य के प्रभाव से उसमें कई समयानुकूल परिवर्तन हुए। जैसे हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु से शुरु होता है, वैसे मलयालम में भी 'केरलवर्मा कोयित्तम्पुरान' से आधुनिक पद्य और गद्य साहित्य आरंभ होता है। वे इस आधुनिक युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके जमाने में तिरुवितांकुर रियासत में नये शिक्षा-क्रम के अनुसार कई स्कूल खुले। केरलवर्मा ने इन स्कूलों के लिए कई पाठ्य पुस्तकें रचीं। वे खुद ग्रन्थ लिखते थे, दूसरों को प्रोत्साहित करके लिखाते भी थे। उनके तथा उनके अनुयायियों के परिश्रम से मलयालम साहित्य के विविध अंगों की पुष्टि हुई।

अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, मयूर-सन्देशम्, श्री पद्मनाभपद-पद्मशतकम् आदि केरलवर्मा के मुख्य पद्य-ग्रन्थ हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में उन्होंने कालिदास के उसी प्रसिद्ध नाटक का ऐसा सुन्दर अनुवाद किया है जिससे उनको 'केरल कालिदास' की उपाधि मिली है। केरलवर्मा की सबसे मुख्य रचना 'मयूरसन्देशम्' है। यह एक मौलिक खंड-काव्य है। मलयालम के संदेश-काव्यों में इसका पहला स्थान है। कालिदास के 'मेघदूत' के अनुकरण पर यह रचा गया है। इसमें भावों की जो मार्मिक अभिव्यक्ति और अलंकारों की जो सुन्दर छटा मिलती है, वह अद्वितीय है। 'विज्ञान मंजरी', 'अकबर', 'महच्चरितम्' आदि उनकी मुख्य रचनाएं हैं। उनके गद्य की धारावाही शैली और संस्कृत-गर्भित भाषा आगे आने वाले अनेक लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शक बन गई। इन ग्रन्थों के अलावा केरलवर्मा ने 'हनुमदुत्सवम्', 'ध्रुवचरितम्' आदि 'कथकलिप्पाट्टु' भी लिखे हैं।

राजराजवर्मा कोयित्तम्पुरान इसी युग की अन्य श्रेष्ठतम विभूति हैं। वे केरलवर्मा के भानजे हैं। वे केवल कवि ही नहीं, मलयालम के सुप्रसिद्ध व्याकरण-निर्माता भी हैं। उनको 'केरल-पाणिनि' की उपाधि से विभूषित किया गया है। रुक्मिणीहरणम्, चित्रनक्षत्रमाला, तुलाभारप्रबन्धम्, मलयविलासम् आदि उनकी उत्कृष्ट काव्य रचनाएं हैं। उन्होंने कालिदास की कई कृतियों का सफल अनुवाद भी किया है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने मलयालम साहित्य को सचमुच चमका दिया है।

के० सी० केशवपिल्ल, कोटुंगल्लूर कुंजिक्कुट्टन तम्पुरान, चात्तुक्कुट्टि मन्नाडियार, पन्तलम् केरलवर्मा, नटुवम् नंपूतिरि, कुण्टूर नारायणमेनन आदि इस युग के प्रमुख कवि थे। के० सी० केशवपिल्लै की रचनाओं में साहित्य और संगीत का अनोखा सम्मिश्रण पाया जाता है। उनका 'केशवीय' मलयालम के पंच महाकाव्यों में एक माना जाता है।

कोटुंगल्लूर कुंजिक्कुट्टन तम्पुरान ने महाभारतम्, देवीभागवतम्, देवीमाहात्म्यम् जैसे बड़े पुराण-ग्रन्थों का संस्कृत से मलयालम पद्यों में अनुवाद किया है। उनको 'केरल व्यास' की उपाधि भी मिली है। वे आशुकवि थे। पद्य में मामूली बातचीत भी किया करते थे। उसी घराने के कोच्चुण्णित्तम्पुरान 'कल्याणी नाटकम्', 'उमाविवाहम्', 'भद्रोत्सवम्' आदि दृश्य काव्यों तथा 'पांडवोदयम्', 'वंचीशवंशम्', 'मलयाम कोल्लम' आदि महाकाव्यों के रचयिता थे। 'कल्याणी-नाटकम्' संस्कृत नाटकों के नियमों के अनुसार रची गई मलयालम का पहली मौलिक रचना है।

चात्तुक्कुट्टि मन्नाडियार की अधिकतर रचनाएं संस्कृत से अनूदित हैं। 'उत्तररामचरितम्' के अनुवाद में भवभूति के करुण रस को ज्यों-का-त्यों उतार लेने में वे सफल हुए हैं।

कुण्टूर नारायणमेनन ने रघुवंश और कुमारसंभवम् का सुन्दर अनुवाद किया है। 'नालु भाषा काव्यंगल' ठेठ मलयालम में लिखी हुई कविता है।

आधुनिक पद्य-साहित्य की नवीन धारा

कुमारनाशान्, वल्लत्तोल और उल्लूर नवीन काव्य-मार्ग के अग्रदूत हैं। इन तीनों को आधुनिक मलयालम कवियों की 'बृहत्त्रयी' कहा जा सकता है।

कुमारनाशान्—स्वर्गीय कुमारनाशान् मलयालम के दुःखवादी कवि हैं। उनकी कविता में वेदना और निराशा की स्पष्ट गूंज हैं। वे बड़े तत्त्वचिन्तक और जीवन-दर्शी थे। उनकी रचनाएं दार्शनिक और आदर्श-प्रधान हैं। वे समाज-सुधारक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कवि थे। उन्होंने अछूतों की दयनीय दुर्दशा पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए 'चण्डालभिक्षुकि' नामक खंड-काव्य लिखा है। इसके अलावा 'बुद्धचरितम्', 'चिन्ताविष्टयाय सीत', 'वीण-पूवू', 'नलिनि', 'करुणा', 'लीला' आदि सैकड़ों उत्कृष्ट खंड-काव्य लिखे हैं। उनको मलयालम में पहले-पहल खंड-काव्य लिखने का श्रेय मिला है। वे मलयालम के 'सुमित्रानन्दन पन्त' माने जा सकते हैं।

वल्लत्तोल—स्वर्गीय वल्लत्तोल नारायण मेनन मलयालम के राष्ट्रीय कवि थे, साथ ही भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ गायक थे। समाज और राष्ट्र की प्रत्येक नवीन प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं पर पड़ा है। वे गांधीजी के बड़े भक्त हैं। 'चित्रयोगम्' उनका लिखा एक महाकाव्य है। 'बधिरविलापम्', 'कोच्चु सीता', 'शिष्यनुममकनुम्', 'मग्दलन मरियम' आदि उनके मुख्य खंड-काव्यों में गिने जाते हैं। उनकी विविध विषयों की फुटकल कविताएं 'साहित्य-मंजरी' नामक आठ भागों में संगृहीत हैं। हाल ही में गांधीजी पर लिखी गई उनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बापू' के नाम से निकला है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण का मलयालम में अनुवाद भी किया है। मद्रास सरकार की ओर से उनको केरल के 'राजकवि' का सामान्य पद मिला है। वे आधुनिक मलयालम साहित्य के सबसे बड़े प्रतिनिधि कवि हैं।

उल्लूर—स्वर्गीय उल्लूर परमेश्वरय्यर बड़े ही विचक्षण पंडित और प्रतिभा-संपन्न कवि थे। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अपनी असाधारण कुशलता दिखाई है। उनकी रचनाएं पांडित्यपूर्ण होने के कारण विद्वानों के बीच में विशेष समादर का पात्र बनी हैं। 'उमाकेरलम्' उनका एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। 'वंचीशगीति', 'मंगलमंजरी', 'कर्णभूषणम्', 'पिंगला', 'हृदयकौमुदी', 'किरणावलि' आदि उनके मुख्य खंड-काव्य और पद्य-संग्रह हैं। उन्होंने मलयालम

के पुराने काव्यों को खोज कर प्रकाशित किया, उनकी भूमिका और टीकाएं भी लिखीं। 'विज्ञानदीपका' उनके विद्वत्तापूर्ण निवन्धों का संग्रह है। उन्होंने मलयालम साहित्य का एक प्रामाणिक इतिहास भी लिखा है, जिसका प्रकाशन तिरुविताकूर यूनिवर्सिटी कर चुकी है।

जी० शंकर कुरुप—वर्तमान मलयालम साहित्य के प्रगतिशील और छायावादी कवि हैं। नवयुवकों में उन का विशेष आदर है। उनके विचार आधुनिक युग के अनुकूल एवं क्रान्तिकारी हैं। दलित मानवता की पुकार उनकी कविता के करुण शब्दों में गूंज उठतीं है। उन्होंने 'साहित्य-कौतुकम्' नामक चार संग्रहों में सैकड़ों फुटकर कविताओं को प्रकाशित किया है। 'स्वप्न-सौधम्', 'सूर्यकांति', 'नवातिथि', 'संध्या' आदि उनकी उत्कृष्ट रचनाएं हैं। रविबाबू की गीतांजलि का पद्यानुवाद भी किया है और अब जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का मलयालम में पद्यानुवाद कर रहे हैं।

चंगंपुषा—चंगंपुषा कृष्णपिल्लै कोमल-कान्त पदावलियों में मधुर मार्मिक गीत रचने वाले भावुक कवि थे। मलयालम के दुःखवादी कवियों में वे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन की निराशा, प्रेम की पीड़ा और समाज के अत्याचारों पर उन्होंने बहुत-सी सुन्दर मार्मिक रचनाएं की हैं। उन रचनाओं का केरल के अपढ़ मजदूरों व देहातियों के बीच में भी बेहद प्रचार हुआ है। 'रमण' नामक उनका जो खंड-काव्य है, उसका बत्तीसवां संस्करण अभी निकला है। 'देवता', 'आराध्कन', 'वाष्पांजलि', 'हेमन्तचन्द्रिका', 'उद्यानलक्षिम', 'सुधांगदा' आदि उनके प्रमुख खंडकाव्य और कविता-संग्रह हैं।

मलयालम के आधुनिक पद्य-साहित्य में ऐसे अनेकों कवि थे जिन्होंने अपनी सुन्दर रचनाओं से सहृदयों को अपनी ओर आकर्षित किया है। उनमें नालप्पाट्टु बालमणिअम्मा और नारायण मेनन, के० के० राजा, पल्लुत्तु रामन, कुट्टिप्पुरत्तु केशवन नायर, वेण्णिकलम् गोपाल कुरुप, वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनन, ओलप्पमण्णा, पी० भास्करन, एन० वी० कृष्णवारियर, पाला नारायणन नायर आदि कुछ प्रमुख कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास

मलयालम के उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अवश्य पड़ा है। अंग्रेजी के उपन्यासों की देखा-देखी कई स्वतंत्र उपन्यास मलयालम में प्रकाशित हुए हैं। उपन्यास-लेखकों में सर्वप्रथम 'कुन्दलता' के रचयिता अप्पु नेडुंगाड़ि माने जाते हैं। चन्तु मेनन के 'शारदा', 'इन्दुलेखा', सी० वी० रामन पिल्लै के 'मार्तण्ड वर्मा', 'रामराजबहदूर', 'धर्मराजा', 'प्रेमामृतम्', टी० के० वेलुप्पिल्लै के 'हेमलता', सरदार के० एम० पणिक्कर के 'परङ्किप्पटयालि', 'पुणरकोट्टु', 'स्वरूपम्', 'केरलसिंहम्', एन० के० कृष्णपिल्लै के 'कनकमंगलम्', एन० पी० पणिक्कर के 'लोलिता' 'विच्छिन्नहारम्', जी० रामकृष्ण पिल्लै के 'उमादेवी', 'प्रतिक्रिया', सी० माधवन पिल्लै के 'देशसेविनि', 'आनन्दसागरम्' 'विजयभानु' आदि उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। इस अर्से में मलयालम उपन्यास साहित्य की काफी उन्नति हो चुकी है जिस पर एक अलग स्वतंत्र लेख लिखा जा सकता है।

कहानी

कहानी-साहित्य का भी अच्छा विकास हुआ है। ओटुविल कुंचिकृष्ण मेनन, सी० एस० गोपाल पणिक्कर, के० सुकुमारन् आदि शुरू के कहानी-लेखक माने जाते हैं। उनके साथ-साथ ई० वी० कृष्ण पिल्लै, सी० एस० सुब्रह्मण्यम् पोट्टि, ललितांबिका अन्तर्जनम्, कारुर नीलकण्ठ पिल्लै, सी० एस० वैक्कम मुहम्मद बशीर, ई० एम० कोवूर, तकषि शिवशंकर पिल्लै, के० सरस्वती अम्मा, एस० के० पोट्टक्काट, पोनकुन्नम् वर्कि, केशवदेव आदि सैकड़ों कहानी-लेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं। सैकड़ों कहानी-संग्रह भिन्न-भिन्न प्रकाशकों ने निकाले हैं। मलयालम की पत्र-पत्रिकाओं में लब्ध-प्रतिष्ठ नवयुवक कहानी-लेखकों की रचनाएं बराबर प्रकाशित हुआ करती हैं।

नाटक और एकांकी

नाटक और एकांकियों का साहित्य भी मलयालम में काफी बढ़ चुका है। ई० वी० कृष्ण पिल्लै ने नाटक-साहित्य के विकास में सराहनीय काम किया है। पुराने संस्कृत-नाटकों के अनुवादों के बाद, स्वतन्त्र मौलिक नाटकों

की रचना करने का क्षेत्र उन्हीं के कारण सुगम हो गया है। 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्', 'चारुदत्तम्', 'उत्तर रामचरितम्' जैसे पद्यमय अनूदित नाटकों के बाद ई० वी० कृष्ण पिल्लै के गद्य-नाटकों ने विशेष लोकप्रियता पाई। रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक काफी सफल हुए हैं। 'सीतादेवी', 'इरविक्कुट्टि पिल्लै', 'राजा केशवदास', 'वी० ए० मायावी' आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। कैनिक्करा कुमारपिल्लै और पद्मनाभ पिल्लै, सी० माधवन् पिल्लै, टी० एन० गोपीनाथन् नायर, एन० पी० चल्लप्पन नायर, के० रामकृष्ण पिल्लै, एन० कृष्ण पिल्लै आदि कई इस युग के प्रमुख नाटककार हैं।

निबन्ध तथा आलोचना

निबन्ध और आलोचना-साहित्य का भी भण्डार बराबर बढ़ता जा रहा है। दोनों शाखाओं के प्रसिद्ध लेखकों में के० रामकृष्ण पिल्लै, आर० ईश्वर पिल्लै, आर० नारायण पणिक्कर, उल्लूर राजराज वर्मा, ओ० एम० चरियान, पी० के० नारायण पिल्लै, पट्टक्कूर राजराज वर्मा, टी० के० कृष्ण मेनन, पुत्तेपुत्तु रामन मेनन, अप्पन तम्पुरान्, जोसफ् मुण्टश्शेरी, डी० पद्मनाभन उण्णि, कुट्टिक्ककृष्णमारार, सी० एस० नायर, के० एम० पणिक्कर, एन० वी० कृष्णवारियर, मूर्कोत्तु कुंजप्प, एम० गोविन्दन् आदि कइयों के नाम उल्लेखनीय हैं। मौलिक निबन्ध और स्वतन्त्र समालोचनाएं आजकल की मलयालम पत्र-पत्रिकाओं में काफी प्रकाशित हुआ करती हैं। वैज्ञानिक विषयों पर डा० के० भास्करम् नायर के लेख प्रामाणिक व उच्चकोटि के माने जाते हैं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार होने से उसका प्रभाव भी मलयालम साहित्य पर काफी पड़ रहा है। हिन्दी के कुछ उपन्यासों और कहानियों का मलयालम में अनुवाद हुआ है।

'मातृभूमि', 'मलयालराज्यम्', 'परिषद मासिका', 'मंगलोदयम्', 'कौमुदी' जैसे अनेकों मासिक तथा साप्ताहिक पत्र और 'मातृभूमि', 'ऐक्सप्रेस', 'मलयालराज्यम्', 'मलयाली', 'केरलकौमुदी', 'दीनबन्धु', 'केरलभूषणम्', 'मलयालमनोरमा' जैसे कितने ही दैनिक पत्र मलयालम में प्रकाशित हो रहे हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मलयालम का आधुनिक साहित्य सर्वतोमखी उन्नति कर रहा है।



सम्पादक—

मोहनलाल भट्ट

माधव

सम्पादकीय

श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा है कि 'हिन्दी अपनी शक्ति से बढ़ेगी', यह सही बात है। आज जो हिन्दी बनी है, वह भी अपनी शक्ति के कारण ही बन पाई है। उसे राष्ट्रभाषा का पद मिला है, इसका कारण भी उसकी अपनी शक्ति है। यों देखा जाय तो वह किसी प्रदेश की भाषा नहीं है। मेरठ के आस-पास बोली जानेवाली भाषा का वह विकास-सा प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः व्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी आदि तमाम बोलियों का पूरा प्रभाव उस पर है। सूरसागर व्रजभाषा का तथा तुलसी-कृत रामायण अवधी का ग्रंथ माना जाता है। परन्तु इन दोनों ग्रन्थों तथा ऐसे अनेक सन्तों की वाणी के संस्कार वर्तमान हिन्दी को प्राप्त हैं। भारतेन्दु-काल में वह वर्तमान रूप धारण करने लगी। उस समय तक उर्दू का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ चुका था। प्रथम खड़ीबोली के लेखक मुसलमान सूफी सन्त रहे हैं। यही नहीं, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि प्रदेशीय भाषाओं का भी प्रभाव उस पर पड़ा है। अनेक बोलियों तथा भाषाओं का इस प्रकार जो समन्वयात्मक प्रभाव पड़ा, वही हिन्दी की शक्ति है। भारतीय मिली-जुली संस्कृति का प्रतिबिम्ब उसमें है। इसी कारण भारतीय संस्कृति की सहज अभिव्यक्ति उसके द्वारा संभव है। यही उसका सामर्थ्य है। आज की उसकी समृद्धि का कारण भी यही है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हमारे राष्ट्रीय संघर्ष, हमारी राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय आदर्श को हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं ने मुखर किया और गौरवमयी वाणी दी। इसी काल में हिन्दी का रूप निखरा और सारे भारत में व्यापक रूप से फैली होने के कारण अन्तर-प्रदेशीय महत्त्व उसे प्राप्त हुआ। दूरदर्शी नेताओं ने जब यह अनुभव किया कि भारत की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए तो उनका ध्यान हिन्दी की ओर गया। बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सभी अहिन्दीभाषी प्रदेशों ने हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाने के योग्य घोषित किया।

हिन्दी का वर्तमान रूप कैसे बना, वह कैसी समृद्ध है, उसका प्रचार कैसे हुआ, आदि प्रश्नों की चर्चा यहां प्रस्तुत नहीं। यदि कोई यह दावा करे कि एकाध प्रदेश में किये गए कार्य से अथवा कुछ इने-गिने साहित्यिक तथा हिन्दी-प्रेमी अगुआओं के प्रयत्नों से हिंदी का वर्तमान रूप बना, वह समृद्ध हुई, उसे राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त हुआ और उसका इतना व्यापक प्रचार हुआ, तो वह सही बात न होगी। हिन्दी का विकास तथा प्रचार

स्वाभाविक रूप से, सहजगति से समय की मांग को पूरा करने के लिए राष्ट्रीय अन्तश्चेतना की राष्ट्रव्यापी प्रेरणा से ही हुआ है। इसलिए हिन्दी का प्रचार करनेवाली दो-चार संस्थाओं को या हिन्दी के प्रति प्रेम रखने वाले दो-चार नेताओं को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। १८वीं सदी के द्वितीयार्द्ध से आरम्भ कर आज तक सैकड़ों-हजारों-लाखों ऐसे हिन्दी के सेवक होंगे, जिन्होंने जाने-अनजाने हिन्दी के विकास में योग दिया है; और ऐसी अनेक संस्थाएं भी होंगी, जिन्होंने हिन्दी की सेवा तथा श्रीवृद्धि का सफल प्रयास किया है, और हमने उनका नाम भी न सुना होगा। आज भी ऐसे अनेक सेवक तथा चुपचाप हिन्दी की सेवा करनेवाली कितनी संस्थाएं कार्य कर रही होंगी! उन सबके बारे में जानकारी प्राप्त करना और उनका परिचय देना संभव नहीं। इस खण्ड में केवल मुख्य-मुख्य संस्थाएं, जो इस क्षेत्र में कार्य कर रही हैं, उनका ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है। कुछ मुख्य संस्थाएं भी हमारे ध्यान से बाहर रह गई होंगी। व्यक्तियों के बारे में तो विशेष रूप से यही बात कही जा सकती है। हिन्दी का काम करनेवाली अज्ञात संस्थाओं तथा व्यक्तियों के प्रति हम आदर व्यक्त करते हैं। उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम करके उनसे क्षमा मांगते हैं कि हम उनका यहां परिचय नहीं दे सके हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके कार्य का महत्त्व किसी प्रकार कम आंका जाएगा। और जिन संस्थाओं का परिचय यहां दिया गया है या व्यक्तियों के बारे में कुछ कहा गया है, उनके सम्बन्ध में भी उन्हें पूरा न्याय हुआ है, यह हम नहीं कह सकते। हमारे इस प्रयत्न में अनेक त्रुटियां रही होंगी। उसके लिए हम क्षमा मांगते हैं। केवल हम यहां इतना ही कहेंगे कि हमने हिन्दी-प्रचार के कार्य की यहां छोटी-मोटी रूपरेखा खींची है जिससे हिन्दी-प्रचार के व्यापक प्रयत्न का यत्किंचित ख्याल पाठक कर सकें।

भाषात्मक प्रतिक्रान्ति

डा० राजबली पांडेय

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चरण तक भारतवर्ष का अधिकांश ब्रिटिश शासन में समाहित हो चुका था, यद्यपि पराधीनता का चक्र १८५७ में पूरा हुआ जब कि हमारा पहला राजनीतिक विद्रोह अंग्रेजी शासन द्वारा बलपूर्वक कुचल दिया गया। भारत की आत्मा, जो बेड़ियों में जकड़ दी गई थी, उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में, जब ब्रह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहनराय ने सांस्कृतिक पुनर्जागरण का शंख फूंका, जागी और अपने को पहचानने लगी। यह जागरण यों तो भारतीय जीवन और दर्शन पर निरंतर पड़ने वाले पाश्चात्य प्रभावों के कारण उत्पन्न हुआ था, किन्तु इसने अपना आधार वैदिक और औपनिषदिक काल की भारतीय संस्कृति को बनाया था। इससे एक मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक आत्मचेतना हुई कि देश का निर्माण करने वाली मूल चिन्तनदृष्टियों को मान्यता दी जाए। यद्यपि यह जागरण और चेतना अंग्रेजी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती थी, तथापि मूल प्रेरणा राष्ट्रीय विचार और संस्कृति के आदि-स्रोत, संस्कृत भाषा और उसके साहित्य, से ही ग्रहण की जाती थी। साथ ही यह प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार बने मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यात्मक दृष्टिकोणों की ओर झुकी हुई थी। बंगला साहित्य यद्यपि अंग्रेजी के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात किये हुए था, फिर भी उसका पोषण मुख्यतः भारत के प्राचीन साहित्य से ही हो रहा था और उसका रूप भी वस्तुतः संस्कृत का ही था।

भारतीय जीवन का पुनर्जागरण

भारतीय जीवन का यह पुनर्जागरण १८५७ के राजनीतिक विद्रोह में भारतीयों के हतप्रभ हो जाने से भी न रुक सका और धीरे-धीरे देश के विभिन्न भागों में फैल गया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, थियोसॉफी और कई अन्य सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक आंदोलन देश में व्याप्त हो गए। उन सबका उद्देश्य यही था कि भारत की आत्मा को फिर से पहचाना जाए और भारतीय जीवन का राष्ट्रीय भावों के आधार पर पुनर्निर्माण हो और उसमें उन स्वस्थ और उपयोगी बाह्य प्रभावों को भी समाहित कर लिया जाए जो कालान्तर से भारत में आ गए थे।

इन आंदोलनों द्वारा भारतीय धर्मों, भाषाओं, साहित्यों और अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में नवजीवन की लहर उठी। केवल पंडितों और विद्वानों को ही नहीं, अपितु साधारण भारतीय जनता को भी इन आंदोलनों ने प्रभूत प्रभावित किया। इस युग के सुधारकों में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती सर्वाधिक शक्तिमान और कर्मठ थे तथा भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। वे पूरे देश को सामाजिक-धार्मिक क्रियाओं द्वारा सुधारना और संगठित करना चाहते थे। उनको सारे भारत के लिए एक समान और आधुनिक भाषा की आवश्यकता प्रतीत हुई। वह संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान और प्रभावशाली वक्ता थे। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वह प्रारम्भ में उपदेशों में संस्कृत का व्यवहार करते थे, किन्तु बहुत शीघ्र उन्हें यह पता चल गया कि इस प्रकार वे साधारण श्रोताओं तक अपना संदेश नहीं पहुंचा सके थे। तब जन्मतः गुजराती होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का संकल्प कर लिया। उन्होंने हिन्दी में केवल उपदेश ही नहीं किया, अपितु उसमें विपुलता से लिखा भी। फलस्वरूप बहुत थोड़े समय में ही उनका आंदोलन बम्बई से लाहौर और लाहौर से कलकत्ते तक के गांवों और

कस्बों में पहुंच गया। समूची उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा और शासन की भाषा होने के कारण, अंग्रेजी उन इने-गिने लोगों को ही प्रभावित कर सकी जिनका स्कूल-कालेजों में पढ़ पाना सम्भव था। भारतीय भाषाएं, विशेषकर हिन्दी, लोगों के विचारों और चरित्रों को बड़ी सफलता से व्यक्त कर रही थी। इन नवपंडितों और नौकरशाही के सूत्रधारों के अतिरिक्त जो जनता थी, वह इन्हीं भाषाओं में अपनी विचार-गंगा बहाती थी। भारत के राष्ट्रीय विचारधारा के लोग स्वस्थ पाश्चात्य प्रभाव के विरोधी नहीं थे, किन्तु वह विदेशी सत्ता के प्रसार, विधर्मी मिशनरियों द्वारा भारतीयों के धर्म-परिवर्तन और भारतीय भाषाओं एवं साहित्यों के स्थान पर अंग्रेजी के प्रचलन तथा किसी भी प्रकार के ऐसे विदेशी संयोजन के विरुद्ध थे जो भारतीय दर्शन और जीवन के लिए घातक सिद्ध हों।

राष्ट्रीयता का आंदोलन

भारत के इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने देश में उस राष्ट्रीयता के महान आंदोलन को जन्म दिया, जिसका प्रारम्भ १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से होता है। कांग्रेस के पीछे आने वाले अन्य अधिवेशनों में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार हुआ। क्योंकि कांग्रेस अखिल भारतीय संस्था थी, उसके सदस्य अंग्रेजी में बोलते थे तो भी पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय प्रभृति कुछ लोग हिन्दी में भी भाषण करते थे। कांग्रेस ने अभिजात वर्ग में राष्ट्रीय जागरण के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान सेवाएं कीं, किन्तु अपनी विदेशी भाषा के कारण वह साधारण जनता तक न पहुंच सकी। हां, आगे चलकर जब उसने स्वराज्य एवं स्वदेशी की समस्याएं उठाई तब अवश्य ही उसे पर्याप्त महत्त्व प्राप्त हुआ। ये दोनों बड़ी क्रांतिकारी कल्पनाएं थीं और इससे शीघ्र ही वह सारी जनता की प्रियपात्र हो गई।

तो भी अभी राष्ट्रीय आंदोलन में किसी बात की कमी थी। उसमें गति थी किन्तु खटक अधिक थी, प्रांतीयता थी, शंकाएं थीं। जनता अब भी आंदोलन से दूर थी। महात्मा गांधी ने कमजोरी की नब्ज पकड़ी, इस बात पर ध्यान दिया कि इस महान राष्ट्रीय आंदोलन और आम जनता के बीच एक दरार क्यों पड़ी है। उन्होंने समझा कि जनता की एकता की एक आवाज होनी चाहिए और यह तभी सम्भव है जब उनकी अपनी कोई एक राष्ट्रीय भाषा हो। स्वामी दयानन्द सरस्वती की तरह महात्मा गांधी भी गुजरात के ही थे। उन्होंने सारे देश की यात्रा की और विभिन्न प्रान्तों की जनता के सम्पर्क में आए। सबसे बातचीत करके उन्होंने सबके हृदयों में एक हलचल मचा दी। भारत की राष्ट्रीय भाषा के लिए उन्होंने भी हिन्दी का ही चयन किया, क्योंकि यह सर्वाधिक व्यवहृत होती थी और देश की अधिकांश जनता द्वारा साहित्यिक-सांस्कृतिक माध्यमों में उपयोग में आती थी। इस चयन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का रूप ही बदल दिया। अब वह संस्था-मात्र नहीं रह गई, अपितु देश की जनता के महान आन्दोलन के रूप में बदल गई और इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक अजेय उपकरण बन गई।

हिंदी-देवनागरी का प्रचार

इस राष्ट्रीय उत्थान में हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनाने और प्रचार करने में कांग्रेस के महान नेताओं ने एक बड़ी सशक्त क्रांति की। सभी प्रगतिशील संस्थाओं एवं व्यक्तियों ने देश में एक समान भाषा और लिपि हिन्दी एवं देवनागरी को विस्तृत प्रचार देने की चेष्टा की और ऐसा करने में उनकी क्षेत्रीय भाषाओं और साहित्यों के महत्त्व को तनिक भी हानि पहुंचाने की इच्छा नहीं थी। वह देशभक्ति और महत्त्वपूर्ण देशव्यापी जागृति आदर्शवाद से प्रेरित राष्ट्रीयता का युग था। वस्तुतः वह देश के कल्याण को देखते हुए अपने स्वार्थों को भूल जाने का आंदोलन था। देश की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जो आग लोगों के दिलों में भड़क चुकी थी, उसके खिलाफ स्थानीयता, क्षेत्रीयता, विभागीय और साम्प्रदायिकता अपना सिर उठाने का साहस ही नहीं कर सकती थी। यह पवित्र और प्रेरणादायक आन्दोलन १९४७ ई० तक, जब कि उसने स्वतन्त्रता प्राप्त की, बना रहा।

स्वाधीनता के बाद

यह एक विचित्र बात है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद देश की राष्ट्रीय एकता के विरोध में कई प्रत्यान्दो-

लन एवं प्रतिक्रान्तियां प्रादेशिकता या अंतर्राष्ट्रीयता के रूप में उभर आई हैं। राष्ट्रीय आंदोलन को सभी राष्ट्र-नेताओं, विभिन्न प्रान्तों के जागरूक साहित्यिकों, महान समाजसुधारकों एवं समाजसेवकों तथा देश की स्वतन्त्रता के लिए जूझने एवं त्याग करने वाली जनता का प्रवल सहयोग और समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रोत्थान का वह उत्साह अव जैसे निराशा और ह्रास के रूप में वदल गया है। व्रिटिश सत्ता को भारत में जमे रहने में जो शक्तियां मदद करती थीं, लगता है कि अव उन्हीं नौकरशाही के अफसरों, औद्योगिकों, जड़ अध्यापकों और कालेजों-विश्वविद्यालयों के लेखकों के हाथों देश का भाग्य चला गया है। राष्ट्रीय आंदोलन भर उन्होंने विदेशी सत्ता से गठवंधन कर रखा था और विदेशी मालिकों ने जो भी काम उन्हें सौंपा था, वे उससे पूर्ण सन्तुष्ट थे, और उस गतिहीन निश्चल जड़ परिस्थिति से चिपके हुए थे जिससे कि उनकी नौकरी और काम सुरक्षित रहे। आश्चर्य तो इस वात का है कि कुछ ऐसे व्यक्ति, जो अपने उच्च देशप्रेम और राष्ट्रीय आदर्शवादिता के लिए विख्यात थे, अव इन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के चमत्कार में आ गए हैं। इस प्रतिक्रांति के प्रकरण में भारतीय भाषाओं के महत्त्व को अनादृत कर दिया गया है और नये-नये नारे ऐसे स्वरों में सुनाई पड़ रहे हैं जो उस समय लापता थे जव देश अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्परत था। सुशासन, शिक्षा-स्तर, सार्वभौम भाषा, अंतर्राष्ट्रीय व्यापारिक आचरण के नाम पर अंग्रेजी के स्वत्व का दावा ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए कोई त्याग नहीं किया है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, इस प्रतिक्रांति ने दो रूप ले लिये हैं—

(१) प्रादेशिकता, और (२) अन्तर्राष्ट्रीयता।

जहां तक पहले का सम्वन्ध है, यह देश की राष्ट्रीय और प्रादेशिक समस्याओं के वीच में रहने वाले निश्चित उलझाव के कारण उत्पन्न हुआ है। दोनों को ही आपस में एक-दूसरे का विरोधी समझा जाता है, जवकि वे दोनों ही एक-दूसरे के पूर्ण सहायक हैं। इस दूसरे के सम्वन्ध में कहें कि अभिव्यक्ति के राष्ट्रीय माध्यम और अन्तर्राष्ट्रीय सूत्रों से प्राप्त होने वाले ज्ञान के स्रोतों के वीच में काफी उलझन है। किसी भी देश की अभिव्यक्ति का स्वाभाविक माध्यम उस देश की राष्ट्रभाषा ही हो सकती है। भारतीय साहित्य को सम्पन्न वनाने के लिए किसी भी विदेशी भाषा को यहां जमाया जा सकता है किन्तु वह विचारों और अभिव्यक्तियों के स्वाभाविक माध्यम का स्थान नहीं ले सकती है। केवल अंग्रेजी ही नहीं, अपितु अन्य विदेशी भाषाएं भी हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं को सम्पन्न करने में सहायक हो सकती हैं; किन्तु उनको यह अनुमति कभी नहीं दी जा सकती कि वे राष्ट्रभाषा और प्रादेशिक भाषा के जन्म-सिद्ध अधिकार एवं स्थान को अनधिकृत रूप से ले सकें। यह प्रतिक्रांति अंशतः मनोवैज्ञानिक आशंका और उलझन के कारण है और मुख्यतः उन व्यक्तियों के कारण है जो इतने चतुर हैं कि शासन और शिक्षण-संस्थाओं में अपने पदों के छिन जाने की आशंका से भरे हैं। इस झूठी मनोवैज्ञानिक आशंका को वे शिक्षण-स्तर, शासन-पद्धति और सार्वभौम ज्ञान के माध्यम के नाम पर लम्वी वातों के जाल में प्रकट करते हैं। यह प्रतिक्रांति एक संकट की सूचना है कि जो अंग्रेज भी नहीं प्राप्त कर सके, उसे पाने का इन्हें हौसला है। राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सच्चे क्रांतिकारियों को यह एक आवाहन है कि इस प्रतिक्रांति द्वारा आने वाली गुलामी और असम्यता से देश की आत्मा की रक्षा करें।

इस आन्दोलन के लिए एक आलोचनात्मक विश्लेषण की अपेक्षा है। इस लेख को महात्मा गांधी के निम्न-लिखित शव्दों के साथ समाप्त करता हूं—'मेरी कामना है कि मेरा घर न तो दीवारों से चारों ओर से वन्द कर दिया जाए और न ही ताजी हवा को रोकने के लिए उसकी खिड़कियों को ही भेड़ दिया जाए। मैं चाहता हूं कि सारे संसार की महान सम्यताओं एवं संस्कृतियों की वायु मेरे घर की ओर वहे, किन्तु साथ ही मैं यह भी पूरी ईमानदारी से चाहता हूं कि विदेश की सम्यता-संस्कृति की अमान्यताओं की आंधी से मेरा घर उड़ा ही न दिया जाए।'

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

१८९३ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना वाराणसी में हुई। इसके संस्थापकों में स्व० रामनारायण मिश्र, स्व० श्यामसुन्दरदास, श्री शिवकुमारसिंह आदि प्रमुख थे। इस सभा का उद्देश्य सारे देश में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करके उसे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के पद पर प्रतिष्ठित करना रखा गया। बाद में महामना मदनमोहन मालवीय ने नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी को विकसित तथा सक्षम बनाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। तबसे सभा अपने उद्देश्य की सिद्धि में निरन्तर अग्रसर है। इस सभा के प्रयत्न से अनेक अनुपलब्ध रचनाएं प्रकाश में आई हैं। प्राचीन कवियों की रचनाएं जो सदैव के लिए लुप्तप्राय हो गई थीं, नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रयत्न से ही प्रकाश में लाई जा सकीं। अनुसन्धान और खोजपूर्ण साहित्य की एकमात्र हिन्दी प्रकाशन संस्था बनने का श्रेय नागरी प्रचारिणी सभा को ही प्राप्त है। साहित्य-प्रकाशन के अतिरिक्त हिन्दी के उच्चकोटि के लेखक विद्वान इस सभा द्वारा सदैव सम्मानित होते रहे हैं। सभा द्वारा 'हिन्दी शब्द सागर' नामक कोश ग्रन्थ प्रकाशित किया गया जो सभा की बीस वर्ष की साधना का प्रतीक है। इस शब्दसागर में एक लाख से भी अधिक हिन्दी-शब्दों का समावेश हुआ है। इसके सम्पादन में देश के प्रमुख सम्पादकों ने योगदान दिया है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थापना काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत ही १९१० में हुई।

सभा का कार्य-कलाप विभिन्न विभागों में विभाजित है। प्रमुख रूप में निम्नलिखित विभाग हैं—

१. पुस्तकालय-विभाग, २. हस्तलिखित ग्रंथ-खोज विभाग, ३. अनुशीलन विभाग, ४. कोश विभाग, ५. प्रकाशन और विक्रय विभाग, ६. प्रसाद-साहित्य गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यान-माला विभाग, ७. पुरस्कार एवं पदक विभाग, ८. सत्यज्ञान निकेतन विभाग, ९. संकेत-लिपि विभाग और १०. आय-व्यय-विभाग।

१. पुस्तकालय

सभा के संचालकत्व में एक विशाल पुस्तकालय चल रहा है। इस पुस्तकालय नाम 'आर्य भाषा पुस्तकालय' है। इस पुस्तकालय का का अपना एक बहुत बड़ा भवन है। इस पुस्तकालय में हिन्दी के प्राचीन अप्राप्य ग्रंथों (हस्तलिखित तथा मुद्रित) के अतिरिक्त करीब चालीस हजार पुस्तकें हैं। इसमें निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य की महत्त्वपूर्ण पांच हजार के करीब पुस्तकें भी इस संग्रहालय में हैं। अनुसन्धान करनेवाले विद्वानों के लिए यह पुस्तकालय सरस्वती का भंडार है।

२. हस्तलिखित ग्रंथ-खोज विभाग

इस विभाग द्वारा प्राचीन अनुपलब्ध कृतियों के अनुसंधान का कार्य होता है। अब तक सभा ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का उद्धार किया है जो आज हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि के रूप में सुरक्षित हैं। इस कार्य के लिए सभा की ओर से कई अन्वेषक विद्वान नियुक्त है जो देश के विभिन्न भागों में जाकर अनुपलब्ध कृतियों का पता लगाते हैं। इन खोजों के कारण हिन्दी-साहित्य, काशी नागरी प्रचारिणी सभा का युग-युग तक कृतज्ञ रहेगा।

३. अनुशीलन विभाग

इस विभाग द्वारा हिन्दी साहित्य की गतिविधि तथा धाराओं के सम्बन्ध में अनुसन्धान का काम होता है।

योग्य विद्वानों को पर्याप्त छात्रवृत्ति देकर अनुशीलन का कार्य कराया जाता रहा है।

४. कोश-विभाग

इस विभाग द्वारा 'हिन्दी शब्द-सागर' और 'संक्षिप्त शब्द-सागर' आदि कोश प्रकाशित किये गए तथा कई अन्य कोशों का निर्माण-कार्य हो रहा है। शासन-कार्य में व्यवहार के लिए एक राजकीय कोश भी उत्तर प्रदेश सरकार की सहायता से तैयार किया जा रहा है। सभा हिन्दी साहित्य का एक वृहद् इतिहास भी तैयार करा रही है।

५. प्रकाशन और विक्रय-विभाग

इस विभाग के द्वारा हिन्दी की उत्तमोत्तम नूतन मौलिक रचनाओं का प्रकाशन तथा उनके विक्रय की व्यवस्था की जाती है। इस विभाग द्वारा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' नामक एक शोध-पत्रिका भी प्रकाशित होती है। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थमालाओं का प्रकाशन होता है—

नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला, मनोरंजक पुस्तकमाला, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला, प्रकीर्णक पुस्तकमाला, बालावक्ष राजपूत चारण पुस्तकमाला, देव पुरस्कार पुस्तकमाला, श्री महेन्द्र लाल गर्ग विज्ञान ग्रन्थावली, श्रीमती रुक्मिणी तिवारी पुस्तकमाला, श्री रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रंथमाला, नव भारतीय ग्रंथ-माला, अर्वशनी यानिक ग्रंथावली और राजस्थान साहित्यरक्षा निधि।

६. प्रसाद-साहित्य गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यानमाला

स्व० जयशंकर प्रसाद जी द्वारा दी गई निधि के ब्याज से इस विभाग का संचालन होता है। इसके द्वारा सुप्रसिद्ध साहित्यिकों की जयन्तियां, स्वागत-समारोह तथा विद्वानों के व्याख्यानों आदि का आयोजन होता है।

७. पुरस्कार और पदक-विभाग

इस विभाग द्वारा हिन्दी साहित्य की उत्तम और मौलिक कृतियों पर पुरस्कार और पदक दिये जाते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा निम्नलिखित पुरस्कार और पदक दिये जाते हैं—

१. बलदेवदास बिड़ला पुरस्कार

दो सौ रुपयों का यह पुरस्कार अध्यात्म, योग, सदाचार, मनोविज्ञान और दर्शन के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथों पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

२. बटुक प्रसाद पुरस्कार

स्वर्गीय रायबहादुर बटुकप्रसाद खत्री द्वारा दी हुई निधि से दो सौ रुपयों का यह पुरस्कार सर्वश्रेष्ठ मौलिक उपन्यास या नाटक पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

३. रत्नाकर पुरस्कार

स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास रत्नाकर की दी हुई निधि से दो सौ रुपये का यह पुरस्कार ब्रजभाषा के सर्वोत्तम ग्रंथ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

एक और कला का पुरस्कार भी दो सौ रुपयों का दिया जाता हैं। डिंगल, राजस्थानी, अवधी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि की सर्वोत्तम रचना या सुसम्पादित ग्रन्थ पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

४. डा० छन्नूलाल पुरस्कार

श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से दो सौ रुपये का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष विज्ञान-विषयक उत्तम रचना पर दिया जाता है।

५. जोधसिंह पुरस्कार

उदयपुर-निवासी स्व० मेहता जोधसिंह की दी हुई निधि से दो सौ रुपयों का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष

सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रंथ पर दिया जाता है।

६. माधवीदेवी महिला पुरस्कार

सौ रुपयों का यह पुरस्कार, गृह-शास्त्र-सम्बन्धी उत्कृष्ट पुस्तक पर महिला-लेखक को दिया जाता है।

७. वसुमति पुरस्कार

बाल-साहित्य की सर्वोत्तम कृति पर प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

८. डा० श्यामसुन्दर पुरस्कार

एक हजार रुपयों तथा दो हजार रुपयों का यह पुरस्कार प्रति चौथे वर्ष दिया जाता है।

१. डा० हीरालाल स्वर्णपदक

यह स्वर्णपदक प्रति दूसरे वर्ष पुरातत्त्व, मुद्राशास्त्र, इंडोलोजी (हिन्दविज्ञान), भाषा-विज्ञान, सम्बन्धी हिन्दी में लिखित सर्वश्रेष्ठ मौलिक पुस्तक अथवा गवेषणापूर्ण निवन्ध आदि पर दिया जाता है।

२. द्विवेदी स्वर्णपदक

यह पदक प्रतिवर्ष हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कृति पर दिया जाता है।

३. सुधाकर पदक

यह रजतपदक 'बटुकप्रसाद पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता।

४. ग्रीष्ज पदक

श्री रामनारायण मिश्र की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'डा० छन्नूलाल पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

५. राधाकृष्णदास पदक

श्री शिवप्रसाद गुप्त की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'रत्नाकर पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

६. बलदेवदास पदक

श्री व्रजरत्नदास वकील की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'रत्नाकर पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

७. गुलेरी पदक

स्व०चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की स्मृति में श्री जगद्धार शर्मा गुलेरी की दी हुई निधि से यह रजत-पदक 'जोधसिंह पुरस्कार' पानेवाले को दिया जाता है।

८. रेडि चे पदक

यह पदक 'बिड़ला पुरस्कार' पाने वाले को दिया जाता है।

८. सत्यज्ञान निकेतन

यह संस्था ज्वालापुर (हरिद्वार) में स्थित है और नागरी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत पश्चिमी भारत के क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार का केन्द्र है। निकेतन में बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए 'हिन्दी विद्यामंदिर' स्थापित किया गया है। निकेतन का अपना एक पुस्तकालय भी है। इसका काम स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की देख-रेख में चलता है।

९. संकेत-लिपि विद्यालय

हिन्दी संकेत-लिपि (शार्टहैंड) तथा टाइप विद्यालय भी इस संस्था के अंतर्गत चल रहा है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने एक हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इसका प्रथम भाग प्रकाशित हो गया है। इस वृहद साहित्य का इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित करने के लिए देश के गण्यमान्य साहित्यिकों का सहयोग सभा को प्राप्त है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

जून १६१० को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रबन्ध-समिति की एक बैठक में स्व० डा० श्यामसुन्दर-दास ने एक प्रस्ताव इस आशय का रखा कि देश भर के हिन्दी साहित्यिकों का एक सम्मेलन किया जाए और उसमें हिन्दी तथा नागरी लिपि के व्यापक प्रचार-प्रसार तथा व्यवहार में आने के लिए साधन-प्रयत्नों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया जाय। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और उपस्थित सदस्यों तथा नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से तत्काल अर्थ की व्यवस्था भी हो गई। इस रकम को प्रस्तावित सम्मेलन के अधिवेशन के लिए सुरक्षित रखा गया। सम्मेलन के लिए एक उपसमिति का पृथक निर्माण किया गया। महामना पं० मदनमोहन मालवीय प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत किये गए।

इस सम्मेलन में बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ने एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें सरकारी कचहरियों में नागरी लिपि के प्रचार तथा हिन्दी साहित्य की व्यापक उन्नति के लिए एक कोश-संग्रह की अपील की गई। कोश-संग्रह के लिए हिन्दी पैसा फण्ड समिति का निर्माण हुआ। उस कोश के लिए तत्काल पैसों की वर्षा शुरू हो गई और उसी समय दो लाख पच्चीस हजार पांच सौ छियालीस पैसे फण्ड में जमा हो गए।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नींव इस प्रकार प्रारम्भिक रूप में पैसा-फण्ड पर पड़ी। इस सम्मेलन के लिए चार सदस्यों की एक स्वतन्त्र समिति संगठित की गई। इन सदस्यों में देश के अनेक प्रान्तों के प्रतिनिधि थे।

१६११ में प्रयाग में सम्मेलन करने का निश्चय किया गया। अध्यक्ष के रूप में पं० गोविन्दनारायण मिश्र का चुनाव हुआ और टण्डनजी प्रधान मंत्री चुने गए। इसी अधिवेशन के अवसर पर टंडनजी ने सम्मेलन की एक संक्षिप्त नियमावली उपस्थित की। यह नियमावली सम्मेलन के लिए एक वर्ष के लिए स्वीकृत हुई। सम्मेलन का स्थायी कार्यालय प्रयाग में रखने का निश्चय इसी अधिवेशन में किया गया।

इस प्रकार विभिन्न नगरों में देश के प्रमुख विद्वानों और साहित्य-सेवियों के सभापतित्व में सम्मेलन के अधिवेशन हुए।

आरम्भ से ही इस देश के प्रमुख साहित्यकारों तथा जनता का सहयोग प्राप्त होता रहा। सन १६१८ में इन्दौर-अधिवेशन का सभापतित्व स्वयं महात्मा गांधी ने किया। तबसे सम्मेलन के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। इसी अधिवेशन में हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा नागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार करने का निश्चय करने सम्बन्धी एक प्रस्ताव किया गया और यह भी प्रस्ताव किया गया कि देश के अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में हिन्दी और नागरी लिपि का प्रचार किया जाए। इस निश्चय के अनुसार मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस कार्य की सिद्धि-हेतु श्री हरिहर शर्मा, स्व. प्रतापनारायण वाजपेई, पं० हृषीकेश शर्मा, श्री देवदास गांधी, पं० देवदूत विद्यार्थी, पं० रामानन्द शर्मा, पं० अवधनन्दन तथा स्व० पं० रघुवरदयाल मिश्र आदि हिन्दी का सन्देश लेकर दक्षिण भारत पहुंचे। इन सबके सहयोग से मद्रास में स्थापित 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' बड़ी सफलतापूर्वक हिन्दी के प्रचार-प्रसार के कार्य में अग्रसर होने लगी। आज यह सभा दक्षिण भारत के लाखों लोगों को हिन्दी सिखा चुकी है।

दक्षिण भारत में तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा काम कर रही थी, किन्तु देश के शेष हिन्दीतर क्षेत्रों तथा विदेशों में भी राष्ट्रभाषा-प्रचार की आवश्यकता महसूस की गई। अप्रैल, १६३६ में सम्मेलन का अधिवेशन नागपुर

में वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता में हुआ। इसी अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि देश के समस्त अहिन्दी-भाषी प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा राष्ट्रलिपि देवनागरी के प्रचार के लिए एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय संगठन कायम किया जाए। फलस्वरूप राजेन्द्रबाबू की अध्यक्षता में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का निर्माण हुआ। इसका केन्द्रीय कार्यालय वर्धा में रखना निश्चित हुआ।

परीक्षाएं

सन १९१३ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौथे अधिवेशन के अवसर पर, जिसके सभापति स्वामी श्रद्धानन्द थे, सम्मेलन द्वारा परीक्षाएं चलाने और एतदर्थ नियमावली बनाने के लिए एक उपसमिति का निर्माण हुआ और उसी समय प्रयोग रूप में प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा ये तीन परीक्षाएं चलाना स्वीकार किया गया।

इन परीक्षाओं को देश में बड़ी लोकप्रियता मिली। आगे चलकर हजारों विद्यार्थी प्रति वर्ष इन परीक्षाओं में सम्मिलित होने लगे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा इस समय निम्नलिखित परीक्षाएं ली जाती हैं—

प्रथमा, मध्यमा (विशारद), उत्तमा (साहित्यरत्न), आयुर्वेदविशारद, आयुर्वेदरत्न, कृषिविशारद, व्यापारविशारद, शिक्षाविशारद, सम्पादनकलाविशारद, शीघ्रलिपिविशारद, मुनीमी, अर्जीनवीसी, उपवैद्य।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ये परीक्षाएं देशके कतिपय विश्वविद्यालयों के साथ सरकार से मान्यता प्राप्त है।

सम्मेलन के विभाग

सम्मेलन के नीचे लिखे विभाग हैं—

१. प्रबन्ध-विभाग, २. परीक्षा-विभाग, ३. संग्रह-विभाग, ४. प्रचार-विभाग, ५. साहित्य-विभाग और ६. अर्थ-विभाग।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के 'हिन्दी संग्रहालय' की देश के सुप्रसिद्ध संग्रहालयों में गणना है। कानपुर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर, जिसके सभापति टण्डनजी थे, एक आदर्श हिन्दी संग्रहालय स्थापित करने का निश्चय किया गया था, यह संग्रहालय उसी निश्चय तथा टण्डनजी की अनथक प्रेरणा का परिणाम है। लगभग पैंतीस हजार पुस्तकों आदि का इसमें संग्रह है। इस संग्रहालय में कई ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का संग्रह है जो अन्यत्र अनुपलब्ध हैं। सम्मेलन ने इतिहास के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान स्व० मेजर वामनदास वसु के निजी पुस्तकालय को खरीद लिया है। इसमें बड़े ही खोजपूर्ण ग्रंथ तथा बहुमूल्य अप्राप्य सामग्री है। इस संग्रहालय का एक भव्य और विशाल भवन है।

सम्मेलन-पत्रिका

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से एक सम्मेलन-पत्रिका भी प्रकाशित होती है जिसमें हिन्दी साहित्य की गतिविधि तथा साहित्य-सम्बन्धी खोजपूर्ण सामग्री प्रकाशित होती है। सम्मेलन का आधुनिक साधनों से परिपूर्ण मुद्रणालय भी है।

सम्मेलन की समीक्षाओं ने देश में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

उच्च हिन्दी साहित्य का प्रकाशन, खोज-सम्बन्धी कार्य का दिग्दर्शन, आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य-निर्माण की गतिविधि में प्रमुख स्थान रखता है।



दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

पं० हरिहर शर्मा

राष्ट्रभाषा हिन्दी

यद्यपि राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यवस्थित रूप से प्रचार इस बीसवीं सदी में ही शुरू हुआ तो भी जनता ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, बंगाल के प्रसिद्ध न्यायाधीश शारदाचरण मित्र तथा दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय श्री वी० कृष्णस्वामी अय्यर जैसे अहिन्दी भाषा-भाषियों ने हिन्दी को यह स्थान पहले ही दे रखा था। इस राष्ट्रभाषा का व्यवस्थित प्रचार करने वालों में सबसे अधिक प्रसिद्ध गांधीजी हैं, जिनकी मातृभाषा गुजराती है। गांधीजी के बाद प्रचार के लिए अधिक परिश्रम करने वाले हिन्दी भाषा-भाषियों में टंडनजी का नाम आता है।

सन १९१८ में इन्दौर नगर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। गांधीजी उस समय महात्मा नहीं थे, कर्मवीर कहलाते थे। वे हिन्दी के साहित्यज्ञ नहीं थे, पर उन्होंने बहुत पहले से ही हिन्दी का प्रचार शुरू कर दिया था। १९०८ में ही अपनी 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक में उन्होंने हिन्दी सीखने की आवश्यकता बतलाई थी। गुजरात-परिषद में भी उन्होंने इस बात पर जोर दिया था। सन १९१६ ई० की लखनऊ-कांग्रेस में जब दक्षिण भारत के प्रतिनिधि 'अंग्रेजी-अंग्रेजी' चिल्लाते थे, तब उन्होंने उन लोगों से अनुरोध किया कि वे जल्दी हिन्दी सीख लें। हिन्दी-प्रचार के प्रति उनकी इस तत्परता से प्रभावित होकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें इन्दौर वाले अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया था। उस अधिवेशन में यह महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि प्रतिवर्ष दक्षिण भारतीय छः नवयुवक हिन्दी सीखने प्रयाग भेजे जाएं और हिन्दी भाषा-भाषी छः युवकों को दक्षिणी भाषा सीखने और साथ-साथ वहां हिन्दी का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत में भेजा जाय। इसी अधिवेशन में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्यों में यह भी एक उद्देश्य जोड़ा गया कि अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का कार्य शुरू किया जाए।

दक्षिण में प्रचार-कार्य का आरंभ

इस अधिवेशन में गांधीजी ने दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए एक आयोजना बनाई थी। उनका विचार था कि उत्तर भारत की भाषाएं एक ही परिवार की हैं, आपस में मिलती-जुलती हैं, परन्तु दक्षिण की तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम एकदम भिन्न परिवार की भाषाएं हैं और इसलिए उत्तर की भाषाओं से अधिक दूर हैं। इसलिए दक्षिण में यदि सफलतापूर्वक हिन्दी का प्रचार हो जाए तो उत्तर के अहिन्दी-प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार आसानी से हो सकेगा। उनका यह भी विचार था कि उत्तर वालों को दक्षिण की भाषाओं का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। इस आयोजन के लिए धन की आवश्यकता थी। उनके मांगने पर इन्दौर नगर के धनकुबेर सेठ सर हुकुमचन्द ने तथा तत्कालीन इन्दौर-नरेश यशवंतराव होलकर ने दस-दस हजार रुपयों की सहायता पहुंचाई। यह रकम बापूजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन को सौंपी। इसके बाद उन्होंने दक्षिण भारत के समाचारपत्रों में सूचना निकाली कि यदि वहां हिन्दी-वर्गों का प्रबन्ध किया जा सके तो हिन्दी सिखाने के लिए अध्यापक भेजे जाएंगे। मद्रास शहर में कुछ नवयुवक 'भारत सेवा संघ' (इण्डियन सर्विस लीग) नामक समाज-सेवा करने वाली संस्था चला रहे थे। उन लोगों ने बापूजी को

पत्र लिखा। बापूजी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गांधी को हिन्दी-वर्ग चलाने के लिए भेजा और १६१८ के मई महीने के आरम्भ में उक्त सेवा-समाज के अध्यक्ष श्री सी० पी० रामस्वामी अय्यर की अध्यक्षता में श्रीमती एनी बेसेन्ट के हाथों प्रथम हिन्दी-वर्ग का उद्‌घाटन हुआ।

प्रथम प्रचारक : देवदास गांधी

मुझे सन १६१५ से ही बापूजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला था। साबरमती-आश्रम की स्थापना के पहले भी कुछ समय उनके साथ रहने का सुअवसर मुझे मिला था। उनसे अनुमति लेकर मैं स्वदेशी का प्रचार करने मद्रास चला आया था। इन्दौर के प्रस्ताव और बापूजी की योजना पढ़कर मैंने बापूजी को लिखा कि इस कार्य में मैं सम्मिलित होऊंगा। उन्होंने मुझे स्वीकृति दे दी और लिखा कि इसी कार्य के लिए अपने पुत्र देवदास गांधी को भेज रहे हैं, मैं उनसे मिलूं और उनकी सहायता करूं। हिन्दी का पहला वर्ग देवदास ने चलाया। देवदास से सलाह-मशविरा करके मैंने कुछ नवयुवकों को चुना। मैं सपत्नीक था। स्वदेशी-आन्दोलन में मेरे साथ काम करने वाले मेरे मित्र वन्दे मातरम् सुब्रह्मण्यम् सपत्नीक प्रयाग चलने को तैयार हुए। मैंने शिवराम शर्मा नामक नवयुवक को भी चुन लिया। हम पांचों मई महीने में ही प्रयाग जा पहुंचे। उस समय टंडनजी ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मन्त्री थे और प्रचार-सम्बन्धी कार्य भी संभालते थे। कुछ समय बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी प्रचार-मन्त्री बने। प्रयाग में टंडनजी ने हम लोगों के रहने के लिए अहियापुर मुहल्ले में प्रबन्ध कर दिया था। उनका विचार था कि हम लोगों को हिन्दी भाषा-भाषियों के बीच में ही रहना चाहिए और हिन्दी में ही बोलने का अधिक से अधिक अभ्यास करना चाहिए। इस उद्देश्य से अहियापुर में एक बड़ा घर लिया गया जिसमें हम लोगों के साथ कविवर रामनरेश त्रिपाठी के रहने का भी प्रबन्ध किया गया। हम लोगों को पढ़ाने के लिए गणेशदीन त्रिपाठी नामक अध्यापक नियुक्त हुए। मेरी और मेरे मित्र की पत्नी की पढ़ाई का प्रबन्ध स्थानीय कन्या पाठशाला में किया गया। हम लोगों की पढ़ाई कुछ दिन में जब आगे बढ़ी तब हमें श्री हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) पढ़ाने लगे। हमारे ही काल में 'हिन्दी विद्यापीठ' की स्थापना हुई, जिसका उद्‌घाटन स्वर्गीय बाबू भगवादास जी के हाथों हुआ।

बापूजी चाहते थे कि हम लोग हिन्दी का अध्ययन करके वापस आने के बाद दक्षिण में हिन्दी का भार स्वयं अपने ऊपर ले लें। इस बीच में देवदास जी के प्रचार का खूब प्रभाव पड़ा और हिन्दी सीखने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई। देवीदासजी अकेले काम सम्हाल नहीं सके, तब टंडनजी ने स्वामी सत्यदेव को मद्रास भेजा। स्वामीजी तभी नये-नये अमरीका से लौटे थे, उन्होंने मद्रास में हिन्दी का खूब प्रचार किया। बड़े-बड़े वकील, डाक्टर, व्यापारी आदि उनके पास हिन्दी सीखने लगे। स्वामीजी ने मद्रासियों को हिन्दी सिखाने के लिए एक बड़ी अच्छी पुस्तक तैयार की थी, किन्तु इस पुस्तक की शैली हिन्दी से अपरिचित मद्रासी भाइयों के लिए कुछ कठिन मालूम हुई। स्वामीजी मद्रास में एक साल भी नहीं रह पाए, प्रयाग चले आए। इसी बीच में श्री हृषीकेश शर्मा हिन्दी का प्रचार करने मद्रास आ पहुंचे। वे मसूलीपट्टम नगर में आन्ध्र जातीय कला शाला में हिन्दी पढ़ाने लगे।

मद्रास में सम्मेलन का प्रचार-कार्यालय

इधर प्रयाग में आंजनेय शर्मा नामक एक मसूलीपट्टम-निवासी आन्ध्र युवक हिन्दी का अभ्यास करने आ पहुंचे। मेरे मित्र वन्दे मातरम् सुब्रह्मण्यम् अस्वस्थता के कारण सपत्नीक मद्रास वापस चले गए। सन १६१६ के अगस्त महीने में हम लोगों ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विशारद परीक्षा दी। उसके बाद हम लोग साबरमती में बापूजी के दर्शन और आशीर्वाद पाकर मद्रास चले गए। मैं मद्रास में रह कर भाई देवदासजी की सहायता करता था। श्री आंजनेय शर्मा मसूलीपट्टम में हिन्दी का प्रचार करने लगे और श्री शिवराम शर्मा आन्ध्र में राजमहेन्द्रवरम् में हिन्दी-प्रचार करने लगे। हिन्दीप्रचार-सम्बन्धी यह सारा काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर चलता था, इसलिए मद्रास में जो कार्यालय खोला गया उसका 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय मद्रास', नाम रखा गया। श्री देवदास गांधी उक्त कार्यालय का काम मुझे सौंप कर वापस चले गए। जाने के पूर्व उन्होंने मद्रास प्रान्त के सभी हिन्दी-केन्द्रों का निरीक्षण किया। विशेष रूप से त्रिचन्नापल्ली, सेलम, कोयम्बतूर, मसूलीपट्टम और राजमहेन्द्रवरम् में अच्छा काम चलता था।

सन १९२० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पटना में हुआ था। उसमें मद्रास के हम कुछ प्रचारक सम्मिलित हुए। वहां टंडनजी, राजेन्द्र बाबू और अन्य प्रमुख कार्यकर्ताओं के साथ विचार-विनिमय के बाद यह निश्चय हुआ कि मद्रासियों के योग्य कुछ अच्छी पुस्तकें निकालनी चाहिए। इस उद्देश्य से राजमहेन्द्रवरम का काम श्री हृषीकेश शर्मा को सौंप कर मैंने शिवराम शर्मा को मद्रास बुला लिया। वहां इनकी सहायता लेकर मैंने 'हिन्दी स्वबोधिनी' अंग्रेजी और तमिल में तैयार की। बापूजी को यह पुस्तक बहुत पसन्द आई। उन्होंने उसकी प्रस्तावना लिखकर हमको आशीर्वाद दिया। यह हिन्दी पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय की ओर से सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। इसी के आधार पर श्री हृषीकेश शर्मा ने तेलुगु में हिन्दी स्वबोधिनी तैयार की। बाद को इस स्वबोधिनी की मलयालम और कन्नड़-प्रतियां भी तैयार हुईं। आजकल इन्हीं पुस्तकों का परिवर्तित संस्करण चल रहा है।

इस सम्बन्ध में 'हिन्दी का हीर' नामक पुस्तक का उल्लेख करना आवश्यक है। बापूजी के प्रभाव में आकर दक्षिण में हिन्दी का प्रचार करने कई उत्तर भारतीय युवक आ पहुंचे। उनमें प्रतापनारायण वाजपेयी नामक युवक त्रिचनापल्ली में हिन्दी-प्रचार करते थे। उन्होंने यह पुस्तक लिखी जो अत्यन्त लोकप्रिय बनी। इस पुस्तक में अंग्रेजी में हिन्दी के व्याकरण के मुख्य नियम बताये गए थे।

पाठ्य-पुस्तकें तथा प्रेस

इसके बाद हमने तीन रीडरें तैयार कीं। धीरे-धीरे काम बहुत बढ़ता गया। हम लोग बाहरी छापेखानों में पुस्तकें छपवाते थे। इसमें हमें बड़ी कठिनाइयां होती थीं। अन्त में श्री जमनालालजी बजाज की कृपा से हम लोग अपना छापाखाना स्थापित करने में सफल हुए। मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष होता है कि सन १९२३ में छोटे पैमाने पर जिस छापेखाने का आरम्भ हुआ वह 'हिन्दी प्रचार प्रेस' आज मद्रास के प्रमुख छापेखानों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

हिन्दी विद्यालयों की स्थापना

दक्षिण भारतीयों का प्रयाग जाकर हिन्दी का अध्ययन करने का क्रम दो-तीन वर्षों तक जारी रहा। पर इसमें व्यय के साथ-साथ जाने वालों के भोजन-सम्बन्धी कठिनाई का भी जटिल प्रश्न पैदा हुआ। इसलिए यह निश्चय हुआ कि दक्षिण भारत में ही ऐसे विद्यालय खोले जाएं जहां हिन्दी की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध हो। इस दृष्टि से गोदावरी नदी के किनारे राजमहेन्द्रवरम के पास धवलेश्वर में एक विद्यालय खोला गया जिसके आचार्य श्री हृषीकेश शर्मा हुए। दूसरा विद्यालय कावेरी नदी के किनारे इरोड नामक नगर में स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू के हाथों खोला गया। पहले श्री अवधनन्दन इसको संभालते थे, इनके बाद कुछ समय तक श्री टी० कृष्णस्वामी और फिर श्री शिवराम शर्मा संभालते थे। यहां यह कहना अनुचित न होगा कि इस विद्यालय के लिए सब तरह की सुविधाएं श्री ई० वी० रामस्वामी नायकर ने कर दी थीं और यही सज्जन आज हिन्दी का विरोध करने वालों के नेता हैं! एक साल के बाद इन दोनों विद्यालयों को बन्द कर एक हिन्दी महाविद्यालय मद्रास शहर में खोला गया। इसको पहले श्री शिवराम शर्मा और बाद को श्री हृषीकेश शर्मा सम्हालते थे।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की संघटना

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से समय-समय पर निरीक्षण करने के लिए प्रमुख लोग दक्षिण भारत में आया करते थे। श्री रामनरेश त्रिपाठी, श्री रामदास गौड़, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। बापूजी सदा ही इस विचार के थे कि हिन्दी-प्रचार का काम अहिन्दी वालों को ही अपनाना चाहिए। मद्रास के कार्य में सुदूर प्रयाग के सम्मेलन के मार्गदर्शन में विलम्ब होने के कारण बाधा पड़ने लगी। कुछ समय तक विचार-विनिमय करने के बाद यह निश्चय हुआ कि दक्षिण का काम स्वतन्त्र रूप से चलाया जाए और इस हेतु 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय, मद्रास' का नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' नामकरण किया गया। सम्मेलन ने किसी तरह यह बात मान ली और तब से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा स्वतन्त्र रूप से मद्रास में हिन्दी का प्रचार कर रही है। इस सभा का मैं प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ और मैंने अपनी शक्तिभर इसकी सेवा की। सन १९३७

में मुझे वापूजी सेवाग्राम ले गए। मेरे लिए हर्ष की वात है कि मेरे मित्र श्री मो० सत्यनारायण जी ने इस संस्था की उन्नति के लिए बड़ी अच्छी सेवा की है। इस संस्था का काम व्यवस्थित रूप से हो रहा है। वापूजी इसके आजीवन अध्यक्ष रहे और उनके वाद हमारे परम आदरणीय राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी अध्यक्ष हैं। इस संस्था की सम्पत्ति का भार संभालने वाला एक निधिपालक मण्डल है। सभा के दैनंदिन कार्य में सलाह देने वाली तथा नीति का निर्देश करने वाली एक कार्यकारिणी समिति है, जिसमें सभा के स्थायी पदाधिकारियों के अलावा कुछ चुने हुए सदस्य भी होते हैं। स्थायी पदाधिकारी और कार्यकारिणी समिति के सदस्यों का चुनाव एक व्यवस्थापिका समिति द्वारा तीन साल में एक वार होता है। सभा के कुछ विशिष्ट सदस्य, सामान्य सदस्यों द्वारा चुने हुए कुछ लोग और शिक्षा-परिषद के सभी सदस्य इस व्यवस्थापिका समिति में सदस्य हैं। यह व्यवस्थापिका समिति ही सवसे अधिक शक्ति रखने वाली समिति है। इसी के द्वारा प्रति वर्ष आय-व्यय की अनुमति दी जाती है।

सभा के सभी प्रचारकों को शिक्षा-परिषद के सदस्य चुनने का अधिकार है। यह शिक्षा-परिषद शिक्षण-सम्वन्धी, परीक्षा-सम्वन्धी तथा पाठ्य पुस्तक-सम्बन्धी सलाहें दिया करती है। इसको पुस्तकों के प्रकाशन तथा विद्यालयों की स्थापना-सम्वन्धी सलाह देने का भी अधिकार है। सामान्य रूप से इस शिक्षा-परिषद की वैठक साल में एक बार और आवश्यकता पड़ने पर अधिक वार भी हुआ करती है। कार्यकारिणी समिति की वैठक प्रायः प्रति मास हुआ करती है।

इस सभा की चार शाखाएं हैं—तमिलनाड की त्रिचिनापल्ली में, केरल की एरनाकुलम में, कर्नाटक की धारावाह में तथा आन्ध्र की हैदरावाद में है। हर प्रान्तीय शाखा का एक मन्त्री सभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। हर प्रान्तीय शाखा को अपने प्रान्त में काम चलाने की पूरी स्वतन्त्रता है। तमिलनाड और केरल-शाखाओं को मार्गदर्शन कराने वाला एक संयुक्त मन्त्री है। कर्नाटक और आन्ध्र-शाखाओं का मार्गदर्शन कराने वाला एक और संयुक्त मन्त्री है। मद्रास में एक संयुक्त मन्त्री है जो कार्यालय का काम सम्हालता है। इन संयुक्त मन्त्रियों के ऊपर प्रधान मन्त्री का स्थान है। प्रधान-मन्त्री ही दक्षिण भारत के तमाम प्रचार-कार्य का कार्यकारिणी समिति के सम्मुख उत्तरदायी है।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के विभागों में परीक्षा-विभाग सवसे प्रधान है। सभा की तरफ से 'प्राथमिक', 'मध्यमा' और 'राष्ट्रभाषा' नामक तीन प्रारम्भिक परीक्षाएं तथा 'प्रवेशिका', 'विशारद' और 'प्रवीण' नामक तीन उच्च परीक्षाएं चलाई जाती हैं। सबसे उच्च परीक्षा 'राष्ट्रभाषा-प्रवीण' है और इससे निम्न श्रेणी की 'राष्ट्रभाषा-विशारद' है। प्रारम्भिक परीक्षाएं चलाने का भार आजकल प्रान्तीय शाखाओं को सौंप दिया गया है। इन परीक्षाओं के अलावा स्कूल में पढ़ने वालों के लिए अलग हिन्दी-परीक्षाएं चलाई जाती हैं। कुछ अन्य परीक्षाएं भी आवश्यकतानुसार समय-समय पर चलाई जाती हैं। अध्यापन-कला की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वालों को 'प्रचारक' सनद दी जाती है।

सभा का दूसरा प्रमुख विभाग शिक्षा-विभाग है। हिन्दी शिक्षा-सम्वन्धी सारी व्यवस्था इस विभाग के द्वारा होती है। हर प्रचारक इस विभाग द्वारा निर्धारित पद्धति पर ही वर्ग चलाता है। दक्षिण भारत के कई केन्द्रों में राष्ट्रभाषा-विशारद और प्रवीण की पढ़ाई का प्रवन्ध है। सभा इन विद्यालयों को चलाने वाली संस्थाओं को हर तरह से सहायता पहुंचाती है। सभा स्वयं प्रचारक विद्यालय चलाती है जहां राष्ट्रभाषा-प्रवीण परीक्षा तथा हिन्दी प्रचारक शिक्षण खण्ड की पढ़ाई होती है।

सभा का साहित्य-विभाग पुस्तक-रचना तथा प्रकाशन का कार्य चलाता है। सभा ने आज तक सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित की हैं, जिनसे दक्षिण वालों को हिन्दी सीखने में वड़ी सहायता मिली है। सभा की कई पुस्तकें तो उच्च-कोटि के साहित्य की है।

सभा को सरकार से सहायता तो मिलती है पर नाम-मात्र की। प्रचारक विद्यालयों को सरकार की ओर से पूरे वर्ष के खर्च का करीव एक चतुर्थांश ही सहायता के रूप में सरकार से मिलता है, वाकी सारा खर्च अपनी ही आमदनी से करती है। सभा की आमदनी परीक्षाएं, पुस्तक-विक्री, प्रेस तथा सभा के सदस्यों द्वारा होती है। सन १९५७-५८ में सभा ने चौदह लाख से अधिक रुपये खर्च किए। इससे अनुमान किया जा सकता है कि किस पैमाने पर सभा का काम चल रहा है।

सन १९३१ से प्रतिवर्ष सभा का 'पदवीदान समारम्भ' मनाया जाता है। इसमें देश के प्रसिद्ध नेता अथवा साहित्यकार द्वारा दीक्षान्त-भाषण दिया जाता है और उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को पदवी प्रदान की जाती है। सन १९५९ में श्री एस० के० पाटिल का अभिभाषण हुआ।

दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार करने में अथक परिश्रम करने वाले कर्मठ प्रचारक असंख्य हैं। पर कुछ प्रमुख लोगों के नाम न लिये जाएं तो सभा का इतिहास अधूरा रह जाएगा। आन्ध्र के पीसपाटि वेंकट सुब्बाराव आन्ध्र प्रान्त के प्रान्तीय मन्त्री रहे। जंध्याल शिवन्न शास्त्री ने हिन्दी-तेलुगु कोष तैयार किया। तमिल शाखा के भा० स० मु० दास बड़े उत्साही कार्यकर्ता थे। केरल के दामोदरम् उण्णि वहां के सर्वप्रथम प्रचारक थे। श्री रघुवरदयालु मिश्र ने तमिलनाड में बहुत अच्छा काम किया। बाद को आप दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के संयुक्त मन्त्री रहे। ये सभी दिवंगत हैं, इनकी सेवाएं अमर हैं।

श्री रामभरोसे श्रीवास्तव और श्री अवधनंदनजी उन प्रचारकों में हैं जो दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार के आरम्भकाल में आ पहुंचे। श्री रामभरोसे जी कई वर्ष पूर्व ही दक्षिण भारत छोड़कर अपने गांव चले गए, श्री अवधनंदन जी अभी दो वर्ष हुए, प्रचार-कार्य से विश्राम पाकर घर गये हुए हैं। आन्ध्र प्रदेश के श्री उन्नव राजगोपाल कृष्णप्पा, केरल के श्री चन्द्रहासम् और कर्नाटक के श्री सिद्धनाथ पन्त ने अपने-अपने प्रान्तों की सभा की उन्नति में बहुत काम किया है। श्री देवदूत विद्यार्थी ने केरल सभा की बड़ी सेवा की है। श्री एस० आर० शास्त्री आजकल दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के प्रधानमन्त्री हैं।

दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के कार्य में प्रारम्भिक अवस्था में बापूजी के अलावा श्री पुरुषोत्तमदासजी टंडन, जमनालाल बजाज, काकासाहब कालेलकर और पं० रामनरेश त्रिपाठी आदि की सहायता अत्यधिक महत्त्व की थी। दक्षिण के लोगों में राजाजी, पी० पी० रामस्वामी अय्यर तथा स्वर्गीय रंगस्वामी अयंगार, नागेश्वर राव, एस० श्रीनिवास अय्यंगार, डॉ० पट्टाभि सीतारामय्या, के० भाष्यम् अय्यंगार, रामदास पंतलु, संजीवी कामत, वैद्यनाथ अय्यर, डा० राजन् आदि की सहायता और सलाह बराबर मिला करती थी। सभा को आर्थिक सहायता देने वालों में होलकर नरेश, सर सेठ हुकुमचन्द, मारवाड़ी अग्रवाल महासभा, प्रेस के लिए बम्बई की सुव्रताबाई रामनारायण रुइया, पुस्तक-प्रकाशन के लिए सेठ घनश्यामदास बिड़ला, हिन्दी यात्री दल के प्रवास के खर्च के लिए सर प्रभाशंकर पट्टणी, विद्यालय-भवन के लिए कर्नल पंडाले और डा० रंगाचारी, रंगस्वामी अय्यंगार मंडप के लिए रंगस्वामी अय्यंगार स्मारक निधि प्रमुख हैं।

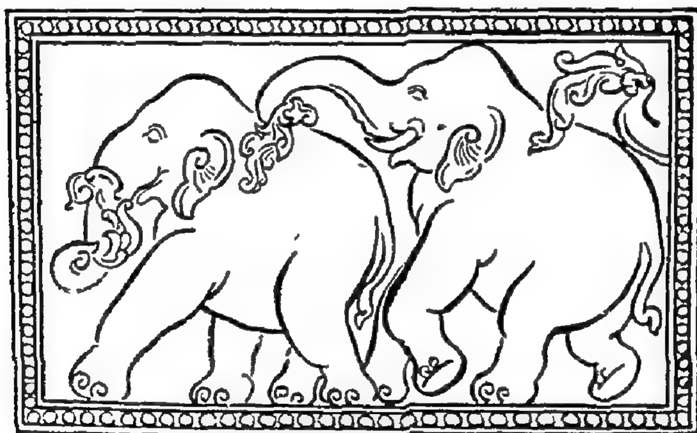
प्रारम्भिक वर्गों में हाईकोर्ट के न्यायाधीश सदाशिव अय्यर, प्रसिद्ध वकील वेंकटराम शास्त्री तथा के० भाष्यम् अय्यंगार, एन० सुन्दर अय्यर, रंगरत्न शास्त्री आदि सम्मिलित हुए। इन प्रमुख लोगों के द्वारा नवयुवकों में हिन्दी सीखने का उत्साह बढ़ा। महिलाओं में श्री अम्बुजम्माल, दुर्गाबाई देशमुख, इन्दिरा रामदुरै आदि प्रमुख हैं। डा० लक्ष्मीपति और उनकी पत्नी स्व० श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति ने सभा को बड़ी सहायता पहुंचाई है। अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, एस० दुरयस्वामी अय्यर, मंडयम्, श्रीनिवासाचार्य आदि की सेवाएं प्रशंसनीय हैं।

अहिन्दी-भाषी सेवकों की सेवा

ऊपर बताया जा चुका है कि हिन्दी को देश की सामान्य भाषा का स्थान देकर उसका प्रचार करने की आवश्यकता बताने वाले दीर्घदर्शी अहिन्दी भाषा-भाषी ही रहे। गांधीजी ने ही इस विचार को कार्यान्वित करके मूर्त रूप प्रदान किया। इनके पूर्व नीतिपति शारदाचरण मित्र और वी० कृष्णस्वामी अय्यर ने कुछ समय तक 'नागरी' नामक मासिक पत्रिका चलाई। उसमें अहिन्दी भाषा से नागरी में उद्धरण देकर अर्थ बताया जाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि आज यह जो कहा जाता है कि अहिन्दी वालों पर हिन्दी लादी जाती है, वह निराधार है। हां, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कुछ कट्टर संकुचित दृष्टि वाले हिन्दी भाषा-भाषी जल्दी मचाते हैं, जिससे हिन्दी के प्रचार में बड़ी बाधा पैदा होती है। यदि यह बाधा न हो और अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का कार्य अहिन्दी वालों पर ही छोड़ दिया जाए तो प्रचार बड़ी तेजी से आगे बढ़ेगा। यदि हिन्दी के उदारहृदय विद्वान आडम्बर-विहीन होकर दक्षिण के गांवों में बस

जाएं, वहां की भाषाएं सीखें और हिन्दी की शिक्षा भी प्रदान करें, संक्षेप में मिशनरी भाव से काम करें, तो हिन्दी का बहुत ही शीघ्र प्रचार बढ़ेगा।

अन्त में हमको मद्रास के पत्र-पत्रिकाओं को भूलना नहीं चाहिए। प्रसिद्ध दैनिक पत्र 'हिन्दू' और 'न्यू-इण्डिया' ने प्रचार-कार्य में बहुत अधिक सहायता पहुंचाई है। विशेष रूप से 'एनी बेसेंट के न्यू इण्डिया' ने आज चालीस वर्ष पूर्व अपने पत्र में हिन्दी के स्तम्भ देकर बड़ी सहायता पहुंचाई। आनन्द विकटन तथा अन्य कई तमिल पत्रों ने भी अपने पत्रों में हिन्दी सीखने की सुविधाएं देकर प्रचार में बड़ी सहायता दी है।



राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

गांधीजी के कुशल नेतृत्व में देश राष्ट्रीयता और एकता की ओर बढ़ रहा था। देश की आजादी के लिए अनेक-विध प्रयत्न हो रहे थे। लेकिन समूचे देश के लिए एकता और राष्ट्रीयता के सबसे प्रबल नियामक और सुदृढ़ संयोजक सूत्र, एक सामान्य भाषा के एक मंच से व्यापक प्रचार का अब तक कोई व्यापक प्रयत्न नहीं हो सका था। उस समय एकता और राष्ट्रीयता की उमड़ी भावना में अंग्रेजी भाषा माध्यम का काम दे रही थी, किन्तु यह आत्म-सम्मान और देशाभिमान के अनुकूल न था। अतः देश के गण्यमान्य नेताओं का सामूहिक ध्यान इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकृष्ट हुआ।

भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों की अपनी समृद्ध भाषा है, किन्तु भारत की राष्ट्रभाषा बनने की सर्वाधिक क्षमता केवल हिन्दी में है, इस तथ्य को समूचे देश ने स्वीकार कर लिया था और इस मान्यता को ठोस एवं सक्रिय रूप देने का राष्ट्रीय स्तर पर प्रथम प्रयत्न सन १९१८ में इन्दौर में हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गांधीजी की अध्यक्षता में हुआ। सर्वप्रथम दक्षिण भारत को प्रचार-क्षेत्र चुना गया जहां गांधीजी ने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी तथा स्वामी सत्यदेव जैसे निष्ठावान प्रचारक भेजकर हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ किया। इसके बाद दूसरा व्यापक प्रयत्न अप्रैल १९३६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में एक प्रस्ताव करके दक्षिण भारत को छोड़कर अन्य हिन्दीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्यापक रूप से प्रचार करने के उद्देश्य से एक हिन्दी प्रचार समिति (वर्तमान राष्ट्रभाषा प्रचार समिति) का निर्माण किया गया। इस अधिवेशन के सभापति थे वर्तमान राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक थे राजर्षि टंडन और अनुमोदक थे श्री जमनालाल बजाज।

सर्वप्रथम इसका नाम 'हिन्दी प्रचार समिति' रखा गया। आरम्भ में तीन वर्ष के लिए इसके निम्नलिखित पन्द्रह सदस्य चुने गए—

१. बाबू राजेन्द्रप्रसाद (पदेन अध्यक्ष)
२. महात्मा गांधी
३. पं० जवाहरलाल नेहरू
४. बा० पुरुषोत्तमदास टंडन
५. सेठ जमनालाल बजाज
६. काका कालेलकर
७. श्री माखनलाल चतुर्वेदी
८. आचार्य नरेन्द्रदेव
९. बाबा राघवदास
१०. श्री वियोगी हरि
११. „ ब्रिजलाल बियाणी
१२. „ शंकरराव देव
१३. पं० हरिहर शर्मा
१४. सरदार नर्मदासिंह
१५. ठा० श्रीनाथसिंह

इस समिति की पहली बैठक ४ जुलाई, १९३६ को वर्धा में सेवाग्राम में महात्माजी की कुटिया पर हुई। उसमें नीचे लिखे छः नये सदस्य और चुने गए।

१. श्रीमती लोकसुन्दरी रमन
२. श्रीमती पेरीन बेन कैप्टेन
३. श्रीमती रामादेवी चौधरानी
४. श्री गुरुमुरीय गोस्वामी
५. श्री मो० सत्यनारायण
६. श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल

इस तरह समिति के कुल २१ सदस्य हुए। इसी बैठक में नीचे लिखे अनुसार पदाधिकारियों का चुनाव हुआ :

१. श्री राजेन्द्रबाबू, पदेन अध्यक्ष

२. सेठ जमनालाल बजाज, उपाध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष

३. श्री सत्यनारायण, मन्त्री

४. श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल, संयुक्त मन्त्री

हिन्दी प्रचार समिति का क्षेत्र नीचे लिखे अनुसार बांटा गया :

१. आसाम, २. बंगाल, ३. उत्कल, ४. महाराष्ट्र, ५. गुजरात, ६. बम्बई, ७. सिन्ध और ७, विदर्भ नागपुर।

आज देश में असम, बंगाल, मणिपुर, उत्कल, गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई, विदर्भ, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, मराठवाड़ा, आन्ध्र, मैसूर राज्य आदि प्रदेशों में समिति का काम हो रहा है। विदेशों में भी अफ्रीका, जावा, सुमात्रा, बर्मा, मारिशस, अदन, इंग्लैंड आदि देशों में समिति का कार्य चल रहा है और वहां समिति के कार्यकर्त्ता प्रचार-कार्य करते हैं तथा समिति की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी तैयार करते हैं।

यह तो आरम्भ में कहा ही जा चुका है कि जब समिति की स्थापना हुई इसका नाम 'हिन्दी प्रचार समिति' रखा गया था। बाद में समिति के नाम में थोड़ा परिवर्तन करने का विचार हुआ। 'हिन्दी प्रचार समिति' में 'हिन्दी' शब्द की जगह 'राष्ट्रभाषा' शब्द रखने का सुझाव श्री काका साहब कालेलकर द्वारा रखा गया। यह सुझाव 'राष्ट्रभाषा' शब्द के व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर किया गया था। यह सुझाव हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २७वें अधिवेशन में, जो शिमला में हुआ था, मान्य किया गया। तब से यह संस्था राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के नाम से कार्य कर रही है।

कुछ दिनों बाद 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' शब्दों का विवाद उठ खड़ा हुआ। लिपि के सम्बन्ध में भी विवाद हुआ। गांधीजी तथा हिन्दुस्तानी के समर्थकों की दलील थी कि भारतवासी हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियां और लिपियां सीखें; और इन दोनों शैलियों के संयोग से भाषा की एक ऐसी शैली का आविष्कार किया जाए जिसे हिन्दुस्तानी के नाम से पुकारा जाए। उन लोगों का यह भी कहना था कि वह फारसी तथा देवनागरी इन दोनों लिपियों में लिखी जाएगी। टण्डनजी तथा समिति के कुछ अन्य सदस्यों को यह तर्क युक्तिसंगत और व्यावहारिक नहीं लग रहा था। यद्यपि वे इस पक्ष के थे कि हिन्दी और उर्दू के ख्यातिप्राप्त लेखकों-विद्वानों के सहयोग से तथा हिन्दी-उर्दू के समन्वय से एक सर्व-सुबोध आमफहम शैली का निर्माण किया जाए। देश की विभिन्न प्रान्तीय लिपियों में फारसी और प्रान्तीय लिपियों का लिखना भी व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं था। परिणामतः 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' से अलग 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' की स्थापना १९४२ में की गई।

सन ४५ में गांधीजी और टण्डनजी का पत्र-व्यवहार चला। उस पत्र-व्यवहार के बाद बापू जैसे राष्ट्रनायक के सम्बन्ध से वंचित होना समिति के लिए सचमुच बड़े दुःख की बात थी; किन्तु यहां सिद्धान्त का भी प्रश्न था। समिति ने देवनागरी लिपि द्वारा हिन्दी-प्रचार का अपना कार्य चालू रखा। श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन के मंत्रित्व में समिति ने १९४६ में अपने वर्तमान स्थान हिन्दीनगर की नींव डाली और समिति का कार्य बढ़ता गया। प्रान्त-प्रान्त में समिति की प्रान्तीय समितियां स्थापित की गई और वहां पर संचालक नियुक्त किये गए।

महाराष्ट्र में प्रा० द० वा० पोतदार तथा श्री गो० प० नेने, जो राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के १९४० से क्रमशः अध्यक्ष तथा संगठन-मंत्री थे, उन्होंने १९४५ में समिति से सम्बन्ध तोड़कर एक नई संस्था कायम कर ली। वर्धा-समिति के मन्त्री को इस कारण समिति की वहां नई प्रदेशीय समिति बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुश्री सोनुताई काले ने संचालिका बनकर महाराष्ट्र की समिति के कार्य को सम्हाला। उन्होंने एकाध साल यह काम किया, इसके बाद वर्तमान संचालक श्री डांगरेजी आये और वे आज भी महाराष्ट्र के कार्य को सम्हाल रहे हैं।

आज समिति का क्षेत्र और कार्य बहुत ही विस्तृत हो गया है। परीक्षा-संचालन के अलावा साहित्य-निर्माण,

पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशन, महाविद्यालय-संचालन तथा अन्तःप्रान्तीय साहित्य के मासिक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन आदि कार्य समिति के द्वारा चलाये जा रहे हैं।

आज तक समिति की परीक्षाओं में करीव तेईस लाख व्यक्ति सम्मिलित हो चुके हैं। ६२०० राष्ट्रभाषा प्रचारक समिति की सेवा में संलग्न हैं। २४०० केन्द्र विभिन्न प्रदेशों में चल रहे हैं जहां समिति की परीक्षाओं के लिए परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। हर केन्द्र का समिति द्वारा एक केन्द्र-व्यवस्थापक नियुक्त है। समिति की परीक्षाओं की उत्तर-पुस्तकें जांचने के लिए २५०० परीक्षकों का सहयोग मिल रहा है। करीव ६३५ विद्यालय तथा शिक्षण-केन्द्र चल रहे हैं जहां समिति की परीक्षाओं की पढ़ाई की व्यवस्था होती है। 'राष्ट्रभाषा-रत्न' जैसी उच्च परीक्षाओं के अध्ययन के लिए २७ महाविद्यालय भी चल रहे हैं।

समिति की ओर से 'राष्ट्रभारती' और 'राष्ट्रभाषा' दो मासिक पत्रिकाएं भी प्रकाशित होती हैं। 'राष्ट्र-भारती' अन्तःप्रान्तीय भारतीय साहित्य की प्रतिनिधि मासिक पत्रिका है। यह पत्रिका प्रान्तीय भाषाओं के तथा हिन्दी के साहित्य को राष्ट्रभाषा-प्रेमियों तक पहुंचाती है। समिति के मन्त्री श्री मोहनलाल भट्ट तथा विदर्भ-नागपुर समिति के संचालक श्री पं० हृषीकेश शर्मा इसके सम्पादक हैं।

राष्ट्रभाषा में समिति की परीक्षा आदि प्रचार-कार्यों की जानकारी, प्रान्तीय हलचल, हिन्दी-प्रचार तथा परीक्षोपयोगी लेख आदि सामग्री प्रकाशित होती है। यह पत्रिका समिति के प्रमाणित प्रचारकों तथा केन्द्र-व्यवस्थापकों को निःशुल्क भेजी जाती है।

पाठ्य-पुस्तकों के रूप में समिति ने ५२ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। समिति ने अपनी साहित्य-निर्माण योजना के अन्तर्गत राष्ट्रभाषा कोश, फ्रेंच स्वयं-शिक्षक, भारतीय वाङ्मय के तीन भाग, मराठी का वर्णनात्मक व्याकरण, सोरठ तेरा वहता पानी, (गुजराती उपन्यास), धरती की ओर (कन्नड़ उपन्यास), लोकमान्य तिलक (जीवनी-ग्रंथ) भारत-भारती (तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मराठी तथा गुजराती) प्रकाशित किए हैं।

समिति की ओर से प्रति वर्ष विविध प्रदेशों में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन का आयोजन होता है ताकि प्रान्त-प्रान्त के कार्यकर्ता एकत्र होकर राष्ट्रभाषा की समस्याओं पर विचार-विनिमय कर सकें। अव तक वर्धा, अहमदावाद, पूना, वम्बई, नागपुर, पुरी, जयपुर, भोपाल तथा दिल्ली में राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन सम्पन्न हो चुके हैं।

महात्मा गांधी पुरस्कार

१५०१) का यह पुरस्कार हिन्दीतर भाषा-भाषी विद्वानों की राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति की गई सेवाओं के सम्मानस्वरूप किसी ऐसे विद्वान को अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के अवसर पर समिति देती है, जिसने अपनी लेखनी द्वारा राष्ट्रभाषा की सेवा की हो। अव तक यह पुरस्कार आचार्य क्षितिमोहन सेन, महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्व० वावूराव विष्णु पराडकर, आचार्य विनोवा भावे, प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी संघवी, श्री सन्तराम वी० ए० तथा आचार्य काकासाहव कालेलकर को समर्पित किया जा चुका है।

हिन्दी-दिवस

पांचवें अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन, में जिसका अधिवेशन सन १९५३ में नागपुर में सम्पन्न हुआ था, एक प्रस्ताव द्वारा यह निर्णय किया गया कि १४ सितम्वर, ४९ को, जिस दिन भारतीय संविधान परिषद ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को तथा राष्ट्रलिपि के रूप में देवनागरी को स्वीकृत किया था, स्मृति के रूप में प्रतिवर्ष १४ सितम्वर को हिन्दी-दिवस मनाया जाए। तभी से समस्त भारत में समिति के निवेदन पर प्रति वर्ष १४ सितम्वर को हिन्दी-दिवस वड़े उत्साह से मनाया जाता है।

राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन

प्रान्त-प्रान्त के कार्यकर्तागण एकत्र होकर राष्ट्रभाषा की समस्याओं पर विचार-विनिमय कर सकें, इस

दृष्टि से राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के तत्वावधान में प्रतिवर्ष राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन विविध प्रदेशों में होते है। अब तक वर्धा, अहमदावाद, पूना, बम्बई, नागपुर, पुरी, जयपुर, भोपाल तथा दिल्ली में राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन सम्पन्न हो चुके है।

राष्ट्रभाषा प्रेस

समिति के पास अपना एक बड़ा प्रेस भी है। समस्त छपाई का काम इसी प्रेस में होता है। इसमें करीब पैंतालीस कर्मचारी कार्य करते है।

समिति की परीक्षाओं को मान्यता

वर्धा समिति की परीक्षाओं को भारत सरकार के शिक्षा संचालक, गृहमन्त्रालय, रक्षा मंत्रालय, सूचना तथा प्रसार मंत्रालय ने मान्यता दी है। उसी प्रकार अनेक राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा भी समिति की परीक्षाएं मान्य है।



प्रान्तों में राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य

गुजरात

गुजरात राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति अहमदाबाद

गुजरात में हिन्दी का प्रचार 'गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद', 'दक्षिणामूर्ति विद्यामन्दिर, भावनगर' और 'राजकोट सेवा संघ' आदि संस्थाओं द्वारा बहुत पहले से ही किया जा रहा था। श्री मोहनलाल भट्ट, श्री जेठालाल जोशी, परमेष्ठीदास जैन आदि गुजरात में हिन्दी-प्रचारकार्य के प्रमुख सूत्रधार थे। बड़ौदा राज्य इस कार्य का अगुआ था। राज्य के सभी सरकारी कर्मचारियों के लिए कचहरियों में हिन्दी सीखना अनिवार्य कर दिया गया था। उसके लिए पुस्तक तथा कोष भी तैयार कराये थे। वरिष्ठ अदालत के फैसले वहां गुजराती भाषा तथा नागरी लिपि में लिखे जाते थे।

सन १९३५ से भी पहले सूरत में परमेष्ठीदास जैन के प्रयत्न से राष्ट्रभाषा प्रचारक मंडल की स्थापना हुई थी और नियमपूर्वक राष्ट्रभाषा के वर्ग चलाये जाते थे। १९३५ में गुजरात विद्यापीठ तथा नवजीवन के तत्वावधान में श्री मोहनलाल भट्ट ने हिन्दी-प्रचार का कार्य आरम्भ किया और उसके वर्ग चलाना शुरू किया।

१९३६ में वर्धा-समिति के निर्माण के बाद गुजरात प्रान्त में भी राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य उसके तत्वावधान में होने लगा।

गुजरात प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा का मुख्य कार्यालय अहमदाबाद में रखा गया। श्री मोहनलाल भट्ट (भूतपूर्व मैनेजिंग ट्रस्टी, नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद) उसका संचालन करते रहे। सन १९३८ में वर्तमान प्रान्तीय संचालक श्री जेठालाल जोशी ने उसका संचालनकार्य सम्हाला। तब से समिति अनेक उतार-चढ़ावों तथा कठिनाइयों को पार करती हुई गुजरात में राष्ट्रभाषा का प्रचार करने में दत्त-चित्त है।

आज प्रान्त-भर में राष्ट्रभाषा का वातावरण व्याप्त हो गया है। गुजरात के शहरों और गांवों का हर कोना राष्ट्रभाषा के पवित्र सन्देश से परिपूरित है। प्रतिवर्ष राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में हजारों परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं।

समिति की ओर से त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'राष्ट्रवीणा' पिछले नौ वर्षों से प्रकाशित हो रही है।

समिति का कार्य-संचालन उसकी व्यवस्थापिका-समिति की देख-रेख में होता है। व्यवस्थापिका समिति में, सदस्य-समिति का संगठन, समिति के विधान के अनुसार प्रान्त के गण्यमान्य सज्जनों, विद्वानों और जनता के प्रिय कार्यकर्ताओं में से होता है।

समिति की कार्य-समिति में पदाधिकारियों के अतिरिक्त नौ सदस्य और होते हैं।

समिति के पदाधिकारियों में माननीय स्व० दादासाहब मावलंकर तथा स्व० रामनारायण भाई पाठक जैसे गण्यमान्य व्यक्ति भी रहे हैं।

समिति के पदाधिकारी—

अध्यक्ष—श्री क० म० मुंशी, कार्याध्यक्ष—श्री हरिसिद्ध भाई दीवेटिया, उपाध्यक्ष—श्री गौरीशंकर जोशी 'धूमकेतु' और श्री हरिभाई त्रिवेदी, कोषाध्यक्ष—श्री सन्तप्रसाद भट्ट तथा मन्त्री-संचालक—श्री जेठालाल जोशी।

आज श्री पं० मु० डांगरे महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, पूना का संचालन योग्यतापूर्वक अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से कर रहे हैं। उनके संचालकत्व में महाराष्ट्र का कार्य बहुत ही आगे बढ़ा है और उनकी एकनिष्ठा ने महाराष्ट्र में राष्ट्रभाषा के कार्य को गौरवपूर्ण स्थान दिलाया है।

महाराष्ट्र के बढ़े हुए कार्य को देखकर हर जिले में जिला-समितियां स्थापित की गई हैं। इन जिला-समितियों की देख-रेख में ही सभी केन्द्र प्रचार-कार्य कर रहे हैं।

जिला-समितियां—पूर्व खानदेश, पश्चिम खानदेश, नासिक, अहमदनगर, ठाणा, कुलाबा, पूना, रत्नागिरी, उत्तर सातारा, दक्षिण सातारा, शोलापुर, कोल्हापुर और गोमांतक (गोवा)।

महाराष्ट्र समिति के अध्यक्ष श्री प्रा० वा० मा० दबडवाव, आचार्य, नूतन मराठी विद्यालय हैं। कार्याध्यक्ष, श्री तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी तथा संचालक पं० मु० डांगरे हैं।

महाराष्ट्र में वर्धा-समिति की परीक्षाओं के लिए २७३ परीक्षा-केन्द्र चल रहे है। प्रान्त में प्रचारकों की संख्या १४३७ है। आज तक करीब ४ लाख से अधिक परीक्षार्थी इस प्रान्त से वर्धा-समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित हो चुके हैं। प्रतिवर्ष करीब २५ हजार तक परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। वर्धा-समिति द्वारा मान्य ६० रा० भा० विद्यालय हैं जिसमें 'कोविद' तक की पढ़ाई होती है।

प्रकाशन—समिति ने एक प्रकाशन-विभाग भी खोला है, जिसकी ओर से बापू की बातें, साधारण चार्ट, पाठ-पद्धति, आलूचना, अमावस की रात आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

तुलसी-महाविद्यालय—१९५१ से समिति की ओर से तुलसी महाविद्यालय नामक एक महाविद्यालय भी चलाया जा रहा है; जिसमें 'राष्ट्रभाषा-रत्न', 'अध्यापन-विशारद', 'साहित्य-रत्न' आदि हिन्दी की ऊंची परीक्षाओं की पढ़ाई की व्यवस्था की गई है।

समिति के तत्त्वावधान में इस विद्यालय द्वारा बम्बई सरकार की ओर से चलाई जा रही 'हिन्दी शिक्षक सनद' परीक्षा के लिए भी वर्ग की व्यवस्था की गई है। यह विद्यालय पांच वर्षों से चल रहा है।

'जयभारती'—गत ११ वर्षों से समिति की ओर से 'जयभारती' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। सम्भवतः आगामी वर्ष से इसको त्रैमासिक रूप दिया जा रहा है।

समिति का एक ग्रन्थालय है, जिसमें करीब ५००० ग्रन्थों का संग्रह है।

वाग्वर्धिनी सभा तथा वक्तृत्व-स्पर्द्धा—इसके अन्तर्गत प्रति सप्ताह विभिन्न विषयों पर हिन्दी में व्याख्यान और चर्चाएं होती हैं।

महाराष्ट्रीय जनता की हिन्दी में...

वक्तत्व-स्पर्धा

राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा

राष्ट्रभाषा का प्राथमिक ज्ञान करा देने के हेतु प्रान्तीय समिति की ओर से राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा १९५७ से चलाई गई है। जिसमें प्रतिवर्ष करीब ५००० विद्यार्थी सम्मिलित होते हैं।

बम्बई

बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, बम्बई

बम्बई में १९३६ से भी पहले बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा कार्य कर रही थी। इस समिति के अध्यक्ष श्री सेठ जमनालालजी बजाज तथा मंत्री श्री पेरिन बेन कैप्टन और उमाशंकर दीक्षित थे। श्री कांतिलाल जोशी ने उसी समय इस कार्य में सहयोग देना आरम्भ किया था।

सन १९३७ से बम्बई-समिति-वर्धा समिति से सम्बद्ध होकर बम्बई नगर तथा उसके उपनगरों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य कर रही है। सभा के वर्तमान प्रान्तीय संचालक श्री कान्तिलाल जोशी आरम्भ से ही निष्ठा तथा लग्न से उसका कार्य करते आ रहे हैं।

सभा का पुन: संगठन—सन १९४५ तक यह सभा श्रीमती पेरिन बेन कैप्टन के मंत्रित्व में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार सफलतापूर्वक करती रही, परन्तु उसके बाद पेरिन बेन तथा अन्य सदस्यों ने हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का मार्गदर्शन स्वीकार कर नागरी और अरबी-फारसी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी-प्रचार की नीति अपनाई। अतः बम्बई राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा का स्वतंत्र संगठन आवश्यक समझा गया। अतएव १९४५ में वर्धा-समिति के मार्गदर्शन में सभा का पुन: संगठन हुआ।

आजकल इसके अध्यक्ष श्री स० ल० सिलम, उपाध्यक्ष श्री रामसहाय पाण्डेय एवं श्रीमती सुलोचना बहन मोदी, कोषाध्यक्ष श्री शिवकुमार भुवालका और मन्त्री तथा संचालक श्री कान्तिलालजी जोशी हैं। सदस्यों में श्री गोविंद-लाल बंसीलालजी आदि प्रमुख हैं। राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य बम्बई प्रदेश में सुचारु रूप से ही हो रहा है। बम्बई से आज तक डेढ़ लाख से अधिक परीक्षार्थी परीक्षाओं में बैठ चुके हैं।

सन १९५१ में चतुर्थ अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन बम्बई में माननीय श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर वेदमूर्ति श्री सातवलेकरजी को १५०१) रु० का महात्मा गांधी पुरस्कार दिया गया।

सभा की ओर से गांधी-जयन्ती के उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है।

बम्बई प्रदेश में राष्ट्रभाषा-परीक्षाएं निम्नलिखित रूप में मान्य हैं—

राष्ट्रभाषा-कोविद में उत्तीर्ण बम्बई सरकार की हिन्दी शिक्षक सनद परीक्षा (एच० एस० एस०) में बैठ सकते हैं। इसके लिए तीन महीने का 'रिफ्रेशर' कोर्स होता है। राष्ट्रभाषा-परिचय में उतीर्ण परीक्षार्थियों के लिए यह रिफ्रेशर कोर्स एक साल का होता है।

प्राथमिक परीक्षा

स्थानीय स्कूलों की मांग को ध्यान में रखकर बम्बई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा की ओर से सितम्बर १९५६ से राष्ट्रभाषा प्राथमिक परीक्षा चलाई जा रही है। इसमें करीब साढ़े तीन हजार परीक्षार्थी प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं।

विदर्भ-नागपुर

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, नागपुर

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना सन १९३९-४० में पुराने मध्यप्रदेश के मराठी-भाषी ८ जिलों में राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि का व्यापक प्रचार करने के उद्देश्य से वर्धा-समिति के अन्तर्गत की गई, तब इसका नाम 'विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' था। १९४५ तक इसका प्रान्तीय कार्यालय अमरावती में रहा और इसके अध्यक्ष प्रान्त के नेता श्री वीर वामनराव जोशी तथा मन्त्री श्री वैद्य हरिहररावजी देशपांडे थे।

१९४५ के अन्त में प्रान्तीय समिति का कार्यालय नागपुर लाया गया। प्रान्तीय संचालक के पद पर श्री हृषी-केश शर्मा की नियुक्ति हुई। शर्माजी पुराने और अनुभवी कार्यकर्ता हैं। आपने १८-२० वर्ष मद्रास में कार्य किया और जब वर्धा में राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना १९३६ में हुई तब से कुछ वर्ष वे राष्ट्रभाषा-अध्यापन मन्दिर के आचार्य रहे। वे राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के निष्ठावान अनुभवी पुराने कार्यकर्ताओं में से एक हैं। उनकी राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा ३८ वर्षों की है।

सन १९४६ से प्रान्त के मराठी-भाषी क्षेत्रों में केन्द्रों की, केन्द्र-व्यवस्थापकों की, प्रचारकों की तथा राष्ट्रभाषा-प्रचार-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की संख्या बढ़ी, अनेक सहयोगी संगी-साथी कार्यकर्ताओं ने राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्य को आगे बढ़ाया। इस समय ४९७ परीक्षा-केन्द्र हैं और लगभग ५२८ से ऊपर प्रचारक हैं। प्रतिवर्ष ३४ हजार से ऊपर अहिन्दीभाषी विद्यार्थी राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में बैठते हैं। हिन्दी का उच्च अध्ययन करने वाले भी सैकड़ों हैं। लगभग दो लाख से अधिक लोगों ने हिन्दी सीखी। साधारण पढ़े-लिखे देहाती से लेकर बड़े-बड़े राज्याधिकारी राष्ट्रभाषा की परीक्षाओं में बैठते है। विदर्भ-नागपुर से अहिन्दी क्षेत्रों की पाठशालाओं में भी राष्ट्रभाषा पढ़ाई जाती है।

विदर्भ-नागपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अन्तर्गत कार्य और व्यवस्था की दृष्टि से निम्नलिखित जिला राष्ट्रभाषा-प्रचार समितियां अपने-अपने जिलों में बड़े ही उत्साहपूर्वक राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य कर रही हैं—अकोला,

अमरावती, बुलढाणा, यवतमाल और वर्धा। इन जिला समितियों के भी अध्यक्ष और जिलासंगठक आदि पदाधिकारी हैं।

सन १९४७ के अक्टूबर में मध्यप्रदेश की सरकार ने वर्धा-समिति की 'परिचय' परीक्षा को सरकारी अहिन्दी-भाषी कर्मचारियों के लिए विभागीय परीक्षा के रूप में मान्य किया था। शिक्षा विभाग ने भी 'परिचय' तथा 'कोविद' को उनके लिए मान्य किया है, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। मध्यप्रदेश सरकार ने अपने प्रान्त की मध्यप्रदेश राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति को एक संस्था के रूप में मान्य किया था। १९५१ में प्रान्तीय समिति रजिस्टर्ड बनाई गई, तब से प्रान्तीय सरकार इसे ५०००) की वार्षिक सहायता देती है।

नागपुर विश्वविद्यालय ने 'कोविद' को मान्यता दी है। जो अहिन्दी-भाषी प्राध्यापक कोविद-उत्तीर्ण होंगे, उन्हें हिन्दी द्वारा विश्वविद्यालय में अपना विषय पढ़ाने की अनुमति प्राप्त होगी।

सन १९५३ में नागपुर में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन हुआ था। इस अवसर पर वयोवृद्ध पत्रकार स्व० पराडकरजी को १५०१) रु० का महात्मा गांधी पुरस्कार समर्पित किया गया।

समिति के अध्यक्ष हैं, नागपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति तथा हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश, मध्यप्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं अनेक सामाजिक, शैक्षणिक एवं सार्वजनिक संस्थाओं के जन्म-दाता डा० भवानीशंकर नियोगी।

इस समिति का भवन अभी बन रहा है। इस भवन के लिए १९५६ में तत्कालीन मध्यप्रदेश सरकार ने एक एकड़ से कुछ अधिक का प्लाट अनुदान में दिया था। इसका शिलान्यास राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी द्वारा हो चुका है। भवन का काम चालू है, जो निकट भविष्य में बन कर तैयार हो जाएगा।

उत्कल

उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक

सन १९३३ से ही उत्कल में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य चल रहा है। स्व० गोपबन्धु चौधरी की प्रेरणा से उत्कल में 'उत्कल प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा' की स्थापना की गई। इस सभा के द्वारा उत्कल में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार प्रारम्भ हुआ। सन १९३४ में महात्मा गांधी के उत्कल के दौरे के अवसर पर उन्होंने श्री बसन्तलाल मुरारका को इस सभा के लिए आर्थिक सहायता के निमित्त प्रेरित किया, जिससे सभा उत्साह से अपने कार्य में आगे बढ़ने लगी।

इसी वर्ष श्री बसन्तलाल मुरारका, श्री भागीरथ कानोड़िया और श्री सीताराम सेक्सरिया आदि सज्जनों के सहयोग से कलकत्ते में पूर्वभारत-हिन्दी-प्रचार सभा की स्थापना हुई। इसी सभा के सहयोग और मार्गदर्शन में [illegible] प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा ने सुसंगठित रूप से प्रचार-कार्य आरम्भ कि[illegible] बाद यह सभा उससे सम्बद्ध हो गई [illegible] नाम-[illegible] हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला-अधिवेशन में 'हिन्दी प्रचार समिति' का नाम 'राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखना निश्चित हुआ। फलस्वरूप इस सभा का नाम 'उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखा गया।

१९४२ के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में अनेक कार्यकर्ताओं के जेल चले जाने के कारण प्रचार-कार्य की गति अवरुद्ध-सी हो गई। प्रान्तीय संचालक श्री अनसूयाप्रसाद पाठक के जेल से मुक्त होने के बाद उन पर प्रान्त में प्रवेश करने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो सन १९४५ तक रहा। फिर भी पाठकजी बड़ी लगन के साथ बाहर से राष्ट्र-भाषा का प्रचार कार्य करते रहे।

सन १९४७ में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें बनीं। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनते ही सरकार का ध्यान राष्ट्र-भाषा के प्रति आकृष्ट हुआ। सरकार ने एक सरकुलर द्वारा सूचित कर दिया कि प्रान्त में सभी स्कूलों में ६ठी से ९वीं तक राष्ट्रभाषा हिन्दी पढ़ना आवश्यक है तथा १९४८ में सभी स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य रूप से होगी। साथ ही सरकार की ओर से प्रान्त में एक शिक्षा-शिविर की योजना बनाई गई। इस योजना के अनुसार गंजाम जिला बोर्ड ने तीन माह के लिए अपने ४८ अध्यापक हिन्दी सीखने के लिए भेजे। बोर्ड ने इस योजना पर पांच हजार रुपये खर्च किए

आज भी उत्कल सरकार की ओर से प्रान्त में सभी स्कूलों में छठवीं से आठवीं कक्षा तक हिन्दी की पढ़ाई अनिवार्य है।

उत्कल राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा का कार्य उत्तरोत्तर प्रगति करने लगा जिसके कारण कार्यालय, पुस्तकालय, प्रेस आदि के लिए स्थान का प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया। भवन-निर्माण का खर्च जो अनुमानतः दो लाख रुपये तक होगा, उड़ीसा सरकार स्वयं वहन करेगी।

उत्कल प्रान्त के तेरह जिलों में सभा के लगभग २२० केन्द्र चल रहे हैं। प्रतिवर्ष सात हजार से अधिक परीक्षार्थी उत्कल प्रान्त से वर्धा समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

सभा में कार्य करने वाली अनुवाद-समिति ने अब तक कुल बाईस पुस्तकें प्रकाशित की हैं जिनमें उपन्यास, कहानी संग्रह आदि हैं। उत्कल साहित्य के हिन्दी-अनुवाद का कार्य भी सभा की ओर से हो रहा है।

सभा के तत्त्वावधान में एक पुस्तकालय, हिन्दी शिक्षा मन्दिर, वाचनालय तथा नियमित रूप से राष्ट्रभाषा पत्र मासिक मुख पत्र चल रहा है।

'राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस' इस सभा के तत्त्वावधान में है, जिसका मूलधन करीब एक लाख पचास हजार है। उत्कल प्रान्तीय सरकार इस समिति को पन्द्रह हजार रुपये वार्षिक सहायता भी देती है। सभा को गांधी राष्ट्रभाषा मन्दिर निर्माण करने के लिए सरकार की ओर से दो एकड़ जमीन भी मिली है।

सभा का रजत-जयन्ती समारोह

उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार सभा ने अपने पच्चीस वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में ५, ६, ७, व ८ जून १९५९ को रजत-जयन्ती मनाई। इस अवसर पर सभा ने एक बृहद 'रजत-जयन्ती ग्रन्थ' उत्कल के प्राचीन साहित्य, कला, धर्म, संस्कृति, भूगोल तथा राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देने की दृष्टि से प्रकाशित किया है जिसका बड़ा आदर हुआ है।

प्राथमिक परीक्षा

राष्ट्रभाषा के प्राथमिक ज्ञान के हेतु सभा द्वारा 'राष्ट्रभाषा प्राथमिक' परीक्षा भी चलाई जाती है, जिसका उत्कल में अच्छा स्वागत हुआ है।

असम

असम राज्य राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, शिलांग

सन १९३७ में असम में सर्वप्रथम हिंदी-प्रचार का कार्य आरम्भ हुआ। पूज्य महात्मा गांधी ने सन १९३७ में अपने असम-भ्रमणकाल में असम के भाई-बहनों को राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण करनेवाली हिंदी का महत्त्व बतलाया। पूज्य बापू के साथ बाबा राघवदास भी थे। आपने हिन्दी भाषा-भाषी दो-चार व्यक्तियों को लेकर प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया और साथ ही कुछ असमिया युवकों को वर्धा भेजकर हिन्दी-प्रचार की शिक्षा वर्धा-समिति द्वारा प्रारम्भ किये गए अध्यापन-मन्दिर में दिलाई। हिन्दी-प्रचार समिति के उपाध्यक्ष काका कालेलकर ने असम प्रान्त का व्यापक भ्रमण कर वहां के भाई-बहनों से मधुर सम्पर्क स्थापित किया। काका साहब के साथ प्रथम भ्रमण के समय हिन्दी प्रचार समिति के तत्कालीन मन्त्री श्री मो० सत्यनारायण, दादा धर्माधिकारी तथा स्व० बाबा राघवदासजी भी थे।

१९३८ में काका साहब की प्रेरणा से स्व० गोपीनाथजी बरदलै की अध्यक्षता में हिन्दी-प्रचार समिति संगठित हुई। श्री कमलदेव नारायण तथा रामप्रसादजी वर्धा से असम में प्रचारार्थ बुलाये गए। उस समय संचालन का कार्य श्री जमुनाप्रसादजी सम्हाल रहे थे।

श्री जमुनाप्रसादजी जब मुक्त हुए तब उसका संचालन-कार्य श्री कमलदेव नारायण को सौंपा गया। आपके अथक परिश्रम से असम में निम्नलिखित विभागीय समितियां स्थापित हुईं—

गौहाटी, नौगांव, जोरहाट, गोपालघाट, डिब्रूगढ़, शिवसागर, उत्तर लखीमपुर, मंगलदई, तेजपुर, बरपेटा, धोबी, गोआलपाड़ा, मणिपुर, शिलाग, सिलचर, सिलहट, गणेशबाड़ी, तलवी तथा दुमदुमा आदि-आदि।

१९४५ का साल समिति के उतार-चढ़ाव का समय था। हिन्दुस्तानी-प्रचार का समर्थन सरकार ने किया,

किन्तु वर्धा-समिति के प्रचारक प्रलोभन से दूर रहकर सेवा-भावना से विषम परिस्थितियों में भी राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य से विचलित नहीं हुए। हां, १९४६ में श्री कमलदेव नारायण का अचानक स्वर्गवास हो जाने से बड़ी कठिनाई हो गई।

इस बीच संचालन का भार कई व्यक्तियों पर रहा, किंतु स्थिति उतनी दृढ़ न होने के कारण वर्धा-समिति के उस समय के प्रधान मन्त्री श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन असम गए और संचालन का भार श्री छगनलाल जैन को सौंपा गया।

श्री छगनलाल ने अक्टूबर, १९५२ तक असम-समिति का कार्य किया। श्री जैन ने १९५२ में संचालक-पद त्याग कर दिया। उनके स्थान पर शिलांग हिन्दी-प्रचार संसद के अध्यक्ष श्री जितेन्द्रचन्द्र चौधुरी को संचालक नियुक्त किया गया। समिति का कार्यालय भी गौहाटी से शिलांग चला गया।

इस समय असम के कार्य में काफी प्रगति हो रही है। लगभग ८० प्रचारक निष्ठापूर्वक राष्ट्रभाषा का प्रचार-कार्य कर रहे हैं और वर्धा-समिति की परीक्षाओं के परीक्षार्थी तैयार करते हैं। इस समय असम में ४७ परीक्षा-केन्द्र चल रहे हैं। १९३६ से अब तक असम से करीब ३०,००० परीक्षार्थी वर्धा-समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित हुए। इस समिति के अन्तर्गत २२ विभागीय समितियां हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। इसकी एक व्यवस्थापिका सभा है जिसमें ५१ सदस्य हैं। १९५८ में असम सरकार ने इस समिति को एक प्रशिक्षण-केन्द्र आसाम के हिंदी-अध्यापकों के लिए चलानेका कार्य सौंपा। यह प्रशिक्षण-केन्द्र सिल्चर में चलाया गया जिसमें कछार के स्कूलों के ३० हिन्दी-शिक्षक प्रशिक्षण के लिए भेजे गए थे।

समिति के अध्यक्ष श्री नरेन शर्मा, एम० ए० हैं। कार्याध्यक्ष श्री राधाकृष्ण खेमका और मन्त्री-संचालक का कार्य श्री जितेन्द्रचन्द्र चौधुरी कर रहे हैं।

पश्चिम बंगाल

पश्चिम बंग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, कलकत्ता

बंगाल में सन १९३४ से कलकत्ते की 'पूर्व भारत हिन्दी प्रचार सभा' हिन्दी-प्रचार का कार्य करती आ रही थी। सन ३६ में वर्धा समिति की स्थापना के बाद यह सभा उस समिति के मार्गदर्शन में कार्य करने लगी। सन ३८ के शिमला-अधिवेशन में जब हिन्दी प्रचार समिति, वर्धा का नाम राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति कर दिया गया, तब कलकत्ते में हिन्दी का प्रचार कराने वाली संस्था का नाम भी पूर्व भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा रखा गया। किन्तु सन ४५ में इसकी नीति में परिवर्तन हो जाने के कारण इसने हिन्दुस्तानी का प्रचार करना आरम्भ किया तथा वर्धा-समिति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। ऐसी स्थिति में हिन्दी-प्रचार के लिए वर्धा-समिति से सम्बद्ध एक पृथक प्रान्तीय समिति का संगठन आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप १५ दिसम्बर, १९४५ को डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के निवास-स्थान 'सुधर्मा' में कई गण्यमान्य साहित्यिकों, शिक्षा-प्रेमियों तथा विद्वानों की बैठक करके 'बंगाल राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' की स्थापना की गई, जो देश-विभाजन के बाद 'पश्चिम बंग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' कहलाने लगी।

बंगाल राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना के बाद श्री रेवतीरंजन सिन्हा के सद्प्रयत्नों से प्रचार और संगठन का कार्य आरम्भ हुआ। सर्वश्री भुवनेश्वर झा, व्रजनन्दनसिंह, नरेशचन्द्रसिंह, राय, शिवविलास सिन्हा, अमल सरकार आदि प्रचारक-शिक्षकों ने अपनी सेवाएं देकर प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। मुफस्सिल में सर्वश्री वामनचन्द्र बसु, श्रीनिवास शर्मा, जनार्दन चतुर्वेदी, संजीवप्रसाद सेन, देवीप्रसाद वर्मा, जयगोविन्द मिश्र, अरण्यविहारी दास आदि प्रचारकों ने इस कार्य में यथेष्ट हाथ बंटाया।

इस समय पश्चिम बंग राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अंतर्गत ९१ प्रमाणित प्रचारक तथा २५ शिक्षक-अध्यापक हैं। प्रान्त भर में ७५ अवैतनिक शिक्षण-केन्द्र तथा विद्यालय चलाये जाते हैं। परीक्षा-केन्द्रों की संख्या ७० है तथा प्रायः ४३०० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष बंगाल प्रान्त से वर्धा-समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। समिति बंगाल सरकार के सहयोग से 'डिप्लोमा इन हिन्दी टीचिंग' परीक्षा चलाती है। इसमें उत्तीर्ण होने पर हिन्दी-शिक्षक को अपने वेतन के अलावा १०) रु० प्रति माह भत्ते के रूप मे मिलते हैं।

इस समिति को बंगाल सरकार का काफी सहयोग प्राप्त है। हिन्दी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा शिक्षकों आदि की नियुक्ति में सरकार समिति से सलाह लेती है और उनसे नियमित सम्पर्क बनाये रखती है। समिति को प्रति वर्ष ३०००) रु० सहायता मिलती है। बंगाल में वर्धा-समिति की निम्नलिखित परीक्षाएं मान्य हैं—

(१) 'परिचय' तथा इंटरमीजिएट-उत्तीर्ण को सरकारी हाईस्कूलों में हिंदी शिक्षक के रूप में रखा जाता है।

(२) 'डिप्लोमा इन हिन्दी टीचिंग' उत्तीर्ण व्यक्ति के अभाव में केवल भाषा-ज्ञान की दृष्टि से न्यूनतम योग्यता 'परिचय' परीक्षा मानी गई है।

(३) कलकत्ता विश्वविद्यालय ऐसे व्यक्तियों को हिन्दी-माध्यम द्वारा एम० ए० पढ़ने की अनुमति देता है, जो अहिन्दी-भाषी बी० ए० और 'कोविद' उपाधिधारी हों।

समिति की व्यवस्था तथा संचालन में एक हिंदी प्रचार पुस्तकालय तथा वाचनालय भी चल रहा है।

इस समय समिति के अध्यक्ष अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भाषाविद् डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या हैं। मन्त्री तथा संचालक श्री रेवतीरंजन सिन्हा हैं।

सिन्ध-राजस्थान

सिन्ध-राजस्थान राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, जयपुर

सिन्ध में हिन्दी-प्रचार के छिट-पुट प्रयत्न वर्धा-समिति की स्थापना के बहुत पहले से ही हो रहे थे। शिकारपुर की 'प्रियतम धर्म-सभा' नामक संस्था ने और उसके बाद सन १९१४ में स्व० डा० चौइथराम गिडवानी की अध्यक्षता में खोले गए 'ब्रह्मचर्याश्रम' ने हिन्दी-प्रचार का काम शुरू किया, किन्तु इसप्रकार के प्रयत्नों के आधार व्यापक या व्यवस्थित नहीं हो पाए थे।

अप्रैल, १९३६ में वर्धा-समिति की स्थापना हुई, उसके दूसरे वर्ष ही जून, सन १९३७ में काका कालेलकर की अध्यक्षता में कराची में सिन्ध प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसी अवसर पर 'सिन्ध हिन्दी प्रचार समिति' का संगठन किया गया। स्वर्गीय श्री इन्द्रदेव शर्मा ने वर्धा-अध्ययन मंदिर से शिक्षा पाकर लौटने के बाद प्रान्तीय समिति के मन्त्री श्री चन्द्रसेन जेतली के मार्गदर्शन में हिन्दी-प्रचार का आन्दोलन आरम्भ किया।

समिति का संगठन—समिति का कार्य-संचालन मुख्यतः दो कमेटियों (प्रधान सभा और कार्यकारिणी समिति) के अधीन रखा गया। प्रधान सभा में ३३ और कार्यकारिणी में १५ सदस्य होते थे। कार्यकारिणी के सदस्य प्रधान सभा से चुने जाते थे।

सिन्ध-समिति का सारा कार्य वर्धा रा० भा० प्र० समिति के निर्देशन में १९३८ से होने लगा। सन १९४०-४१ के लिए सिन्ध रा० भा० प्र० समिति के सभापति-पद पर श्री नारायणदास रत्नमल मल्कानी चुने गए।

नये प्रान्तीय संचालक—इस वर्ष कार्य के बढ़ जाने के कारण पं० इन्द्रदेव जी के स्थान पर पं० देवदत्त शर्मा प्रान्तीय संचालक बनाये गए जो १९४६ तक इस कार्य को सुचारु रूप से निभाते रहे।

१९४२ में श्री मल्कानी जी के जेल चले जाने के बाद श्री जवाहरलाल जी जैन को प्रान्तीय समिति का अध्यक्ष बनाया गया। आपने एक वर्ष तक बड़े सुन्दर ढंग से कार्य सम्हाला।

नये प्रधान—इसके बाद सिन्ध के प्रसिद्ध दानी, साहित्य और राष्ट्रभाषा-प्रेमी भाई प्रताप दयालदास को प्रान्तीय समिति का प्रधान बनाया गया, जो तन, मन और धन से समिति को सुचारु रूप से चलाते रहे।

समिति का पुनःसंगठन और नये संचालक—१९४६ में श्री वियोगी हरि जी की अध्यक्षता में कराची में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ, जो बड़ा ही सफल रहा। सम्मेलन से लौटने पर श्री वियोगी हरि और वर्धा-समिति के तत्कालीन प्रधानमन्त्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन हैदराबाद में उतरे और सिन्ध-समिति के कार्य पर विचार किया। परिणामस्वरूप श्री दौलतराम शर्मा को, जो पिछले इक्कीस वर्ष से सिन्ध में रचनात्मक और राजनीतिक कार्य कर रहे थे, प्रान्तीय संचालक बनाया गया। वे अब भी बड़ी लगन तथा निष्ठापूर्वक प्रान्तीय संचालक का कार्य कर रहे हैं।

पाकिस्तान की स्थापना के फलस्वरूप साम्प्रदायिक मार-काट और लूटमार से सिन्ध भी अछूता न रह

सका। सिन्धी हिन्दुओं को मजबूरन अपना प्रान्त छोड़ना पड़ा, वे हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों में आ गए। जहां पहले से ही राष्ट्रभाषा-शिक्षा के केन्द्र मौजूद थे, और उनमें शामिल हो गए। राजस्थान के विभिन्न हिस्सों में सिन्धी काफी तादाद में आए हैं। इन बिखरे हुए सिन्धियों की राष्ट्रभाषा शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध एक केन्द्र बनाकर करने का निर्णय किया गया। तदनुसार 'सिन्ध-राजस्थान राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' का प्रधान कार्यालय, जो पहले अजमेर में था, अब जयपुर में है।

राजस्थान में कार्य

इस वक्त राजस्थान में सौ केन्द्र कार्य कर रहे हैं और दिन-ब-दिन बढ़ते जा रहे हैं। समिति के कार्य में राजस्थान के प्रमुख साहित्यिक जैसे श्री मुनि जिनविजय जी, राजस्थान युनिवर्सिटी के उपकुलपति श्री महाजनी, डा० सोमनाथजी गुप्त, श्री जवाहरलालजी जैन, संपादक 'लोकवाणी' भाग ले रहे हैं, समिति के कार्यकारी अध्यक्ष डा० सोमनाथजी गुप्त हैं।

प्रान्तीय समिति के प्रयत्नों से राजस्थान विश्वविद्यालय ने वर्धा-समिति की 'कोविद' और 'राष्ट्रभाषारत्न' परीक्षा-उत्तीर्ण को क्रमशः हाईस्कूल तथा इन्टर परीक्षा में केवल अंग्रेजी विषय लेकर सम्मिलित होने की स्वीकृति दी है।

हिन्दी और देवनागरी

सिन्धियों द्वारा देवनागरी को अपनी मातृभाषा सिन्धी की लिपि मान लेने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। राजस्थान सरकार भी इसमें सहयोग दे रही है और स्कूली शिक्षा के लिए सिन्धी पुस्तकें देवनागरी में लिखी जाने लगी हैं।

मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, इम्फाल

भारत के सुदूर प्रान्त मणिपुर में विगत कई सालों से राष्ट्रभाषा का प्रचार होता रहा। मणिपुर में राष्ट्रभाषा के कार्य के प्रति उत्साह देखकर यह निश्चय किया गया कि मणिपुर स्टेट को एक स्वतन्त्र प्रान्त मान लिया जाए और उसका प्रचार-कार्य-भार श्री छत्रध्वज शर्मा को सौंप दिया जाए। उसी निश्चय के अनुसार मणिपुर स्टेट में 'मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' की स्थापना हुई।

जब से राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य का संगठन हुआ, तब से मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति अपना कार्य सुचारु रूप से करती आ रही है। समिति के सामने कई समस्याएं हैं, फिर भी वह जनता के सहयोग से आगे बढ़ती जा रही है।

इस समिति के अध्यक्ष श्री कालाचांदसिंह शास्त्री तथा मन्त्री-संचालक श्री छत्रध्वज शर्मा हैं।

पहले मणिपुर में एक ही इम्फाल केन्द्र था। पर यहां की परिस्थिति तथा प्रचार-कार्य का अध्ययन करने के बाद जनता की सुविधा के लिए मणिपुर के चौदह विभिन्न स्थानों में परीक्षा-केन्द्र खोल दिये गए हैं। इम्फाल, मालोभ, नम्बोल, ओईनाम, विष्णुपुर, क्वासिपाई, निंग-थौखोंग मोइरोंग, उचिवा, मयांग-इम्फाल, वांगोई, ककचिंग, थौवाव और लम्लाइ। प्रतिवर्ष इन केन्द्रों से हजारों की संख्या में परीक्षार्थी राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की प्रचार परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

पढ़ाई की व्यवस्था

राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा की नई योजना के अनुसार मणिपुर के गांवों में शिक्षण-केन्द्र तथा राष्ट्रभाषा-विद्यालय खोल दिये गए हैं। इन विद्यालयों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के उपाधिधारी अध्यापक लगन से काम कर रहे हैं।

मणिपुर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति को कार्यालय के लिए इम्फाल केन्द्र में ही मणिपुर सरकारी टाउन फंड कमेटी ने जमीन दी है, जिस पर भवन का निर्माण भी हो चुका है। मणिपुर समिति का कार्यालय उसी भवन में कार्य कर रहा है। मणिपुर से डेढ़ हजार से ऊपर परीक्षार्थी वर्धा-समिति की परीक्षाओं में प्रतिवर्ष बैठते हैं।

दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति

राष्ट्रभाषा को विधान में स्वीकार किया गया, इसके बाद राजकीय दृष्टि से भी उसके प्रचार का महत्त्व बढ़ गया और दिल्ली भारत की राजधानी होने के कारण वहां पर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की शाखा होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। करीब दस वर्ष से दिल्ली में परीक्षार्थी तैयार करने का कार्य श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन कुछ प्रचारकों की सहायता से कर रही थीं। वहां का कार्यक्षेत्र काफी बड़ा है। केवल नई दिल्ली के सरकारी कर्मचारियों में हिन्दीतर भाषियों की संख्या ३५०० के लगभग गिनी जाती है। संसद के हिन्दीतर सदस्यों का हिन्दी सीखने का प्रश्न भी मुख्य रूप से सामने रहा है। उन्होंने हिन्दी सीखने के प्रति ध्यान भी दिया है। एक संसदीय हिन्दी-मंडल की स्थापना भी की गई, जिसके अध्यक्ष श्रीसेठ गोविन्ददास हैं। हिन्दीतर भाषी संसद-सदस्यों को हिन्दी सिखाने की व्यवस्था इस मंडल के द्वारा हो रही थी। उसके लिए जो वर्ग चलते थे वे समिति की ओर से चलाये गए थे। संसद के हिन्दीतर सदस्य इन वर्गों से लाभ उठाकर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

दिल्ली समिति का उद्‌घाटन ३० अगस्त, १९५२ को राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टंडन द्वारा हुआ। इस समिति के पदाधिकारी तथा सदस्य निम्न प्रकार हैं—

अध्यक्ष—श्री के० सी० रेड्डी, (उत्पादन मन्त्री, भारत सरकार)।

उपाध्यक्ष—श्री अनन्तशयनम अय्यंगार, (अध्यक्ष, भारतीय लोकसभा)।

कोषाध्यक्ष—श्री एस० आर० एस० राघवन।

मंत्री-संचालिका—श्रीमती राजलक्ष्मी राघवन।

नई दिल्ली, विजयनगर, लोदी कालोनी, राजेन्द्रनगर, लाजपतनगर, हरिजन उद्योगशाला, गुजराती समाज आदि स्थानों पर वर्धा-समिति की परीक्षाओं के केन्द्र चल रहे हैं।

अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन

दिल्ली प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के तत्त्वावधान में ९, १० मई, १९५९ को नई दिल्ली में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन के नवें अधिवेशन का आयोजन हुआ। यह सम्मेलन लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम अय्यंगार की अध्यक्षता में हुआ जिसका उद्‌घाटन प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने किया। इस सम्मेलन के अवसर पर 'महात्मा गांधी पुरस्कार' आचार्य काकासाहब कालेलकर जी को समर्पित किया गया। इस सम्मेलन को और अधिक गौरव इस कारण भी प्राप्त हैं कि हिन्दी के प्राण राजर्षि टंडनजी को २५,००१) रु० की धनराशि वर्धा समिति द्वारा इसी सम्मेलन के अवसर पर समर्पित की गई थी।

हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार सभा

हैदराबाद हिन्दी-प्रचार सभा का कार्य उसके कार्यक्षेत्र में खूब पनपा तथा फला-फूला। राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की परीक्षाओं के साथ-साथ यह सभा अपनी परीक्षाएं भी चलाती हैं जो इस क्षेत्र में बड़ी सफलतापूर्व चल रही हैं।

हैदराबाद हिन्दी-प्रचार सभा परीक्षाएं चलाने के साथ-साथ प्रकाशन-संस्था के रूप में भी कार्य कर रही हैं। दक्षिणी में हिन्दी के ख्यातिप्राप्त लेखकों तथा कवियों के साहित्य को प्रकाशित करने के लिए उसने एक उपसमिति का निर्माण किया है, जो इस ओर बड़ी सफलतापूर्वक अनुसन्धान कर रही है।

श्री गोपालराव अर्पसिगीपर तथा श्री राजकिशोर पांडे बड़ी लगन से इस संस्था की सेवा कर रहे हैं।

इस सभा की ओर से 'अजन्ता' उच्च स्तर की नामक एक साहित्यिक मासिक-पत्रिका भी निकलती है।

इस सभा के करीब ३२५ केन्द्र चल रहे हैं तथा करीब ३० हजार से भी अधिक परीक्षार्थी प्रतिवर्ष ही इसकी विभिन्न परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं।

आन्ध्र प्रदेश सरकार ने सभा की 'विद्वान' तथा 'हिन्दी शिक्षक' परीक्षा को मान्यता प्रदान की है। भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने भी 'हिन्दी-विशारद', 'हिन्दी-भूषण' तथा 'हिन्दी विज्ञान' परीक्षाओं को क्रमशः मैट्रिक,

इण्टर और बी० ए० के समकक्ष स्वीकार किया है।

उच्चमपेठ में सरकारी योजना के अन्तर्गत और सरकारी व्यय से निर्मित 'हिन्दी भवन' को हिन्दी-प्रचार कार्य के लिए सभा के सुपुर्द किया गया है। यह भवन निःशुल्क प्राप्त हुआ है। हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से उच्चमपेठ में सभा का केन्द्र खोला गया है और शिक्षण वर्गों का संचालन भी प्रारम्भ किया गया है।

इस सभा के अध्यक्ष भी के० अच्युत रेड्डी हैं।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, भोपाल

मध्यभारत में यों तो हिन्दी-प्रचार का काम काफी समय से हो रहा है, किन्तु व्यवस्थित रूप से कार्य सन १९४९ से चला। सर्वप्रथम इस समिति का कार्यालय त्योंदा (भेलसा) में था और कार्य श्री प्रेमसिंह चौहान 'दिव्यार्थ' सम्हालते थे।

१९५२ में भोपाल-मध्यभारत समिति का निर्माण हुआ, तब से इसका कार्यालय खाचरौद तथा उज्जैन रहा।

इस समिति का कार्यक्षेत्र भोपाल शहर, भोपाल राज्य, इन्दौर, रतलाम, मन्दसौर, लश्कर, भिंड और उज्जैन आदि स्थानों पर है।

समिति ने अपने प्रान्त के प्रमाणित प्रचारकों तथा केन्द्र-व्यवस्थापकों से निकट सम्पर्क स्थापित करने के लिए एक सम्मेलन जनवरी १९५३ में इन्दौर में किया, जिसके अध्यक्ष सीतामऊ के महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह, इसमें भोपाल-मध्यभारत समिति का विधान भी स्वीकृत हुआ तथा एक प्रस्ताव के अनुसार अध्यक्ष को कार्यकारिणी समिति बनाने का अधिकार दिया गया।

डा० रघुवीरसिंह जी ने उस प्रस्ताव के अनुसार एक कार्यकारिणी बनाई, परन्तु किन्हीं कारणों से श्री दिव्यार्थ जी ने अध्यक्ष-द्वारा नियुक्त कार्यकारिणी का विरोध किया। श्री दिव्यार्थ जी अन्त में संचालक पद से मुक्त हुए। चूंकि प्रान्त में कार्य नहीं हो सकता था, इसलिए परीक्षा आदि का संचालन तथा समस्त कार्य वर्धा केन्द्रीय कार्यालय से ही होता रहा। पुनः इन्दौर में कार्यालय खोल दिया तथा वहां से इस समिति के कार्य का संचालन होता रहा।

सन १९५४ में संचालक के पद पर श्री बैजनाथ प्रसाद दुबे की नियुक्ति हुई। इसका कार्यालय महू में रखा गया। तब से इस समिति की बड़ी प्रगति हुई। केन्द्र तथा परीक्षार्थी-संख्या भी इस प्रदेश में बढ़ी।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री डा० रघुवीरसिंह जी हैं।

मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की ओर से करीब चार वर्ष पहले एक महिला विभाग भी खोला गया है जिसकी अध्यक्षा मध्यप्रदेश शासन की स्वास्थ्य मन्त्राणी रानी पद्मावती देवी हैं।

मध्यप्रदेश समिति की ओर से एक राष्ट्रभाषा-भवन बनाने की योजना भी रखी गई है। इसके लिए स्थान का चुनाव हो चुका है। इस भवन की लागत करीब ढाई लाख रुपये होगी।

सन १९५८ में भोपाल में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन का आठवां अधिवेशन मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के तत्त्वावधान में हुआ था। इस सम्मेलन का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने किया था और अध्यक्षता भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्री डा० के० एल० श्रीमाली ने की थी। इसी अवसर पर हिन्दी के प्रख्यात लेखक श्री सन्तराम जी बी० ए० को 'महात्मा गांधी पुरस्कार' समर्पित किया गया था।

राज्य-पुनर्रचना के कारण चूंकि मध्यभारत (भोपाल सहित) मध्यप्रदेश हो गया, इसलिए इस समिति का नाम बदलने की भी आवश्यकता हुई। भोपाल-मध्यभारत रा० भा० प्र० स० की कार्यकारिणी के प्रस्तावानुसार वर्धा-समिति ने इसका नाम 'मध्य-प्रदेश राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति' रखने की अनुमति दी और यह भी निश्चय किया गया कि इसका कार्यालय भोपाल में रहे। भोपाल में इस समिति ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। आठवां अखिल भारतीय रा० भा० प्रचार अधिवेशन भी १९-२० जुलाई, १९५८ को भोपाल में हुआ। इस अवसर पर हिन्दी के ख्यातिप्राप्त लेखक श्री सन्तराम जी, बी० ए० को १५०१) रु० का 'महात्मा गांधी पुरस्कार' प्रदान किया गया।

मध्यभारत में प्रमाणित प्रचारकों की संख्या ६८ तथा केन्द्र संख्या ४३ है। इस प्रान्त में २ शिक्षण-केन्द्र तथा ५ राष्ट्रभाषा-विद्यालय भी चल रहे है।

मैसूर राज्य में हिन्दी-प्रचार कार्य

मैसूर राज्य में राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य काफी वर्षो से चल रहा है। कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्र-भापा-प्रचार समिति तथा वेलगाव जिला राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के प्रचारकत्व में वहां कार्य की विशेष प्रगति हुई।

कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के कार्य का संचालन श्री वासुदेव चिन्तामणि वस्ती करते हैं। श्री भैरूलाल जी व्यास, श्री दांडेकर जी तथा श्री द० पां० साटम जी आदि के प्रयत्नों से वेलगांव में कार्य बढ़ रहा है। इसके पहले कर्नाटक में श्री भा० मा० कुलकर्णी कर्नाटक के कार्य का संचालन करते रहे थे।

हुवली में कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का विधिवत् कार्यालय चल रहा है। वेलगांव जिले का कार्य अलग से वेलगाव राष्ट्रभापा-प्रचार समिति द्वारा सम्पन्न होता है। कर्नाटक प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के अध्यक्ष श्री एच० वी० शाहा तथा कार्याध्यक्ष श्री आर० वी० शिरूर है। अभी तक कर्नाटक से ३५ हजार के करीब परीक्षार्थी सम्मिलित हो चुके है। वेलगांव जिला तथा कर्नाटक दोनों को मिलाकर करीव ५० केन्द्र हैं और करीब १५० प्रचारक है।

पंजाब-प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति

वैसे पंजाब मे पंजाव-प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्मेलन और 'साहित्य-सदन, अबोहर' के द्वारा काफी दिनों से हिन्दी-प्रचार का कार्य चल रहा है। साहित्य-सदन सन १६२५ में एक पुस्तकालय के रूप में स्थापित हुआ था। इसका भव्य भवन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सम्पत्ति है। श्री स्वामी केशवानन्द जी ने नेतृत्व में 'सदन' ने पंजाब में वड़ी ख्याति अर्जित की। इसके पुस्तकालय-संग्रहालय मे हस्तलिखित ग्रन्थ आदि प्राचीन वस्तुएं संग्रहीत है। 'दीपक' मासिक का भी प्रकाशन यहां से होता था। पंजाव तथा काश्मीर के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'हिन्दी-परिचय' तथा 'हिन्दी-कोविद' परीक्षाओं की व्यवस्था का भार सदन को सौंपा था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ३०वां अधिवेशन सदन के प्रांगण में ही हुआ था। सन १९५८ से हिन्दी साहित्य सदन का सारा कार्यभार राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा को सौप दिया गया। वहां पर पंजाव प्रान्तीय राष्ट्र-भापा-प्रचार समिति का कार्यालय भी खोल दिया गया है। फिलहाल पंजाव के कार्य का संचालन सिंध-राजस्थान राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति के संचालक श्री दौलतराम जी शर्मा कर रहे हैं। पजाव सरकार तथा पंजाव विश्वविद्यालय द्वारा समिति की 'कोविद' परीक्षा को भी मान्यता प्राप्त हो चुकी है। वहा काफी केन्द्र खुल चुके है तथा वहां का प्रचार-कार्य उत्साहपूर्ण वातावरण में चल रहा है।

काश्मीर राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, श्रीनगर

सन १९५६ से काश्मीर प्रदेश में राष्ट्रभापा-प्रचार समिति का कार्य विधिवत प्रारम्भ हो गया है। अब तक करीब १५०० परीक्षार्थी काश्मीर से समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित हो चुके है। इस कार्य की भी देखरेख श्री दौलतराम जी को सौंपी गई थी।

श्री शम्भूनाथजी पारिभू, श्रीनगर-काश्मीर प्रदेश में संगठन-संचालन वड़े उत्साहपूर्वक और निष्ठा के साथ कर रहे है।

श्रीनगर से वाहर अनन्तनाग, चौग्राम, पटन, अत्तरसू, अद्यन, वेरीनाग, सागाम, चिनी गुडउरु, सोवो, वाहयोरा, चाडर आदि स्थानों पर केन्द्र है—

जम्मू में, कच्ची छावनी रोड, उत्तर नहिनी, रसाम्वा आदि केन्द्र है।

लद्दाख, वारामूला, हन्दवाड़ा, वड़ग्राम, याल, शुपयान और शालीमार आदि स्थानों पर भी समिति का कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है।

यहां हिन्दी-दिवस तथा अन्य समारोह भी आयोजित किये जाते हैं। काश्मीर सरकार का पूर्ण सहयोग समिति को प्राप्त है।

मराठवाड़ा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

प्रान्त-पुनर्रचना के पहले मराठवाड़ा प्रदेश हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत होने के कारण इस प्रदेश में राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य हैदराबाद राज्य हिन्दी-प्रचार सभा द्वारा चलाया जाता था। चूंकि यह प्रदेश बम्बई राज्य का अंग बन गया था तब इस प्रदेश के स्वतन्त्र संगठन की आवश्यकता महसूस हुई। इस बारे में सभी प्रकार से सोच-विचार कर इस प्रदेश में अलग मराठवाड़ा राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति की स्थापना की गई। इसका कार्यालय पहले जालना में रखा गया था, किन्तु १९५८ से यह कार्यालय जालना से औरंगाबाद लाया गया।

मराठवाड़ा राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्यक्षेत्र औरंगाबाद, परभणी, नांदेड, उस्मानाबाद, बीड और बीदर आदि जिलों में है। इसके अतिरिक्त पूरे सिकन्दराबाद डिवीजन में मध्य रेलवे कर्मचारियों को हिन्दी में प्रशिक्षित करने का भी समिति ने निश्चय कर लिया है।

इस समिति के अध्यक्ष महाराष्ट्र सरकार के वन-मंत्री श्री भगवंतरावजी गाढे हैं, उपाध्यक्ष महाराष्ट्र राज्य के उपमंत्री श्री शंकरराव चौहान हैं, कार्याध्यक्ष श्री भालचन्द्रराव तैलंग तथा मंत्री-संचालक श्री विष्णुदत्त शर्मा हैं।

इस समिति द्वारा समय-समय पर हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से आयोजन होते रहते हैं। एक वक्तृत्व-स्पर्द्धा भी इसकी ओर से चलाई गई है। इसका पारितोषिक-वितरण महाराष्ट्र के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा हो चुका है।

अफ्रीका में राष्ट्रभाषा का प्रचार

भारतवर्ष से हजारों मील दूर रहकर भी अफ्रीका में हो रहे राष्ट्रभाषा-प्रचार के कारण जो भारत तथा अफ्रीका में स्नेह-ग्रन्थि बंधी है, वह सचमुच गौरव की बात है।

दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य बहुत ही व्यवस्थित रूप से चल रहा है। यह कार्य हिन्दी-शिक्षा संघ, नैटाल के सभापति श्री नरदेवजी वेदालंकार के सत्प्रयत्नों का परिणाम है। इसके अन्तर्गत समिति द्वारा निम्नलिखित केन्द्र चलाये जा रहे हैं:

डरबन, पीटरमेरित्सबर्ग, जोहान्सबर्ग, केपटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, लोरेंसमार्क्स, लेडीस्मिथ, बुलवायो, रोड़ेशिया आदि।

पूर्व अफ्रीका में भी श्री अनन्तशास्त्री बड़ी लगन से कार्य कर रहे हैं। पूर्व अफ्रीका में मोम्बासा, नैरोबी, ऐलडोरेट, किसूमू, नकूस, कम्पाला, काकीरा, दारेसलाम, टांगा, म्वान्झा, जंजीबार आदि स्थानों पर केन्द्र हैं।

करीब ४०० परीक्षार्थी प्रतिवर्ष वर्धा-समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित होते हैं। दक्षिण अफ्रीका तथा पूर्व अफ्रीका दोनों में करीब ४० राष्ट्रभाषा-केन्द्र चल रहे हैं तथा १० प्रचारक राष्ट्रभाषा-प्रचार-कार्य में संलग्न हैं।

अन्दमान-निकोबार राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, पोर्टब्लेअर

अन्दमान-निकोबार में व्यवस्थित रूप से राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति का कार्य हो रहा है। वर्तमान समय में इसका कार्य उस निकोबार द्वीपसमूह को छोड़कर, जहां लोग रोमन लिपि में अपनी भाषा लिखते हैं, अन्य द्वीपों में कहीं भी एक भाषा नहीं लिखी जाती। इस दृष्टिकोण से राष्ट्रभाषा के रूप में देवनागरी लिपि का प्रवेश इन टापुओं के लिए महत्त्वपूर्ण है।

नानकोड़ी, आबरडीन तथा जंगलीघाट में समिति के अन्तर्गत शिक्षा-वर्ग चल रहे हैं।



विभिन्न संस्थाएं

गुजरात विद्यापीठ

गुजरात विद्यापीठ महात्मा गांधी जी के १९२० के असहयोग-आन्दोलन के फलस्वरूप शाला महाविद्यालयों के त्याग करने वाले विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए स्थापित हुई। गांधीजी स्वयं ही उसके कुलपति बने थे और आचार्य डिगवानी, आचार्य कृपलानी, आचार्य काकासाहब कालेलकर जैसे विद्वान तथा शिक्षाशास्त्रियों ने इसके विकास में पूरा योग दिया। वर्तमान गुजरात के राष्ट्रीय विकास में इस विद्यापीठ का बहुत बड़ा हिस्सा है। आरम्भ से ही इस विद्यापीठ में हिन्दी की शिक्षा को स्थान मिला था और वहां हिन्दी विषय माध्यमिक शिक्षा तथा महाविद्यालय में सदा अनिवार्य रहा है। परन्तु इस विद्यापीठ ने सन १९३५ से ही 'नवजीवन ट्रस्ट' के सहयोग से राष्ट्रभाषा-प्रचार का कार्य प्रचारक द्वारा गुजरात में करना आरम्भ किया। इन दोनों संस्थाओं की ओर से श्री मोहनलाल जी भट्ट को यह प्रचार-कार्य सौंपा गया। इससे बहुत पहले ही सूरत गुजरात में श्री परमेष्ठीदास जैन के प्रयत्न से में राष्ट्रभाषा-प्र चार मण्डल की स्थापना हो चुकी थी और उसके द्वारा वहां राष्ट्रभाषा के वर्ग चलाये जा रहे थे। अब अहमदाबाद में भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के नियमित वर्ग चलने लगे।

१९३६ में जब राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की स्थापना हुई तब वही कार्य राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा द्वारा होने लगा। किन्तु १९४२ में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रश्न पैदा हुआ और जब हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना हुई तब विद्यापीठ ने उसके साथ सहयोग किया।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा ने भी १९४५ में गुजरात में चलने वाले कार्य को गुजरात विद्यापीठ को ही सौंप दिया था। जब संविधान में हिन्दी तथा नागरी लिपि स्वीकार की गई तो विद्यापीठ ने भी दो लिपियों का आग्रह छोड़ दिया। गुजरात विद्यापीठ के प्रति गुजरात में बहुत आदर है। बम्बई राज्य तथा गुजरात के परीक्षार्थी इन परीक्षाओं में बड़े पैमाने पर सम्मिलित होते है। इसकी क्रमिक रूप मे पांच निम्नलिखित परीक्षाएं ली जाती हैं—

१. हिन्दी पहली, २. हिन्दी दूसरी, ३. हिन्दी तीसरी, ४. विनीत, ५. हिन्दी सेवक।

ये परीक्षाएं वर्ष में फरवरी और सितम्बर में ली जाती हैं। विद्यापीठ की शिक्षा में आज भी हिन्दी को वही स्थान तथा महत्त्व प्राप्त है जो पहले था।

अखिल भारतीय हिन्दी-परिषद

सन १९४९ में निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर अखिल भारतीय-हिन्दी परिषद की स्थापना की गई—

१. भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३५१ के आदेश के अनुसार राजभाषा हिन्दी के निर्माण, विकास और प्रचार में मदद करना।

२ हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने का प्रयत्न करना।

३. केन्द्रीय राजकाज में हिन्दी का शीघ्र उपयोग हो, इसके लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करना और आवश्यक सुविधाएं प्रस्तुत करना।

४. भारत के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार में हिन्दी का अधिक से अधिक उपयोग हो, इसका प्रयत्न करना।

५. भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित सभी भाषाओं के प्रति आदर और प्रेम पैदा करने के साथ-साथ हिन्दी-भाषियों को अन्य भाषाएं सीखने के लिए प्रोत्साहित करना।

६. इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक संस्थाएं स्थापित करना।

७. इन उद्देश्यों के अनुसार काम करने वाली संस्थाओं को सम्बद्ध करना।

इस परिषद के नई दिल्ली में कार्यालय स्थापित किये गए।

परिषद की प्रथम कार्य समिति के लिए निम्नलिखित सदस्यों का चुनाव हुआ—

श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद अध्यक्ष

सर्वश्री ग० वा० मावलंकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, राजकुमारी अमृत-कौर, के० सन्तानम्, रंगनाथ दिवाकर, घनश्यामसिंह गुप्त, इन्द्र विद्यावाचस्पति, गोविन्दवल्लभ पंत, बालासाहब खेर, विष्णुराम मेघी, स्वामी विचित्रानन्ददास, एस० के० पाटील, कमलनयन बजाज।

इस परिषद के संयोजक श्री शंकरराव देव तथा श्री मो० सत्यनारायण चुने गए। कार्यालय तथा परीक्षा-मंत्री श्री देवदूत विद्यार्थी नियुक्त किये गए।

परिषद का एक अधिवेशन सन १९५१ के मार्च में हुआ। इसमें राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को संस्थापक-संरक्षक बनाये रहने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ तथा इसके पदाधिकारी निम्नलिखित हुए—

अध्यक्ष—	श्री ग० व० मावलंकर	कोषाध्यक्ष—	श्री कमलनयन बजाज
उपाध्यक्ष—	„ गोविन्दवल्लभ पंत	मंत्री—	„ शंकरराव देव
	„ रंगनाथ दिवाकर		„ मो० सत्यनारायण

इसी अवसर पर सदस्यों की भी घोषणा की गई।

इस परिषद से निम्नलिखित संस्थाएं प्रारम्भ में सम्बद्ध हुई—

१. दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास।
२. पूर्व भारत राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कलकत्ता।
३. उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा, कटक।
४. आन्ध्रराष्ट्र हिन्दी-प्रचार संघ, विजयवाड़ा।
५. तमिलनाड हिन्दी-प्रचार सभा, तिरुचिरापल्ली।
६. कर्नाटक प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा, धारवाड़।
७. केरल प्रान्तीय हिन्दी-प्रचार सभा, एरनाकुलम।
८. महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पूना।
९. असम राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, गौहाटी।
१०. भारतीय हिन्दी-परिषद, दिल्ली प्रदेश।
११. „ „ „ काश्मीर प्रदेश।
११. हैदराबाद हिन्दी-प्रचार संघ, हैदराबाद।
१३. राष्ट्रभाषा-प्रचार परिषद, भोपाल।

परिषद की ओर से आगरा में एक महाविद्यालय चलाया जाता था जहां अहिन्दी-भाषी प्रदेशों से विद्यार्थी हिन्दी की उच्च शिक्षा तथा शिक्षकीय योग्यता प्राप्त करने के हेतु आते थे। यहां से शिक्षाप्राप्त 'स्नातक' को पारंगत उपाधि प्राप्त होती थी। अब यह विद्यालय केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय ने अपने अधीन कर लिया है और उसके लिए एक कमेटी बना दी है जो उसका संचालन-नियमत करेगी।

दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के पुराने कार्यकर्ता श्री रामकृष्ण नावड़ा आगरा में चलने वाले विद्यालय के आचार्य हैं।

हिन्दुस्तानी अकादमी, प्रयाग

महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के अनुवाद कराने के उद्देश्य से हिन्दुस्तानी-अकादमी की स्थापना सन १९२७ में प्रयाग में हुई। प्रमुख मौलिक रचनाओं को पुरस्कृत करना और साहित्य-सेवा को प्रोत्साहन देना, उत्तम लेखकों को संस्था की ओर से सम्मानित करना इसके प्रधान उद्देश्य रहे हैं। इसने सचमुच साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। इसका एक बहुत बड़ा सर्वांगपूर्ण पुस्तकालय है। प्रतिवर्ष अनेक विद्वानों के व्याख्यानों के आयोजन भी किये जाते हैं। 'हिन्दुस्तानी' नाम एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित होती रही है। इसके द्वारा कई दर्जन पुस्तकें विभिन्न विषयों पर प्रकाशित हो चुकी है। प्रकाशन के क्षेत्र में इसने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

महिला विद्यापीठ, प्रयाग

हिन्दी के माध्यम द्वारा महिलाओं में शिक्षा-प्रसार का जो काम प्रयाग की 'महिला विद्यापीठ' ने किया है, उसका अपना एक विशेष स्थान है। इसके द्वारा प्रवेशिका, विद्याविनोदिनी, विदुषी, सुगृहिणी, सरस्वती आदि परीक्षाएं संचालित होती है। प्रारम्भ से लेकर एम० ए० तक की पढ़ाई का प्रबन्ध भी प्रयाग महिला विद्यापीठ द्वारा होता है। संस्था के अन्तर्गत विद्यापीठ कालेज भी है। इसकी प्रिंसिपल हिन्दी-साहित्य की सुविख्यात कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा है।

नारी-जागरण की इनी-गिनी कुछ संस्थाओं में 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' का नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है।

हिन्दी विद्यापीठ, देवघर

देवघर हिन्दी विद्यापीठ कई वर्षों से हिन्दी की उच्च परीक्षाओं का संचालन करती आ रही है। इसकी साहित्यालंकार (उपाधि) परीक्षा का देश में बड़ा सम्मान है। हिन्दी के माध्यम द्वारा अनेक औद्योगिक विषयों की शिक्षा दी जाती है। साहित्य महाविद्यालय की ओर से पहली कक्षा से उत्तमा परीक्षा तक हिन्दी की अनिवार्य शिक्षा दी जाती है। बिहार से बाहर भी इसके कई केन्द्र है तथा वहां इस संस्था की परीक्षाओं में परीक्षार्थी सम्मिलित होते है।

हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग

हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा संचालित संस्था है। राजर्षि टण्डनजी ने इसके निर्माण तथा उन्नति में बहुत दिलचस्पी ली। इसकी कई एकड़ जमीन है तथा जमुना नदी के किनारे यह स्थित है।

विभिन्न प्रदेशों से, विशेषकर दक्षिण भारत से आये हुए अनेक छात्रों ने हिन्दी की उच्च परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं और विद्यापीठ के माध्यम से दक्षिण भारत में सफलतापूर्वक हिन्दी का कार्य कर रहे है।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

बिहार राज्य की विधान सभा ने, ११ अप्रैल सन १९४७ के दिन इस परिषद की स्थापना का संकल्प ग्रहण किया था। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य का संवर्धन, भारत की राष्ट्रभाषा और बिहार की राष्ट्रभाषा और बिहार की राज्यभाषा हिन्दी में कला, विज्ञान एवं अन्यान्य विषयों के मौलिक तथा उपयोगी ग्रंथों का प्रकाशन और बिहार की प्रमुख बोलियों का अनुशीलन परिषद के उद्देश्य रखे गए थे।

विभाजन-सम्बन्धी असुविधाओं के कारण परिषद का कार्य १९ जुलाई १९५० में प्रारम्भ हो सका, जब श्री शिवपूजन सहाय इसके मन्त्री नियुक्त हो गए। बिहार के तत्कालीन शिक्षामंत्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा इसके अध्यक्ष हुए। परिषद का विधिवत उदघाटन ११ मार्च, सन १९५१ के दिन बिहार के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम श्री माधव श्रीहरि अणे के कर-कमलों से सम्पन्न हुआ।

उद्देश्यों की सफलता के लिए श्रेष्ठ साहित्य के संकलन और प्रकाशन की व्यवस्था की गई। प्रारम्भिक एवं वरिष्ठ ग्रंथ-प्रणेताओं एवं नवोदित साहित्यकारों को पुरस्कार देने की योजना बनी और सोचा गया कि उपयोगी साहित्य

का संपादन करने वालों को आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। विशिष्ट विद्वानों के सारगर्भित भाषणों का प्रबन्ध हुआ और हस्तलिखित एवं दुर्लभ साहित्य की खोज का काम हाथ में लिया गया तथा भोजपुरी, मैथिली एवं मराठी आदि लोक-भाषाओं के शब्द-कोष प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हुए।

इस कार्य-क्रम के अनुसार अब परिषद के पास हस्तलिखित एवं दुर्लभ ग्रंथों का विशाल संग्रह एकत्रित हो गया है। उसके द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का आदि-काल, हर्षचरित, योरोपीय दर्शन और सार्थवाह आदि ग्रंथ राष्ट्रभारती के भण्डार का गौरव माने गए हैं। लोक-भाषाओं की दिशा में भी पर्याप्त काम किया गया है। डा० उदयनारायण त्रिपाठी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' इस प्रयत्न में मुकटमणि हो गया है।

परिषद का वार्षिकोत्सव प्रतिवर्ष भव्य समारोह के साथ सम्पन्न होता है। वरेण्य विद्वानों के भाषणों की व्यवस्था उसी अवसर पर होती है।

उत्तरप्रदेश, राजस्थान और पंजाब में

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा संचालित हिन्दी परिषद, राजस्थान सरकार द्वारा संचालित राजस्थान साहित्य अकादमी और पंजाब सरकार के तत्त्वावधान में काम करने वाले भाषा-विभाग आदि को भी बिहार राष्ट्र परिषद की श्रेणी में गिना जा सकता है। इनमें उत्तर प्रदेश की हिन्दी परिषद का काम काफी अग्रसर हो चुका है।

नागरी प्रचारिणी सभा, आरा

इस संस्था की स्थापना बिहार प्रदेश के प्राचीन नगर आरा में बीसवीं सदी के पहले वर्ष में हुई थी। इसके प्रोत्साहन से कितने ही गण्यमान्य कवि हिन्दी एवं उसके साहित्य की सेवा में प्रवृत्त हुए हैं। सभा ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचारार्थ बिहार में ही नहीं, अन्य प्रान्तों और तत्कालीन देशी राज्यों में भी व्यापक प्रयत्न किये हैं। सभा साहित्यिक शोध की दिशा में भी उन्मुख रही है और एक अच्छे पुस्तकालय का संचालन भी करती है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, वर्धा

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना २ मई, १९४२ को वर्धा में हुई। इसका प्रधान उद्देश्य हिन्दुस्तानी का प्रचार करना था। सभा ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए परीक्षाओं का संचालन करना चाहा, किन्तु इस बीच १९४२ का आन्दोलन छिड़ गया और राष्ट्रनेता तथा इसके सभी कर्मी जेल में चले गए। श्री अमृतलाल नाणावटी बाहर थे। इस बीच श्री नाणावटी ने गुजरात विद्यापीठ के द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार-कार्य शुरू किया। सन १९४४ में जब सभी कर्मी जेल से बाहर आए तो गुजरात में चलने वाले कार्य की तरह दूसरे प्रदेशों में भी हिन्दुस्तानी-प्रचार का कार्य करने के सम्बन्ध में निश्चय किया। फरवरी, १९४५ में वर्धा में एक सभा हिन्दुस्तानी प्रचार परिषद की ओर से गांधीजी की अध्यक्षता में बुलाई गई। इस अवसर पर एक हिन्दुस्तानी साहित्य तैयार करने वाला बोर्ड कायम हुआ। उसकी एक उपसमिति बनाई गई जिसकी देखभाल डा० ताराचन्द जी के सुपुर्द हुई।

जब सभा का काम १९४४–४५ में फिर से शुरू हुआ तो यह तय किया गया कि प्रान्तों में संगठन किए जाएं और प्रान्तीय संगठन को पदवी की परीक्षा को छोड़कर बाकी की नीचे की परीक्षाएं अर्थात हिन्दुस्तानी लिखावट, हिन्दी पहली, हिन्दी दूसरी तथा हिन्दी तीसरी परीक्षाएं चलाने का अधिकार दिया जाय। जहां प्रान्तीय संगठन न हो, वहां वर्धा के दफ्तर से प्रचार-कार्य किया जाय। यह भी तय हुआ कि प्रान्तीय संगठनों को सम्बद्ध किया जाय और उसी धन से दूसरी तरह मदद की जाय। इसके मुताबिक गुजरात राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा और बम्बई हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में दो प्रान्तिक संस्थाएँ सम्बद्ध की गईं। सन १९४५ में जुलाई में श्री काका साहब कालेलकर जेल से बाहर आए तब बाकी के सिन्ध, महाराष्ट्र, विदर्भ, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रान्तों में प्रचार करने का भार सभा ने उन्हें सौंपा। सन १९४५ के अन्त में और १९४६ के शुरू में काकासाहब ने गुजरात का दौरा किया। इसके बाद गुजरात में हिन्दुस्तानी-प्रचार का काम गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद को सौंप दिया। १९४७ में इस सभा के मन्त्रीपद से श्रीमन्नारायणजी अग्रवाल

ने स्तीफा दे दिया।

अब इसका कार्यालय राजघाट, दिल्ली में है।

भारतीय हिन्दी परिषद

१७ वर्षों से यह संस्था भारतवर्ष के समस्त विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों का संगठन करती हुई उनकी अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान-सम्बन्धी विविध समस्याओं पर प्रतिनिधि रूप से विचार करती आई है। हिन्दी भाषा और साहित्य-क्षेत्र के सभी मूर्द्धन्य विद्वान् इस संस्था के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे युगपुरुष तथा बाबू शिवप्रसाद गुप्त, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतरत्न डा० भगवानदास—जैसे देशभक्त, साहित्यसेवी और अनुसंधाता इसके मान्य सदस्य रहे हैं। स्व० डा० अमरनाथ झा इसके प्रथम संरक्षक थे। इसके वर्तमान मान्य सदस्यों में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, डा० सम्पूर्णानन्द, आचार्य शिवपूजन सहाय और सेठ गविन्ददास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। परिषद को अपने विभिन्न अधिवेशनों पर स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द, श्री रा० रं० दिवाकर, श्री क० मा० मुंशी, डा० केसकर, पं० रविशंकर शुक्ल, श्री हरिभाऊ उपाध्याय जैसे देश के गण्यमान्य मनीषियों और नेताओं का सहयोग तथा पथप्रदर्शन प्राप्त होता रहा है।

इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य विश्वविद्यालयीय स्तर पर हिन्दी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन तथा अनुसंधान के कार्य को अग्रसर करना और उसके लिए अनुकूल वातावरण के लिए निर्माण में सहायता देना है। इस सम्बन्ध में परिषद ने समय-समय पर अनेक योजनाएं प्रस्तुत की हैं और देश के सम्मुख अपने विचार और सुझाव प्रस्तुत किए हैं। शोध-कार्य की प्रगति पर परिषद का विशेष ध्यान रहा है और विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्सम्बन्धी पारस्परिक सहयोग के लिए वह अनेक प्रकार से उद्योग करती रही है। अपने वार्षिक अधिवेशनों की विशिष्ट गोष्ठियों में शोधपूर्ण निबन्धों की योजना द्वारा उसने शोध-कार्य के स्तर को ऊँचा उठाने का सफल प्रयत्न किया है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप का निर्धारण, उच्च शिक्षा का माध्यम, पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या, विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी का सम्पर्क तथा हिन्दी-क्षेत्र की विभिन्न उपभाषाओं से उसके सम्बन्ध की समस्या आदि अनेक प्रश्नों पर परिषद के अधिवेशनों में विद्वानों ने विद्वत्तापूर्ण विवेचन, समाधान, सुझाव तथा योजनाओं द्वारा अनेक रूपों में दिशानिर्देश किया है।

अधिवेशनों और गोष्ठियों के अतिरिक्त कतिपय योजनाओं के द्वारा भी परिषद ने अपनी सीमित शक्ति और साधनों से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया है। आर्थिक कठिनाइयां होते हुए भी उसने विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों द्वारा ३०००० पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी-अंग्रेजी वैज्ञानिक कोष का निर्माण कराया है। हिन्दी के प्रतिष्ठित विद्वानों के सहयोग से हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की परिषद की योजना केन्द्रीय सरकार की सहायता से कार्यान्वित की जा रही है। उसका एक खंड प्रकाशित हो चुका है तथा शेष दो खण्ड भी इसी वर्ष के भीतर प्रकाशित होने वाले हैं। परिषद ने विभिन्न विषयों पर उच्च शिक्षा के स्तर की पाठ्य पुस्तकें तैयार कराने की एक विस्तृत योजना भी बनाई है।

परिषद का त्रैमासिक मुखपत्र "हिन्दी अनुशीलन" हिन्दी-शोध के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। परिषद की गतिविधि के साथ-साथ इसमें हिन्दी-क्षेत्र के शोध-कार्य का विवरण भी दिया जाता है।

परिषद की प्रगति में उसके वार्षिक अधिवेशनों का विशेष महत्त्व है। इसी अवसर पर देश भर के हिन्दी प्राध्यापक एक स्थान पर एकत्र होकर हिन्दी भाषा एवं साहित्य की विविध समस्याओं पर विचार करते हैं। अब तक इसके अधिवेशन प्रयाग, लखनऊ, पटना, आगरा, जयपुर, नागपुर, वाराणसी, रायगढ़ (म० प्र०) और दिल्ली में हो चुके हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा

नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना सन १९११ में हुई। इसकी स्थापना से आगरा में साहित्यिकों तथा

हिन्दी पढ़ने तथा लिखने वालों में एक जाग्रति-सी आ गई। इस सभा के पास एक वृहद पुस्तकालय है जिसमें करीब बारह हजार पुस्तकें हैं। और एक हजार के करीब सदस्य इस सभा के हैं। गांवों के लिए भी एक गश्ती विभाग का प्रवन्ध है। सभा की ओर से हिन्दी की उच्च पढ़ाई के लिए एक विद्यालय भी चलता है जिसमें करीब २०० विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते हैं। खोज-कार्य का प्रवन्ध भी इस संस्था द्वारा है। इस सभा द्वारा 'सत्यनारायण ग्रंथमाला' के अंतर्गत कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। सभा के पास पर्याप्त भूमि व निजी भवन है।

इसके अलावा नागरी प्रचारिणी सभा की आजमगढ़, आरा, गाजीपुर, गोरखपुर, अजमेर, मुरादाबाद, हरनीत आदि स्थानों में शाखाएं हैं।

उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन

उत्तरप्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना सन १९२० में प्रयाग में हुई। आरम्भ में किन्हीं परिस्थितियों के कारण इसका कार्य बन्द-सा पड़ गया था, किन्तु १९४० में पं० श्रीनारायणजी चतुर्वेदी के प्रयत्नों से इसका फिर कार्य आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन द्वारा कचहरियों में हिन्दी-प्रयोग के लिए आन्दोलन किया गया जो बहुत व्यापक वना। उत्तरप्रदेश में इसके अधिवेशन अनेक स्थानों पर हो चुके हैं।

विहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

इसकी स्थापना सन १९१९ में पटना में हुई थी। विहार प्रान्त की यह सबसे प्राचीन हिन्दी-सेवी संस्था है। प्रान्त की करीब ६० संस्थाएं इससे सम्बद्ध हैं। १९४५ में इसके वार्षिक सम्मेलन के अवसर पर अध्यक्ष-पद चीनी विद्वान श्री तान सुन शान ने ग्रहण किया था। सम्मेलन की परीक्षाओं के लिए विद्यार्थियों के लिए वर्ग-व्यवस्था आदि का कार्य भी इसकी देख-रेख में चलता है।

विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पहले यह सम्मेलन नागपुर के मध्य प्रदेश में होने के कारण मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नाम से स्थापित हुआ था। इसकी स्थापना सन १९३९ में हुई थी, इसके अवतक १६ अधिवेशन हो चुके हैं। इसके अध्यक्ष श्री व्रिजलाल त्रिपाठी तथा प्रधान मन्त्री श्री रामगोपाल माहेश्वरी हैं। आज तक इस प्रान्तीय सम्मेलन का कार्यालय फत्तेचन्द भवन में है। यह भवन सेठ नरसिंहदास जी और सेठ गोपीकिशन जी अग्रवाल एवं सेठ दुर्गादास जी सर्राफ ने कुल मिलाकर एक लाख एक हजार रुपये की निधि से वनवाकर विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन को समर्पित किया था। इस सम्मेलन के भवन का शिलान्यास १९५४ में हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा सम्पन्न हुआ था।

इस सम्मेलन द्वारा नक्षत्र, भानु अभिनन्दन ग्रंथ, माधवराव सप्रे की जीवनी, विनयकुमार के गीत, निमाडी लोकगीत, वख्शी जी के निवन्ध पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं।

पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्यालय अम्वाला में है। इस सम्मेलन की जालन्धर, कपूरथला, अम्वाला छावनी, शिमला में हिन्दी परिषद तथा स्थानीय हिन्दी-प्रचारिणी सभाएं स्थापित हैं। साहित्यिक समारोह आदि के कार्यक्रम इसके द्वारा होते रहते हैं। शिमला में तो हिन्दी-प्रचारिणी सभा अपना रजत जयन्ती समारोह भी मना चुकी है। इसकी सदस्य-संख्या ५०० से ऊपर है। इसकी ओर से पर्याप्त समय तक एक 'सन्देश' नामक हिन्दी मासिक भी प्रकाशित होता रहा था।

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन

दिल्ली नगर को हिन्दी का सबसे पुराना घर माना जाता है। संघबद्ध रूप से हिन्दी के प्रचार और प्रसार का कार्य भी यहां बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में तब प्रारम्भ हुआ था जब विभिन्न धार्मिक विचारों के अनुसार अग्रसर होने वाली विभिन्न शक्तियां हिन्दी के प्रचारार्थ एक मंच पर एकत्रित हुई थीं और सबके सम्मिलित प्रयास से हिन्दी प्रचारिणी सभा की नींव रखी गई थी। कूंचा ब्रजनाथ के द्वार पर एक कमरे में उसका कार्यालय, पुस्तकालय और वाचनालय उस अंकुर की भांति उन्मुख हुआ था जिसमें भविष्य की विराट संभावनाएं निहित रहती हैं। उन दिनों के अनथक कार्यकर्ता श्री केदारनाथ गोयनका की सौम्य मूर्ति कितने ही भद्र पुरुषों को अब तक याद है।

दिल्ली की निरंतर परिवर्तित परिस्थिति में लम्बे चालीस वर्षों तक इसी प्रकार विभिन्न स्थानों पर हिन्दी सभाओं की स्थापना होती रही। जब राजधानी का रूप एक प्रकार से कुछ स्थिर हो गया। तब २९ अक्तूबर, सन १९४४ के दिन दीवान हाल में श्री रामधन शास्त्री (अब डॉ०) के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा हुई। सभा में श्री रामचन्द्र शर्मा महारथी के प्रस्ताव और सर्वश्री नगेन्द्र (अब डॉ०), अवनीन्द्र विद्यालंकार और बाबूराम पालीवाल के समर्थन से दिल्ली प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना का संकल्प ग्रहण किया गया। संकल्प को नियमित एवं व्यावहारिक रूप देने के लिए निम्नलिखित महानुभावों की एक समिति नियुक्त की गई। सर्वश्री मौलिचन्द्र शर्मा, रामधन शर्मा, इन्द्र विद्यावाचस्पति, अवनीन्द्र विद्यालंकार, नगेन्द्र, रामसिंह, कृष्णचन्द्र, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश', दीनानाथ भार्गव, राजनारायण, सत्यदेव, विद्याभूषण, रामचन्द्र तिवारी, बाबूराम पालीवाल और रामचन्द्र शर्मा (संयोजक)

३ दिसम्बर, सन ४४ को हिन्दी संस्थाओं की सार्वजनिक सभा में प्रस्तावित प्रांतीय सम्मेलन की नियमावली स्वीकार की गई और २३ दिसम्बर को सर्वसम्मति से निम्नलिखित पदाधिकारी चुने गए—

प्रधान— श्री राजेन्द्रकुमार जैन
उपप्रधान— श्री मौलिचन्द्र शर्मा
,, — श्री सत्यदेव विद्यालंकार
प्रधान मन्त्री— श्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी'
प्रचार मन्त्री— ,, अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार
प्रबन्ध-मन्त्री— ,, रामचन्द्र तिवारी
अर्थ मन्त्री— ,, पुत्तूलाल वर्मा 'करुणेश'

उपरोक्त निर्वाचन एक प्रकार से अन्तरिम था। अतएव सम्मेलन की स्थायी समिति का विधिवत गठन हो जाने के बाद २ अप्रैल, १९४५ के दिन नया निर्वाचन हुआ जिसमें तत्कालीन राज्य परिषद के सदस्य श्री श्रीनारायण जी मेहता सभापति, श्री मौलिचन्द्र शर्मा कार्यवाहक उपसभापति तथा श्री 'करुणेश' प्रधानमन्त्री चुने गए। कार्यवाहक उपसभापति का पद सुविधा की दृष्टि से नियमावली में संशोधन के द्वारा बढ़ाया गया था। आगे चलकर इसकी संज्ञा अध्यक्ष हो गई। कार्य की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए मन्त्रि-मण्डल में साहित्य, संग्रह, प्रकाशन, संगठन, भवन और रंगमंच के लिए भी मन्त्रियों की व्यवस्था की गई और संस्था का नाम दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन रखा गया। सरकारी खाते में इसका पंजीकरण इसी नाम से सम्पन्न हुआ है।

जन्मकाल से लगाकर अब तक के १५ वर्षों में निम्नलिखित महानुभाव सम्मेलन के सभापति, अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं प्रधानमन्त्री के पद से राष्ट्रभाषा की सेवा कर चुके हैं या कर रहे हैं।

सभापति–सर्वश्री श्रीनारायण मेहता, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', इन्द्र विद्यावाचस्पति, मौलिचन्द्र शर्मा, अनन्तशयनम् अय्यंगार, डा० युद्धवीरसिंह और रामधारीसिंह 'दिनकर'।

अध्यक्ष : सर्वश्री राजेन्द्रकुमार जैन, मौलिचन्द्र शर्मा, रघुवरदयाल त्रिवेदी, डा० युद्धवीरसिंह और वसंतराव ओक।

उपाध्यक्ष : सर्वश्री मौलिचन्द्र शर्मा, राजेन्द्रकुमार जैन, सत्यदेव विद्यालंकार, रामधन शर्मा, माधव, महावीरप्रसाद, वसंतराव ओक, रामलाल पुरी, लक्ष्मीनारायण रेखी, सुन्दरलाल भार्गव, कुंवरलाल गुप्त, अक्षयकुमार जैन, प्रि० हरिश्चन्द्र, केशवप्रसाद 'आत्रेय' और किशनप्रसाद कटपीस वाले।

प्रधानमन्त्री : सर्वश्री रामचन्द्र शर्मा 'महारथी', पुत्तूलाल वर्मा करुणेश, गोपालप्रसाद व्यास और अक्षयकुमार जैन।

मन्त्रिमण्डल के विभिन्न स्थानों से सेवा करने वाले सज्जनों में से निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं: सर्वश्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार, रामचन्द्र तिवारी, बाबूराम पालीवाल, देवव्रत धर्मेन्दु, देवकीनन्दन गोयल, विष्णु प्रभाकर, विद्यासागर विद्यालंकार, सत्यनारायण बंसल, महावीरप्रसाद वर्मन, सुंदरलाल भार्गव, अमरनाथ शर्मा, ताराचन्द खंडेलवाल, आनन्दप्रकाश गोयल, प्रेमचन्द गुप्त, देशमित्र सेनी, धर्मचन्द गोयल, शिवसागर मिश्र, फतहचन्द शर्मा 'आराधक', गोपालकृष्ण कौल, भवानीप्रसाद मिश्र, अर्जुन उपाध्याय, चिरंजीलाल एकाकी, अयोध्याप्रसाद पाठक और विश्वनाथ।

पुनर्गठन

सन १९५२ में सम्मेलन के तत्कालीन अध्यक्ष एवं प्रधानमन्त्री की आकस्मिक व्यस्तता तथा अनुपस्थिति के कारण सम्मेलन का काम कुछ शिथिल हो गया था। हिन्दी आंदोलन के सदा-जाग्रत सूत्रधार राजर्षि टण्डनजी ने उस समय अपना वरद हस्त आगे बढ़ाया और डा० युद्धवीरसिंह को सम्मेलन का अध्यक्ष तथा श्री गोपालप्रसाद व्यास को प्रधानमन्त्री बनाया गया। कुछ दिन बाद निपुण संगठनकर्ता और कर्मठ नेता श्री वसंतराव ओक का सहयोग सम्मेलन को मिल गया एवं श्री अक्षयकुमार जैन, श्री सत्यनारायण बंसल, श्री महावीरप्रसाद वर्मन, श्री अमरनाथ शर्मा तथा अन्य कई महानुभाव सम्मेलन के कार्य में प्रत्येक प्रकार से संलग्न हो गए। इस नवीन रक्त से सम्मेलन को नया वेग मिला, परन्तु सम्मेलन की वास्तविक शक्ति उसके उस संगठन में निहित है जो अपने ढंग का निराला और पूर्ण जनतांत्रिक होगया है।

निराला संगठन

प्रारम्भ में दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संगठन भी केन्द्रीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन से संबद्ध अन्य प्रादेशिक सम्मेलनों की भांति किया गया था। दिल्ली की विशेष स्थिति के अनुसार यह निर्णय किया गया कि अस्त-व्यस्त हिन्दी सभाओं के स्थान पर सम्पूर्ण दिल्ली, नई दिल्ली और उसके आस पास के कस्बों-ग्रामों के नगर निगम के निर्वाचन केन्द्रों को आधार मानकर विभाजित किया जाय और प्रत्येक निर्वाचन-केन्द्र में प्रादेशिक सम्मेलन की एक शाखा माण्डलिक संगठन के रूप में काम करे। मण्डल के सब सदस्य सम्मेलन के सदस्य समझे जाएं, उनके शुल्क का पद्यांश सम्मेलन को मिलाकर और सम्मेलन सदस्य-संख्या के अनुपात से ही मण्डल को प्रादेशिक संगठन में प्रतिनिधित्व प्रदान करें। इस नवीन योजना को सर्वत्र सराहना मिली। राजर्षि टण्डनजी ने इसे विशेष रूप से आशीर्वाद प्रदान किया और सन ५५ में सूर-जयन्ती के पुनीति अवसर पर उसके अनुसार दरियागंज में जो पहला मण्डल गठित हुआ उसका उद्घाटन करके इसके मत्थे पर अपने कर-कमलों से तिलक भी लगा दिया। अब सम्मेलन के मण्डलों की संख्या इक्कीस और उनके सदस्यों की संख्या पांच हजार से भी अधिक हो गई है। मण्डलों के नाम इस प्रकार हैं–अजमेरी द्वार,

आर्यपुरा सोहनगंज, कृष्णनगर, करौल बाग, कमलानगर, खारी बावड़ी, गोल मार्केट, चांदनी चौक, तिमारपुर, दरियागंज, नई सड़क, निजामुद्दीन, पहाड़गंज, मालीवाड़ा, मिण्टो रोड, मोतीबाग, राजेन्द्रनगर, विनयनगर, लाजपतनगर, सदर बाजार, शाहदरा और हौज काजी।

सम्मेलन ने ऋतु-पर्वों की परम्परा जाग्रत करने और प्रमुख कदमों की जयंतियां समारोह के साथ मनाने का जो अत्यन्त लोकप्रिय कार्य हाथ में लिया था, वह अब इन्हीं मण्डलों को सौंप दिया गया है। मण्डल बड़े उत्साह के साथ इस कार्य में संलग्न हो गए हैं। प्रत्येक उत्सव और समारोह में जनता पर्याप्त संख्या में सम्मिलित होती है और उस जीवन-दायनी सरल सुधा का पान करती है जो हमारे महान पूर्वज हमें दे गए हैं। इस प्रकार मण्डलों के द्वारा सम्मेलन का संदेश इस महानगरी के कोने-कोने तक आसानी के साथ पहुंच जाता है।

विविधता में एकता

सम्मेलन के संगठन की एक और विशेषता यह है कि इसके मंच पर सभी वर्गों, विश्वासों, जातियों और सम्प्रदायों के लोग प्रत्येक प्रकार की भेद-बुद्धि को त्यागकर राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए दत्तचित्त हो जाते हैं। हिन्दी को प्रेम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता है। इसीलिए सम्मेलन मंच से रहीम, नानक और वाल्मीक को भी श्रद्धांञ्जलि अर्पित की जाती है और दक्षिण, गुजरात, महाराष्ट्र तथा बंगाल के वरेण्य वरपुत्रों की जयंतियां मनाकर सब भारतीय भाषाओं के प्रति पूर्ण सम्मान प्रकट किया जाता है। सम्मेलन के संगठन की यह विशेषता और उसकी यह कार्य विधि उन लोगों को मौन उत्तर देती है जो हिन्दी पर साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का आरोप लगाते हैं, साथ ही साथ यह आज की निरन्तर बढ़ती हुई भेद-बुद्धि को समाप्ति करने का एक व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करती है और इसे अपनाने का नम्र निमन्त्रण देती है। वास्तव में राष्ट्रभारती का अंचल ही वह एकमात्र स्थल है जहां सब प्रकार के भेद सम्मिलित और समाहित हो सकते हैं।

अखिल भारतीय उत्तरदायित्व

कार्य की दृष्टि से सम्मेलन प्रेरणात्मक और रचनात्मक प्रणालियों का अनुसरण करता है। प्रेरणात्मक दिशा में यह सर्वसाधारण के साथ-साथ शैक्षणिक संस्थाओं, नगरपालिकाओं तथा प्रादेशिक एवं केन्द्रीय शासन के विभिन्न अंगों को हिन्दी अपनाने के लिए विविध प्रकार से प्रेरित करता रहा है। सम्मेलन के उन प्रस्तावों और उनके अनुसार किए गए अनावृत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप दिल्ली नगर-निगम ने हिन्दी को अपने कार्य-व्यवहार की भाषा स्वीकार किया है और दिल्ली प्रशासन ने राज्य की राजभाषा के पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित किया है। यह भी सम्मेलन की प्रेरणाओं का ही फल है कि दिल्ली विश्वविद्यालय ने सन १९६१–६२ से बी० ए० (आर्ट के विषयों में) शिक्षा एवं परीक्षा के लिए हिन्दी माध्यम रखने का निश्चय कर लिया है। दिल्ली प्रदेश के शिक्षा संचालक महोदय को सम्मेलन की ओर से पाठ्य-पुस्तकों में देवनागरी अंकों का प्रयोग करने की प्रेरणा अभी दी जा रही है। इसी तरह टेलीफोन डायरेक्टरी को हिन्दी में भी छपवाने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों से निरन्तर अनुरोध किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक मन्त्रालय की कार्यविधि पर सम्मेलन सहानुभूतिपूर्ण परन्तु सतर्क दृष्टि रखता है तथा उनको हिन्दी के अधिक से अधिक उपयोग के लिए प्रेरणा एवं व्यावहारिक सुझाव देता रहता है। सम्मेलन की ओर से उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश के राज्याधिकारियों से भी समय-समय पर अनुरोध किया जाता है कि वे केन्द्रीय सरकार के साथ जहां तक हो सके हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करें। यह और ऐसे ही अन्य कई कार्य वास्तव में हिन्दी की स्थापना के लिए संघर्ष करने वाली केन्द्रीय संस्था का उत्तरदायित्व हो जाते हैं परन्तु केन्द्रीय सम्मेलन आज स्वाधीनावस्था में नहीं है और दिल्ली केन्द्रीय सरकार की राजधानी हो गई है अतएव इस प्रादेशिक सम्मेलन को ही अपनी सीमित शक्ति के साथ अग्रसर होना पड़ता है। इसी सम्मेलन की ओर से राजभाषा-आयोग की नियुक्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्न किया गया था और सन ५६ में जब केन्द्रीय शिक्षामन्त्री महोदय की अध्यक्षता में प्रादेशिक शिक्षा-मन्त्रियों ने एक सम्मेलन में बैठकर प्रारम्भिक शिक्षाक्रम से लेकर विश्वविद्यालय के शिक्षाक्रम तक अंग्रेजी को एक अनिवार्य विषय तक शिक्षा

का माध्यम बनाने का परामर्श दे डाला था तब सम्मेलन ने उसका जमकर विरोध दिया था। उस समय सम्मेलन की ओर से विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों तथा हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को एक विराट सार्वजनिक सभा में अपने विचार प्रकट करने के लिए आमन्त्रित किया गया था। उस सभा में राजर्षि टंडनजी, आचार्य कृपलानी, मीर मुश्ताक अहमद, श्रीमती राजलक्ष्मी, श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' श्री वी० जी० देशपांडे और श्री अटलविहारी वाजपेयी आदि ने जो ओजस्वी भाषण दिए थे, उनसे शिक्षा-मन्त्री सम्मेलन का उठा हुआ कदम जहां का तहां रुक गया था।

इसी प्रकार जब फ्रेंक एन्थनी महोदय ने अंग्रेजी को आठवीं अनुसूची में सम्मिलित करने का प्रस्ताव उपस्थित किया था तब सम्मेलन की ओर से एक वर्ष पूर्ण स्मरण प्रस्तुत कर हिन्दी एवं अंग्रेजी में छपवाया गया और सब संसद-सदस्यों की सेवा में भेजा गया। सम्मेलन की ओर से एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गई जिसमें अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र के प्रमुख संसद-सदस्यों एवं गण्यमान्य नेताओं ने विशेष रूप से भाग लिया। इस आन्दोलन से जो वातावरण बना उसमें श्री एन्थनी को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा।

सम्मेलन की विशेष नीति यह अवश्य है कि वह ऐसे कर्तव्यों का दृढ़तापूर्वक पालन करते समय कटुता उत्पन्न नहीं होने देता। फलतः सम्मेलन और उसके उद्देश्यों के प्रति प्रायः सभी क्षेत्रों में सहानुभूति बनी रहती है। यही कारण है कि भारत गणराज्य की प्रथम वर्षगांठ के अवसर पर सम्मेलन ने लालकिले में जिस गणराज्य महोत्सव का श्रीगणेश किया था वह आज भी अखिल भारतीय स्तर के विराट कवि सम्मेलन के रूप में प्रति वर्ष हो रहा है। इस विशाल आयोजन में सम्मेलन को रक्षा मन्त्रालय से पूर्ण सहयोग मिलता है। महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, गृहमन्त्री पं० गोविंदवल्लभ पन्त, रेलवे मन्त्री श्री जगजीवनराम, वाणिज्य मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री, माननीय श्री श्रीप्रकाश, माननीय श्री नरहरि विष्णु गाडगिल, माननीय गुरुमुखनिहालसिंह, माननीय श्री अनन्तशयनम् अय्यंगार और माननीय श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित आदि की मंगलकामनाएं भी इसीलिए सदा सर्वदा सम्मेलन के साथ रहती हैं।

रचनात्मक पग

रचनात्मक कामों की दिशा में सम्मेलन ने दिल्ली की पुलिस और अदालत की ओर इसलिए अधिक ध्यान दिया है कि वहां हिन्दी का प्रवेश सबसे कम हो पाया है। अदालत के क्षेत्र में सम्मेलन ने वकीलों और न्यायाधीशों से भेंट करके जहां उनको हिन्दी अपनाने के लिए प्रेरित किया है वहीं न्यायालय के परिषद में हिन्दी टाइप करने वाले एक सज्जन को भी अपनी ओर से बिठा दिया है। वे हिन्दी टाइप का काम सस्ते पारिश्रमिक पर कर देते हैं। आवश्यकता-नुसार टाइप करने वालों की संख्या में वृद्धि भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त उर्दू और अंग्रेजी में छपे हुए १२ प्रकार के फ़ार्म सम्मेलन ने बहुत बड़ी संख्या में हिन्दी में छपवा दिए हैं जो निःशुल्क बांटे जाते हैं। इन प्रयासों से अदालतों में हिन्दी का वातावरण बनने और बढ़ने लगा है।

पुलिस कर्मचारियों में हिन्दी पहुंचाने के लिए सम्मेलन बड़े अधिकारियों से मिलकर पुलिस लाइंस सन ५८ से कक्षाओं का संचालन कर रहा है। अब तक हजारों जवान इन कक्षाओं से लाभ उठाकर हिन्दी पढ़ चुके हैं।

हाल ही में सम्मेलन ने अपने कार्यालय, कनॉट सरकस, में एक सूचना-केन्द्र की स्थापना कर दी है। परन्तु इस थोड़े से समय में ही वहां अनुसंधान-परक और सन्दर्भ-ग्रन्थों की संख्या ३००० होगई है। केन्द्रस्थ-दूतावासों, सरकारी कर्मचारियों, व्यापारियों और समाचारपत्रों आदि की जिज्ञासाओं का उत्तर देता है और उन्हें हिन्दी-सम्बन्धी सूचनाएं भेजता है।

वास्तव में यह अंकुर उस विशाल वृक्ष की भूमिका है जो सम्मेलन राजधानी के प्रमुख केन्द्र में 'पुरुषोत्तम हिन्दी भवन' के रूप में देखना चाहता है। सम्मेलन ने राजर्षि अभिनंदन-समारोह के सिलसिले में ही उस भवन के निर्माण

का संकल्प ग्रहण किया है और उसकी दिशा में अपने प्रयत्न भी कर दिए हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में १५ वर्ष की आयु वाले उस दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का संक्षिप्त परिचय देने की चेष्टा की गई है जो हिन्दी के भीष्म पितामह राजर्षि पुरुषोत्तमदासजी टण्डन की सेवा में सुदामा के तंदुल लेकर उपस्थित होने की अनधिकार चेष्टा कर रहा है। भरोसा यही है कि शिशुओं की अटपटी वाणी से पुलकित होने वाले गुरुजन इस अस्फुट स्वर को अपने आशीर्वाद से मुखर कर देंगे।

